

जैन धर्म का  
मौलिक इतिहास  
द्वितीय भाग  
केवली व पूर्वधर खण्ड

आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज

## जैन धर्म का मौलिक इतिहास

कुछ नये तथ्य :

कुछ विशेषताएँ :

- वीर निर्वाण सम्वत् १ से सम्वत् २००० तक की प्रमुख धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक घटनाओं का तथ्यपरक विवेचन।
- जैन धर्म की धर्माचार्य परम्पराओं का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास।
- द्वादशांगी के क्रमिक हास एवं विच्छेद विषयक शोधपूर्ण विशद् मीमांसा।
- समसामयिक धर्माचार्यों एवं राजवंशों के इतिवृत्त का शृंखलाबद्ध वस्तुपरक प्रस्तुतिकरण।
- जैन इतिहास की जटिल गुत्थियों का प्रमाण पुरस्तर हल, बद्धमूल भ्रान्तियों का निराकरण एवं समग्र भारतीय इतिहास विषयक कतिपय अन्धकार-पूर्ण प्रकरणों पर नूतन प्रकाश।
- जैन परम्परा में महिला वर्ग द्वारा श्रमणी एवं श्रमणोपासिका के रूप में दिये गये अनुपम योगदान का भव्य विवरण।
- इतिहास जैसे गूढ़ एवं नीरस विषय का सरस, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा शैली में आलेखन।

# जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)  
केवली व पूर्वधर-खण्ड

णमो अरिहंताणं  
णमो सिद्धाणं  
णमो आयरियाणं  
णमो उवज्झायाणं  
णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।  
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥







# जैन धर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वधर-खण्ड

लेखक एवं निर्देशक  
आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक मण्डल  
पंडितरत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज  
श्री देवेन्द्र मुनि 'शास्त्री'  
पं. शशिकान्त झा  
डॉ. नरेन्द्र भानावत  
प्रेमराज बोगावत  
गजसिंह राठौड़, न्याय-व्याकरण-तीर्थ (मुख्य-सम्पादक)

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल जैन इतिहास समिति  
बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.) लाल भवन, चौड़ा रास्ता,  
फोन - 0141-565997 जयपुर-302004 (राज.)

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल

बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.)

फोन - 0141-565997

जैन इतिहास समिति

लाल भवन, चौड़ा रास्ता,

जयपुर-302004 (राज.)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 1974

द्वितीय संस्करण : 1987

तृतीय संस्करण : 1995

चतुर्थ संस्करण : 2001

मूल्य : रु. 500/- मात्र

आवरण :

पारस भंसाली

मुद्रक :

दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस,

मोती सिंह भोमियों का रास्ता,

जौहरी बाजार, जयपुर (राज.)

फोन : 562929, 564771

## समर्पण



पुण्ये शताब्दि-सु-महे तव पंचविंशे,  
श्री वर्द्धमान ! जिननाथ ! समर्पयामि ।  
जैनेतिहासकुसुमस्तबकं द्वितीयम्,  
ते हस्तिमल्लमुनिपोऽहमतीव भक्त्या ॥





## विषयानुक्रमणिका

	प्रकाशकीय	....	(१)
	सम्पादकीय	....	(५)
	प्राक्कथन	....	(१७)
१.	स्वर्णिमकाल	.....	१
२.	केवलिकाल	.....	३
	<b>इन्द्रभूति गौतम</b>	.....	७
	जन्म और वंश	.....	७
	शिक्षा	.....	७
	वेद-विद्या के आचार्य एवं उनके छात्र	.....	८
	गार्हस्थ्य-जीवन	.....	८
	याजकाचार्य के रूप में	.....	८
	स्वाभिमान	.....	१०
	अ. महावीर से शास्त्रार्थ का विचार	.....	१३
	शास्त्रार्थ के लिये प्रयाण	.....	१४
	भ. महावीर को देखकर विचार	.....	१५
	म. महावीर द्वारा उद्बोधन	.....	१७
	जीव प्रत्यक्ष सिद्ध है	.....	१७
	विज्ञानघन का वास्तविक अर्थ	.....	१६
	एकात्मवाद का निराकरण	.....	२०
	हृदय-परिवर्तन	.....	२२
	शिष्यमण्डल सहित प्रव्रज्या	.....	२३
	दीक्षा-समय पिता की विद्यमानता	.....	२७
	दीक्षा पर दोनों परम्पराओं का समन्वय	.....	२८
	गणधर-पद प्रदान की विधि	.....	२६
	गणधर-पद की महत्ता	.....	३०
	गण और गणधर	.....	३१
	इन्द्रभूति और सुधर्मा को विशिष्ट पद	.....	३२



देशना के पश्चात् इन्द्रभूति का उपदेश	.....	३३
भगवान् की देशना विषयक दिगम्बर-मान्यता	.....	३५
इन्द्रभूति का उच्चतम व्यक्तित्व	.....	३५
इन्द्रभूति द्वारा देवशर्मा को प्रतिबोध	.....	३६
भगवान् महावीर के निर्वाण पर इन्द्रभूति का चिन्तन	.....	३७
इन्द्रभूति की निर्वाण-साधना	.....	३६
पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम	.....	४०
प्रथम पट्टधर विषयक प्राचीन दिगम्बर-मान्यता	.....	४३
<b>आर्य सुधर्मा (प्रथम पट्टधर)</b>	.....	४७
आर्य सुधर्मा की विशिष्टता	.....	४८
जन्मस्थानादि	.....	४८
माता-पिता	.....	४६
शिक्षण	.....	४६
तत्कालीन धार्मिक स्थिति	.....	५०
दीक्षा से पूर्व का जीवन	.....	५०
प्रतिबोध और दीक्षा-ग्रहण	.....	५४
दीक्षा के पश्चात् आर्य सुधर्मा	.....	५५
भव्य विराट व्यक्तित्व	.....	५६
छद्मस्थकालीन साधना	.....	५७
सुधर्मा के गण और साधु	.....	५८
६ गणधरों का निर्वाणकाल और सुधर्मा के साधु	.....	५८
क्या सुधर्मा के अधीन अन्य आचार्य भी थे ?	.....	५६
आर्य सुधर्मा भ. महावीर के प्रथम पट्टधर संघनायक	.....	६०
भ. महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा ही क्यों ?	.....	६१
यट्ट-प्रदान किसके द्वारा ?	.....	६२
सुधर्मा का अपर नाम लोहार्य	.....	६४
क्या आर्य सुधर्मा क्षत्रिय राजकुमार थे ?	.....	६५
आर्य सुधर्मा का निर्वाण	.....	६८
वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार	.....	६८
द्वादशांगी का परिचय	.....	७२
१. आचारांग	.....	७२
प्रथम श्रुतस्कन्ध	.....	७५
प्रथम अध्ययन	.....	७६
द्वितीय अध्ययन	.....	७६

तृतीय अध्ययन	.....	७७
चतुर्थ अध्ययन	.....	७७
पंचम अध्ययन	.....	७८
छद्दा अध्ययन	.....	८०
सातवां अध्ययन	.....	८२
विषयवस्तु	.....	८३
महापरिज्ञा अध्ययन में मंत्रविद्या	.....	८६
आठवां अध्ययन	.....	८७
नौवां अध्ययन	.....	८८
द्वितीय श्रुतस्कन्ध	.....	९०
<del>द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन ?</del>	.....	९१
आचारांग का स्थान एवं महत्त्व	.....	१०६
२. सूत्रकृतांग	.....	११०
३. स्थानांग	.....	११५
स्थानांग की महत्ता	.....	१२०
४. समवायांग	.....	१२१
५. वियाह-पण्णत्ति	.....	१३०
अपरनाम भगवती	.....	१४०
व्याख्या प्रज्ञप्ति का उपलब्ध स्वरूप	.....	१४१
६. नाया धम्मकहाओ	.....	१४३
७. उवासगदसाओ	.....	१४६
उपासकदशा का महत्त्व	.....	१५२
८. अंतगडदसाओ	.....	१५२
९. अणुत्तरोववाइयदसा	.....	१५४
१०. पण्हावागरणा	.....	१५६
११. विवागसुयं	.....	१६४
१२. दृष्टिवाद	.....	१६६
द्वादशांगी में मंगलाचरण	.....	१७०
द्वादशांगी का हास एवं विच्छेद	.....	१७३
श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पद-संख्या	.....	१७४
दिग. परम्परानुसार द्वादशांगी की पद, श्लोक		
एवं अक्षर-संख्या	.....	१७४
पूर्वी की पद-संख्या	.....	१७५
द्वादशांगी विषयक दिगम्बर-मान्यता	.....	१८४

आर्य जम्बू (द्वितीय पट्टधर)	.....	१८७
आर्य जम्बू के पूर्व भव	.....	१८८
सागरदत्त और शिवकुमार	.....	१९५
आर्य जम्बू के माता-पिता	.....	२०२
जम्बू की विरक्ति	.....	२०७
अति घोर प्रतिज्ञा	.....	२०८
माता-पिता के समक्ष प्रव्रजित होने का प्रस्ताव	.....	२०९
जम्बू का विवाह	.....	२१३
पत्नियों को प्रतिबोध	.....	२१४
प्रभव का ५०० चोरों के साथ गृह-प्रवेश	.....	२१५
प्रभव को प्रतिबोध	.....	२१५
पत्नियों के साथ चर्चा	.....	२१६
वानर का कथानक	.....	२१७
अंगारकारक का दृष्टान्त	.....	२१८
परिवार को प्रतिबोध	.....	२१९
जम्बू द्वारा माता-पिता आदि ५२७ व्यक्तियों के साथ दीक्षा	.....	२२०
कृणिक की जिज्ञासा	.....	२२४
जन्म, निर्वाण आदि काल-निर्णय	.....	२२५
जम्बू श्रमण की प्रश्न-परम्परा	.....	२२८
आर्य जम्बू स्वामी की विशेषता	.....	२३०
आर्य जम्बू स्वामी का निर्वाण	.....	२३०
दश बोलों का विच्छेद	.....	२३१
केवलिकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं	.....	२३२
अन्य मान्यता - भेद	.....	२३४
वीर कवि और जम्बू	.....	२३६
जम्बू द्वारा विद्युत् चोर को प्रतिबोध	.....	२३८
केवलिकाल के राजवंश	.....	२४८
मगध का शिशुनाग-राजवंश	.....	२४८
शिशुनागवंश का संक्षिप्त परिचय	.....	२५०
मगध पर उदायी का शासनकाल	.....	२५६
पाटलीपुत्र का निर्माण	.....	२५७
नन्दवंश का अभ्युदय	.....	२६७
महान् अमात्यवंश का उद्भव	.....	२६८
मगध-सम्राट् उदायी तथा उसके उत्तराधिकारी		
नन्द (नन्दिवर्धन) के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं	.....	२७३
वस्तुतः नन्द कौन था	.....	२७५

अवन्ती का प्रद्योत राजवंश	.....	२७६
कौशाम्बी (वत्सराज्य) का पौरव राजवंश	.....	२८६
कलिंग का चेदिराजवंश	.....	२८६
३. श्रुतकेवलिकाल	.....	२८६
आचार्य प्रभव स्वामी (तृतीय पट्टधर)	.....	२६२
डाकू सरदार प्रभव	.....	२६२
प्रभव द्वारा श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर डाका	.....	२६३
चोरों का स्तम्भन	.....	२६३
प्रभव का जम्बू से निवेदन	.....	२६४
जम्बू और प्रभव का संवाद	.....	२६५
मधुबिन्दु का दृष्टान्त	.....	२६६
संसार का बड़ा दुःख	.....	२६८
ललितांग का दृष्टान्त	.....	२६८
अठारह प्रकार के नाते	.....	३००
कुबेरदत्त एवं कुबेरदत्ता का आख्यान	.....	३००
गोप युवक का दृष्टान्त	.....	३०५
महेश्वर दत्त का आख्यान	.....	३०७
वणिक्कादृष्टान्त	.....	३१०
प्रभव का आत्मचिन्तन	.....	३११
प्रभव की दीक्षा और साधना	.....	३१२
उत्तराधिकारी के लिये चिन्तन	.....	३१२
आर्य प्रभव का स्वर्गगमन	.....	३१४
दिगम्बर परम्परा की मान्यता	.....	३१४
आचार्य शय्यंभव (चतुर्थ पट्टधर)	.....	३१६
बालर्षि मणक	.....	३१६
दशवैकालिक की रचना	.....	३१६
आचार्य शय्यंभव का स्वर्गगमन	.....	३२१
दिगम्बर मान्यता	.....	३२२
आचार्य यशोध्रस्वामी (पंचम पट्टधर)	.....	३२२
दिगम्बर मान्यता	.....	३२३
आचार्य सम्भूत विजय (छठे पट्टधर)	.....	३२३
शिष्य	.....	३२४
शिष्याएं	.....	३२४
दिगम्बर-परम्परा	.....	३२५

आचार्य श्री भद्रबाहु (सातवें पट्टधर)	.....	३२५
जैन शासन में भद्रबाहु की महिमा	.....	३२६
भद्रबाहु के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं	.....	३२६
व्रतपर्याय से पूर्व का जीवन	.....	३२७
श्वेताम्बर परम्परागत परिचय	.....	३२७
आवश्यक-चूर्णि	.....	३२८
गच्छाचार-पङ्कणा, दोषट्टीवृत्ति	.....	३२९
प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार	.....	३३३
प्रबन्ध-कोश के अनुसार	.....	३३४
गुरु-पट्टावली के अनुसार	.....	३३६
दिग. परं. के ग्रन्थों में आ. भद्रबाहु का परिचय -		
भाव संग्रह के अनुसार	.....	३३७
वृहत्कथाकोश	.....	३४१
आ. रत्ननन्दी के अनुसार	.....	३४७
नामसाम्य से हुई भ्रान्ति	.....	३५८
छेदसूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु	.....	३५९
श्रुतकेवली भद्रबाहु नियुक्तिकार नहीं	.....	३६३
निष्कर्ष	.....	३७१
नियुक्तिकार कौन ?	.....	३७१
एक महत्वपूर्ण तथ्य	.....	३७५
तत्कालीन उत्कट चारित्रनिष्ठा	.....	३७६
भद्रबाहु विषयक श्वे. मान्यताओं का निष्कर्ष	.....	३७७
श्रुतकेवलिकाल की राजनैतिक एवं अन्य प्रमुख		
ऐतिहासिक घटनाएं	.....	३७७
उपकेशगच्छ	.....	३७९
आचार्य भद्रबाहु का शिष्य-परिवार	.....	३८०
४. दशपूर्वधरकाल	.....	३८१
आर्य स्थूलभद्र (आठवें पट्टधर)	.....	३८३
जन्म, माता-पिता	.....	३८३
कोशा के यहां	.....	३८४
वररुचि की प्रतिस्पर्धा	.....	३८५
मंत्रिपुत्रियों की स्मरणशक्ति	.....	३८६
रहस्यपूर्ण चमत्कार	.....	३८७
रहरस्योद्घाटन	.....	३८९



वररुचि का शकटार के विरुद्ध षड्यन्त्र	.....	३६०
प्राण देकर भी परिवार-रक्षा	.....	३६१
महामात्य पद	.....	३६३
स्थूलभद्र की दीक्षा और वररुचि का मरण	.....	३६५
आर्य स्थूलभद्र द्वारा अति दुष्कर अभिग्रह	.....	३६६
स्थूल भद्र से होड़	.....	३६६
क्रोशा द्वारा मुनि को प्रतिबोध	.....	४००
श्रीयक की विरक्ति	.....	४०२
अद्भुत कलाकौशल	.....	४०३
पाटलीपुत्र में हुई प्रथम आगम-वाचना	.....	४०४
एक विकट समस्या	.....	४०६
मित्र धर्मेण योजयेत्	.....	४१४
कृतीय निन्हव अव्यक्तवादी की उत्पत्ति	.....	४१५
भारत पर सिकन्दर द्वारा आक्रमण	.....	४१८
मौर्य राजवंश का अभ्युदय	.....	४२२
मौर्य राजवंश का संस्थापक चाणक्य	.....	४२३
चन्द्रगुप्त का परिचय	.....	४२५
ग्रामीण महिला से चाणक्य को शिक्षा	.....	४३२
नन्दवंश का अन्तः मौर्यवंश का अभ्युदय	.....	४३३
चन्द्रगुप्त के राज्यारोहणकाल के सम्बन्ध में मतभेद	.....	४३५
आर्य स्थूलभद्र का शिष्य परिवार	.....	४४०
आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती	.....	४४०
आर्य महागिरि (नौवें पट्टधर)	.....	४४०
आर्य सुहस्ती (दशवें पट्टधर)	.....	४४०
गृहस्थ जीवन	.....	४४१
श्रमण-दीक्षा	.....	४४१
श्रमण-जीवन	.....	४४२
अचार्य-पद	.....	४४२
आर्य-महागिरि की विशिष्ट साधना	.....	४४४
आर्य महागिरिकालीन राजवंश	.....	४४६
बिन्दुसार का जन्म	.....	४४७
मौर्य सम्राट् बिन्दुसार	.....	४४८
चाणक्य की मृत्यु	.....	४४८
आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल का राजवंश	.....	४५०

मौर्य सम्राट् अशोक	.....	४५०
सुहस्ती द्वारा सम्प्रति को प्रतिबोध	.....	४५३
सम्प्रति का पूर्वभंव	.....	४५४
श्रमण-संघ में विसंभोग का प्रारम्भ	.....	४५५
राजा सम्प्रति द्वारा जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार	.....	४५८
उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्ति सुकुमाल	.....	४६०
आर्य महागिरि की शिष्य-परम्परा	.....	४६३
आचार्य सुहस्ती की शिष्य-परम्परा	.....	४६३
समुच्छेदवादी चौथा निन्हव अश्वमित्र	.....	४६५
द्विक्रियावादी पांचवां निन्हव गंग	.....	४६७
आचार्य सुहस्ती के बाद की संघ-व्यवस्था	.....	४६८
वाचकवंश-परम्परा	.....	४७१
युगप्रधानाचार्य-परम्परा की नामावली	.....	४७२
गणाचार्य-परम्परा	.....	४७३
कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली	.....	४७३
वाचनाचार्य बलिस्सह (११ वें पट्टधर)	.....	४७४
गुण सुन्दर (ग्यारहवें युगप्रधानाचार्य)	.....	४७६
सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध (गणाचार्य)	.....	४७६
आर्य-बलिस्सहकालीन राजवंश	.....	४७७
कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल	.....	४८२
भिक्षुराय खारवेल का वंश	.....	४८७
खारवेल के शिलालेख का लेखनकाल	.....	४८८
पुष्यमित्र शुंग	.....	४९१
वाचनाचार्य स्वाति (१२ वें पट्टधर)	.....	४९३
वाचनाचार्य श्यामाचार्य (१३ वें पट्टधर)	.....	४९४
१२ वें युगप्रधानाचार्य आर्य श्याम	.....	४९६
आर्य श्याम के आचार्यकाल की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति	.....	४९६
भ्रम का निराकरण	.....	४९९
आर्य इन्द्रदिन्न गणाचार्य	.....	५०६
आर्य प्रिय ग्रन्थ	.....	५०६
वाचनाचार्य वांडिल्य (१४ वें पट्टधर)	.....	५०८
आर्य दिन्न गणाचार्य	.....	५०९

वाचनाचार्य समुद्र (१५ वें पट्टधर)	.....	५०६
कालकाचार्य (द्वितीय)	.....	५१०
पंचमी के स्थान पर चतुर्थी का पर्वाराधन	.....	५१७
कालकाचार्य (द्वितीय) स्वर्णभूमि में	.....	५२१
आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन	.....	५२३
आर्य खपुट	.....	५२६
आर्य रेवतीमित्र (युगप्रधानाचार्य)	.....	५३१
आर्य समुद्र के समय राजवंश	.....	५३१
वाचनाचार्य मंगू (१६ वें पट्टधर)	.....	५३२
आर्य धर्म युगप्रधानाचार्य	.....	५३५
आर्य सिंहगिरि-गणाचार्य	.....	५३६
आर्य समित	.....	५३६
आर्य धनगिरि	.....	५३८
आर्य अर्हद्दत्त	.....	५३८
आर्य मंगू के समय के राजवंश	.....	५३८
हिमवन्त स्थविरावलीकार और विक्रमादित्य	.....	५४१
वाचनाचार्य नन्दिल (१७ वें पट्टधर)	.....	५५०
आर्य भद्रगुप्त युगप्रधानाचार्य	.....	५५१
गणाचार्य	.....	५५२
वाचनाचार्य नागहस्ती (१८ वें पट्टधर)	.....	५५२
आर्य पादलिप्त	.....	५५५
मुरुण्डराज की बहिन द्वारा जैन श्रमणी-दीक्षा	.....	५५६
मुरुण्डकाल में धार्मिक कटुता	.....	५६०
आर्य श्रीगुप्त युगप्रधानाचार्य	.....	५६१
छठा निन्हव रोहगुप्त	.....	५६२
आर्य वज्रस्वामी	.....	५६६
आर्य वज्र की प्रतिभा और विनयशीलता	.....	५७३
दिगम्बर परम्परा में वज्रमुनि	.....	५८२
दशपूर्वधर-विषयक दिगम्बर मान्यता	.....	५८५
आ. नागहस्ती एवं आ. वज्र के समय की राजनैतिक स्थिति	....	५८६
५. सामान्य पूर्वधरकाल	.....	५८७
वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र (१६ वें पट्टधर) <sup>१</sup>	.....	५८६
रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य	.....	५८६
अमर्य रक्षित युगप्रधानाचार्य	.....	५६०
अनुयोगों का पृथक्करण	.....	५६५
आर्य रथ गणाचार्य	.....	५६७
सातवां निन्हव गोष्ठा माहिल	.....	५६८

<sup>१</sup> देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७२ का टिप्पण।

आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र युगप्रधानाचार्य	.....	६०२
शालिवाहन शाक-संवत्सर	.....	६०४
जैन श्रमण में सम्प्रदायभेद	.....	६०८
दिगम्बर परम्परा में संघभेद	.....	६१३
शपनीय संघ	.....	६१५
आर्य वज्रसेन युगप्रधानाचार्य	.....	६१६
आर्य चन्द्र गणाचार्य	.....	६२०
त्रैत्यवास	.....	६२३
तत्कालीन राजनैतिक स्थिति	.....	६२८

<b>वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह (२० वें पट्टधर)</b>	.....	६३१
आर्य नागेन्द्र (नागहस्ती) युगप्रधानाचार्य	.....	६३१
आर्य सामन्तभद्र-गणाचार्य	.....	६३२
आर्य वृद्धदेव गणाचार्य	.....	६३३
आर्य प्रद्योतन गणाचार्य	.....	६३३
आर्य मानदेव गणाचार्य	.....	६३३
आर्य नागेन्द्र के समय की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति	.....	६३४
नाग भारशिव राजवंश का अभ्युदय	.....	६३६
आर्य रेवतीमित्र - युगप्रधानाचार्य	.....	६३७
भारशिव और कुषाण महाराजा हुविष्क	.....	६३७
कुषाण महाराजा वाशिष्क	.....	६३८
भारशिवों द्वारा कुषाण-साम्राज्य पर प्रहार	.....	६३८
कुषाण-महाराजा वासुदेव	.....	६३८
भारशिव राजवंश की शाखाएं	.....	६३६
कान्तिपुरी की मुख्य शाखा	.....	६४०
पद्मावती शाखा	.....	६४०
मथुरा शाखा	.....	६४०
वाकाटक राजवंश का अभ्युदय	.....	६४०
वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (प्रवीर)	.....	६४२
रुद्रसेन प्रथम	.....	६४३
आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह वाचनाचार्य : आर्यसिंह युगप्रधानाचार्य ...	.....	६४४
गणाचार्य मानतुंग	.....	६४५
युग प्र० आर्य सिंह के काल में गुप्त राजवंश का अभ्युदय	.....	६४६
<b>वाचनाचार्य स्कन्दिल (२१ वें पट्टधर)</b>	.....	६४८
<b>वाचनाचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण (२२ वें पट्टधर)</b>	.....	६५३

वाचनाचार्य नागार्जुन (२३ वें पट्टधर)	.....	६५४
युगप्रधानाचार्य नागार्जुन	.....	६५४
आर्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन के समय के राजवंश	.....	६५६
चन्द्रगुप्त (गुप्त) प्रथम	.....	६५६
आर्य नागार्जुन के समय के राजवंश	.....	६५६
गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त पराक्रमांक	.....	६५६
आर्य गोविन्द वाचनाचार्य	.....	६६३
<b>वाचनाचार्य भूतदिन्न (२४ वें पट्टधर)</b>		
आर्य भूतदिन्न युगप्रधानाचार्य	.....	६६४
आर्य नागार्जुन एवं भूतदिन्न के समय का राजवंश		
चन्द्रगुप्त द्वितीय	.....	६६५
आर्य भूतदिन्न के समय की राजनैतिक स्थिति	.....	६७२
<b>वाचनाचार्य लोहित्य (२५ वें पट्टधर)</b>	.....	६७४
<b>वाचनाचार्य दूष्यगणी (२६ वें पट्टधर)</b>	.....	६७४
<b>वाचनाचार्य एवं गणाचार्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण (२७ वें पट्टधर)</b>	.....	६७५
आगमवाचना अथवा लेखन	.....	६७७
देवर्द्धि और देववाचक	.....	६८०
देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरुपरम्परा	.....	६८१
वल्लभी-परिषद का आगमलेखन	.....	६८६
उत्कालिक सुय	.....	६८७
कालिक सुय (१२ अंग)	.....	६८७
अंग (११)	.....	६८८
उपांग (१२)	.....	६८८
प्रकीर्णक (१०) छेदसूत्र (६) मूलसूत्र (४)		
चूलिका (२) आवश्यक (१)	.....	६८६
स्पष्टीकरण	.....	६८६
देवर्द्धिक्षमाश्रमण का स्वर्गगमन और पूर्वज्ञान का विच्छेद	.....	६९०
कालकाचार्य (चतुर्थ) युगप्रधानाचार्य	.....	६९२
आर्य सत्यमित्र युगप्रधानाचार्य	.....	६९३
देवर्द्धिकालीन राजनैतिक स्थिति - गुप्त सम्राट्		
स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य	.....	६९३
वीर नि० सं० १००० तक हुए गुप्त राजवंश के		
राजाओं की तिथिक्रम सहित नामावली	.....	६९८
सामान्य पूर्वधर-काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता ...		६९६



प्रज्ञापना-षट्खण्डागम	.....	७०३
काल निर्णय के सम्बन्ध में गम्भीर भ्रान्ति		७२४-७६८
श्रुतधर पट्टावली	.....	७३३
हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली	.....	७३४
नन्दि आम्नाय की पट्टावली	.....	७३५
पट्टावली	.....	७३५
वीर निर्वाण के पश्चात्	.....	७३६
राष्ट्रकूटवंशीय महाराजा गोविन्द तृतीय का शक सं० ७१६		
का ताम्रलेख शक सं० ७२४ का दूसरा ताम्रलेख	.....	७६६
केवलीकाल से पूर्वधर काल तक की साध्वी परम्परा	.....	७६६
आर्या चन्दनबाला	.....	७७५
आर्या सुव्रता एवं धारिणी आदि	.....	७७७
परम प्रभाविका यक्षा आदि साध्वियां	.....	७७८
आर्या पोङ्गी	.....	७८०
साध्वी सरस्वती	.....	७८२
साध्वी सुनन्दा	.....	७८३
बालब्रह्मचारिणी साध्वी रुक्मिणी	.....	७८४
महासती धारिणी	.....	७८७
महत्तरा विजयवती और साध्वी विगतभया	.....	७९०
अज्ञातनामा साध्वी मुरुण्ड राजकुमारी	.....	७९१
साध्वी रुद्रसोमा	.....	७९३
साध्वी ईश्वरी	.....	७९७
उपसंहार	.....	७९९

६. परिशिष्ट	.....	८०१
(१) शब्दानुक्रमणिका		
(२) सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची		

## प्रकाशकीय

जैन धर्म का मौलिक इतिहास (चार खण्ड) आध्यात्मिकता के गौरव शिखर आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की अद्वितीय और अपूर्व देन है। आचार्यश्री ने जैन संस्कृति के हस्तलिखित ग्रंथागारों और ज्ञान भण्डारों से विपुल ऐतिहासिक सामग्री का चयन कर इस महत् अनुष्ठान को पूरा कर जैन संस्कृति के विकास में एक कीर्तिमान स्थापित किया। ऐतिहासिक सामग्री के संकलन, ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़ने और प्रामाणिक आधार पर आचार्य श्री ने समाज शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करके जैन धर्म के मौलिक इतिहास का भव्यवन निर्मित किया है।

इसके प्रथम भाग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक का इतिहास है। द्वितीय भाग में वीर निर्वाण संवत् 1 से 1000 वर्ष के काल का इतिहास प्रस्तुत किया गया। इसके पश्चात् 1500 वर्षों का इतिहास तृतीय और चतुर्थ खण्ड में है।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास के चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं। जैन धर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग) के इस चतुर्थ संस्करण को प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

अंत में हम आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. एवं आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा व्यक्त करते हैं, जिनके द्वारा इस महत् अनुष्ठान की सम्पूर्ति हुई। हम सम्पादक मण्डल के समस्त सदस्यों और उन सबके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने समय-समय पर योग देकर अपना दायित्व वहन किया है।

निवेदक :

चेतनप्रकाश खैरावाल	प्रकाशचन्द डागा	पारसचन्द हीरावत	चन्द्रराज सिंघवी
अध्यक्ष	मंत्री	अध्यक्ष	मंत्री
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल		जैन इतिहास समिति	



## सम्पादकीय

प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज की स्वनामधन्य एवं सुविख्यात सम्प्रदाय के यशस्वी विद्वान् आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब द्वारा लिखित - "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के प्रथम भाग की तरह द्वितीय भाग के सम्पादक मण्डल में भी मेरा नाम सम्मिलित कर मुझे जो सम्मान प्रदान किया गया है, उसके लिये मैं आचार्य श्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस युग के उच्च कोटि के विद्वान्, प्रमुख इतिहासज्ञ एवं आगमनिष्णात आचार्य की कृति के सम्पादन में अन्य किसी व्यक्ति को वस्तुतः विशेष श्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती। सम्पादकमण्डल में पांच लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की विद्यमानता में मेरा श्रम कितना स्वल्प रहा होगा, इसका पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी वर्तमान युग के अकारणकरूणाकर महर्षि ने असीम अनुग्रह कर मुझ जैसे अकिञ्चन व्यक्ति को इस परम महत्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सौंपा, तो मेरा पुनीत कर्तव्य हो गया कि मैं पूर्ण निष्ठा के साथ अपने सामर्थ्यानुसार पूरी शक्ति लगा कर इस ग्रन्थरत्न को अधिकाधिक, सर्वांग सुन्दर, सर्व साधारण के लिये सुगम और शोधकर्त्ताओं के लिये समुपादेय बनाने का प्रयास करूँ। इस सब के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुरूप ही अध्ययन की आवश्यकता थी, जिसका मुझ में नितान्त अभाव था। लगभग ३५ वर्ष पहले, विद्यार्थी जीवन में किये गये कुछ आगमिक अध्ययन का जो धुंधला रेखाचित्र स्मृति पटल पर अंकित था, वह प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के सम्पादनकाल में थोड़ा उभर चुका था। उसी के बल पर सम्पादन एवं प्रगाढ़ प्रसुप्त स्वान्तःकरण के जागरण - इन दोनों ही कार्यों के लिये समान रूप से परमोपयोगी आगम तथा आगमेतर साहित्य के अध्ययन का क्रम बढ़ाया। मैं कृतज्ञ हूँ आचार्य श्री विनय चन्द्र ज्ञानभण्डार के भूतपूर्व मंत्री स्व० श्री सोहनमलजी कोठारी, वर्तमान अध्यक्ष श्री श्रीचन्द्रजी गोलेछा और पुस्तकालयाध्यक्ष श्री मोतीलालजी गांधी का, जिन्होंने मुझे विशाल ज्ञानभण्डार के उपयोग की पूर्ण सुविधा प्रदान करने के साथ-साथ आवश्यकतानुसार मांग करते ही तत्काल सैकड़ों सन्दर्भ ग्रन्थ उपलब्ध करवाये।

इस अध्ययन से प्रत्यक्ष - परोक्ष अनेक लाभ हुए। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य श्री द्वारा जिन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण पुरस्सर प्रतिपादन किया गया था, उन्हें आगमिक, आर्ष, आप्त एवं प्राचीन मूल ग्रन्थों के एकाधिक उद्धरणों की आवश्यकतानुसार टिप्पण अथवा मूल में देकर

पुष्ट किया गया। दूसरा लाभ यह हुआ कि इतिहास की अनेक जटिल गुत्थियों को सुलझाने, अनेक भ्रान्त धारणाओं के निराकरण, विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक निष्कर्ष निकालने तथा अनेक स्थलों पर - इतिहास की टूटी कड़ियों के संघान में इस तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी सहायता मिली। किसी उलझी हुई ऐतिहासिक गुत्थी पर उत्कट चिन्तन की अवस्था में "परोक्षप्रियाः वै देवाः" इस तथ्य की भी अनुभूति हुई। अतः उस अचिन्त्य शक्ति के प्रति भी अपना भ्रान्तरिक आभार प्रकट करता हूँ।

"श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद" के संचालक पं० श्री दलसुखभाई मालवणियां ने "तित्योगालिय पइण्णा", भद्रेश्वरसूरी की "कहावली" जैसे अलभ्य ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को पढ़ने एवं उनके महत्वपूर्ण स्थलों को लिख लेने की सुविधा प्रदान की, उसके लिये मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। श्री मालवणियां साहब व भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में कार्य करने वाले अधिकारियों का सुमधुर स्नेह, सौहार्द और सहयोग मेरे हृदयपटल पर सदा अंकित रहेगा। "तित्योगालिय पइण्णा" वस्तुतः कतिपय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिपादन में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य श्री के लिये बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ एवं आगमवेत्ता वयोवृद्ध विद्वान् मुनि श्री कल्याण-विजयजी म. सा. ने अप्राप्य ग्रन्थ "हिमवन्त स्थविरावली" की हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि करने की सुविधा प्रदान कर एवं अपना प्रेरणा प्रदायी आत्मवृत्त सुना तथा दिशानिर्देश कर मुझे अनुप्राणित किया, उस उपकार के प्रति अपने अन्तर के उद्गार प्रकट करने में मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जिस प्रकार कि प्रथम बार गुड़ का रसास्वादन करनेवाला गुंगा गुड़ का स्वाद बताने में। एक अर्जुन कुल में उत्पन्न हुआ शिशु सुयोग और सुसंसर्ग पाकर कितना बड़ा धर्म-प्रभावक बन सकता है, इस तथ्य के साक्षात् दर्शन कर आह्लाद के साथ-साथ अन्तर में एक अदम्य द्वन्द्व आन्दोलित हो उठा। कितना साम्य था हमारे प्रारम्भिक जीवन का। सम्भवतः दोनों के किशोरवय के भोले निश्चल मानस में समान अध्ययन के फल-स्वरूप बहुत कुछ कर गुजरने की एक समान ही उमंगें उठी होंगी। पर "गहना कर्मणो गतिः" इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ करती हुई एक ओर वे उमंगें दृढ़ संकल्प के सहारे अनुकूल वातावरण में उत्तरोत्तर फली-फूलीं और सुरतरु का स्वरूप धारण कर गईं। दूसरी ओर सच्ची लगन के अभाव में मेरे कच्चे हृदय में उठी उसी तरह की उमंगें प्रतिकूल वातावरण की प्रचण्ड अग्नि में जलजुन कर राख बन गईं। सब कुछ प्राप्त करके भी मैं अति कंटीला बौना बबूल ही बना रहा। भयावह आत्मग्लानि से कराह उठा अन्तर -

त्वत्तः सुदुष्प्राप्यमिदं मयाप्तं, रत्नत्रयं भूरिभवभ्रमेण।

प्रमादनिद्रावशतो गतं तद्, कस्याग्रतो नायक ! पूत्करोमि ॥

अन्तर में धुकधुकाती त्रिविध ताप की भट्टी पश्चात्ताप के पानी से कुछ



शान्त हुई। सोचा इतिहास की अतिस्थूल परतों के नीचे न मालूम कितने असंख्य मुक्त से अभागों के इतिवृत्त दबे पड़े होंगे, जो अमोघ वीतराग-वाणी की वीचियों से शोभायमान सुधासागर के तट पर पहुँच कर भी निपट प्यासे ही रह गये।

मैं अपने अध्यापक पं० हीरालालजी शास्त्री (ब्यावर) के प्रति भी श्रद्धा-सिक्त आभार प्रदर्शित करता हूँ। पंडित सा० ने दिगम्बर परम्परा के हस्तलिखित एवं मुद्रित अनेक ग्रन्थ प्रदान करने के साथ-साथ मार्गदर्शन एवं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों से परिचय करवाया, जिससे मुझे अपने कार्य में बड़ी सफलता मिली।

मैं हैरत में हूँ कि श्रीमान् दरबारीलालजी कोठिया के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। पं० हीरालालजी और कोठियाजी में मैंने एक अनूठी आत्मीयता देखी। “नन्दीसंघ-प्राकृतपट्टावली” में वर्णित अंगधारी आचार्यों के विवादास्पद काल, नाम आदि के सम्बन्ध में मुझे यथाशक्य अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करनी थी। श्री कोठियाजी ने स्व० श्री नेमिचन्द्रजी, ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा विषयक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि और दिगम्बर परम्परा की १७ पट्टावलियां मुझे प्रदान कीं। मुद्रणाधीन पुस्तक की पाण्डुलिपि उसी विषय के एक अपरिचित शोधार्थी को दिखा देने की उदारता कोठियाजी जैसे असाधारण सौजन्य के धनी ही कर सकते हैं। कोठियाजी ने मुझे एक अनन्य आत्मीय तुल्य सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के तृतीय एवं चतुर्थ भाग के लिये उपयोगी उन १७ पट्टावलियों की मैंने प्रतिलिपि कर ली पर २५०० पृष्ठ की पाण्डुलिपि में से मैंने केवल ६०-७० पृष्ठ ही पढ़े। स्वर्गीय पं० नेमिचन्द्रजी ने निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा का बहुमूल्य पानीदार शीशे में क्रमशः प्रतिबिम्बित होने वाले मनमोहक दृश्यों की तरह सजीव चित्रण किया था। पुस्तक बड़ी रोचक थी किन्तु मैं जिस वस्तु की खोज में था, वह उसमें नहीं थी अतः पाण्डुलिपि का जितना भाग मेरे पास आया था, न उसे ही पूरा पढ़ा और न अवशिष्ट अंश कोठियाजी के आग्रह के उपरान्त भी लिया ही।

मैं जैन परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री अमरचन्द्रजी नाहटा का भी बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से ३ दिन का समय निकाल कर प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के प्रारूप को सुना और अनेक उपयोगी सुझाव दिये।

मैं अपने सहपाठी श्रेष्ठिवर श्री आनन्दराज मेहता, न्याय व्याकरणातीर्थ एवं बालसखा श्री प्रेमराज बोगावत, व्याकरणातीर्थ के सौहार्द को कभी नहीं भुला सकता। मेरे इन दोनों मित्रों ने ठंडी, मीठी और उत्साहवर्द्धक वाक्चातुरी से समय २ पर मेरा उत्साह बढ़ाकर मुझे अकर्मण्य होने से बचाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ और इसके विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन में श्रद्धेय आचार्यश्री ने वीर निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के जैन इतिहास पर इतना विशद रूप से प्रकाश

डाला है कि अब इस सम्बन्ध में मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक शब्द भी कहने अथवा लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि जैन इतिहास के इन दो बड़े ग्रन्थों के सम्पादनकाल में सनातन, जैन और बौद्ध, इन भारत की तीन महान् संस्कृतियों के आर्ष एवं आर्षेतर साहित्य तथा भारत के सार्वभौम इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन तथा तुलनात्मक चिन्तन-मनन करते समय मुझे जो अनुभूतियां हुई हैं उन्हें केवल अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के रूप में यहां इस दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि संभवतः वे समष्टि के लिये न सही, कतिपय नवीन विचारकों के लिये उपयोगी सिद्ध हों।

१. हमारा देश आर्यावर्त विगत अचिन्त्य लम्बे अतीत से आध्यात्मिक एवं सार्वजनीन हित साधक ऐहिक ज्ञान का केन्द्र रहा है। एक ही धरातल पर फली-फूली सनातन, जैन एवं बौद्ध आदि संस्कृतियों के धर्म एवं इतर विषयों के ग्रन्थों में इन तीनों संस्कृतियों के अनेक तथ्य संपृक्त रूप में निहित हैं। जहां तक इतिहास जैसे जटिल एवं विस्तीर्ण विषय का प्रश्न है, कतिपय अंशों में इन तीनों संस्कृतियों का साहित्य परस्पर एक दूसरे की कमियों का पूरक है। उदाहरण स्वरूप शिशु-नागवंश और नंदवंश का पूरा एवं वास्तविक इतिहास इन तीनों परम्पराओं के ग्रन्थों में वर्णित एतद्विषयक उल्लेखों के तुलनात्मक अध्ययन और उनमें से सार भूत पूरक तथ्यों को ग्रहण करने से ही पूरा होता है। इन तीनों में से किसी एक को ही आधार मान लेने पर भारत के इन दो प्रमुख राजवंशों का इतिहास अधूरा ही नहीं अपितु पर्याप्त रूपेण भ्रामक ही रह जाता है।

इसी प्रकार हमारे देश आर्यावर्त का नाम भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर 'भारत' पड़ा, इस तथ्य की निष्पक्ष एवं सर्वमान्य साक्षी सनातन परम्परा के पुराणों से ही उपलब्ध होती है।

वाराणसी पर इक्ष्वाकु-राजवंश का कब से किस समय तक राज्य रहा और भगवान् पार्श्वनाथ के पिता महाराज अश्वसेन के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् वाराणसी पर किस प्रकार शिशुनागवंश का आधिपत्य हुआ, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख जैन परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। सनातन परम्परा के पुराणों में इस विषय के स्रोत बीज रूप में उपलब्ध होते हैं, जिनसे एतद्विषयक प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने में बड़ी सहायता मिलती है।

इसी प्रकार जहां तक अहिंसा एवं अपरिग्रह जैसे विश्वकल्याण-मूलक महान् सिद्धान्तों का प्रश्न है, महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित अहिंसा विषयक उपरिचर वसु और तुलाधार तथा अपरिग्रह विषयक उच्छ्वृत्ति के आख्यान इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि जैन परम्परा की तरह सनातन परम्परा में भी अहिंसा एवं अपरिग्रह आदि महान् सिद्धान्तों का बहुत बड़ा महत्व रहा है।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में धर्म, संस्कृति अथवा किसी पुरातन घटनाचक्र का इतिहास लिखते समय विद्वान् लेखक प्रमुखतः इन तीनों संस्कृतियों के ग्रन्थों का

निष्पक्ष दृष्टि से तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी अध्ययन करें, तभी वह इतिहास प्रामाणिक, सर्वांगसुन्दर एवं समष्टि के लिये उपयोगी तथा उपादेय होगा। भारतीय इतिहास पर नवीन शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान् लेखकों के लिये तो इस प्रक्रिया को अपनाना परमावश्यक हो जाता है। इन तीनों परम्पराओं के ऐतिहासिक स्रोतों का इतिहासविदों द्वारा समान रूप से उपयोग न किये जाने के कारण आज जितने भारतीय इतिहास उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश को सर्वांगपूर्ण इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

२. आचार्यश्री ने जिस प्रकार जैन काल-गणना को ६० वर्ष पीछे की ओर धकेलने वाली शताब्दियों पुरानी एक भ्रांत मान्यता का सदा के लिए अंत किया है, उसी प्रकार के निष्पक्ष एवं ठोस प्रमाणों द्वारा दो-तीन बड़ी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान परमावश्यक है। समस्याएं बड़ी ही जटिल हैं, अतः उनको सुलझाने के लिए आज स्व० श्री नाथूराम प्रेमी के समान शोधप्रिय, अध्ययनशील एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त निष्पक्ष चिन्तकों की तथा सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। पीढ़ियों से वैदिक परम्परा के गहरे रंग में रंगे हुए वैदिक परंपरा के उद्भट आचार्य गौतम आदि ११ गणधर वीर प्रभु की वाणी द्वारा सत्य का बोध होते ही तत्काल निःसंकोच अपनी परम्परागत आस्थाओं-मान्यताओं का पूर्णतः परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते हैं, तो सहस्राब्दियों से उन्हीं के अनुयायी कहलाने वाले विद्वानों के लिए सत्य की खोज में निष्पक्ष दृष्टि से सामूहिक प्रयास करना कोई कठिन कार्य नहीं।

पहली ओर सबसे जटिल समस्या हमारे समक्ष यह है कि आर्य जम्बू के पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की नामावली में भेद क्यों है? चार आचार्यों के पश्चात् पांचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम दोनों परंपराओं में पुनः किस कारण सर्वमान्य हो गया? भद्रबाहु के पश्चात् पुनः नदी की दो बिछुड़ी हुई, कभी न मिलने वाली दो भिन्न धाराओं की तरह दो पृथक् धाराएं किस कारण चल पड़ीं? वास्तव में अब एक दूसरे पर दोषारोपण करने वाली ये निस्सार बातें सुनने के लिए कोई तैयार नहीं कि -

“अमुक परम्परा के साधु नग्न रहते थे, पोथी-पन्ना उनके पास था नहीं, इसलिए वे अपनी परम्परा के इतिहास को सुरक्षित नहीं रख सके - कालान्तर में जैसा मन में आया वैसा लिख दिया” अथवा “अमुक परंपरा के साधु दुष्काली में ढीले पड़ गये, अर्द्धफालक-बंडा-पात्र धारण कर गृहस्थों से भीख मांग कर उनके घरों में बैठकर खाने लग गये। फिर तो शिथिलाचार में मजा आ गया, गुरु ने ज्यादा कहा तो उनकी खोपड़ी पर लट्ठ का प्रहार कर गुरुहत्या कर दी।”

कोटि कोटि कांचन मुद्राओं और कनकलता सी कामिनी के प्रलोभन से तिल मात्र भी नहीं डिगने वाले, भीषण दुष्काल के सनय विद्यापिण्ड के उपभोग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझने वाले ५०० शिष्यों के साथ संथारा एवं समाधिपूर्वक

पण्डितमरण का वरण करने वाले आर्य वज्रस्वामी आदि के दशपूर्वधर पूर्वाचार्यों के लिए इस प्रकार की बात कहना विष्वबन्ध महावीर के अनुयायियों के लिए किसी भी दशा में शोभाजनक नहीं हो सकता ।

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के इस पावन-प्रसंग पर इन सब थोथी बातों को गहन गत में फेंक कर वास्तविक तथ्यों की खोज करना प्रत्येक जैन विद्वान् का पुनीत कर्तव्य हो जाता है । तिलोयपण्णत्तीकार और पुत्राट संघीय विद्वान् आचार्य जिनसेन से लेकर पश्चाद्द्वर्ती सभी बड़े-बड़े दिग्म्बराचार्यों ने जम्बूस्वामी के पश्चात् विष्णु और भद्रबाहु के पश्चात् विशाखाचार्य से आचार्यों की पट्टावली प्रारम्भ की है । दिग्म्बर परम्परा के वीरसेन, इन्द्रनन्दी, जम्बूदीव प्रज्ञप्तिकार आचार्यों ने गौतम से लेकर अंतिम अंगधर लोहार्य तक जो आचार्यों की नामावली दी है, उसे आचार्य परम्परा की पट्टावली के नाम से अभिहित न कर, उसका श्रुतावतार की परम्परा के नाम से उल्लेख किया है । इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आचार्यों की श्रुतावतार परम्परा और पट्टधर आचार्य-परम्परा परस्पर दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ हैं । यदि भिन्न हैं तो पट्टानुक्रम से आचार्य परम्परा की पट्टावली कौन-सी है और कहां है ? पट्टानुक्रम की अन्य पट्टावली के अभाव में यही मानना श्रेयस्कर है कि यह श्रुतावतार परम्परा की नामावली ही आचार्य परम्परा की पट्टावली है । जहां तक मुझे याद पड़ता है मेरी जिज्ञासा के उत्तर में दिग्म्बर परम्परा के एक माने हुए विद्वान् ने इसे श्रुतावतार पट्टावली ही बताया था । पर वस्तुतः यह श्रुतावतार पट्टावली ही पट्टधर पट्टावली होनी चाहिए । अन्यथा अनेक इस प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होंगी, जिनका निराकरण किसी प्रकार संभव नहीं ।

श्वेताम्बर परम्परा की दो मुख्य स्थविरावलियां हैं - एक तो कल्पसूत्र के अंत में दी हुई स्थविरावली और दूसरी नंदीसूत्र के प्रारम्भिक मंगल पाठ में दी हुई वाचक-परम्परा की पट्टावली । मथुरा के कंकाली टीले से निकले आयागपट्टों, मूर्तियों, स्तम्भों आदि पर उद्दंकित शिलालेखों से कल्पस्थविरावली और नन्दी-स्थविरावली की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है । इसी प्रकार के प्रामाणिक उल्लेखों की खोज चतुर्दश पूर्वधर आचार्य विष्णु से लेकर अंतिम अंगधर लोहाचार्य के सम्बन्ध में करने की महती आवश्यकता है । श्रवणवेलगोल, पार्श्वनाथ वसति के कुछ शिलालेखों में विष्णु आदि आचार्यों के उल्लेख हैं पर वह अपूर्ण, कतिपय अंशों में परस्पर विरोधी और पर्याप्त पश्चाद्द्वर्ती काल के हैं ।

इन सब विवादास्पद प्रश्नों का कोई सर्वमान्य हल आज उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । यदि यापनीय संघ के यापनीय - तन्त्र तथा साहित्य की सामूहिक रूप से खोज की जाय और उस संघ के आचार्यों की कोई पट्टावली खोज निकाली जाय तो उस निष्पक्ष साक्ष्य के आधार पर इस प्रकार की अनेक समस्याओं को हल करने में बड़ी सहायता मिल सकती है । ऐसा लगता है कि यापनीय संघ का जो विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य था, उसका

पर्याप्त अंश दक्षिणी लिपियों में कहीं न कहीं अवश्य अन्धकार में पड़ा हुआ है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा में प्रयास करेंगे तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

३. एकादशांगी की विद्यमानता अथवा विच्छेद के सम्बन्ध में भी निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। जहाँ एक ओर श्वेताम्बर परम्परा की यह दृढ़ मान्यता एवं आस्था है कि एकादशांगी का कतिपय अंशों में ह्रास तो हुआ है पर वह विच्छिन्न नहीं हुई है, तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि वीर नि० सं० ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहाचार्य के स्वर्गस्थ होने के साथ ही एकादशांगी का विच्छेद हो गया। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न जैनसंघ की तीसरी परम्परा - यापनीय संघ के 'ग्रन्थ भगवती आराधना' एवं 'विजयोदया टीका' में एकादशांगी की विद्यमानता के स्पष्ट उल्लेख आज भी उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में एकादशांगी की विद्यमानता विषयक श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता का पक्ष भारी पड़ता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रणेता उच्चनागर शाखोद्भव वाचक<sup>१</sup> उमास्वाति (स्व० प्रेमीजी की मान्यतानुसार वीर नि० की दशवीं शताब्दी) ने इस सूत्र पर निर्मित स्वोपज्ञ भाष्य की प्रशस्ति में एकादशांगी की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख किया है :-

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।  
 शिष्येण धोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥  
 वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।  
 शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तः ॥२॥  
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे-कुसुमनाम्नि ।  
 कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ध्यम् ॥३॥  
 ग्रहद्वचनं गुरुक्रमेणागतं समुपधार्यं ।  
 दुःखार्तं च दुरागमविहतमति लोकमवलोक्य ॥४॥  
 इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकंपया दृग्धम् ।  
 तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥  
 यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तन्नोक्तम् ।  
 सोऽप्याबाध सुखार्थं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

अर्थात् - यज्ञस्वी वाचकश्रेष्ठ शिवश्री के प्रशिष्य, एकादशांगधर धोष-नन्दिक्षमण के शिष्य, वाचना (विद्या) दान की दृष्टि से महावाचक मुण्डपाद-क्षमण के प्रशिष्य तथा कीर्तिशाली मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य, पिता स्वाति एवं माता वात्सी के पुत्र, न्यग्रोधिका में उत्पन्न (जन्म ग्रहण करने वाले)

<sup>१</sup> वाचको हि पूर्ववित्... [तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य की शिष्ठसेनीया टीका, अ० ६, सूत्र ६]

कौभीषणिगोत्रीय, उच्चनागर शाखा के वाचक उमास्वाति ने पाटलीपुत्र में विचरण करते समय लोगों को दुःखों से त्रस्त एवं दुरागमों से हतबुद्धि देख गुरु परम्परा से प्राप्त अर्हद्वचनों को समीचीनतया अवधारण कर अनुकम्पापूर्वक इस तत्त्वार्थाधिगम नामक स्पष्ट शास्त्र की रचना की। जो व्यक्ति इस तत्त्वार्थाधिगम को हृदयंगम कर इसके अनुसार आचरण करेगा, वह शीघ्र ही अब्याबाध सुख, मोक्ष को प्राप्त करेगा।

उच्चनागर शाखा श्वेताम्बर संध के आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से प्रचलित कोटिक गण की एक अतिप्रसिद्ध शाखा थी, यह तो अब सर्वसम्मत तथ्य के रूप में सिद्ध हो चुका है। इसके साथ ही साथ वाचकमुख्य, महावाचक, क्षमण और वाचक शब्द श्वेताम्बर परम्परा के पूर्वधर आचार्यों के लिये प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त किये हुए मिलते हैं। दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के लिये इन शब्दों का प्रयोग कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। धवला में आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के लिये 'खमासमण' और महावाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है।<sup>१</sup> वे दोनों आचार्य भी श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य प्रतीत होते हैं क्योंकि दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय में खोजने पर भी किसी पट्टावली ग्रथवा ग्रन्थ में ये दो नाम नहीं मिलते।

उमास्वाति ने अपने शिक्षा गुरु आचार्य मूल के लिये 'वाचकाचार्य' तथा प्रगुरु मुण्डपाद क्षमण के लिये महावाचक शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वाचक उमास्वाति तथा उनके शिक्षा-गुरु वाचकाचार्य मूल एक पूर्व के ज्ञाता थे और वाचकाचार्य मूल के गुरु महावाचक मुण्डपाद एक से अधिक पूर्वों के ज्ञाता। धवलाकार द्वारा एकाधिक पूर्व के ज्ञाता आर्य मंगू (मंगु) के लिये प्रयुक्त महावाचक विशेषण से भी मेरे इस अनुमान की पुष्टि होती है।

इन सब उल्लेखों पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि उमास्वाति दिगम्बर आचार्य नहीं थे। स्वर्गीय प्रेमीजी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य सूत्र पाठ में - 'एकादशजिने'<sup>२</sup> 'दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः'<sup>३</sup> और 'पुलाकब-कुश' 'संयमश्चुत'<sup>४</sup> आदि सूत्रों को दिगम्बर परम्परा की मान्यताओं से विपरीत, एवं श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में उल्लिखित ७ बातों को श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं के प्रतिकूल बता कर

<sup>१</sup> (क) महावाचयाणमञ्जमंशुसमणानामुक्तेसेण लोणे पुण्ये आउअसमं करेदि ।

[षट्खंडागम, भा० १६, पृ० ५१८]

(ख) कम्मट्ठिदिदि अणियोगधारन्दि भण्णमाणे वे उवएसा हीति....अज्जसाणहत्थि खमा-समणा भणंति । अज्ज मंशुखमासमणा पुणा कम्मट्ठिदि सच्चिद संतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदि परूवहेति भणंति [वही]

<sup>२</sup> तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, म० ६, <sup>३</sup> वही म० ४ <sup>४</sup> वही म० ६

तथा तत्त्वार्थाधिगम के स्वोपज्ञ भाष्य के ४ उल्लेखों को यापनीय आचार्य शिवाय द्वारा रचित भगवती आराधना तथा यापनीय आचार्य अपराजित द्वारा रचित भगवती आराधना की विजयोदया टीका में किये गये उल्लेखों से समानता बताते हुए<sup>१</sup> यह संभावना प्रकट की है तत्त्वार्थाधिगम सूत्र एवं इसके स्वोपज्ञ भाष्य के निर्माता वाचक उमास्वाति यापनीय आचार्य हो सकते हैं।<sup>२</sup>

स्वर्गीय प्रेमीजी की इस संभावना पर विचार करने से पहले इस तथ्य को ध्यान में रखना सब विद्वानों के लिये आवश्यक हो जाता है कि वीर निर्वाण सम्बत् २६१ में आर्य सुहस्ती के स्वर्गस्थ होने के कुछ ही वर्षों के पश्चात् उनके पट्टधर शिष्य गणाचार्य आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोटिक गण और उच्चनागरी शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। यह श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद से ३०० वर्ष से भी पूर्व की घटना है। मथुरा के कंकाली टीले से निकले कुषाणकालीन १० शिलालेखों में उच्चनागरी शाखा का उल्लेख है। ये लेख कनिष्क सं० ५ से ६८ (शालिवाहन शाक संवत्सर ५ से ६८) अर्थात् वीर निर्वाण सम्बत् ६१० से ७०३ तक के हैं।<sup>३</sup> इन १० शिलालेखों में से लेख सं० १६, २०, २२, २३, ३१, और ३५ इन ७ लेखों में स्पष्टतः कोटिक गण ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा का, लेख सं० ३६ और ६४ में केवल उच्चनागरी शाखा का तथा लेख सं० ७० में कोटिक गण उच्चनागरी शाखा का उल्लेख है। इन शिलालेखों से कल्पसूत्रीया स्थविरावली की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

वाचक उमास्वाति ने स्वोपज्ञ भाष्य सहित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना के समय उसकी प्रशस्ति में स्पष्टतः अपना परिचय एकादशांगविद् गुरु के शिष्य तथा उच्चनागर शाखा के वाचक के रूप में देते हुए यह स्वीकार किया है कि गुरु परम्परा से आगत तीर्थंकर महावीर (अर्हत्) की वाणी को हृदयंगम कर इस शास्त्र की रचना की। इससे यही सिद्ध होता है कि वे कल्पस्थविरावली में वर्णित उच्चनागरी शाखा के अर्थात् प्रभु की मूल श्रमण परम्परा के वाचनाचार्य थे। वाचनाभेद, गुरुपरम्परागत पाठभेद, स्मृतिदोष, लिपिदोष आदि अनेक कारणों से कुछ छोटे-बड़े मान्यता भेद संभव हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशांगी से कितना साम्य एवं सामीप्य है तथा एकादशांगी के किन-किन स्थलों से किस-किस सूत्र को लेकर तत्त्वार्थाधिगम के सूत्रों की रचना की गई है, इस पर स्वर्गीय आचार्य आत्मारामजी महाराज, आचार्य घासीलालजी म० आदि विशद प्रकाश डाल चुके हैं। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का एकादशांगी के विभिन्न प्राकृत सूत्रों से साम्य भी इस अनुमान को बल देता है कि उमास्वाति महावीर स्वामी की मूल श्रमण परम्परा के ही आचार्य थे।

१ जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी), पृ० ५३४ से ५४०

२ जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५३३

३ जैन शिला लेख संग्रह भाग २, पृ. १८-४७

एक बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर मैं विचारकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ जिससे यह प्रमाणित होता है कि उमास्वाति जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आचार्य नहीं थे, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आचार्य भी नहीं थे। तत्त्वार्थाधिगम के अष्टम अध्याय के अन्तिम सूत्र – “सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्” – की व्याख्या करते हुए आचार्य सिद्धसेन गरिण ने अपनी तत्त्वार्थ टीका में लिखा है :-

“कर्मप्रकृतिग्रन्थानुसारिणस्तु द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतीः पुण्याः कथयन्ति ।……  
आसां च मध्ये सम्यक्त्वहास्यरति पुरुषवेदा न सन्त्येवेति कोऽभिप्रायो भाष्यकृतः  
को वा कर्मप्रकृतिग्रन्थप्रणयिनामिति सम्प्रदायविच्छेदान्मया तावन्न व्यजायीति ।”

अर्थात् “कर्म-प्रकृति ग्रन्थ का अनुसरण करने वाले जिन ४२ प्रकृतियों को पुण्यरूप मानते हैं, उनमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद का उल्लेख नहीं है। सम्प्रदाय के लुप्त हो जाने के कारण मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार के भिन्न कथन में भाष्यकार का अभिप्राय क्या था और कर्मप्रकृतिग्रन्थकारों का क्या।”

सिद्धसेन के उपर्युक्त कथन में ‘सम्प्रदायविच्छेदात्’ पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सिद्धसेन के इस कथन से यही प्रकट होता है कि उमास्वाति जिस सम्प्रदाय, जिस उच्चनागरी शाखा के महाश्रमण थे, वह सम्प्रदाय सिद्धसेन के समय से पूर्व ही नष्ट हो चुका था। उस सम्प्रदाय की मान्यताओं का विश्लेषण – विशद व्याख्यान करने वाला कोई उनके समय में अवशिष्ट नहीं रहा था।

यदि वाचक उमास्वाति यापनीय संघ के होते तो सिद्धसेन सम्प्रदाय-विच्छेद की बात कदापि नहीं लिखते। क्योंकि उनसे लगभग ७००-८०० वर्ष पश्चात् तक यापनीय संघ की विद्यमानता अनेक प्रमाणों से और स्वयं प्रेमीजी के अभिमत से प्रमाणित होती है। प्रेमीजी की मान्यतानुसार सिद्धसेन गरिण का समय विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी<sup>१</sup> और यापनीयों की विद्यमानता का समय विक्रम की १५वीं-१६वीं शताब्दी<sup>२</sup> है।

उमास्वाति की तरह यापनीय आचार्य अपराजित ने भी भगवती आराधना की टीका में अपने – “सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुवेदाः शुभे नाम गोत्रे शुभं चायुः पुण्यं, एतेभ्योऽन्यानि पापानि ।”<sup>३</sup> – इस कथन द्वारा सम्यक्त्व, रति, हास्य और पुरुषवेद को पुण्य रूप माना है – यदि इस आधार पर वाचक उमास्वाति की यापनीय मान लिया जाय तो फिर सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देवनंदी को दिगंबर परम्परा के आचार्य मानने में बाधा उपस्थित की जायगी। क्योंकि पूज्यपाद ने भी अपनी ‘सर्वार्थसिद्धि’ में, तथासम्भावित यापनीय उमास्वाति के ‘तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञभाष्य’ में वरिणत पुलाक, बकुश, कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और कषाय

<sup>१</sup> जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५४१

<sup>२</sup> वही, पृ० ५७

<sup>३</sup> देखिये – तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य – ६/४८, ६/४९। सर्वार्थसिद्धि – ६/४७



कुशील - इन पांच निर्गन्ध मुनियों के विवरण को, प्रायः उसी रूप में स्थान दिया है,<sup>१</sup> जैसाकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ किसी ग्रंथ में नहीं है।

इतना सब कुछ होते हुए भी स्व० श्री प्रेमोजी द्वारा जो सम्भावना प्रकट की गई है, उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक निर्णय उसी समय लिया जा सकता है जब कि हमारे सामने यापनीय संघ की कोई पट्टावली अथवा एतद्विषयक कोई साहित्य हो। इस दृष्टि से भी यापनीय संघ के साहित्य की सम्मिलित रूपेण खोज करना अत्यावश्यक हो गया है।

४. यापनीय संघ द्वारा मान्य एकादशांगी, अंगबाह्य, आगम, यापनीयतंत्र, पट्टावलियां आदि आगमेतर साहित्य की वर्तमान में अनुपलब्धि के कारण आज यापनीय संघ की ठीक वही दशा हो रही है, जो दो दलों के खेल में गेंद की। एक ओर श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथ यापनीयों की उत्पत्ति दिगम्बर संघ से बताते हैं तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ श्वेताम्बरों से।<sup>१</sup>

तीनों परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा अनुमान किया जाता है कि यापनीय संघ भी अपने आप में पूर्ण, सुसंगठित एवं स्वतन्त्र धर्मसंघ था।

आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पांचवें अध्ययन के वस्त्रेषणा तथा छठे अध्ययन के पात्रेषणा विषयक उद्देशकों के साथ यापनीयों के उपलब्ध ग्रन्थ भगवती आराधना और उस पर अपराजितसूरि की विजयोदया टीका के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वान् यह अनुभव करेंगे कि यापनीय मुनियों का आचार सर्वथा आचारांग के निर्देशों के अनुसार ही था।

मैं विश्वास करता हूँ कि इन कतिपय तथ्यों पर विद्वान् चिन्तक निष्पक्ष दृष्टि से गवेषणा कर प्रकाश डालेंगे।

सम्पादन काल में वस्तुस्थिति के चित्रण में सजीवता लाने का प्रयास करते समय यदि कहीं साधुभाषा का अतिक्रमण हो गया हो तो वह मेरा दोष है। विद्वान् पाठक मेरे उस प्रमाद के लिये मुझे क्षमा करेंगे।

गर्जसिंह राठीड़,  
न्याय, व्याकरण-तीर्थ,  
मुख्य सम्पादक

<sup>१</sup> देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६१५-६१६



## प्राक्कथन

### पोठिका

जैन धर्म का मौलिक<sup>१</sup> इतिहास, प्रथम भाग इतिहास-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। उसमें भगवान् ऋषभदेव से प्रभु महावीर तक चौबीसों तीर्थंकरों के जनक, जननी, च्यवन, जन्म, गृहस्थ जीवन, अभिनिष्क्रमण, दीक्षा छद्मस्थ-जीवन, कैवल्योपलब्धि, तीर्थप्रवर्तन, केवली-चर्या, गणधर, साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका एवं प्रभु द्वारा प्राणिमात्र के प्रति किये गये महान् उपकार एवं निर्वाण आदि का पावन परिचय प्रस्तुत किया जा चुका है। उसे पढ़ कर संत-सतियों, लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, इतिहासप्रेमियों, श्रद्धालु पाठकों एवं समाज के प्रायः सभी वर्गों ने परम प्रमोद प्रकट किया है। त्रैलोक्यबन्धु तीर्थंकरों के भवतापहारी इतिवृत्त को पढ़कर सहस्रों श्रद्धालुओं ने आध्यात्मिक आनन्द का रसास्वादन किया। इससे हम संतोष का अनुभव करते हैं कि हमारा परिश्रम सफल एवं लक्ष्य सार्थक हुआ। हमें इस बात पर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कतिपय अध्ययनशील महानुभावों ने इसे अति सूक्ष्म एवं शोधपूर्ण दृष्टि से पढ़कर अपनी शंकाएं एवं सुभाव भेजे हैं। इस प्रकार की शोधप्रिय रुचि वस्तुतः सराहनीय है।

प्रथम भाग में जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमें से कुल मिलाकर केवल पांच प्रसंगों के संबंध में जिज्ञासुओं द्वारा जो शंकाएं उठाई गई हैं, वे शंकाएं तथा उनके समाधान निम्न प्रकार हैं :-

प्रथम भाग के पृष्ठ ६१-३२ पर भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारण का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है - "भगवान् (ऋषभदेव) ने वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारण किया।"

यहां यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने चैत्रकृष्णा अष्टमी को बेला-तप के साथ दीक्षा ग्रहण की और दूसरे वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयांस कुमार के यहां प्रथम पारण किया तो इस प्रकार चै. कृ. ६ से वै. शु. ३ तक उनकी यह तपस्या १३ मास और १० दिन की हो गई। ऐसी स्थिति में - 'संवच्छरेण भिक्षा लद्धा उसहेण लोगनाहेण' - इस गाथा के अनुसार आचार्यों ने प्रभु आदिनाथ के प्रथम तप को संवत्सर तप कहा है, वह कहां तक ठीक है? क्योंकि वह तप १२ मास का नहीं अपितु १३ मास और १० दिन का तप-या।

वस्तुतः यह कोई आज का नवीन प्रश्न नहीं। यह एक बहुचर्चित प्रश्न है। 'संवच्छरेण भिक्षा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।' यह एक व्यवहार वचन

<sup>१</sup> मूलतो भवं मौलिकम् ।

मानना चाहिये। व्यवहार में ऊपर के दिन अल्प होने के कारण गणना में उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर संवत्सर तप कह दिया गया है। कल्प किरणावली में स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्धाहार न मिलने के कारण प्रभु की तपश्चर्या का एक वर्ष व्यतीत हो गया। फिर उस अंतराय कर्म के क्षयार्थ उन्मुख होने पर प्रभु ने सांवत्सरिक तप का पारण किया।<sup>१</sup> वसुदेव हिंडी में भी इसी से मिलता जुलता उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup> इससे भी यही प्रकट होता है कि एक वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी कुछ समय तक शुद्धाहार नहीं मिला।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवंश पुराण में ६ मास की अवधि के अनन्त तप के साथ प्रभु के दीक्षित होने तथा ६ मास के तप की अवधि के समाप्त हो जाने के अनन्तर भी आहारदान की विधि से लोगों के अनभिन्न होने के कारण भिक्षाचरी के लिये भ्रमण करने पर भी छः मास तक शुद्धाहार न मिलने एवं अन्ततोगत्वा श्रेयांश द्वारा इक्षुरस के दान और प्रभु के पारणक का कल्प किरणावली से मिलना-जुलता उल्लेख किया गया है। प्रभु के उम प्रथम तप की अवधि एक वर्ष से कुछ अधिक रही। इस प्रकार का स्पष्ट आशय 'हरिवंश पुराण' के उल्लेख से प्रकट होता है।<sup>३</sup>

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि प्रभु ऋषभदेव का प्रथम तप १ वर्ष से अधिक समय का रहा पर व्यवहार में ऊपर के दिनों को गौण मान कर इमे वर्षों तप ही कहा गया है। जिस प्रकार प्रभु महावीर का केवलज्ञान काल ३० वर्ष माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के संयमित जीवन में से १२ वर्ष और १३ पक्ष से कुछ समय छद्मस्थकाल का निकाल देने पर वस्तुतः उनके केवलज्ञान का काल २६ वर्ष और ६ मास से थोड़ा न्यून होता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में श्रेयांसकुमार द्वारा भगवान् आदिनाथ का प्रथम पारणा कराये जाने के कारण पारणक दिवस अक्षयतृतीया के रूप में पर्व माना जाता है। यद्यपि भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक दिवस की तिथि का कहीं प्राचीन उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु परम्परा से दोनों

<sup>१</sup> शुद्धाहारमलममानस्य एकं वर्षं जगाम । तदा च तस्मिन् कर्मणि क्षयाय उन्मुखे सति... ततस्तेन भगवान् सांवत्सरिकतपः पारणकं कृतवान् । [कल्प किरणावली, पृ. १५४(६)]

<sup>२</sup> भयं पियामहो निराहारो परमचित्ति-बल-सत्तसायरो सयंभुसायरो इव चिमिषो अणाउलो संवच्छरं विहरइ, पत्तो य.हत्विणउरं । [वसुदेव हिंडी, प्रथमोज्ञः, पृ. १६४]

<sup>३</sup> षण्मासान्नानस्थान्ते, संहृतप्रतिमास्थितिः ।  
 प्रतस्थे पदविन्द्यासैः, क्षिति पल्लवयन्निव ॥१४२॥  
 तथा यथागमं नाथः, षण्मासानविषण्णधीः ।  
 प्रजाभिः पूज्यमानः सन्, विजहार महि क्रमात् ॥१४६॥  
 सम्प्राप्तोऽथ .....  
 वृत्तवृद्धये विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम् ।  
 समपादस्थितश्चक्रे, दशयन् क्रियया विधिम् ॥१८६॥ [हरिवंश पुराण, सर्ग ६]

सम्प्रदायों में इस प्रकार की मान्यता प्रचलित है। शोधक इम सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत कर सकें तो उत्तम होगा।

दूसरी शंका ब्राह्मी और सुंदरी के विवाह एवं दीक्षा के सम्बन्ध में उठाई गई है। परम्परागत मान्यतानुसार इन दोनों बहनों को बालब्रह्मचारिणी माना गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में इन दोनों को स्पष्ट रूपेण अविवाहित बताया गया है। हरिवंश पुराणकार ने लिखा है कि वे दोनों कुमारिकाएं अर्थात् अविवाहिता थीं :-

ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे, कुमार्यो धैर्यसंगते ।  
प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभृतां गते ॥१७॥<sup>१</sup>

इसी प्रकार आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी के लिये राजकन्या का विशेषण प्रयुक्त कर इन दोनों बहनों के अविवाहित होने का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

भग्नस्यानुजा ब्राह्मी, दीक्षित्वा मुर्वनुग्रहात् ।  
गणिनीपदमार्याणां, सा भेजे पूजितामरं ॥१७५॥  
रराज राजकन्या मा, राजहंसीव मुस्वना ।  
दीक्षाशरन्नदीशीलपूलिनस्थलशायिनी ॥१७६॥  
..... ।

सुन्दरी चात्त-निर्वेदा, तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत ॥१७७॥<sup>२</sup>

ब्राह्मी और सुन्दरी को हरिवंश पुराणकार ने तो 'कुमार्यो' विशेषण के द्वारा स्पष्टरूपेण अविवाहितावस्था में दीक्षित होना बताया है। आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी को राजकन्या बताया है। इससे यही सिद्ध होता है कि दोनों बहनों बालब्रह्मचारिणी थीं।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में तो ब्राह्मी और सुंदरी इन दोनों बहनों के अविवाहित होने एवं साथ साथ प्रव्रजित होने की मान्यता प्रचलित है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में निम्नलिखित तीन प्रकार की विभिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं :-

१. भगवान् ऋषभदेव के धर्म-परिवार का विवरण प्रस्तुत करने हुए कल्प सूत्र में ब्राह्मी और सुंदरी का तीन लाख भ्रमणियों की प्रमुख माध्वियां होने का उल्लेख किया है।<sup>३</sup> साथ ही श्राविका समूह की प्रमुखा सुभद्रा को बनाया

<sup>१</sup> हरिवंश पुराण, सर्ग ६ पृ. १८३,

<sup>२</sup> आदि पुराण, भा. १, पर्व २४.

<sup>३</sup> उसभस्स एणं अरहसो कोसलियस्स बंभी सुंदरिपामोक्त्वाणि अज्जियाणं निष्णिगं मय-साहसगीसो उक्कोसिया अज्जिया संगया होत्था । [ कल्पसूत्र, सूत्र १६७ (पुण्य विजय जी) ]

गया है न कि सुंदरी को ।<sup>१</sup> कल्प सूत्र के इस उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि उन दोनों बहनों ने तीर्थ-प्रवर्तन के समय साथ साथ दीक्षा ली ।

२. आवश्यक मलय और श्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि में दूसरी यह मान्यता उपलब्ध होती है कि भगवान् ऋषभदेव ने जिस समय धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया, उस समय ब्राह्मी प्रव्रजित हो गई । सुन्दरी भी उसी समय प्रव्रजित होना चाहती थी परन्तु भरत ने उसे यह कह कर प्रव्रजित होने से रोक दिया कि चक्रवर्ती बन जाने पर उसे (सुन्दरी को) अपनी पत्नी (स्त्रीरत्न) के पद पर स्थापित करेगा । भरत श्रावक बना और सुन्दरी श्राविका ।<sup>२</sup> पश्चाद्वर्ती प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने इसी मान्यता को आश्रय दिया है ।

३. तीसरी मान्यता यह प्रचलित है कि भगवान् ऋषभदेव ने श्रमण-धर्म में दीक्षित होने से पूर्व भरत की सहोदरा ब्राह्मी का सम्बन्ध वाहुवली के साथ और वाहुवली की सहोदरा सुन्दरी का विवाह भरत के साथ कर दिया था । केंवल्योपलब्धि के पश्चात् जब प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की तो उस समय वाहुवली की आज्ञा के ब्राह्मी श्रमणीधर्म में प्रव्रजित हो गई । सुन्दरी भी अपनी बड़ी बहिन के साथ ही प्रव्रजित होना चाहती थी पर भरत ने यह कहते हुए उसे दीक्षित होने से रोक दिया कि वह उसे चक्रवर्ती बनने पर अपना स्त्रीरत्न बनायेगा ।

वस्तुतः यह तीसरे प्रकार की मान्यता 'दत्ता' शब्द का सम्यग् अर्थ न समझने के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्त धारणा के फलस्वरूप प्रचलित हुई है । इसके पीछे कोई प्रामाणिक आधार नहीं है । एतद्विषयक समस्त जैन वाङ्मय के पर्यालोचन से प्रकट होता है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में ब्राह्मी तथा सुन्दरी के विवाह का उल्लेख नहीं है । यहां विवाह और वाग्दान का अंतर समझना चाहिये ।

विवाह एवं वाग्दान (सगाई) इन दोनों परम्पराओं के प्रचलित होने का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए आवश्यक निर्युक्ति में निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया गया है :-

दट्ठं कयं विवाहं, जिणस्स लोगो वि काउमारद्धो ।

गुरुदत्तिया य कन्ना, परिणज्जते ततो पायं ॥२२३॥<sup>३</sup>

<sup>१</sup> उसभस्स रां अरहमो कोसलियस्स सुभदापामोक्खलाणं समणोवासियाणं, पंचसयसाहस्सीमो चडपन्नं च सहस्सा उबकोसिया समणोवासियासंपया होत्था ।

[कल्पसूत्र, सूत्र १६७ (पुण्य विजयजी)]

<sup>२</sup> .....तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुब्बभवबड्ढगरणहर-नामपुत्तो जायसंवेगो पव्वईमो, वभी य पव्वइया । भरहो सावमो जाओ सुंदरी पव्वयंती भरहेण ईत्थीरयणं भविस्सइ त्ति रुद्धा, सा वि साविवा जाया । [आवश्यक, मलय]

<sup>३</sup> आवश्यक निर्युक्ति ।

आचार्य मलयगिरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए आवश्यक मन्वन्वृत्ति में लिखा है :-

“जिनस्य भगवत ऋषभस्वामिनो कृतं विवाहं दृष्ट्वा लोकोऽपि ग्यापन्त्यानां विवाहं कर्तुमारब्धवान् । गतं विवाहद्वारं । दत्ति द्वारमाह - भगवता युगलधर्म - व्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुवलिने दत्ता, ब्राह्मवलिना सह जाता सुन्दरी भरतायेति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकोऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता मनी परिणीयते इति प्रवृत्तं ।”<sup>1</sup>

अर्थात् — ऋषभदेव का विवाह किया गया, यह देख कर लोगों ने अपनी अपनी संतति का विवाह करना प्रारम्भ किया । विवाह का प्रसंग समाप्त हुआ । अब दत्ति अर्थात् वाग्दान (सगाई) के प्रसंग अथवा प्रक्रिया पर कहते हैं— भगवान् ने युगलधर्म को समाप्त करने के अभिप्राय से भरत के साथ उत्पन्न हुई अपनी पुत्री ब्राह्मी की सगाई बाहुवली के साथ तथा बाहुवली के साथ उत्पन्न हुई सुन्दरी की सगाई भरत के साथ की ।

निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार ने विवाह और वाग्दान इन दो भिन्न प्रथाओं के प्रारम्भ होने का जिस प्रकार पृथक् रूप से उल्लेख किया है, उससे निर्विवाद रूपेण यही सिद्ध होता है कि प्रभु ने अपनी पुत्रियों — ब्राह्मी और सुन्दरी — का केवल वाग्दान ही किया था विवाह नहीं । यदि विवाह किया होता तो वृत्तिकार “ब्राह्मी बाहुवलिने दत्ता” के स्थान पर “ब्राह्मी बाहुवलिने दत्ता परिणीता च” इस प्रकार का प्रयोग करते । वस्तुतः इन दोनों बहनों का वाग्दान ही किया गया था न कि विवाह इसीलिये केवल ‘दत्ता’ शब्द का प्रयोग किया गया है ।

संघदासगरिण-कृत वसुदेव हिण्डी नामक ई. सन् ६०४ के आसपास की रचना में भी ‘दत्ता’ शब्द का प्रयोग वाग्दान के अर्थ में किया गया है । यथा

एयम्भि य देस माले रुप्पिणी सिमुपालस्स दमघोसमुयस्स दत्ता ।<sup>2</sup>

अर्थात् उस समय रुक्मिणी राजा दमघोष के पुत्र शिशुपाल को दी गई । यहां ‘दत्ता’ शब्द वाग्दान के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । यह एक निर्विवाद एवं सर्वसम्मत तथ्य है कि रुक्मिणी का विवाह श्री कृष्ण के साथ हुआ । वसुदेव हिण्डी में इन दोनों बहनों के विवाह का तो दूर वाग्दान तक का उल्लेख नहीं किया गया है । उसमें ब्राह्मी के प्रव्रजित होने तथा श्रमणी समूह की प्रमुखा बनाये जाने का तो उल्लेख है किन्तु सुन्दरी की दीक्षा आदि के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी गई है ।<sup>3</sup>

<sup>1</sup> आवश्यक मलयवृत्ति, पृ २०० (१)

<sup>2</sup> वसुदेव हिण्डी, प्रथमोऽध्यायः, पृ. ८०

<sup>3</sup> वही, पृ. १६२, १६३, १८३, १८७ १८८

उक्त सब उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् ऋषभदेव की दोनों पुत्रियां बालव्रहाचारिणी थीं। उनका केवल वाग्दान ही किया गया था, न कि विवाह।

जहां तक ब्राह्मी और मुन्दरी के एक साथ अथवा पूर्वापर क्रम से प्रवृत्त होने का प्रश्न है वहां ऋषभसूत्र, आवश्यक मलय वृत्ति एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के उपरिर्चित्रन परम्पर भिन्न उल्लेखों को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाना है कि मंत्र में उनके दीक्षाकाल को ले कर पूर्व समय में दो प्रकार की परम्पराएं प्रचलित थीं। एक परम्परा दोनों बहनों का साथ-साथ दीक्षित होना मानती थी। दूसरी परम्परा ब्राह्मी की दीक्षा के अनन्तर बड़े लम्बे व्यवधान के पश्चात् मुन्दरी द्वारा दीक्षा ग्रहण किया जाना मानती थी।

तीसरी शंका उपस्थित की गई है - चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के स्वर्गगमन के सम्बन्ध में। प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के भाग १, पृष्ठ १६३ पर चक्रवर्ती सनत्कुमार के लिये उल्लेख किया गया है कि वह तीसरे सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुआ। मैदानिक परम्परा में सनत्कुमार चक्री का मोक्षगमन माना गया है। वस्तुतः प्रथम भाग में इस प्रकार का उल्लेख टीकाकार अभयदेव सूरि कृत स्थानांग की टीका<sup>१</sup> और आचार्य हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर किया गया है।

स्थानांग सूत्र में चार प्रकार की अन्त-क्रियाओं का जो मोद्गाहरण विवरण दिया गया है, उसका सारांश इस प्रकार है :-

प्रथम - अल्पकर्म-प्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें भक्त की तरह अल्प तप, अल्प वेदना और दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

दूसरी - महाकर्म प्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें गज मुकुमाल की तरह तथा प्रकार के तप और वेदना के साथ निरुद्ध पर्याय से अल्प काल में ही सिद्धि प्राप्त करना।

तीसरी - वही महाकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह दीर्घकालीन तप, रोग के कारण दीर्घकालीन दारुण वेदना के साथ दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

चौथी - अल्पकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी के समान तथाविध तप वेदना और संयम ग्रहण करते ही निरुद्ध पर्याय से सिद्धि प्राप्त कर लेना।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> यथामौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपा महावेदनश्च सरोगत्वात् दीर्घ-पर्यायेण च सिद्धस्तद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति।

[स्थानांग, ठाणा ४, टीका-अभयदेव सूरि (राय धनपत सिंह प्रकाशन) भाग १, पत्र १६६]

<sup>२</sup> स्थानांग, ठाणा ४



जिस रूप में इन चारों अन्त-क्रियाओं का वर्गान् स्थानांग सूत्र में किया गया है, उसे देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि इन सभी अन्त-क्रियाओं के उदाहरण तद्भव की अपेक्षा वतलाये गये हैं। जब प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ अन्त-क्रिया में उदाहृत भरत, गजसुकुमाल और मरुदेवी तीनों उसी भव में सिद्ध हुए माने गये हैं तो तीसरी अन्त-क्रिया के उदाहरण में निर्दिष्ट सनत्कुमार को भी उसी भव में सिद्ध हुआ मानना उचित प्रतीत होता है क्योंकि तीसरी अन्त-क्रिया और साधुपर्याय सनत्कुमार चक्रवर्ती की बताई गई है न कि आचार्य अभय देव एवं हेमचन्द्राचार्य द्वारा वर्णित सनत्कुमार देव लोक की देवायु भोगने के पश्चात् महा विदेह क्षेत्र में साधुपर्याय पाल कर सिद्ध होने वाले किसी साधक की।

‘सूत्रों के अर्थ विचित्र होते हैं’—इस प्रसिद्ध एवं प्राचीन उक्ति के अनुसार आचार्य अभय देव जैसे आगम निष्णात टीकाकार के समक्ष क्या इस प्रकार का कोई परम्परागत प्राचीन उल्लेख रहा है, जिसके आधार पर उन्होंने सनत्कुमार चक्रवर्ती का तद्भव में मोक्ष न मान कर तीसरे देव लोक की देवायु पूर्ण कर महा-विदेह में जन्म लेने तथा वहाँ दीर्घ काल तक श्रमणपर्याय से सिद्ध होने का उल्लेख किया? यह प्रश्न भी निष्पक्ष विचारक के मस्तिष्क में सहज ही उद्भूत हो सकता है। पर इस प्रकार के निर्यायिक प्रमाण के अभाव में स्थानांग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ की शब्द रचना और पूर्वापर सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए सनत्कुमार का तद्भव में मोक्ष मानना ही उचित प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा में भी चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का उसी भव में मुक्त होना माना गया है।<sup>1</sup>

चौथी शंका महाबल मुनि द्वारा स्त्री नाम गोत्र कर्म का उपार्जन किये जाने के सम्बन्ध में उठाई गई है। प्रथम भाग, भगवान् मल्लिनाथ के प्रकरण में उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए पृष्ठ १२६ पर लिखा है :-

“इस प्रकार छत्रपूर्वक तप करने से उन्होंने स्त्रीवेद का और बीस स्थानों की आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया।”

यहाँ यह शंका उपस्थित की जाती है कि भगवान् मल्लिनाथ के जीवने अपने तीसरे, महाबल के पूर्व भव में जो स्त्रीवेद का उपार्जन किया वह तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के उपार्जन से पूर्व किया अथवा पश्चात्।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ का सम्यग्रूपेण अवलोकन करते ही स्वतः इस शंका का समाधान हो जाता है। मूल पाठ में स्पष्ट उल्लेख है कि राजा महाबल अपने छः बालसखाओं के साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर एकादशांगी का अध्ययन और त्रिविध तपश्चरणा से आत्मा को भावित

अपकञ्चैरिमारुह्य, ध्यानद्वय सुसाधनः।

आतिकर्माणि निदधूय, कंबल्पमुदपादयन् ॥१२७॥

... सर्वकर्मक्षयावाप्यमावापन्मोक्षमक्षयम् ॥१२८॥ [उत्तर पुराण, पर्व ६१, पृ. १३७]

करता हुआ विचरण करने लगा । एक दिन उन सातों मुनियों ने परस्पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सब साथ-साथ एक ही प्रकार का तपश्चरण करेंगे । प्रतिज्ञानुसार वे सब उपवासादि समान तप करने लगे । पर मुनि महाबल ने इस (आगे बताये जाने वाले) कारण से स्त्री-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया ।<sup>1</sup>

यदि महाबल अणुगार के वे छः मित्र मुनि एक उपवास की तपस्या करते तो महाबल दो उपवास की । यदि वे दो उपवास, तीन उपवास, चार, अथवा पांच उपवास की तपस्या करते तो मुनि महाबल उनसे अधिक क्रमशः तीन, चार, पांच और छः उपवासों की तपश्चर्या करता ।<sup>2</sup>

इस प्रकार मूल आगम में मुनि महाबल द्वारा प्रथमतः स्त्रीनाम-गोत्र-कर्म का बन्ध किये जाने का उल्लेख किया गया है । वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है :-

“तत्काले च मिथ्यात्वं सास्वादनं वा अनुभूतवान्, स्त्रीनामकर्मणो मिथ्यात्वानन्तानुबन्धी प्रत्ययत्वात् ।”<sup>3</sup>

अर्थात् - उस समय महाबल मुनि ने मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान का अनुभव किया, क्योंकि मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी माया के कारण ही वस्तुतः स्त्रीनामकर्म का बन्ध होता है ।

महाबल अणुगार बनने से पूर्व अधिनायक था और उसके छहों मित्र उसके अधीनस्थ । उपर्युक्त प्रतिज्ञा को भंग करने के पीछे उसका यही उद्देश्य हो सकता है कि इन छहों से विशिष्ट प्रकार का तपश्चरण कर के वह आगामी भव में भी उन छहों की अपेक्षा अधिकाधिक ऐश्वर्यादि प्राप्त करे । इस आन्तरिक आकांक्षा की पूर्ति हेतु महाबल ने अपनी प्रतिज्ञा के विपरीत माया-छलछद्मपूर्वक उन छहों मुनियों से विशिष्ट तप किया । जंका, आकांक्षा, वित्तिगिच्छा, परपापंड-प्रशंसा और परपापंड-संस्तव - ये सम्यक्त्व के पांच दोष हैं । महाबल के अन्तर में अपने मित्रों की अपेक्षा विशिष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति हेतु आकांक्षा उत्पन्न हुई और उसके फलस्वरूप उसका सम्यक्त्व दूषित हो गया । मैं इन छहों से बड़ा हूँ और आगे भी बड़ा बना रहूँ - इस अभिमान ने महाबल के अन्तर में माया को जन्म दिया । माया स्त्रीनाम-कर्म की जननी है, अतः महाबल ने स्त्रीनामकर्म का अर्थात् स्त्रीवेद का बंध किया । ‘गहना कर्मणो गति’ - कर्मगति विचित्र है । अपने लिये उपयुक्त अवकाश पाते ही कर्म अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं । यहां

<sup>1</sup> ...पडिमृशिता बहूहि चउत्य जात्र विहरंति, तएण से महबले अणुगारे इमेणं कारणेणं इत्थिणामगोयं कम्मं निव्वत्तिमू ॥मू. ४॥

[जाताधर्मकथांग सूत्र (श्री धामीलाल जी म.) प्र. ८]

<sup>2</sup> वही, सूत्र ५ का पूर्व भाग

<sup>3</sup> जाताधर्मकथांग सूत्र-वृत्ति

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गुणस्थानों का मापदण्ड आन्तरिक भावना है न कि बाह्य लिंग ।

जाताधर्मकथांग के पांचवें सूत्र के पूर्व भाग में महाबल द्वारा स्त्री नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन कर लिये जाने के पश्चात् इसके उत्तर भाग में बीस बोलों की उत्कृष्ट साधना से तीर्थकर नामगोत्र कर्म के उपाजित किये जाते का स्पष्ट उल्लेख है ।<sup>१</sup> इससे स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि महाबल ने संयम ग्रहण करने के पश्चात् साधना की प्रारम्भिक अवधि में अभिमान-मायाजन्य आकांक्षा नामक सम्यक्त्व के दोष के प्रभाव से उदित मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान में पहुंच कर पहले स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया और तदनन्तर साधनापथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए बीसों ही बोलों की उत्कट आराधना से तीर्थकरनाम गोत्र-कर्म का उपार्जन किया ।

मूलपाठ में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी वृत्तिकार ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि महाबल ने पहले तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया और उसके पश्चात् स्त्रीनामकर्म का ।<sup>२</sup> वस्तुतः वृत्तिकार का यह अभिमत कम से कम महाबल के लिये किसी भी दशा में इन दो प्रबल कारणों से मान्य नहीं हो सकता । प्रथम कारण तो यह है कि वृत्तिकार का यह अभिमत शास्त्र के मूल पाठ से विपरीत है । शास्त्र का निर्विवादास्पद एवं स्पष्ट मूल पाठ सदा से सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता रहा है । दूसरा कारण यह है कि महाबल ने जिस साधना से तीर्थकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया, वह अत्युत्कट साधना थी । शास्त्र में वर्णित बीस बोलों में से किसी एक बोल की उत्कट आराधना से साधक तीर्थकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है । ऐसी मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव, और महावीर की तरह मल्लिनाथ ने भी अपने तीसरे पूर्वभव में उन सभी बीस बोलों की उत्कट साधना की थी जब कि शेष २१ तीर्थकरों के जीवों ने एक दो, तीन अथवा अधिक बोलों की ।<sup>३</sup> ऐसी स्थिति में बीसों बोलों की उत्कट साधना करने के पश्चात् साधक महाबल का सम्यक्त्व आकांक्षा दोष से दूषित हो

<sup>१</sup> इमेहिं यं एं बीसाएहिं य कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तिस्थवर नाम गोयं कम्मं निव्वत्तिमु तं जहा -

अरहंत सिद्ध पवयण गुरु धेर बहुस्सुए तवस्सीसुं ।.....आदि ।

[जाता धर्मकथांग, सूत्र ५ का उत्तर भाग]

<sup>२</sup> जह मल्लिस्स महाबलभवम्मि, तिस्थवरनामबंधेऽवि ।

तव विसय-थोबमाया जाया, जुव इत्त हेउ त्ति ॥

[जाताधर्मकथांगवृत्ति]

<sup>३</sup> (क) पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वे वि फासिया ठाणा ।

मज्झिमगेहिं जिणेहिं, एणं दो तिण्णिणं सव्वे वा ॥

[संग्रहीत गाथा]

(ख) आसेविय बहुलीकएहिं प्रत्येक स्थानस्य सकृत् करणादासेवितानि बहुशः सेवनाद् बहुलीकृतानि तं लब्धोत्कृष्टरसायनपरिणामः तीर्थकरनामगोत्रं कर्म उपाजितवान् । इससे सिद्ध होता है कि महाबल ने बीसों बोलों की आराधना की ।

मिथ्यात्व अथवा सास्वादन के धरातल पर पहुंच गया हो, यह बात न बुद्धिसंगत ही प्रतीत होती है और न युक्तिसंगत ही ।

इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि महावल मुनि ने तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म के उपाजर्जन से पूर्व ही स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपाजर्जन कर लिया था ।

अंतिम पांचवीं शंका में यह कहा गया है कि तीन संघाटकों में भिक्षार्थ देवकी के यहां आये छः मुनियों का वास्तविक परिचय देवकी की भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण में स्वयं प्रभु से प्राप्त हुआ था । पर प्रथम भाग में 'चउपन्न महापुरिस चरित्र' के उल्लेखानुसार उन छहों मुनियों द्वारा देवकी को अपना पूरा परिचय दिये जाने का उल्लेख किया गया है । साथ ही साथ शास्त्रीय मान्यता को टिप्पण में बताया गया है, क्या उससे शास्त्रीय अभिमत की गौरवता प्रकट नहीं होती ?

वस्तुस्थिति यह है कि प्रथम भाग में २०३ से २०६ पृष्ठ पर जो प्रनीकसेन आदि ६ मुनियों के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है, उसके शीर्षक और उस विवरण को यदि ध्यान पूर्वक आद्योपान्त पढ़ लिया जाता है तो इस प्रकार की शंका उठाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

इस सारे विवरण का शीर्षक है - "अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन ।" यह शीर्षक ही एतद्विषयक शास्त्रीय मान्यता का स्पष्टतः बोध करा देता है । इसके अतिरिक्त पृष्ठ २०८ के अन्तिम गद्योप (Paragraph) से पृष्ठ २०६ में इस आख्यान से सम्बन्धित पूरी शास्त्रीय मान्यता का समीचीनतया दिग्दर्शन कराने के साथ साथ इसकी पुष्टि में त्रिषष्टिजलाका पुराण चरित्रकार द्वारा किये गये वरान का भी उल्लेख कर दिया गया है । एक तथ्य का प्रतिपादन करने से पूर्व उसके विविध पक्षों को प्रस्तुत करने की परम्परा सदा से स्वस्थ मानी जाती रही है । उसी स्वस्थ परम्परा का अबलम्बन ले कर इस प्रकरण में 'चउपन्नमहापुरिस चरित्र' के रचयिता का पक्ष प्रस्तुत किया गया है, जो परम वराम्योत्पादक और सरस होने के साथ साथ अधिकांश विज्ञों के लिये भी नवीन है । इस पक्ष को प्रस्तुत करते समय भी इस बात की पूरी सावधानी बरती गई है कि जिन दो स्थलों पर शास्त्रीय मान्यता से भिन्न प्रकार के उल्लेख आये हैं, वहां तथ्य के प्रकाशार्थ शास्त्रीय मान्यता के द्योतक टिप्पण दे दिये गये हैं ।

इस प्रकार केवल इस प्रकरण में ही नहीं आलेख्यमान सम्पूर्ण ग्रन्थमाला में शास्त्रीय उल्लेखों, अभिमतों अथवा मान्यताओं को सर्वापरि प्रामाणिक मानने के साथ साथ आवश्यक स्थलों पर उनकी पुष्टि में अन्य प्रामाणिक आधार एवं न्यायसंगत, बुद्धिसंगत युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं ।

शास्त्रों के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए शास्त्रीय अभिमतों की सर्वेभरि प्रामाणिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की प्रशस्त भावना से प्रेरित

हो जिन विज्ञ पाठकों ने जागरूकता दिखाई है, वे वस्तुतः साधुवाद के पात्र हैं। यदि प्रत्येक जिनशासनानुयायी में इस प्रकार की जागरूकता उत्पन्न हो जाय तो आज जैनागमों के सम्बन्ध में तथाकथित सुधारवादियों द्वारा जो विषेला प्रचार किया जा रहा है, उसके कुप्रभाव और कुप्रवाह को रोका जा सकता है।

आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रस्तुत द्वितीय भाग का आलेखन समाप्त करते करते प्रथम भाग से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। विज्ञ पाठकों, विद्वानों एवं शोधार्थियों के विचारार्थ उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह एक शाश्वत नियम है कि सभी तीर्थंकर केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से कभी कभी इस नियम के अपवाद के उदाहरण भी श्वेताम्बर परम्परा के आगम एवं आगमेतर साहित्य में उपलब्ध होते हैं। प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल हुण्डावसर्पिणी माना गया है, जिसके प्रभाव से भगवान् महावीर ने, जिस दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ, उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन नहीं किया। श्वेताम्बर परम्परा के आगम एवं सर्वमान्य आगमेतर साहित्य में इसे १० आश्चर्यों में से एक आश्चर्य मानते हुए यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि प्रभु महावीर ने प्रथम समवसरण के समय अपनी पहली देशना हृदयंगम कर व्रत ग्रहण करने वाले भव्य प्राणी की अनुपस्थिति के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति के दूसरे दिन धर्मतीर्थ की स्थापना की।

केवलज्ञान की उपलब्धि तथा तीर्थप्रवर्तन के बीच काल का व्यवधान तो दोनों परम्पराओं में माना गया है परन्तु यह व्यवधान जहां श्वेताम्बर परम्परा में एक दिन का माना गया है वहां दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत 'गौतमचरित्र' नामक ग्रन्थ में<sup>१</sup> केवल ३ घण्टों और जेप सभी ग्रन्थों में ६६ दिनों के व्यवधान का उल्लेख उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उल्लेख है कि साढ़े बारह वर्ष की कठोर साधना के पश्चान् एक दिन महावीर छट्ठ भक्त की तपस्या किये हुए ऋजुवालुका नदी के तट पर अवस्थित जृभिका ग्राम के बाहर श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में शालवृक्ष के नीचे गौदोहिका आसन से आत्तापन ले रहे थे, उस समय भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तत्काल देवेन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की गई और प्रभु ने वहां प्रथम देशना दी। पर वहां ऐसा कोई भव्य व्यक्ति विद्यमान नहीं था जो व्रतों को ग्रहण कर सकता। अतः रात्रि में ही जृभिका ग्राम से विहार कर प्रभु पावापुरी के आनन्दोद्यान में पधारे। वहां देवों ने समवसरण की रचना की। गौतमादि के उपस्थित होने पर प्रभु ने देशना दी और धर्मतीर्थ की स्थापना की।

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २८, २९

केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् भगवान् महावीर ने तीर्थ-प्रवर्तन कव किया, इस विषय में दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उल्लेख किये हैं। तिलोय पण्णसीकार ने भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के अपराह्न में ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति होने<sup>१</sup> तथा उससे ६६ दिवस पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन<sup>२</sup> उनके द्वारा पंचशैल (राजगृह) नगर के त्रिपुलाचल पर्वत पर<sup>३</sup> धर्मतीर्थ की स्थापना का उल्लेख किया है।

धवलाकार ने भी केवलज्ञान एवं तीर्थ प्रवर्तन की उपरिलिखित तिथियां बताते हुए लिखा है :-

“.....छउमत्थत्तरोण गमिथ वइसाहजोणपक्खदसमीए उज्जुकूलणदी तीरे जिभियगामस्सबाहि छट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेंतेण अवरण्हे पादछायाए केवलणाराणमुप्पाइदं ।

एत्थुवउज्जंतीघो गाहाघो -

गमइय छदुमत्थत्तं, बारसबासाणि पंच मासे य ।

पण्णारसाणिदिणाणि य, तिरयणमुद्धो महावीरो ॥३२॥

उज्जुकूलणदीतीरे, जिभियगामे बहि सिलावट्टे ।

छट्ठे णादावेंतो, अवरण्हे पायछायाए ॥३३॥

वइसाहजोणपक्खे, दसमीए खवगसेडियारूढो ।

हंणुण घाइकम्मं, केवलणाराणं समावण्णो ॥३४॥<sup>४</sup>

धवलाकार ने तीर्थप्रवर्तन के स्थल (क्षेत्र) का उल्लेख करते हुए लिखा है :-

(१) “तत्थ खेत्तविसिट्ठोत्थक्त्ता परुविज्जदि -

पंचसेल पुरे रम्मे, विउले पव्वदुत्तमे ।

णाणादुमसमाइणो, देवदासाववदिदे ॥५२॥

महावीरेणात्थो कहिघो, भविअलोगस्स ।<sup>५</sup>

(२) .....पंचसेलउररोरइदिसाविसयअइ-विउलविउलगिरिमत्थयत्थए

.....गंधउडि-पासायम्मि द्वियसीहासणारूढेण वड्ढमाणभडार-

एणतिस्थमुप्पाइदं<sup>६</sup> ।

<sup>१</sup> वइसाहमुद्धदसमीमाघारिक्खम्मि वीरणाहस्स ।

रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥७०१॥ [तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

<sup>२</sup> बासस्स पदममासे, सावण्णाराभम्मि बहुलपडिवाए ।

अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६६॥

[वही, १ महाधिकार]

<sup>३</sup> सुरखेयरमणहरणे, गुणणामे पंचसेलरावरम्मि ।

विउलम्मिपव्वदवरे, वीर जिणो अट्टकत्तारो ॥६५॥

[वही]

<sup>४</sup> पट्खण्डागम-धवला-, भाग ९, पृष्ठ १२४

<sup>५</sup> पट्खण्डागम, धवलासहित, भाग १, पृष्ठ ६२

<sup>६</sup> वही, भाग ९, पृष्ठ ११३

तीर्थोत्पत्ति का समय धवलाकार ने तिलोयपष्णती की एतद्विषयक गाथा से पर्याप्त साम्य रखने वाली निम्नलिखित गाथा द्वारा श्रावण कृष्ण प्रतिपदा बताया है, जो प्रभु महावीर को केवलज्ञान होने की तिथि से ६६ दिन पश्चात् का ठहरता है :-

वासस पढमभासे, पढमे पक्खमिह सावरो बहुले ।

पाडिवद-पुब्ब-दिवसे, तित्थुप्पती दु अभिजिम्हि ॥५६॥<sup>१</sup>

धवलाकार के प्रशिष्य आचार्य गुणभद्र ने अपने ग्रन्थ उत्तर पुराण में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न में जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित मनोहर नामक वन में बेले की तपस्या से सालवृक्ष के नीचे एक शिला पर विराजमान वीर प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि का उल्लेख किया है। तत्काल चार प्रकार के देवों के साथ इन्द्र के आगमन, समवसरण की रचना, इन्द्र द्वारा इन्द्रभूति गौतम के लाये जाने, शंकासमाधान के पश्चात् इन्द्र-भूति के दीक्षित होने, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के पूर्वाह्न में प्रभु द्वारा अर्षतः द्वादशांगी के उपदेश के अनन्तर इन्द्रभूति द्वारा रात्रि के पूर्व भाग में अंगों तथा पश्चिम भाग में पूर्वों की रचना किये जाने का विवरण तो उत्तर पुराण में दिया गया है पर यह नहीं बताया गया है कि समवसरण की रचना किस स्थान पर की गई, किस स्थान पर प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति और तीर्थस्थापन के बीच ६६ दिन का व्यवधान किस कारण रहा। उत्तर पुराण के ७४ वें पर्व के श्लोक संख्या ३६६ का अंतिम चरण—“श्रावरो बहुले तिथौ” को यदि हटा दिया जाय तो इस पूरे विवरण से स्पष्टतः यही प्रकट होगा कि वैशाख शुक्ला १० को ऋजुकूला नदी के तट पर ही समवसरण की रचना से लेकर इन्द्रभूति द्वारा द्वादशांगी की प्रतिरचना तक की समस्त घटनायें घटित हुईं।<sup>२</sup>

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ तिलोयपष्णती और षट्सण्डागम की धवला टीका में वैशाख शुक्ला १० के दिन भगवान् महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिका ग्राम के बाहर केवलज्ञान की उपलब्धि का और उससे ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन पंच-शेलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर उनके द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का तो उल्लेख किया गया है पर इस प्रकार का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि भगवान् जृम्भिका ग्राम से राजगृह के विपुलाचल पर कब, कितने समय पश्चात् तथा किस प्रकार पधारे और जब ऋजुकूला नदी के तट पर ही प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी थी तो उस कैवल्योपलब्धि के स्थल पर ही समवसरण की रचना किस कारण नहीं की गई? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित समाधान न किये जाने की दशा में जैनतर एवं निष्पक्ष विद्वानों को अनेक प्रकार के ऊहापोह

<sup>१</sup> वही, भाग १, पृष्ठ ६४

<sup>२</sup> उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक ३४८ - ३७१

करने का अवसर मिल सकता है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध भी बोधिलाभ के अनन्तर लोगों को उपदेश, दीक्षा आदि देने के लिये उद्यत नहीं हुए। उन्होंने कहा :-

“कठोर साधना एवं कष्ट सहन के फलस्वरूप मैंने जो धर्म अधिगत किया है, उसे राग-द्वेष में फँसे हुए लोग समझ नहीं पायेंगे। क्योंकि वह धर्मतत्त्व लोक-प्रवाह से विपरीत दिशा में चलने वाला, अति गम्भीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दुर्दृश्य है। राग के रंग में रंगे तथा अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मनुष्य उसे नहीं देख पायेंगे।”<sup>१</sup>

सुरलोक से समागत ब्रह्म सुहम्मपति देव ने पुनः विशिष्ट अनुनय-विनय के स्वर में प्रार्थना की - “भगवन् ! देवताओं एवं मनुष्यों के कल्याण के लिये धर्म-देशना दीजिये।”

“तब भगवान् बुद्ध ने पहले-पहल ५ मनुष्यों को धर्म में दीक्षित किया और वे पंचवर्गिय कहलाये।”<sup>२</sup>

बौद्ध धर्म ग्रन्थों का इस प्रकार का उल्लेख तो विचार करने पर सयौत्तिक और बुद्धिगम्य प्रतीत हो सकता है किन्तु केवलज्ञान की उपलब्धि के तत्काल पश्चात् समवसरण की गन्ध कुटी में प्रथम देशनार्थ सर्वज्ञप्रभु ६६ मिनट नहीं ६६ घण्टे नहीं निरन्तर ६६ दिन तक मौन विराजे रहें और ससुरासुर देवेन्द्र, नर, नरेन्द्र इतनी लम्बी अवधि तक निरन्तर निष्क्रिय बैठे रहें, यह बात सहज ही किसी के गले नहीं उतर सकती।

धवलाकार के समकालीन पुत्राट संघीय आचार्य जिनसेन ने धवला से लगभग ३० वर्ष पूर्व रचित अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण में इस उलभन भरी गुत्थी को मुलभाने का प्रयास करते हुए लिखा है :-

“चार ज्ञानधारी महावीर ने (छद्मस्थावस्था में) १२ वर्ष पर्यन्त १२ प्रकार का तप किया और विहारक्रम से ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिक गाँव के समीप पहुँचे। वहाँ त्रैशाख शुक्ला दशमी के दिन दो दिवस के उपवास का नियम कर वे सालवृक्ष के समीप एक शिला पर आतापन योग में आरूढ़ हुए। उसी समय जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में स्थित था, तब शुक्लध्यानधारी प्रभु महावीर ने चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया।<sup>३</sup> समस्त सुरासुरेन्द्रों ने तत्काल वहाँ उपस्थित हो प्रभु के ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। तदनन्तर छयासठ दिनों तक मौनावस्था में विहार करते हुए भगवान् महावीर राजगृह नगर के विपुलावल पर आरूढ़ हुए।<sup>४</sup> देवों ने वहाँ भव्य

<sup>१</sup> महावग्ग, १, ५. ७

<sup>२</sup> महावग्ग, १, ५. १०

<sup>३</sup> हरिवंश पुराण, सर्ग २, श्लोक ५६ - ५६

<sup>४</sup> केवलस्थ प्रसावेण, सहसा चलितासनाः।

आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुरासुराः ॥६०॥

षट्षष्टि दिवसान् भूयो, मौनेन विहरन् विभुः।

भाजगाम जगत्स्थानं, जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥

आरूरोह गिरिं तत्र, विपुलं विपुलश्रियम् ॥६२॥ [हरिवंश पुराण, सर्ग २, पृ १७]



समवसरण की रचना की। सौधर्मेन्द्र की प्रेरणा से इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और कौण्डिन्य नामक विद्वान् भगवान् के समवसरण में उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पांच-पांच सौ शिष्यों के साथ दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। चेतक की पुत्री चन्दनाकुमारी एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आश्रमों में प्रमुख होगई। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिनी सेना के साथ प्रभु के समवसरण में पहुँचा। इन्द्रभूति गौतम गणधर ने प्रभु से तीर्थ की प्रवृत्ति करने हेतु प्रश्न किया।<sup>1</sup> इस पर वर्धमान जिनेश्वर ने श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल दिव्य ध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया।<sup>2</sup>

हरिवंश पुराणकार ने जो यहां उल्लेख किया है कि कैवल्योपलब्धि के अनन्तर ६६ दिन तक भगवान् महावीर मौन धारण किये हुए विचरण करते रहे, इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर परम्परा के अन्य किसी ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऋजुकूला नदी पर जूम्भिका ग्राम के बाहर ज्यों ही भगवान् को कैवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई तत्काल देव देवेन्द्रों ने वहाँ उपस्थित हो ज्ञान कल्याणक का उत्सव तो किया किन्तु उसी स्थान पर देवों द्वारा समवसरण की रचना क्यों नहीं की गई? इस सम्बन्ध में तिलोयपण्णात्ती, धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण आदि दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य ग्रन्थों के रचयिता मौन हैं। उत्तर पुराणकार ने तो विपुलाचल पर समवसरण की रचना का उल्लेख तक नहीं किया है। इससे यह प्रकट होता है कि आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व तक इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित एवं सर्वसम्मत मान्यता दिगम्बर परम्परा में प्रचलित नहीं थी कि प्रभु महावीर को कैवल्यलाभ होते ही ऋजुकूला नदी के तट पर समवसरण की रचना किस कारण नहीं की गई। क्या यह आश्चर्यजनक घटना प्रवर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव के कारण घटित हुई अथवा सहज ही?

तिलोय पण्णात्ती<sup>3</sup> में हुण्डावसर्पिणी के कुप्रभाव के कारण विस्मयजनक अघटित घटनाओं के घटित होने का विवरण दिया गया है, जिसमें सातवें, तेवीसवें और अंतिम तीर्थंकर के उपसर्ग होने का तो उल्लेख है पर यह नहीं बताया

<sup>1</sup> वही, श्लोक ६४ - ८६

<sup>2</sup> श्रावणस्यासिते पक्षे, नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।

प्रतिपत्तद्धि पूर्वाह्णे, शासनाथमुदाहरत् ॥६१॥

[वही]

<sup>3</sup> भवसर्पिणि उस्सर्पिणि कालसत्ताया गदे य संसारीणि।

हुंडावसर्पिणी सा एकका, जाएदि तस्स चिण्हमिमं ॥१६१५॥

....चक्कपराठ दिजाणं हुवेदि वंसस्स उपपत्ती ॥१६१६॥

....एवमादिसोलसंतं सत्तसु तित्थेसु बम्मवोण्ण्वेदो ॥१६१६॥

....सत्तमतेवीसतिम तिरथ्यराणं च उवसग्गो ॥१६२०॥

[तिलोयपण्णात्ती, प्रथम भाग, ४ महाधिकार]

गया है कि प्रभु की केवलज्ञान होते ही तत्काल उस स्थान पर समवसरण, तीर्थ प्रवर्तन आदि की प्रक्रियाएं क्यों न पूर्ण हुईं ।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम स्थानांग में प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के १० आश्वयुजों का उल्लेख है । भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही जंभिका ग्राम के बाहर देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण में जो प्रथम देशना दी उसके परिणाम स्वरूप उसी दिन नियमतः धर्म-तीर्थ की स्थापना हो जानी चाहिए थी । परन्तु ऐसा न होकर दूसरे दिन पावापुरी के महासेन उद्यान में निर्मित समवसरण में प्रभु द्वारा देशना एवं तीर्थ की स्थापना की गई, इस घटना की भी उन १० आश्वयुजों में गणना की गई है ।<sup>१</sup> दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने, केवल्योपलब्धि और तीर्थप्रवर्तन के बीच व्यवधान विषयक मतवैभिन्न्य तथा घटना के चित्रण में वैविध्य होने के कारण स्थिति बड़ी अस्पष्ट, अनिश्चित एवं विवादस्पद सी प्रतीत होती है । आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गम्भीर अन्वेषण के पश्चात् समुचित प्रकाश डालेंगे ।

इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते समय इस तथ्य को दृष्टि में रखना परमावश्यक होगा कि दिगम्बर परम्परा के हरिवंश पुराण आदि सभी मान्य ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर को छोड़ जेप ऋषभदेव आदि तेवीसों ही तीर्थंकरों ने उसी दिन धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया, जिस दिन कि उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई ।

कल्पसूत्र एवं नन्दी सूत्र की स्थविरावलियों की परम प्रामाणिकता :- आज सभी विद्वान् समवेत स्वर में स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा की २ स्थविरावलियां कल्पसूत्रीया स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली (जिनको मूल आधार मान कर प्रस्तुत ग्रन्थ का आलेखन किया गया है), पूर्णतः प्रामाणिक विश्वसनीय एवं अति प्राचीन ऐतिहासिक स्थविरावलियां हैं । मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से निकले ई. सन् ८३ से १७६ तक के, (आयागपट्टों, ध्वजस्तम्भों, तोरणों, हरिणीगमेषी देव की मूर्ति, सरस्वती की मूर्ति, सर्वतोभद्र प्रतिमाओं, प्रतिमापट्टों एवं मूर्तियों की चौकियों पर उद्वृत्कित) शिलालेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वस्तुतः ये दोनों स्थविरावलियां अति प्राचीन ही नहीं, प्रामाणिक भी हैं ।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई का कार्य सर्व प्रथम ई. सन् १८७१ में जनरल किंग्घम के तत्वावधान में, दूसरी बार सन् १८८८ से १८९१ में

<sup>१</sup> उवसग गन्धहरणं, इत्थितित्यं अभाविद्या-परिसा ।

कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंद-सूराणं ॥

हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो तह अट्ठसय सिद्धा ।

अस्संजतेमु पूग्गा, दस वि अण्णतेण कालेण ॥

[स्थानांग, स्थान १०]

विशेष विवरण के लिये देखिये, 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १', पृ. ३४४-३४६

- सम्पादक

डा. पयूरर के तत्त्वावधान में तथा तीसरी बार पं. राधाकृष्ण के तत्त्वावधान में करवाया गया। इन तीनों खुदाइयों में जैन इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री उपलब्ध हुई। वह सामग्री आज से १८९१ से लेकर १७९८ वर्ष पहले तक की प्राचीन एवं प्रामाणिक होने के कारण बड़ी विश्वसनीय है। इन शिला लेखों में कल्पसूत्र की स्थविरावली के छः गणों में से तीन गणों, चार गणों के १२ कुलों, १० शाखाओं तथा नन्दीसूत्र के आदि मंगल के रूप में दी हुई वाचक वंश (वाचनाचार्य) की स्थविरावली<sup>१</sup> के पन्द्रहवें वाचनाचार्य आर्य समुद्र, सोलहवें आर्य मंगु, इक्कीसवें आर्य नन्दिल (आनन्दिल), बावीसवें आर्य नागहस्ती और उनतीसवें वाचनाचार्य भूत दिन्न के नाम विद्यमान हैं।<sup>२</sup> आज से लगभग १८००-१९०० वर्ष पूर्व के इन शिलालेखों में लगभग २२०० वर्ष पूर्व, वीर नि. सं. २९१ में हुए आर्य स्थविर रोहण आदि सुहस्ति के शिष्यों के उद्देह प्रभृति ३ गणों, कालान्तर में प्रसृत हुए उनके १२ कुलों तथा १० शाखाओं, वीर नि० सं० ४१४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य समुद्र, वीर नि० सं० ४५४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य मंगु, उनके पश्चात् हुए वाचनाचार्य नन्दिल, उनके अनन्तर अनुमानतः वीर नि० सं० ५८४ तक वाचनाचार्य पद पर रहे आर्य नागहस्ती और वीर नि० सं० ६०४ से ६८३ तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे आर्य भूतदिन्न के उल्लेखों से निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई कल्प स्थविरावली और नन्दि-स्थविरावली - ये दोनों स्थविरावलियाँ परम प्रामाणिक और पूर्णतः विश्वसनीय हैं। इन शिलालेखों में दशपूर्वधर काल से लेकर सामान्य पूर्वधर काल की समाप्ति से १७ वर्ष पूर्व तक के कतिपय वाचनाचार्यों, गणों, कुलों आदि का उल्लेख इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये सबल ही नहीं अकाट्य प्रमाण है कि ये दोनों स्थविरावलियाँ क्रमवद्ध और पूर्णतः प्रामाणिक हैं।

जिज्ञासु पाठकों एवं शोधार्थियों के लाभार्थ उन शिलालेखों का यहां संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है, जिनमें कि उपरिलिखित गणों एवं वाचनाचार्यों का उल्लेख है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४६४-६५ पर आर्य सुहस्ति के १२ शिष्यों में से ६ के नाम से प्रचलित हुए गणों, उनकी शाखाओं और कुलों का विवरण दिया गया है। आर्य सुहस्ती के प्रथम शिष्य आर्य रोहण के नाम से निकले उद्देह गण और नागभूतिकीय (नागभूय) कुल का उल्लेख कनिष्क सं० ७ के लेख सं० २४ में है।<sup>३</sup> इसी प्रकार कुषाणवंशी राजा वासुदेव के समय के कनिष्क सं० ६८,

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ४७१-७२

<sup>२</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ७५५

<sup>३</sup> १ [सिद्धम् ॥] महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य पाहिकणिकस्य सं० ७ हे ? दि १० ५ एतस्य पूर्वार्थां अर्थ्यदेहिकियातो २ गणातो अर्थ्यनागभूतिकियातो कुला तो गणिस्य अर्थ्यकुद्धिरिस्य शिष्यो वाचको अर्थ्यसं [न्धि] कस्य भगिनि अर्थ्यजया अर्थ्य गोष्ठ....

तदनुसार वीर नि० सं० ७०३ के लेख सं० ६६ में उद्धृत गरा, इसके परिधासिक (परिहासय) कुल और पेतपुत्रिका (पुण्य पत्रिका) शाखा का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>१</sup>

इसी प्रकार आर्य सुहस्ती के चतुर्थ शिष्य आर्य कामर्धिगणी से निकले वेसवाडिय गरा और उसकी शाखाओं का नाम तो मथुरा के शिलालेखों में स्पष्टतः उद्धृत नहीं है किन्तु इस गरा के चार कुलों में से मेहिय (मेहिक) नामक कुल का उल्लेख कुछ श्रुतिताक्षरों में लेख सं० २६ और ६३ में विद्यमान है।<sup>२</sup>

आर्य सुहस्ती के पांचवें एवं छठे प्रमुख शिष्य आर्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध से निकले कोटिक (कोडिय अथवा कोटिय) गरा का उल्लेख शिलालेख संख्या १८ तथा २५ में, कोटिय गरा, ब्रह्मदासिय (बम्भलिज्ज) कुल एवं उच्चनागरी (उचेनागरी) शाखा का उल्लेख लेख संख्या १६, २०, २२ एवं २३ में, कोटिय गरा के वत्थलिज्ज कुल का वच्छलियातो कुलातो के रूप में लेख सं० २७ में, कोटिय गरा, ठानिय कुल (संभवतः वाणिय अथवा वाणिय्य कुल का विकृत रूप), श्रीगृह संभोग, वच्ची (वेरि) शाखा का उल्लेख लेख सं० २६ एवं ३० में, कोटिय गरा, बम्भलिज्ज कुल (ब्रह्मदासिक कुल के रूप में), उच्चनागरी शाखा तथा श्रीगृहसंभोग का उल्लेख लेख सं० ३१ में, कोटिय गरा, ब्रह्मदासिक (बम्भलिज्ज) कुल तथा उचेनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ३५ में, इस गरा की केवल उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ३६ में, कोटिय गरा वेरि शाखा ठानिय (वाणिय) कुल का उल्लेख लेख सं० ४० एवं ४१ में, इस गरा के बम्भदासिक (बम्भलिज्ज) कुल और उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ५० में, कोटिक गरा वेरा (वच्ची) शाखा, स्थानिक कुल, श्रीगृह संभोग, वाचक आर्य घस्तुहस्ति (हस्तिहस्ति अर्थात् नागहस्ति)<sup>३</sup> के शिष्य मंगुहस्ति का उल्लेख लेख सं० ५४ में, कोटियगरा, स्थानिय (वाणिय) कुल वेरा शाखा, श्रीगृह संभोग वाचक आर्य हस्तहस्ति (नागहस्ति) का उल्लेख लेख सं० ५५ में किया गया है।

१. काल की दृष्टि से गरा, कुल एवं शाखा के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिला लेख है कुषाणवंशीय राजा कनिष्क के राज्यकाल के ५ वें वर्ष (ई० सन् ८३ तदनुसार वीर नि० सं० ६१०) का। इसमें लिखा है :-

<sup>१</sup> सिद्ध (म्) ॥ नमो अरहतो महावीरस्य दे०...रस्य । राजवासुदेवस्या संवत्सरे ६० ८ वर्ष-  
मासे ४ दिवसे १० १. एतस्या २. पूषयि अर्य्यदेहिकियातो ग (रातो) परिधासिकातो  
कुलातो पेतपुत्रिकातो शाखातो गरिणस्य अर्य्य देवदत्तस्य न ३. र्य्य क्षेमस्य ४. प्रकगिरिणं  
५. कि हृदिये प्रज ६. ...तस्य प्रवरकस्य धिनु वरुणस्य गम्धिकस्य कश्ये मित्रसं...दत्त  
गा [१] ७ ये...भगवतो महावीरस्य ।

जैन शिलालेख सं०, भा० २ (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रं० माला समिति),  
लेख सं० २४ तथा ६६, पृ० २२ एवं ४७

<sup>२,३</sup> जैन शिलालेख संग्रह भाग २

“देवपुत्र कनिष्क के ५वें वर्ष की हेमन्त ऋतु के पहले महिने के पहले दिन कोट्टियगरा, ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के.....श्रेष्ठि.....सेने की धर्मपत्नी देव.....पाल की पुत्री खुडा (सुद्रा) ने वर्षमान की प्रति (मा)।।” लेख सं० ५६ में कोट्टिय गर, स्थानिकीय कुल,वे रि शाखा के आर्य वृद्ध हस्ति का उल्लेख है। कल्प स्थविरावली के २७वें गणाचार्य आर्य वृद्ध ही वस्तुतः इस शिलालेख के आर्य वृद्ध होने चाहिए। क्योंकि आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध द्वारा सूरिमन्त्र का एक करोड़ बार जाप किये जाने के कारण उनका विशाल भ्रमण समूह कोटिक गर के नाम से विख्यात हुआ। आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध आचार्य सुहस्ति के पट्टधर आचार्य हुए अतः सुहस्ती की मुख्य शिष्य परम्परा कोटिक गर के नाम से ही अभिहित की जाने लगी। उस मुख्य परम्परा के आचार्य होने के कारण कल्प स्थविरावली के २७वें आचार्य आर्यवृद्ध<sup>१</sup> ही वे कोट्टिय गर ठाणिय अथवा वासिय कुल और वज्जी शाखा के आर्य वृद्धहस्ती होने चाहिए जिनका कि नाम इस लेख में उल्कीर्ण किया हुआ है।

इसी प्रकार लेख संख्या ५६ में भी कोट्टिय गर और वइरी (वज्जी)शाखा के आर्य वृद्धहस्ती का उल्लेख है। वे भी निश्चित रूप से कल्प स्थविरावली के २७वें आचार्य आर्य वृद्ध ही होने चाहिए। इनके अतिरिक्त लेख सं० ६४ में उच्चनागरी शाखा, लेख सं० ६६ में कोट्टिय गर, पण्वाहाणय कुल एवं मकमा शाखा, लेख सं० ६८ में कोट्टिय गर, ठानिय कुल और वइरी शाखा, लेख सं० ७० में कोटिक गर और उच्चनागरी शाखा, लेख सं० ७४ में कोट्टियगरा का उल्लेख विद्यमान है।

कल्पसूत्रीया स्थविरावली में उल्लिखित गरों, कुलों एवं शाखाओं आदि के उल्लेखों वाले जो लेख मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध हुए हैं, उनमें अंतिम लेख है गुप्त सं० ११३ तदनुसार ई० सन् ४३३ (वीर नि० सं० १६०) में उल्कीर्ण, गुप्त सम्राट कुमारगुप्त<sup>३</sup> के शासन काल का लेख सं० ६२।<sup>४</sup>

इस लेख सं० ६२ में कोट्टिय गर की विद्याधरी शाखा के आचार्य दतिल का उल्लेख किया गया है। वाचनाचार्य परम्परा की, युगप्रधानाचार्य परम्परा

<sup>१</sup> घ. १. ....दे (ध) पुत्रस्य क (नि) कस्य सं० ५ हे. १ वि १ एतस्य पूर्व (र) यं कोट्टियातो गणातो ब्रह्मदासिका (तो) (कु) मातो (उ) केमायितो शाखातो सेवि - ह - स्व ि - ि - ि - सेनस्य सहचरि खुडाये दे (ध)

ब. १. पालस्य वि (त).....

२. वर्षमानस्य प्रति (मा) ॥

[जैन शिलालेख संग्रह, भा २ माणकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थशाखा समिति] लेख सं० १६, पृ० सं० १६] मथुरा का प्राकृत लेख कनिष्क सं० ५.

<sup>२</sup> कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यों की सूची, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७३-७४

<sup>३</sup> कुमारगुप्त का शासन वीर नि० सं० १५१ से ५८२ तक रहा। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६७२

<sup>४</sup> जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० ५८

की और कल्पसूत्रीया स्थविरावली - इन तीनों स्थविरावलियों में 'दत्तिल' नामक किसी आचार्य का नाम उपलब्ध नहीं होता है। हां वाचनाचार्य परम्परा की (नन्दीसूत्रीया), स्थविरावली के २६ वें (आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और गोविन्द - इन पांचों के नाम वाचनाचार्यों में सम्मिलित न किये जाने की दशा में २४ वें)<sup>१</sup> आचार्य तथा युगप्रधानाचार्य परम्परा की पट्टावली के २६ वें आचार्य का नाम भूत दिन्न है। लेख सं० ६२ में उद्धृतकित 'दत्तिल' और इन दोनों पट्टावलियों में उल्लिखित 'दिन्न' ये दोनों (दत्तिल और दिन्न) शब्द वस्तुतः दत्त शब्द के प्राकृत रूप हैं।<sup>२</sup> आर्य भूतदिन्न का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि० सं० ६०४ से ६८३ माना गया है।<sup>३</sup> इस लेख सं० ६२ में गुप्त सं० ११३ उत्कीर्ण किया हुआ है, जो वीर नि० सं० ६६० अर्थात् आचार्य भूत दिन्न के आचार्यकाल का ही समय है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित लेख सं० ६२ में कोट्टिय गण की विद्याधरी शाखा के जिन दत्तिलाचार्य का उल्लेख है, वे वस्तुतः नन्दि स्थविरावली के वाचनाचार्य और युगप्रधान पट्टावली के युगप्रधान आचार्य भूतदिन्न ही हैं।

युग प्रधानाचार्य भूतदिन्न की ही तरह लेख सं० ५२ के गण समदि वस्तुतः वाचक परम्परा के १५ वें वाचनाचार्य आर्य समुद्र, लेख सं० ४१ और ६१ के आर्य नन्दिक व गणिनन्दि १७ वें वाचनाचार्य नन्दिल और लेख सं० ५४ और ५५ के क्रमशः धस्तु हस्ति और हस्तहस्ति १८ वें वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती ही हैं। नन्दिस्त्रीया स्थविरावली में इन चारों वाचनाचार्यों के नाम इसी क्रम से एक के पश्चात् एक हैं।

आर्य सुधर्मा से लेकर देवद्वि क्षमाश्रमण तक एक हजार वर्ष की लम्बी कालावधि में अनेक आचार्य एवं उनके आज्ञानुवर्ती सहस्रों महान् प्रभावक श्रमण हुए, सहस्रों प्रभाविका श्रमणियां हुईं, जिन्होंने भारत जैसे अतिविशाल देश के कोने-कोने में विचरण कर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाले प्रभु महावीर के अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह मूलक विश्वकल्याणकारी धर्म का प्रचार-प्रसार किया। कालान्तर में क्रमशः हुए गणभेद, परम्पराभेद, मान्यताभेद, संघ-विभाजन, गच्छोपगच्छ-कुलोपकुलजन्य विभिन्न भेद-प्रभेदों के अनन्तर एक ही समय में एक-एक प्रदेश को, एक-एक क्षेत्र को पृथकतः अपना कार्यक्षेत्र चुनकर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले अनेक आचार्य हुए। उनमें से कतिपय महापुरुषों ने स्वर्णभूमि, सिंहल आदि सुदूरस्थ एवं दुर्गम देशों में जाकर, वहां पर भी जनमानस में जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न की एवं वहां के लोगों को जैनधर्मावलम्बी बनाया। उक्त १००० वर्ष की अवधि में हुए अनेक राजाओं, महाराजाओं,

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४७२-७३

<sup>२</sup> दिन्न और दत्तिल दोनों शब्द दत्त शब्द के प्राकृत रूप होते हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, भूमिका (डा० गुलाबचन्द्र चौधरी), पृ० १८ टिप्पण २]

<sup>३</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६६५

सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं सभी वर्गों के श्रावकों तथा श्राविकाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसके दिगदिगन्त-गामी प्रताप को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए जो-जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उन सबका क्रमबद्ध पूर्ण विवरण आज जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनमें से कतिपय कार्यों का शिलालेखों, आयागपट्टों, ताम्रपत्राभिलेखों आदि में उद्धृत विवरण आज भी उपलब्ध होता है, जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। प्राक्कथन में भी यथास्थान इस पर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

**कार्य की गुरुता एवं दुस्साध्यता** - इतने सुदीर्घ अतीत के सुविस्तृत इतिहास का यथावत् निरूपण तो वस्तुतः केवल अतिशयज्ञानी ही कर सकते हैं। क्योंकि उनमें से विभिन्न गणों के जिन गणाचार्यों, प्रभावक महाश्रमणों ने जीवन भर सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु, बंग, कलिंग, आन्ध्र आदि प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया, उनमें से अधिकांश के तो नाम तक भी आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं। कल्पस्थविरावली में आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिन आचार्यों के नाम दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश का नाम के अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी परिचय आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार नन्दीसूत्र के आदि में दी गई वाचनाचार्यों की स्थविरावली के भी कतिपय आचार्यों का कोई परिचय कहीं उपलब्ध नहीं होता। जब मुख्य-मुख्य आचार्यों का भी पूरा परिचय उपलब्ध नहीं होता तो उस दशा में उनके समय में घटित घटनाओं का शृंखलाबद्ध निरूपण करना कितना कठिन कार्य है, इसका विज्ञ स्वयं सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। यह स्थिति वर्तमान समय में ही हो, ऐसी बात नहीं है। आज से अनेक शताब्दियों पहले भी कुछ इसी प्रकार की स्थिति की विद्यमानता के उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इतिहासलेखन का कार्य कितना जटिल है, इस सम्बन्ध में आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व हुए आचार्य प्रभाचन्द्र (वि० सं० १३३४) द्वारा प्रकट किए गए निम्नलिखित उद्गारों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :-

श्रीवज्जानुप्रवृत्त(त्तौ) प्रकटमुनिपति प्रष्ठवृत्तानितत्तद्,  
ग्रन्थेभ्यः कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित्संकलय्य ।  
दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततयैकत्रचित्रावदात्,  
जिज्ञासैकाग्रहाराणामधिगतविधयेऽभ्युच्चयं स प्रतेने ॥<sup>१</sup>

अर्थात् - आर्य वज्र और उनके अनुवर्ती आचार्यों का इतिवृत्त खण्ड-विखण्डित रूप में इतस्ततः बिखरा हुआ एवं अपूर्ण होने के कारण एक प्रकार से दुष्प्राप्य था। अतः उनमें से कतिपय आचार्यों का इतिवृत्त अनेक ग्रन्थों के परिशीलन से, कुछ आचार्यों का श्रुतधरो से सुनकर और कइयों का (जैन वाङ्मय में से) संकलित कर मैंने (प्रभाचन्द्र ने) उसे सम्यक् रूपेण सुव्यवस्थित किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने "प्रभावक चरित्र" नामक अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण

<sup>१</sup> प्रभावक चरित्र, ग्रन्थकारकृता स्वकीया प्रशस्तिः, पृष्ठ २१५, श्लोक १७

एवं उपयोगी ग्रंथ में कुल मिलाकर २३ आचार्यों एवं महाकवि घनपाल के जीवन की कतिपय प्रमुख घटनाओं का विवरण दिया है। आचार्य प्रभाचन्द्र के समय में प्राचीन ग्रन्थ भी आज की अपेक्षा निश्चित रूप से कुछ अधिक मात्रा में उपलब्ध रहे होंगे। इतिहास साक्षी है कि आचार्य प्रभाचन्द्र के पश्चाद्वर्ती काल में आततायी विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित ग्रन्थागारों, पुस्तकभण्डारों एवं स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, प्रस्तर, भित्ति आदि पर शताब्दियों पूर्व उत्कीर्ण किए गए अभिलेखों को नष्ट-निश्शेष-करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। एक यवन आक्रान्ता ने तो अपनी सैनिक-पाक शाला-में शताब्दियों के अथक श्रम से लिखे गये भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों को ईषन की जगह जलाने के काम में लेकर छः महीनों तक विशाल सेना के लिए भोजन बनवाया, और स्नानार्थ पानी गरम करवाया।

वर्गविद्वेष, धार्मिक असहिष्णुता आदि के फलस्वरूप समय-समय पर भारत के विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न हुए आन्तरिक कलहों ने भी भारतीय संस्कृति के अवशेषों, स्मारकों, धर्मस्थानों, तीर्थस्थानों एवं ग्रन्थागारों आदि को भयंकर क्षति पहुंचाई।

केवल २३ आचार्यों के जीवनवृत्त का आलेखन करते समय आचार्य प्रभाचंद्र द्वारा अभिव्यक्त किए गए उपर्युल्लिखित उद्गारों और उनसे अवांतरवर्ती काल में हुई पुरातन साहित्य की दुखद महती क्षति के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पूर्व ५२७ से ई० सन् ४७३ (वीर नि० सं० सं० १ से १०००) तक का १००० वर्ष का जैन धर्म का सर्वांगपूर्ण इतिहास शृंखलाबद्ध रूप में सम्पन्न करना कितना कठिन, कितना दुरूह, दुस्साध्य एवं श्रमापेक्षी कार्य है। पर इन सब कठिनाइयों से हतोत्साहित हो इस दिशा में प्रयास न करने की स्थिति में तो प्रत्येक जैनी के हृदय में खटकने वाली इतिहास के अभाव की कमी कभी दूर नहीं होने वाली है, यह विचार कर इस कार्य को हाथ में लिया गया।

**पुरातन प्रामाणिक आधार**— हमने अंगों, उपांगों, निर्वृक्तियों, चूरणियों, टीकाओं, भाष्यों, चरित्रग्रन्थों, कथाकोषों, स्थविरावलियों, पट्टावलियों, जैन एवं वैदिक परम्परा के पुराणों, विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों, बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों, मिलालेखों, प्रकीर्णक ग्रन्थों एवं सभी प्रकार की उपलब्ध सामग्री के पर्यवेक्षण-पर्यालोचन के माध्यम से प्रामाणिक साधनों के आधार पर अथ से इति तक शृंखलाबद्ध रूप में जैन इतिहास के आलेखन की अमिट अभिलाषा लिये यथामति कुछ लिखने का प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस ग्रन्थ के लेखन में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि धोयी कल्पनाओं और निर्मूल अनुश्रुतियों को महत्व न देकर प्राचीन ग्रन्थों एवं अभिलेखों के आधार पर प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों का ही निरूपण किया जाय। इसी प्रकार बहुत-सी चमत्कारिक रूप से चित्रित घटनाओं को भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट नहीं किया



गया है। मध्ययुगीन अनेक विद्वान् ग्रन्थकारों ने सिद्धसेन प्रभृति कतिपय प्रभावक आचार्यों के जीवन चरित्र का आलेखन करते हुए उनके जीवन की कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है, जिन पर आज के युग के अधिकांश चिन्तक किसी भी दशा में विश्वास करने को उद्यत नहीं होते। त्यागी, तपस्वी महान् पुरुषों के प्रबल आत्मबल में अचिन्त्य शक्ति होती है, इस बहुजन सम्मत तथा भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी अध्यात्म विषयक प्राचीन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित तथ्य से इतिहास के पाठकों को थोड़ा बहुत अवगत कराने की दृष्टि से श्रद्धास्पद पूर्वाचार्यों द्वारा विशद रूपेण वर्णित घटनाओं में से एक दो चमत्कारिक घटनाओं का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। इस स्पष्टीकरण का मूलतः मुख्य तात्पर्य यही है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है, वह सब कुछ साधारण है, बिना आधार के एक भी बात नहीं लिखी गई है।

**विशुद्ध उद्देश्य - केवल तथ्य की खोज :** - यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इतिहास के क्षेत्र में केवल उन्हीं विवरणों को पूर्ण प्रामाणिक माना जाता है, जिनको सत्य सिद्ध करने वाले ठोस आधार हों। कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत से विद्वानों ने ऊहापोह, किंवदन्ती, निरे अनुमान, केवल-कल्पना अथवा पारम्परिक मान्यता के नाम पर अपनी-अपनी मान्यताएं रखी हैं। इस प्रकार के प्राचीन अथवा अर्वाचीन विद्वानों की वे व्यक्तिगत मान्यताएं यद्यपि ऐतिहासिक घटनाक्रम, निष्पक्ष साक्ष्य एवं समकालीन अन्य निर्विवादास्पद ऐतिहासिक घटनाचक्र से अन्यथा सिद्ध होती हैं, तथापि आज वे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की मान्यता होने, बहुजनसम्मत होने, पक्ष विशेष की प्राचीनता की साधक होने अथवा अन्य कतिपय कारणों से निर्विवादास्पद मान्यताओं का रूप धारण करती जा रही हैं। इस तरह की कतिपय मान्यताओं को अप्रामाणिक-अमान्य सिद्ध कर देने वाले जो प्रबल तथ्य हमें उपलब्ध हुए हैं, उन्हें यथास्थान उल्लिखित कर हमने वास्तविकता को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। ऐसे प्रसंगों पर हमें कुछ इस प्रकार के तथ्य भी प्रस्तुत करने पड़े हैं, जो कतिपय विद्वानों की मान्यताओं के अनुकूल नहीं पड़ते। ऐसा करने के पीछे हमारी किञ्चित्मात्र भी इस प्रकार की भावना नहीं रही है कि किसी के भावुक कोमल मन को किसी प्रकार की कोई ठेस पहुँचे। हमारी चेष्टा पक्षपात विहीन एवं केवल यही रही है कि वस्तुस्थिति प्रकाश में लाई जाय।

सम्प्रदाय-मोह एवं परम्परा विशेष के पूर्वाग्रह से विमुक्त हो तटस्थ भाव से लिखते हुए भी विचार-भेद अथवा दृष्टिभेदवशात् यदि कोई उल्लेख तथ्य की सीमा का किञ्चित्मात्र भी अतिक्रमण कर गया हो तो 'तं मे मिच्छामि दुक्कडं'।

**संघ-संचालन की प्रणाली :-** कोई भी संगठन, चाहे वह धार्मिक, राज-नैतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक संगठन हो, उसके संचालन के लिए किसी एक प्रणाली को अपनाना आवश्यक हो जाता है। अनेक भेद-प्रभेदों के होते हुए भी इस प्रकार के संगठनों को सुचारु रूप से चलाने के लिए मुख्य रूप से

दो प्रणालियां प्रधान मानी गई हैं - प्रथम एकतन्त्रीय प्रणाली और दूसरी प्रजातन्त्रीय प्रणाली।

तीर्थप्रवर्तन-काल से लेकर आज तक के भगवान् महावीर के धर्मसंघ के इतिहास का समीचीनतया पर्यलोचन करने के पश्चात् यही तथ्य प्रकट होता है कि प्रारम्भ से ही इसका संचालन एक ऐसी सुन्दर एवं सुदृढ़ प्रणाली से किया जाता रहा है जिसे न विशुद्ध एकतन्त्री प्रणाली ही कहा जा सकता है और न पूर्ण प्रजातान्त्रिक ही। महावीर यद्यपि लिच्छविराजकुमार थे। लिच्छवि गणतंत्र उनके समय का एक प्रमुख प्रजातान्त्रिक गणराज्य था। पर कंबल्योपलब्धि के अनन्तर तीर्थ-प्रवर्तन के समय उन्होंने अपने धर्म संघ के संचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली एवं एकतन्त्रीय प्रणाली के केवल गुणों को ग्रहण कर मिश्र प्रणाली को अधिक उपयुक्त समझा। यद्यपि वे प्रजातान्त्रिक परम्परा से आये थे परन्तु त्रिकालदर्शी-सर्वज्ञ हो जाने पर उन्होंने देखा कि उनका धर्म संघ एकान्ततः प्रजातान्त्रिक अथवा एकतन्त्री प्रणाली का अनुसरण कर चिरकाल तक अपने वास्तविक स्वरूप में अज्ञ एवं निर्द्वन्द्व रूप से नहीं चल सकेगा। केवल प्रजातान्त्रिक पद्धति से संघसंचालन की व्यवस्था में उन्हें अपने धर्म संघ का चिरस्थायी जीवन प्रतीत नहीं हुआ।

संघ-व्यवस्था के आद्योपान्त स्वरूप के अध्ययन से तथा भगवान् द्वारा की गई पद व्यवस्था से यही तथ्य प्रकट होता है कि भगवान् महावीर ने संघ-संचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अंकुश सहित सुयोग्य वैयक्तिक अधिकार प्रधान एकतन्त्री व्यवस्था प्रणाली को अधिक श्रेयस्कर समझा। संघ तथा आचार के प्रति अनन्य निष्ठावान्, प्रत्युत्पन्नमति, शासननिपुण, ओजस्वी, प्रतिभाशाली व्यवहारकुशल एवं योग्यतम अधिकारिक व्यक्ति के सांकुश अधिनायकत्व में अपने धर्म संघ का चिर जीवन तथा चिरस्थायी हित समझकर भगवान् महावीर ने संघ के संचालन के लिए एक मिश्रित प्रणाली निर्धारित की। अनादिकालीन 'पंचपरमेष्ठि नमस्कारमंत्र' के पांचों पदों से भी यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म संघ में अनादि काल से दोनों प्रणालियों के दोषों से मुक्त एवं गुणों से युक्त मिश्र शासन-व्यवस्था रही है। अहंतों के पश्चात् आचार्यों का धर्म संघ में सदा-सर्वदा सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है पर आचार्य सदा संघ के प्रति उत्तरदायी रहे हैं।

इतिहास साक्षी है कि जहां उदायी, अशोक, संप्रति और विक्रमादित्य जैसे एकतन्त्री शासक कर्तव्यपरायणतापूर्वक प्रजावत्सल न्यायनिष्ठ और सेवाव्रती बने रहे, वहां धर्म, समाज एवं राष्ट्र ने सर्वतोमुखी प्रगति की। इसके विपरीत कुछ अपवादों को छोड़ यह कटुसत्य सर्वविदित है कि प्रजातान्त्रिकता में अभाव, अभियोग, अनुत्तरदायित्व, अनिश्चितता, अस्थिरता, विषाक्त प्रतिस्पर्धाजन्य अशान्ति का आधिक्य रहा। प्रजातान्त्रिक प्रणाली में जहां एक ओर अनेक गुण हैं वहां दूसरी ओर बहुत बड़ा अवगुण भी है। वहां अधिकारी और अधिकृत, बड़े

और छोटे के भेद का केवल कहने भर के लिए स्थान न रहने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में सबसे आगे उभरने की, अहमिन्द्र अथवा अधिनायक बनने की प्रतिस्पर्धा प्रबल वेग से जागृत रहती है। प्रत्येक व्यक्ति में उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना के परिणामस्वरूप संगठन में सांठ-गांठ, जोड़-तोड़, दलबन्दी, अनुशासनहीनता, और कलह आदि विनाशकारी प्रवृत्तियां पनपने लगती हैं। इस प्रकार शनैः-शनैः सामूहिक अपनत्व की भावना अधिनायकत्व, अहमिन्द्रत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। एक डोर में चलने वाले एक सम्पन्न-समृद्ध घर के सभी सदस्यों में अपनत्व के स्थान पर अहमन्यता और अधिनायकत्व की भावना के पनपने पर जो उस घर की दुर्दशा होती है, ठीक वही दशा अन्ततोगत्वा प्रजातान्त्रिक प्रणाली से चलने वाले संगठन की होती है। यों तो सभी स्थितियां सापवाद होती हैं। पर जहां तक धार्मिक संघ का प्रश्न है, कम से कम इसके संचालन में तो एकांतिक प्रजातन्त्रीय प्रणाली न फव सकती है और न चिरकाल तक सफल ही सिद्ध हो सकती है। प्रारम्भिक दशा में भले ही उससे कुछ लाभ दृष्टिगोचर हो पर उसमें चिरकालिक स्थैर्य नहीं आ पाता। परिवर्तन पर परिवर्तन आते हैं। उस संघ का वास्तविक स्वरूप बदलते-बदलते मूल स्वरूप से पूर्णतः भिन्न हो जाता है। धार्मिक संघ मूलतः आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए स्थापित किये जाते हैं पर उनके एकान्ततः प्रजातान्त्रिक प्रणाली से संचालित किये जाने के परिणामस्वरूप उस संघ के अधिकांश सदस्यों में उत्पन्न हुई विषाक्त प्रतिस्पर्धा के कारण आध्यात्मिक शान्ति तो दूर भौतिक शान्ति भी नहीं रह पाती। उस धर्म संघ की स्थापना के पीछे जो आध्यात्मिक शान्ति की अर्थात् प्राप्ति का मूल उद्देश्य रहता है, वह तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार 'नष्टे मूले कुतो शाखा' की उक्ति के अनुसार वह संघ निष्प्राण हो जाता है।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली में भी अंकुश के अभाव तथा सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति को अधिनायक न बना उसके स्थान पर अयोग्य व्यक्ति के मनोनयन के भी बड़े भीषण परिणाम होते हैं।

बौद्ध संघ का दृष्टान्त हमारे समक्ष है। बौद्ध संघ की व्यवस्था किस प्रणाली पर आधारित थी, इसका यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि पाली-पिटकों के उल्लेखानुसार लिच्छवियों के बौद्ध संघ की ओर अधिक झुकाव से यह अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भिक काल में बौद्ध संघ की संचालन प्रणाली एकतन्त्री प्रणाली के आधार पर न की जाकर कतिपय परिवर्तनों के साथ गणतन्त्र प्रणाली के अनुरूप प्रजातान्त्रिक आधार पर की गई थी। यह भी एक कारण हो सकता है कि गणतान्त्रिक व्यवस्था के अभ्यस्त, शासक और शासित, अधिनायक और अधीनस्थ आदि के बड़े-छोटे के भेद के अभ्यस्त लिच्छवियों का प्रारम्भ में बौद्ध संघ की ओर अपेक्षाकृत अधिक झुकाव रहा हो। पर बौद्ध संघ में वज्रपुत्रक संघ के नाम से एक पृथक् संघ की स्थापना से यह प्रकट होता है कि प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप बौद्ध संघ में उत्पन्न हुई अनुशासनहीनता

अथवा विभ्रंखलता को दूर करने के उद्देश्य से द्वितीय बौद्ध संगीति के समय संघ व्यवस्था के नियमों में वैयक्तिक अधिकारों के आधार पर कुछ परिवर्तन किये जाने लगे तो वज्जीवंशी 'वज्जि पुत्रक' नामक भिक्खु, जो कि लिच्छवी गणतन्त्र के अंगभूत प्रजातान्त्रिक वज्जीसंघ के सदस्य रह चुके थे, बौद्ध भिक्षु-संघ से पृथक् हो गये। जब वज्जिपुत्रक भिक्खु ने देखा कि बौद्ध-भिक्षुसंघ पर व्यक्तिनिष्ठ अधिनायकवाद छा रहा है, भिक्षुओं की स्वतन्त्रता पर वैयक्तिक आधिपत्य छा जाना चाहता है तो उन्होंने पृथकतः, अपने विचारों से सहमत भिक्षुओं का, एक संघ स्थापित किया और उस संघ का नाम वज्जिपुत्रक संघ रखा।

इस प्रकार इतिहास साक्षी है कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली के आधार पर निर्धारित की गई संघीय व्यवस्था के कारण बौद्ध भिक्षुसंघ बुद्ध से थोड़े समय पश्चात् ही विभ्रंखल होने लगा। विदेशी कुषाणवंशी सम्राट् कनिष्क (वीर नि० की सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल) के समय तक विघटित होते होते अनेक खण्डों में विभक्त होगया और कालान्तर में तो वह आर्यधरा से प्रायः विलुप्त ही हो गया। निस्संदेह, विदेशों में बौद्धधर्म का असाधारण प्रचार और विस्तार हुआ पर सुयोग्य एवं सांकुश एकतन्त्री संचालन प्रणाली के अभाव में परिवर्तन पर परिवर्तन होते रहने के कारण उसकी मौलिकता स्थिर नहीं रह पाई।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली में भी अधिनायक के मनोनयन के समय यदि समुचित सतर्कता, जागरूकता न वर्ती जाय और उस पर सुयोग्य एवं सजग अंकुश न रखा जाय तो उसके बड़े भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति के स्थान पर किसी अयोग्य व्यक्ति को किसी धर्म संघ, राज्य अथवा राष्ट्र का सर्व सत्ता सम्पन्न अधिनायक बना दिये जाने की स्थिति में उस राज्य, राष्ट्र अथवा धर्म संघ को कितनी बड़ी-बड़ी क्षतियां उठानी पड़ी हैं। जहां तक एकतन्त्री राज्य सत्ता का प्रश्न है, उसमें इस प्रकार के दोषों और दुष्परिणामों की संभावना दो कारणों से अधिक रहती है। प्रथम कारण तो यह रहा है कि एक राजा की मृत्यु के पश्चात् वंश परम्परागत प्रथा के अनुसार उसके पुत्र को, चाहे वह अयोग्य ही क्यों न हो राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त कर उसे राज्य का सर्व सत्ता सम्पन्न निरंकुश अधिनायक बना दिया जाना। दूसरा कारण रहा है विदेशी आतताइयों अथवा आक्रान्ताओं द्वारा राज्यसत्ता पर बलपूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना। ये दोनों ही स्थितियां राज्य, राष्ट्र और जन साधारण के लिये बड़ी दुःखद, विनाशकारी एवं भयावह होती हैं। पहली स्थिति में अधिनायक शास्ता की अकर्मण्यता के कारण शासन में दौर्बल्य प्रजा में निराशा एवं अविश्वास धर करने लगता है, अवांछनीय तत्त्व उभर कर सक्रिय हो उठते हैं, जनहित, उत्पादन, अभिवृद्धि, शक्ति संचय आदि के आवश्यक कार्य और राज्य की आय के स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं। दूसरे प्रकार की स्थिति में विदेशी शासन का मुख्य उद्देश्य येन केन प्रकारेण धन संचय करना अपने शासन को चिरस्थायी बनाने के लिये अपनी

सेना में, राज्य के प्रमुख पदों पर और युद्ध की दृष्टि से देश के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अपने कुटुम्ब के, अपनी जाति के और अपने देश के लोगों को अधिकाधिक संख्या में नियुक्त करना, जमाना और शासित देश की सैनिक जातियों एवं शाक्तियों को नष्ट करना मात्र रहता है। विदेशी शासक के अन्तर्गमन में जन सेवा, प्रजा-वत्सलता और राष्ट्र को सशक्त, सुसम्पन्न, समृद्ध-समुन्नत बनाने की भावना वस्तुतः नाममात्र को भी नहीं रहती।

पर जहाँ तक धर्म संघ की व्यवस्था का प्रश्न है, उसकी सांकुश एकतन्त्री शासन प्रणाली अर्थात् मिश्र शासन प्रणाली में चैत्यवास-संस्थापन जैसे अत्यल्प अपवादों को छोड़ कर इस प्रकार के दोषों के उत्पन्न होने की संभावनाएँ नहीं रहती हैं। किसी राज्य अथवा राष्ट्र की एकतन्त्रीय शासन प्रणाली को सदीर्घ एवं अनिष्टकर बना-देने वाले मुख्यतया जो दो कारण बताये गये हैं, उसी राजवंश के व्यक्ति को सिंहासनारूढ़ करना और विदेशी आक्रान्ता द्वारा बलात् राज्यसत्ता को हथिया लेना, इन दोनों कारणों की एक धर्म संघ के संचालन की एकतन्त्री व्यवस्था प्रणाली में तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में एकतन्त्रीय शासन प्रणाली के इन दो विनाशकारी मूल दोषों से धर्म-संघ सर्वथा अछूता रह सकता है। इनके अतिरिक्त धर्मसंघ की एक-तन्त्रीय व्यवस्था प्रणाली में धर्मसंघ को अधःपतन की ओर ले जाने वाले साधारणतः जिन दोषों की संभावना की जा सकती है, उनमें प्रथम है आचार्य पर संघ का अंकुश न रखना अथवा किसी अयोग्य व्यक्ति को आचार्य पद पर अधिष्ठित कर देना। आचार्य में जिन जिन गुणों का होना आवश्यक है उन गुणों से विपरीत जितने भी अवगुण हैं उनमें से प्रत्येक अवगुण किसी भी श्रमण को आचार्य पद के लिये अयोग्य ठहराने में पर्याप्त माना जाता रहा है। जो उत्सूत्र प्ररूपक, अदूरदर्शी, शिथिलाचारी, स्वार्थी, निष्प्रभ, निस्तेज, अशक्त हो, अंग-वाचना, प्रवचन, धर्म प्रभावना, संघ-संचालन, संघोत्कर्ष में अकुशल, हो उग्र एवं अस्थिर स्वभाव वाला और अवशेन्द्रिय हो, मुख्यतः वह श्रमण आचार्य पद के लिये अयोग्य माना गया है।

वस्तुतः सर्वाधिक अयोग्य एवं आचार्य पद के लिये आवश्यक सर्वगुणों से सम्पन्न श्रमण को ही आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने का विधान रखा गया है।

किन-किन प्रकार के विशिष्ट गुणों से सम्पन्न श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत किया जाता था और इस कार्य में किस प्रकार पूर्ण सतर्कता और जागरूकता से काम लिया जाता था, यह — “निर्वाणोत्तर काल में संघ व्यवस्था का स्वरूप इस शीर्षक के नीचे आगे दिये जा रहे आचार्य के गुणों एवं संपदाओं के विवरण से भली भाँति प्रकट हो जाता है।

प्रायः सभी आचार्य अपने जीवन काल में ही सतत प्रयत्नशील रहते थे कि ऐसे योग्यतम व्यक्ति को अपने उत्तराधिकारी के रूप में शिक्षित-दीक्षित किया जाय, जिसके सुदृढ़ नेतृत्व में संघ उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहे, विश्वकल्याणकारी अहिंसा-धर्म का उद्योत दिग्दिगन्त में व्याप्त हो जाय, प्रत्येक

मानव विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रोत-प्रोत होकर स्व-पर के कल्याण में निरत रहे। इस तथ्य का साक्षी है आचार्य प्रभव द्वारा अपने उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में अर्द्धरात्रि के समय चिन्तन, यज्ञानुष्ठान में निरत ब्राह्मण, सदगृहस्थ सय्यम्भव का चयन, प्रतिबोधन, दीक्षणा, अध्यापन और आचार्य पद पर मनोनयन।<sup>1</sup> आचार्य प्रभव के आचार्य काल में श्रमण संघ बड़ा विशाल था। उनके सुविशाल शिष्य समूह में अनेक श्रमण द्वादशांगी के पारंगत और चतुर्दश पूर्वधर होने पर तात्कालिक परिस्थितियों में अपने पश्चात् आचार्यपद के लिये जिन प्रकृष्ट गुणों की आवश्यकता थी, वे गुण आचार्य प्रभव ने गृहस्थ सय्यम्भव ब्राह्मण में पाये और उन्होंने आचार्य पद के लिये अपने दीक्षावृद्ध, ज्ञानवृद्ध और विद्वान् शिष्यों में से किसी को न चुनकर उनसे पश्चाद् दीक्षित प्रायं सय्यम्भव को चुना।

भगवान् महावीर द्वारा अपने धर्मसंघ के संचालन के लिये जो प्रणाली निर्धारित की गई वह एक ऐसी सुन्दर, सुनियोजित, सहज सुव्यवहार्य, समीचीन, श्रेयस्कर एवं स्वस्थ सांकुश एकतन्त्री परम्परा थी, जिसमें संघ के सर्वोपरि अधिनायक आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा और पूर्ण विश्वास के उपरान्त भी उसमें पूर्वाग्रहविहीन उन्मुक्त चिन्तन के लिये पूर्ण अवकाश था। विचार स्वातन्त्र्य के लिये द्वार उन्मुक्त थे। निर्णय से पूर्व उस कार्य के औचित्यानीचित्य के सम्बन्ध में अपना-अपना अभिमत प्रकट करने का संघ को पूर्ण अधिकार था।

यदि संक्षेप में कहा जाय तो वह संघ के अंकुश सहित एक ऐसी एक-तन्त्रीय शासन प्रणाली थी, जिसमें एकान्तिकता अथवा निरंकुशता नाम मात्र को भी नहीं थी। सब के विचारों के प्रति सम्मान और समादर रखा जाता था। सामष्टिक रूप से विवेक की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर ही पेचीदा प्रश्नों पर आचार्य द्वारा निर्णय लिया जाता था।

स्थविर आदि विशिष्ट श्रमणों के सुदूरस्थ प्रदेशों में विचरण करने की दशा में अथवा किसी प्रकार की अन्य अपरिहार्य परिस्थितियों में जहां समष्टि का अभिमत लिया जाना संभव नहीं होता उस स्थिति में यदि किसी आत्यन्तिक महत्त्व के प्रश्न पर आचार्य अपना निर्णय देते तो उनका निर्णय सर्वोपरि और सर्वमान्य होता था। तदनन्तर उपयुक्त अवसर उपस्थित होते ही सामूहिक रूप से उस पर पुनर्विचार करने की स्थिति में यदि उस निर्णय में परिवर्तन करना अनिवार्य समझा जाता तो निस्संकोच भाव से आचार्य की विद्यमानता में आचार्य द्वारा और आचार्य के दिवंगत हो जाने की दशा में श्रमण संघ द्वारा उस निर्णय में आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया जाता था। किन्तु इस प्रकार की परिस्थितियां कादाचित्क ही होती थीं क्योंकि संघहित को सदा लक्ष्य में रखने वाले दूरदर्शी आचार्य प्रत्येक कार्य के औचित्यानीचित्य पर पूरी तरह विचार करने के पश्चात् ही निःस्वार्थ, निर्लेप एवं निर्मोह भाव से निर्णय लेते थे।

<sup>1</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ३१२-३१४

आचार्य अपने शिष्य वर्ग में से योग्य शिष्यों की अनेक प्रकार से परीक्षाएं लेकर मन ही मन सर्वतः सर्वाधिक सुयोग्य शिष्य को अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुन कर उसे स्वाजित समस्त ज्ञान की शिक्षा प्रदान करते और अन्त में अपनी आयु-समाप्ति से पूर्व ही समस्त संघ के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया करते थे। जहाँ इस प्रकार के उत्तराधिकारी नियुक्त करने जैसे आत्यन्तिक महत्व के प्रश्न पर श्रमणवर्ग एवं संघ में मतवैभिन्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती वहाँ पर आचार्य किस प्रकार अपने श्रमण समूह और संघ का पूर्णतः परितोष और समाधान करते थे, इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण श्वेताम्बर परम्परा के वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

घटना वीर नि० सं० ५६७ की है। अनुयोगों के पुथककर्त्ता महान आचार्य रक्षित अपने अनेक शिष्यों के साथ दशपुर नगर के बाहर अपने दीक्षास्थल इक्षुगृह में ठहरे हुए थे। चातुर्मासावाधि में अपनी आयु का अन्तिम समय समीप समझ कर अपने शिष्य-समूह एवं संघ के समक्ष अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। आर्य रक्षित अपने अनेक सुयोग्य शिष्यों में से केवल दुर्बलिका पुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के लिये योग्य समझते थे पर उनके शिष्य समूह में से कतिपय मुनि और संघ के कुछ प्रमुख व्यक्ति फल्गुरक्षित को तथा कुछ मुनि और संघ के प्रमुख व्यक्ति गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाये जाने के पक्ष में थे। उत्तराधिकारी की नियुक्ति के प्रश्न पर अपने शिष्यसमूह और संघ में मतभेद देखकर भी आर्य रक्षित संघहित को सर्वोपरि समझ अपने महान् पावन उत्तरदायित्व के निर्वहन में कृतसंकल्प रहे। प्रश्न वस्तुतः बड़ा जटिल था। आर्य फल्गुरक्षित बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् श्रमण और आचार्य रक्षित के छोटे सहोदर थे। उन्होंने किशोरावस्था में अपने ज्येष्ठ भ्राता रक्षित के केवल एक इंगित मात्र पर श्रामण्य अंगीकार कर संसार के समक्ष महान् त्याग और भ्रातृस्नेह का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया था। बहुमत फल्गुरक्षित के पक्ष में था। गोष्ठामाहिल भी बड़े तार्किक और विद्वान् मुनि थे। उत्तराधिकार के इस प्रश्न के उपस्थित होने से कुछ समय पूर्व ही संघ की प्रार्थना पर उन्होंने आर्य रक्षित का आदेश पा मथुरा में दुर्दान्त अक्रिया-वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर धर्म की महती प्रभावना करने के साथ साथ बड़ा यश अर्जित किया। अतः गोष्ठामाहिल का पक्ष भी पर्याप्त रूपेण सवल था। परन्तु आचार्य रक्षित अपने सहोदर फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल की अपेक्षा दुर्बलिकापुष्यमित्र को आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की दशा में संघ का सर्वतोमुखी विकास, हित और उज्ज्वल भविष्य देख रहे थे।

अपने सम्मुख उपस्थित समस्या का वे इस प्रकार का हल निकालना चाहते थे, जिससे संघ के भावी उत्कर्ष एवं उज्ज्वल भविष्य में किञ्चित्मात्र भी कोर-कसर न रहे और सभी पक्षों का पूर्ण संतोषप्रद समाधान हो जाय। आचार्य रक्षित ने बड़ी ही सूक्ष्म-बुद्धि से काम किया। उन्होंने उपस्थित शिष्य समूह और

संघ-मुख्यों को सम्बोधित करते हुए पूछा—“यदि हम लोगों के सामने तीन घड़े रहे जायें जो क्रमशः उड़द, तेल और घृत से भरे हों। उन तीनों को क्रमशः पृथक्-पृथक् तीन रिक्त घड़ों में उंडेल दिये जाने पर उनमें उड़द, तेल और घृत कितनी-कितनी मात्रा में अवशिष्ट रहेंगे ?”

सभी ने एक स्वर में उत्तर दिया — उड़द के घड़े में एक भी दाना अवशिष्ट न रहेगा। तेल के घड़े में कुछ तेल और घी के घड़े में तेल की अपेक्षा अधिक मात्रा में घृत अवशिष्ट रह जायगा।

आचार्य रक्षित ने निर्णायक स्वर में कहा — “उड़द के घड़े की तरह मैं अपना समस्त ज्ञान (द्वादशांगी एवं संघ संचालन का ज्ञान) दुर्बलिका पुष्यमित्र में उंडेल चुका हूँ। मेरे शेष सब शिष्यों की स्थिति घृत-घट और तेल-घट तुल्य है। जिस प्रकार तेलपूर्ण एवं घृतपूर्ण घड़े को एक बार अन्य घड़े में उंडेल दिये जाने के अनन्तर भी न्यूनाधिक मात्रा में तेल और घृत अवशिष्ट रह ही जाता है, उसी प्रकार दुर्बलिका पुष्यमित्र को छोड़ कर शेष शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सके हैं।”

महान् धर्म प्रभावक एवं अनन्य उपकारी धर्माचार्य के संघहितैकनिष्ठ आन्तरिक उद्गारों को सुनते ही तत्क्षण समस्त संघ का सम्यकरूपेण समाधान हो गया, सभी मतभेद समाप्त हो गये, सभी पक्षों को पूर्ण संतोष हुआ और तत्काल श्रमण समूह और समस्त संघ ने सर्व सम्मति से दुर्बलिका पुष्यमित्र को धर्म रक्षित के उत्तराधिकारी आचार्य के रूप में स्वीकार किया। भविष्य ने भी सिद्ध कर दिया कि आचार्य रक्षित का निर्णय वस्तुतः बड़ा दूरदर्शिता पूर्ण, सर्वथा उपयुक्त, समीचीन एवं भगवान् महावीर के धर्मसंघ की भावी संकट से रक्षा करने वाला था। आचार्य रक्षित के स्वर्ग गमन के कुछ ही समय पश्चात् मुनि गोष्ठा माहिल जब उत्सूत्र प्ररूपक सातवां निह्लव बना और आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने धर्म रक्षित द्वारा प्रदत्त दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के बल पर गोष्ठा माहिल जैसे शास्त्रार्थ कुशल दुर्जेय तार्किक को समस्त संघ के समक्ष हतप्रभ कर प्रभु महावीर के सिद्धान्तों एवं संघ के प्रति जन-मानस में समादर की अभिवृद्धि की<sup>१</sup> तो धर्म संघ के प्रत्येक सदस्य के मुख से यही उद्गार निकले — “धर्म रक्षित वस्तुतः महान् भविष्य-द्रष्टा थे। उनका निर्णय अतीव अद्भुत, सर्वथा उपयुक्त और बड़ा दूरदर्शितापूर्ण था, जो उन्होंने सर्वतः सक्षम-समर्थ दुर्बलिका पुष्यमित्र को अपना उत्तराधिकारी बनाया। यदि हम लोगों को प्रसन्न रखने के लिये संघ-हित की उपेक्षा कर गोष्ठा माहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी घोषित कर देते तो प्रभु के विश्व कल्याणकारी धर्म संघ का कितना बड़ा ग्रहित होता। कोटि-कोटि प्रणाम हैं उन दिवंगत महान् दूरदर्शी आचार्य को।”

इस प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से यह भली-भांति प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने धर्म संघ के संचालन के लिये जो, संघ के अंकुश

<sup>१</sup> प्रस्तुत, ग्रन्थ, पृ० ५६८-६०२



सहित एकतन्त्रीय शासन प्रणाली निर्धारित की, उसमें इस प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं कि उन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करते रहने पर वह सदा निर्दोष और पूर्ण स्वस्थ परम्परा बनी रहे। उस व्यवस्था में संघ के संरक्षण, उत्कर्ष आदि के लिये पूर्णतः उत्तरदायी एवं सांकुश सर्व सत्ता सम्पन्न जो आचार्य पद रखा, उस पद पर नियुक्ति का आधार निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन रखा गया। संघ संचालन की इस प्रकार की एकतन्त्री प्रणाली में कभी किसी प्रकार का दोष आने की संभावना तक न रहे, इस उद्देश्य से उसी श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत अथवा अधिष्ठित करने का कड़ा विधान किया गया, जिसमें निम्न-लिखित योग्यताएँ हों :-

जो स्वयं पूर्ण आचारवान्, दूसरों से विशुद्ध आचार का परिपालन करवाने वाला, संघ में पूर्ण अनुशासन रखने की क्षमता वाला, श्रमण समूह को तलस्पर्शी तत्त्वज्ञान एवं आगम वाचना देने में सक्षय, साधक वर्ग को आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर करते रहने की असाधारण योग्यता वाला, जन्मजात मेधावी, सर्वातिशायी अोज-तेज-प्रतिभा-प्रभावसम्पन्न व्यक्तित्व का धनी, धीर-वीर-गम्भीर, संस्कार सम्पन्न, पुण्यात्मा, आत्मजयी, निष्कलंक जाति-कुल-स्वभावसम्पन्न एवं निश्चल प्रकृति का हो।

जैसा कि आर्य प्रभव एवं आर्य रक्षित के उपरिलिखित उल्लेखों से स्पष्ट है वीर निर्वाण के पश्चात् समय-समय पर आचार्यों ने और चतुर्विध संघ ने किसी भी श्रमण को आचार्य पद पर अधिष्ठित अथवा मनोनीत करते समय अपने गुरुतर उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए उपरिलिखित योग्यताओं से सम्पन्न सर्वाधिक योग्य श्रमण को ही आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। मतवैभिन्य की स्थिति में अथवा अन्य आत्यन्तिक महत्व के अवसरों पर आत्मार्षी आचार्यों ने समस्त संघ का विश्वास संपादन कर अन्तिम निर्णय वही दिया, जो उन्हें संघ एवं समष्टि के लिये हितकर प्रतीत हुआ। जैसा कि फल्गुरक्षित को उत्तराधिकारी घोषित किये जाने के प्रश्न से प्रकट है, उन्हें उनके पुनीत कर्त्तव्य के पावन उत्तरदायित्व से न लघुसहोदर का सम्बन्ध विचलित कर सका और न अन्य निकट से निकटतम सम्बन्ध ही। उन निर्लेप-निष्पक्ष महामना महान् आचार्यों के सुयोग्य नेतृत्व, दूरदर्शितापूर्ण समुचित निर्णयों, उद्दात्त चारित्र्य और सही मार्गदर्शन का ही प्रतिफल है कि धर्मसंघ की सांकुश एकतंत्र शासन प्रणाली में विनाशकारी दोष प्रवेश न पा सके और आज सहस्राब्दियों बीत जाने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसंघ एक प्रतिष्ठित धर्मसंघ के रूप में अक्षुण्ण और अजस्र धारा के प्रवाह की तरह चला आ रहा है।

जब तक आचार्यों ने संघ के प्रति उत्तरदायी रहते हुए संघहित के अपने महान् उत्तरदायित्व का सच्चाई के साथ निष्पक्ष और निर्लेप रह कर निर्वहन किया तब तक संघ अभिवृद्ध एवं समुन्नत होकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहा।

कालान्तर में ज्यों-ज्यों काल-प्रभाव से आचार्यों के अपने पवित्र उत्तर-दायित्वों का न्याय एवं सच्चाई पूर्वक निर्वहन करने में शैथिल्य आने लगा, पुनीत कर्तव्य की भावना शून्यः शून्यः विलुप्त होने लगी, धर्म संघ के हितार्थ दिये गये अधिकारों का उपयोग केवल अपनी महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने मात्र के लिये किया जाने लगा, त्यों-त्यों अनुशासन शिथिल तथा धर्म संघ विकीर्ण एवं क्षीण होता गया। पर सौभाग्य से समय-समय पर अनेक महान् विभूतियां उन दुर्दिनों में उभर कर आगे आईं। उन्होंने घोरतिघोर कष्ट सह कर भी अनेक बार क्रियोद्धार किये। उन महान् आत्माओं के त्याग का ही फल है कि अनेक परिवर्तनों के उपरान्त भी आज भगवान् महावीर का धर्म संघ अपने मूल स्वरूप को अपरिवर्तित एवं अक्षुण्ण बनाये हुए है।

उत्तरवर्ती काल में श्रमण संघ के चतुर्दिक प्रसार, सुदूरस्थ प्रदेशों में धर्म-प्रचार की दृष्टि से गये हुए श्रमणों द्वारा उन क्षेत्रों में धर्मोद्योग की प्रचुर संभावनाओं के कारण वहीं विहार करते रहने के कारण अथवा कालान्तर में छोटी-बड़ी कतिपय मान्यताओं का भेद उत्पन्न हो जाने व समय प्रभाव से अपना पृथक्त्व एक गण के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की भावना के बलवती बन जाने के फलस्वरूप श्रमण संघ में क्रमशः अनेक संघ, गण, गच्छ, शाखा, उप-शाखा, कुल तथा उपकुल आदि का अस्तित्व बढ़ने लगा और मुख्यतः वे विभिन्न संघ, गण, गच्छ आदि अपने अपने स्वतन्त्र आचार्यों के नेतृत्व में धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस प्रकार भगवान् महावीर के धर्म संघ में अनेक संघों, गणों तथा गच्छों के प्रादुर्भाव के कारण एक ही समय में अनेक आचार्यों की प्रथा का प्रचलन तो हुआ पर उन सभी धर्म संघों, गणों अथवा गच्छों के संचालन की परम्परागत सांकुश एकतन्त्री शासन-प्रणाली यथावत् रही। उत्तरोत्तर अंकुश में शैथिल्य के अतिरिक्त उसके मूल स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं आया। आज भी जैन धर्म के सभी श्रमण संघों एवं सम्प्रदायों की संचालन व्यवस्था अपने उसी पुरातन स्वरूप सांकुश एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली को लिये हुए है।

**निर्वाणोत्तर काल में संघ व्यवस्था का स्वरूप :-** यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर का धर्म-संघ भारत के विभिन्न धर्म संघों में सदा से प्रमुख, सुविशाल तथा बहुजन सम्मत रहा है। जैन वाङ्मय में निर्वाण-पूर्ववर्ती एवं निर्वाणोत्तरकाल के अनेक ऐसे अन्य धर्मसंघों का उल्लेख उपलब्ध होता है जो विशाल भी थे और बहुजन सम्मत भी। पर आज उन धर्म संघों में से एक दो को छोड़कर शेष का नाम के अतिरिक्त कोई अवशेष तक भी अवशिष्ट नहीं रहा है। इसके विपरीत भगवान् महावीर का धर्म संघ जिस प्रकार प्रभु महावीर के निर्वाण से पूर्व एक विशाल, बहुजन सम्मत एवं सुप्रतिष्ठित धर्म संघ के रूप में समीचीन रूप से चलता रहा, उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल में भी चलता रहा। निर्वाणोत्तर काल के १००० वर्ष के इतिहास का विहंगमावलोकन करने पर तो यह विश्वास करने के लिये अनेक

प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि जैन धर्म सुदूरवर्ती प्रदेशों तथा देशों में फैला, फला-फूला और एक लम्बे समय तक उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहा। जहाँ अन्य अनेक बड़े-बड़े धर्म-संघ विषम परिस्थितियों में विभ्रंखल एवं संक्रान्ति-काल की चपेट से चकनाचूर हो धरातल से तिरोहित हो गये, वहाँ जैन-धर्म प्रभु महावीर द्वारा दी गई अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, अब्रह्मनिवृत्ति और अपरिग्रह रूपी अमर, अनमोल, महान् सिद्धान्तों की धरोहर को सुरक्षित रखे हुए आज भी अनवरुद्ध गति से एक अजल धारामयी सौख्य-सरिता के समान चल रहा है। काल प्रभाव से यह धारा पूर्वापेक्षया परिक्षीण तो अवश्य हुई है पर उसके शिवसौख्य प्रदायी मूल गुण में किसी प्रकार की किञ्चित्मात्र भी न्यूनता नहीं आ पाई है।

आजीवक प्रभृति अनेक विशाल धर्म-संघ विलुप्ति की घोर अन्धकारपूर्ण गुफा में विलीन होगये। आज उन धर्म संघों का अनुयायी तो दूर, चिन्ह तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन धर्म पर भी अनेक बार विपत्ति के बादल मंडराये, द्वादशवार्षिकी दुष्कालियों, राजनयिक उथल-पुथल, वर्ग विद्वेष, धर्माधता-जन्य गृह कलह आदि संक्रान्तिकाल के अनेक दौर आये और चले गये। अनेक धर्म संघों का सर्वनाश करने वाले वे विप्लव भी जैन धर्म को समाप्त नहीं कर सके। अतीत की उन अति-विकट संकटापन्न घड़ियों में भी जैन धर्म किन कारणों से अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हुआ? इस प्रश्न की गहराई में उतरने और खोज करने पर इसके कतिपय प्रबल कारण उभर कर सामने आते हैं। सबसे पहला और प्रबल कारण तो यह था कि सर्वज्ञ प्रणीत धर्म होने के फलस्वरूप इस धर्म संघ का संविधान सभी दृष्टियों से सुगठित और सर्वांग-पूर्ण था। अनुशासन, संगठन की स्थिरता, सुव्यवस्था, कुशलता पूर्वक संघ के संचालन की विधा आदि संघ के उस संविधान की अपनी अप्रतिम विशेषताएं थीं। दूसरा मुख्य कारण था इस धर्म संघ का विश्वबन्धुत्व का महान् सिद्धान्त, जिसमें प्राणिमात्र के कल्याण की सच्ची भावना सन्निहित थी। इन सब से बढ़ कर इस धर्म संघ की घोरतिघोर संकटों में भी रक्षा करने वाला था इस धर्मसंघ के कर्णधार महान् आचार्यों का त्याग-तपोपूत अपरिमेय आत्मबल। इस प्रकार ये ३ प्रमुख कारण थे, जिनके बल पर सघन काली मेघ घटाओं के विच्छिन्न हो जाने पर जिस प्रकार सूर्य पुनः अपनी प्रखर किरणों के प्रचण्ड तेज से जगती-तल को प्रकाशित करने लगता है, ठीक उसी प्रकार जैन धर्म-संघ भी समय-समय पर आये संकटों से उभर कर अपने अलौकिक ज्ञानालोक से जन-जन के मन-मन्दिर और मुक्ति पथ को प्रकाशित करता रहा।

जैन वाङ्मय के कतिपय अति प्राचीन प्रामाणिक उल्लेखों और पुरातन काल से चली आ रही पारम्परिक मान्यता के आधार पर यह अनुमान करने के अनेक कारण विद्यमान हैं कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु के समय तक जैन धर्म-संघ का एक सर्वांगपूर्ण एवं अतिविशाल संविधान विद्यमान था। उस संविधान में संभवतः पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वी, अणुव्रतधारी श्रावक-श्राविका

वर्ग के लिये ही नहीं अपितु संघ के प्रति निष्ठा-प्रेम रखने वाले साधारण से साधारण सदस्य के कर्तव्यों एवं कार्यकलापों के लिये मार्ग दर्शक विधिविधान था। उसमें निर्दिष्ट विधि के अनुसार इस धर्म-संघ का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करता था।

वीर नि० सं० १६० के आस-पास पाटलिपुत्र में हुई प्रथम प्रागम-वाचना के समय दृष्टिवाद की रक्षार्थ संघ द्वारा साधुओं के एक संचाटक को भद्रबाहु की सेवा में नेपाल भेज कर उन्हें मेघावी साधुओं को चौदह पूर्वों की वाचना देने की प्रार्थना करना, भद्रबाहु द्वारा प्रथमतः संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा बारह प्रकार के संभोगविच्छेद की संघाज्ञा के समक्ष झुक कर स्थूल भद्र अदि को पूर्वज्ञान की वाचना देने के उल्लेख<sup>१</sup> से भी यह अनुमान किया जाता है कि पूर्वकाल में जैन संघ का एक सर्वांग सम्पन्न संविधान था, जिसमें श्रमण संघ की ही तरह साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इन चारों वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक जैन संघ के कर्तव्यों एवं दायित्वों के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं विशद प्रावधान थे। चतुर्विध तीर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाला इस प्रकार का संघ विशिष्ट प्रकार के संकट के समय विचार-विमर्श के पश्चात् किसी विकट समस्या के समाधान के लिये निर्णय लेता था। यदि इस प्रकार की व्यवस्था संविधान में नहीं होती, तो न तो संघ ही एक आचार्य को इस रूप में आज्ञा देने का अधिकारी हो सकता था और न आचार्य भद्रबाहु ही उस संघाज्ञा को मानने के लिये बाध्य होते। वह संघाज्ञा केवल श्रमणवर्ग की ही हो, यह भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि भद्रबाहु आचार्य होने के नाते समस्त श्रमण वर्ग के शास्ता थे और श्रमण समूह उनका शासित वर्ग। शासित वर्ग शास्ता को आज्ञा दे, यह कृत्तिसंगत नहीं लगता। विद्वान् इतिहासज्ञ इस विषय में गवेषणा करेंगे ऐसी अपेक्षा है।

पहली प्रागम-वाचना के समय के उपरिवर्णित उल्लेख के अतिरिक्त आर्य वज्र की माता द्वारा अपने पुत्र वज्र को पुनः उसे लौटाने के लिये राज्य के न्यायालय में की गई प्रार्थना, आर्य रक्षित का उत्तराधिकारी घोषित करने विषयक उल्लेख जैसे अनेक प्रसंगों पर संघमुख्यों के हस्तक्षेप, विचार विनिमय, सहयोग आदि के उदाहरण भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। इनसे यही प्रकट होता है कि संघमुख्यों के भी परम्परा से कुछ कर्तव्य, कतिपय दायित्व रहे हैं और उनका उल्लेख कहीं न कहीं था, जिसे आज की, भाषा में संविधान की संज्ञा दी जा सकती है।

श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु ने दृष्टिवाद के नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से, श्रमण संघ के लिये आवश्यक विधि विधानों को नियूढ-उद्धृत कर, चुन चुन कर दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प, व्यवहार इन तीन छेद सूत्रों तथा आचार-कल्प (निश्चीय)

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३७७

इन आगमों का निर्माण किया<sup>१</sup> - यही एक सर्वसम्मत ऐतिहासिक घटना इस बात का विश्वास करने के लिये पर्याप्त एवं प्रबल प्रमाण है कि भगवान् महावीर के धर्म-संघ का प्राचीन काल में एक विशाल एवं अपने आप में सर्वतः परिपूर्ण संविधान था ।

इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण समीचीन व्यवस्था के कारण भगवान् महावीर का धर्म-संघ तत्कालीन क्रमागत आचार्यों के नेतृत्व में सुसंगठित रूप से चलता रहा । समय समय पर अनेक प्रतिकूल परिस्थितियां आईं, आपत्कालीन स्थितियां भी उत्पन्न हुईं, इस धर्म-संघ पर अनेक वार विपत्तियों के घने काले बादल भी मंडराए पर दूरदर्शी अग्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न, तपोधन आचार्यों के कुशल नेतृत्व में यह धर्म-संघ सुसंगठित रहने के कारण उन परीक्षा की घड़ियों में सदा उत्तीर्ण हुआ । उसने अपने अस्तित्व को ही नहीं अपितु अपनी प्रतिष्ठा को भी बनाये रखा ।

इस धर्मसंघ की वह सर्वांगपूर्ण एवं छिद्रविहीन सुव्यवस्था किस प्रकार की थी ? इस धर्मसंघ का संविधान क्रमबद्ध एवं पृथक् रूप से एकत्र ग्रथित था अथवा आज जिस प्रकार विविध छेद सूत्रों, भाष्यों एवं महाभाष्यों आदि में विकीर्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार विभिन्न आगमों में निहित था ? आज आगम साहित्य में मुख्यतः केवल श्रमण-श्रमणीवर्ग की दैनिकचर्या, दीक्षित होने के समय से लेकर प्राणोत्सर्ग-कालपर्यन्त श्रमण-श्रमणियों के सभी उत्तर-दायित्वों, आवश्यक कर्त्तव्यों आचार-विचार, आहार-विहार-प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में विधान उपलब्ध होता है । श्रावकवर्ग के आचार-विचार के सम्बन्ध में तो कुछ स्थलों पर प्रत्यक्ष और कतिपय स्थलों पर अप्रत्यक्ष-रूप में थोड़ा बहुत उल्लेख विद्यमान है किन्तु धर्मसंघ के प्रति उनके दायित्वों, धर्मसंघ के अभ्युत्थान हेतु उनके कर्त्तव्यों आदि का क्रमिक एवं विस्तृत उल्लेख कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । तो वस्तुतः श्रावक श्राविका वर्ग के लिये भी इस धर्मसंघ के पूर्वकालवर्ती संविधान में विधिविधान, किसी प्रकार का निती-निर्देश था अथवा नहीं ? साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-श्राविकावर्ग के बीच का भी कोई वर्ग था अथवा नहीं ? यदि था तो उसका स्वरूप क्या था और उस वर्ग के दायित्व क्या क्या थे ? इन सब आत्यन्तिक महत्व के प्रश्नों के यत्किञ्चित् उत्तर तो आज हमें उपलब्ध जैन वाङ्मय में खोजने पर मिल जाते हैं पर उन्हें पूर्ण संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता । इस संबन्ध में गहन शोध के साथ-साथ शास्त्रीय आधार पर जैन संघ के संविधान के निर्माण की भी आवश्यकता है, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण और स्पष्ट हो ।

<sup>१</sup> (क) वन्दामि भद्वाहुं, पाईएणं चरिम सगलसुयनाणि ।

सुत्तस कारगमिणि, दसामुकप्पे य ववहारे ॥१॥ [दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति]

(ख) ततोच्चिय णिज्जूढं, अणुगहट्ठाए संपयजतीणं ।

तो सुत्तकारगो खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ॥१॥ [पंचकल्प महाभाष्य]

(ग) तेण भगवया आपार पकप्प-दसा-कप्प-ववहारा

य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूडा

[पंचकल्प जूणि, पत्र १]

छेद सूत्रों में निर्वाणोत्तर कालीन श्रमण संघ की व्यवस्था का विस्तृत रूप से विवरण उपलब्ध होता है। धर्म संघ का श्रमण-श्रमणीवर्ग सुदृढ संगठन एवं पूर्ण अनुशासन में रहते हुए सम्यग् रीति से जानाराधना तथा साधना का निरन्तर-उत्तरोत्तर विकास, धर्म का प्रचार-प्रसार-प्रभावना-अभ्युत्थान और निर्दोष रूप से अपने संयम एवं जीवन का निर्वाह कर सके, इस प्रकार धर्मसंघ की व्यवस्था सहज भाव से सम्यक् रूपेण चल सके, इस उद्देश्य से श्रमण संघ में निम्नलिखित पदों की व्यवस्था किये जाने के उल्लेख स्थानांग सूत्र की वृत्ति<sup>१</sup> एवं बृहत्कल्पसूत्र<sup>२</sup> में प्राप्त होते हैं :-

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर,  
५. गणी, ६. गणधर, ७. गणावच्छेदक

श्रमण समूह के समान श्रमणी समूह भी आचार्य का ही आज्ञानुवर्ती रहता था। पर श्रमणीवर्ग की दैनन्दिन-व्यवस्था समीचीनतया चलती रहे, श्रमणों तथा श्रमणियों का अवाञ्छनीय अतिसम्पर्क न हो और समलैंगिकता के कारण श्रमणियों की व्यवस्था भी श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियां सुविधापूर्वक कर सकें, इस दृष्टि से श्रमणीवृन्द के लिये प्रवर्तनी महत्तरा, स्थविरा और गणावच्छेदिका पदों की व्यवस्था निर्धारित की गई है। इन पदों पर अधिष्ठित किये जाने वाले महा श्रमणों की कायिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक सम्पदाओं, योग्यताओं, उत्तर-दायित्वों, पुनीत कर्तव्यों और उनके द्वारा वहन किये जाने वाले गुरुतर कार्यभार आदि का यहां भास्त्रीय एवं पुरातन आधार पर संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

**आचार्य :-** भगवान्-महावीर के धर्मसंघ में आचार्य (धर्माचार्य) का पद अप्रतिम गौरव-गरिभापूर्ण और सर्वोपरि माना जाता है। जैन धर्म संघ के संगठन, संचालन, संरक्षण, संवर्द्धन, अनुशासन एवं सर्वतोमुखी विकास-अभ्युत्थान का सामूहिक एवं मुख्य उत्तरदायित्व आचार्य पर रहता है। समस्त धर्म संघ में उनका आदेश अन्तिम निर्णय के रूप में सर्वमान्य होता है। यही कारण है कि जिनवाणी का यथातथ्य रूप से निरूपण करने वाले आचार्य को तीर्थंकर के समान और सकल संघ का नेत्र बताया गया है।<sup>३</sup>

आवश्यक चूर्णिकार ने 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा

<sup>१</sup> स्थानांग सूत्र, ४. ३., ३२३ (वृत्ति)

<sup>२</sup> बृहत्कल्प सूत्र, ४. १२३

<sup>३</sup> तिस्थपर समो सूरि, समं जो जिरणमयं पयासेई।

घाणं अहक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥

स एव भवसत्ताणं, अक्खुभूए विधाहिए।

दंसेई जो जिरुदिट्ठं, अणुट्ठाणं जहाहियं ॥

[गच्छाचार पयन्ना, अधि० १]

है :- “आङ् मर्यादाभिविध्योः चरिर्गन्त्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः” आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः ।”

आवश्यक मूल्य वृत्ति में भी ‘आचार्य’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है: “चर गति - भक्षणयोः आङ् पूर्व आचर्यते कार्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्यः, ऋधर्गं व्यञ्जनाच्चरिति ।”<sup>1</sup>

भगवती सूत्र की वृत्ति में ‘आचार्य’ शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इस पद की गरिमा पर निम्नलिखित रूप में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है :-

“आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः । उक्तं च -

सुत्तत्थविऊलक्खण- , जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य ।

गणतस्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥त्ति॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा । आ मर्यादया वाचारो विहार, आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणाप्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च-

अथवा आ ईषदपरिपूर्णा इत्यर्थश्चाराहैरिका ये ते आचाराश्चारकल्पा इत्यर्थः . युक्तायुक्तविभागनिरूपणानिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छा- स्नार्थोपदेशकतयेत्याचार्याः ।”<sup>2</sup>

सारांश यह है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयंगम कर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा जो विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों, उनको आचार्य कहते हैं । कहा भी है - जो सूत्र और अर्थ-उभय के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिये मेढि अर्थात् आधार स्तम्भ के समान हों, जो अपने गण-गच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ़ार्थ सहित वाचना देते हों, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

जो (आचार्य) पांच प्रकार के आचार अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार एवं वीर्याचार का स्वयं सम्यग् रूपेण पालन, प्रकाशन प्रसारण तथा उपदेश करते हैं और अपने अन्तेवासियों से भी उसी प्रकार का आचरण करवाते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है ।

राज प्रश्नीय सूत्र में आचार्य के तीन भेद बनाने के पश्चात् किस प्रकार के आचार्य के प्रति किस तरह का विनय व्यवहारदि प्रदर्शित करते हुए कर्तव्य-पालन करना चाहिए-इसका निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर उल्लेख किया है :-

“केसीकुमार समणे पदेसि रायं एवं वयासि - जाणासि णं तुम्हं पएसी केवइयारिया पणत्ता ? हंता-जाणामि तन्नो आयरिया । जाणासि णं तुम्हं

<sup>1</sup> आवश्यक मूल्यवृत्ति, द्वितीय ।

<sup>2</sup> भगवती सूत्र, १. १. १. मंगलाचरण (वृत्ति)

पएसी तेसि तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणय पडिबत्ती पउजियव्वा ? हुंता जाणामि कलायरियस्स, सिप्पायरियस्य उवलेवणं वा समज्जणं करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मंडावेज्जा वा भोयवेज्जा वा विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलाएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वावि विकप्पेज्जा । जत्थेव धम्मायारियं पासेज्जा तत्थेव वदिज्जा, एमसेज्जा, सक्कारेज्जा, सम्मारोज्जा, कत्ताणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, फासुएसणिज्जेण असरापाणाखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएणं पीठफलमसेज्जा संथारयेणं उवनिमंतिज्जा ।<sup>१</sup>

अर्थात् - केशि कुमार श्रमण के प्रश्न के उत्तर में राजा प्रदेशी ने कहा कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ये ३ प्रकार के आचार्य होते हैं। उनमें से कलाचार्य तथा शिल्पाचार्य ऋतुओं के अनुकूल उबटन, मज्जन, पुष्प, वस्त्रा-भूषणादि, भोजन और उनके जीवनयापन योग्य प्रीतिदान से सम्मानाहं होते हैं। उनके पुत्र पुत्रियों को भी इसी प्रकार सम्मानित किया जाना चाहिए। इन दोनों प्रकार के आचार्यों की तुलना में धर्माचार्य अत्यधिक सम्मानाहं होते हैं। जहां कहीं धर्माचार्य के दर्शन हो जायं वहीं उनको भक्ति भाव से वंदन-नमस्कार करना चाहिए, उनका हादिक सत्कार कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। हे भगवन् ! आप महान् कल्याणकारी, सर्व मंगल स्वरूप-मंगल-प्रदायी और पूजनीय हैं - इस प्रकार के भक्ति पूर्ण आन्तरिक उद्गारों के साथ मधुर शब्दों से उनकी उपासना के पश्चात् उन्हें निर्दोष सात्विक भ्रशनपानादि का दान देकर तहता (पीठ फलक) संस्तारक आदि आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये निवेदन करना चाहिए।

सार रूप में 'आचार्य' शब्द के अर्थ का प्रतिपादन निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार किया गया है :-

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।  
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते ॥

अर्थात् - जो श्रमणाग्रणी सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों के अर्थ का आचयन - मननपूर्वक संचयन ग्रथवा संग्रहण करते हैं, स्वयं विशुद्ध - निरतिचार आचार का सम्यक् रूपेण परिपालन करते हैं एवं अपने शिष्य-शिष्याओं तथा भव्य भक्तों को आचार में स्थापित करते हैं, इसी लिये उनको आचार्य कहा जाता है।

महानिशीय, (अध्ययन ३) में आचार्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :-

“अट्टारस सीलंग-सहसाहिठियं तरू छत्तीसइविहिमायारं जह-ठियमगिलाए महत्ति सागुसमयं आयरंतिंति वत्तयंतिंति आयरिया परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया सव्वसत्तसीसगणाणं च हियमायरंति आयरिया । पाणपरिच्चाए विउ

<sup>१</sup> राजप्रश्नीय सूत्र



पुढवादिणं समारंभं नायरंति नारभंति एणणुजाणन्ति आयरिया सुहुमावरद्धेवि ए कस्सई भणसावि पावमायरंति वा आयरिया ।”<sup>१</sup>

फिर वहीं पर आचार्य के चार भेदों के निरूपण के साथ भावाचार्य को तीर्थकर के समान समझने का निर्देश किया गया है। यथा—

“कस्याज्ञा नातिक्रमणीयेत्यधिकृत्य गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवंति, नंजहा -- नामायरिया, ठवसायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थणं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दठुव्वा तेसि संतियाणं एणइक्कमेज्जा ।”<sup>२</sup>

अंगचूलिका में आचार्य के तीन भेद बताने के पश्चात् धर्माचार्यों को उनके गुण कर्मनुसार चार वर्गों में विभाजित किया गया है।

“तमो आयरिया पणत्ता । सिप्पायरिया, कलायरिया, धम्मायरिया । जे ते धम्मायरिया, परलोगहियट्टाए निज्जरट्टाए आराहेयव्वा । अणो कलायरिया, सिप्पायरियाए कडएहि कित्तवुद्धिए आराहियव्वे ।

तत्थेगे धम्मायरिया सोवायकरंडसमा । बद्धाइकथत्थप्पयगाहाइहि जे सुद्धसभाए वस्साणिति ते सोवायकरंडसमा । वेसाकरंडसमा जो रीरो आहारण-सरिसजीहावक्खाणडंबरेणं अंतरं सुअसार-विरहियावि सुद्ध सभाए जणं विमोहि-ति गोरविति, अण्णाणं धुत्तिसि आलुच्च अणत्थे पाडिति गोयम ! गणहराणं उवमाए ते वेसाकरंडसमा । गाहावईकरंडसमा जे अमं समुवसिय-सुगुरुहितो संपत्त अंगोवंगाइ सुत्तत्थेसु परिच्छियच्छेयगंथा स-सभय-पर-समयणिच्छया परोवयार करणिक्कभल्लिच्छया । जणजोग विहीए अणुअणो करिति ते गाहावईकरंडसमा । रायकरंडसमा—जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसयं, पडाओ पडसयं इच्चाइं विहाइं सयसमणिया ते रायकरंडसमा ।

गाहावई करंडसमाणे, रायकरंडसमाणे दो विए आयरिए तित्थयर समाणे ।”<sup>३</sup>

दिगम्बर परम्परा के रूपातनामा विद्वान् आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के आदिमंगल पंचपरमेष्ठि-मंत्र के तीसरे पद की व्याख्या करते हुए ‘धवला’ में आचार्य शब्द की परिभाषा निम्नलिखित रूप में की है :—

“एणो आयरियाणं - पंचविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः चतुर्दश-विद्यास्थानपारगः एकादशांगधरः आचारांगधरो वा तात्कालिकस्वसमयपर-ममयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिः क्षिप्तमलः मत्तभयविप्रमुक्तः—आचार्यः ।”

आचार्य शब्द की उपर्युक्त परिभाषा देने के पश्चात् आचार्य वीरसेन ने आचार्य के स्वरूप और उसके लिये आवश्यक अनुपम गुणों पर विशद प्रकाश डालने वाली निम्नलिखित तीन गाथाएं उद्धृत की हैं :—

<sup>१</sup> महानिशीथ, अ० ३      <sup>२</sup> महानिशीथ, अ० १      <sup>३</sup> अंग चूलिका

पवप्रणजलहि-जलोपर, पहायामल-बुद्धि-मुद्र-आवामो ।  
 मेरुव्व . णिप्पकंपो, सूरु पंचागुणो वज्जो ॥२६॥  
 देस-कुल - जाइ-सुद्धो, सोमंगो संग-भंग विम्मक्को ।  
 गयणव्व णिरुव्वेवो, आइरियो एरिसो होई ॥२०॥  
 संगह-गुग्गह-कुसलो, सुत्तथ-विसारओ पहिय-कित्ती ।  
 सारण-चारण-सोहरण, किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥२१॥

**आचार्यों का गुरुतम उपकार :-** प्रस्तुत खण्ड में जिन आचार्यों का पावन इतिवृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है, उनका संसार के प्राणिमात्र पर इतना गुरुतम उपकार है कि उनके द्वारा किये गये महान् उपकार के प्रति आभार प्रकट करने में न लाखों लेखनियां ही सक्षम हैं और न सहस्रों जिह्वाएं एवं संसार के समस्त शब्दकोश ही ।

आज से लगभग २५३० वर्ष पूर्व निखिल विश्वैकवन्धु श्रमण भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण संसार के जड़, चेतन, रूपी-अरूपी, चर-अचर जीवाजीवादि त्रैकाल्यवर्ती समस्त भावों का हस्तामलक के समान सकल एवं युगपद् साक्षात्कार कराने वाले केवलालोक की उपलब्धि के पश्चात् संसार-सागर के सेतु रूप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया । लगभग ३० वर्ष तक प्रभु अपने अमोघ उपदेशामृत से प्राणिमात्र का कल्याण और भव्यों का उद्धार करते रहे ।

प्रभु के निर्वाण पश्चात् की क्रमबद्ध आचार्य परम्परा में हुए त्यागी तपस्वी आचार्यों ने भगवान् महावीर की दिव्य-ज्ञान की ज्योति को अपने अपने आचार्य-काल में अनवरत अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन-प्रख्यापन एवं गहन चिन्तन-मनन के स्नेह से सिंचित कर अक्षुण्ण-अखण्डित बनाये रखा । इसी कारण निर्युक्ति-कार महान् नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु ने उन आचार्यों को निम्नलिखित शब्दों में उस दीपक की उपमा दी है, जो स्वयं प्रकाशित होते हुए औरों को भी प्रकाशित करता है और जिससे अन्य सैकड़ों-सहस्रों दीप प्रदीप्त किये जा सकते हैं :-

जह दीवादीवसयं पईप्पए, सो य दीप्पए दीवो ।

दीव समा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥<sup>१</sup>

वीर निर्वाण के पश्चात् हुए इन परम परोपकारी आचार्यों ने भगवान् महावीर की सकल-भूत-हितानुकम्पामयी वाणी को न केवल अक्षुण्ण बनाये रखा अपितु अपने अपने समय में उसे नगर-नगर डगर-डगर में जन-जन तक पहुँचा कर अगणित लोगों को सम्यक्त्व प्रदान कर प्राणिमात्र पर कितना बड़ा उपकार किया है, इसका अनुमान आचार्य हरिभद्र के निम्नलिखित पदों से लगाया जा सकता है :-

सयलमवि जीव लोए, तेण इह घोसिओ अमाथाओ । -

इक्क वि जो दुहत्तं, सत्तं वोहेइ जिण वयसो ॥६२॥

<sup>१</sup> आचारांग निर्युक्ति, गाथा ८

सम्मत्त दायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुण्णु ।  
सव्वगुण मिलियाहिं त्ति, उवयारसहस्सकोडोहिं ॥६३॥

अर्थात्—जो सत्पुरुष, दुखार्त किसी एक भी जीव को प्रतिबोधित कर बीतराग वाणी में उसकी श्रद्धा उत्पन्न करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि उस सत्पुरुष ने सम्पूर्ण जीव लोक में अमारि (अभय) की घोषणा करवा दी । क्योंकि वह सम्यक्त्वधारी जीव पूर्ण अहिंसक बनकर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाला होता है ।

सम्यक्त्व प्रदान करने वाले सत्पुरुष के इस महान् उपकार से वह जीव अनेक जन्मों तक करोड़ों प्रकार के उपकार कर के भी उद्धार नहीं हो सकता ।

दंसणभट्ठो भट्ठो न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो ।  
दंसणमणुपत्तस्स हु, परियडरणं नत्थि संसारे ॥  
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसण भट्ठस्स नत्थि णिब्बाणं ।  
सिज्झंति चरण रहिआ, दंसण रहिआ न सिज्झंति ॥

इन आचार्यों ने प्रवचन को सुरक्षित रक्खा । प्रवचन के अभ्यास से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है :-

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठुमलं तिमूढ उम्मुक्कं ।  
सम्मदंणमणुवममुप्पज्जइ पवयणाब्भासा ॥

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में आचार्य की विशेषताओं का विस्तार में वर्णन किया गया है । वहाँ आचार्य की आठ सम्पदायें बतलाई गई हैं, जो निम्नांकित हैं ।<sup>१</sup>

- |                 |                 |                      |
|-----------------|-----------------|----------------------|
| १. आचार-सम्पदा  | ४. वचन-सम्पदा   | ७. प्रयोग-सम्पदा तथा |
| २. श्रुत-सम्पदा | ५. वाचना-सम्पदा | ८. संग्रह-सम्पदा     |
| ३. शरीर-सम्पदा  | ६. मति-सम्पदा   |                      |

### आचार-सम्पदा

आचार-प्रवणता आचार्य का मुख्य गुण है । आचार्य शब्द भी प्रायः इसी आधार पर निष्पन्न हुआ है । आचार-सम्पदा में इसी आचार पक्ष का विश्लेषण है, जिसके चार भेद कहे गये हैं :-

१. संयम ध्रुवयोग युक्तता — संयम के साथ आत्मा का ध्रुव या अविचल सम्बन्ध संयम-ध्रुवयोग कहा जाता है । आचार्य संयम ध्रुवयोगी होते हैं । वे अपनी संयम-साधना में सदा अडिग रहते हैं ।

२. असंप्रगृहीतात्मता — जिसे जाति, पद, तप, वेदुष्य आदि का मद या अहंकार होता है, उसे संप्रगृहीतात्मता कहा जाता है । आचार्य निरहंकार होते हैं जो गरिमायें उन्हें प्राप्त हैं, उनका जरा भी मद उन्हें नहीं होता । फलतः वे क्रोध, मानसिक

<sup>१</sup> दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्यायन ४, सूत्र २

उत्पाप आदि से मुक्त होते हैं। अतः वे असंप्रगृहीतात्मा कहे जाते हैं। अर्थात् उनकी आत्मा अहंकार, मद एवं क्रोध आदि से जकड़ी नहीं रहती।

३. अनियतवृत्तिता - जिनका आहार, विहार नियत या प्रतिबद्ध होता है, उनसे विशुद्ध आचारमय जीवन भली भाँति सध नहीं पाता। अनेक प्रकार की प्रीतिशिकता का जुड़ना वहाँ सम्भावित होता है, जो निर्दोष संयम-पालन में बाधक है। अतः आचार्य अनियत - वृत्ति होते हैं। शास्त्रीय आचार-परम्परा के अनुरूप उनका आचार अप्रतिबद्ध होता है।

४. वृद्धशीलता - युवा और चिरदीक्षित न होने पर भी आचार्य में बयोवृद्ध और दीक्षा-मर्यादा में ज्येष्ठ श्रमणों जैसा शील, संयम, नियम, चारित्र्य आदि पालने की विशेषता होती है। अतः वे वृद्धशील कहे जाते हैं।

वृद्धशील का आशय यों भो हो सकता है - आचार्य वृद्ध या रोग आदि के कारण जो वृद्ध की तरह अशक्त हो गये हैं, उन श्रमणों की सेवा या सुव्यवस्था में सदा जागरूक रहते हैं।

### श्रुत-सम्पदा

श्रुत-सम्पदा का भी चार प्रकार से विवेचन किया गया है<sup>१</sup> :-

- |                   |                      |
|-------------------|----------------------|
| १. बहुश्रुतता     | ३. विचित्र-श्रुतता   |
| २. परिचित-श्रुतता | ४. घोषविशुद्धिकारिता |

१. बहुश्रुतता - आचार्य बहुश्रुत होते हैं। वे अपने समय में उपलब्ध आगम सम्यक्तया जानते हैं। अपने समय-सिद्धान्त या शास्त्रों के अतिरिक्त परसमय अन्य शास्त्रों के भी वेत्ता होते हैं। यों उनका श्रुत-शास्त्रीय ज्ञान बहुत विस्तीर्ण और व्यापक होता है।

२. परिचित श्रुतता - आचार्य आगमों के रहस्यवित्-मर्मज्ञ होते हैं। वे सूत्र और अर्थ - दोनों को भली-भाँति आत्मसात् किये हुए होते हैं। उनमें क्रम से - आदि से अन्त तक और उत्क्रम से - अन्त से आदि तक धारा-प्रवाह रूप में सूत्र-वाचन की क्षमता होती है। संक्षेप में आशय यह है कि आगमों का उन्हें चिर-परिचय, सूक्ष्म परिचय और सम्यक् परिचय होता है।

३. विचित्र-श्रुतता - आचार्य बहुश्रुत के साथ विचित्रश्रुत भी होते हैं। उनके द्वारा अधिभूत श्रुत अनेक विचित्रतायें या विभिन्नतायें लिए होता है। आचार्य को जीव, मोक्ष आदि सूक्ष्म विषयों का निरूपण करने वाले विविध आगमों का अन्तः-स्पर्शी ज्ञान होता है। वे उत्सर्ग, अपवाद आदि विभिन्न पक्षों को विशद रूप से जानते हैं। जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों का अंग-प्रत्यङ्ग उन्हें अभिगत होता है, उसी प्रकार अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का भी उन्हें तलस्पर्शी बोध होता है।

४. घोषविशुद्धिकारकता - घोष का अर्थ शब्द या ध्वनि है। अपने आप में

<sup>१</sup> दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ४

अलंकृत सत्य, प्रिय, हित, परिमित तथा प्रसंगानुरूप होना शब्द की सुषमा है। अनलंकृतता, असत्यता, अप्रियता, अहितता, अपरिमितता तथा अप्रासंगिकता शब्द के दोष हैं। इनके वर्ज से घोष या शब्द विशुद्ध कहा जाता है। आचार्य की यह सहज विशेषता होती है। वे सुन्दर, सत्य, प्रिय, हित, परिमित और प्रसंगानुरूप शब्द बोलते हैं। श्रुत-सम्पदा के अन्तर्गत यह उनका शब्द-सौष्ठव है।

### शरीर-सम्पदा

शरीर-सम्पदा या शारीरिक सुष्ठुता भी चार<sup>१</sup> प्रकार की मानी गई है।

- |                             |                            |
|-----------------------------|----------------------------|
| १. आरोग्य परिणाह सम्पन्नता, | ३. स्थिरसंहननता तथा        |
| २. अनवत्राप्यशरीरता,        | ४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता |

१. आरोग्य परिणाह सम्पन्नता — देह की समुचित लम्बाई और चौड़ाई को आरोग्य परिणाह कहा जाता है। अपने पुण्योदय के कारण आचार्य के देह की यह विशेषता होती है।

२. अनवत्राप्यशरीरता — अवत्राप्य का अर्थ लज्जायोग्य है। जो शरीर कुरूप, अंगहीन, धृणोत्पादक तथा उपहासजनक होता है, वह अवत्राप्यशरीर कहलाता है, जो हीन व्यक्तित्व का द्योतक है। आचार्य का शरीर इस प्रकार का नहीं होना चाहिये। यह सुरुप सांगोपांग, सुन्दर तथा आकर्षक होना चाहिये।

३. स्थिरसंहननता — आचार्य का दैहिक संहनन — शारीरिक गठन सुदृढ़ होना चाहिये। आचार्य पर जो संघ का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है, उसके निर्वाह के लिए सुदृढ़, स्थिर और सशक्त देह का होना भी आवश्यक है। ताकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का अनाकुल भाव से निर्वाह किया जा सके।

४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता — नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों का सर्वथा निर्दोष, अपने-अपने विषयों के ग्रहण में सक्षम होना बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता कहा जाता है। आचार्य में इसका होना अपेक्षित है। सर्वेन्द्रियपरिपूर्णता में जहाँ देह की प्रभावकता फलित होती है, वहाँ उससे व्यक्ति की गम्भीरता भी प्रकट होती है। आचार्य में ऐसा होना चाहिए।

### वचन-सम्पदा

वचन-सम्पदा चार<sup>२</sup> प्रकार की कही गई है :-

- |               |                    |
|---------------|--------------------|
| १. आदेयवचनता  | ३. अनिश्चित वचनता  |
| २. मधुर वचनता | ४. असन्दिग्ध वचनता |

१. आदेयवचनता — जो वचन ग्रहण करने योग्य होता है, वह आदेय वचन कहा जाता है। ग्रहण करने योग्य वही वचन होता है, जिसमें उपयोगिता तथा

<sup>१</sup> दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्यायन ४, सूत्र ५

<sup>२</sup> दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्यायन ४ सूत्र ६

श्रद्धेयता हो। आचार्य में आदेयवचनता की विशेषता होनी चाहिए, जिससे श्रोतागण उनके वचनों की ओर सहजतया आकृष्ट हों, लाभान्वित हों।

२. मधुरवचनता - हितकरता और उपादेयता के साथ यदि वचन में मधुरता भी हो तो वह सोने में सुगन्ध जैसी बात है। लौकिक जन सहज ही माधुर्य और प्रेयम् की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। यदि उत्तम वात भी अमधुर या कठोर वचन द्वारा प्रकट की जाए तो सुनने वाला उससे भिन्नकता है। महान् कवि और नीतिविद् भारवि ने इसीलिए कहा था -

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः

अर्थात् ऐसा वचन दुर्लभ है, जो हितकर होने के साथ साथ मनोहर भी हो। आचार्य में ऐसा होना सर्वथा वांछनीय है। इससे उनके आदेय वचनों की ग्राह्यता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

३. अनिश्रितवचनता - जो वचन राग, द्वेष या किसी पक्ष विशेष के आग्रह पर टिका होता है, वह निश्चित वचन कहा जाता है। वैसा वचन न वक्ता के अपने हित के लिए है और न उससे श्रोतृगण को ही कुछ लाभ हो सकता है। आचार्य निश्चितवचन प्रयोक्ता नहीं होते। वे अनिश्रित वचन बोलते हैं, जिससे सर्वसाधारण का हित सधता है, जिसे सब आदरपूर्वक अंगीकार करते हैं।

४. असंविधवचनता - तथ्य का साधक और अतथ्य का बाधक जो न हो, वैसा ज्ञान सन्देह कहलाता है। जो वचन उससे लिप्त है, वह सन्दिग्ध है। आचार्य सन्दिग्ध वचन का प्रयोग नहीं करते। वैसा करने से उपासकों को श्रद्धा घटती है। उनका किसी भी प्रकार से हित नहीं सधता। क्योंकि वचन के सन्देहयुक्त होने के कारण वे उधर आकृष्ट नहीं होते फलतः आचार्य चाहे व्यक्त न सही, अव्यक्त रूप में उपेक्षणीय हो जाते हैं।

## वाचना-सम्पदा

वाचना-सम्पदा के निम्नांकित चार<sup>१</sup> भेद हैं -

- |                     |                            |
|---------------------|----------------------------|
| १. विदित्वोद्देशिता | ३. परिनिर्वाप्य वाचिता तथा |
| २. विदित्वा वाचिता  | ४. अर्थनिर्गोपिकता         |

१. विदित्वोद्देशिता - पहले उल्लेख किया गया है कि आचार्य अन्तेवासियों को श्रुत की अर्थ-वाचना देते हैं। वाचना-सम्पदा में इसी सन्दर्भ में कतिपय महत्वपूर्ण विशेषतायें बतलाई गई हैं। उनमें पहली विदित्वोद्देशिता है। इसका सम्बन्ध अध्येता या वाचना लेने वाले अन्तेवासी से है। अध्येता का विकास किस कोटि का है, उसकी ग्राहक शक्ति कैसी है, किस आगम में उसका प्रवेश सम्भव है, इत्यादि पहलुओं को दृष्टि में रखकर आचार्य अन्तेवासी को पढ़ाने का निश्चय करते हैं। इसका आशय यह है कि अध्येता की क्षमता को आंकने की आचार्य में विशेष सूक्ष्म-बुद्धि होती है।

<sup>१</sup> दशाधुतदकथ्य सूत्र अध्यायन ४ सूत्र ७

२. विदित्वा वाचिता - उक्त रूप में अन्तेवासी की योग्यता तथा धारणा शक्ति को आंक कर उसे प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टांत तथा युक्तिपूर्वक अर्थ-वाचना देना विदित्वा वाचिता है।

३. परिनिर्वाप्य वाचिता - अन्तेवासी अध्यापित विषयों को असन्दिग्ध रूप से हृदयंगम कर सका है, उसकी स्मृति में वे स्थिर हो चुके हैं, यह जानकर उसे वाचना देना परिनिर्वाप्य वाचिता है। अध्यापयिता को ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि यदि पूर्व अध्यापित विषय अध्येता यथावन् हृदयंगम नहीं कर सका है तो उस और ध्यान दिये बिना आगे से आगे पढ़ाते जाना अध्येता के लिए लाभ-जनक नहीं होता है। यों अध्यापयिता को वृथा श्रम होता है। उसका अभीप्सित फल नहीं होता।

४. अर्थनिर्वापकता - सूत्र-अध्यापयिता के लिए आवश्यक है कि सूत्र-निरूपित जीव, अजीव, आस्रव, सम्बर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, प्रभृति विषयों का उसे पूर्वापर संगति सहित असन्दिग्ध-निर्णायक बोध हो। उत्सर्ग, अपवाद आदि का रहस्य उसे सम्यक् परिज्ञात हो। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से ये समस्त विषय उस द्वारा आत्मसात् किये हुए हों। यह विषय का निर्यापन है। आचार्य में ऐसा अध्ययन-अनुशीलन होना अपेक्षित है। अपने इस प्रकार के अध्ययन क्रम द्वारा अन्तेवासियों को अर्थ का अवबोध कराना अर्थ निर्यापकता है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जहां किसी कारणवश उपाध्याय के पद की व्यवस्था नहीं होती या सूत्र-वाचना का कार्य नहीं चलता, वहां आचार्य सूत्र-वाचना भी देते हैं। वे सूत्र और अर्थ दोनों की वाचना देने के कारण दोनों पदों का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। भगवती वृत्ति<sup>१</sup> तथा व्यवहार भाष्य आदि में ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं।

इतना ही नहीं, आवश्यक होने पर आचार्य अन्य पदों का भार भी स्वयं ले सकते हैं। वस्तुतः वे सर्वाधिकारी होते हैं।

### मति-सम्पदा

मन का पदार्थ विषयक निर्णायक व्यापार मति है। मति-सम्पदा का अर्थ बुद्धि-वैशिष्ट्य है।

मति-सम्पदा के चार<sup>२</sup> भेद हैं -

- |                       |                     |
|-----------------------|---------------------|
| १. अवग्रह-मति सम्पदा, | ३. अवाय-मति सम्पदा, |
| २. ईहा-मति सम्पदा     | ४. धारणा-मति सम्पदा |

<sup>१</sup> आचार्येण सहोपाध्यायः - आचार्योपाध्यायः, सविसर्गसि त्ति स्वविषयेऽर्थदान - सूत्रदानलक्षणं गणं त्ति शिष्यवर्गम्, अधिलाए त्ति अक्षेदेन संगृह्णन् - स्वीकुर्वन् - उपसृजयन् । - भगवती, शतक ५, उद्देशक ६, प्रश्न १७ (वृत्ति)

<sup>२</sup> दशाश्रुतसङ्घे सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ८

१. अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा - मति-ज्ञान के परिणति-क्रम के ये चार सोपान हैं। सबसे पहले ज्यों ही इन्द्रिय किसी पदार्थ का साक्षात्कार करती है, तब उस (पदार्थ) का अति सामान्य ज्ञान होता है।

सामान्य का तात्पर्य उस बोध से है, जहां पदार्थ के स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना नहीं रहती, वे अनिर्दिष्ट रहते हैं। वह मनःस्थिति अवग्रह कही जाती है। अवग्रह की प्रशस्त क्षमता का होना अवग्रह सम्पदा है। आचार्य में सहज ही यह विशेषता होती है।

२. ईहा मति-सम्पदा - अवग्रह में ज्ञेय पदार्थ विषयक अस्पष्ट मनः स्थिति रहती है। तब निश्चोयन्मुख जिज्ञासा का स्पन्दन होता है। मन तदनु रूप चेष्टोन्मुख बनता है। अवग्रह द्वारा गृहीत स्वरूपादि के वैशद से रहित अति सामान्य ज्ञान के पश्चात् विशेष ज्ञान की ओर ईहा, मननात्मक चेष्टा, ज्ञान की निर्णीत स्थिति की ओर बढ़ते क्रम का रूप है। ऐसी उदात्त स्फुरणा का होना ईहा-सम्पदा कहा जाता है। आचार्य इससे युक्त होते हैं।

३. अवाय-मति सम्पदा - ईसा का उत्तरवर्ती क्रम अवाय है। ईहा चेष्टात्मक है, अवाय निश्चयात्मक निर्णय। पदार्थ के साधक और बाधक प्रमाण या गुणागुण विश्लेषण के माध्यम से जो निश्चित मनः स्थिति बनती है, वह अवाय है। रज्जू और सर्प के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। अंधेरे में सहसा निश्चय नहीं हो पाता कि जिज्ञासित पदार्थ सर्प है या रज्जू। जब साधक प्रमाण द्वारा या स्पष्टता करने वाले हेतु द्वारा यह निश्चित रूप से अवगत हो जाता है कि यह रज्जू है, तब अवाय की स्थिति आ जाती है। अवाय तक सूक्ष्मतापूर्वक पहचाना या यथावत् अवायात्मक - निश्चयात्मक स्थिति अभिगत कर लेने की विशिष्ट क्षमता अवाय-सम्पदा के नाम से अभिहित होती है, जो आचार्य में स्वभावतः होनी चाहिये।

४. धारणा मति सम्पदा - अवाय-क्रम में ज्ञान जिस निश्चिति में पहुंचता है, उसका टिकना, स्थिर रहना, स्मरण रहना धारणा है। इसे वासना या स्मृति भी कहा जाता है। यह संस्कारात्मक है। मन के स्मृति-पट पर उस ज्ञान का एक भावात्मक रूप अंकित हो जाता है। दूसरे किसी समय जैसे पदार्थ को देखते ही पहले के पदार्थ की स्मृति जाग उठती है। यह जागने वाली स्मृति उसी संस्कार का फल है, जो उस पदार्थ के मत्यात्मक मनन-क्रम में मन पर अंकित हो गया था। धारणा, वासना या स्मृति का वैशिष्ट्य या वैभव धारणा-मति-सम्पदा है। आचार्य इसके धनी होने चाहिये।

जिसकी मननात्मक क्षमता जितनी अधिक विकसित होती है, उसे मति के इस उत्थान-क्रम में उतना ही वैशिष्ट्य प्राप्त रहता है। आचार्य में यह क्षमता अपनी विशेषता लिये रहनी चाहिये। उदात्त व्यक्तित्व की दृष्टि से आचार्य के लिए ऐसा होना आवश्यक भी है।



## प्रयोग-सम्पदा

किसी विषय पर प्रतिवादी के साथ वाद या विचार करना यहां प्रयोग शब्द से अभिहित किया गया है। वाद सम्बन्धी विशेष पटुता या कुशलता का नाम प्रयोग-सम्पदा है। उसके निम्नलिखित चार<sup>१</sup> भेद हैं -

१. अपने आपको जान कर वाद का प्रयोग करना।
२. परिषद् को जान कर वाद का प्रयोग करना।
३. क्षेत्र को जान कर वाद का प्रयोग करना।
४. वस्तु को जान कर वाद का प्रयोग करना।

१. ज्ञात-ज्ञानपूर्वक वाद का प्रयोग - वादार्थ उद्यत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले वह अपनी शक्ति, क्षमता, प्रमाण, नय आदि के सम्बन्ध में अपनी योग्यता को आंके। यह भी देखे कि प्रतिवादी की तुलना में उसकी कैसी स्थिति है। वह तत्पश्चात् वाद में प्रवृत्त हो। ऐसा न होने पर प्रतिकूल परिणाम आने की आशंका हो सकती है। अतः आचार्य में इस प्रकार की विशेषता का होना आवश्यक है। यों सोच-विचार कर, अपनी क्षमता को आंक कर बुद्धिमत्ता-पूर्वक वाद में प्रवृत्त होना पहले प्रकार की प्रयोग-सम्पदा है।

२. परिषद्-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग - जिस परिषद् के बीच वाद होने को है, कुशल वादी को चाहिए कि वह उस परिषद् के सम्बन्ध में पहले से ही जानकारी प्राप्त करे कि वह (परिषद्) गम्भीर वक्तव्यों को समझती है या नहीं। यह भी जाने कि परिषद् की रुचि वादी के अपने धार्मिक सिद्धान्तों में है या प्रतिवादी के सिद्धान्तों में। केवल तर्क और युक्ति-बल द्वारा ही प्रतिवादी पर सम्पूर्ण सफलता नहीं पाई जा सकती। जिन लोगों के बीच वाद प्रवृत्त होता है, उनका मानसिक फुकाव भी उसमें काम करता है। अतएव सफलता या प्रतिवादी पर विजय चाहने वाले वादी के लिए यह आवश्यक है कि पदविषद् की अनुकूलता और प्रतिकूलता को दृष्टि में रखे। इस ओर सोचे-विचारे बिना वाद में प्रवृत्त न हो। आचार्य में इस प्रकार की विशेष समझ के साथ वाद में प्रवृत्त होने की सहज विशेषता होनी चाहिये।

३. क्षेत्र-ज्ञानपूर्वक वादप्रयोग - जिस क्षेत्र में वाद होने को है, वह कैसा है, वहां के लोग दुर्लभ बोधि हैं या सुलभ बोधि, वहां का शासक विज्ञ है या अज्ञ, अनुकूल है या प्रतिकूल - इत्यादि बातों को भी ध्यान में रखना वादी के लिए आवश्यक है। यदि लोग सुलभ बोधि, शासक विज्ञ तथा अनुकूल हों तो विद्वान् वादी को सफलता और गौरव मिलता है। क्षेत्र की स्थिति इसके प्रतिकूल हो तो वादी अत्यन्त योग्य होते हुए भी सफल बन सके, यह कठिन है। आचार्य में क्षेत्र को परखने की अपनी विशेषता होती है।

<sup>१</sup> दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्याय ४, सूत्र ६

५. वस्तु-ज्ञान पूर्वक वाद का प्रयोग — वस्तु का अर्थ वाद का विषय है। जिस विषय पर वाद या वैचारिक ऊहापोह किया जाना है, वह वादी के ध्यान में रहना आवश्यक है। उस विषय के विभिन्न पक्ष, उस सम्बन्ध में विविध धारणा उनका समाधान इत्यादि दृष्टि में रखते हुए वाद में प्रवृत्त होना हितावह होता है। आचार्य में यह विशेषता भी होनी चाहिए।

संक्षेप में सार यह है कि आचार्य का संघ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। उनकी विजय सारे संघ की शोभा है, उनकी पराजय सारे संघ का अपमान। अतः यह बांछनीय है कि आचार्य में वाद-प्रयोग सम्बन्धी विशेषताएं, जिनका उल्लेख हुआ है, हों। जिससे उनका अपना गौरव बढ़े, संघ की महिमा फैले।

### संग्रहपरिज्ञा सम्पदा

जैन श्रमण के जीवन में परिग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। वह सर्वथा निष्परिग्रही जीवन यापन करता है। यह होने पर भी जब तक साधक सदेह है, उसे जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए कतिपय वस्तुओं की अपेक्षा रहती ही है। शास्त्रीय विज्ञान के अनुरूप उन वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ साधक परिग्रही नहीं बनता क्योंकि उन वस्तुओं में उसकी जरा भी मूर्च्छा या आसक्ति नहीं होती। परिग्रह का आधार मूर्च्छा या आसक्ति है। यदि अपने देह के प्रति भी साधक के मन में मूर्च्छा या आसक्ति हो जाए तो वह परिग्रह हो जाता है। आत्म-साधना में लगे साधक का जीवन अनासक्त और अमूर्च्छित होता है, होना चाहिए। यही कारण है कि उस द्वारा अनिर्वाय आवश्यकताओं के निर्वाह के लिए अमूर्च्छित एवं अनासक्त भाव से अपेक्षित पदार्थों का ग्रहण अदूषणीय है।

संग्रह का अर्थ श्रमण के वैयक्तिक तथा सामष्टिक संघीय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अवलोकन, आकलन है या स्वीकार है। वस्तुओं की आवश्यकता, समीचीनता, एवं सुलभता का ज्ञान संग्रह-परिज्ञा कहा जाता है। आचार्य पर संघ के संचालन, संरक्षण एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व होता है अतः उन्हें इस ओर जागरूक रहना अपेक्षित है कि कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाए और पूर्ति किस प्रकार सम्भव हो। इसमें जागरूकता के साथ-साथ सूक्ष्म-बुद्ध तथा व्यावहारिक कुशलता की भी आवश्यकता रहती है। यह आचार्य की अपनी असाधारण विशेषता है।

संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा के चार<sup>१</sup> प्रकार बताये गये हैं —

- |                               |                           |
|-------------------------------|---------------------------|
| १. क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा  | ३. काल सम्मान परिज्ञा तथा |
| २. प्रातिहारिक अवग्रह परिज्ञा | ४. गुरु संपूजनापरिज्ञा    |

१. क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा — साधुओं के प्रवास और विहार के स्थान क्षेत्र कहे जाते हैं। जैन श्रमण वर्षा ऋतु के चार महीने एक ही स्थान पर टिकते हैं,

<sup>१</sup> दत्ताश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्याय ५, सूत्र १०

कहीं विहार-यात्रा नहीं करते। इसे चातुर्मासिक प्रवास कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वे जन-जन को धर्मोपदेश या अध्यात्म-प्रेरणा देने के निमित्त घूमते रहते हैं। रोग, वार्धक्य, दैहिक अशक्तता आदि अपवादों के अतिरिक्त वे कहीं भी एक मास से अधिक नहीं ठहरते।

चातुर्मासिक प्रवास के लिए कौनसा क्षेत्र कैसा है, साधु-जीवन के लिए अपेक्षित निरवश्य पदार्थ कहीं किस रूप में प्राप्य हैं, अस्वस्थ साधुओं की चिकित्सा, पथ्य, आहार आदि की सुलभता, जलवायु व निवास-स्थान की अनुकूलता आदि बातों का ध्यान आचार्य को रहता है। चातुर्मासिक प्रवास में इस बात का और अधिक महत्व है। वर्ष भर में वर्षावास के अन्तर्गत ही श्रमणों का एक स्थान पर सबसे लम्बा प्रवास होता है। अध्ययन, चिकित्सा आदि की दृष्टि से वहाँ यथेष्ट समय मिलता है। इसलिए इन बातों का विचार बहुत आवश्यक है।

धर्म-प्रसार की दृष्टि से भी क्षेत्र की गवेषणा का महत्व है। यदि किसी क्षेत्र के लोगों को अध्यात्म में रस है तो वहाँ बहुत लोग धर्म भावना से अनुप्राणित होंगे, धर्म की प्रभावना होगी।

२. प्रातिहारिक अवग्रह-परिज्ञा - श्रमण अपनी आवश्यकता के अनुसार दो प्रकार की वस्तुएँ लेते हैं। प्रथम कोटि में वे वस्तुएँ आती हैं, जो सम्पूर्णतया उपयोग में ली जाती हैं, वापिस नहीं लौटाई जाती, जैसे - अन्न, जल औषधि आदि। दूसरी वे वस्तुएँ हैं, जो उपयोग में लेने के बाद वापिस लौटाई जाती हैं, उन्हें प्रातिहारिक कहा जाता है। प्रातिहारिक का शाब्दिक अर्थ भी इसी प्रकार का है। पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि इस कोटि में आते हैं।

आचार्य के दर्शन तथा उनसे अध्ययन आदि के निमित्त अनेक दूसरे साधु भी आते रहते हैं। उनके स्वागत-सत्कार, मुविधा आदि की दृष्टि से जब जैसे अपेक्षित हो, पीठ, फलक, आसन आदि के लिए आचार्य को ध्यान रखना आवश्यक होता है। कौन वस्तु कहीं प्राप्य है, यह ध्यान रहने पर आवश्यकता पड़ते ही शास्त्रीय विधि के अनुसार वह तत्काल प्राप्त की जा सकती है। उसके लिए अनावश्यक रूप में भटकना नहीं पड़ता।

३. काल सम्मान परिज्ञा - काल के सम्मान का आशय साधुजीवनोचित क्रियाओं का समुचित समय पर अनुष्ठान करना है। ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि में जहाँ व्यवस्थित जीवन का परिचायक है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन में इससे अन्नः स्थिरता परिव्याप्त होती है। क्रियाओं के यथाकाल अनुष्ठान के लिए काल का सम्मान करना - ऐसा जो प्रयोग शास्त्र में आया है, उससे स्पष्ट है कि यथासमय धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का कितना अधिक महत्व रहा है। आचार्य सारे संघ के नियामक और अधिनायक होते हैं। उनके जीवन का क्षण क्षण अन्तेवासियों एवं अनुयायियों के समक्ष आदर्श के रूप में विद्यमान रहना है। उसका उन पर अमिट प्रभाव होना है। इसलिए यथासमय सब क्रियाएँ

सुव्यवस्थित रूप में संपादित करना, उस ओर अनवरत यत्नशील रहना आचार्य के लिए आवश्यक है ।

४. गुरु-संपूजना-परिष्ठा— जो दीक्षा-पर्याय में अपने से ज्येष्ठ हों, उन श्रमणों का बन्दन, भजन आदि द्वारा बहुमान करने में आचार्य सदा जागरूक रहते हैं । इसे वे आवश्यक और महत्वपूर्ण समझते हैं, ऐसा करना गुरु-संपूजना-परिष्ठा है ।

आचार्य की यह प्रवृत्ति अन्तेवासियों को बड़ों का सम्मान करने, उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा दिखाने की ओर प्रेरित करती है । संघ के वातावरण में इससे सौहार्द का संचार होता है । फलतः संघ विकसित और उन्नत बनता है ।

### उपाध्याय

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है । संयम-मूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोड़े । सद्ज्ञान पूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है । जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रिया-परिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है । ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व और पश्चिम की तरह भिन्न दिशाओं में जाते हैं, वहाँ जीवन का ध्येय सधता नहीं । अनुष्ठान द्वारा इन दोनों पक्षों में सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने में वह उतना ही अधिक सफल बनेगा ।

जैन-संघ के पदों में आचार्य के बाद दूसरा पद उपाध्याय का है । इस पद का सम्बन्ध मुख्यतः अध्यापन से है, उपाध्याय श्रमणों को सूत्र-वाचना देते हैं । कहा गया है :-

वारसंगो जिस्सक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहे ।

तं उवदिसति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥<sup>१</sup>

जिन प्रतिपादित द्वादशांगरूप स्वाध्याय-सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित-वर्णित या ग्रथित किया गया है । जो उसका उपदेश करते हैं, वे (उपदेश-श्रमण) उपाध्याय कहे जाते हैं ,

यहां सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमों की सूत्र-वाचना देना है । स्थानांग वृत्ति में भी उपाध्याय का सूत्रदाता<sup>२</sup> (सूत्रवाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है ।

आचार्य की सम्पदाओं के वर्णन-प्रसंग में यह वतलाया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं । यहां जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोप-

<sup>१</sup> भगवती सूत्र, १. १. १ मंगलाचरण वृत्ति

<sup>२</sup> उपाध्याय : सूत्रदाता । स्थानांग सूत्र, ३. ४. ३२३ वृत्ति

देश या सूत्रवाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठो-  
च्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने  
के हेतु उपाध्याय पारंपरिक व भाषा वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अनेवासी  
श्रमणों को मूलपाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं ।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के सन्दर्भ में पठन या वाचन  
का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे  
प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परंपरा जैन श्रमणों में रही  
है । आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है ।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है ।  
अनुयोग द्वार में पद के शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम,  
अहीनाक्षर, अत्यक्षर, अव्याविद्धासर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्यान्नेडित,  
प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण-घोष तथा कण्ठोष्ठविप्रमुक्त विशेषण दिये गये हैं ।<sup>१</sup> संक्षेप  
में इनका तात्पर्य यों है -

१. शिक्षित : साधारणतया सीख लेना ।
२. स्थित : सीखे हुए को मस्तिष्क में ठिकाना ।
३. जित : अनुक्रमपूर्वक पठन करना ।
४. मित : अक्षर आदि की मर्यादा, संयोजन आदि जानना ।
५. परिजित : अनुक्रम - व्यतिक्रम या अनुक्रम के बिना पाठ करना ।
६. नामसम : जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण  
रहता है, उस प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात्  
सूत्रपाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि  
जब भी पूछा जाए, यथावत् रूप में बतलाया जा सके ।
७. घोषसम : स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के रूप<sup>२</sup> में  
जो उच्चारण सम्बन्धी तीन भेद वैयाकरणों ने किये  
हैं, उनके अनुरूप उच्चारण करना ।
८. अहीनाक्षर : पाठक्रम में किसी भी अक्षर को हीन, लुप्त या  
अस्पष्ट न कर देना ।
९. अत्यक्षर : अधिक अक्षर न जोड़ना ।
१०. अव्याविद्धासर : अक्षर, पद आदि का विपरीत-उलटा पठन न करना ।
११. अस्खलित : पाठ में स्खलन न करना, पाठ का यथा प्रवाह  
उच्चारण करना ।
१२. अमिलित : अक्षरों को परस्पर न मिलाते हुए उच्चारणीय पाठ  
के साथ किन्हीं दूसरे अक्षरों को न मिलाते हुए  
उच्चारण करना ।

<sup>१</sup> अनुयोग द्वार, सूत्र ८

<sup>२</sup> उच्चैरुदात्तः । नीचैरनुदात्तः । समाहारः स्वरितः । - सिद्धान्त कीमुदी १. २. २६-३१

१३. अव्यत्याञ्जित : अन्य सूत्रों, शास्त्रों के पाठ को समानार्थक जान कर उच्चार्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याञ्जित है। ऐसा न करना अव्यत्याञ्जित है।
१४. प्रतिपूर्ण : पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अंग को अनुच्चारित न रखना।
१५. प्रतिपूर्णघोष : उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर, जो कठिनाई से सुनाई दे, द्वारा उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टता से उच्चारण करना।
१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त : उच्चारणीय पाठ या पाठांश को गले और ओठों में अटका कर अस्पष्ट नहीं बोलना।

सूत्र पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने में कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था — यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है।

लेखनक्रम के अस्तित्व में आने से पूर्व वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परंपराओं में अपने-अपने शास्त्रों, आर्य शास्त्रों के कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तमान समय का उमर पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठ-क्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुन कर या पढ़ कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप से शास्त्र को आत्मसात् बनाये रख सके। उदाहरणार्थ — मंत्रपाठ, पदपाठ, जटापाठ आदि के रूप में वेदों के पठन का भी बड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने अब तक उनको मूल रूप में बनाये रखा है।

एक से दूसरे द्वारा श्रुति परम्परा से आगम प्राप्तिक्रम के बावजूद जैनों के आगमिक वाङ्मय में कोई परिवर्तन आया हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता। सामान्यतः लोग कह देते हैं कि किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को बताए तो यत्किंचित् परिवर्तन आ सकता है फिर यह कब सम्भव है कि इतने विशाल आगम-वाङ्मय में काल की इस लम्बी अवधि के बीच भी कोई परिवर्तन नहीं आ सका। साधारणतया ऐसी शंका उठाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परंपरा से स्वतः समाधान हो जाता है। जहाँ कि मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहाँ आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहृत और अपरिवर्तित रहता।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है। उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास सम्भव है। अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना बड़ा महत्व समझा गया कि संघ में उसके लिए उपाध्याय का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया।

## प्रवर्तक

आचार्य के बहुविध उत्तरदायित्वों के सम्यक् निर्वहन में सुविधा रहे, धर्म-संघ उत्तरोत्तर उन्नति करता जाए, श्रमणवृन्द श्रामण्य के परिपालन और विकास में गतिशील रहे, इस हेतु अन्य पदों के साथ प्रवर्तक का भी विशेष पद प्रतिष्ठित किया गया। प्रवर्तक पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

तपः संयमयोगेषु, योग्यं हि यो प्रवर्त्तयेत् ।  
निवर्त्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्त्तकः ॥<sup>१</sup>

प्रवर्तक गण या श्रमण-संघ की चिन्ता करते हैं अर्थात् वे उसकी गतिविधि का ध्यान रखते हैं। वे जिन श्रमणों को तप, संयम तथा प्रशस्त योगमूलक अन्यान्य सत्प्रवृत्तियों में योग्य पाते हैं, उन्हें उनमें प्रवृत्त या उत्प्रेरित करते हैं। मूलतः तो सभी श्रमण श्रामण्य का निर्वाह करते ही हैं पर रुचि की भिन्नता के कारण किन्हीं का तप की ओर अधिक झुकाव होता है, कई शास्त्रानुशीलन में अधिक रस लेते हैं, कई संयम के दूसरे पहलुओं की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। रुचि के कारण किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर श्रमण का उत्साह हो सकता है पर हर किसी को अपनी यथार्थ स्थिति का भली-भाँति ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं। अति उत्साह के कारण कभी कभी अपनी क्षमता का आंक पाना कठिन होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रवर्तक का यह कर्त्तव्य है कि वे जिनको जिस प्रवृत्ति के लिए योग्य मानते हों, उन्हें उस ओर प्रेरित और प्रवृत्त करें। जो उन्हें जिस प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह में योग्य न जान पड़ें, उन्हें वे उस ओर से निवृत्त करें। साधक के लिए इस प्रकार के पथ-निर्देशक का होना परम आवश्यक है। इससे उसकी शक्ति और पुरुषार्थ का समीचीन उपयोग होता है। ऐसा न होने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—कोई श्रमण अति उत्साह के कारण अपने को उग्र तपस्या में लगाये पर कल्पना कीजिये, उसकी दैहिक क्षमता इस प्रकार की न हो, स्वास्थ्य अनुकूल न हो, मानसिक स्थिरता कम हो तो वह अपने प्रयत्न में जैसा सोचता है, चाहता है, सफल नहीं हो पाता। उसका उत्साह टूट जाता है, वह अपने को शायद हीन भी मानने लगता है। अतएव प्रवर्तक, जिनमें ज्ञान, अनुभव तथा अनुठी सूझ-बूझ होती है, का दायित्व होता है कि वे श्रमणों को उनकी योग्यता के अनुरूप उत्कर्ष के विभिन्न भागों पर गतिशील होने में प्रवृत्त करें, जो उचित न प्रतीत हो, उनसे निवृत्त करें।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए और भी कहा गया है :—

तवसंजमनियमेसु, जो जुगो तत्थ तं पवसेइ ।  
असहू य नियसंती, गणतत्तिलो पवत्तीओ ॥

तपः संयमयोगेषु मध्ये यो यत्र योग्यस्तं तत्र प्रवर्त्तयन्ति, असहांश्च

<sup>१</sup> धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा १४३

असमर्थाश्च निवर्त्तयन्ति, एवं गणतृप्तिप्रवृत्ताः प्रवर्तिनः ।<sup>१</sup>

संयम, तप आदि के आचरण में जो धैर्य और सहिष्णुता चाहिए, जिनमें वह होती है, वे ही उसका सम्यक् अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनमें वैसी सहनशीलता और दृढ़ता नहीं होती, उनका उस पर टिके रहना सम्भव नहीं होता। प्रवर्तक का यह काम है कि किस श्रमण को किस ओर प्रवृत्त करे, कहां से निवृत्त करे। गण को तृप्त - तुष्ट - उल्लसित करने में प्रवर्तक सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

### स्थविर

जैन संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थानांग<sup>२</sup> सूत्र में दश प्रकार के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण-जीवन से है। स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ़ या वृद्ध है। जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग<sup>३</sup> वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का संकेत किया गया है।

जो श्रुत-समवाय आदि अंग-आगम व शास्त्र के पारगामी होते हैं, वे श्रुत-स्थविर<sup>४</sup> कहे जाते हैं। उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्वन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं। पर्याय स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षा-काल लम्बा होता है। इनके लिए बस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का वृत्तिकार ने उल्लेख किया है।<sup>५</sup>

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते हैं। वे स्थिर मने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी स्रोतक है।

जिनका शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे भी अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्य के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में आध्यात्मिक स्थिरता और दृढ़ता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय, संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल एवं आत्म श्रेय सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है।

<sup>१</sup> व्यवहार भाष्य, उद्देशक १, गाथा ३४०

<sup>२</sup> स्थानांग सूत्र स्थान १० सूत्र ७६२

<sup>३</sup> जातिस्थविरा :- षष्ठिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः ।

— स्थानांग सूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)

<sup>४</sup> श्रुतस्थविरा :- समवायाद्यंगधारिणः ।

— स्थानांगसूत्र स्थान, १० सूत्र, ७६२ (वृत्ति)

<sup>५</sup> पर्यायस्थविरा :- त्रिंशद्वर्षप्रमाण प्रव्रज्यापर्यायिनः ।

— स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)



इस प्रकार के जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढ़धर्मा होते हैं और संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवचनसारोद्धार (द्वार २) में कहा गया है—

“प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु ऐहिकामुष्मि-  
कापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः।”

जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं, ऐहिक और पारलौकिक हानि या दुःख दिखला कर उन्हें जो श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं, उन्हें स्थविर कहते हैं। वे स्वयं उज्ज्वल चारित्र्य के धनी होते हैं, अतः उनके प्रेरणा-वचन, प्रयत्न प्रायः निष्फल नहीं होते।

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थविर संविन्न - मोक्ष के अभिलाषी, मार्दवित, - अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी और धर्मप्रिय होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहृान करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक और पारलौकिक अधःपतन दिखला कर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं।<sup>१</sup>

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

तेन व्यापारितेष्वर्थे - स्वनगरांश्च सीदतः।

स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥<sup>२</sup>

तप संयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना आदि श्रमण-जीवन के उन्नायक कार्य जो संघ-प्रवर्तक द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित किये जाते हैं, उन में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में जो कष्ट मानते हैं या इनका पालन करना जिनको अप्रिय लगता है, भाता नहीं, उन्हें जो आत्म-शक्ति-सम्पन्न दृढ़चेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों में दृढ़ बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन जो श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं। संघ में उनकी बहुत प्रतिष्ठा तथा साख होती

<sup>१</sup> संबिम्भो मह्विम्भो, पियधम्भो नाणदंसणचरित्ते ।

जे अट्ठं परिहायइ, सावेत्तो ते हवई येरो ॥

यः संविन्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संजातमार्दविकः । (१) प्रियधर्मा एकान्तवत्सलभः, संयमानुष्ठाने यो ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानि नयति तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिकामुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्ष-मार्गे स्थिरी करोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः ।

<sup>२</sup> धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा ७३

है। अक्सर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

संक्षेप में सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल-स्थितिशील होते हैं और संघ के सदस्यों को वैसा बने रहने के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं।

## गणी

गणी का सामान्य अर्थ गण या साधु समुदाय का अधिपति है। अतः आचार्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। परन्तु यहाँ यह एक विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। संघ में जो अप्रतिम विद्वान्, बहुश्रुत श्रमण होता था, उसे गणी का पद दिया जाता था। गणी के सम्बन्ध में लिखा है—

अस्य पाश्वे आचार्याः सूत्रार्थमभ्यस्यन्ति ।<sup>१</sup>

अर्थात् आचार्य उनके पास सूत्र आदि का अभ्यास करते हैं।

यद्यपि आचार्य का स्थान संघ में सर्वोच्च होता है। उनमें आचार-पालने, मनवाने, संघ के धर्मगणों को अनुशासन में रखने, उनको तत्त्व-ज्ञान देने, उनका परिरक्षण तथा विकास करते रहने की असाधारण क्षमता होती है। उनके व्यक्तित्व में सर्वातिशायि अंश तथा प्रभाव होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि संघगत धर्मगणों में वे सबसे अधिक विद्वान् एवं ग्रथ्यता हों। गणी में इस कोटि की ज्ञानात्मक विशेषता होती है। फलस्वरूप वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य-पद केवल विद्वत्ता के आधार पर नहीं दिया जाता। विद्या जीवन का एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष हैं—जिनके बिना जीवन में समग्रता नहीं आती। आचार्य के व्यक्तित्व में वैसी समग्रता होनी चाहिए जिससे जीवन के सब अंग परिपूरित लगे। यह सब होने पर भी आचार्य को यदि शास्त्राध्ययन की और अपेक्षा हो तो वे गणी से शास्त्राभ्यास करें। आचार्य जैसे उच्च पद पर अधिष्ठित व्यक्ति एक अन्य साधु से अध्ययन करें, इसमें क्या उनकी गरिमा नहीं मिटती—आचार्य ऐसा विचार नहीं करते। वे गुणग्राही तथा उच्च मंस्कारी होते हैं अतः जो-जो उन्हें आवश्यक लगता है, वे उन विषयों को गणी से पढ़ते हैं। यह कितनी स्वस्थ तथा सुखावह परंपरा है कि आचार्य भी विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञानार्जन करते नहीं हिचकते। ज्ञान और ज्ञानी के सत्कार का यह अनुकरणीय प्रसंग है।

## गणधर

गणधर का शाब्दिक अर्थ गण या श्रमण संघ को धारण करने वाला, गण का अधिपति, स्वामी या आचार्य होता है। आवश्यक<sup>२</sup> वृत्ति में अनुत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण—समूह को धारण करने वाले गणधर कहे गये हैं।

<sup>१</sup> कल्प सुबोधिका क्षण ६

<sup>२</sup> अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः

— आवश्यकनिर्युक्ति गथा १०६२ वृत्ति

आगम-वाङ्मय में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त है।

तीर्थकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थकर) द्वारा प्ररूपित तत्व-ज्ञान का द्वादशांगी के रूप में संग्रहण करते हैं, उनके धर्म-संघ के विभिन्न गणों की देख-रेख करते हैं, अपने-अपने गण के श्रमणों को आगम-वाचना देते हैं, गणधर कहे जाते हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम<sup>१</sup> नामक प्रमाण-भेद में बताया गया है कि गणधरों के सूत्र आत्मगम्य होते हैं। दूसरे शब्दों में वे सूत्रों के कर्ता हैं।

तीर्थकरों के वर्णन-क्रम में उनकी अन्यान्य धर्म-संपदाओं के साथ-साथ उनके गणधरों का भी यथा प्रसंग उल्लेख हुआ है। तीर्थकरों के सान्निध्य में गणधरों की जैसी परंपरा वर्णित है, वह सार्वत्रिक नहीं है। तीर्थकरों के पश्चात् अथवा दो तीर्थकरों के अन्तर्वर्ती काल में गणधर नहीं होते। अतः उदाहरणार्थ गौतम, सुधर्मा आदि के लिए जो गणधर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गणधर के शाब्दिक या सामान्य अर्थ में अप्रयोज्य है।

गणधर का दूसरा अर्थ, जैसा कि स्थानांग<sup>२</sup> वृत्ति में लिखा गया है, आर्याओं या साधुव्यों को प्रतिजागृत रखने वाला अर्थात् उनके संयम-जीवन - के सम्यक् निर्वहण में सदा प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक सहयोग करने वाला श्रमण गणधर कहा जाता है।

आर्या-प्रतिजागरक के अर्थ में प्रयुक्त गणधर शब्द से प्रकट होता है कि संघ में श्रमणी-वृन्द की समीचीन व्यवस्था, विकास, अध्यात्म-साधना में उत्तरोत्तर प्रगति - इत्यादि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी देख रेख और मार्गदर्शन के कार्य को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि एक विशिष्ट श्रमण का मनोनयन केवल इसी उद्देश्य से होता था।

### गणावच्छेदक

इस पद का सम्बन्ध विशेषतः व्यवस्था से है। संघ के सदस्यों का संयम जीवितव्य स्वस्थ एवं कुशल बना रहे, साधु-जीवन के निर्वाह-हेतु अपेक्षित उपकरण साधु-समुदाय को निरवद्य रूप में मिलते रहें इत्यादि संघीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य गणावच्छेदक का होता है। उनके संबंध में लिखा है -

जो संघ को सहारा देने, उसे सुदृढ़ बनाये रखने अथवा संघ के श्रमणों की संयम-यात्रा के सम्यक् निर्वाह के लिए उपधि - श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक साधन-सामग्री की गवेषणा करने के निमित्त विहार करते हैं - पर्यटन करते हैं, प्रयत्नशील रहते हैं, वे गणावच्छेदक होते हैं।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम - इन चार प्रमाणों का वहाँ वर्णन हुआ है।

<sup>२</sup> आर्थिक प्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः । - स्थानांग सूत्र ४, ३, ३२३ वृत्ति

<sup>३</sup> यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमागंणादिनिमित्तं विहरति

- स्थानांग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक ३ (वृत्ति)

श्रामण्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन-सामग्री के आकलन, तत्सम्बन्धी व्यवस्था आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक के पद का बहुत बड़ा महत्व है। गणावच्छेदक द्वारा आवश्यक उपकरण जुटाने का उत्तरदायित्व सम्हाल लिये जाने से आचार्य का संघ-व्यवस्था सम्बन्धी भार काफी हल्का हो जाता है। फलतः उन्हें धर्म-प्रभावना तथा संघोन्नति सम्बन्धी अन्यान्य कार्यों की सम्पन्नता में समय देने की अधिक अनुकूलता प्राप्त रहती है।

### आधार : पृष्ठभूमि

पहले यह चर्चित हुआ है कि जैन परंपरा में पद-नियुक्ति का आधार निर्वाचन जैसी कोई वस्तु नहीं थी। वर्तमान आचार्य अपने उत्तराधिकारी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियों का मनोनयन संघ की सम्मति से करते थे। आज भी वैसा ही है। ज्ञातव्य है कि उत्तराधिकारी आचार्य का मनोनयन तो आवश्यक समझा गया पर दूसरे पदों में से जितनों की, जब आचार्य चाहते, पूर्ति करते। ऐसी अनिवार्यता नहीं थी कि उत्तराधिकारी आचार्य के साथ-साथ अन्य सभी पदों की पूर्ति की जाए। आचार्य चाहते तो अवशेष सभी पदों का कार्य-निर्वाह स्वयं करते अथवा उनमें से कुछ का करते, कुछ पर अधिकारी मनोनीत करते। मूलतः समग्र उत्तरदायित्व के आधार-स्तम्भ तो आचार्य ही माने गये हैं।

व्यवस्था-सौकर्य के लिए प्रायः अन्य पदों पर उपयुक्त, योग्य अधिकारियों का मनोनयन भी आचार्य उपयोगी मानते रहे हैं। पर क्रमशः पश्चाद्दूर्ती समय में वैसा क्रम रहा। कभी-कभी केवल आचार्य-पद पर अधिष्ठित एक ही व्यक्ति सारा कार्य-भार सम्हालते रहे। कभी आचार्य तथा उपाध्याय दो-पदों पर कार्य करते रहे। कभी सातों पदों में से जब जो जो अपेक्षित समझे गये, तत्कालीन आचार्यों द्वारा भरे गये।

### कुछ विशिष्ट योग्यताएं

पदों पर मनोनीत किये जाने वाले श्रमणों में कुछ विशेष योग्यताएं वांछनीय समझी गई थीं। असाधारण स्थितियों में कुछ विशेष निर्णय लेने की व्यवस्था भी रही है। व्यवहार-सूत्र तथा भाष्य में इस सन्दर्भ में बड़ा विशद विवेचन हुआ है, जिसके कतिपय पहलू यहां उपस्थित करना उपयोगी होगा।

कहा<sup>1</sup> गया है कि जिन श्रमणों निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये आठ वर्ष हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह<sup>2</sup> तथा उपग्रह (श्रमणों के परिपोषण) में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल - अनाचार के धब्बों से रहित - अदूषित, अभिन्न - सर्वतः सात्विक, असंक्लिष्ट - संश्लेश-

<sup>1</sup> व्यवहार सूत्र, ३ उद्देशक, सूत्र ७

<sup>2</sup> श्रमणों के विहार के लिए समीचीन क्षेत्र, अपेक्षित उपकरण, उनकी आवश्यकताओं की यथोचित परिपूर्ति।

रहित हो अर्थात् जो चारित्र्य का सम्पूर्ण रूप में आत्मोत्सासपूर्वक पालन करते हों, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम अनिवार्यतः स्थानांग-सूत्र और समवायांग सूत्र के धारक-वेत्ता हों, उन्हें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद पर अर्घिष्ठित करना कल्पनीय-विहित है।

इसी को और स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों में उक्त गुण या विशेषताएं न हों, उन्हें ये पद देना अकल्पनीय है - ये पद उन्हें नहीं दिये जाने चाहिए।

पदों के सम्बन्ध में एक विकल्प यों है -

जिन श्रमण-निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये पांच वर्ष व्यतीत हो चुके हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र्य अखण्ड, अशबल-अदूषित, अभिन्न - एक जैसा सात्त्विक, असंक्लिष्ट - संवलेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र के वेत्ता हों, उनके लिए आचार्य और उपाध्याय का पद कल्पनीय है - उन्हें आचार्य या उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना विहित है।<sup>१</sup>

उपाध्याय पद पर मनोनीत किये जाने योग्य श्रमणों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों, निर्ग्रन्थों, को दीक्षा स्वीकार किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र्य अखण्ड, अशबल - अदूषित, अभिन्न - सर्वतः सात्त्विक, असंक्लिष्ट - संवलेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम आचारांग और निशीथ के वेत्ता हों, उन्हें उपाध्याय के पद पर आसीन करना कल्पनीय है।<sup>२</sup>

उपर्युक्त उद्धरणों में जो दीक्षा-काल दिया गया है, वह न्यूनतम है। उससे कम समय का दीक्षित श्रमण साधारणतः ऊपर वर्णित पदों का अधिकारी नहीं होता।

### पद और दीक्षा-काल

आठ वर्ष, पांच वर्ष और तीन वर्ष के दीक्षा-काल के रूप में ऊपर तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित किये गये हैं। अन्य योग्यतायें सबकी एक जैसी बतलाई गई हैं।

आठ वर्ष के दीक्षित श्रमण को आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक का पद दिया जाना कल्पनीय विहित कहा गया है। सात पदों

<sup>१</sup> व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ५

<sup>२</sup> आश्रमक सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ३

में से छः पदों का उल्लेख यहां हुआ है। गणधर का पद उल्लिखित नहीं है। पर, भावतः उसे यहां अन्तर्गमित मान लिया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस श्रमण का दीक्षा-पर्याय आठ वर्ष का हो चुका है और जिसमें यदि दूसरी अपेक्षित योग्यताएँ हों तो वह सभी पदों का अधिकारी है।

पांच वर्ष के दीक्षित श्रमण को, यदि अन्य योग्यताएँ उसमें हों तो आचार्य और उपाध्याय पद का अधिकारी बताया है।

तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण को और योग्यताएँ होने पर उपाध्याय पद के लिए अनुमोदित किया है।

इन तीन विकल्पों में से दो में आचार्य का उल्लेख हुआ है और उपाध्याय का तीनों में ही। इसका आशय यह है कि आचार्य के लिए कम से कम पांच वर्ष का दीक्षा-काल होना आवश्यक है। तब यदि उनका आठ वर्ष का दीक्षा-काल हो तो और भी अच्छा। आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता वस्तुतः प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक के पद के लिए है। पहले विकल्प में क्रमशः सभी पदों का उल्लेख करना था अतः आचार्य का भी समावेश कर दिया गया।

उपाध्याय-पद के लिए कम से कम तीन वर्ष का दीक्षा-काल अनिवार्य है। फिर वह यदि पांच या आठ वर्ष का हो तो और भी उत्तम है। जैसा कि कहा गया है, आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता आचार्य तथा उपाध्याय के अतिरिक्त अन्य पदों के लिए तथा पांच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता केवल आचार्य पद के लिए है। पहले विकल्प में सभी पदों का और दूसरे विकल्प में दो पदों का उल्लेख करना था अतः दोनों स्थानों पर उपाध्याय का समावेश किया गया।

श्रुत-योग्यता, आचार-प्रदरणा, भोजस्वी व्यक्तित्व तथा जीवन के अनुभव - ये चार महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, जिनका संघीय पदों से अंतरंग सम्बन्ध है।

उपाध्याय का पद श्रुत-प्रधान या सूत्र-प्रधान है। आत्म-साधना तो जीवन का अविच्छिन्न अंग है ही, उसके अतिरिक्त उपाध्याय का प्रमुख कार्य श्रमणों को सूत्र-वाचना देना है। यदि कोई श्रमण इस (श्रुतात्मक) विषय में निष्णात हों तो अपने उत्तरदायित्व का भली भाँति निर्वाह करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं आती। व्यावहारिक जीवन के अनुभव आदि की वहाँ विशेष अपेक्षा नहीं रहती। वहाँ सूत्र सम्बन्धी व्यापक अध्ययन, प्रगल्भ पाण्डित्य तथा प्रकृष्ट प्रज्ञा होनी चाहिये। अतः यदि तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण में भी ये योग्यताएँ हों तो वह उपाध्याय-पद का अधिकारी हो सकता है।

आचार्य पद के लिए योग्यता का आधार आचार-कौशल, शासन-नैपुण्य, भोजस्वी व्यक्तित्व, व्यवहार-पटुता, शास्त्रों का तलस्पर्शी, सूक्ष्म ज्ञान तथा जीवन के अनुभव हैं। इनमें अनुभव के अतिरिक्त जो विशेषताएँ तललाई गई हैं, वे काल-सापेक्ष कम हैं, क्षयोपशम या संस्कार सापेक्ष अधिक। कतिपय व्यक्ति जन्मजात

मेघावी, प्रभावशील, ओजस्वी और कर्तव्यकुशल होते हैं तथा कतिपय ऐसे होते हैं कि वर्षों के अभ्यास तथा चिर प्रयत्न के बावजूद इस प्रकार का कुछ भी वैशिष्ट्य अर्जित नहीं कर पाते। प्रत्येक कार्य में पुरुषार्थ और प्रयत्न तो चाहिये पर तरतमता की दृष्टि से वस्तुतः इन विशेषताओं का सम्बन्ध प्रयत्नों से कम और संस्कारों से अधिक है।

आचार्य संस्कारी और पुण्यात्मा होते हैं। उनमें ये विशेषताएं स्वाभाविक होती हैं। पर, जीवन का अनुभव भी चाहिए। अतः उनके लिए कम से कम पांच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता बतलाई गई। संस्कारी एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए जीवन के बहुमुखी अनुभव अर्जित करने की दृष्टि के यह समय कम नहीं है।

प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक के पद जिस प्रकार के उत्तरदायित्व से जुड़े हैं, उनके निर्वहण के लिए बहुत ही अनुभवी व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जो जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल, मधुर-कटु, प्रिय-अप्रिय जैसे अनेक क्रम देख चुका हो, परख चुका हो। अनुभव-परिपक्वता की दृष्टि से उन पदों के अधिकारी होने योग्य श्रमण के लिए जो कम से कम आठ वर्ष का दीक्षा-काल स्वीकार किया गया है, वह वास्तव में आवश्यक है।

इसी प्रसंग में व्यवहारसूत्र में एक विशेष बात कही गई है। बताया गया है कि विशेष परिस्थिति में एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जा सकता है। यह बात विशेषतः निरुद्ध-वास-पर्याय-श्रमण को उद्दिष्ट कर कही गई है। निरुद्ध-वास-पर्याय का आशय उस श्रमण से है, जो पहले श्रमण-जीवन में था पर दुर्बलता से उससे पृथक् हो गया। यद्यपि ऐसा व्यक्ति संयम से गिरा हुआ तो होता है पर उसके पास साधु-जीवन का लम्बा अनुभव रहता है। यदि वह सही रूप में आत्मप्रेरित होकर पुनः श्रामण्य अपना लेता है तो उसका विगत श्रमण-जीवन का अनुभव उसके लिए, संघ के लिए क्यों नहीं उपयोगी होगा।

आचार्य का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को लिए हुए होता है। अतः उक्त प्रकार के एक दिवसीय दीक्षित साधु में, जिसे आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जाना विहित कहा गया है, और भी कुछ असाधारण विशेषताएं होनी चाहिए, जिनका निम्नांकित रूप में उल्लेख किया गया है—

वह स्थविर ऐसे कुल का हो, जिसके प्रति संघ की प्रतीति हो अथवा जो संघ के लिए दान, सेवा आदि की भावना के कारण प्रीतिकारक हो, जो स्थेय हो-प्रीतिकर होने के नाते जो संघ की चिन्ता में प्रमाणभूत हो, जो संघ के लिए, सबके लिए वैश्वसिक—विश्वाम-स्थान हो—सम्मत हो, कठिनाई या संघर्ष आदि की स्थिति में सहयोग करने के नाते जो संघ के लिए प्रमोदकारक हो, जो संघ के लिए अनुमन हो अथवा श्रमणों को दान देने में जहाँ परिवार के छोटे-बड़े-सभी

सदस्यों की अनुमति हो -- सभी भिक्षा देने के अधिकारी हों, जो संघ द्वारा बहुसंमत हो -- सेवाशीलता, शालीनता तथा धर्म-भावना की वृत्ति के कारण जिस कुल का संघ में बहुमान हो।<sup>१</sup>

पारंपरिक संस्कारों का मनुष्य-जीवन पर बहुत प्रभाव होता है। पारिवारिक और पैतृक संस्कार मानव के हृदय में कुछ ऐसी धारणाएँ और मान्यताएँ प्रतिष्ठित कर देते हैं कि वह सहसा हीन पथ का अवलम्बन नहीं कर पाता। उसमें सहज ही धीरज, दृढ़ता, स्थिरता और उदात्तता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण संघ का गुरुतर उत्तरदायित्व वह वहन कर सकता है। अपनी पैतृक प्रतिष्ठा, सम्मान और गरिमा भी उसके मस्तिष्क में रहती है, जो उसे किसी भी महान् कार्य में साहस और निर्भीक भाव से जुट जाने को प्रेरित करती है। यही कारण है, यहाँ कुल की महत्ता पर इतना जोर दिया गया है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुल के जो विशेषण ऊपर दिये गये हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण संघ से है। जिस कुल से श्रमण संघ का इतना नैकट्य है, जिसके बच्चे-बच्चे के हृदय में श्रमणों के प्रति अगाध श्रद्धा है, परिवार का प्रत्येक सदस्य श्रमणों को भक्ति और आदर के साथ सदा दान देने को तत्पर रहता है, वहाँ एक दो का अपवाद हो सकता है, पर उस में उत्पन्न व्यक्ति सहज ही संघीय दायित्वों के प्रति बहुत जागरूक होगा। परंपरा और संस्कार के कारण उसे लगभग वह सब प्राप्त होता है, जो काफी समय पूर्व दीक्षित साधु को होता है।

यह विशेष परिस्थिति भी, कभी-कभी तब बनती है, जब अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अवसर पाये बिना ही आचार्य अचानक काल धर्म को प्राप्त हो जाते हैं।

अनुमान किया जाता है कि वीर नि० सं० १ से आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय तक की १००० वर्ष की अवधि में आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणाधर गणावच्छेदक, महत्तरा, प्रवर्तिनी आदि पदों की भी क्रमबद्ध परम्पराएँ चली हों। अनेक परम उपकारी महान् श्रमणों ने अपने अपने समय में श्रमण परम्परा के इन विशिष्ट उत्तरदायित्व पूर्ण पदों का कार्यभार सम्हाला। उन्होंने जीवन भर स्व-पर-कल्याण में निरत रहते हुए बड़ी लगन और योग्यता के साथ भगवान् महावीर के सर्वभूत हितकारी धर्मसंघ की चहुंमुखी प्रगति की। हमारी उत्कट अभिलाषा थी कि आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, महत्तरा आदि सभी परम्पराओं का क्रमबद्ध इतिहास दिया जाय। पर यथाशक्ति पूरी खोज और प्राप्त पुरातन सामग्री के पर्यवेक्षण के पश्चात् हमें बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ में उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि पदों को अतीत में विभूषित करने वाले महापुरुषों का परिचय नहीं दे पा रहे हैं, क्योंकि उनका नाम काल आदि साधारण परिचय

<sup>१</sup> व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ८



भी आज कहीं उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि इस द्वितीय भाग में मुख्यतः आचार्यों, वाचनाचार्यों, युग-प्रधानाचार्यों, कतिपय प्रभावक संतों एवं महत्तरा मतियों का तथा उनके समय की विशिष्ट घटनाओं का ही परिचय प्रस्तुत कर पा रहे हैं।

भविष्य में शोध करते समय इन उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि परम्पराओं का यदि परिचय प्राप्त हुआ तो उसे समुचित रूप से यथा स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

### ग्रन्तःपरिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म का वीर नि० सं० १ से १००० तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पाठक निर्वाणोत्तर काल के एक हजार वर्ष के इतिहास को सहज ही हृदयंगम कर स्मृति पटल पर अंकित कर सके, इस दृष्टि से इसे निम्नलिखित चार प्रकरणों में विभक्त कर दिया गया है :-

- |                  |                       |
|------------------|-----------------------|
| १. केवलिकाल      | ३. दशपूर्वधरकाल       |
| २. श्रुतकेवलिकाल | ४. सामान्य पूर्वधरकाल |

१. केवलिकाल - श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं द्वारा वीर निर्वाण के पश्चात् समान रूप से इन्द्रभूति गौतम, आचार्य सुधर्मा और आचार्य जम्बू ये तीन केवली माने गये हैं पर इन तीनों केवलियों के मुख्यतः पृथक्-पृथक् एवं अंशतः समुच्चय काल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं का परस्पर मान्यता भेद पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का ८ वर्ष और आर्य जम्बू का ४४ वर्ष, इस प्रकार कुल मिलाकर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

जब कि दिगम्बर परम्परा में केवलिकाल विषयक दो प्रकार की मान्यताएं उपलब्ध होती हैं, उत्तर पुराण<sup>१</sup> और पुष्पदन्त-कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण<sup>२</sup> में इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का १२ वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष इस प्रकार कुल मिलाकर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। धवला,<sup>३</sup> श्रुतावतार<sup>४</sup>, ब्रह्म हेमचन्द्रकृत श्रुतस्कन्ध<sup>५</sup> हरिवंश पुराण<sup>६</sup> और नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली<sup>७</sup> में समान रूप से इन तीनों केवलियों का पृथक्-पृथक् केवलिकाल क्रमशः १२ वर्ष, १२ वर्ष और ३८ वर्ष उल्लिखित करते हुए समुच्चय केवलिकाल

१ उत्तर पुराण, पर्व ७६, पृ० ५३७

२ महा पुराण, संधि १००, पृ० २७४

३ पट्टावली, वेदना लण्ड-धवला, भा. ६, पृ० १२०-२१

४ श्रुतावतार, पृ० ७२-७६

५ श्रुतस्कन्ध, गाथा ६६, ६७

६ हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लो. २२

७ नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली, भा. १, २

६२ वर्ष बताया है। तिलोय पण्णत्ती<sup>१</sup> में इन तीनों का केवलिकाल पृथक् २ न बताया पिण्ड रूप से ६२ वर्ष लिखा है। तिलोयपण्णत्तिकार ने इन तीनों केवलियों को अनुवृद्ध केवली की संज्ञा देते हुए अन्तिम केवली श्री धर<sup>२</sup> के कुंडलगिरी पर सिद्ध होने का उल्लेख किया है। इस प्रकार का उल्लेख तिलोय पण्णत्ति और उत्तरवर्ती काल के श्रुतस्कन्ध<sup>३</sup> को छोड़कर सम्पूर्ण प्राचीन जैन वाङ्मय में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के ही वीर कवि रचित अपभ्रंश भाषा के जम्बू सामि-चरिउ<sup>४</sup> तथा पं० राजमल्ल रचित 'जम्बू चरित्र'<sup>५</sup> (संस्कृत) में इन्द्रभूति गीतम, सुधर्मा इन दोनों का सम्मिलित रूप से १८ वर्ष और जम्बू का समय १८ वर्ष उल्लिखित करते हुए इन तीनों केवलियों का केवलिकाल कुल मिलाकर केवल ३६ वर्ष ही बताया गया है।

इस प्रकार उपरिलिखित उद्धरणों के अनुसार श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० १ से ६४ तक कुल ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। जबकि दिगम्बर परम्परा के ऊपर लिखे विभिन्न ग्रन्थों में केवलिकाल विषयक तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं। एक मान्यता केवलिकाल ६४ वर्ष का, दूसरी ६२ वर्ष का और तीसरी केवल ३६ वर्ष का ही बताती है। इस प्रकार के विभेदात्मक उल्लेखों के उपरान्त भी दिगम्बर परम्परा में आज जो सर्वसम्मत मान्यता प्रचलित है, उसके अनुसार केवलिकाल ६२ वर्ष माना जाता है।

केवलिकाल विषयक इस साधारण मतभेद के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं में दूसरा मान्यता भेद भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्बन्ध में है। जहां श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है, वहां दिगम्बर परम्परा में इन्द्रभूति गीतम को। भगवान् महावीर के धर्म संघ के आचार्यों की जितनी भी पट्टावलियां उपलब्ध हैं, उनमें से श्वेताम्बर परम्परा की सभी पट्टावलियां आर्य सुधर्मा से और दिगम्बर परम्परा की सभी पट्टावलियां इन्द्रभूति गीतम से प्रारम्भ होती हैं। दोनों परम्पराओं में इस बात पर तो मतैक्य है कि जिस रात्रि में भगवान् का निर्वाण हुआ उसी रात्रि में प्रथम गणधर इन्द्रभूति को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई परन्तु श्वेताम्बर परम्परा के सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इन्द्रभूति गीतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर एवं तत्पश्चात् सुधर्मा को द्वितीय पट्टधर माना गया

१ तिलोय पण्णत्ति, महा० ४, गा. १४७८

२ वही, गा. १४७९

३ ब्रह्म हेमचन्द्ररचित श्रुतस्कन्ध, गा. ६८

४ जम्बूसामिचरिउ, वीर कवि रचित (सम्पादक डा० बी. पी. जैन) १० : २३

५ जम्बू चरित्र, राजमल्ल रचित, सर्ग १२, श्लो. १०९, ११०, ११२, १२० और १२१

है। वस्तुतः भगवान् के प्रमुख गणधर और प्रधान शिष्य होने के कारण इन्द्रभूति गौतम उनके पट्टधर बनने के सर्वप्रथम अधिकारी थे, संभवतः इसी दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में एतद्विषयक किसी प्रकार के ऊहापोह, युक्ति अथवा प्रमाण के प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता न समझकर सहज रूप से यह उल्लेख कर दिया गया कि प्रभु के निर्वाण पश्चात् इन्द्रभूति गौतम उनके प्रथम पट्टधर बने।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में इन्द्रभूति की विद्यमानता में आर्य सुधर्मा को भगवान् का प्रथम पट्टधर बनाये जाने के सम्बन्ध में सौचित्तिक एवं सप्रमाण पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के "केवलिकाल" शीर्ष-कान्तर्गत प्रकरण में इस विषय पर विस्तारपूर्वक जो विवेचन किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है :—

१. सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन काल में ही अपने ११ प्रमुख शिष्यों को गणधर पद प्रदान करते समय आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझकर - "मैं तुम्हें धुरी के स्थान पर रखकर गण की अनुज्ञा देता हूँ" - यह कह कर एक प्रकार से अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

२. प्रभु के निर्वाण के थोड़े समय पश्चात्, उसी निर्वाण रात्रि में इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व उत्तराधिकारी के पद पर नियुक्त व्यक्ति केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् उस पद पर बना रह सकता है पर जिसे केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है, वह व्यक्ति किसी का उत्तराधिकारी नहीं बनाया जा सकता। इसका कारण यह है कि कोई भी पट्टधर अपने पूर्ववर्ती आचार्य के आदेशों, उपदेशों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार तथा आज्ञाओं का पालन करवाता है। परन्तु केवलज्ञानी निखिल चराचर के पूर्ण ज्ञाता एवं साक्षात् द्रष्टा होने के कारण - "भगवान् ने जैसा कहा है, वही मैं कह रहा हूँ" यह कहने के स्थान पर "मैं ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ" यह कहने की स्थिति में रहता है। ऐसी स्थिति में तीर्थंकर महावीर द्वारा अर्थतः प्ररूपित द्वादशांगी का श्रमण-समूह को ज्ञान कराते समय कोई केवलज्ञानी यह नहीं कह सकते कि भगवान् महावीर ने ऐसा देखा, ऐसा जाना और ऐसा कहा। वे तो प्रत्यक्ष ज्ञाता एवं द्रष्टा होने के कारण यही कहते कि मैं ऐसा देखता हूँ, ऐसा जानता हूँ और जो देखना जानता हूँ वही कहता हूँ। उस दशा में अंतिम तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित श्रुत-परम्परा भगवान् महावीर की परम्परा न रहकर गौतम केवली की श्रुतपरम्परा कही जाती।

आर्य सुधर्मा उस समय तक चार ज्ञान और चतुर्दश पूर्वों के धारक थे। उन्हें वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी का उपदेश करते समय वे लक्ष्म्यस्थ होने के कारण यही कहते

<sup>१</sup> आवश्यक जूणि, पृ. ३७०

कि भगवान् ने ऐसा देखा-जाना-उपदेश दिया और इस प्रकार की आज्ञाएँ दीं, जैसा मैंने उनसे सुना वही कह रहा है ।

इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए तीर्थेश्वर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुतपरम्परा को पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त श्रेविच्छिन्न एवं उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने वाली उनकी आज्ञाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये केवली गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर न मान कर चतुर्दश पूर्वधर और मनः पर्यवज्ञानी सुधर्मा को माना गया ।

धवलाकार (शक सं० ७३८ अनुमानतः) से ३५८ वर्ष पूर्व मुनि सर्वेन्द्र (शक सं० ३८०)<sup>१</sup> द्वारा रचित 'लोक-विभाग' (प्राकृत) के संस्कृत रूपान्तर-कार सिंहसूरषि ने 'लोक-विभाग' (संस्कृत) की प्रशस्ति में लिखा है :—

देवों और मनुष्यों की सभा में तीर्थकर वर्द्धमान प्रभु ने भव्यजनों के हित के लिये जगत् का विधान कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य-परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिंहसूर ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर विरचित किया उसका निपुण जनों ने सम्मान किया है ।<sup>२</sup>

इससे अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर समाज में भी प्राचीन काल में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर मानने की परम्परा प्रचलित थी ।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य धर्मघोष ने अपनी 'दुस्ममाकालसमण-संघथय'—नामक (ऐतिहासिक महत्व की) एक छोटी सी स्तुतिपरक पुस्तिका की प्रवचूरी में वीर-नि० १ से ६० तक पालक के ६० वर्ष के राज्यकाल में हुए युगप्रधान पुरुषों का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

“तस्य य वरिस ६० रज्जे गोयम १२ सुहम्म ८ जंवू ४४ जुगप्पहाणा ।”<sup>३</sup>

कुछ विद्वानों का इस पर यह अभिमत हो सकता है कि इन तीनों का पृथक् पृथक् समय देते हुए जो कालक्रम की कड़ियाँ जोड़ी गई हैं, वह भगवान् महावीर के पट्टानुक्रम की ओर ही स्पष्ट इंगित है । परन्तु इस प्रश्न पर सूक्ष्म दृष्टि से थोड़ी सी गम्भीरतापूर्वक विचार करते ही इस प्रकार की आशंका निराधार सिद्ध हो जायगी । युगप्रधान पट्टावली में इन्द्रभूति गौतम का कहीं

<sup>१</sup> प्रस्तुत पृथ पृ० ४५

<sup>२</sup> अध्येभ्यः सुरमानुपीरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता,  
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञानं सुधर्मादिभिः ।  
आचार्यावलिकागतं विरचितं तन् सिंहसूरषिणा,  
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥

<sup>३</sup> आर्य जम्बू के अन्तिम ४ वर्षों की गणना अवचूरिकार ने आगे चलकर नन्द के राज्य में कर ली है ।

नामोल्लेख नहीं है। यदि युगप्रधान आचार्यों में गौतम की गणना की गई होती तो उनका नाम युगप्रधान पट्टावली में अवश्य होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित रूप से अवचूरी में आचार्य धर्मघोष द्वारा जो गौतम का नामोल्लेख किया गया है, वह वीर निर्दोष के पश्चात् हुए प्रथम केवली के नाते उनके प्रति सम्मान प्रगट करने की दृष्टि से उस युग के महान् पुरुष के रूप में किया गया है न कि युगप्रधानाचार्य के रूप में।

आर्य सुधर्मा के प्रकरण में — 'वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार', 'द्वादशांगी का परिचय', 'द्वादशांगी का ज्ञान एवं विच्छेद' और द्वादशांगी विषयक दिग्म्बर मान्यता' — इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत पृष्ठ सं० ६८ से १८६ तक लगभग ११८ पृष्ठों में द्वादशांगी विषयक सुविस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण परिचय दिया गया है। इस प्रकरण को सर्वसाधारण के लिए सुगम तथा शोधार्थियों के लिए उपयोगी बनाने के लिए इस ग्रंथ के प्रधान सम्पादक श्री राठोड़ ने अलभ्य सामग्री उपलब्ध करा, एकादशांगी तथा द्वादशांगी से सम्बन्धित उपलब्ध विपुल साहित्य के गहन अध्ययन के साथ जो अनेक उपयोगी परामर्श दिये हैं, उन्हें कभी नहीं भुलाया जा सकता।

इस प्रकरण में द्वादशांगी की रचना विषयक जो मान्यता-भेद इन दोनों — श्वेताम्बर और दिग्म्बर — परम्पराओं में पाया जाता है, उस पर भी, यथासक्य विशद प्रकाश डाला गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में एक मत से निर्विवादरूपेण यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम प्रभृति ग्यारहों गणधर अपने अपने संदेह का प्रभु से समाधान पाकर एक ही दिन भगवान् के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हुए। उसी दिन सर्वज्ञ प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान और गणधर पद प्राप्त करने पर तत्काल उत्पन्न हुई गणधर-लघ्वि के प्रभाव से उन सबने प्रभु की वाणी के आधार पर सर्व प्रथम चतुर्दश पूर्वों और तदनन्तर शेष दृष्टिवाद सहित एकादशांगी का पृथकतः ग्रन्थ-गुंफन किया। तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर उन ग्यारहों गणधरों द्वारा स्वतन्त्ररूपेण ग्रथित द्वादशांगी में अर्थात् समानता रहते हुए भी वाचनावेद रहा है।

जैसा कि आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प — "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग" — में बताया जा चुका है, भगवान् के ११ गणधरों में से सात के पृथकतः, प्रत्येक के एक गण के द्विमात्र से सात गण, आठवें तथा नौवें गणधर का सम्मिलित एक गण और दशवें एवं ग्यारहवें गणधर का सम्मिलित एक गण — इस प्रकार कुल ६ गण थे। गणधरों की संख्या के अनुसार ग्यारह नहीं पर ६ गणों की दृष्टि से द्वादशांगी की ६ वाचनार्ण्य मानी गई हैं। इन्द्रभूति गौतम एवं सुधर्मा को छोड़कर शेष ६ गणधर, भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही अपने अपने गण आर्य सुधर्मा को सम्हला, एक एक मास का

पादोपगमन संघारा कर सिद्ध हो गये ।<sup>1</sup> उनके सात गण आर्य सुधर्मा के गण में विलीन हो गये ।

इन्द्रभूति गौतम भी वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंपकर सिद्ध हुए । इस प्रकार भगवान् के दश गणधरों की शिष्य परम्परा और उनकी ८ वाचनाएँ उनके (गणधरों के) निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गईं और परिणामतः केवल सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा और द्वादशांगी की वाचना अवशिष्ट रह गई ।<sup>2</sup>

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में द्वादशांगी की रचना के सम्बन्ध में २ प्रकार की मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं । धवलाकार से लगभग ढाई सौ – तीन सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य पूज्यपाद देवन्दी, (विक्रम की छठी शताब्दी) ने तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखी गई अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्ति में सभी गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना की जाने का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है –

“सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अपने परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति की विनिष्टता द्वारा अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया । उन तीर्थंकर के, प्रतिज्ञाय बुद्धि की श्रद्धि से सम्पन्न श्रुतकेवली गणधरों द्वारा भगवान् के उस उपदेश के आधार पर जो ग्रन्थों की रचना की गई, उसे अंगपूर्व लक्षण अर्थात् द्वादशांगी कहते हैं ।”<sup>3</sup>

इसी प्रकार धवलाकार के पूर्ववर्ती आचार्य अकलंक देव (वि० ८ वीं शती) ने तत्त्वार्थ सूत्र की राजवार्तिक टीका<sup>4</sup> में तथा विक्रम की ९ वीं शती के आचार्य विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थ' श्लोक वार्तिक<sup>5</sup> नामक अपने ग्रन्थ में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है ।

<sup>1</sup> (क) परिणाम्बुया गणहरा जीवन्ते एव जसाउ ॥६५८॥ [भावश्यक निर्युक्ति]

(ख) .....यश्च यश्च कालं करोति, स स सुधर्मस्वामिने गणं ददाति.....

[भाष० नि०, गा० ६५८ की मलयवृत्ति]

<sup>2</sup> (क) जे इमे अज्जतारा समया निग्गंथा विहरंति एए ए सभ्बे अज्जसुहम्मस्स अणमारस्स भावविज्जा, अवसेसा गणहरा निरवण्णा बुद्धिज्जा । [कल्प स्थविरावली]

(ख) अचुत्तिकादशांग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ॥१४४॥

[प्रभाषकचरित्र, ८ बुद्धवाचिचरित्र, पृ० ५७]

<sup>3</sup> तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविक्षेपेण अर्थतः, आगम, उद्दिष्टः ।

.....तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धपतिशयद्वियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतधन्व रचनम्—अंगपूर्वलक्षणम् । [सर्वार्थसिद्धि, १।२०.]

<sup>4</sup> अंगप्रविष्टमाचारादि द्वादशभेदं बुद्धपतिशयद्वि—युक्तगणधरानुस्मृत ग्रन्थ रचनम् १।२॥ अगवर्हत्सर्वज्ञहिमबन्निर्गतवाग्माज्यंविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्धपतिशयद्वियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतधन्वरचनम्—आचारादि द्वादशविधमंगप्रविष्टमित्युच्यते । तथा— आचारः, सूत्रकृतम् स्थानम्, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्ति..... । ।

[तत्त्वार्थवार्तिक, १।२० – १२, पृ० ७२]

<sup>5</sup> .....अहंद्भाषितार्थं गणधरदेवैः अर्थितम्—इति वचनात् ।

[तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, पृ० ६]

भाचार्य पूज्यपाद देवनन्दि द्वारा “तत्र सर्वज्ञेन परमषिणा” – इस पद में किये गये तृतीया विभक्ति के एक वचन के प्रयोग से तथा – “तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धयतिशयद्वियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिः” इस पद में गणधरों के लिये प्रयुक्त तृतीया विभक्ति के बहुवचन से निर्विवाद रूपेण यही अर्थ प्रकट होता है कि भगवान् महावीर ने अर्थतः आगमों का जो उपदेश दिया उसी को सब गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। इसमें आगे उहापोह अथवा शंका के लिये किसी प्रकार का अवकाश नहीं रह जाता।

दूसरी मान्यता यह है कि भगवान् से अर्थतः आगमों का उपदेश सुनकर इन्द्रभूति गौतम ने उसी दिन एक मुहूर्त में द्वादशांगी की प्रतिरचना की। तिलोय-पन्नत्ति,<sup>१</sup> धवला,<sup>२</sup> जयधवला<sup>३</sup> इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार<sup>४</sup> और अंगपण्णत्ती<sup>५</sup> में इसी मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।

धवलाकार ने उपरिर्वाणित मान्यता के प्रतिपादन के पश्चात् आगे चलकर अपनी एक ऐसी मान्यता रखी है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय आदि सभी परम्पराओं के उपलब्ध समस्त जैन साहित्य में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। धवलाकार ने केवल द्वादशांगी को ही नहीं अपितु सामाजिक, दशवैकालिक आदि १४ सूत्रों, १४ प्रकीर्णकों एवं अंगवज्यं आगमों को भी एक मात्र इन्द्रभूति द्वारा ही ग्रथित बताते हुए लिखा है :-

को होदि त्ति सोहम्मिद चालणादो (प्रश्नेन) जादसंदेहेण पंच पंचसयंते-  
वासिसिहियभादुत्तियपरिवुदेण माणात्थंभदसरोखेव पणट्ठमाणेण वड्ढमाण-  
विसोहिणा वड्ढमाणजिणददंसरोण णट्ठासंखेज्जभवज्जियगरुक्कम्मेषा  
जिणदस्स तिपदाहिणं करिय, पंचमुट्ठीय वंदिय हियेण जिणं भाइय पडिबण्ण-  
संजभेण विसोहिबलेण अंतोमुहुत्तेस्स उप्पण्णासेसगण्णदलक्खणेण उवलद्धजिण-  
वयणविणग्गयबीजपदेण गोदमगोत्तेण बम्हणेण इंदभूदिणा-आयार-सूदयड-  
ट्टाण-समवाय-वियाहपण्णत्तिणाहधम्मकहोवासयज्जभयणंतयड दस-अणुत्तरोववा-

- <sup>१</sup> महावीर भासियत्थो तस्सि चेतम्मि तत्थकात्थे य ॥७६॥  
विमत्ते गोदमगोत्ते जादेणं, इंदभूदिणामेणं ॥७७॥  
भावसुदपज्जएहि परिणदमइणा य बारसंगाणं ।  
चोइस पुब्बाण तहा, एकमुहुत्तेण विरबणा विहिदा ॥७६॥

[तिलोयपण्णत्ति, प्रथम अधिकार]

- <sup>२</sup> पुराणे तेण्णदभूदिणा भावसुद-पज्जयपरिणदेण बारहंगाणं चोइस-पुब्बाणं च गंधाण-  
मेक्केण चैव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा ।

[धवला, १, १, १, पृ० ६६]

- <sup>३</sup> तदो तेण गोममगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारिय दुवालसंगत्थेण तेणोव कालेस  
कयधुवांससगंगवरयणेण.....

[जय धवला]

- <sup>४</sup> तेनेन्द्रभूति-माणना, तद्विषयचोवदुष्प तस्सेन ।

अन्धोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपरः ॥६६॥

[इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार]

- <sup>५</sup> सिरिवद्धमाणमुहकय विणग्गयं बारहंग-सुदणाणं ।

सिरिगोयमेण रइयं अविद्धं सुणाह भवियजणा ॥४२॥

[अंग पण्णत्ती]

दियदस-पण्णवायरण-विवायसुत्त-दिट्ठिवादाणां-सामाडय-चउवीसत्थय-वंदण-पडि-  
ककमण-वडणइय-किदियम्म-दसवेथालि-उत्तरउच्चयण-कप्पववहार-कप्पाकप्प-महा-  
कप्प-पुंडरीय-महापुंडरीय, सिंसिहियाणं, चोदसपइण्णयाणमंगवज्जाणं च सावण  
मास बहुलपक्ख जुगादिपडिवय पुव्वदिवसे जेण रयणा कदा तेणिदभूदि भडारओ  
वद्धमाण-जिणतित्थगंथकत्तारो ।”

धवलाकार आचार्य बीरसेन के समकालीन पुत्राट संघीय आचार्य जिनसेन  
ने धवला से पूर्व रचित अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण में धवला की अपेक्षा और  
अधिक विस्तार के साथ बताया है कि भगवान् महावीर ने द्वादशांगी, पूर्वी तथा पूर्वी  
की चूलिकाओं के ज्ञान का उपदेश देने के पश्चात् सामायिक, चतुर्विंशति स्तव,  
वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार,  
कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमें सभी प्रायश्चित्तों का  
विधान है उस निषद्यका (निपीथ) का उपदेश दिया। तदनन्तर प्रभु ने अपनी  
देशना में मति आदि पाँचों ज्ञान के स्वरूप, विषय, फल, अपरोक्ष-परोक्षता,  
मार्गणा भेद, गुणस्थान विकल्पों, जीवस्थान के भेद-प्रभेदों सहित जीव द्रव्य  
का, सत्संख्यादि अनुयोगों आदि के द्वारा पुद्गलों एवं उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व,  
बन्ध, मोक्ष, लोक, अलोक आदि का विशद ज्ञान दिया। प्रभु के उस उपदेश के  
आधार पर गौतम मगधर ने अंग प्रविष्ट द्वादशांगी एवं उपांगों की रचना की।<sup>1</sup>

<sup>1</sup> अंगप्रविष्टतत्त्वार्थ, प्रतिपाद्य जिनेश्वरः ।

अंगबाह्यमबोचत्प्रतिपाद्यायंरूपतः ॥१०१॥  
सामायिकं यथाथस्त्रियं सचतुर्विंशतिस्तवम् ।  
वन्दनां च ततः पूर्तां, प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥  
वैनयिकं विनेयेभ्यः कृतिकर्म ततोऽवदत् ।  
दशवैकालिकां पृथ्वीमुत्तराध्ययनं तथा ॥१०३॥  
तं कल्पव्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा-  
कल्पं च पुण्डरीकं च, सुमहापुण्डरीकम् ॥१०४॥  
तथा निषद्यकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम् ।  
जगत्त्रयगुरुः प्राह पतिपाद्यं हिनीद्यतः ॥१०५॥  
मत्यादेः केवलान्तस्य, स्वरूपं विषयं फलम् ।  
अपरोक्षपरोक्षस्य, ज्ञानस्योवाच संख्यया ॥१०६॥  
मार्गणास्थानभेदेषु च, गुणस्थान विकल्पनैः ।  
जीवस्थानप्रभेदेषु च, जीव-द्रव्यमुपादिशन् ॥१०७॥  
सत्संख्याद्यनुयोगेषु च, सत्रामादिकमादिभिः ।  
द्रव्यं स्वलक्षणभिन्नं, पुद्गलादित्रिलक्षणम् ॥१०८॥  
द्विविधं कर्मद्रव्यं च, महन्तु - सुख दुःखदम् ।  
मोक्षं मोक्षस्य हेतुं च, फल चाष्टगुणात्मकम् ॥१०९॥  
बन्ध-मोक्षफलं यत्र, भुज्यते सत्त्रिधाकृतम् ।  
अन्तःस्थितं जगौ लोकमलोकं च बहिःस्थितम् ॥११०॥  
अथ सध्निद्विसम्पन्नः श्रुत्वार्थं जिनभाषितम् ।  
द्वादशांगं श्रुतस्कन्धं, सोपांगं गौतमो व्यधात् ॥१११॥

[हरिवंश पुराण, सर्ग २, पृ० २०]



पूज्यपाद देवनन्दी ने तत्त्वार्थ सूत्र की अपनी सर्वार्थ-सिद्धिवृत्ति में दश-  
वैकालिक आदि अंगबाह्य आगमों को आरातीय आचार्यों की रचना बताते हुए  
लिखा है :-

“आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिवलशिष्यानुग्रहात्  
दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीराणवजल घट-  
गृहीतमिव ।

पूज्यपाद देवनन्दी के इस उल्लेख से सहज ही अनुमान किया जा सकता है  
कि उनके समय तक दिग्म्बर परम्परा में भी दशवैकालिक एकादशांगी के समान  
परम प्रामाणिक माना जाता था ।”

दिग्म्बर आचार्य अकलंक देव ने भी तत्त्वार्थ वार्त्तिक में अंग बाह्य आगमों  
को आरातीय आचार्यों द्वारा रचित बताते हुए लिखा है :-

“आरातीयाचार्य-कृतांगार्थ-प्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ॥१३॥

यद्गणधर-शिष्य-प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेघा-  
युर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदंगबाह्यम् ।

दिग्म्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार में सूत्र की परिभाषा करते हुए  
बताया गया है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतिकेवली और सम्पूर्ण १० पूर्वों के  
धारण करने वाले आचार्यों द्वारा ग्रथित आगम को ही श्रुत के नाम से अभिहित  
किया जा सकता है । यथा :-

सुतं गणहरकथिदं, तद्देव पत्तेश्चबुद्धकथिदं च ।<sup>३</sup>

सुदकेवलिकाकथिदं, अभिष्णादसपुण्ड्रकथिदं च ॥४॥

श्वेताम्बर परम्परा के टीका, चूर्ण भाष्य आदि मान्य ग्रन्थों में अंग प्रविष्ट  
(द्वादशांगी) को गणधरों द्वारा ग्रथित<sup>४</sup> एवं अंगबाह्य आगमों को विशुद्ध आगम  
बुद्धि संयुक्त (चतुर्दशपूर्वधर एवं अभिन्न दशपूर्वधर) आचार्यों द्वारा द्वादशांगी के  
आधार पर रचित माना गया है ।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> सर्वार्थसिद्धि, १, २०, पृ० १२४

<sup>२</sup> तत्त्वार्थ वार्त्तिक, १, २०, पृ० ७८

<sup>३</sup> मूलाचार ३.८०

<sup>४</sup> जे अरहंतेहि भगवंतेहि अईयाणागयवट्टमाण - ढव्वल्लेत्तकालमात्रजपाकल्पितवंसीहि अत्था  
परुविया ते गणहरेहि परमबुद्धिसन्निवायगुणसंपण्णेहि सयं चेव तित्थगरसमासाधो  
उवल्लभिऊणं सध्व-सत्ताणं हितट्ठयाय सुतत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवास-  
सविहं । [ आवश्यक चूर्ण, भाग १, पृ० ८ ]

<sup>५</sup> जं पुण अण्णेहि विमुद्धागमबुद्धिजुत्तेहि धेरेहि अण्णाउयाणं मण्णुयाणं अण्णबुद्धिसत्तीणं च  
दुग्गाहकंति एाऊणं तं चेव आयाराइ सुयणाणं परंपरागतं अत्थतो गंधतो य अस्ति बहुति  
काऊणं अण्णुक्कपाणिमित्तं दसवेतालियमादि परुवियं तं अण्णेगभेदं अण्णगपविट्ठं ।

मरणक मुनि के हितार्थ आचार्य शय्यंभव द्वारा द्वादशांगी में से दशवैकालिक सूत्र के निर्युद्ध किये जाने का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक निर्युक्ति की निम्न-लिखित गाथा में किया गया है :-

मरणं पडुच्च सज्जंभवेण, निज्जूहिया दसज्जयणा ।

वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं णाम ॥<sup>१</sup>

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के उपर्युद्धत उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि गणधरों ने प्रभु महावीर के उपदेश के आधार पर केवल द्वादशांगी की ही प्रति-रचना की। द्वादशांगी वस्तुतः गणधरों की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चरित्र के धनी तीर्थंकर प्रभु महावीर ने जो निखिलार्थ प्रतिपादी अथाह ज्ञान का उपदेश दिया उस ही को कतिपय अंशों में हृदयंगम कर गणधरों ने उसे द्वादशांगी का रूप दिया; अतः उनकी इस ग्रथन क्रिया के लिये रचना की अपेक्षा प्रतिरचना शब्द का प्रयोग विशेष उपयुक्त जंचता है। वस्तुतः द्वादशांगी में समस्त ज्ञेय को समाविष्ट कर दिया गया था। उसमें प्रतिपादित ज्ञान के अतिरिक्त कोई विशिष्ट ज्ञातव्य अवशिष्ट ही नहीं रह गया था, जिसके लिये द्वादशांगी के अतिरिक्त और किसी आगम की प्रतिरचना की गणधरों को आवश्यकता रहती।

“जस्स जत्तियाइं सीसाइं तस्स तत्तियाइं पड्णससहस्साइं” - नन्दीसूत्र के इस उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों (गणधरों के अतिरिक्त) तथा प्रत्येक बुद्धों, शय्यंभव और भद्रबाहु जैसे चतुर्दश-पूर्वधर तथा श्यामार्य जैसे दशपूर्वधर एवं धृतार्थतत्त्वपारगाभी देवद्वि जैसे आचार्यों द्वारा द्वादशांगी के अथाह ज्ञान में से साधकों के लिये परमोपयोगी ज्ञान को चुन-चुन कर पृथक्-पृथक् प्रकीर्णकों के रूप में संकलित आगम ही अंगबाह्य आगम हैं। यदि संक्षेप में यह कहा जाय तो उपयुक्त होगा कि अंगबाह्य आगम द्वादशांगी रूपी अगाध अमृत-सागर में से भर कर पृथकतः रखे हुए अमृतघट तुल्य हैं।

इन सब तथ्यों के पर्यालोचन के पश्चात् सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रभु की प्रथम देशना के पश्चात् उसी दिन गणधरों ने द्वादशांगी की रचना की। तदनन्तर तीर्थंकर के समस्त अतिशयों से युक्त भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक विचरण करते हुए अपनी देशनाओं में समसामायिक, भूत अथवा भावी घटनाओं, चरित्रों, दृष्टान्तों आदि प्रसंगोपात्त विविध विषयों का जो दिग्दर्शन कराया उनके आधार पर स्वविरो ने आगमों की रचना की। जैसा कि ‘उत्तराध्ययन’ शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्टतः प्रकट होता है कि यह सूत्र प्रभु महावीर द्वारा दिये गये उत्तरकालवर्ती उपदेशों के आधार पर ग्रथित अध्ययनों का संकलन है। समवायांग और कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर

<sup>१</sup> दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. १५ (वही)

ने सोलह प्रहर की अपनी अन्तिम देशना में पुण्य फल के २५, पाप फल विपाक<sup>१</sup> के ५५ एवं अपृष्ट व्याकरण (उत्तराध्ययन) के ३६ अध्ययन कहे और ३७ वें अध्ययन का उपदेश देते देते वे शैलेशी दशा में पहुँच निर्वाण को प्राप्त हो गये ।<sup>२</sup>

इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के उपरिचिचित उल्लेखों के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि द्वादशांगी की रचना किसी एक गणधर ने नहीं अपितु सभी गणधरों ने की और निर्वाणान्तर पश्चाद्द्विती काल में समय समय पर आवश्यकतानुसार चतुर्दश पूर्वधर तथा कम से कम दशपूर्वधर आचार्यों ने अंगबाह्य आगमों की दृष्टिवाद के पूर्वांग में से संकलना की ।

आचार्य वीरसेन ने गौतम द्वारा द्वादशांगी के साथ ही अंगवर्ज्य १४ आगमों की रचना का जो उल्लेख धवला में किया है, उस पर एक प्रश्न उपस्थित होता है । वह यह है कि दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों एवं स्वयं धवलाकार के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् सम्पूर्ण द्वादशांगी में से किसी एक अंग तक का ज्ञाता मुनि भी यहां विद्यमान नहीं रहा । क्रमिक ह्रास होते होते वीर निर्वाण संवत् ६८३ में अवशिष्ट अन्तिम अंग आचारांग का भी आर्यधरा से लोप हो गया । तब प्रश्न उठता है कि अंगवर्ज्य आगमों का क्या हुआ ? वे कुछ अवशिष्ट रहे, अथवा द्वादशांगी के साथ ही सबके सब विलुप्त हो गये ? न तो धवलाकार ने इस विषय में कोई उल्लेख किया है और न किसी अन्य ग्रन्थकार ने ही । इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर शोधप्रिय विद्वान् अवश्य प्रकाश डालेंगे ऐसी आशा है ।

२. श्रुतकेवलिकाल — पृष्ठ २६१ से ३८० तक कुल ८६ पृष्ठों के इस प्रकरण में श्रुतकेवलिकाल के चतुर्दशपूर्वधर ५ आचार्यों के जीवन परिचय के साथ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में उन आचार्यों की समान संख्या कितु नामभेद, उनके समय में घटित विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं, दशवैकालिकसूत्र की रचना, प्रथम आगम वाचना, छेदसूत्रों की रचना, भद्रबाहु के इतिवृत्त को लेकर दोनों परम्पराओं में व्याप्त कतिपय भ्रान्त धारणाओं, भिन्न समय में हुए आचार्य भद्रबाहु और मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त को समकालीन ठहराने तथा उनके समय में दिगम्बर श्वेताम्बर-भेद के तथाकथित बीजारोपण की केवल काल्पनिक (एवं नितान्त निर्मूल) मान्यता के जन्म तथा क्रमिक विकास, उपलब्ध निर्युक्तियों को श्रुतकेवली भद्रबाहु की रचना मानने विषयक भ्रान्ति, ओसवाल वंश की उत्पत्ति, गोदास गण तथा सर्वप्रथम गोदासगण और उसकी शाखाओं के प्रादुर्भाव आदि महत्व के अनेक विषयों पर अनुसन्धानात्मक विवेचन प्रस्तुत कर यथाशक्य पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है ।

यह प्रकरण वस्तुतः अनेक दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण है । श्वेताम्बर और दिगम्बर — दोनों ही परम्पराओं के परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा वीर निर्वाण

१ ये दोनों विपाकसूत्र से भिन्न हैं, वर्तमान में उपलब्ध नहीं होते ।

२ देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४७०

सं० १७० (श्वे० मान्यतानुसार) अथवा वीर नि० सं० १६२ (दिगम्बर मान्यतानुसार) स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं के साथ अनुमानतः वीर नि० सं० ६३० से ६६० के बीच हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को नाम साम्य के कारण जोड़ दिए जाने के फलस्वरूप दोनों परम्पराओं में एक लम्बे समय से अनेक भ्रान्त धारणाएं चली आ रही हैं। इस प्रकरण में इन्हीं दोनों परम्पराओं के प्राचीन एवं मध्ययुगीन ग्रन्थों तथा शिलालेख के आधार पर दोनों परम्पराओं के हृदयों में धर की हुई उन भ्रान्तियों का निराकरण किया गया है।

भगवान् महावीर का धर्मसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर — इन दो परम्पराओं के रूप में किस प्रकार विभक्त हुआ — इस विषय में तो दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में आकाश-पाताल का सा अन्तर है। किन्तु यह मतभेद किस समय उत्पन्न हुआ — इस प्रश्न पर यदि मोटे तौर पर विचार किया जाय तो दोनों परम्पराओं की मान्यता में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होगा। केवल तीन वर्ष का अन्तर है। इस प्रकार का सम्प्रदायभेद दिगम्बर परम्परा की प्राचीन एवं साधारणतया वर्तमान में गञ्जित मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में और श्वेताम्बर परम्परा की सर्वसम्मत मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में उत्पन्न हुआ, माना जाता है।

दिगम्बर मत कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकार एकमत हैं। जबकि श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई — इस विषय में दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थकारों में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के जिन-जिन ग्रन्थों में उल्लेख देखे गये हैं वे सब परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न ही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपरिलिखित प्रकरण में पृष्ठ संख्या ३३७ से ३५८ तक २२ पृष्ठों में एतद्विषयक दिगम्बर परम्परा की विभिन्न मान्यताओं का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है।

दिगम्बर-परम्परा के आचार्य देवसेनकृत 'भावसंग्रह' (दर्शनसार के कर्त्ता से भिन्न) आचार्य हरिवेणकृत 'बृहत्कथाकोष' (वीर नि० सं० १४५६), अपभ्रंश भाषा के कवि रघूकृत 'महावीर चरित्' (वि० सं० १४६५ तदनुसार वीर नि० सं० १६६५) और भट्टारक रत्ननन्दिकृत 'भद्रबाहु चरित्र' (वि० सं० १६२५ तदनुसार वीर नि० सं० २०६५) — इन चार ग्रन्थों में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्वेताम्बर परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख 'दर्शनसार' का है। अपने से पूर्ववर्ती किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित एक गाथा<sup>१</sup> को आचार्य देवसेन ने वि० सं० ६६० में रचित अपने

<sup>१</sup> छत्तीसे बरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

संरट्ठे उप्पण्णो, सेवडसंधो ह् वल्लहीए ॥

[दर्शनसार तथा भावसंग्रह]

छोटे पर ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थ 'दर्शनसार' में उल्लेख किया है। उसी गाथा को मूलाधार के रूप में प्रथम स्थान देते हुए देवसेन<sup>१</sup> (दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न) ने अपने ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में श्वेत पट संघ की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है उससे निम्नलिखित बातें स्पष्टतः प्रकट होती हैं :-

१. निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु नामक आचार्य विक्रम सं० १२४ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५६४ में उज्जयिनी में ठहरे हुए थे।

२. उन्होंने अपने निमित्तज्ञान के बल पर समस्त श्रमण संघों को सूचित किया कि अबन्ती सहित समस्त उत्तरापथ में भीषण दुष्काल पड़ने वाला है जो १२ वर्ष तक चलेगा। अतः सभी श्रमण उत्तरापथ से विहार कर सुभिक्षा वाले क्षेत्रों की ओर चले जायं।

३. सभी आचार्य अपने-अपने संघ सहित उत्तरापथ से विहार कर अन्यत्र चले गये। शान्ति नामक आचार्य सीराष्ट्र प्रदेश के वल्लभी नगर में पहुँचे पर वहाँ भी बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ गया। दुष्कालजन्य अपरिहार्य परिस्थितियों में शान्त्याचार्य के संघ के श्रमणों ने दण्ड, कम्बल, पात्र, श्वेतवस्त्रादि धारण कर श्रमणों के लिये वजित शिथिलाचार की शरण ली।

४. शेष श्रमणों के संघ जहाँ जहाँ गये वहाँ संभवतः सुभिक्षा रहा और उन्होंने अपने विशुद्ध एवं कठोर श्रमणाचार में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आने दिया।

५. सुभिक्षा होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्य-समूह को सत्परामर्श दिया कि वे दण्ड, वस्त्र, पात्रादि का परित्याग कर प्रायश्चित्त लें और पूर्ववत् कठोर श्रमणाचार में प्रवृत्त हो जायं। शान्त्याचार्य के कटुसत्य आदेश से क्रुद्ध हो उनके जिनचन्द्र नामक प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड प्रहार किया जिससे उनका प्राणान्त हो गया।

६. शान्त्याचार्य की हत्या कर जिनचन्द्र उनके संघ का आचार्य बन गया और उसने स्वेच्छानुसार अपने आचरण के अनुकूल नवीन शास्त्रों की रचना की।

७. दिगम्बर मान्यतानुसार वीर नि० सं० १६२ में स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु का न कहीं इसमें उल्लेख है और न विशाखाचार्य, रामिल्ल, स्थूलवृद्ध, स्थूलाचार्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त का ही। यह पूरा विवरण वस्तुतः वि०

<sup>१</sup> 'भाव संग्रह' और 'सुसोयणा चरित' के रचनाकार देवसेन ने अपने आपको निबड्डिबेव का प्रशिष्य और विमलसेन (अपरनाम मलधारिदेव) का शिष्य बताया है। इन्होंने 'सुसोयणा चरित' में कवि-पुण्ड्रत का, जिनका समय वि० सं० १०२६ अर्थात् दर्शनसार के रचयिता देवसेन से ३६ वर्ष बाद का है। इन शब्दों में स्मरण किया है :-

अत्रमह-मयंभु-पमुहं हि रन्धिय दुहिय पुष्कयनेण । सुरसइ सुरहीए पयं तिरि देवसेणेण ।

सं० १२४ से १३६ के बीच का और उस समय में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु से सम्बन्धित बताया गया है ।

अवन्ती में भावी द्वादशवर्षीय दुष्काल की नैमित्तिक भद्रबाहु द्वारा पूर्व सूचना पर संघ तथा भद्रबाहु में दक्षिणगमन का जो विवरण आचार्य देव सेन ने प्राचीन गाथा के उल्लेख के साथ भाव संग्रह में किया है, उसकी पुष्टि, भ्रमण वेल्गोल पार्श्वनाथ वसति के शक सं० ५२२ (वि० सं० ६५७) के शिला लेख से होती है ।<sup>१</sup>

अब तो गहन शोध के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के अन्य अनेक विद्वान् भी स्पष्ट रूप से कहने लगे हैं कि दक्षिण में प्रथम भद्रबाहु नहीं अपितु द्वितीय भद्रबाहु गये थे । डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी, आचार्य, पुस्तकालयाध्यक्ष एवं प्राध्यापक नवनालन्दा महाविहार (नालन्दा) ने लिखा है :-

"हम श्रवण वेल्गोल के एक लेख (प्र. भा. नं. १) से जानते हैं कि दक्षिण भारत में सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वितीय आये थे और वहां जैन धर्म की प्रतिष्ठा इनसे ही हुई थी, पर कदम्बवंशी नरेशों के एक लेख (६८) से मालूम होता है कि ईसा की ४-५ वीं शताब्दी में जैन संघ के वहां विशाल दो संप्रदाय - श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ - का अस्तित्व था । इसी तरह इस वंश के कई लेखों में जैनों के यापनीय और कूर्चक नाम संघों का उल्लेख मिलता है, जो कि एक प्रकार से उक्त दोनों से भिन्न थे ।

दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एवं यापनीय तथा कूर्चक संप्रदायों की स्थापना किसने की, यह बात स्पष्ट रूप से हमें लेखों से विदित नहीं होती, पर यह कहने में शायद आपत्ति नहीं होगी कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वहां भद्रबाहु (द्वितीय) द्वारा स्थापित हुआ ।"<sup>२</sup>

उपरिलिखित प्राचीन गाथा, शिला लेख एवं शोधकर्त्ताओं द्वारा समर्थित आचार्य देवसेन के विवरण के विपरीत आचार्य हरिषेण (वीर नि० सं० १४५६) ने अपने 'कथाकोश' में वीर नि० सं० ६०६ के आसपास हुए निमित्तक भद्रबाहु के इस आख्यान को वीर नि० सं० १६२ में स्वगंस्थ हुए श्रुत केवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर निम्नलिखित नवीन बातें और बढ़ा दी हैं ।

<sup>१</sup> ".....महावीर सचितरि परिनिवृत्ते .....गोत्तम.....लौहायं जम्बुविष्णुदेवापराजित गोबर्द्धन-भद्रबाहु-विशाल-प्रोष्ठिल-कृतिकाय-जयनाम-सिद्धार्थ-वृतिषेण-बुद्धिवादि गुरु परम्परीण बक्र (क) माभ्यागतमहापुरुष-संतति समवद्योतितान्वय भद्रबाहुस्वामिना उज्जयव्यामष्टांगमहानिमित्ततस्वज्ञेन त्रैकाल्यदक्षिणा निमित्तेन द्वादशसंवरसरकालवर्षभ्य-मुपासभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथादक्षिणापथं प्रस्थितः ।

[जैन शिलालेख संग्रह भा० १, शिलालेख सं० १]

<sup>२</sup> [जैन शिलालेख संग्रह, भा. ३ (माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रंथ माला समिति), प्रस्तावना, पृ. २३]

अवन्ती में भावी बारह वर्षीय दुष्काल की सूचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने श्रमण संघ को देते हुए निर्देश दिया कि सब श्रमण उत्तरा पथ से दक्षिणापथ में लवण समुद्र के तटवर्ती प्रदेश की ओर विहार कर जायें। दुष्काल का हाल सुनकर भीर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षा ग्रहण करली और १० पूर्वा का अध्ययन कर वे विशाखाचार्य के नाम से विख्यात हुए। उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर भद्रबाहु वहीं रहे और विशाखाचार्य ने श्रमण संघ सहित दक्षिण की ओर विहार किया।

वे दक्षिण के पुत्राट प्रदेश में पहुंचे। रामिल्ल, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र ये तीनों अपने संघ के साथ सिन्धु प्रदेश में चले गये।

आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान पर अनशन कर एवं समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त) अपने श्रमण समूह के साथ जिस प्रदेश में गये थे वहां सुभिक्ष रहा और वे विशुद्ध श्रमणाचार पालते रहे। सिन्धु प्रदेश में भीषण दुष्काल के कारण रामिल्ल, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र के श्रमण दण्ड कम्बल पात्रादि धारण कर शिथिलाचारी बन गये। सुभिक्ष होने पर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य इन तीनों ने निग्रन्थ श्रमणाचार स्वीकार कर लिया पर हीन मनोबल वाले श्रमणों ने स्थविरकल्प परम्परा का प्रचलन किया।

भट्टारक रत्ननन्दी ने भी वीर निर्वाण सम्बत् २०६५ में रचित अपने भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रंथ में मुख्य रूप से हरिषेण का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित कुछ बातें जोड़ी हैं :-

चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न, रामल्य, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र आदि साधुओं का अवन्ती से बिहार कर उज्जयिनी के उपवनों में ही रहना, भद्रबाहु का दक्षिण के लिये बिहार, पर एक विस्तीर्णवन में निमित्त ज्ञान से अपनी स्वल्पायु का बोध होने पर चन्द्रगुप्तिमुनि (राजा चन्द्रगुप्त) के साथ वहीं रुक जाना और विशाखा-चार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर समस्त श्रमणसंघ के साथ बाहर वर्ष पर्यन्त दक्षिणी प्रदेशों में विचरण करते रहने का निर्देश, चन्द्रगुप्ति और विशाखा-चार्य को पृथक्-पृथक् दो मुनि बताना अर्थात् हरिषेण ने चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने पर उसका नाम विशाखाचार्य रखे जाने का जो उल्लेख किया है उसका निराकरण कर चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्ति मुनि बताना, चन्द्रगुप्ति मुनि को देव-निर्मित नगर में देवपिण्ड प्राप्त होते रहना, भद्रबाहु के स्वर्गगमन के अनन्तर उनके चरण-चिन्हों की सेवा, रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्रादि श्रमणों का वेष परिवर्तन और शिथिलाचार, सुभिक्ष हो जाने पर विशाखाचार्य का पुनः अवन्ती की ओर विहार, मार्ग में चन्द्रगुप्ति से मिलन, देवपिण्ड का सब श्रमणों द्वारा ग्रहण, रहस्योद्घाटन, प्रायश्चित्त, विशाखाचार्य का अवन्ती में आगमन, उनके द्वारा श्रमणाचार से विपरीत वेष और आचरण धारण करने वाले रामल्य

ग्रादि के साधुओं की भर्त्सना, स्थूलाचार्य द्वारा अपने श्रमणों को विभुद्ध श्रमणाचार के पालन करने का परामर्श, क्रुद्ध साधुओं द्वारा स्थूलाचार्य की हत्या ग्रादि ।

भट्टारक रत्ननन्दी से १३० वर्ष पूर्व हुए कवि रघू (वीर नि. सं. १६६५) ने महावीर चरित् में चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त को राजराजेश्वर बनाये जाने, चन्द्रगुप्त के पुत्र विन्दुसार, पौत्र अशोक प्रपौत्र एउकु (कुणाल) का वर्णन करते हुए सोतेली मां के षडयन्त्र द्वारा उसको अन्ध बना दिये जाने के उल्लेख के पश्चात् लिखा है कि अशोक ने अन्धे कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्त को मौर्य साम्राज्य का अधिपति बनाया । कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्त ने एक रात्रि में १६ स्वप्न देखे । भद्रबाहु से अपने स्वप्नों का दारुण फल सुनकर चन्द्रगुप्त (सम्प्रति) ने विरक्त हो उनकी सेवा में निर्ग्रन्थ-श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली ।

रघू ने इसके पश्चात् भद्रबाहु द्वारा दुष्काल की पूर्व-गूचना से लेकर सुभिक्ष के अनन्तर स्थूलाचार्य ग्रादि के श्रमणों द्वारा शिथिलाचार में प्रवृत्त रहने तक का शेष वर्णन रत्ननन्दी की तरह ही किया है । यहां यह उल्लेखनीय है कि हरिषेण, रत्ननन्दी ग्रादि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने जहां मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन बनाकर श्वेताम्बर दिगम्बर मतोत्पत्ति की घटना को वीर नि. सं. १६२ में घटित होना और आचार्य देवसेन ने चन्द्रगुप्त, विशाखाचार्य वामिल्ल, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्राचार्य ग्रादि किसी का किसी प्रकार उल्लेख न करते हुए वीर नि. सं. ५६४ में विद्यमान भद्रबाहु नामक नैमित्तिक भद्रबाहु के समय में सम्प्रदाय-भेद होना बताया है वहां रघू ने मौर्य-सम्राट सम्प्रति (कुणालपुत्र) को चन्द्रगुप्त के नाम से अभिहित करते हुए उसके अन्तिम समय में वीर नि. सं. ३३० के आसपास इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति होना बताया है । इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के पास कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक आधार नहीं था, जिसके फलस्वरूप जिसने जैसा सुना, जिसके सामने जैसी किंवदन्ती आई उसने उसी को आधार मान कर उममें अपनी ओर से दो चार नाम और कुछ नई बातें बढ़ाकर लिख डाला । (दिगम्बर परम्परा में) यदि इस विषय में कोई ठोस प्रामाणिक आधार होता तो 'जितने मुंह उतनी बात' इस कहावत के अनुसार (दिगम्बर परम्परा के) विभिन्न ग्रंथों में इस प्रकार के आकाश-पाताल तुल्य अन्तर वाले परस्पर विरोधी उल्लेख कदापि नहीं किये जाते ।

दिगम्बर परम्परा के उपरिर्चित उल्लेखों से कौन से उल्लेख में कितनी सच्चाई है और कितनी कोरी कल्पना—यह निर्णय तो प्रत्येक उल्लेख को इतिहास की कसीटी पर कसने के अनन्तर ही किया जा सकता है । यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के सब से प्राचीन शिलालेख (श्रवण बेलगोल-पार्श्वनाथ वसति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख सं. १) में आचार्य सिद्धार्थ, धृतिषेण एवं बुद्धिल ग्रादि के बहुत काल पश्चात् हुए नैमित्तिक आचार्य



भद्रबाहु द्वितीय द्वारा अगन्ती में भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की भविष्यवाणी के पश्चात् उनके अमरण संघ सहित दक्षिण में जाने का उल्लेख है न कि श्रुतकेवली भद्रबाहु का। यदि यह ऐतिहासिक महत्व की घटना श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित होती तो उस प्राचीन शिलालेख में इसका अवश्य उल्लेख होता। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गहन अन्वेषण के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के आधुनिक इतिहास गवेयक भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दक्षिण में प्रथम भद्रबाहु नहीं अपितु नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय गये थे।

हरिषेण, रत्ननन्दी आदि विद्वानों द्वारा उल्लिखित श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति विषयक उपरिर्चित विवरणों को ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर कसने के पश्चात् वे केवल किंवदन्ती पर आधारित ही नहीं अपितु नितान्त काल्पनिक और तथ्यविहीन ही सिद्ध होते हैं। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तथा दशपूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र के प्रकरण में भारत, यूनान और विश्व के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को भली-भांति सिद्ध कर दिया गया है कि ईसा पूर्व ३२७ (वीर नि. सं. २००) में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। ईसा पूर्व ३२४ तक उत्तरी सीमावर्ती राजा एवं पंजाब के छोटे-छोटे गणराज्य सिकन्दर से लोहा लेते हुए उसको आगे बढ़ने से रोकते रहे। सिकन्दर के सर्वोच्च सेनानायकों तथा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों के आधार पर ईसा पूर्व तथा ईसा की प्रथम, द्वितीय शताब्दी में यूरोपीय विद्वानों ने जो रचनाएं कीं, उनमें स्पष्ट उल्लेख किया है कि पोरस तथा चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को शक्तिशाली नन्द साम्राज्य पर आक्रमण करने के निम्न प्रोत्साहित किया था। उन्होंने सिकन्दर को बताया कि गंगादिराई का राजा विल्कुल दुश्चरित्र शासक है, कोई उसका सम्मान नहीं करता आदि आदि। ईसा की दूसरी शताब्दी के विद्वान् जस्टिन ने अपनी रचना 'एपिटोम' (सारसंग्रह) में स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने भारतीयों में यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काई। उसने लुटेरों का दल गठित किया और हाथी पर सवार हो वह यूनानियों से लड़ता रहा।

इस प्रकार विदेशी निष्पक्ष साक्षियों से मर्मथित केवल निर्विवाद ही नहीं अपितु सर्व मम्मत ऐतिहासिक तथ्य से यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो जाता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ (वीर नि० सं० २०० से २०३) तक चन्द्रगुप्त एक देशभक्त साधारण सैनिक के रूप में और नवम नन्द मगध के महाशक्तिशाली सम्राट् के रूप में विद्यमान था। सिकन्दर के पश्चाद्वर्ती यूनानी शासक सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में किये गये यूनानी लेखकों के उल्लेखों के मन्दर्भ में चन्द्रगुप्त, चाणक्य और मगध सम्राट् नवम नन्द विषयक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि चाणक्य ने ईसा पूर्व ३१२ तदनुसार वीर नि० सं० २१५ में नन्द साम्राज्य का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र के साम्राज्य का अधिपति बनाया।

सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टतः भासमान इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में वस्तुतः दिगम्बर परम्परा के उपरिचरित हरिवेश, रत्ननन्दी आदि द्वारा किये गये श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य को समकालीन बताने वाले उल्लेख केवल काल्पनिक किंवदन्ती मात्र ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि एक ओर तो दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थ, समस्त पट्टावलिियां वीर नि० सं० १६२ में श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास होना मानती हैं और दूसरी ओर भारतीय, यूनानी एवं विश्व-इतिहास से निर्विवादरूपेण यह सिद्ध है कि ईसा पूर्व ३२४ (वीर नि० सं० २०३) में अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ हो चुकने के ४१ वर्ष पश्चात् तक चन्द्रगुप्त साधारण सैनिक और नन्द मगध का शक्तिशाली सम्राट् था। 'तिल्योगालियपइन्ना' जैसे प्राचीन, प्रामाणिक एवं निष्पक्ष ग्रन्थ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वीर नि० सं० २१५ में नन्द साम्राज्य का अन्त और मौर्य साम्राज्य का अभ्युदय हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हरिवेश और रत्ननन्दी ने जिस समय ये विवरण लिखे, उस समय ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य उनके ध्यान में नहीं आये कि सम्प्रति के मगध सम्राट् बनने तक केवल पाटलिपुत्र ही मगध साम्राज्य की राजधानी रही, अन्ती वस्तुतः सम्प्रति के राज्यारोहण के पश्चात् १ वर्ष तक कुमार भुक्ति में ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध तथ्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही हरिवेश आदि ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के अन्ती में रहने की बात का उल्लेख किया है।

इस प्रकार के उल्लेखों के पीछे पूर्वाग्रह का पुट रहा है अथवा नहीं, इस विषय में तो साधिकारिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता पर इतना तो सुनिश्चित है कि पश्चाद्वर्ती भद्रबाहु नामक आचार्य के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को नामसाम्यजनित भ्रान्तिवशात् लगभग ४४४ वर्ष पूर्व हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया है।

नाम साम्य के कारण केवल दिगम्बर परम्परा में ही इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो ऐसी बात नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में भी इस प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न हुईं और अन्तर काल में हुए नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित निर्युक्तियों, उवसग्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु संहिता को तथा उनके जीवन की कतिपय घटनाओं को श्रुतकेवलीभद्रबाहु के जीवन से जोड़ दिया गया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण में विस्तारपूर्वक प्रमाण प्रस्तुत कर शताब्दियों से व्याप्त इस प्रकार की भ्रान्ति का निराकरण करने का प्रयास किया गया है।

श्रुतकेवलीकाल के ५ आचार्यों में से भद्रबाहु को छोड़ शेष चार श्रुतकेवलियों के नाम दोनों परम्पराओं में भिन्न क्यों पाये जाते हैं, इस प्रश्न पर यहां विशेष न कह कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहां तक आचार्यों के नाम का प्रश्न है -- दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भगवान् महावीर के गणधरों के नामों

के सम्बन्ध में भी कहीं मतैक्य नहीं मिलता।<sup>१</sup> यही कारण है कि इस युग के दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों द्वारा सम्मत गणधरों के नाम, ग्राम आदि परिचय को अपने ग्रन्थों में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया है।<sup>२</sup>

श्रुतकेवली काल की समाप्ति के पश्चात् एक नवीन तथ्य सामने आता है जो विद्वानों के लिये विचारणीय और गवेषकों के लिये गहन गवेषणा का विषय प्रतीत होता है। तीर्थ प्रवर्तन के समय से लेकर आर्य सुस्थित एवं सुप्रतिबद्ध के आचार्य काल के प्रारम्भिक कुछ काल तक भगवान् महावीर का धर्म संघ निर्ग्रन्थ संघ के नाम से लोक में विध्रुत रहा। आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल से आर्य भद्रबाहु (श्रुतकेवली) के आचार्य काल तक इसमें किसी गण विशेष का नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। पर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् कल्पस्थविरावली जैसी प्राचीन और प्रामाणिक पट्टावली में उनके प्रथम शिष्य गोदास के नाम से गोदास गण के प्रचलित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। निर्ग्रन्थ संघ में गण की विद्यमानता का यह सबसे पहला उल्लेख होने के कारण वस्तुतः विचारणीय है। कल्पस्थविरावली में गोदासगण की चार शाखाओं—तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पंडुवद्धणिया और दासी खव्वडिया—का भी उल्लेख है जो संभवतः सुदूरस्थ बंग प्रदेश के ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पोण्डुवर्धन आदि स्थानों में धर्म का प्रचार-प्रसार करने के फलस्वरूप उन स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुई प्रतीत होती है।

यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या स्थविर गोदास के समय में श्रमण संघ इतना विशाल स्वरूप धारण कर गया था कि श्रमणों के समीचीन अध्यापन, अनुशासन आदि की दृष्टि से गोदासगण के नाम से पृथक् गण स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी अथवा स्थविर गोदास और उनके विशाल शिष्य समूह के निरन्तर अति दूर बंग प्रदेश में ही विचरण करने रहने के फलस्वरूप केवल पहिचान मात्र के लिये उनके साधु समूह की गोदासगण के नाम से प्रसिद्धि हुई। बहुत गौरव विचार के पश्चात् हमें तो गोदासगण के उल्लेख के पीछे उपरि अनुमानित दो कारणों में से अंतिम कारण ही उचित प्रतीत होता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गवेषणा कर विशेष प्रकाश डालेंगे।

इस उल्लेख से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य गोदास ने अपने शिष्य समूह सहित दक्षिण में पहुँच कर वहां जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया।

३. दशपूर्वधर-काल :- वीर निर्वाण सं० १७० से ५८४ तक के इस काल में आर्य स्थूलभद्र से लेकर आर्य वज्र तक ११ दशपूर्वधर आचार्यों, आर्य सुहस्ती से प्रारम्भ हुई युग-प्रधान-परम्परा, आर्य बलिस्सह से प्रारम्भ हुई वाचकवंश परम्परा

<sup>१</sup> देखिये हरिवंश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१ से ४३, उत्तर पुराण.

<sup>२</sup> वीरोदय काव्य (पं० हीरालालजी शास्त्री द्वारा संपादित)

(नन्दीसूत्र के भादि मंगल के रूप में दी गई पट्टावली), गणाचार्य परम्परा (भार्य सुहस्ती-परम्परा की कल्पसूत्रीया स्थविरावली) के उपर्युक्त ४१४ वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों और उनके समय में घटित उल्लेखनीय घटनाओं, राजवंशों एवं विदेशी आक्रमणों आदि का संक्षेप में सारभूत परिचय दिया गया है।

यह प्रकरण भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण में जैन काल गणना की एक जटिल गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, जो विगत एक सहस्र वर्षों से विचारकों के लिये एक जटिल समस्या बनी हुई थी।

तित्योगालिय पद्धति जैसे प्राभाषिक एवं प्राचीन ग्रन्थ में जैन परम्परा की कालगणना का स्पष्ट तथा निर्विवाद उल्लेख होने के उपरान्त भी ईसा की १०वीं शताब्दी के पश्चात् के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर — दोनों ही परम्पराओं के कतिपय ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के ४५ वर्ष (तिलोयपण्णत्ती हरिवंशपुराण, धवला आदि की दृष्टि से ५३ वर्ष) पश्चात् नन्द साम्राज्य का अन्त कर मगध साम्राज्य के राजसिंहासन पर आसीन होने वाले मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के कुछ एक ग्रन्थों में जहाँ चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु का श्रद्धालु श्रावक बताया गया है वहाँ दिगम्बर परम्परा के हरिवंशकृत कथाकोश, रत्ननन्दीकृत भद्रबाहुचरित्र प्रभृति कथासाहित्य के ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त द्वारा श्रुतकेवली भद्रबाहु के पास निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा ग्रहण किये जाने तक का उल्लेख किया गया है<sup>१</sup>। दिगम्बर परम्परा में यह सर्वसम्मत मान्यता प्रचलित रही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु वीर निर्वाण सं० १६२ में स्वर्गस्थ हुए। दिगम्बर परम्परा के सर्व ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का उल्लेख विद्यमान है। श्वेताम्बर परम्परा के एतद्विषयक सभी ग्रन्थों में भी स्पष्ट उल्लेख है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु वीर नि० सं० १७० में स्वर्गवासी हुए।

दूसरी ओर यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण सं० २१५ में नन्द साम्राज्य का अन्त कर मगध साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के उपरिर्वाणत उल्लेखों के अनुसार यदि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का श्रावक अथवा श्रमणशिष्य माने तो इस दशा में या तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गरोहण काल को वीर निर्वाण सं० २१५ के १०-२० वर्ष पश्चात् लाना पड़ेगा<sup>२</sup> या फिर नन्द साम्राज्य के अन्त एवं मौर्य साम्राज्य के जन्म काल को वीर नि० सं० १६२ अथवा १७० से न्यून से न्यूनतम १५-१६ वर्ष पीछे की ओर ले जाना पड़ेगा। जैन साहित्य में दोनों प्रकार के उदाहरण उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा के कवि

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३५१

<sup>२</sup> दिगम्बर परम्परा के कवि रघु ने श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गगमन काल को वीर नि० सं० ३३० के आसपास ला रखा है।

रघु ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को अशोक के पौत्र-रायलु (कुराल) के पुत्र चन्द्रगुप्त (सम्प्रति) का समकालीन बता कर श्रुतकेवली भद्रबाहु का आचार्यकाल वीर नि० सं० ३३० के आसपास ला रखा है। दूसरा उदाहरण है श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य हेमचन्द्रसूरि और दिगम्बर आचार्य हरिषेण तथा रत्ननन्दी का, जिन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को समकालीन बताकर आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गगमन काल क्रमशः वीर नि० सं० १७० तथा १६२ और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय वीर नि० सं० १६२ के पूर्व और हिमवन्त स्थविरावलीकार ने तो शब्दों में वीर नि० सं० १५४ में ला रखा है।

काल गणना में इस प्रकार का ६० वर्ष का अन्तर कब और किस कारण आया इस पर निष्पक्ष दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो एक कारण प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईसा की ११ वीं शताब्दी के दिगम्बर आचार्य हरिषेण ने संभवतः दिगम्बर परम्परा को अति प्राचीन और श्वेताम्बर परम्परा को उससे अर्वाचीन सिद्ध करने के अभिप्राय से वीर नि० सं० ६०६ में उत्पन्न हुए सम्प्रदाय भेद की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु से सम्बद्ध किया हो। इसके साथ ही साथ यह भी संभव है कि दिगम्बर परम्परा की लोक में प्रभावना हो इस दृष्टि से भद्रबाहु के पास मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने तथा दीक्षित चन्द्रगुप्त का ही नाम विशाखाचार्य रखे जाने का उल्लेख किया हो। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा बड़ा सम्राट् भी जैन धर्मावलम्बी और श्रुतकेवली भद्रबाहु का अनन्य श्रद्धालु श्रावक था—यह जान कर लोगों में जैन-धर्म की प्रभावना होगी इस उद्देश्य से दिगम्बर परम्परा के आचार्य हरिषेण का अनुसरण करते हुए श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने भी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का समकालीन एवं परमभक्त श्रावक बताया हो।

दोनों परम्पराओं के एतद्विषयक सभी उल्लेखों का समीचीनतया पर्यालोचन करने पर एक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आता है कि दिगम्बर परम्परा के हरिषेण रत्ननन्दी आदि आचार्यों ने भद्रबाहु चन्द्रगुप्त विषयक कथानकों में इन दोनों के संवत् काल आदि का कहीं उल्लेख तक नहीं किया है। इस दृष्टि से भी इतिहास के क्षेत्र में इन कथानकों का एक किंवदन्ती से अधिक महत्त्व नहीं रह जाता।

आचार्य हेमचन्द्र ने भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को समकालीन बताकर स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु वीर नि. सं. १७० में स्वर्गस्थ हुए। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा किये गये इस उल्लेख से यह स्पष्टरूपेण प्रकट होता है कि इन दोनों को समकालीन बताते समय उन्होंने आचार्य परम्परा की काल गणना का तो पूरा ध्यान रखा है पर राज्य काल गणना में पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों की गणना करना वे एकदम भूल गये<sup>१</sup> और इस प्रकार वीर नि०

<sup>१</sup> एवं च श्री महावीर, मुक्तेवर्षशतेगते।

पंचपंचाशदधिके, चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥३३६॥ [परिशिष्ट पं०]

सं० २१५ में शामनारूढ हुए चन्द्रगुप्त को वीर नि० सं० १५५ में ६० वर्ष पहले ही मगध सम्राट् बना दिया।<sup>१</sup> आचार्य हेमचन्द्र द्वारा की गई यह राज्यकाल गणन विषयक त्रुटि उन्हीं के द्वारा किये गये महाराजा कुमारपाल के काल के उल्लेख से पकड़ ली गई।<sup>२</sup>

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं द्वारा सर्वमम्मति से स्वीकृत-विक्रम संवत्, ई० सन्, शक संवत् तथा वीर नि० संवत् - इन सब कालगणनाओं के तुलनात्मक विवेचन के अनन्तर पूर्णतः प्रामाणिक सिद्ध हुई राज्यकालगणना में दोनों परम्पराओं के हरिगण, हेमचन्द्र आदि चार आचार्यों ने जो ६० वर्ष का अन्तर डालकर भ्रान्ति उत्पन्न की है, उस भ्रान्ति का निराकरण न किये जाने की दशा में न केवल जैन इतिहास पर ही अपितु भारत के विगत २२०० वर्षों के इतिहास पर भी बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ना है। यद्यपि इस लम्बे काल से चले आ रहे बहुचर्चित प्रश्न पर हमने आनेवाले ग्रन्थमाला के प्रथम भाग (भगवान महावीर के प्रकरण) में पर्याप्त प्रकाश डाला है तथापि द्वितीय भाग के लेखन काल में हमें इस भ्रान्ति का सदा के लिये अन्तिम रूप में निवारण करने वाले जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं उनका इस प्रकरण में निष्पक्ष विदेशी साक्ष्य के साथ उल्लेख कर हम उनभी हुई गुत्थी को सदा के लिये मूलभूत का प्रयास किया है। हमारा यह प्रयास कहां तक सफल रहा है, इसका निर्णय पाठक तटस्थ दृष्टि से करें।

ईसा पूर्व ३२७ में भारत पर आक्रमण के समय सिकन्दर के साथ आये हुए मेनास्थेनोस द्वारा लिखे गये संस्मरणों तथा उनके उल्लेख के साथ प्रसिद्ध यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये संस्मरणों के आधार पर विदेशी विद्वान् जस्टिन (ईसा की दूसरी शती) ने 'एपिटोम' (सारसंग्रह) नामक पुस्तक लिखी। उस पुस्तक में सिकन्दर के मेनानियों द्वारा कनिष्य अश्वों देखी तथा प्रत्यक्ष अनुभूत घटनाओं का विवरण है। आज से २२०० वर्ष पूर्व की अति प्राचीन, कनिष्य अश्वों में पूर्णतः निष्पक्ष एवं प्रामाणिक साक्षी के उन उल्लेखों से इस प्रकरण में यह सिद्ध कर दिया गया है कि ईसा से ३२४ वर्ष पूर्व तक नन्दवंश का शक्तिशाली साम्राज्य, सम्राट् नवम नन्द और विदेशी आतताइयों को भारत की भूमि से बाहर खदेड़ने का हृदयकर्मण लिये रणांगण में युद्धरत युवा देशभक्त योद्धा चन्द्रगुप्त - ये सभी विद्यमान थे। इस प्रकार के प्रबल प्रमाणों से पुष्ट ऐतिहासिक तथ्य के समक्ष चन्द्रगुप्त सौर्य को श्वेतकेवली भद्रबाहु का समकालीन, शिष्य भ्रमण अथवा साक्षात् श्रावक बनाने वाले कथानक का मुख्य एक निराधार क्लिबदन्ती अथवा कपोलकल्पित कथानक से अधिक नहीं हो सकता।

<sup>१</sup> पालगरणो सट्टी, पलापसामयं विवाणि सांदाणं ।

मुत्तिपालगदिडससं, तीसा पुणभुतमित्तासा ॥ [तित्थोगालिय पइएण]

<sup>२</sup> देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३३६ ।

इस प्रकरण के - "आर्य स्थूलभद्र द्वारा अति दुष्कर अभिग्रह" और "उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्ति सुकुमाल" - ये दो ऐसे ग्रंथ आख्यान हैं, जो साधना-पथ पर अग्रसर होने वाले आध्यात्मिक पथ के पथिकों को सदा सर्वदा अर्जि सूर्य की तरह पथप्रदर्शन करते रहेंगे। संसार के साहित्य में अन्यत्र इस प्रकार के अप्रतिम आख्यान संभवतः खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होंगे। मौर्य सम्राट् चन्द्र-गुप्त, कलिंगपति महामेघवाहन, भिक्षुराय खारवेल, गर्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि राजाओं के जीवन एवं राज्य का जो परिचय दिया गया है, उससे न केवल जैनधर्म ही अपितु भारतीय इतिहास के कतिपय नवीन तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकरण के - "भ्रम का निराकरण" नामक उपशीर्षक के अन्तर्गत किये गये विवेचन में साम्प्रदायिक व्यामोहवशात् कुछ एक आधुनिक विद्वानों द्वारा अहिंसा के महान् सिद्धान्तों पर किये गये दोषारोपण का निराकरण किया गया है। इसमें न केवल भारतीय अपितु विश्व इतिहास के कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेष्य में यह बताया गया है कि सही अर्थ में अहिंसा के महान् सिद्धान्त ही शूरावीरता का पाठ पढ़ाते हैं। अहिंसा में कायरता के लिए कही लेशमात्र भी स्थान नहीं है। भारत में जब तक अहिंसा के महान् सिद्धान्तों का अन्तर्गमन से पालन होता रहा, तब तक मानवता सर्वतोमुखी समृद्धि के साथ समुन्नत होती हुई श्रेष्ठकर ममुत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर आसीन रही, देश सर्वतः सुसम्पन्न, स्वतन्त्र, शक्तिशाली और सुखी बना रहा। निर्वाण पश्चात् उदायी, नन्दिवधन्त, अशोक और विक्रमादित्य जैसे विश्ववन्धुत्व की भावना से प्रीत-प्रीत एवं अहिंसा के पुजारी राजाओं के राज्यकाल विश्व इतिहास में इस बात के प्रतीक हैं कि सच्ची अहिंसा का अनुपालन ही वस्तुतः सौख्य-समृद्धि एवं कल्याण की कुंजी है। अहिंसा के सिद्धान्तों ने विश्व की केवल मानवता पर ही नहीं अपितु विश्व के समस्त भूतमंथ पर असीम उपकार किया है। ज्यों-ज्यों मानव अहिंसा के विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तों को भूलता गया त्यों-त्यों वह मानवीय गुणों से विहीन हो दासता, और दारुण दुःख द्वन्द्व के निबिडतम बन्धनों में आवद्ध हो रसानल में गिरता गया।

इस प्रकरण के - "आ. सुहृस्ती के बाद की संघ व्यवस्था" - इस उपशीर्षक के अन्तर्गत गणों, शाखाओं, गणधर वंश परम्परा, वाचनाचार्य परम्परा और युग-प्रधानाचार्य परम्परा के उद्भव प्रयोजन और क्रमिक विकास का एक मुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। कालवशात् अवश्यंभावी गणवाहुन्य एवं अनेक आचार्यों के पृथक् अस्तित्व को, मान्यता प्रदान करते हुए उस समय के अग्रण श्रेष्ठों ने जो दूरदर्शिता पूर्ण बुद्धिकौशल प्रदर्शित किया और उसके फलस्वरूप भगवान् महावीर का धर्म-संघ विविधता में भी अपनी एकरूपता बनाये रख सका, उसका भी इस प्रकरण में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

४. सामान्य पूर्वधर-काल - श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ५८४ से १००० तक का काल सामान्य पूर्वधरकाल माना गया है। इस प्रकरण

में आर्य रेवतीनक्षत्र से लेकर आर्य देवद्विगणी समाश्रमण तक १० वाचनाचार्यों, आर्य रक्षित से आर्य सत्यमित्र तक १० युगप्रधानाचार्यों, आर्य रथ, चन्द्र, सामंतभद्र वृद्धदेव, प्रद्योतन, मानदेव आदि गणाचार्यों का परिचय दिया गया है। इस प्रकरण में अनुयोगों के पृथक्करण, शालिवाहन शाक-संवत्सर, जैन-शासन में सम्प्रदायभेद, दिगम्बर परम्परा में संघभेद, यापनीय संघ, गच्छों की उत्पत्ति, चैत्यवास, स्कन्दिलीया एवं नागार्जुनीया - इन दोनों आगमवाचनाओं, वीर नि० सं० ६८० में वल्लभी नगर में हुई अन्तिम आगमवाचना के समय आगम-लेखन, आर्य देवद्वि की गुरु-परम्परा, सामान्य पूर्वघर काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता, प्रज्ञापना सूत्र और षट्खण्डागम का तुलनात्मक परिचय, नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली को लेकर दिगम्बर परम्परा में व्याप्त कालनिर्णय विषयक भ्रान्ति आदि कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वीर नि० सं० ६०५ तदनुसार ई० सन् ७८ से प्रारम्भ हुए शालिवाहन शाकसंवत्सर के सम्बन्ध में यद्यपि इस प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है तथापि इस सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण परमावश्यक है। कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि भारत में कुषाण राज्य की नींव डालने वाले कुषाण राजा कनिष्क ने ई० सन् ७८ में सिंहासनारूढ़ होते ही अपने नाम से जिस कनिष्क संवत् का प्रचलन किया, वही शक संवत्सर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संयोग की बात है कि भारत भूमि से शक सत्ता का अन्त कर जिस वर्ष सातवाहनवंशीय गौतमीपुत्र सातकर्ण ने शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारणकर शालिवाहन शाक-संवत्सर की स्थापना की उसी वर्ष में भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अधिकार कर कनिष्क ने भी अपने राज्यारोहण की स्मृति में कनिष्क संवत् का प्रचलन किया। इस प्रकरण में यह स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है कि कुषाणवंशी कनिष्क पार्थियन था। उसने शकों को उत्तरी भारत में परास्त कर भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश कच्छ एवं सौराष्ट्र की ओर खदेड़ दिया।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में शकों के शत्रु एक कुषाणवंशी (पार्थियन) राजा द्वारा शकों के नाम पर किसी संवत्सर के प्रवर्तन की कल्पना तक नहीं की जा सकती। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यवेक्षण से यही सिद्ध होता है कि वर्तमान में प्रचलित शक संवत्सर शकों द्वारा स्थापित नहीं अपितु शकारि विक्रमादित्य के विरुद्ध से विभूषित गौतमीपुत्र सातकर्ण द्वारा, अवनती, सौराष्ट्र एवं पश्चिमी भारत से शकों की विदेशी सत्ता को समाप्त किये जाने के उपलक्ष में स्थापित शक्ति का प्रतीक शाक संवत्सर है। उसी वर्ष कुषाण-वंशी राजा कनिष्क ने भी कनिष्क संवत् चलाया; अतः इन दोनों संवत्सरों की पृथक्कतः पहिचान के लिए सातकर्ण द्वारा स्थापित शाक संवत्सर के साथ शालिवाहन अथवा सातवाहन (सातकर्ण का वंश) विशेषण जोड़ा गया।

जिस प्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण में दिगम्बर परम्परा के हरिषेण, रत्ननन्दी, देवसेन आदि आचार्यों तथा कवि रघु द्वारा श्वेताम्बर

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६२६



मतोत्पत्ति के सम्बन्ध में किये गये उल्लेखों को यथावत् उन्हीं के मृदु अथवा कटु शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, उसी रूप में इस प्रकरण में भी “जैन-शासन में सम्प्रदायभेद” – नामक उपशीर्षक में दिगम्बर मतोत्पत्ति विषयक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों के उल्लेख को यथावत् प्रस्तुत किया गया है। इसमें हमारा उद्देश्य दोनों ओर के उल्लेखों को यथावत् रूप में इतिहासज्ञों, अनुसन्धाताओं एवं पाठकों के समक्ष रखना मात्र है। वस्तुस्थिति को रखने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की भावना नहीं रही है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र और षट्खण्डागम का तुलनात्मक विवेचन तथा नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को दिगम्बर परम्परा के कतिपय चोटी के विद्वानों द्वारा तिलोयपभ्रान्ती, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, धवला, जय धवला आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी अधिक महत्व देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई भ्रान्त मान्यता का निराकरण करते समय हमें कतिपय ऐसे विद्वानों की मान्यताओं को अप्रामाणिक सिद्ध करना पड़ा है जिन्होंने जैन इतिहास, साहित्य एवं शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाएं देकर बड़ी ख्याति प्राप्त की है। ऐसा करने में हमारा विशुद्ध लक्ष्य तथ्यों को प्रकाश में लाना मात्र रहा है।

इस प्रकरण के अन्त में “केवलिकाल से पूर्वघर काल तक की साध्वी-परम्परा” विषयक शीर्षक में आर्य सुधर्मा से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक की १००० वर्ष की अवधि में हुई परम प्रभाविका प्रवर्तनियों एवं साध्वियों का यथोपलब्ध परिचय दिया गया है।

## उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीर नि० सं० १ से १००० तक का जैनधर्म का इतिहास दिया गया है। उसमें आचार्यों, आगमों, साधु-साध्वियों, गणों, गच्छों, कुलों शाखा-उपशाखाओं, जन-साधारण से लेकर शासकवर्ग तक के श्रावक-श्राविकाओं, उन आचार्यों के समय में घटित हुई प्रमुख धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के उल्लेख के साथ-साथ उक्त अवधि में हुए राजवंशों, उनकी परम्पराओं, राज्यविप्लवों, विदेशियों द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों आदि का भी यथावश्यक जो संक्षिप्त अथवा विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्य रहे हैं :-

१. समसामयिक धार्मिक एवं राजनैतिक घटनाचक्र का साथ-साथ विवरण प्रस्तुत कर धार्मिक इतिहास को विश्वसनीय एवं सर्वांगपूर्ण बनाना।
२. जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक घटनाओं का पर्यवेक्षण कर निहित स्वार्थ इतिहासकारों द्वारा उत्पन्न की गई अथवा उत्पन्न की जाने वाली भ्रान्तियों का निराकरण।
३. जैन धर्म के इतिहास की विविध कारणों से उलभी हुई जटिल

गुत्थियों को (राजनैतिक) इतिहास ग्रन्थों एवं जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से सुलभाने का प्रयास करना ।

४. स्वतन्त्रता तथा धर्मनिष्ठ शासकों के शासन काल में धर्म की सर्वतो-मुखी अभ्युन्नति एवं जन-जीवन की समृद्धि में शासक-वर्ग द्वारा दिये गये योग के सुफल से पाठकों को परिचित कराना ।

५. अधर्मिष्ठ कुशासकों एवं विदेशी आतताइयों के शासन में परतन्त्र प्रजा के सर्वतोमुखी पतन एवं धर्म के ह्रास के कुफल से पाठकों को परिचित कराना ।

६. धार्मिक, सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से सुशासक अथवा स्वशासित सुशासन जहां सर्वतोमुखी समुन्नति की मूल कुंजी है, वहां कुशासन अभाव-अभियोगों एवं घोर अवनति का जनक, इस तथ्य का निरूपण ।

७. प्रत्येक जैन को सुनागरिक के उन सभी परमावश्यक कर्त्तव्यों से अवगत कराना, जिनके पालन से देश में लोक कल्याणकारी सुशासन सशक्त एवं समुन्नत होता और उन कर्त्तव्यों से व्युत् होने की दशा में कृशासन के पनपने के साथ साथ देश अवनति के गहरे गड्ढे में गिरता है ।

८. भारतीय इतिहास के जिस-जिस समय को ऐतिहासिक घटनाओं की अनुपलब्धि के कारण अन्धकारपूर्ण बताया गया है, उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं को जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों, शिलालेखों आदि के ठोस आधार पर प्रकाश में लाकर भारतीय इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ना और इस प्रकार अन्धकारपूर्ण समय को प्रकाशपूर्ण बनाना ।

९. स्वातन्त्र्य मूलक सुशासन की सुखद शीतल छाया में ही भौतिक तथा आध्यात्मिक सौख्य-समृद्धि का कल्पतरु अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित एवं सुफल समन्वित होता है । इससे विपरीत पारतन्त्र्य मूलक कुशासन के अपावन पंक में सुरतरु के स्थान पर वैषम्य का विष-वृक्ष अंकुरित हो देखते ही देखते बीभत्स रूप धारण कर लेता है । उस विषवृक्ष के असितुल्य पत्र, दुर्वासना की दुस्सह्य दुर्गन्धपूर्ण पुष्प, पग-पग पर कुत्सित बलेशजनक अति तीक्ष्ण त्रिशूलतुल्य कण्टक और अभाव, अभियोग, अशान्ति, ईर्ष्या, कलह, अन्याय, अनीति, अनाचार रूपी विषाक्त फलों से मानव वस्तुतः मानवता को भूल कर किस प्रकार नारकीय कीट से भी निकृष्ट बन जाता है — इस तथ्य से प्रत्येक पाठक को अवगत कराने के अभिप्राय से ही प्रस्तुत खण्ड में धर्म एवं धर्माचार्यों के इतिहास के साथ साथ उसके समसामायिक इतिहास का भी दिग्दर्शन कराया गया है । मानवता को दानवता में परिवर्तित कर देने वाली भूतकालीन भूलों की पुनः किसी भी दशा में इस धर्मप्राण देश के निवासी पुनरावृत्ति न करें, वस्तुतः यही मुख्य लक्ष्य इस वर्णन के पीछे रहा है । आशा है केवल जैन ही नहीं प्रत्येक देशवासी इससे प्रेरणा लेकर सदा धर्म, देश और समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वहन में जागरूक बना रहेगा ।

इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने में हमने सम्पूर्ण आगम-साहित्य, पुराणादि आगमेतर जैन वाङ्मय, श्रुति, स्मृति, पुराण, कोण, व्याकरण, पिटकादि बौद्ध साहित्य, प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों तथा प्राच्य-पश्चात्य विद्वानों की सामाजिक धार्मिक एवं ऐतिहासिक कृतियों की सहायता ली है। उन सभी ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का यहाँ नाम निर्देश किया जाना संभव नहीं अतः केवल संदर्भ ग्रन्थों की सूची उनके लेखकों के नाम के साथ परिशिष्ट में दी जा रही है। हम उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करते हैं।

### संघभेद विषयक विभिन्न विचार

भगवान् महावीर के धर्मसंघ में विचार भेद, मान्यताभेद अथवा संघभेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कतिपय विचारकों एवं इतिहासविदों द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये जाते रहे हैं, जिनमें से अधिकांश को, एतद्विषयक सभी तथ्यों पर गहन विचार-विमर्श के पश्चात् मात्र अटकलवाजी की संज्ञा दी जा सकती है। कतिपय विद्वानों ने अपना यह अशुभिमत् प्रकट किया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही उनके धर्म संघ में विघटन प्रारम्भ हो गया था। अपने इस कथन की पुष्टि में वे बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थ मज्झिम निकाय के निम्नलिखित उद्धरण को प्रस्तुत करते हैं :

“एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे । तेन खो पन समयेन निभन्थो नात पुत्तो पावायं अधुना कालकतो होति । तस्य कालकिरियाय भिन्न-निगंथद्वेधिक जाता, भंडन जाता, कलह जाता, विवादापन्ना अण्णमण्णं मुख-सत्तीहि वितुदता विहरति ।”- (मज्झिम निकाय, भाग २, पृ. १४३)

उक्त ग्रन्थ का उपरिलिखित उल्लेख कई कारणों से विवादास्पद ही नहीं अविश्वसनीय भी है। प्रथम कारण तो यह है कि उक्त ग्रन्थ भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण से शताब्दियों पश्चात् की रचना है। दूसरा कारण यह है कि केवल अन्य साहित्य ही नहीं बौद्ध परम्परा के धर्म ग्रन्थों में भी उपर्युक्त उल्लेख के विपरीत इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे पर स्पष्टतः सिद्ध होता है कि बुद्ध का महावीर के निर्वाण से लगभग २२ वर्ष पूर्व ही परिनिर्वाण हो चुका था।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में मज्झिमनिकाय का उपरोक्त उल्लेख स्वतः ही निराधार एवं तथ्यविहीन सिद्ध हो जाता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों ही परम्पराओं के सभी ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा से अन्तिम केवली जन्म तक एक ही प्रकार की सर्वसम्मत पट्ट परम्परा का उल्लेख विद्यमान है। केवल इतना ही अन्तर है कि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रभूति गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर माना गया है

<sup>१</sup> विशेष विवरण के लिये देखिये -

- (क) जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ५४८-५५३
- (ख) बीर निर्वाण संबत् और जैन काल गणना
- (ग) आगम और विपिटक - एक अनुशीलन

श्रीर श्वेताम्बर परम्परा में कंवल्यालोकशाली हो जाने के कारण गौतम के प्रति पट्टधर से भी अत्यधिक सर्वाच्च सम्मान प्रदर्शित करते हुए आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है। दोनों परम्पराओं के सुविशाल साहित्य में कहीं किञ्चित्मात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं है, जिससे निर्वाण पश्चात् के ६४ अथवा ६२ वर्ष के केवलिकाल में पारस्परिक कलह, मतभेद अथवा धर्म मय में विघटन का आभास तक प्रकट होता हो।

पूर्वकाल में जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों में बड़े लम्बे समय तक परस्पर प्रतिस्पर्धा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समक्ष उनके प्रथम निह्वव जमाली के साथ इन्द्रभूति गौतम का जो वादविवाद हुआ उस ही को अतिशयोक्तिपूर्ण विकृत रूप देकर बौद्धपरम्परा के ग्रन्थ मज्झिमनिकाय में उपरोक्त उल्लेख कर दिया गया है। किसी धर्मग्रन्थ द्वारा अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धी धर्म के सम्बन्ध में किया गया कटु उल्लेख वस्तुतः कितना प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है यह किसी विचारक से छुपा नहीं है।

आर्य जम्बू के पश्चात् पाँच श्रुतकेवली आचार्यों में से भद्रबाहु को छोड़ शेष चारों के नाम दोनों परम्पराओं में पूर्णतः भिन्न देखकर कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि आर्य जम्बू के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसंघ में मत-भेद उत्पन्न हो गया था। पर वस्तुतः चार श्रुतकेवलियों के नाम भेद के अतिरिक्त दोनों परम्पराओं के साहित्य में इस प्रकार का एक भी स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे उन विद्वानों के इस अनुमान की पुष्टि होती हो।

स्वयं भगवान् महावीर के लिये, उनकी श्रमण एवं श्रमणी परम्परा के लिये शास्त्रों में प्रयुक्त “सिग्गंठ” विशेषण को देख कर जिन विद्वानों ने अपनी यह धारणा बना ली है कि प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन के प्रथम दिन से ही श्रमणों के लिए एकान्ततः जिनकल्प का—नग्नत्व का ही विधान किया था, वे विद्वान् आर्य शय्यंभव द्वारा द्वादशांगी में से विर्यूढ अथवा संकलित दसवैका-लिकसूत्र में भुनियों के लिये वस्त्र, पात्र, कम्बल एवं पादपूँछन का उल्लेख देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण के पश्चात् भगवान् महावीर के संघ में नग्नता और सोपधिता को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार का अनुमान लगाते समय वे विद्वान् संभवतः इस बात को भूल जाते हैं अथवा नजरंदाज कर देते हैं कि शास्त्रों में जिस प्रकार श्रमणों के लिये निग्गंठ शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्रमणियों के लिये भी “सिग्गंठिओ” विशेषण प्रयुक्त किया गया है<sup>१</sup>।

<sup>१</sup> (क) गोयमा जेग सिग्गथे वा सिग्गथी वा फासुएससिग्गज्ज.....[भगवती सूत्र, शतक ७, ३, १, क्षेत्रातिक्रान्तादि दोष]

(ख) निगन्वो धिइमंतो, सिग्गथीवि न करेज्ज छहि वेव ।.....॥३४॥

[उत्तराध्ययन, अध्यायन २६]

वस्तुतः “शिग्मंठ” शब्द का संस्कृत रूप है निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ है ग्रन्थ रहित-ग्रन्थी रहित अर्थात् भवप्रपंच में बांधकर रखने वाली हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि की गांठों से रहित । यह एक बड़ा महत्वपूर्ण और विचारणीय तथ्य है कि यदि “शिग्मंठ” (निर्ग्रन्थ) शब्द का अर्थ एकान्ततः नग्नता ही होता तो श्रमणियों के लिये “शिग्मंठिभो” शब्द का प्रयोग शास्त्रों में कदापि नहीं किया जाता ।

दशवैकालिक सूत्र की जिन गाथाओं में मुनियों द्वारा वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादपुञ्जनक के उपयोग में लाने का उल्लेख है, वे गाथाएं इस प्रकार हैं :

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुञ्जणं ।

तं पि संजमलज्जट्टा, धारंति परिहरंति य ॥२०॥

न सो परिग्गहो वुत्तो”, नायपुत्तेण ताइया ।

“मुच्छा परिग्गहो वुत्तो”, इइ वुत्तं महेसिया ॥२१॥<sup>१</sup>

अर्थात् - संयम के निर्वहन हेतु अथवा लज्जानिवारणार्थं मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कंबल अथवा पादपुञ्जनक (आदि) धारण अथवा परित्यक्त करते हैं, उसे, भवसागर से भव्यों का त्राण करने वाले ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं बताया है । वस्तुतः किसी वस्तु पर ममत्व भाव रखना परिग्रह है, ऐसा महावि (महावीर) ने कहा है ।

इन गाथाओं पर तटस्थ दृष्टि से गहन चिन्तन करने पर स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि तीर्थ प्रवर्तन के समय से ही प्रभु महावीर ने श्रमणों के लिये मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण का रखना तो अनिवार्य रखा और अचीवरत्व तथा सचीवरत्व को ऐच्छिक रखा । आर्य सुधर्मा से देवद्वि तक के एक हजार वर्ष के इतिहास के सिंहावलोकन से भी यही तथ्य प्रकट होता है कि आर्य रक्षित के समय तक भगवान् महावीर के धर्म संघ के श्रमण इन दोनों प्रकार के द्रव्य लिंगों में से ऐच्छिक रूपेण किसी एक का आलम्बन लेते रहे । इस द्रव्यलिंग के विभेद से न उनमें किसी प्रकार के गुरुत्व लघुत्व का भाव रहता था और न किसी प्रकार का मतभेद ही । अपने गुरु और ग्रन्थ श्रमणों की अनुपस्थिति में श्रमणों के संस्तारकों को पत्नियों में रख एवं उन संस्तारकों में ही शिक्षार्थी श्रमणों की कल्पना कर बालक मुनि वज्र ने शास्त्र की वाचना दी - इस प्रकार के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि आर्य वज्र की गुरु परम्परा के श्रमण वस्त्र पात्रादि रखते थे ।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> दशवैकालिक सूत्र, अध्याय ६.

<sup>२</sup> अबकासं च बाल्यस्य, ददक्कापलतस्तदा ।  
सर्वेषामुपधीर्नामिग्राहं भूमौ निवेश्य च ॥ १११ ॥  
वाचसां प्रददी वज्रः, भूतस्कन्धवज्रस्य सः ।  
प्रत्येकं गुरुवचनेण कथितस्य महोद्यमात् ॥ ११२ ॥  
बज्रोपि सं गुरोर्ध्वनिं, श्रुत्वा सज्जाभयाकुलः ।  
सत्निवेश्य यथास्थानं, वेष्टिकाः संमुखोऽभ्यगात् ॥ ११६ ॥

(प्रभाषक च० बज्रचरितम्, पृ० ७)

५. आर्य रक्षित ने वस्त्रधारी अपने पिता खन्त मुनि से किस प्रकार पूर्णतः वस्त्र का त्याग करवाया, इसका उल्लेख प्रभावक चरित्र में है।<sup>१</sup>

आर्य वज्र और आर्य रक्षित के आख्यानों से यह सिद्ध होता है कि उनके समय तक वस्त्रधारी और निर्वस्त्र दोनों ही प्रकार के मुनियों की परम्पराएं विद्यमान थीं। उन दोनों परम्पराओं के मुनि परस्पर एक दूसरे का पूरा सम्मान ही नहीं अपितु द्वादशांगी का अध्ययन अध्यापन भी करते रहते थे। सत्रस्त्रता और निर्वस्त्रता उनके पारस्परिक श्रमणोचित ऋजु-मृदु सम्बन्धों में कभी कहीं बाधक नहीं बनी।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में अनेक विद्वानों द्वारा प्रकट किये गये सम्प्रदाय भेद विषयक विभिन्न अभिमतों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर उनके सभी अभिमत प्रमाणाभाव में निराधार और अटकलबाजी मात्र सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य में केवल एक ही ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध होता है, जिससे कुछ क्षणों के लिये संघ में विचार भेद की झलक प्रकट होती है। वह है आर्य महागिरि और आर्य मुहस्ति के बीच सम्भोग विच्छेद की क्षणस्थायी घटना। उस अचिरस्थायिनी घटना के पीछे भी मूल कारण विषुद्ध पिण्डेषणा का था, न कि मचीवरत्व-अचीवरत्व का।

इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः सम्प्रदाय भेद दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् ६०६ और श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में हुआ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सभी सदस्यों का समय २ पर सहयोग मिलता रहा। इसके लेखन एवं मूची निर्माण आदि कार्यों में श्री हीरामुनि, श्री शीतल मुनि सेवा सहयोग से लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, मान मुनि, शुभ मुनि, चंपक मुनि आदि का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। आचार्यों के साथ-साथ उनके समसामयिक राज-वंशों के क्रमवद्ध इतिहास के आलेखन तथा कतिपय आचार्यों के काल-निर्णय में डम ग्रन्थ के मुख्य सम्पादक श्री राठोड़ ने बड़ी सहायता की। लगन और निष्ठा पूर्वक गवेषणा तथा उपलब्ध साहित्य के आलोडन के अतिरिक्त इतिहासज्ञ

<sup>१</sup> पुरा प्रत्युद्दसंघातो, वेदमंत्रैर्मया हतः।

समस्तस्यापि राज्यस्य, राष्ट्रस्य नृपतेस्तथा ॥ १७६ ॥

ततः संबोद्धरस्योशे, शवं शबरथस्थितम्।

आचकर्षनिर्वमनं, शिशवः पूर्वशिक्षिताः ॥ १७७ ॥

गुरुणाप्रच्छिन्नं किं नग्नस्तात ! मौञ्ज्युतरं ददौ।

उपमर्गः समुत्तस्यो, त्वद्वचो ह्यनृतं नहि ॥ १७८ ॥

नशाकर्षं विना प्राह, दृष्टव्यं दृष्टमेव यत्।

को नः परिग्रहस्तस्मान् नाम्यमेवास्त्वन्नः परम् ॥ १८१ ॥ (प्रभावक चरित्र, पृ० १५)

विद्वान् श्री जिन विजयजी, विद्वान् मुनि पं० कल्याण विजयजी, क्षुल्लक जिनेन्द्र-वर्णा, पं० दलमुख मानवरिया, पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, डा० मोहनलाल मेहता, परामर्शदाना श्री अमरचन्दजी नाहटा, श्री दम्बारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों के माथे विविध विवादास्पद विषयों पर चर्चा कर प्रामाणिक निर्णय प्रस्तुत करने में भी राठोड़ ने पूर्ण सहयोग दिया। श्री राठोड़ के अह्निष गवेषण का ही फल है कि इतिहास का आलेखन इतना सुन्दर-सरस-प्रमाणयुक्त बन पाया है।

दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक ग्रन्थों-हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार, आदि पुराण, महापुराण पट्टावलियां, श्रवणवेङ्गोल के शिलालेखों आदि के गहन अध्ययन के उपरान्त ही दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के काल तथा परिचय आदि के सम्बन्ध में विवरण एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में हम एक बात स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं। यद्यपि हमारा यह सतत प्रयास रहा है कि निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के इस इतिहास में किसी भी धार्मिक अथवा ऐतिहासिक महत्व की कोई घटना आलेखन से बची न रह जाय तथापि संभव है किसी महत्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख आदि के दृष्टिगोचर न होने प्रभृति अनेक कारणों से कतिपय महत्वपूर्ण घटनाओं का आलेखन न किया गया हो। आशा है कि विद्वान् पाठक इस प्रकार की अथवा अन्य किसी प्रकार की कमियों को भविष्य में पूरा करने के लिये पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

शिवमस्तु सर्वजगतः।

मुनिः हस्तिमत्तलः





# जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वघर-खण्ड



## स्वर्णिमकाल

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण तक के काल को भारतवर्ष का तीर्थंकर-काल माना गया है। इसे हम भरतखण्ड का स्वर्णिमकाल भी कह सकते हैं।

उस स्वर्णिमकाल में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए। उन्होंने जन्म-जरा-व्याधि एवं मृत्यु के घोर दुःखों से पूर्ण, अनादिकाल से चलनी आ रही करालकाल की विशाल चक्की में पिसते हुए अनन्त प्राणियों की दाहण एवं दयनीय दशा से रक्षा करने और भवताप से उनका उद्धार करने हेतु अपने-अपने समय में धर्मतीर्थ की स्थापना की।<sup>१</sup>

उन्होंने मानव को न केवल मानव के प्रति अपितु संसार के समस्त प्राणियों के प्रति माँहार्द, आत्मीयता, निश्छल-विशुद्ध प्रेम एवं विश्व-दन्धुन्त्र का सक्रिय पाठ पढ़ाने हुए वास्तविक मानवता का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। 'मन्त्रे जीवात्रि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं'<sup>२</sup> तथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिमा सज्जमो तवो'<sup>३</sup> के अन्तस्तलस्पर्शी दिव्य घोषों से तीर्थंकरों ने जाति, वर्ण, वर्ग एवं रंग-भेद से विहीन एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना की, जिसमें न केवल मानव के ही प्रति अपितु निखिल विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता का अथाह प्रेम लवालव भरा हुआ था।

उन करुणाकर तीर्थंकरों ने जगह-जगह अप्रतिहत विहार कर भीषण भवज्वालाओं में निरन्तर भूलसते हुए संसार के अमित प्राणियों को अपनी पीयूषवर्षिणी अमृतनुव्य अमोघ वारणी से आप्यायित करते हुए उनका उद्धार कर उन्हें अनन्त-अक्षय सुखसागर, शिवधाम का अधिकारी बनाया।

उस अनिर्वचनीय सुखमय तीर्थंकर-काल में तेवीस अन्तरालों और पाने तीन पन्थों के तीर्थोच्छ्रितकाल को छोड़कर शेष सम्पूर्ण समय में इस भरतखण्ड के धरातल और गगनमण्डल में तीर्थंकरों की ३५ अतिशय युक्त दिव्य वाणी गुंजती

<sup>१</sup> (क) सब्ब जग-जीव रक्खण- दयट्ठयाए भगवया पावयमं सुकहियं ।

[प्रश्नव्याकरण-सूत्र, द्वितीय भाग, प्रथम संवर द्वार]

(ख) सद्धर्म-तीर्थं कुर्वन्तीति तीर्थंकरा.....कृतिनोऽपि तीर्थंकरनामोदयात् भव्य-सत्त्वानुकम्पापरतया च सद्धर्म-तीर्थप्रदेशनशीला.....

[विश्वे. भा., स्वोपज्ञ टीका, (भा. सं. वि. ग्रहमदाबाद) गा. १०४४, पृ० १६६]

<sup>२</sup> दशवैकालिक सू., अ. ६, गा. ११

<sup>३</sup> दशवैकालिक सू., अ. १, गा. १

रही और तीर्थकरों के ३४ अतिशयों एवं अष्ट महाप्रातिहार्यों<sup>१</sup> से यह मर्त्यलोक स्वर्गलोक से भी अतिशय सुन्दर, कमनीय, रमणीय और सुखद बना रहा। वह असंख्य वर्षों का काल इस भारतवर्ष का उत्कृष्ट स्वर्णिमकाल था। पर भरत खण्ड के इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भारतवर्ष तीर्थकरों के इन ३४ अतिशयों, वाणी के ३५ गुणों और उनके अष्ट महाप्रातिहार्यों की उस अनिर्वचनीय अलौकिक शोभा से शून्य हो गया।

उस स्वर्णिमकाल का आद्योपान्त संक्षिप्त विवरण 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नामक आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में प्रस्तुत किया जा चुका है। अब भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से लेकर एक पूर्वघर आचार्यों के काल तक का ऐतिहासिक विवरण इस द्वितीय भाग में प्रस्तुत किया जा रहा है।

<sup>१</sup> देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास", प्रथम भाग, पृ० ३३, टि० २

## केवलिकाल

**इन्द्रभूति गौतम**

निर्वाण – वीर निर्वाण सम्बत् १२

**आर्य सुधर्मा**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. १ से २०

**आर्य जम्बू**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. २० से ६४



## केवलिकाल

जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर के निर्वाण तक का काल तीर्थंकर-काल माना जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर-काल के पश्चात् का, वीर निर्वाण संवत् १ से वीर निर्वाण संवत् ६४ तक का काल जैन जगत् और जैन इतिहास में केवलिकाल के नाम से पहिचाना जाता है ।

आज से लगभग ढाई हजार ( २५०० ) वर्ष पहले कार्तिक कृष्णा अमावस्या की अर्द्धरात्रि के पश्चात् - प्रत्यूषकाल की वेला में भगवान् महावीर मोक्ष पधारे ।<sup>१</sup> भगवान् महावीर के उस निर्वाण समय से ही वीर निर्वाण संवत्सर का प्रारम्भ हुआ ।

वीर निर्वाण संवत् के प्रारम्भिक प्रथम दिन में ही अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित तीन प्रमुख घटनाएं घटीं :-

(१) उसी निर्वाण रात्रि को म० बुद्ध के समवयस्क अश्वन्ती के महाराजा चण्डप्रद्योत (जिनका म० बुद्ध के जन्मदिन को ही जन्म हुआ था) का ५८ वर्ष की आयु में देहावसान और अश्वन्ती के राज्यासिंहासन पर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का राज्याभिषेक ।<sup>२</sup>

(२) प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति ।<sup>३</sup>

(३) पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में आचार्य-पद प्रदान ।

<sup>१</sup> पञ्चसकाल समयसि संपलियंके निसन्ने... कालगए... सब्बदुकखप्पहीणे ।

[कल्पसूत्र, सू० १४६ सिवाना संस्करण]

<sup>२</sup> (क) सिरि जिणनिग्गारागमणारयणिए उज्जेणीए चण्डपज्जोअमरणे पालधो राया अहिंसित्तो । [सिरि दुसमाकाल समयसंघ वयं, अश्वत्थरि (पट्टावली समु०, भा० १)]

(ख) अं रयणिए सिद्धिगधो अरहा, तित्थयरो महावीरो ।  
तं रयणिएववणिए अहिंसित्तो पालधो राया ॥

[तित्थोगाली पइआ, गा० ६२०]

(ग) जक्काले वीरजिणो, शिस्सेयससंपयं समावण्णो ।

तत्काले अहिंसित्तो, पालयणामो अवंत्तिसुदो ॥ १५०५ ॥

[तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४]

<sup>३</sup> (क) अं रयणिए च एं समणे भगवं महावीरे काल गए जाव सब्बदुकखप्पहीणे तं रयणिए च एं जेट्ठसस इंदभूइस्स... केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने । [कल्प सू०, सू० १२६ (सिवाना सं०)]

(ख) जाओ सिद्धो वीरो, तद्धिक्खे गोदमो परमण्णामी । जादो..... ॥ १४७६ ॥

[तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४]

### केवलिकाल का प्रादुर्भाव

चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही हमारे देश से तीर्थंकरकाल की समाप्ति हुई। तदनन्तर केवलिकाल प्रारम्भ होता है। तीर्थंकरकाल और केवलिकाल में यह अन्तर है कि केवलिकाल में तीर्थंकरकाल की तरह तीर्थंकरों के ३४ अतिशय, ३५ वाणी के अतिशय और अष्ट महाप्रातिहार्य नहीं रहते। भगवान् महावीर के धर्म-शासन में उनके सबसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम हुए। गुरुभक्ति के प्रगाढ़ शुभराग के कारण इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के जीवनकाल में केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई।

कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाले अनन्त केवलज्ञान के धारक भगवान् महावीर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते ही आर्य वसुधा से ज्ञानसूर्य अस्त होगया। विशिष्ट अतिशय और अनन्तज्ञानी तीर्थंकर भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही सारा भूमण्डल अन्धकारपूर्ण हो गया।<sup>१</sup> उसी रात प्रथम गणधर महामुनि इन्द्रभूति गौतम के अन्तर में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ, उससे फिर समस्त भूमण्डल केवलज्ञानालोक से आलोकित हो गया।

इन्द्रभूति गौतम से केवलिकाल प्रारम्भ होता है अतः पहले यहां उनका परिचय दिया जा रहा है।

<sup>१</sup> निर्दिष्ट ठामोदि लोपधाराभिमिया न तदा अट्टतेहि बोच्छिज्जमागेदि, अट्टतपण्यने वग्गे बोच्छिज्जमागे, गुच्चगाग बोच्छिज्जमागे । [स्थानांग, स्थान ३]



## इन्द्रभूति गौतम

महागरुडनायक इन्द्रभूति गौतम के अलौकिक गौरवपूर्ण विराट व्यक्तित्व का यथातथ्य रूप से चित्रण करने का प्रयास, अनन्त उन्मुक्त आकाश को अपने बाहुपाश में आवद्ध कर लेने और उत्तुंग तरंगों से उद्वेलित सागरों की अपार जलराशि को एक गागर में भर लेने के समान हास्यास्पद प्रयास है फिर भी सत्य के अनन्य उपासक, प्राणिमात्र के परम हितैषी और अनुपम लोकोपकारी उस महामानव द्वारा मानव जाति ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के लिये किये गये अनन्त उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु कुछ लिखना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। इसीलिये यहां गौतमस्वामी का यत्किंचित् परिचय दिया जा रहा है।

### जन्म और बंश आदि

जैन वाङ्मय में इन्द्रभूति गौतम का उनके श्रमण-जीवन से पूर्व का कोई विशिष्ट तो नहीं किन्तु थोड़ा आवश्यक निर्युक्ति में जन्मभूमि, नक्षत्र, माता-पिता, गोत्र, गृहवास और फिर श्रमण-जीवन के छद्मस्थकाल, केवलिकाल, पूर्ण आयु, ज्ञान, निर्वाणकालीन तप, निर्वाण, सहनन तथा संस्थान का वर्णन उपलब्ध होता है,<sup>1</sup> जो इस प्रकार है :-

इन्द्रभूति गौतम का जन्म ईसा से ६०७ वर्ष पूर्व मगध राज्य के सत्ताकेन्द्र राजगृह के समीपवर्ती गोब्बर ग्राम (गौबर्यग्राम) नामक एक ग्राम के गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। गौतम गोत्र ७ प्रकार का है।<sup>2</sup> आपके जन्म के समय ज्येष्ठा नक्षत्र था। आपके पिता का नाम वसुभूति गौतम और माता का नाम पृथ्वी था। इनके अग्निभूति और वायुभूति नामक दो सहोदर थे। इन तीनों भाइयों में इन्द्रभूति सबसे बड़े, अग्निभूति मंभूले और वायुभूति सबसे कनिष्ठ थे।

### शिक्षा

इन तीनों भाइयों ने विद्वान् शिक्षा-गुरु की सेवा में रह कर ऋग्, यजु, साम एवं अथर्व इन चारों वेदों; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष - इन छहों वेदांगों और मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण - इन चारों उपांगों का - इस प्रकार कुल मिलाकर सम्पूर्ण चौदह विद्याओं का सम्यक् अध्ययन किया।<sup>3</sup>

<sup>1</sup> आवश्यक मलयवृत्ति, गा. ६४३ से ६५६, पृ. ३३७-३६.

<sup>2</sup> जे गौयमा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं ज्रहा - ते गौयमा, ते गागा, ते भारद्वाया, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदत्ताभा। [स्थानांग, ७ ठाणा]

<sup>3</sup> अंगानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्याय-विस्तरः।  
धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्यास्त्वेता चतुर्दशा ॥  
शिक्षा कल्पो व्याकरणं, निरुक्तं छन्दसां चयः।  
ज्योतिषामयनं चैव, वेदांगानि षडेव तु ॥

[आवश्यक, मलयवृत्ति, पृ० ३३६]

कुशाग्रबुद्धि होने के कारण इन्द्रभूति स्वल्प समय में ही उपर्युक्त चौदह विद्याओं के परम पारंगत विद्वान् बन गये ।

### वेद-विद्या के आचार्य एवं उनके छात्र

जैन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन्द्रभूति गौतम वेद-विद्या के एक प्रख्यात विद्वान् आचार्य थे और उनके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे । हमारे विचार से इनके आचार्य रूप से अध्यापनकाल का क्रम इस प्रकार हो सकता है कि लगभग २५ वर्ष की वय में अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् उन्होंने ५ वर्ष तक विभिन्न प्रदेशों में घूम कर वहाँ के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया हो । जैसा कि टीकाकार ने गौतम के द्वारा कहलवाया है - "मैंने तीनों जगत् के हजारों विद्वानों को वाद में पराजित किया है ।" १

संभवतः इस प्रकार ख्याति प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे वेद-वेदाङ्ग के आचार्य बने हों । उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल जाने के कारण यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि सैकड़ों की संख्या में शिक्षार्थी उनके पास अध्ययनार्थ आये हों और यह संख्या उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते ५०० ही नहीं अपितु इससे कहीं अधिक बढ़ गई हो । इन्द्रभूति के अध्यापनकाल का प्रारम्भ उनकी ३० वर्ष की वय से भी माना जाय तो २० वर्ष के अध्यापनकाल की सुदीर्घ अवधि में अध्येता बहुत बड़ी संख्या में स्नातक बन कर निकल चुके होंगे और उनकी जगह नवीन छात्रों का प्रवेश भी अवश्यभावी रहा होगा । ऐसी स्थिति में अध्येताओं की पूर्ण संख्या ५०० से अधिक होनी चाहिए । ५०० की संख्या केवल नियमित रूप से अध्ययन करने वाले छात्रों की दृष्टि से ही अधिक संगत प्रतीत होती है ।

### गार्हस्थ्य जीवन

आर्य सुधर्मा के विवाह का कुछ आचार्यों ने उल्लेख किया है, पर इन्द्रभूति गौतम का विवाह हुआ अथवा नहीं, यदि हुआ तो कहाँ हुआ, इस सम्बन्ध में सभी परम्पराएं मौन हैं । इन्द्रभूति का ५० वर्ष की वय तक गृहवास में रहना सभी को मान्य है किन्तु उस अवस्था तक ब्रह्मचारी रूप में रहे या गृहस्थ रूप में एतद्विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता । निर्युक्तिकार ने भी "सर्वे य माहृणा जच्चा," इस गाथा के माध्यम से केवल इतना ही कहा है कि सब गणधर जाति से ब्राह्मण, सभी विद्वान् प्राध्यापक, सब द्वादशांगी के ज्ञाता और सभी चतुर्दश पूर्वधर थे । गवेपणाशील विद्वान् इस सम्बन्ध में प्रयत्न कर तथ्य प्रकट करें, यह इष्ट है ।

### याजकाचार्य के रूप में

कर्मकाण्ड एवं यज्ञ-यागादि त्रियाओं के अनुष्ठान में अतिनिष्णात और वेदविद्या के पारंगत आचार्य इन्द्रभूति की यशोगाथा दशों दिशाओं में फैल चुकी

१. चित्र चंद्र त्रिजगति महत्सुशो निर्मिते मया वाद्रे ।

[ कल्प गुणोद्घाटा, स्तो. १५, पृ० ३८८ ]

थी। इसके फलस्वरूप अनेक वैभवशाली गृहस्थ बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान कराने के लिये उन्हें अपने यहां आमन्त्रित करने लगे।

जिन दिनों श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हुई उन्हीं दिनों अपापा नगर के निवासी सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण ने अपने यहां एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। सोमिल अपने यज्ञ के अनुष्ठान हेतु इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास नामक उस समय के लोकमान्य प्रसिद्ध कर्मकाण्ठी आचार्यों को बड़े आग्रह और आदर के साथ अपापा ले गया। सोमिल ब्राह्मण ने और भी अनेक विद्वानों को उस यज्ञ में आमन्त्रित किया। यज्ञ के सुविशाल आयोजन एवं इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त उद्भट आचार्यों की कीर्ति से आकृष्ट हो कर दूर-दूर के प्रदेशों से अपार जनसमूह अपापा नगर की ओर यज्ञ की शोभा देखने उमड़ पड़ा।

इन्द्रभूति गीतम को उनकी अप्रतिम विद्वत्ता और यशोकीर्ति के कारण यज्ञ के अनुष्ठान हेतु मुख्य आचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया एवं उनके तत्वावधान में बड़ी धूमधाम के साथ यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। सहस्रों कण्ठों से उच्चरित वेदमन्त्रों की ध्वनि तथा यज्ञवेदियों में हजारों श्रुवाश्रों से दी जाने वाली आहुतियों की सुगन्ध एवं धूम्र के घटाटोप से धरा, नभ और समस्त वातावरण एक साथ ही गुंजरित, सुगन्धित तथा मेघाच्छन्न सा हो उठा। अति विशाल यज्ञ-मण्डप में उपस्थित जनता-जनार्दन आनन्द-विभोर हो एक अद्वितीय मस्ती के साथ झूमने लगा।

सहसा यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी लोगों की आंखें एक साथ नीलगगन की ओर उठीं। आकाश के दृश्य को देख कर यज्ञ में उपस्थित लोगों की आंखें चौंधिया गईं। सवने बार-बार आंखों को मलते हुए स्पष्टतः देखा कि सहस्रों सूर्यों की तरह दीदीप्यमान सहस्रों विमानों से नभमण्डल जगमगा रहा है। देव-विमानों को यज्ञमण्डप की ओर अग्रसर होते देख उपस्थित विशाल जनसमूह के हर्ष का पारावार न रहा।

यज्ञ के प्रमुख आचार्य इन्द्रभूति गीतम ने घनगम्भीर सगर्व स्वर में अपने यजमान को मन्वोधित करते हुए कहा "सोमिल ! हमने सत्ययुग के दृश्य को साक्षात्-साकार उपस्थित कर दिया है। तुम महान् भाग्यशाली हो। देखो ! अपना अपना पुरोडास ग्रहण करने हेतु स्वयं इन्द्रादि सभी देव सशरीर तुम्हारे यज्ञ में उपस्थित हो रहे हैं।"<sup>१</sup>

<sup>१</sup> तथा च तत्र समयमृत वीरं विवन्दिषून्।

पुराणापततः प्रेष्य, वभावे गीतमो द्विजान् ॥६२॥

मंथेलास्वाभिराहुनाः, प्रत्यक्षा नन्वमी मुराः।

इह बभूवे सथायान्ति, प्रभावं गय्यत क्रतोः ॥६३॥

[त्रिपिटि णत्ताका पुग्ग चरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

“भगवन् ! यह सब आप जैसे समर्थ वेदाचार्य की कृपा और करुणा का ही प्रसाद है।” अपने रोम-रोम से अस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए पुसकितमना सोमिल ने गद्गद् स्वर में कहा।

“नहीं, सोमिल ! यह सब वेदमन्त्रों का प्रताप है।” इन्द्रभूति गौतम ने अपने प्रोन्नत भाल को और समुन्नत करते हुए कहा और वे कनसियों से आकाश की ओर देखते हुए पुनः शतगुणित उत्साह एवं उच्च स्वरों से वेदमन्त्रों के पाठ के साथ आहूतियों पर आहूतियाँ देने लगे।

पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्वर में की जाने वाली मंत्रध्वनि और स्वाहा के घोष आकाश को अघर उठाने लगे। हजारों ही नहीं, लाखों नेत्र आकाशमार्ग से आते हुए सहस्रों देवविमानों की ओर अपलक देख रहे थे।

उसी समय यज्ञस्थल को लांघ कर देवविमान भागे बढ़ गये। सहसा मंत्र-पाठ की ध्वनि मंद पड़ गई। उत्साह का स्थान अचानक ही निराशा ने ले लिया। हताश लाखों लोचन मूक जिज्ञासा लिये कभी इन्द्रभूति गौतम के मुख की ओर, तो कभी जाते हुए विमानों की ओर देखने लगे। सर्वत्र निस्तब्धता छा गई।

### स्वाविमान

“घरे ! ये देवगण उस ओर पास ही के किस स्थान पर आकाश से नीचे की ओर उतर रहे हैं ?” सहसा अति विस्मित सहस्रों कण्ठों से य प्रश्न फूट पड़ा।

जिस प्रकार प्रायः सभी नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ी जाती हैं ठीक उसी प्रकार यज्ञमण्डप में एकत्रित अधिकांश जनसमूह देवविमानों के सम्पत्तस्थल की ओर उमड़ पड़ा।

इन्द्रभूति ने आश्चर्य, निराशा और भुंक्लाहट भरे स्वर में कहा — “घरे ! ये देवगण कहीं मार्ग तो नहीं भूल गये हैं ? आखिर ये इस महान् यज्ञ को छोड़ कर अन्यत्र जा कहां रहे हैं ? वेदमन्त्रों द्वारा आहूत एवं आमन्त्रित हो कर भी वे भ्रान्तिवश आगे कहां बढ़े जा रहे हैं ? इसकी छानबीन कर शीघ्र ही कोई मुझे सूचित करे।”

कुछ ही समय पश्चात् कतिपय व्यक्तियों ने आकर इन्द्रभूति से कहा — “आचार्य प्रवर ! समीपस्थ आनन्दोद्यान में सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। उन्हें हाल ही में सकल चराचर का साक्षात्कार करने वाला समस्त लोकलोक को हस्तामलक की भांति देखने-जानने वाला केवलज्ञान हुआ है। अतः सभी देवगण भगवान् महावीर के समवसरण में जा रहे हैं।”

इतना सुनते ही इन्द्रभूति गौतम क्षुब्ध हो उठे। उनकी आंखों से क्रोध की चिनगारियाँ भी बरसने लगीं। उन्होंने हुंकार भरे स्वर में कहा — “घरे ! तुम यह क्या कह रहे हो ? क्या मेरी उपस्थिति में और भी कोई सर्वज्ञ बनने का साहस कर

सकता है ? प्रतीत होता है, वह कोई बहुत बड़ा ऐन्द्रजालिक है<sup>१</sup> जिसने बुद्धिमान कहे जाने वाले देवों तक को छल लिया है और वे देव उसे सर्वज्ञ समझ कर उसकी वन्दना एवं स्तुति करने जा रहे हैं। मुझे तरस आता है इन देवताओं की बुद्धि पर कि जिस प्रकार कौवे तीर्थजल का, मेंढक पद्मसरोवर का, मक्खियां सुगन्धित गोशीर्ष चन्दन का, उद्ध्र अंगूर की बल्लरियों का, ग्राम शूकर क्षीरोदन का और उलूक प्रकाश का परित्याग कर अन्यत्र चले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार ये देवगण भी इस पवित्र हविष्यान्न और मेरे जैसे सर्वज्ञ को छोड़ कर कहीं अन्यत्र भागे जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार का-वह नामधारी सर्वज्ञ है उसी प्रकार के ये देव भी हैं। ग्राम्य नट और मूर्ख ग्रामीणों जैसा यह कैसा हास्यास्पद संयोग है। खैर, कुछ भी हो पर मैं किसी भी दशा में इस सर्वज्ञता के ढोंगपूर्ण नाटक को चुपचाप बैठे नहीं देख सकता। क्या आज तक कभी नील गगन में एक साथ दो सूर्य उदित हुए हैं ? क्या एक ही गिरिगह्वर में कभी दो मृगराज एक साथ रह पाये हैं ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। तो ठीक उसी प्रकार मुझ जैसे सर्वज्ञ के रहते अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। देवताओं और दानवों के देखते ही देखते अभी मैं जटिल प्रश्नों की झड़ी लगा उसे हतप्रभ कर उसकी सर्वज्ञता के छष आवरण को उतार फेंकता हूँ।”

ठीक उसी समय इन्द्रभूति के आदेश से वस्तुस्थिति का पता लगा कर कुछ व्यक्ति समवसरण से लौटे। उनकी आंखों से उनके मनोगत भावों को पढ़ते हुए इन्द्रभूति ने बड़ी व्यग्रता के साथ पूछा—“क्यों ? देख आये उस मायावी को ? कैसा है वह ऐन्द्रजालिक ?”

उनमें से एक ने कहा—“हजारों जिह्वाओं से भी उस अलीकिक विभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सम्पूर्ण त्रिलोकी के समस्त प्राणियों की गणना करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार करोड़ों सूर्यों के समान दैदीप्यमान श्रमण भगवान् महावीर के अनन्त गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। ईश्वर के समस्त गुणों का वर्णन करने में असमर्थ वेदों के “नेति, नेति” इस मन्त्र का वाम्बुत्रिक अर्थ वस्तुतः आज ही हमारी समझ में आया है। भगवान् महावीर की गुणगाथा वर्णनातीत है, वह तो केवल आत्मानुभवगम्य ही है।”

अपने ही लोगों के मुख से श्रमण भगवान् महावीर की इस प्रकार की प्रशंसा सुन कर इन्द्रभूति तिलमिला उठे और बोले—“अत्रश्यमेव यह कोई महान् धूर्त, माया का आदि-आवास है। बड़े आश्चर्य का विषय है कि सभी लोगों को इसने भ्रम में डाल दिया है। मैं तो निमेषमात्र के लिये भी इस महामायावी की सर्वज्ञता के दावे को गहन नहीं कर सकता। क्योंकि घोर ग्रन्थकार को विनाट

<sup>१</sup> एम मा इंद्रजालियोनि कन्निऊणममुपपण्णनिव्वाहिमिथंमा “अत्रगोमि मे विउमवाय”नि भणिऊण

करने के लिये सूर्य कभी प्रतीक्षा में नहीं रहता। अग्नि किसी के करस्पर्श, सिंह अपनी ग्रीवा के वालों के कर्षण को और ध्वज अपने शत्रु को कभी चुपचाप सहन नहीं कर सकता। मैंने बड़े से बड़े दिग्गजवादियों को शास्त्रार्थ में हरा कर उनका मुंह सदा के लिये बन्द कर दिया है तो यह गेहेन्द्री गृहशूर सर्वज्ञ मेरे समक्ष चीज ही क्या है? जिस अग्नि ने गगनचुम्बी गिरीन्द्रों को भस्मसात् कर राख की ढेरी बना दिया हो उस अग्नि के समक्ष बेचारे वृक्षों और घास-फूस की क्या सामर्थ्य? जिस प्रचण्ड पवन के भोंकों ने हाथियों के भुण्डों को आकाश में उड़ा दिया हो उसके समक्ष क्या कभी रूई की फुरहरी ठहर सकती है?

मेरे भय से अंग देश के विद्वान् अपना पारम्परिक निवासस्थान छोड़ कर सुदूर देशों की ओर भाग गये, बंग देश के विद्वान् मेरे भय से अस्त और जर्जर हो गये, अवन्ती देश के विद्वान् मेरे भय से मानो मर ही गये और तिलंग देश के विद्वान् तो मेरे भय के ही कारण तिलकण के रंग की तरह काले हो गये हैं। अरे ओ लाट देश के विद्वानो! तुम सबके सब कहां चले गये हो? मनुष्यों में सर्वोत्कृष्ट चतुर द्रविड विद्वानो! तुम मारे लज्जा के किस गिरिगह्वर में जा छिपे हो? खेद! महाखेद! शास्त्रार्थ के लिये परम आतुर, कण्डूयमान जिह्वा वाले इस इन्द्रभूति के लिये तो आज समस्त जगत् में वादियों का भयंकर दुष्काल और एकान्ततः अभाव हो गया है। ऐसे मुझ इन्द्रभूति के समक्ष सर्वज्ञता का दम्भ लिये हुए यह नया वादी कौन आया है?"

वस्तुतः मानव-स्वभाव में अहं इतना संपृक्त और घुला-मिला रहता है कि उसे मानव के सहजन्मा की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अधिकांशतः यह देखा जाता है कि मानव थोड़ा-सा ज्ञान अर्जित कर अपने उस पल्लवग्राही पाण्डित्य से ही अपने आपको सकल विद्यानिधान, अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित और यहां तक कि सब कुछ जानने देखने वाला सर्वज्ञ तक घोषित करने का दुराग्रह एवं दम्भ कर बैठता है। यह हमें प्रत्यक्ष में और पुरातन इतिहास के पन्नों में यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

मानव-मानस में उद्भूत इस अहं की विपबल्लरी के साथ-साथ जब दम्भ अथवा दुराग्रह का विपवृक्ष अंकुरित-पल्लवित तथा पुण्डित हो जाता है तो वह उस मानव के साथ-साथ कभी-कभी समग्र मानव जाति के अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

अपने समय में अपने समक्ष अन्य किसी विद्वान् को न पा कर मानव स्वभाव के कारण इन्द्रभूति के मन में भी कुछ क्षणों के लिये अहं के अंकुरित होने की संभावना महज प्रतीत होती है। पर पूर्वाग्रह, दुराग्रह अथवा दम्भ का उद्भव उनके मानस में किञ्चित्मात्र भी नहीं हो पाया था। उनका अन्तर्मन तथ्य को ग्रहण करने के लिये सदा पूर्वाग्रह, दुराग्रह एवं दम्भ आदि से उन्मूक्त और अलूता रहा। यही कारण है कि तथ्य की प्रवृत्ति जिज्ञाना और तथ्य को ग्रहण

कर उसे आत्मसात् करने की उनकी उदार मनोवृत्ति ने उनके एकांगीण व्यक्तित्व को प्रागे चल कर समष्टि के विराट् व्यक्तित्व का स्वरूप प्रदान किया ।

### म० महावीर से शास्त्रार्थ का विचार

अपने ग्रहं के पूर्णरूपेण जागृत होने के फलस्वरूप इन्द्रभूति गीतम भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने हेतु भगवान् के समवसरण की ओर जाने के लिये उद्यत हुए ।

इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के पास जाने के लिये उद्यत देख कर उनके अनुज अग्निभूति ने उनसे कहा—“ज्येष्ठार्य ! जिस प्रकार कोमल कमलनाल को उखाड़ने के लिये इन्द्र के हस्तिशिरोमणि ऐरावत का उपयोग करना अनावश्यक है उसी प्रकार इस नगण्य साधारण वादी के लिये आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं । मैं ही वहां जा कर अभी उसे परास्त किये देता हूं ।”

इन्द्रभूति ने कहा—“वत्स ! यह सर्वज्ञप्रलापी यों तो मेरे किसी भी छात्र के द्वारा भी जीता जा सकता है पर किसी भी प्रतिवादी का नाम सुनने के पश्चात् में चुपचाप बैठ नहीं सकता । जिस प्रकार तिलराशि को पेरते समय कोई एक तिल का दाना, धान्य को दलते समय कोई एक धान्यकण, घास को काटते समय कोई एक तृण और अन्न को पीसते समय कोई तुसकण बचा रह जाता है, उसी प्रकार संसार के समस्त वादियों को परास्त करते समय किसी न किसी तरह यह वादी बचा रह गया है । अपने आपको सर्वज्ञ बताने वाले इस वादी को मैं किसी भी तरह सहन नहीं कर सकता । अब यदि इस एक वादी को मैं पराजित नहीं करता हूं तो मेरे द्वारा पराजित समस्त वादी अपराजित हो जायेंगे । क्योंकि सती स्त्री यदि एक बार अपने सतीत्व से म्बलित हो जाती है तो वह सदा के लिये दुराचारिणी कही जाती है ।”

“वत्स ! मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि मैंने त्रैलोक्य के हजारों प्रतिवादियों को पराजित कर दिया फिर भी पाकशला को हंडिया में पकाये गये अन्न में बिना पके एक कोरडू की तरह यह एक वादी अपराजित कैसे बचा रह गया ? इस एक के अनिजित रहने पर तो मेरा विश्वविजयित्व का समग्र यश ही नष्ट हो जायगा । क्योंकि शरीर में रहा हुआ एक साधारण शल्य भी, यदि उसका शमन नहीं किया जाय तो एक न एक दिन असाध्य बन कर प्राणों का अपहरण कर लेता है । वत्स ! क्या एक जलयान में किसी भी तरह हुआ एक छोटा सा छिद्र भी उसे समुद्र में नहीं डुबो देता ? क्या एक आधारभूत ईंट को खींच लेने पर सारा दुर्ग ढह नहीं पड़ता ?”

१ अस्मिन्नजिते सर्वं, जगज्जयोद्भूतमपि यशो नश्येत् ।  
अल्पमपि शरीरस्य शल्यं प्राणान् वियोजयति ॥१६॥  
छिद्रे स्वल्पेऽपि पोतः किं पयोधौ न निमज्जति ।  
एकस्मिन्तिष्ठके कृष्टे, दुर्गः सर्वेऽपि पात्यते ॥१७॥

देवों द्वारा यज्ञभूमि का उल्लंघन कर भगवान् महावीर के समवसरण में जाने की घटना पर कुछ क्षण विचार करने के अनन्तर इसे अपने ग्रह पर वज्राघात समझ कर इन्द्रभूति ने आवेशपूर्ण स्वर में कहना प्रारम्भ किया—“इस मायावी ने अपने आपको सर्वज्ञ घोषित कर के अकारण ही मेरी क्रोधाग्नि को भड़का दिया है। यह तो इसका वस्तुतः वैसा ही दुस्साहस है जैसे मानो कोई मेंढक भयंकर काले विषधर को चपत लगाना, स्वर्गलोक के निवासी देव पर धरती पर रहने वाला बैल अपने सींगों से प्रहार करना, एक हाथी अपने दांतों से गिरिराज को उखाड़ कर धराशायी करना और एक अकिंचन शशक सिंह के कन्धे के बालों को खींचना चाहता हो। जिस प्रकार कोई मूढ़ व्यक्ति शेषनाग के मस्तक की मणि को लेने के लिये हाथ बढ़ा कर अपने काल को स्वयं बुलावा देता है उसी प्रकार इसने अपनी सर्वज्ञता का आडम्बर रच कर मेरे क्रोध को भड़का दिया है। जिस प्रकार कोई भूखें व्यक्ति घने जंगल में आग लगा कर उसके मध्य भाग में बैठ जाता है अथवा कोई बुद्धिहीन व्यक्ति सुखप्राप्ति की अभिलाषा से कंटकसला का आलिंगन करता है, ठीक उसी प्रकार इसने मेरी उपस्थिति में सर्वज्ञता का ढोंग रच कर अपने लिये संकट को निमन्त्रित किया है। खद्योत तभी तक टिमटिमाता और चन्द्र तभी तक चमकता है जब तक कि प्रखर किरणों वाला प्रचण्ड मार्तण्ड उदित नहीं हो जाता। सूर्योदय हो जाने पर न कहीं खद्योत का पता चलता है और न कहीं चन्द्रमा का ही। ओ हाथियो! हरिणो और वन्य पशुओं के भुण्डो! अब इस जंगल से शीघ्रातिशीघ्र भाग निकलो। देखो! क्रोध से अपनी ग्रीवा की बड़ी-बड़ी केसर का आटोप बनाये तुम्हारा काल वह सिंह आ रहा है।”

ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सौभाग्य से ही यह वादी यहाँ आया है। आज मैं निश्चित रूप से इसकी जिह्वा की खुजली सदा के लिये मिटा दूंगा।”

### शास्त्रार्थ के लिये प्रयाण

इस प्रकार का निश्चय कर इन्द्रभूति गौतम ने यज्ञोपवीत, पीला चोला आदि बारह विशिष्ट चिह्न धारण कर अपने ५०० शिष्यों के साथ श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान किया।

इन्द्रभूति के अनेक शिष्य अपने हाथों में विविध प्रकार के उपकरण लिये हुए थे। कई शिष्य कमण्डलु और कई विजय के द्योतक पवित्र दर्भ हाथों में लिये हुए थे। वे सभी ५०० शिष्य अपने गुरु इन्द्रभूति की महिमा के द्योतक “सरस्वतीकण्ठाभरण की जय हो”, “वादिविजयलक्ष्मीशरण की जय हो”, “वादिमदगंजन—वादिमुखभंजन की जय हो”, “वादिगर्जासह की जय हो”<sup>१</sup> आदि

<sup>१</sup> कल्पसूत्र की सुबोधावृत्ति (पृ० ३८६) के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतम को अनेक शास्त्रार्थों में विजयोपलब्धि के फलस्वरूप उस समय की परम्पराविशेष के विद्वत्समाज द्वारा निम्नलिखित उपाधियों से संबोधित किया जाता था :-

- |                         |                    |
|-------------------------|--------------------|
| (१) सरस्वती कण्ठाभरण,   | (३) वादि-मद-गंजन,  |
| (२) वादिविजयलक्ष्मीशरण, | (४) वादि-मुख-भंजन, |



जयघोषों से गगनमण्डल को गुंजाते हुए इन्द्रभूति के पीछे-पीछे भगवान् महावीर के समवसरण की ओर बढ़ चले ।

### भ० महावीर को देख कर विचार

मार्ग में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करते हुए इन्द्रभूति गीतम भगवान् महावीर के समवसरण के सन्निकट पहुंचे । अष्ट महाप्रातिहायों और श्रमण भगवान् महावीर के महाप्रतापी अलौकिक ऐश्वर्य को देख वे अत्यन्त आश्चर्य से स्तंभित हो सीढ़ियों पर निश्चल खड़े रह कर निनिमेष दृष्टि से प्रभु की ओर देखते ही रह गये ।<sup>१</sup> वे मन ही मन सोचने लगे “कहीं ये साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु अथवा शंकर तो नहीं हैं । चन्द्र तो ये निश्चित रूप से नहीं हैं, क्योंकि चन्द्र तो सकलंक होता है और इनका स्वरूप, ज्ञान्त, स्वच्छ एवं निष्कलंक है । ये सूर्य भी नहीं हैं, क्योंकि सूर्य तो संतापकारी प्रखर किरणों वाला है, पर इनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य, सुखद, शीतल, मनोहारि और नयनाभिराम है ।”

“ये सुमेरु पर्वत भी नहीं हैं क्योंकि अति कठोर सुमेरु की तुलना में ये अत्यन्त सुकोमल हैं । न ये विष्णु ही हो सकते हैं, क्योंकि विष्णु तो सस्यश्यामल वर्णवाले हैं और इनका स्वरूप तपाये हुए स्वर्ण के समान बड़ा ही मनोहारि है । यह ब्रह्मा भी नहीं हैं क्योंकि ब्रह्मा बुड्ढा है और ये युवा हैं । ये कामदेव भी नहीं हो सकते क्योंकि वह तो वृद्धावस्था से सदा भयभीत रहने वाला और भक्तीरी है ।”

“तो निश्चित रूप से मुझे यह विश्वास करने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है कि उन सब दोषों से रहित और समस्त गुणों से सम्पन्न ये अन्तिम तीर्थंकर हैं ।”

- |                        |                          |
|------------------------|--------------------------|
| (१) वादि-गज-सिंह,      | (१९) वादिगुरुरेण्ड,      |
| (२) वादीस्वरलीह,       | (२०) वादिगुरुङ्गोबिन्द,  |
| (७) वादिसिंहाष्टापद,   | (२१) वादिजनराजान,        |
| (८) वादिबिनयविज्ञद,    | (२२) वादिकंसकान्द,       |
| (९) वादिवृन्दभूमिपाल,  | (२३) वादिहरिणहरिः,       |
| (१०) वादितिरःकाल,      | (२४) वादिज्वरधन्वन्तरि,  |
| (११) वादिकवलीकृपाण,    | (२५) वादियूयमल्ल,        |
| (१२) वादितमोभारण,      | (२६) वादिहृदयजल्य,       |
| (१३) वादिगोपूयभरट्ट,   | (२७) वादिगणजीपक,         |
| (१४) वादितवादिभरट्ट,   | (२८) वादिशलभदीपक,        |
| (१५) वादिभटभुदगर,      | (२९) वादिचक्रबुडामणि,    |
| (१६) वादिभूकभाष्कर,    | (३०) पण्डितशिरोमणि,      |
| (१७) वादिसमुद्रागस्ति, | (३१) विजितानेकवाद, और    |
| (१८) वादितस्मृसनहस्ती, | (३२) सरस्वतीलब्धप्रसाद । |

[सम्पादक]

<sup>१</sup> इयं वृत्तुणं पत्तो, वट्ठुं तेल्लुक्कपरिबुडं वीरं ।

पेउत्तीसाइसपनिहि, स सकिओ चिट्ठिओ पुरओ ॥१२४॥

[आवश्यक, मलय, पत्र ३१३]

अपने मन में इस प्रकार के विचारों के उत्पन्न होते ही इन्द्रभूति सन्न हो उठे। स्फटिक सिंहासन पर विराजमान तथा देव-देवेन्द्रों एवं नर-नरेन्द्रों द्वारा सेव्यमान त्रिलोकपूज्य भगवान् महावीर को देख कर इन्द्रभूति मन ही मन सोचने लगे — “शोक ! महाशोक ! मैंने स्वयं अपने लिये एक बड़ी विकट समस्या उत्पन्न कर ली है। मेरा समस्त पूर्वोपाजित यश अब धूलि में मिलने जा रहा है। जिस प्रकार एक मूर्ख व्यक्ति एक साधारण कील को प्राप्त करने के लिये अपने विशाल, भव्य भवन को गिरा देने जैसी भयंकर मूर्खता कर बैठता है, ठीक उसी प्रकार की मूर्खता मैं आज कर बैठा हूँ। इस एक वादी को न जीतने की दशा में मेरे मान-सम्मान को कहाँ ठेस पहुंचती थी? अपने विश्वविजयी नाम की सज्जा अब मैं किस प्रकार रखूंगा। मैंने मदान्ध हो अपनी अदूरदर्शिता के कारण बिना विचारे ही यह मूर्खता की, जो मैं इन त्रिलोकीनाथ को जीतने की दुराशा लिये यहां चला आया। इनके समक्ष मैं बोलने का साहस ही किस प्रकार कर सकूंगा? अब मैं यहां आकर पीछे की ओर भी किस प्रकार लौटूं? क्योंकि मेरे इस प्रकार लौटने को संसार में पलायन की संज्ञा दी जायगी। पलायनजन्य अपकीर्ति तो मृत्यु से भी अधिक घोर कष्टप्रद होती है। मैंने अपने आपको घोर संकट में डाल लिया है। अब तो इस संकट से भगवती भवानी ही मेरी रक्षा कर सकती है। यदि सद्भाग्य से किसी न किसी प्रकार आज मेरी विजय हो जाय तब तो निश्चित रूप से त्रैलोक्य के विद्वानों का शिरोमणि होने का मेरा विरुद्ध सुरक्षित रह सकता है।”

स्थाणु के समान निश्चल इन्द्रभूति गौतम जिस समय मन ही मन इस प्रकार विचारसागर में गोते लगा रहे थे, ठीक उसी समय सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने अमृत से भी अति-मधुर अनिर्वचनीय आनंदप्रदायिनी वाणी में उन्हें उनके नाम—गोत्रोच्चारण पूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा— “हे इन्द्रभूति गौतम ! सागयं 'सु आगतं' स्व-पर कल्याणकारी होने से—तुम्हारा आगमन अच्छा है, लाभकारी है।”<sup>१</sup>

इतना सुनते ही इन्द्रभूति सोचने लगे — “आश्चर्य है ! ये मेरा नाम भी जानते हैं।” पर क्षण भर में आश्वस्त हो उन्होंने मन ही मन विचार किया — “इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। तीनों लोकों में विख्यात लब्ध-प्रतिष्ठ इन्द्रभूति गौतम को भला कौन नहीं पहिचानता? सूर्य भी कभी कहीं किसी अज्ञान-वृद्ध से छुपा रह सकता है? यदि ये मेरे मन में छुपे मेरे गुप्ततम सन्देह को प्रकट कर दें तो मैं इन्हें सर्वज्ञ मान सकता हूँ, अन्यथा मेरी दृष्टि में ये नगण्य ही रहेंगे।”

<sup>१</sup> आभट्ठो य जिलेणं, जाइ-जरा-नरणविप्पमुक्केणं।

नामेण य गुत्तेण य, सव्वन्नु सव्वदरिसिणा ॥५६६॥

हे इंदभूइ ! गोत्रम ! सागयमुत्ते जिलेण चित्तेइ।

नामंपि मे विआणाइ, ग्रहवा को मं न याणेइ ॥१२५॥

[आवश्यक, मलय, (समवसरण), पत्र ३१३]

### भगवान् महावीर द्वारा उद्बोधन

इन्द्रभूति गीतम अपने मन में इस प्रकार के विचार कर ही रहे थे कि प्रभु महावीर ने उचसे कहा—“गीतम ! तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह है। तुम यह सोचते हो कि जीव घट-पट आदि की तरह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता और जो वस्तु प्रत्यक्ष में किसी भी तरह दिखाई नहीं देती उसका आकाशकुसुम अथवा खर-विषाण की तरह संसार में कोई अस्तित्व नहीं होता।”

वेदवाक्यों के गूढ़ार्थ को अच्छी तरह समझ नहीं पाने के कारण तुम्हारे मन में यह संशय उत्पन्न हुआ है। लो सुनो, मैं तुम्हें वेद की ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझाता हूँ।”

कभी किसी पर प्रकट नहीं किये गये अपने मन के निगूढतम सन्देह को भगवान् द्वारा प्रकट कर दिये जाने पर इन्द्रभूति गीतम साश्चर्य निनिमेष दृष्टि से भगवान् की ओर देखने लगे। वे मन ही मन सोचने लगे—“आज तक किसी भी व्यक्ति के सम्मुख प्रकट नहीं किया गया मेरा मनोगत गूढतम संशय इन्हें कैसे विदित हो गया? सर्वज्ञ के अतिरिक्त मनोगत भावों को कौन जान सकता है? वस्तुतः क्या मैं किसी सर्वज्ञ के सम्मुख खड़ा हूँ?”

### जीव प्रत्यक्ष-सिद्ध है

इन्द्रभूति मन ही मन इस प्रकार के ऊहापोह में लीन थे, उसी समय प्राणिमात्र के मनोगत भावों को जानने वाले महावीर प्रभु की घनरव गम्भीर वाणी उनके कानों में गूँज उठी—“इन्द्रभूते ! मैं सर्वज्ञ होने के कारण जीव को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। जीव तुम्हारे लिये भी प्रत्यक्ष है। तुम्हारे अन्तर में जीव के अस्तित्वानस्तित्व विषयक शंका जिसको हुई है, वही वस्तुतः जीव है। चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, उपयोग,<sup>२</sup> संशय, जिज्ञासा, सुखदुःखादि की अनुभूति, चिकीर्षा, जिगमिषा, दुःखों से सदा दूर भागने और बचे रहने की प्रवृत्ति, सुखपूर्वक चिरंजीवी रहने की लिप्सा आदि समस्त लक्षण देहधारी प्रत्येक आत्मा में स्पष्टतः प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं अतः आत्मा का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष प्रमाण से

<sup>१</sup> (क) जीवे तुव संदेहो, पञ्चक्खं जं न विप्पइ घडोव्व ।

अच्चन्तापच्चक्खं च, नत्थि लोए खपुप्फं व ॥१५४६॥ [विशेषा० भा०]

(ख) जंपइ पुणोवि भयवं, तुह हियए संसओ समुप्पण्णो ।

जीवो कि अत्थि ए वात्थि एत्थ तं मुग्गसु परमत्थं ॥

[चउपपन्न म० पु० चरियं, पृ० ३०१]

<sup>२</sup> वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।

नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥

नाणं च दंसणं वेव, चरित्तं च तवो तहा ।

वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २८]

स्वतः सिद्ध है।<sup>१</sup> जो प्रत्यक्षतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार अनुभूति, इच्छा, संशय, हर्ष, विषाद आदि भाव अमूर्त-अरूपी होने के कारण बाह्य चक्षुषों से दृष्टिगोचर नहीं होते उसी प्रकार जीव भी अमूर्त-अरूपी होने के कारण चर्मचक्षुषों से नहीं दिखाई देता।<sup>२</sup> गौतम ! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वर्तमान, भूत और भविष्य के अपने कार्यकलापों के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनुभूति की जाती है कि “मैं सुन रहा हूँ”, “मैंने सुना था”, “मैं सुनूँगा”। इस प्रकार की अनुभूतियों में “मैं” की प्रतिध्वनि से प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीव का प्रत्यक्षानुभव होता है।<sup>३</sup>

भगवान् महावीर प्राणिमात्र के मनोगत भावों को जानने वाले थे अतः गौतम के मन में जो भी शंका उठी, गौतम द्वारा उस शंका के प्रकट किये जाने से पहले ही भगवान् ने उसे गौतम के समक्ष रख कर उसका तत्काल समाधान कर दिया और इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति को अपनी शंकाओं के समाधान के लिये बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

भगवान् ने फरमाया—“गौतम ! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की गई—‘मैं प्रसन्न हूँ’ अथवा ‘मैं पीड़ित हूँ’ इत्यादि अनुभूतियों में प्रयुक्त ‘मैं’ पद से आत्मा का ही बोध होता है। ‘मैं नहीं हूँ’ इस प्रकार की अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति कोई व्यक्ति नहीं करता।”

आगम प्रमाण के सम्बन्ध में गौतम के अन्तर्मन में उठी शंका का तत्काल समाधान करते हुए प्रभु ने कहा—“गौतम ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होने का मूल कारण यह है कि तुम वेद की ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाये हो। एक और—

‘न ह वै सशरीरस्यसतः प्रियाप्रिययोरपहृतिररित अशरीरं वा वसंत  
प्रियाप्रिये न स्पृशतः’<sup>३</sup> तथा—

‘स्वर्गकामो यजेत’

<sup>१</sup> (क) अतिथि एणरुत्त जीवो, इमेहि सो नवक्षणेहि मुणियव्वो ।

चित्त-चेयण-सण्णा विण्णाणादीहि चिवेहि ॥४२०॥

[चउपन्नमहापुरिस चरिमं, पृ० ३०१]

(ख) गोयम पच्चक्खुच्चिय, जीवो जं संसयाइ विन्नाणं ।

पच्चक्खं च न सज्जं, जह-सुह-दुक्खा सदेहम्मि ॥१५५४॥

[विशेषावश्यक भाष्य]

<sup>२</sup> नागादग्घो न देहस्स, मुत्तिमत्ताइग्घो घडस्सेव ।

नम्हा नागाइ गुग्गा जम्म, स देहाइग्घो जीवो ॥१५६२॥

[विशेषावश्यक भाष्य]

<sup>३</sup> छान्दोग्योपनिषद्, ४४५

इन वेद-पदों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरी ओर—

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संजास्ति'

इस वाक्य से तज्जीव तच्छरीरवाद की प्रतिध्वनि व्यक्त होती है। वेद के इन वाक्यों को परस्पर विरोधी मानने के कारण तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ है। गौतम ! उपर्युक्त अंतिम वेदवाक्य का वस्तुतः तुम अर्थ ही नहीं समझे हो। मैं तुम्हें इसका सही अर्थ समझाता हूँ।”

### विज्ञानघन का वास्तविक अर्थ

“इस वाक्य में जानोपयोग-दर्शनीपयोगरूप विशिष्ट ज्ञानपुंज से युक्त आत्मा को विज्ञानघन कहा गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानपुंज है। विज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से आत्मा सर्वव्यापी है। वह आत्मविज्ञान घटपटादि भूतों के ज्ञान से विज्ञान के रूप में उत्पन्न होता है। जब वे घटपटादि भूत ज्ञानः ज्ञानः विज्ञानघन आत्मा का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित होने के कारण विज्ञेय के भाव से नष्ट—तिरोहित हो जाते हैं तो वह आत्मा का विज्ञान स्वरूप अपने उस पूर्वोपलब्ध घटपटादि के ज्ञान की दृष्टि से उन घटपटादि के विनष्ट अर्थात् तिरोहित होते ही उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है।”

उक्त वेदवाक्य का तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन आत्मा को घटपटादि भूतों के देखने से जो घटविषयक अथवा पटविषयक ज्ञान होता है, वह क्रमशः अन्य वस्तुओं की ओर ध्यान आकर्षित होने पर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर वृक्ष, फूल, फलादि अन्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तु के प्रथम दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनन्तर दूसरी वस्तु के दर्शन से तद्विषयक नवीन ज्ञान होते ही पूर्व वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान का स्थान नवीन वस्तुओं का ज्ञान ग्रहण कर लेता है। यही क्रम आगे से आगे चलता रहता है। इस प्रकार पहले देखी हुई वस्तु का ज्ञान उसके पश्चात् देखी हुई वस्तु के ज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाता है। वस्तुतः आत्मा नष्ट नहीं होती, अपितु पूर्ववर्ती ज्ञान का स्थान पश्चाद्वर्ती ज्ञान द्वारा ले लिये जाने पर वह पूर्ववर्ती घटपटादि ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान विज्ञान ही नष्ट होता है। एक ज्ञेय के पश्चात् अन्य ज्ञेय का ज्ञान विज्ञानघन आत्मा में अविकल रूप से क्रमशः चलता रहता है अतः आत्मा के नष्ट होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।”

### वेदपद में प्रयुक्त प्रेत्य संजा का वास्तविक अर्थ

“न प्रेत्य संजास्ति” इस वेदपद का अर्थ समझाते हुए प्रभु महावीर ने कहा—“घट को देखते ही आत्मा में घटोपयोग अर्थात् ज्ञेयभूत घट का विज्ञान

‘बृहदारण्यकोपनिषद् (१२-५३८) में “न प्रेत्य संजास्ति” इसमें आगे “इत्यरे ब्रवीति होवाच याज्ञवल्क्यः”—देकर वाक्य को पूर्ति की गई है। [सम्पादक]

उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् पट को देखने पर आत्मा का ध्यान घट की ओर से हट करे पट की ओर आकर्षित हुआ । उस दशा में घट के दृष्टि से ओभल होने के साथ ही आत्मा का घटोपयोग नष्ट हो गया और उसका स्थान आत्मा में पट-सम्बन्धी ज्ञान होने के कारण पटोपयोग ने ले लिया और इस तरह पटोपयोग के आविर्भूत हो जाने पर आत्मा में घटोपयोग की प्रेत्य अर्थात् पूर्व की संज्ञा—जानकारी नहीं रहती ।”

“ज्ञान वस्तुतः भूतों का धर्म नहीं है क्योंकि वह वस्तु के अभाव में भी विद्यमान और वस्तु की विद्यमानता में अविद्यमान भी रहता है । जिस प्रकार घट से पट एक भिन्न वस्तु है, उसी प्रकार भूतों से ज्ञान नितान्त भिन्न वस्तु है । घट और पट दोनों भिन्न-भिन्न दो वस्तुएं होने के कारण जिस प्रकार घट के अभाव में पट की ओर पट के अभाव में घट की विद्यमानता रहती है, उसी प्रकार मुक्तावस्था में वस्तुओं का अभाव होने पर भी उनका ज्ञान विद्यमान रहता है और मृत शरीर में भूतों की विद्यमानता रहने पर भी ज्ञान नहीं रहता । वस्तुतः शरीर और जीव एक दूसरे से भिन्न दो वस्तुएं हैं । शरीर जीव का आधार और जीव शरीर का आधेय है । उपयोग, अनुभूति, संशयादि विज्ञान जीव के लक्षण अरूपी-अमूर्त हैं, पर शरीर मूर्त है । किसी मूर्त का गुण अमूर्त नहीं हो सकता, अतः विज्ञानादि अमूर्त गुण मूर्त शरीर के नहीं अपितु अमूर्त आत्मा के ही हो सकते हैं । जिस प्रकार दूध में घी, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, पुष्प में सुगन्ध, चन्द्रकान्त मणि में सुधा धुलीमिली प्रतीत होने पर भी वस्तुतः दुग्ध आदि से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त आत्मा भी निश्चित रूपेण शरीर से भिन्न है ।”

### एकात्मवाद का निराकरण

तदनन्तर—“पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यं, उतामृतत्वस्थेशानः यदन्नेनातिरोहति, यदेजति, यन्नेजति, यद्दूरे, यदुन्निके यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

[ ईशावास्योपनिषद् ]

तथा :—

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते प्रतिष्ठितः ।  
 एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥  
 यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।  
 संकीर्णमिव मात्राभिभिन्नाभिरभिमन्यते ॥  
 तथेदममलं ब्रह्म, निविकल्पमविद्यया ।  
 कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥

१ क्षीरे घृतं तिले तैलं काष्ठेऽग्निः सौरभं सुमे ।

चन्द्रकान्ते सुधा यद्वत्थात्माप्यंगतः पृथक् ॥

[ गणधरवाद की टीका ]

आदि एकात्मवादपोषक उक्तियों के अनुसार समग्र संसार में भिन्न-भिन्न आत्माएं नहीं अपितु आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त एक ही आत्मा है—”

इन्द्रभूति गौतम के हृदय में उत्पन्न हुए इस प्रकार के संशय का भी बड़ी युक्तिपूर्ण मधुर वाणी से समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया—  
 “इन्द्रभूते ! यदि निर्मल अनन्त आकाश के समान विराट् एक ही आत्मा सब पिण्डों में विद्यमान होता तो जिस प्रकार आकाश सभी भिन्न-भिन्न पिण्डों में एक ही रूप से विद्यमान है, आकाश की नानारूपता, विचित्रता और विलक्षणता उन पिण्डों में दिखाई नहीं देती उसी प्रकार जीव भी सब भूतसंघों में नानारूपता, वैचित्र्य एवं विलक्षणता से रहित एकरूपता में ही दिखाई देता पर प्राणी-समूह में ऐसी समानरूपता एवं एकरूपता का नितान्त अभाव है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि एक प्राणी के लक्षणों से दूसरे प्राणी के लक्षण बिलकुल ही भिन्न दिखाई देते हैं। इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा नहीं अपितु भिन्न-भिन्न आत्माएं हैं। लक्षणभेद होने पर लक्ष्यभेद स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। यदि सभी देहसमूहों में आकाश की तरह सर्वव्यापी एक ही आत्मा होता तो कर्त्ता, भोक्ता, मन्ता, एवं सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि की विभिन्न दशाएं प्राणियों में विद्यमान नहीं रहतीं। पर वस्तुस्थिति सर्वथा प्रत्यक्ष है कि सुख-दुःख आदि की समानता प्राणिवर्ग में दृष्टिगोचर नहीं होती। आज अनेकों प्राणी दुःख के कारण छटपटाते और कई प्राणी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह अन्तर इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समस्त भूतसंघों में व्योम की तरह कोई विराट् एक आत्मा नहीं बल्कि अलग अलग अनन्त आत्माएं हैं।”

“जीव का प्रमुख लक्षण है उपयोग। वह उपयोग प्रत्येक प्राणी में एक दूसरे से भिन्न-भिन्न, स्वल्पाधिक मात्रा में और विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक देहधारी में उपयोग के उत्कर्ष-अपकर्ष एवं न्यूनाधिक्य भेद के कारण संसार में आत्माओं की संख्या भी अनन्त है। वस्तुतः आत्मा अविनाशी-ध्रौव्य है। संसारी आत्माओं में घटपटादि के इन्द्रियगोचर होने पर जो घटोपयोग, पटोपयोग आदि ज्ञान-पर्यायें उत्पन्न होती हैं उस दृष्टि से आत्मा के उत्पाद स्वभाव का तथा उसमें पटोपयोग के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व के घटोपयोग रूपी ज्ञान-पर्याय का व्यय अर्थात् विनाश हो जाने के कारण आत्मा के व्यय स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। पर उत्पाद और व्यय की उन दोनों ही परिस्थितियों में आत्मा का अविनाशी स्वभाव सदा सर्वदा अपने शाश्वत ध्रुव स्वरूप में विद्यमान रहता है अतः आत्मा ध्रौव्य स्वभाव वाला माना गया है। ज्ञान-पर्यायों के उत्पाद एवं व्यय के कारण ही आत्मा उत्पाद और व्यय रूप में परिलक्षित होता है अन्यथा वह शाश्वत-ध्रौव्य-अविनाशी है।”

इस प्रकार पंचभूतवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, एकात्मवाद आदि का निरसन करते हुए भगवान् महावीर ने अपनी गुरुगम्भीर मृदुवाणी द्वारा अनुपम कुशलता-

पूर्वक प्रमाणसंगत एवं हृदयग्राही युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में इन्द्रभूति गौतम के मनोगत सम्पूर्ण संशयों का मूलोच्छेद कर दिया। हस्तल के निविडतम अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर देदीप्यमान ज्ञानालोक प्रकट करने में समर्थ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के अमोघ वचनों का, परम सत्य को पहिचान कर उसे आत्मसात् करने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले इन्द्रभूति के पूर्वाग्रहों से विनिर्मुक्त स्वच्छ निश्चल अन्तर्मन पर अत्यन्त अद्भुत प्रभाव पड़ा। प्रभु की दिव्य ध्वनि से न केवल उनके अन्तर्मन के संदेह ही दूर हुए अपितु उनका अन्तर अचिन्त्य, अनिर्वचनीय अद्भुत एवं अलौकिक उल्लास से ओतःप्रोत हो गया।

### हृदयपरिवर्तन

इन्द्रभूति गौतम ने अपनी आंखों से असीम कृतज्ञता प्रकट करने के साथ-साथ अपने आपको प्रभुचरणों पर न्योछावर करते हुए हर्षगद्गद स्वर में कहा—“भगवन् ! अब मैं सम्पूर्णरूपेण आपकी शरण में हूँ। प्रभो ? आज का दिन मेरे लिये परम सौभाग्यशाली दिन है। आज मेरा सकल जीवन सफल हो गया क्योंकि आज मुझे आप जैसे महान् जगद्गुरु प्राप्त हुए हैं।” आपने मेरे हृदय में व्याप्त घोर अन्धकार को विनष्ट कर दिया है। आपकी युक्तिपूर्ण, सुधासिक्त शाश्वत-सत्य वाणी से मेरे मन के समस्त संशयों का समूल नाश हो गया है। मैं आपको पूर्णरूपेण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार करता हूँ तथा आपके वचनों एवं सिद्धान्तों पर प्रगाढ़ श्रद्धा रखता हूँ। आपके कृपाप्रसाद से मैंने वास्तविक सत्य को पा लिया है।”

पश्चात्ताप भरे स्वर में आत्मनिन्दा करते हुए इन्द्रभूति कहने लगे—“शोक ! महाशोक ! विश्व में मिथ्यात्व वस्तुतः पाप का बहुत बड़ा भण्डार है। अपने जीवन का आज तक का इतना अमूल्य समय मैंने मिथ्यात्व का सेवन करते हुए व्यर्थ ही खो दिया है।”

इस प्रकार सर्वज्ञ प्रभु महावीर की अतुल प्रभावोत्पादक तर्क एवं युक्तिसंगत अमोघ वाणी द्वारा इन्द्रभूति गौतम की सत्यान्वेषिणी, सरल, स्वच्छ एवं अनाग्रह-पूर्ण मनोभूमि में बोया हुआ एवं परिसिंचित आध्यात्मिकता का बीज सहसा अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो उठा।

पूर्वाग्रहों के प्रति किञ्चित्मात्र भी मोह न होने तथा सत्य के प्रति परम निष्ठा के साथ-साथ सत्य को अपने जीवन में ढालने का प्रबल साहस होने के

१ अद्याहमेव धन्योऽहं (स्मि), सफलं जन्म मेऽखिलम् ।

यतो मयातिपुण्येन, प्राप्तो देवो जगद्गुरुः ॥१३४॥

— [वीर वर्धमानचरित्र-भट्टारक श्री सकलकीर्ति]

२ अहो मिथ्यात्व मार्गोऽयं, विश्वपापाकरोऽणुभः ।

चिरं वृथा मया निन्द्यः, सेवितो मूढचेतसा ॥१३३॥

[वही]



कारण इन्द्रभूति गीतम ने श्रमण भगवान् महावीर द्वारा परम सत्य का बोध होने ही तत्क्षण बिना किसी प्रकार की हिचक के सहर्ष अपना सर्वस्व श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया । उन्होंने अपने समाज में अर्जित उपज्वल यश, धार्मिक जगत् एवं विद्वत्समाज में वर्षों के अथक प्रयास से अर्जित अपनी प्रतिष्ठा और शिष्यसंघ के हृदयों में अतःप्रोत अपने प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, उत्कट निष्ठा व सर्वोच्च समादर आदि की किञ्चित्मात्र भी चिन्ता किये बिना उन्होंने प्रभु-चरणों में प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प कर लिया ।

उन्होंने सांजलि शीश झुका कर प्रभु से प्रार्थना भरे स्वर में कहा—“प्रभो ! मुझे आपके चरणों में पूर्ण आस्था है । मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपके द्वारा बताये गये प्रशस्त मार्ग का अवलम्बन करने पर ही प्राणी सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों से विनिर्मुक्त हो अपने चरम एवं परम लक्ष्य शिवपद को प्राप्त कर सकता है । मैं अब आजीवन आपके चरणों की शरण में रहना चाहता हूँ, यतः आप मुझे अपने परम कल्याणकारी धर्म में श्रमण-दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ कीजिये ।”

### शिष्यमंडल सहित प्रव्रज्या

परम दयालु प्रभु महावीर ने “अहासुहं देवागुपिया !” इस मृधासिक्त सुमधुर वाक्य से इन्द्रभूति को यथेप्सित सुखद कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की ।

तदनन्तर इन्द्रभूति गीतम ने अपने ५०० शिष्यों को सम्बोधित करते हुए शान्त, सहज, सरल एवं गम्भीर स्वर में कहा—“आयुष्मन् अन्तेवासियो ! मुझे प्रभुकृपा से वास्तविक सत्य का बोध हो गया है । मैं अब सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर शिष्यरूपेण इनकी शरण ग्रहण करना चाहता हूँ । अतः अब आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार जैसे आपको अच्छा लगे, वही कर सकते हैं ।”

इस पर इन्द्रभूति गीतम के ५०० शिष्यों ने एक स्वर में कहा—“परम श्रद्धास्पद गुरुदेव ! हमारी आन्तरिक प्रगाढ़ श्रद्धा के एकमात्र केन्द्रविन्दु आप जैसे महान् आचार्य जब भगवान् महावीर के पास शिष्यभाव से दीक्षित हो रहे हैं तो हम लोग आपको छोड़ कर अन्यत्र कहाँ और क्यों जायं ? हम सब लोग भी आपके चरणचिन्हों पर चलते हुए आपकी एवं प्रभु की सेवा करते हुए अपना आत्मकल्याण करेंगे ।”

श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने हेतु समुद्यत इन्द्रभूति गीतम के अन्तमन की पुकार और प्रार्थना को सुन कर भगवान् महावीर ने उन्हें अपना भावी प्रथम गणधर जान कर प्रमुख शिष्य के रूप में ईसा पूर्व ५५७ एवं विक्रमपूर्व ५०० वैशाख

१ एष्य संप्रती संबुद्धो य भणइ पंच खंडितसते, एस सज्जन्तु अहं पच्चयाधि तुम्हे जहिचि यं करेहि । ते भणन्ति यदि तुम्हे एरिसगा होंता पच्चयह तो अम्हे का अत्रा गतिनि ! एवं सो पंचसयपरिवारो पच्चतितो । [भावश्यक चरुणि, पृ० ३३६]

शुकना ११ के दिन स्वयं के श्रीमुख से सर्वविरति श्रमण-दीक्षा अर्थात् पंच महाव्रतों की भागवती-दीक्षा प्रदान की।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने “त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र” में उल्लेख किया है कि इन्द्रभूति आदि श्रमणों को वस्त्र, पात्र, उपकरणादि कुबेर द्वारा प्रदान किये गये। उन्होंने धर्मोपकरण ग्रहण करने की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला है।<sup>१</sup>

अपने ५०० शिष्यों सहित, श्रमण भगवान् महावीर के पास, इन्द्रभूति के प्रव्रजित होने का संवाद सुनकर क्रमशः अग्निभूति, वायुभूति, आर्य व्यक्त, आर्य सुधर्मा प्रत्येक अपने पांच-पांच सौ शिष्यों, मण्डित तथा मौर्यपुत्र अपने साढ़े तीन तीन सौ शिष्यों और अकम्पित, अचलभ्राता, मैतार्य एवं आर्य प्रभास अपने तीन-तीन सौ शिष्यों के साथ श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में आये और अपने मनोगत संशयों का भगवान् महावीर द्वारा पूर्णरूपेण समाधान पाकर अपने-अपने शिष्यमण्डल सहित श्रमण भगवान् महावीर के पास मंडित होकर विधिवत् निर्ग्रन्थ बन गये।

अनेक आचार्यों ने उल्लेख किया है कि गणधरों की दीक्षा के समय देवगण ने पंच-दिव्यों की वर्षा कर अपनी प्रसन्नता एवं धर्म की महिमा प्रकट की।<sup>२</sup>

इस प्रकार एक ही देशना में वेद-वेदान्तों के विख्यात ज्ञाता ग्यारह विद्वान् आचार्यों और उनके ४४०० शिष्यों ने शाश्वत सत्य को हृदयंगम कराने वाले भगवान् महावीर के परम तात्त्विक उपदेश से धर्म के सत्य स्वरूप को पहिचान कर प्रभु के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के अनन्तर भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को अग्निभूति आदि अपने १० प्रमुख शिष्यों के साथ उत्पाद (उप्पन्नेइ वा), व्यय (विगमेइ वा) और धौव्य

१ (क) उपनीतं कुबेरेण धर्मोपकरणं ततः।

त्यक्तसंगोऽप्याददानो गौतमोऽप्येत्यचिन्तयत् ॥८४॥

निरवद्यव्रतत्राणे, यदेतदुपयुज्यते।

वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यं, धर्मोपकरणं हि तत् ॥८५॥

छद्मस्थैरिह पङ्जीवनिकाययतनापरैः।

सम्पक्.प्राणिदया कर्तुं, शक्येत कथमन्यथा ॥८६॥

(ख) जलज्वलनवायुर्वीतरुत्रसतया बहून्।

जीवांस्त्रानुं कथमलं, धर्मोपकरणं विना ॥८९॥

इन्द्रभूतिविभान्वयं, शिष्याणां पंचभिः शतैः।

समं जग्राह धर्मोपकरणं त्रिदशाश्रितम् ॥९३॥

[त्रिषष्टि श० पु० ४०, पर्व १०, सर्ग ५]

२ आवश्यक चूणि, त्रिषष्टि श. पु. च., महावीर चरित्र आदि।

(ध्रुवेइ वा) इस त्रिपदी का सविस्तार उपदेश देकर उन्हें संसार के समस्त तत्त्वों के उत्पन्न, नष्ट एवं स्थिर रहने के स्वभाव तथा स्वरूप का सम्यक् रूपेण सम्पूर्णा ज्ञान करवाया ।

भगवान् महावीर ने फरमाया — “उत्पाद - व्यय - ध्रौव्यात्मक सार्वभौम सिद्धान्त संसार के समस्त जड़ - चेतन तत्त्वों पर परिघटित होता है । संसार के समस्त तत्त्व उत्पाद - व्यय - ध्रौव्यात्मक स्वभाव वाले हैं ।”<sup>१</sup>

त्रिपदी का साररूप में अर्थ बताते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया -

“उत्पाद - स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।” अर्थात् किसी द्रव्य द्वारा अपने मूल स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे रूपान्तर का ग्रहण करनेवाला उस द्रव्य का ‘उत्पाद’ स्वभाव कहा जाता है ।

“व्यय - तथा पूर्वभावविगमो व्ययः ।” अर्थात् किसी द्रव्य द्वारा रूपान्तर करते समय पूर्वभाव - पूर्वावस्था - का परित्याग करना द्रव्य का ‘व्यय’ स्वभाव कहा गया है ।

“ध्रौव्य - ध्रुवे स्थैर्यं कर्मणि ध्रुवतीति ध्रौव्यः ।” अर्थात् उत्पाद और व्यय स्वभाव की परिस्थितियों में भी पदार्थ का अपने मूल गुण, धर्म और स्वभाव में बने रहना उस द्रव्य का ‘ध्रौव्य’ ( ध्रुवत्व - ध्रुवस्वभाव ) कहलाता है ।

उदाहरण के रूप में स्वर्ण का एक पिण्ड है । उस स्वर्णपिण्ड को गला कर उससे कंकण का निर्माण किया गया तो कंकण का उत्पाद हुआ और स्वर्ण पिण्ड का व्यय हुआ । दोनों ही परिस्थितियों में स्वर्ण द्रव्य की विद्यमानता उस स्वर्ण का ध्रौव्य है ।

इसी प्रकार आत्मा, मनुष्य, देव या तिर्यच रूप में उत्पन्न होता है तो वह आत्मा का अनुष्य, देवादि रूप में उत्पन्न होने की अपेक्षा से उत्पाद और देव तिर्यचादि पूर्व शरीर के त्याग की अपेक्षा से व्यय है । दोनों अवस्थाओं में आत्म-गुण की विद्यमानता के कारण ध्रौव्य समझना चाहिये । पहली दो अवस्थाओं में अर्थात् उत्पाद और व्यय में वस्तु के पर्याय की प्रधानता है; जबकि अन्तिम ध्रौव्य अवस्था में द्रव्य के मूल रूप की प्रधानता है ।

स्वर्ण के कंकण को तोड़ कर मंगलसूत्र बनाने की दशा में जिस प्रकार कंकण के प्रति ममता रखनेवाली स्त्री के मन में विषाद, मंगलसूत्र के प्रति ममता रखने वाली सुहागिन के मन में हर्ष और स्वर्ण के मूल्य को समझने वाली तटस्थ स्त्री के मन में मूल द्रव्य स्वर्ण के यथावत् स्थिति में विद्यमान रहने के कारण तटस्थ भाव रहता है<sup>२</sup> । उसी प्रकार सांसारिक तत्त्वों के उत्पाद-व्यय - ध्रौव्या-

<sup>१</sup> उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् ।

[तत्त्वार्थमूत्र, अध्याय ५, सूत्र २६]

<sup>२</sup> घटमीनिमुवर्गार्थी - नाशोत्पादस्थितिप्लयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥५६॥

[आप्त मीमांसा]



भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारहों प्रमुख शिष्यों ने भगवान् की वाणी को जो द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया उसमें इन्द्रभूति गीतम, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, आर्यसुधर्मा, मंडित और मौर्यपुत्र इन सात गणधरों की अलग-अलग रूप से सात वाचनाएं थीं। आठवीं वाचना के रूप में अकम्पित एवं अचल आत्मा की सम्मिलित रूप से एक वाचना थी, तथा नवमी वाचना के रूप में भैतार्य और प्रभास की भी सम्मिलित रूप से एक वाचना थी। इस प्रकार क्योंकि पृथक्-पृथक् रूप से ६ वाचनाएं थीं, अतः पृथक्-पृथक् वाचनाभेद की दृष्टि से भगवान् महावीर के ६ गण विख्यात हुए एवं अलग-अलग व्यक्तियों की दृष्टि से ११ गणधर कहलाये।<sup>१</sup>

भगवान् महावीर के ६ गणों के स्थान पर समवायांग सूत्र में बताई गई ११ गण संख्या, गणधरों के अधीन ११ साधु समुदायों की अपेक्षा से होनी संभव है।<sup>२</sup>

### दीक्षा-समय पिता की विद्यमानता

श्वेताम्बर साहित्य में इन्द्रभूति गीतम के दीक्षाकाल में उनके पिता के विद्यमान होने अथवा न होने का कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। दिग्म्बर परम्परा के भी अधिकांश आचार्य इस विषय में मौन हैं। किन्तु दिग्म्बर कवि 'रघु' ने जो अपभ्रंश भाषा में महावीर-चरित्र लिखा है उसके अनुसार इन्द्रभूति के दीक्षाकाल में उनके पिता शांडिल्य विद्यमान थे। जब देवपति शक्रेन्द्र के साथ इन्द्रभूति गीतम भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान करने लगे तब उनके दोनों भाई अग्निभूति और वायुभूति भी अपने छात्रमंडल सहित उनके साथ हो लिये। यह देख कर इन्द्रभूति के पिता शांडिल्य ब्राह्मण चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे—“हाय रे दुर्देव ! मेरा तो सर्वस्व लुट गया। मेरे इन पुत्रों के जन्म-समय नैमित्तिक ने अपनी भविष्यवाणी में कहा था कि तुम्हारे ये पुत्र जैनधर्म की महती प्रभावना कर परम-सौख्यदायी मार्ग को प्रशस्त करने वाले होंगे। आज उस ज्योतिषी की बात सत्य होने जा रही है। हाय ! यह मायावी महावीर यहां कहां से आ गया है ?”<sup>३</sup>

<sup>१</sup> समणस्स भगवधो महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था ।

[कल्प सूत्र (स्वविरावली) सूत्र २०१]

<sup>२</sup> समणस्स भगवधो महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था — तं जहा.....

[समवायांग सूत्र, समवाय ११]

<sup>३</sup> ता संडिल्ले विप्ये सिट्ठउ, हा हा हा कहु काज विणट्ठउ ।

एवाहि जम्मणदिणि मइ लक्खिउ, सोमितिण्ण मज्जु शिउ भवसहु ॥

ए तिप्पिण वि जिणसमय — पहावण, पयड करेसहि सुहगइ दावण ।

तं अहिहाणु एहु पुणु जायउ, कुवि मायावि इहु शिस आयउ ॥

[महावीर चरित, (अप्रकाशित) पत्र ५० ए]

### दीक्षा पर दोनों परम्पराओं का समन्वय

इन्द्रभूति गौतम की श्रमण-दीक्षा को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा प्रभु महावीर की केवल ज्ञानोपलब्धि के दूसरे ही दिन इन्द्रभूति की दीक्षा मानती है; जबकि दिगम्बर परम्परा ६६ दिन बाद।

भगवान् महावीर और गौतम गणधर को समान रूप से आदरणीय मान कर भी दोनों परम्पराएं सामान्य मतभेद के कारण एक प्रकार से कुछ अलग, कुछ दूर सी दृष्टिगोचर होती हैं।

श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के इस मतव्यभेद के कारण धर्मशास्त्र के संचालन में एकरूपता नहीं रही। पर यह प्रसन्नता की बात है कि हमें दोनों परम्पराओं में समन्वय का एक आधार मिल रहा है।

दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' में भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और धर्मसंध आदि विषयों में श्वेताम्बर-दिगम्बर, दोनों परम्पराओं में कोई खास मतभेद नहीं है। केवल गर्भापहरण, कुमारत्व, तीर्थस्थापन जैसे कुछ प्रसंगों में सामान्य परम्परा-भेद है, जो प्रायः प्रसंग को नहीं समझने अथवा अर्थभेद की दृष्टि से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। समन्वय दृष्टि से विचार करने पर कई विषयों के हल निकल आते हैं। उदाहरण के तौर पर 'कुमार' का अर्थ अविवाहित की तरह अनभिषिक्त भी मान लिया जाय तो समन्वय हो सकता है।

वैसे श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परानुसार वैशाख शुक्ला ११ को और दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रावण कृष्णा १ (प्रतिपदा) को तीर्थस्थापना और गौतमादि की दीक्षा मानी गई है; पर उसका समन्वय भी प्राप्त होता है।

प्रायः सभी दिगम्बर ग्रन्थों में प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति के ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को इन्द्रभूति आदि की दीक्षा का होना माना गया है; जबकि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' में एक नवीन समन्वयकारी तथ्य दृष्टिगोचर होता है।

गौतमचरित्र में लिखा है :-

“ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृभक नामक ग्राम के पास ज्ञालवृक्ष के नीचे शिला पर विराजमान भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के दिन सायंकाल की वेला में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन्द्र की आज्ञा के तत्काल कुबेर द्वारा समवसरण की रचना की गई। भगवान् महावीर सिंहासन पर विराजमान हुए किन्तु याममात्र अर्थात् तीन घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु की दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई।”

<sup>१</sup> याममात्रे व्यतिक्रान्ते, सिंहासनप्रसंस्थिते।

मथ श्री बीरनाथस्य, नाभवद् ध्वनिनिर्गमः ॥७२॥

इन्द्र ने अवधिज्ञान से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित न होने का कारण जाना और वह इन्द्रभूति गौतम को लेने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर उनके पास पहुंचा। शक्र युक्तिपूर्वक गौतम को भगवान् के पास ले आया।

वृद्ध - ब्राह्मण - वेषधारी इन्द्र द्वारा पूछे गये श्लोक का अर्थ समझ में न आने, मानस्तम्भ को देखते ही अपने मान के तत्काल विगलित हो जाने तथा प्रभु के अलौकिक आभासम्पन्न, त्रैलोक्य विमोहक दिव्य तेजोमय स्वरूप को देखने के कारण इन्द्रभूति प्रतिबुद्ध हुए और प्रभुचरणों में दीक्षित हो गये।

६६ दिन पश्चात् ही इन्द्रभूति के दीक्षित होने की मान्यता को अभिव्यक्त करना यदि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र भट्टारक को अभीष्ट होता तो वे "याममात्रे व्यतिक्रान्ते" पद का प्रयोग नहीं करते। संभव है उनके समक्ष एकादशी के दिन इन्द्रभूति के दीक्षित होने की समाज में मान्य कोई प्राचीन परम्परा रही हो।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में समन्वय प्राप्त होता है। समन्वयप्रेमी विद्वान् इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

### गणधर-पद प्रदान की विधि

वर्तमान काल में आचार्यादि पद प्रदान के अवसर पर जिस प्रकार कुछ विधि-विधान और मंगल उत्सव होते हैं उसी तरह शास्त्र में तीर्थंकर भगवान् द्वारा वासुदेवादि किसी विशेष विधिपूर्वक गणधर नियुक्त करने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। संभव है त्रिपदी-ज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर भगवान् विशिष्ट योग्यता वाले मुनियों को चतुर्विध संघ के समक्ष गणधर रूप से घोषित करते हों और उपस्थित चतुर्विध संघ एवं देव-देवी समूह हर्षध्वनिपूर्वक मंगल-महोत्सव मनाकर अभिनन्दन तथा अनुमोदन अभिव्यक्त करते हों।

आवश्यक चूर्ण, महावीर चरित्र और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इस प्रकार का उल्लेख है कि इन्द्रभूति आदि ग्यारहों गणधर प्रभु महावीर के सम्मुख कुछ झुक कर परिपाटी से खड़े हो गये। कुछ क्षण के लिए देवों ने वाष्पनिनाद बंद किये। उस समय जगद्गुरु प्रभु महावीर ने सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम को लक्ष्य कर यह कहते हुए कि "मैं तुम्हें तीर्थ की अनुज्ञा देता हूँ" - इन्द्रभूति के सिर पर स्वयं के करकमलों से सौगन्धिक रत्नचूर्ण डाला। तदनन्तर प्रभु ने क्रमशः अन्य सब गणधरों के सिर पर भी उसी प्रकार चूर्ण डाला। तत्पश्चात् प्रभु महावीर ने अपने पंचम गणधर आर्य सुधर्मा को चिरंजीवी समझ कर सब गणधरों के आगे खड़ा किया और श्रीमुख से फरमाया - "मैं तुम्हें धुरी के स्थान पर रख कर गण की अनुज्ञा देता हूँ।"<sup>१</sup>

१ (क) आवश्यक चूर्ण पृष्ठ ३७०

(ख) त्रिषष्टि श० पृ० च०, पर्व १० सर्ग ५, श्लोक १७६-८०

(ग) महावीर चरित्र (गुणचन्द्रगण) पत्र २५८ (१)

मूल आगम—शास्त्रों में इस प्रकार की किसी प्रक्रिया का कहीं किञ्चित्मात्र भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्यों द्वारा आवश्यक चूर्ण आदि ग्रन्थों में उपरोक्त उल्लेख किस आघार पर किया गया है।

### गणधर-पद की महत्ता

इन्द्रभूति गौतम ने चरमशरीरी गणधर पद की प्राप्ति की। इससे उनके द्वारा पूर्वजन्म में की गई उत्कट साधना और प्रभूत पुण्योपाजना का परिचय मिलाता है। जैन परम्परा के आगम और आगमेतर साहित्य में विश्वबंध, त्रैलोक्यश्रेष्ठ तीर्थंकर-पद के पश्चात् गणधर-पद को ही श्रेष्ठ माना गया है।<sup>१</sup>

जिस प्रकार कोई विशिष्ट साधक अत्युच्च कोटि की साधना के द्वारा त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकर नामगोत्र का उपाजर्जन करता है उसी प्रकार गणधर-पद को प्राप्त करने के लिये भी साधक को उच्चकोटि की साधना करनी पड़ती है। तीर्थंकर नामगोत्र के उपाजर्जन के लिये तो आगमों में स्पष्ट उल्लेख है कि अमुक १६ या २० स्थानों में से किसी एक अथवा एक से अधिक स्थानों की उत्कट साधना करने से साधक तीर्थंकर नाम कर्म का उपाजर्जन करता है।<sup>२</sup> किन्तु गणधर नाम-कर्म का उपाजर्जन किस-किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की साधना करने पर होती है, इसका कोई उल्लेख आगम साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में इस प्रकार का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है कि भरत चक्रवर्ती का ऋषभसेन नामक पुत्र, जिसने कि पूर्व भव में गणधर नामगोत्र का उपाजर्जन किया था, संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो गया।<sup>३</sup>

भद्रेश्वर ने ईसा की ग्यारहवीं शती में रचित अपने प्राकृत भाषा के “कहावली” नामक बृहद् ग्रन्थ में भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन के प्रव्रजित होमे का उल्लेख करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उन्होंने अपने पूर्वभव में गणधर नाम-गोत्र कर्म का उपाजर्जन किया था। इस सम्बन्ध में कहावलीकार भद्रेश्वर द्वारा उल्लिखित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“सामिणो य समोसरणे ससुरासुरमणुयसभाए धम्मं साहित्तस्सोसभसेणो-  
नाम्भ भरहपुत्तो पुब्बभवनिबद्धगणहरनामगो जायसंवेगो पव्वइओ।”

अमरु भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने भी अपने-अपने पूर्वजन्म में गणधर-पद की अवाप्ति के योग्य किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट साधना की थी इस प्रकार का संकेत कतिपय आचार्यों ने किया है। यथा—

<sup>१</sup> अस्यन्ताप्तगोचरश्रद्धास्पर्धयंतोऽनुष्ठानातीर्थकृत्वं, मध्यमश्रद्धा समन्विताद् गणधरस्त्वम्।

[योगबिन्दुसार]

<sup>२</sup> देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६

<sup>३</sup> “तस्य उसभसेण नाम भरहपुत्तो पुब्बभवन्नद्धगणहरनामगुत्तो जायसंवेगो पव्वइओ...।”

[आवश्यक मलय, प्र०भा०]



“.....मध्यमा नाम नगरी, तत्र सोमिलार्यो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमुद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः खल्वागताः, ते च चरमशरीरा भवान्तरुपाजितगराधरलब्धयश्च, तान् विज्ञाय.....मध्यमनगर्यां ब्रह्मसेनवनोद्यानं संप्राप्तः। [आवश्यक मलय । प्रबचनसारोद्धार]

विक्रम सं० ११३६ में विरचित “महावीरचरियं” नामक ग्रन्थ में गुणचन्द्रगण ने भगवान् महावीर के ११ गराधरों द्वारा अपने-अपने पूर्वजन्म में गराधर-पद की अवाप्ति के योग्य की गई साधना का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है -

“ते हि या पुव्वभवव्वभत्थसमत्थपरमत्थसत्थवित्थारवियक्खणत्तरोरा तवकानुप्पन्नपन्नाइमयमुव्वहत्तेहि तयस्सारेण विरइयाइं दुवालसअंगाइं ।”

[महावीर चरियं पृष्ठ २५७]

जैन सिद्धान्त में कर्मवाद को प्रमुख एवं महत्वपूर्ण स्थान है और यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक प्राणी जिस जिस प्रकार के कर्म करता है उन्हीं कर्मों के अनुसार वह संसार में सामान्य अथवा विशिष्ट स्थान, स्थिति एवं सत्ता प्राप्त करता है। तदनुसार तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिये साधक को जिस प्रकार की कठोर साधना के दौर से गुजरना पड़ता है उसी प्रकार निश्चित रूप से तीर्थंकर पद के पश्चात् सर्वोच्च गरिमापूर्ण पद की प्राप्ति के लिये भी साधक को उससे कुछ ही कम कठोर साधना की कसौटी को पार करना होगा। भद्रेश्वरसूरि ने गराधर ऋषभसेन के लिये जो “पुव्वभवनिबद्ध गराहरनामगो” का विशेषण प्रयुक्त किया है, इससे पूर्वकाल में प्रख्यात पर पश्चादवर्ती काल में विलुप्त एक परम्परा का आभास होता है कि तीर्थंकरों के जो गराधर होते हैं वे अपने पूर्वभव में एक विशिष्ट प्रकार की उच्चतम साधना से गराधर नामकर्म का उपाजन कर लेते हैं।

### गरा और गराधर

एक ही प्रकार की वाचना वाले साधु-समुदाय को गरा और उस साधु-समुदाय की व्यवस्था का संचालन करने वाले मुनि को गराधर कहा गया है।

श्रमण भगवान् महावीर के ११ प्रमुख शिष्यों ने प्रभु के मुख से ‘त्रिपदी’ सुन कर तीन निषद्याओं में चौदह पूर्वों की रचना की और वे गराधर कहलाये। आवश्यक चूरी में बतलाया गया है कि गीतम स्वामी ने किस तरह ‘त्रिपदी’ का ज्ञान ग्रहण किया। वहां कहा गया है कि तीन निषद्याओं से गराधरों ने १४ पूर्वों की रचना की। ‘निषद्या’ का अर्थ वंदन करके पूछना लिखा है। ‘उत्पाद’ आदि प्रत्येक पद पर गराधर पृच्छा करते हैं और प्रभु से उत्तर सुन कर सूत्रों की रचना करते हैं।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> तं क्हं गहितं गोयम सामिणा ? तिहि निसेज्जाहि चोदस पुव्वारिण उप्पादितारिण । ‘निसेज्जा’ णाम परिणवतिअण जा पुच्छा.....ते य तारिण पुच्छिअण एमतमं ते सुत्तं करेति, जारिसं जहा भणितं । [आवश्यक चूरी, पूर्वभाग, पत्र ३७०।

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थ रूप में कही गई वाणी को इन्द्रभूति आदि ने सूत्ररूप में ग्रथित कर द्वादशांगी की रचना की। जैसा कि कहा है—

अर्थ्य भासइ अरहा, सुत्तं गंथति गणहरा निउणं ।

अब यहां सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भगवान् महावीर के गणधर ११ हैं तो उनके गण भी ११ ही होने चाहिये। गण ११ न होकर ६ ही क्यों ?

वस्तुस्थिति यह है कि ग्यारह गणधरों की शास्त्र-वाचना ६ प्रकार की रही। इन्द्रभूति आदि प्रथम ७ गणधरों की—प्रत्येक की पृथक् वाचना होने के कारण प्रत्येक के साधु-समुदाय की पृथक् गण के रूप में गणना की गई। पर आठवें और नौवें गणधर—अकपित एवं अचलभ्राता की समान वाचना थी। उसी प्रकार मेतार्य और प्रभास इन दोनों—क्रमशः दसवें और ग्यारहवें गणधरों की भी वाचना एक थी। अतः वाचना के साम्य से अंतिम चार गणधरों में से दो-दो गणधरों की एक-एक वाचना होने के कारण ग्यारह गणधरों के ६ गण कहलाये।

समवायांग सूत्र में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर और गण भी ग्यारह बताये गये हैं। संभव है वहां व्यवस्था की दृष्टि से ११ गणधरों के शिष्यमंडल अलग-अलग होने के कारण ग्यारह गण के रूप में माना गया है।

### इन्द्रभूति और सुधर्मा को विशिष्ट पद

भगवान् महावीर के ग्यारह प्रमुख शिष्यों द्वारा चतुर्दश पूर्वों की रचना के पश्चात् प्रभु ने उन्हें गणधर घोषित किया।

आवश्यक चूर्णि और महावीर चरित्र आदि के अनुसार वंशाख शुक्ला एकादशी को भगवान् महावीर ने अपनी प्रथम देशना में ही अपने ११ प्रमुख शिष्यों को, जिसका जितना शिष्य समुदाय था उसको उतना गणरूप से प्रदान किया और वे गणधर कहलाये। चूर्णिकार आदि ने लिखा है कि आर्य सुधर्मा अन्य गणधरों की अपेक्षा दीर्घजीवी हैं और उनसे आगे धर्म-तीर्थ चलेगा, ऐसा जान कर प्रभु ने उनके लिये गण की अनुज्ञा दी और इन्द्रभूति को द्रव्य गुण, पर्यायों से तीर्थ की अनुज्ञा दी। अर्थात् इन्द्रभूति को तीर्थनायक और सुधर्मा को गणनायक के सम्मानित पद पर स्वयं प्रभु ने अपने हाथ से अभिषिक्त किया।

यहां पर यह विचार होता है कि जब शासनपति — तीर्थपति भगवान् स्वयं विराजमान हों तब इन्द्रभूति और सुधर्मा को क्रमशः तीर्थ एवं गण की अनुज्ञा देना क्या अर्थ रखता है? उत्तर स्पष्ट है कि जैसे किसी सम्राट की शासन व्यवस्था में उसको सर्व सत्तासम्पन्न शासक मान कर भी शिक्षा, न्याय आदि की व्यवस्था अन्यान्य अधिकारियों द्वारा सम्पन्न करवाई जाती है और वे भी शासक कहलाते हैं, उसी प्रकार तीर्थकर भगवान् को पूर्ण सत्तासम्पन्न शासनपति मान

कर उनकी आज्ञा में आगम-वाचना और साधु-समुदाय के आचार-पालन आदि की व्यवस्था इन दो गणधरों के आधीन रखी गई हो। इस दृष्टि से इन्द्रभूति और सुधर्मा का काम भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुत की रक्षा के लिये शिक्षा एवं साधु-समुदाय की व्यवस्था सम्हालना हो सकता है।

क्योंकि आगमप्रणीताओं में इन्द्रभूति प्रमुख रहे हैं, इसीलिये उन्हें भगवान् द्वारा श्रुत-तीर्थ का दायित्व सम्हालना उचित लगता है। आगमों में भी जहाँ किसी विषय का भगवान् द्वारा निरूपण उपलब्ध होता है, वहाँ प्रायः गीतम को सम्बोधित कर के ही भगवान् ने अधिकांश निरूपण किये हैं। "समयं गोयम् ! मा पमायए" की तरह "समयं सुहम्म मा पमायए" का उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

सुधर्मा को गणाधिनायक चुनने का अभिप्राय सुधर्मा द्वारा दश गणधरों के आश्रित साधु-समुदाय को छोड़ कर अवशिष्ट साधु समूह को संयम-मार्ग में स्थिर करने का दायित्व सम्हालना था। सुधर्मा से पूर्व निर्वाण प्राप्त करने वाले सभी गणधरों द्वारा अपने निर्वाणकाल से पूर्व अपने-अपने गण सुधर्मा को सम्हालना इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये अत्यन्त प्रबल और पुष्ट प्रमाण है।

जैन वाङ्मय में इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि सुधर्मा की अपेक्षा शेष गणधर अल्पायु थे और वे अपने पीछे अपने-अपने गण की व्यवस्था सम्हालने का काम सुधर्मा को सौंप कर सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हुए।

इस तरह जूणि आदि में कही गई इन्द्रभूति के लिये तीर्थ की अनुज्ञा और सुधर्मा के लिये गण की अनुज्ञा वस्तुतः संगत हो सकती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संघ में इन्द्रभूति और सुधर्मा को क्रमशः तीर्थनायक और गणाधिनायक नियुक्त कर भगवान् महावीर संघ-संचालन से पूर्णरूपेण विरत हो गये।

### देशना के पश्चात् इन्द्रभूति का उपदेश

आवश्यक जूणि आदि ग्रन्थों के अनुसार पौरुषी के पश्चात् तीर्थंकर भगवान् के उठ जाने पर प्रभु के सिंहासन के नीचे पादपीठ पर आसीन होकर गीतमस्वामी अथवा अन्य गणधर धर्मोपदेश करते थे।<sup>१</sup>

तीर्थंकर भगवान् ही द्वितीय प्रहर में भी धर्मदेशना क्यों नहीं करते इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में प्राचीन प्राचार्यों ने भगवान् की देशना के पश्चात् मुख्य गणधर अथवा अन्य गणधरों द्वारा द्वितीय प्रहर में उपदेश दिये जाने के निम्न-लिखित तीन प्रयोजन बताये हैं :-

<sup>१</sup> (क) तित्त्ववरो पडमपोरुसीए धम्मं ताव क्हेति जाव पडमपोरुसी उग्घाडवेला ।

[साव. जूणि, भाग १, पृ० ३३०]

(ख) उव्वारि पोरुसीए उट्ठित्ते तित्त्वकरे गोयमसामी अन्नो वा गणधरो त्तिनीय पोर्म्मोए धम्मं क्हेति ।

[वही, पृ० ३३३]

१. तीर्थंकर भगवान् को विश्राम देना एवं शिष्यों की योग्यता का बढ़ाना ।
२. श्रोताओं को विश्वास दिलाना कि गणधर भी तीर्थंकर जैसा ही उपदेश देते हैं एवं गुरु-शिष्य के वचनों में कोई विरोध नहीं है ।
३. यह बताना कि भगवान् ने अर्थरूप वाणी फरमाई, उस वाणी को गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित किया एवं गणधरों द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित भगवान् की उसी वाणी को वाचना में सुनाया जाता है ।<sup>१</sup>

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जब भगवान् महावीर गणधरों को सचः स्थापित चतुर्विध तीर्थ के संचालन की अनुमति प्रदान कर देवच्छंद में पधार गये तब प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् के सिंहासन के पास पादपीठ पर आसीन हो द्वितीय प्रहर में परिषद को उपदेश दिया ।<sup>२</sup>

“सेन प्रश्न” के अनुसार तीर्थस्थापना-दिवस के अतिरिक्त भी सर्वदा द्वितीय पौरुषी में प्रथम या अन्य गणधर का व्याख्यान करना माना गया है ।<sup>३</sup>

आगमकालीन परम्परा में कहीं ऐसा स्पष्ट निर्देश नहीं है कि तीर्थंकर भगवान् प्रथम प्रहर में ही धर्मोपदेश करते हैं । प्रथम प्रहर का ही देशना का नियम माना जाय तो जहाँ प्रथम प्रहर के बाद ही भगवान् का पदार्पण हुआ होगा वहाँ उस दिन देशना नहीं हुई होगी । पर ऐसा आगमकालीन स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । संभव है उत्तरकालीन परम्परा में ऐसा माना गया हो । गणधर द्वारा द्वितीय प्रहर के धर्मोपदेश में जो ‘खेद-विनोद’ का हेतु प्रस्तुत किया गया है वहाँ अनन्तशक्ति सम्पन्न भगवान् के लिये खेद की संभावना विचारणीय है । संभव है भगवान् से सुने हुए भावों को गणधर सूत्र रूप से फिर वहीं पर सुनाते हों । जैसा कि चूणिकार ने कहा है :—

“भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहि गंधो कओ, वाइओ य इति ।”

[आवश्यकचूर्ण, पूर्वभाग, पृ० ३३४]

समवायांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर अपनी निर्वाण-रात्रि में कल्याणफल विपाक एवं पापफल विपाक के क्रमशः ५५-५५ अग्रध्यानों का उपदेश देकर सिद्ध हुए । इस तरह आचार्यों ने १६ प्रहर तक निरन्तर भगवान् महावीर द्वारा देशना देना मान्य किया है ।<sup>४</sup> इससे प्रमाणित होता है कि तीर्थंकर प्रथम प्रहर में ही देशना देते हैं, ऐसा नियम नहीं है ।

<sup>१</sup> भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहि गंधो कओ वाइओ य इति । [आव० चू, पृ० ३३४]

<sup>२</sup> त्रिषष्टि०, पर्व १०, सर्ग ५, श्लो० १८४

<sup>३</sup> ज्येष्ठो अन्यो वा.....

[१७५ प्रश्न, सेन प्र०, ३]

<sup>४</sup> (क) समणो भगवं महावीरे अंतिम राइयसि पणपन्नं अज्जयणाइं कल्याणफल विवागाइं पणपन्नं अज्जयणाइं पावफल विवागाइं वागरित्ता सिद्धे, बुद्धे जावप्पहीणे ।

[समवायांग-समवाय ५५]

(ख) जैन धर्म का मौलिक इतिहास—प्रथम भाग, पृ० ४७०

### भगवान् की देशना विषयक त्रिगम्बर-मान्यता

तीर्थंकर भगवान् की देशना-रूप दिव्य ध्वनि कब और कितने समय तक प्रकट होती है, इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्य ध्वनि त्रिकाल में नवमुहूर्त तक और इसके अतिरिक्त गणधर, देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपण हेतु शेष समय में भी प्रकट होती है ।<sup>१</sup>

### इन्द्रभूति का उच्चतम व्यक्तित्व

व्यक्ति का महत्व घन, वैभव अथवा किसी उच्च पद से नहीं किन्तु उसके उच्च व्यक्तित्व से होता है। आकृति से भी व्यक्ति की महत्ता समझी जाती है पर कई बार इसमें भ्रान्ति भी हो जाती है। शास्त्र में कहा है कि कुछ व्यक्ति रूप-संपन्न होते हैं पर शीलसंपन्न नहीं। कुछ व्यक्ति शीलवान्-गुणवान् होकर भी रूपवान् नहीं होते। परन्तु महामुनि इन्द्रभूति भव्य आकृति के साथ शान्त-सौम्य प्रकृति के भी धनी थे। लोकोक्ति में कहा है :-

“सुलभा आकृतिरम्या, दुर्लभं हि गुणार्जनम् ।”

इन्द्रभूति गीतम इसके अग्रवाद थे। गीतम गोत्रीय इन्द्रभूति का शरीर ऊंचाई में सात हाथ का, आकार समचतुरस्र-लक्षण युक्त, बल वज्रऋषभनाराय-वज्र सा मजबूत, वर्ण तपाये हुए कुन्दन अथवा पद्मकमल सा गौर। इन्द्रभूति की भव्य और सुन्दर आकृति को देखकर मनुष्य तो क्या देव भी मोहित हो जाते थे। विशाल भाल और कमलपुष्प सम खिले नयनों की रमणीकता देख दर्शकजन के नयन अपलक निहारते ही रह जाते थे।

शरीर की तरह उनका अन्तर्मन भी अनुपम शान्ति का आकर था। प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ इन्द्रभूति के विमल आचार और तपस्तेज ने उनके जीवन को शतगुना चमका रखा था।

इन्द्रभूति के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए भगवती और उपासकदशा सूत्र में कहा है—श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति भ्रमणार, उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप और महातप के धारक थे। घोर गुणी और घोर ब्रह्मचारी थे। शरीर से ममता-रहित, तप की साधना से प्राप्त तेजोलेश्या को गुप्त रखने वाले, ज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधारी और चार ज्ञान के धारक थे।

<sup>१</sup> पठादीए अमलनिघो, संज्ञतिदय गणभुहुसाणि ।

शिस्सरदि शिस्वमासो, दिव्वकुणी जाव जोयलयं ॥६०३॥

सेसेसु समएसु, गणहरदेविदचकवटीणं ।

पण्हाणुस्वमत्थं, दिव्वकुणी अ ततमंगीहि ॥६०४॥

वे मर्वाश्रम-मन्निपात जैमी विविध लब्धियों के धारक और महान् नेजस्वी थे। वे भगवान् महावीर से न अति दूर न अति समीप ऊर्ध्वजानु और अधोसिर हो बैठते थे, सब ओर से अवकृद्ध अपने ध्यान को केवल प्रभु के चरणारविन्द में केन्द्रित किये हुए संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।<sup>१</sup> वे अतिशय जानी होकर भी परम गुरुभक्त और आदर्श शिष्य थे।

उपासकदशामूत्र के अनुसार वे छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारणा करने वाले थे।<sup>२</sup> आपका विनय इतना उच्चकोटि का था कि जब भी उन्हें कोई प्रश्न पूछना होता तो वे तत्परता से उठकर भगवान् के पास जाते और श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-नमस्कार करते और तदनन्तर मर्यादित क्षेत्र में सम्मुख बैठ कर सेवा करते हुए, विनय से प्राञ्जलियुक्त भगवान् से पूछते।<sup>३</sup> संक्षेप में कहा जाय तो वे “जाइसंपन्ने, कुलसम्पन्ने, बलसम्पन्ने, विणयसंपन्ने, एणासम्पन्ने, दंसणसंपन्ने, चरित्तसंपन्ने, श्रौयंसी-तेयंसी जसंसी” आदि संसार के समस्त सर्वोच्च कोटि के गुणों के असय भंडार थे। कितना उच्चकोटि का व्यक्तित्व था इन्द्रभूति गौतम का!

### इन्द्रभूति द्वारा देवशर्मा को प्रतिबोध

जब भगवान् महावीर ने अपना निर्वाण-काल निकट देखा तो उन्होंने अपने प्रति निस्सीम स्नेह व प्रगाढ़ राग रखने वाले गणधर इन्द्रभूति गौतम को अपने निर्वाण समय में अपने से दूर रखना आवश्यक समझ कर देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु एक गांव में भेज दिया। गुरु-आज्ञा पालन में अर्हनिश तत्पर रहने वाले परम आज्ञाकारी इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर नन्क्षण देवशर्मा के ग्राम की ओर प्रस्थान कर दिया।

भद्रेश्वरसूरि ने कहावली में इस प्रकार का उल्लेख किया है कि भगवान् ने इन्द्रभूति गौतम को चम्पा नगरी के मार्गस्थ ग्राम में देवशर्मा को

<sup>१</sup> तेगं कालेगं तेगं समएणं समएणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इंदभूई एणं अणगारे गोयम गुत्तेगं सत्तुस्सेहे समचउरंसंठाणसंठिए, वज्जरिसह-नारायसंधयसो, कणय-पुलयनिमहपम्हणारे, उग्गतवे, दित्तवे, तत्तवे, महातवे, ओराले, धोरे, धोरगुणे, धोर-तवस्सी, धोरवंभवेरवासी, उच्छूडसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, चोइसपुब्बी, चउनाणोवगए, सव्वकवरसन्निवाई समएणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्डजाणू अहोसिरे उभाणकोट्ठोवगए संजमेगं तवसा अप्पाणं भावेमाणो विहरइ ।

[भगवती सूत्र, शतक १]

<sup>२</sup> छट्ठं छट्ठेगं अण्णित्तेणं तवोकम्मगं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणो विहरइ ।

<sup>३</sup> नए गं से भगवं गोयमे जायमइडे जायसंसए.....उट्ठाए उट्ठेइ, उठ्ठित्ता जेणोव समणो भगवं महावीरे तेगेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करइ करेइता वंदइ नमंसइ नमंसइता नच्चासन्न नाइदूरे सुम्मूसमाणो नमंसमाणो अभिमुहे विग्गणं पज्जलिउडे पज्जुवासमाणो एवं वयासी ।

[भगवती सूत्र, शतक १, उ० १]

प्रतिबोध देने और उसे प्रतिबोध देने के पश्चात् चम्पा नगरी में जाकर सुभद्रा श्राविका को धर्म-संदेश सुनाने का आदेश देकर भेजा था। भगवान् की आज्ञानुसार देवगर्मा को प्रतिबोध देकर जब इन्द्रभूति गौतम चम्पा नगरी में सुभद्रा श्राविका के घर पहुँचे तो वहाँ सुभद्रा श्राविका ने उन्हें भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त कर लेने का समाचार सुनाया।<sup>१</sup>

परम्परागत मान्यता यह है कि अर्द्धरात्रि के पश्चात् निर्वाणोत्सव मनाने हेतु देवों के आकाशमार्ग से गमनागमन को देखकर ज्ञानोपयोग से इन्द्रभूति गौतम को विदित हो गया कि भगवान् महावीर ने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है।<sup>२</sup>

“भैरे आराध्य देव श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया है”, इस बात का विचार आते ही इन्द्रभूति गौतम धरण भर के लिये स्तब्ध रह गये। इन्द्रभूति गौतम का श्रमण भगवान् महावीर के प्रति प्रगाढ़ अनुराग होने के कारण वे शोकसागर में निमग्न हो गये और उनके शोकसंतप्त अन्तरंग से हठात् इस प्रकार के करुणोद्गार प्रकट होने लगे :-

### भगवान् महावीर के निर्वाण पर इन्द्रभूति का चिन्तन

“शोक ! महाशोक ! आज मिथ्यात्व अपना निबिडान्धकार फैलाने में समर्थ हो गया। रात्रि के अन्धकार में जिस प्रकार उलूक बोलते हैं उसी तरह अब मिथ्या-मत्त के प्रवर्तक गर्जता करने लगेंगे। अब दुर्भिक्षादि का यत्र-तत्र प्रसार होगा। जिस प्रकार राहु द्वारा सूर्य के ग्रस्त कर लिये जाने पर गगन में और दीपक के बुझ जाने पर भवन में अन्धकार व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार हे त्रैलोक्य-प्रभाकर प्रभो ! आपके निर्वाणपद को प्राप्त हो जाने के कारण आज समस्त भरतक्षेत्र तिमिराच्छन्न और श्रीहीन हो गया है। नाथ ! अब मैं किन्के चरण-कमलों पर अपना मस्तक रखकर अपने अन्तर में उद्भूत हुई शंकाओं के समाधान हेतु

<sup>१</sup> दुहविवागमोहहारी, सामी भण्ड गोयमं ।

पुहविवाग मोहं तं, पच्छन्तो तह चव से ॥

वच्च गोयम चंपाए, बोहंतो मग्गसंट्ठियं ।

देव समट्ठियं ततो, चंपं पत्तो पुंरि तुमं ॥

पत्ता उ छणएणं मे, संभसिज्जेसु माथरं ।

सुद्धम्मं जिणएणाए, सुभहं नाम सावियं ॥

सोउं च गोयमो धीमं, चोत्तुं (वोत्तुं) भंते तहस्ति य ।

ततो सिग्घं विणायप्पा, निव्वियप्पो गग्गो तहि ॥

गोयमेण विमगत्य देवसम्म माहणं संबोहिता चंपाए गंतुं महावीर-भणियं साहिज्जए सविसेसं भासिया सुभदा तीए वि विणाय परमत्थाए भणियं सिद्धो सामी.....

[कहावली (अप्रकाशित)]

<sup>२</sup> देखिये, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७०

प्रश्न रखूंगा ? प्रभो ! अब मैं किसको भदन्न एवं भगवन् कह कर पुकारूंगा और मुझे अब प्रगाढ़ स्नेह एवं अनन्त आत्मीयता से प्रीति प्रीति से भी अत्यंत मधुर वाणी में "गीतम !" इस सम्बोधन से कौन सम्बोधित करेगा ?" १

"हा, हा ! करुणैकसिन्धो ! आपने यह क्या किया जो अपने सदा-सर्वदा के दास को प्रवसान की इस अन्तिम वेला में अपने से दूर भेज दिया ? प्रभो ! हठी बालक की तरह क्या मैं बलात् आपकी गोद में बैठने वाला था ? क्या मैं आपके केवलज्ञान में से कोई हिस्सा बंटा लेता ? क्या मुझे साथ ले जाने से मोक्ष में स्थान की अवकुण्ठा आने वाली थी और क्या मैं आपके लिये कोई भाररूप हो रहा था जो आप दास को इस प्रकार असहाय छोड़ कर मोक्ष में पधार गये ?"

इस प्रकार पूर्ण मनोयोग के साथ-साथ "वीर ! वीर !" का निरन्तर उच्चारण एवं ध्यान करते-करते इन्द्रभूति स्वयं वीरमय हो गये, वीर की अनन्त वीतरागता का उद्गम उनके अन्तर में हुआ और उनकी उत्कट विचारधारा ने अपना प्रवाह पलटा । उन्हें अनुभव हुआ —

"अरे ! वीर तो परम वीतराग थे । वीतराग प्रभु में किसी के प्रति अनुराग नहीं होता, यह तथ्य मेरे परम दयालु प्रभु ने मुझे कितनी बार समझाया है । यह तो मेरा ही अपराध था कि मैंने इस तथ्य की ओर किञ्चित्मात्र भी अपना उपयोग नहीं लगाया और एकपक्षीय अनुराग-सागर में पूर्णतः निमग्न रहा । धिक्कार है मेरे इस एकपक्षीय राग को, एकपक्षीय स्नेह को । सचमुच इस प्रकार का एकांगीण स्नेह-राग ही शिवसुख की प्राप्ति में शैलाधिराज के समान सबल अवरोध है । अब मैं इस अनुराग को, इस स्नेह को सदा-सर्वदा के लिये तिलांजलि देता हूँ । वस्तुतः मैं एकाकी हूँ । न तो मैं स्वयं किसी का हूँ और न कोई मेरा ।"

इन्द्रभूति गीतम ने स्नेह की वज्रशृंखलाओं को एक ही भटके में तोड़ डाला । वे उत्कट चिन्तन से तत्क्षण उच्चतर ध्यान की परम उच्च सीढ़ी पर पहुँचे और उन्हें निखिल विश्व की त्रिकालवर्ती सकल चराचर वस्तुओं के समस्त भावों को देखने-जानने वाले केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई ।

१ प्रसरति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीधिकीशिका अथ ।

भुमिक्षडमरवैरादि राक्षसाः प्रसारमेष्यन्ति ॥

ग्रहप्रस्तनिष्ठाकरमिव गगनं, दीपहीनमिव भवनम् ।

भरतमिदं गतलोभं, त्वया विनाश प्रभो ! जज्ञे ॥

कस्याह्निपीठे प्रणतः पदार्चान्, पुनः पुनः प्रश्नपदी करोमि ।

कं वा भदन्नेति वदामि को वा, मां गीतमेत्याप्तगिराथ वक्ता ॥

[कल्पसुबोधिका, ८ क्ष्वरा]



उसी दिन से लोक में ये दो उक्तियां प्रचलित हो गईं :-

मुखमग्गपवज्जाणं, सिणोहो वज्जसिखला ।

वीरे जीवन्तए जाओ, गोयमो जं न केवली ॥

अर्थात् मोक्ष पथ के पथिकों के लिये स्नेह वज्रभृत् खलाओं के समान है । इसका ज्वलंत उदाहरण है इन्द्रभूति गौतम का भगवान् महावीर के प्रति सीमा-तीत स्नेह, जिसके कारण वीरप्रभु की विद्यमानता में गौतम केवली न हो सके ।

अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये ।

विषादः केवलायाभूत् चित्रं श्री-गौतम प्रभोः ॥

अर्थात् संसार के प्राणियों के लिये अहंकार, राग और विषाद नितान्त अनर्थकारी हैं; पर बड़े आश्चर्य की बात है कि गौतम स्वामी के लिये तो ये तीनों महान् अनर्थकारी सिद्ध होने के स्थान पर महान् लाभकारी सिद्ध हो गये क्योंकि अहंकार उन्हें शास्त्रार्थ हेतु भगवान् महावीर के पास लाया और उनके लिये बोधिप्राप्ति में परम सहायक कारण हुआ । राग के कारण उनके हृदय में गुरुभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और वे गुरुभक्तों के प्रतीक माने जाने लगे । विषाद वस्तुतः सबके लिये दुःखदायी है पर गौतम इन्द्रभूति के लिये तो भगवान् महावीर के निर्वाण से उनके अन्तर में उत्पन्न हुआ विषाद भी उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि कराने में कारण बना ।

### इन्द्रभूति की निर्वाणसाधना

पचास वर्ष की वय में इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा के प्रथम दिन में ही वे चतुर्विंश पूर्वों के शाता बन गये । वे निरन्तर ३० वर्ष तक विनय भाव से भगवान् की सेवा करते हुए आमानुग्राम विचरण कर जिनशासन की प्रभावना करते रहे । उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के ३० वर्ष पश्चात् जब पावापुरी में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ तब आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए उन्होंने घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया । उन्होंने बारह वर्ष तक केवलीभाव से पृथ्वीमण्डल पर विचरण करते हुए जिनमार्ग की प्रभावना की और अन्त में वीर निर्वाण सं० १२ के अंत में उन्होंने अपना अवसान काल निकट जान कर राजगृह के गुणशील चैत्य में आमरण अनशन स्वीकार किया । एक मास के अनशन की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये । आपकी पूर्ण आयु ६२ वर्ष की थी । आपका मंगल नामऋषरण आज भी जन-जन के हृदय को आह्लादित व आनंदित करता है । प्रतिदिन लाखों जन आज भी प्रभात की मंगल वेला में भक्तिपूर्वक भावविभोर हो बोलते हैं :-

अंगूठे अमृत बसे, लब्धि तया भण्डार ।

श्री गुरु गौतम समरिये, वाञ्छित फल दातार ॥

### पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम

कर्म के अनुसार अनन्तकाल से प्रत्येक प्राणी संसार में जन्म-मरण ग्रहण करता आ रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रभूति गौतम का जीव भी पूर्वभव में विविध गति, जाति और शरीरों को धारण करता आया था, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर ऐसी उत्तम करणी करने वाला यह जीव पहले कौन था और भगवान् महावीर से उनका पहले कहां-कहां और कैसा-कैसा सम्बन्ध रहा, इस सम्बन्ध में जिज्ञासा होनी सहज है।

श्वेताम्बर साहित्य में आगमकार इतना तो स्पष्टतः उल्लेख करते हैं कि भगवान् महावीर और गौतम का पहले अनेकों भवों का प्रेमसम्बन्ध रहा था। भगवती सूत्र में इस प्रकार का उल्लेख आता है कि एक बार इन्द्रभूति गौतम के द्वारा इस बात पर खेद प्रकट करने पर कि उनके समक्ष दीक्षित अनेक मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया पर उनको स्वयं को केवलज्ञान की प्राप्ति किस कारण से नहीं हुई, श्रमण भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति को आश्वस्त करते हुए कहा—

“गौतम ! तेरा और मेरा अनेक भवों में प्रेमसम्बन्ध रहा है। तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेहसूत्र में बँधे हो। तुम चिरकाल से मेरे द्वारा प्रशंसित, परिचित, सेवित एवं मेरे अनुवर्ती रहे हो। कभी देव भव में, तो कभी मनुष्य भव में मेरे साथ रहे हो। यही नहीं, अब यहां से मरणान्तर हम दोनों परस्पर तुल्य रूप वाले, भेदरहित, कभी न विच्छुड़ने वाले एवं सदा एक साथ रहने वाले संगी-साथी बन जायेंगे।” अभी तक तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ धर्मानुगम रहने के कारण तुम्हें केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाई है किन्तु चिन्ता जैसी कोई बात नहीं है।”

भगवती सूत्र के उपरिर्वागिन उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति गौतम का अनेक भवों का सम्बन्ध होना प्रमाणित होता है। किन्तु भगवान् महावीर के त्रिपुष्ट वामुदेव के पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम के जीव का उनके सारथी के रूप में उनके साथ होने के अतिरिक्त अन्य किसी भव का श्वेताम्बर साहित्य में कहीं कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के कवि 'रघधू' कृत अपभ्रंश भाषा के “महावीर चरित्र” और भट्टारक धर्मचन्द्रकृत “गौतम चरित्र” में इन्द्रभूति, अग्निभूति

<sup>१</sup> रायगिर्हे जाव परिमा पडिगया गोयमादि । समणे भगवं महावीरे गोयमं आभंतेत्ता एवं वयासी— “चिरसंसिद्धोसि मे गोयमा ! चिरसंशुतोसि मे गोयमा ! चिरपरिचितोसि मे गोयमा ! चिरकुमिओसि मे गोयमा ! चिराणुगओमि मे गोयमा ! चिराणुवत्तोमि मे गोयमा ! अणनरं देवलोणं अणंतरं माणुमणं भवे कि परं मरणकायस्म भेदा, इतो चुता दो वि नुन्ना पयट्ठा अविमेगमणाणपत्ता भविमामो ।

[भगवती सूत्र, शतक १४, उद्दे जा ७]

एवं वायुभूति के सात भवों का परिचय उपलब्ध होता है, पर उनमें से किसी एक भव में भी भगवान् महावीर के जीव के साथ उनका किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है।

पाठकों की जानकारी हेतु उस कथा-भाग का यहां सार प्रस्तुत किया जा रहा है :-

एक बार भगवान् महावीर विभिन्न देशों के अनेक भव्यों का उद्धार करते हुए राजगृह नगर के विपुलाचल पर पधारे। वहां मगधाधिपति श्रेणिक ने सविधि बंदन के-पश्चात् अत्यन्त विनीत एवं मधुर स्वर में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् महावीर से प्रश्न किया - “भगवन् ! आपके प्रमुख शिष्य एवं प्रथम गणधर आर्य इन्द्रभूति गीतम ने ऐसी अद्भुत और अचिन्त्य आध्यात्मिक संपदा किस महान् सुकृत के फलस्वरूप प्राप्त की है ?”

भगवान् महावीर ने महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया - “श्रेणिक ! प्राणी पाप - प्रकृतियों के बन्ध से अवनति की ओर तथा पुण्य - प्रकृतियों के बन्ध से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। यह इन्द्रभूति गीतम के पूर्वभवों से भलीभांति विदित हो जाता है।”

अति प्राचीन समय में काशी देश के महाराज विश्वलोचन एक बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। उनकी पटरानी का नाम विशालाक्षी था जो परम सुन्दरी पर स्वभाव से बड़ी चंचल एवं अजितेन्द्रिया थी। एकदा रात्रि के समय रंगिका और चामरी नाम की अपनी दो दासियों के साथ रानी विशालाक्षी ने एक नाटक देखा। नाटक के शृंगाररसपूर्ण उत्तेजक अभिनयों को देख कर विशालाक्षी की कामवासना इतने प्रचण्ड वेग से जागृत हो उठी कि वह स्वरिणी की तरह स्वेच्छा-विहार की भावना लिये राजमहलों से भाग निकलने को छटपटाने लगी। दोनों दासियों की दुरभिसंधि एवं सहायता से वह मध्यरात्रि में छल-छद्मपूर्वक महलों से भाग निकलने में सफल हुई। नगर से दूर जंगल में पहुंचने पर उन्होंने योगिनियों का रूप धारण किया और चोरी-छिपे काशी राज्य की सीमा पार की। तदनन्तर वे तीनों योगिनियों का वेप धारण किये हुए विभिन्न ग्रामों एवं नगरों आदि में उन्मत्त भाव में काम-मेवन करती हुई यथेच्छ विचरने लगीं। उधर महलों में रानी को न पा कर राजा विश्वलोचन बड़ा चिन्तित हुआ और लज्जा, वियोग एवं जोक से मंनप्त हो कुछ ही दिनों पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।<sup>१</sup>

उधर योगिनिया के वेप में स्वच्छन्दतापूर्वक भटकती हुई वे तीनों अवन्ती देश में पहुंचीं। एक दिन किसी नगम्बी मुनि को नगर की ओर नग्न रूप में आते देख वे तीनों अद्भुत हो मुनि को भला-बुरा मुताने लगीं। अन्तराय समझ कर मुनि बिना भिधा ग्रहण किये ही लौट पड़े। उन कामान्धु तीनों स्त्रियों ने जंगल

<sup>१</sup> नगर में निवसित प्राणसर्वादिनामप्रसिद्धतः - गीतम चरित्र, अधिकार २, श्लो० १८५

में पहुंच कर रात्रि के समय अपनी वासनापूर्ति के लिये ध्यानस्थ मुनि को ध्यान से विचलित करने के अनेक उपाय किये। मुनि को ध्यान से विचलित करने के सभी उपायों के निष्फल हो जाने पर उन तीनों स्त्रियों ने बड़ी निर्दयतापूर्वक मुनि पर दण्डों और पत्थरों के प्रहार किये।

मुनि को दी गई घोर पीड़ा के फलस्वरूप वे तीनों स्त्रियां अति भीषण कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो अन्ततोगत्वा पंचम नरक में उत्पन्न हुईं। १७ सागर तक नरक के असह्य दारुण दुःखों को भोग कर वे तीनों क्रमशः बिल्ली, शूकरी, कुत्तिया और मुर्गी के भव कर म्लेच्छ कुल में कन्याओं के रूप में उत्पन्न हुईं। सद्यः जात अवस्था में आता-पिता और अंशवावस्था में अभिभावकों तक के मर जाने के कारण वे तीनों कन्याएं दर-दर की ठोकरें खाती हुईं बड़ा दुःखमय जीवन बिताने लगीं। उन तीनों का स्वरूप बड़ा ही अमनोज्ञ था। उनके शरीर से निरन्तर ऐसी कुत्सित दुर्गन्ध निकलती रहती थी कि कोई उन्हें पास तक नहीं फटकने देता था। कुरूप होने के साथ-साथ उनमें से एक कानी, दूसरी लंगड़ी और तीसरी कौवे की तरह नितान्त काली-कलूटी थी। इस प्रकार असहायावस्था में भूखी-प्यासी इधर-उधर भटकती हुईं वे तीनों कन्याएं एक नगर के बाहर विराजमान भ्रंगभूषण नामक मुनि के पास पहुंचीं और वंदन-नमस्कार के पश्चात् उनका उपदेश श्रवण करने लगीं।

उपदेश-श्रवण के पश्चात् भवन्ती के महाराज महीचन्द्र ने मुनि से प्रश्न किया—“भगवन् ! इन अत्यन्त घृणित शरीर वाली नितान्त कुरूप कन्याओं के प्रति मेरे मानस में आत्मीय भाव से स्नेह किस कारण जागृत हो रहा है ?”

उत्तर में भ्रंगभूषण मुनि ने कहा—“राजन् ! पूर्वभव में यह कानी कन्या तुम्हारी विशालाक्षी नाम की रानी और ये दोनों उसकी दासियां थीं। मुनि को भीषण यातना देने के फलस्वरूप ये तीनों दुर्गतियों में भटकती हुईं शूद्रकन्याओं के रूप में उत्पन्न हुईं हैं। पूर्वभव के सम्बन्ध के कारण तुम्हारे मन में इनके प्रति स्नेह जागृत हो उठा है।”

पश्चात्ताप के ग्रान् बहाती हुईं कन्याओं की प्रार्थना पर मुनि ने उन्हें “लम्बिविधान” नामक व्रत करने का उपदेश दिया। मुनिराज के उपदेश और महाराज महीचन्द्र के सहयोग से उन तीनों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और लम्बिविधान व्रत एवं तप करती हुईं वे तीनों कन्याएं धर्माचरण में निरत रहतीं। अन्त में वे तीनों कन्याएं अपनी स्त्रीलिंग की कर्मप्रकृतियों को विनष्ट कर समाधि-पूर्वक ध्यायु पूर्ण कर पंचम देवलोक में महद्दिक देवों के रूप में उत्पन्न हुईं।

पंचम स्वर्ग के अनुपम सुखों का १० सागर की सुदीर्घ अवधि तक उपभोग करने के अनन्तर विशालाक्षी का जीव भरत क्षेत्रान्तर्गत मगध देश के ब्राह्मण नवर के निवासी श्रांडित्य नामक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण की ज्येष्ठ भार्या स्वर्णद्विजा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। गर्भाधान की रात्रि में स्वर्णद्विजा ने एक महा-

प्रतापी पुत्र के जन्म का सूचक शुभ स्वप्न देखा। गर्भकाल की समाप्ति पर भाग्यवती स्थंडिला ब्राह्मणी ने एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। ब्राह्मण-दम्पति ने अपने उस पुत्र का नाम इन्द्रभूति रखा।

कालान्तर में चामरी दासी का जीव भी पंचम स्वर्ग की आयु पूर्ण कर स्थंडिला के गर्भ में अवतरित हुआ। यथासमय स्थंडिला ने दूसरे तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अग्निभूति (दूसरा नाम आर्ग्यं) रखा गया।

तदनन्तर रंगिका दासी का जीव भी पंचम स्वर्ग की १० सागर की आयु पूर्ण होने पर उसी शांडिल्य ब्राह्मण की दूसरी धर्मपत्नी कैसरी नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में आया और गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। उस सौम्य शिशु का नाम वायुभूति (दूसरा नाम भार्गव) रखा गया। दोनों माताओं और पिता शांडिल्य ने अपने परम भाग्यशाली तीनों पुत्रों का बड़े दुलार और प्यार के साथ पालन-पोषण किया।

शांडिल्य ने समय पर अपने तीनों पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की। तीनों भाइयों ने परिश्रमपूर्वक विविध शास्त्रों का अध्ययन किया और वे वेदविद्या के पारंगामी विद्वान् बन गये।

इस प्रकार वे ही विशालाक्षी, रंगिका और चामरी के जीव-कमलः इन्द्रभूति अग्निभूति एवं वायुभूति—ये तीन गणधर कहलाये।

रघू और भट्टारकजी ने किस प्रामाणिक आधार से इन्द्रभूति आदि तीन गणधरों के इन पूर्वभवों का उल्लेख किया है यह ज्ञात नहीं होता, क्योंकि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थ इस विषय में मौन हैं।

भगवती सूत्र के पूर्वोक्त उल्लेख के अनुसार तो भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम की पूर्वभव-परम्परा अनेक पूर्वभवों में एक दूसरे से सम्बन्धित और साथ-साथ होनी चाहिए। अपभ्रंश भाषा के कवि रघू और भट्टारक धर्मचन्द्र द्वारा उल्लिखित इन्द्रभूति आदि तीनों गौतम बन्धुओं के ये पूर्वभव भगवती सूत्र के भावों से मेल नहीं खाते। विद्वज्जन इस विषय में विशेष रूप से प्राचीन साहित्य में तथ्य की गवेषणा करें, यह वांछनीय है।

### प्रथम पट्टधर विषयक प्राचीन दिगम्बर मान्यता

यद्यपि दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी मान्य ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम ही भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आचार्य बने किन्तु दिगम्बर परम्परा के एक सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'लोक विभाग' में श्वेताम्बर मान्यता की ही तरह इस बात का संकेत उपलब्ध होता

<sup>1</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः भट्टारक परंपरा के प्रसार के समय वनों के माहात्म्य को बढ़ाचढ़ा कर जनता के समक्ष रखने की दृष्टि में "लब्धिविधानग्रन्थ" को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इस कथा की कल्पना की गई हो।

हैं कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा बने, न कि इन्द्रभूति गौतम ।

दिगम्बर परम्परा का वह अतिप्राचीन ग्रन्थ मूलतः प्राकृत भाषा में था । वह तो विलुप्त हो चुका है परन्तु उसी प्राकृत भाषा के 'लोकविभाग' ग्रन्थ के आधार पर बना संस्कृत 'लोक विभाग' उपलब्ध होता है । संस्कृत 'लोकविभाग' के कर्त्ता सिंहसूरर्षि ने मूल लोकविभाग का संस्कृत में अनुवाद करते समय ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है :-

लोकालोकविभागज्ञान्, भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् ।  
व्याख्यास्यामि समासेन, लोकतत्वमनेकधा ॥

अन्त में प्रशस्ति में लिखा है :-

भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्री वर्द्धमानार्हता,  
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः ।  
आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूरर्षिणा ।  
भाषाया परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥

अर्थात् लोक और अलोक के विभागों को जानने वाले जिनेश्वरों की भक्ति-सहित स्तुति कर के लोकतत्व का संक्षेप में व्याख्यान करता हूँ ।

अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है कि देवों और मनुष्यों की सभा में तीर्थंकर वर्द्धमान ने समस्त जगत् का विधान भव्यजनों के लिये कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिंहसूर-ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर के विरचित किया, उसका निपुण साधुजनों ने सम्मान किया है ।

प्रशस्ति के श्लोक में प्रयुक्त - "ज्ञातं सुधर्मादिभिः" और "आचार्यावलिका-गतं" - इन दोनों पदों पर सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इनका स्पष्टरूप से यही अर्थ निकलता है कि - 'सुधर्मा' आदि ने उसे सुना, सुधर्मा आचार्य ने अपने उत्तराधिकारी आचार्य को वह ज्ञान दिया और क्रमशः उनके उत्तराधिकारी आचार्य अपने-अपने उत्तराधिकारी आचार्यों को वह ज्ञान देते रहे । इस प्रकार आचार्य परम्परा से वह ज्ञान आज तक चला आ रहा है ।

भगवान् महावीर से ज्ञान प्राप्त करने वालों के नामोल्लेख के समय प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नामोल्लेख करने के स्थान पर सुधर्मा का नामोल्लेख किया जाना और "आचार्यावलिकागतं" - इस पद से पहले "ज्ञातं सुधर्मादिभिः" - इस पद का प्रयोग वस्तुतः प्रत्येक विचारक को यह विश्वास करने के लिये प्रेरित करता है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आचार्य सुधर्मा स्वामी हुए, न कि इन्द्रभूति गौतम । उपरोक्त श्लोक के पदविन्यास से "लोकविभाग" के रचनाकार की यही भावाभिव्यक्ति स्पष्ट प्रतिध्वनित होती है कि महावीर के प्रथम पट्टधर

इन्द्रभूति गौतम नहीं, अपितु सुधर्मा स्वामी हुए। उपरोक्त श्लोक में छन्द की दृष्टि से गौतम-इन्द्रभूति का नामोल्लेख करने में ग्रन्थकार को कठिनाई आई होगी इसलिये उसके द्वारा सुधर्मा का नाम रखा गया - इस प्रकार की लचर दलील दे कर इस श्लोक के अर्थ को यदि तीड़-मरोड़ कर ग्रन्थ रूप से रखने का प्रयास किया जाय तो निश्चित रूप से मूलग्रन्थकार और संस्कृत में उसका अनुवाद करने वाले - इन दोनों ही ग्रन्थकारों के प्रति अन्याय होगा।

मूल "लोकविभाग" की रचना मुनि सर्वनन्दि ने पाण्ड्य राष्ट्र के पाटनिक ग्राम में की और शक संवत् ३८०, तदनुसार विक्रम सं० ५५५ में इसे समाप्त किया। इस प्रकार का उल्लेख संस्कृत "लोकविभाग" के रचयिता ने किया है।

इस प्रकार के प्राचीन ग्रन्थ में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्बन्ध में परोक्ष रूप से जो यह उल्लेख किया गया है वह इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय है।

---

विश्वे स्थिते रविमुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपद्ममुपेत्य चन्द्रे ।

ग्रामे च पाटनिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे, शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥

संबत्सरे तु द्वाविंशे, कांचीशसिहवर्मणः ।

अशीत्यशे शकाब्दानां, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥

[लोकविभाग]





## आर्य सुधर्मा

(भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर)

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् वीर संवत् के प्रारम्भकाल में अर्थात् शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व कार्तिक शुक्ला १ के दिन चतुर्विध संघ ने आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में नियुक्त किया।

भगवान् महावीर के समय संघ की व्यवस्था में अनुशासन एवं संगठन आदि की जो प्रमुख विशेषताएं थीं, उन्हें भगवान् के निर्वाण पश्चात् भी आर्य सुधर्मा ने बड़ी ही कुशलता के साथ यथावत् बनाये रखा।

आचार्य सुधर्मा के प्रशासन-कौशल, दूरदर्शिता और तपस्तेज का ही चमत्कार है कि उनके उत्तरवर्ती काल में अनेक बार अग्रणीत प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसंघ इतने सुदीर्घ काल तक एक महान् संघ के रूप में समीचीन रूप से चलता रहा और आज तक विविध बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी वह अपने मूलभूत महान् सिद्धान्तों को अमूल्य धाती के रूप में सुरक्षित रख पाया है। धर्म संघ की वह पतितपावनी अध्यात्म-सरिता आज भी निर्बाध गति से निरन्तर चलती आ रही है।

लगभग ढाई हजार वर्ष के अति दीर्घ अतीत की लम्बी अवधि में अग्रणीत आपत्तियों, विषम परिस्थितियों, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों, विप्लवों तथा दिल दहला देने वाले कई द्वादशवर्षीय दुष्कालों ने प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मसंघों को बुरी तरह झकझोरा। उन संकटों की विकट घड़ियों में बौद्ध धर्म जैसे अनेक धर्मसंघ इस आर्य धरा से विलुप्त हो गये, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा त्याग-तप व संगठन की सुदृढ़ नींव पर खड़े किये गये इस निर्ग्रन्थ संघ की आर्य सुधर्मा ने प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित नीति का पालन करती हुए ऐसी चिरस्थायी और दृढ़ व्यवस्था की कि भीषण से भीषण एवं प्रलयंकर क्रान्तियां भी इस धर्मसंघ की गहरी जड़ों को नहीं हिला सकीं।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन प्रतिकूल परिस्थितियों का भगवान् महावीर के धर्मसंघ पर बिलकुल ही प्रभाव नहीं पड़ा। लगातार आपत्तियों पर आपत्तियां आने के कारण अन्ततोगत्वा इस धर्मसंघ में भी अनेक विकृतियां उत्पन्न हुईं और पर्याप्त हानियां उठानी पड़ीं। आचार्य भद्रबाहु के समय, आचार्य सुहस्ती के समय एवं आर्यवज्र के समय में पड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के विनाशकारी कुप्रभाव के कारण श्रमणों के केवल स्मृतिपटल पर अंकित रहने वाले श्रुतशास्त्र में ही नहीं; अपितु आचरण में भी मन्दता आई। इस मन्दता से धर्मसंघ का सर्वांग-

पूर्ण संविधान भी शनैः शनैः विस्मृति के गर्त में विलीन हो क्षीण होने लगा। परन्तु सुधर्मा स्वामी द्वारा द्वादशांगी के रूप में ग्रथित भगवान् महावीर की वाणी से अनेक महापुरुषों ने अचिन्त्य-अपरिमेय शक्ति का संचय कर समय-समय पर क्रियो-द्वार किया और प्रभु महावीर के धर्मसंघ की गौरव-गरिमा को समुज्ज्वल एवं अक्षुण्ण बनाये रखा।

### आर्य सुधर्मा की विशिष्टता

सभी गणधरों में चतुर्दश पूर्व के ज्ञान की समानता होने पर भी उनकी अपनी अलग-अलग विशिष्टताएं थीं। निरन्तर प्रभु-सेवा में रह कर शास्त्रीय विषयों की गम्भीर छानबीन करना इन्द्रभूति की विशिष्टता थी, अतः उन्हें जिस प्रकार प्रभु द्वारा श्रुततीर्थ की अनुज्ञा प्रदान की गई उसी प्रकार आर्य सुधर्मा में भी कोई विशिष्टता होनी चाहिये जिससे त्रिकालदर्शी भगवान् महावीर ने उन्हें गण-संचालन की अनुज्ञा दी। हजारों साधुओं के गणों का व्यवस्थितरूपेण संचालन एवं परिपालन करना और प्रभु के निर्वाण पश्चात् संपूर्ण संघ को संगठित एवं सुशासित रखना कोई साधारण योग्यता की बात नहीं थी। आर्य सुधर्मा में संघ को सुदृढ़, सुसंगठित, सुशासित और सशक्त बनाये रखने की अपूर्व क्षमता थी। संभव है उनकी इसी विशिष्ट योग्यता के कारण भगवान् महावीर ने सब गणधरों को अपने-अपने गण सम्हलाते समय आर्य सुधर्मा के सबल कन्धों पर अवशिष्ट साधु-समुदाय के गण-संचालन का गुरुत्तर भार रखा। आवश्यक चूर्णिकार ने उपयुक्त प्रसंग का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है :-

.....पच्छा सामी जस्स जत्तिओ गणो तस्स तत्तियं अणुजाणति,  
आतीए सुहम्मं करेति, तस्स महल्लं आउयं, एत्तो तित्थं होहित्ति।  
.....अज्ज सुहम्मस्स निसिरंतिगणं।

[आवश्यक चूर्णिकार, पूर्वभाग, पृ० ३३७]

.....ताहे गोयमसामीप्पमुहा एक्कारसवि गणहरा तीसी ओणता परिवा-  
डीए ठायति,.....पुब्बं तित्थं गोयमसामिस्स दब्बेहि पज्जवेहि अणुजाणा  
मिति.....गणं च सुहम्मं सामिस्स धुरे ठावेत्ता णं अणुजाणति।'

[वही, पृ. ३६०.]

### जन्म स्थानादि

आर्य सुधर्मा का जन्म ईसा से ६०७ वर्ष पूर्व विदेह प्रदेश के कोल्लाग नामक ग्राम में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुआ। यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि भगवान् महावीर की तरह आर्य सुधर्मा का जन्म-नक्षत्र भी उत्तराफाल्गुनी और जन्मराशि कन्याराशि थी। जिस प्रकार पुण्य अथवा पाप-प्रकृतियों का बन्ध प्राणी द्वारा किये गये पुण्य अथवा पापपूर्ण कार्यों में उसके अपने पौरुष के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक होता है, ठीक उसी प्रकार उन पुण्य या पापमयी प्रकृतियों के उदय के समय प्राणी को पूर्व में किये गये अपने कार्यों का शुभाशुभ

फल भी, तदनुकूल भोगना पड़ता है। जन्म-नक्षत्र एवं जन्मराशियां उन पुण्य तथा पापबन्धों के भावी उदयकाल की पूर्वसूचना के माध्यम माने जा सकते हैं। भगवान् महावीर की जन्मराशि और जन्म-नक्षत्र से जिस प्रकार यह पूर्वाभास होता है कि प्रभु महावीर का शासन २१ हजार वर्ष तक चलता रहेगा, ठीक उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के जन्म-काल में उसी राशि और उसी नक्षत्र का होना भी यह पूर्व सूचना देता है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर द्वारा ग्रथित आगम परम्परा, उनके द्वारा की हुई संघ-व्यवस्था और उनकी शिष्य-परम्परा भी २१ हजार वर्ष तक बिना किसी व्यवधान के गिरन्तर चलती रहेगी।

प्राचीन काल में भारतवर्ष का वह भू-भाग - जिसको पूर्व में कोशिकी नदी, पश्चिम में गंडकी नदी, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गंगानदी घेरे हुए थी - विदेह के नाम से विख्यात था। जिस कोल्लाग सन्निवेश में आर्य सुधर्मा का जन्म हुआ वह लिच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली के आस-पास ही बसा हुआ था। पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि आजकल जो कोल्लुआ ग्राम अवस्थित है, वहीं उस समय संभवतः कोल्लाग ग्राम बसा हुआ होगा।<sup>१</sup>

### माता-पिता

आर्य सुधर्मा के पिता का नाम धम्मिल्ल और माता का नाम भद्रिला था। अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण आर्य धम्मिल्ल वेद-वेदांग के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। अनुमान से यह कहना भी अधिक संगत प्रतीत होता है कि अपने समय में गुरुकुल प्रणाली के आचार्यों में उनकी गणना की जाती हो। कोल्लाग सन्निवेश में एक ही समय में आर्य व्यक्त और आर्य सुधर्मा जैसे दो विद्वानों के सान्निध्य में पांच-पांच सौ छात्रों का अर्हनिश सेवा में रहते हुए विद्याध्ययन करना इस बात का द्योतक है कि उन दिनों वैशाली और उसके आस-पास का क्षेत्र शिक्षा का बहुत घड़ा केन्द्र बना हुआ था एवं आर्य व्यक्त तथा आर्य सुधर्मा को अपने-अपने पिता से गुरुकुल पद्धति के आचार्य-पद की प्राप्ति हुई थी। वैशाली और नालन्दा जैसे विशाल एवं समुन्नत शिक्षा केन्द्रों के कारण ही अतीत में आर्य-धरा की गौरव-गाथाओं के गरिमापूर्ण स्वर निम्नलिखित रूप में विश्व के विस्तीर्ण गगन में गूज रहे थे- एवं आज भी उन स्वरों की गूज मिटी नहीं है :-

एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥<sup>२</sup>

### शिक्षण

विद्यानुरागी समाज और विद्वद्वंश-परम्परा के संस्कारों में पले-पुसे सुधर्मा ने अपने विद्यार्थी जीवन में ऋक्, साम, यजुः और अथर्व इन चार वेदों, शिक्षा,

<sup>१</sup> Suburb Kollaga (कोल्लाग सन्निवेश)—Perhaps Modern Kollua. [The Journal of The Royal Asiatic Society, 1902 P. 283]

<sup>२</sup> मनुस्मृति, अ० २, श्लो० २०

कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः वेदांगों तथा मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण इस प्रकार कुल मिला कर चौदह विद्याओं का सम्यक्-रूपेण अध्ययन किया। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार पारगामी विद्वान् बनने के पश्चात् आर्य सुधर्मा ने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। उनके पास ५०० छात्रों के नियमित अध्ययन से यह अनुमान लगाया जाता है कि उनकी गणना उस समय के बहुत उच्चकोटि के विद्वानों में की जाती रही होगी।

उस समय की शिक्षा-प्रणाली के तलस्पर्शी विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जनमानस में ज्ञान-पिपासा और शिक्षा के प्रति अभिरुचि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी, पर वस्तुतः लोगों का शास्त्रीय पाण्डित्य की ओर जितना अधिक झुकाव था उतना अध्यात्म-चिन्तन की ओर नहीं था।

### तत्कालीन धार्मिक स्थिति

ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों कृतिपय ग्रंथों में ब्राह्मण क्रियाकाण्डों और यज्ञ-यागादि का धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में बड़ा महत्व माना जाता था और यज्ञानुष्ठान को ही सबसे बड़ा धर्म समझा जाने लगा था। यही कारण था कि उस समय यत्र-तत्र, यदा-कदा बड़े-बड़े आयोजनों के साथ समारोहपूर्वक यज्ञ किये जाते थे। उन यज्ञों में यजमानों द्वारा यज्ञानुष्ठान कराने वाले विद्वानों और ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर बड़ी-बड़ी दक्षिणाएं दी जाती थीं। वेद-वेदांगों के प्रकाण्ड पण्डित आर्य सुधर्मा को उस समय किये जाने वाले अनुष्ठानों में बुलाया जाता रहा होगा। इस प्रकार का विश्वास करने के लिये उनका सोमिल द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में सम्मिलित होना पर्याप्त प्रमाण है। ५०० विद्यार्थी सदा आर्य सुधर्मा की सेवा में रह कर उनसे विद्याध्ययन करते थे, यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि आर्य सुधर्मा प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ पर्याप्तरूपेण साधन-सम्पन्न एवं समृद्ध भी थे।

### दीक्षा से पूर्व का जीवन

श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने से पूर्व के किसी भी गणघर के जीवन का पूर्ण विवरण जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। केवल आवश्यक निरुक्ति में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणघरों के नाम, ग्राम, गोत्र, जन्म-नक्षत्र, जाति, माता-पिता के नाम, शैक्षणिक योग्यता, शिष्य-परिवार, तात्त्विक शंका और दीक्षा के समय उनकी आयु आदि का विवरण दिया गया है। इससे अधिक, दीक्षा से पूर्व का गणघरों के गृहस्थ-जीवन का कोई विवरण आज जैन ग्रंथवा जेनेतर ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। यदि इस दिशा में प्रयास किये जायं तो अन्धेरे में छिपे अनेक ऐतिहासिक महत्व के तथ्य प्रकाश में लाये जा सकते हैं।

इन्द्रभूति गौतम के जीवन-परिचय में अपभ्रंश भाषा के कवि रघू द्वारा रचित "महावीरचरित" के आधार पर जिस प्रकार कुछ नये तथ्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में

भी खोज करने पर कुछ अपुष्ट विवरण प्रकाश में आये हैं। शोधार्थियों की सुविधा और विद्वानों के विचार हेतु उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनबिजयजी ने "जैन साहित्य संशोधक", २, १, अंक ३ के परिशिष्ट में 'वीर वंशावलि अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि' प्रकाशित की है। उसके पृष्ठ १-२ में आर्य सुधर्मा के श्रमणजीवन से पूर्व का विवरण देते हुए लिखा गया है :-

### "१. सुधर्मा स्वामी

पत्नी श्री वीर पाटे पांचवां गणधर श्री सुधर्मा स्वामी पहले पाटे थया। तथा हि -

कोल्लाग सन्निवेशे धम्मिल्ल नामा विप्र तेहनी स्त्री भद्रिला नामे। ते हरि-द्रायण गोत्र थी उपनी। तेहनी पुत्र। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में जन्म हुआ सुधर्मा नाम दीधु। अनुक्रमेण यौवनावस्था में वत्स (वत्स) गोत्र धकी उपनी एक कन्या परणावी। तेहसुं सांसारिक सुख भोगवतां एक पुत्री हुई। ते सुधर्मा चार वेद-वेदांग नो पाठी छे। तेहने पासे पांच सये विद्यार्थी बाइव-सुत विद्याभ्यास (२-१) करे छे। पिरण ते सुधर्मा ना चित्तने विषे एक महा संदेह छे। ते किस्यो ? जे जेहवो ते तेहवो। ते संदेह श्री वीरवचने निःसंदेह हुआ। तिवारे पांच सय छात्र युक्त वर्ष ५० गृहस्थ पणुं भोगवी संसयच्छेदक श्री वीर हस्ते दीक्षा लीधी।"

इस प्रकार उपर्युक्त तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि में दिये गये सुधर्मा स्वामी के गृहस्थ-जीवन संबंधी वृत्त में निम्नलिखित जो तीन बातों का उल्लेख किया गया है, वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता :-

१. आर्य सुधर्मा की माता का हरिद्रायण गोत्र होना।
२. यौवनावस्था में आर्य सुधर्मा का वत्स (वत्स्य) गोत्र की कन्या के साथ विवाह होना। और
३. सुधर्मा की वत्स्य गोत्रीया पत्नी से एक पुत्री का जन्म होना।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त लींबड़ी संघवी उपाश्रय के पूज्य श्री मोहन लालजी स्वामी के शिष्य स्वर्गीय मुनि श्री मणिलालजी महाराज द्वारा लिखित "श्री जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" नामक ग्रन्थ में आर्य सुधर्मा का प्रव्रजित होने से पूर्व का जो जीवन-परिचय दिया गया है उसमें तपागच्छ पट्टावली में उल्लिखित ऊपर दी हुई तीन बातों में से पहली को छोड़ कर शेष दो के उल्लेख के साथ दो और नये तथ्य दिये गये हैं।

मुनि मणिलालजी ने लिखा है कि आर्य सुधर्मा ने वत्स गोत्रीया कन्या के साथ विवाह करने और उससे एक कन्या का जन्म होने के पश्चात् संसार से विरक्त हो संन्यास ग्रहण किया और उन्हें कालान्तर में शंकराचार्य की सम्माननीय उपाधि में अलंकृत किया गया था।

स्वर्गीय मुनि मणिलालजी द्वारा आर्य सुधर्मा के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में दिया गया वह विवरण यहां यथावत् दिया जा रहा है:—

### “प्रभु वीर पट्टावली

भगवान् महावीर नी पहेली पाट पर श्री सुधर्म स्वामी विराज्या । तेमनो जन्म “कोल्लाग सन्नवेश” नामक स्थल मां ‘धम्मिल’ नामना विप्र ने त्यां थयो हतो । बाल्यावस्था थीज धर्म प्रत्ये तेमनी अथाग रुचि होवा थी तेमनुं नाम “सुधर्म” तरीके जनता में प्रसिद्ध थयुं । यौवन वय प्राप्त थई त्थारे पोतानी अनिच्छा छतां तेमने माता-पिताए “वात्स्य गोत्र” मां उत्पन्न थयेली एवी एक कन्या साथे तेमनुं पाणिग्रहण कराव्युं । उदासीन भावे संसार मां रहेतां तेमने एक पुत्री थई हती । सतत ज्ञानाम्यास मां रहेतां तेमो चार वेद, श्रुति, स्मृति वगेरे अद्धार पुराण मां सम्पूर्ण पारंगत थया । दिन प्रतिदिन संसार पर तेमनी अरुचि बधती गई, अने समय परिपक्व थतां सर्व नी अनुमति लई तेमणे सन्यासपणुं अंगीकार कयुं अने छेवटे शंकराचार्य नी पदवी प्राप्त करी, पोताना शिष्य परिवार साथे फरता-फरता ज्यारे तेमो “जंभिका” नामनी नगरी मां आब्या, त्थारे तेमने प्रभु महावीर नो समागम थयो । ज्यां तेमने शंकाओनुं समाधान थयुं अने प्रभु वीर पासे तेमणे भागवती दीक्षा अंगीकार करी ।”<sup>१</sup>

आर्य सुधर्मा के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण देते हुए स्व० मुनि मणिलालजी ने जो नवीन तथ्य रखने का प्रयास किया है, उन तथ्यों को रखते समय उनके समक्ष क्या आधार था इसे जानने के लिये हमारी ओर से पूरा प्रयास किया गया, पर अभी तक बृद्ध पट्टावली के उपरिलिखित आलेख के अतिरिक्त और कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसके आधार पर आर्य सुधर्मा के जीवन के सम्बन्ध में जो नवीन बातें मुनि श्री मणिलालजी ने रखी हैं उन्हें पूर्ण प्रामाणिक माना जा सके ।

इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की खोज की जाय तो जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं के इतिहास में कुछ नवीन उपलब्धियां हो सकती हैं । आशा है इस सम्बन्ध में इतिहास के विद्वान् तथ्य को खोजने का प्रयास करेंगे ।

आर्य सुधर्मा के गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो प्रामाणिक विबन्ध उपलब्ध होत है, उससे यह तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि विद्वत्ता साथ-साथ वे आर्थिक दृष्टि से भी पर्याप्त रूपेण सम्पन्न थे । यज्ञानुष्ठानादि रु उन्हें विपुल अर्थ की उपलब्धि होती रही होगी तभी उनकी सेवा में ५०० छात्र सदा विद्यमान रहते थे ।

<sup>१</sup> श्री जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावलि, (पंच भाई नी पोळ, महमदाबाद) ।

सोमिल ब्राह्मण द्वारा मध्यम पावा में यज्ञानुष्ठान के लिये आमन्त्रित आर्य सुधर्मा अन्य १० विद्वानों के साथ जिस समय यज्ञानुष्ठान कर रहे थे, उसी समय मध्यम पावा नगरी के आनन्दोद्यान में भगवान् महावीर का समवसरण हुआ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इन्द्रभूति तथा अग्निभूति गौतम भगवान् महावीर को शास्त्रार्थ में जीतने की अभिलाषा लिये और वायुभूति तथा आर्य व्यक्त अपनी-अपनी शंकाओं के समाधानार्थ प्रभु के समवसरण में अपने शिष्य-समूह के साथ क्रमशः गये और भगवान् महावीर द्वारा अपनी गूढ़ शंकाओं का समुचित समाधान पा कर उनके चरणों में दीक्षित हो गये।

आर्य सुधर्मा ने जब यह सुना कि इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और आर्य व्यक्त जैसे उच्चकोटि के विद्वान् अपने-अपने मन की शंकाओं का समाधान पा कर भगवान् महावीर के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये हैं, तो उनके मन में भी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि क्यों न वे भी नर, नरेन्द्र, देवेन्द्रादि द्वारा पूजित सर्वज्ञ प्रभु महावीर से अपने मन में चिरकाल से संचित निगूढ़ शंका का समाधान कर लें। वे तत्काल अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रभु के समवसरण में पहुंचे।<sup>१</sup> उन्होंने श्रद्धावनत हो प्रभु के चरणों में नमन किया।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने नाम - गोत्रोच्चारणपूर्वक आर्य सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए घनरव-गम्भीर स्वर में कहा - "आर्य सुधर्मन् ! तुम्हारे मन में यह शंका है कि प्रत्येक जीव-वर्तमान भव में मनुष्य, तिर्यंच आदि जिस गति में है, वह मरने के पश्चात् भावी भवों में भी क्या उसी गति में उसी प्रकार के शरीर में उत्पन्न होगा ? अपनी इस शंका की पुष्टि में तुम मन ही मन यह युक्ति देते हो कि जिस प्रकार एक खेत में जौ बोये जायं तो जौ और गेहूं बोये जायं तो गेहूं पैदा होंगे। यह संभव नहीं कि जौ बोने पर गेहूं उत्पन्न हो जायं अथवा गेहूं बोने पर जौ उत्पन्न हो जायं। सौम्य सुधर्मन् ! तुम्हारी यह शंका वस्तुतः समुचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी त्रिकरण एवं त्रियोग से जिस प्रकार की अच्छी अथवा बुरी क्रियाएं करता है, उन्हीं कार्यों के अनुसार उसे भावी भवों में अच्छी अथवा बुरी गति, शरीर, सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोगादि की प्राप्ति होती रहती है और कृतकर्मजन्य यह क्रम अजस्ररूपेण तब तक चलता रहता है जब तक कि वह आत्मा अपने - अच्छे-बुरे - सभी प्रकार के समस्त कर्मों का समूल नाश कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो जाता।

एक मनुष्य अपने वैराग्य, सदाचार, आर्जव, मार्दव आदि गुणों से मनुष्य-धायु का बन्ध कर अगले जन्म में पुनः मानव-भव प्राप्त कर सकता है। यदि उस मनुष्य में त्याग-तप-दया आदि सदगुणों का बाहुल्य हो तो वह देवायु का बन्ध कर, मरने पर देव रूप से उत्पन्न हो सकता है। परन्तु वही मनुष्य, यदि उसमें

<sup>१</sup> ते पण्यइए सोउं, सुहम्मो धाणच्छइ जिणसणासं ।

वच्चामि एं वंदांमि, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६१४॥

उपर्युक्त सदगुणों का अभाव एवं हिंसा, असत्य-भाषण, चौर्य, दुराचरण, क्रोध, मान, मद, मोह, मात्सर्य और लोभादि दुर्गुणोंका प्राचुर्य हो तो वह मर कर कुम्भि-कीट-पतंग एवं नारकीय अथवा निगोद के रूप में भी उत्पन्न हो सकता है।

एक प्राणी जिस योनि में है, वह यदि उसी योनि में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का बन्ध करे तो पुनः उस योनि में भी उत्पन्न हो सकता है, पर एकान्ततः यह मानना सत्य नहीं है कि जो प्राणी वर्तमान में जिस योनि में है, वह सदा-सर्वदा के लिये निरंतर उसी योनि में उत्पन्न होता रहे।”

### प्रतिबोध और बीक्षा-ग्रहण

श्रमण भगवान् महावीर की निर्दोष एवं अमोघ वाणी को सुन कर आर्य सुधर्मा के मन में प्रभु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो गये, उनके हृदय की सभी ग्रंथियां स्वतः ही खुल गईं। त्रैलोक्यैकनाथ प्रभु महावीर के दर्शन और कृपाप्रसाद के कलस्वरूप आर्य सुधर्मा पर उपनिषद्कार की निम्नलिखित उक्ति पूर्णरूपेण भटित हो गई:—

भिक्षते हृदयग्रंथिश्छिद्यते सर्वसंशयाः।”

ज्ञानी सदगुरु की संगति हृदय की मोहजन्य गांठ का भेदन कर सकल संशयों का छेदन करती है। जगद्गुरु प्रभु महावीर की कृपा से आर्य सुधर्मा के अन्तर्मन में उद्भूत ज्ञानालोक जगमगा उठा और उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि हुई।

उन्होंने भावविभोर हो प्रभु के चरणों पर अपना सिर रखते हुए गद्गद स्वर में कहा — “प्रभो ! आपने मेरे अन्तस्तल में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर दिव्य आलोक से मेरे हृदय को प्रकाशमान कर दिया है। मैं आपकी वीतराग वाणी में पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखता हूँ। मैं आपकी निर्दोष वाणी में पूर्ण प्रीति करता हूँ। करुणाधन ! आपने मुझे सही दिशा और मेरे चरम लक्ष्य का बोध करा दिया है। मैं अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आपके चरणों की शरण में श्रमण-बीक्षा ग्रहण कर आजीवन आपकी सेवा करना चाहता हूँ।”

इस प्रकार आर्य सुधर्मा की भटल, निर्लेप, मुमुक्षु एवं सत्योपासक वृत्ति का परिचय मिलता है। भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सत्य का परिज्ञान होते ही उन्होंने अपनी चिरपरिपालित परमारा. बड़े परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा, शिष्यों और अनुयायियों के मोह आदि का परित्याग कर दिया और वे तत्काल श्रमण-बीक्षा ग्रहण करने के लिये तत्पर हो गये।

इससे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि आर्य सुधर्मा के हृदय में सत्य को जानने की प्रबल जिज्ञासा और सत्य को आत्मसात् करने की अनुपम तत्परता थी। उनकी बुद्धि सत्य को ग्रहण करने हेतु सदा उन्मुक्त-द्वार एवं तत्पर रहती थी। उन्नति के पथ पर अग्रसर होने से रोकने वाली सभी दुर्बलताओं, विचारों एवं वाधाओं को भटक कर उन्होंने अपने मन से दूर फेंक दिया।



स्वयं द्वारा चिरपोषित, चिरपरिपालित परंपरा की अनुपादेयता और अयथाभता का ज्यों ही उन्हें बोध होता है वे तत्काल उसका सदा के लिये उसी प्रकार परित्याग कर देते हैं जिस प्रकार कि सांप अपनी केंचुल का ।

“तातस्य कूपोऽयमिति बुवाणाः, क्षारं जलं कामुरुवा पिबन्ति”

इस उक्ति के अनुसार कदाग्रही कायर व्यक्ति ही अपनी रूढ़ मान्यता को सदाय समझ कर भी उससे चिपटे रहते हैं । सत्योपासक एवं तत्त्वदर्शी पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे सत्य का दर्शन होते ही तत्काल निर्भीकता के साथ असत्य का परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते हैं ।

आर्य सुधर्मा पूर्वाग्रहों से परे, सत्य के परमोपासक और प्रबुद्धचेता विद्वान् थे । उन्होंने प्रभु द्वारा अपनी प्रार्थना के स्वीकृत होते ही भगवान् महावीर के कर-कमलों से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । आर्य सुधर्मा के साथ उनके ५०० शिष्यों ने भी सत्य मार्ग को पहिचाना और अपने शिक्षा-गुरु के पदचिन्हों पर चलते हुए श्रमणधर्म स्वीकार कर प्रभुचरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

### दीक्षा के पश्चात् आर्य सुधर्मा

जिस समय आर्य सुधर्मा से भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, उस समय उनकी आयु ५० वर्ष थी । वे वय में भगवान् महावीर से लगभग ८ वर्ष बड़े थे । वेद-वेदांगादि के धुरंधर विद्वान् होने के साथ-साथ वे पूर्ण अनाग्रही भी थे । उनकी बुद्धि पर्याप्तरूपेण परिपक्व हो चुकी थी पर वे बड़े जिज्ञासु वृत्तिके विद्वान् थे । महान् अतिशयोक्ति से युक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर महावीर को गुरुरूप में पा कर उनकी जिज्ञासु-वृत्ति बड़े वेग के साथ जागृत हो उठी ।

गौतम प्रभृति अन्य गणधरों के साथ-साथ आर्य सुधर्मा ने भी एकाग्र चित्त हो जब भगवान् महावीर से त्रिपदी का ज्ञान सुना तो वे अथाह ज्ञान के भण्डार बन गये । सभी गणधरों ने प्रभु के मुख से सुने उपदेश के आधार पर सर्वप्रथम चतुर्दश पूर्वों की रचना की और तदनन्तर एकादशांगी का ग्रथन किया । चतुर्दश पूर्व जो पहले संस्कृत भाषा में थे, वे काल-प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं । आज जो आचारांगादि एकादशांग उपलब्ध होते हैं, वे आर्य सुधर्मा की वाचना के ही माने जाते हैं ।<sup>१</sup>

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने ग्यारहों गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना के पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपने पंचम

<sup>१</sup> यदिति श्रुतमस्माभिः, पूर्वेषां सम्प्रदायतः ।

चतुर्दशापि पूर्वाणि, संस्कृतानि पुराभवन् ॥११३॥

प्रज्ञातिशय साध्यानि, तान्युच्छिन्नानि कालतः ।

प्रपूर्वाकादशांग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ॥११४॥

[प्रभावक चरित्र, ८, बुद्धादिसुरिचरित्र, पृ० ५८]

गणधर के पद पर नियुक्त करते समय उन्हें दीर्घजीवी और पंचम आरक के अन्त तक अनवच्छिन्न शिष्य-सन्तति वाला समझ कर गणनायक घोषित किया। आर्य सुधर्मा ने तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सेवा में रह कर अपने गण के श्रमणों को द्वादशांगी का अध्यापन कराने के साथ-साथ प्रभु वीर के समस्त श्रमण-संघ की समीचीन रूप से व्यवस्था और अभिवृद्धि की। वे चतुर्दश पूर्वघर-द्वादशांगी के सूत्र, अर्थ और विवेचन आदि के ज्ञाता एवं व्याख्याता ही नहीं अपितु रचयिता भी थे।

### अर्य-विराट व्यक्तित्व

आर्य सुधर्मा ब्राह्मण-परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं आचार्य तो थे ही पर श्रमण-परम्परा में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी प्रतिष्ठा विश्वमान्य हो चली थी। वे नरेन्द्र-सुरेन्द्रों के भी पूजनीय और समस्त विश्व के वन्दनीय बन गये थे।

आर्य सुधर्मा के शरीर की ऊँचाई सात हाथ थी। आकार-प्रकार से समचतुरस्र संस्थान<sup>१</sup> और वज्रश्लेषभनाराच संहनन<sup>२</sup> से मुगठित उनकी देह अत्यन्त बलिष्ठ, सुन्दर, सौम्य और आकर्षक थी। तपाये हुए सोने के समान उनका तेजोमय लालिमा लिये सुन्दर एवं सुगौर वर्ण दर्शक के मन को हठात् विमुग्ध कर देता था। वे अतुल बल, अदम्य उस्ताह, अटल धैर्य, अबाह्य माम्भीर्य और अशोभ्य क्षमा एवं क्षान्ति के सागर थे।

आर्य सुधर्मा का बहिरंग व्यक्तित्व जितना आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर था उससे कई गुना अधिक आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर उनका आभ्यन्तर व्यक्तित्व था। वे क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव आदि गुणों के आगार तथा विनय, त्याग और तप की प्रतिभूर्ति थे। उन्होंने तन, मन और इन्द्रियों का निग्रह कर काम, क्रोध, मोह, अहंकार, निद्रा एवं परीषहों पर विजय प्राप्त कर ली थी। वे स्वसमय तथा परसमय के पूर्ण ज्ञाता, जीव अश्रीव आदि समस्त तत्त्वों के विशेषज्ञ, उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी, घोर ब्रह्मचारी, अनासक्त, विमल ज्ञान, दर्शन एवं आरित्र के धनी, भोजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। उनकी साधना उस चरमोत्कृष्ट कोटि तक पहुँच चुकी थी जिसमें जीवन की कामना और मृत्यु से भय का लवलेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता।

‘आयाधम्मकहाओ’ के अध्ययन प्रथम, सूत्र दो में आर्य सुधर्मा को ‘आर्य’, ‘स्थविर’ आदि जिन सम्मानसूचक विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, उनसे आर्य सुधर्मा के प्रतिभाशाली विराट व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः आर्य सुधर्मा का विराट बहिरंग व्यक्तित्व समस्त श्रमण

<sup>१</sup> शरीर लक्षणोक्त प्रमाणाविसंवादिभ्यश्चतस्रो यस्य तत्समचतुरस्रम् ।

[भगवती (टीका) १:१ व प्रश्नोत्थान ५० ३४]

<sup>२</sup> भगवती, शतक १ प्रश्नोत्थान ५० ३४

परम्परा का आकर्षण केन्द्र और उनका उदात्त आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत आभ्यन्तर व्यक्तित्व हमारी सम्पूर्ण श्रमण संस्कृति का पुंजीभूत तेजोमय स्वरूप सा प्रतीत होता है ।

### अध्यात्मिकता की साधना

धार्य सुधर्मा वेद-वेदांगादि चतुर्दश विद्याओं के कुशल ज्ञाता थे । सकल शास्त्र के पारंगामी विद्वान् होने पर भी उन्हें कठोर परिश्रम से अर्जित अपनी विद्याल ज्ञानराशि में एक प्रकार की न्यूनता, अपूर्णता एवं रिक्तता का अनुभव होता था । ज्ञान की यह रिक्तता उनके अन्तर्मन में अर्हनिश एक शल्य की तरह लटकती रहती थी । वे सत्य की गवेषणा में सतत प्रयत्नशील थे । जब उन्हें भगवान् महावीर के प्रथम दर्शन हुए तो वे उनकी सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन और उनकी बीतरागतापूर्णा वाणी के श्रवण से पूर्णरूपेण प्रभावित हुए ।

प्रभुदर्शन से उनके मानस में आशा की किरण प्रस्फुटित हुई और उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनकी वह रिक्तता-अपूर्णता विश्व की महान् विभूति — भगवान् महावीर के द्वारा अवश्य ही भर दी जायगी — पूर्ण कर दी जायगी ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने अन्तर्मन की निबूझतम शंका को सुन कर तो वे आश्चर्य से अभिभूत हो गये और उनकी वह आशा तत्क्षण आस्था के रूप में परिणत हो गई । भगवान् महावीर की तर्कसंगत एवं युक्तिपूर्ण शमोष वाणी से अपने सन्देह का सम्पूर्ण रूप से समाधान होते ही धार्य सुधर्मा ने परम सन्तोष का अनुभव करते हुए श्रमण दीक्षा ग्रहण कर अपने आपको प्रभु की चरण-शरण में समर्पित कर दिया । भगवान् महावीर द्वारा दिये गये 'त्रिपदी' के ज्ञान से धार्य सुधर्मा ने अपने अन्तर में भरे अक्षय्य ज्ञान भण्डार के बन्ध कपाटों की मानो कुंजी ही प्राप्त कर ली । अभ्यन्तर के कपाट खुलते ही उनके मनोमंदिर में अनन्तकाल से आधिपत्य जमाया हुआ निबिडतम अज्ञानान्धकार क्षण भर में तिरोहित हो गया और उसके स्थान पर अनिर्वचनीय, शुभ्र, दिव्य प्रकाश जगमगा उठा ।

धार्य सुधर्मा ने प्रभु के प्रथमोपदेश से सामायिक चारित्र के महत्व को आत्मसात् कर अपने लोकजनीन प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रवाह को थोड़े कर्मकाण्ड की ओर से मोड़ कर सम्पूर्ण सावध — त्यागरूप सामायिक चारित्र की दिशा में जोड़ दिया । पूर्ण ज्ञानी त्रिलोकगुह भगवान् महावीर के उपदेशों से उन्होंने अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के साथ-साथ श्रमणसंघ की सुव्यवस्था, उन्नति एवं अभिवृद्धि करते हुए धार्य अम्बू और प्रभव जैसे सहस्रों भव्यों को श्रमणधर्म में दीक्षित किया । शासन-सेवा की तरह आप कठोर और दीप्त तप की साधना में भी पीछे नहीं रहे । उपशम भावपूर्वक घोर तपस्या के प्रभाव से उन्हें अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी लक्षियाँ भी शक्तिरूप से प्राप्त हो गईं । परन्तु आपने सदा शान्त, दान्त एवं गम्भीर भाव से उन सिद्धियों को अपने अभ्यन्तर में ही दबाये रखा ।

आर्य सुधर्मा मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान—इन चार ज्ञान के धारक थे। आगम और आगमेतर साहित्य में जिस प्रकार इनके केवलज्ञान की उपलब्धि का समय मिलता है उस प्रकार इन्हें चार ज्ञान कब हुए, इसका कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही चार ज्ञान के धारक हो चुके थे और वर्षों चार ज्ञान के धारी रहे।

### सुधर्मा के गण और साधु

अग्निभूति आदि ६ गणधर आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझ कर उन्हें अपना-अपना गण सम्हला कर भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये, अतः क्रमशः उनके निर्वाण से एक-एक मास पूर्व उनके गणों का भी आर्य सुधर्मा के गण में विलय हो गया और उन ६ गणधरों के गणों के सभी श्रमण आर्य सुधर्मा के अन्तेवासी कहलाने लगे।<sup>१</sup>

### ६ गणधरों का निर्वाणकाल और सुधर्मा के साधु

भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व जिन ६ गणधरों का निर्वाण हुआ एवं जिनके गण आर्य सुधर्मा के गण में विलीन हुए उनके नाम व निर्वाणकाल निम्न प्रकार से हैं :-

#### गणधर-नाम

#### निर्वाण-काल

द्वितीय गणधर अग्निभूति  
तृतीय गणधर वायुभूति  
चतुर्थ गणधर आर्य व्यक्त  
छठे गणधर आर्य मण्डित  
सातवें गणधर आर्य मौर्यपुत्र  
आठवें गणधर आर्य अकम्पित  
नवमें गणधर अचलभ्राता  
दशवें गणधर मेटार्य  
ग्यारहवें गणधर आर्य प्रभास

वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व  
वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व  
वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व  
वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व  
वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व  
वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व  
वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व  
वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व  
वीर-निर्वाण से ६ वर्ष पूर्व

ये ६ ही-गणधर एक मास की संलेखना से राजगृह में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

इसके परिणामस्वरूप आर्य सुधर्मा के शिष्य-श्रमणों की संख्या भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही ३६०० तक पहुँच गई।

ग्यारह गणधरों के श्रमणों की कुल संख्या ४४०० आगम एवं आगमेतर साहित्य में बताई गई है और भगवान् महावीर के संघ में कुल साधु १४,००० थे। उनमें से इन्द्रभूति के ५०० श्रमणों को छोड़ कर शेष साधु-समुदाय

<sup>१</sup> परिणामव्या गणधरा जीवन्ते एवाए एव जणाउ । ६१८

आर्यं सुधर्मा के ही नेतृत्व में आ जाता है। क्योंकि भगवान् महावीर ने सुधर्मा को गणधर नियुक्त करते समय गण की अनुज्ञा प्रदान कर दी थी। उसकी सार्यंकता सुधर्मा के ५०० शिष्यों के अतिरिक्त अन्य साधु-समुदाय के मिलाने पर ही हो सकती है। अतः और गणधरों के गणों के अतिरिक्त शेष श्रमणों को सुधर्मा के गण में ही सम्भन्ना चाहिये। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् आर्यं सुधर्मा गणधर के स्थान पर संघाधिनायक आचार्य कहलाये क्योंकि वे भगवान् महावीर के पट्टधर हो चुके थे।

**क्या सुधर्मा के आधीन अन्य आचार्य भी थे ?**

प्रश्न उपस्थित होता है कि हजारों श्रमणों के उस अतिविशाल समुदाय की शिक्षा-दीक्षा और दैनिकचर्या की समुचित व्यवस्था का संचालन तप-स्वाध्याय-निरत और शास्त्र की वाचना देने वाले आर्यं सुधर्मा स्वयं ही करते थे अथवा संघ-संचालन में उनके सहायक कोई अन्य आचार्य आदि भी थे।

शास्त्रीय प्रकरणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के शासनकाल में जिस प्रकार गणधर और स्थविर आदि श्रमणसंघ की व्यवस्था का कार्य करते थे, उसी प्रकार आर्यं सुधर्मा के काल में भी आचार्य, स्थविर आदि संघ की व्यवस्था में आर्यं सुधर्मा का हाथ बटाते थे।

शास्त्र में स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है :-

“वेराणं अंतिए सामाह्यमाइभाई एक्कारस अंगाई अहिज्जइ-अहिज्जिता”  
आदि।

निर्युक्ति, चूरिण आदि प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समय में भी अलग-अलग आचार्यों के नेतृत्व में साधुओं का अध्ययन-अध्यापन एवं विचरण होता था।

भगवान् महावीर के शासन में ३०० चतुर्दश पूर्वधर और ४०० वादी थे, तो उनके साथ रहने वाले साधुओं के अध्ययन आदि की व्यवस्था उनके द्वारा अवश्य की जाती होगी। आवश्यक चूरिण आदि ग्रन्थों से हमारे इस अनुमान की पूर्ण पुष्टि होती है जैसाकि निर्युक्ति में कहा है - “राजगृही के गुणशील उद्यान में चतुर्दश पूर्वी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त से ‘जीवप्रदेश’ दृष्टि उत्पन्न हुई। ग्रामलकल्पा के मित्रश्री ने उसको प्रतिबोध देकर समझाया।”<sup>१</sup> इससे यह सिद्ध

- १ (क) “जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।” [भाव० निर्युक्ति गाथा]  
रावमिहे गुणसिलाए वसु चोइसपुब्बि तीसगुत्ताओ।  
ग्रामलकल्पा खयरी, भित्तिसिरि कूरपिडाई ॥१२८॥ [भूलभाष्य]
- (ख) “वित्तित्तो सामिणा सोलसवासाई उप्पाडित्तस्स एणएसस्स तो उप्पभणो। तेणं कालेणं तेणं तमएणं रावमिहे गुणसिलाए चेतिए वसू नाम भगवतो आयरियां चोइसपुब्बी तमोसइडा, तस्स सीतो तीसगुत्तो नाम” [भाव० सू०, भा० १, पृ० ४१६-२०]
- (ग) राजगृहे गुणशीलके उद्याने वसुराचार्यवस्तुदशपूर्वी समवसूतः, तच्छिष्या-तिष्यगुप्तादवा दृष्टिरूपत्वात्” [भावश्यकनिर्युक्तेरवचुरिण, भा० १]

होता है कि आचार्य वसु की तरह अन्य भी जो पूर्वधारी एवं विशिष्ट योग्यता वाले मुनि थे उनके आधीन साधु-समुदाय की व्यवस्था का कार्य रखा गया हो।

निरयावलिका सूत्र में लिखा है कि आर्य सुधर्मा ५०० साधुओं के परिवार से राजगृह नगर में पधारे।<sup>१</sup> संभव है उन ५०० साधुओं के अतिरिक्त अवशिष्ट जो साधु आर्य सुधर्मा के शासन में थे उन सब को विभिन्न संघाटकों में बांट दिया गया हो और उनकी व्यवस्था सुयोग्य संघाटकपतियों के आधीन रखी गई हो। वे संघाटकपति आचार्य, उपाध्याय अथवा स्थविर आदि किसी पद के अधिकारी हो सकते हैं। आचार्य वसु और आर्य सुधर्मा के ५०० साधुओं के परिवार से विहार को दृष्टिगत रखते हुए यह निश्चय करना अनुचित नहीं होगा कि स्वयं प्रभु महावीर की विद्यमानता में और उनके पश्चात् भी गणधरों के अतिरिक्त आचार्य, स्थविर आदि पदों पर सुयोग्य साधुओं को नियुक्त करने की व्यवस्था थी।

### आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर संघनायक

जैसा कि इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में बताया जा चुका है, ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम संवत् से ४७० वर्ष और शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व, वर्षाकाल के चौथे मास एवं सातवें पक्ष में कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उसी रात्रि को इन्द्रभूति गौतम ने केवलज्ञान की उपलब्धि की।

दूसरे ही दिन कार्तिक शुक्ला १ के दिन आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में धर्मसंघ का अधिनायक-आचार्य नियुक्त किया गया। वर्तमान, अनन्त-अनागत और विगतकाल की सभी बातों को प्रत्यक्ष जानने-देखने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने अपने निर्वाण से लगभग ३० वर्ष पूर्व तीर्थस्थापना के दिन ही आर्य सुधर्मा को दीर्घायु एवं योग्य जान कर गए की अनुज्ञा दे रखी थी; इस बात से चतुर्विध तीर्थ भलीभांति परिचित था। इसके साथ ही साथ चतुर्विध तीर्थ को यह भी विदित था कि श्रमण भगवान् महावीर की विद्यमानता में अग्निभूति आदि जिन ६ केवलज्ञानी गणधरों ने निर्वाण प्राप्त किया, उन्होंने अपने-अपने निर्वाण से एक मास पूर्व ही आर्य सुधर्मा को गणनायक एवं दीर्घायुमान् जान कर अपने-अपने गए सम्हला दिये थे।

इन दो सर्वविदित तथ्यों के अतिरिक्त भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भगवान् के पट्टधर बनने के सभी दृष्टियों से योग्यतम अधिकारी भगवान् के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम को कुछ ही याम पश्चात् उसी रात्रि में केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी थी, अतः वे भगवान् के उत्तराधिकारी नहीं बन सकते थे।

<sup>१</sup> तेरां कालेणं तेरां समएणं समएणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी अज्जसुहस्से नामं अएगारे जाइसंपने जहा केसी जाव पंचहिं अएगारसएहिं सिंदि संपरिबुडे पुआरुपुविं चरमाणे.....जेणेव रायगिहे नयरे जाव अहापरिव्वं उग्गहं ओगिण्हिता सज्जेणं जाव विहरइ ।  
[निरयावलियाधो, अ० १]

ऐसी स्थिति में उपरिर्वाहित तीन प्रमुख कारणों से चतुर्विध तीर्थ के समक्ष भगवान् महावीर का पट्टधर किसको नियुक्त किया जाय, इस प्रकार का कोई प्रश्न अथवा विवाद उत्पन्न होने जैसा प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुआ। अतः भगवान् महावीर के निर्वाण के दूसरे ही दिन चतुर्विध तीर्थ ने आर्य सुधर्मा को सर्वसम्मति से भगवान् महावीर का सर्वसत्तासम्पन्न प्रथम पट्टधर, संघनायक-आचार्य नियुक्त कर दिया। उसी दिन से आज तक सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा चलती आ रही है।<sup>१</sup>

आज जितने भी श्रमण एवं श्रमणियां विद्यमान हैं, वे सब आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा के हैं। क्योंकि शेष सभी गणधरों ने निर्वाण प्राप्त करने से पहले ही अपने-अपने शिष्यमण्डल आर्य सुधर्मा को शिष्य रूप में समर्पित कर निर्वाण प्राप्त किया था।<sup>२</sup>

### भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा ही क्यों ?

साधारण से साधारण और प्रबुद्ध से प्रबुद्ध व्यक्ति के मन में भी बहू प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम की विद्यमानता में उनको छोड़ पंचम गणधर आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का पट्टधर क्यों बनाया गया ? इन्द्रभूति ने तीर्थ-स्थापना काल से लेकर प्रभु के निर्वाण समय तक उनकी अहर्निश सेवा की। भगवान् के प्रति उनकी भक्ति एवं प्रीति भी अप्रतिम थी। फिर क्या कारण था कि इन्द्रभूति को भगवान् का उत्तराधिकारी नहीं बनाया गया ?

उत्तर साफ है कि उत्तराधिकारी अपने पूर्ववर्ती आचार्य आदि के अधिकार को आगे चलाने वाला होता है। यह जानी हुई बात है कि पट्टधर अपने पूर्ववर्ती आचार्य के आदेश, उपदेश और सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर उसका प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ अनुयायी समाज से उनकी आज्ञा का पालन करवाते हैं। किन्तु केवलज्ञानी स्वयं समस्त चराचर के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण जो कुछ

<sup>१</sup> सोहम्मं सुणिनाहं, पढमं वंदे सुभत्ति संजुत्तो ।

जस्सेसो परिवाउं, कप्पककखुब्ब विथरिउं ॥२॥

[हिमवन्त स्थविरावली]

<sup>२</sup> (क) जे इमे अज्जतारा समसा निग्गंथा विहरंति एए एं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणमारस्स आबच्चिज्जा, अयसेसा गणहरा निरवच्चा बुच्छिन्ना [कल्पसूत्र स्थविरावली]

(ख) परिणिव्वया गणहरा जीवते सायए एव जगाउ ॥६५८ [आवश्यक नियुक्ति]

(ग) जीवति ज्ञातके - ज्ञातकुलोत्पन्ने वीरे भगवति नव जनाः इन्द्रभूति सुधर्मस्वामिवर्जाः परिनिर्बृत्ताः, इन्द्रभूतिः सुधर्मश्च स्वामिनि वीरे निर्बृत्तं परिनिर्बृत्तः, तथापि प्रथममिन्द्रभूतिः पश्चात्सुधर्मा स्वामी यश्च यश्च कालं करोति, स स सुधर्मस्वामिनो गणं ददाति तेषां तथाभूत सन्तानप्रवृत्ति हेतुभूताचार्यसम्भवात्.....।

[आव० नि०, गा० ६५८ की मलयगिरिवृत्ति]

उपदेश देते हैं वह वे अपने ज्ञान के आधार से देते हैं न कि अपने पूर्ववर्ती प्राचार्य के उपदेश-प्रादेश के आधार से ।

भार्य सुधर्मा प्रभु के निर्वाण के समय १४ पूर्व के ज्ञाता थे, केवली नहीं । अतः वे यह कह सकते थे कि “भगवान् ने ऐसा फरमाया है”, अथवा “भगवान् ने जैसा फरमाया है वैसा ही मैं कह रहा हूँ ।” किन्तु इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर की निर्वाण-रात्रि के अवसान में ही सकल चराचर के पूर्ण ज्ञाता केवली बन चुके थे । ऐसी स्थिति में वे यह नहीं कह सकते थे कि “भगवान् ने ऐसा कहा है, वही मैं कहता हूँ” । केवली होने के कारण वे तो यही कहते कि — “मैं ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ” ।

ऐसी स्थिति में तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुतपरम्परा को अविच्छिन्न रूप से यथावत् रखने की दृष्टि से इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर का उत्तराधिकारी न बनाया जाकर भार्य सुधर्मा को प्रथम पट्टधर नियुक्त किया गया । दूसरा कारण यह भी है कि केवली किसी के पट्टधर अथवा उत्तराधिकारी नहीं होते क्योंकि वे आत्मज्ञान के स्वयं पूर्ण अधिकारी होते हैं ।

### पट्ट-प्रदान किसके द्वारा ?

भार्य सुधर्मा की तीर्थाधिनायक के रूप में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर-पद पर नियुक्ति चतुर्विध संभ-ने की अथवा स्वयं श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाली एक गाथा ‘गणहरसत्तरी’ में उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है :-

‘तित्थाहिबो सुहम्मो, लहुकम्मो गरिमगयण संकासो ।

बीरेण मज्झिमाए, संठविओ अग्निवेशाणो ॥२॥

इस गाथा का सामान्य अर्थ इस प्रकार होता है कि स्वयं भगवान् महावीर ने मध्यमपावा में अतिशीलकर्मा, केसरीसिंह तुल्य, अग्निवेशायन गोत्रीय सुधर्मा को तीर्थाधिप पद पर प्रतिष्ठित किया ।

गाथा में प्रयुक्त “तित्थाहिबो” और “मज्झिमाए” इन दो शब्दों पर समीचीन रूपेण विचार करने की आवश्यकता है ।

यह तो निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर ने मध्यमा (मध्यम पावा) में तीर्थ की स्थापना की और लगभग ३० वर्ष पश्चात् वहीं निर्वाण प्राप्त किया । ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रभु महावीर द्वारा भार्य सुधर्मा की तीर्थाधिप पद पर नियुक्ति तीर्थ-स्थापना के समय की गई अथवा निर्वाण के समय ?

जैसा कि पहले बताया जा चुका है “आवश्यक निर्युक्तिकार ने — “पुब्बं तित्थं गोयमसामिस्स दब्बेहि पज्जवेहि अग्गुजाराणामित्ति” — इन शब्दों के साथ



भगवान् द्वारा इन्द्रभूति गौतम को तीर्थ की अनुज्ञा और—“गणं च सुहम्म साभिस्स घुरे ठावेत्ता एं अणुजाणति” इन शब्दों के साथ आर्य सुधर्मा को गण की अनुज्ञा प्रदान किये जाने का स्पष्टतः उल्लेख किया है। उस समय भगवान् महावीर ने न तो एकाकी इन्द्रभूति गौतम को तीर्थ तथा गण की सम्मिलित रूप से अनुज्ञा प्रदान की और न एकाकी आर्य सुधर्मा को ही।

इस गाथा में—“मज्झिमाए वीरेण सुहम्मो तित्थाहिवो संठविओ”—ये शब्द विद्यमान हैं। इन शब्दों का सीधा सा स्पष्ट अर्थ यही है कि भगवान् महावीर ने मध्यम पावा में सुधर्मा को तीर्थाधिप-तीर्थनायक (जिसमें गणाधिनायकत्व सम्मिलित होना स्वतः ही सिद्ध है) नियुक्त किया।

इस प्रकार उपरिलिखित गाथा में प्रयुक्त शब्दावली के सम्यक् पर्यालोचन से गाथा का यही अर्थ-संगत प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण के समय मज्झिमा (मध्यम पावा) में आर्य सुधर्मा को तीर्थाधिप अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ के नायक पद पर अपना प्रथम पट्टधर नियुक्त किया।

“वीरवंश पट्टावली—अपर-नाम विधिपक्ष गच्छ पट्टावली” की निम्न-लिखित गाथा में तो इस प्रकार का और भी स्पष्ट उल्लेख है कि स्वयं भगवान् महावीर ने आर्य सुधर्मा को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया:—

भविंयजणे पडिबोहिय, बावत्तरि पालिउण्ण वरिसाइं ।

सोहम्म गणहरस्स य, पट्टं दाउं सिवं पत्तो ॥६॥

अर्थात्—भव्य जीवों को प्रतिबोध दे, बहत्तर वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर और गणधर सुधर्मा को अपने उत्तराधिकारी के रूप में पट्टधर पद देकर भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि स्वयं भगवान् महावीर ने आर्य सुधर्मा को अपने निर्वाण के समय अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया फिर भी उपरोक्त गाथाओं में प्रकट किये गये भाव सभी दृष्टियों से विचार करने पर संगत प्रतीत होते हैं। क्योंकि त्रिकालज्ञ सर्वदर्शी प्रभु अपने निर्वाण से पूर्व संधित के अत्यन्त महत्वपूर्ण इस प्रश्न का स्पष्ट रूप से हल न करें कि उनके पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की सुचारु रूप से व्यवस्था करने वाला उनका उत्तराधिकारी कौन होगा, इस बात को मानने के लिये संभवतः कोई विचारक तैयार नहीं होगा।

आगम एवं इतिहास के मर्मज्ञ इस पर विचार करें।

### सुधर्मा का अपर नाम लोहार्य

दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा का अपर नाम लोहार्य भी उपलब्ध होता है।<sup>१</sup> यद्यपि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ तिलोपपण्णत्ती<sup>२</sup> आदि में आर्य सुधर्मा के इस अपर नाम का उल्लेख नहीं है और पट्टधरों के क्रम में श्वेताम्बर परम्परा की तरह सुधर्मा का नाम ही उपलब्ध होता है न कि लोहार्य का तथापि उपरिलिखित मान्यता के अनुसार पट्टधरों के क्रम में दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों और पट्टावलिओं में सुधर्मा के स्थान पर लोहार्य का नाम उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा की किसी भी पट्टावली अथवा ग्रन्थ में पट्टधरों के क्रम में कहीं भी लोहार्य का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वत्र सुधर्मा का नाम ही उपलब्ध होता है।

आवश्यक निर्युक्ति के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरी ने भगवान् महावीर को कैवल्योपलब्धि के पश्चात् आहार लाकर देने वाले श्रमण का नाम लोहार्य लिखकर उनकी निम्नलिखित शब्दों में स्तुति की है :-

धन्नो सो लोहज्जो, खंतिखमो पवरलोह सरिबन्नो ।

जस्स जिणो पत्तामो, इच्छइ पाणिहिं भोत्तुं जे ॥२॥

अर्थात् - वे क्षमासागर, लोहसार के समान कान्तिमान वर्ण वाले लोहार्य धन्य हैं जिनके भिक्षापात्र से स्वयं जिनेन्द्र भगवान् (महावीर) अपने पाणिपात्र द्वारा भोजन करना चाहते हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में भी “लोहार्य” - यह नाम तो उपलब्ध होता है पर यह आर्य सुधर्मा का ही अपर नाम था ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख न तो कहीं उपरोक्त “आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी वृत्ति” में दृष्टिगोचर होता है और न श्वेताम्बर परम्परा के किसी अन्य ग्रन्थ में ही।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् उनके द्वारा तीर्थस्थापना के समय उनके तत्कालीन मुनियों में ग्यारह गणधरों का और उनमें भी इन्द्रभूति गौतम तथा आर्य सुधर्मा-इन दो गणधरों का विशिष्ट स्थान माना गया है। ऐसी दशा में केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् महावीर को आहार लाकर देने वाले सुयोग्यतम साधु इन्द्रभूति गौतम एवं आर्य सुधर्मा से बढ़कर कोई अन्य नहीं

<sup>१</sup> (क)....गोदमसामिभ्हे णिव्वुदे संते लोहज्जाइरिभो केवलणणसंताणहरो जादो ।

[छत्संडागम वेदनाखंड, धवला, पृ० १३०]

(ख)....एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्डमाणदिवायरादो विण्णग्गमिय गोदम - लोहज्ज - जम्बुसामियादि - आइरियपरंपराए आंगंतुण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रुवेण परिणमिय अज्जमंखुण्णगत्यीहितो जइवसहायरियमुवराणिय....

[कसायपाहुड, जयधवला... अणुभामविहत्ती, पृ० ३८८]

<sup>२</sup> जादो सिदो वीरो तंदिबसे गोदमो परमणणी ।

जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥

तम्मि कदकम्मणसे जंबुसामि ति केवली जादो ।....

[तिलोपपण्णत्ती, महा० ४]

हो सकते। इन्द्रभूति का अपरनाम लोहार्य हो इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता जब कि आर्य सुधर्मा के लिये कषायपाहुड तथा षट्संज्ञागम की टीकाओं में एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ ग्रन्थों में लोहार्य नाम का प्रयोग किया गया है।

दिगम्बर परम्परा में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य नहीं अतः केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् को आहार देने वाले साधु का नाम लोहार्य था इस अभिमत की दिगम्बर परम्परा में तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। पर श्वेताम्बर परम्परा में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है। ऐसी स्थिति में "आवश्यक मलयवृत्ति" में भगवान् को कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् आहार ला कर देने वाले, "खंतिस्रमो, पवरलोह सरिवन्तो" इन उत्कृष्ट विशेषणों से सम्बोधनीय साधु संभवतः आर्य सुधर्मा हो सकते हैं। तत्कालीन साधुओं में लोहज्ज (लोहार्य) नामक ग्रन्थ किसी साधु का श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि आर्य सुधर्मा का अपरनाम लोहार्य हो।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम में श्रीर यापनीय परम्परा (जो विमुप्त हो चुकी है) के "केवलिभुक्ति"<sup>१</sup> नामक उपलब्ध ग्रन्थ में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है। भगवान् स्वयं भिक्षार्थ नहीं पधारते। ऐसी दशा में भगवान् को आहार स्वीकार करने वाला कोई न कोई साधु अवश्य होना चाहिए। भगवान् को आहार ला कर देने के लिये कोई एक ही साधु नियत था अथवा विभिन्न इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सीहा भरणार ने मेढियाग्राम में रेवती गायापत्नी के घर से बीजोरापाक ला कर दिया और उसके सेवन से भगवान् का रोग शान्त हुआ, इस प्रकार का उल्लेख भगवती सूत्र में उपलब्ध होता है।<sup>२</sup> यह एक विशिष्ट परिस्थिति में घटित हुई घटना है। इससे यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि भगवान् को आहार ला कर देने का कार्य किसी एक साधु के जिम्मे था या अनेक के।

### क्या आर्य सुधर्मा क्षत्रिय राजकुमार थे ?

यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणधरों को ब्राह्मण जाति का बताया गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा के वीर नामक कवि ने वि० सं० १०७६ में रचित अपने अपभ्रंश भाषा के महाकाव्य "जम्बूसामिचरित" में श्रीर कवि राजमल्ल ने वि० सं० १६३२ में रचित संस्कृत भाषा के अपने काव्य "जम्बूस्वामिचरितम्" में चौथे और पांचवें - दो गणधरों के क्षत्रिय होने का उल्लेख करते हुए पांचवें गणधर आर्य सुधर्मा को चौथे गणधर सुप्रतिष्ठ का पुत्र बताया है।

<sup>१</sup> केवलिभुक्ति, यापनीय आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्ति) रचित (विक्रम की ६ बी शताब्दी)

<sup>२</sup> भगवती सूत्र, शतक १५, सू० ५५७

दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनों विद्वानों ने जम्बुकुमार को संसार से विरक्त होने के प्रकरण में चौथे और पांचवें गणधर के सत्रिय होने का जो उल्लेख किया है वह इस प्रकार है :-

“एक दिन जम्बुकुमार ने अपने मन में विचार किया कि विपुल वैभव एवं यश की जो उन्हें प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई है ? अपनी इस भ्रान्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बुकुमार ने एक मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया—भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि वास्तव में मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, वह किस पुण्य के फल से प्राप्त हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाइये ।”

“सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया — वत्स ! मुन, मैं तुम्हें पूर्व-भवों का वृत्तान्त सुनाता हूँ ।” इसी मगध देश के वर्द्धमान नामक ग्राम में किसी समय भवदत्त और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे । उन दोनों ने क्रमशः जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षों तक श्रमणाचार का पालन किया एवं दोनों भाई मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए । देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भवदत्त का जीव महाविदेह क्षेत्र में वज्रवन्त नामक राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम सागरचन्द्र रखा गया । छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महाविदेह क्षेत्र में महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ । सागरचन्द्र संयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर में रहते हुए भी श्रमणाचार का पालन एवं उग्र तपश्चरणा करने लगा । अन्त में क्रमशः समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे दोनों ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुए ।”

“दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भवदत्त का जीव मगध देश के संवाहनपुर नामक नगर के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम सौधर्म रखा गया ।<sup>१</sup> सौधर्मकुमार क्रमशः सभी विद्याओं में निष्णात हुआ । एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन, उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवसरण में पहुँचा । भगवान् की भव्रोग विनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने संसार से विरक्त हो प्रभु के पास निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण कर ली । थोड़े ही दिनों में वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता बन गये और भगवान् महावीर ने उन्हें अपने चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया ।”<sup>२</sup>

<sup>१</sup> अथोवाच मुनिर्नाम्ना, सौधर्मा धर्म देशकः । शृणु वत्स बदे तेऽयं, वृत्तान्तं पूर्वजन्मनः ॥

[जम्बूस्वामोचरितम् (पं० राजमहल) सर्ग ६]

<sup>२</sup> [वही, सर्ग ६, श्लो० १८-२३]

<sup>३</sup> दिवसैः कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनिः ।

गणधरस्मुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिनः ॥२८॥ [ वही ]

“सौधर्मकुमार ने कुछ दिनों पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप में देखा तो उसे भी संसार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोड़े समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पाँचवाँ गणधर बन गया। सुधर्मा नाम का यह पंचम गणधर मैं ही हूँ जो कि तुम्हारे भवदेव के भव में तुम्हारा भवदत्त नामक बड़ा भाई था। तुम (छोटे भाई भवदेव के जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी ग्रहंदास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।”<sup>२</sup>

कवि कीर और पं० राजमल्ल ने भगवान् महावीर के चतुर्थ एवं पंचम गणधर को किस आधार पर क्षत्रिय वंशोद्भव बताया है इसे खोज निकालने का पर्याप्त प्रयास किये जाने के उपरान्त भी अभी तक किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हो सका है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें एक मत से भगवान् महावीर के सभी गणधरों को ब्राह्मण कुलोद्भव

१ (क) सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद्दीक्ष्य तं गणनायकम् ।

जातसर्वाग्निर्वेदः प्रवराज महाभुनिः ॥२६॥

क्रमास्तोऽभ्यभवत्तस्य पंचमो गणनायकः ।

सोऽहं सुधर्मनामा स्यां भवद्भ्रातृचरोऽधुना ॥३०॥ [ वही ]

(ख) तं पुरु सुपइट्ठियनिवइ जिणचरणमइ परिपासइ समरे बलुद्धइ ।

\*\*\*तहो सुहलक्खणभायणा, गुरदेवक्खणकयमणा ।

सिगारासयसिप्पिणी, पट्टमकलत्तं रुप्पिणी ।

भवयत्तु जेट्ठु जो विहि मि चिरु सुह सायरबंदु पुणो वि सुह ।

सो जाउ पुत्तु जणजाणियहे नरनाहें रुप्पिणीराणियहे ।

सउहम्मनामुविज्जापवर, नीसेससत्यविष्णाराणधर ।

एक्काहि दिखे सुप्पइट्ठु निवइ सकलत्तु सनंदणु सुद्धमई ।

गउ वंदणभत्तिए भवत्तरणु सिरिबीरजिणंदसमोसरणु ।

निसुणोवि परमेट्ठिह्नि दिक्खणुणि पक्खज्ज लेवि हूउ परममुणि ।

गणहह चउत्तु तवत्तविदत्तणु सिद्धिवहुनिवेसियविमलमणु ।

पेक्खेनि जणोह निवसिरि चइउ सउहम्मकुमारं वि पक्खइउ ।

गणहह पंचमु नासियदुहहो धविलत्ठथाणु सासयसुहहो ।

सो हउं रिसिसंधविराइयउ विहरंतुज्जाणि पराइयउ ॥

[जंबूसामिचरित (वीर विरचित) ८-३, ८-४]

त्वं हि ततो दिवश्च्युत्वा, विद्युन्मालिन्नरोऽमरः ।

ग्रहंदासगृहे मूनुजातः सर्वसुखाकरः ॥३३॥

[जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल रचित), सर्ग ६]

मानती हैं।<sup>१</sup> ऐसी दशा में उपरोक्त दोनों कवियों ने चतुर्थ एवं पंचम गणधर को क्षत्रिय माना है; इस सम्बन्ध में विशेष खोज करने की आवश्यकता है। यहाँ सबसे बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में सुप्रतिष्ठ नाम के कोई भी गणधर नहीं थे। ऐसी स्थिति में वीर कवि और पं० राजमल्ल ने चतुर्थ गणधर का नाम आर्यव्यक्त के स्थान पर सुप्रतिष्ठ और आर्य सुधर्मा को सुप्रतिष्ठ का पुत्र बताते हुए जो कथानक प्रस्तुत किया है, वह सारा कथानक ही तब तक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जब तक कि इसकी पुष्टि में कोई प्राचीन ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाता।

### आर्य सुधर्मा का निर्वाण

आर्य सुधर्मा ने ५० वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप-संयम की आराधना और निरन्तर ३० वर्ष तक एक परम विनीत शिष्य के रूप में भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए गण की महती सेवा की। उन्होंने प्रभु के निर्वाण के पश्चात् प्रभु के प्रथम पट्टधर के रूप में २० वर्ष तक संघाधिनायक रहकर संघ का संचालन किया। वीर-निर्वाण संवत् १२ में इन्द्रभूति गौतम के निर्वाण के पश्चात् उन्होंने चार घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार आर्य सुधर्मा ने १२ वर्ष छपस्थचर्या में संघाधिनायक रहते हुए तथा ८ वर्ष तक केवली रूप से संघाधिनायक रहते हुए कुल मिलाकर २० वर्ष तक भगवान् महावीर के भासन की समूल्य सेवाएँ की, जो इस पंचम आरक की समाप्ति तक जिनशासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित की जाती रहेंगी।

अन्त में वीर नि० संवत् २० के अन्तिम चरण में ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में आर्य सुधर्मा ने पादोपगमन संघारा किया।

आर्य सुधर्मा ने पचास वर्ष का एक लम्बा आदर्श, पवित्र और सफल जीवन जीते हुए वीर निर्वाण संवत् २० के अन्तिम चरण में एक मास के पादोपगमन संघारे से १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर अपने जीवन का चरम और परम लक्ष्य-निर्वाण प्राप्त किया जिसके लिये वे पचास वर्ष की आयु में अपना सर्वस्व त्याग कर साधनापथ पर आरूढ़ हुए थे।

विश्व-कल्याणकारी उन महान् आचार्यप्रवर को कोटि-कोटि प्रणाम !

### वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार

ममस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् अपनी देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उनको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ

मद्वे य माहंगा जच्चा, मद्वे अजभावया विऊ।

मद्वे दुवाळसंगीआ, मद्वे चउदम पुड्विणो ॥६५७॥

[आवश्यक निर्युक्ति, अक्षयवृत्त, भाग २, पत्र ३३६ (२)]

अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में द्वादशांगी-सूत्र रूप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं।<sup>१</sup> द्वादशांगी का गरिणपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup> सूत्र गणधर-कथित या प्रत्येकबुद्ध-कथित होते हैं। वैसे श्रुतकेवलिक-कथित और अभिन्न दशपूर्वी-कथित भी होते हैं।<sup>३</sup>

यद्यपि विभिन्न तीर्थंकरों के धर्मशासन में तीर्थस्थापना के काल में ही गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नये सिरे से रचना की जाती है तथापि उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है क्योंकि अर्थ रूप से जैनागमों को अनादि-अनंत अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के ५८वें सूत्र में तथा समवायांगसूत्र के १८५वें सूत्र में कहा गया है :-

“इच्चेइयं दुवालसंगं गरिणपिडगं न कयाई नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुवि च भवइ य भविस्सइ य, धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठए निच्चे।”

समय-समय पर अंगशास्त्रों का विच्छेद होने और तीर्थंकरकाल में नवीन रचना के कारण इन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।<sup>४</sup> इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूप शास्त्रों में प्रतिपादित किये गये हैं। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर अमण भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, भगवान् की उस वारणी को अपने साथी अन्य सभी गणधरों की तरह आर्य सुधर्मा ने भी द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया।

ग्यारहों गणधरों द्वारा पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रथित बारह ही अंगों में शब्दों और शैली की न्यूनाधिक विविधता होने पर भी उनके मूल भाव तो पूर्णरूपेण वही थे जो भगवान् महावीर ने प्रकट किये।

पहले बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के ११ गणधरों की वाचनाओं की अपेक्षा से ६ गण थे और उनकी पृथक्-पृथक् ६ वाचनाएँ थीं। ११ में से ६ गणधर तो भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये। केवल इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ये दो ही गणधर विद्यमान रहे। उनमें भी इन्द्रभूति गौतम

<sup>१</sup> अर्थ भासइ अरहा, सुत्तं गंधंति गणहरा निउणं।

सासणस्स हियट्ठाए, तमो सुत्तं पवत्तइ ॥१६२॥

[आ० नियुक्ति, गा० १६२, धवला भा० १ पृ० ६४, ७२]

<sup>२</sup> “दुवालसंगं गरिणपिडगं”

[समवायांग सूत्र १ व १३६, नन्दी० ४०]

<sup>३</sup> सुत्तं गणहरकथिदं, तदेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।

सुदकेवलिका कथिदं, अभिण्णदसपुब्बकथिदं च ॥४॥

[मुनाचार, ५-८०]

<sup>४</sup> इच्चेइयं दुवालसंगं गरिणपिडगं युच्चिन्नियट्ठाए गारयं मगज्जवमियं, अवुच्चिन्नियट्ठाए

अणाइयं अणज्जवमियं।

[नन्दी सू०, सू०. ४२]

तो प्रभु की निर्वाणरात्रि में ही केवली बन गये और १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंप कर निर्वाण को प्राप्त हुए। अतः आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष दशों गणधरों की शिष्य-परम्परा और वाचनाएं उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई, आगे नहीं चल सकीं।

ऐसी अवस्था में भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके धर्मतीर्थ के उत्तराधिकार के साथ-साथ भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ और केवल आर्य सुधर्मा की ही अंगवाचना प्रचलित रही। बारहवें अंग दृष्टिवाद का अंग से बहुत समय पहले विच्छेद हो चुका है। अंग जो एकादशांगी उपलब्ध है, वह आर्य सुधर्मा की ही वाचना है। १ इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण आगमों में उपलब्ध हैं उनमें से कुछ प्रमाण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

आचारंग सूत्र के उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य में — “सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं।” अर्थात् — हे आयुष्मन् (जंबू) मैंने सुना है, उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है.....। इस वाक्य रचना से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस वाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु अपने शिष्य से वही कह रहा है जो स्वयं उसने भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सुना था।

आचारंग सूत्र की ही तरह समवायांग, स्थानांग, व्याख्या-प्रश्रुति आदि अंग-सूत्रों में तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अंगवाङ्मय श्रुत में भी आर्य सुधर्मा द्वारा विवेच्य विषय का निरूपण — “सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं” इसी प्रकार की शब्दावली से किया गया है।

अनुत्तरोपपातिक सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा आदि के आरंभ में और भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है :-

“.....तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, अज्ज सुहम्मस्स समोसरणं.....परिसा पडिगया ॥२॥

जंबू जाव पज्जुवासइ एवं वयासी जइणं भंते ! समरोणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अयमट्ठे पण्णात्ते, नवमस्स णं भंते ! अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं समरोणं जाव-संपत्तेणं के अट्ठे पण्णात्ते ॥३॥

तएणं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी — एवं खलु जंबू ! समरोणं जाव संपत्तेणं नवमस्स अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं तिण्णि वग्गा पण्णात्ता ॥४॥”

आर्य जम्बू ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा से समय-समय पर अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए पूछा — “भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने अमुक अंग का क्या अर्थ बताया ?”

अपने शिष्य जम्बू के प्रश्न के उत्तर में उन अंगों का अर्थ बताने का उपक्रम करते हुए आर्य सुधर्मा कहते हैं — “आयुष्मन् जंबू ! अमुक अंग का जो



अर्थ भगवान् महावीर ने फरमाया वह मैंने स्वयं ने सुना है। उन प्रभु ने अमुक अंग का अमुक अध्ययन का, अमुक वर्ग का यह अर्थ फरमाया है.....” अपने शिष्य जम्बू को आगमों का ज्ञान कराने की उपरिर्वर्णित परिपाटी सुखविपाक, दुखविपाक आदि अनेक सूत्रों में भी परिलक्षित होती है।

नायाधम्मकहाओ के प्रारम्भिक पाठ से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्तमान काल में उपलब्ध अंग-शास्त्र आर्य सुधर्मा द्वारा गुंफित किये गये हैं।<sup>१</sup>

आगमों में उल्लिखित — “उन भगवान् ने इस प्रकार कहा —” इस वाक्य से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इन आगमों में जो कुछ कहा जा रहा है उसमें किंचित्मात्र भी स्वकल्पित नहीं अपितु पूर्णरूपेण वही शब्दबद्ध किया गया है जो अमरण भगवान् महावीर ने उपदेश देते समय अर्थतः श्रीमुख से फरमाया था।

केवल धवला को छोड़कर सभी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि अर्थरूप में भगवान् महावीर ने उपदेश दिया और उसे सभी गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। आचार्य पूज्यपाद देवन्दी ने विक्रम की छठी शताब्दी में तत्त्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि की रचना की उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति से विभूषित सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर भगवान् के अतिशय बुद्धि सम्पन्न एवं श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरों ने अंग-पूर्व लक्षण वाले आगमों (द्वादशांगी) की रचना की।<sup>२</sup>

इसी प्रकार आचार्य अकलंकदेव (वि. ८वीं शती) ने तत्त्वार्थ पर अपनी राजवातिक टीका में<sup>३</sup> और आचार्य विद्यानन्द<sup>४</sup> (वि. ९वीं शती) ने अपने तत्त्वार्थ

<sup>१</sup> “तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्ज जंबू नामे अणगारे.....अज्ज सुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे,.....विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी जइएणं अंते समएणं भगवया महावीरेणं.....पंचमस्स अंगस्स अयमट्ठे पन्नत्ते छट्ठस्स एणं अंते! नायधम्मकहाएणं के अट्ठे पन्नत्ते? जंबूति अज्जसुहम्मो थेरे अज्ज जंबू नामं अणगारं एवं वयासी.....।”

[नायाधम्मकहाओ १-५]

<sup>२</sup> “तत्र सर्वज्ञेन परमविणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः।..... तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्ध्यतिशयबुद्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-अंगपूर्वलक्षणम्। [सर्वार्थसिद्धि १-२०]

<sup>३</sup> बुद्ध्यतिशयबुद्धियुक्तैः गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-आचार्यादि द्वादशविधमंगप्रविष्टमुच्यते।

[राजवातिक १-२० १२, पृ० ७२]

<sup>४</sup> (क) तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञबीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेः अहंभाषितार्थं गणधर देवैः ग्रथितम् इति वचनात्। [तत्त्वार्थश्लोकवातिक, पृ० ६]

(ख) द्रव्यश्रुतं हि द्वादशांगं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदहंत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरण-बीर्यान्तरायक्षयोपमशमातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमाप्तयत्नं न भवेत्? [तत्त्वार्थश्लोकवातिक]

श्लोकवाक्तिक में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है कि तीर्थंकर आगमों का अर्थतः उपदेश देते हैं और उसे सभी गणधर द्वादशांगी के रूप में शब्दतः ग्रथित करते हैं ।

धवला में यह मन्तव्य दिया गया है कि आर्य सुधर्मा को भ्रंगज्ञान इन्द्रभूति गौतम ने दिया । परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता । ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि धवलाकार की यह अपनी स्वयं की नवीन मान्यता है ।

श्वेताम्बर आचार्यों की ही तरह धवलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने सभी गणधरों को अर्थतः द्वादशांगी का उपदेश दिया । जयधवला में जब यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि आर्य सुधर्मा ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य जम्बूकुमार के साथ-साथ अन्य अनेक आचार्यों को द्वादशांगी की वाचना दी थी<sup>१</sup> तो यह कल्पना धवलाकार ने किस आधार पर की कि श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थतः द्वादशांगी का उपदेश सुधर्मादि अन्य गणधरों को न देकर केवल इन्द्रभूति गौतम को ही दिया ?

ऐसी स्थिति में अपनी परंपरा के प्राचीन आचार्यों की मान्यता के विपरीत धवलाकार ने जो यह नया मन्तव्य रखा है कि आर्य सुधर्मा को द्वादशांगी का ज्ञान भगवान् महावीर ने नहीं अपितु इन्द्रभूति गौतम ने दिया इसका औचित्य विचारणीय है ।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि अन्य गणधरों के समान आर्य सुधर्मा ने भी भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना की । अन्य दश गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने-अपने गण उन्हें सम्मूला कर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे अतः आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही प्रचलित रही और आज वर्तमान में जो एकादशांगी प्रचलित है वह आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित है । शेष गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी वीर निर्वाण के कुछ ही वर्षों पश्चात् विलुप्त हो गई ।

### द्वादशांगी का परिचय

समवायांग<sup>२</sup> और नन्दीसूत्र<sup>३</sup> में द्वादशांगी का परिचय दिया गया है ।

<sup>१</sup> तद्विसे चैव सुहम्माइरियो जंबूसामीयादीणमणोयाणामाहरियाणं वक्खाणिदुवालसंगे धाइचउवकखयेण केवली जादो । [जयधवा, पृ० ८४]

<sup>२</sup> मुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं ॥सू० १॥

इह खनु समणेषां भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं.....इमे दुवालसंगे गणिणिविड्ढे पणत्ते, तं जहा-आयारे, सुयगडे, ठाणं, समवाए, विवाहपन्नत्ति, नायाधम्म-कहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, असुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणं, विवागमुणं, दिट्ठिवाए । [समवायांग, प्रारम्भिक पाठ]

<sup>३</sup> .....अंगपविट्ठं दुवालसविहं पणत्तं । तं जहा-आयारे, सुयगडे, ठाणं, समवायो, अंतगडदसाओ, असुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणं, विवागमुयं दिट्ठिवाओ, ॥सू० ४४:। [नन्दीसूत्र]

समवायांग सूत्र में सागरोपम कोटाकोटि समवाय के पश्चात् बारह अंगों का क्रम और प्रत्येक का विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है।

केवल समवायांग ही नहीं अपितु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में द्वादशांगी का क्रम निम्नलिखित रूप में दिया गया है :-

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग (गोम्मटसार के अनुसार सुहृयङ्ग)
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति के अनुसार विपाकप्रज्ञप्ति)  
(गोम्मटसार के अनुसार-विकल्पापण्णत्ति)
६. ज्ञाताधर्मकथा (अंगपण्णत्ति के अनुसार ज्ञातृधर्मकथा)  
(गोम्मटसार के अनुसार-नाहस्स धम्मकहा)
७. उपासकदशा (अंगपण्णत्ति के अनुसार-उपासकाध्ययन)
८. अंतकृद्दशा (गोम्मटसार के अनुसार-अंतयडदसा)
९. अनुत्तरोपपातिक दशा (अंगपण्णत्ति के अनुसार-अनुत्तरोपत्पाद)
१०. प्रश्न व्याकरण
११. विपाकसूत्र (विपाकश्रुत, विवायसुय, विवागसुय और विवागसुत  
ये सभी समानार्थक नाम हैं।)
१२. दृष्टिवाद

### १. आचारांग

(१) आचारांग - में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, कर्मक्षयादि विनय के फल, कायोत्सर्ग, उठना-बैठना, सोना, चलना, धूमना, भोजन-पान-उपकरण की मर्यादा एवं गवेषणा आदि, स्वाध्याय, प्रतिलेखन आदि, पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन, दोषों को टाल कर शय्या, वसति, पात्र, उपकरण, वस्त्र, अशन-पानादि का ग्रहण करना, महाव्रतों, विविध व्रतों, तपों, अभिग्रहों, अंगो-पांगों के अध्ययनकाल में आचाम्ल आदि तप, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार - इन सब बातों का सम्यक् रूपेण विचार किया गया है।

आचारांग में वाचनान्, अनुद्योगद्वार, प्रतिपत्तियां वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तियां - ये सभी संख्यात हैं। अंगों के क्रम की अपेक्षा से आचारांग का प्रथम स्थान है अर्थात् यह प्रथम अंग माना गया है। श्रुत-पुरुष का प्रमुख अंग आचार होने के कारण भी इसे प्रथम अंग कहा गया है।

आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल एवं ८५ ही समुद्देशनकाल कहे गये हैं। इस प्रथम अंग में १८,००० पद, संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, और इसकी वर्णन परिधि में आने वाले अग्रगण्यतम त्रम एवं अनन्त स्थावर माने गये हैं।

पन्चीस अर्घ्ययनात्मक आचारांग के जो ८५ उद्देशन और ८५ समुद्देशनकाल माने गये हैं उसका कारण यह है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर ८५ उद्देशक होते हैं। उनमें से प्रत्येक उद्देशक का वाचनाकाल एक-एक मान कर उद्देशकों के अनुसार ही उद्देशनकाल कहे गये हैं, जो इस प्रकार है :-

प्रथम अर्घ्ययन के ७, दूसरे के ६, तीसरे और चौथे के चार-चार, पाँचवें के ६, छठे के ५, सातवें के ८, आठवें के ७, नौवें के ४, दशवें के ११, ग्यारहवें एवं बारहवें के तीन-तीन, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें - इन चारों के क्रमशः दो-दो उद्देशक तथा शेष ६ अर्घ्ययनों में से प्रत्येक के एक-एक उद्देशक। इस प्रकार कुल ८५ उद्देशकों के अनुसार उद्देशनकाल और समुद्देशनकाल भी ८५-८५ हैं।<sup>१</sup>

उपर्युक्त ये सभी जिनोक्त जीवादि पदार्थ जो द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से शाश्वत एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत हैं, उन सब का समस्त जीवों पर दया व उनके कल्याण की दृष्टि से आचारांग में समीचीन एवं समग्ररूपेण विवेचन किया गया है।

आचारांग में गद्य और पद्य इन दोनों ही शैलियों में प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन होने के कारण यह गद्य-पद्यात्मक अंगशास्त्र है। इसके त्रिष्टुभ, जगती आदि पद्य वैदिक पद्यों से पर्याप्त सादृश्य रखते हैं। वर्तमान में दोनों श्रुतस्कन्धरूप आचारांग का पद<sup>२</sup> - परिमाण २५०० श्लोक प्रमाण है।

<sup>१</sup> सत्त य छ चड चउरो, छ पंच अट्ठेव सत्त चउरो य।

एककारा ति ति दो दो, सत्तेक्क एक्को य ॥

[संग्रह गाथा]

गणना एवं छन्द की दृष्टि से चतुर्थ चरण में "सत्तेक्केक्क एक्को य" इस प्रकार का पाठ होना चाहिए।

- सम्पादक

<sup>२</sup> पद के परिमाण का पता लगाने के लिये पूर्वाचार्यों ने पूरा प्रयास किया है। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा १००३, अनुयोगद्वारवृत्ति, अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूरिण, दशवैकालिक की हारिभद्रिया वृत्ति (अर्घ्ययन १ की गाथा १) तथा श्रीलंकाचार्य-कृत आचारांग-वृत्ति (श्रुतस्कन्ध १, सूत्र १) में पद शब्द पर प्रकाश डाला गया है। पर शास्त्रों में प्रयुक्त 'पद' का युक्तिसंगत वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि को पहले कर्मग्रन्थ की ७वीं गाथा के अन्तर्गत 'पद' की व्याख्या करते समय लिखना पड़ा कि "जिससे पूरे अर्थ का बोध हो उसे 'पद' माना गया है।" दिगम्बरपरम्परा के मान्य ग्रन्थ "अंग पण्णात्ती" में एकादशांगी के कुल श्लोकों और पदों की जो संख्या दी है उसके अनुसार श्लोक-संख्या में पदसंख्या का भाग लगाने पर ५१०८८४६२१ श्लोकों का एक पद बनता है। ऐसी स्थिति में द्वादशांगी में प्रयुक्त पद के परिमाण के सम्बन्ध में आज हमारे समक्ष ऐसी कोई सर्वमान्य परम्परा नहीं है जिससे कि पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके।

- सम्पादक

समवायांग सूत्र<sup>१</sup> और नन्दी सूत्र<sup>२</sup> के मूल पाठ में आचारांग की (दोनों श्रुतस्कन्धों को मिला कर) पदसंख्या उल्लिखित है। इसके विपरीत आचारांग निर्युक्तिकार<sup>३</sup>, आचारांग - वृत्तिकार शीलाकाचार्य और समवायांग की टीका में नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि<sup>४</sup> आदि ने आचारांग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसंख्या १८,००० मानी है। इस सम्बन्ध में यथास्थान आगे विवेचन किया जायगा।

### प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम नवब्रह्मचर्य है और इसमें निम्न-लिखित ६ अध्यायन हैं :-

शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, लोकसार (श्रावन्ति), घृत, महापरिज्ञा, विमोक्ष (विमोह) और उपधानश्रुत। आचारांग सूत्र में ये ६ अध्यायन इसी क्रम से दिये हुए हैं। आचारांग निर्युक्तिकार<sup>५</sup> तथा वृत्तिकार

<sup>१</sup> (क) से एं अंगट्टाए पइमे अंने दो सुयक्खंघा, पणवीसं अज्जमयणा, पंचासीइं उहंसएकाला, पंचासीइं समुहंसएकाला, अट्ठारस पयसहस्साइं पयग्गेएणं

[समवायांग, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ६५७]

(ख) आयारस्स एं भगवधो सत्तुमिधागस्स भट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेएणं पणएताइं - वही, पृ० २३२

<sup>२</sup> से एं अंगट्टाए पइमे अंने, दो सुयक्खंघा, पणवीसं अज्जमयणा, पंचासीइं उहंसएकाला, पंचासीइं समुहंसएकाला, अट्ठारस पयसहस्साइं पयग्गेएणं.

[नन्दी सूत्र, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ५४८]

<sup>३</sup> नव बंभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वेधो ।

हवइ य सपंच जूलो बहु - बहुसरधो पयग्गेएणं ॥

[आचारांग निर्युक्ति]

<sup>४</sup> स च नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूपः तस्यैव चेदं पदप्रमाणं न ज्ञानाम्, यथाह - "नव बंभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वेधो, हवइ य सपंच जूलो बहु-बहुसरधो पयग्गेएणं ॥१॥ ति । यच्च सत्तुमिकाकस्येति विशेषणं तत्तस्य जूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् न तु पदप्रमाणाभिधानार्थम् । यतोऽत्रात्रिं नन्दी टीकाकृता - "अट्ठारस पयसहस्साणि पुए पइमसुयक्खंघस्स, नव बंभचेरमइयस्स पमाएणं विचित्तत्याणिय सुत्ताणि बुक्खएसधो तेसि अत्थो जाणिअन्धो । [समवायांग टीका (आचार्य अभयदेव सूरि)]

<sup>५</sup> शस्त्रपरिष्णा शोगच्चिजधो य शीउसणिएज्ज सम्मत्तं ।

तह भोवसार नामं, घुत्तं तह महापरिष्णा य ॥ ३१ ॥

अट्ठअए य विमोक्खा उन्हाएण सुयं च नवमगं भणिएणं ।

..... ॥ ६२ ॥

[ आचारांग निर्युक्ति ]

शीलांक ने भी अध्ययनों का यही क्रम दिया है। स्थानांग<sup>१</sup> और समवायांग<sup>२</sup> में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवें स्थान पर न रख कर नवम स्थान पर रखा गया है। नदिसूत्र<sup>३</sup>की हारिभद्रीया तथा मलयवृत्ति में महापरिज्ञा अध्ययन को आठवें और उपधानश्रुत को नौवें स्थान पर रखा है। इस प्रकार इन अध्ययनों के क्रम में थोड़ा बहुत अंतर उपलब्ध होता है पर संख्या में कहीं कोई अंतर नहीं दिया गया है।

६ अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध में पांच प्रकार के आचार—ज्ञान आचार, दर्शन आचार, चारित्र्य आचार, तप आचार और वीर्य आचार का वर्णन किया गया है।

### प्रथम अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्ध के शस्त्र-परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में ७ उद्देशक हैं, जिसमें विश्वबन्धुत्व का सजीव चित्र खींचते हुए बताया गया है कि प्रत्येक जीव अपने ही समान चेतना वाला है और सब को अपना-अपना जीवन प्रिय है अतः प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझ कर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय में से किसी भी जीव की हिंसा करना दुर्गति और अनन्त भवभ्रमण का कारण है। वनस्पति काय की सजीवता बताने के लिये अध्ययन में मनुष्य-देह के साथ वनस्पति की तुलना की गई है।

प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा रखा गया है, उसका अर्थ यह है कि द्रव्य-शस्त्र-लाठी, तलवार, तोप आदि तथा भाव-शस्त्र काम, क्रोध, मद, मोहादि की भयंकरता एवं उनके द्वारा अजस्ररूपेण वृद्धिगत होने वाले अनन्त भवभ्रमण के भयावह स्वरूप को समझ कर द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र दोनों प्रकार ने शस्त्रों का परित्याग करना। द्रव्य और भावशस्त्रों को जान कर उनका परित्याग करना साधना का प्रथम चरण और मुक्ति का प्रथम सोपान है।

### द्वितीय अध्ययन

दूसरे "लोकविजय" नामक अध्ययन में ६ उद्देशक हैं। लोकविजय का अर्थ है लोक अर्थात् संसार पर विजय। लोक दो प्रकार का है—पहला, चार प्रकार की गतियों में भ्रमण रूप द्रव्यलोक, और दूसरा राग-द्वेषादि भावलोक। राग-द्वेषादि भावलोक के कारण ही जीव चतुर्गतिरूप द्रव्यलोक में परिभ्रमण करता है। इस अध्ययन में राग-द्वेष-विषय-कषायदि पर विजय प्राप्त करके लोक अर्थात् भवभ्रमण पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। इसमें संसार के बीजरूप मूल कारण क्रोध, मान, माया व लोभ का नाश कर वैराग्य एवं संयम में दृढचित्त होने तथा सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों में ममत्वत्याग का निर्देश

<sup>१</sup> एव बभचेरा पण्णत्ता तज्जहा — सत्यपरिष्ठा, लोकविजयो जाव उवहाणसुयं महापरिष्ठा ।  
[स्थानांग सूत्र, स्थान ६]

<sup>२</sup> आयारत्स गां भगवधो सच्चुलिभागस्स पण्णवीसं अज्जमग्गा पण्णत्ता तज्जहा—  
सत्यपरिष्ठा लोकविजयो सीओसणीअ सम्मत्तं ।  
आवति धुय विमोह उवहाणसुयं महापरिष्ठा ॥ [समवायांग, समवाय २५]

है। इसके साथ ही साथ इसमें साधक को अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव रखने और संयमपालन के मार्ग में आने वाली बाधाओं पर विजय प्राप्त कर आत्मलक्षी बनने का उपदेश है।

### तृतीय अध्ययन

तीसरे शीतोष्णीय नामक अध्ययन में ४ उद्देशक हैं। शीत का अर्थ है अनुकूल परीषह और उष्ण का अर्थ प्रतिकूल परीषह। इस अध्ययन में साधनापथ के पथिक-भिक्षु को उपदेश दिया गया है कि वह अनुकूल परीषहजन्य सुख की स्थिति में अथवा प्रतिकूल परीषहजन्य दुःख की स्थिति में समभाव रखते हुए साधनापथ पर निरन्तर गतिशील रहे। इसके प्रथम उद्देशक में असंयमी को सुप्त की संज्ञा दे कर द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि सुप्त व्यक्ति निरन्तर घोर दुःख भोगते रहते हैं। इसके तृतीय उद्देशक में देह-दमन के साथ-साथ श्रमण के लिये वित्तशुद्धि करना परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य बताया गया है। चौथे उद्देशक में कषाय तथा पापकर्म के त्याग एवं संयम में उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते रहने का उपदेश है।

निधुक्तिकार द्वारा भी तृतीय अध्ययन के इन चारों उद्देशकों का विषयक्रम उपर्युल्लिखित रूप में ही बताया गया है और यही विषयक्रम वर्तमान में उपलब्ध होता है।

### चतुर्थ अध्ययन

चौथे अध्ययन का नाम सम्यक्त्व अध्ययन है। सम्यक्त्व का अर्थ है शाश्वत सत्य धर्म में विश्वास, आस्था-श्रद्धा-निष्ठा। इस चौथे सम्यक्त्व नामक अध्ययन में ४ उद्देशक हैं। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में शाश्वत सत्य धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है— “अतीत, वर्तमान और आगामी काल के सभी अर्हन्तों-तीर्थंकरों का यही कथन है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की न तो हिंसा करनी चाहिए न करवानी ही चाहिए और न उसको किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचानी चाहिए। अहिंसा रूप यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। सम्पूर्ण लोक के समस्त जीवों के दुःखों को जानने वाले महा-पुरुषों ने इस (धर्म) का वर्णन किया है। यह अहिंसामूलक धर्म उन सब लोगों को सुनाना चाहिए जो इसको सुनने के लिये उद्यत अथवा अनुद्यत, उपस्थित अथवा अनुपस्थित, मन, वचन एवं काय रूप दण्ड से उपरत अथवा अनुपरत, सोपधिक अथवा निरुपधिक और संयोगरत अथवा संयोग से उपरत हों, क्योंकि यही सच्चा धर्म है, यही मोक्षप्रदायी है।”<sup>१</sup>

<sup>१</sup> से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अररहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविति, एवं परुविति—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिषित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्वेयव्वा, एस धम्मो सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोयं खेयणोहि पवेइए, तंजहा—उट्ठिएसु वा अगुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अगुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अगुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेयं तथा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ ॥२२७॥

प्रयाह सागर तुल्य जैन दर्शन को इस एक ही सूत्र रूप गागर में समाविष्ट कर दिया गया है। सच्ची मानवता का प्रतीक यह सूत्र जैन धर्म को विश्व धर्म के गौरवगरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिये पर्याप्त है।

द्वितीय उद्देशक में आश्रव एवं संवर द्वारों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आश्रव एवं संवर एकान्ततः स्थान और क्रिया पर नहीं अपितु मूलतः साधक की क्रमशः शुभाशुभ तथा विशुद्ध भावना पर निर्भर करते हैं अतः साधक को राग द्वेष से रहित विशुद्ध भावना रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह भाव-विशुद्धि द्वारा नये कर्मों के प्रागमन को रोकने के साथ-साथ पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने के लिये यथाशक्य तप-साधना में निरत रहे।

चौथे उद्देशक में साधनामार्ग को कठोर और वीरों का मार्ग बताते हुए साधक को उपदेश दिया गया है कि वह समस्त ऐहिक सुखों और अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर सम्यक्त्व द्वारा अहिंसा, संवर और निर्जरा पर प्राप्त हुई अपनी श्रद्धा को सदा अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करता रहे। चारों उद्देशकों का यही विषयक्रम निर्युक्ति एवं वृत्ति में निदिष्ट है और यही क्रम आचारांग में आज भी विद्यमान है।

#### पंचम अध्यायन

पाँचवें अध्यायन का नाम लोकसार अध्यायन है। इसके आदि, मध्य और अंत में 'भावंति' शब्द आया है इस दृष्टि से इसका दूसरा नाम 'भावंति अध्यायन' भी रखा गया है। इसमें समग्र लोक के सारभूत धर्म-धर्म का निरूपण करते हुए बताया गया है कि लोक में सारभूत-तत्त्व धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार मोक्ष है। प्रस्तुत अध्यायन में ६ उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में प्राणिहिंसा को कर्मबन्ध एवं भवभ्रमण का कारण बताते हुए कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति किसी प्रयोजन अथवा बिना किसी प्रयोजन के प्राणियों की हिंसा करता है, वह निरन्तर उन्हीं जीवों में धूमता हुआ दुस्सह दुःखों का अनुभव करता है। हिंसा, संशय एवं भोगों का परित्याग किये बिना कोई प्राणी संसारसागर से पार नहीं हो सकता।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि सभी प्राणी जीना और सुखी रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, अतः सच्चा मुनि बही है जो किसी जीव की हिंसा नहीं करता और हिंसाजन्य पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सर्वथा अपरिग्रही रह कर कामोन्मुख एवं भोगासक्त अपनी आत्मा के साथ युद्ध करते हुए अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करे। बाह्य युद्धों को अनार्य-युद्ध की संज्ञा देते हुए आत्म-विजय हेतु किये जाने वाले युद्ध को ही आर्य-युद्ध एवं सच्चा युद्ध बताया गया है।



चतुर्थ उद्देशक में उस मुनि के लिये एकाकी विचरण वर्जनीय बताया गया है जो कि वय एवं ज्ञान की दृष्टि से अपरिपक्व अथवा परीषहों को सहन करने में सक्षम न हो ।

पंचम उद्देशक के प्रारम्भ में आचार्य की उस निर्मल जल से भरे उपशान्त जलाशय से तुलना की गई है जो अपने स्वच्छ जल से समस्त जलचर जन्तुओं की रक्षा करते हुए समभूमि में अवस्थित है । इसमें बताया गया है कि आचार्य भी उस स्वच्छ जलपूर्ण जलाशय के समान सदगुणों से श्रोतःश्रोत, उपशान्त, मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाले, प्रबुद्ध, तत्वज्ञ, और श्रुत से अपना तथा परका कल्याण करने वाले हैं । जो साधक संशय रहित हो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्वज्ञान को सत्य समझ कर ऐसे महर्षियों की आज्ञानुसार संयम का पालन करता है वह समाधि को प्राप्त करता है ।

इस पांचवें उद्देशक के पांचवें सूत्र में हिंसा से उपरत रहने का जिन मार्मिक और अन्तस्तलस्पर्शी शब्दों में जो महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है वह उस रूप में संभवतः अन्यत्र विश्व के किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं होगा । इसमें बताया गया है — '(ओ मानव ! ) जिसे तू मारने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू अपना आज्ञावर्ती बनाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप पहुंचाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू पकड़ने-बांधने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू प्राणों से वियोजित कर देने योग्य समझता है वह भी तू ही तो है । इस प्रकार के वास्तविक तथ्य को पहिचान कर प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा के समान समझने वाला सरलवृत्ति युक्त साधु किसी भी जीव की न तो स्वयं हिंसा करे न किसी दूसरे से हिंसा करवाये और न किसी प्राणी की हिंसा का अनुमोदन ही करे । दूसरे की हिंसा के फलस्वरूप होने वाला घोर दुःख मेरी आत्मा को ही भोगना पड़ेगा इस प्रकार का विचार कर बुद्धिमान् अपने मन में किसी प्राणी की हिंसा का विचार तक न आने दे ।'

इस सूत्र में निहित उद्बोधन के माध्यम से स्पष्टरूपेण प्रत्येक प्राणी को सतर्क किया गया है कि किसी प्राणी के वध, बन्धन, उत्पीड़न आदि का-विचार करना वस्तुतः स्वयं का वध, बन्धन, उत्पीड़न करना है । इस प्रकार के विचार करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम स्वयं ही अपने विचारों का निशाना बनता है । क्योंकि दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुंचाने के संकल्पमात्र से, इस प्रकार का संकल्प करने वाले प्राणी के आत्मगुणों का हनन हो जाता है । आत्मगुणों का हनन वस्तुतः आत्मघात तुल्य है ।

<sup>1</sup> तुमसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमसि नाम सच्चेव जं परिव्यावेयव्वंति मन्नसि एवं जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्देयंति मन्नसि अन्नं चयं पड्डिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि धायए, अणुसवेयणमप्पाणोणं जं हंतव्वं नाभित्थए ।

छट्टे उद्देशक में बताया गया है कि जो साधक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित संयमधर्म का अपने आचार्य की आज्ञानुसार अप्रमत्तरूप से निरन्तर पालन करता है और सब प्रकार के कर्मबन्धों के भाव-स्रोतों से पूरी तरह बचते हुए साधनारत रहता है वह क्रमशः चार घातिकर्मों का क्षय कर अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से निर्मुक्त हो निरञ्जन-निराकार, सन्निदानन्दस्वरूप सिद्धत्व को प्राप्त करता है। इसमें सिद्ध भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है—  
 “वह जन्म-मरण के मार्ग से परे, मुक्तावस्था में रत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय, तर्क द्वारा अग्रम्य, मति द्वारा अग्राह्य, केवल विशुद्ध चैतन्य, अनन्त ज्ञान-दर्शनयुक्त, अनन्त अक्षय सुख एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न, मोक्ष का क्षेत्रज्ञ, परमपद का अध्यासी, है। न वह दीर्घ है न ह्रस्व, न वर्तुलाकार, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमंडलाकार, न कृष्ण, न नील, न रक्तवर्ण, न पीत, न श्वेत, सुगन्ध एवं दुर्गन्ध रहित, न तिक्त, न कटु, न कषायरस वाला, न खट्टा, न मधुर, कर्कश अथवा कोमल स्पर्श रहित, न भारी न हल्का, न उष्ण न शीत, न स्निग्ध, न रूक्ष, काया-लेश्या तथा कर्मबीज से रहित, नितान्त निस्संग, न स्त्री, न पुरुष और न नेपुंसक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, निरुपम, अरूपी सत्ता वाला और अपद होने के कारण वह सिद्ध भगवान् किसी भी पद के द्वारा अनिर्वचनीय-अनिरूपणीय है।”

### छट्ठा अध्ययन

छट्टे अध्ययन का नाम धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है किसी वस्तु पर लगे मैल को दूर करके उसे स्वच्छ बना देना। इस अध्ययन में आत्मा पर लगे कर्म-मैल को तप-संयम द्वारा दूर कर आत्मा को समुज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है। इस अध्ययन के ५ उद्देशक हैं।

इसके प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि जिस प्रकार शैवाल से समाच्छादित जलाशय का कछुआ बाहर की वस्तुओं एवं बाहर जाने के मार्ग को नहीं जान सकता, जिस प्रकार एक वृक्ष अपना अधोभाग पृथ्वी में गड़ा हुआ झोने के कारण शीतोष्णादि संकटों से अपना बचाव करने हेतु अच्यन्त नहीं जा सकता,

१ अच्चेइ जाईमरगस वट्टमगं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्ठति, तक्का जत्थ न विण्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्ठे न तंसे न चउरसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिदे न सुक्किल्ले न सुरभिग्घे न दुरभिग्घे न तित्ते न कडुए न कसाए न अबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न मोए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सग्गे उवमां न विज्जए, अरुवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ॥

[आचारंग सूत्र, अ० ५ उ० ६, सू० १७१]

मुण्डकोपनिषद्, १, १, ६ में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन है :-

यनदद्रेष्यमग्राह्यमगोत्रमवर्गुमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसुधमं तदव्ययं तद्भूनयोनिं परिपश्यति धीराः ।

—सम्पादक

उसी प्रकार मोह में आसक्त व्यक्ति न तो सत्य-मार्ग को देख सकता है और न प्रशस्त पथ पर चल कर शान्ति के स्थल पर ही पहुंच सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप वह जन्म-मरण और संसार के दुःखों की चक्की में निरन्तर घिसता रहता है। अतः साधक को चाहिये कि वह सांसारिक मोह एवं आसक्ति से सर्वथा बचा रह कर सदा साधनारत रहे।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि जो साधक परीषहों से डर कर साधुत्व एवं वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक, रजोहरणादि संयमसाधना के उपकरणों का परित्याग कर देते हैं वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहते हैं और जो साधक परीषहों को समभाव से सहन करते हुए संयमपूर्वक साधना में निरत रहते हैं वे अन्ततोगत्वा संसारसागर को पार कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

तृतीय उद्देशक में साधु को उपदेश दिया गया है कि वह धर्मोपकरणों के अतिरिक्त अन्य उपकरणों को कर्तव्य का कारण समझे। वह कभी मन में इस प्रकार का विचार न करे कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है अतः नये वस्त्र को याचना करूंगा, अथवा सूई-धागे की याचना कर फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा अपितु वह उन धीर-वीर महापुरुषों के चरित्र का चिन्तन करे, जिन्होंने निर्वस्त्र रह कर अनेक वर्षों अथवा वर्षों तक संयम-मार्ग में स्थिर रह परीषहों को सहन कर परमपद प्राप्त किया। साधक उन महापुरुषों की तरह परीषहों को सहन करने की शक्ति अपने अन्तर में उत्पन्न करने की कामना करे। परीषहों को सहन करते-करते जिस साधक की भुजाएं कृश हो जाती हैं, मांस तथा रुधिर स्वल्प मात्रा में अवशिष्ट रह जाता है और जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर समत्वभाव प्राप्त कर लिया है वह साधक संसारसागर को पार कर लेता है। इसके पश्चात् संयमनिष्ठ साधु को असन्दीन (जल से कभी न भरने वाले) द्वीप की उपमा देते हुए सब जीवों की रक्षा करने वाला तीर्थंकरप्रणीत धर्मतीर्थस्वरूप बताया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में बताया गया है कि जो साधु ज्ञान और आचार दोनों से ही भ्रष्ट हो जाते हैं वे अनन्त काल तक भवभ्रमण करते हुए संसार में भटकते रहते हैं अतः साधक को चाहिये कि वह अर्हनिश ज्ञान और क्रिया की साधना में निरत रह कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता रहे।

पंचम उद्देशक में उपदेष्टा के लक्षणों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि उपदेष्टा वस्तुतः कष्टसहिष्णु, वेदवित् अर्थात् आगमज्ञान में निष्णात, सर्वभूतानुकम्पी, सकल चराचर जीवनिकाय का श्रेष्ठभूत हो। उसका उपदेश समष्टि के लिये और समष्टि का हितसाधक तथा शान्ति, क्षमा, अहिंसा, विरति, कषायों के उपशमन, निर्वाण, निर्दोष व्रताचरण, सरलता, मृदुता एवं लाघवता आदि विषयों पर आगमानुसार होना चाहिये। उपदेश देते समय मुनि स्वयं की तथा अन्य की आशातना-अवहेलना न करे। जिस प्रकार धीर, वीर योद्धा संग्राम में सबसे आगे रह कर शत्रुओं के साथ घोर युद्ध करता हुआ विजय प्राप्त करता

है उसी प्रकार साधक घोरातिधोर परीषहों को निर्भय और स्थिरभाव से सहन करते हुए मृत्युकाल उपस्थित होने पर पादोपगमन आदि अनशन कर जब तक आत्मा शरीर से पृथक् न हो जाय तब तक आध्यात्मिक चिन्तन में स्थिरभाव से दत्तचित्त रहे।

### सातवां अध्ययन

सात उद्देशकों वाला "महापरिज्ञा" नामक सातवां अध्ययन वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके अन्तर्गत किन-किन विषयों पर विवेचन किया गया था इस पर साधिकारिक रूपेण कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। यह महापरिज्ञा अध्ययन किस समय विलुप्त हुआ, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विक्रम संवत् ५६२ के पश्चात् विक्रम सं० ६३३ से पहले किसी समय में महापरिज्ञा अध्ययन उच्छिन्न हुआ होगा।

शीलाचार्य अपर नाम तत्त्वादित्य<sup>१</sup> ने शक संवत् ७६८ की वैशाख शुक्ला ५ के दिन आचारांग की टीका का लेखन सम्पूर्ण किया।<sup>२</sup> आचारांग सूत्र की टीका में प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका सम्पूर्ण करने के पश्चात् लिखा है— "छठे अध्ययन की टीका समाप्त हुई। अब सातवें अध्ययन की टीका करने का अवसर समुपस्थित है किन्तु सातवां अध्ययन विच्छिन्न हो चुका है अतः उसे छोड़ कर आठवें अध्ययन के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।"<sup>३</sup>

आचारांग टीका में उपलब्ध उपरोक्त उल्लेखों से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि शक सं० ७६८ तदनुसार विक्रम सं० ६३३ में महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान नहीं था और उससे पहले ही यह विलुप्त हो चुका था।

अब यह देखना है कि महापरिज्ञा अध्ययन किस समय तक विद्यमान था। आज दुर्भाग्यवश महापरिज्ञा अध्ययन तो उपलब्ध नहीं पर सौभाग्य से इस पर लिखी हुई नवगाथात्मक निर्युक्ति उपलब्ध है।

आचारांग-निर्युक्ति में महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के विलुप्त होने का कोई उल्लेख न होना और उसमें इस अध्ययन की निर्युक्ति का अस्तित्व, इन दो प्रबल प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्ति की रचना के समय निर्युक्तिकार के समक्ष महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था।

<sup>१</sup> ब्रह्मचर्याख्य श्रुतस्कन्धस्य निर्वृत कुलीनश्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधु-सहायेन कृता टीका परिसम्पन्नेति श्लोकतो ग्रन्थमानं ६७६।

[आचारांग, प्र० ध्रु० स्कं०, शीलाकाचार्यकृत टीका, पृ० ४२७]

<sup>२</sup> शकवृषकालातीतसंत्सरभूतेषु सप्तसु अष्टानवतीत्यधिकेषु वैशाखशुक्ल पंचम्यां २ आचार-टीका कृतेति। [वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पृ० २८१]

<sup>३</sup> उक्तं षष्ठमध्ययनमधुना सप्तब्राह्मयनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरस्तच्च व्यवच्छिन्नमितिकृत्वातिलघ्याष्टमस्य संबन्धो वाच्यः। [वही, पृ० ३४२ : धनपतिसिंह आगमसंग्रहः]

इस तथ्य के स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचारांग-निर्युक्ति की रचना किस समय की गई? परम्परागत जनश्रुति के आधार पर बहुत प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने आचारांगादि १० सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की। श्रुतकेवली भद्रबाहु का आचार्यकाल वीर नि० सं० १५६ से १७० तक का है। निर्युक्तियों में उल्लिखित अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं और व्यक्तियों से सम्बन्धित विवेचनों पर गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन के पश्चात् प्रत्येक निष्पक्ष विचारक की यह निश्चित धारणा बन जाती है कि परम्परागत मान्यता के अनुसार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु भले ही मूल निर्युक्तियों के रचनाकार रहे हों पर वर्तमान में जो स्वरूप इन निर्युक्तियों का उपलब्ध होता है, वह स्वरूप विक्रम सं० ५६२ के आस-पास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु ने प्रदान किया। इसी ग्रन्थ के आगे के श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण में एतद्विषयक महत्वपूर्ण तथ्यों पर यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

उपर्युल्लिखित तथ्यों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचारांग सूत्र का महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन निर्युक्तियों को अन्तिम रूप देने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु के समय में वि० सं० ५६२ तक विद्यमान था और इसके पश्चात् वि० सं० ५६२ से वि० सं० ६३३ के बीच की ३७१ वर्ष की अवधि में किसी समय वह लुप्त हो गया।

### विषय-वस्तु

यह तो पहले बताया जा चुका है कि महापरिज्ञा अध्ययन में किन-किन विषयों का समावेश था, यह आधिकारिक रूप से विस्तारपूर्वक नहीं बताया जा सकता क्योंकि मूलतः यह अध्ययन विलुप्त हो चुका है। फिर भी प्रथम श्रुत-स्कन्ध के अध्ययनों की विषय-परिचायिका गाथाओं में, और शीलांकाचार्यकृत इनकी टीका में किञ्चित् संकेत के रूप में और आचारांग निर्युक्ति में उसकी अपेक्षा थोड़े विस्तार के साथ महापरिज्ञा अध्ययनान्तर्गत विषय का परिचय दिया गया है।

आचारांग निर्युक्ति में प्रथम श्रुतस्कन्ध के ६ अध्ययनों के विषय का परिचय देते हुए सातवें महापरिज्ञा अध्ययन का विषय बताया गया है— “मोहजन्य परीषह उपसर्ग”<sup>१</sup> इस गाथा-पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है “संयमादि गुण युक्त साधु के समक्ष यदि कभी मोहजन्य

<sup>१</sup> जियसंजमो य लोयो, जह वज्जह जह य तं पज्जहियव्वं ।

सुहदुखवतितिव्वा वि य, संसत्तं लोणसारो य ॥३३॥

निससंगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसर्ग. ।

निज्जाणं अट्ठमा, नवमे य जिणेषा पर्यति ॥३४॥

[आचारांग-निर्युक्ति, (प्रथम श्रुतस्कन्ध)]

परीषद् अथवा उपसर्ग उत्पन्न हो जाय तो उसे चाहिये कि वह उन्हें दृढ़ता के साथ समीचीन रूपेण सहन करे ।<sup>१</sup>

आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन पर जो ६ गाथाएं दी हुई हैं उनमें से पहली दो गाथाओं में यह बताया गया है कि साधक अपनी दैनंदिनी क्रिया से लेकर अंतक्रिया संलेखना तक में अपने सम्मुख उपस्थित होने वाले अनुकूल परीषद्ओं तथा साध्वाचार के समस्त अतिचारों को उत्कृष्ट कोटि के आदर्श एवं विशिष्ट ज्ञान से समझ कर उनसे किंचित्मात्र भी विचलित न होते हुए संयममार्ग में स्थिर रहे ।

इनसे आगे की तीन गाथाओं में बताया गया है कि महा शब्द का प्राधान्य अर्थ में और परिमाण अर्थ में भी प्रयोग होता है । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की दृष्टि से जो प्राधान्यता में महान् हों वहां महा शब्द प्राधान्यता का द्योतक और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से जहां, आकार, प्रकार, परिमाण, भार आदि का बोध कराने के लिये महा शब्द का प्रयोग किया जायगा वहां वह परिमाण का बोधक होगा ।

इससे आगे की तीन गाथाओं में परिज्ञा के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से भेद उपभेद बताने के पश्चात् भावपरिज्ञा को मूलगुण एवं उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का, मूल गुण भावपरिज्ञा को पांच प्रकार का और उत्तर गुण भावपरिज्ञा को दो प्रकार का बताया गया है और यह कहा गया है कि प्राधान्यता की दृष्टि से दोनों प्रकार की परिज्ञाओं में जो सर्वोत्तम परिज्ञान होता है उसे महापरिज्ञा कहते हैं ।

इस अध्ययन की निर्युक्ति की अंतिम गाथा में साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह मन, वचन और काय से पूर्णतया देवांगना, मानवांगना एवं तिर्यचांगना का परित्याग करे ।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> सप्तमः स्वयं-संयमादि गुणयुक्तस्य कदाचित्तोहसमुत्था परीषद्दोषसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सत्तु ततोऽप्यथा । [आचारांग, शीलाकाचार्यकृत टीका, पृ० ८]

<sup>२</sup> सत्तु ततोऽप्यथा तिष्ठिणपलिया, सीयंपरीसह हीयासणं धुवणं ।  
सुईमादियाणं, सन्निही अट्ठवडिया ॥६०॥  
आसदीय अकरणं उवएसणं निकायणा चेव ।  
संलेहणिया रोया, भत्तपरिणंतकिरिया य ॥६१॥  
पाहत्थे महासद्दो परिमाणो चेव होइ नायब्बो ।  
पाहणे परिमाणे य छब्बिहे होइ निक्खेवो ॥६२॥  
दब्बे खेत्ते काले, भावमि य हांति या पहाणाउ ।  
तेसि महासद्दो खलु, पाहणेणं तु निप्पन्तो ॥६३॥

महापरिज्ञा अध्ययन पर दी हुई उपरिलिखित ६ निर्युक्ति-गाथाओं से इस अध्ययन के विषय पर स्पष्ट रूप से पूर्ण प्रकाश तो नहीं पड़ता पर इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस अध्ययन में साधक को अपने सम्पूर्ण साधक जीवन में प्रतिपल प्रतिपद पर सजग रहने, साधवाचार तथा साधवाचार के अतिचारों को विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा भलीभांति समझकर तीव्र मोह के उदय से उत्पन्न सभी प्रकार के यौन अथवा अन्य परीषहों एवं उपसर्गों से किञ्चित्मात्र भी चलित न हो ब्रह्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ और संयमनिष्ठ रहने का उपायों सहित उपदेश दिया गया था ।

लुप्त हुए "महापरिज्ञा" अध्ययन में किन-किन विषयों का निरूपण किया गया था इस सम्बन्ध में उपर्युल्लिखित टीका, वृत्ति एवं निर्युक्ति के उल्लेखों के अतिरिक्त एक और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति तथा टीका में उपलब्ध होता है । उसमें यह बताया गया है कि आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की "सप्तसप्तिका" नाम की द्वितीया चूला के सातों अध्ययनों की रचना आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के सातों उद्देशकों के आधार पर की गई है ।<sup>१</sup>

निर्युक्तिकार और टीकाकार, दोनों ने ही आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को आचारांग और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र बताते हुए कहा है कि नव-ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारांग में साधुओं के जानने योग्य सभी बातें नहीं बताई जा सकी हैं तथा अनेक बातें संक्षेप में बताई गई हैं । शिष्यों को उन सब आवश्यक ज्ञेय वस्तुओं का स्पष्टरूपेण बोध हो जाय इस दृष्टि से चतुर्दशपूर्वधर स्थविरों ने

दब्बे खेत्ते काले भावमिय जे भवे महंताउ ।

तेसु महासद्दो खलु, पमाणउ होंति निष्पण्णो ॥६४॥

दब्बे खेत्ते काले, भावे परिण्णया य बोधब्बा ।

जाण्ण उववक्खणउ य, दुविहा पुणेक्केषका ॥६५॥

भावपरिण्णया दुविहा, मूलगुणे वेव उत्तरगुणे य ।

मूलगुणे पंचविहा, दुविहा पुण उत्तरगुणेसु ॥६६॥

पाहण्ण उपमयं भाव, परिण्णयाए तह य दुविहाए ।

परिण्णयासेसु पहाणे, महापरिण्णया तउ होइ ॥६७॥

देवीणां मग्गुईणां, तिरिक्खजोणिगयाण इत्थीणां ।

तिविहेण परिव्वाउ, महापरिण्णयाए निज्जुत्ती ॥६८॥

[आचारांग-निर्युक्ति (प्रथम श्रुतस्कन्ध) ]

<sup>१</sup> सत्तेकारिण सत्तवि, सिज्जूढाई महापरिण्णयाओ ।.....॥६॥

[आचारांग निर्युक्ति, श्रुत० २]

(ख) तथा महापरिज्ञाध्ययन सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निव्यूढाः ।

[शीलांकाचार्यकृत आचारांग टीका, पृ० ४]

उन नवब्रह्मचर्याध्ययनों में से, उक्त, अनुक्त अथवा संक्षेप से कही गई बातों को लेकर द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप आचारांग की विस्तारपूर्वक रचना की।<sup>१</sup>

निर्युक्तिकार और टीकाकार के इस कथन से मह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशकों में, जिन विषयों का विवेचन विवक्षित था अथवा जिन विषयों का संक्षेपतः उल्लेख किया गया उन्हीं सातों अध्ययनों में प्रतिपादित विषयों के आधार पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की द्वितीया चूला के सात अध्ययनों की रचना की गई। इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ कि द्वितीया चूला के सात अध्ययनों में जो विषय हैं वे तो कम से कम, संक्षेपतः अवश्य ही महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशकों में प्रतिपादित किये गये थे।

### महापरिज्ञा अध्ययन में मंत्र-विद्या

यद्यपि आचारांग निर्युक्ति, शीलांककृत आचारांग टीका, जिनदास गरि, द्वारा रचित आचारांग चूर्ण और अन्य आगमिक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता पर परम्परिक प्रसिद्ध जनश्रुति के आधार पर यह मान्यता चली आ रही है कि आचारांग सूत्र के “महापरिज्ञा” अध्ययन में अनेक मन्त्रों और बड़ी महत्वपूर्ण विद्याओं का समावेश था। उन मन्त्रों और विशिष्ट विद्याओं का स्वल्प सत्त्व, धैर्य एवं गाम्भीर्य वाले साधक कहीं दुष्प्रयोग न कर लें इस जन-हित की भावना से पूर्वकाल के आचार्यों ने अपने शिष्यों को इस अध्ययन की वाचना देना बन्द कर दिया और इसके परिणामस्वरूप शनैः शनैः कालक्रम से महापरिज्ञा अध्ययन विलुप्त हो गया। इस परम्परागत प्रसिद्ध जनश्रुति को एकान्ततः अविश्वसनीय किंवदन्ती की गणना में भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि आचार्य बज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या की उपलब्धि की, इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध होता है।<sup>२</sup> आचारांग चूर्णिकार ने लिखा है—“त्रिना आज्ञा, त्रिना अनुमति के महापरिज्ञा अध्ययन

<sup>१</sup> (क) आयाराउ अत्थो आयारप्पेमु पविभत्तो ॥३॥

[आचारांग-निर्युक्ति, श्रुतस्कंध २]

(ख) तत्राद्ये श्रुतस्कन्धे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेषु च न समस्तोऽपि विवक्षितोऽर्थोऽभिहितो... मन्त्रोक्तस्य प्रपंचाय नदग्रभूताश्चतस्र-श्लोकाः... शिष्यहितं भवत्विति कृत्वा अनुग्रहाय तथा अग्रकटोऽर्थं प्रकटो यथास्यादित्येवमर्थं च कुतो निर्व्यूढः ? आचार्यान् मकाशान् समस्तोऽप्यर्थं आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति ।  
[शीलांकाचार्यकृत टीका, श्रु० २, पृ० ४]

<sup>२</sup> (क) जेगुद्धरिया विजजा, आगामगमा महापरिज्ञाघो ।

बंदामि अज्ज वटं, अपच्छमो जो मुअवरागं ॥३६६॥

[आवश्यक मलय, उपोद्धान, पृ० ३६० (१)]

(ख) महापरिज्ञाध्ययनाद्, आचारांगान्तरस्थितान् ।

थी बज्रं गोद्धता विद्या नदा गगनगामिनी ॥१४८॥

{प्रभावक चरित्र}



नहीं पढ़ा जाता (था)।” इससे भी थोड़ा आभास होता है कि महापरिज्ञा अध्ययन में कुछ इस प्रकार की विशिष्ट बातें थीं जिनका बोध साधारण साधक के लिये वर्जनीय था।

### आठवाँ अध्ययन

आठवें अध्ययन के दो नाम हैं विमोक्ष और विमोह। इसके मध्य में “इच्चेयं विमोहाययणं” तथा “अणुपुञ्जेण विमोहाइ” और अन्त में—“विमोहन्तयं हियं” — इन पदों में विमोह शब्द का प्रयोग होने के कारण संभवतः इस अध्ययन का नाम विमोह अध्ययन रखा गया हो। अर्थतः इन दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि विमोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के संसृति से पृथक् हो जाना और विमोह का अर्थ है मोह रहित होना। इस अध्ययन में ये दोनों शब्द समस्त ऐहिक संसृति के परित्याग के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में श्रमणों के लिये निर्देश है कि वे अपने से भिन्न आचार, भिन्न धर्मवाले साधुओं के साथ न भक्षण-पान करें और न वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछनक, निमन्त्रण, आदर-समादर, सेवा-शुश्रूषा आदि का आदान-प्रदान ही करें। इसमें सदा सब प्रकार के पापों से बचते रहने के आदेश के साथ कहा गया है कि विवेकपूर्वक सब पाप-कर्मों को सम्यक् रूपेण समझते हुए किसी भी दशा में पाप न करना ही वास्तविक धर्म है।

द्वितीय उद्देशक में साधु को यह उपदेश दिया गया है कि वह अकल्पनीय वस्तु को किसी भी दशा में ग्रहण न करें और उस प्रकार की स्थिति में यदि कोई गृहस्थ अप्रसन्न हो कर ताड़न-तर्जन आदि भयंकर कष्ट भी दे तो साधु शान्तचित्त और समभाव से उन परीषहों को सहन करे।

तीसरे उद्देशक में एकचर्या, भिक्षुलक्षण आदि का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि यदि किसी साधु के शरीर-कम्पन को देख कर किसी गृहस्थ के मन में इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय कि कामोत्तेजना के कारण उसका शरीर कांप रहा है तो उस साधु को चाहिये कि उस गृहस्थ की उस शंका का समीचीन रूपेण समाधान करे।

चौथे उद्देशक में एक अभिग्रहधारी मुनि के वस्त्र, पात्र आदि की मर्यादा के उल्लेख के साथ साधु को निर्देश दिया गया है कि वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मुनि की सचेलक तथा अचेलक अवस्थाओं को समभावपूर्वक अच्युती तरह से जाने और समझे। इसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि उन विषम परिस्थितियों में जब कि संयम की रक्षा सभी तरह से असंभव प्रतीत होने लगे अथवा स्त्री आदि का अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे अपने संयम के भंग होने की पूरी संभावना हो तो उस प्रकार की विषम परिस्थितियों में वह विवेक एवं समभावपूर्वक प्राणों के मोह का परित्याग कर सहर्ष मृत्यु का वरण करे।

पांचवें उद्देशक में बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्रधारी, एक साटकधारी अथवा 'अचेल साधक समभाव से परीषहों को सहन करे। विभिन्न अभिग्रहधारी साधु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अच्छी तरह जानता हुआ अपने अभिग्रह का यथार्थरूप से पालन करे और भक्तपरिज्ञा द्वारा अन्त में समाधिपूर्वक प्राणत्याग करे।

छठे उद्देशक में साधु को उपदेश दिया गया है कि यदि उसने एक वस्त्र और एक पात्र रखने का अभिग्रह किया है तो शीतादि परीषहों के समुपस्थित होने पर दूसरे वस्त्र अथवा पात्र की कांक्षा न करे। इस उद्देशक में वस्त्र, पात्र आदि की लाघवता एवं आत्मलाघवता अर्थात्—मैं एकाकी हूँ, न तो मेरा कोई है और न मैं किसी का हूँ— इस प्रकार की भावना को तप और आत्मविकास का साधन बताया गया है। इसमें साधु को यह भी उपदेश दिया गया है कि बहरस का आस्वादन नहीं करते हुए आहार करे और जब उसे विश्वास हो जाय कि संयमसाधना के कठोर क्रियानुष्ठानों का पालन करते हुए अथवा रोगादि के कारण उसका शरीर अत्यंत क्षीण एवं अशक्त हो गया है तो वह किसी गृहस्थ से निर्दोष घास की याचना कर जीवजन्तु रहित एकान्त स्थान में भूमि को परिमार्जित कर तृणशय्या बिछाये और उस पर शान्ति एवं समतापूर्वक इंगितमरण स्वीकार करे।

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि जो प्रतिमासम्पन्न अचेलक साधु संयम में अवस्थित है उसके मन में यदि इस प्रकार के विचार उत्पन्न हों कि वह तृणस्पर्श, शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि के परीषहों को सहन करने में तो समर्थ है पर लज्जा को जीतने में असमर्थ है तो उस स्थिति में उसे कटिबन्ध धारण करना कल्पता है।<sup>१</sup> संयमसाधना अथवा रोगादि के कारण बल तथा शरीर के अत्यधिक क्षीण हो जाने की दशा में साधु के लिये इस उद्देशक में विधान किया गया है कि वह गुफा आदि प्राशुक स्थान में गृहस्थ से याचना कर लाये हुए तृणों की शय्या बिछा उस पर कटी हुई लकड़ी की तरह निश्चल हो पादोपगमन अनशन करे।

आठवें उद्देशक में पंडितमरण का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए बताया गया है कि निरन्तर संयम की कठोर साधना करते हुए अथवा असाध्य रोग से शरीर इतना निर्बल हो जाय कि स्वाध्यायादि संयमसाधना का भी सामर्थ्य न रहे तो मुनि पूर्ववर्णित विधि से जीवजन्तुरहित एकान्त स्थान में तृणासन बिछा कर बाह्याभ्यंतर ग्रन्थियों के परित्याग के साथ शान्त चित्त से अनशन स्वीकार करे। भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण और पादोपगमन—इन तीन प्रकार के सन्धारों

<sup>१</sup> जे भिक्खु अचेले परिवुसिए तस्स एणं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि ग्रहं तरणफास ग्रहिया-  
मित्तए, सीयफासं ग्रहियासित्तए.....हिरिपडिच्छायणं च हं नो संचाएमि  
ग्रहियासित्तए, एवं मे कण्णइ कडिबन्धणं धारित्तए ॥२२०॥ (आचा०, प्र० ६ उ०७७)

में पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे को श्रेष्ठ बताते हुए साधक को निर्देश दिया गया है कि वह जीवन और मरण दोनों में समान रूप से अनासक्त रहते हुए न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की प्रार्थना ही। वह आत्मचिन्तन के अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक सभी प्रकार के व्यापार को बन्द कर केवल आत्म-रमण करता हुआ घोर से घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी शान्त, दान्त एवं स्थिर रहे। अनशनावस्था में उसके शरीर के मांस का यदि हिंस्र पशु भक्षण करें या उसके रक्त का पान करें तो उस हिंसा-जन्य वेदना को अपनी आत्मा के लिये अमृतसिन्धु नुल्य समझ कर समभाव से अंतिम सांस तक अपने कर्मों की निर्जरा करता रहे। यदि उसे उस अवस्था में मानवोपभोग्य अथवा देवोपभोग्य कमनीय से कमनीय भोगों का भी प्रलोभन दिया जाय तो वह उनको ग्रहण करने की इच्छा तक न करे और मोहरहित हो कर उपरोक्त तीन प्रकार के अनशनों में से यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझ कर स्वीकार करे।

### नौवां अध्ययन

नौवें उपधानश्रुत नामक अध्ययन में मुख्य रूप से भगवान् महावीर की साधना का वर्णन है। यह पूरा अध्ययन गाथात्मक है। इसमें एक भी सूत्र नहीं है। इसके ४ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भगवान् महावीर द्वारा दीक्षा से दो वर्ष पूर्व सच्चिन्म का त्याग, दीक्षानन्तर विहार, परपात्र एवं परवस्त्र का त्याग और १३ मास पश्चात् देवदूष्य वस्त्र का परित्याग बताया गया है। इसमें यह बताया गया है कि भगवान् महावीर ने केवल पूर्व-तीर्थंकरों की परम्परा का निर्वहन करने के लिये ही देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया पर शीत एवं दंस-मशकजन्य परीषहों से बचने के लिये उन्होंने उसका कभी उपयोग नहीं किया।

दूसरे और तीसरे उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान् महावीर को किन-किन विकट क्षेत्रों में विहार कर कैसे-कैसे स्थानों में रहना पड़ा और उन्हें वहाँ कितने असह्य एवं घोर परीषह सहन करने पड़े।

चौथे उद्देशक में भगवान् महावीर की घोर तपश्चर्याओं के वर्णन के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि उन्हें भिक्षा में किस-किस प्रकार का रुक्ष एवं नीरस भोजन मिला, कितना समय उन्होंने निराहार रह कर तथा कितना समय बिना पानी के बितनाया। अनार्य देश में बिहार के समय वहाँ के निवासियों द्वारा प्रभु को दिये गये भीषण कष्टों के हृदयद्रावी वर्णन के साथ इसमें बताया गया है कि भगवान् महावीर उन असह्य परीषहों से किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन और नवों अध्ययनों के कुल ५१ उद्देशक हैं। महापरिज्ञा अध्ययन और उसके सातों उद्देशकों के विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में प्रथम श्रुतस्कन्ध के ८ अध्ययन और ४४ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

### द्वितीय श्रुतस्कन्ध

निर्युक्तिकार के मतानुसार आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की ५ चूलिकाएं मानी गई हैं उनमें से प्रथम चार चूलिकाएं ही विद्यमान हैं तथा निशीथ नाम की पांचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण संभवतः निर्युक्तियों के रचनाकाल से पहले ही आचारांग से अलग की जा कर निशीथ नामक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित कर दी गई थी। क्योंकि नन्दिसूत्र में इसका निशीथ के नाम से तथा स्थानांग, समवायांग एवं निर्युक्ति में इसका आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प के नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

प्रथम चूलिका में पिण्डैषणा आदि सात अध्ययन और उनके कुल मिला कर २५ उद्देशक हैं। पिण्डैषणा नामक इसके प्रथम अध्ययन में निर्दोष आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना, भिक्षा के समय किस प्रकार चलना, किस प्रकार की भाषा बोलना, किस प्रकार आहार प्राप्त करना आदि का वर्णन है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सदोष-निर्दोष उपाश्रय का विचार किया गया है। तीसरे ईर्यैषणा अध्ययन में चलने की विधि और अपवाद काल में नाव में बैठने की विधि बताई गई है। चौथे भाषैषणा अध्ययन में वक्ता के लिये १६ वचनों की जानकारी आवश्यक बताते हुए क्रोधोत्पत्ति के कारणों का निषेध किया गया है। पांचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करने चाहिये। छठे पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र-ग्रहण की विधि का निरूपण किया गया है। सातवें अन्नग्रहैषणा नामक अध्ययन में यह बताया गया है कि भ्रमण को अपने सावधि निवासार्थ किस तरह का मर्यादित स्थान किस प्रकार प्राप्त करना और उसमें किस प्रकार रहना आदि। यह पूरी चूलिका गद्यात्मक है।

द्वितीय चूलिका में भी स्थान, निषीधिका आदि ७ अध्ययन हैं जो सभी उद्देशकरहित हैं। पहले अध्ययन में कायोत्सर्ग (ध्यान) आदि की दृष्टि से उपयुक्त स्थान तथा दूसरे अध्ययन में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है। तीसरे अध्ययन में दीर्घशंका तथा लघुशंका के स्थान के बारे में निरूपण है। चौथे तथा पांचवें अध्ययन में क्रमशः शब्द और रूप के प्रति राग-द्वेष रहित रहने का भ्रमण के लिये विधान है। द्वितीय चूलिका भी पूरी गद्यमय है।

तीसरी "भावना" नामक चूलिका में भगवान् महावीर के गर्भावतरण, गर्भ-साहरण, जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, तीन नाम, माता-पिता-पितृव्य के नाम, बहिन, भाई, भार्या, पुत्री एवं दोहित्री के नाम, माता-पिता का स्वर्गवास, वर्षादान और साधना का वर्णन किया गया है। इसमें प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस चूलिका में चौबीस गाथाएं और शेष सब गद्य-पाठ हैं।

चौथी "त्रिमुक्ति" नामक चूलिका में वीतराग स्वरूप का उपमाओं के साथ वर्णन किया गया है। इस चूलिका में केवल ११ गाथाएँ हैं।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर २५ अध्ययन और ८५ उद्देशक होते हैं पर प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिजा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में सम्पूर्ण आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, २४ अध्ययन और ७८ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, राजवार्तिक आदि दिग्मन्त्र परम्परा के ग्रन्थों में आचारांग के विषयों का परिचय कराते हुए बताया गया है कि आचारांग में मन, वचन, काय, भिक्षा, ईर्ष्या, उत्सर्ग, शयनासन एवं विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है। समीचीनतया विचार किया जाय तो यह कथन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर पूरी तरह घटित होता है। वस्तुतः आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में आचार पर विशेष बल दिया जा कर उसके प्रत्येक पहलू पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाला गया है। उदाहरणस्वरूप "पिण्डैषस्स" नामक अध्ययन में श्रमणों को निर्देश दिया गया है कि उनका आहार किस प्रकार का होना चाहिये, उन्हें किस प्रकार, किस समय और किस स्थान पर आहार लेना एवं उसका उपयोग करना चाहिये। शयैषणा नामक अध्ययन में विस्तार के साथ पूर्ण स्पष्ट रूप से साधु को निर्देश दिये गये हैं कि उसे किस-किस प्रकार के निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिये और किस-किस प्रकार के स्थान से सदा बचते रहना चाहिये। इन सब निर्देशों के साथ ही साथ गमना-गमन की दूरियों के सम्बन्ध में, भाषा, पात्र, वस्त्र, अवग्रह एवं स्थान का परिशीलन, खड़े रहने के स्थान, मलोत्सर्गस्थान, शब्द के प्रति विरति, रूप के प्रति अनासक्ति, साधुओं की अर्हनिश क्रियाएँ, महावीर-चरित्र और पंच महाव्रतों की भावनाओं का द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सम्यग्रूपेण प्रतिपादन किया गया है।

### द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन

यह पहले सप्रमाण बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थतः भगवान् महावीर की और शब्दतः गणधरों की कृति है। इसके साथ ही साथ समवायांग<sup>१</sup> और नन्दिसूत्र<sup>२</sup> में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमें समान रूप से दोनों श्रुतस्कन्धों, अध्ययनों, उद्देशकालों, समुद्देशकालों और पदसंख्या को आचारांग का अभिन्न स्वरूप मानते हुए स्पष्टरूपेण कहा गया है— "आचारांग अंग की अपेक्षा से प्रथम अंग है, इसमें दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशकाल और १८००० पद हैं।" यदि आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्थतः भगवान् महावीर द्वारा कथित और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित नहीं होता तो इसे आगमों के मूल पाठ में इस प्रकार आचारांग का अभिन्न अंग कदापि स्वीकार

<sup>१</sup> समवायांग (राय घनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित), पृष्ठ १६६ (१)

<sup>२</sup> नखी सूत्र (पू. धासीलालजी म.) पृ० ५४८

नहीं किया जाता। इस प्रकार की स्पष्ट एवं निर्विवाद स्थिति में इस तरह के किसी प्रश्न के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रहता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन हैं। वस्तुतः मूल आगम में कहीं ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिससे स्वल्पमात्र भी ऐसा आभास होता हो कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचारांग का अभिन्न अंग न हो कर आचारांग, आचारांग का परिशिष्ट अथवा पश्चाद्वर्ती काल में जोड़ा हुआ भाग हो।

ऐसी स्पष्ट स्थिति में यह प्रश्न कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस पर सभी दृष्टियों से समीचीनतया विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग सूत्र की पदसंख्या के सम्बन्ध में विचार करते समय आचारांग-निर्युक्तिकार ने सर्वप्रथम अपना यह अभिमत रखा कि समवायांग और नन्दी सूत्र में आचारांग का जो पद परिमाण १८००० पद बताया गया है—“वह केवल नवब्रह्मचर्याध्ययन नामक आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण है। पांच चूलिकाओं सहित आचारांग की पदसंख्या तो १८००० से बहुत अधिक और अधिकतर है।”<sup>१</sup>

“१८,००० पदसंख्या आचारांग के केवल नव ब्रह्मचर्याध्ययनों की ही है न कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध सहित आचारांग की”—अपनी इस आगमों के उल्लेखों से विपरीत मान्यता की पुष्टि में न तो निर्युक्तिकार ने किसी आगमिक आधार का ही उल्लेख किया है और न अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के एतद्विषयक अभिमत का ही। यही नहीं, उन्होंने आगम के उस मूलपाठ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी निर्युक्ति में अपना कोई मन्तव्य अभिव्यक्त नहीं किया है जिसमें स्पष्ट रूप से एक चूलिका वाले आचारांग की त्रिम्नलिखित शब्दों में १८,००० पदसंख्या बताई गई है :-

“आधारस्स रां भगवधो सचूलिआगस्स अट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेणं पणत्ताई।”<sup>२</sup>

यदि यह कहा जाय कि इस निर्णायक और अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य पर निर्युक्तिकार का मौन वस्तुतः उनके पक्ष की निर्बलता का बहुत बड़ा प्रमाण है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। संभवतः समवायांग के उपरोक्त सूत्र को ध्यान में रखते हुए ही आचार्य श्रीलांक ने आचारांग टीका में इस प्रश्न पर अपना कोई अभिमत व्यक्त नहीं किया है कि १८,००० पदप्रमाण केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का है अथवा दो श्रुतस्कन्धात्मक सम्पूर्ण आचारांग का।

नन्दीसूत्र के चूरिकार ने निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है—“१८,००० पदसंख्या नवब्रह्मचर्याध्ययनरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध की है, सूत्रों के अर्थ विविध-विचित्र होते हैं, गुरु के मुख से ही उनका अर्थ समझना चाहिये।”<sup>३</sup>

<sup>१</sup> आचारांग निर्युक्ति (१ श्रुतस्कन्ध), गाथा ११

<sup>२</sup> समवायांग सूत्र, समवाय १८

<sup>३</sup> अट्ठारस पयसहस्साणि गुण पढममुयक्खंघस्स, नवबंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तयाणि य सुत्ताणि गुरुवएसमो तेत्ति अत्थो जाणिधव्वो। [नन्दी-चूरिण]

इस प्रकार नन्दी-चूर्णिकार ने भी कोई आगमिक अथवा अन्य आधार प्रस्तुत नहीं किया है कि किस आधार पर वे अपना यह मन्तव्य अभिव्यक्त कर रहे हैं। उपरोक्त सूत्र में प्रयुक्त "सञ्चुलिआगस्स" - इस पद पर भी उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८ के उपरोक्त सूत्र की टीका में निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए एक नवीन युक्ति भी प्रस्तुत की है - "चूलिकाओं सहित आचार नामक प्रथम अंग की द्वितीय श्रुतस्कंधात्मिका पिण्डेषणा आदि पांच चूलाएँ हैं। वह प्रथम अंग आचार नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कंध स्वरूप ही है। उस ही का यह पदप्रमाण है न कि चूलाओं का। जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है -

नवबंभचेरमइओ, अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ ।

हवइ य सपंच चूलो, बहु बहुतरओ पयग्गेणं ॥ त्ति ॥

जो 'सञ्चुलिकाकस्य' शब्द का इस सूत्र में प्रयोग किया गया है वह इस प्रथमांग का विशेषण है और वह चूलिकाओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि चूलिकाओं का पदप्रमाण बताने के लिये।" इसके पश्चात् उन्होंने नन्दी-टीकाकार (चूर्णिकार) के उपरोक्त अभिमत को दोहराया है।

केवल प्रथम श्रुतस्कंध को ही १८००० पदसंख्या वाला आचारांग तथा द्वितीय श्रुतस्कंध को पंचचूलात्मक बता कर उसे आचारांग से भिन्न आचाराय अथवा आचारांग का परिशिष्ट सिद्ध करने की दृष्टि से "केवल चूलिकाओं का अस्तित्व बताने के लिये विशेषण के रूप में 'सञ्चुलिकाकस्य' शब्द का प्रयोग इस सूत्र में किया गया है" - नवांगी टीकाकार द्वारा इस सूत्र का इस प्रकार का किया गया अर्थ साधारण से साधारण भाषाविद् को भी मान्य नहीं हो सकता। यदि आगमकार को इस सूत्र का इस प्रकार का अर्थ अभिप्रेत होता तो वे निश्चित रूप से "सञ्चुलिकाकस्य" के स्थान पर इस सूत्र में "चूलिकावर्जस्य" शब्द का प्रयोग करते। पर न इस सूत्र की शब्द रचना को देखते हुए इस प्रकार का अर्थ किंचित जाना संभव है और न सूत्रकार का ही इस प्रकार का अभिप्राय था। आगमकार तो यही बताना चाहते थे कि चूलिकावाले आचारांग का पदपरिमाण १८,००० पद है और उन्होंने अपने इस अभिप्राय को इस सरल सूत्र के माध्यम से स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया - "आयारस्स रां भगवओ सञ्चुलिआगस्स अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेरां पणत्ताइं ।"

नवांगी टीकाकार द्वारा प्रस्तुत की गई युक्ति के केवल कुछ ही अंश से हम साभार सहमत हैं। उपरोक्त सूत्र में "सञ्चुलिआगस्स" शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग के विशेषण के रूप में केवल उसकी एक

१ समवायांग-टीका (अभयदेवसूरिकृता), राय घनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित पत्र २४ (२)

चूलिका का अस्तित्व मात्र प्रकट करने के लिये ही किया गया है, इसका पदसंख्या से सीधा कोई संबंध नहीं। वस्तुतः यह एक तथ्य है कि आचारांग की उस एक चूलिका के पदों की संख्या को दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग की पदसंख्या में सम्मिलित नहीं किया गया है क्योंकि वह आचारांग से प्रगाढ़रूपेण सम्बन्धित होते हुए भी पूर्व-ज्ञान का अंश होने के कारण आचारांग से पूर्णतः पृथक् एवं भिन्न है। आगम में कहीं उल्लेख नहीं है कि आचारांग की पांच चूलिकाएँ हैं। यह तो निर्युक्तिकार की अपनी स्वयं की स्वतन्त्र कल्पना है। आगम द्वारा असमर्थित निर्युक्तिकार की इस स्वकल्पित मान्यता से प्रभावित होने के कारण ही अन्नय-देव सूरि ने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को पंचचूलात्मक माना है और अपनी इस पहले से ही बनी हुई धारणा के फलस्वरूप उन्होंने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है - "द्वितीय श्रुतस्कन्धरूपी पांच चूलाओं वाले प्रथम श्रुतस्कन्धात्मक आचारांग भगवान् के १८ हजार पद हैं।"

यदि वे मूल आगम (समवायांग एवं नन्दी सूत्र) के द्वादशांगी परिचायक पाठ से प्रभावित होते तो इस सूत्र का अर्थ निम्नलिखित रूप में करते :-

"एक चूलिका वाले दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग भगवान् के १८,००० पद हैं।" यही अर्थ सही और संगत भी होता क्योंकि "आयारस्स भगवन्नो" - यह पद दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग का परिचायक है न कि एक श्रुतस्कंधात्मक आचारांग का। और आचारप्राभृत आचारांग की एक ऐसी चूला है जिसकी पदसंख्या आचारांग की पदसंख्या में न कभी सम्मिलित थी और न है।

"सूत्रों के अर्थ विचित्र और गूढार्थ भरे होते हैं, गुरु के उपदेश से ही उनके अर्थ को समझना चाहिये"-इस प्रकार की उक्ति का अवलम्बन लेकर मूल आगम के पाठ की तुलना में निर्युक्तिकार के अभिमत को प्रश्रय देते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही १८००० पदवाला पूर्ण आचारांग तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को उसका पंचचूलात्मक आचारांग अथवा परिशिष्ट मात्र बताते समय टीकाकार के पास निर्युक्ति के अतिरिक्त और क्या आधार था, यह विचारणीय होते हुए भी स्पष्ट है।

केवल इस सूत्र में ही नहीं इस सूत्र से आगे कोटाकोटि समवाय के पश्चात् आगमों का परिचय देते हुए समवायांग में और नन्दी सूत्र में जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, २१ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और ८५ समुद्देशनकाल हैं तथा उसकी पदसंख्या १८,००० है। दोनों श्रुतस्कन्धात्मक आचारांग के १८ हजार पद हैं - इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख आगम के मूल पाठों में दो स्थान पर किये जाते के उपरान्त भी "विचित्तथागि य सुत्तागि" इस पद का अवलम्बन लेकर, महज-सुगम स्पष्ट सूत्रों का अर्थ इस प्रकार बदलने की प्रक्रिया को यदि मान्य किया जाने लगे तो निश्चित रूप से इसका परिणाम अन्नतोमत्वा यद्वा भयावह होगा।



भाषाशास्त्र की ही तरह दो श्रुतस्कन्ध वाले ग्रन्थ भी आगम हैं पर उनके सम्बन्ध में प्रथम श्रुतस्कन्ध से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पृथक् पदसंख्या की इस प्रकार की मान्यता को कहीं नहीं अपनाया गया है। सूत्रकृतांग, ज्ञातृधर्मकथा, प्रश्न-व्याकरण और विपाक-इन चारों ग्रंथों के पदपरिमाण प्रत्येक के दोनों श्रुतस्कन्धों को मिला कर ही माने गये हैं। ऐसी स्थिति में केवल भाषाशास्त्र के दोनों श्रुतस्कन्धों का पदपरिमाण पृथक्-पृथक् बताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण १८,००० पद किस कारण माना है, यह समझ में नहीं आता। इसका स्पष्टीकरण न निर्युक्तिकार ने किया है, न चूणिकार ने अथवा किसी वृत्तिकार ने और न इसका कोई आधार कहीं खोजने पर उपलब्ध ही होता है।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ धवला और अंगपण्यत्ती में भी भाषाशास्त्र की पदसंख्या १८,००० मानी गई है तथा उन ग्रन्थों में भाषाशास्त्र के विषयों का जो परिचय दिया गया है वह भाषाशास्त्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित विषयों से प्रायः पूरी तरह मिलता-जुलता है।

इन सब तथ्यों पर गम्भीरता और निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि आगमों के मूल पाठ में दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्यायनात्मक सम्पूर्ण भाषाशास्त्र की जो १८,००० पदसंख्या बताई गई है वही पूर्णरूपेण, सही, प्रामाणिक और मान्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आगम सर्वोपरि है और निर्युक्तियों, चूणियों और टीकाओं की तुलना में निश्चित रूप से सर्वतः सर्वाधिक प्रामाणिक भी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) तथा टीकाकार आचार्य अभयदेव और चूणिकार जैसे आगमनिष्णात, एवं विद्वान् परमर्षियों ने आगम के उल्लेख से भिन्न इस प्रकार की मान्यता आखिरकार क्यों अभिव्यक्त की? क्योंकि उन्होंने इसका कोई आधार या कारण अपनी रचनाओं में नहीं लिखा है इसलिये निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है जो शताब्दियों से विचारकों के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की कल्पनाओं और ऊहापोहों का जनक बना हुआ है। इस प्रश्न का समीचीनतया समाधान न हो पाने के कारण ही आगमिक इतिहासविदों के समक्ष आज भी एक उलझन भरी ऐतिहासिक गुत्थी अनबुभी पहेली का रूप धारण किये उपस्थित है। वह जटिल ऐतिहासिक गुत्थी यह है कि - भाषाशास्त्र के पदपरिमाण विषयक प्रश्न को हल करने के प्रयास में सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने और तदनन्तर निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए चूणिकार, टीकाकार और वृत्तिकार आदि ने बिना किसी प्रामाणिक आधार के अपनी एक ऐसी मान्यता अभिव्यक्त कर दी जो आगम के उल्लेखों से विपरीत है। निर्युक्तिकार, वृत्तिकार आदि ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गणधरकृत भाषाशास्त्र तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक ही है और केवल उसी का पदपरिमाण १८,००० पद है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाषाशास्त्र नहीं अपितु स्थविरकृत भाषाशास्त्र

है जिसमें नवब्रह्मचर्याध्ययनों में संक्षेपतः उल्लिखित तथ्यों का विशद व्याख्यात्मक विवेचन मात्र है। केवल यही नहीं उन्होंने अपनी ओर से यह मान्यता भी प्रकट की है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध ५ चूलाओं में विभक्त है। इसकी पदसंख्या प्रथम श्रुतस्कन्ध से अधिक और अधिकतर है।<sup>१</sup>

निर्युक्तिकार आदि के आगमों से भिन्न इस अभिमत का अनुकरण करते हुए हरमन जैकोबी आदि प्राधुनिक विद्वान् विचारकों ने भी अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रति प्राचीन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उससे पश्चाद्द्वर्ती काल की रचना है।<sup>२</sup>

पद-प्रमाण सम्बन्धी निर्युक्ति की मान्यता को मूल आगम के उल्लेखों से बाधित तथा आधारविहीन सिद्ध करते हुए ऊपर यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों का पदपरिमाण १८,००० पद है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का।

आचारांग की पदसंख्या के प्रश्न को हल करने के प्रयास में ही निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकारों ने इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्वविरक्त पंचचूलात्मक आचारांग माना। इस कारण ये दोनों प्रश्न परस्पर संपृक्त हैं अतः द्वितीय श्रुतस्कन्ध की मौलिकता के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह देखना परमावश्यक है कि यह पदसंख्या का प्रश्न किस कारण उत्पन्न हुआ।

एतद्विषयक सभी तथ्यों का समीचीनतया पर्यालोचन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथ को आचारांग की पांचवीं चूला मानने और उसके पश्चात् उसे आचारांग से पृथक् किया जाकर स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की मान्यता के कारण पदसंख्या विषयक मतभेद और उसके फलस्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न उसका परिशिष्ट अथवा आचारांग मानने की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८ में आये हुए “चूलिकासहित आचारांग भगवान् के १८,००० पद है।” इस उल्लेख के कारण अधिकांशतः जनमानस में यही धारणा बनी हुई थी कि चूलिका सहित आचारांग की पदसंख्या १८,००० है। समवायांग की समवाय संख्या २५ में आचारांग के २५ अध्ययनों के नाम दो गाथाओं में गिना चुकने और गाथाओं की परिसमाप्ति के पश्चात् “निसीहज्ज्भयणं परावीसइमं” – इस

<sup>१</sup> आचारांग निर्युक्ति (प्रथम श्रु० स्कन्ध), गा० ११ तथा आचा० नि० (२ श्रु० स्कन्ध), गा० २ से ७

<sup>२</sup> The Acharanga Sutra contains two books, or Srutskandhas, very different from each other in style and in the manner in which the subject is treated. The subdivisions of the second book being called Chulas (चूला), or appendices, it follows that only the first book is really old.....

The first book, then, is the oldest part of the Acharanga Sutra; it is probably the old Acharanga itself, to which other treatises have been added.

[Sacred Book of the East, Vol. 22, Introduction; P. 47, - By Hermann Jacobi].

प्रकार के विवादास्पद पाठ को देखकर और समवाय संख्या ५७ में "आयार-चूलियावज्जाणं" इस पद के द्वारा आचारंग के २५ अध्यायनों में से एक अध्यायन के चूलिकास्वरूप होने तथा आचारंग के अध्यायनों से पृथक् रखने के संकेत से यह अनुमान लगा लिया गया कि निशीथ आचारंग की चूलिका के रूप में जब विद्यमान था उस समय आचारंग की पदसंख्या १८,००० थी और जब निशीथ को आचारंग से पृथक् किया जाकर छेदसूत्र के रूप में उसकी प्रतिष्ठापना हो चुकी है तो उस दशा में स्वतः ही आचारंग की पदसंख्या १८,००० से कम हो गई ।

वस्तुतः आचारंग की ५ तो क्या एक भी ऐसी चूलिका नहीं थी जो आचारंग का अभिन्न अंग हो और उसके पदों की संख्या की गणना आचारंग की पदसंख्या में सम्मिलित मानी गई हो । इस ओर न तो निर्युक्तिकार का ही ध्यान गया और न वृत्तिकार, चूर्णिकार अथवा डॉ० हर्मन जैकोबी का ही । प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने अपने इस अभिमत के समर्थन में जो युक्तियाँ दी हैं उनको देखने से स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि वे निर्युक्तिकार, वृत्तिकार तथा टीकाकार के विचारों से और विशेषतः आचारंग चूर्णिकार द्वारा प्रारम्भ में प्रस्तुत मंगल प्रकरण से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं जिसमें चूर्णिकार ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के - "सुयं में आउसं तेरां भगवया एवमक्खायं" इस प्रथम सूत्र को आदिमंगल तथा "से बेमि जे य अतीता अरहंता भगवंता" एवं "से बेमि से जहा विहरे" - इन मध्यवर्ती सूत्रों को मध्यमंगल और "अभिनिव्वुडे अमाई य" - प्रथम श्रुतस्कन्ध के इस अंतिम पद को अंत-मंगल बताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही परिपूर्ण आचारंग मानने विषय अपना अभिमत व्यक्त किया है !

तथ्यों पर गहराई से विचार करने पर उपरोक्त सभी विद्वानों की मान्यता प्रमाण के स्थान पर केवल कल्पना पर आधारित नितान्त निराधार धारणा ही सिद्ध होती है । वस्तुतः आगमों के रचनाकाल में आचारंग की एक भी ऐसी चूला विद्यमान नहीं थी जिसे आचारंग का अभिन्न अंग मानकर उसके कलेवर की आचारंग के १८,००० पदपरिमाण में गणना की गई हो । इसका प्रबल प्रमाण आगम का मूल पाठ है । यह पहले बताया जा चुका है कि समवायांग और नन्दी सूत्र में जो द्वादशांगी का सर्वांगपूर्ण परिचय दिया है उसमें आचारंग का स्वरूप - दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्यायन, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समुद्देशनकाल और १८,००० पदयुक्त बताया गया है । उपरोक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त अन्य किसी आगम में द्वादशांगी का इतना विस्तृत परिचय नहीं मिलता ।

द्वादशांगी के इस परिचय में बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' के तृतीय भेद 'पूर्वगत' के १४ पूर्वों में से आदि के चार पूर्वों को छोड़ कर शेष किसी भी अंग की चूलिकाओं का अस्तित्व नहीं बताया गया है ।<sup>१</sup> जहाँ द्वादशांगी के परिचय में

<sup>१</sup> चत्तारि दुवालस, अट्ठ वेव दस वेव चूलवत्चूणि ।

आइल्लाम्ण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥ [नन्दीसूत्र (द्वादशांगी प्रकरण)]

प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्धों, अर्घ्ययनों, उद्देशकों, पदों एवं अक्षरों तक की संख्या बताई गई है और प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाओं तथा उनकी संख्या का उल्लेख किया गया है वहां आचारांग की चूलिका के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख न होना इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि वस्तुतः आचारांग की एक भी चूलिका नहीं थी। द्वादशांगी के इस परिचय से यह प्रमाणित होता है कि दृष्टिवाद के उपरोक्त चार पूर्वों को छोड़ कर अन्य किसी भी अंग की एक भी चूलिका नहीं थी। चूलिकाओं की वस्तुतः एकादशांगी के लिये आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि दृष्टिवाद में एकादशांगी के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित, उनमें उक्त, अनुक्त एवं संक्षेपतः उक्त सभी विषयों का बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया था।<sup>१</sup> तदनुसार जहां आचारांग में आचार-धर्म (साध्वाचार) के विधिमार्ग का प्रतिपादन किया गया है वहां नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत में साध्वाचार के अपवादों और उनकी शुद्धि हेतु सम्पूर्ण विधि-विधानों का विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया था।

चतुर्दश पूर्व जब तक विच्छिन्न नहीं हुए तब तक उपरोक्त बीसवां प्राभृत आचारांग का अभिन्न अंग नहीं होते हुए भी आचारसुमेरु के शिखर (चूला) के रूप में आचारांग का सहायक अथवा पूरक माना जाता रहा। कालान्तर में काल-दोषजन्य बुद्धिमान्द्य के कारण पूर्वज्ञान क्षीण होने लगा और पूर्वधर आचार्यों ने ज्ञानबल से यह देखा कि सन्निकट काल में ही पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न होने वाला है तो विशाख नाम के आचार्य ने प्रत्याख्यान-पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से सारभूत अंशों को उद्धृत कर 'आचार प्रकल्प' अर्थात् निशीथ का निष्पादन किया और उसे छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।<sup>२</sup> पूर्वज्ञान

<sup>१</sup> पाटलीपुत्र में हुई प्रथम अंगवाचना के समय एकादशांगी के पाठों को व्यवस्थित करने के पश्चात् जब वहां उपस्थित स्थविरों को यह विदित हुआ कि 'दृष्टिवाद' उनमें से किसी श्रमण के स्मृतिपटल पर अंकित नहीं है तो उन्होंने लिख ही जो शोकोद्गार प्रकट किये उन्हें "तिरथोगालिय पइसा" में निम्नलिखित रूप से प्रकट किया गया है :-

ते विति सन्वसारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो ।

कह पुब्बगएण बिणा, पवयणासारं घरेहामो ॥

अर्थात् जब उन्हें विदित हुआ कि परम सारभूत दृष्टिवाद उनमें से किसी की स्मृति में नहीं रहा है तो उन्होंने लिख ही परस्पर एक दूसरे से पूछा - "अरे ! अब हम लोग पूर्वज्ञान के बिना प्रवचन के सार को किस प्रकार धारण करेंगे ?" इस गाथा से प्रकट होता है कि दृष्टिवाद में प्रत्येक अंगशास्त्र के सम्बन्ध में परमोपयोगी तथ्यों का प्रतिपादन किया गया था।

- सम्पादक

<sup>२</sup> दंसण चरित्तजुत्तो, गुत्तो गुत्तीमु (परि) संभसाहिण् ।

नामेण विसाहयगी, महत्तरओ णासांजुसी ॥

तस्स लिहियं निस्साहि धम्मधुराधरसं पवर पुज्जस्स ।

[हस्तलिखित निशीथ की कुछ प्रतियों की प्रशस्ति]

के विच्छिन्न हो जाने के पश्चात् भी परंपरागत धारणा के अनुसार पूर्वगत से उद्धृत होने की स्थिति में भी निशीथ को आचारांग की चूला ही माना जाता रहा। जिस प्रकार गंगा के जल को यमुना जल और यमुना के जल को गंगाजल नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार आचारांग और निशीथ को एक नहीं माना जा सकता। क्योंकि दोनों का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध होने के उपरान्त भी आचारांग श्रुत-गंगा की एकादशांगी रूप एक धारा का जल है तो निशीथ चतुर्दश पूर्व रूपी दूसरी धारा का जल। स्वयं निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से निर्व्यूढ किया गया है।<sup>१</sup>

उपरिलिखित तथ्यों से यह निस्संदिग्धरूपेण सिद्ध हो जाता है कि आचारांग की अभिन्न अंग के रूप में कोई चूला न तो पूर्वकाल में कभी थी और न वर्तमान में ही है। इसका प्रबल प्रमाण है समवायांग और नन्दी सूत्र में उल्लिखित द्वादशांगी का परिचय जिसमें कि आचारांग की किसी चूला के अस्तित्व का संकेत तक नहीं किया गया है।

आचारांग की अभिन्न अंग के रूप में चूलिका का अस्तित्व न होते हुए भी अपवाद की स्थिति में साध्वाचार में लगे अतिचारों के विशुद्धिकरण की दृष्टि से पूर्वकाल में आचारप्राभृत को और पश्चाद्वर्तीकाल में उसी के सारभूत स्वरूप निशीथ को परमावश्यक समझ कर आचारांग की वस्तुतः चूला न होते हुए भी चूला माना जाता रहा। यही कारण है कि समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८, २५ और ८५ में “आयारस्स भगवन्नो सचूलियागस्स” – इस पद के द्वारा एक चूलिका की सत्ता का संकेत किया गया। यहां संकेत शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि मूल आगम में उस चूलिका के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। समवाय संख्या ५७ में जो—“आयारचूलावज्जाणं” इस पद के प्रयोग से सूत्रकृतांग के २३, स्थानांग के १० और आचारांग के २५ अध्ययनों में से चूलिकात्मक एक अध्ययन को छोड़ कर शेष २४ को मिला कर प्रथम के तीन अंगों के ५७ अध्ययन बताये गये हैं।<sup>२</sup> इस सूत्र में आचारांग का २५ वां अध्ययन चूलात्मक बताया गया है पर समवायांगसूत्र की समवाय संख्या २५ में आचारांग के प्रथम अध्ययन “शस्त्रपरिजा से लेकर विमुक्ति नामक २५वें अध्ययन तक के २५ नामों का उल्लेख करने के पश्चात् “निसीहं पणवीसइमं” इस प्रकार का पद देकर निशीथ को आचारांग का २५वां अध्ययन बताया गया है। २५वीं समवाय में जो आचारांग के २५ अध्ययनों के नाम गिनाये गये हैं उन्हीं नामों के २५ अध्ययन वर्तमान काल में आचारांग में विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में जो ५७वें समवाय

<sup>१</sup> आयारपकप्पोउ, पच्चखाणस्स तइयवत्थुओ ।

आयारणा।मवेज्जा, विसइमा पाहुइच्छेया ॥

[आचारांग-निर्युक्ति, श्रु० २]

<sup>२</sup> तिण्हं गण्णिपिडगालं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्जकयणा पण्णत्ता तंजहा आयारे सुयगडे ठाणे ।

[समवायांग, समवाय ५७]

में २५वें अध्ययन को चूलिकास्वरूप और २५वीं समवाय में विमुक्ति अध्ययन को आचारांग का पच्चीसवां अध्ययन बताने के पश्चात् जो निशीथ को भी २५वां अध्ययन बताया गया है, इसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसमें किसी लिपिकार की भूल है अथवा संकलनाकाल में इन दोनों सूत्रों के पाठ में किसी प्रकार की भूल हुई है यह तो अतिशय ज्ञानी ही बता सकते हैं पर इस प्रकार के पाठों से यह अवश्य प्रकट होता है कि नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत को आचारांग का अंग न होते हुए भी परमावश्यक होने के कारण जो आचारांग की चूला माना गया है उसके प्रस्तुतीकरण (Interpretation) को लेकर मान्यता-भेद उत्पन्न हो गया था ।

अब हमें निष्पक्ष दृष्टि से यह देखना है कि निशीथ वस्तुतः आचारांग का ही अंग है अथवा उससे पूर्णतः पृथक् । इस सम्बन्ध में आगम और आगम से सम्बद्ध इतर साहित्य के पर्यालोचन से यह प्रकट होता है कि निशीथ आचार-प्रकल्प अथवा प्रकल्प का ही दूसरा नाम है । ये तीनों शब्द समानार्थक और एक दूसरे के पर्यायवाची हैं ।

स्थानांग<sup>१</sup> और समवायांग<sup>२</sup> में आचार प्रकल्प के क्रमशः ५ और २८ भेदों का निरूपण करते हुए जो नाम दिये हैं उनसे यह प्रकट होता है कि आचारप्रकल्प और आचारांग इन दोनों की विषयवस्तु विभिन्न होने के कारण ये दोनों अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं । प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी आचारप्रकल्प २८ प्रकार का बताया गया है ।<sup>३</sup> आवश्यक बृहद्वृत्ति में २८ प्रकार का आचारप्रकल्प बताते हुए २५ नाम तो वही गिनाये गये हैं जो कि आचारांग के २५ अध्ययनों के हैं । इन पच्चीस के साथ निशीथ के तीन भेद जोड़कर २८ प्रकार के आचार-प्रकल्प की संख्या पूरी की गई है ।<sup>४</sup> इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार-प्रकल्प आचारांग का अभिन्न अंग नहीं अपितु इससे भिन्न है ।

<sup>१</sup> पचविहे आचारकप्पे पं० तं० मासिए उग्घाइए मासिए अग्गुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चउमासिए अग्गुग्घाइए, आरोवणा ॥ [स्थानांग, ठाणा ५]

<sup>२</sup> अट्ठावीसविहे आचारकप्पे पं० तं० मासिया आरोवणा(१) ...अकसिणा आरोवणा(२८) [समवायांग, सम० २८]

<sup>३</sup> अट्ठावीसा आचारकप्पा । [प्रश्नव्याकरण, संवरदार ५]

<sup>४</sup> सत्थपरिन्ना लोमविजप्रो अ सिप्रोसण्णिज्जं संमत्तं ।  
आवंति धुअ विमोहो, उवहाणमुअं भहपरिन्ना ॥ ५१  
पिडेसण्णसिज्जिरिज्जा, भासज्जाया य वत्थपाएसा ।  
उग्गहपडिमासत्तिक्कसत्तयं भावण विमुत्ति ॥ ५२  
उग्घापमग्गुग्घायं आरोवणा तिविहमो निसीहं तु ।  
इति अट्ठावीसविहो, आयरपकप्पनामोयं ॥ ५३ [आवश्यक बृहद्वृत्ति, अ० ३]

व्यवहारकल्प<sup>१</sup> और पंचकल्पभाष्य<sup>२</sup> में भी आचारांग-निर्युक्तिकार की तरह आचारप्रकल्प को नवम पूर्व से निर्व्यूढ माना गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) आचारांग का अंग नहीं अपितु अपना पृथक् अस्तित्व रखता है।

“धर्म प्रकरण” में “आचारप्रकल्प” शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :- “आचार आचारांगम्, प्रकल्पो निशीथाध्ययनम्-तस्यैव पंचमचूला, आचारेण सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनसहिते आचारांगे।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांग-टीका में ‘आचारप्रकल्प’ शब्द का दो प्रकार से अर्थ करते हुए लिखा है - “आचारः प्रथमांगस्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानस्य, वा साध्वाचारस्य ज्ञानादि विषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायमित्याचारप्रकल्पः।”

उपरोक्त व्याख्याओं में दोनों टीकाकारों ने आचार शब्द का आचारांग और प्रकल्प का अर्थ निशीथाध्ययन किया है, इससे भी दोनों का एक दूसरे से पार्थक्य तो सिद्ध होता ही है। निर्युक्तिकार के अभिमत से प्रभावित होकर उन्होंने निशीथ को आचारांग का अध्ययनविशेष अथवा पांचवीं चूला लिख दिया है पर जो २८ प्रकार का आचारप्रकल्प ऊपर बताया गया है उससे भी निशीथ के आचारांग का अध्ययन होने की संगति बिल्कुल नहीं बैठती। क्योंकि २८ प्रकार के आचारप्रकल्प में शस्त्रपरिज्ञा से लेकर विमुक्ति तक के आचारांग के २५ अध्ययन और उग्घाड्ये, अरुग्घाड्ये और आरोवणा - ये निशीथ के तीन प्रकार - इस तरह कुल मिलाकर २८ भेद गिना दिये गये हैं अतः निशीथ की आचारांग के २५ अध्ययनों में किसी भी तरह गणना नहीं की जा सकती। आगम में आचारांग के २५ अध्ययन होने का उल्लेख है न कि २६ का। ऐसी दशा में यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आचारांग से आचारप्रकल्प अर्थात् निशीथ सदा से पृथक् ही माना जाता रहा है।

आचारांग और निशीथ के पृथक्-पृथक् और भिन्न-भिन्न होने का एक सबसे अधिक सशक्त और अकाट्य प्रमाण यह है कि आचारांग कहीं से निर्व्यूढ नहीं है, उद्धत नहीं है जब कि निशीथ को निर्युक्तिकार, वृत्तिकार, चुरणिकार आदि सभी विद्वान् एकमत हो नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से उद्धत अथवा निर्व्यूढ मानते हैं। ऐसी स्थिति में निशीथ को आचारांग का अध्ययन अथवा अंग नहीं माना जा सकता। हां, साध्वाचार के लिये परमो-पयोगी होने के कारण इसे आचारांग की चूला माना जा सकता है, वह भी पांचवीं नहीं अपितु पहली और अंतिम अर्थात् एक मात्र।

<sup>१</sup> आचारप्रकल्पो उ नवमे पुर्व्वमि भासि सोधीय।

ततोऽपि य निर्यूढो. इहाणियतो कि न सदिभवे ॥

[व्यवहारकल्प]

<sup>२</sup> आचारदसाकल्पो व्यवहारो नवमपुव्वाणिसंदा चारितरस्वरणदृठा सुयकइस्सुवरिठविताइं...

[पंचकल्पभाष्य]

उपरोक्त सभी तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक मनन के पश्चात् सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः आचारांग की ऐसी एक भी चूला नहीं थी और न है, जिसकी कि गणना आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों, २५ अध्यायनों, ८५ उद्देशकों अथवा सम्पूर्ण आचारांग के १८००० पदों में सम्मिलित की जा सके। प्रारम्भ से आचारप्राभृत, अपर नाम आचारप्रकल्प, प्रकल्प अथवा निशीथ जो कि पूर्वज्ञान का अंश है, आचारांग की ऐसी चूला माना जाता रहा है जिसकी पदसंख्या आचारांग की पदसंख्या में सम्मिलित नहीं मानी जाती।

इस प्रकार आगमों में उपलब्ध आचारांग की चूलिका से सम्बन्धित उल्लेखों के पर्यवेक्षण से जो स्थिति स्पष्टतः प्रकट होती है वह इस प्रकार है:-

१. समवायांग और नन्दीसूत्र में आगमों के परिचय के प्रकरण में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमें आचारांग की एक भी चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया गया है। उसमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्यायन, ८५ उद्देशन काल तथा ८५ समुद्देशनकाल वाले आचारांग की पदसंख्या १८००० है।

२. पूरे नन्दी सूत्र में एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे कि आचारांग की एक भी चूलिका का अस्तित्व प्रकट होता हो।

३. समवायांग की समवाय संख्या १५, २५ और ८५ में आचारांग की चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख अवश्य है। उसके अतिरिक्त चूलिका के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया गया है। समवाय संख्या २५ में शस्त्रपरिज्ञा से प्रारम्भ कर २५वें विमुक्ति नामक अध्यायन तक आचारांग के पञ्चीसों अध्यायनों के नामों का उल्लेख करने के पश्चात् सन्देहास्पद स्थिति में जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है - "निसीहं पणवीसइमं" - अर्थात् पञ्चीसवां अध्यायन निशीथ।

४. समवाय संख्या ५७ में "आयारचूलावज्जाणं" अर्थात् "आचार चूला को छोड़कर" - इस उल्लेख के साथ आचारांग के २५ अध्यायनों में से आचार-चूला स्वरूप एक अध्यायन को छोड़कर शेष २४ अध्यायनों के साथ सूत्रकृतांग के २३ और स्थानांग के १० अध्यायनों को मिलाकर प्रथम तीन अंगों के अध्यायनों की संख्या ५७ बताई गई है। इस समवाय में भी यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि आचार-चूला आचारांग का कौनसा अध्यायन है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि आचारांग के जिन २५ अध्यायनों के नाम समवाय संख्या २५ में उल्लिखित किये गये हैं वे पञ्चीसों ही अध्यायन उन्हीं नामों के साथ आचारांग में आज भी विद्यमान हैं।

५. संभव है समवाय सं० २५ और ५७ में परिलक्षित होने वाली चूलिका-विषयक सन्देहास्पद स्थिति ही पदसंख्याविषयक, चूलिकाविषयक और आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न आचारांग की चूलिकाएं-आचाराय एवं



आचारांग का परिशिष्ट मात्र मानने विषयक और निशीथ को आचारांग की चूलिका मानने विषयक विवादों की जननी हो ।

६. आचारांग की चूलिका के सम्बन्ध में उपरोक्त उल्लेखों के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का उल्लेख आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता ।

७. आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंच चूलात्मक होने अथवा आचारांग से भिन्न आचाराग, चूलिकास्वरूप, अथवा परिशिष्टमात्र होने का आगम में कहीं कोई उल्लेख नहीं है ।

८. मूल आगम में कहीं एक भी ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिससे यह प्रकट होता हो कि आचारांग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसंख्या १८००० है ।

९. समवाय संख्या २५ में निशीथ विषयक संदिग्ध पाठ और समवाय संख्या ५७ में “आयारचूलावज्जाणं” इस पद द्वारा आचारांग के २५ अध्ययनों में से १ अध्ययन को आचारचूला मान कर उसे अध्ययनों की गणना में न रखने विषयक पाठ संभवतः चूलिका के स्वरूप के प्रस्तुतीकरण (Interpretation) में किसी प्रकार की भ्रान्ति के प्रतिफल हों ।

१०. द्वादशांगी के रचनाकाल में आचारांग के जो २५ अध्ययन थे उनमें से महापरिज्ञा सातवां अध्ययन विलुप्त हो चुका है और शेष २४ अध्ययन आज भी आचारांग में विद्यमान हैं ।

११. आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही गणधरकृत मानते हुए निर्युक्ति-कार ने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जो स्थविरकृत और आचारांग से भिन्न पंचचूलात्मक आचाराग सिद्ध करने की मान्यता प्रकट की है वह मूल आगम की भावना से विपरीत और आगमिक आधारविहीन होने के कारण काल्पनिक अमान्य मान्यताओं की कोटि में परिगणित की जा सकती है ।

१२. आगम में जिन-जिन स्थलों पर दो श्रुतस्कन्धों, २५ अध्ययनों, ८५ उद्देशनकालों, ८५ समुद्देशनकालों और १८ हजार पदों से युक्त स्वरूप वाले आचारांग को उद्दिष्ट कर के कोई भी बात कही गई है, केवल उन्हीं स्थलों पर “आयारस्स भगवाओ”, “से कि आयारे” और “आयारे” इन पदों का प्रयोग किया गया है<sup>१</sup> और जहाँ केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को लक्ष्य कर कोई बात कही गई है वहाँ इन पदों में से किसी भी पद का प्रयोग न किया जाकर “नवण्हं बंभचेरणं” अर्थात् “नवब्रह्मचर्याध्ययनों का” - इस पद का प्रयोग किया गया है ।<sup>२</sup>

उपरोक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थतः तीर्थकरप्रणीत और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित है

<sup>१</sup> (क) नदी एवं समवायांग के द्वादशांगी परिचय प्रकरण ।

(ख) समवायांग, सम० १८, २५ और ८५

<sup>२</sup> नवण्हं बंभचेरणं एकावन्नं उद्देशणकाला पण्णत्ता ।

[समवायांग, सम० ५१]

उसी प्रकार आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी द्वादशांगी का अभिन्न अंग होने के कारण अर्थतः तीर्थंकरप्रणीत और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित है। उपर्युक्तलिखित प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य आगमों में भी इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध है जिनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

“प्रश्नव्याकरण सूत्र” में जिस स्थल पर यह विवेचन आया है कि अमुक-अमुक प्रकार का सावद्य आहार ग्रहण करना साधु को नहीं कल्पता, वहां शिष्य ने प्रश्न किया है—“तो फिर किस प्रकार का आहार ग्रहण करना कल्पता है?” इस प्रश्न के उत्तर में आचारांग के दशवें, तदनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले पिण्डपात अध्ययन का उल्लेख करते हुए बताया गया है—“‘पिण्डपात’ अध्ययन के ११ उद्देशकों में जो आहार ग्रहण करने की निर्दोष विधि बताई गई है उसके अनुसार साधु को आहार ग्रहण करना चाहिये।”<sup>१</sup>

“स्थानांग सूत्र” चतुर्थ स्थान में<sup>२</sup> आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के शय्या, वस्त्रेषणा, आदि चार अध्ययनों में वर्णित विषयों का तथा सातवें स्थानक में आचारांग—द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात सप्तैकका अध्ययनों तथा पिण्डेषण आदि का उल्लेख किया गया है।<sup>३</sup>

‘दशवैकालिक सूत्र’ का ‘छज्जोवणिकाय’ नामक चौथा अध्ययन आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक पन्द्रहवें अध्ययन के आधार पर निर्मित किया गया है। दशवैकालिक का ‘पिण्डेषणा’ नामक पांचवां अध्ययन तो वस्तुतः आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ‘पिण्डेषणा’ नामक प्रथम अध्ययन का सुगठित रूपान्तर है। दोनों आगमों के इन अध्ययनों का नामसाम्य और विषयसाम्य इस तथ्य के सबल साक्षी हैं कि दशवैकालिक के संकलयिता अथवा निर्माला—आचार्य सय्यंभव (भ० महावीर के चतुर्थ पट्टधर) के समक्ष आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध विद्यमान था। इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र का ‘सुवक्कमुद्धी’ नामक सातवां अध्ययन भी आचारांग—द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ‘भाषेषणा’ नामक चतुर्थ अध्ययन का पद्यानुवाद प्रतीत होता है।

अल्पायुष्क मणकमुनि के हित को दृष्टि में रखते हुए आचारांग के द्वितीय श्रुत० अथवा पूर्वा के आधार पर आ० सय्यंभव ने “दशवैकालिक सूत्र” का ग्रथन किया अतः वह आचार्य सय्यंभव की रचना माना जाता है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार यदि शिष्यों के हित के लिए किसी स्थविर ने आचारांग के द्वितीय

<sup>१</sup> अह केरिसयं पुणाइ कप्पइ ? ज तं इक्कारस पिडवायमुद्धं.....

[प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ५]

<sup>२</sup> चत्तारि सेज्जापडिमाओ ५० चत्तारि वत्थपडिमाओ ५० चत्तारि पायपडिमाओ ५०  
चत्तारि टाण्णपडिमाओ ५० ॥४२४॥ [स्थानांग, ठा० ४।३]

<sup>३</sup> मत्त पिडेमगाओ ५० ६६३। सत्त पाण्णेषणाओ ५० ॥६६४

सत्त उग्गहपडिमाओ ५० ॥६६५॥ सत्त सत्तिक्कया ५० ॥६६६ [स्थानांग, स्थान ७]

श्रुतस्कन्ध की रचना की होती तो इसके साथ भी इसके रचनाकार का नाम अवश्य जुड़ा हुआ होता और प्रश्नव्याकरण-सूत्र, स्थानांग, समवायांग आदि एकादशांगी के प्रमुख अंगों में इसके अध्ययन, विषय आदि का उल्लेख एवं परिचय उपलब्ध नहीं होता ।

आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों की शैली और भाषा में द्विरूपता देखकर कतिपय विद्वानों ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध से पश्चाद्द्वतीकाल की कृति है । वस्तुतः यह तर्क एकान्ततः सभी जगह उपयोग में नहीं लाया जा सकता क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ एक ही सूत्र में समास और व्यास दोनों ही प्रकार की वर्णनशैलियाँ और क्लिष्ट एवं सरल-सुगम भाषाशैलियाँ अपनाई गई हैं । ज्ञाताधर्मकथाङ्ग के प्रथम १६ अध्यायनों की वर्णनशैली और इनके पीछे के अध्यायनों की वर्णनशैली में इस प्रकार का अन्तर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है । ज्ञाताधर्मकथांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रत्येक अध्यायन में विषयवस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन है जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में अतिसंक्षेपतः धर्मकथाओं का उल्लेख है । केवल इस आधार पर ज्ञाताधर्मकथांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के भिन्नकर्तृक होने की कल्पना नहीं की जा सकती । इसी तरह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाँच प्रकार के आचार का दार्शनिक एवं तात्त्विक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है । दार्शनिक एवं तात्त्विक विवेचन प्रायः सूत्रशैली में ही पाये जाते हैं । सागर को गगन में समा देने की क्षमता सूत्रशैली में ही है । आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सूत्रशैली को अपनाया गया है अतः वहाँ भाषा, भाव और शैली में गाम्भीर्य एवं गूढार्थता-जन्य क्लिष्टता का आजाना अनिवार्य ही था । द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यह सब कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता । इसका कारण यह है कि इसमें साध्वाचार के लिये आवश्यक छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी बातों का साधक को समीचीनतया ज्ञान कराने के लिए सरल भाषा में उचित विस्तार के साथ समझाया गया है । आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में दार्शनिक एवं तात्त्विक विषय का प्रतिपादन किया गया है अतः उसमें सूत्रशैली अपनाई गई है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साधु के आचार के प्रत्येक पहलू को व्याख्यात्मक ढंग से समझाना आवश्यक था इसलिये यहाँ सरल और सुगम व्यास शैली को अपनाया गया है । वस्तुतः सूत्रात्मक समास शैली के माध्यम से साध्वाचार की सब बातें साधारण साधक को सरलता के साथ हृदयंगम नहीं कराई जा सकतीं ।

दोनों श्रुतस्कन्धों में दृष्टिगत होने वाली दो शैलियों का यही कारण है । वस्तुतः ये दोनों श्रुतस्कन्ध आर्य सुधर्मा की ही कृति हैं ।

### निष्कर्ष

उपरिर्चित सभी तथ्यों के समीचीनतया पर्यालोचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह इस प्रकार है :-

१. आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्ध द्वादशांगी के रचनाकाल में गणधरों द्वारा सर्वप्रथम ग्रथित किये गये थे। आगम में जो आचारांग की पदसंख्या १८,००० उल्लिखित है वह वस्तुतः दोनों श्रुतस्कन्धों सहित सम्पूर्ण आचारांग की है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की।

२. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंचचूलात्मक एवं आगमों के रचनाकाल से पश्चाद्द्वितीय काल में स्थविरकृत आचारांग मात्र होने तथा प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मूल आचारांग मानते हुए केवल उसी की पदसंख्या १८,००० होने की जो मान्यता निर्युक्तिकार आदि द्वारा अभिव्यक्त की गई है वह आगमिक एवं अन्य किसी आधार पर आधारित न होने के कारण निराधार, काल्पनिक एवं अमान्य है।

३. वर्तमानकाल में आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के स्वरूप के सम्बन्ध में जो यह मान्यता प्रायः सर्वत्र प्रचलित है कि संपूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध चार चूलाओं में विभक्त है, यह मान्यता किसी शास्त्र द्वारा सम्मत न होने के कारण शास्त्रीय मान्यता की कोटि में नहीं आती। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि आचारांग की मूलतः अभिन्न अंग के रूप में एक भी चूला न तो कभी थी और न है ही। आगमों के रचनाकाल से लेकर निशीथ के छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने तक नवम पूर्व की तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवां प्राभृत संभवतः आचारांग की चूलिका के रूप में माना जाता रहा और कालान्तर में उस प्राभृत की निशीथ छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापना के पश्चात् निशीथ को आचारांग की चूलिका माना जाने लगा। इतना होने पर भी न कभी आचार-प्राभृत की पद-संख्या आचारांग की पदसंख्या के सम्मिलित मानी गई थी और न निशीथ की ही।

### आचारांग का स्थान एवं महत्व

आचार जीवन को समुन्नत बनाने का साधन, साधना का मूलाधार और मोक्ष का सोपान है अतः आचारांग का जैन वाङ्मय में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। “ज्ञानक्रियाम्यां मोक्षः” - इस सर्वजनसुविदित सुविख्यात सूक्ति के अनुसार सर्वप्रथम सदसद् का ज्ञान तथा तदन्तर उस ज्ञान के माध्यम से विवेकपूर्वक असद् अर्थात् हेय का परित्याग एवं सद् अर्थात् उपादेय का विवेकपूर्वक आचरण करने पर ही साधक द्वारा मोक्ष की उपलब्धि की जा सकती है। आचारांग में मोक्ष-प्राप्ति के बाधक असद् का एवं मोक्ष-प्राप्ति में परम सहायक सद् का ज्ञान कराते हुए समस्त हेय के परित्याग का और उपादेय के आचरण का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से आचारांग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण ही समवायांग और नन्दी सूत्र में द्वादशांगी का परिचय देते हुए इसे द्वादशांगी के क्रम में सर्व-प्रथम स्थान पर रखा गया है।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> से णं अंगट्ठाए पढ्मे अंगे ।

[समवायांग एवं नन्दीसूत्र]

निर्युक्तिकार, टीकाकार और चूर्णिकार ने भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में सर्वप्रथम स्थान माना है। निर्युक्तिकार के उल्लेखानुसार तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम आचारांग का और तदनन्तर शेष अंगों का प्रवर्तन-प्रचलन करते हैं।<sup>१</sup> गणधर भी उसी क्रम से अंगों की रचना करते हैं। आचारांग को अंगों के क्रम में प्रथम स्थान देने का कारण बताते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आचारांग में भोक्ष के उपायों का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है, इसलिए इसको द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान दिया गया है।<sup>२</sup>

आचारांग के चूर्णिकार और टीकाकार दोनों ने ही आगम और निर्युक्ति के उपरोक्त उल्लेखों का समर्थन करते हुये निम्नलिखित रूप में आचारांग की सर्वाधिक महत्ता प्रकट की है :-

“अनन्त अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश दिया, वर्तमान काल के तीर्थंकर जो महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं, वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और अनागत अनन्त काल में जितने भी तीर्थंकर होने वाले हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे, तदनन्तर शेष ११ अंगों का। गणधर भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए इसी अनुक्रम से द्वादशांगी को ग्रथित करते हैं।”<sup>३</sup>

समवायांग की टीका में अभयदेव सूरी ने<sup>४</sup> और नन्दी सूत्र की वृत्ति में

<sup>१</sup> सञ्जेसिमायारो तित्थस्य पवत्तणे पढमयाए ।

सेसाइ अंगाइ, एक्कारस अणुपुब्बीए ॥८॥ [आचारांग निर्युक्ति]

<sup>२</sup> आयारो अंगाणं, पढममंगं दुवालसण्हं पि ।

इत्थ य भोक्खो वाप्रो, एस य सारो पवयएस्स ॥९॥ [वही]

<sup>३</sup> (क) सञ्ज तित्थगरा वि य आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खंति ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडीए गणधरा वि सुत्तं गुथंति । (आचारांग चूर्ण, पृ० ३)

(ख) कदा पुनमंगवताचारः प्रणीतः इत्यत आह सञ्जेसिमित्यादि-सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थप्रवर्तनादावाचारायः प्रथमतया भूद्, भवति, भविष्यति च ततः शेषांगार्थं इति गणधरा अप्पनयंवानुपूर्व्या सूत्रतया अण्तीति ।

[आचारांग शीलांकाचार्यकृत टीका, पृ० ६ राय घनपतिसिंह]

<sup>४</sup> अथ किं तत् पूर्वगतं ? उच्यते, अस्मात्तीर्थंकरः तीर्थप्रवर्तनकाले गणधराणां सर्वसूत्राधारत्वेन पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते तस्मात्पूर्वाणीति भणितानि, गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च, मतान्तरेण तु पूर्वगतसूत्रार्थः पूर्वमहता भाषितो गणधरैरपि पूर्वगतश्रुतमेव पूर्वं रचितं पश्चादाचारादि, नन्वेवं यदाचारनिर्युक्त्यां सञ्जेसिमायारो पढमो इत्यादि, तत्कथम् ? उच्यते, तत्र स्थापनामाश्रित्य तथोक्तमिह त्वन्तररचनां प्रतीत्य भणितं पूर्वं पूर्वाणि कृतानीति ।”

[समवायांग टीका (अभयदेवसूरि विरचिता) पत्र १६६१(१)]

आचार्य मलयगिरि<sup>१</sup> ने उपरोक्त मान्यता के समर्थन में अपना अभिमत व्यक्त करने के पश्चात् इस प्रकार की मान्यता का उल्लेख भी किया है कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से पहला अङ्ग और रचनाक्रम की दृष्टि से १२ वां अङ्ग माना गया है।

मूल आगम समवायांग में तथा नन्दी सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है—“से एण अङ्गट्ठाए पढमे अङ्गे”। इस सूत्र की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—तन्ननु अङ्गाथे प्रथममङ्गम्।” इस सूत्र में प्रयुक्त “ण” शब्द को केवल वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त न मानकर निश्चयार्थक माना जाय तो इस सूत्र का अर्थ होता है—“वह आचारांग अङ्गक्रम की दृष्टि से निश्चितरूपेण प्रथम अङ्ग है।”

मूल आगम में इस प्रकार के निश्चयात्मक स्पष्ट उल्लेख के पश्चात् इस प्रकार के प्रश्न के लिए किञ्चित्मात्र भी अवकाश नहीं रहना चाहिये था कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से प्रथम अङ्ग है अथवा रचना की दृष्टि से। पर यह प्रश्न पूर्वाचार्यों के समक्ष उठा और आज तक इसका कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं हो पाया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक छोटी सी भ्रांति के कारण ही संभवतः इस प्रश्न का प्रादुर्भाव हुआ है। यद्यपि आगम में तो स्पष्ट उल्लेख है कि अङ्गों के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान है परन्तु आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने “त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र”<sup>२</sup> में इस प्रकार का उल्लेख किया है कि प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त होने पर गौतमादि गणधरों ने सर्वप्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और तदनन्तर द्वादशांगी की। गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना से पहले ही चतुर्दश पूर्वों की रचना की गई, इस कारण चतुर्दश पूर्वों की रचना को पूर्व के नाम से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार की स्थिति में गहराई से विचार करने से पहले यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि जब पूर्वों की रचना अङ्गों से पहले कर ली गई तो द्वादशांगी के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि पूर्वों की प्रथम रचना से आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

<sup>१</sup> इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वोप्युच्यन्ते, गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा (च), अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमहं भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति पश्चादाचारादिम्, अत्र चोदक आह नन्विदं पूर्वापरविरुद्धं यस्मादादौ निर्युक्तावुक्तं “सर्वेसि आयारो पढमो” इत्यादि, सत्यमुक्तं, किन्तु तत्स्थापना-मधिकृत्योक्तम्, अक्षररचनामधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि, ततो न कश्चित् पूर्वापरविरोधः।” [नन्दी-मलयगिरिकृता वृत्ति, पृ० ४८१ (धनपतिसिंह)]

<sup>२</sup> सूत्रितानि गणधरैरंगेभ्यः पूर्वमेव यत्।

पूर्वाणीत्यभिधीयन्ते तेनैतानि चतुर्दश ॥१७२॥ [त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

क्योंकि बारहवां अङ्ग 'दृष्टिवाद' है न कि पूर्व। वस्तुतः पूर्व तो दृष्टिवाद के पांच विभागों में से एक विभाग है।<sup>१</sup> सबसे पहले पूर्वों की रचना गणधरों ने कर ली-पर बारहवें अङ्ग दृष्टिवाद के शेष बहुत बड़े भाग का तो ग्रथन आचारांगादि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ। इस प्रकार का तो एक भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिसमें बताया गया हो कि बारहवें अङ्ग दृष्टिवाद का गणधरों द्वारा सबसे पहले ग्रथन किया गया। ऐसी स्थिति में आगम के उल्लेख के अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रचना एवं स्थापना दोनों ही दृष्टियों से द्वादशांगी के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान है।

आचारांग की द्वादशांगी में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, वस्तुतः वह सब दृष्टियों से विचार करने पर पूर्णतः संगत प्रतीत होता है। आचार को नियुक्ति-कार द्वारा अङ्गों का सार माना गया है।<sup>२</sup> क्योंकि अक्षय अव्याबाध शिवसुख की प्राप्ति का मूलाधार आचार है। उस आचार अर्थात् साध्वाचार का आचारांग में सांगोपांग समीचीनरूपेण निरूपण होने के कारण इसे द्वादशांगी में प्रथम स्थान दिया गया है। आचारांग सूत्र के विशिष्ट ज्ञाता मुनि को ही उपाध्याय और आचार्य पद के योग्य माना जाय, इस प्रकार के अनेक उल्लेख आगम साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग का सर्वप्रथम अध्ययन करना साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्य रखने के साथ-साथ इस प्रकार का भी विधान किया गया था कि यदि कोई, साधु अथवा साध्वी, आचारांग का सम्यक् रूपेण अध्ययन करने से पूर्व ही अन्य आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता है तो वह लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकारी बन जाता है।<sup>३</sup> इतना ही नहीं आचारांग का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त नहीं करने वाले साधु को किसी भी प्रकार का पद नहीं दिया जाता था। आचारांग के अध्ययन के पश्चात् ही प्रत्येक साधु धर्मानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़ने का अधिकारी समझा जाता था। नवदीक्षित मुनि की उपस्थापना भी आचारांग के "शस्त्र-परिज्ञा" अध्ययन द्वारा की जाती थी। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग का अध्ययन करने के पश्चात् माना जाता था। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वादशांगी में आचारांग का कितना महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है।

वर्तमान में आचारांग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन, आगमों के अध्ययनक्रम में सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण आचारांग की सबसे पहले वाचना की अनिवार्यता नहीं रही है।

आचारांग के परिशीलन एवं निदिध्यासन के पश्चात् बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर अन्तर्मन यही साक्षी देता

<sup>१</sup> परिकर्म-सूत्र-पूर्वानुयोग-पूर्वगत-त्रिलिका: पंच ।

स्युद्धं दृष्टिवादभेदाः, पूर्वाणि चतुर्दशाणि पूर्वगते ॥१६०॥

{ अभिधानचिन्तामणि }

<sup>२</sup> अंगाणं किं सारो ? आचारो,.....

{ आचारांग नियुक्ति }

<sup>३</sup> निशीथ सूत्र, १६ - २० ।

है कि वस्तुतः आचारांग विश्वधर्म का प्रतीक है। विश्वबन्धुत्व की भावनाओं से श्रोतःश्रोत सच्चे और आदर्श मानवीय सिद्धान्तों का इसमें सजीव वर्णन होने के कारण आचारांग का केवल द्वादशांगी में ही नहीं अपितु संसार के समग्र धर्मशास्त्रों में एक बड़ा ऊंचा एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

आचारांग के ह्रास एवं तथाकथित विच्छेद विषयक विविध मान्यताओं पर “द्वादशांगी का ह्रास” शीर्षक आगे के प्रकरण में यथाशक्य समुचित प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

## २. सूत्रकृतांग

द्वादशांगी के क्रम में सूत्रकृतांग का दूसरा स्थान है। नियुक्तिकार ने इस अंग के सुयगड के अलावा सूतगड, सुत्तकड और सुयगड-ये तीन और नाम भी बताये हैं।<sup>१</sup> समवायांग में आचारांग के पश्चात् सूत्र कृतांग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि तत्वों का निरूपण एवं नवदीक्षितों के लिए हितकर उपदेश हैं। इसमें एक सौ अस्सी क्रियावादी मतों, चौरासी अक्रियावादी मतों, सड़सठ अज्ञानवादी मतों एवं बत्तीस विनयवादी मतों—इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ अन्य मतों पर चर्चा की गई है। इन सब की समीक्षा के पश्चात् यह बताया गया है कि अहिंसा ही धर्म का मूल स्वरूप और श्रेष्ठ तत्व है।

सूत्र कृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह, और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात इस तरह कुल २३ अध्यायन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल तथा ३६,००० पद हैं। समवायांग सूत्र की २३ वीं समवाय में सूत्र कृतांग के तेबीस अध्यायनों का नामोल्लेख भी किया गया है।

नंदिसूत्र में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए बताया गया है कि इसमें लोक, भूलोक, लोकालोक, जीव अजीव, स्वसमय, तथा परसमय का निदर्शन और क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ३६३ पाषण्ड मतों पर विचार किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के अंग पण्णत्ति, धवला, जयधवला, राजवार्त्तिक आदि मान्य ग्रन्थों में जो सूत्रकृतांग का परिचय दिया गया है वह काफी अंशों में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा दिये गए इस अंग के परिचय से मिलता-जुलता है।

दिगम्बर परम्परा के “प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी” नामक ग्रंथ में सूत्रकृतांग के २३ अध्यायन हैं, इस प्रकार का उल्लेख—“तेवीसाए सुद्दयड<sup>२</sup> ज्झारोसु” — इस पद से किया है। इस पाठ की प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में इन तेबीस अध्यायनों के नाम

<sup>१</sup> सुयगड अंगारणं बितियं, तस्स य इमाणि नामाणि ।

सूतगडं, सुत्तकडं, सुयगडं चेव गोण्णाइं ॥ २ ॥

[सूत्रकृतांग आ० जवाहरलालजी म०द्वारा संपादित, प्रस्ता० पृ० ६]

<sup>२</sup> सूत्र का प्राकृत रूप सुद् या सुत्त और कृत का प्राकृत रूप यड या कड, इस प्रकार संस्कृत शब्द सूत्रकृत का प्राकृत स्वरूप सुद्दयड होता है। [सम्पादक]



दिये गये हैं, जिनका श्वेताम्बर परम्परा को आवश्यक वृत्ति में दिये गए नामों से नगण्य अन्तर को छोड़ पूर्णं साम्य है ।

प्रथम श्रुतस्कन्ध - इसके १६ अध्यायनों में से प्रथम "समय" अध्यायन में पर-समय का परिचय देकर उसका निरसन किया गया है । यहां परिग्रह को बन्ध और हिंसा को वैरवृद्धि का कारण बताकर कुछ परवादियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । उनमें भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारक-वाद (सांख्य), आत्म षष्टवाद, पंच स्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्तृत्ववाद और वैराशिक आदि का परिचय देकर उन वादों का निरसन किया गया है ।

दूसरे अध्यायन में पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीषहजय, कषायजय, आदि का उपदेश, सूर्यास्त के पश्चात् विहार का निषेध और काम-मोह से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है ।

तीसरे उपसर्ग अध्यायन में अनुकूल, प्रतिकूल परीषह सहन का उपदेश देते हुए अनुकूल परीषह से प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अधिक हानि बताई गई है । साथ ही इसमें उस समय की विभिन्न मान्यताओं का परिचय देते हुए कहा गया है कि कुछ लोग जहाँ जल से, कुछ लोग आहार ग्रहण करने से, कुछ आहार ग्रहण न करने से मुक्ति मानते हैं, वहाँ आसिल, द्वीपायन आदि ऋषि पानी पीने और वनस्पति भक्षण से सिद्धि मानते हैं । इस अध्यायन के अन्त में ग्लान-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश दिया गया है ।

"स्त्री परिज्ञा" नामक चतुर्थ अध्यायन में स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहने का उपदेश दिया गया है ।

पांचवे नरकविभक्ति नामक अध्यायन के दो उद्देशकों में यह बताते हुए कि भोगों से नरक गति होती है—नरक के दुःखों का वर्णन किया गया है ।

छठे "वीरस्तुति" नामक अध्यायन में भगवान् महावीर के गुणानुवाद और उपमाओं का वर्णन किया गया है ।

सातवें "कुशील" नामक अध्यायन में बताया गया है कि जो हिंसक जिस जीव-काय की हिंसा करता है, वह उसी जीविकाय में उत्पन्न होकर वेदना भोगता है । यहां उपसर्गसहन एवं रागद्वेष की निवृत्ति से कर्मक्षय और मोक्ष का लाभ बताया गया है ।

आठवें, वीर्य अध्यायन में बाल और पंडित वीर्य के भेद से मनुष्य की शक्ति के उपयोग की दृष्टि से २ प्रकार बतलाये गये हैं । इन्हें कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य भी कहा गया है ।

नौवें—"धर्म" अध्यायन में धर्म का स्वरूप बतलाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग तथा हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और कषाय को कर्मबन्ध का कारण बतलाकर इनके त्याग एवं अनाचारवर्जन का उपदेश भी दिया गया है ।

दशवें—“समाधि” अध्ययन में द्विसानिषेध, संयमपालन और समत्व का उपदेश दिया गया है। धार्मिक व्यक्ति को पाप से सदा उसी प्रकार डरते रहने का उपदेश दिया गया है जिस प्रकार कि मृग सिंह से डरता रहता है।

ग्यारहवें “मार्ग” अध्ययन में मोक्ष-मार्ग पर विचार किया गया है।

बारहवें “समवसरण” अध्ययन में अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी, और क्रियावादी ऐसे ४ समवसरणों का वर्णन है। इसमें मुक्ति, एकान्तक्रियावाद से नहीं किन्तु सर्वज्ञसम्मत ज्ञान-क्रिया से बताई गई है।

तेरहवें अध्ययन में यथातथ्य स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि क्रोध के दुष्परिणाम समझकर सुशिष्य को पापभीरू, लज्जावान्, श्रद्धालु, अमायी और आज्ञापालक होना चाहिये। इसमें यह भी बताया गया है कि अभिमानी का तप निरर्थक होता है और ज्ञान एवं लाभ का मद करने वाला अज्ञानी है अतः मद नहीं करने वाला ही पण्डित एवं मोक्षगामी कहा गया है।

चौदहवें—“ग्रंथ अध्ययन” में जीवननिर्माण की विविध शिक्षाओं के रूप में बताया गया है कि साधक को प्रथम गुरुकुलवास-गुरुजनों का सहवास आवश्यक है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और अप्रमाद साधना के प्रमुख अंग हैं। इसमें आगे कहा गया है कि साधक को हास्य, अप्रिय सत्य, प्रतिष्ठा की चाह और कषाय से बचते रहना आवश्यक है।

पन्द्रहवें—“आदान अध्ययन” में स्त्री लिंग-त्याग और निष्काम-साधना का उपदेश देते हुए रत्नत्रय की आराधना से भवभ्रमण मिटना बतलाया गया है।

सोलहवें—“गाथा अध्ययन” में साधु के “माहन”, “श्रमण”, “भिक्षु” और “निर्ग्रन्थ” ये चार नाम देकर इनकी व्याख्या की गई है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन में। प्रथम “पुण्डरीक” अध्ययन में बताया गया है कि संसार सरोवर में साधु रूक्ष वृत्ति से रहता हुआ राजा आदि अधिकारी को निस्पृह भाव से धर्मोपदेश करते हुए स्व-पर कल्याण का अधिकारी होता है। अन्त में श्रमण के सोलह पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं।

दूसरे—“क्रियास्थान अध्याय” में १३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है। क्रियाओं के सन्दर्भ में धर्मस्थान को उपशान्त और अधर्म को अनुपशान्त स्थान कहा गया है। संक्षेप में संसारी जीवों के तीन भाग किये गये हैं। इनमें निरारम्भी मुनि-जीवन को धर्मपक्ष कह कर उपादेय और महा आरम्भी गृहस्थों के अधर्मपक्ष को और मिश्र पक्ष को हेय बतलाया गया है। किन्तु धार्मिक गृहस्थों का धर्माधर्ममिश्रित जीवन उपादेय कहा गया है।

तीसरे “आहार परिज्ञा अध्ययन” में जीवों के आहार का विचार किया गया है। वनस्पति के आहार पर विस्तृत विचार है। वनस्पतियां पृथ्वीयौनिक, वृक्षयौनिक रूप से मुख्यतः दो प्रकार की बताई गई हैं। वृक्षों की उत्पत्ति का कारण आहारक शरीर और उनके विभिन्न १० अंगों में भिन्न-भिन्न जीव बतलाये गये

है। कुछ वनस्पतियां उदकयौनिक भी ब्रताई गई हैं। अन्त में प्राणभूत जीव तत्व की अनेक योनियों में उत्पत्ति, आहार, शरीर और तत्वों के स्वरूप को पहिचान कर मृत्ति को "आहारगुप्त" रहने की शिक्षा दी गई है।

चौथे - "प्रत्याख्यान अध्ययन" में, यह बताते हुए कि प्रत्याख्यान नहीं करने से सर्वदा पाप-कर्मों का उपाजन होता है, प्रत्याख्यान करने की शिक्षा दी गई है।

पांचवें - "आचारभूत अध्ययन" में एकान्त वचन का निषेध करते हुए अनाचार के त्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे आर्द्रकुमार के अध्ययन में आर्द्रकुमार के गोशालक, ब्राह्मणों और हस्तितापसों के साथ संवाद का वर्णन किया गया है। प्रसंगोपात्त शाक्य भिक्षुओं की भोजनचर्या का भी इसमें वर्णन है।

सातवें - "नालन्दीय अध्ययन" में लेप गाथापति के धार्मिक जीवन और उसके द्वारा भवन-निर्माण से बची हुई सामग्री से बनाई गई "सेसदविया" नाम की एक उदकशाला का उल्लेख है।

इसके पश्चात् उस उदकशाला से ईशान कोणस्थ वनखण्ड के एक भाग में विराजमान इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वपत्य पैठालपुत्र का संवाद और गौतम से प्रतिबोध पाकर पैठालपुत्र द्वारा भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म का परित्याग कर पंचमहाव्रत-धर्म स्वीकार करने का उल्लेख है।

उपरोक्त संवाद में प्रश्नोत्तर के संदर्भ में एक स्थान पर यह बताया गया है कि जो लोग सम्पूर्ण पापों का परित्याग नहीं कर सकने की स्थिति में देश-विरति धर्म स्वीकार कर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं वह त्याग भी उनके लिये कुशल एवं लाभ का कारण होता है। इसमें स्थावर काय की हिंसा के खुले रखने का त्याग कराने वाले को दोष नहीं लगता। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है :-

रत्नपुर के राजा ने एक दिन कौमुदी महोत्सव के अवसर पर अपने नगर में घोषणा करवाई कि महोत्सव के दिन कोई भी पुरुष नगर में न रहे। यदि कोई व्यक्ति रात्रि के समय नगर में रहा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जायगा। राजाज्ञानुसार कौमुदी-महोत्सव के दिन सभी लोग संध्या होते-होते नगर से बाहर चले गये लेकिन एक व्यापारी के छः पुत्र कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समय पर नगर से बाहर नहीं जा सके। सूर्यास्त के पश्चात् जब वे श्रेष्ठिपुत्र नगर से बाहर जाने के लिए उद्यत हुए तो उन्होंने नगर के सब द्वार बन्द पाये। परिणामतः भयभीत होकर वे छहों भाई किसी गुप्त स्थान में छुप बैठे।

दूसरे दिन गुप्तचरों द्वारा राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि रात्रि में ६ श्रेष्ठिपुत्र राजाज्ञा का उल्लंघन कर नगर के अन्दर ही रहे, तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। राजा ने छहों वरिण्कपुत्रों के वध की आज्ञा दी। अपने पुत्रों के वध की सूचना मिलते ही श्रेष्ठी बड़ा दुःखित हुआ। उसने राजा के पास जाकर प्रार्थना की -

“स्वामिन ! मेरे कुल का सर्वनाश मत करिये । मेरे पास जितनी सम्पत्ति है वह सब लेकर भी मेरे पुत्रों को जीवनदान दे दीजिये ।”

राजा ने कुपित हो कहा — “पापिष्ठ ! राजा की आज्ञा का उल्लंघन राजा के प्राणहरण तुल्य है । तेरे पुत्रों ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की है अतः मैं उन्हें किसी भी तरह क्षमा नहीं कर सकता ।”

श्रेष्ठी ने पुनः करुण स्वर में प्रार्थना की — “स्वामिन् ! यदि प्राणदण्ड ही देना है तो मेरे ६ पुत्रों में से किसी एक को प्राणदण्ड देकर शेष को दण्डमुक्त कर दीजिये ।”

राजा ने श्रेष्ठी की इस प्रार्थना को भी स्वीकार नहीं किया । तत्पश्चात् श्रेष्ठी ने क्रमशः चार, तीन और दो पुत्रों को छोड़ने की प्रार्थनाएं की पर राजा ने उसकी एक भी प्रार्थना स्वीकार नहीं की । अन्त में श्रेष्ठी ने धवड़ाकर प्रतिष्ठित नागरिकों के माध्यम से अत्यन्त विनयपूर्वक प्रार्थना की — “स्वामिन् ! आप प्रजा के पिता हैं अतः हमारी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है । हम आपकी शरण में हैं, चाहे तारो या मारो ।” इस प्रकार कहते हुए वह श्रेष्ठी राजा के पैरों पर गिर पड़ा ।

श्रेष्ठी की सानुनय प्रार्थना से द्रवित हो राजा ने भी उसके ६ पुत्रों में से एक ज्येष्ठ पुत्र को मुक्त कर दिया । सर्वनाश की अपेक्षा एक ज्येष्ठ पुत्र बचा इसी से संतोष मानकर श्रेष्ठी अपने घर गया ।

जिस प्रकार राजा द्वारा श्रेष्ठी के सभी पुत्रों को मृत्युदण्ड देने का आग्रह करने पर श्रेष्ठी ने अपने एक पुत्र के दण्डमुक्त होने में भी बड़ा संतोष माना । यहां पर गांच पुत्रों की मृत्यु में श्रेष्ठी को दोषी नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रेष्ठी के मन में उनकी मृत्यु के लिए किञ्चित्मात्र भी अनुमति नहीं अपितु विवशता थी । उसी प्रकार साधु द्वारा षट्कार्यिक जीवों की हिंसा से बचाने का उपदेश होने पर भी गहस्थ राजा के समान केवल असकाय की हिंसा का ही त्याग करता है, ५ स्थावरकाय के जीवों की हिंसा नहीं छोड़ता, इसमें व्रतदाता मुनि दोष का भागी नहीं माना जा सकता ।

सूत्र कृतांग वस्तुतः प्रत्येक साधक के लिये दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति में बड़ा पथप्रदर्शक है । मुनियों के लिये इसका अध्ययन, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन परमावश्यक है । इसमें उच्च आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढालने, सभी प्रकार के अन्य मतों का परित्याग करने, विनय को प्रधान भूषण मानकर आदर्श श्रमणाचार का पालन करने आदि की बड़ी प्रभावपूर्ण ढंग से प्रेरणाएं दी गई हैं । दार्शनिक दृष्टि से यह आगम उस समय की चिन्तन प्रणाली का बड़ा ही मनोहारी दिग्दर्शन प्रस्तुत करता है ।

सूत्रकृतांग में बताया गया है कि साधना के क्षेत्र में आने वाले भीषण से भीषण उपसर्गों से विचलित, परिचितों के स्नेहसिक्त मधुर संलापों से पतित न

होते हुए आध्यात्मिक साधना के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने वाला साधक ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। सूत्रकृतांग में आध्यात्मिक विषयों पर दिये गये सुन्दर एवं सोदाहरण विवेचनों से भारतीय जीवन, दर्शन और अध्यात्मतत्व का भलीभांति बोध हो जाता है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हमारे यहां भारतवर्ष में कौन-कौन से धर्म एवं संप्रदाय प्रचलित थे और उनकी किस-किस प्रकार की मान्यताएं थीं, इस सम्बन्ध में सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले एवं बारहवें तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'पुषडरीक', 'आर्द्रकीय' और 'नालंदीय' अध्यायनों में बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। वह वस्तुतः ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि अनेक दृष्टियों से परमोपयोगी है।

### ३. स्थानांग

द्वादशांगी में स्थानांग का तीसरा स्थान है। समवायांग एवं नन्दी सूत्र में जो भागों का परिचय दिया गया है उसमें स्थानांग का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है :-

स्थानांग नामक तीसरे अङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्व-पर उभय समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमें जीवादिक पदार्थों का उनके द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें एक स्थान, दो स्थान, यावत् दश स्थान से दशविध वक्तव्यता की स्थापना तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि द्रव्यों की प्ररूपणा की गई है। स्थानांग में वाचनाएं, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तियां, वेष्टक, निर्युक्तियां और संग्रहणियां - ये प्रत्येक संख्यात-संख्यात हैं। अंग की अपेक्षा यह तीसरा अंग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्यायन, २१ उद्देशनकाल, २१ समुद्देशनकाल, ७२,००० पद, अक्षर संख्यात, गम अनन्त, पर्याय अनन्त, तथा इसकी वर्णन-परिधि में असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावर हैं। वर्तमान में उपलब्ध इस सूत्र का पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

स्थानांग एवं समवायांग - ये दो सूत्र अन्य दश अङ्गों से भिन्न प्रकार के संकलनात्मक अङ्ग हैं। इन दोनों अङ्गों में जैन प्रवचनसम्मत तथा लोकसम्मत तथ्यों के रूप में संसार की प्रायः सभी वस्तुओं का संख्या के क्रम से कोश-शैली में संग्रहात्मक निरूपण किया गया है। अग्रणीत तथ्यों को स्थायी रूप से चिरकाल तक स्मृतिपटल पर अङ्कित रखने और अथाह ज्ञानार्णव में से अभीष्ट तथ्य को तत्काल खोज निकालने की अद्भुत क्षमताशालिनी जिस शैली का इन दो अङ्गों की रचना में उपयोग किया गया है वह वस्तुतः अद्वितीय और बड़ी ही उपयोगी शैली है।

स्थानांग में संख्याक्रम से द्रव्य, गुण एवं क्रियाओं आदि का निरूपण किया गया है। इसके प्रथम प्रकरण में एक-एक, दूसरे में दो-दो, तीसरे में तीन-तीन,

इस अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण में दश-दश वस्तुओं का वर्णन किया गया है। जिस संख्या की वस्तु का निरूपण जिस प्रकरण में किया गया है, उसी संख्या के आधार पर इसके प्रकरणों का नाम प्रथम स्थान, द्वितीय स्थान, तृतीय स्थान और इसी अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण का नाम दशम स्थान रखा गया है।

जिस प्रकरण में तत्संख्याविषयक निरूपणीय सामग्री का प्राचुर्य हो गया, वहाँ उस प्रकरण के उपविभाग कर दिये गये हैं। दूसरे, तीसरे तथा चौथे - इन तीनों प्रकरणों के, प्रत्येक के चार-चार उपविभाग और पांचवें प्रकरण के ३ उपविभाग हैं। प्रथम तथा छठे से दशवें तक इन ६ स्थानों में पृथक् कोई उप-विभाग नहीं है। १५ उद्देशकों और ६ अर्घ्ययनों के, प्रत्येक के एक-एक उद्देशनकाल के हिसाब से स्थानांग सूत्र के कुल मिला कर २१ उद्देशनकाल और २१ ही समुद्देशनकाल होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के निर्वाण-पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक के अर्वांतर काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उसे देखकर कुछ इतिहास के विद्वानों को इस प्रकार की भ्रांति होती है कि स्थानांग सूत्र की रचना गणधरों द्वारा नहीं अपितु किसी अर्वाचोचन आचार्य द्वारा की गई है। अपने इस अभिमत की पुष्टि में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—“स्थानांगसूत्र के नौवें स्थान में गोदास से कोडिन्न तक के ९ गणों का उल्लेख है पर वस्तुतः वे गण भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० वर्ष पश्चात् अस्तित्व में आये। इसी प्रकार ७ वें स्थान में जो ७ निन्हवों का उल्लेख है उनमें रोहगुप्त नामक निन्हव वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्त में हुआ है। भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० और ६०० वर्षों पश्चात् घटित हुई घटनाओं का स्थानांग में उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि इसकी रचना भगवान् महावीर की विद्यमानता में गणधरों द्वारा नहीं अपितु भगवान् के निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् किन्हीं आचार्यों द्वारा की गई है।”

किन्तु इस प्रकार केवल इन उल्लेखों के आधार पर यह मान्यता बना लेना कि स्थानांग सूत्र की रचना ही किसी परवर्ती आचार्य ने की है, किसी भी दशा में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। द्वादशांगी के विलुप्त हो जाने की मान्यता अभिव्यक्त करने वाली दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि द्वादशांगी का अर्थतः उपदेश भगवान् महावीर ने दिया और गणधरों ने उसी को शब्द रूप में ग्रथित किया। ऐसी स्थिति में किसी पश्चाद्वर्ती घटना का स्थानांग में उल्लेख देखकर बिना विचारे ही यह कह देना कि यह गणधर की कृति नहीं किसी पश्चाद्वर्ती आचार्य की कृति है - कदापि न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में दो बातें विशेष विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि अतिशयज्ञानी सूत्रकार ने कतिपय भावी घटनाओं की पूर्वसूचना बहुत पहले ही दे दी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं जैसे कि स्थानांग के नवम स्थान में आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी

तीर्थंकर महापद्म का चरित्रचित्रण किया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुति-परम्परा से चला आने वाला आगमपाठ स्कंदिलाचार्य और देवर्द्धि गणी द्वारा आगमवाचना में स्थिर किया गया। संभव है उस स्थिरीकरण के समय मूल भावों को यथावत् सुरक्षित रखते हुए भी उसमें प्रसंगोचित समझ कर कुछ आवश्यक पाठ बढ़ाया गया हो। यह भी संभव है कि भविष्यकाल की घटनाओं के रूप में जिन घटनाओं का आगम में उल्लेख किया गया था, आगमवाचना के समय तक वे घटनाएं घटित हो चुकने के कारण भावी घटनाएं न रह कर भूत की घटनाएं बन चुकी थीं अतः उन्हें यथावत् भविष्य की घटनाओं के रूप में ही उल्लिखित किये जाने की अवस्था में कहीं भ्रांति न हो जाय इस दृष्टि से आगम-वाचना के समय सर्वसम्मति से संघ द्वारा भविष्य काल की क्रिया के स्थान पर भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर दिया गया हो। शासनहित में सामयिक संवर्द्धन करने का गीतार्थ आचार्यों को पूर्ण अधिकार था।

ऐसी स्थिति में यह शंका करना कि स्थानांग मौलिक नहीं है— यह सर्वथा अदूरदर्शितापूर्ण एवं अनुचित है।

स्थानांग के १० स्थानों में क्रमशः जो विवरण दिया गया है उसको संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :-

(१) प्रथम स्थान में आत्मा, अनात्मा, धर्म, अधर्म, बंध और मोक्ष आदि को सामान्य दृष्टि से एक बतलाया गया है। गुण-धर्म एवं स्वभाव की समानता के कारण अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक बताया गया है। आर्द्रा चित्रा और स्वाति का एक-एक तारा बताकर प्रकरण पूरा किया गया है।

(२) दूसरे प्रकरण में बोध की सुलभता के लिये जीवादि पदार्थों के दो-दो प्रकार किये हैं। जैसे आत्मा के दो प्रकार—सिद्ध और संसारी। धर्म दो प्रकार का आगार धर्म, अनागार धर्म, श्रुतधर्म, चारित्र्यधर्म। बंध के दो प्रकार—रागबन्ध एवं द्वेषबंध। वीतराग के दो प्रकार—उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय। काल के दो प्रकार—अवसर्पिणी काल एवं उत्सर्पिणी काल। राशि दो—जीवराशि तथा अजीव राशि। दो प्रकार के मरण—बालमरण और पण्डितमरण।

(३) तीसरे विभाग में कुछ और स्थूल दृष्टि से विचार किया गया है। जैसे—दृष्टि ३—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्र दृष्टि। तीन वेद—स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद। पक्ष तीन—धर्म पक्ष, अधर्म पक्ष और धर्माधर्म पक्ष। लोक तीन—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। आहार के तीन प्रकार—सचित्त आहार अचित्त आहार और मिश्र आहार। तीन प्रकार का परिग्रह—सचित्त परिग्रह, दास-दासी-पशु आदि, अचित्त परिग्रह—सोना, चांदी आदि, मिश्र परिग्रह—आभूषणयुक्त दासदासी। अशुभ दीर्घायु के तीन कारण—प्राणघात करना, मृषा बोलना एवं तथारूप श्रमण की हीलना, निन्दा तथा तिरस्कार करना एवं अमनोश्रमण आदि से प्रतिलाभ देना इत्यादि।

(४) चौथे प्रकरण में स्त्री-पुरुष, आचार्य श्रावक आदि के चार-चार विकल्प कर सैकड़ों प्रकार की चौभंगियां बताई गई हैं। जैसे-सखूर ऊपर से मृदु और अन्दर से कठोर (१), बादाम जिस प्रकार ऊपर से कठोर अन्दर कोमल (२), जिस प्रकार सुपारी अन्दर और बाहर दोनों ही ओर से कठोर (३) और द्राक्षा-जिस प्रकार ऊपर से भी मृदु तथा अन्दर से भी मृदु (४)।

चार पुरुष-रूपवान-गुणहीन, (१) गुणवान-रूपहीन, (२) रूप और गुण दोनों से रहित (३), तथा रूप और गुण उभय-सम्पन्न (४)।

चार प्रकार की नारियां-रूपवती पर शीलविहीन (१), शीलवती पर रूपविहीन (२), रूप और शील उभयसम्पन्न, (३) रूप और शील उभय-हीन (४)।

चार प्रकार के कुंभ - अमृत का कुंभ-मुख पर विष (१) विषकुंभ-मुख पर अमृत (२), विषकुंभ और विषभरा ढक्कन (३), तथा अमृत का घड़ा-अमृत का ढक्कन (४)।

चार प्रकार के पुरुष - कार्य करे पर मान नहीं, (१), मान करे कार्य नहीं (२), कार्य भी करे और मान भी करे (३) और न कार्य करे न मान करे (४) इत्यादि।

(५) पांचवें प्रकरण में जीवादि पदार्थों को ५ प्रकार से बतलाया है। जीव के ५ प्रकार-एकेन्द्रिय (१), द्वीन्द्रिय (२), त्रीन्द्रिय (३), चतुरिन्द्रिय (४) और पंचेन्द्रिय (५)।

विषय पांच - शब्द विषय (१), रूप (२), गन्ध (३), रस (४) और स्पर्श विषय (५)।

इन्द्रियां ५ - श्रवणेन्द्रिय (१), चक्षु इन्द्रिय (२), घ्राणेन्द्रिय (३), रसनेन्द्रिय (४) और स्पर्शन-इन्द्रिय (५)।

जीव के ५ गुण - उत्थान (१), क्रम (२), बल (३), वीर्य, (४) और पुरुषकार-पराक्रम (५)।

अजीव के पांच प्रकार - धर्मास्तिकाय (१), अधर्मास्तिकाय (२), आकाशास्तिकाय (३), पुद्गलास्तिकाय (४), और काल द्रव्य (५)।

आस्रव के पांच प्रकार - मिथ्यात्व (१), अविरति (२), प्रमाद (३), कषाय (४) और अशुभयोग-आस्रव (५)।

पांच प्रकार का मिथ्यात्व - आभिग्रहिक (१), अनाभिग्रहिक (२), अभिनिवेश (३) संशय मिथ्यात्व (४) और अनाभोग मिथ्यात्व (५) इत्यादि।

(६) छठे प्रकरण में जीवादि पदार्थों का छः-छः की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे - जीव छः प्रकार का - पृथ्वीकायिक जीव (१), अप्कायिक जीव (२), तेजस्कायिक जीव (३), वायुकायिक जीव (४), वनस्पतिकायिक जीव



(५) और त्रसकायिक जीव (६) । जीव की छः प्रकार की लेश्या (मनोवृत्ति)—कृष्ण लेश्या (१), नील लेश्या (२), कापोत लेश्या (३), तेजो लेश्या (४), पद्म लेश्या (५) और शुक्ल लेश्या (६) । आहार-ग्रहण के छः कारण, छः प्रकार का बाह्यतप, छः प्रकार का आन्तरिक तप इत्यादि ।

सातवें प्रकरण में पूर्वोक्त पदार्थों का सात की संख्या में वर्णन किया गया है । जैसे—जीव के सात प्रकार—सूक्ष्म एकेन्द्रिय (१), बादर एकेन्द्रिय (२), द्वीन्द्रिय (३), त्रीन्द्रिय (४), चतुरिन्द्रिय (५), असंज्ञी पंचेन्द्रिय (६) और संज्ञी पंचेन्द्रिय (७) । सात भय के स्थान—इस लोक का भय (१), परलोक का भय (२), आदान भय (३), आकस्मिक भय (४), अयश भय (५), प्राजीविका भय (६) और मरण भय (७) । सप्त स्वर का स्वर मण्डल में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । इसमें जमालि आदि सात निन्हवों का भी उल्लेख किया गया है ।

(८) आठवें स्थान में आत्मा आदि का आठ संख्या से वर्णन किया गया है । जैसे—आत्मा आठ प्रकार का—द्रव्य आत्मा (१), कषाय आत्मा (२), योग आत्मा (३), उपयोग आत्मा (४), ज्ञान आत्मा (५), दर्शन आत्मा (६), चारित्र्य आत्मा (७) और वीर्य आत्मा (८) । आठ प्रकार का मदस्थान—जाति मद स्थान (१), कुल मद स्थान (२), बल मद (३), रूप मद (४), लाभ मद (५), तप मद (६), श्रुत मद (७) और ऐश्वर्य मद स्थान (८) । आठ प्रकार की समिति—ईर्या-समिति (१), भाषा-समिति (२), एषणा-समिति (३), आदान-निक्षेपणा-समिति (४), परिष्ठापना-समिति (५), मन-समिति (६), वाक्समिति (७) और काय-समिति (८) ।

(९) नौवें स्थान में प्रत्येक पदार्थ का ९ की संख्या में वर्णन किया गया है । इसमें नव तत्त्व, नव ब्रह्मचर्य-गुप्ति और चक्रवर्ती की ९ निधियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है । पुण्य के ९ प्रकार—अन्न पुण्य (१), पान पुण्य (२), लयन पुण्य (३), शयन पुण्य (४), वस्त्र पुण्य (५), मन पुण्य (६), वचन पुण्य (७) काय पुण्य (८) और नमस्कार पुण्य (९) । ९ पाप के स्थान—प्राणा-तिपात (१), मृषाभाषण (२), चौर्य (३), अब्रह्म (४), परिग्रह (५), क्रोध (६), मान (७) माया (८) और लोभ (९) । नव कोटि प्रत्याख्यान—हिंस्र करना नहीं, कराना नहीं, करने वाले को भला जानना नहीं (३), पकाना नहीं, पकवाना नहीं और पकाने वाले का अनुमोदन करना नहीं (६), न खरीदना, न खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना (९) । इत्यादि ।

(१०) दशवें प्रकरण में प्रत्येक वस्तु का १०-१० की संख्या से वर्णन किया गया है । धर्म के १० प्रकार—क्षान्ति (१), मुक्ति-निर्लोभता (२), आजंव-धर्म (३), मार्दवधर्म (४), लाघवधर्म (५), सत्यधर्म (६), संयमधर्म (७), तपधर्म (८), त्यागधर्म (९) और ब्रह्मचर्यवास (१०) । १० प्रकार का धर्म-ग्रामधर्म (१), नगरधर्म (२), कुलधर्म (३), गणधर्म (४), संघधर्म (५),

राष्ट्रधर्म (६), पाषण्डधर्म (७), श्रुतधर्म (८), चारित्रधर्म (९) और अस्ति-कायधर्म-वस्तुधर्म (१०) । दश प्रकार का दान—अनुकम्पा दान (१), संग्रहदान (२), भयदान (३), शोकदान (४), लज्जादान (५), अहंकारदान (६), अधर्मदान (७), धर्मदान (८), भविष्य के लाभ हेतु दान (९) और उपकार के बदले कृतज्ञतादान (१०) । दश प्रकार का सुख—शरीर की निरोगता (१), दीर्घ आयु (२), प्राढ्यता (३), शब्द एवं रूप का कामसुख (४), इष्ट गन्ध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श रूप भोगसुख (५), संतोष (६), आवश्यकता की पूर्ति (५), सुखयोग (मानसिक) (८), निष्कमरा—त्याग-ग्रहण (९) और निराबाध सुख मोक्ष (१०) । इसमें १० प्रकार की लोक स्थिति, क्रोधोत्पत्ति के १० कारण, अभिमान के १० कारण, १० प्रकार की समाधि, आलोचना के १० दोष, १० प्रकार का प्रायश्चित्त, सुकाल-दुकाल के १०-१० लक्षण, १० प्रकार के कल्पवृक्ष, शतायु पुरुष की १० दशा, ज्ञान वृद्धि के १० नक्षत्र और १० आश्चर्यों का उल्लेख किया गया है ।

### स्थानांग की महत्ता

विषय की गम्भीरता एवं नयज्ञान की दृष्टि से स्थानांग सूत्र की बहुत बड़ी महत्ता मानी गई है । इसमें जो कोश-शैली अपनाई गई है वह बड़ी ही उपयोगी और विचारपूर्ण है । बौद्ध परम्परा के अंगुत्तरनिकाय, पुगलपण्णत्ती, महाव्युत्पत्ति एवं धर्मसंग्रह में तथा वैदिक परम्परा के महाभारत (वनपर्व, अध्याय १३४) में भी इसी शैली से संग्रह किया गया है । इसके गम्भीर भावों को समझने वाला श्रुतस्थविर माना गया है । जैनागम में बताये गये तीन प्रकार के स्थविरों में से श्रुतस्थविर के लिए “ठाणसमवायधरे” इस प्रकार के विशेषण द्वारा स्थानांग और समवायांग के धारक होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।

इसके विषयों और विचारों की गम्भीरता एवं दुरूहता के कारण स्वयं टीकाकार अभयदेवसूरी ने इसकी व्याख्या करते समय अपनी कठिनाई का उल्लेख करते हुए लिखा है—“प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के समय सिद्धान्तज्ञान की सही परम्परा का अभाव है और आवश्यक तर्कशक्ति का भी योग नहीं है । स्व तथा पर शास्त्रों का अवलोकन भी यथावत् नहीं हो सका और न दृष्ट एवं श्रुत विषयों का पूर्ण स्मरण ही रहा है । इसके उपरांत वाचनान्नों की अनेकता, आदर्श पुस्तकों का अशुद्ध-लेखन, सूत्र की अतिशय गम्भीरता और स्थान-स्थान पर मतभेदों के कारण इसकी समीचीन रूप से व्याख्या करने में स्खलनाएं संभव हैं । विवेकशील विचारक इससे केवल शास्त्रसम्मत अर्थ को ही ग्रहण करें ।”<sup>१</sup>

<sup>१</sup> सत्संप्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः ।

सर्वस्त्रपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥

वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धतः ।

सूत्राणामतिगाम्भीर्यात्, मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

धृष्टानि सभबन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः ।

सिद्धान्तानुगमो योऽर्थः सोऽस्मात् प्राणो न चेतः ॥३॥

[स्थानांग-वृत्ति प्रशस्ति]

## ४. समवायांग

द्वादशांगी के क्रम में समवायांग का चौथा स्थान है। इसमें कोटाकोटि-समवाय के पश्चात् जो द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, उसमें और नन्दीसूत्र में समवायांग का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है :-

“समवायांग की परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वारा, संख्यात वेदा (छन्दविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां, एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल, एक ही समुद्देशनकाल, १,४४,००० पद और संख्यात अक्षर हैं। इसकी वर्णनपरिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावों का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश आता है।”

समवायांग का वर्तमान में उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक-परिमाण है। इसमें संख्याक्रम से संग्रह की प्रणाली के माध्यम से पृथ्वी, आकाश, और पाताल—इन तीनों लोकों के जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की दृष्टि से संख्या एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक बड़ा महत्वपूर्ण परिचय दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों और वासुदेवों से सम्बन्धित उल्लेखों के साथ-साथ भूगर्भ, भूगोल, खगोल-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं तारों आदि के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

स्थानांग की तरह समवायांग में भी संख्या के क्रम से तथा कहीं-कहीं उस प्रणाली को छोड़कर वस्तुओं के भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। समवायांग सूत्र की प्रत्येक समवाय में समान संख्या वाले भिन्न-भिन्न विषयों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित सामग्री का संकलनात्मक संग्रह होने के कारण विषयानुक्रम से इसका परिचय दिया जाना संभव नहीं है अतः मोटे रूप में समवाय के क्रम को दृष्टिगत रखते हुए इसका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

समवायांग में द्रव्य की अपेक्षा से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, आदि का (१), क्षेत्र की अपेक्षा से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का (२), समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पत्योपम, सागरोपम, उत्सपिणी, अवसपिणी, और पुद्गलपरावर्तन आदि काल की अपेक्षा से देवों, मनुष्यों, तिर्यचों और नारक आदि जीवों की स्थिति आदि का (३), तथा भाव की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव-भाव और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, गुरु, लघु आदि अजीव-भाव का (४) वर्णन किया गया है।

समवायांग की पहली समवाय में एक संख्या वाले जीव, अजीव आदि तत्त्वों का उल्लेख करते हुये आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रह नय की अपेक्षा से एक-एक बताया गया है। इसके पश्चात् एक ताम्र योजन की लम्बाई चौड़ाई वाले जम्बूद्वीप, सवार्थसिद्ध विमान, एक तारा वाले नक्षत्र, एक सागर की

स्थिति वाले नारक, देव, आदि का, असंख्य वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों आदि का विवरण दिया गया है।

समवाय संख्या २ में अर्थदण्ड एवं अनर्थ दण्ड—दो प्रकार के दण्ड; रागबन्ध एवं द्वेषबन्ध—दो प्रकार के बन्ध इस रूप में दो संख्या वाली वस्तुओं का उल्लेख करते हुये अन्त में कुछ भवसिद्धियों की दो भव से मुक्ति होना बताया गया है।

तीसरी समवाय में—मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड—ये तीन दण्ड, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—तीन प्रकार की गुप्ति, तीन प्रकार के शल्य, तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार की विराधना का उल्लेख करने के पश्चात् उन नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं जिनमें तीन-तीन तारे हैं। इसके अनन्तर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरक के नारकीयों, असुरकुमारों, भोगभूमि के संज्ञी पंचेन्द्रियों, सौधर्म, ईशान देवलोको के कुछ देवों एवं आभंकर आदि १४ विमानों के देवों की स्थिति का वर्णन किया गया है। इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि उपरोक्त १४ विमानों में उत्पन्न होने वाले उन देवों में से कुछ देव तीन भव करने के पश्चात् शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे।

चौथी समवाय में कषाय, ध्यान, विकथा, संज्ञा, बन्ध के चार-चार भेद, योजन का परिमाण और चार तारों वाले नक्षत्रों का उल्लेख करने के पश्चात् चार पल्योपम और चार सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का नामोल्लेख किया गया है।

पांचवीं समवाय में क्रिया, महाव्रत, कामगुण, आस्रवद्वार, संवरद्वार, निर्जरास्थान, समिति और अस्तिकाय—इनमें से प्रत्येक के पांच-पांच भेदों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर पांच तारों वाले नक्षत्र, पांच पल्योपम, पांच सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का उल्लेख किया गया है।

छठे समवाय में लेश्या, जीवनिकाय, बाह्य तप, आभ्यंतर तप, छाद्मस्थिक समुद्घात एवं अर्थावग्रह—इन सबके छः छः प्रकारों का नामोल्लेख करने के पश्चात् कृत्तिका तथा आश्लेषा नक्षत्र को छः-छः तारों वाला बताया गया है। इस समवाय में यह भी बयाया गया है कि रत्नप्रभा पृथिवी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छः पल्योपम, तृतीय पृथ्वी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छः सागरोपम, असुर कुमार देवों में से कतिपय देवों की स्थिति ६ पल्योपम, सौधर्म और ईशानकल्प के कुछ देवों की स्थिति ६ पल्योपम तथा सनत्कुमार एवं माहेंद्र-कल्प के कितने ही देवों की स्थिति छः सागरोपम होती है।

इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि स्वयंभू, स्वयंभूषण, घोष, सुघोष आदि बीस विमानों के देवों की उत्कृष्ट स्थिति छः सागरोपम की होती है। इन विमानों के देव ६ अर्द्ध मासों के अन्त में बाह्य तथा आभ्यंतर उच्छ्वास ग्रहण करते हैं। उन्हें छः हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उन देवों में कतिपय देव ६ भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

सातवें समवाय में सात प्रकार के भयस्थान एवं सात ही प्रकार के समुद्धात का उल्लेख करने के पश्चात् निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख है :—भ्रमण भगवान् महावीर का शरीर सात रत्नि (मुंड हाथ) प्रमाण ऊंचा था। जम्बूद्वीप में सात वर्षघर और सात ही क्षेत्र हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग भगवान् मोहनीय कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों का अनुभव करते हैं। मघा नक्षत्र ७ तारों वाला है। कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वार वाले, मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण द्वार वाले, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम द्वार वाले और घनिष्ठा आदि ७ नक्षत्र उत्तर द्वार वाले बताये गए हैं। इस समवाय में नारकीयों असुरकुमारों और देवों में से कतिपय की आयु ७ पत्योपम और कतिपय की उत्कृष्ट आयु ७ सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख भी किया है कि सम, समप्रभ आदि आठ विमानों के कतिपय देव सात भवों में सिद्ध होने वाले हैं।

आठवें समवाय में ८ मदस्थान और आठ प्रवचनमाताओं के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि व्यन्तरदेवों के चरयवृक्षों, जम्बूद्वीप की जगती, और देवकुरुक्षेत्र स्थित गरुड़ जातीय वेणुदेव के आवास की ऊंचाई आठ योजन है। इसमें आठ समय के केवलिसमुद्धात का विवरण देते हुये बताया गया है कि प्रथम समय में वे दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, और तीसरे समय में मंथान करते हैं। चतुर्थ समय में वे मंथान के छिद्रों को पूरित, पांचवें समय में उन छिद्रों को संकुचित और छठे समय में मंथान को प्रतिसंहरित करते हैं। सातवें समय में कपाट को और आठवें समय में दंड को संकोचते हैं और तदनन्तर वे पुनः स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। इस समवाय में भगवान् पार्श्वनाथ के ८ गण और ८ गणधरों के उल्लेख के पश्चात् यह बताया गया है कि जब चन्द्रमा कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा इन आठ नक्षत्रों के साथ रहता है तब प्रमदं नाम का योग होता है। इस समवाय में कुछ नारकीयों, असुरकुमारों और देवों की मध्यम स्थिति ८ पत्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति ८ सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि अचि, अचिभालि, वैरोचन आदि ११ विमानों के देवों में से कतिपय देव आठ भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

नौवें समवाय में ९ ब्रह्मचर्यगुप्तियों, ९ अन्नह्यचर्यगुप्तियों, आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ के शरीर की ऊंचाई ९ रत्नि (मुण्ड हाथ) थी। इसमें तारामण्डल को रत्नप्रभा पृथिवी के सम भाग से ९०० योजन दूरी पर बताया गया है। इसमें जम्बूद्वीप की जगती में ९ योजन के छेदों के उल्लेख के साथ यह भी बताया गया है कि ९ योजन की लम्बाई-चौड़ाई के मच्छ लवणसमुद्र में से जम्बूद्वीप में पहले भी आये हैं, आते हैं और आते रहेंगे। इस समवाय में जम्बूद्वीप सम्बन्धी विजयद्वार के पार्श्व में नौ-नौ भोमों, व्यन्तरों की सुधर्मसभा की ऊंचाई ९ योजन, दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियों और कतिपय नारकीयों, असुरकुमारों, देवों की मध्यम स्थिति ९ पत्योपम और उत्कृष्ट स्थिति

६ सागरोपम होने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पक्ष्म, सुपक्ष्म, पक्ष्मावर्त आदि ३५ विमानों के देवों में से कतिपय देव ६ भवों में अजरामर मोक्षपद को प्राप्त कर लेंगे।

यों तो इन समवायों में दी हुई पूरी की पूरी सामग्री महत्वपूर्ण है किन्तु इनमें से प्रत्येक समवाय में अनेक ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है जो आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, तात्विक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से अत्यधिक महत्व रखते हैं।

१० वीं समवाय में ज्ञानवृद्धि के मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वा आषाढा, पूर्वा भाद्रपदा, मूला, आश्लेषा, हस्त और चित्रा - इन १० नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है।

११ वीं समवाय में ११ उपासक पडिमाओं का उल्लेख है तथा लोकान्त से ज्योतिषवक्त्र का अन्तर ११११ योजन बताया गया है।

१२ वीं समवाय में १२ भिक्षु-प्रतिमाओं, श्रमणों के १२ प्रकार के व्यवहार-संभोग, एवं रामबलदेव की १२०० वर्ष की आयु आदि का उल्लेख है।

१३ वें समवाय में विलुप्त हुये प्राणायुपूर्व की १३ वस्तु और १३ प्रकार के चिकित्सा स्थान आदि का निरूपण किया गया है।

१४ वें समवाय में १४ प्रकार के भूतग्राम-जीवसमूह, अग्रायणी पूर्व की १४ वस्तुओं, भगवान् महावीर की १४,००० उत्कृष्ट श्रमण संपदा, १४ जीव स्थान-मिथ्यात्व आदि का उल्लेख है।

१५ वें समवाय में राहु द्वारा कृष्ण पक्ष में नित्य प्रति चन्द्र के १५ वें भाग का आवरण, अमावस्या को पूरे १५ ही भागों का आवरण और इसी क्रम से शुक्ल पक्ष में अनावरण करना बताया गया है। इसमें विलुप्त हुए विद्यानुप्रवादपूर्व की १५ वस्तुओं का भी उल्लेख है।

१६ वें समवाय में आत्मप्रवाद पूर्व का १६ वस्तुओं का, १७ वें समवाय में १७ प्रकार के मरण का, १८ वें समवाय में अस्तित्वास्तित्प्रवाद पूर्व की १८ वस्तुओं का, श्रमण निर्ग्रन्थों के १८ स्थानों आदि का और १९ वें समवाय में शुक ग्रह का १९ नक्षत्रों के साथ श्रमण करना और पश्चिम में अस्त होना तथा १९ तीर्थकरों का गृहस्थवास में रहकर दीक्षित होना बताया गया है। २० वें समवाय में प्रत्याख्यान पूर्व की २० वस्तुओं तथा २१ वें समवाय में २१ प्रकार के दोषों का उल्लेख किया गया है।

२२ वें समवाय में दृष्टिवाद के २२ सूत्र छिन्नछेद नय वाले २२ सूत्र धार्मिक की अपेक्षा अछिन्नछेद नय सम्बन्धी, २२ सूत्र त्रैराशिक सूत्र की परिपाटी से और २२ सूत्र चतुर्नायिक स्वसमय सूत्र की दृष्टि वाले कहे गये हैं।

२३ वें समवाय में भगवान् अजितनाथ आदि २३ तीर्थकर पूर्व भव में एकादशांगधर और मंडलिक राजा बताये गये हैं। २४ वें समवाय में ऋषभ आदि

२४ देवाधिदेव कहे गये हैं। २५ वें समवाय में पांच महाव्रतों की २५ भावनाओं और आचारांग के २५ अध्ययन तथा २५ संख्या वाली वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। २६ वें समवाय में अभव्य के मोह की २६ प्रकृतियां सत्ता में मानी गई हैं। २७ वें समवाय में साधु के २७ गुण आदि का वर्णन किया गया है। २८ वें समवाय में मोहकर्म की २८ प्रकृतियों और मतिज्ञान के २८ भेद आदि का वर्णन है। २९ वें समवाय में २९ पापश्रुत तथा आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पोष, फाल्गुन और वैशाख — ये छः मास २९ दिन के बताये गये हैं।

३० वें समवाय में महामोह-बन्ध के ३० कारण, तीस भूत के ३० नाम और मंडित पुत्र गणधर का तीस वर्ष का दीक्षाकाल आदि बताया गया है। ३१ वें समवाय में सिद्धों के ३१ गुण आदि का वर्णन किया गया है। ३२ वें समवाय में ३२ योगसंग्रह और ३२ देवेन्द्र आदि बताये गये हैं।

३३ वें समवाय में गुरु की ३३ प्रकार की आशातना आदि, ३४ वें समवाय में तीर्थंकर के ३४ अतिशय और ३५ वें समवाय में तीर्थंकर की वारणी के ३५ अतिशयों (नाम नहीं) का उल्लेख किया गया है। ३६ वें में उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययन आदि, ३७ वें में कुण्डुनाथ स्वामी के ३७ गुण और गणधर आदि, ३८ वें समवाय में पार्श्वनाथ की ३८,००० आर्थिकाएं आदि, ३९ वें में नमिनाथ के ३९०० अवधिज्ञानी, समय क्षेत्र में ३९ कुलपर्वत आदि, ४० वें में अरिष्टनेमि की ४०,००० आर्थिकाएं आदि, ४१ वें में नमिनाथ की ४१,००० आर्थिकाएं आदि और ४२ वें समवाय में श्रमण भगवान् महावीर के ४२ वर्ष साधिक श्रमण्य पालकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने तथा नाम कर्म के ४२ भेद — गति, जाति आदि का उल्लेख किया गया है।

४३ वें समवाय में कर्मविपाक के ४३ अध्ययन आदि ४४ वें में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन आदि और ४५ वें में मनुष्य क्षेत्र, सीमंतक, नरकावास उद्बुद्धिमान और सिद्धशिला इन चारों में से प्रत्येक की ४५ लाख योजन विस्तार वाला बताया गया है।

४६ वें समवाय में दृष्टिवाद के ४६ मातृकापद और ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर बताये गये हैं। ४७ वें समवाय में स्थविर अग्निभूति के ४७ वर्ष तक गृहवास में रहने का उल्लेख है। ४८ वें समवाय में चक्रवर्ती के ४८,००० पाटण और भगवान् धर्मनाथ के ४८ गुण एवं ४८ गणधर बताये गए हैं। ४९ वें समवाय में तीन इन्द्रिय वाले जीवों की ४९ अहोरात्र की स्थिति आदि, ५० वें में भगवान् मुनिसुव्रत की ५०,००० आर्थिका, ५१ वें में नवब्रह्मचर्य अध्ययन के ५१ उद्देशकाल, ५२ वें समवाय में मोहनीय के ५२ नाम आदि का उल्लेख है।

५३ वें समवाय में श्रमण भगवान् महावीर के ५३ साधुओं के एक वर्ष की दीक्षा से अनुत्तर विमान में जाने का उल्लेख है। ५४ वें में बताया गया है कि भरत तथा ऐरवत में क्रमशः ५४-५४ उत्तम पुरुष हुए, अरिष्टनेमि ५४ रात्रि क्षपस्थ रहे

श्रीर अनन्तनाथ के ५४ गणधर थे। ५५ वें समवाय में बताया गया है कि भगवान् मल्लिनाथ ५५००० वर्ष आयु पूर्ण कर सिद्ध हुये। ५६ वें समवाय में विमलनाथ के ५६ गण एवं ५६ गणधर बताने के साथ-साथ ५६ संख्या वाले अनेक तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

५७ वें समवाय में मल्लिनाथ के ५७० मनपर्यवज्ञानी, ५८ वें में ज्ञाना-वरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय — इन पांच कर्मों की ५८ उत्तरप्रकृतियां होने का उल्लेख है। ५९ वीं समवाय में बताया गया है कि चन्द्र संवत्सर में एक ऋतु ५९ अहोरात्र की होती है। ६० वें समवाय में सूर्य का ६० मुहूर्त तक एक मंडल में रहना बताया गया है।

६१ वें समवाय में एक युग के ६१ ऋतुमास कहे गये हैं। ६२ वें समवाय में भगवान् वासुपूज्य के ६२ गण और ६२ ही गणधर बताये गये हैं। ६३ वें समवाय में भगवान् ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्य-सिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ६४ वें समवाय में चक्रवर्ती की ऋद्धि में अमूल्य अलभ्य मणिरत्नादि के ६४ हारों का उल्लेख है। ६५ वें समवाय में बताया गया है कि गणधर मौर्यपुत्र ६५ वर्ष तक गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित हुए। ६६ वें समवाय में उल्लेख है कि भगवान् श्रेयांसनाथ के ६६ गण और ६६ गणधर थे तथा मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की होती है। ६७ वें समवाय में बताया गया है कि एक युग में नक्षत्रमास की गणना से ६७ मास होते हैं। ६८ वें समवाय में उल्लेख है कि धातकीखण्ड द्वीप में चक्रवर्ती की ६८ विजय (प्रदेश), ६८ राजधानियां और उत्कृष्टतः ६८ ही अरिहंतादि उत्तम पुरुष होते हैं तथा भगवान् विमलनाथ के ६८००० साधु थे। ६९ वें समवाय में बताया गया है कि मनुष्यलोक में मेरु को छोड़कर ६९ वर्ष और ६९ वर्षधर पर्वत हैं। ७० वें समवाय में उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के १ मास और बीस रात्रि बीतने और ७० रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण किया तथा भगवान् पार्श्वनाथ ७० वर्ष संयम-पालन कर सिद्ध-मुक्त हुए।

७१ वें समवाय में यह बताया गया है कि भगवान् अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती ७१ लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर दीक्षित हुए। ७२ वीं समवाय में श्रमण भगवान् महावीर और उनके गणधर अचल भ्राता की ७२ वर्ष की आयु बताई गई है। इसमें चक्रवर्ती के ७२००० नगर होने का तथा ७२ कलाओं का भी उल्लेख किया गया है। ७३ वें समवाय में बताया गया है कि विजय नामक बलदेव ७३ लाख पूर्व आयु पूर्ण कर सिद्ध हुए। ७४ वीं समवाय में गणधर अग्निभूति द्वारा ७४ वर्ष के आयुभोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। ७५ वें समवाय में भगवान् सुविधिनाथ के ७५०० केवली, शीतलनाथ के ७५ लाख पूर्व और भगवान् शान्तिनाथ के ७५ हजार वर्ष गृहवास का उल्लेख है। ७६ वें समवाय में विद्युत्कुमार आदि के ७६-७६ भवन बताये गये हैं। ७७ वें समवाय में भरत चक्री के ७७ लाख पूर्व कुमारावस्था में रहने के पश्चात् महाराज पद पर



आरूढ होने तथा अंगवंश के ७७ राजाओं के दीक्षित होने का उल्लेख है। ७८ वें समवाय में बताया गया है कि गणधर अकंपित ७८ वर्ष की पूर्ण आयु भोग कर सिद्ध हुए। ७९ वें समवाय में बताया गया है कि छट्टी नरक के मध्य भाग से छट्टे घनोदधि के नीचे के चरमान्त का अन्तर ७९ हजार योजन है। ८० वें समवाय में भगवान् श्रेयांसनाथ, त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल राम की ८० घनुष ऊंचाई का और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८० लाख वर्ष तक महाराज पद पर रहने का उल्लेख है।

समवाय सं० ८१ में भगवान् कुंधुनाथ के ८१०० मनःपर्यवज्ञानी बताये गये हैं। ८२ वें समवाय में उल्लेख है कि ८२ रात्रियां बीतने पर भगवान् महावीर का गर्भांतर में साहरण किया गया। ८३ वें समवाय में यह बताया गया है कि भगवान् शीतलनाथ के ८३ गण और ८३ गणधर, स्थविर मण्डित के ८३ वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने तथा भरत चक्रवर्ती के ८३ लाख पूर्व गृहवास में रहकर केवली होने का उल्लेख है। ८४ वें समवाय में सातों नारक पृथ्वियों के ८४ लाख नरकावासों, भगवान् ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की आयु, भगवान् श्रेयांसनाथ द्वारा ८४ लाख वर्ष का आयु पूर्णकर सिद्ध होने और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८४ लाख वर्ष की आयु के उपभोग के अनन्तर अपइट्ठारणा नरक में जाने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पूर्व से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक की संख्याओं में परवर्ती संख्या अपनी पूर्ववर्ती संख्या से ८ गुना अधिक होती है। इसमें भगवान् ऋषभदेव के ८४ गण, ८४ गणधर और ८४००० साधु बताये गये हैं। ८५ वें समवाय में आचारांग के ८५ उद्देशनकाल बताये गये हैं। ८६ वें समवाय में भगवान् सुविधिनाथ के ८६ गण और ८६ गणधर तथा भगवान् सुपाश्वनाथ के ८६०० वादी बताये गये हैं। ८७ वें समवाय में आठ कर्मों में से प्रथम और अन्तिम को छोड़कर शेष छः कर्मों की ८७ उत्तर-प्रकृतियां बताई गई हैं। ८८ वें समवाय में प्रत्येक सूर्य तथा चन्द्र के साथ ८८-८८ महाग्रह बताये गये हैं। ८९ वें समवाय में तीसरे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव के मोक्ष पधारने, दशवें हरिषेण चक्रवर्ती के ८९ हजार वर्ष चक्रवर्ती पद पर रहने और भगवान् शान्तिनाथ की ८९००० साध्वियां होने का उल्लेख है। समवाय संख्या ९० में भगवान् अजितनाथ और शान्तिनाथ इन दोनों तीर्थंकरों के ९०-९० गण और उतने ही गणधर बताये गये हैं।

समवाय संख्या ९१ में भगवान् कुंधुनाथ के अवधिज्ञानी साधुओं की संख्या ९१००० बताई गई है। ९२ वीं समवाय में बतलाया गया है कि स्थविर इन्द्रभूति ९२ वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर सिद्ध हुए। ९३ वीं समवाय में भगवान् चन्द्रप्रभ के ९३ गण और ९३ गणधर तथा शान्तिनाथ के ९३०० चतुर्दश पूर्वधर होने का उल्लेख है। ९४ वीं समवाय में भगवान् अजितनाथ के ९४०० अवधिज्ञानी बताये गये हैं। ९५ वें समवाय में भगवान् सुपाश्वनाथ के ९५ गण एवं ९५ गणधर होने, भगवान् कुंधुनाथ के ९५००० वर्ष और स्थविर मौर्यपुत्र के ९५ वर्ष की आयु-

भोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। समवाय संख्या ६६ में प्रत्येक चक्रवर्ती के ६६ करोड़ गांव होने का उल्लेख है। ६७ वीं समवाय में आठ कर्मों की ६७ उत्तर-प्रकृतियां तथा भगवान् नमिनाथ के समय में हुए हरिषेण चक्रवर्ती के ६७०० वर्ष से कुछ कम गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ६८ वीं समवाय में रेवती से ज्येष्ठा पर्यन्त के १६ नक्षत्रों के ६८ तारे बताये गये हैं। ६९ वीं समवाय में मेरु पर्वत को भूमि से ६६ हजार योजन ऊंचा बताया गया है। १०० वें समवाय में शतभिषा के १०० तारे और भगवान् पार्श्वनाथ एवं स्थविर आर्य सुधर्मा की पूर्ण आयु १००-१०० वर्ष बताई गई है।

उपरोक्त १०० समवायों के पश्चात् क्रमशः डेढ़ सौ, दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ, साढ़े तीन सौ, चार सौ, साढ़े चार सौ, पांच सौ यावत् एक हजार, ११००, दो हजार से १० हजार, एक लाख से आठ लाख तथा कोटि संख्या वाली विभिन्न वस्तुओं का उल्लिखित संख्या के अनुसार पृथक्-पृथक् ३२ समवायों में संकलनात्मक विवरण दिया गया है। कोटि समवाय में भगवान् महावीर के तीर्थंकर भव से पहले छट्ठे पोटिल के भव का एक करोड़ वर्ष का श्रामण्य-पर्याय बताया गया है। तदनन्तर कोटाकोटि समवाय में भगवान् ऋषभ देव से भगवान् महावीर के बीच का अन्तर एक कोटाकोटि सागर बताया गया है।

कोटाकोटि समवाय के पश्चात् १२ सूत्रों में द्वादशांगी का "गणसिपिटक" के नाम से सारभूत परिचय दिया गया है।

तदनन्तर १५७ वें सूत्र में समवसरण के वर्णन तथा जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अतीत उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के कुलकरों तथा वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकरों तथा उनकी भार्याओं का वर्णन करने के पश्चात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में बड़ा ही महत्वपूर्ण विवरण दिया गया है।

तीर्थंकरों से सम्बन्धित उस विवरण में चौबीसों तीर्थंकरों के पिता तथा माता के नाम, तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नाम, तीर्थंकरों की शिक्षिकाओं, जन्म-भूमियों, देवदूष्य, दीक्षा-साथी, दीक्षा-तप, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा का समय, प्रथम भिक्षा में मिले पदार्थ, तीर्थंकरों के चैत्यवृक्ष, उन चैत्यवृक्षों की ऊंचाई, चौबीस तीर्थंकरों के प्रथम शिष्यों और प्रथम शिष्याओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त एवं परमोपयोगी त्रिपुल जानकारी दी गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि तीर्थंकर अग्न्यालिंग, गृह्यालिंग अथवा कुलिंग में कभी नहीं होते।

सूत्र संख्या १५८ में चक्रवर्तियों, बलदेवों और वामुदेवों के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय और प्रतिवामुदेवों के नाम मात्र दिये गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि समवायांग में प्रतिवामुदेवों को महापुरुषों में गणना नहीं की गई है।

सूत्र संख्या १५९ में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में हुये इस अवसर्पिणी के २५ तीर्थंकरों, भरत क्षेत्र की आगामी उत्सर्पिणी के सात कुलकरों, ऐरवत क्षेत्र की भावी उत्सर्पिणी के १० कुलकरों और भरतक्षेत्र तथा ऐरवत क्षेत्र के आगामी

उत्सर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों एवं वासुदेवों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी तथा प्रतिवासुदेवों के नाम दिये गये हैं ।

उपसंहारात्मक अन्तिम सूत्र में समवायांग की एक संक्षिप्त विषयसूची दी गई है ।

यों तो समवायांग की प्रत्येक समवाय, प्रत्येक सूत्र प्रत्येक विषय के जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिए ज्ञातव्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का महान् भंडार है पर समवायांग के अन्तिम भाग को एक प्रकार से "संक्षिप्त जैन पुराण" की संज्ञा दी जा सकती है । वस्तुतः वस्तुविज्ञान, जैन सिद्धान्त और जैन इतिहास की दृष्टि से समवायांग एक आत्यंतिक महत्त्व का श्रृंखलांग है ।

समवायांग की समवाय संख्या ६२ में इन्द्रभूति गौतम के ६२ वर्ष की आयु पूर्ण करने पर सिद्ध होने तथा समवाय संख्या १०० में आर्य सुधर्मा के १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने के उल्लेख को तर्क के रूप में प्रस्तुत कर अनेक विद्वान् अपना यह अभिमत प्रकट करते हैं कि समवायांग सूत्र की रचना आर्य सुधर्मा के मोक्षगमन के पश्चात् की गई है । वस्तुस्थिति यह है कि पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा जैसे महापुरुषों की आयु के सम्बन्ध में कहीं आगे चल कर किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय, इस दृष्टि से उपरोक्त दोनों समवायों में इस प्रकार के उल्लेख अभिवृद्ध किये हैं । केवल इन दो उल्लेखों को देखकर पूरे समवायांग के लिये इस प्रकार की कल्पना कर लेना कि इसकी रचना पश्चाद्वर्ती काल में की गई है वस्तुतः किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता । स्थानांग सूत्र के परिचय में इस प्रकार की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

इस तथ्य को स्वीकार करने में तो किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार की हिचक अथवा भिन्नक नहीं हो सकती कि समवायांग सूत्र का, इसके प्रणयनकाल से लेकर सम्पूर्ण एकादशांगधरों के काल तक जो वृहद् आकार और विशाल स्वरूप था वह आकार और स्वरूप काल के प्रभाव से सिमटते सिकुड़ते आकार बहुत छोटा रह गया है । समवायांग, नन्दी आदि सूत्रों तथा दिगम्बर ग्रन्थों में दी गई इस अंग की पदसंख्या के साथ वर्तमान में उपलब्ध इसकी पदसंख्या का मिलान करने पर यह भलीभांति प्रकट हो जाता है कि इस अंग का बहुत बड़ा भाग विलुप्त हो चुका है ।

आगमों के वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने समवायांग-वृत्ति की प्रशस्ति में बड़े ही मार्मिक शब्दों में शोक प्रकट करते हुये इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल में समवायांग का १,४४,००० पदप्रमाण था पर कालप्रभाव से अब उसका बहुत ही छोटा आकार अवशिष्ट रह गया है ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्षं सहस्राणि च,  
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मानं पदानामभूत् ।  
तस्योच्चैश्चुलुकाकृतं निदधतः कालादि दोषान् तथा,  
कुर्वन्वात् खिलतां गतस्य कुश्रियः कुर्वन्तु किं मादृशाः ॥ [समवायांगवृत्ति (ग्रन्थ प्रशस्ति) ]

### ५. विवाह-पण्यति

पांचवां अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति है। इसे भगवती सूत्र के नाम से भी पहिचाना जाता है।

समवायांग सूत्र में व्याख्या प्रज्ञप्ति का निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है :-

“व्याख्या प्रज्ञप्ति में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्व-पर-समयोभय, लोक, अलोक और लोकालोक विषयक विस्तृत व्याख्या—चर्चा की गई है। इसकी परिमित वाचनाएं हैं। इसमें संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढा (छंदविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति में १ श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १० हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, ३६ हजार प्रश्न एवं उनके उत्तर, २,८८,००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति की वर्णन-परिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावों का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश दिया गया है।”

व्याख्या प्रज्ञप्ति के अध्ययन शतक के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान में इसके ४१ शतक और उनमें से ८ शतक १०५ अवान्तर शतकात्मक हैं। इस प्रकार शतक और अवान्तर शतक इन दोनों की सम्मिलित संख्या १३८ और उद्देशकों की संख्या १८८३ है। व्याख्या प्रज्ञप्ति अन्य सब अंगों की अपेक्षा अतिविशाल अंग है। वर्तमान में इसका पद परिमाण १५७५१ श्लोकप्रमाण है। व्याख्या प्रज्ञप्ति के—विवाह पण्यति, विवाह पण्यति और विवाह पण्यति—ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इसके “विवाह पण्यति” नाम को सर्वाधिक महत्व देकर सर्व प्रथम इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है :- “वि-विविधा, आ-अभिविधिना, स्या-स्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विने-यान् प्रति प्रश्नितपदार्यप्रतिपादनानि व्याख्याः ताः प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।”

अर्थात् गौतमादि शिष्यों को उनके प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर ने अत्युत्तम विधि से जो विविध विषयों का विवेचन किया, वह सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया विशद विवेचन जिसमें दिया हुआ हो वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

यद्यपि इस अंग का संस्कृत में जहां कहीं भी नाम आया है वहां “व्याख्या प्रज्ञप्ति” ही आया है तथापि वृत्तिकार ने इसके ‘विवाह पण्यति’ और ‘विवाह पण्यति’ इन दोनों रूपों की भी व्याख्या की है।

‘विवाह पण्यति’—की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—“वि-वाह-प्रज्ञप्ति”—अर्थात् जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना की गई है—वह विवाह-पण्यति।

इसी प्रकार 'विवाह पण्यति' शब्द की व्याख्या में लिखा है — 'वि-बाधा-प्रज्ञप्ति' — अर्थात् जिसमें निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है वह विवाह पण्यति है ।

इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों का इस सूत्र के संस्कृत नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति से किसी भी प्रकार का मेल नहीं बैठता । ऐसा प्रतीत होता है कि इस आगम का प्राकृत नाम मूलतः विवाहपण्यति ही रहा होगा किन्तु लिपिकों एवं प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण कहीं विवाह पण्यति और कहीं विवाह पण्यति भी लिख दिया गया होगा ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक इस पंचम अंग की शैली प्रश्नोत्तर के रूप में है । इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किये और उन प्रश्नों का भगवान् द्वारा उत्तर दिया गया है । इसी प्रश्नोत्तर के रूप में यह सुविशाल आगम आज विद्यमान है । वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या ३६००० बताई है । उनमें से अनेक प्रश्न और उनके उत्तर छोटे-छोटे हैं । यथा :—

प्रश्न — भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?

उत्तर — विज्ञान ।

प्रश्न — विज्ञान का क्या फल है ?

उत्तर — प्रत्याख्यान ।

प्रश्न — प्रत्याख्यान का क्या फल है ?

उत्तर — संयम ।

अनेक प्रश्नोत्तर बहुत बड़े-बड़े हैं । कहीं-कहीं तो एक ही प्रश्न ऐसा है कि उसके उत्तर में पूरा का पूरा एक शतक भर गया है । उदाहरण के रूप में मंखलि गोशालक के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया गया है उसके उत्तर में पूरा का पूरा पन्द्रहवां शतक आ गया है ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के ग्रंथन में जो प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई गई है वह वस्तुतः अति प्राचीन प्रतीत होती है । भट्ट अकलंक ने अचेलक परम्परा के ग्रन्थ राजवातिक में व्याख्या प्रज्ञप्ति की इस शैली का उल्लेख किया है ।<sup>१</sup>

भगवती सूत्र के ४१ मूल शतक हैं । प्रथम शतक में चलन आदि १० उद्देशक हैं । प्रारम्भ में नमस्कार मंत्र और ब्राह्मी लिपि व श्रुत के नमस्कार द्वारा मंगलाचरण किया गया है । प्रश्नोत्थान में महावीर और गौतम का संक्षिप्त परिचय है । तल्पश्चात् चलित आदि ६ प्रश्न, २४ दण्डक के आहार, स्थिति एवं श्वासोच्छ्वास काल का विचार, आत्मारम्भ आदि, संवृत-असंवृत, अनगार और असंयत की देवगति का कारण बताया गया है । स्वकृत दुःख का वेदन, उपपात के असंयत आदि १३ बोल, कांक्षामोहनीय आदि २४ दण्डकों के आवास - स्थिति

<sup>१</sup> "एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकेषु उक्तम्....."

.....इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम् ।

[ राजवातिक, अ० ४, सू० २६, पृ० २४५ ]

आदि स्थान, सूर्यलोक, अलोक, क्रिया, महावीर और रोहक के प्रश्नोत्तर, लोक-स्थिति में मशक का उदाहरण, जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में सछिद्रा नाव का उदाहरण, जीवादि का गुरुत्व-लघुत्व विचार, सामायिक आदि पदों के अर्थ, उपपात विरह आदि का इसमें वर्णन है।

दूसरे शतक में १० उद्देशक हैं जिनमें श्वासोच्छ्वास का विचार, स्कन्दक परिव्राजक के लोक और मरण सम्बन्धी प्रश्न, समाधान के लिये स्कन्दक का महावीर के पास आगमन, भौतम द्वारा स्वागत, समाधान पाकर स्कन्दक द्वारा दीक्षा-ग्रहण, तुंगिया के श्रावकों द्वारा पार्श्वपित्यों से प्रश्नोत्तर, समुद्घात, सात पृथ्वियां, इन्द्रियवर्णन, उदग्गर्भविचार, तिर्यग्गर्भ, मानुषी गर्भ, मनुष्य और तिर्यंच स्त्री के बीज की स्थिति, एक जीव के पिता-पुत्र का उत्कृष्ट परिमाण आदि का उल्लेख है।

तीसरे शतक में १० उद्देशक हैं जिनमें तामली तापस की साधना, नियामन नहीं करने से दूसरे स्वर्ग में उत्पाद, प्रणामां प्रव्रज्या, दूसरे उद्देशक में चमरेन्द्र के पूर्वभव पूरण तापस की दानाभा प्रव्रज्या, सौधमं देवलोक जाना, महावीर की शरण में आना आदि, उद्देशक ३ में क्रिया-विचार, उद्देशक ४ में अनशार वैक्रिय, उद्देशक ५, ६ में भी विक्रिया, उद्देशक ७ में लोकपाल सोम आदि और उनके कार्य का उल्लेख है।

शतक ४ में १० उद्देशक हैं।

पाँचवें शतक के १० उद्देशकों में से ७वें उद्देशक में नारदपुत्र और निग्रन्धी-पुत्र का सम्वाद है।

शतक ६ में वेदना आदि १० उद्देशक हैं, उनमें महावेदना में भी नरक की अल्प निर्जरा, श्रमण निर्यन्थ की महानिर्जरा, निर्जरा के लिये कर्दम राग और खंजन राग के वस्त्र का उदाहरण, अग्नि में सूखे तृणों की पूली और तपे हुए तवे पर जलाबन्दु के समान श्रमण के कर्मभोग महानिर्जराजनक होते हैं, अल्पवेदन - महानिर्जरा की सोदाहरण चीभंगी, मुहूर्त के श्वासोच्छ्वास और कालमान, आवलिका से उत्सर्पिणी भ्रवसर्पिणी, पृथ्वियां, बंध आदि का उल्लेख है।

७वें शतक में आहार आदि १० उद्देशक हैं। उनमें आहारक-अनाहारक कम की गति, पचस्वाण के भेद और स्वरूप, साता-असाता के बन्ध-कारण और छठे आरे का छठे उद्देशक में वर्णन किया गया है। महाशिला कण्टक और रथमूसल संग्राम का वर्णन, वरुण नाग का अभिग्रह और दिव्य गति - ये इस शतक के महत्वपूर्ण उल्लेख हैं।

८वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम में पुद्गल, दूसरे में आशीविष और ज्ञानलब्धि, तीसरे में वृक्ष, पाँचवें में ३६ भांगा, श्रावक और आजीवक उपासक की तुलना, छठे में तीन प्रकार के दान, एकान्त निर्जरा आदि, आठवें में आचार्य आदि के प्रत्यनीक, ५ व्यवहार बन्ध आदि, ९वें और १०वें उद्देशकों में बन्ध आदि का वर्णन किया गया है।

६वें शतक में ३४ उद्देशक हैं, जिनमें असोच्चा केवली, गांगेयभंग और ऋषभ दत्त - देवानन्दा व जमाली के बोध आदि का वर्णन है।

१०वें शतक में २८ अन्तर्दीप आदि के ३४ उद्देशक हैं।

११वें शतक में १२ उद्देशक हैं। इनमें शिवराज ऋषि की प्रब्रज्या, सुदर्शन श्रेष्ठी के कालविषयक प्रश्न का उत्तर, महाबल का वर्णन, आलंभिका के इसिभद्रपुत्र श्रावक पुद्गल का वर्णन आदि हैं। यह परिव्राजक पुद्गल भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर सिद्ध बुद्ध हुए।

१२वें शतक में शंख आदि १० उद्देशक हैं। इसमें सावत्थी के शंख एवं पोखली श्रावक और उनके द्वारा सामूहिक रूप से खा पीकर पाक्षिक पोषध-विचार, उपासिका उत्पला का पुष्कली श्रमणोपासक के प्रति शिष्टाचार आदि का वर्णन है।

दूसरे उद्देशक में श्रमणोपासिका जयन्ती द्वारा भगवान् महावीर से तात्विक प्रश्नोत्तर, उदायी राजा द्वारा भगवद्बन्दन आदि का तथा तृतीय उद्देशक में सात पृथ्वियां और चौथे उद्देशक में पुद्गलपरिवर्तन का विचार है। पांचवें उद्देशक में रूपी-अरूपी, छठे में राहु का, सातवें उद्देशक में लोक, आठवें उद्देशक में नाग के रूप में देव की उत्पत्ति और उसका एकाभवावतारीपन, नौवें में ५ देव, तथा दशवें में ८ प्रकार की आत्मा का वर्णन है।

१३वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम ६ उद्देशकों में क्रमशः सात पृथ्वियों में नारक जीवों की उत्पत्ति आदि, चार जाति के देव, नारक, पृथ्वी, नारक का आहार, उपपात, राजा उद्दयन द्वारा भगवद्बन्दन, प्रब्रज्या का विचार, पुत्र अभीचि के हितार्थ केशी का राज्याभिषेक, उदयन की दीक्षा, अभीचि कुमार का मनीमालिन्य और कूणिक के पास गमन, अभीचिकुमार द्वारा श्रावकधर्मग्रहण और अनालोचनापूर्वक मरण के कारण असुर योनि में उत्पन्न होने का वर्णन है। सातवें उद्देशक में भाषा, मन, काय और मरण का विचार है। आठवें उद्देशक में कर्मप्रकृति, ९वें उद्देशक में अनगार की विक्रिया और दसवें में ६ समुद्घात का वर्णन है।

१४ वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भावितात्मा अनगार की देवावास में उत्पत्ति, नैरयिकों की शीघ्र गति और आयुबन्ध, दो में उन्माद आदि, तीन में मध्यगति, विनय आर पुद्गल आदि, ४ में पुद्गल, पांच में अग्नि, छः में आहार, ७ में गीतम को केवलज्ञान की अप्राप्ति से खिन्नता और भगवान् द्वारा उन्हें केवलज्ञान-प्राप्ति होने व अपने समान ही अक्षय पदप्राप्ति का आश्वासन आदि, आठवें उद्देशक में अन्तर, शालवृक्ष की पूजा, अम्बड़ परिव्राजक, जृम्भक देव आदि, नौवें में अनगार और दशवें में केवली के ज्ञान का वर्णन है।

पन्द्रहवें शतक में कोई उद्देशक नहीं है। इसमें गोशालक का परिचय, भगवान् महावीर की दीक्षा, भगवान् का प्रथम वर्षावास अस्थिग्राम में, दूसरा

राजगृह में, दान की महिमा देखकर गोशालक का आगमन और छः वर्ष तक भगवान् के साथ विहार, तिल के पौधे को देख कर गोशालक की भगवान् से पृच्छा से लेकर गोशालक को तेजोलेश्या की प्राप्ति एवं उसके द्वारा भविष्य-कथन तक का वृत्तान्त है।

१६ वें शतक के १४ उद्देशक हैं, जिनमें से पहले में अधिकरण, दूसरे में जरा, शोक, अवग्रह, शक्रेन्द्र की भाषा आदि, तीसरे उद्देशक में कर्म-क्रियाविचार, चौथे में अधिक निर्जरा के हेतु, पांचवें में गंगदेव, छठे में स्वप्नविचार, सातवें में उपयोग, आठवें में लोक, नौवें में बली इन्द्र, दशवें में अवधिज्ञान, ग्यारहवें में द्वीपकुमार, बारहवें में उदधिकुमार, तेरहवें में दिशाकुमार और चौदहवें उद्देशक में स्तनितकुमार का वर्णन है।

१७ वें शतक में १७ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में उदायी हस्ती और क्रियाविचार, दूसरे में धार्मिक-अधार्मिक, धर्म, अधर्म, धर्माधर्म, जीव-बाल, पंडित और बालपण्डित आदि, तीसरे में शैलेषी विचार, चौथे में क्रिया, पांचवें में सुधर्मा सभा, छठे-सातवें में पृथ्वीकायिक, आठवें और नौवें में अप्कायिक, दशवें-ग्यारहवें में वायुकायिक, १२ वें में एकेन्द्रिय, तेरहवें में नागकुमार, चौदहवें में स्वर्णकुमार, पन्द्रहवें में विद्युत्कुमार, १६ वें में वायुकुमार और १७ वें में अग्निकुमार का वर्णन है।

१८ वें शतक में १० उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में प्रथम तथा अप्रथम का विचार, दूसरे में विशाखा नगर के कार्तिक सेठ की तपस्या, तीसरे में माकंदीपुत्र का स्थविरो से प्रश्नोत्तर, चार में प्राणातिपात, पांच में असुरकुमार, छः में गुड़ आदि के वर्ण प्रभृति, सात में केवली, उपधि, परिग्रह, मद्रुक श्रावक के साथ अन्य-तीर्थिक के प्रश्नोत्तर, देवासुरसंग्राम, आठवें में अनगर क्रिया, नौवें में भव्य, द्रव्य, जीव, दशवें में सोमिल का भगवान् महावीर से शंकासमाधान, साधना, निर्वाण आदि का वर्णन किया गया है।

१९ वें शतक में १० उद्देशक हैं।

२० वें शतक में १० उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में द्विन्द्रिय आदि जीवों के शरीर बन्ध आदि, दूसरे में आकाश, तीसरे में प्राणिवध आदि १८ पाप और पापविरक्ति आदि, चौथे में इन्द्रियोपचय, पांचवें में परमाणु आदि, छठे में अन्तर आदि, सातवें में बन्ध, आठवें में कर्मभूमि अकर्मभूमि, तीर्थकर और अन्तरकाल, कालिक सूत्र का विच्छेद-अविच्छेद, पूर्वज्ञान की स्थिति, तीर्थ, तीर्थकर आदि, नौवें उद्देशक में चारणामुनि, और दशवें उद्देशक में सोपक्रम, निरूपक्रम आयु आदि का वर्णन है।

२१ वें शतक में ८ वर्ग और प्रत्येक वर्ग में दश-दश के हिसाब से ८० उद्देशक हैं।

२२ वें शतक में ६ वर्ग और छहों वर्गों में — प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ६० उद्देशक हैं।



२३ वें शतक में ५ वर्ग और प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ५० उद्देशक हैं।

२४ वें शतक में २४ उद्देशक हैं।

२५ वें शतक में १२ उद्देशक हैं। पहले में लेश्या और योग का, दूसरे में द्रव्य का, तीसरे में संस्थान, गरिणपिटक, अल्पबहुत्व, चार में युग्म और पर्याय, अल्प बहुत्व आदि, पांचवें में कालपर्यव और दो प्रकार के निगोद, छठे में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ का ३६ द्वारों से वर्णन, सातवें में पांच प्रकार के संयम का ३६ द्वार से वर्णन करके दश प्रतिसेवना, दश आलोचना दोष, दश आलोचनायोग्य, दश समाचारी, दश प्रायश्चित्त, और तप के बारह भेदों का विस्तृत वर्णन है। आठवें उद्देशक में समुच्चय नारक, नौवें में भव्य नारक, दशवें में अभव्य नारक, ग्यारहवें में समदृष्टि और बारहवें में मिथ्यादृष्टि नारक की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

२६ वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले में जीव के पापबन्ध का विचार दूसरे में अनन्तरोपपन्न, तीसरे में परंपरोपपन्न, चौथे में अनन्तरावगाढ़, पांचवें उद्देशक में परम्परावगाढ़, छठे में अनन्तराहारक, सातवें में परम्पराहारक, आठवें में अन्तर्याप्त, नौवें में परम्परप्याप्त, दशवें में चरम और ११ वें में अचरम चौबीस दण्डक के जीवों में बन्ध कहा गया है।

२७ वें शतक में ११ उद्देशकों से पाप कर्म के बन्ध का विचार किया गया है।

२८ वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में भूतकाल के बन्ध आदि का वर्णन किया गया है और शेष १० उद्देशक २६ वें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

२९ वें शतक में ११ उद्देशक हैं जिनमें से पहले अभ्ययन में पाप कर्मों के वेदन का विवरण दिया गया है और शेष १० उद्देशक छब्बीसवें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

३० वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में चार समवसरण और जीव के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। शेष दश उद्देशक २६ वें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

३१ वें शतक में २८ उद्देशक हैं जिनमें चार युग्म से नरक के उपपात का विवरण दिया गया है।

३२ वें शतक में २८ उद्देशक हैं जिनमें नारक का उद्घर्तन ३१ वें शतक के समान बताया गया है।

३३ वें शतक में १२ अवान्तरशतक हैं जिन्हें १२ एकेन्द्रिय शतक के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रथम ८ अवान्तरशतकों के ११-११ और अंतिम ४

के ६-६ उद्देशक के हिसाब से इस तेतीसवें शतक के कुल १२४ उद्देशक हैं। प्रथम एकेन्द्रिय शतक के प्रथम उद्देशक में एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप, तेज वायु और वनस्पति ये पांच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियों के बन्धन एवं वेदन का और शेष १० उद्देशकों में क्रमशः अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय अनन्तरावगाढ पंचकाय, परम्परावगाढ पंचकाय, अनन्तराहारक पंचकाय, परम्पराहारक पंचकाय, अनन्तर पर्याप्त पंचकाय, परम्पर पर्याप्त पंचकाय, चरम पंचकाय और अचरम पंचकाय आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

द्वितीय एकेन्द्रिय शतक (अवान्तरशतक) में कृष्णलेश्यी, तृतीय में नील लेश्यी चौथे में कापोतलेश्यी, पांचवें में भवसिद्धिक, छठे में कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, सातवें में नील लेश्या के साथ, आठवें में कापोतलेश्या के साथ, नौवें में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्यी और बारहवें में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

३४ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ उद्देशक और अन्तिम चार अवान्तरशतकों के ६-६ उद्देशक के हिसाब से इस ३४ वें शतक में कुल १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय शतक समुच्चय में अनन्तरोपपन्न से अचरम तक ११ उद्देशक हैं। दूसरे में कृष्णलेश्यी, तीसरे में नीललेश्यी, चौथे में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय, पांचवें में भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, छठे में कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, सातवें में नीललेश्यायुक्त मन, आठवें में कापोतलेश्यायुक्त मन का विवेचन है। इन आठों अवान्तरशतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक हैं।

नौवें अवान्तर शतक में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें अवान्तरशतक में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्या, बारहवें में कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक का वर्णन है। इन चारों अवान्तर शतकों के प्रत्येक के ६-६ उद्देशक हैं।

३५ वें शतक में भी प्रथम एकेन्द्रिय महायुगम शतक से लेकर द्वितीय, तृतीय यावत् द्वादश एकेन्द्रिय महायुगम शतक तक बारह अवान्तरशतक हैं। इनमें पहले के ८ अवान्तरशतकों में ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और अन्त के ४ अवान्तरशतकों के ६-६ उद्देशक हैं। इस प्रकार इस ३५ वें शतक के कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय महायुगम शतक (अवान्तरशतक) के पहले उद्देशक में महायुगम के १६ भेद, उनके हेतु, कृतयुगम राशिरूप एकेन्द्रिय का उपपात, एक समय के उपपात, जीवों की संख्या, कृतयुगम-कृतयुगम राशिरूप एकेन्द्रियों के आठ कर्मों के बन्ध-वेदन, साता असाता वेदन, इनकी लेश्याएं—शरीर के वर्ण—अनुबन्धकाल, सर्व जीवों के इस राशि में उत्पाद आदि २० स्थानों का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्देशक में प्रथम समयोत्पन्न कृतयुगम-कृतयुगम एकेन्द्रियों के उत्पाद और अनुबन्ध का निरूपण, तृतीय उद्देशक में अग्रथम समयोत्पन्न कृतयुगम-कृतयुगम

प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का, चौथे में चरम समय, पांचवें में अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण के एकेन्द्रियों के उत्पाद का, छठे में प्रथम समय, सातवें में प्रथम अप्रथम समय, आठवें में प्रथम चरम समय, नौवें में प्रथम अचरम समय, दशवें में चरम-अचरम समय और ग्यारहवें में चरम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय चतुर्थ यावत् बारहवें अवान्तरशतक में क्रमशः कृष्णालेश्य, नीलालेश्य, कापोतलेश्य, भवसिद्धिक, कृष्णालेश्य भवसिद्धिक, नीलालेश्य भवसिद्धिक कापोतलेश्य भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, कृष्णालेश्य अभवसिद्धिक, नीलालेश्य अभवसिद्धिक और कापोतलेश्य अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का प्रथम अवान्तरशतक के समान वर्णन किया गया है।

३६ वें शतक में १२ अवान्तर शतक और उनके कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इन बारहों अवान्तर शतकों में बेइन्द्रिय महायुग्म के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है अतः इनके नाम प्रथम, द्वितीय, यावत् द्वादश बेइन्द्रिय महायुग्म शतक रखे गये हैं। इनमें से प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और शेष चार के ९-९ उद्देशक हैं। इन सब अवान्तरशतकों के उद्देशकों में ३५ वें शतक के एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतकों के उद्देशकों के समान ही बेइन्द्रियों के उत्पाद अनुबन्ध और लेश्याओं के अनुक्रम से कृतयुग्म-कृतयुग्म बेइन्द्रियों का वर्णन किया गया है।

३७ वें शतक में भी १२ अवान्तर शतक हैं। इसमें कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में कृतयुग्म-कृतयुग्म त्रीन्द्रिय जीवों के उत्पाद आदि का पैंतीसवें शतक के समान ही वर्णन किया गया है।

३८ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में ३४ वें शतक के समान कृतयुग्म-कृतयुग्म चतुरिन्द्रियों के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है।

३९ वें शतक में भी १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं जिनमें ३४ वें शतक के समान ही असंज्ञी पंचेन्द्रियों के उपपात आदि का वर्णन किया गया है।

४० वें शतक में २१ अवान्तरशतक और प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक के हिसाब से कुल मिलाकर २३१ उद्देशक हैं। इस शतक में संज्ञी पंचेन्द्रिय महायुग्मों के उत्पाद आदि का ३४ वें शतक के अनुसार ही वर्णन किया गया है।

४१ वें (अन्तिम) शतक में कुल मिलाकर १६६ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में राशियुग्म के चार भेद, उन भेदों के हेतु कृतयुग्म राशि प्रमाण चौबीस दण्डकों के जीवों के उपपात, सान्तर अथवा निरन्तर उपपात, कृतयुग्म के साथ अन्य राशियों के सम्बन्ध का निषेध जीवों के उपपात की पद्धति, उपपात का हेतु, आत्मा

का असंयम आदि का वर्णन करने के पश्चात् सलेश्य और सक्रिय आत्म असंयमी और क्रिया रहित की सिद्धि आदि का निरूपण किया गया है।

द्वितीय उद्देशक में त्र्योज राशि प्रमाण चौबीस दण्डक के जीवों का उपपात, तृतीय में द्वापर और चतुर्थ में कल्योज राशि प्रमाण चौबीस दण्डकों के जीवों के उपपात के विषय में विवरण दिया गया है।

पंचम उद्देशक में कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्म प्रमाण, छठे में कृष्ण लेश्या त्र्योज राशि प्रमाण, सातवें में कृष्ण लेश्या वाले द्वापर युग्म प्रमाण और आठवें में कृष्ण लेश्या वाले कल्योज प्रमाण चौबीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

नवमें से १२ वें उद्देशक में नीललेश्या वाले, तेरहवें से सोलहवें उद्देशक में कापोत लेश्या वाले, सत्रहवें से बीसवें उद्देशक में तेजोलेश्या वाले, २१ वें से चौबीसवें उद्देशक में पद्म लेश्या वाले, और पन्चीसवें से २८ वें उद्देशक में शुक्ललेश्या वाले चार राशि युग्म प्रमाण चौबीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

२९ वें से ५६ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण भवसिद्धिक, ५७ से ८४ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण अभवसिद्धिक, ८५ से ११२ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक, ११३ वें से १४० वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या वाले चौबीस दण्डक के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

१४१ वें से १६८ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण कृष्णपक्षी और १६९ वें से १९६ उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण शुक्लपक्षी चौबीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति में भगवान् महावीर के जीवन का, उनके शिष्यों, भक्तों, गृहस्थ अनुयायियों, अन्य तीर्थिकों एवं उनकी मान्यताओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। गौशालक के सम्बन्ध में जितना विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसके साथ ही साथ भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायियों तथा चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध में व्याख्या प्रज्ञप्ति में स्थान-स्थान पर विवरण मिलते हैं। भगवान् महावीर के पंचमहाव्रत धर्म से प्रभावित होकर अनेक पार्श्वीपत्यों ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत धर्म अंगीकार किया, इस प्रकार के विवरण व्याख्या प्रज्ञप्ति में बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त कूरिक और महाराज चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टक संग्राम एवं रथमुसल संग्राम नामक दो महायुद्धों का व्याख्याप्रज्ञप्ति में बड़ा ही

मार्मिक वर्गान किया गया है। इसमें बताया गया है कि उन दोनों महायुद्धों में क्रमशः ८४ लाख और ६६ लाख योद्धा दोनों पक्षों के मारे गये।<sup>१</sup>

व्याख्या प्रज्ञप्ति के २१ वें, २२ वें और २३ वें शतकों में जो वनस्पतियों का वर्गीकरण किया गया है वह अनुपम है।

इस प्रकार व्याख्या प्रज्ञप्ति में ३६ हजार प्रश्नोत्तरों के रूप में विविध विषयों का ग्रन्थाह ज्ञान संकलित कर लिया गया है जो जैन सिद्धान्त, इतिहास, भूगोल, राजनीति आदि अनेक दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आध्यात्मिक तत्व की कुंजी की मंज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। तत्कालीन, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों पर व्याख्या प्रज्ञप्ति में दिये गये अनेक विवरण समीचीन रूप से साधिकारिक प्रकाश डालते हैं।

इस पंचम अंग में देवगति प्राप्त करने वाले प्राणियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बताया गया है कि संयम का निरतिचार रूप से पालन करने वाले केवल बाहरी रूप से संयम का पालन करने वाले, असंयत, संयम के विराधक, आवकधर्म का न्यूनाधिक रूपेण पालन करने वाले, असंज्ञी जीव, तापस जो जिन प्रवचनों का पालन नहीं करते, कांदर्पिक, चरक अर्थात् त्रिदण्डी, लंगोटधारी परिव्राजक, कपिल के शिष्य, ज्ञानियों, साधुओं तथा धर्माचार्यों की निन्दा करने वाले, कित्वधिक अर्थात् बाह्य रूप से जैन श्रमणाचार का पालन करने वाले और जिन-भार्गानुयायी तिर्यंच कम से कम और अधिक से अधिक किन-किन देवयोनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। इस विवरण में बौद्ध भिक्षुओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, यह केवल विचारणीय ही नहीं अपितु गहन शोष का विषय भी है। क्या वस्तुतः इस अंग की रचना के समय तक बौद्ध धर्म का इतना प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था अथवा कोई अन्य कारण रहा है जिससे कि बौद्ध धर्म के भिक्षुओं का इस प्रकरण में नामोल्लेख तक नहीं किया गया है ?

सभी विद्वानों का यह तो निश्चित अभिमत है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति का विषयवर्णन प्रति प्राचीन और आचार्य-परम्परागत है तथापि इसमें द्वादशांगी के पश्चाद्वर्ती काल में रचित भागमों-रायपसेणइज्ज, उववाइय, पण्णवणा, जीवा-भिगम तथा नदी आदि का उल्लेख करके अनेक स्थलों पर इसके विवरणों को तथा पूरे के पूरे उद्देशकों को संक्षिप्त कर दिया गया है।<sup>१</sup> यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब रायपसेणइज्ज आदि उपर्युक्त भागमों की रचना द्वादशांगी के पश्चात् हुई है तब पूर्वरचित व्याख्या प्रज्ञप्ति में बाद की रचनाओं के उल्लेख किस कारण किये गये हैं ? नन्दीसूत्र तो निश्चित रूप से वीर-निर्वाण सं० ६८० के आस-पास श्री, वल्लभी-वाचना के सूत्रधार एवं नायक देवद्विगणि क्षमाश्रमण की संकलन मानी गई है।

<sup>१</sup> वस्तुतः जानकारी के लिये देखिये "जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग",

इस प्रकार की शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सामान्य रूप से जिस ग्रन्थ में किसी अन्य सूत्र अथवा सूत्रकार का नाम उपलब्ध होता है उसे, जिस ग्रन्थ में उसका उल्लेख है उस ग्रन्थ की रचना से पूर्ववर्ती माना जाता है किन्तु जैन सूत्रों पर इस प्रकार की बात घटित नहीं होती। कारण कि रचना के पश्चात् भी सूत्र शताब्दियों तक गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक चलते रहे। वीर-निर्वाण ६८० में सूत्र अन्तिम रूप से लिपिबद्ध किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों को लिपिबद्ध करते समय इस नियम का पालन करना आवश्यक नहीं समझा गया कि जिस अनुक्रम से आगमों की रचना हुई है उसी क्रम से उनको लिपिबद्ध किया जाय। इसके परिणामस्वरूप पश्चाद्द्वर्ती काल में रचित कतिपय आगमों का लेखन सुविधा की दृष्टि से पहले सम्पन्न कर लिया गया। तदनन्तर रचनाक्रम की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि स्थान पर माने जाने वाले आगमों का लेखन किया गया तो पश्चाद्द्वर्ती आगम होते हुए भी जो पहले लिपिबद्ध कर लिये गये थे और उनमें पूर्ववर्ती जिन आगमों के जो-जो पाठ अंकित हो चुके थे उन पाठों की पुनरावृत्ति न हो इस दृष्टि से बाद में लिपिबद्ध किये जाने वाले पूर्ववर्ती आगमों में "जहा नन्दी" आदि पाठ देकर पश्चाद्द्वर्ती आगमों और आगमपाठों का उल्लेख कर दिया गया। यह केवल पुनरावृत्ति को बचाने की दृष्टि से किया गया। इससे मूल रचना की प्राचीनता में किसी प्रकार की किञ्चित्मात्र भी न्यूनता नहीं आती। हो सकता है उस समय आगमों को लिपिबद्ध करते समय पुनरावृत्ति के दोष से बचने के साथ-साथ इस विशाल पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति के अति विशाल स्वरूप एवं कलेवर को थोड़ा लघु स्वरूप प्रदान करने की भी उन देवर्द्धिगणों क्षमाश्रमण आदि आचार्यों की दृष्टि रही हो।

इसके अतिरिक्त अन्य भी मन्दमेघा आदि कारण व्याख्या प्रज्ञप्ति के कलेवर को छोटा बनाने के हो सकते हैं अथवा नहीं इस पर इतिहास के विशेषज्ञ मुनि एवं विद्वान् प्रकाश डालने का सद्प्रयास करेंगे, ऐसी आशा है।

### अपरनाम - भगवती

इस पंचम अंग का अपर नाम भगवती सूत्र भी है जो वियाह पण्यति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) नाम की अपेक्षा प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक विशाल इस व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग में भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर द्वारा प्रभु के समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रश्नों एवं भगवान् द्वारा दिये गये उनके तात्त्विक उत्तरों का सुविशाल संकलन होने के कारण इसके प्रति सर्वाधिक, सम्मान, आदर और पूज्यभाव प्रकट करने हेतु बहुत सम्भव है कि विगत कतिपय शताब्दियों से वियाहपण्यति नामक इस पंचम अंग को भगवती सूत्र इस अति सम्माननीय नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो। आज तो चतुर्विध तीर्थ में यह पंचम अंग भगवती सूत्र के नाम से ही लोकप्रिय है।

### व्याख्याप्रज्ञप्ति का उपलब्ध स्वरूप

व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग के प्रारम्भ में, तथा १५, १७, २३ एवं २६ इन चार शतकों के प्रारम्भ में और इस अंग के सम्पूर्ण होने पर अन्त में — इस प्रकार कुल मिलाकर ६ स्थानों पर मंगलाचरण किया गया है।

इस सूत्र के प्रारम्भ में सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र से और तदनन्तर “एगमो बंभीयस्स लिवियस्स” तथा “एगमो सुयस्स” इन पदों द्वारा मंगलाचरण किया गया है। इसके पश्चात् शतक संख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ में— “एगमो सुयदेवयाए भगवईए”— इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अन्त में दिये गए “इक्कच्चत्तालीसइमं रासी जुम्मसयं समत्त”— इस समाप्तिसूचक पद से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस पंचम अंग के १०१ शतक (अध्ययन) से उनमें से केवल ४१ शतक ही अवशिष्ट रहे हैं शेष सब विलुप्त हो चुके हैं।

उपरोक्त समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि भगवती में सब शतकों की (अवान्तरशतकों को मिलाकर) संख्या १३८ और उद्देशकों की संख्या १६२५ है।<sup>१</sup>

प्रथम शतक से ३२वें शतक तथा ४१वें शतक के कोई अवान्तरशतक नहीं हैं। ३३वें शतक से ३६वें शतक तक के ७ शतक बारह-बारह अवान्तर शतकों के तथा ४०वां शतक २१ अवान्तर शतकों का समूह है। अतः इन ८ शतकों की गणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस प्रकार अवान्तर शतक रहित उपरोक्त ३३ शतकों और १०५ अवान्तरशतकात्मक शेष ८ शतकों को मिलाकर व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतकों तथा अवान्तर शतकों की सम्मिलित संख्या १३८ बताई गई है वह तो ठीक है परन्तु उपरोक्त संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या १६२५ बताई गई है, उसका आधार खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता। व्याख्या प्रज्ञप्ति के मूल पाठ में इसके शतकों एवं अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या दी गई है, केवल ४०वें शतक के २१ अवान्तरशतकों में से अन्तिम १६ से २१ इन ६ अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप में नहीं दी गई है परन्तु जिस प्रकार इस शतक के पहले से १५वें अवान्तर शतक तक प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११ बताई गई है उसी प्रकार उक्त शेष ६ अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११-११ मान ली जाय तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या १८८३ होती है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में केवल “उद्देशगारा” इतना ही पाठ देकर संख्या का स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है।

इसके पश्चात् एक गाथा द्वारा इस पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति की पदसंख्या

<sup>१</sup> सख्याए भगवईए षट्ठतीसं सयं सयाणं (१३८) उद्देशगारा १६२५

(व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक ४१ के पश्चात्)

८४ लाख पद बताई गई है।<sup>१</sup> नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका में इस पर “विशिष्टसम्प्रदायगम्यानि” केवल इतना ही लिखा है। इससे आगे की गाथा में संघ की समुद्र के साथ तुलना करते हुए उसकी स्तुति की गई है।<sup>२</sup> इसके पश्चात् शैतम आदि गरुधरों को, भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति और द्वादशांगी रूप गरिणपिटक को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर प्रतिलिपिकार ने कच्छप के समान सुगुप्त चरणों वाली कोरंट वृक्ष के अम्लान (नवविकसित) कुसुम की कली के समान मनोहर भगवती श्रुतदेवी से प्रार्थना की है कि वह उसके अज्ञानान्धकार को विनष्ट करे।<sup>३</sup>

श्रुतदेवी की स्तुति के पश्चात् व्याख्याप्रज्ञप्ति के पठन-पाठन के क्रम के साथ-साथ विधि आदि का उल्लेख किया गया है।

अन्त में प्रतिलिपिकार द्वारा तीन गाथाओं में श्रुतदेवी आदि की निम्न-लिखित रूप में स्तुति की गई है—

प्रखर बुद्धि वाले विद्वानों द्वारा सदा अभिवंदित, अज्ञानान्धकार विष्वंसिनी नवविकसित शतदलकमल वरद हस्त में लिये हुए श्रुताधिष्ठातृ देवी मुझे भी बुद्धि प्रदान करे। जिसके कृपा प्रसाद से ज्ञान सीखा है उस श्रुतदेवता को हम प्रणाम करते हैं। शान्तिप्रदायिनी प्रवचनदेवी को भी मैं नमस्कार करता हूँ। श्रुतदेवता, कुम्भधरयक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोटघादेवी, विद्यादेवी और अंतहुंडी लेखक की सब प्रकार के विघ्नों से रक्षा करे। व्याख्याप्रज्ञप्ति की मंगलसहित ग्रन्थाग्र० संख्या १५७५१ बताई गई है। व्याख्या प्रज्ञप्ति की समाप्ति के पश्चात् जो “रामोगोय-माइण” आदि जितने भी नमस्कारपरक उल्लेख हैं उनके सम्बन्ध में टीकाकार ने लिखा है कि ये सब लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये नमस्कार हैं।<sup>४</sup>

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अंत में जो इसके पठन-पाठन का क्रम दिया गया है वह किसी श्रुतस्थविर द्वारा साधकों के हितार्थ किया गया उल्लेख प्रतीत होता है।

- <sup>१</sup> चुलसीयसपसहस्ता, पयाण पवरवरणाणदंसीहि ।  
भावाभावमणता, पन्नत्ता एत्यमंगंमि ॥ ४१वें श० के अन्त में
- <sup>२</sup> तवनियमविराणयवेलो, जयइ सया नारणविमसविउलजलो ।  
हेउसमविउलवेगो, संघसमुद्रो गुणवितालो ॥ वही—
- <sup>३</sup> (कुसुम) कुम्मसुसंठियचलणा, अमलियकोरंटवेटसंकासा ।  
सुयदेवया भगवई, ममं महतिमिरं परासेउ ॥ वही—
- <sup>४</sup> वियसियअरविदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिवा देवी ।  
मज्झं पि देहु मेहं, बुधविबुहणमंसियाणिच्च ॥१॥  
सुयदेवयाए पराणिमो जीए पसाएण सिक्खियं नारां ।  
अण्णां पवयणदेवी संतिकरी तं रामंसामि ॥२॥  
सुयदेवया य जक्खो कुंभधरो बंभसंति वेरोट्टा ।  
चिज्जा य अंतहुंडी, देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥३॥

—(व्याख्याप्रज्ञप्ति की समाप्ति के अनन्तर)

- <sup>४</sup> रामो गोयमाइण' मित्यादय पुस्तकलेखककृता नमस्काराः प्रकटार्थाश्चेति ।

—(व्याख्याप्रज्ञप्ति, टीका)



• व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतकों, वर्गों, अवान्तरशतकों एवं उद्देशकों की संख्या इस प्रकार है :-

शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक	शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक
१	—	—	१०	२२	३	—	६०
२	—	—	१०	२३	५	—	५०
३	—	—	१०	२४	—	—	२४
४	—	—	१०	२५	—	—	१२
५	—	—	१०	२६	—	—	११
६	—	—	१०	२७	—	—	११
७	—	—	१०	२८	—	—	११
८	—	—	१०	२९	—	—	११
९	—	—	३४	३०	—	—	११
१०	—	—	३४	३१	—	—	२८
११	—	—	१२	३२	—	—	२८
१२	—	—	१०	३३	—	१२	१२४
१३	—	—	१०	३४	—	१२	१२४
१४	—	—	१०	३५	—	१२	१२४
१५	—	—	००	३६	—	१२	१२४
१६	—	—	१४	३७	—	१२	१२४
१७	—	—	१७	३८	—	१२	१२४
१८	—	—	१०	३९	—	१२	१२४
१९	—	—	१०	४०	—	२१	२३१
२०	—	—	१०	४१	—	—	१६६
२१	८	—	८०				

इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति में ४१ शतक, वर्ग १६, अवान्तरशतक १०५, शतक और अवान्तरशतक दोनों मिलाकर १३८ तथा उद्देशक १८८३ हैं। शतक संख्या ३३ से १० तक के ८ शतक अवान्तरशतकों से गठित हैं। अतः शतकों और अवान्तरशतकों की गणना में इन आठ शतकों की पृथक् गणना नहीं करने के कारण शतकों एवं उपशतकों की सम्मिलित संख्या १३८ होती है।

### ६. नायाधम्मकहाओ

नायाधम्मकहाओ का संस्कृत नाम ज्ञातृधर्मकथा है। द्वादशांगी के क्रम में इसका छठा स्थान है। इसमें उदाहरणप्रधान धर्मकथाएं दी हुई हैं, जिनमें मेघ-कुमार आदि के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, राजाओं, माता-पिता, समवसरणों, धर्माचार्यों, धर्मकथाओं, ऐहिक एवं पारलौकिक ऋद्धियों, भोग परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, उत्कृष्ट तपस्याओं, पर्यायों, संलेखनाओं, भक्तप्रत्याख्यानों, पादपोषणमनों, स्वर्गगमन, उत्तम कुल में जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया आदि विषयों का वर्णन तथा भगवान महावीर के विनयमूलक श्रेष्ठ शासन में प्रव्रजित उन साधकों का वर्णन है जो ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन में दुर्बल, शिथिल, हतोत्साहित, विषयसुखमूर्च्छित, संयम के मूल गुणों एवं उत्तरगुणों की विराधना

करने वाले बन गये । इस छोटे ग्रंथ में उन घोर-वीर साधकों का भी वर्णन है जो घोरातिघोर परोषर्षों के उपस्थित होने पर भी संयम मार्ग से किञ्चित्मात्र भी विचलित नहीं हुए । इसमें देवलोकों के भोगोपभोग सुखादि का, देवलोक से च्यवन के पश्चात् मानव जीवन में पुनः साधनापथ पर अग्रसर होने वालों का, संयम-विराघनाजन्म दोषों और संयमाराधन के गुराणों का, लोकमुनि शुक परिव्राजक के जिन-शासन में आने का तथा शाश्वत मोक्षसुख प्राप्त करने वाले साधकों आदि का वर्णन है ।

ज्ञातृधर्मकथा की परिमित वाचनाएं, अनुयोग द्वार, वेढा छन्द, श्लोक, निर्युक्तियाँ, संग्रहणियाँ और प्रतिपत्तियाँ प्रत्येक संख्यात-संख्यात हैं । इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं । प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्यायन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दश वर्ग हैं । दोनों श्रुतस्कन्धों के २६ उद्देशनकाल, २६ समुद्देशनकाल, पांच लाख ७६ हजार पद, संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्यावर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित शाश्वत भाव कहे गए हैं । इसका वर्तमान में उपलब्ध पदपरिमाण ५५०० श्लोक प्रमाण है ।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्यायनों के संक्षेप में चरित्र और कल्पित ये दो प्रकार बताये हैं । मेघ कुमार आदि के जो चरित्र बताये गये हैं वे सत्य उदाहरण हैं और तुम्ब आदि के उदाहरण कल्पित हैं जो भव्यजनों को प्रतिबोधित करने की दृष्टि से प्रस्तुत किये गए हैं ।

धर्मकथाओं के जो दश वर्ग हैं उनमें से प्रत्येक धर्मकथा में ५००-५०० आख्यायिकाएं, एक-एक आख्यायिका में पांच सौ-पांच सौ उपाख्यायिकाएं और उनमें से एक-एक उपाख्यायिका में पांच सौ-पांच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाएं हैं । इस प्रकार इन सबको मिलाकर कुल साढ़े तीन करोड़ उदाहरणस्वरूप कथाएं इसमें दी गई हैं ।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातृरूप-उदाहरणस्वरूप १६ अध्यायन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के १० वर्ग कहे गए हैं । उनका सारांश इस प्रकार है :—

प्रथम श्रुतस्कन्ध के मेघकुमार नामक प्रथम अध्यायन में राजपुत्र मेघकुमार की भगवान् महावीर की सेवा में दीक्षा तथा शय्यापरीषह से उसके खिन्न होने पर प्रभु द्वारा उसे संयम में स्थिर करने का वर्णन किया गया है । महावीर ने कहा — “मेघ ! मेरुप्रभ हाथी के भव में तुमने दाहण दावानल से भयभीत खरगोश पर अनुकम्पा कर उसके प्राणों की रक्षार्थ अपने प्राण दे दिए थे । उस अनुकम्पा के फलस्वरूप ही हाथी के भव से मरकर तुम इस भव में महाराज श्रेणिक के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए हो ।” भगवान् की वाणी से उद्बोधित हो कर मेघमुनि ने श्रमणवर्ग की सेवार्थ अपना तन-मन-सर्वस्व समर्पित कर दिया और समीचीन रूपेण संयम का परिपालन कर आत्मकल्याण किया ।

दूसरे धन्ना सार्थवाह के अध्यायन में विजय चोर और धन्ना के उदाहरण के माध्यम से साधक को यह समझाया गया है कि सुदीर्घकाल तक समीचीनतया

साधना में निरत रहने के एक मात्र उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए साधक आत्राणादि से किस प्रकार अपने शरीर को प्राण धारण करने योग्य बनाए रखे ।

तीसरे 'मयूराण्ड' नामक अध्ययन में सार्थवाहपुत्रों के उदाहरण के माध्यम से शास्त्रवारी में शंका न करने का उपदेश दिया गया है ।

चौथे 'कूर्म-अध्ययन' में दो कछुओं के उदाहरण से इन्द्रियों को वश में करने और न करने के लाभ एवं हानि का दिग्दर्शन कराते हुए साधक को इन्द्रिय-विजय का उपदेश दिया गया है ।

पांचवें 'थावच्चापुत्र' के अध्ययन में श्रीकृष्ण वामुदेव के परिवार में समुद्रविजय आदि दश दशाहं, उपसेन आदि १६ हजार राजा, प्रद्युम्नकुमार आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, २१ हजार वीर, ५६ हजार बलवान् और रुक्मिणी आदि ३२ हजार रानियों का उल्लेख किया गया है । इस अध्ययन में श्रीकृष्ण द्वारा गाथापतिपुत्र थावच्चापुत्र की दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करने का, थावच्चापुत्र मुनि द्वारा सेलक राजा को उसके पांच सौ साधियों सहित दीक्षित करने, शुकदेव सन्यासी के साथ धर्मचर्चा का, शुकदेव परिव्राजकाचार्य के प्रतिबुद्ध हो शिष्यों सहित श्रमणधर्म में दीक्षित होने एवं पन्थक मुनि द्वारा सेलक राजा पि के प्रमाद-परिहार का वर्णन किया गया है ।

छठे अध्ययन में जीव का तूँबे के उदाहरण से हल्के और भारी होने का स्वरूप समझाया गया है । जिस प्रकार मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूँबा जल में डूब जाता है और मिट्टी का लेप हट जाने पर ऊपर आकर तैरने लगता है, उसी प्रकार कर्मबन्धन से बन्धा हुआ आत्मा संसारसमुद्र में डूबता और बन्धन कटने पर हल्का होकर भवसागर को पार कर लेता है ।

सातवें अध्ययन में धन्ना सार्थवाह की ४ पुत्रवधुओं के उदाहरण से संयमी साधु की योग्यता का मापदण्ड बताया गया है । जैसे श्रेष्ठी की पुत्रवधुओं में से एक ने श्रेष्ठी द्वारा दिये गए ५ शालीकरणों को फेंक दिया, दूसरी ने प्रसाद समझकर खा डाला, तीसरी ने यथावत् सुरक्षित रखा और चौथी ने कृपि के माध्यम से उन पांच शालीकरणों को सहस्रों गुना बढ़ाकर श्रेष्ठी के घर में सम्मान प्राप्त किया उसी प्रकार जो शिष्य गुरु द्वारा दिये गए व्रतों को प्रमाद और खानपान के भोग में न गंवाकर सुरक्षित रखता है अथवा प्रचार-प्रसार के द्वारा बढ़ाता है, वह भी गुरु द्वारा सम्मान प्राप्त करता है ।

आठवें मल्ली अध्ययन में १६ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान् के जन्म, बालक्रीड़ा, विवाह के लिए ६ राजाओं के आगमन, मल्ली भगवती द्वारा स्वर्ण-पुतलिका के माध्यम से राजाओं को प्रतिबुद्ध कर दीक्षित करने और दोक्षाग्रहण के दिन ही मल्लिनाथ भगवान् द्वारा घाति-कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान प्राप्ति करने एवं चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भावतीर्थंकर बनने का वर्णन किया गया है । मल्लिनाथ के धर्मपरिवार, विहारक्षेत्र, संहनन, संस्थान, वर्ण और

निर्वाण प्राप्त करने तक का पूर्ण विवरण भी इसमें दिया गया है। मल्ली भगवती ने गृहस्थ अवस्था में उस समय की प्रसिद्ध परिव्राजिका चोखा को शुचिमूलधर्म की सदोषता बतलाते हुए विनयमूल धर्म की शिक्षा दी और कहा कि जिस प्रकार रक्तरंजित वस्त्र रक्त से धोने पर स्वच्छ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हिंसा आदि से मलीनात्मा यज्ञ-यागादि की हिंसा से शुद्ध नहीं किया जा सकता। इस अध्ययन में प्रसंगोपात्त दिया गया अरणाक श्रावक और ६ राजाओं का परिचय भी द्रष्टव्य है।

नीचें "माकन्दी अध्ययन" में बताया गया है कि वासना से चलचित्त होने वाला साधक जिनरक्षित के समान अपने प्राण गंवाता और स्थिरचित्त रहने वाला साधक जिनपालित की तरह सदा सुरक्षित रहकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलकाम होता है।

दशवें "चन्द्र अध्ययन" में कृष्ण और शुक्लपक्षीय चन्द्रमा की हानि-वृद्धि के उदाहरण से जीव के ज्ञानादि गुणों की हानि-वृद्धि समझाई गई है कि आत्मारूपी चन्द्र का ज्ञान रूपी उद्योत कर्मावरणों के कारण क्षीण और कर्मावरणों के क्षयोपशम से वृद्धिगत होता है।

ग्यारहवें "द्रावद्रव" नामक अध्ययन में जिनमार्ग की आराधना और विराधना पर विचार व्यक्त किये गए हैं। वन के वृक्षों की तरह साधक-श्रमण अन्य तीर्थिकों की संगति द्वारा आराधना से विचलित होता है तथा सम्यग्ज्ञानियों के संसर्ग से साधनामार्ग में स्थिर होकर आराधक बनता है।

बारहवें "खातोदक अध्ययन" में श्रावक सुबुद्धि प्रधान द्वारा जितशत्रु राजा को पुद्गलों के परिवर्तनशील परिणामी स्वभाव को समझाने का उल्लेख किया गया है। मन्त्री ने खाई के गन्दे जल को शुद्धिकारक प्रयोगों द्वारा स्वच्छ, सुस्वादु और सुपेय बना कर यह प्रमाणित किया कि कोई भी वस्तु एकांततः शुभ अथवा अशुभ नहीं होती। संसार का प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ रूप में परिवर्तित होता रहता है अतः एक पर राग और दूसरे पर द्वेष रखना अज्ञान का सूचक है।

तेरहवें "दर्दुर अध्ययन" में राजगृह नगर के श्रावक नन्द मणिकार का परिचय देते हुए बताया गया है कि सत्संग के अभाव में नन्द-मणिकार व्रत-नियम करते हुए भी श्रद्धा से विचलित हो गया। उसने अष्टम तप के समय प्यास से व्याकुल होने पर नगरी के बाहर पुष्करिणी बनवाने का निर्णय किया और चार शालाओं के साथ वापी का निर्माण करवा दिया। अन्त में वापी के प्रति अत्यधिक ममत्व और आर्तध्यान की दशा में मरकर नन्दन मणिकार ने उसी वावड़ी में दर्दुर के रूप में जन्म ग्रहण किया। एक बार भगवान् महावीर के राजगृह नगर में पदार्पण की बात सुनकर दर्दुर वन्दन हेतु निकला और मार्ग में एक घोड़े की टाप से घायल हो गया। गम्भीररूपेण घायल होने पर भी दर्दुर ने प्रभु चरणां में अपना

चित्त स्थिर रखा और अन्त में समाधिपूर्वक प्राण-त्याग कर वह स्वर्ग का अधिकारी बना ।

चौदहवें 'तेतलीपुत्र' के अध्ययन में बताया है कि दुःखावस्था में मनुष्य को सत्संग और धर्म जितना प्रिय लगता है उतना सुखावस्था में नहीं लगता । इसमें मित्र और प्रेमी का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह अपने सखा एवं प्रियजन को सब प्रकार से धर्ममार्ग पर लगाने का प्रयत्न करे । पोटिल देव ने तेतली प्रधान को विविध प्रकार के कष्ट पहुंचाकर भी संयम-धर्म के अभिमुख किया । वस्तुतः इसी को उपकारियों के प्रत्युपकार का सही मार्ग बताया गया है ।

पन्द्रहवें नन्दीफल अध्ययन में बतलाया गया है कि नन्दीफल की तरह अज्ञातफल में लुभाने वाले को जीवन से हाथ धोना पड़ता है । इसमें यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानी को किसी भी दशा में रसना के अधीन नहीं होना चाहिये ।

सोलहवें "अमरकंका अध्ययन" में पाण्डवपत्नी द्रौपदी का पद्मनाभ द्वारा हस्तशीर्ष नगर से अपहरण और श्रीकृष्ण द्वारा अमरकंका में जाकर पद्मनाभ को पराजित करना, द्रौपदी को पुनः प्राप्त करना, लौटते समय कारणवशात् अप्रसन्न हो श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवों का निर्वासन, कुन्ती की प्रार्थना से द्रवित हो समुद्रतट पर मथुरा बसा कर पाण्डवों को वहाँ रहने की अनुमति, स्थविरों की वाणी सुनकर पाण्डवों द्वारा मुनिव्रत ग्रहण और संयम एवं तप की साधना से निर्वाण-प्राप्ति बतलाई गई है । इसमें यह भी बताया गया है कि द्रौपदी ने अपने पूर्वभव में नागश्री ब्राह्मणी के रूप में तपस्वी मुनि को कड़वे तूँबे का साग बहरा कर दुर्लभ-बोधि की स्थिति का उपार्जन किया और उसके फलस्वरूप अनेक भवों में जन्म-मरण के दुःख सहन कर वही नागश्री द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई और अन्त में साधना कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुई । द्रौपदीहरण के प्रसंग में यहां "कङ्कुल नारद" की करतूतों का भी परिचय मिलता है ।

सत्रहवें अध्ययन में समुद्री अश्व के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है कि शब्द-रूप आदि विषयों में लुभाने वाले व्यक्ति समुद्री अश्व की तरह पराधीन होते हैं और विषयों से विरक्त रहने वाले स्वाधीन होकर आत्ममुख के अधिकारी होते हैं ।

अठारहवें "सुमुमा" नामक अध्ययन में धन्ना सार्थवाह के उदाहरण से बताया गया है कि साधक को जीवन-निर्वाह के लिये उदासीन भाव से आहार ग्रहण करना चाहिये । धन्ना सार्थवाह और उसके पुत्रों ने सुमुमा के अपहरणकर्त्ता चौराट्ट का भीषण-अटवियों में निरन्तर पीछा करते हुए जिस प्रकार भूख के कारण मरणामन्न स्थिति में चिलात द्वारा मार कर पटकी हुई सुमुमा दारिका की मृत देह से अपनी क्षुधानिवृत्ति की, उसमें आत्मीयता के कारण मृत दारिका के मांसभक्षण में धन्ना आदि के मन में किञ्चित्मात्र भी राग का अंश नहीं हो सकता, केवल प्राणरक्षा का ही विचार हो सकता है । ठीक उमी प्रकार साधक

श्रमण को सहज बने अचित्त आहार के ग्रहण करने में रागरहित होकर अधिकाधिक साधना हेतु शरीर को बनाये रखने का ही लक्ष्य रखने की शिक्षा दी गई है।

उन्नीसवें पुण्डरीक अध्ययन में भोगासक्ति का कटु फल बताते हुए विदेह क्षेत्र के पुण्डरीक और कुण्डरीक नामक दो राजकुमारों का उपाख्यान प्रस्तुत किया गया है। उसमें बताया गया है कि पुण्डरीकिया नगरी के महाराज महापद्म जब संसार की नश्वरता को समझकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये तब उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक राज्य का संचालन करने लगे और उनके छोटे भाई कुण्डरीक युवराज के रूप में सुखोपभोग करते रहे।

कालान्तर में मुनि महापद्म विचरण करते हुए पुण्डरीकिया नगरी में पधारे, तब महाराज कुण्डरीक और उनके लघु भ्राता दर्शन-वन्दन आदि के लिये मुनि सेवा में पहुंचे। उपदेश श्रवण कर पुण्डरीक ने मुनि महापद्म की सेवा में श्रामण्य स्वीकार कर लिया। बहुत काल पश्चात् अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए कुण्डरीक मुनि पुनः उस नगर में आये। उस समय उनके शरीर में दाहज्वर का प्रकोप था। राजा ने उनकी मुनिधर्म के अनुकूल औषधोपचारादि की समुचित व्यवस्था कर दी। परिणामतः मुनि कुण्डरीक कुछ ही समय में पूर्णतः स्वस्थ हो गये। जब मुनि स्वस्थ हो जाने पर भी विहार के प्रति उपेक्षा एवं उदासीनता दिखलाने लगे तो राजा ने उन्हें समझा-बुझाकर विहार करवाया। अनिच्छा होते हुए भी मुनि ने विहार तो कर दिया पर उनका मन राज्य भोगों में विलुब्ध हो चुका था अतः कुछ ही काल के पश्चात् वे पुनः पुण्डरीकिया नगरी में लौटे और नगरी के बाहर एक उद्यान में विराजमान हुए। मुनि के आगमन की सूचना प्राप्त होते ही राजा उन्हें वन्दन-नमन करने हेतु उद्यान में पहुंचा और मुनि को चितित देखकर बोला—“महाराज ! आप धन्य हैं, जो विषय-कषायों के प्रगाढ़ बन्धन काट कर संयमसाधना करते हुए विचरण कर रहे हैं। मैं अधन्य हूँ, जो अभी तक राज्य के प्रपंचों में उलझा हुआ हूँ।”

राजा द्वारा इस प्रकार की बात के पुनः पुनः दोहराये जाने पर भी मुनि ने जब उस पर कोई ध्यान नहीं दिया तो राजा ने मुनि से पूछा—महाराज ! आपको भोग से प्रयोजन है अथवा योग से ?”

मुनि कुण्डरीक ने दबे स्वर में कहा—“भोग से।”

अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब कुण्डरीक संयम-मार्ग में स्थिर नहीं हुए तो राजा पुण्डरीक ने अपने छत्र, चामरादि राजविन्ह मुनि कुण्डरीक को देकर उसे राज्य सिंहासन पर आसीन किया और स्वयं शासनहित और वंश की प्रतिष्ठा को उज्ज्वल बनाये रखने हेतु राज्यवैभव का तृणवत् त्याग कर कुण्डरीक के धर्मोपकरण धारण कर संयम मार्ग में दीक्षित हो गये।

मुनि पुण्डरीक विहार करते हुए स्थविरो के पास पहुंचे और उनसे चातुर्थांश धर्म स्वीकार कर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ तप करते हुए तप की जाज्वल्यमान ज्वाला

में अपने कर्मसमूह को जलाने लगे। प्रतिकूल, अन्तःप्रान्त और निस्सार आहार के कारण मुनि पुण्डरीक के शरीर में प्रबल व्याधि उत्पन्न हो गई पर वे संयम मार्ग में पूर्णरूपेण स्थिर रहे। मुनि पुण्डरीक ने जब देखा कि उनका शरीर असाध्य रोग से ग्रस्त होने के कारण उपचार की स्थिति में नहीं है तो उन्होंने सभी प्रकार के मोह-ममत्व का परिस्थाय कर स्थितप्रज्ञ हो आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया और वे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में तैत्तीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुए।

इधर कुण्डरीक राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही स्वच्छन्द रूप से यथेप्सित भोगोपभोगों में निरन्तर आसक्त रहने लगा। विषयासक्ति और आहारादि के असंयम के परिणामस्वरूप भोषण दाहज्वर की असह्य पीड़ा ने उसे धर दबाया। राज्य, राष्ट्र और अन्तःपुर के भोगों में मूर्च्छित बना हुआ वह रौद्रभाव में करालकाल का कवल बनकर सातवीं नरक में उत्पन्न हो घोर दुःखों का भागी बना।

इस प्रकार संयम लेकर पुनः भोगों में आसक्त होने वाला व्यक्ति कुण्डरीक की तरह घोर दुःखों का भागी बनता है, यह इस अध्ययन में बताया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों में चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्र एवं ईशानेन्द्र की अग्रमहोषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली साध्वियों की पुण्य कथाएं विविध अध्ययनों के रूप में दी गई हैं। दशों वर्गों में कुल २०६ अध्ययन हैं। इनमें वर्णित अधिकांश वृद्धकुमारियां भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित होकर उत्तरगुण की विराधना के कारण देवियों के रूप में उत्पन्न हुईं बताई गई हैं। उन साधिकाओं के देवियों के रूप में उत्पन्न होम पर भी उनका उन्हीं नामों से परिचय दिया गया है जो नाम उनके मानवभव में थे।

इस अंग में उल्लिखित धर्मकथाओं में पार्श्वनाथकालीन जनजीवन, विभिन्न मतमतान्तर, प्रचलित रीतिरस्म, नौका सम्बन्धी साधन सामग्री, कारागार पद्धति, राज्य व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों आदि का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है।

### ७. उवासगवसाओ

**उवासगवसाओ**—नामक सातवें अंग में नाम के अनुसार दश उपासक गृहस्थों का वर्णन किया गया है। उनके अध्ययन भी दश हैं अतः शास्त्र का नाम उपासकदशा युक्तिसंगत है।

इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, १० उद्देशनकाल और १० ही समुद्देशन-काल कहे गये हैं। इसमें संख्यात हजार पद, संख्यात अक्षर, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां और संख्यात श्लोक बताये गए हैं। वर्तमान में इस आगम का परिमाण ८१२ श्लोक-प्रमाण है।

इसके १० अध्ययनों में आनन्द आदि विभिन्न जाति व व्यवसाय वाले श्रावकों की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है ।

प्रथम अध्ययन में आनन्द गाथापति के सामाजिक जीवन का परिचय देते हुए उसकी १२ करोड़ सम्पदा को तीन भागों में बांट कर रखने, ४० हजार पशु और स्व-पर समाज में उसकी आदर्श प्रामाणिकता का परिचय दिया गया है । आनन्द द्वारा भगवान् महावीर के पास अहिंसादि ५ अंगुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिष्याव्रत रूप द्वादशविध श्रावकधर्म स्वीकार करने का उल्लेख है । करोड़ों की सम्पदा के होते हुए भी उस समय के नागरिक-जीवन में आहार-बिहार एवं परिधान का कैसा सादापन था, इसका आनन्द के जीवन से सही परिचय प्राप्त होता है । इसमें आगे बताया गया है कि श्रावकधर्म ग्रहण करने के १४ वर्ष पश्चात् आनन्द ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर कोल्लाम सन्निवेश की निजी पीषधशाला में पड़िमाधारी जीवन से विरक्ति मार्ग की साधना की और अन्त समय में अवधिज्ञान के साथ आजीवन अतनशनपूर्वक काल कर वह प्रथम स्वर्ग का अधिकारी बना ।

दूसरे अध्ययन में उपासक कामदेव के व्रतग्रहण और साधनापूर्ण जीवन का परिचय देते हुए बतलाया गया है कि कामदेव ने देवता द्वारा उपस्थित किये गए पिशाच, सर्प, हाथी आदि के विविध उपसर्गों में भी अविचल रहकर अपनी धार्मिक दृढ़ता का परिचय दिया । देव ने पिशाच एवं हाथी आदि के रूप से उसे खूब डराया, धमकाया और मारणान्तिक कष्ट देने में भी किसी प्रकार की कमी नहीं रखी पर कामदेव पूर्णतः अचल रहा, जिसकी भगवान् महावीर ने भी श्रमण-मण्डल के सम्मुख प्रशंसा की ।

तीसरे अध्ययन में चुलणीपिता श्रावक की जीवनचर्या का वर्णन है । इसमें बताया गया है कि चुलणीपिता के यहां ८ गोकुल (८० हजार पशु) एवं २४ करोड़ की सम्पदा थी ।

चौथे और पांचवें अध्ययन में क्रमशः सुरादेव और चुलणिशतक के छः-छः गोकुलों (६०-६० हजार पशुओं) और आठ-आठ करोड़ की सम्पदा का उल्लेख है । इन तीनों श्रावकों ने भगवान् महावीर से धर्म-श्रवण किया और अन्त में ५ वर्ष तक पड़िमाधारी के रूप में विरक्तजीवन की साधना करते हुए समाधि-मरण से आयु पूर्ण कर प्रथम स्वर्ग में देवत्व प्राप्त किया ।

छठे अध्ययन में उपासक कुण्डकौलिक के साथ अशोकवनिका में नियति-वादी देव के संवाद की चर्चा की गई है । देव ने श्रावक को नामांकित मुद्रिका और ओढ़ने का चादर उठाकर आकाश में स्थित हो कुण्डकौलिक से कहा — “भगवान् महावीर का उत्थान, क्रम, बलवीर्य वाला मार्ग ठीक नहीं है । गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है । क्योंकि उसमें उत्थान, क्रम, बलवीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम की आवश्यकता नहीं होती ।”



इस पर कुण्डकौलिक श्रावक १ देव से पूछा — “तुमने देवभव किस तरह से प्राप्त किया है ?”

गृहस्थ श्रावक भी उस समय धर्म-धर्म के ज्ञाता और दृढ़ श्रद्धालु होते थे, इसका कुण्डकौलिक के जीवन में अहं ही परिचय हो जाता है।

सातवें अध्ययन में कुम्भकार-सकडालपुत्र की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है। यह पहले मंखलिपुत्र गोशालक का उपासक था। फिर एक देव द्वारा प्रेरणा पाकर भगवान् महावीर को वन्दन करने गया। उनकी देशना सुनने पर उसके हृदय में कुछ श्रद्धा एवं जिज्ञासा जागृत हुई। उसने भगवान् महावीर को अपनी कुम्भकारशाला में पधारने की प्रार्थना की। प्रभु भी अक्सर देखकर वहाँ पधारे और उन्होंने सकडालपुत्र के साथ नियतिवाद की यथार्थता पर चर्चा की। प्रभु ने पूछा — “सकडाल ! घड़ा कैसे बनता है ?”

सकडाल ने घटनिर्माण की सारी प्रक्रिया कह सुनाई। प्रभु ने कहा — “यदि कोई दुर्मति पुरुष घूप में सूखते हुए तेरे घड़ों को पत्थर मारकर फोड़ने लगे और तेरी प्रिय पत्नी अग्निभिन्ना के साथ छेड़छाड़ एवं कुचेष्टा करे तो तू क्या करेगा ? यदि तेरी मान्यता के अनुसार यह सब कुछ नियतिकृत है तो तूझे उन दुष्ट पुरुषों पर रुष्ट होने एवं उनको मारने-मोटने की चेष्टा करना उचित नहीं। यदि तू उन पर रोष करता है और अपराध का दण्ड देने के लिए उन्हें मारता-पीटता है तो नियतिवश सब कार्य का होना मानना ठीक नहीं।”

प्रभु महावीर के इस प्रकार के हृदयग्राही एवं तर्कपूर्ण विचारों से प्रभावित हो सकडाल महावीर भगवान् की धर्मप्रज्ञप्ति का अनुयायी बन गया।

सकडाल के यहाँ ३० हजार पशु और १ करोड़ की सम्पदा एवं ५०० दुकानें थीं। गोशालक सकडाल के मतपरिवर्तन की सूचना पाकर उसे समझाने आया पर सकडाल पुरुषार्थवाद की सम्यक् श्रद्धा पर इतना दृढ़ हो गया था कि उसने गोशालक को आदर से देखा तक नहीं। गोशालक ने भगवान् महावीर की स्तुति कर उसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया। अन्त में ५ वर्ष तक पड़िमाधारी रूप से विरक्तभाव की साधना कर सकडाल ने भी अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।

आठवें अध्ययन में उपासक महाशतक की चर्या का वर्णन किया गया है। उसके ८० हजार पशु, २४ करोड़ की सम्पदा और रेवती आदि १३ स्त्रियों का परिवार था। पापकर्म के उदय से रेवती अनार्य कर्म करने लगी। मोहोदय से उसको महाशतक का धार्मिक जीवन अप्रीतिकर लगने लगा। एक दिन वह मद्य के उन्माद में उन्मत्त होकर धर्मसाधना में निरत महाशतक के पास आकर यद्वा-तद्वा बोलने लगी। महाशतक ने परिवार से विरक्त हो एकान्तसेवन शुरू कर रखा था अतः रेवती के दुर्वचनों को सुनकर भी वह कुछ काल तक शान्त रहा पर रेवती जब अपने असंगत प्रलाप से बाज नहीं आई तो रुष्ट हो महाशतक ने उसे सातवें दिन मर कर छट्टी नरक में जाने का अनिष्ट भविष्य सुना डाला। भगवान्

महावीर उस समय राजगृह नगर में ही विराजमान थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम द्वारा महाशतक को भूलमुच्चार के लिए प्रेरित किया।

तीनों अध्ययन में नन्दिनीपिता और दशवें अध्ययन में सालिहीपिता नामक दो श्रावकों के जीवन का परिचय दिया गया है। उन दोनों के यहां चालीस-चालीस हजार पशु और बारह-बारह करोड़ की सम्पदा थी। अन्त में इन दोनों श्रावकों ने भी पड़िमाधारीपन की साधना कर आरम्भ-परिग्रह से विरक्ति स्वीकार की और अन्त समय में अनशनपूर्वक काल कर प्रथम स्वर्ग में महाद्विक देव रूप से उत्पन्न हुए।

शास्त्र में वर्णित थे सभी श्रावक बारह व्रतधारी उपासक थे। महाशतक को छोड़ सबने एक-एक पत्नी के अतिरिक्त मैथुन-सेवन का त्याग कर रक्खा था। सबने १४ वर्ष तक उपासक धर्म की पालना कर १५ वें वर्ष श्रमणधर्म के निकट पहुंचने की भावना से अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को गार्हस्थ्य सम्भला कर श्रावक के वेश में शनैः शनैः आरम्भ-परिग्रह का त्याग बढ़ाकर अन्त में श्रमण-भूत प्रतिमा में साधु की तरह त्रिकरणा त्रियोग से पाप-निवृत्ति की साधना की।

आनन्द की साधना उपसर्ग रहित रही पर अन्य उपासकों—कामदेव से महाशतक तक को देवकृत उपसर्ग और शेष तीन को स्त्री का उपसर्ग होना बताया गया है। सबने २० वर्ष की अवधि तक श्रावक धर्म का पालन कर सद्गति प्राप्त की और आगामी भव में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वे सब मोक्ष के अधिकारी बनेंगे।

### उपासकदशा का महत्व

सद्गृहस्थों—श्रावक-श्राविकाओं के गृहस्थ धर्म पर समीचीनतया पूर्ण रूपेण प्रकाश डालने वाला यह सातवां अंग उपासकदशा वस्तुतः सभी गृहस्थों के लिए बड़ा ही उपयोगी है। इसमें जिस प्रकार के सदाचार का दिग्दर्शन कराया गया है, उसके अनुसार यदि प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन को ढालने का प्रयास करे तो यह मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है।

इसमें तत्कालीन भारत और भारतीयों के अतुल्य धनवैभव, अनुकरणीय सदाचार, उत्तम विचार, सुखपूर्ण आदर्श जीवन और प्रगाढ़ धर्मानुराग के दर्शन होते हैं।

### ८. अंतगडदसाओ

आठवां अंग अन्तकृतदशा है। इसमें १ श्रुतस्कंध, ८ वर्ग, ६० अध्ययन, ८ उद्देशनकाल और ८ ही समुद्देशनकाल तथा परिमित वाचनार्ण हैं। इसमें अनुयोगद्वार, वेदा, श्लोक, निर्युक्तियां, संप्रहर्षियां, एवं प्रतिपत्तियां संख्यात-संख्यात हैं। इसके पद-संख्यात हजार और अक्षर-संख्यात बताये गये हैं। वर्तमान में यह अंगशास्त्र ६०० श्लोकपरिमाण का है। इसके आठों वर्ग क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३ और १० अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रस्तुत सूत्र में

भवभ्रमण का अन्त करने वाले साधकों की साधनादशा का वर्णन होने के कारण इसका नाम अन्तकृद्दशा रखा गया है ।

अन्तकृद्दशा के प्रथम दो वर्गों में गौतम आदि वृष्णि कुल के १८ राजकुमारों की साधना का वर्णन है । उनमें से १० का दीक्षा काल १२-१२ वर्ष का और शेष ८ का १६-१६ वर्ष बताया गया है । इन सभी उच्चकुलीन राजकुमारों ने गुणारत्नसंवत्सर जैसे कठोर तप की आराधना कर एक-एक मास की संलेखना से सब दुःखों का अन्त कर मुक्ति प्राप्त की ।

तीसरे वर्ग के १३ और चौथे वर्ग के १० अर्धयनों में वर्णित २३ चारि-शारभा भी श्री वसुदेव, श्री कृष्ण, श्री बलदेव और श्री समुद्रविजय के राजकुमार बताये गये हैं । उन सभी ने भगवान् नेमिनाथ की सेवा में मुनिव्रत ग्रहण कर अनेक वर्षों तक संयमधर्म की पालना और कठोर तपश्चरणा करते हुए समस्त कर्मों का अन्त कर अजरामर सिद्धपद प्राप्त किया ।

इनमें से श्रीकृष्ण के अनुज गजसुकुमाल ने बिना दीर्घकाल की श्रमणपर्याय के एक ही दिन की साधना द्वारा आत्मस्वरूप में लीन होकर समस्त कर्मों का एक अन्तर्मुहूर्त में ही अन्त कर दिया । सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल के शिर पर भीगी मिट्टी की पाज बांध कर खैर के प्रदीप्त अंगारे रख दिये पर वे तन मन से अडोल निष्कंप, शान्त और आत्मस्वरूप में लीन रहे । कैसी अद्भुत क्षमता थी ? केवल कुछ ही क्षणों की ज्ञानाराधना ही पर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की उत्कृष्टतम आराधना द्वारा उन्होंने अन्तर्मुहूर्तकाल में ही केवलज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति कर ली । गजसुकुमाल की अति स्वल्पकालीन सफल साधना इस बात का उज्वलत प्रमाण है कि सम्यग्ज्ञान स्वल्पतर होते हुए भी यदि अन्तस्तल-स्पर्शी ध्येया अन्तर्मुखी है तो वह बिना दीर्घकाल की तपस्या के भी सिद्धि प्रदान कर सकता है ।

पंचम वर्ग में बताया गया है कि राजकुमारों की तरह राजरानियां भी संयमसाधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती हैं, स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही तद्भव मोक्षगमन का अधिकार है । श्रीकृष्ण की पद्यावती आदि रानियों और पुत्र-वधुओं ने भी बीस २ वर्ष के दीक्षाकाल में ११ अंगों का ज्ञान प्राप्त कर दीर्घकालीन कठोर तपश्चर्या द्वारा सकल दुःखों का अन्त कर शाश्वत शिवपद प्राप्त किया ।

उपरोक्त पांच वर्गों में वर्णित सब साधक-साधिकाओं ने भगवान् नेमिनाथ के धर्मशासन में मुक्ति प्राप्त की फिर भी उन सबका साधनापूर्ण जीवन साधना-पथ में मार्गदर्शक है, इसलिये उनके उत्कृष्ट जीवनचरित्र भगवान् महावीर के शासनवर्ती "अन्तर्गडसूत्र" में सम्मिलित किये गये हैं ।

छठे वर्ग में भगवान् महावीर के शासनवर्ती विभिन्न श्रेणी के १६ साधकों का वर्णन है । इन अर्धयनों से प्रमाणित किया गया है कि साधना में कुल, जाति व प्रवस्था का वर्गभेद नहीं होता । गाथापति, माली, राजा और बालक भी साधना

के अधिकारी हो सकते हैं। निरन्तर ६ मास तक सात-सात मनुष्यों की हत्या करने वाला अर्जुन माली भी क्षमतापूर्वक तप की साधना से ६ माह की अल्प अवधि में ही मुक्ति का अधिकारी हो गया। सचमुच ही वीतराग-मार्ग पतितपावन है। अवस्था की दृष्टि से अतिमुक्त कुमार जैसा ७ वर्ष का बालक भी संयममार्ग को साधना के माध्यम से नर से नारायण और जीव से शिव पद की प्राप्ति का अधिकारी बताया गया है।

सातवें और आठवें वर्ग के २३ अध्ययनों में नन्दा नन्दमती एवं काली, सुकाली आदि श्रेणिक की २३ रानियों के साधनामय जीवन का वर्णन है। इन सब महासतियों ने मुक्तावली, रत्नावली, कनकावली, लघुसिंहबिक्रीड़ित, और महासिंह-विक्रीड़ित, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर एवं आयंबिल वर्द्धमान जैसे तपों के द्वारा कर्मक्षय कर सिद्धि प्राप्त की।

अन्तकृत दशा सूत्र की यह विशेषता है कि इसमें तद्भवमोक्षगामी जीवों का ही वर्णन किया गया है। यह भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय थी कि राजघराने के नरनारी विपुल ऐश्वर्य एवं अपरिमित भोगों को त्यागकर बड़ी संख्या में त्याग की ओर अग्रसर हुए।

अन्तकृत दशा के उपलब्ध अध्ययनों के अतिरिक्त स्थानांग सूत्र में अन्य १० अध्ययनों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे :

नमी मयंगे सोमिल्ले, रामगुत्ते सुदंसरो ।  
जमाली अ भगाली अ किकमे पल्लए इअ ॥  
फाले अ अट्ठपुत्ते य एमेत्ते दस आहिया ॥

[स्थानांगसूत्र, स्थान १०]

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी अन्तकृतदशा और अनुत्तरोववाइय दशा के इन दश अध्ययनों के नाम उपलब्ध होते हैं। आचार्य अकलंक ने अपने ग्रन्थ राजवार्तिक में प्रायः इसी रूप में इन अध्ययनों का उल्लेख किया है। धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ती आदि में भी इन दोनों अंगों के अध्ययनों का उल्लेख है और वे राजवार्तिक तथा स्थानांग में लिखित नामों से मिलते-जुलते हैं।

वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत दशा में इन नाम वाले १० अध्ययनों का बिल्कुल उल्लेख न होकर अन्य पात्रों का जो वर्णन मिलता है इसका प्रमुख कारण वाचना-भेद ही हो सकता है।

#### ६. अनुत्तरोववाइयवसा

द्वादशांगी के क्रम में अनुत्तरोपपातिकदशा नौवां अंग है। इसमें १ श्रुतस्कंध ३ वर्ग, ३ उद्देशनकाल, ३ समुद्देशनकाल, परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार,

<sup>१</sup> मायंग रामपुत्तो सोमिल जमलीकणाम किककंबी ।

सुदंसरो बलीको य एमी अलंबद्ध पुत्तलया ॥ ५१ ॥

[अंग पण्णत्ती]

संख्यात वेडा छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां, संख्यात हजार पद और संख्यात अक्षर हैं। वर्तमान में यह सूत्र १६२ श्लोकपरिमाण का है।

इस भ्रंग में ऐसे महापुरुषों का चरित्र दिया गया है जिन्होंने घोर तपश्चरण और विबुद्ध संयम की साधना के पश्चात् मरण प्राप्त कर अनुत्तरविमानों में देवत्व प्राप्त किया और वहां से ज्यवन कर मनुष्य भव में संयमधर्म की सम्यग् प्राराधना कर मुक्ति प्राप्त करेंगे।

अनुत्तरोपपातिक दशा के तीन वर्गों में क्रमशः १०, १३ और १० इस प्रकार कुल मिला कर ३३ ग्रन्थयनों में ३३ चरित्रात्माओं का संक्षिप्त वर्णन है। उन ३३ महापुरुषों में से प्रथम जालीकुमार आदि २३ तो मगधसम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे। उन २३ राजकुमारों में से कतिपय राजकुमारों की माता धारिणी, कुछ की चेलना तथा कतिपय की नन्दा थीं।

तीसरे वर्ग के धन्य आदि १० चरित्रात्मा काकन्दी नगरी की सार्थबाहूपत्नी भद्रा के पुत्र थे। इसमें धन्ना के यहां करोड़ों की सम्पदा और ३२ पत्नियां होने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुन कर धन्ना को वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रभु चरणों में दीक्षित होने के पश्चात् धन्ना भ्रणगार ने जीवन भर के लिए छट्ठ-छट्ठ तप से पारणा करने की प्रतिज्ञा की। बेले के पारणे में भी आयम्बल (आचाम्ल) का रूक्ष भोजन जो गृहस्थ के यहां बाहर फेंकने योग्य होता उसे धन्ना मुनि ग्रहण करते। घोर तपश्चरण के कारण उनका रक्त एवं मांस सूख गया और उनका शरीर केवल अस्थिपंजर सा प्रतीत होता था।

एक बार मगधाधिपति श्रेणिक द्वारा यह पूछने पर कि १४,००० साधुओं में से कौनसा मुनि दुष्करकारक है, भगवान् महावीर ने धन्ना मुनि को ही अपने समस्त श्रमणोत्तमों में सर्वोत्तम श्रमण बताया।

धन्ना भ्रणगार ने ६ मास की स्वल्पकालीन साधना से ही आयु पूर्ण की। तपस्या से मुनि धन्ना का शरीर इतना क्षीण हो गया था कि उसमें रक्त-मांस का कहीं पता तक नहीं लगता था। वे अपने चर्मावनद्ध अस्थिमात्रावल्लिष्ट शरीर को ही मनोबल से चलाते रहे। अन्त में संलेखनापूर्वक एक मास के अनशन से वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।

स्थानांग, राजवार्तिक और अगपण्णत्ती<sup>१</sup> आदि में इसके १० ग्रन्थयनों के नाम दिये गए हैं, उनमें से कुछ वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा में मिलते हैं।

<sup>१</sup> ..... , उज्जुदासो सालिभद्दस्सो ।

सुणस्सत्तो अभयो वि य धम्मो वरवारिसेणसंदणया ।

संदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह म्पणे ॥ ५५ ॥

[भ्रंग कण्णत्ती]

## १०. पण्हावागरण

दशवां अंग प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरण) है, इसका द्वादशांगी के क्रम में दशवां स्थान है। समवायांग, नन्दीसूत्र और स्थानांग तथा दिगम्बर परम्परा के अंगपर्याप्ति आदि ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जिस प्रकार का परिचय दिया गया है उससे वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण का मेल नहीं बैठता, यह एक विचारणीय विषय है। समवायांग सूत्र में प्रश्नव्याकरण का परिचय निम्न-लिखित रूप में दिया गया है :-

“प्रश्नव्याकरण सूत्र में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न<sup>१</sup>, विद्यातिशय, नागकुमार, सुपर्णकुमार अथवा यक्षादि के साथ साधकों के जो दिव्य संवाद हुआ करते हैं - उन सब विषयों का निरूपण किया गया है। स्वकीय तथा परकीय सिद्धान्त के प्रज्ञापक प्रत्येक बुद्धों ने विविध अर्थ वाली भाषाओं द्वारा जिन प्रश्नों का प्रतिपादन किया, विशिष्ट लब्धिसम्पन्न, उपशान्तकषाय, अनेक गुणों और योग्यताओं से सम्पन्न महान् आचार्यों ने जिन प्रश्नों का कथन किया, जिनशासन में हुए अनेक महर्षियों ने जिन प्रश्नों को अनेक प्रकार के विस्तार के साथ कहा है, जगत् के उपकारक जो प्रश्न दर्पण, अंगुष्ठ, बाहु, खड्ग, मरकतादि मणि, अतसी अथवा कपास से निर्मित वस्त्र, सूर्य, भित्ति, शंख घण्टा आदि से सम्बन्ध रखते हैं, उन सब प्रश्नों का, देवसहायप्राप्त महाप्रश्न विद्याओं तथा मनः प्रश्न विद्याओं का, लब्ध्यतिशय से सबको विस्मय में डाल देने वाले प्रश्नों का, अनन्त अतीत में हुए तीर्थकरों की सत्ता को सिद्ध करने में समर्थ प्रश्नों का और प्रश्न-विद्याओं के अद्भुत गुणों का निरूपण प्रश्नव्याकरण में किया गया है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में १ श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, संख्यातसहस्र पद, संख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएं, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात ही प्रतिपत्तियां हैं।”

नदीसूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय देते हुए बताया गया है :-  
“दशवें अंग प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न - जैसे कि अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि (जिनमें मंत्र अथवा विद्या के प्रभाव से अंगुष्ठ, भुजा एवं दर्पण आदि शुभाशुभ का कथन कर देते हैं) विचित्र प्रभावशाली विद्याओं का वर्णन तथा साधकों के साथ नाग कुमारों, सुपर्णकुमारों आदि भुवनपति देवों के संवादों का वर्णन है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, ४५ अर्धयन,

<sup>१</sup> नदी-मलय वृत्ति के अनुसार जिन मंत्रों-विद्याओं द्वारा अंगुष्ठ, बाहु आदि के प्रश्न के माध्यम से शुभाशुभ का कथन किया जाता है, उन्हें प्रश्न, और जिन विद्याओं अथवा मंत्रों के द्वारा बिना किसी प्रकार का प्रश्न किये ही शुभाशुभ का कथन किया जाता है उन्हें अप्रश्न और जिन मंत्रों अथवा विद्याओं द्वारा अंगुष्ठ आदि के प्रश्न तथा अप्रश्न दोनों से सम्बन्ध रखकर शुभाशुभ का कथन किया जाता है उन्हें प्रश्नाप्रश्न कहा गया है।

४५ उद्देशनकाल, संख्यातसहस्र पद<sup>१</sup>, संख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएं, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात ही प्रतिपत्तियां हैं।”

स्थानांग सूत्र में प्रश्नव्याकरणसूत्र के निम्नलिखित १० अध्येयनों का उल्लेख है :-

उपमा (१), संख्या (२), ऋषिभाषित (३), आचार्यभाषित (४), महावीरभाषित (५), क्षोभक प्रश्न (६), कोमल प्रश्न (७), अद्वाग प्रश्न (८), अंगुष्ठ प्रश्न (९) और बाहु प्रश्न (१०)।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ अंगपण्यात्ति<sup>२</sup> और राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी स्थानांग से कुछ मिलता-जुलता इस अंग के विषयों का उल्लेख किया गया है।

वर्तमान में उपलब्ध इस दशम अंग प्रश्नव्याकरण में न तो उपरिर्वाणित विषय ही हैं और न ४५ अध्येयन ही। आज जो प्रश्नव्याकरण उपलब्ध है वह दो खण्डों में विभाजित है। इसके प्रथम खण्ड में ५ आश्रवद्वारों का वर्णन है और दूसरे खण्ड में पांच संवरद्वारों का। ५ आश्रवद्वारों में हिंसादि पांच पापों और संवरद्वारों में हिंसादि पापों के निषेधरूप अहिंसादि ५ व्रतों का सुव्यवस्थित विवरण दिया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के समवायांग, स्थानांग और नन्दीसूत्र में तथा दिगंबर परम्परा के मान्य ग्रन्थों राजवार्तिक, धवला, अंगपण्यात्ति आदि में प्रश्न-व्याकरणसूत्र के जिन विषयों का उल्लेख किया गया है उन विषयों का उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र में नामशेष भी दृष्टिगोचर न होकर जो उनसे सर्वथा भिन्न विषयों का निरूपण मिलता है, उसके सम्बन्ध में वृत्तिकार अभयदेव सूरि का निम्नलिखित स्पष्टीकरण दृष्टव्य है :-

“इस समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति प्रश्नव्याकरण सूत्र में वर्णित विद्याओं का दुरुपयोग न कर बैठे इस आशंका से वे सब विद्याएं इस सूत्र में से

१ ...नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि द्विनवतिलक्ष्यः षोडश सहस्रा इत्यर्थः।

[नन्दी-मलयवृत्ति, पृ० ४७२, धनपतिंसिंह]

२ पण्डितसु दूदवयणसुदृठपमुट्ठिमणुत्थयसरुवस्त।

बाहुएरपुषजस्त वि अत्थो तियकालगोचरयो ॥५७॥

अणधम्मजयपराजयलाहालाहादिसुहदुहं खेयं।

वीवियमरएत्थो वि य जत्थ कहिज्जइ सहावेण ॥५८॥

पडमाणुयोगकरणाणुयोगवररणदव्वअणुयोगं।

संठाणं लोपस्त थ, यदि सावयधम्मवित्थारं ॥६०॥

संसारदेहभोगा रागो जीवस्त जायदे तम्हा।

असुहाणं कम्माणं, बंधो ततो हवे दुक्खं ॥७५॥

[अंगपण्यात्ति]

निकाल दी गईं और उनके स्थान पर आश्रव एवं संवर का समावेश कर दिया गया।” अभयदेव सूरि का यह कथन ठीक प्रतीत होता है।

आगम के मूलपाठ से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि भूतकाल की घटनाओं एवं अतीन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के समान प्रतीति कराने वाली चमत्कारपूर्ण दर्पणप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न, बहुप्रश्न आदि अनेक विद्याएं इस अंग में विद्यमान थीं। उन प्रश्नों द्वारा अत्यन्त निगूढ़ मनोगत प्रश्नों तक का पूर्ण प्रतीतिकारक वास्तविक उत्तर दे दिया जाता था और इस प्रकार के प्रत्यक्ष-भूत चमत्कार से लोगों के हृदय में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता था कि अतीत काल में, तीर्थंकर निश्चित रूप से हुए हैं तभी उन्होंने इस प्रकार के अलौकिक प्रश्नों का प्रतिपादन किया है। यदि अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर नहीं हुए होते तो इस प्रकार के प्रश्नों (विद्याओं) का प्रादुर्भाव ही नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन सिद्धान्त के अनुरूप आरम्भ-तमारम्भ पूर्ण विद्याओं एवं निमित्तकथन आदि से सर्वथा बचते हुए आध्यात्मिक अम्युन्नति, प्रतीति अथवा धर्माभ्युदय हेतु अपवाद रूप से ही इस प्रकार की विद्याओं का उपयोग किया जाता होगा। परन्तु कालप्रभाव से परिवर्तित परिस्थितियों में पूर्वाचार्यों को आध्यात्मिक अभ्युत्थान में सहायक उन विद्याओं के दुरुपयोग की आशंका हुई तो उन्होंने उन विद्याओं को इस अंग में से निकाल दिया।

वास्तविकता क्या है, यह वस्तुतः विद्वानों के लिए गहन शोध का एक अच्छा विषय है। वर्तमान में प्रश्नव्याकरणसूत्र १३०० श्लोकप्रमाण कहा जाता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों में प्रतिपादित विषय का संरांश इस प्रकार है:—

प्रथम श्रुतस्कन्ध में ५ आश्रव द्वारों का निरूपण किया गया है।

१. प्रथम 'अधर्मद्वार' में हिंसा का पांच प्रकार से वर्णन किया गया है। वीतराग जिनेश्वर ने हिंसा को पापरूप, अनार्य (कर्म) और नरक गति में ले जाने वाला बताया है। प्राणबध आदि इसके ३० नाम दिये गए हैं। इसमें यह समझाया गया है कि असंयमी, अविरति और मन, वाणी तथा कार्य के अशुभ योग वाले जीव, पशु-पक्षी-कीटादि जीवों की हिंसा करते हैं। अस जीवों की हिंसा

१ अथ प्रश्नव्याकरणसूत्रं दशमांगं व्याख्यायते । अथ कोऽस्याभिधानस्यार्थः ? उच्यते प्रश्नाः अंगुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियतेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणं । क्वचित्प्रश्नव्याकरणदशा इति दृश्यते तत्र प्रश्नानां विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपराङ्मा-दशाध्ययनप्रतिबद्धाः ग्रन्थपद्धतयः इति प्रश्नव्याकरणदशाः । अयं च अभ्युत्थार्थोऽप्य-पूर्वकालेऽभूद्विदानीं त्वाश्रवपंचक संवरपंचकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यतेऽतिशयानां पूर्वाचार्यैर-दयुगीनां पुष्टानन्दनप्रतिवेविपुल्यापेक्षयोत्तरितत्वादिति ।



के विविध कारणों में से मुख्य कारणों का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि अस्थि, मांस, चर्म आदि प्राण्यगों के लिए तथा शरीर एवं भवन आदि की शोभा बढ़ाने हेतु मुख्यतः त्रस जीवों की हिंसा की जाती है। पृथ्वी, जल आदि स्थावरकायिक जीवों की हिंसा के कारणों का उल्लेख करने से पहले इसमें कहा गया है कि मन्दबुद्धि लोग जानते हुए और अनजान में भी स्थावरकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। पृथ्वीकाय की हिंसा के कारणों को बताते हुए यह कहा गया है कि कृषि, कुआ, बावड़ी, चैत्य, स्मारक, स्तूप, घर, भवन, मन्दिर, मूर्ति और भाण्डोपकरण आदि के लिए मन्दबुद्धि प्राणी हिंसा करते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक आदि हिंसा के अंतरंग कारणों का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि धर्म, अर्थ और काम के निमित्त से मन्द बुद्धिवाले प्राणी प्रयोजनवशात् तथा निष्प्रयोजन ही जीवों की हिंसा करते हैं।

हिंसा करने वालों में शिकारी, पारधि, धीवर आदि क्रूरकर्मी तथा शक, यवन आदि ५० प्रकार के अनार्यों को गिनाया गया है।

हिंसाजन्य पाप के फलस्वरूप होने वाले दुःखों में नरक और तिर्यचों के विविध दुःखों का उल्लेख किया गया है। जो लोग चैत्य, मन्दिर, मठ और यज्ञ-यागादि धर्मकार्यों में होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं मानते उन्हें प्रश्नव्याकरण के इस अध्ययन का ध्यानपूर्वक पठन एवं मनन करना चाहिए। इसमें अर्थ और काम निमित्त की जाने वाली हिंसा की ही तरह धर्म हेतु की जाने वाली हिंसा को भी अधर्म बताया गया है। इसमें हिंसा, हिंसा के विविध कारण और हिंसक अनार्य जातियों का विस्तृत परिचय दिया गया है।

२. द्वितीय अध्ययन में भूठ को भयंकर और अविश्वासकारक बताते हुए भूठ बोलने वालों के ३० नाम दिये गये हैं, जिनमें मृषाभाषी, क्रोधी, लोभी, भय-प्रस्त, हास्यवश भूठ बोलने वाले, अधिकांश गवाह, चोर, भाट, जुआरी, वेषधारी, मायावी, अवैध माप-तोल करने वाले, स्वर्णकार, वस्त्रकार, चुगलखोर, दलाल, लोभी, स्वार्थी आदि के नाम बताये गए हैं। धार्मिक दृष्टि से नास्तिकों, एकान्त-वादियों और कुदर्शनियों को भी मृषाभाषी बताया गया है।

नरक, तिर्यच गति की अज्ञ एवं असह्य वेदना, दुर्मति और अशुभवचन आदि को मृषाभाषण का फल बताते हुए इसमें कहा गया है कि मृषावादी इस लोक और परलोक-उभयत्र ही सब प्रकार के कष्टों और अविश्वास का पात्र होता है।

३. तीसरे अध्ययन में चोरी को चिन्ता एवं भय की जननी तथा साधुपुरुषों द्वारा विनिन्दित बताते हुए इसके चोरी, एवं हरण आदि ३० नामों का उल्लेख किया गया है। चोरी कौन लोग किस प्रकार करते हैं—यह समझते हुए कहा गया है कि अत्यधिक लालसा वाले, परधन और परकीय भूमि पर आसक्त,

परराष्ट्र पर अधिकार करने के लोभवश आक्रमण करने वाले राजा लोग, भ्रष्टचोर, पशुचोर और दासचोर आदि के एतद्विषयक सभी उपक्रम चोरी की परिधि में सम्मिलित हैं। इसमें चोरी के उपकरणों और प्रकारों का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन के साथ-साथ छोटे-बड़े सभी तरह के चोरों का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि परद्रव्य-हारी अनुकम्पारहित एवं निर्लज्ज होते हैं। चोरी के अपराध में दिये जाने वाले कठोर दण्ड - ताड़न, तर्जन, छेदन-भेदन, अंग चोटन, कारावास, बन्धन आदि का भी इसमें विस्तार सहित वर्णन है। इसके उपरान्त चौयकर्म के फलस्वरूप परलोक में नरक एवं तिर्यच गति के अनेक प्रकार के दारुण दुःखों के परवण अवस्था में भोगने का भी इसमें उल्लेख किया गया है। इस अध्ययन के अन्त में बताया गया है कि चोर को इहलोक, परलोक में कहीं पर भी शान्ति नहीं मिलती। वह सदा भयभीत बना हुआ छुपकर इधर-उधर भटकता हुआ दुःखमय एवं अशान्त जीवन व्यतीत करता है।

चौथे अध्ययन में चौथे अधर्म स्थान मैथुन-कुशील को जरा, मरण, राग, शोक विवर्द्धक और मोहवृद्धि का प्रमुख कारण बताया गया है। इसके भी अब्रह्म आदि ३० नाम दिये गये हैं। मैथुन-कुशील की आसेवना एवं आसक्ति में मोह-मुग्धमति देव-देवी, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि, मनुष्यों में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक राजा, योगलिक मानव आदि अनुपम-अपार भोग-सामग्री को सुदीर्घ काल तक भोग कर भी बिना तृप्ति के कराल काल के कवल बन जाते हैं। मैथुनासक्त नर दूसरे के धन, जीवन आदि का विनाश करने में नहीं सकुचाते। हाथी, घोड़े, महिषादि पशु और पक्षिगण मैथुनासक्ता-वस्था में एक दूसरे को मार डालने के लिए तत्पर रहते हैं। प्राचीन समय में मैथुनासक्ति के कारण जो अनेक जनक्षयकारी युद्ध हुए उनमें से सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कंचना, सुभद्रा, अहिल्या, सुवर्णांगुलिका, किन्नरी, सुरूपा विद्युन्मती और रोहिणी के लिए हुए संग्रामों का इसमें उल्लेख किया गया है। इसमें प्रसंगवशात् स्त्रियों के सौन्दर्य का भी वर्णन किया गया है। मैथुन-सेवन के दारुण दुःखपूर्ण फल का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि मैथुनासक्ति के कारण प्राणी इस लोक और परलोक दोनों में ही नष्ट होकर अस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर भेद वाले नरक आदि चतुर्गति रूप संसार में दीर्घ काल तक भटकता हुआ जरा-मरण, रोग-शोक आदि दुःखों को भोगता रहता है।

५. पंचम अध्ययन में त्रिविध प्रकार के चल, अचल तथा मिश्र परिग्रह का उल्लेख किया गया है। इसमें वृक्ष के रूपक के माध्यम से परिग्रह का वर्णन है। इसमें परिग्रह के ३० नामों का उल्लेख करते हुए संचय, उपचय, लोभात्मा आदि शब्दों को एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची बताया गया है। इस अध्ययन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि चार जाति के देवगण और ८८ ग्रहों के देव-देवी आदि भी ममत्व रखते हैं तथा कर्म भूमि के मनुष्य - चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक, ईश्वर, तलवर, श्रेष्ठी, सेनापति, इभ्य आदि परिग्रह का संचय करते

हैं। इसमें बताया गया है कि पय-पय पर वध-वन्ध-क्लेशादि की बाहुल्यता को उपस्थित करने वाले अशाश्वत परिग्रह के लिये ही प्राणी सैकड़ों प्रकार के शिल्प और अनेक प्रकार की कलाओं को सीखता है। परिग्रह की वृद्धि के लिये ही पुष्प की बढनर कलाओं एवं ६४ महिला-गुणों तथा शिल्प, सेवा आदि का शिक्षण प्राप्त किया जाता है। परिग्रह के हेतु ही मानव हिंसा, भूड, अदत्तहरण आदि दुष्कर्म तथा भूख, भ्राम, अपमान आदि विविध कष्टों को सहन करता है। परिग्रह से बढ़कर मनुष्यलोक में अन्य कोई वन्धन नहीं है। परिग्रह से क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। परिग्रह में संसक्त प्राणी इस लोक में भी महान् दुःखी बनता है और परलोक में भी त्रस-स्थावर आदि जीव-योनियों में दीर्घकाल तक भ्रमण करता हुआ दारुण दुःखों का भागी बनता है। अध्ययन के अन्त में बताया गया है कि परिग्रह वस्तुतः मोक्षमार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाला अर्गला रूप अन्तिम अधर्म द्वार है।

इन पांच प्रकार के आश्रयों से कर्मरज का संचय कर जीव चतुर्गतिक संसार में अनन्त काल तक भटकते रहते हैं। भव-भ्रमण में निरन्तर भटकते हुए प्राणियों की दयनीय दशा पर गहरा दुःख प्रकट करते हुए सूत्रकार ने कहा है — “सद्य दुःखों को दूर करने वाला जिनवाणी रूपी औषध सभी को निःशुल्क दिया जा रहा है पर जगजीव उसका सेवन नहीं करके असह्य दुःख भोग रहे हैं, क्या किया जाय ?”

दूसरे श्रुतस्कन्ध में ५ धर्मद्वारों अर्थात् संवरद्वारों का वर्णन किया गया है। अहिंसा (१), सत्य (२), दत्तादान (३), ब्रह्मचर्य (४) और अपरिग्रह (५) ये पांच धर्मद्वार हैं।

१. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में अहिंसा को प्रथम धर्म बताते हुए कहा गया है कि यह देव, मनुष्य और अमुरादि लोक में दीप के समान प्रकाशक और सब की शरणभूत है। दया, शान्ति, उत्सव, यज्ञ, पूजा आदि शब्दों को अहिंसा के ही पर्यायवाची शब्द बताते हुए इसके ६० नाम दिये गए हैं। अहिंसा को पक्षियों के लिए आकाश और समुद्र में जहाज के समान जगजीवों का आधार माना गया है। जीव मात्र के लिए अहिंसा को क्षेमकरी बताते हुए कहा गया है कि अहिंसा अपरिमितज्ञानी, त्रिलोकपूज्य तीर्थकरों द्वारा सुदृष्ट, अवधि-ज्ञानियों द्वारा ज्ञात, ऋजुमति, विपुलमति के धारकों द्वारा जानी गई, पूर्वधारियों द्वारा पढ़ी गई और विविध प्रकार के ज्ञान, तप और लब्धिघर साधकों द्वारा अनुपालित एवं उपदिष्ट है। बड़े-बड़े महात्माओं द्वारा भगवती अहिंसा प्रशंसित है। इस अध्ययन में अहिंसा के रक्षण हेतु आहारशुद्धि को परभावश्यक बताया गया है। पट्कायिक जीवों की दया के लिए शुद्ध आहार की गवेषणा का इसमें उपदेश दिया गया है। अहिंसक मुनि को कैसे और किस प्रकार के आहार की गवेषणा करनी चाहिए, यह इसमें बड़े विस्तार के साथ बताया गया है। जो आहार साधु के लिए कृत, कारित और बुला कर दिया गया न हो, औद्देशिक

और क्रयदोष से रहित हो, उद्गम, उत्पादना एवं एषणा दोष से रहित, नवकोटि-शुद्ध हो, वह भिक्षा साधु के ग्रहण करने योग्य व्रताई गई है। कथाप्रयोजन से लाई हुई भिक्षा तथा मंत्र, मूल, भेषज्य, स्वप्नफल और ज्योतिष आदि बताने के उपलक्ष में दी जाने वाली भिक्षा को साधु के लिए अग्राह्य और निषिद्ध बताया गया है। अहिंसा का प्रवचन भगवान् ने प्राणिमात्र के हित और उनके जन्मान्तर के कल्याण के लिए दिया है। इसमें अहिंसा-व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाएं बताई गई हैं। प्रथम भावना में अस-स्थावर जीवों की दया हेतु ईर्य-समिति से अर्थात् देख कर चलना। दूसरी मनसमिति में अशुभ एवं अर्थात्मिक विचार नहीं करना। तीसरी वाक्समिति में सावध वचन से बचकर निर्दोष भाषा बोलना। चौथी एषणासमिति में भिक्षेपणा में नियुक्त मुनि का निर्देश दिया गया है कि वह घर-घर से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करे और गुरु के समक्ष भिक्षा निवेदित कर आलोचना करे। तदनन्तर प्रमादरहित एवं प्रशान्तरूपेण बैठकर क्षण भर शुभ योगों का चिन्तन करे और उसके पश्चात् छोटे-बड़े सभी साधुओं को निमन्त्रित एवं शरीर को साफ कर मूच्छरहित हो आहार करे। खाते समय सुरसुर अथवा अन्य किसी प्रकार का शब्द न करे अर्थात् भोजन करते समय मुंह न बोलावे, भूमि पर भोजन का अंश नहीं गिरावे, केवल साधना हेतु प्राण धारण करने के लिए रागद्वेषविहीन भाव से आहार करे। पांचवीं आदान-निक्षेपणासमिति में पीठ, फलक और मुंहपत्ती आदि उपकरणों को रागद्वेषरहित भावना से यतनापूर्वक ग्रहण करने का निर्देश है। इसमें बताया गया है कि आजीवन इस प्रकार के योग से चलने वाला साधक आना का आराधक होता है।

२. दूसरे अध्ययन में दूसरे धर्मद्वार सत्य की इहलोक और परलोक में उभयत्र महिमा बताते हुए कहा गया है कि सत्यवादी न समुद्र में डूबता है और न अग्नि में ही जलता है। पर्वत से गिरा दिये जाने पर भी वह सुरक्षित ही रहता है क्योंकि पुण्ययोग से देव भी उसकी रक्षा करते हैं। सत्य भगवान् का तीर्थंकरों ने भी कथन किया है। दश प्रकार का सत्य देव, दानव और मानवों का वन्दनीय और पूजनीय है। दूसरे की निन्दा, आत्मप्रशंसा एवं अपवादपूर्ण भाषण को सत्य में सम्मिलित नहीं किया गया है। हिंसाकारी सत्य भी अवाच्य बतलाया गया है। सत्यवादी मुनि के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक बताया गया है। नामसत्य, रूपसत्य एवं स्थापनासत्य जैसे भेदों को वास्तविकता नहीं होने पर भी व्यवहार में बोलचाल की दृष्टि से सत्य माना है। सत्यधर्म के रक्षणार्थ भी ५ भावनाएं बताई गई हैं। प्रथम भावना में बताया गया है कि संयमी हित-मित-मध्य वाणी विचार कर बोले। बिना विचारे नहीं बोले। क्रोधावेश में नहीं बोले। लोभवश झूठ बोला जाता है अतः लोभ का परित्याग कर संयत भाषा बोले। रोग, व्याधि, जरा आदि से भयभीत होकर नहीं बोले। हास्य को भी झूठ का कारण बताते हुए इसमें कहा गया है कि पंचम भावना में हास्य से सदा बचता रहे। हास्य का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर मौन रखे पर हास्य-वश किसी

श्री दशा में मृषा न बोले । इस प्रकार सदा सावधान रहकर बोलने वाला भाषा का आराधक बताया गया है ।

३. तीसरे अध्ययन में दत्तादान अर्थात् अचौर्य नामक तीसरे धर्मद्वार का वर्णन किया गया है । इसमें बताया गया है कि पूर्ण संयमी साधक ही अचौर्यधर्म का सम्यक् रूपेण आराधन कर पाते हैं । अचौर्यव्रत का स्वरूप बताते हुए इसमें कहा गया है कि ग्राम, नगरादि में कोई वस्तु पड़ी हुई हो, कोई भूल गया हो तो उस वस्तु को नहीं लेना । खेत अथवा जंगल के फल, फूल, तृणादि भी खेत अथवा वन के स्वामी की बिना आज्ञा के तोड़ना अदत्तादान बताया गया है ।

इसमें संयमी के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि वह पीठ, फलक, शय्या और वस्त्र, उपकरण आदि का सहधर्मियों में समान रूप से विभाग करके उपयोग करे । अचौर्यव्रत का आराधक उसे माना गया है जो बाल, दुर्बल, वृद्ध, तपस्वी और आचार्य आदि की बिना किसी प्रकार की अपेक्षा किये १० प्रकार की सेवा करता है एवं जो अप्रीतिकारक घर तथा उसके यहां के आहार, उपकरण आदि का सेवन नहीं करता और निषिद्ध आचरणों से सदा दूर रहता है ।

तीसरे अदत्तादान-विरमण व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाएं बताई गई हैं, जो इस प्रकार हैं :-

स्त्री, पशु, पण्डकरहित निर्दोष वसति में वास करना (१), प्रतिदिन उस वसति में निवास के लिए आज्ञा प्राप्त करना तथा बिना आज्ञा के उसमें से किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना (२), पीठ, फलक आदि के लिए आरम्भ नहीं करना (३), साधारण पिण्ड की गवेषणा कर विधिपूर्वक आहार करना (४) और सहधर्मी के प्रति विनय प्रदर्शित करना (५) ।

४. चौथे अध्ययन में चौथे धर्मद्वार ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है । इसमें ब्रह्मचर्य को तप एवं संयम का मूल और सुगति का पथप्रदर्शक बताया गया है । इसे "ब्रह्मचर्य भगवान्" कह कर ३२ उपमाओं से उपमित किया गया है । इसमें ब्रह्मचर्य को देवेन्द्र-नरेन्द्रों से पूजित और सद्गुणों में मुकुट के समान श्रेष्ठ बताया गया है । ब्रह्मचारी के आहार, विहार एवं जीवनचर्या का वर्णन करने के पश्चात् इसमें इस व्रत की रक्षा के लिए आवश्यक ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है । ब्रह्मचारी के लिए सादा वेश और सात्विक परिमित भोजन आवश्यक बताया गया है ।

५. पांचवें अध्ययन में पांचवें धर्मद्वार अपरिग्रह का निरूपण करते हुए बताया गया है कि अपरिग्रही सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ और परिग्रहों से पूर्णरूपेण विरत और जिनप्रणीत भावों में शंका-कांक्षा रहित होता है । इसमें अपरिग्रह का संवर वृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है । अपरिग्रही के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इसमें बताया गया है कि अपरिग्रही थोड़ा अथवा बहुत,

सूक्ष्म अथवा स्थूल, सजीव अथवा निर्जीव — किसी प्रकार का द्रव्य ग्रहण नहीं करता। पूर्ण अपरिग्रही को दांत, शृंग, काच, पत्थर एवं चर्म आदि के पात्र प्रभृति तथा फल-फूल, कन्द-मूल आदि ग्रहण करने का इसमें निषेध किया गया है और यह बताया गया है कि अपरिग्रही साधक भोजन के लिए भी हिंसा नहीं करता। वह कारण से ही आहार को ग्रहण करता और कारणवशात् ही आहार का त्याग करता है। निष्परिग्रही साधक शरीर-रक्षा और धर्मसाधना के लिए जो वस्त्र, पात्रादि ग्रहण करता है वह भी आवश्यकतानुसार निर्ममत्व भाव से ही ग्रहण एवं धारण करता है। इसमें अपरिग्रही साधु को ३१ उपमाओं से उपमित किया गया है।

अन्य व्रतों की तरह अपरिग्रह व्रत की भी पांच भावनाओं से सुरक्षा बताई गई है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का इतना विस्तृत और बहुमुखी विश्लेषण अन्य किसी शास्त्र में एकत्र उपलब्ध नहीं होता। हिंसा, मृषा, अदत्तादान, कुशील और परिग्रह—इन पांच आश्रव-द्वारों तथा अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच संवर-द्वारों का सर्वांगपूर्ण बोध प्राप्त करने के लिए प्रश्नव्याकरण के इन दोनों श्रुतस्कन्धों का पठन-पाठन एवं मनन बड़ा ही उपयोगी है। विचारकों के लिए तो प्रश्नव्याकरण वस्तुतः एक महान् निधि के समान है।

### ११. विपाकसूत्र

विपाकसूत्र—यह ग्यारहवां अंग है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध, २० अध्ययन, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल, संख्यात पद, संख्यात अक्षर व परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेदा छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। वर्तमान में इसका स्वरूप १२१६ श्लोक-परिमाण है। विपाकसूत्र का मुख्य लक्ष्य कर्म के शुभाशुभ फल-विपाक को समझना है।

विपाक सूत्र के, दुःखविपाक और सुखविपाक ये दो विभाग हैं। कर्मसिद्धांत वस्तुतः जैनधर्म का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त के उदाहरणों के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी है।

इसके पहले भाग दुःख विपाक में ऐसे १० व्यक्तियों का वर्णन है जिन्हें अशुभ कर्मानुसार अनेक कष्ट सहन करने पड़े और जो कष्ट से मुक्ति प्राप्त कर सके।

पहले भाग के १० अध्ययनों में से प्रथम मृगापुत्र के अध्ययन में बताया गया है कि राष्ट्रकूट की तरह कठोर एवं क्रूर शासन करने वाले को मृगा लोढ़ा की तरह कैसा विकलाग और निन्ध जीवन जीना पड़ता है।

दूसरे अध्ययन में गो-मांस भक्षण और मद्यपान के दुःखद फलों को बताते हुए लज्जित कुमार का परिचय दिया गया है।

तीसरे अध्ययन में अर्भंगसेन चोर के माध्यम से बताया गया है कि मद्यपान एवं अण्डों का विक्रय करने वाला किस प्रकार वध-बन्ध के दुःखों का भागी होता है ।

चौथे शकट अध्ययन में मांसविक्रय और व्यभिचार के फल बतलाते हुए 'छागलिक' कसाई के जन्म-जन्मान्तरं के दुःख और राजपुरुषों द्वारा निर्दयतापूर्वक उसे वध हेतु ले जाये जाने का उल्लेख है ।

पांचवें अध्ययन में यज्ञ की हिंसा और परस्त्रीगमन के कटु फलों का वर्णन करते हुए 'महेश्वरदत्त' पुरोहित के माध्यम से नरकादि दुर्गतिरूप हिंसा व व्यभिचार का फल बताया गया है ।

छठे अध्ययन में तत्कालीन विविध प्रकार के दण्डविधान का परिचय दिया गया है, और कठोर दण्ड देने वाले को नन्दीषेण की तरह वध, बन्ध और नरकगमन के कैसे कटु फल भोगने पड़ते हैं, यह बताया गया है ।

सातवें अध्ययन में मांस और प्राणी-अंगों से चिकित्सा करने का फल बताते हुए 'उमरदत्त' के १६ रोग एक साथ उत्पन्न होने और दीर्घकाल तक उसके भवभ्रमण का परिचय दिया गया है ।

आठवें अध्ययन में मच्छीमार के व्यवसाय का दुःखद फल बताते हुए एक मच्छीमार के विविध कष्टपूर्ण नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करने और भयंकर कष्ट पाने का उल्लेख किया गया है ।

नौवें अध्ययन में ईर्ष्या का फल बताते हुए राजकुमार 'सिहसेन' का उल्लेख किया गया है । 'सिहसेन' ने 'श्यामा' रानी में आसक्त होकर ४६६ रातियों को द्वेषवश महल में बन्द कर जला दिया । इसके परिणामस्वरूप उसको अनेक जन्मों तक नरकादि दुर्गतियों में वध-बन्ध के कष्ट भोगने पड़े, यह बताया गया है ।

दशवें अध्ययन में वेश्यावृत्ति के फलस्वरूप होने वाले दारुण दुःखों का चित्रण करते हुए बताया गया है कि अंजुश्री को व्यभिचार के कारण किस प्रकार असह्य एवं असाध्य योनिशूल की वेदना भोगनी पड़ी और अनेक जन्मों तक कष्ट भोगने के पश्चात् अन्ततोगत्वा अत्यन्त कठिनाई से उसे बोधि प्राप्त हुई ।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में सुबाहु, भद्रनन्दि आदि १० राजकुमारों के मुखमय जीवन का वर्णन है । इन सबने पूर्वभव में तपस्वी मुनि को पवित्र भाव से निर्दोष आहार का प्रतिलाभ देकर संसार का अन्त किया और उत्तम कुल में जन्म लेकर सुखपूर्वक साधना से मुक्ति प्राप्त की । इन १० अध्ययनों में कुछ सुबाहु की तरह १५ भव कर मोक्ष जाने वाले और कुछ तद्भव-मोक्षगामी बताये गये हैं ।

## १२. दृष्टिवाद

दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद-दृष्टिपात—यह प्रवचनपुरुष का बारहवां अंग है, जिसमें संसार के समस्त दर्शनों और नयों का निरूपण किया गया है<sup>१</sup> अथवा जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों अर्थात् दर्शनों का विवेचन किया गया है।<sup>२</sup>

दृष्टिवाद नामक यह बारहवां अंग विलुप्त हो चुका है अतः आज यह कहीं उपलब्ध नहीं होता। बीर नि० सं० १७० में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का ह्रास प्रारम्भ हुआ और बी० नि० सं० १००० में यह पूर्णतः (शब्द रूप से पूर्णतः और अर्थ रूप से अधिकांशतः) विलुप्त हो गया।<sup>३</sup>

स्थानांगसूत्र में दृष्टिवाद के दश नाम बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं :-

१. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३. भूतवाद, ४. तथ्यवाद, ५. सम्यक्वाद, ६. धर्मवाद, ७. भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८. पूर्वगत, ९. अनुयोगगत और १०. सर्वप्रारणभूतजीवसत्त्वसुखावह।<sup>४</sup>

समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार दृष्टिवाद के पांच विभाग कहे गये हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।<sup>५</sup> इन पांचों विभागों के विभिन्न भेदप्रभेदों का समवायांग एवं नन्दीसूत्र में विवरण दिया गया है, जिनका सारांश यह है कि दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और सर्वांगपूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। इसके दूसरे भेद सूत्र-विभाग में छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय तथा चतुर्नय की परिपाटियों का विस्तृत विवेचन था। नय की इन चार प्रकार की परिपाटियों में से प्रथम—छिन्न-छेद नय और चतुर्थ-चतुर्नय—ये दो परिपाटियां निर्ग्रन्थों की और अछिन्न-छेद नय एवं त्रिकनय की परिपाटियां प्राजीविकों की कही गई थीं।

<sup>१</sup> दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा भवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे

[स्थानांग वृत्ति, ठा० ४, उ० १]

<sup>२</sup> दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, बदनं वादो, दृष्टिनां वादो दृष्टिवादः।

[प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४४]

<sup>३</sup> गोयमा ! जंबुद्वीपे एं दीवे भारहे वासे इमीसे धीसत्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुम्बगए अगुसज्जिस्तइ,.....

[भगवतीसूत्र, शतक २०, उ० ८, सू० ६७७ सुतागमे, पृ० ८०४]

<sup>४</sup> दिट्ठिवायस्स एं दस नामधिज्जा पणत्ता। तं जहा दिट्ठिवाएइ वा, हेतुवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्भावाएइ वा, भग्भावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुम्बगएइ वा, अगुसोगगएइ वा, सब्बपाराभूयजीवसत्त्वसुहावहेइ वा।

[स्थानांग सूत्र, ठा० १०]

<sup>५</sup> से कि दृष्टिवाद ? से समामधो पंचविहे पणत्ते तं जहा परिकम्मे, सुताई, पुम्बगए, अगुसोगे चूलिया। (नन्दी)



दृष्टिवाद का तीसरा विभाग - पूर्वगत विभाग अन्य सब विभागों से अधिक विशाल और बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित १४ पूर्व थे :-

१. उत्पादपूर्व - इसमें सब द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद (उत्पत्ति) की प्ररूपणा की गई थी।<sup>१</sup> इसका पदपरिमाण १ कोटि पद माना गया है।

२. अग्रायणीयपूर्व - इसमें सभी द्रव्य, पर्याय और जीवविशेष के अग्र-परिमाण का वर्णन किया गया था। इसका पद-परिमाण ६९ लाख पद माना गया है।

३. वीर्यप्रवाद - इसमें सकर्म एवं निष्कर्म जीव तथा अजीव के वीर्य-शक्तिविशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या ७० लाख मानी गई है।

४. अस्तित्वास्तित्प्रवादपूर्व - इसमें वस्तुओं के अस्तित्व तथा नास्तित्व के वर्णन के साथ-साथ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अस्तित्व और खपुष्प आदि का नास्तित्व तथा प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व एवं पररूप से नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका पदपरिमाण ६० लाख पद बताया गया है।

५. ज्ञानप्रवादपूर्व - इसमें मतिज्ञान आदि ५ ज्ञान तथा इनके भेद-प्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसकी पदसंख्या १ करोड़ मानी गई है।

६. सत्यप्रवादपूर्व - इसमें सत्यवचन अथवा संयम का, प्रतिपक्ष (असत्यों के स्वरूपों) के विवेचन के साथ-साथ, विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसमें कुल १ करोड़ और ६ पद होने का उल्लेख मिलता है।

७. आत्मप्रवादपूर्व - इसमें आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन-सम्बन्धी विवेचन अनेक नयमतों की दृष्टि से किया गया था। इसमें २६ करोड़ पद माने गये हैं।

८. कर्मप्रवादपूर्व - इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का, उनकी प्रकृतियों, स्थितियों, शक्तियों एवं परिमाणों आदि का बन्ध के भेद-प्रभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन था। इस पूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ८० हजार पद बताई गई है।

९. प्रत्याख्यान-प्रवादपूर्व - इसमें प्रत्याख्यान का, इसके भेद-प्रभेदों के साथ विस्तार सहित वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त इस नौवें पूर्व में आचार-सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये गए थे। इसमें ८४ लाख पद थे।

१०. विद्यानुप्रवादपूर्व - इसमें अनेक अतिशय शक्तिसम्पन्न विद्याओं एवं उपविद्याओं का उनकी साधना करने की विधि के साथ निरूपण किया गया था, जिनमें अंगुष्ठ-प्रश्नादि ७०० लघु विद्याओं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं

<sup>१</sup> पदमं उत्पाद्यपूर्व, तत्त्व सम्बद्धव्याणं पञ्जवाण य उत्पाद्य-भावमंगीकां पण्यवणा कया।

एवं अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन और छिन्न—इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन किया गया था। इस पूर्व के पदों की संख्या १ करोड़ १० लाख बताई गई है।

११. अबन्ध्यपूर्व—बन्ध्य शब्द का अर्थ है निष्फल अथवा मोघ। इसके विपरीत जो कभी निष्फल न हो अर्थात् जो अमोघ हो उसे अबन्ध्य कहते हैं। इस अबन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सभी सत्कर्मों को शुभफल देने वाले तथा प्रमाद आदि असत्कर्मों को अशुभ फलदायक बताया गया था। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से अमोघ होते हैं, कभी किसी भी दशा में निष्फल नहीं होते इसलिए इस ग्यारहवें पूर्व का नाम अबन्ध्यपूर्व रखा गया। इसकी पदसंख्या २६ करोड़ बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवें पूर्व का नाम “कल्याणवाद पूर्व” माना गया है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार कल्याणवाद नामक ग्यारहवें पूर्व में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के गर्भावतरणोत्सवों, तीर्थंकर नामकर्म का उपाजर्जन कराने वाली सोलह भावनाओं एवं तपस्याओं का तथा चन्द्र व सूर्य के ग्रहण, ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन, उनके शुभाशुभ फल आदि का वर्णन किया गया था। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इस पूर्व की पदसंख्या २६ करोड़ ही मानी गई है।

१२. प्राणायु पूर्व—इस पूर्व में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आयु और प्राणों का भेद-प्रभेद सहित वर्णन किया गया था।

दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार इसमें काय-चिकित्सा प्रमुख अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक आदि आयुर्वेद के भेद, इला, पिंगलादि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों के अनेक भेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार तथा अपकार रूपों का वर्णन किया गया था।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्राणायुपूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ५६ लाख और दिगम्बर मान्यतानुसार १३ करोड़ थी।

१३. क्रियाविशालपूर्व—इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाएं, स्त्रियों की ६४ कलाएं, चौरासी प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भाधानादि कायिक क्रियाओं तथा सम्यग्दर्शन क्रिया, मुनीन्द्रवन्दन, नित्यनियम आदि आध्यात्मिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। लौकिक एवं लोकोत्तर सभी क्रियाओं का इसमें वर्णन किया जाने के कारण इस पूर्व का कलेवर अति विशाल था।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं इसकी पद संख्या ६ करोड़ मानती हैं।

१४. लोकविन्दुसार—इसमें लौकिक और पारमौक्तिक सभी प्रकार की विद्याओं का एवं सम्पूर्ण रूप से ज्ञान निष्पादित कराने वाली सर्वाक्षरसन्निपातादि

विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। अक्षर पर बिन्दु की तरह सब प्रकार के ज्ञान का सर्वोत्तम सार इस पूर्व में निहित था। इसी कारण इसे लोकबिन्दुसार अथवा त्रिलोकबिन्दुसार की संज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इसकी पद संख्या साढ़े बारह करोड़ थी।

उपर्युक्त १४ पूर्वों की वस्तु (ग्रन्थविच्छेदविशेष) संख्या क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, २, १६, ३०, २०, १५, १२, १३, ३० और २५ उल्लिखित है।<sup>१</sup>

चौदह पूर्वों के उपरोक्त ग्रन्थविच्छेद-वस्तु के अतिरिक्त आदि के ४ पूर्वों की क्रमशः ४, १२, ८ और १० चूलिकाएं (चुल्ल-क्षुल्लक) मानी गई हैं। शेष १० पूर्वों के चुल्ल अर्थात् क्षुल्ल नहीं माने गये हैं।<sup>२</sup>

जिस प्रकार पर्वत के शिखर का पर्वत के शेष भाग से सर्वोपरि स्थान होता है उसी प्रकार पूर्वों में चूलिकाओं का स्थान सर्वोपरि माना गया है।<sup>३</sup>

अनुयोग - अनुयोग नामक विभाग के मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ये दो भेद बताये गए हैं। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरहन्तों के पंचकल्याणक का विस्तृत विवरण तथा दूसरे गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों का चरित्र दिया गया था।

दृष्टिवाद के इस चतुर्थ विभाग अनुयोग में इतनी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री विद्यमान थी कि उसे जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा जैन पुराण की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इस चतुर्थ विभाग का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है।

चूलिका - समवायांग और नन्दी सूत्र में आदि के चार पूर्वों की जो चूलिकाएं बताई गई हैं, उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस पंचम विभाग में समावेश किया गया है। यथा :- "से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया. सेसाइं अचूलियाइं, से तं चूलियाओ।" पर दिगम्बर परम्परा में जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत - ये पांच प्रकार की चूलिकाएं बताई गई हैं।

<sup>१</sup> दस चौदस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।

सोलस तीसा बीसा पण्णारस अणुप्पवायम्मि ।

वारस इक्कारसमे बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।

तीसा पुण्ण तेरसमे चौदसमे पण्णवीसा उ ॥

<sup>२</sup> चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि ।

आइल्लाणं चउण्हं सेसाणं चूलिया नत्थि ।

[श्रीमध्वनीसूत्रम् (पू० हस्तीमलजी म० सा० द्वारा धरुवित्त) पृ० १४८]

<sup>३</sup> ते सव्वुवरि ठिया पडिज्जंति य अतो तेसु य पव्वय चूला इव चूला । [नन्दीपूणि]

### द्वादशांगी में मंगलाचरण

परममंगल स्वरूप परमार्हत् प्रभु महावीर के मुखारविन्द से प्रकट हुई सकल अघ-अमंगल-विघ्नविनाशिनी एवं समस्त महामंगल प्रदायिनी वाणी का प्रत्येक पद, वाक्य, शब्द और अक्षर तक परमोत्कृष्ट मंगलाचरण ही है। ऐसी स्थिति में द्वादशांगी के आदि, मध्य अथवा अन्त में पृथक् रूपेण किसी मंगलाचरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। निसर्गतः मंगल स्वरूप आगम के लिए भी यदि मंगलाचरण किया जाता है तो इससे निश्चितरूपेण 'अनवस्था दोष' उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि महावीरवाणी (द्वादशांगी) को सूत्र रूप में ग्रथित करते समय भगवान् के गणधरों ने द्वादशांगी के किसी भी अंग के आदि, मध्य अथवा अंत में स्तुति-नमस्कृति-परक मंगलाचरण के रूप में कोई पृथक् मंगलपाठ नहीं दिया है।

द्वादशांगी के पांचवें अंग 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' के आदि में पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र, 'शमो बंधीए लिवीए' और 'शमो सुयस्स'<sup>१</sup> - इन प्रकार के उल्लेखों से, शतक संख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ में 'शमो सुयदेवयाए भगवईए' इस पद से तथा अंत में संघ-स्तुति के पश्चात् गौतमादि गणधरों, भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वादशांगी रूप गणपिटक, श्रुतदेवता, प्रवचनदेवी, कुम्भधर यक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोट्यादेवी, विद्यादेवी और अंतहुंडी को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार 'व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र' में आदि से अंत तक नमनादि के रूप में कुल मिलाकर १८ बार मंगलाचरण किया गया है।

उपरोक्त मंगलाचरणों में पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र से लेकर संघस्तुति तक के ८ मंगलाचरणों को नवांगी टीकाकार आचार्य अमय देव सूरि ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण नहीं बताया है तथापि अपनी टीका में इन्हें स्थान देकर और शेष १० मंगलाचरणों के लिए - "शमो गोयमाइयां गणहराणमित्यादयः पुस्तक-लेखककृता नमस्काराः" यह कह कर एक प्रकार से सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण ही माना है। परन्तु वस्तुतः सम्बन्धित तथ्यों पर समीचीनतया विचार करने पर उपरोक्त १८ मंगलाचरणों में से एक भी मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा किया हुआ प्रतीत नहीं होता। निम्नलिखित तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में दिये गए मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण नहीं हैं:-

१. यदि द्वादशांगी की रचना के समय सूत्रकार ने मंगलाचरण का पाठ दिया होता तो द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान पर माने जाने वाले तथा द्वादशांगी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचारांग सूत्र में सर्वप्रथम इस प्रकार पृथक् रूप से मंगलाचरण का पाठ दिया जाता। पर वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

<sup>१</sup> अनेक प्राचीन प्रतियों में "शमो सुयस्स" - यह पाठ उल्लिखित नहीं किया गया है।

आचारांग सूत्र के आदि, मध्य अथवा अन्त में इस प्रकार का कोई पृथक् मंगलपाठ नहीं दिया हुआ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग को छोड़ कर द्वादशांगी के शेष किसी अंग में मंगलाचरण का न होना इस बात को प्रमाणित करता है कि व्याख्या-प्रज्ञप्ति के आदि, मध्य तथा अन्त में उल्लिखित उपरोक्त १८ मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत नहीं अपितु किसी लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गए मंगलाचरण हैं।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के प्रारम्भ में दी हुई संग्रहगाथा<sup>१</sup> से स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि इस अंग का प्रारम्भ राजगृह शब्द से हुआ है, न कि मंगलाचरण से। यदि मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत और सूत्र का अभिन्न अंग होता तो संग्रह गाथा निश्चितरूपेण "एगो अरहंतासं" इस पद से पहले उल्लिखित की जाती और उसमें 'रायगिह' शब्द के स्थान पर "एगो" शब्द होता।

३. "एगो बंभीए लिवीए" यह किसी भी दशा में सूत्रकार द्वारा किया हुआ मंगलाचरण नहीं हो सकता क्योंकि श्रुतरचना के समय गौतम-सुधर्मा आदि द्वादशांगी के सूत्रकारों ने न तो ब्राह्मी लिपि का ही उपयोग किया और न अन्य किसी लिपि का ही। ऐसी स्थिति में सूत्रकार आर्य सुधर्मा द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किये जाने के इस प्रकार के उल्लेख का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्यश्रुत का भावश्रुत के समकक्ष महत्व स्थापित करने अथवा द्रव्यश्रुत के माध्यम से भावश्रुत की पूजा अर्चा आदि के विधान को लोक में प्रचलित करने की दृष्टि से 'एगो बंभीए लिवीए' - इस पद को चैत्यवास के समय में अथवा अन्य किसी काल में जोड़ा गया हो।

प्राचीन प्रतियों में 'एगो बंभीए लिवीए' इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस पद को द्रव्यश्रुत की पूजा का आधारभूत मान कर चर्चास्थल बनाया गया हो और उसके निराकरण हेतु "सुत्तागमे" के संपादक मुनि 'पुष्पभिक्षु' ने "एगो बंभीयस्स लिवीयस्स"<sup>२</sup> इस प्रकार का पाठ प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया हो कि यह वस्तुतः ब्राह्मी लिपि को नमस्कार नहीं लेकिन ब्राह्मी को लिपि-विज्ञान की शिक्षा देने वाले भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। परन्तु इस प्रकार की पाठपरिवर्तन की परम्परा चाहे वह किसी दृष्टि से प्रारम्भ की जाय उचित नहीं।

जहां तक "एगो बंभीए लिवीए" - इस पद के यहां उल्लिखित किये जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीर नि० सं० ६८० में, देवद्विगण क्षमाश्रमण के तत्वावधान में, बलभी में हुई अन्तिम

<sup>१</sup> रायगिह चलण १ दुन्हे २ कंस पधोसे य ३ पगइ ४ पुढवीधो ५।

जाबते ६ शोरइए ७ बाले ८ गुइएय ९ चलणाओ १०॥

<sup>२</sup> सुत्तागमे, भाग १, पृ० २८४।

आगमवाचना के समय में आगमों को लिपिवद्ध करते समय व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग की आदि में पंचपरमेष्ठि को नमस्कार और ब्राह्मी लिपि आदि को नमस्कार के पाठ प्रविष्ट हुए हैं।

इसे स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न तो ज्यों का त्यों बना ही रहता है कि नमस्कारादि के रूप में यह मंगलाचरण प्रथम अंग आचारांग में तथा द्वादशांगी के अन्य किसी अंग में उल्लिखित न किए जाकर केवल व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पांचवें अंग में क्यों उल्लिखित किए गए हैं ?

वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि द्वादशांगी की रचना करते समय गणधरों ने द्वादशांगी के प्रत्येक अक्षर को महामंगलकारी मानते हुए किसी भी अंग के आदि, मध्य अथवा अंत में पृथकतः मंगलाचरण उल्लिखित नहीं किया। कालान्तर में मंगलचरण प्रणाली के अत्यधिक लोकप्रिय बन जाने की स्थिति में चूणिकारों वृत्तिकारों आदि ने जैन आगमों के आदि, मध्य और अन्त के कुछ सूत्रपाठों को ही मंगलाचरणात्मक सिद्ध करते हुए आदि मंगल, मध्य मंगल और अन्त मंगल की कल्पना विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत की।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के आदि, मध्य और अन्त में पृथकतः कुल मिला कर १८ मंगलाचरण प्रस्तुत करने की नूतन पद्धति के पीछे क्या कारण हो सकता है, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह ध्यान में आता है कि भगवती सूत्र में इष्टलाभ, लोकपाल वर्णन, चरमोत्पात, देवसहाय प्राप्त रथ-मूसल एवं महाशिलाकण्ठक संग्राम और गोशालक द्वारा प्रभु महावीर के समवसरण में तेजोलिङ्गा द्वारा श्रमण-निश्रन्थों के दहन जैसे अतिप्रतिष्ठ और भयोत्तेजक प्रसंगों का चित्रण हुआ है। संभव है किसी मन्द सत्त्वशाली शिष्य को किसी तरह इसके पठन-पाठन के समय किसी प्रकार का कोई विघ्न न हो जाय अतः शिष्यहिताय, विघ्नोपशान्ति और समाधिलाभ के लिए आचार्यों ने इस सूत्र में साक्षात् मंगल विधान किया हो और तदनन्तर लिपिकारों एवं उनका अनुसरण करते हुए प्रतिलिपिकारों ने इन मंगलाचरणों की संख्या में वृद्धि की हो।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ के मंगलाचरण के पश्चात् २ से १४ तक के शतकों में मंगलाचरण न करके १५ वें शतक में—जो कि गोशालक का प्रकरण है, पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसमें भी इस विचार को पुष्टि मिलती है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में गोशालक के रौद्र और अप्रीतिकारक प्रकरण आदि की विद्यमानता के कारण ही इतनी अधिक संख्या में मंगलाचरण किये गए हैं।

वस्तुतः ये मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा नहीं अगित् पश्चाद्द्वितीय काल में संभवतः आचार्यों की अनुमति में लिपिकारों एवं प्रतिलिपिकारों द्वारा ही किये गए हैं। इस सम्बन्ध में आगमनिष्पन्न मति और विद्वान विचारक अवश्य और प्रकाश डालने में मंजी आशा है।

## द्वादशांगी का ह्रास एवं विच्छेद

द्वादशांगी के सम्बन्ध में इससे पूर्व जो तथ्य प्रस्तुत किये गए हैं उनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि निखिल विश्वसत्त्वैकबन्धु सर्वभूतानुरुम्पी चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर की पतितपावनी, सर्वोत्कृष्ट मंगलप्रदायिनी उस अमोघ वारणी का नाम ही द्वादशांगी है जिसे उनके ११ गणधरों ने सूत्र रूप से ग्रथित किया। यह भी बताया जा चुका है कि आर्य सुधर्मा गणधरों में दीर्घायुष्क थे अतः शेष सब गणधरों ने अपने-अपने गण आर्य सुधर्मा के अधीन कर मोक्ष प्राप्त किया और इसके परिणामस्वरूप न उनकी शिष्य-संतति ही अवशिष्ट रही और न उनके द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही। भगवान् महावीर की निर्वाणरात्रि में ही इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई अतः भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर पद पर आर्य सुधर्मा को ही आसीन किया गया। ऐसी दशा में यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार आज की श्रमण-परम्परा आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा है उसी प्रकार आज की श्रुतपरम्परा भी आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही है।

भगवान् महावीर ने विकट भवाटवी के उस पार पहुंचाने वाला, जन्म, जरा, मृत्यु के अनवरत चक्र से परित्राण करने वाला अनिर्वचनीय शाश्वत सुखधाम मोक्ष का जो प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया था, उस मुक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले असंख्य साधकों को आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी प्रकाशदीप की तरह २५०० वर्ष से आज तक पथप्रदर्शन करती आ रही है। इस ढाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में भीषण द्वादशवार्षिक दुष्कालों जैसे प्राकृतिक प्रकोपों, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों आदि के कुप्रभावों से आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी भी पूर्णतः अछूती नहीं रह पाई। इस सब के अतिरिक्त कालप्रभाव, बुद्धिमान्द्य, प्रमाद, शिथिलाचार, सम्प्रदायभेद, व्यामोह आदि का घातक दुष्प्रभाव भी द्वादशांगी पर पड़ा। यद्यपि आगमनिष्ठागत आचार्यों, स्वाध्यायनिरत श्रमण-श्रमणियों एवं जिनशासन के हितार्थ अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने वाले सद्गृहस्थों ने श्रुतशास्त्रों को अक्षुण्ण और सुरक्षित बनाये रखने के लिये सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से समय २ पर प्रयास किये, अनेक बार श्रमण-श्रमणीवर्ग और संघ ने एकत्रित हो आगम-वाचनाएं कीं किन्तु फिर भी काल अपनी काली छाया फैलाने में येन केन प्रकारेण सफल होता ही गया। परिणामतः उपरिवर्णित दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण द्वादशांगी का समय-समय पर बड़ा ह्रास हुआ।

द्वादशांगी का कितना भाग आज हमारे पास विद्यमान है और कितना भाग हम अब तक खो चुके हैं, इस प्रकार का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह वताना आवश्यक है कि मूलतः अविच्छिन्नावस्था में द्वादशांगी का आकार-प्रकार कितना विशाल था। इस दृष्टि से आर्य सुधर्मा के समय में द्वादशांगी का जिस प्रकार का आकार-प्रकार था, उसकी तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है।

## श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पदसंख्या

अंग का नाम	समवायांग के अनुसार	नदीसूत्र	सम० वृत्ति	नदी वृत्ति
१. आचारांग	१८०००	"	"	"
२. सूत्रकृतांग	३६०००	"	"	"
३. स्थानांग	७२०००	"	"	"
४. समवायांग	१४४०००	"	"	"
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	८४०००	२८८०००	८४०००	२८८०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्यात हजार	संख्यात हजार	५७६०००	५७६०००
७. उपासकदशा	"	"	११५२०००	११५२०००
८. अंतकृद्दशा	"	"	२३०४०००	२३०४०००
९. अनुत्तरोपपातिकदशा	"	"	४६०८०००	४६०८०००
१०. प्रश्नव्याकरण	"	"	६२१६०००	६२१६०००
११. विपाकसूत्र	"	"	१८४३२०००	१८४३२०००
१२. दृष्टिवाद	"	"	—	—

दिग्गम्बर परम्परानुसार<sup>१</sup> द्वादशांगी की पद, श्लोक एवं अक्षर-संख्या

अंग का नाम	पद संख्या	श्लोक संख्या	अक्षर संख्या
१. आचारांग	१८०००	६१६५६२३११८७०००	२६६२६६५४१६८४०००
२. सूत्रकृत	३६०००	१८३६१८४६३७४०००	५८८५३६०८३६६८०००
३. स्थानांग	४२०००	२१४५७१५४१०३०००	६८६६२८६३१२६६०००
४. समवायांग	१६४०००	८३७८५०७७६२६०००	२६८११२२४६३६३२०००
५. विपाकप्रज्ञप्ति	२२८०००	११६४८१६६३७०२०००	३७२७४१४१६८४६४०००
६. ज्ञातृधर्मकथांग	५५६०००	२८४०५१८४६५४०००	६८६५६१८५७२८०००
७. उपासकाध्ययन	११७०००	५६७७३५००७१५५०००	१६१२७५२०२२८६६००००
८. अंतकृद्दशांग	२३२८०००	११८६३३६३६८८५२०००	३८०५८८६०७७३३३४०००
९. अनुत्तरोपत्पाद	६२२४४०००	४७२२६१७४४१४६०००	१५११२३७५८११६६७०००
१०. प्रश्नव्याकरण	६३१६०००	४७५६४०११३३८६४०००	१५२३००८३६२८४६०८०००
११. विपाकसूत्रांग	१८४०००००	६४००२७७०३५६०००००	३००८०८८६५१३६२०००००
१२. दृष्टिवादांग	१०८६८५६००५	५५५२५८०१८७३६४२७१०७	१७७६८२५६५६६६६६६७४४०

<sup>१</sup> अंगपञ्चमिति



**पूर्वों की पदसंख्या**

पूर्वनाम	श्वेताम्बर परम्परानुसार	दिगम्बर परम्परानुसार
१. उत्पादपूर्व	एक करोड़ पद	एक करोड़ पद
२. अत्रायणीय	छियानवे लाख	छियानवे लाख
३. वीर्यप्रवाद	सत्तर लाख	सत्तर लाख
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	साठ लाख	साठ लाख
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड़	एक कम एक करोड़ पद
६. सत्यप्रवाद	एक करोड़ ६ पद	एक करोड़ छः पद
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
८. कर्मप्रवाद	१ करोड़ अस्सी हजार	१ करोड़ ८० लाख पद
९. प्रत्याख्यान पद	८४ लाख पद	८४ लाख पद
१०. विद्यानुवाद	१ करोड़ १० लाख पद	१ करोड़ १० लाख पद
११. भ्रवंध्य	२६ करोड़ पद	२६ करोड़ पद <sup>१</sup>
१२. प्राणायु	१ करोड़ ५६ लाख पद	१३ करोड़ पद <sup>२</sup>
१३. क्रियाविशाल	६ करोड़ पद	६ करोड़ पद
१४. लोक बिन्दुसार	साढ़े बारह करोड़ पद	साढ़े बारह करोड़ पद

उपर्युल्लिखित तालिकाओं में अंकित दृष्टिवाद और चतुर्दश पूर्वों की पद-संख्या से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगमों एवं आगम सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थों में दृष्टिवाद की पदसंख्या संख्यात मानी गई है। शीलाकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में पूर्व की अनन्तार्थ युक्त बताते हुए लिखा है :-

“पूर्व अनन्त अर्थ वाला होता है और उसमें वीर्य का प्रतिपादन किया जाता है अतः उसकी अनन्तार्थता समझनी चाहिए।”

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने दो माथाएं प्रस्तुत करते हुए लिखा है— “समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय अथवा सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों तथा जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा।

<sup>१</sup> दिगम्बर परम्परा में ११ वें पूर्व का नाम कल्याण है।

<sup>२</sup> श्वेताम्बर परम्परानुसार पूर्वों की उपरोक्त पदसंख्या समवायांग एवं नन्दी-वृत्ति के आधार पर तथा दिगम्बर परम्परानुसार पदसंख्या धवला, जयधवला, गोम्भटसार एवं अंग पण्यति के अनुसार दी गई है।

इस प्रकार पूर्व के अर्थ की अनन्तता होने के कारण वीर्य की भी पूर्वार्थ के समान अनन्तता (सिद्ध) होती है।<sup>१</sup>

नदी बाढ्याबोध में प्रत्येक पूर्व के लेखन के लिए आवश्यक मसि की जिस अतुल मात्रा का उल्लेख किया गया है उससे पूर्वों के संख्यात पद और अनन्तार्थ-युक्त होने का आभास होता है।<sup>२</sup> ये तथ्य यही प्रकट करते हैं कि पूर्वों की पदसंख्या असीम अर्थात् उत्कृष्टसंख्येय पदपरिमाण की थी।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि द्वादशांगी का पूर्वकाल में बहुत बड़ा पद-परिमाण था। कालजन्य मन्दमेधा आदि कारणों से उसका निरन्तर ह्रास होता रहा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को कभी गर्व न करने का उपदेश देते हुए जो धूलि की राशि का दृष्टांत दिया उस दृष्टांत से सहज ही यह समझ में आ जाता है कि वस्तुतः द्वादशांगी का ज्ञान किम प्रकार हुआ। कालकाचार्य ने अपनी मुट्ठी में धूलि भर कर उसे एक स्थान पर रखा। तत्पश्चान् उन्होंने उस धूलि की राशि को उस स्थान से हटाकर क्रमशः दूसरे, तीसरे तथा चौथे स्थान पर और फिर पांचवें स्थान पर रखा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को सम्बोधित करते हुए कहा—“वत्स! जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर रखने के कारण निरन्तर कम होती गई है, ठीक इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् महावीर से गणधरों को जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों को, उनसे उनके शिष्यों और प्रशिष्यों आदि को प्राप्त हुआ, वह द्वादशांगी का ज्ञान एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम से अनेकों स्थानों में आते-आते निरन्तर ह्रास को ही प्राप्त होता चला आया है।” ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण और अनन्त ज्ञान-दर्शन-चरित्र के धारक प्रभु महावीर ने अपनी देशना में अनन्त भावभंगियों की अनिर्वचनीय एवं अनुपम तरंगों से कल्लोलित जिस श्रुतगंगा को प्रवाहित किया, उसे द्वादशांगी के रूप में आबद्ध करने का गणधरों ने यथाशक्ति पूरा प्रयास किया पर वे उसे निश्शेष

<sup>१</sup> यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या तद्यथा :-

सर्व्व नईरणं जा होज्ज बालुया गणणामागया सन्ती ।

नत्तो बहुयतरागो, एगस्स अत्थो पुब्बस्स ॥१॥

सर्व्व समुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं ह्विज्ज संक्खियं ।

एत्तो बहुयतरागो, अत्थो एगस्स पुब्बस्स ॥२॥

तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति ।

[सूत्र कृतांग, (वीर्याधिकार) शीलांकाचार्यकृता टीका, आ. श्री जवाहरलालजी म. द्वारा संपादित, पृ. ३३५]

<sup>२</sup> नदीसूत्र (धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित) पृ. ४८२-८४

रूप से तो आबद्ध नहीं कर पाये । तदनन्तर आर्य सुधर्मा से आर्य जम्बू ने, जम्बू से आर्य प्रभव ने और आगे चल कर क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे आचार्यों ने अपने-अपने गुरु से जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त किया उसमें एक स्थान से दूसरे स्थान में आते-आते द्वादशांगी के अर्थ के कितनी बड़ी मात्रा में पर्याय निकल गए, छूट गए अथवा विलीन हो गए, इसकी कल्पना करना भी कठिन है ।

आर्य भद्रबाहु के पश्चात् (वी० नि० सं० १७०) अन्तिम चार पूर्व अर्थतः और आर्य स्थूलभद्र के पश्चात् (वी० नि० सं० २१५) शब्दतः विलुप्त हो गए ।

द्वादशांगी के किस-किस अंश का किन-किन आचार्यों के समय में ह्रास हुआ यह यथास्थान बताने का प्रयास किया जायगा । आर्य सुधर्मा से प्राप्त द्वादशांगी में से आज हमारे पास कितना अंश अवशिष्ट रह गया, यहां केवल यही बताने के लिए एक तालिका दी जा रही है, जो इस प्रकार है :-

अंग का नाम	मूल पद संख्या	उपलब्ध पाठ (श्लोक प्रमाण)
आचारांग	१८,०००	२५०० महापरिज्ञा नामक ७ वां अध्ययन विलुप्त हो चुका है।
सूत्रकृतांग	३६,०००	२१००
स्थानांग	७२,०००	३७७०
समवायांग	१,४४,०००	१६६७
व्यख्याप्रशप्ति	२,८८,००० (नंदीसूत्र) <sup>१</sup> ८४,००० (समवायांग) <sup>२</sup>	१५७५२
शातृधर्मकथा	समवायांग और नन्दी के अनुसार संख्येय हजार पद और इन दोनों अंगों की वृत्ति के अनुसार ५,७६,०००	१०१ शतकों में से आज ४१ शतक ही उपलब्ध हैं । ५५०० इस अंग के अनेक कथानक वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।
उपासकदशा	संख्यात हजार पद सम० एवं नंदी के अनुसार पर दोनों सूत्रों की वृत्ति के अनुसार ११,५२,०००	८१२

<sup>१</sup> दो लक्षा अठ्ठासीई पयसहस्साई पयग्नेण..... [नंदी, पृ० ४५८, राय धनपतिसिंह]

<sup>२</sup> अठ्ठरासीइपयसहस्साई पयग्नेणं पण्णत्ता.....

[समवायांग, पृ० १७६ (अ), राय धनपतिसिंह]

अंतकृद्दशा	संख्यात हजार पद, सम० नंदी वृत्ति के अनुसार २३,०४०००	६००
अनुत्तरोपपातिकदशा	संख्यात हजार पद, सम०, नंदी वृ० के अनुसार ४६,०८०००	१६२
प्रश्नव्याकरण	संख्यात हजार पद, सम० एवं नंदी वृ० के अनुसार ६२,१६,०००	१३०० समवायांग और नंदी-सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो परिचय दिया गया है, वह उपलब्ध प्रश्न- व्याकरण में विद्यमान नहीं है।
विपाकसूत्र	संख्यात हजार पद, सम० और नंदीवृत्ति के अनुसार १,८४,३२,०००	१२१६
दृष्टिवाद	संख्यात हजार पद	पूर्वों सहित बारहवां अंग की निर्वाण सं० १००० में विच्छिन्न हो गया।

वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशांगी का बहुत बड़ा अंश कालप्रभाव से विलुप्त हो चुका है अथवा विच्छिन्न-विकीर्ण हो चुका है। इस क्रमिक ह्यास के उपरान्त भी द्वादशांगी का जितना भाग आज उपलब्ध है वह अनमोल निधि है और साधना-पथ में निरत भुमुक्षुओं के लिए बराबर मार्ग-दर्शन करता आ रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि दुःषमा नामक प्रवर्तमान पंचम आरक के अन्तिम दिन के पूर्वार्द्ध काल तक भगवान् महावीर का धर्मशासन और महावीर वाणी-द्वादशांगी अंशतः विद्यमान रह कर भव्यों का उद्धार करते रहेंगे। इस प्रकार की मान्यता के उपरान्त भी श्वेताम्बर परम्परा के एक प्राचीन ग्रन्थ 'तित्थोगाली पइथा' में भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् २१००० वर्ष पर्यन्त पंचम आरक के अन्तिम दिन तक 'दशवैकालिक सूत्र का अर्थ' 'आवश्यक सूत्र', 'अनुयोगद्वार' और 'नंदीसूत्र' - चार सूत्रों के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहने के उल्लेख के साथ 'द्वादश' च होने के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है :-

१ वासाण सहस्सेण य, इकवीसाए इहं भरहवासे ।  
दसवेयालियप्रत्थो, दुप्पसहजइमि नासिहिति ॥५०॥  
इगवीस सहस्साइ, वासाण बीरमोवल्लगमणाओ ।  
अब्बोच्छिन्नं होही, आवस्सगं जाव तित्यं तु ॥५३॥

“भगवान्, महावीर के आठवें पट्टधर (आर्य स्थूलभद्र) के समय में १४ पूर्वों में से अन्तिम ४ पूर्व प्रणष्ट हो गए। उनके समय में अनवष्टप तप और पारंचित तप ये दोनों तप भी नष्ट हो गए क्योंकि चतुर्दश पूर्वधरों के काल तक ही ये दोनों तप विद्यमान रहते हैं। शेष सब (तप) तीर्थ की अवस्थिति तक विद्यमान रहते हैं।”

सकडाल कुल के यश को बढ़ाने वाले धीरवर आर्य स्थूलभद्र प्रथम दशपूर्वधर और श्रेष्ठ भ्रमणगुणों के धारक सत्यमित्र नामक ध्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होंगे।<sup>२</sup>

वीर-निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् उत्तरबलिस्सह के वाचकवंश में हुए वृषभतुल्य आचार्य (देवद्वि क्षमाभ्रमण) के स्वर्गगमन के साथ ही पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न हो जाएगा।<sup>३</sup>

वीर-निर्वाण संवत् १२५० में दिग्गणि-पुष्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ 'वियाहपप्पणत्ति' का विच्छेद हो जायगा। भ्रामण्य के परिपालन में निपुण वीर-वर भ्रमण पुष्यमित्र 'वियाह पप्पणत्ति' के धारकों में अन्तिम होंगे। गुणों से श्रोत-श्रोत ८४ हजार पदों से सुशोभित 'वियाहपप्पणत्ति' रूपी वृक्ष के विच्छिन्न हो जाने पर लोग गुण रूपी फल से वंचित हो जायेंगे।<sup>४</sup>

इगवीस सहस्साइं, वासाणं वीरमोक्खगमणाओ ।

अणुओगवार-नंदी, अण्वोच्छिन्नाउ जा तित्थं ॥५३॥

[विजयदानसूरि द्वारा अपने ग्रन्थ 'विविध प्रश्नोत्तर' में तीर्थोद्गाली के नाम से उद्धृत] ये ३ गाथाएं हमारे पास उपलब्ध तित्थोपालीपइन्ना में नहीं हैं। [सम्पादक]

<sup>१</sup> एतेण कारणेण उ, पुरिसजुगे अट्ठमंमि वीरस्स ।

समराइहेण पणट्ठाइं, जाण चत्तारि पुब्बाइं ॥७६८॥

अणुअट्ठयो य तवो, तव पारंची य दोवि वोच्छिन्ना ।

अउदस पुब्बचरंमि, धरंति सेसा उ जा तित्थं ॥७६९॥ तित्थोपाली पइन्ना

<sup>२</sup> पढमो दस पुब्बीणं, सकडाल कुलस्स असकरो वीरो ।

नामेण धूलभट्ठो, अविहि साधम्मभट्ठोत्ति ॥८०१॥

नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणनिउण्णचित्तो ।

होही अपच्छिमो किर, दसपुब्बीधारओ वीरो ॥८०२॥

[तित्थोपालीपइन्ना]

<sup>३</sup> बोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ ।

उत्तरवायगवसथे, पुब्बगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥ [वही]

<sup>४</sup> पप्पासा वरिस्सेहि य बारसवरिससएहि बोच्छेदो ।

दिग्गणिएणुसमित्ते, सविवाहाणं धूलं माणं ॥८०७॥

नामेण पुसमित्तो, समणो समणगुणनिउण्णचित्तो ।

होही अपच्छिमो किर, विवाहसुयधारको वीरो ॥८०८॥

संनि य विवाहएक्खे, बुलसीति पयसहस्सगुणकिलिओ ।

सहसंच्चिय संभंतो होही गुणनिष्फलो लोको ॥८०९॥ [वही]

वीर-निर्वाण सं० १३०० में माढर गोत्रीय संभूति नामक श्रमण की मृत्यु होने पर द्वादशांगी के चतुर्थ अंग समवायांग सूत्र का विच्छेद हो जायगा ।<sup>१</sup>

वीर-नि० सं० १३५० में आर्जव मुनि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् ने स्थानांग सूत्र के विच्छिन्न होने का निर्देश किया है ।<sup>२</sup>

वीर-नि० सं० १५०० में गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के निघन पर दशाश्रुतस्कंध का विच्छेद होना बताया गया है ।<sup>३</sup>

वीर-निर्वाण सं० १६०० में भारद्वाज गोत्रीय महाश्रमण नाम से विख्यात श्रमण के पश्चात् 'सूत्रकृतांग' का विच्छेद हो जायगा ।<sup>४</sup>

वीर-नि० सं० २०,००० में हारित गोत्रीय विष्णु मुनि का निघन हो जाने पर आचारांग का विच्छेद हो जायगा । दुःषमा नामक पंचम आरक का थोड़ा-सा समय अवशिष्ट रहने पर क्षमा, तप आदि गुणों के भण्डार दुःप्रसह नाम के श्रमणगार होंगे । वे भरत क्षेत्र में अन्तिम आचारांगधर होंगे । उनके निघन के साथ ही चारित्र सहित आचारांग समूल नष्ट हो जायगा । अनुयोग सहित आचारांग ही श्रमणगण को आचार का बोध कराने वाला है अतः आचारांग के प्रणष्ट हो जाने पर सर्वत्र अनाचार का साम्राज्य व्याप्त हो जायगा । आचार सूत्र के प्रणष्ट हो जाने पर फिर श्रमणों का नाम मात्र भी अवशिष्ट नहीं रहेगा ।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> समवाय ववच्छेदो, तेरसहि सतेहि होहि वासाणं ।

माढर गोत्तस्स इहं, संभूतिजतिस्स मरणमि ॥८१०॥ [तित्थोगाली पइआ]

<sup>२</sup> तेरसवरिस सतेहि, पण्णासा समहिएहि वोच्छेदो ।

अज्जव जतिस्स मरंणे, ठाणस्स जिणेहि निदिट्ठो ॥८११॥ [वही]

<sup>३</sup> भगिदो दसाण छेदो पनरससएहि होइ वरिसाणं ।

समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते ॥८१३॥ [वही]

<sup>४</sup> भारद्वायसमुत्ते, सूयगङ्गं महासमणं नामे ।

अगुणव्वीससतेहि जाही वरिसाणं वोच्छित्ति ॥८१४॥ [वही]

<sup>५</sup> विष्णु मुणिम्मि मरंते, हारित गोत्तम्मि होति वीसाए ।

वरिसाणं सहस्सेहि, आयारंगस्स वोच्छेदो ॥८१६॥

अह दुसमाए सेसे, होही नामेण दुप्पसह समखो ।

अणगारो गुणगारो, खमागारो तवागारो ॥८१७॥

सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होहीति भरहवासे ।

तेण समं आयारो, नित्तिही समं चरित्तेणं ॥८१८॥

अणुअणोच्छिण्णायारो, अह समणगणस्स दाविघायारो ।

आयारम्मि पणट्ठे, होहीति तइया अणायारो ॥८१९॥

चंकमिउं वरतरं तिमिसगुहाए, तमंधकाराए ।

न य तइया समणाणं, आयार-सुत्ते पणट्ठमि ॥८२०॥ [वही]

इस प्रकार द्वादशांगी में से पांच अङ्गों के विच्छेद के समय का उल्लेख तित्थोगाली में किया गया है। इस प्रकरण को पढ़ने के पश्चात् समीचीनतया विचार करने पर दो मुख्य प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि इसमें जो अङ्गों के विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः उस श्रुत के नष्ट होने के सम्बन्ध में उल्लेख है अथवा प्रधान सूत्रधर के नष्ट होने के सम्बन्ध में? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिन-जिन अङ्गों के जिस-जिस समय में विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वे अङ्ग-शास्त्र उस समय में पूर्णतः नष्ट हो गए अथवा अंशतः ?

जहां तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है यह प्रश्न बड़े लम्बे समय से बहुचर्चित रहा है। व्यवहारभाष्य में भी इस प्रकार का उल्लेख है :-

“तित्थोगाली में अनुक्रम से यह विवरण दिया हुआ है कि किस-किस अंग का किस-किस समय में विच्छेद होगा।”<sup>१</sup> श्रुत-विच्छेद के सम्बन्ध में दो प्रकार के अभिमत रहे हैं, इस प्रकार का आभास नन्दीसूत्र की चूर्ण से स्पष्टतः प्रकट होता है। नन्दीसूत्र-थेरावली की ३२ वीं गाथा की व्याख्या में नन्दीचूर्णिकार ने इन दोनों प्रकार के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है - “बारह वर्षीय भीषण दुष्काल के समय आहार हेतु इधर-उधर भ्रमण करते रहने के फलस्वरूप अध्ययन एवं पुनरावर्तन आदि के अभाव में श्रुतशास्त्र का ज्ञान नष्ट हो गया। पुनः सुभिक्ष होने पर स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में भ्रमणसंघ ने एकत्रित हो, जिस जिस साधु को आगमों का जो जो अंश स्मरण था, उसे सुन-सुन कर सम्पूर्ण कालिक श्रुत को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित किया। वह वाचना मथुरा नगरी में हुई इसलिए उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलाचार्य सम्मत थी अतः स्कन्दिलीय अनुयोग के नाम से पुकारी जाती है। दूसरे (आचार्य) कहते हैं - सूत्र नष्ट नहीं हुए, उस दुर्भिक्षकाल में जो प्रधान-प्रधान अनुयोगधर (श्रुतधर) थे, उनका निधन हो गया। एक स्कन्दिलाचार्य बचे रहे। उन्होंने मथुरा में साधुओं को पुनः शास्त्रों की वाचना-शिक्षा दी, अतः उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलीय अनुयोग कहा जाता है।”<sup>२</sup>

नन्दी चूर्ण में जो उक्त दो अभिमतों का उल्लेख किया गया है, उन दोनों प्रकार की मान्यताओं को यदि वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाय तो वस्तुतः पहली मान्यता ही तथ्यपूर्ण और उचित ठहरती है। “सूत्र नष्ट नहीं हुए” - इस प्रकार की जो दूसरी मान्यता अभिव्यक्त की गई है वह तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होती। द्वादशांगी की प्रारम्भिक अवस्था के पद-परिमाण और वर्तमान में उपलब्ध इसके पाठ की तालिका इसका पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध द्वादशांगी का

<sup>१</sup> तित्थोगाली एत्थं, वत्तवा होई प्राणुपुब्बीए।

जे तस्स उ अंगस्स, बुच्छेदो जहि विणिहिट्ठो ॥ व्या० भा० १०,७०४

<sup>२</sup> नन्दीचूर्ण, पृ० ६ (पुष्पविजयजी म० द्वारा संपादित)।

पाठ वल्लभी में हुई अन्तिम वाचना में देवद्वि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों द्वारा वीर निर्वाण सं० ६८० में निर्धारित किया गया था। इस अन्तिम आगम-वाचना से १५३ वर्ष पूर्व वीर नि० सं० ८२७ में, लगभग एक ही समय में दो विभिन्न स्थानों पर दो आगम-वाचनाएं, पहली आगम-वाचना आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में और दूसरी आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में, वल्लभी में हो चुकी थीं। उपरिर्वाणत द्वितीय मान्यता के अनुसार द्वादशांगी का मूलस्वरूप ८२७ वर्षों तक यथावत् बना रहा और केवल १५३ वर्षों की अवधि में ही इतने स्वल्प परिमाण में अवशिष्ट रह गया हो, यह विचार करने पर स्वीकार करने योग्य प्रतीत नहीं होता। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवनकाल में वीर नि० सं० १६० के आसपास की अवधि में हुई प्रथम आगम-वाचना के समय द्वादशांगी का जितना ह्यास हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो हमें इस कटु सत्य को स्वीकार करना होगा कि वी० नि० सं० ८२७ में हुई स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय तक द्वादशांगी का प्रचुर मात्रा में ह्यास हो चुका था तथा एकादशांगी का आज जो परिमाण उपलब्ध है, उससे कोई बहुत अधिक परिमाण स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय में नहीं रहा होगा।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् पहले प्रश्न का यही वास्तविक उत्तर प्रतीत होता है कि कालप्रभाव, प्राकृतिक प्रकोपों एवं अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण प्रमुख सूत्रधरों के स्वर्गगमन के साथ-साथ श्रुत का भी क्षयः क्षयः ह्यास होता गया।

द्वादशांगी का कौन कौन सा अंग किस किस समय में विच्छिन्न हुआ, इस सम्बन्ध में जो तित्थोगाली में विवरण दिया गया है, उसके अनुसार जिस अंग के जिस समय में विच्छिन्न होने का उल्लेख है, उस समय में वह अंग पूर्णतः लुप्त हो गया अथवा अंशतः ही लुप्त हुआ, इस दूसरे प्रश्न पर अब हमें विचार करना है। इस सन्दर्भ में हमें उन सब गाथाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा जो आचारांग के विच्छेद के विषय में ऊपर दी गई हैं। गाथा संख्या ८१६ में बताया गया है कि वी० नि० सं० २०,००० में आचारांग का विच्छेद हो जायगा। इसके पश्चात् गाथा संख्या ८१७ में बताया गया है कि दुःषमा नामक पंचम आरक का कुछ समय शेष रहने पर दुःप्रसह नामक आचार्य अन्तिम आचारांगधर होंगे। उन दुःप्रसह आचार्य के निधन के साथ ही साथ चारित्र सहित आचारांग नष्ट हो जायगा। अंत में गाथा संख्या ८२० में बताया गया है कि आचारसूत्र के नष्ट हो जाने के पश्चात् श्रमणों का नाम तक अवशिष्ट नहीं रहेगा और लोग अधकार-पूर्ण तिमिर गुफा में रहेंगे।

इन गाथाओं पर गहन चिन्तन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वी० नि० सं० २०००० में आचारांग के बहुत बड़े भाग का लोप हो जायगा किन्तु वह पूर्णतः विलुप्त नहीं होगा। अंशतः एवं अर्थतः आचारांग, आचारसूत्र के रूप में उक्त विलोप के पश्चात् भी १००० वर्ष तक विद्यमान रहेगा और वीर निर्वाण



सं० २१,००० के लगभग जिस दिन पंचम आरक समाप्त होगा, उस दिन के प्रथम प्रहर में आचार्य दुःप्रसह के स्वर्ग-गमन के साथ ही आचारांग का भी पूर्णतः उच्छेद हो जायगा। यदि वीर नि० सं० २०,००० में ही आचारांग का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है तो वीर निर्वाण के लगभग २१००० वर्ष पश्चात् पंचम आरक की समाप्ति के अंतिम दिन में स्वर्गस्थ होने वाले दुःप्रसह आचार्य को अंतिम आचारधर किस प्रकार बताया जा सकता है? यदि कहा जाय कि यहां 'आचारधर' शब्द का प्रयोग आचारांगधर के अर्थ में नहीं अपितु आचारधर के अर्थ में किया गया है तो यह कथन किसी भी दशा में उचित नहीं ठहरता। क्योंकि गाथा में निदिष्ट - "तेण समं आयारो, निस्सिही समं चरित्तेण" - इस पद में 'चरित्तेण' इस शब्द से चारित्र्य अर्थात् आचार का और 'आयारो' इस शब्द से आचारांग का स्पष्ट शब्दों में पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। यदि तित्थोगाली के रचनाकार की 'आयारो' शब्द से चारित्र्य-आचार अर्थ अभीष्ट होता तो वे 'समं चरित्तेण' इस पद से चारित्र्य का पुनः पृथक् रूप से उल्लेख नहीं करते। वस्तुतः उन्होंने 'आयारो' शब्द का प्रयोग इस गाथा में आचारांग के लिये ही प्रयुक्त किया है और इससे आगे की गाथा संख्या ८२० के - "न य तइया समणणं, आयारसुत्ते पणट्टम्मि" - इस पद में अपने अभिप्रेत कथन को यह कह कर सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट कर दिया है कि आचार-सूत्र के विनष्ट होने के पश्चात् धर्मणों का एकांततः अभाव हो जायगा।

इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि 'तित्थोगाली' में जो अंगशास्त्रों के विच्छेद का पृथक्-पृथक् समय दिया गया है, उस-उस समय में आचारांगदि अंग शास्त्रों का पूर्णतः नहीं अपितु अंशतः विच्छेद बताया गया है। तित्थोगाली के प्रणेता आचार्य का उक्त प्रकरण में यही बताने का अभिप्राय है कि गणधर-काल में द्वादशांगी का जो विशाल स्वरूप था उसका प्रचुर मात्रा में विच्छेद हो गया अथवा होगा पर अंशतः छोटे-बड़े धार्मिक चित् रूपण द्वादशांगी पंचम आरक की समाप्ति के अंतिम दिन में चतुर्विध तीर्थ की विद्यमानता तक निश्चित रूप से विद्यमान रहेगी।

तित्थोगाली के उपरोक्त प्रकरण की गाथाओं को ध्यानपूर्वक देखने पर यह श्लथ्य प्रकट होता है कि जहां किसी अंगशास्त्र के सम्पूर्ण रूप से विलुप्त होने का उल्लेख करना ग्रन्थकार को अभीप्सित था वहां उन्होंने 'नासिही', 'निस्सिही' और 'पणट्टम्मि' शब्दों का प्रयोग किया है और जहां उन्हें किसी अंगशास्त्र के कुछ अंश, कुछ भाग के विलुप्त होने का उल्लेख करना अभीष्ट था वहां उन्होंने "वोच्छेदो", "वोच्छिती" - इन शब्दों का प्रयोग किया है। इससे भी ग्रन्थकार के अभिप्राय का स्पष्ट आभास होता है कि अंगशास्त्रों के विच्छेद का जो विवरण उन्होंने तित्थोगाली में प्रस्तुत किया है उसमें उन्होंने कतिपय अंगों के अंशतः लोप का और अंत में दुप्सह आचार्य की मृत्यु के पश्चात् आचारांग के सम्पूर्णतः विनष्ट होने का उल्लेख किया है।

एक श्रुतधर के निधन के साथ जिस अंगशास्त्र के व्यवच्छेद का तित्थोगाली के रक्षयिता ने उल्लेख किया है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यही विचार संगत प्रतीत होगा कि एक श्रुतधर के दिवंगत होने पर उस श्रुत का पूरांतः नहीं अपितु अंशतः लोप हो गया। क्योंकि किसी भी अंगशास्त्र का सूत्र और अर्थसहित कण्ठस्थ रखने वाले उस शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता किसी एक समय में कोई एक श्रुतधर हो सकते हैं पर उसके सामान्य सूत्र और अर्थ को कण्ठस्थ रखने वाले हजारों नहीं तो सैकड़ों मुनि उस समय में अवश्य रहे होंगे। ऐसी दशा में एक विशिष्ट सूत्रधर के निधन के साथ उस सूत्र का विशिष्ट ज्ञान विलुप्त हो सकता है न कि वह सम्पूर्ण शास्त्र ही। अपने समय के उन प्रधान और विशिष्ट श्रुतधर के न्यूनाधिक मेधावी शिष्य भी रहे होंगे जिन्होंने सम्पूर्ण न सही पर कुछ न कुछ तो आचारांग का अध्ययन उन श्रुतधर आचार्य के पास अवश्य किया होगा। उन शिष्यों के अतिरिक्त विशाल श्रमण-श्रमणियों के संघों में प्रत्येक साधु अथवा साध्वी ने थोड़ा बहुत तो आचारांग का अध्ययन अवश्यमेव किया होगा। क्योंकि उस समय तक प्रत्येक श्रमण-श्रमणी के लिये आचारांग के अध्ययन की अनिवार्य प्राथमिकता मानी जाती थी। ऐसी स्थिति में एक श्रुतधर के निधन पर किसी भी श्रुत का स्वल्प अथवा अधिक अंश तो विलुप्त हो सकता है पर वह पूरा का पूरा अंगशास्त्र ही एक श्रुतधर के न रहने पर सम्पूर्णरूपेण विलुप्त हो जाय यह किसी भी तरह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

उपरोक्त सब तथ्यों से यही प्रकट होता है कि तित्थोगाली में जो अंगों के विच्छेद का विवरण दिया गया है वह वस्तुतः अंगों के अंशतः विच्छेद का ही विवरण है न कि सम्पूर्णतः विच्छेद का। द्वादशांगी का जो ह्रास हुआ है उसका चित्र प्लान हमारे समक्ष प्रत्यक्ष विद्यमान है।

### द्वादशांगी विषयक दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा वर्तमान काल में द्वादशांगी के किसी एक भी अंग का अस्तित्व नहीं मानती। उसकी मान्यतानुसार बी० नि० सं० ६८३ में ही द्वादशांगी विलुप्त हो गई। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति, अंगपण्णत्ति श्रुतावतार, आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि में द्वादशांगी के विनष्ट होने का थोड़े-बहुत मतभेद के साथ जो विवरण दिया गया है, उसका मोटे तौर पर निम्न-लिखित रूप से निष्कर्ष निकलता है :-

१. वीर निर्वाण सं० ६२ तक केवलज्ञान विद्यमान रहा। वीर नि० सं० १ से १२ तक गौतम, वी० नि० सं० १२ से २४ तक आर्य सुधर्मा और वी० नि० सं० २४ से ६२ तक जम्बू स्वामी केवली रहे।
२. वीर नि० सं० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का काल चतुदश पूर्वधर-काल रहा। इन १०० वर्षों में नंदी (विष्णुकुमार), नंदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहू ये ५ श्रुतकेवली हुए।

३. वी० नि० सं० १६२ से ३४५ पर्यन्त अर्थात् १८३ वर्ष तक १० पूर्वधरों का काल रहा। इस अवधि में विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, घृतिसेन, विजय, बुद्धिल, देव और धर्मसेन ये ११ दश पूर्वधर हुए।
४. वी० नि० सं० ३४५ से ५६५ पर्यन्त २२० वर्षों का काल एकादशांगधरों का काल रहा। इस २२० वर्षों की अवधि में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये ५ एकादशांगधर हुए।
५. तत्पश्चात् वी० नि० सं० ५६५ से ६८३ तक ११८ वर्ष का आचारांगधर काल रहा। इस अवधि में समुद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये ४ आचारांगधर हुए।

इसके पश्चात् कोई अंगधर नहीं रहा और इस प्रकार वी० नि० सं० ६८३ में द्वादशांगी विलुप्त हो गई।

यद्यपि तिलोपपणत्ति, आदिपुराण आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन और मान्य ग्रंथों में स्पष्ट रूप से इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि द्वादशांगी का वी० नि० सं० ६८३ में विच्छेद हो जाने के उपरान्त भी वी० नि० सं० २०३१७ तक अर्थात् दुःषमा काल की समाप्ति के कतिपय वर्ष पूर्व तक द्वादशांगी अंशतः विद्यमान रहेगी,<sup>१</sup> तथापि दिगम्बर परम्परा में आज यह मान्यता आमतीर से प्रचलित है—“वीर नि० सं० ६८३ में ११ अंगों का, १४ पूर्वों का, त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र का और समस्त मूल जिनागम साहित्य का सम्पूर्ण रूप से विनाश हो गया। प्रभु महावीर की दिव्य ध्वनि से प्रकट हुआ एक भी शब्द आज विद्यमान नहीं रहा है।”

इस प्रकार की प्रचलित मान्यता का कोई ठोस आधार दिगम्बर परम्पर के किसी मान्य प्राचीन ग्रंथ में खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता।

भगवान् महावीर के अनुयायी सभी विद्वानों, विचारकों और प्रत्येक जैन के लिए यह निष्पक्ष रूप से चिन्तन का विषय है कि क्या भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और भावनाओं आदि के अमर सिद्धान्त आर्यधरा से विलुप्त हो चुके हैं? क्या अमरता की ओर

<sup>१</sup> (क) वीससहस्रं तिसदा, सत्तारस वच्छराणि मुदतित्थं।

धम्मपयट्टण हेद्दु, वोच्छसदि काल दोसेणं ॥१४६३॥

[तिलोपपणत्ति, म. ४]

(ख) श्रुतं तपोभूतामेषां प्रणेष्यति परम्परा।

शेषेरपि श्रुतज्ञानस्यंको देशस्तपोधनः ॥५२७॥

जिन सेनानुगंवीरसेनैः प्राप्तमहद्धिभिः।

समाप्ते दुष्यमायाः प्राक्प्रायशो वर्तयिष्यते ॥५२८॥

[महापुराण (उत्तरपुराण, पर्व ७६)]

अग्रसर कर अमृतत्व प्रदान करने वाले, जैन धर्म के आधारस्तम्भोपम मूल सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले अमृत से भी अधिक मधुर निम्नलिखित अमोल वचन किसी छद्मस्थ आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना से उद्भूत हैं:—

१. सब्बे पाणा सब्बे भूया सब्बे जीवा सब्बे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिधितव्वा न परियावेयव्वा, न उद्देवव्वा, एस धम्मो सुद्धे निइए सासए..... ।
२. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि..... ।
३. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमोतवो । इत्यादि ।

ये शाश्वत सत्य प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित हैं, इसमें किसी को किसी भी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए। महावीर वाणी (द्वादशांगी) के पूर्णतः विनष्ट हो जाने की बात कहना वस्तुतः एक प्रकार से जिन शासन की प्रतिष्ठा के लिये हितकर नहीं अपितु अहितकर ही सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त करने पर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि प्रभु महावीर की वाणी का एक भी शब्द विद्यमान नहीं है तो आज जो जैन धर्म और जैन सिद्धान्तों का स्वरूप विद्यमान है वह किनके शब्दों पर अवलंबित एवं आधारित है? जो कुछ आज हमारे पास विद्यमान है क्या वह सब महावीर वाणी की देन नहीं है?

द्वादशांगी के बहुत बड़े भाग का विच्छेद हुआ है, इस तथ्य को कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। द्वादशांगी की भाषा में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन आना सम्भव है पर वस्तुतः आर्य सुधर्मा द्वारा प्रभु की दिव्य ध्वनि के आधार पर प्रथित एकादशांगी और पूर्वज्ञान आज भी अंशतः विद्यमान हैं और पंचम आरक की समाप्ति से कुछ समय पूर्व तक ये विद्यमान रहेंगे।

## आर्य जम्बू

(भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर)

भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व, वीर निर्वाण संवत् २० में धर्म-संघ के द्वितीय आचार्य बने ।

भगवान् महावीर के शासन में आर्य जम्बू एक महान् समर्थ आचार्य हुए हैं । जिस प्रकार उनके अनुपम त्याग की महत्ता प्रकट करने के लिए संसार में कोई उपमा उपलब्ध नहीं होती, ठीक उसी प्रकार उनकी शरीर-सम्पदा, वैराग्य, तप, गुरुभक्ति, सरलता और आध्यात्मिक ज्ञान आदि का चित्रण करने के लिए अथक परिश्रम से भी कोई उपयुक्त शब्दावली प्राप्त नहीं होती ।

अत्यन्त सुकुमार, स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल और सशक्त, स्वर्ण के समान कान्तिमान सुमनसर-सुरोपम शरीर, मादक यौवन में प्रथम पाद-निक्षेप, समस्त विद्याओं एवं ७२ कलाओं में निपुणता, कुबेरोपम अक्षय-अतुल धन-वैभव, सुरसुन्दरियों के समान रूप-लावण्यसम्पन्न आठ कोकिलकण्ठिनी नववधुएं, विपुल विलासोपकरण, सुन्दर-सुखद वातावरण, सुख के समस्त साधन—ये सब कुछ सहजप्राप्त ऐहिक प्रलोभन जिस मुक्तिपथ के पथिक को किञ्चित्मात्र भी लुब्ध न कर सके, उस महान् साधक की विराटता का वास्तविक वर्णन लेखनी अथवा शब्दों से किया जाना एक प्रकार से असम्भव है । उद्दाम यौवन में अपने समक्ष भोगार्थ प्रस्तुत असीम भोग सामग्री को ठुकरा कर जम्बू कुमार का स्वेच्छा से कण्टकाकीर्ण त्याग-पथ पर आरूढ़ होना, यह अपने आप में एक ऐसा असाधारण आश्चर्यजनक उदाहरण है जो सम्भवतः संसार के इतिहास में खोजने पर भी अन्यत्र नहीं मिलेगा ।

प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह पथ-प्रदर्शक जम्बूकुमार का उत्कट विरक्तिपूर्ण, आध्यात्मिक साधना की अमिट लौ युक्त अखण्ड ज्योति से जगमगाता हुआ परम उद्दीप्त, परम उदात्त साहसी जीवन एक लम्बे काल से कवियों, कलाकारों, एवं लेखकों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है और उनके द्वारा समय-समय पर जम्बूकुमार के जीवन के सम्बन्ध में प्रचुर मात्रा में अनेक भाषाओं एवं विविध विधाओं में साहित्य का सृजन किया जाता रहा है ।

आर्य जम्बू वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के अन्तिम केवली एवं अन्तिम मुक्तिगामी माने गए हैं । श्रद्धालु कवि ने निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में एतद्विषयक अपनी भावाभिव्यंजना की है :—

लोकोत्तरं हि सौभाग्यं, जम्बूस्वामि महामुनेः ।

अद्यापि यं पति प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ॥

### आर्य जम्बू के पूर्वभव :

आर्य जम्बू ने ऐसी अद्भुत आत्मशक्ति, इतनी अपरिमित धन-सम्पत्ति एवं सर्वप्रिय-सम्मोहक भव्य व्यक्तित्व किस प्रकार प्राप्त किया, यह उनके पूर्वभव के वृत्तान्त से भलीभांति जाना जा सकता है अतः यहां उनके पूर्वभवों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भगवान् महावीर, निर्वाणगमन से १६ वर्ष पूर्व, एक समय राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे हुए थे । भगवान् की दिव्य देशना सुनने हेतु अपार जनसमूह प्रभु के समवसरण की ओर उमड़ पड़ा । मगध-सम्राट् श्रेणिक भी अपने परिजन-पुरजन आदि के साथ तीर्थंकर महावीर के दर्शन-वन्दन एवं उपदेश-श्रवण की उत्कण्ठा लिए प्रभु-सेवा में उपस्थित हुए । दर्शनार्थ जाते समय श्रेणिक ने मार्ग में प्रसन्नचन्द्र राजषि को चिलचिलाती धूप में ध्यानमग्न देखा । उनके उग्र तप से प्रभावित श्रेणिक त्रिभुवनतिलक भगवान् महावीर से महर्षि प्रसन्नचन्द्र के घोर तप के फलस्वरूप होने वाली उनकी भावी गति के सम्बन्ध में उहापोहात्मक अनेक प्रश्न कर रहे थे । भगवान् महावीर श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर में राजषि प्रसन्नचन्द्र द्वारा अपने तीव्र अशुभ एवं शुभ अध्येतसार्थों के कारण किए जा रहे नारक एवं देवायु के उपार्जन तथा क्षय के सम्बन्ध में फरमा रहे थे । उसी समय श्रेणिक ने देवदुन्दुभि-श्रवण एवं देवों के सम्पात को देखकर साश्चर्य प्रभु से उसका कारण पूछा । प्रभु ने फरमाया — “राजषि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञानोपलब्धि ही गई है ।”

देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर केवली प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सव मनाया और उसके पश्चात् वे दर्शन हेतु प्रभु के समवसरण में आये । उन देवों ने प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया । उसी समय विद्युन्माली नामक एक महासमृद्धिशाली देव ने समवसरण में उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करते हुए सूर्य एवं चन्द्रमा के समान जगमगाती हुई मणियों से जटित मुकुट से सुशोभित अपना मस्तक प्रभु के पदारविन्द में भुकाया । विद्युन्माली का सौन्दर्य और शरीर की कान्ति अन्य सब देवों से इतनी अधिक तेजस्वी सौम्य, नयनाभिराम और मनोहारो थी कि परिषद् में उपस्थित अधिकांश लोग विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर एक-टक देखते ही रह गये ।

महाराज श्रेणिक ने प्रभु को सांजलि शीघ्र भुकाते हुए प्रश्न किया — “विश्वैकनाथ ! सब देवों में अत्यधिक तेजस्वी यह कौनसा देव है ? इसने किस महान् मुकुट के प्रताप से ऐसा अद्भुत कान्तिमान् एवं मनमोहक सौन्दर्य प्राप्त किया है ?

भगवान् महावीर ने मगधसम्राट् के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया — “राजन् ! इसी मगध जनपद में सुग्राम नामक ग्राम में आजैव नामक एक राष्ट्रकूट अथवा राठोड़ ( रट्ठउड़ो ) रहता था ।” उसकी पत्नी रेवती की कुक्षि

’ तत्पासि तत्थवाणी अज्जवं अज्जवंति रट्ठउड़ो ।...।२।। [उपदेशमाला, दोषट्ठी वृत्ति]

से भवदत्त और भवदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। युवावस्था में पदार्पण करते ही भवदत्त ने संसार से विरक्त हो सुस्थित नामक आचार्य के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली और उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों, नगरों एवं ग्रामों में विचरण करते हुए संयम की साधना करने लगा।

एक बार आचार्य सुस्थित का एक शिष्य उनसे आज्ञा प्राप्त कर कुछ श्रमणों के साथ अपने छोटे सहोदर को दीक्षित होने की प्रेरणा देने हेतु अपने ग्राम पहुँचा। ग्राम में उसके छोटे भाई का विवाह निश्चित हो चुका था अतः वह प्रव्रजित नहीं हुआ और फलतः मुनि को बिना कार्यसिद्धि के ही लौटना पड़ा। मुनि भवदत्त ने अपने साथी मुनि से बात ही बात में कह दिया - "आपके भाई के हृदय में यदि आपके प्रति प्रगाढ़ प्रीति और सच्चा भ्रातृप्रेम होता तो बड़े लम्बे समय के पश्चात् आपको देख कर अवश्यमेव वह आपके पीछे चला आता।"

मुनि भवदत्त के इस कथन को अपने भ्राता के स्नेह पर आक्षेप समझ कर उस मुनि ने कहा - "मुने! कहना जितना सरल है, वस्तुतः करना उतना सरल नहीं। यदि आपको अपने भाई के प्रति इतना दृढ़ विश्वास है तो आप उन्हें प्रव्रजित करवा कर दिखाइये।"

भवदत्त मुनि ने कहा - "यदि आचार्यश्री मगध जनपद की ओर विहार करें तो कुछ ही दिनों पश्चात् आप मेरे लघु भ्राता को अवश्य ही मुनिवेश में देखेंगे।"

संयोगवश आचार्य सुस्थित अपने शिष्यों सहित विचरण करते हुए मगध जनपद में पहुँच गए। मुनि भवदत्त भी अपने गुरु से आज्ञा लेकर कुछ साधुओं के साथ अपने ग्राम में पहुँचे। मुनि भवदत्त के दर्शन कर उनके परिजन व परिचित परम प्रसन्न हुए और उन्होंने सब श्रमणों को निरवद्य आहारादि का दान देकर अपने आपको कृतकृत्य समझा। जिस समय भवदत्त अपने परिवार के लोगों के बीच पहुँचे उससे कुछ ही समय पहले भवदेव का विवाह नागदत्त एवं वासुकी की कन्या नागिला के साथ सम्पन्न हुआ था। अपनी सखी-सहेलियों के बीच बैठी नववधु नागिला को जिस समय भवदेव शृंगारालंकारादि से अलंकृत कर रहा था, उसी समय उसे अपने अग्रज भवदत्त के शुभागमन का समाचार मिला। वह तत्काल उनके दर्शन एवं वन्दन हेतु उठ बैठा। यद्यपि नववधु की सखियों ने उसे बहुतेरा समझाया कि नवविवाहिता पत्नी को प्रसाधनादि से अर्द्धशृंगारितावस्था में छोड़कर उसे नहीं जाना चाहिए तथापि भवदेव क्षण भर भी बिना रुके सुदीर्घकाल से बिछुड़े अपने बड़े भाई से मिलने की उत्कण्ठा लिए यह कह कर चल दिया - "कुलबालाओ! मैं अपने ज्येष्ठार्य को प्रणाम कर अभी-अभी लौटता हूँ।"

तदनन्तर भवदेव बड़ी शीघ्रतापूर्वक अपने बड़े भाई भवदत्त के पास पहुँचा और उसने असीम हर्षोल्लास से भावविभोर हो अपना मस्तक उनके चरणों पर रख दिया। मुनि भवदत्त ने धृत से भरा अपना एक पात्र भवदेव के हाथों पर

रक्त दिया' और साथी श्रमणों के साथ वे अपने आश्रमस्थल की ओर लौट पड़े। भवदेव और अन्य परिजनों सहित अनेक ग्रामवासी भी मुनियों को पहुंचाने हेतु उनके पीछे-पीछे चल दिये। साधुओं को थोड़ी दूरी तक पहुंचा कर महिलाएं अपने अपने घरों की ओर लौट गईं। तदनन्तर कुछ और दूरी पर साधुओं को पहुंचाकर पुरुष-वर्ग भी लौटने लगा। उन लोगों ने वरवेशधारी भवदेव को भी लौटने का आग्रह करते हुए कहा—“जैन श्रमण, “अब तूम लौट जाओ”—इस प्रकार का संबोध वचन कभी नहीं बोलते, अतः भवदेव ! अब तुम भी लौट चलो।”

“पर जिना भैया के कहे मैं कैसे लौटूँ” — यह सोचकर भवदेव उन लोगों के साथ नहीं लौटा और भवदत्त के पीछे-पीछे आगे की ओर बढ़ता ही गया। ग्राम से पर्याप्त दूरी पर निकल जाने के पश्चात् एक उपाय भवदेव के ध्यान में आया कि बातचीत का क्रम चालू करने पर बहुत सम्भव है उसके बड़े भाई उसे लौटने का कुछ संकेत करें। वह बातचीत का सिलसिला चलाते हुए बोला—“श्रेष्ठार्य ! यह खेत अपना है, यह वनखण्ड और वह तालाब भी अपने ही हैं। वह जो उस पार का खेत है वह अपने पड़ोसी का और उस छोर वाला आम्रकुंज आपके परमसत्ता का है।”

इस प्रकार की अनेक बातें भवदेव ने कहीं पर भवदत्त ने “हां-हां, मैं जानता हूँ”, इन वाक्यों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा। इस प्रकार बातों ही बातों में वे अपने गांव की सीमा से बहुत आगे बढ़ गये और कुछ ही समय में वे आचार्यश्री की सेवा में पहुँच गये।

वरोचित वेश में भवदेव को देखकर आचार्य सुस्थित ने पूछा—“यह सौम्य युवक कैसे आया है ?”

भवदत्त ने हड़ता के साथ उत्तर दिया—“प्रव्रज्यार्य !”

आचार्य श्री ने भवदेव की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए पूछा—“क्या यही बात है ?”

कहीं बड़े भाई की अवहेलना न हो जाय इस विचार से भवदेव ने स्वीकृति-सूचक मुद्रा में मस्तक झुकाते हुए कहा—“यही बात है भगवन् !”

आचार्यदेव द्वारा भवदेव को उसी समय जैनी भागवती-दीक्षा दे दी गई। कुछ ही क्षणों पूर्व भोग-मार्ग की ओर उठे हुए चरण त्यागमार्ग पर चल पड़े। सभी श्रमणों के मुख से सहसा निकल पड़ा—“आर्य भवदत्त ने जो कहा वही कर दिखाया।”

कालान्तर में मुनि भवदत्त ने अनशनपूर्वक समाधि के साथ नश्वर शरीर का त्याग किया और वे सौधमैन्द्र के सामानिक देव बने।

उधर भवदेव दीक्षित हो जाने पर भी सदा अपनी पत्नी का चिन्तन किया करता था। वह बहिरंग रूप से तो श्रमणाचार का पालन कर रहा था परन्तु

१ क्वम्पियं च वक्त्रभायणं भवदेवस्स करे.....

[जंबुचरियं (गुणपाल), पृ० १८]



आम्यंतर में सदा उसकी प्राणप्रिया पत्नी ही बसी रहती थी । वह अहर्निश मन ही मन अपनी पत्नी के सम्बन्ध में सोचता रहता - "हाय ! मैं अपनी सद्य-परिणीता, अर्द्धशृंगारिता और भोली-भाली प्रिया को प्रवंचिता सी छोड़कर प्रव्रजित हो गया । मेरी वह परित्यक्ता पत्नी मुझे किन-किन शब्दों में कोसती होगी ? उस पर न मालूम क्या-क्या बीती होगी ? वह कैसी होगी, किस प्रकार रहती होगी ? जल से निकाल कर प्रतप्त मरुभूमि पर पटकी हुई मीन की भांति बहुत सम्भव है वह कब की ही अपने प्राणों का परित्याग कर चुकी होगी अथवा अत्यन्त कृश हो वह अस्थिपंजरमात्रावशिष्ट रह गई होगी ।"

इस प्रकार पूत पंचगव्य और अपवित्र मदिरा को एक साथ रखने वाले मूर्ख व्यक्ति की तरह भवदेव अपनी जीवनचर्या में प्रतिपल बाह्यरूपेण श्रमरागाचार और अन्तर्मनसा कामिनी की चाह को साथ-साथ संजोये रखता था ।

भवदत्त के स्वर्गगमन के पश्चात् भवदेव के मन में नागिला को देखने की बड़ी तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई । वह पात्र के टूट जाने पर बंध में रोके हुए पानी की तरह बड़े वेग से स्थविरों की आज्ञा लिए बिना ही अपने ग्राम सुग्राम की ओर चल पड़ा । ग्राम के पास पहुँच कर वह एक चैत्यघर के पास विश्राम हेतु बैठ गया ।

थोड़ी ही देर में एक संभ्रान्त घर की महिला एक ब्राह्मणी को साथ लिए हुए वहां पहुँची । उसने भवदेव मुनि को वन्दन-नमस्कार किया । मुनि भवदेव ने उस महिला से पूछा - "आविके ! क्या आज्ञेव राष्ट्रकूट और उनकी पत्नी रेवती जीवित हैं ?"

उस महिला ने उत्तर दिया - "मुनिवर ! उन दोनों को तो इहलीला समाप्त किए बहुत समय बीत चुका है ।"

यह सुनते ही मुनि के मुखमण्डल पर शोक की काली छाया छा गई । कुछ क्षण मौन एवं विचारमग्न रहने के पश्चात् उन्होंने थोड़ी हिचक के साथ पुनः प्रश्न किया - "धर्मनिष्ठे ! क्या भवदेव की पत्नी नागिला जीवित है ?"

इस प्रश्न को सुनकर वह महिला चौंकी । उसने साश्चर्य मुनि के मुख की ओर देखते हुए अनुमान लगाया कि बहुत सम्भव है यह भवदेव ही हों ।

उस महिला ने प्रश्न किया - "आप आर्य भवदेव को किस प्रकार जानते हैं और यहां एकाकी किस कार्य से आये हैं ?"

भवदेव ने कहा - "मैं आर्य आज्ञेव का छोटा पुत्र भवदेव हूँ । अपने बड़े भाई भवदत्त की इच्छा के कारण अपनी नवविवाहिता पत्नी को बिना पूछे तथा अन्तर्मन से न चाहते हुए भी मैं लज्जावश प्रव्रजित हो गया था । कहीं मेरी गणना अकुलीनों में न कर ली जाय, इस हेतु मैं नागिला के मुखकमल को देखने की चिरलालसा से प्रेरित हो यहां आया हूँ । "आविके ! तुम तो नागिला

को अवश्य पहिचानती होगी ! मेरी वह नागिला कैसी है ? उसका रूपलावण्य कैसा है और देखने में वह कैसी लगती है ?”

श्राविका बोली - “वह ठीक ऐसी ही दिखती है जैसी कि मैं । उसमें और मुझमें कोई विशेषता नहीं है । पर एक बात मैं समझ नहीं पाई कि आप तो पवित्रश्रमणाचार का पालन कर रहे हैं, अब आपको उस नागिला से क्या कार्य है ?”

भवदेव - “पाणिग्रहण के तत्काल पश्चात् ही मैं उसे छोड़कर चला गया था ।”

श्राविका - “यह तो पूर्वोपाजित पुण्य के प्रताप से आपने बहुत अच्छा किया कि भवभ्रमण की विषवल्ली को बढ़ने से पहले ही मुखा डाला ।”

भवदेव - “क्या नागिला शील, सदाचारादि - श्राविका के व्रतों का पालन करती हुई आदर्श जीवन बिता रही है ?”

श्राविका - “नागिला न केवल स्वयं ही आदर्श श्राविका के व्रतों का पालन करती है अपितु अन्य अनेक महिलाओं से भी पालन करवा रही है ।”

भवदेव - “जिस प्रकार मैं उसका अहनिश स्मरण करता हूँ, उसी प्रकार क्या वह भी मेरा स्मरण करती रहती है ?”

श्राविका - आप साधु होकर भी अपने कर्तव्य को भूल गए हैं पर वह श्राविका नागिला कल्याणकारी साधना-पथ पर चलती हुई आपकी तरह भूल नहीं कर सकती । वह श्राविका के योग्य उच्च भावनाओं का अनुचितन करती हुई कठोर तपस्याएं करती है, उत्तम आत्मांर्षी साधु-साध्वियों के उपदेशामृत का पान करती है और प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि से भवभ्रमण की महाव्याधि के समूलनाश के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है ।”

भवदेव - “श्राविके ! मैं नागिला को एक बार अपनी इन आंखों से देखना चाहता हूँ ।”

श्राविका - “अशुचि के भाजन उसके शरीर को देखने से महामुने! आपका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ? मुझे आपने देख ही लिया है । मुझ में और उसमें कोई अन्तर नहीं है । जो नागिला है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वह नागिला है ।”

भवदेव - “तो सच कहो श्राविके ! क्या तुम्हीं नागिला हो ?”

श्राविका - भंते ! मैं ही हूँ वह अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली और रुधिर, मांस, मज्जा, मूत्र, पुरीषादि अशुचि से परिपूर्णमात्रा नागिला ।”

भवदेव श्राविका नागिला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ चित्र-लिखित सा मोन खड़ा रहा ।

नागिला ने वातावरण की निस्तब्धता को भंग करते हुए कहना आरम्भ किया - “महामुने ! मैंने अपनी पूज्या गुरुस्त्रीजी से एक बड़ा सुन्दर और शिक्षा-

प्रद आख्यान सुना है। वह मैं आपको सुनाना चाहती हूँ। कृपया ध्यान से सुनिए :-

भवाटवी के संकटों से संवस्त एक मुमुक्षु ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ एक महाश्रमण के पास पंचमहाव्रतों की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरणा करने लगा। वह कठिन श्रमणाचार का पूरी तरह से पालन करता हुआ भिक्षा में प्राप्त रूखे-सूखे भोजन से तप के पारणे करता। पर उसका पुत्र कठोर-साधुमार्ग से विचलित होकर बार-बार उससे कहता - "खन्त ! मैं यह रूखा-सूखा भोजन नहीं खा सकता। खन्त ! मैं इस स्वादरहित और विरस, भिक्षा में मिले पेय पदार्थ - पानी आदि भी नहीं पी सकता।"

उस श्रमण ने अपने पुत्र को अनेक प्रकार से समझाया कि पंच महाव्रतों का पालन करने से दिव्य सुखों की उपलब्धि और अन्त में अक्षय शिव-मुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कुछ समय तक तो वह छोटा मुनि अपने पिता के समझाने-बुझाने से येन-केन प्रकारेण श्रमणाचार का पालन करता रहा पर एक दिन उसने अपने पिता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि शुष्क एवं तीरस खान-पान से उसकी शारीरिक शक्ति पूर्णरूपेण क्षीण हो चुकी है अतः वह अब एक क्षण के लिए भी कठोर श्रमणाचार का पालन नहीं कर सकता। यह कह कर उसने साधु-वेश का परित्याग कर दिया और वह एक परिचित ब्राह्मण के घर पर काम-काज करने लगा।

वृद्ध मुनि ने निरतिचार श्रमण-धर्म का पालन करते हुए समाधिपूर्वक आयु पूर्ण की और वे सौधमैन्द्र के सामानिक देव हुए। इधर कुछ समय पश्चात् ब्राह्मण ने उस युवक के साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया। विवाह के समय डाकुओं ने ब्राह्मण के घर पर आक्रमण किया और नवविवाहित दम्पती उन डाकुओं द्वारा मौत के घाट उतार दिये गए। श्रमणधर्म से च्युत भोगलोलुप वह ब्राह्मणपुत्र आर्तध्यान से मर कर महिष के रूप में उत्पन्न हुआ। बड़े होने पर उस भंसे को एक क्रूर व्यक्ति ने खरीद लिया और उससे भार ढोने का कार्य लेने लगा। वह उस पर अधिक से अधिक भार लादता और उस पर स्वयं बैठकर डंडों के प्रहार करता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता। एक बार ग्रीष्मकाल की मध्याह्नवेला में उस भंसे के स्वामी ने उस पर अत्यधिक भार लादा और उस पर यष्टिप्रहारों की वीछार करता हुआ एक गांव से दूसरे गांव की ओर बढ़ा। ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप के कारण मार्ग की वालु-आग की तरह जल रही थी। दुर्वह भार, लगुड़-प्रहार, भीषण गर्मी और प्रतप्त वालु-कणों के कारण भंसे की जिह्वा बाहर निकल आई और वह आग की तरह जलती हुई धरती पर घड़ाम से गिर पड़ा। भंसे के स्वामी ने इस पर क्रुद्ध हो पूरी शक्ति के साथ यष्टिप्रहार प्रारम्भ कर दिये। बेवस भंसा मरणासन्न सा हो गया।

सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए, ब्राह्मण मुनि ने महिष रूप में उत्पन्न हुए अपने पुत्र की दयनीय दशा देख कर उसे प्रतिबोध देने का निश्चय

किया। वे अपना पूर्व का खन्त मुनि का वेश बनाकर महिष के सम्मुख उपस्थित हुए और मुनिचर्या से दुःखित हो उनके पुत्र ने जो वाक्य कहे थे उन्हीं वाक्यों को महिष के समक्ष बार-बार दोहराने लगे—“खन्त ! मैं यह नहीं कर सकता, वह नहीं कर सकता।”

खन्त के स्वरूप को देखकर महिष ने विचार किया—“मैंने ऐसा स्वरूप कहीं देखा है और ये वाक्य भी परिचित से प्रतीत होते हैं।” इस प्रकार चिन्तन करते हुए महिष को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उस महिष ने उस ही क्षण मन ही मन देशविरति श्रावकधर्म धारण कर जीवन भर के लिए अशन-पान का परित्याग कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् वह भैंसा मरकर अनशन और शुभ्र ग्रध्यवसायों के फलस्वरूप सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ।”

नागिला ने प्रश्न किया—“मुने ! इस प्रकार तिर्यंच योनि में पड़े हुए उस ब्राह्मणपुत्र का उसके पिता ने उद्धार किया। आश्चर्य की बात है कि देवरूप से उत्पन्न हुए आपके बड़े भाई भवदत्त ने अभी तक आपको प्रतिबोधित करने का विचार तक क्यों नहीं किया ?”

अन्त में नागिला श्राविका ने कहा—“महात्मने ! यह जीवन जलबुद्बुद् के समान क्षणविध्वंसी है। यदि आप श्रमणधर्म से विचलित हो गये तो संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करते रहेंगे। अतः अब भी सम्हलिए। अपने गुरु के पास लौट जाइए और प्रायश्चित्त लेकर पंच महाव्रतों का पूरी तरह से पालन कीजिए। तप और संयम से आप अन्ततोगत्वा समस्त कर्मों का क्षय कर अवश्य ही अक्षय, अव्याबाध, अनन्त शिवसुख प्राप्त करने में सफल हो सकेंगे।”

ठीक उसी समय नागिला के साथ आई हुई ब्राह्मणी का पुत्र वहां आया और उसे किसी कारण से वमन हो गया। थोड़ी ही देर पहले खाई हुई खीर बालक के मुँह से बाहर आ गिरी। यह देख कर ब्राह्मणी ने अपने पुत्र से कहा—“वत्स ! इधर-उधर से चावल मांग कर मैंने तेरे लिए बड़े ही चाव से अस्यन्त स्वादु खीर बनाई थी। यह खीर बड़ी ही स्वादिष्ट और मीठी है अतः इस वमन की हुई खीर को तू मूत्र पुनः खा लो।”<sup>१</sup>

१ (क) जायं कुमो वि कारणमो वमणं । भणियं बभणीए २- जाय ! जाइऊण तंहुलाइणि मए कम्मो पायसो एसो ता भुज्जो वि भुंजेसु । अइ लट्ठं मिट्ठमेयं ति ।

[जन्मस्वामी चरित (रत्नप्रमसूरिरचित)]

(ख) वसुदेवहिण्डी में दक्षिणा के लोभ से वमन करने की बात कही गई है।

“एयम्मि देसयाले तीए माहणीए दारगो पायसं भुज्जिऊण आगतो भणइ - अम्मो ! आणेह कोलालं जाव पायसं वमामि, ततो पुणो भुंजीहं अईव मिट्ठो, पुणो दमिक्खणा हेउं अन्नत्थ भुंजामि । तीए भणियं - पुत्त वतं न भुंजेइ पुणो अन्नं ते दमिक्खणाए, वच्च अच्छमु सुहंति ।

[सम्पादक]

ब्राह्मणी की बात सुनकर मुनि भवदेव ने कहा — “धर्मशीले ! तूम बालक को यह क्या कह रही हो ? वमन की हुई वस्तु को खाने वाला व्यक्ति तो अत्यन्त निकृष्ट और घृणापात्र होता है ।”

इस पर नागिला ने मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा — “महात्मन् ! आप अपने अन्तर्मन को टटोलिए कि कहीं आप भी वमितभोजी तो नहीं बनने जा रहे हैं ? क्योंकि एक वार परित्यक्त मेरे इस मांस, मज्जा, प्रस्थि आदि से बने शरीर को अपने उपभोग में लेने की अभिलाषा से आप यहां आये हैं । आप बुग न मानें तो मैं आपसे एक बात पूछूँ ? चिरपरिपालित प्रब्रज्या का परित्याग करने का जो विचार आपके मन में आया है क्या इस वारे में आपको किञ्चित्मात्र भी लज्जा का अनुभव नहीं होता ? यदि लज्जा का अनुभव होता है तो अब आप बाह्यरूपेण चिरकाल तक परिपालित श्रमणाचार का अन्तर्मन से पूर्णरूपेण परिपालन कीजिए । जो कुत्सित विचार आपके मन में आये हैं उनके लिए आचार्य सुस्थित के पास जाकर प्रायश्चित्त लीजिए ।”

नागिला के हितप्रद एवं बोधपूर्ण वचन सुन कर भवदेव के हृदयपटल पर छाये हुए मोह के घने बादल तत्क्षण छिन्न-भिन्न हो गए और उसका अज्ञान-तिमिराच्छन्न अन्तःकरण ज्ञान के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठा ।

उसने नागिला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए शान्त निश्चल स्वर में कहा — “आविके ! तुमने मेरी अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर दिया है। तुम्हारे उपदेश से मैंने अपने चिरपालित संयम मार्ग को हृदय से अपना लिया है । वस्तुतः तुमने मुझे अन्धकूप में गिरने से बचा लिया है । तुम मेरी सच्ची सहोदरा और गुरुणी तुल्य हो । तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है । मैं अब तुम्हारे कथनानुसार निर्दोष साधुधर्म का त्रिकरण-त्रियोग से पालन करूंगा ।”

यह कह भवदेव वहां से प्रस्थान कर आचार्य सुस्थित के पास पहुँचे और अपने दोषों के लिए प्रायश्चित्त कर कठोर तपश्चरण में निरत हो गये । अनेक वर्षों तक श्रमणधर्म का पालन करने के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वह सौधमैन्द्र के सामानिक देव हुए । इधर नागिला भी अपनी गुरुणी के पास दीक्षित हो संयमधर्म की साधना करती हुई देवगति की अधिकारिणी बनी ।

### सागरदत्त और शिवकुमार

सौधर्म देवलोक की आयु पूर्ण होने पर भवदत्त का जीव वहां से च्युत हो महाविदेह क्षेत्रान्तर्गत पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती सम्राट् वज्रदत्त की महारानी यशोधरा के गर्भ में आया । गर्भकाल में महादेवी को सागरस्नान का दोहद उत्पन्न हुआ जिसे चक्रवर्ती वज्रदत्त ने बड़े समारोह के साथ पूर्ण किया । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने अत्यन्त मनोहर एवं शुभलक्षणसम्पन्न पुत्र को जन्म दिया । गर्भकाल में सागर-स्नान के दोहद के कारण माता-पिता ने पुत्र का नाम सागरदत्त रखा । अपनी परमाह्लादकारिणी

बाललीलाओं से माता-पिता और परिजनों के आनन्दोल्लास को बढ़ाते हुए बालक ने शंशवावस्था को पार किया। सुयोग्य कलाचार्यों एवं अध्यापकों से बालक ने समस्त कलाओं और विद्याओं में कुशलता प्राप्त की। युवा होने पर राजकुमार सागरदत्त का अनेक सर्वाङ्गसुन्दरी कुलीन कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया। वह मुररमणियों के समान रूपवती पत्नियों के साथ विविध भोगोपभोगों का उपभोग करता हुआ बड़ा ही सुखमय जीवन बिताने लगा।

एक दिन शरद ऋतु में राजकुमार सागर अपनी पत्नियों के साथ प्रासाद के भरोखे में बैठा हुआ प्राकृतिक छटा का निरीक्षण कर रहा था। उसने देखा कि-क्षितिज के एक छोर से बादल उभरा और देखते ही देखते उसने ऐसा विशाल रूप धारण कर लिया कि वह समस्त नभमण्डल पर छा गया। समस्त अम्बर सघन काली घनघटा से गहडम्बर बन गया। सहसा दक्षिण-दिशा से पवन का एक झोंका आया और कुछ ही क्षणों में घनघोर मेघघटा छिन्न-भिन्न होकर न मानूम कहां विलीन हो गई।

राजकुमार की विचारधारा ने इससे एक नया मोड़ लिया। वह सोचने लगा - "जिस प्रकार बादलों का वह नयनाभिराम मनोहारी दृश्य क्षण भर में ही जलबुद्बुद की तरह शून्य में विलीन हो गया, ठीक उसी प्रकार यह राज्यलक्ष्मी, ऐश्वर्य, भोगोपभोग, सुख के सारे साज और शरीर तक भी एक न एक दिन अचानक ही नष्ट होने वाले हैं। दृश्यमान समस्त सांसारिक वस्तुओं का बादल के समान विनाश सुनिश्चित है - अवश्यंभावी है। विनाशशील वस्तुओं में मोह वस्तुतः महामूर्खता का द्योतक है। भोगी और भोग्य ये दोनों ही क्षणभंगुर हैं। इनमें आसक्ति का अर्थ है आत्मनाश-अपना सर्वनाश। भवभ्रमण बढ़ाने वाले इन विषयभोगों में लुब्ध होकर मैंने अपने मानव-जीवन की लाखों अमूल्य घड़ियां व्यर्थ ही बिता दी हैं। अब मुझे सजग होकर आत्मोद्धार के लिए अनवरत प्रयास करना चाहिए। वृद्धावस्था इस देह-पंजर को जर्जरित न कर दे, उससे पहले ही मुझे प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा के उद्धार-कार्य में जुट जाना चाहिए।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए राजकुमार सागरदत्त को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई और उन्होंने दूसरे ही दिन अपने परिवार के अनेक सदस्यों के साथ अभयसार नामक आचार्य के पास भागवती-दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन्होंने परम विनीत भाव से अपने आचार्य और ज्येष्ठ भ्रमणों की लगन के साथ सेवा की और अध्ययन करते हुए गुरुकृपा से मुनि सागरदत्त स्वल्प समय में ही शास्त्रों के पारंगामी बन गये। शास्त्राध्ययन के साथ-साथ उन्होंने घोर तपस्व्यरूप भी किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अविद्यज्ञान की उपलब्धि हुई। वे अपने गुरु की सेवा और भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचारण करने लगे।

उधर भवदेव का जीव भी देवायु पूर्ण होने पर सौधर्म देवलोक से च्यवन कर उसी पुष्कसावती विजयान्तर्गत कीतशोका नगरी के नृपति पचरथ की रानी

वनमाला की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता द्वारा उसका नाम शिवकुमार रखा गया। युवा होने पर शिवकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ, पाणिग्रहण हुआ और वह देवोपम भोगों का उपभोग करने लगा।

एक समय मुनि सागरदत्त ग्राम-नगरों में विचरते हुए वीतशोका नगरी पधारे। धर्मोपदेश के पश्चात् उन्होंने मासोपवास का पारणा एक सार्धवाह के यहां किया। दान की महिमा में आकाश से पंच-दिव्यों की वृष्टि हुई। वसुधारा की बात सुनकर राजकुमार शिवकुमार भी दर्शनार्थ मुनि सागरदत्त की सेवा में पहुँचा। उसने बड़ी श्रद्धा से मुनि को वन्दन किया और उपदेश सुन कर प्रसन्न हुआ। उपदेश के पश्चात् शिवकुमार ने मुनि से पूछा — “श्रमणाशिरोमणो ! मुझे आपको देखते ही अत्यधिक हर्ष और परम उत्साह का अनुभव क्यों हो रहा है ? क्या मेरा आपके साथ कोई पूर्वभव का सम्बन्ध है ?”

मुनि सागरदत्त ने अवधिज्ञान से जान कर कहा — “शिवकुमार ! इससे पहले के तीसरे भव में तुम मेरे भवदेव नामक अनुज थे। तुमने मेरा मन रखने के लिए सद्यःपरिणीता नववधु को छोड़कर मेरी इच्छानुसार श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। श्रमणाचार का पालन करते हुए आयु पूर्ण कर तुम सौधमें देवलोक में महान् ऋद्धिसम्पन्न देव हुए। वहां भी हम दोनों में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था। उन दो भवों के स्नेहपूर्ण सम्बन्ध के कारण आज भी तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति स्नेहसागर उमड़ रहा है। वीतरागमार्ग का पथिक होने से मेरे मन पर अब राग अथवा द्वेष का कोई प्रभाव नहीं होता। क्योंकि अब मैं संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता हूँ।”

राजपुत्र शिवकुमार ने हर्षविभोर हो सांजलि मस्तक भुकाया और मधुर स्वर में कहा—“भगवन् ! आपने जो फरमाया वह तथ्य है। मैं इस भव में भी प्रव्रजित हो आपकी पर्युपासना एवं आत्मकल्याण की साधना करना चाहता हूँ। मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर अभी आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ।”

मुनि सागरदत्त ने कहा — “देवप्रिय ! शुभ कार्य में प्रमाद नहीं करना ही श्रेयस्कर है।”

तदनन्तर शिवकुमार ने राजभवन में पहुँच कर माता-पिता के सम्मुख अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा — “अम्ब-तात ! मैंने आज एक अवधिज्ञानी मुनीश्वर से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना। मुझे संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई है। मैं श्रमण बन कर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। अतः आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर मेरी आध्यात्मिक साधना में सहायक बनिये।”

अपने पुत्र की बात सुन कर महाराज पश्चरथ और महारानी वनमाला वज्रप्रहार से प्रताड़ित की तरह अवाक् निषण्ण रह गये। आँसुओं से अभ्रुधाराएं प्रवाहित करते हुए अत्यन्त कष्ट और दीन स्वर में वे बोले — “वत्स ! तुम

हमारे इकलौते पुत्र हो। हमारे लिये एक मात्र तुम ही स्वर्ग, अपवर्ग, त्राण, शरण और प्रकाशपूर्ण कुलप्रदीप हो। हमारे प्राण तुम्हारे सहारे से ही देहपंजर में रुके हुए हैं। तुम यह निश्चित समझो कि तुम्हारे प्रव्रजित होते ही हमारे प्राण बिना नोड़ के पक्षी की तरह उड़ कर अनन्त शून्य में विलीन हो जायेंगे।”

बहुत कुछ समझाने-बुझाने और अनुनय-विनय के पश्चात् भी जब शिव-कुमार को अपने माता-पिता से प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्राप्त नहीं हुई तो वह समस्त सावद्य योगों का परित्याग कर विरक्त भाव से धीर-गम्भीर मुद्रा धारण किये राजप्रासाद में ही श्रमण की तरह स्थिर आसन जमा कर बैठ गया। उसने हास-परिहास, आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, बोल-चाल, और खान-पान तक का परित्याग कर दिया। वह एकाग्रचित्त ही अन्तःपुर के एक कोने में इस प्रकार निलिप्तभाव से रहने लगा मानो किसी सुनसान बियावान निजंन वन में निवास कर रहा हो। माता-पिता, परिजन, एवं प्रतिष्ठित पौरजनों ने शिवकुमार को समझाने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी पर सब व्यर्थ। विरक्ति-मार्ग से कुमार को कोई किञ्चित्मात्र भी विचलित नहीं कर सका। सभी प्रकार के उपायों के निष्फल हो जाने पर राजा पश्चरथ बड़ा चिंतित हुआ। उसने अन्त में दृढधर्म नामक एक अत्यन्त विवेकशील श्रावक को बुलाया और उसे सारा वृत्तान्त सुना कर कहा—“श्रेष्ठपुत्र ! तुम अपने बुद्धिबल से येन-केन-प्रकारेण राजकुमार को अन्न-जल ग्रहण करने के लिये सहमत कर हमें नवजीवन प्रदान करो।”

“राजन् ! मैं यथाशक्ति पूरा प्रयास करूंगा।” यह कह कर श्रेष्ठपुत्र दृढधर्मा राजकुमार शिवकुमार के पास पहुंचा। “निसीहि” “निसीहि” के उच्चारण के साथ दृढधर्मा ने राजकुमार के पास पहुंच कर आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक साधुओं के समान सविधि वन्दन किया। तत्पश्चात् राजकुमार की अनुज्ञा प्राप्त कर स्थान को सावधानी से देख कर दृढधर्मा शिवकुमार के पास बैठ गया।

राजकुमार ने यह सब देख कर मन ही मन विचार किया कि इस श्रावक ने मुझे ठीक साधु की तरह नमस्कार क्यों किया है ? अपनी शंका के निवारण हेतु उसने दृढधर्मा से पूछा—“श्रेष्ठपुत्र ! मैं साधु नहीं हूँ। फिर भी तुमने मुझे साधु की तरह नमस्कार किया, इसका क्या कारण है ?”

श्रेष्ठपुत्र दृढधर्मा ने उत्तर में कहा—“आम्भवान् ! श्रमणों के समान आपके आचरण को देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। यद्यपि इस प्रकार वन्दन-नमन मुनियों को ही किया जाना उचित है तथापि समस्त सदोष कार्यों का परित्याग करने के कारण आप भाव-यति बन गये हैं अतः आपके समान त्यागियों को भी उस प्रकार नमन करना विनयमूलक जैनधर्म के अनुसार अनुचित नहीं है।”

इतना कहने के पश्चात् श्रावक दृढधर्मा ने शिवकुमार से प्रश्न किया—“साधकश्रेष्ठ ! मुमुक्षु राजकुमार ! आपने अन्न-पान, संभाषणादि का परित्याग क्यों कर दिया है ?”



शिवकुमार ने उत्तर दिया — “इभ्यकुमार ! मैंने पंच महाव्रतों के पालन का दृढ़ संकल्प कर लिया है किन्तु मेरे माता-पिता मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान नहीं करते अतः जब तक कि वे मुझे अनुज्ञा नहीं देते तब तक के लिये भाव-श्रमणत्व को धारण किये मैं घर में ही रह रहा हूँ। मैं सभी प्रकार के सावद्य-कर्म के परित्याग की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। ऐसी दशा में मैं सदोष अशन, वसन, पानादि ग्रहण नहीं कर सकता और न इन स्वजन-परिजनों के साथ संभाषण ही कर सकता हूँ।

श्रेष्ठिपुत्र दृढधर्मा ने शिवकुमार के वैराग्य की प्रशंसा करते हुए कहा— “कुमार ! साधनामार्ग में आपका दृढ़ निश्चय वस्तुतः स्तुत्य है पर इस प्रकार अनशन करना तो उन्हीं महापुरुषों के लिये लाभप्रद हो सकता है जो कि कृतकृत्य हो चुके हैं। आप तो साधक हैं। कर्मनिर्जरा हेतु आप अपने भावचारित्र का निर्वहन अशन-पानादि के परिहार से तो अधिक समय तक नहीं कर सकेंगे। अन्न-जल के बिना तो शरीर कुछ ही समय में विनष्ट हो जायगा। यदि आप आवश्यक मात्रा में अशन-पानादि ग्रहण करते रहेंगे तो चिरकाल तक संयम का परिपालन कर कर्मसमूह को विनष्ट करने में अधिकाधिक सफल हो सकेंगे। अतः आपके लिये यही श्रेयस्कर है कि जब तक माता-पिता आपको प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान न करें तब तक निरवद्य अशन-पानादि आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हुए अपने घर में ही रह कर साधु तुल्य जीवन व्यतीत करें।”

शिवकुमार ने कहा— “सुश्रावक ! आप जो कह रहे हैं, वह ठीक है किन्तु यहां राजप्रासाद में रहते हुए प्राशुक अशन-पान-वसनादि का मिलना असंभव समझ कर ही मैंने इन सब का परित्याग किया है।”

दृढधर्मा ने कहा— “आप इसके लिये निश्चिन्त रहें। मैं यथासमय पूर्णरूपेण प्राशुक आहार-पानी-वस्त्रादि भिक्षा से प्राप्त कर आपको देता रहूंगा और आप जैसे साधुतुल्य महापुरुष की एक विनीत शिष्य की तरह सभी प्रकार से सेवा करता रहूंगा।”

इस पर शिवकुमार ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए एवं अपने अतिकठोर अभिग्रह से दृढधर्मा को परिचित कराते हुए कहा — “श्रावकोत्तम ! आप मेरे हित में यह आवश्यक समझते हैं कि मैं अशन-पान ग्रहण करता रहूँ, तो मैं जीवन पर्यंत छट्ठभक्त की तपस्या करता रहूंगा और तप के पारणों के दिन भी आचाम्ल व्रत करूंगा।”

इस प्रकार शिवकुमार और श्रावक दृढधर्मा ने परस्पर एक दूसरे का कहना मान लिया और वे दोनों अपनी-अपनी प्रतिज्ञानुसार कार्य में निरत हो गये।

राजप्रासाद में रहते हुए भी शिवकुमार ने निस्पृहभाव से एक महाश्रमण की तरह बारह वर्ष तक घोर तपश्चरणा किया और अंत में पण्डित-मरण से आयु पूर्ण कर वह पांचवें ब्रह्म देवलोक में ब्रह्मेन्द्र के समान दश सागरोपम की आयु वाले महद्विक और महान् तेजस्वी विद्युन्माली नामक देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहां

वह अतिशय रूप सम्पन्न अमरमुन्दरियों के साथ अनक प्रकार के दिव्य भोगा का उपभुंजन करता हुआ अत्यन्त सुखमय जीवन व्यतीत करने लगा । अपनी देवियों के साथ जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण में जाकर वह प्रभु की अमृतोपम अमोघ वाणी के श्रवण का भी आनन्दानुभव करने लगा ।”

त्रिकालज्ञ भगवान् महावीर ने मगध सम्राट् श्रेणिक को इस प्रकार आर्य जम्बू के चार पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना कर फरमाया - “भगधेश ! यह वही भवदेव का जीव विद्युन्माली देव है । आज से सातवें दिन यह देवायु की समाप्ति कर इसी राजगृह नगर के श्रेष्ठियुख्य ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ में अवतरित होगा । गर्भकाल की समाप्ति पर धारिणी इसे पुत्र रूप में जन्म देगी और इसका नाम जम्बूकुमार रखा जायगा । जम्बूकुमार विवाहित होकर भी अखण्ड ब्रह्मचारी रहेगा और विवाह के पश्चात् दूसरे ही दिन विपुल धन-सम्पत्ति का परित्याग कर अपनी सद्यःपरिणीता आठों पत्नियों, अपने और उन पत्नियों के माता-पिता, पत्नीपति प्रभव और प्रभव के ५०० साथियों के साथ प्रव्रजित होगा ।

जम्बूकुमार इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली और चरमशरीरी मुक्तिगामी होगा । उसके मोक्षगमन के पश्चात् भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल में और कोई मुक्त नहीं होगा ।”

इस पर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा - “प्रभो ! देवायु की समाप्ति का समय सन्निकट आने पर देवों के शरीर की कान्ति अक्सर तेजोविहीन हो जाती है पर इसके विपरीत विद्युन्माली देव का शरीर अत्यन्त तेजस्वितापूर्ण और परम कमनीय प्रतीत हो रहा है । ऐसा क्यों ? इसका क्या कारण है ?”

प्रभु ने फरमाया - “आचाम्ल तप के प्रभाव से विद्युन्माली के शरीर की कान्ति इस समय जैसी तुम देख रहे हो उससे लक्ष-लक्ष गुनी अधिक कमनीय और तेजपूर्ण थी । देवायु पूर्ण होने का समय समीप आ जाने से वह कान्ति अब बहुत कम हो गई है ।”

भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली देव के भूत और भावी भवों का वृत्तान्त सुनकर राजषि प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सर्ग मनाने के पश्चात् प्रभु दर्शनों के लिए आया हुआ अनामृत देव हर्षातिरेक से आनन्द बिभोर हो अपने स्थान से उठा । उसने तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् महावीर को बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वन्दन किया और मधुर स्वर में कहने लगा - “अहो ! धन्य है मेरा उत्तम कुल ।”

१ एवं च भयवमो सोऽप्य वयसं - अणादिभ्यो जंबूदीवाहिबई.....तिविहं वदिकण, अफोडेऊग, महुरेण सहेण - “अहो मम कुलं उत्तमं ति ।

अनाधृत देव के उपरोक्त वचन सुन कर सम्राट् श्रेणिक ने आश्चर्य भरे स्वर में भगवान् से पूछा — “प्रभो ! यह देव अपने आन्तरिक आनन्दोत्लास को प्रकट करते हुए अपने कुल की किस कारण प्रशंसा कर रहा है ? इसका वह कौनसा कुल है और यहां उसकी प्रशंसा का क्या प्रसंग है ?”

भगवान् महावीर ने कहा — “मगधेश ! यह जम्बूद्वीप का अधिपति ‘अनाधृत’ नामक देव है । यह अपने देवभवं से पहले के भव में इसी राजगृह नगर के गुप्तिमति नामक श्रेष्ठी का ‘जिनदास’ नामक छोटा पुत्र था । जिनदास के बड़े भाई का नाम ‘ऋषभदत्त’ है जिसका आज भी राजगृह नगर के समृद्ध श्रीमन्तों में प्रमुख स्थान है । सदाचारसम्पन्न होने के कारण ऋषभदत्त तो सर्वत्र सम्मानित होने लगा किन्तु उसका छोटा भाई जिनदास मद्यपी, वेश्यागामी और जुआरी बन गया । ऋषभदत्त द्वारा अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी जब जिनदास ने दुर्व्यसनों का परित्याग नहीं किया तो तंग आकर ऋषभदत्त ने अपने आत्मीयों, परिजनों और परिचितों को यह ज्ञापित कर जिनदास का परित्याग कर दिया — “अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त जिनदास आज से न तो मेरा भाई है और न अब उसके साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध है ।”

इतना सब कुछ होते हुए भी जिनदास अपनी बुरी आदतों का परित्याग करने के स्थान पर और अधिक दुर्व्यसनों का सेवन करने लगा । एक दिन जिनदास सेना के एक उच्च अधिकारी के साथ द्यूतक्रीड़ा में निरत था । द्यूत में हार-जीत की धनराशि के सम्बन्ध में जिनदास ने कुछ आनाकानी की इस पर सेनाधिकारी ने क्रुद्ध हो उस पर घातक हमला कर दिया । जिनदास शस्त्रप्रहार से आहत होकर वहीं गिर पड़ा । ऋषभदत्त ने जब भाई के घायल होने की बात सुनी तो वह उसके पास पहुँचा । भाई को देखकर घायल जिनदास को अपने दुष्कृत्यों पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उसने ऋषभदत्त के चरणों पर अपना शिर रख दिया और उससे क्षमा-प्रार्थना करते हुए वह निराश एवं करुण स्वर में बोला — “भैया ! अब मैं परलोक के लिए प्रयाण करने वाला हूँ । मुझे आपका कहां न मानने और दुर्व्यसनों में निरत रहने का बड़ा दुःख है । अब अन्तिम समय में आप मुझे धर्म का उपदेश देकर मेरा लोकान्तर सुधारने में मेरी कुछ सहायता कीजिये ।”

अपने भाई को मरणासन्न देख कर ऋषभदत्त ने उसे धैर्य दिलाते हुए आजीवन चतुर्विध आहार और आरम्भ-परिग्रह आदि का त्याग कराते हुए पंचपरमेष्टि-नमस्कार महामन्त्र का पाठ सुनाना प्रारम्भ किया । शुभ परिणाम एवं नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से जिनदास मृत्यु के पश्चात् जम्बूद्वीप का अधिपति देव हुआ ।”

“मेरे बड़े भाई का पुत्र भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल में अन्तिम केवली और मुक्तिगामी होगा ” — यह जानकर इसे अत्यधिक प्रसन्नता हुई । इसी कारण इसने आनन्दविभोर होकर अपने कुल की प्रशंसा की है ।”

त्रिकालदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली के पूर्वभवों और भावी-भव का वृत्तान्त सुन कर सत्रने प्रभु को नमन किया और वे अपने २ स्थान की ओर लौट गये । उस देव की चारों देवियों ने केवली प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को सांजलि शीश झुकाते हुए अत्यन्त विनम्र एवं संभ्रम भरे स्वर में पूछा — “देव ! कृपा कर हमें भी बताइये कि सुरलोक की आयु पूर्ण कर हम चारों कहां-कहां उत्पन्न होंगी ? विद्युन्माली देव से विछोह हो जाने पर क्या पुनः हमारा उनसे संयोग होगा ?”

राजर्षि ने फरमाया — “देवियों ! तुम चारों स्वर्ग से च्यवन कर इसी राजगृह नगर के निवासी वैश्रमण, धनद, कुबेर तथा सागरदत्त नामक समृद्धि-शाली श्रेष्ठियों के यहां पुत्रियों के रूप में उत्पन्न होगी । वहां जम्बू कुमार के रूप में जन्म ग्रहण किये हुए इस देव के जीव के साथ तुम चारों का पाणिग्रहण संस्कार होगा । जम्बूकुमार के साथ-साथ तुम भी प्रव्रज्या-ग्रहण करोगी और संयम की सम्यक् रूपेण साधना कर तुम चारों आयु पूर्ण होने पर ग्रैवेयकों में देव रूप से उत्पन्न होगी ।”

केवली प्रसन्नचन्द्र से यह सुनकर कि भावी-भव में भी उनका परस्पर वियोग नहीं होगा—देवियां बड़ी प्रसन्न हुईं । उन्होंने श्रद्धावनत हो मुनि को नमन किया और वे सब स्वर्ग की ओर लौट गईं ।

### आर्य जम्बू के माता-पिता

धन-जन और सद्गुण-समृद्ध मगध राज्य की राजधानी राजगृह नगर जिन दिनों उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ था, उन दिनों मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक बिम्बसार मगध पर शासन करते थे । श्रेणिक बड़े धर्मनिष्ठ, न्यायप्रिय एवं लोकप्रिय नरेश थे । राजगृह नगर में ऋषभदत्त नाम के एक अति समृद्ध इम्य (श्रेष्ठी) रहते थे । उनके पास उनके पूर्वपुरुषों द्वारा न्याय से उपाजित विपुल सम्पत्ति थी । वह बड़े दयालु, दृढ़ प्रतिज्ञ, दानशील, दक्ष, विनयी और विद्वान् थे । पत्नी का नाम धारिणी था जो विशुद्ध शीलालंकार से अलंकृत और निष्कलंक एवं स्वच्छ स्फटिक मणि के समान निर्मल स्वभाव वाली थी । श्रेष्ठी ऋषभदत्त और उनकी पत्नी धारिणी का जिन-शासन के प्रति बड़ा अनुराग था । वे ऐहिक भोगों का उपभोग करते हुए बड़े संतोष से गृहस्थ जीवन बिता रहे थे । सभी दृष्टियों से सम्पन्न होते हुए भी संतति के अभाव में वे दोनों सदा चिन्तित रहते थे । इम्य-पत्नी धारिणी को निस्संतान होने का बहुत बड़ा दुःख था । वह यदा-कदा इस शोक से संतप्त हो मन ही मन विचार किया करती कि उन स्त्रियों का सुरसुन्दरियों के समान अनुपम रूप-लावण्य, सौन्दर्य और लक्ष्मी के समान अक्षय वैभव एवं सुखोपभोग की विपुल सामग्री किस काम की, जिनकी कुक्षि से एक भी संतति का जन्म नहीं हुआ । जिन दिनों इम्य पत्नी धारिणी अर्हनिश इस प्रकार की चिन्ता में घुल रही थी उन्हीं दिनों एक समय

भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा का वैभारगिरी पर पदार्पण हुआ। राजगृह नगर के नर-नारियों के समूह आर्य सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर उमड़ पड़े। श्रेष्ठी ऋषभदत्त भी अपनी पत्नी धारिणी के साथ सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में उन्हें जसमित्र नामक एक निमित्तज श्रावक मिले जो ऋषभदत्त के परम मित्र थे।

निमित्तज जसमित्र ने क्षेम-कुशल के समाचारों के आदान-प्रदान के अनन्तर ऋषभदत्त से पूछा — “मित्रराज! भाभी का मुख प्रगाढ़ चिन्ता से संतप्ता के समान श्यामल किस कारण हो रहा है?”

“तुम ही अपनी भाभी से पूछ लो” — ऋषभदत्त के मुख से अपने प्रश्न का यह उत्तर सुनकर ‘जसमित्र’ ने धारिणी से उसकी चिन्ता का कारण पूछा।

धारिणी ने अपनी आन्तरिक चिन्ता को हंसी की ओट में छुपाने का प्रयास करते हुए कहा — “देवर! तुम्हारा निमित्तज्ञान बड़ा अद्भुत है। यह कैसे निमित्तज्ञता कि पूछने पर ही तुम्हें दूसरे के मन की बात विदित होती है? इस प्रकार तो प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको निमित्तज कहला सकता है। मेरे मन की बात तुम अपने निमित्तज्ञान से विचार कर ही बताओ तब मैं समझूँ कि वास्तव में मेरा देवर निमित्तज है।”

अपनी प्रिय कला पर परिहास के तीखे प्रहार से जसमित्र का अन्तर्मन सहसा तड़प उठा। अपने निमित्तज्ञान का चमत्कार बताने की जसमित्र के मन में एक प्रबल लहर उठी। कुछ ही क्षणों के गगन-चिन्तन के पश्चात् उसने बड़ी दृढ़तापूर्वक गम्भीर स्वर में कहा “भाभी! आप पुत्रवती नहीं हैं अतः उत्तम पुत्र को जन्म देने की अभिलाषा लिये आपका चित्त रातदिन प्रगाढ़ चिन्ता से संतप्त रहता है। सिद्धिप्रदायक शकुन हो रहा है। अब आपका मनोरथ सफल होने वाला है। आपकी कुक्षि से एक महान् प्रतापी पुत्र का जन्म होगा, जो हमारे इस भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली होगा। आप स्वप्न में एक मूछों वाले सिंह को शीघ्र ही देखेंगी। उससे आपको मेरे कथन पर और अपनी कार्य-सिद्धि पर विश्वास हो जायगा। भाभी! आपके इस कार्य में एक छोटा सा अंतराय-विघ्न अवश्य है, वह किसी देवता की आराधना से दूर हो सकता है। पर वह देव कौन सा है वह मैं नहीं जानता।”

जसमित्र द्वारा की गई भविष्यवाणी को सुनकर हर्षातिरेक से इभ्यपत्नी धारिणी का मन-मथूर नाच उठा। वह जसमित्र से बातें करती हुई ऋषभदत्त के साथ उपवन में पहुँची जहाँ सुधर्मा स्वामी विराजमान थे। ऋषभदत्त जसमित्र और धारिणी ने श्रद्धावनत हो भक्तिपूर्वक सुधर्मा स्वामी को वन्दन-नमन किया और तत्पश्चात् यथास्थान बैठकर सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुनने लगे। उपदेश श्रवण करते समय धारिणी ने मन ही मन सुधर्मा स्वामी से पूछने का विचार किया कि उसे पुत्र प्राप्ति में हो रही अन्तराय को दूर करने के लिए किस देव को

अनुकूल करना चाहिये। उसी समय सुधर्मा स्वामी ने वह सारा वृत्तान्त सुनाया कि किस प्रकार ऋषभदत्त का छोटा भाई मरते समय 'पंचपरमेष्टि-नमस्कारमंत्र के प्रताप से जम्बूद्वीप का अधिपति अनाधृत देव बना। धारिणी ने अपने अन्तर में उठे प्रश्न का इसे उत्तर समझा।<sup>१</sup>

सुधर्मा स्वामी की देशना के अनन्तर ऋषभदत्त अपनी पत्नी धारिणी के साथ अपने घर लौट आया। धारिणी ने अनाधृतदेव के साथ अपने परिवार का अत्यन्त सन्निकट का सम्बन्ध होने के कारण उसकी आराधना प्रारम्भ की। धारिणी ने जम्बूद्वीपाधिपति देव के नाम पर १०८ आचाम्ल व्रत किये।<sup>२</sup>

जैसाकि श्रमण भगवान् महावीर ने मगधपति श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में बताया था—उस दिन से ठीक सातवें दिन विद्युन्माली देव ब्रह्मलोक से च्यवन कर ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ में अवतरित हुआ। रात्रि के अन्तिम चरण में अर्द्ध-जागृतावस्था में सोई हुई धारिणी ने स्वप्न में मृगराजकिशोर एवं सुन्दर, सरस-सुगन्धित जम्बूफल आदि को देखा।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> मुनिवर गुणपाल रचित जम्बूचरियं में—“भगवं । किं मम पुत्रो होही नव ति ?” इस रूप में स्वयं धारिणी द्वारा सुधर्मा स्वामी के सम्मुख प्रश्न उपस्थित करने तथा जसमित्र द्वारा उत्तर देने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि जसमित्र ने धारिणी से कहा—“अहो श्राविके ! अमण निग्रंथ जानते हुए भी इस प्रकार के सावध प्रश्नों का उत्तर नहीं देते । मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ । तीर्थकर, चक्रवर्ती, आचार्य, उपाध्याय, साधु, बलदेव, वासुदेव तथा जम्बूद्वीप समुद्र आदि की चर्चा के पश्चात् यह प्रश्न किया गया है अतः निश्चित रूप से तुम महाभाग्यवान् पुत्र को जन्म दोगी। स्वप्न में जम्बूफल को देखने के पश्चात् तुम्हें मेरी बात पर विश्वास हो जायगा।” [सम्पादक]

<sup>२</sup> (क) भयवं ! जइ इमं एवं, ता अहं जम्बूदेवयाए नामेण अट्ठुत्तरसयं अब्बिलाणं काहामि [जम्बूचरियं, गुणपाल, पृ० ५६]

(ख) सयमट्ठोत्तरमायंबिलाण मन्नेई धारिणी धीरा ।

सिरिजंबुदेवयाए, तह तन्नामेण सुयनामं ॥१६६॥ जंबुचरित्र, रत्नप्रभमूरि

<sup>३</sup> (क) “मगहापुरे उसभदत्तो नाम इव्भो धारिणी नाम भारिया .....सा कयाइ सयणगया सुत्तं—जागरा पंच मुमिणो पासिता पडिबुद्धा, तं जहा—विधूमं हुयवहं १, पउमसरं वियसियं—कमलकुमुदकुवलयउज्जलं २, फलभारनमियं च सालिवराणं ३, गयं च गलित—जलवलाहकपंडुरं समुसियचउविसाणं ४, जंबुफलाणि य वण्णारसगंधोववेयाणि ५ ति । (वसुदेवहिण्डी, प्रथमोऽश, पृ० २)

तथा :-

[कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१-४८, (हस्तलिखित, संवत् १५६६) अलवर मंडार]

(ख) सा अन्नया कयाई पच्छिमजाममि पेच्छए मुमिणं ।

सीहं सरं समुद्दं दामं जलणं च जम्बुफले ॥ [जम्बूचरियं, गुणपाल]

(ग) अह मयरावकिसोरं, सयं मुमिसामि पासिऊओसा ।

पडिबुद्धा गन्तूगं, तं माहट उसभदत्तस्स ॥१७१॥

(जंबुचरित्र रत्नप्रभमूरि)

स्वप्न देखने के तत्काल पश्चात् धारिणी जग उठी और पति के पास जाकर अतीव प्रसन्न मुद्रा में अपने स्वप्न का हाल सुनाते हुए बोली — “प्राणनाथ ! देवर जसमित्र के कथनानुसार मैंने स्वप्न में केसरीसिंह को देखा है। अब मुझे पक्का विश्वास ही गया है कि हमारी चिराम्लषित मनोकामना पूर्ण होगी।

अन्धे को दो आंखें मिल जाने पर जिस प्रकार की प्रसन्नता होती है उसी प्रकार की प्रसन्नता ऋषभदत्त को हुई और उसने कहा — “देवी ! जैसा कि भगवान् महावीर ने फरमाया था, तुम वैसे ही महाप्रतापी पुत्र को जन्म दोगी।”<sup>१</sup>

धारिणी बड़े ही प्रमोद के साथ गर्भ को धारण करती हुई अपने आपको धन्य समझने लगी। गर्भकाल में धारिणी को दीनदुखियों के दुःखों को दूर करने एवं श्रमण — निर्ग्रथों को अशन-पानादि से प्रतिलाभित करने आदि के अनेक दोहद उत्पन्न हुए। ऋषभदत्त और धारिणी ने मुक्तहस्त से अपार धनराशि व्यय कर उन दोहदों की बड़े हर्षोल्लास के साथ पूर्ति की।<sup>२</sup>

अनुक्रम से ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ने लगा त्यों-त्यों गर्भगत महापुण्यशाली प्राणी के प्रभाव से श्रेष्ठिपत्नी धारिणी की धर्म के प्रति अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

गर्भकाल के परिपक्व होने पर धारिणी ने एक महातेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। नवजात शिशु का वर्ग कर्णिकार कुसुम की केसर के समान और शरीर की कान्ति बालसूर्य के समान कमनीय थी। पुत्र-जन्म की खुशी में सेठ ऋषभदत्त के भव्य भवन में हर्षोल्लास का सुखद वातावरण व्याप्त हो गया। मंगलगीतों और विविध वाद्यवृन्दों की कर्णप्रिय धुनों से गगनमण्डल गुंजरित हो उठा। लय और ताल पर नृत्य के साथ-साथ मंगल गान गाती हुई कोकिल-कठिनी सुरवधूपम सुन्दरियों के नूपुरों की भंकारों और मुकोमल कंठारवों से सादकता मुखरित हो उठी। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने अपने अनुचरों, वन्दीजनों, याचकों एवं दीन-दरीद्रीों को दिल खोल कर इतना द्रव्य लुटाया कि उनका दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो गया। उसने अपने सम्बन्धी एवं स्वजनों को भी द्रव्यालंकारादि से सम्मानित एवं संतुष्ट किया। बारह दिन तक बड़े ही टाट-वाट के साथ अर्हतिश्रम मंगल सद्गोस्त्र मनाये गये। एक शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त में विशिष्ट समारोह के साथ शिशु का नामकरण किया गया। परिजनों एवं परिचितों को परम स्वादिष्ट पदार्थ भोजन से तृप्त करने के पश्चात् पुत्र का नामकरण किया गया। माता द्वारा स्वप्न में जम्बूफल देखने और जुम्बूद्वीपाधिपति

<sup>१</sup> तेण वि भगिया - पहागो ते पुत्तो भविस्सति जहा वागग्गियो

- वसुदेव हिंड़ी, प्र० अंश, पृ० २-३

<sup>२</sup> समुत्तरोय मे दोहलो जिगसाहूपूयाए सोय विभवयो सम्माणियो ।

अनाधृत देव की कृपा एवं सान्निध्य के कारण सर्व लक्षण-सम्पन्न पुत्र का नाम जम्बू रखा गया ।<sup>१</sup>

त्रिद्युन्माली देव के ब्रह्मलोक से धारिणी के गर्भ में आने के कुछ ही समय पश्चात् उसकी चारों देवियां भी अपनी-अपनी देवी-आयु पूर्ण कर राजगृह नगर के अति समृद्ध श्रेष्ठियों के यहां पुत्रियों के रूप में उत्पन्न हुईं । उन चारों कन्याओं और उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं :-

पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
१. समुद्रश्री	समुद्रप्रिय	पद्मावती
२. पद्मश्री	समुद्रदत्त	कमलमाला
३. पद्मसेना	सागरदत्त	विजयश्री
४. कनकसेना	कुबेरदत्त	जयश्री

लगभग उन्हीं दिनों चार अन्य कन्याओं ने भी राजगृह के सम्पन्न कुलों में जन्म ग्रहण किया । उनके तथा उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं :-

पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
५. नभसेना	कुबेरसेन	कमलावती
६. कनकश्री	श्रमणदत्त	सुषेणा
७. कनकवती	वसुषेण	वीरमती
८. जयश्री	वसुपालित	जयसेना

जम्बुकुमार जिस समय धारिणी के गर्भ में आये उसी दिन से श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त की समृद्धि एवं सम्मान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई ।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष का पौधा क्रमशः वृद्धिगत होता है, ठीक उसी प्रकार पांच निपुण धात्रियों की सार-सम्हाल एवं देख-रेख में बालक जम्बुकुमार बढ़ने लगे ।

योग्य आयु होने पर बालक जम्बुकुमार के लिये सुयोग्य कलाचार्य के सान्निध्य में शिक्षा की व्यवस्था की गई । कुशाग्र बुद्धि जम्बुकुमार ने दत्तचित्त हो पूर्ण विनय के साथ अपने सुयोग्य आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की और युवावस्था में पदार्पण करने से पहले ही समस्त विद्याओं और कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली ।

जम्बुकुमार के साथ उपरिर्वाणत आठ श्रेष्ठ कन्याओं ने भी युवावस्था में पदार्पण किया । जम्बुकुमार की अति कमनीय सौम्य मुखाकृति उनके दयालुता,

<sup>१</sup> (क) कथञ्चायकम्मस्स य से जंबुफललाभ — जंबुदोवाधिपतिकथमन्नेभानिमित्तं कथं नाम 'जंबु' त्ति । — वसुदेव टिण्डी, प्र० ग्रंथ, पृ० ३

(ख) महया महसवेणं, से नामं निर्मिगयं मुह मुदुत्ते ।

दिशो जम्बू देवेणं जंबुणामोत्ति तो होउ ॥ १७६॥

जम्बूचरित्र (उपदेश माला, दोषट्टि से समुद्धृत)



दूरदर्शिता आदि अनेक अनुपम सदगुणों की अभिव्यक्ति कर रही थी । प्रगाढ़ पूर्व-सम्बन्ध के कारण जम्बुकुमार की यशोगाथाएं सुनते ही आठों श्रेष्ठि कन्याओं ने जम्बुकुमार को पतिरूपेण वरण करने का मन ही मन अटल निश्चय कर लिया । सखी-सहेलियों के माध्यम से अपनी पुत्रियों की आन्तरिक अभिलाषाओं के ज्ञात होते ही आठों बालाओं के माता-पिता ने परम हर्ष का अनुभव करते हुए जम्बुकुमार के माता-पिता के पास उनके इकलौते पुत्र जम्बुकुमार के साथ अपनी पुत्रियों के विवाह-प्रस्ताव रखे । ऋषभदत्त और धारिणी ने भी उनके उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

### जम्बू की विरक्ति

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर के दिव्य संदेश को ग्रामों, नगरों तथा जनपदों में पहुंचाते हुए एवं सुमुखु भव्य प्राणियों के अन्तर्मन को प्रफुल्लित करते हुए भार्य सुधर्मा अपने श्रमणसंघ के साथ राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में पधारे । सुधर्मा स्वामी के आगमन का शुभ संवाद सुनते ही जम्बुकुमार के हर्ष का पारावार न रहा । वे एक शीघ्रगामी एवं धार्मिक अवसरोचित रथ पर आरूढ़ हो सुधर्मा स्वामी की सेवा में पहुंचे । उन्होंने सुधर्मा स्वामी को अगाध श्रद्धा और परमाभक्ति से विधियुक्त बन्दन-नमन किया और धर्मपरिषद् में यथास्थान बैठ गये ।

अमृत की घनघटा से जिस प्रकार अमृतवर्षा की ही अपेक्षा की जाती है, उसी प्रकार अर्हत् भगवान् के समान समस्त तत्त्वों की विशद व्याख्या करने वाले भार्य सुधर्मा ने धर्मपरिषद् को उद्दिष्ट कर आध्यात्मिक उपदेश देना प्रारम्भ किया । उन्होंने अपनी देशना में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा तथा मोक्ष के स्वरूप का सब के लिये बोधप्रद विशद विवेचन किया । मानवभव की महत्ता बताते हुए उन्होंने फरमाया — “भव्यो ! विश्वहितैषी भगवान् महावीर के उपदेशानुसार आचरण करके भव्य प्राणी भवसागर को पार करने में सफल हो सकते हैं । अतः मानव मात्र को इस प्राप्त अवसर का लाभ उठाना चाहिये ।

आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में मानव भौतिक एषणाओं के पीछे अर्हनिश भागता है और भव सागर में आर्थिक हानि-लाभ के उतार-चढ़ावों के कारण उठी उत्तुंग तरंगों की थपेड़ें खाता हुआ अनन्त काल तक भवभ्रमण करता रहता है । काम भोगों के क्षणिक एवं दुःखान्त काल्पनिक सुख में लुब्ध मानव यह नहीं सोचता कि पवन के प्रवल भोंकों से झुकभोरित वृक्षों से तड़ातड़ झड़ते हुए पत्तों की तरह प्राणियों का जीवन क्षणिक और अनिश्चित है । वादल में से जिस प्रकार पानी तीव्र वेग से भरता है उसी प्रकार मानव की आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है । जो प्रियजनों का संयोग है वह वस्तुतः त्रियोगान्त है और लक्ष्मी विजली की चमक के समान क्षणिक, चंचल एवं अस्थिर है । बुद्धिमान मानव वहीं है जो आयु, यौवन, कामभोग, लक्ष्मी एवं शरीर को क्षण विध्वंसी समझ कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी को ग्रहण कर इनकी सम्यक् रूपेण आराधना-पालना करते हुए अनन्त, अव्याबाध, शाश्वत शिवसुख की प्राप्ति हेतु

हृद निश्चय के साथ प्रयत्नशील रहते हैं। जो प्राणी इस वास्तविकता को न समझ कर अथवा समझते हुए भी मोह के बन्धनों से जकड़े हुए रह कर प्रमाद एवं आलस्य के बशीभूत हो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के कार्य में अकर्मण्य रहते हैं, वे इस भयावह विकट भवाटवी में सदा सर्वदा असहायवस्था में भीषण एवं दारुण दुःखों को भोगते हुए भटकते रहते हैं।”

आर्य सुधर्मा स्वामी के इस हृदयस्पर्शी उपदेश को सुनकर जम्बुकुमार का हृदय वैराग्य से ओतप्रोत हो गया। अपने अन्तर में असीम आत्मतोष का अनुभव करते हुए वे आर्य सुधर्मा के समीप आये और सविधि वन्दन के साथ आर्य सुधर्मा के पावन चरणों में अपना शीश रखते हुए अति विनीत स्वर में बोले—“स्वामिन् ! मैंने आपसे सच्चे धर्म का स्वरूप सुना। मुझे वह बड़ा रुचिकर और आनन्दप्रद लगा। आपके द्वारा बताये गए धर्म के स्वरूप पर मेरे हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई है। मैं अब अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर आपके चरणों की शरण में दीक्षित हो आत्म कल्याण करना चाहता हूँ।”

आर्य सुधर्मा ने कहा—“सौम्य ! जिससे तुम्हें सुख हो, वही कार्य करो, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं।”

जम्बुकुमार ने आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथारूढ हो वे द्रुतगति से अपने भवन की ओर लौटे। नगर के द्वार पर अनेक रथों, यानों और वाहनों की भीड़ देख कर विलम्ब की आशंका से सारथी को दूमरे द्वार से नगर में प्रवेश करने का आदेश दिया। सारथी ने ‘जो आज्ञा’ कह कर शीघ्र ही रथ को मोड़कर नगर के दूसरे द्वार की ओर बढ़ा दिया।

### अति धोर प्रतिज्ञा

शत्रुओं का संहार करने के लिए उस द्वार पर मजबूत रथों से शिलाएँ, शतघ्नी, कालचक्र आदि संहारक शस्त्र लटकाये हुए थे। जम्बुकुमार ने उनको दूर से ही देख कर मन ही मन सोचा—“इन शस्त्रों में मेरे यदि कदाचिन् एक भी शस्त्र मेरे रथ पर गिर जाए तो बिना व्रत ग्रहण किए ही मेरी मृत्यु मुनिनिश्चित है और मैं दुर्गति का अधिकारी हो सकता हूँ।”

इस प्रकार का विचार आते ही जम्बुकुमार ने गुणशील चैत्य की ओर रथ लौटाने का सारथी को आदेश दिया। “यथाज्ञापयति देव !” कह कर सारथी ने भी रासों के संकेत में रथ को घुमाया और आशुगामी अश्व रथ को लिए गुणशील चैत्य की ओर सरपट चले। कुछ ही क्षणों में रथ उपवन के द्वार पर जा रुका। जम्बुकुमार रथ में उतर कर आर्य सुधर्मा की मेधा में पहुँचे और सविधि वन्दन के पश्चान् उन्होंने निवेदन किया—“भगवन् ! मैं आजीवन व्रतार्थ व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ।”

१ कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ८१-८८ (हस्तनिर्गित), अ-नवर भण्डार

जम्बुकुमार की प्रार्थना पर आर्य सुधर्मा ने भी उन्हें जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण करवाया। व्रत ग्रहण के पश्चात् जम्बुकुमार ने पुनः बड़ी श्रद्धा से आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथ में बैठकर अपने घर पहुँचे।

### माता-पिता के समक्ष प्रव्रजित होने का प्रस्ताव

अपने विशाल भवन के प्रांगण में पहुँचते ही जम्बुकुमार रथ से उतर कर सीधे अपने माता-पिता के पास पहुँचे। माता-पिता को प्रणाम कर जम्बुकुमार ने उनसे निवेदन किया — “अम्ब तात ! मैंने आज आर्य सुधर्मा स्वामी के पास जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सारभूत धर्मोपदेश सुना।”

माता धारिणी ने अपने प्राणप्रिय पुत्र जम्बू की बलैयाँ लेते हुए स्नेह-सिक्त स्वर में कहा — “वत्स ! तुम परम भाग्यशाली हो कि तुमने ऐसे महान् धर्म-धुरीण धर्मोपदेशक के दर्शन, वन्दन-नमन एवं उपदेशश्रवण से अपने नेत्रों, शिर, कर्णरन्ध्रों, अन्तःकरण एवं जीवन को सफल किया।”

जम्बुकुमार ने पुनः कहा — “अम्ब-तात ! सुधर्मा स्वामी के उपदेश को सुनकर मेरे अन्तर के पट खुल गये, मुझे मेरे कर्तव्य का और सत्य का बोध हो गया, मेरे अन्तर में उस अक्षय-अमर-परमपद को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु और रोग-शोक आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। संकट के समय शत्रु से नगर की रक्षार्थ नगर के द्वार पर विशाल शिलाखण्ड एवं गोले यन्त्रों में रखे हुए हैं। उन्हें देख कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यदि उनमें से एक भी शिला खण्ड अथवा गोला मेरे ऊपर गिर जाय तो अत्रती दशा में मेरी मृत्यु हो सकती है। अतः मैं लौट कर पुनः सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे मैंने आजोवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण किया। पूज्यो ! मैं सुधर्मा स्वामी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर उस परमपद की प्राप्ति हेतु प्रयास करने का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ। कृपा कर आप मुझे दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान कीजिये।”

अपने प्राणप्रिय एक मात्र पुत्र के मुख से आजोवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने एवं प्रव्रजित होने की बात सुनते ही ऋषभदत्त और धारिणी के हृदय पर वज्राघात सा लगा और वे कुछ क्षणों के लिए मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छा दूर होने पर वे दोनों अपनी आँखों से अचिरल अश्रुधाराएँ बहाते हुए बड़े दीन स्वर में बोले — “प्रिय पुत्र ! तुम ही हमारे मनोरथों को पूर्ण करने वाले हो। तुम्हारे बिना हमारा जीवन दूभर हो जायगा। तुमने आर्य सुधर्मा स्वामी से जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्मोपदेश सुना, यह तो बहुत अच्छा किया। परम्परा से हमारे अनेक पूर्वज भी जिन शासन के श्रद्धालु भक्त रहे हैं पर जहाँ तक हमने सुना है, उनमें से किसी ने प्रकृष्या ग्रहण नहीं की। हम दोनों भी बहुत समय से जिनोपदेश सुनते आ रहे हैं पर आज तक हमारे मन में कभी इस प्रकार का निश्चय उत्पन्न नहीं हुआ।

ऐसी दशा में तुमने आज एक ही दिन में ऐसी कौनसी विशिष्टता उपलब्ध करली है जिसके कारण तुम प्रव्रजित होने की बात कह रहे हो ?”

इस पर जम्बुकुमार ने कहा — “तात-भात ! संसार में कई लोग ऐसे होते हैं जो बहुत समय के पश्चात् कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर पाते हैं और कुछ लोग अति स्वल्प समय में विशिष्ट परिज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।” विशिष्ट परिज्ञा के उदाहरणस्वरूप जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को एक श्रेष्ठिपुत्र का निम्न-लिखित आख्यान सुनाया :-

“किसी समय एक प्रसिद्ध नगर में अप्सरा के समान सुन्दर गुणज्ञा नाम की एक गणिका रहती थी। प्रदीप पर पतंगों की तरह उसके रूप-लावण्य की छटा पर विमुग्ध हो देश-विदेश के अनेक रसिक राजपुत्र, अमात्यपुत्र और इम्यपुत्र उसके यहां आकर अपना सर्वस्व लुटाते रहते थे। उस गणिका के प्रेम में पागल से बने वे तरुण जब अपना समस्त वैभव व्यय कर अपने-अपने घरों की ओर लौटने के लिए समुद्यत होते तब वह उन्हें कहती—“आप तो मुझे छोड़कर जा रहे हैं लेकिन मैं कृतघ्ना नहीं हूँ। मेरे स्मृतिचिह्न के रूप में आप मेरे पास से कोई न कोई वस्तु अवश्य लेते जाइये।”

विदाई की बेला में गणिका की उपर्युक्त बात सुनकर वे लोग गणिका द्वारा उपभुक्त करकंकण, हार, भुजबन्ध आदि आभूषणों में से कोई एक आभूषण लेकर अपने घर की राह पकड़ते।

अपना सर्वस्व लुटा चुकने के पश्चात् एक बार एक इम्यपुत्र की वहां से विदाई का समय आया तो गणिका ने उसके समक्ष भी अपनी वही बात दोहराई। वह श्रेष्ठी-पुत्र एक निष्णात रत्नपरीक्षक था। उसने गणिका का प्रमूल्य पंचरत्नों से जटित स्वर्णनिर्मित पादपीठ देखा और कहा — “सुमुखि ! मैं तुम्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ। अतः तुम से कुछ भी लेना अपने सम्मान के अनुकूल नहीं समझता। फिर भी तुम्हारे सुकोमल हृदय को ठेस न पहुंचे इस दृष्टि से तुम्हारी इच्छा रखने हेतु चाहता हूँ कि सदा तुम्हारे पैरों नीचे रहने वाला यह पाद पीठ दे दिया जाय। बस, तुम्हारे स्मृति-चिह्न के रूप में मेरे लिए यही पर्याप्त है।”

गणिका ने बड़े आग्रहपूर्ण शब्दों में कहा — “आपने ऐसी स्वल्प मूल्य की वस्तु क्या मांगी ? कोई और बहुमूल्य वस्तु मांगिये।”

श्रेष्ठिपुत्र रत्नों का कुशल पारखी था। उसने पादपीठ को गणिका के घर की सारभूत वस्तु समझकर कहा — “मुझे तो सदा तुम्हारे पैरों के नीचे रहने वाली यही साधारण वस्तु प्रिय है।”

अन्ततोगत्वा गणिका ने अपना पादपीठ श्रेष्ठिपुत्र को दे दिया। श्रेष्ठि-पुत्र उस पादपीठ को लेकर अपने घर लौट आया। उसने पादपीठ के कीमती

रतनों से विपुल अर्थोपार्जन किया और वह दीर्घ काल तक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करता रहा ।

विशेष परिज्ञा वाले श्रेष्ठपुत्र के दृष्टांत की दार्ष्टान्तिक रूप में व्याख्या करते हुए जम्बुकुमार ने कहा — “जिस प्रकार उस श्रेष्ठपुत्र ने सारभूत वस्तु को ग्रहण कर लम्बे समय तक सुखोपभोग किया, उसी प्रकार मैं भी सुधर्मा स्वामी के उपदेश में से सारभूत अमूल्य वस्तु — प्रब्रज्या को ग्रहण कर अनन्त, शाश्वत सुख स्वरूप परमपद मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ । अतः आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर परमपद प्राप्त करने के मेरे लक्ष्य में सहायक बनिये ।”

जम्बुकुमार द्वारा सहज भाव से प्रकट किये गये इन उद्गारों एवं अन्त-स्तल से प्रस्तुत की गई तथ्यपूर्ण युक्तियों से श्रेष्ठिदम्पति को विश्वास हो गया कि जम्बू के अंतःकरण में प्रव्रजित हो, परमपद प्राप्त करने की उत्कट एवं अभिष्ट अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है, वह अब किसी भी दशा में गृहस्थाश्रम में रहने वाला नहीं है । फिर भी उन्होंने अत्यधिक स्नेह के कारण जम्बुकुमार को और कुछ दिन गृहवास में रहने का अनुरोध करते हुए आग्रहपूर्ण स्वर में कहा — “पुत्र ! इस बार तो तुम प्रव्रजित होने का विचार त्याग दो । हाँ, जब विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए सुधर्मा स्वामी पुनः यहाँ पधारें तब तुम उनके पास दीक्षित हो जाना ।”

जम्बुकुमार ने अपने लक्ष्य से किंचित्मात्र भी विचलित हुए बिना विविध युक्तियों से धर्म की महत्ता एवं दुर्लभता सिद्ध करने वाली अपनी बात को प्रारम्भ रखते हुए कहा — “तात-मात ! यदि मैं अभी प्रव्रजित हो जाऊँ तो निश्चित रूपेण अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सिद्ध हो सकूँगा । काल का क्या भरोसा ? अतः मेरे हित को ध्यान में रखते हुए आप मुझे अभी ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर दीजिए ।”

अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के भावी विछोह को टालने का एक और प्रयास करते हुए श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने पुनः बड़े दुलार भरे स्वर में कहा — “वत्स ? तुम्हारे पास सभी प्रकार के सुखोपभोग का अनन्यतम साधन — विपुल वैभव विद्यमान है । मानव-मन जिन सुखों के उपभोग के लिए सदा लालायित रहता है, जिन सुखोपभोगों को प्राप्त करने में अधिकांश मानव जीवन भर अर्हनिश अथक परिश्रम करते रहने के उपरान्त भी सफल नहीं होते, वे सब सुखोपभोग तुम्हें तुम्हारे प्रबल पुण्य के प्रताप से सहज ही प्राप्त हैं । अतः यथेप्सित विषय — सुखों एवं विविध भोगोपभोगों का जी भर आनन्द लूटने के पश्चात् तुम दीक्षित हो जाना ।”

इस पर जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को विषय-लोलुपता की भयावहता बताते हुए एक बन्दर का दृष्टांत सुनाया जो विषयासक्ति के कारण शिलाजीत से चिपक कर मर गया था । विषयासक्ति के कारण हुई बन्दर की मृत्यु के दृष्टांत को

दाष्टान्तिक रूप में घटित करते हुए कुमार ने कहा — “अम्बतात ! अभी तो मुझे बाले भाव के कारण केवल भोज्य पदार्थों की ही अभिलाषा रहती है । अभी रसनेन्द्रिय के आस्वाद-सुख से ही प्रतिबद्ध है जिससे कि मैं अभी अपने आपको बड़ी आसानी में उन्मुक्त कर सकता हूँ । किन्तु यदि मैं पांचों ही इन्द्रियों के विषय सुखों में आसक्त हो गया तो मैं भी उस विषयलोलुप बन्दर की तरह दयनीय एवं दुःखपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हो अन्ततोगत्वा अनन्त भव भ्रमण के भंवर में फंस कर अनन्त दुःखों का भागी बन जाऊँगा । अम्ब-तात ! मैं भवभ्रमण की विभीषिका से भयभ्रान्त हूँ । कृपा कर मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कीजिए । जिस प्रकार मकड़ी के जाल के तन्तु मच्छर आदि क्षुद्र कीटों को तो अपने पाश में आबद्ध कर लेते हैं किन्तु मत्त गजेन्द्र को नहीं बाँध सकते, ठीक उसी प्रकार ऐहिक तुच्छ विषय सुख केवल कापुरुषों को ही अपने वशवर्ती बना सकते हैं, प्रबुद्ध चेतस को नहीं ।”

जम्बू द्वारा कही गई उपरोक्त बातें सुन कर मां धारिणी इस भय से अधीर हो उठी कि अब तो उसका पुत्र निश्चित रूप से प्रव्रजित हो जायगा । उसने करुण रुदन करते हुए कहा — “पुत्र मैं चिरकाल से अपने हृदय में इस आशा को संजोये बैठी हूँ कि एक बार बरवेश में तुम्हारा मुख-कमल देखूँ । यदि तुम मेरे चिराभिलषित इस मनोरथ को पूर्ण कर दो तो मैं भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा ग्रहण कर लूँगी ।”

उत्तर में जम्बुकुमार ने कहा — “अम्ब ! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो मैं उसकी पूर्ति करने को तैयार हूँ । परन्तु इसके साथ एक शर्त है कि आपकी मनोरथपूर्ति के उस शुभदिन के पश्चात् फिर आप मुझे प्रव्रजित होने से नहीं रोकेंगी ।”

धारिणी ने संतोष की सांस ली, मानो डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया हो । मां के ममता भरे मन में इस विचार से आशा की किरण प्रकट हुई कि बड़े से बड़े योगियों को विचलित कर देने के लिए एक ही रमणी पर्याप्त होती है । परम रूप-लावण्य एवं सर्व गुणसम्पन्न उसकी आठ बधुएं अपने सम्मोहक हाव-भावों एवं नेत्र-त्राणों से उसके पुत्र को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने में अवश्य ही सफल हो जायेंगी ।

उसने हर्षमिश्रित स्वर में कहा — “वत्स ! जो तुम कह रहे हो वही होगा । हम लोगों ने पहले से ही तुम्हारे अनुरूप सर्व गुणसम्पन्न अतिशय रूपवती आठ श्रेष्ठि कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह करने हेतु वाग्दान स्वीकार कर रखा है । वे आठों ही श्रेष्ठि-परिवार जिन शासन में श्रद्धा-अनुराग रखने वाले एवं सम्पन्न हैं । मैं अभी उन आठों सार्धवाहों को सूचना भिजवाती हूँ ।”

१ विषयगणः कापुद्बन्धं करोति वशवर्तितं न सत्पुरुषम् ।

बध्नाति मशकमेव हि सतातन्तुनं भातङ्गम् ॥

[नीति शास्त्र]

श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने तत्काल विश्वस्त संदेशवाहकों के साथ उन आठों सार्थवाहों के पास संदेश भेजा । उसमें यह स्पष्ट कहला दिया कि विवाह हो जाने के पश्चात् जम्बुकुमार प्रव्रजित हो जायेंगे, अतः सभी बातों पर सुचारु रूप से विचार कर शीघ्र उत्तर दिया जाय ।

संदेश में जम्बुकुमार के दीक्षित होने की बात सुन कर उन सभी सार्थवाहों के हृदय पर गहरा आघात पहुंचा । वे अपनी पत्नियों के साथ इस विषय में विचार करने लगे कि समुपस्थित समस्या का हल किस प्रकार किया जाय ।

आठों श्रेष्ठि-कन्याओं ने भी जम्बुकुमार के दीक्षित होने और अपने माता-पिता के पास श्रेष्ठि ऋषभदत्त के यहां से प्राप्त संदेश की बात सुनी । समान निश्चय वाली उन सभी कन्याओं ने अपने माता-पिता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया — "आपने हमें उन्हें वाग्दान में दे दिया है । अब धर्म से वे ही हमारे स्वामी हैं । वे जिस पथ का अवलम्बन करेंगे, चाहे वह कितना ही दुर्गम अथवा कष्ट-काकीर्ण क्यों न हो, हमारे लिये भी वही प्रशस्त पथ होगा । आप और किसी बात का विचार नहीं करें ।"

कन्याओं के दृढ़ निश्चय को सुन कर उनके पिता सार्थवाहों ने ऋषभदत्त को विवाह की स्वीकृति का संदेश प्रेषित कर दिया । दोनों ओर विवाह की तैयारियां होने लगीं ।

### जम्बू का विवाह

विवाह की मांगलिक वेला में अमूल्य भूल एवं अलंकारों से सुसज्जित हाथी की पीठ पर देव विमान के समान सुन्दर अम्बावारी में वरवेषधारी जम्बुकुमार आरूढ़ हुए । अपने समय के धनकुबेर श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त के प्राणाधिक प्रिय इकलौते पुत्र जम्बुकुमार की वर-यात्रा को देखने राजगृह नगर के नर-नारियों के समूह के समूह सुन्दर परिधान पहने उमड़ पड़े । गवाक्षों से सुन्दरियां सुमन-वृष्टि करने लगीं । समस्त वातावरण को गुंजरित कर देने वाले विविध वाद्यवृन्दों की मधुर ध्वनि के साथ वर-यात्रा मुख्य बाजारों से आगे बढ़ी । पूर्णचन्द्र जिस प्रकार तारिकाओं के समीप जाते हैं उसी प्रकार वरवेष में सजे परम कान्तिमान जम्बुकुमार कन्याओं के घर पहुंचे । मंगल आरतियों के साथ वर को वधुओं के घर में प्रवेश करवाया गया और सम्पूर्ण वैवाहिक विधि-विधान के साथ जम्बू कुमार का आठों वधुओं के साथ पाणिग्रहण एक ही साथ करवाया गया । पाणिग्रहण सम्पन्न होने पर उन आठों सार्थवाहों ने अपने जामाता जम्बुकुमार को दहेज में भोगोपभोग योग्य वसनालंकारादि विपुल सामग्रियों के साथ प्रचुर मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कीं । तदनन्तर जम्बुकुमार अपनी आठों वधुओं के साथ भवन की ओर लौटे । कुटुम्बियों और नागरिकों ने वधुओं सहित वर का हादिक अभिनन्दन किया । नव वधुओं के साथ अपने गृह में प्रवेश करते हुए जम्बुकुमार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे अष्ट सिद्धियों को अपने साथ उस घर में लाये हों ।

अपने लाड़ले लाल को अनुपम रूप-लावण्यवती आठ पुत्रवधुओं के माथ देख-देख कर प्रफुल्लवदना मां धारिणी परम प्रसन्न मुद्रा में उनकी बलियां ले रही थी। श्रेष्ठी ऋषभदत्त और धारिणी ने अपने पुत्र के विवाहात्मव की खुशी के उपलक्ष में मुक्तहस्त हो स्वजनों, स्नेहियों, आश्रितों और अप्राहिजों को मनचाहा द्रव्य देकर संतुष्ट किया।

निशा के आगमन के साथ ही बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत जम्बुकुमार ने आठों नव वधुओं के साथ अपने भवन में सजाये गये सुन्दर शयन-कक्ष में प्रवेश किया। विशाल कक्ष के मध्य भाग में अत्यन्त सुन्दर कला-कृतियों के प्रतीक ६ सुखासन एक दूसरे के सन्निकट गोलाकार में रखे हुए थे। जम्बुकुमार ने उनमें से मध्यवर्ती सिंहासन पर बैठते हुए सहज मृदु एवं शान्त स्वर में अपनी पत्नियों को आसनों पर बैठने को कहा। प्रथम मिलन की वेला में मुख पर मधुर मुस्कान और अन्तःकरण में अग्रणीत अरमान लिये कुछ सकुचाती कुछ लजाती हुईं सी वे आठों अनुपम सुन्दरियां अपने प्राणवल्लभ के दोनों पार्श्व में बैठ गईं।

### पत्नियों की प्रतिबोध

वातावरण की मादकता, माधुरी और मोहकता चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। उत्कृष्ट कोटि के सुगंधित द्रव्यों की महक से कक्ष गमक रहा था। प्रथम मिलन की रात, रूप सुधा से ओत-प्रोत सरिताओं के समान इठलाती, बल खाती, कनकलतातुल्य आठ कामिनियां, अंगडाइयां लेता हुआ नवयौवन, एकान्त कक्ष, सहज सुलभ सभी भोग्य सामग्रियां किन्तु जम्बुकुमार के मन पर इन सब का किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं। वे तो जलगत कमल के समान बिल्कुल निर्लिप्त, वीत-दोष की तरह विरक्त एवं निर्विकार बने रहे। नववधुएं अपने जीवनभन जम्बुकुमार के अति कमनीय, परमकान्त मुखचन्द्र की ओर निनिमेष दृष्टि से अपनी सभी सुख बुध भूले इस प्रकार निहार रही थीं मानों वर्षों से चंद्रिका की प्यासी आठ चकोरियां पूर्ण चन्द्र की ओर अपलक देखती हुई अपनी आंखों की प्यास बुझा रही हों।

वातावरण की निस्तब्धता को भंग करते हुए जम्बुकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को सम्बोधित किया—“भव्यात्माओं! आपको विदित ही है कि मैं कल प्रातःकाल प्रव्रजित होकर मुक्तिपथ का पथिक होने जा रहा हूँ। संभवतः आप आश्चर्य कर रही होंगी कि मैं विषयोपभोग योग्य इस तरुण वय में अपार वैभव का परित्याग कर भोगों से विमुख हो त्याग मार्ग की ओर उन्मुख क्यों हो रहा हूँ। मेरे द्वारा त्याग मार्ग अपनाने के औचित्य को आप शीघ्र ही भलीभांति समझ सकें इसलिए मैं सर्व प्रथम एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वह यह है कि ये सामारिक विषय भोग मानव को उसी समय तक सुखप्रद प्रतीत होते हैं जब तक कि उसके हृदय में तत्त्वबोध न होने के कारण मूढ़ता व्याप्त है। जीवाजीवादि तत्त्वों का बोध होते ही मानव के हृदय में व्याप्त विमूढ़ता विनष्ट हो जाती है और वह तत्त्वविद् व्यक्ति प्रबुद्धचेता बन जाता है। तत्त्ववेत्ता बन



जाने के पश्चात् उस व्यक्ति के मन में विषय, सुख एवं मूढ़ता के लिए कोई स्थान अवशिष्ट नहीं रह जाता ।<sup>१</sup>

मैंने सुधर्मा स्वामी की कृपा से तत्त्वबोध प्राप्त कर लिया है अतः अब मैं विषय भोग के सुख को और समस्त सांसारिक वैभव को विषयवत् हानिप्रद और हेय समझता हूँ । वस्तुतः ये सब विषय-भोग क्षणभंगुर हैं । इन विषय भोगों से प्राप्त होने वाले सुख भी क्षणिक होने के साथ-साथ अनन्त दुखानुबन्धी होने के कारण अनन्त काल तक भवभ्रमण कराने वाले और भीषण दुखदायी हैं । इस संसार रूपी विषयवृक्ष के जन्म, जरा, रोग, शोक, भीषण यातनाएं और मृत्यु ये दुःखप्रद फल हैं । विषय भोगों में फंसे रहने के कारण हम लोग अनन्तकाल से भवभ्रमण करते हुए दुःसह दारुण दुःख उठाते आ रहे हैं ।”

### प्रभव का ५०० चोरों के साथ गृह प्रवेश

जिस समय जम्बूकुमार अपनी आठों पत्नियों को इस प्रकार शिक्षा दे रहे थे, उसी समय प्रभव नामक एक कुल्यात चोर अपने ५०० साथी चोरों के साथ ऋषभदत्त के घर में चोरी करने के लिये आ पहुंचा । प्रभव ने अश्वस्वापिनी विद्या के प्रयोग से घर के सभी लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला दिया और तालोदघाटिनी विद्या के प्रयोग से सभी कक्षों के ताले खोल डाले । प्रभव के साथ आये हुए चोरों ने जब सेठ ऋषभदत्त और उनके यहां आये हुए श्रीमन्त अतिथियों के बहुमूल्य रत्न एवं आभूषण आदि उतार कर ले जाने की तैयारी की तो शांत गम्भीर स्वर में चोरों को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार बोले — “अय तस्करो! तुम लोग हमारे यहां अतिथि के रूप में आये हुए इन लोगों की सम्पत्ति को कैसे चुरा कर ले जा रहे हो ?”

जम्बूकुमार के इतना कहते ही ५०० चोर जहां, जिस रूप में थे, उसी रूप में चित्रलिखित से स्तम्भित हो गये । यह देख कर प्रभव को बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसकी अमोघ अश्वस्वापिनी विद्या का जम्बूकुमार पर किस कारण से प्रभाव नहीं हुआ । उसने जम्बूकुमार के पास जा कर कहा — “श्रेष्ठिपुत्र ! मैं जयपुर नरेश विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ । आप मुझे स्तम्भिनी और मोचिनी विद्याएं<sup>२</sup> सिखा कर उनके बदले में मुझ से अश्वस्वापिनी और तालोदघाटिनी विद्याएं प्राप्त कर लीजिये ।”

### प्रभव को प्रतिबोध

जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव ! मैं तो प्रातःकाल होते ही सब सम्पत्ति और परिवार का परित्याग कर प्रव्रजित होने वाला हूँ । मुझे इन पापकरी

<sup>१</sup> ददति तावदिमे विषयाः सुखं, स्फुरति यावदियं हृदि मूढता ।

मनसि तत्त्वविदां तु विचारके, न्व विषयाः न्व सुखं न्व च मूढता ॥

<sup>२</sup> 'दिसु मम' एयाओ विज्जाओ थंभ - मोस्सणीयाओ । ॥३७॥

[अंशुचरिथं (गुणपाल), पृ० ८२]

विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः मैं कोई विद्या नहीं जानता। मैं तो पंच-परमैष्टिमंत्र को ही सबसे बड़ा मंत्र जानता हूँ।”

जम्बूकुमार की निस्पृहता और प्रव्रजित होने की बात सुन कर प्रभव को बड़ा विस्मय हुआ। उसने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा—“सौम्य ! कुबेरोपम संपत्ति और सुरबालाओं के समान इन सुन्दर नववधुओं को छोड़ कर अभी आप प्रव्रजित न होइये। आप इन रमणी-रत्नों के साथ इस विपुल वैभव का समीचीनतया सुखोपभोग करने के पश्चात् वृद्धावस्था में प्रव्रजित हो जाना।”

जम्बूकुमार ने पूर्ण कुशलता के साथ युक्तिपूर्वक प्रभव को प्रतिबोध दिया। जम्बूकुमार के उपदेश से प्रबुद्ध हो प्रभव तथा उसके ५०० साथियों ने भी जम्बूकुमार के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की और जम्बूकुमार की सहमति प्राप्त होने पर अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करने हेतु वह अपने साथियों सहित श्रेष्ठि ऋषभदत्त के घर से चला गया।

### पत्नियों के साथ चर्चा

जम्बूकुमार की समुद्रश्री आदि आठ नवविवाहिता पत्नियों ने विरक्त जम्बूकुमार को संयम मार्ग से रोकने और सहज प्राप्त विपुल सुख-सामग्री का सुखपूर्वक उपभोग करने की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना करते हुए क्रमशः आठ दृष्टान्त सुनाये। उनके उत्तर में जम्बूकुमार ने भी अपनी आठों पत्नियों द्वारा प्रस्तुत किये गये आठ मार्मिक दृष्टान्तों के उत्तर में आठ दृष्टान्त सुनाये। जम्बूकुमार और उनकी पत्नियों के बीच हुआ संवाद बड़ा प्रेरणादायक, बोधप्रद, रोचक और अनादि काल से अज्ञानावरणों के कारण पूर्णतः निमीलित अन्तर्बुद्धियों को सहसा उन्मीलित कर देने वाला है। उन दृष्टान्तों में से एक पद्मश्री द्वारा तथा उसके उत्तर में जम्बूकुमार द्वारा प्रस्तुत किया गया, ये दो दृष्टान्त यहां अविफल रूप से दिये जा रहे हैं :-

जम्बूकुमार की प्रथम पत्नी समुद्रश्री के पश्चात् दूसरी पत्नी पद्मश्री ने अपने प्राणेश्वर को सम्बोधित करते हुए अति विनम्र एवं मधुर स्वर में कहा—“प्राणनाथ ! पूर्वजन्म के पुण्यप्रताप से आपको विपुल वैभव और छाया के समान सदा आपकी अनुगामिनी ८ पत्नियां मिली हैं, इस सबसे और अधिक सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की आशा में इस सब का परित्याग कर आपको भी कहीं उम वानर की तरह घोर पश्चात्ताप और दारुण दुःख सहन नहीं करता पड़े जो मानवस्वरूप पा कर भी देवत्व की प्राप्ति के प्रयास में पुनः वानर बन गया ?”

जम्बूकुमार ने सस्मित स्वर में पूछा—“मुग्धे ! वानर को किस प्रकार का पश्चात्ताप करना पड़ा ?” इस पर पद्मश्री ने निम्नलिखित दृष्टान्त सुनाया :-

१ विस्तृत विवरण के लिये आचार्य प्रभव सम्बन्धी इतिवृत्त में देखिये।

### वानर का कथानक

किसी सर्वकामप्रदायी द्रह के तट पर स्थित एक विशाल वृक्ष पर वानर और वानरी का युगल (एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूद-फांद करते हुए) क्रीड़ा कर रहा था। वामर किसी तरह फाल चूक गया और उस द्रह में जा गिरा। उस दिव्य द्रह के जल के प्रभाव से वानर तत्काल अति सुन्दर युवा मनुष्य बन गया। इस अद्भुत रूप-परिवर्तन को देख कर वानरी ने भी द्रह में छलांग लगाई और वह भी तत्काल अति सुन्दर रूप-लावण्यवती मानवकन्या बन गई। वे दोनों एक दूसरे के अति कमनीय मानव स्वरूप को देख कर अतीव प्रमुदित हुए।

युवा पुरुष के रूप में परिवर्तित हुए वानर ने अपनी पत्नी से कहा - "सुमुखि ! हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि इस द्रह में कूदने के कारण हमें मनोहारी मानवतनु मिल गये। अब हम इस वृक्ष पर चढ़ कर एक बार पुनः इस द्रह में कूदें। अब की बार हम निश्चित रूप से देव तथा देवी बन जायेंगे और सहस्रों वर्षों तक दिव्य सुखों का उपभोग करेंगे।"

मानवी देहधारिणी वानरी ने कहा - "प्रिय ! मानवदेह हमें मिल गई है। इसी में संतोष करके हमें मानवोचित सुखों का उपभोग करना चाहिये। संशयास्पद देवत्व की प्राप्ति के प्रयास में कहीं हम अपना यह मानवतन भी न खो बैठें।"

अपनी प्रिया द्वारा बहुत कुछ समझाये जाने के उपरान्त भी मानवतनधारी वह वानर वृक्ष पर चढ़ कर द्रह में कूद गया। यह देख कर उसे बड़ा दुःख हुआ कि वह पुनः वानर बन गया है। द्रह से निकल कर वानर अनेक बार उस वृक्ष पर चढ़ा और द्रह में कूदा पर सब निष्फल, वह तो वानर ही बना रहा। अपनी असंतोषी वृत्ति पर पश्चात्ताप करता हुआ वह रोने लगा।

दूसरी ओर वनक्रीडार्थ वहां आये हुए एक महाराजा ने जब उस अनुपम सुन्दरी को देखा तो वह उसे अपने राजमहलों में ले गया और उसने उसे अपनी पट्टमहिषी बना दिया। वह एक बड़े नरपति की अग्रमहिषी के रूप में राजकीय विविध सुखों का उपभोग करने लगी।

उधर उस वानर को एक मदारी पकड़ कर ले गया और उसे अनेक प्रकार की वानर-कलाएं सिखा कर ग्रामों व नगरों में उसकी कलाओं का प्रदर्शन करने लगा। एक दिन वह मदारी उस वानर को ले कर उसी राजा के यहां पहुंचा जहां पर उस वानर की महिला रूपधारिणी वानरी पट्टमहिषी के रूप में अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग कर रही थी। मदारी ने राजा, रानी और रनिवास की रमणियों के समक्ष वानर के खेल दिखाने का उपक्रम किया पर वह वानर राजा के अर्द्ध सिंहासन पर बैठी हुई अपनी पूर्वपत्नी को देख कर रोने लगा। मदारी द्वारा बहुतेरा ताड़न-तर्जन किये जाने पर भी वानर ने किसी प्रकार का नाट्य नहीं दिखाया, वह तो राजमहिषी की ओर देख-देख कर रोता ही रहा।

वानर को रोते हुए देख कर राजमहिषी ने कहा — “वानर ! अब तो तुम अपने स्वामी की आज्ञानुसार अपनी वानरी विद्या का प्रदर्शन करते रहो, इसी में तुम्हारी भलाई है। अब उस वृक्ष पर से द्रह में दो बार कूदने की घटना को बिल्कुल भूल जाओ। अब पश्चात्ताप से कोई लाभ नहीं होने वाला है।”

पद्मश्री ने कटाक्षनिक्षेपपूर्वक सस्मित स्वर में जम्बू कुमार की ओर देखते हुए कहा — “कान्त ? मुझे भय है कि अनिश्चित अनागत के अद्भुत सुखों की अवाप्ति की आशा में आप भी कहीं वर्तमान में प्राप्त इन सुखद भोगोपभोगों का परित्याग कर उस वानर की तरह पश्चात्ताप से संतप्त न हो जायें ?”

पद्मश्री की बात सुनकर मुस्कुराते हुए जम्बू कुमार ने कहा — ‘पद्मश्री ! मुझे अंगारकारक की तरह विषयों की किञ्चित्मात्र भी तृष्णा अथवा चाह नहीं है। सुनो :—

### अंगारकारक का दृष्टांत

“एक अंगारकारक (कोयले बनाने वाला) अपने साथ पर्याप्त मात्रा में पीने का पानी लेकर दूरस्थ किसी जंगल में कोयले बनाने के उद्देश्य से पहुंचा। वहां उसने लकड़ियों को जलाना प्रारम्भ किया। ग्रीष्म ऋतु की तेज धूप और जलती हुई लकड़ियों की ज्वाला के कारण उसे तीव्र प्यास और असह्य जलन का अनुभव होने लगा। उसने बार-बार पानी पीना प्रारम्भ किया पर इससे भी उसकी प्यास और शरीर की तपन शान्त नहीं हुई। प्यास और तपन से पीड़ित हो वह बार-बार अपने शरीर पर और मुंह में पानी डालने लगा। इस प्रकार उसके पास जितना जल था, वह सब समाप्त हो गया। अब उसकी प्यास और शरीर की जलन तीव्र रूप धारण करने लगी। वह जल की तलाश में निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर चलने के अनन्तर असह्य तृष्णा और ताप की पीड़ा से वह एक वृक्ष के नीचे पहुंचते-पहुंचते मूर्छित हो वृक्ष की छाया में गिर पड़ा। वृक्ष की शीतल छाया से उसे कुछ शान्ति का अनुभव हुआ और थोड़ी देर के लिए उसे निद्रा ने आ घेरा।

उस अंगारकारक ने स्वप्नावस्था में संसार के समस्त वापी, कूप, तड़ाग आदि जलाशयों का मन्त्रदिग्ध आग्नेयास्त्र की तरह समस्त जल पी डाला पर उसकी तृष्णा एवं तपन किञ्चित्मात्र भी कम नहीं हुई। उसकी निद्रा भंग हुई और वह वहां से चल कर एक वापी के पास पहुंचा। उस वावड़ी में उतर कर उसने अंजलि से पानी पीना चाहा पर वहां पानी के स्थान पर केवल कीचड़ पाया।

तृष्णा और तपन से व्याकुल वह अंगारकारक भुक्त कर अपनी जिह्वा से उस वापी के कीचड़ को चाटने लगा पर इससे न उसकी प्यास ही बुझी और न तपन ही मिटी।”

तदनन्तर पद्मश्री को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार ने कहा — ‘वाले! हम सब लोगों के जीव अंगारकारक की तरह हैं और संसार के समस्त विषयमुख

एवं भोगोपभोग वापी, कूप, तड़ागादि के जल के समान हैं। हमारा जीव चक्रवर्ती देव, देवेन्द्रों के दिव्य भोगों से भी तृप्त नहीं हुआ तो अब उसे वापी के कीचड़ के समाने तुच्छ मानवी भोगों से तृप्त करने की इच्छा करना मूर्खता के प्रतिरिक्त और कुछ नहीं।”

अपनी नव विवाहिता पत्नियों द्वारा भोग मार्ग की ओर आकर्षित करने हेतु प्रस्तुत किये गए मार्मिक दृष्टांतों एवं तर्कों के उत्तर में जम्बूकुमार ने हृदयग्राही दृष्टांत सुनाते हुए अकाट्य एवं प्रबल युक्तियों से संसार की निस्सारता, भोगों की क्षणभंगुरता और भवाटवी की भयावहता का ऐसा मार्मिक चित्रण किया कि जम्बूकुमार को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित करने का प्रयास छोड़ कर समुद्रश्री आदि आठों कुसुम-क्रीमलागिनियां कुलिश-ऋठोर योग-मार्ग पर चलने के लिये उद्यत हो गईं। जम्बूकुमार के अन्तर्भन के सच्चे उद्गारों को सुनकर उन आठों ही रमणियों की मोहनिद्रा भंग हो गई। उन आठों रमणों-रत्नों ने श्रद्धापूर्वक मस्तक झुकाते हुए जम्बूकुमार से निवेदन किया — “आर्य ! आपकी कृपा से हमें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है। हमारे मन में अब सांसारिक भोगोपभोगों एवं सुखों के प्रति किञ्चित्मात्र भी आकर्षण नहीं रह गया है। हमें यह संसार वस्तुतः भीषण ज्वालामालाओं से आकुल एक अति विशाल भट्टी के समान प्रतीत हो रहा है। हम आपके पदचिह्नों का अनुसरण करती हुईं अपने समस्त कर्म-समूहों को ध्वस्त कर शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए लालायित हैं। हम अच्छी तरह समझ चुकी हैं कि आप जिस पथ के पथिक बनने जा रहे हैं, वही पथ वस्तुतः हमारे लिए श्रेयस्कर है। अज्ञानवश हमने आपको भोग-मार्ग की ओर आकृष्ट करने के जो प्रयास किये हैं उनके लिए हम आपसे क्षमा-प्रार्थना करती हैं। हम सब आपके साथ ही प्रव्रजित होना चाहती हैं अतः आप हमें अपने साथ ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर पाणिग्रहण की लौकिकी क्रिया को सही मायनों में सार्थक कीजिए।”

जम्बूकुमार की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् समुद्रश्री आदि आठों रमणियों ने अपने-अपने माता-पिता के पास अपने निश्चय की सूचना करवा दी कि प्रातः काल होने पर वे भी अपने पति के साथ प्रव्रजित हो जायेंगी।

अपनी पुत्रियों के प्रव्रजित होने की बात सुनते ही आठों श्रेष्ठि-दम्पति तत्काल जम्बूकुमार के भवन पर आये। उस समय तीन प्रहर रात्रि बीत चुकी थी, केवल अन्तिम प्रहर अवशिष्ट था।

### परिवार को प्रतिबोध

प्रभवादि दरयुमण्डल और अपनी आठों पत्नियों को प्रतिबोध देने के पश्चात् जम्बूकुमार प्रतिदिन के नियमानुसार अपने माता-पिता के पास गये। उन्होंने अपने माता-पिता और उनके पास बैठे सास-श्वसुरों को विनय पूर्वक प्रणाम किया। आशीर्वाचन के पश्चात् श्रेष्ठि ऋषभदत्त ने स्नेहसिक्त स्वर में जम्बूकुमार

से पूछा — “चिरंजीव ! अपने आत्मीयों के भविष्य और अन्य समस्त परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक चिंतन तथा नववधुओं के साथ विचार विनिमय के पश्चात् तुम अवश्य ही किसी न किसी निश्चय पर पहुंचें होंगे ?”

जम्बूकुमार ने कहा — “हां, पितृदेव ! आपकी आठों कुलवधुओं और मैंने आत्मोद्धार हेतु यही दृढ़ निश्चय किया है कि आपकी अनुमति पाकर हम प्रातःकाल श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेंगे । हमें अब केवल आपकी अनुमति की ही आवश्यकता है । कृपा कर अब बिना विलंब के आप हमें दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर दीजिये ।”

तदनन्तर मोहग्रस्त श्रेष्ठि-दम्पतियों को मोहनिद्रा से जागृत करते हुए जम्बूकुमार ने शान्त, मधुर पर दृढ़ स्वर में सम्बोधित किया — ‘मातृपितृदेवो ! जिस प्रकार लवणसमुद्र अपार क्षारयुक्त जलराशियों से पूर्ण रूपेण भरा हुआ है ठीक उसी प्रकार भवसागर शारीरिक एवं मानसिक असंख्य दुःखों से भरा हुआ है । वस्तुतः इस संसार में सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है । दुःख में सुख के विभ्रम, एवं दुःख में सुख की मिथ्या कल्पना द्वारा दुःख मूलक सुखाभास को ही विषयासक्त प्राणियों ने सुख समझ रखा है । शहद से सिक्त तलवार की तीक्ष्ण धार को जिह्वा से चाटने पर जिस प्रकार शहद के क्षणिक एवं तुच्छ सुख के साथ जिह्वा कटने की असह्य व्यथा संयुक्त है — जुड़ी हुई है, शतप्रतिशत वही स्थिति इन सांसारिक विषयोपभोगजन्य सुखों पर घटित होती है । इसके अतिरिक्त गर्भवास के घोर दुःख की कल्पना तक नहीं की जा सकती । वह नारकीय दुःखों से भी अत्यधिक दुःखद, और भट्टी की तीव्रतम ज्वालाओं से भी अधिक दाहक है । इस संसार में एकान्ततः दुःख ही दुःख है, सुख नाम मात्र को भी नहीं है । यदि आपके अन्तर्मन में वास्तविक सुख प्राप्ति की अभिलाषा है तो आप सब प्रातःकाल होते ही मेरे साथ मुक्तिपथ के पथिक बन जाइये ।”

कितना सजीव एवं सच्चा चित्रण था संसार का ? जम्बूकुमार के इन नितान्त विरक्तिपूर्ण वचनों में अद्भुत चमत्कार था । श्रेष्ठिदम्पतियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो इन वाक्यों ने उनकी अन्तश्चेतना को जागृत कर उनके अन्तर्बुद्धियों को उन्मीलित कर दिया । उन्हें अपने अन्तस्तल में अद्भुत आलोक का अनुभव हुआ । संसार के वास्तविक स्वरूप को समझते ही अठारहों भव्य जीवों ने दीक्षित होने का निश्चय कर लिया ।

सहमा सबके मुख से एक ही स्वर प्रतिध्वनित हुआ — ‘वत्स ! तुमने हमारी मोहनिद्रा को भगा दिया है । अब हम तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करेंगे ।”

जम्बूकुमार द्वारा माता-पिता आदि ५२७ व्यक्तियों के साथ दीक्षा .

प्रातःकाल होते ही सारे राजगृह नगर में यह समाचार विद्युत्वेग की तरह घर-घर पहुंच गया कि जम्बूकुमार कुबेरोपम अपार वैभव का परित्याग कर

अपने माता-पिता, आठों नवविवाहिता पत्नियों, आठों पत्नियों के माता-पिता तथा कुख्यात चौरराज प्रभव एवं उसके ५०० साथियों के साथ आज ही दीक्षित हो रहे हैं। दीक्षा समारोह के अपूर्व ठाट को देखकर अपने नेत्रों को पवित्र करने की अभिलाषा लिये सभी नर-नारी शीघ्रतापूर्वक अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त एवं सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होने लगे। अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था बड़ी शीघ्रता के साथ सम्पन्न कर ली गई। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त एवं माता धारिणी ने अपने पुत्र को स्वयं सुगन्धित उबटनों के विलेपन के पश्चात् स्नान कराया और अंगराग एवं बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से विभूषित किया। उसी समय जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाधृत देव भी जम्बूकुमार की सन्निधि में आये।

अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों की मधुर ध्वनि के बीच जम्बूकुमार अपने माता-पिता के साथ एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका में आरूढ़ हुए।<sup>१</sup> जयघोषों और वाद्यवृन्दों की कर्णप्रिय धुनों के साथ जम्बूकुमार की अभिनिष्क्रमण यात्रा प्रारम्भ हुई। कल ही जिनकी वरयात्रा का मनोरम दृश्य देखा गया था, उन्हीं जम्बूकुमार की अभिनिष्क्रमण यात्रा को देखने के लिए राजगृह के विशाल राजपथों पर चारों ओर जनसमुद्र उमड़ पड़ा। राजगृह के गगनचुम्बी भवनों की अट्टालिकाओं एवं सुन्दर गवाक्षों में अति मनोज्ञ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कोकिलकण्ठिनी कुलवधुओं द्वारा गाये जा रहे मंगल गीतों की सुमनोहर स्वरलहरियों से गगनमण्डल गुंजरित हो रहा था। शिबिकारूढ़ जम्बूकुमार सावन-भादों की घनघटा से-जलवर्षा की तरह अमूल्य मणि-कांचन-मिश्रित वसुधाराओं की अनवरत वर्षा कर रहे थे। उन्हींने लोक कल्याणकारी कार्यों के लिये अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग दान कर डाला<sup>२</sup> और सम्पूर्ण चल-अचल सम्पदा का सर्प कंचुकवत् परित्याग कर दिया। अगणित कंठों द्वारा उद्भूत 'धन्य', 'धन्य' की ध्वनि से राजगृह नगर का समस्त वायु-मण्डल प्रति-ध्वनित हो रहा था। नगर के सभी नर-नारी विस्मित एवं विमृग्ध थे, नव-वय में जम्बूकुमार द्वारा किये गये अपूर्वत्याग पर। उनके द्वारा करोड़ों स्वर्गमुद्राओं और आठ नारी-रत्नों के त्याग पर प्रत्येक नागरिक आश्चर्य प्रकट कर रहा था। आबाजवृद्ध द्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जम्बूकुमार पर की गई गुलाल एवं सुगन्धित द्रव्यों की निरंतर वृष्टि के कारण नगर के मुख्य मार्ग ऐसे मनोहर प्रतीत हो रहे थे मानों उन पर लाल-लाल मखमली कालीन बिछा दिये गये हों।

<sup>१</sup> जम्बूरनाधृतेनाथ, देवेन कृतसन्निधि : ।

उद्वाह्यां नृसहस्रेण, शिबिकामारुरोह च ॥ २८३ ॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

<sup>२</sup> दानं विश्वजनीनं स, ददान : कल्पवृक्षवत् ।.....॥२८४॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

मगधेश्वर कूणिक अपनी चतुरंगिणी सेना और समस्त राज्यद्वि के साथ जम्बूकुमार के दर्शनार्थ अभिनिष्क्रमणोत्सव में संमिलित हुए ।<sup>१</sup> मगधनरेश कूणिक और जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाघृत देव से परिवृत्त जम्बूकुमार वर्षाकालीन घनघोर घटा की तरह द्रव्य की वर्षा कर रहे थे ।<sup>२</sup> कूणिक ने जम्बूकुमार से कहा — “धीरवर ! मेरे योग्य कोई कार्य आप उचित समझते हों, उसे करने की मुझे भी आज्ञा दीजिये ।” कूणिक का इतना कहना था कि प्रभव, कुमार अपने पांच सौ साथियों के साथ वहां आ पहुंचा<sup>३</sup> और उसने गुरुचरणों में मस्तक झुका कर नमस्कार किया । जम्बूकुमार ने महाराज कूणिक से कहा — “राजन् ! इस प्रभव ने जो भी अपराध किये हों, उन्हें आप क्षमा कर दीजिये । विगत रात्रि में यह मेरे घर में चोरी करने हेतु आया था । उस समय मैंने इसकी समस्त ऐहिक एषणाओं को शान्त कर दिया । अब यह मेरे साथ संयम ग्रहण करेगा ।” इस पर कूणिक ने कहा — “इन महानुभाव ने आज तक जितने भी अपराध किये हैं, उनके लिये मैं इन्हें क्षमा करता हूँ । ये निर्विघ्न रूप से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करें ।”<sup>४</sup>

जम्बूकुमार का अभिनिष्क्रमण जनीष (जुलूस) राजगृह नगर के मुख्य मार्गों से क्रमशः आगे बढ़ता हुआ नगर के बाहर उस आराम के पास पहुंचा जहां सुधर्मा स्वामी अपने श्रमण संघ के साथ विराजमान थे । शिबिका से उतर कर जम्बूकुमार ५२७ भुमुक्षुओं के साथ सुधर्मा स्वामी के सम्मुख पहुंचे और उनके चरणों पर अपना मस्तक रख कर प्रार्थना करने लगे — “प्रभो ! आप मेरे परिजनों सहित मेरा उद्धार कीजिए ।”

दीक्षाार्थियों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओं के सम्पादन के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार, उनके माता-पिता, भाठों पत्नियों, पत्नियों के माता-पिता, प्रभव तथा प्रभव के ५०० साथियों

<sup>१</sup> गुरुसेत्र मिलियसहरिसम्पुरवसंपायदलिय भूवीडो ।

जंबुस्त दंसरणथं, समागमो कोणिय नरिदो ॥५०३॥

[जंबुचरियं, गुणपाल रचितं, १६ उ०]

<sup>२</sup> घणमो व व पूरमाणो, दविलमहासंचरण पणइयणं ।

कोणिय नरनाहेणं, सहिमो य अरणदिय मुरेण ॥५१५॥

[जंबुचरियं (गुणपाल) १६ उ०]

<sup>३</sup> पभवो पभूयपहाणपुरिसपरिवारवुडो पत्तो ।

नरनाहाणुभामो, सिबियाए सहेव संचलिमो ॥८४३॥

[जम्बूचरियं — रत्नप्रभमूरि विरचितं]

<sup>४</sup> नरनाहेणं भणियं कुरामु अविग्घेण एस सामणं ।

समियं सव्वं पि मए, एयस्स महाणुभावस्स ॥५२६॥

[जंबुचरियं, उ० १६]



को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की।<sup>१</sup> इस प्रकार ६६ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं एवं ८ रमणी-रत्नों को त्याग कर जम्बूकुमार ५२७ मुमुक्षुओं के साथ सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुए।<sup>२</sup> दीक्षा देने के पश्चात् सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार की माता, उनकी आठ पत्नियों और आठों पत्नियों की माताओं को सुवता नामक आर्या की आज्ञानुवर्तिनी बना दिया।<sup>३</sup> अपने साथियों सहित प्रभवमुनि सुधर्मा द्वारा जम्बू मुनि को शिष्य रूप से सौंपे गये।

अपार धन-सम्पदा, सुरम्य विशाल भवन, कोटि-कोटि कांचनमुद्राओं और सुररमणियों के समान अतीव सुन्दर आठ रमणी-रत्नों का परित्याग कर जम्बू कुमार अति कठोर त्यागपथ के पथिक बने, इस प्रकार के घटनाचक्र में सहज ही पाठक को एक चमत्कार सा प्रतीत हो सकता है, कौतुहल भी हो सकता है। पर जिस प्रकार जीवन और जीवन के मूल्य कालक्रम से बदलते रहते हैं, उसी प्रकार हमें भी प्रत्येक युग की, प्रत्येक काल की परिस्थितियों एवं तज्जनित जीवन के मूल्यों के प्रकाश में ही उस समय के जनजीवन का मूल्यांकन करना चाहिए। सर्वज्ञ प्रभु महावीर के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशों से जनमानस में एक नवीन चेतना जागृत हुई। इस चेतना के जागृत होने पर जनमानस जिज्ञासु और चिन्तनशील बना। भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से जीवन की वास्तविकता और साधकता का बोध होते ही जन-जीवन में सच्ची संस्कृति साकार हो उठी और जीवन के उच्चतम आदर्शों, उच्चतम संस्कारों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रबल बल से प्रबुद्ध व्यक्तियों के मानस में धर करने लगी। ऐसी स्थिति में वास्तविक सत्य का बोध हो जाने के पश्चात् उसको आत्मसात् कर लेना और उसे अपने जीवन में मूर्त स्वरूप देना असम्भव अथवा आश्चर्यजनक नहीं। आज के अर्थमूलक युग में आज के भौतिक भापदण्ड से तत्कालीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर आघारित परिस्थितियों का मूल्यांकन करना वस्तुतः उचित नहीं होगा।

दीक्षानन्तर नवदीक्षित श्रमण श्रमणियों को सम्बोधित करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने फरमाया - 'आयुष्मन् श्रमण-श्रमणियो ! आप सबने विषय, कषायादि के बन्धनों को काटकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो जो वीरता का परिचय

<sup>१</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने जम्बूकुमार की दीक्षा के पश्चात् दूसरे दिन अथवा कुछ दिनों पश्चात् प्रभव द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख किया है। यथा :-

पितृनापृच्छ्य आन्येषु : प्रभवोऽपि समागतः । जम्बूकुमारसनुयान्परिव्रज्याभुपाबदे । २६०

[परिमिष्ट ५० ३]

<sup>२</sup> नवाणुई कंचणकोटिघाट, जेगुजिकपा मठ य बालिघाटो ।

सो जंबू सामी मठमो मुलीणं, धपच्छिमो नंदउ केवळीणं ॥

[कल्याणतर्काध्यानि, पत्र ४१-४८ (हस्तलिखित - संवत् १५६६) अक्षर मण्डार]

<sup>३</sup> सम्भव है कि श्रमणी संघ की मुख्या चंदनबाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी का नाम सुवता हो। प्रायः साध्वी का नाक स्मरण न होने की वजह से अपनी रचनाओं में विभिन्न रचनाकारों द्वारा सुवता नाम लिख दिया गया है। [सम्पादक]

दिया है। वह प्रशंसनीय है। बहुत से लोग सिंह के समान व्रत लेकर शृगालवत् कायरतापूर्वक संयम का पालन करते हैं। कुछ व्यक्ति शृगाल की तरह डरते हुए संयम ग्रहण करते हैं और उसका पालन भी शृगाल की ही तरह कायरतापूर्वक करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शृगाल के समान डरते हुए संयम ग्रहण करते हैं किन्तु संयम ग्रहण करने के पश्चात् सिंह के समान वीरता से संयम का पालन करते हैं। कुछ ऐसे भी पराक्रमी पुरुष होते हैं जो सिंह के समान पूरे साहस एवं उत्साह के साथ ही संयम ग्रहण करते और उसी प्रकार पूर्ण साहस और पराक्रम के साथ जीवन भर संयम का पालन करते हैं। आप लोगों को चाहिये कि जिस प्रकार सिंह के समान साहसपूर्वक संयम ग्रहण किया है उसी प्रकार सिंह तुल्य पराक्रम प्रकट करते हुए ही जीवन भर संयम का पालन करते रहें जिससे कि आप लोगों को शीघ्र ही परमपद निर्वाण की प्राप्ति हो सके। जीवन के प्रत्येक क्षण को अभूल्य समझते हुए प्रमाद का पूर्णतः परिहार कर अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया में पूरी तरह यतना रखिये जिससे कि आप पाप-बन्ध से बचे रह सकें। वस्तुतः प्रमाद साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। चतुर्दश पूर्वधर, आहारक लब्धि के धारक, मनःपर्यवज्ञानी और रागरहित बड़े-बड़े साधक भी प्रमाद के वशीभूत हो जाने पर देव, मानव, तिर्यंच और नारक गति रूप दुःखपूर्ण संसार में भटकते रहते हैं।”<sup>१</sup>

जम्बूकुमार सहित सभी नव दीक्षितों ने अपने श्रद्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के उपर्युक्त उपदेश को शिरोधार्य किया और वे ज्ञानार्जन एवं तपश्चरण के साथ साथ श्रमसाधारण का बड़ी दृढ़ता से पालन करने लगे।

महामेधावी जम्बू अरण्यार ने अर्हनिश अपने गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में रहते हुए परम विनीत भाव से बड़ी लगन, निष्ठा और परिश्रम के साथ सूत्र, अर्थ और त्रिवेचन—विस्तारसहित सम्पूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया।

### कूणिक की जिज्ञासा

कालान्तर में सुधर्मा स्वामी ने अपने जम्बू आदि शिष्य परिवार सहित राजगृह से विहार किया और विभिन्न क्षेत्रों में अगणित भव्यात्माओं के अन्तर्गमन को उपदेशाश्रित से निर्मल बनाते हुए एक दिन वे चम्पानगरी के “पूर्णाभद्र” चैत्य में पधारे। उद्यानपाल के माध्यम से सुधर्मा स्वामी के शुभागमन की सूचना प्राप्त होते ही मगधाधिपति कूणिक अपने पुरजन-परिजन आदि सहित अपने राज्योचित वैभव के साथ उनके दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के लिए उद्यान में पहुँचा। उद्यान के द्वार पर ही अपने वाहन, खड्ग, छत्र, चामर एवं समस्त राज्य चिह्न तथा पुष्पमाला भोजड़ी आदि का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी की सेवा में

<sup>१</sup> चतुदसपुष्वी, आहारगावि मण्णारी विरागा य ।  
होति पमायपरवसा, तयसंतरमेव चउगइमा ॥

पहुँचा। उसने भगवान् महावीर के पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी को बड़ी श्रद्धापूर्वक एवं भक्ति सहित वन्दन-नमन के पश्चात् समस्त साधुसंघ को वंदन किया।

तपोपूत युवा श्रमण जम्बू के अत्यन्त तेजस्वी दिव्य स्वरूप को देखकर कूणिक को बड़ा विस्मय हुआ। कूणिक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए सुधर्मा स्वामी से पूछा - "भगवन् ! आपके शिष्य श्रमणसमूह में यह तारामण्डल में पूर्णचन्द्र के समान कान्तिमान, धृतासिंचित अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वाला की तरह दुर्निरीक्ष्य और महान् तेजस्वी स्वरूप वाले युवा श्रमण कौन हैं ? इन्होंने किस तपश्चरणा, शीलपालन अथवा महान् दान के प्रभाव से इस प्रकार का अत्यन्त आकर्षक एवं दैदीप्यमान सुन्दरतम स्वरूप पाया है ?"

इस पर सुधर्मा स्वामी ने कूणिक को जम्बू कुमार के पूर्वजों का वह पूरा वृत्तान्त कह सुनाया जो विद्युन्माली देव के सम्बन्ध में श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने जम्बू कुमार के गर्भावतरण से ७ दिन पूर्व सुनभया था।

आचार्य हेमचन्द्र ने "परिशिष्ट पर्व" में इस बात का उल्लेख किया है कि कूणिक को जम्बू श्रमण का पूर्व वृत्तान्त आदि सुनाने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्य मण्डल सहित चम्पा से विहार कर श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुए और उनके साथ विचरण करते रहे।<sup>१</sup> पर आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन तथ्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि स्वयं उनके द्वारा परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित कतिपय तथ्यों से आर्य जम्बू का दीक्षा-काल भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् का ही ठहरता है।

### जन्म, निर्वाण आदि कालनिर्णय

सम्बन्धित घटनाक्रम पर विचार करने से यह विदित होता है कि जम्बू कुमार का जन्म महावीर की केवली चर्या के १४ वें वर्ष में हुआ। जम्बू कुमार के जन्म से ७ दिन पूर्व महाराज श्रेणिक ने भगवान् महावीर से पूछा - "भगवन् ! भरत क्षेत्र में केवलज्ञान किसके पश्चात् समाप्त हो जायगा।"

भगवान् ने उत्तर दिया - "देखो ! चार देवियों से परिवृत्त ब्रह्मेन्द्र के समान ऋद्धिवाला जो यह विद्युन्माली देव है, यही आज से सातवें दिन ब्रह्म स्वर्ग से च्यवन कर तुम्हारे नगर राजगृह में श्रेष्ठी ऋषभदत्त के यहाँ समय पर पुत्र रूप से उत्पन्न होगा और यही भरत क्षेत्र का इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम केवली होगा।"<sup>२</sup>

<sup>१</sup> सुधर्मापि ततः स्थानाज्जगाम सपरिच्छदः।

श्री महावीर पादान्ते, तत्सर्वं विजहान् च ॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

<sup>२</sup> नाथोऽप्यकथयत्यथ, विद्युन्माली सुरो ह्यसौ।

सामानिको ब्रह्मेन्द्रस्य, चतुर्दशैस्समावृतः ॥

ब्रह्मोऽमुष्मात्सप्तमेऽर्द्धे, च्युत्वा भावीं पूरे तदा।

श्रेष्ठिऋषभदत्तस्य जम्बूः पुनोऽत्यकेवली ॥६४॥

[वही]

श्रेणिक और भगवान् महावीर के बीच यह प्रश्नोत्तर की घटना चम्पा नगरी में हुए भगवान् की केवलीचर्या के १३ वें चातुर्मास से पूर्व की घटना है। शास्त्रीय उल्लेख के अनुसार चम्पा नगरी में हुए इस चातुर्मास से पहले कूणिक मगध का शासक बन चुका था और मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर वह चम्पा में ले आया था।

इस दृष्टि से विचार करने पर जम्बूकुमार का जन्म भगवान् महावीर की केवलीचर्या के १४ वें वर्ष में होना अनुमान किया जा सकता है और इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के समय में जम्बू कुमार की आयु १६ वर्ष की होना प्रमाणित हो जाता है।

जम्बू कुमार के विवाह की घटना का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में लिखा है :-

क्रमेण प्रतिपेदे च, वयो प्रथममार्षभिः ।

अभूत्याणिग्रहाहंश्च, पित्रोराशालतातरुः ॥ ७४ ॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग २]

विवाह योग्य वय सोलह वर्ष से कम की नहीं हो सकती। ऐसी दशा में आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जम्बूकुमार का विवाह १६ वर्ष की अवस्था में हुआ और विवाह होने के पश्चात् दूसरे दिन ही उन्होंने आर्य सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

इसके पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट रूप से 'परिशिष्ट पर्व' में यह उल्लेख करते हैं कि—भगवान् महावीर के निर्वाण से ६४ वर्ष पश्चात् जम्बूकुमार ने निर्वाण प्राप्त किया।<sup>१</sup>

इन सब तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्य जम्बूकुमार ने १६ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की और ६४ वर्ष तक श्रमणधर्म का परिपालन करने के पश्चात् ८० वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित उपरोक्त तथ्यों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि आर्य जम्बूकुमार ने भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् १६ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। ऐसी दशा में आर्य सुधर्मा स्वामी का जम्बू श्रमण सहित भगवान् महावीर की सेवा में पट्टंचने का जो उल्लेख किया गया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता।

भगवान् महावीर का निर्वाण जम्बूकुमार की दीक्षा से कुछ मास पूर्व हो चुका था, इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

<sup>१</sup> श्रीवीरभोजदिवसादपि हायनानि, चत्वारि पष्टिमपि च व्यतिगम्ये जम्बूः ।

कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निषेधय, कर्मक्षयेण पदमभ्ययमाससाद ॥६॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

(१) श्वेताम्बर परम्परा की प्रायः सभी पट्टावलियों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जम्बूकुमार की दीक्षा वीर निर्वाण संवत् १ में हुई ।

(२) दिगम्बर परम्परा के आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित महापुराण के द्वितीय विभाग उत्तरपुराण में श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गीतम ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्हदास और जिनदामी का पुत्र जम्बूकुमार बड़ा ही भाग्यशाली और कान्तिमान होगा । अनाधृत देव उमकी पूजा करेगा । वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विनीत होगा । वह यौवन के प्रारम्भ से ही विकार से रहित होगा । जिस समय भगवान् महावीर स्वामी पावापुर में मोक्ष प्राप्त करेंगे उसी समय मुझे भी केवलज्ञान होगा । तदनन्तर सुधर्माचार्य गणधर के साथ अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं पुनः इस नगर के विपुलाचल पर्वत पर आऊँगा । मेरे आने का समाचार सुन कर इस नगर का राजा चेलिनी का पुत्र कृणिक अपने परिवार सहित वन्दन तथा उपदेश-श्रवणार्थ आवेगा । उसी समय जम्बूकुमार भी संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण करने के लिये समुत्सुक होगा । माता-पिता-कुटुम्बीजनों के आग्रह को स्वीकार कर वह ४ कन्याओं के साथ विवाह करेगा । जम्बूकुमार द्वारा प्रतिबोध पाकर उसकी चारों पत्नियां, उनके तथा जम्बू के माता-पिता और उसके घर में चोरी करने हेतु आया हुआ अपने पांच सौ साधियों सहित विद्युच्चोर भी संसार से विरक्त हो दीक्षित होने का हृद् संकल्प करेगा । जम्बूकुमार को दीक्षा लेने के लिये उत्सुक देखकर उसके सब परिजन, अपनी अठारह प्रकार की सेनाओं के साथ कृणिक और अनाधृत देव जम्बू के पास आकर उसका मांगलिक दीक्षा महोत्सव करेंगे । वे सब लोग विपुल वैभव के साथ विपुलाचल पर हमारे पास आवेंगे और जम्बू ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के अनेक लोगों, विद्युच्चोर और उसके ५०० साधियों के साथ सुधर्माचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करेगा ।

१ इम्यात्कृती सुतो भावी, जिनदास्यां महाद्युतिः ।

जम्बूराख्योऽनाधृताद्देवादाप्तपूजोऽतिविश्रुतः ॥३७॥

विनीतो यौवनारम्भेऽप्यनाविष्कृतविश्रियः ।

वीरः पावापुरे तस्मिन्, काले प्राप्स्यति निर्वृतिम् ॥३८॥

तत्रैवाहमपि प्राप्य बोधं केवलसंज्ञकम् ।

सुधर्माख्यगणेशेन सार्धं संसारबह्निना ॥३९॥

करिष्यन्ततितप्तानां ह्लादं धर्माभूताम्बुना ।

इदमेव पुरं भूयः, संग्राप्यात्रैव भूधरे ॥४०॥

स्थास्थाम्येतत्समाकर्ष्य कृणिकश्चेलिनीसुतः ।

तत्पुराधिपतिः सर्वपरिवारस्परिष्कृतः ॥४१॥

आगत्याभ्यर्च्यं वन्दित्वा भुत्वा धर्मं ग्रहीष्यति ।

[ उत्तरपुराणः पर्व ७६ ]

मुनिवर गुणपाल द्वारा रचित “जम्बूचरियं” में भी स्पष्ट उल्लेख है कि जिस समय जम्बूस्वामी ने दीक्षा-ग्रहण की उससे पहले ही भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था। जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते हुए देख कर राजगृह नगर के नर-नारियों ने जो अपने अन्तर्मन के उद्गार अभिव्यक्त किये थे उनका चित्रण करते हुए जम्बूचरियं के रचनाकार ने स्पष्ट लिखा है :-

“जिस प्रकार सूर्य से विहीन नभ-मण्डल और भगवान् महावीर के निर्वाण से भारतवर्ष शून्य (सुनसान) प्रतीत होता है उसी प्रकार जम्बूकुमार के दीक्षित हो चले जाने पर समस्त मगधपुर (राजगृह) शून्य हो जायगा।”

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था।

### जम्बू श्रमण की प्रश्न-परम्परा :

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् आर्य जम्बू अहनिश अपने आराध्य गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में श्रुताराधन करने लगे। कठोर तपश्चरण के साथ विभूत श्रमणाचार का पालन करते हुए वे एकाग्रचित्त हो आगमों के अध्ययन में निरत रहते।

जिस प्रकार प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम अपने अन्तर में उत्पन्न हुई जिज्ञासाओं, शंकाओं एवं कुतूहलों के समाधान हेतु पूर्ण श्रद्धा के साथ जगद्गुरु भगवान् महावीर के समक्ष परम विनीत भाव से उपस्थित होते थे, ठीक उसी प्रकार जम्बू अणुगार भी, अपने मन में कभी किसी प्रकार की शंका अथवा जिज्ञासा उत्पन्न होती तो अपने श्रद्धास्पद गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित होते और अपनी जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते। आर्य सुधर्मा भी भगवान् महावीर से प्राप्त अर्थात् ज्ञान के अनुसार अपने परम विनीत और सुयोग्य शिष्य जम्बू की सभी शंकाओं, जिज्ञासाओं और कुतूहलों का समिचीन रूप से समाधान कर उन्हें पूर्णरूप से संतुष्ट करते।

इस प्रकार प्रगाढ़ श्रद्धा, विनय और निष्ठा के साथ अध्ययन करते हुए तीक्ष्ण बुद्धि जम्बू स्वामी ने स्वल्प समय में ही द्वादशांगी रूप अर्थात् श्रुतसागर का अर्थ, व्याख्या और विस्तारादि सहित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुरु द्वारा अपने शिष्य की आगमों का ज्ञान देने की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे से आगे पश्चाद्बर्ती काल में भी चलती रही। जनागमों को आज तक यथावत् रूप में बनाये रखने का सारा श्रेय आगमज्ञान के आदान-प्रदान की उस पुनीत परम्परा को ही है। इसी परम्परा के कारण भगवान् महावीर द्वारा अनुप्राणित,

१ नहभोधं रविरहियं, भारहवासं व जिलवरविहीणं ।

एण विला एयं होही सुन्नं व भगहपुरं ॥४७०॥

[जम्बूचरियं (गुणपाल), उ० १६]

गणधरों द्वारा आकलित, और भगवान् के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने सुयोग्य शिष्य आर्य जम्बू के मानस में प्रवाहित श्रुतसरिता आज भी अपने मूल स्वरूप को बिना छोड़े मुमुक्षुओं के अन्तस्तन में प्रवाहित हो रही है।

उपलब्ध आगमों का जो स्वरूप आज विद्यमान है, यह उस समय की मूल परम्परा को सही रूप में समझने का एक आधार है। आगमों के प्रारम्भिक स्थलों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर की वाणी को ग्रन्थरूप से सुनकर आर्य सुधर्मा ने जिस प्रकार शब्द रूप से ग्रथित किया, और जिस रूप में जम्बू स्वामी ने पृच्छा कर आगमज्ञान को प्राप्त किया, उसी अपरिवर्तित स्वरूप में आज विद्यमान है। इसकी पुष्टि में 'ज्ञाता-धर्मकथा' का निम्नलिखित उपोद्धात सूत्र दृष्टव्य है :-

“उस काल उस समय में आर्य सुधर्मा अणगार के ज्येष्ठ (प्रमुख) शिष्य सात हाथ की ऊँचाई वाले कश्यपगोत्रीय जम्बू नामक अणगार आर्य सुधर्मा से न बहुत दूर और न बहुत समीप घुटने ऊँचे तथा सिर नीचा किये, धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान रूपी कोष्ठ (आकर अथवा प्रकोष्ठ) में स्थित, संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे थे। संयोगवश आर्य जम्बू के मानस में श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ। श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न होने पर वे उठे और जहाँ आर्य सुधर्मा थे वहाँ आये। आर्य सुधर्मा को वन्दन नमस्कार किया और उनके न अधिक समीप न अधिक दूर, सुनने की इच्छा से उनकी ओर अभिमुख हो, उनको सुश्रूषा करते हुए, नमन करते हुए, सांजलि शीश झुकाते हुए विनयपूर्वक बोले - “भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने पाँचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग का यह धर्म बताया। प्रभु ने छठे अंग-ज्ञाता धर्मकथा का क्या धर्म बताया था ?”

आर्य सुधर्मा ने जम्बू अणगार को संबोधित करते हुए इस प्रकार कहा :-  
“हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अंग ज्ञाताधर्मकथांग के दो श्रुतस्कन्ध प्ररूपित किये हैं। वे यह हैं, पहला ज्ञाता और दूसरा धर्म कथा।”

छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा के इस उपरिलिखित उद्धरण के एक-एक शब्द से यह स्पष्टतः प्रतिध्वनित होता है कि भगवान् महावीर ने विश्व के प्राणियों का कल्याण करने के लिये जो श्रुत-सरिता प्रवाहित की थी उसका समग्ररूपण पान करने की उत्कण्ठा लिये आर्य जम्बू अपने अर्द्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के पास जाते हैं और उनसे जिस रूप में उन्होंने भगवान् महावीर से श्रुतसरितावतरण प्राप्त किया, उसी रूप में श्रुतसरित् को प्रवाहित करने की प्रार्थना करते हैं। अपने ज्ञानपिपासु, और उत्कट जिज्ञासु सुयोग्य शिष्य जम्बू की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य सुधर्मा भी उसी रूप में, प्रबल वेग के साथ श्रुतसरिता को प्रवाहित करते हैं। आर्य जम्बू ने महान् उत्साह के साथ अपने निर्मल मानस में आर्य सुधर्मा के

मुक्षारविन्द से निकलती हुई श्रुत धारा को ग्रहण किया। वही आज आर्यधरा के मुमुक्षुओं के मानस में प्रवाहित हो रही है। यह प्रवाह चलता रहेगा पंचम आरक के अन्त तक।

### आर्य जम्बू स्वामी की विशेषता

जम्बू स्वामी के अनुपम गुणों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं क्योंकि ऊपर दिये हुए नायाधम्मकहाओ सूत्र के मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे परम श्रद्धालु, परम विनीत, उत्कट जिज्ञासु और आर्य सुधर्मा के सुयोग्य ज्येष्ठ शिष्य थे। उनके महान् प्रतिभाशाली विराट् व्यक्तित्व का, शारीरिक भोज, तेज और कान्ति का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि मगधपति कृणिक ने जब जम्बू अरण्यार को आर्य सुधर्मा के शिष्य समूह में देखा तो वे आश्चर्य से हठात् स्तब्ध हो गये।

आर्य जम्बू स्वामी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उनके जीवनकाल में आर्य वसुन्धरा कोटि-कोटि सूर्यों से भी अनन्तगुणित कान्तिमान केवलालोक से निरन्तर प्रकाशमान रही और उनके शुद्ध सच्चिदानन्दधन स्वरूप में लीन होते ही आगामी उत्सर्पिणी काल की चौबीसी के प्रथम जिन को केवल्योपलब्धि होने तक के लिये केवलालोक से वंचित बन गई।

जब जम्बू स्वामी का जन्म हुआ उस समय सर्वज्ञ-सर्वदर्शी २४वें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय इन्द्रभूति गौतम, उनकी दीक्षा के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा स्वामी और दीक्षा के २० वर्ष पश्चात् स्वयं जम्बू स्वामी अपने केवलालोक से समस्त लोकालोक को प्रालोकित करते रहे। पर जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही आर्यावर्त से केवलज्ञान का सूर्य इस अवसर्पिणी काल में सदा के लिये अस्त हो गया।

### आर्य जम्बू स्वामी का निर्वाण

आर्य जम्बू स्वामी सोलह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहे। फिर दीक्षा ग्रहण कर बीस वर्ष तक गुरु-सेवा के साथ-साथ ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण और संयम साधना में निरत रहे। वीर निर्वाण संवत् २० की समाप्ति पर भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने निर्वाण-गमन के समय आर्य जम्बू को अपने उत्तराधिकारी के रूप में भगवान् महावीर का द्वितीय पट्टधर नियुक्त किया। आर्य जम्बू स्वामी ने आचार्यपद पर आसीन होने के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया। अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र्य से भव्यजीवी का कल्याण करते हुए आप ४४ वर्ष तक भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर रहे। अन्त में आर्य प्रभव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर, वीर नि० सं० ६४, तद्नुसार



ईसा पूर्व ४६३ में भार्य जम्बू ने ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर अक्षय धम्याबाध निर्वाणपद प्राप्त किया ।<sup>१</sup>

मुनिवर गुणपाल (विक्रम की ६ वीं शताब्दी) ने जम्बूचरियं में लिखा है कि जम्बूस्वामी ने अपनी आयु अल्प समझकर एक मास के पादपोषणसंधारण से शैलेशी दशा प्राप्त की और अपूर्वकरण द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो शरीर त्याग एक समय की अविग्रह गति से निर्वाण प्राप्त किया ।<sup>२</sup>

मुनिवर गुणपाल ने अपने इस अभिमत की पुष्टि में किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की पांच गाथाएं प्रस्तुत करते हुए लिखा है :-  
भारियं च पुष्वसत्थेसु -

भयवं पि जंबुणांमो, बहूणि वासाणि विहरिऊणा जिणे ।  
भत्तं पच्चक्खायइ, वालाहगसेलसिहरेसु ॥<sup>३</sup>

### दश बोलों का विच्छेद

जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र से निम्नलिखित १० वस्तुएं विलुप्त हो गई :-

मरण परमोहि पुलाए, आहार खवग उवसमे कप्पे ।

संजमतिग केवल सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिणणा ॥

अर्थात् - (१) मनःपर्यव ज्ञान, (२) परमावधि ज्ञान, (३) पुलाक लब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणि, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प, (८) तीन प्रकार के चारित्र, अर्थात् - परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चारित्र, (९) केवलज्ञान और (१०) मुक्तिगमन -

<sup>१</sup> बीमो जंबूत्ति, श्रीसुधम्मस्वामिपट्टे द्वितीयः श्री जम्बू स्वामी । स च नवनवतिकोटिसंयुक्ता षष्ठी कन्थकाः परित्यज्य श्रीसुधम्मस्वाम्यन्तिके प्रव्रजितः । स च षोडश वर्षाणि गृहस्थपययि, विव्रतितवर्षाणि व्रतपययि, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि युगप्रधानपययि चेति सर्वधुरमीति वर्षाणि परिपाल्य श्री वीरात् चतुःषष्टि वर्षे सिद्धः ।

[तपागच्छ पट्टाबली, स्वोपज्ञ वृत्ति, पन्थास श्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५]

<sup>२</sup> भयवं पि..... "संपत्तो विमलुत्तुंगगयणंगणसम्मिहं तं बलाहगसेलसिहरं ति । तमो भयवया नाऊण भत्तणो थोवाउयत्तणं कयं सव्व भत्तपच्चक्खायणं पायबोवगमणायं जहाविहि जहाकरणीयं । ठिमो य तत्थ सिलायलोवगमो मासमेगं पाओवगमणएण ।.....सेलेसि संपत्तो, विमुक्को अउव्वकरणेण एककसमणएव विमुक्कवुन्दी नेव्वाणपुरवरं संपत्तो ति ।"

[जंबूचरियं, (गुणपाल) पृ० १६६-६७]

<sup>३</sup> [ बही ]

इन १० विभिन्न आध्यात्मिक शक्तियों का जन्म स्वामी के निर्वाण के पश्चात् विश्लेषण हो गया ।<sup>१</sup>

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अन्तिम केवली माना गया है ।

इस प्रकार जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही वीर निर्वाण सं० ६४ में केवलिकाल समाप्त हो गया ।

### केवलिकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही शाखाओं की यह परम्परागत एवं सर्व-सम्मत मान्यता रही है कि २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, आर्य सुधर्मा स्वामी और आर्य जम्बू स्वामी—ये तीन केवली हुए और जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही केवली काल की परिसमाप्ति हो गई ।<sup>२</sup>

ये तीनों महापुरुष कितने-कितने समय तक केवली रहे, इस सम्बन्ध में इन दोनों परम्पराओं में मान्यताभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में इन्द्रभूति गौतम का केवली काल १२ वर्ष, सुधर्मा स्वामी का ८ वर्ष और आर्य जम्बू स्वामी का ४४ वर्ष, इस प्रकार सब मिलाकर ६४ वर्ष का केवली काल माना गया है। किन्तु इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में मतभेद नहीं पाया जाता ।

दिगम्बर परम्परा के प्राचीन तथा परममान्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति (डा० ए० एन० उपाध्ये के मतानुसार ई. ५७३ से ६०६ के बीच की कृति) में इन तीनों केवलीयों का अलग-अलग केवली काल न देकर पिण्डरूप से ६२ वर्ष दिया है ।<sup>३</sup> दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में गौतम स्वामी का केवल्यकाल १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा स्वामी का १२ वर्ष और जम्बूस्वामी का ३८ वर्ष इस प्रकार कुल मिलाकर ६२ वर्ष का केवली काल माना गया है। इसी प्रकार षट्खण्डागम के धवला

<sup>१</sup> मन्: परावधीश्रेष्ठ्यो, पुलाकाहारको शिवन् ।

कल्पत्रिसंयमा ज्ञान, नासन् जम्बुमुनेरनु ॥

[परिशिष्ट पर्व]

<sup>२</sup> तिलोयपण्णत्ति में गौतम, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी के ६२ वर्ष के केवली काल का उल्लेख करने के पश्चात् यह स्वीकार करते हुए कि जम्बू स्वामी के पश्चात् कोई अनुबन्ध केवली नहीं हुआ, यह भी उल्लेख किया गया है कि केवलजानियों में अन्तिम केवली श्रीधर कुंडलगिरी से सिद्ध हुए। यथा :-

कुंडलगिरिस्मि शरिमो केवलखासीसु सिरिधरो सिद्धो ।

शारणरिसीसु शरिमो सुपासंभंदाभिघारणो य ॥४॥ १४७६॥

इस प्रकार का उल्लेख (समस्त प्राचीन जैन साहित्य में) अन्यत्र देखने में नहीं आता ।

[सम्पादक]

<sup>३</sup> दाहदुो वासाणि गोदमपट्टदीणं गारणवंताणं ।

धम्मपट्टणकाले परिमाणं पिडरूपेणं ॥४॥ १३७८॥

[तिलोयपण्णत्ति]

टीकाकार वीरसेन ने श्रीर हरिवंशपुराणकार तथा श्रुतावतारकार ने भी वीर निर्वाण १ से १२ वर्ष पर्यन्त गौतम स्वामी का, गौतम स्वामी के पश्चात् १२ वर्ष तक सुधर्मास्वामी का और सुधर्मास्वामी के निर्वाण पश्चात् ३८ वर्ष तक जम्बू स्वामी का केवली काल माना है जो कुल मिलकर ६२ वर्ष होता है। इसके विपरीत आचार्य गणभद्र ने अपने ग्रंथ महापुराण-उत्तरपुराण<sup>१</sup> में तथा पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषा के अपने महापुराण<sup>२</sup> में गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी का क्रमशः बारह-बारह वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष - इस प्रकार कुल ६४ वर्ष का केवली काल माना है, जिससे श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य ६४ वर्ष के केवली काल की मान्यता की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में ६४ वर्ष का केवली काल दोनों परम्पराओं में मान्य होने के कारण अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

इन सब से विपरीत वीर कवि ने अपने अपभ्रंश महाकाव्य "जम्बूचरित" और पं० राजमल्ल ने अपने संस्कृत काव्य - "जम्बूस्वामिचरितम्" में जम्बूस्वामी के केवलिकाल के सम्बन्ध में एक नया ही अभिमत रखा है। गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी के केवलज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और जिस दिन गौतमस्वामी का निर्वाण हुआ उसी दिन सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ। सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के समय जम्बूस्वामी को दीक्षा ग्रहण किये १८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।<sup>३</sup> और सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध

<sup>१</sup> सुधर्मगणभूत्याश्रवं समचित्तो गृहीष्यति ।  
केवल्यं द्वादशाब्दान्ते मय्यन्त्यां गौतमांगते ॥११८॥  
सुधर्मा केवली जम्बूनामा च श्रुतकेवली ।  
भूत्वा पुनस्ततो द्वादशाब्दान्ते निर्बृत्तिगते ॥११९॥  
सुधर्मेष्यन्तिमं ज्ञानं जम्बूनाम्नो अबिष्यति ।  
तस्य शिष्यो भवो नाम, चत्वारिंशत्समा महान् ।  
इह धर्मोपदेक्षेन, चरिष्यां बिहुरिष्यति ।  
इत्यवावीतदाकर्ण्य स्थितस्तस्मिन्ननाश्रुतः ॥

[उत्तरपुराण, ७६ पर्व, पृ० ५३७]

<sup>२</sup> पत्तइ-बारहमइ संबन्धरि, चित्तरिठ्ठि विवसियमच्चरि ।  
पंचमु खालु एहु पावेसइ भवु खामेण महारिसि होसइ  
तेण समउं महियल विहरेसइ दहुगुणियइ चत्तारि कहसइ ।  
वरिसइं जम्बु सव्वमब्बोहहं विट्ठसियबहु विच्छामोहहं  
पंतिम केवली उप्पज्जेसइ महु पहुवंसहु उप्पणइ होसइ ।

[महापुराण, पुष्पदंत, संधि १००, पृ० २७४]

<sup>३</sup> (क) जम्बूस्वामिचरित (वीरचरित, डॉ० बी० पी० जैन द्वारा सम्पादित), १०:२३

(ख) एशमष्टादशाब्दानां, व्यतिक्रान्ता इव क्षणं ।  
जम्बूस्वामिनि धोरोधं, तपः कुर्वति नैकषा ॥१०९॥  
तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने ।  
निर्वाणं प्राप सौधर्मो, विपुलाचल मस्तकात् ॥११०॥

[जम्बू च० (राजमल्ल), सं० १२]

प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बू स्वामी को केवलज्ञान हुआ ।<sup>१</sup> तत्पश्चात् जम्बू स्वामी १८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण करते रहे और अन्त में विपुलाचल के शिखर पर झांठों कर्मों का क्षय कर सिद्ध हुए ।<sup>२</sup> इस प्रकार इन दोनों विद्वानों ने गौतम और सुधर्मा इन दोनों का मिलाकर १८ वर्ष केवल्य काल, जम्बू स्वामी का केवल्य काल केवल १८ वर्ष और इन तीनों का मिलाकर कुल ३६ वर्ष का ही केवल्यकाल माना है, जो आज तक उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री एवं श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत कालक्रम से बिल्कुल विपरीत पड़ता है, अतः प्रामाणिक न होते हुए भी विचारणीय अवश्य है ।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य उपरि-वर्णित अधिकांश ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जम्बूस्वामी का जन्म वीर-निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व, दीक्षा वीर निर्वाण सं० १ में, केवलज्ञान की प्राप्ति वीर नि० सं० २० में और निर्वाण वीर नि० सं० ६४ में हुआ ।

#### अन्य मान्यता भेद

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अन्तिम केवली माना गया है । जम्बू स्वामी के अपूर्व त्याग, उत्कट वैराग्य और कठोर साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए दोनों परम्पराओं के प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने समय-समय पर इस महाश्रमण के जीवन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं ।

यद्यपि दोनों परम्पराओं के विद्वानों द्वारा जम्बू स्वामी के जीवनवृत्त पर लिखे गये ग्रन्थों में कतिपय घटनाओं, दृष्टान्तों और नामादि का साधारण वैविध्य है, तथापि जम्बूस्वामी के जीवन की महत्वपूर्ण एवं मूल घटनाओं के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के विद्वानों का परस्पर पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । श्वेताम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी बताया गया है, जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में पिता का नाम अर्हंदास और माता का नाम जिनमती उल्लिखित है । श्वेताम्बर मान्यता के ग्रन्थों में जम्बूकुमार का आठ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण होना बताया गया है; जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ४ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ । श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार प्रभव चोग अपने ५००

<sup>१</sup> (क) तत्रैवाहनि यामार्धव्यबधानवती प्रभोः ।

उत्पन्नं केवलज्ञानं जम्बूस्वामिमनुसेस्तदा ॥११२॥ [जम्बू च० (राजमल्ल), सर्ग १२]

(ख) जम्बूस्वामिचरित, १०:२४, पृ० २१५

<sup>२</sup> (क) कुर्वन् धर्मोद्देशं स केवलज्ञानलोचनः ।

वर्षाष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥१२०॥

ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात् । [जम्बूस्वामिचरितम् (राजमल्ल)]

(ख) जम्बूसामिचरित (वीर विरचित), १०:२४, पृ० २१५

साथियों के साथ जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु घुसा, वहाँ दिगम्बर परम्परा प्रभव के स्थान पर विद्युच्चर चोर का, चोरी करने के अभिप्राय से जम्बूकुमार के घर में प्रवेश करना मानती है। संयोग की बात है कि दोनों ही परम्पराएं जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु प्रविष्ट होने वाले चौराट् को क्षत्रिय राजकुमार मानती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में प्रार्य प्रभव की विन्ध्य की तलहटी के जयपुर नामक राज्य का राजकुमार और दिगम्बर ग्रन्थकारों ने विद्युच्चर को हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य का राजकुमार बताया है।<sup>१</sup> दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विद्युच्चर के साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० चोरों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे सभी राजकुमार थे। उन्होंने जम्बूस्वामीचरित्र में प्रभव का दो स्थलों पर नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि विद्युच्चर के साथ प्रभव आदि चोर भी दीक्षित हुए और भूत-प्रेत-राक्षादि द्वारा उपस्थित किये गये घोरान्तिघोर परीषहों से भी विचलित न हो कर द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हुए विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध में और प्रभव आदि ५०० मुनि सुरलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।<sup>२</sup> अपभ्रंश के कवि वीर ने वि० सं० १०७६ में रचित "जम्बूसामिचरिउ" में प्रभव का कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया है। श्वेताम्बर परम्परा में जैसा कि आगे बताया जायगा प्रार्य प्रभव का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्हें जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी और भगवान् महावीर का तृतीय पट्टधर माना गया है। पर दिगम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी विद्युच्चर अथवा प्रभव को न मान कर प्रार्य विष्णु को माना गया है<sup>३</sup>।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में जम्बूकुमार द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला में से बन्धन तुड़ा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का और विद्याधर मृगांक की सहायतार्थ विद्याधरराज रत्नचूल से युद्ध करने और युद्ध में उसे दो बार पराजित करने का उल्लेख किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य किसी ग्रंथ में इन दोनों घटनाओं का कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

<sup>१</sup> अथात्र मगधे देशे, विद्यते नगरं महत् ।

हस्तिनापुरं नाम्ना, स्वर्लोकैकपुरोपमम् ॥२८॥

तत्रास्ति संवरो नाम्ना, भूपो दोर्दंडमंडितः ।

तस्य भार्यास्ति श्रीवेणा, कामयष्टिः प्रियंवदा ॥२९॥

तयोः सूनुरभून्नाम्ना, विद्वान् विद्युच्चरो नृपः ।

गिज्ञिताः सकला विद्या, बद्धमानकुमारतः ॥३०॥ [जम्बू० च०सर्गं ५]

<sup>२</sup> शतानां पंचसंस्थाकाः प्रभवादिमुनीश्वराः

घंते सल्लेखनां कृत्वा दिवं जग्मुयंथायथम् ॥१६६॥ [वही सर्ग १३]

<sup>३</sup> सिरिगोदमेण दिष्णं सुहम्मणाहस्त तेण जंबुसस ।

विष्णु एदिमित्तो ततो य पराजितो ततो ॥४३॥ [अंगपण्यत्ती]

इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले बताया जा चुका है श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में जम्बू स्वामी का वीर नि० सं० ६४ में निर्वाण होना माना गया है और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रंथ तिलोपपण्णत्ती तथा पट्टावलियों में वीर नि० सं० ६२ में तथा अनेक दिगम्बर ग्रन्थों में वीर नि० सं० ६४ में निर्वाण होना माना गया है।

### वीर कवि और जम्बू

वीर कवि ने अपने महाकाव्य “जम्बूसामिचरित” में जम्बू स्वामी के जीवन की कतिपय घटनाओं का विवरण देते हुए तिथियों एवं समय का उल्लेख भी किया है जो विवादास्पद तथ्यों के निर्णय में शोध की दृष्टि से बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है अतः उनका संक्षेप में यहां उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

जम्बू स्वामी के जन्म दिन के सम्बन्ध में वीर कवि ने अपने महाकाव्य “जम्बूसामिचरित” में लिखा है कि वसंतमास में शुक्लपक्ष की पंचमी के दिन जिस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में स्थित था उस समय वसंतपंचमी के दिन प्रत्युषकाल में जिनमती ने जम्बू स्वामी को जन्म दिया।<sup>१</sup>

सागरदत्त आदि चारों श्रेष्ठियों ने अपने बालसखा अर्हदास को परस्पर की गई पूर्वप्रतिज्ञा की याद दिलाते हुए कहा—“मित्र ! तुम्हें भलीभांति स्मरण होगा कि कुमारावस्था में क्रीड़ा करते समय हम लोगों ने एक दिन यह प्रतिज्ञा की थी कि हम पांचों मित्रों में से किसी एक भाग्यवान् मित्र के यदि पुत्र उत्पन्न हो जाय और शेष चारों के कन्याएं हो जायं तो हम लोग अपनी कन्याओं का पाणिग्रहण अपने मित्र के पुत्र के साथ ही करेंगे।<sup>२</sup> पुण्य के प्रताप से तुम्हारे घर पुत्र का जन्म हुआ और हम चारों मित्र पुत्रियों के पिता बने हैं। अतः हमें अपनी प्रतिज्ञानुसार चारों कन्याओं का जम्बूकुमार के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये। अर्हदास ने अपने चारों मित्रों का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया और ज्योतिषी से परामर्श कर उन पांचों मित्रों द्वारा अक्षय तृतीया का दिन विवाह के लिये निश्चित किया गया।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> पंचमिहे वसंते पक्षे धवले, रोहिणिठिए मयलंछये विमले ।

पञ्चमे पसूय ससकसणउ, कुसमंसु जयवत्सहू तणउ ॥

[जम्बूसामिचरित, ४.७, पृ० ६८]

<sup>२</sup> सागरदत्तपमुहवणित्तहि, बुक्कई धरहयासु नयकुत्तहि ।

मित्त कुमारभावे रइवंतहि, किं पइउज पंचहि मि रवंतहि ।

एक्कहो पुत्तु होइ जइ कण्णउ, इयरहं चउहुं मि जयहि कण्णउ ।

तो तहो पियरहि बुहियउ देवउ, तेण वि बरेण ताउ परिणेवउ ।

[जम्बूसामिचरित (वीरकविरचित, डा० विमलप्रसाद जैन द्वारा सम्पादित, १४-४-७, पृ० ७६)]

<sup>३</sup> ठविउ विवाहकम्मु बलाराणिए. अक्कय तइव दिवसे जोइसय । [वही]

जम्बू स्वामी द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला से बन्ध तुड़ा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश में करने और केरल के विद्याधरराज मृगांक के शत्रु हंसद्वीप के शक्तिसाली विद्याधरपति चन्द्रचूल को युद्ध में पराजित करने की घटनाएं वीर कवि के उल्लेखानुसार जम्बू स्वामी के विवाह का दिन निश्चित हो जाने के पश्चात् की हैं ।

स्वयं वीर कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आर्ष-ग्रन्थों अथवा उनके पूर्ववर्ती जम्बूचरित्रों में वसंतवर्णन, हाथी का मदमर्दन और केरल में रत्नचूल विद्याधर के साथ जम्बूस्वामी के युद्ध का वर्णन नहीं है । अपने ग्रन्थ में केवल स्वयं द्वारा किये गये इस प्रकार के वर्णन के लिये गुरुजनों से क्षमायाचना करते हुए उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि काव्य के अंग व रसों को समृद्ध करने हेतु घटित अथवा अघटित रचनाओं का विचारक कवियों द्वारा जो युक्तिसंगत वर्णन किया जाता है वह सच्चरित्रों में घटित होना संभव माना जाता है । कवि वीर के इस कथन का स्पष्ट और सीधा अर्थ यह है कि ये घटनाएं वीर कवि ने अपने इस काव्य को एक महाकाव्य के सभी लक्षणों से सुसमृद्ध करने की दृष्टि से अपनी कल्पनाशक्ति से आविष्कृत की हैं । ऐतिहासिक तथ्यों के सम्यक् पर्यवेक्षण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि जिस समय जम्बूकुमार युवा हुए उससे अनेक वर्षों पहले ही मगध-सम्राट् श्रेणिक का देहावसान हो चुका था । महाराज श्रेणिक की मृत्यु के कुछ ही दिन अनन्तर कूशिक ने मगध की राजधानी राजगृह नगर से हटा कर चम्पा नगरी में स्थापित कर दी थी । ऐसी दशा में जम्बूकुमार द्वारा श्रेणिक के पट्टहस्ती को वश में करना, श्रेणिक की राज्यसभा में गगनगति नामक विद्याधर का आना, विद्याधर मृगांक द्वारा अपनी पुत्री का महाराज श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण कराने का निश्चय करना, जम्बूकुमार का गगनगति के साथ विमान में बैठकर रत्नचूल से युद्ध करने हेतु प्रस्थान तथा महाराज श्रेणिक का सेना सहित जम्बू की सहायतार्थ केरल की ओर प्रयाण करना, युद्ध में जम्बूकुमार की विजय, मृगांक द्वारा अपनी पुत्री का श्रेणिक के साथ विवाह करना, जम्बूकुमार के साथ महाराज श्रेणिक का राजगृह नगर में प्रवेश करने से पूर्व उपवन में सुधर्मास्वामी के दर्शन कर उन्हें वन्दन-नमन करना और जम्बूस्वामी के अभिनिष्क्रमण के समय महाराज श्रेणिक द्वारा जम्बूकुमार को पालकी में बैठाकर उनके साथ-साथ उपवन में आर्य सुधर्मा के पास जाना आदि श्रेणिक के सम्बन्ध में वीर कवि द्वारा अपने इस महाकाव्य में दिया गया सभी विवरण कवि की कल्पनामात्र है ।

\* आरिमकहाए अहियं महकीला करि-नरिदपत्थाणं ।

संगामो वित्तमिणं जं दिट्ठं तं खमंतु महु गुहणो ॥१॥

कब्बंरससमिद्धं चिंतताणं कईण सव्वं पि ।

वित्तमहवा न वित्तं सच्चरिए षड्इ जुत्तमुत्तं जं ॥२॥

[वही, संधि ८-१]

हंसद्वीपपति विद्याधरराज रत्नचूल को विजित कर तथा केरलपति विद्याधरेश मृगांक की कन्या विलासवती का महाराज श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण कराने के पश्चात् जम्बूकुमार ने राजगृह के बाहर स्थित एक उपवन में गलाधिपति सुधर्मस्वामी से उनके प्रति अपने हृदय में उमड़ते हुए स्नेहसागर का कारण भीरु अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। उस समय भी आर्य सुधर्मा स्वामी ने एक निश्चित समय का उल्लेख करते हुए जम्बूकुमार से कहा कि आज से दसवें दिन तुम्हारा उन चार श्रेष्ठिकन्याओं के साथ पाणिग्रहण होगा, जो कि ब्रह्मस्वर्ग के देव भव में तुम्हारी चार देवियां थीं।<sup>१</sup>

भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में वीर कवि ने लिखा है कि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जम्बूस्वामी को बारह प्रकार के महातप करते हुए जब १८ वर्ष व्यतीत हो गये, उस समय माघ शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल की देला में सुधर्मा स्वामी ने विपुलाचल पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup> सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बूस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।<sup>३</sup>

जम्बूस्वामी के निर्वाण के सम्बन्ध में वीर कवि ने लिखा है कि कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् जम्बूस्वामी १८ वर्ष तक भव्यजनों का उद्धार करते रहे और अंत में (दीक्षा ग्रहण करने के ३६ वर्ष पश्चात्) उन्होंने विपुलाचल के शिखर पर अष्टकर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>४</sup>

### जंबू द्वारा विद्युत् चोर को प्रतिबोध

महापुराण (उत्तरपुराण) में दियम्बर आचार्य गुणभद्र ने विद्युच्चोर का परिचय देते हुए श्रेष्ठी अर्हदास के गृह में चोरी करने की इच्छा से अपने ५०० साथियों के साथ उसके प्रवेश का जो वर्णन किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :-

<sup>१</sup> अंतं तउ चिरु देविचउक्कं, छम्मासावहिं-पिययमप्रुक्कं ।

चिरुभदनेहनिवदं आर्यं, सायरदत्ताईणं जायं ॥

.....

दिब्भं तुज्ज ताए तं सव्वं, दसमए वासरे परिगोयव्वं ।

[जं० चरित, ८-५, पृ० १५१-१५२]

<sup>२</sup> अट्ठारहवरिसहं कालु गउ माहहो सियसत्तमिं पसरे तउ ।

विउलइरिसिहरे विसुद्धगुणि निव्वाणु पत्तु सोहम्मु मुण्णि ॥२३॥

[वही १०-२३, पृ० २१५]

<sup>३</sup> तत्त्वेव दिवसि पहरदमाणि आउरियजोए सुक्कभाणि ।

पत्तिबंकासीणहो निम्ममासु जंबूकुमार मुण्णिपुंगमासु ।

उपपणउ केवलु पुणु निरंधु भवलोयउ तिहुयणु एक्कखंधु ।

[वही, १०-२४]

<sup>४</sup> भव्वयणचित्तचूरियकुतक्कु, अट्ठारहवरिसहं जाम थक्कु ।

विउलइरिसिहुरि कम्मट्ठत्तु सिद्दालय सामयसोक्कवत्तु ॥

[वही, १०-२४, पृ० २१५]



“पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नाम की अपनी चारों नव-विवाहिता पत्नियों के साथ जम्बूकुमार प्रथम-मिलन की रात्रि में अपने प्रासाद के अत्यन्त मनोरम ढंग से सुसज्जित शयनकक्ष में बैठे हुए थे। जम्बूकुमार की माता जिनदासी के हृदय की धड़कन रात्रि के एक-एक क्षण के व्यतीत होने के साथ-साथ निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यह रात्रि उसकी कुलपरम्परा, गार्हस्थ्य जीवन और उसके जीवन के समस्त प्रकार के आकर्षण और भविष्य के लिये अन्तिम निर्यायिक रात्रि थी। वह अपने अन्तर में अनन्त उत्सुकता लिये बार-बार दबे पांवों अपने शयनकक्ष से निकल कर अपने नयनतारे जम्बू के शयनकक्ष के द्वार पर आती और बन्द कपाटों पर कान रख कर यह जानना चाहती थी कि अप्सराओं के समान अनुपम सुन्दर उसकी चार नव-कुलवधुएं अपनी रूपसुधा से उसके लाल को मदविह्वल कर अपने स्नेह-सूत्र के प्रगाढ़ बन्धन में आबद्ध करने में सफल हुई अथवा नहीं। अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के वार्त्तालाप का जो थोड़ा बहुत अंश उसके कर्णरन्ध्रों में पड़ता उससे उसकी आशाओं पर तुषारापात हो जाता और वह अपरिसीम वेदना से छटपटाती हुई पुनः अपने कक्ष की ओर लौट जाती। उसे सारा संसार अन्धकारपूर्ण प्रतीत होने लगता। कुछ ही क्षणों पश्चात् वह पुनः आशा का सम्बल लिये जम्बूकुमार के शयनागार के द्वार पर पहुंचती। मातृस्नेह ने इस क्रम को निरन्तर बनाये रखा। वह स्वासोच्छ्वास को अवरुद्ध किये अपने लाडले लाल के शयनगृह के द्वार पर कान लगाये खड़ी थी।

उसी समय विद्युत्प्रभ नामक एक अतिसाहसी कुख्यात चोर ने अपने ५०० साथी चोरों के साथ अर्हेदास के घर में प्रवेश किया। वह चोर पोदनपुर नगर के राजा विद्युत्पराज और रानी विमलमती का पुत्र था। विद्युत्प्रभ किसी कारणवश अपने बड़े भाई से रूठ हो अपने पांच सौ योद्धाओं के साथ पोदनपुर से निकल गया और चौर्यकर्म से अपनी आजीविका चलाता था। वह अदृश्य होने और तालों तथा कपाटों को खोलने की विद्या में निपुण था। जिनदासी को विनिद्र और चिन्तित्तावस्था में कपाट के पास खड़ी देख कर विद्युत्प्रभ ने उससे उसका कारण पूछा।

माता जिनदासी ने अपनी अथाह अन्तर्व्यथा को उंडेलते हुए संक्षेप में अपनी चिन्ता का कारण विद्युच्चोर को बता दिया। विद्युच्चोर ने जब यह सुना कि कुबेरोपम अपार कांचनराशि और कामिनियों का परित्याग कर युवा जम्बूकुमार दीक्षित होना चाहता है तो उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसे अपने चौर्यकर्म से और स्वयं अपने आपसे धृणा हो गई। उसने जिनदासी को आश्वस्त करते हुए जम्बूकुमार के शयनकक्ष में प्रवेश किया और उन्हें त्यागमार्ग से विमुक्त तथा भोगमार्ग की ओर उन्मुख करने हेतु अपनी समस्त वाक्चातुरी, सुतीक्ष्ण बुद्धि और नैपुण्य का प्रयोग किया। विद्युच्चोर और जम्बूकुमार के बीच काफी देर तक संवाद चला और अंततोगत्वा विद्युच्चोर जम्बूकुमार के विरक्ति के रंग में

स्वयं रंग गया एवं दूसरे दिन अपने पांच सौ साधियों सहित जम्बूकुमार के साथ ही दीक्षित हो गया ।<sup>१</sup>

वीर कवि रचित अथभ्रन्श भाषा के महाकाव्य 'जम्बूचरित' के आधार पर दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विक्रम संवत् १६३२ में रचित 'जम्बूस्वामिचरितम्' में जम्बूकुमार को संसार से विरक्ति होने के कारण का विवरण देते हुए अनेक नई बातों पर प्रकाश डाला है, जिनका श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से वे बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं अतः उनका यहां साररूप में उल्लेख किया जा रहा है।

कवि राजमल्ल ने अपने उक्त काव्य के छठे सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा मदीन्मत्त हाथी को वश में करने, सातवें सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा विद्याधर राजा रत्नचूल को पराजित कर मृगांक नामक विद्याधरराज की उससे रक्षा करने और आठवें सर्ग में विद्याधरराज पर विजय का तथा जम्बूकुमार और महाराज श्रेणिक के नगरप्रवेश का वर्णन करने के पश्चात् 'जम्बूस्वामिपरिणयनोत्सववर्णनम्' नामक नवम सर्ग के प्रारम्भ में उनको विरक्ति होने की घटना का वृत्तान्त दिया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

१ सुतो ममायं रागेण प्रेरितो विकृति भजन् ।  
स्मितहासकटाक्षेक्षणादिमान्कि भवेन्नवा ॥५१॥  
इत्थात्मानं तिरोधाय पश्यन्ती स्यास्यति स्निहा ।  
माता तस्य तदंबकः पापिष्ठः प्रथमांशकः ॥५२॥  
सुरभ्यविषये स्यात्तपीदनाख्यपुरेजिनः ।  
विद्युद्रावस्य सुगिद्युत्प्रभो नाम भटाश्ली ॥५३॥  
तीक्ष्णो विमलवस्त्रश्च क्रुध्वा केनापि हेतुना ।  
निचाप्रवाय निर्गत्य तस्मात्संचरतीर्मटैः ॥५४॥  
विद्युत्कोराह्वयं कृत्वा स्वस्य प्राप्य पुरीभिमाम् ।  
जानन्नदृश्यदेहत्वकपाटोद्घाटनदिकम् ॥५५॥  
चोरजास्त्रोपदेकेन तन्त्रमन्त्रविचारदः ।  
ग्रहंहासकुहाभ्यन्तरस्थं चोरयितुं धनम् ॥५६॥  
प्रविश्य नष्टनिदान्तां विनवासीं विलोक्य सः ।  
निवेद्यात्मानमेवं किं, विनिद्रासीति वक्ष्यति ॥५७॥  
सुनुर्मयैक एषामं ज्ञातदेव तपोधनम् ।  
ग्रहं वसीति संकल्प्य त्वत्सन्तेनास्मि मोकिनी ॥५८॥  
धीमानसि यदीमं त्वं, च्यांक्यस्वाग्रहास्ततः ।  
उपाचरथ ते सर्वं धनं यस्मान्मन्त्रीच्छितम् ॥५९॥  
इति क्वणी भवेत्सापि क्षीप्रिप सम्प्रतिपद्य तत् ।  
एवं सम्मन्नभोकोऽपि क्षिप्रैव विरिरेक्षति ॥६०॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७५]

“एक दिन जम्बूकुमार ने अपने मन में विचार किया कि विशाल वैभव और विपुल यश की जो उन्हें प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई है ? अपनी इस भ्रान्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बूकुमार एक मुनि के पास गये और उन्होंने मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया - “भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं वास्तव में कौन हूँ, कहां से आया हूँ और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है वह किस पुण्य के फल से हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाइये ।”

सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया - “वत्स ! सुन मैं तुझे पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनाता हूँ ।” इसी भगध देश में वर्द्धमान नामक ग्राम में किसी समय भावदेव और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे । उन दोनों ने क्रमशः जैनश्रमण दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षों तक श्रमणाचार का पालन कर मृत्यु के पश्चात् सन्तकुमार नामक स्वर्ग में दोनों भाई देव रूप में उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भावदेव का जीव वज्रदन्त नामक राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम सागरचन्द्रमा रखा गया । छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ । सागर चन्द्र संयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर में रहते हुए भी पूर्णरूपेण श्रमणाचार का पालन करते हुए षष्ठभक्त, अष्टभक्त, अर्द्धमासिक, मासिक आदि घोर तपश्चरण और इन तपः श्रमों के पारण के दिन आचाम्लव्रत करने लगा । इस प्रकार शिवकुमार ने घर में रहते हुए ही ६४,००० वर्ष तक घोर तपश्चरण किया । अन्त में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर क्रमशः दोनों ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुए । दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भावदेव का जीव भगध देश के संवाहनपुर नामक नगर के अधिपति राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम सौधर्म रखा गया ।<sup>२</sup>

सौधर्मकुमार क्रमशः सभी विद्याओं में निष्णात हुआ । एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन-नमन एवं उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवशरणा में पहुंचा । भगवान् की भवरोगविनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने प्रभु के पास निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण कर ली । थोड़े ही दिनों में वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता बन गये और भगवान् ने उन्हें चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया ।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> अथोवाच मुनिर्नाम्ना सौधर्मो धर्मदेशकः ।

शृणु वत्स वदे तेऽद्य, वृत्तान्तं पूर्वजन्मनः ॥८॥

[जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल-रचित) सर्ग ६ ]

<sup>२</sup> जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्लरचितं), सर्ग ६, श्लो० १८-२३

<sup>३</sup> दिवसैः कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपुराणोऽभवन्मुनिः ।

गणधरन्तुषो जातो वर्द्धमानजिनेशिनः ॥२८॥

[वही]

सौधर्मकुमार ने कुछ दिन पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप में देखा तो उसे भी संसार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोड़े समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पांचवां गणधर बन गया। सुधर्मा नाम का वह पंचम गणधर मैं ही हूँ जो कि तुम्हारे भवदेव के भव में तुम्हारा भावदेव नामक बड़ा भाई था।<sup>१</sup> तुम (छोटे भाई भवदेव का जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी अर्हदास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।<sup>२</sup>

विद्युन्मालि देव के भव में जो तुम्हारी चार देवियां थीं वे भी क्रमशः पंचम स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के वाद्धिदत्त आदि श्रेष्ठियों के घर में पुत्रियों के रूप में उत्पन्न हुई हैं। वे भी पूर्वभव के स्नेह के कारण तुम्हें प्राणपणा से चाहती हैं और वे तुम्हारी लोकधर्मानुसार विवाहित पत्नियां बनेंगी।<sup>३</sup>

वर्तमान, भूत और भविष्यत् को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले चार-ज्ञानधारी सुधर्मा स्वामी के मुख से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर सांसारिक विषय-भोगों के प्रति जम्बूकुमार के हृदय में उत्कट वैराग्य की भावनाएं उद्भूत हुईं। उनका अन्तर्मन प्रबुद्ध हो गया अतः उन्हें भवभ्रमण भयावह प्रतीत होने लगा और उनके मन में अपने शरीर तक के प्रति किसी प्रकार का व्यामोह अवशिष्ट न रहा।

जम्बूकुमार ने विनयपूर्वक सुधर्मा स्वामी को प्रणाम करती हुए प्रार्थना की—  
“दयासिन्धो ! जिस प्रकार आपने पूर्वभव में निश्छल, स्वच्छ और सच्चे बन्धुत्व का निर्वहन करते हुए मेरा उद्धार किया था, उसी प्रकार आप अब भी मुझे निर्ग्रन्थ भ्रमणधर्म में दीक्षित कर मेरा इस भवसागर से उद्धार कीजिये।”

भोगों के प्रति निरपूह एवं आत्मकल्याण के लिये समुत्सुक जम्बूकुमार को आसन्नभय (निकट भविष्य में मुक्ति प्राप्त करने वाला) जानते हुए भी आर्य सुधर्मा ने कोमल स्वर में कहा—“जम्बू ! कहां तो तुम्हारी यह सुकुमारावस्था और कहां बड़े-बड़े साधकों के लिये भी कठिनातापूर्वक पाला जाने वाला यह भ्रमणाचार ? फिर भी यदि तुम्हारे हृदय में दीक्षित होने की उत्कट अभिलाषा है तो एक वार अपने बन्धुवर्ग को पूछकर, उनका समाधान करके फिर दीक्षा ग्रहण करो।”

यह सुनकर जम्बूकुमार कुछ क्षणों के लिये विचार में पड़ गये। अन्त में उन्होंने गुरु आज्ञा के समक्ष हठ करना उचित न समझ माता-पिता की आज्ञा

<sup>१</sup> सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद् वीक्ष्य तं गणनायकम् ।

जातसवेगनिर्वेदः प्रवव्राज महामुनिः ॥२६॥

क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पंचमो गणनायकः ।

सोऽहं सुधर्मनामा स्यां भवद्भ्रातृचरोऽधुना ॥३०॥ [जंत्स्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल)]

<sup>२</sup> त्वं हि ततो दिवश्च्युत्वा विद्युन्मालिचरोऽमरः ।

अर्हदासगृहे सूनुर्जातः सर्वमुखाकरः ॥३३॥

[वही]

प्राप्त करने के पश्चात् ही दीक्षित होने का निश्चय किया। तदनुसार वे अपनी माता के पास गये और अपनी आन्तरिक इच्छा उनके समक्ष प्रकट की। शोकाकुल हो माता-पिता ने उन्हें समझाने का पूरा प्रयास किया पर व्यर्थ। जम्बूकुमार को उनके दीक्षित होने के दृढ़ निश्चय से किंचितमात्र भी विचलित न होते देख ग्रहंदास ने दाढ़िदत्त आदि चारों श्रेष्ठियों के पास जिनकी कि पुत्रियों के साथ जम्बूकुमार का विवाह होता निश्चित हो चुका था - संदेश भेजकर उन्हें जम्बूकुमार के दीक्षित होने के दृढ़ निश्चय से भ्रवगत कराया। उन चारों श्रेष्ठियों ने अपनी पुत्रियों को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का निश्चय सुनाते हुए उन्हें अन्य किसी वर से विवाह करने का सुझाव दिया। चारों कन्याओं ने अपने-अपने माता-पिता को कहा कि वे अन्तर्मेन से जम्बूकुमार को अपना पति चुन चुकी हैं अतः जम्बूकुमार के साथ ही उनका विवाह कर दिया जाय। यदि वे विवाहोपरान्त अपने पति को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर सकीं तो ठीक, अन्यथा वे भी उनके साथ-साथ दीक्षित हो जाएंगी।

अन्ततोगत्वा जम्बूकुमार ने ग्रहंदास और जिनमती के अनन्य अनुरोध से इस शर्त पर उन चारों कन्याओं के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया कि विवाहोपरान्त उन्हें दीक्षित होने से रोका नहीं जायगा।

बड़ी धूमधाम और समारोहपूर्वक जम्बूकुमार का पद्मश्री आदि चार कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

विवाहोपरान्त पद्मश्री आदि नववधुएं अपने पति जम्बूकुमार को विविध उपायों, युक्तियों, दृष्टान्तों आदि से भोगमार्ग की ओर आकर्षित करने का और जम्बूकुमार अपनी पत्नियों को विषयभोगों की दुःखान्तता और भवभ्रमण की विभीषिका के विषय में समझाने का प्रयास करने लगे। रम्भा तुल्य चारों नववधुओं ने संमोहक विविध हाव-भावों एवं चेष्टाओं से जम्बूकुमार के मन में कामाग्नि प्रदीप्त करने का पूर्णरूपेण प्रयास किया किन्तु जम्बूकुमार निस्तरंग अथाह पाथोधि की तरह शान्त तथा निश्चल बने रहे।

जिस समय जम्बूकुमार और उनकी चारों पत्नियों में परस्पर वार्तालाप हो रहा था, उस समय विद्युच्चर नामक एक चोर ग्रहंदास के घर में चोरी करने के लिये घुसा। जम्बूकुमार के घर में धनागारों को देखते समय विद्युच्चर की दृष्टि बड़े ही आकर्षक ढंग से सजे हुए जम्बूकुमार के शयनागार पर पड़ी। उसके मन में कुतूहल जागृत हुआ और उसने निश्चय किया कि रत्नादि बहुमूल्य वस्तुओं को तो यहां से लौटते समय ही ले लूंगा, पहले जम्बूकुमार और उनकी नववधुओं का वार्तालाप ही सुन लूं। यह विचार कर विद्युच्चर जम्बूकुमार के शयनागार के एक बन्द द्वार से अपना कान सटाकर लड़ा हो गया। सुहामरात्रि (प्रथम मीलन की रात्रि) के समय जम्बूकुमार के मुख से भीमों के प्रति निरासक्ति प्रकट करने वाली बातें सुनकर रास-दिन कामलता देवता के विधात-

गृह में विषयासक्त रहने वाला विद्युच्चर चोर स्तब्ध रह गया। वह और सावधान होकर नवविवाहित वर-वधुओं की बातें बड़े ध्यान से सुनने लगा।

जम्बूकुमार और उनकी चार नववधुओं का परस्पर जो संवाद हो रहा था उसे विद्युच्चर स्पष्टरूप से सुन रहा था। उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि यह नव तारुण्य की भोगयोग्य वय, सभी प्रकार की भोग्य सामग्री सहजरूपेण समुपलब्ध, सुरसुन्दरियों के समान अनुपम रूपलावण्यवृत्ती चार नवविवाहिता लोकधर्मानुसार न्यायतः प्राप्त पत्नियां, एकान्त स्थान, विषयभोगों के उपभोग की पूर्ण सामर्थ्य, कुबेरोपम वैभव, भोगोपभोगों के लिये अनुरोध और आग्रहभरा आमन्त्रण किन्तु यह तरुण निर्विकार, निर्लिप्त और निश्चल बना हुआ है। ऐसा अभूतपूर्व आश्चर्य उसके दृष्टिगोचर होना तो दूर उसके कर्णरन्ध्रों में भी कभी नहीं पड़ा है। वह अपने चोर-कार्य को भूल कर नवदम्पति के अद्भुत और अन्तस्तलस्पर्शी संवाद को सुनने में आत्मविस्मृत हो तल्लीन हो गया।

माता जिनमती के लिये यह रात्रि उसके कुटुम्ब एवं वंश-परम्परा के भविष्य के लिये निर्णायक रात्रि थी। उसके हृदय में यह जानते की उत्कण्ठा बार-बार बलवती बनती जा रही थी कि उसकी रूप-यौवन और सर्वगुण सम्पन्ना चार पुत्रवधुएँ उसके इकलौते लाड़ले लाल को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने में सफल हुई हैं या नहीं। इस उत्कट उत्कण्ठा को अपने अन्तर में लिये वह बार-बार छुपे पावों जम्बूकुमार के शयनकक्ष के द्वारों के पास आकर कान लगा कर अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के वार्तालाप को सुनती और अपने पुत्र को अपने निश्चय पर भ्रमण कर हताश हो पुनः अपने शयनकक्ष की ओर लौट जाती। धारिणी का यह क्रम बीच-बीच में कुछ क्षणों के व्यवधानों से निरन्तर चल रहा था। इस बार वह दबे पावों जम्बूकुमार के शयनकक्ष के उस द्वार की ओर आई जहाँ चोर विद्युच्चर अपनी सुध-बुध भूले नव वर और वधुओं का संलाप सुन रहा था।

द्वार पर सटे चोर पर दृष्टिपात होते ही जिनमती ने आश्चर्य एवं भय मिश्रित स्वर में पूछा — “अरे ! इस समय यहाँ तुम कौन हो ?”

विद्युच्चर ने मन्द किन्तु निर्भय स्वर में उत्तर दिया — “बहिन ! तुम विह्वल न होना। मैं विद्युच्चर नामक चोर हूँ जो तुम्हारे इसी राजगृह नगर में रहते हुए चोरियां करता रहता हूँ। मैंने तुम्हारे इस भवन से भी अनेक बार रत्न-स्वर्ण और विपुल धन चुराया है। उसी चौर्यकार्य के लिये मैं आज भी यहाँ आया था।”

मां जिनमती ने रनेहसित्त स्वर में कहा — “वत्स ! मेरे इस घर में से जो कुछ तुम्हें अच्छा लगे वही ले जा सकते हो।”

विद्युच्चर ने कहा — “बहिन ! सच मानो, आज चोरी करने की इच्छा ही नहीं हो रही है। आज मैंने अपने जीवन में पहली बार यह अदृष्टपूर्व-अभ्रतपूर्व प्रत्यन्त अद्भुत कुतूहलपूर्णा दृश्य एवं संवाद देखा और सुना है कि दिव्य रूप-लावण्यमयी युवतियों के कटाक्षों और करुण-कोमल प्रार्थना स्वरों से इस युवक का

मन किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुआ। मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस सब के पीछे कारण क्या है। आज से तुम मेरी धर्म बहिन हो और मैं तुम्हारा सहोदरोपम भाई।”

अपने उद्वेलित अश्रुसमुद्र को हठात् रोकते हुए साहस बटोर कर जिनमती ने कहा - “भैया ! मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय और मेरे कुल का दीपक यह मेरा इकलौता पुत्र है। इसने जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का हृदय निश्चय कर लिया है। मोहवश हमने बड़े हठाग्रहपूर्वक इसका विवाह कर दिया है पर यह सूर्योदय होते ही सब कुछ छोड़ - छिटका कर जैन श्रमण बन जायगा। इसके इस अवश्यभावी वियोग के वज्र से मेरा हृदय खंड-खंड हो विचूर्णित हो रहा है।”

विद्युच्चर ने कहा - “बहिन ! यदि ऐसी बात है तो तुम अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मैं अभी कुछ ही क्षणों में तुम्हारी मनोकामना पूर्ण किये देता हूँ। जम्बूकुमार को गृहस्थ धर्म की ओर प्रवृत्त करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक साधारण सरल कार्य है। किसी न किसी तरह तुम मुझे एक बार जम्बूकुमार के पास पहुंचा दो। फिर देखना कि जिस कार्य को तुम नितान्त दुस्साध्य समझती हो, उसे मैं किस प्रकार बात ही बात में सुसाध्य ही नहीं, सिद्ध बना देता हूँ।”

कुछ ही क्षण गहन चिन्तन की मुद्रा में खड़ी रहने के पश्चात् जिनमती ने अपने पुत्र के शयनागार के द्वार पर शनैः शनैः तर्जनी-प्रहार किया। जम्बूकुमार ने तत्क्षण द्वार खोला और बड़े आदर के साथ अपनी माता को एक उच्चासन पर बैठकर विनम्र स्वर में पूछा - “अम्ब ! इस समय आपने किस कारण स्वयं पधारने का कष्ट किया ?”

जिनमती ने कहा - “पुत्र ! जिस समय तुम गर्भस्थ थे उस समय मेरा भाई व्यापारार्थ विदेश गया हुआ था। वह अब लौटा है। तुम्हारे विवाह की शुभ सूचना मिलते ही यह तुम्हें देखने की उत्कण्ठा लिये बड़ी दूर से चलकर आया है।”

जम्बूकुमार ने अपने मातुल से मिलने की अभिलाषा प्रकट की। विद्युच्चर को जिनमती तत्काल जम्बूकुमार के शयनकक्ष में ले गई। जम्बूकुमार माया-मातुल (कृत्रिम मामा) को देखते ही अपने आसन से उठे और दोनों ने प्रफुल्लित हो एक दूसरे को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लिया।

परस्पर कुशलक्षेम के प्रश्नोत्तर के पश्चात् अर्हनिश चतुर बेश्या की संगति में रहने वाले चतुर विद्युच्चर ने अपनी वाक्चातुरी का चमत्कार दिखाते हुए जम्बूकुमार को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। उसने बड़ी चतुराई से जादूभरी शैली में त्यागमार्ग के प्रति तत्काल अनास्था उत्पन्न कर भोगमार्ग की ओर आकृष्ट कर देने वाले अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये। कभी न उतरने वाले वैराग्य के रंग में रंगे हुए प्रत्युत्पन्नमति जम्बूकुमार ने विद्युच्चर द्वारा

प्रस्तुत किये गये प्रत्येक दृष्टान्त का उससे भी अधिक युक्तिसंगत एवं प्रभावोत्पादक दृष्टान्त सुना कर सहज शान्त स्वर में उत्तर दिया। पर्याप्त समय तक यह रोचक संवाद चला। अन्ततोगत्वा परिणाम यह हुआ कि जो मामाजी भानजे पर अपना रंग जमाने आये थे वे स्वयं ही भानजे के वैराग्यरंग में पूर्णरूपेण रंग गये।

विद्युच्चर ने जम्बूकुमार के चरणों में अपना सांजलि मस्तक झुकाते हुए अति धिनीत स्वर में कहा—“महाप्राज्ञ महात्मन् ! आप धन्य हैं। आपकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है। आप निर्विकार और निर्लेप हैं अतः आपके लिये इस भीषण भवोदधि को पार कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं।”

तदनन्तर विद्युच्चर ने जम्बूकुमार को अपना वास्तविक परिचय देते हुए कहा—“कुमार ! मैं हस्तिनापुर के महाप्रतापी राजा संबर और उनकी महारानी श्रीधेया का विद्युच्चर नामक पुत्र हूँ। मैंने बर्द्धमान कुमार से सब प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। उसके पश्चात् चौर्य-विद्या में निपुणता प्राप्त करने की मेरे मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम मैंने अपने ही राज्यकोष में से बहुमूल्य रत्न चुराये पर चोरी करते हुए मुझे किसी राजपुरुष ने देख लिया था अतः मेरे पिता महाराज संबर मेरे उस घृणित कार्य से अवगत हो गये। उन्होंने मुझे राज्य-संपत्ति का खुले रूप में यथेच्छ उपभोग करने की अनुज्ञा देते हुए सब प्रकार से समझाने का प्रयास किया कि मैं उभयलोक बिगाड़ने वाले अति गर्हणीय चौर्य कर्म का परित्याग कर दूँ पर उस समय मेरे हृदय पर पूर्णरूपेण बुद्धि का आधिपत्य था अतः मैंने धृष्टतापूर्वक उत्तर दिया—महाराज ! राज्य की सम्पत्ति चाहे कितनी ही विपुल क्यों न हो, आखिर वह परिमित ही है किन्तु चौर्यकार्य के अन्तर्गत लक्ष्मी का कोई पार नहीं, वह अपरिमित है।

यह कह कर मैं इस राजगृह नगर में चला आया और कामलता नाम की वेश्या के यहां रात-दिन विषयोपभोगों में निरत रहते हुए चोरियां करने लगा। पर आज आपने मेरी अन्तर की चक्षुओं के निमीलित अक्षपटलों को उन्मीलित कर दिया है। अब मैं भी अपना अत्मकल्याण करूँगा।”

इसी समय प्रातःकाल हो गया। महाराज श्रेणिक को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का समाचार मिलते ही वे अपने समस्त राजकीय वैभव के साथ अर्हदास के घर पर आये। जम्बूकुमार ने दीक्षा लेने हेतु वन की ओर प्रयाण किया। राजा श्रेणिक ने उन्हें शिबिका में आरूढ़ किया।<sup>१</sup> जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते देख राजगृह नगर में चारों ओर शोक का वातावरण फैल गया।

<sup>१</sup> ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण से जम्बूकुमार के समय में पण्डित राजमत्स्य द्वारा उल्लिखित मगधपति महाराज श्रेणिक सम्बन्धी समस्त विवरण निराधार और कवि की कल्पनामात्र सिद्ध होता है क्योंकि जम्बूकुमार जिस समय घुटनों के बल भी नहीं चलते होंगे उसमें पहले ही श्रेणिक का देहावसान हो चुका था।



जम्बूकुमार ने सुधर्मा स्वामी के पास पहुँच कर वस्त्राभूषणों का परित्याग किया और पंचमुष्टि लुचन कर उनसे निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। जम्बूकुमार के पश्चात् अनेक राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर विद्युच्चर चोर ने प्रभव आदि ५०० राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की जो सभी चौर्यकर्म में निरत रहते थे।<sup>१</sup> इनके पश्चात् जिनदास ने भी समस्त ऐहिक सुख-वैभव का परित्याग कर संयम ग्रहण किया। तत्पश्चात् जम्बूकुमार की माता जिनमती ने और जम्बूकुमार की पद्मश्री आदि चारों पत्नियों ने भी सुप्रभा आर्यका के पास श्रमणी-दीक्षा ग्रहण की।

जम्बूस्वामी के निर्वाण गमन के वर्णन के पश्चात् पण्डित राजमल्ल ने जम्बूस्वामिचरित्र में विद्युच्चर मुनि द्वारा अपने प्रभव आदि ५०० साधुपरिवार सहित मथुरा नगरी की ओर विहार करने, मथुरा के महोद्यान में ठहरने, सूर्यास्त-वेला में चण्डमारि नाम की वनदेवी द्वारा उन्हें उस महोद्यान में रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा घोर उपसर्ग देने की सम्भावना की पूर्वसूचना दिये जाने के साथ-साथ उन्हें वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले जाने का परामर्श दिये जाने का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि उन मुनियों ने सूर्यास्त के पश्चात् विहार करना अनुचित समझ कर वहीं आवश्यक श्रमणक्रियाएं करना प्रारम्भ कर दिया। रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा विद्युच्चर और उनके ५०० साथी साधुओं को ताड़न, तर्जन, मर्दन आदि घोर उपसर्ग दिये गये। पिशाचों द्वारा उन मुनियों को शूलादि तीक्ष्ण सुस्त्रों के प्रहारों से क्षत-विक्षत किया गया, बार-बार आकाश में ऊपर उठा कर पृथ्वी पर पटका गया। पर वे सभी मुनि शान्तभाव से उन दुस्सह्य परीषहों को सहते रहे।

महामुनि विद्युच्चर को उन प्रेतादि द्वारा सबसे अधिक कष्ट दिया गया पर उन्होंने अनित्यानुप्रेक्षा आदि १२ प्रकार की अनुप्रेक्षाओं से अपने मन को निश्चल बनाये रखा।

प्रातःकाल होते ही उपसर्ग तो शान्त हुए, किन्तु उन मुनियों के शरीर ताड़न, छेदन, भेदन आदि के कारण इतने जर्जरित हो गये थे कि उन्हें जीने की आशा न रही। उन ५०१ मुनियों ने संलेखनापूर्वक चार प्रकार की आराधना करते हुए देह त्याग किया। उत्कट भावशुद्धि के कारण मुनि विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध

<sup>१</sup> ततः केचित्सु भूपालाः, शुद्धसम्यक्त्वभूषिताः ।

बभूवुर्मुनयो नूनं, यथाजातस्वरूपकाः ॥६४॥

प्रथं विद्युच्चरो दस्युविरक्तो भवभोगतः ।

सर्वसंगपरित्यागलक्षणं व्रतमग्रहीत् ॥६६॥

सार्धं पंचशतंभूपपुत्रैरासीत्स संयमी ।

दस्युकर्मरतैः सर्वैः, प्रभवादिसुसंज्ञिकैः ॥६७॥

[जम्बूस्वामिचरितम्, सर्ग १२]

विमान में ३३ सागर की आयु वाले देव बने और प्रभव आदि ५०० मुनि भी स्वर्ग में महद्विक देव रूप से उत्पन्न हुए ।<sup>१</sup>

### केवलिकाल के राजवंश

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशतः बड़ा ही मधुर और प्रगाढ़ रहा। देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक अम्युत्थान में जनसाधारण की तरह राजवंशों ने भी समय-समय पर अपनी ओर से उल्लेखनीय योगदान किया, इसकी पुष्टि में बड़ी ही प्रचुर मात्रा में प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्राचीन काल में जैन धर्म के पल्लवन से लेकर प्रचार-प्रसार, अम्युत्थान आदि सभी कार्यों में जब-जब और जो-जो भी लोकजीवन प्रयास किये गये, उनमें राजवंशों ने भी जनसाधारण के साथ कंधे से कंधा मिला कर बड़ा महत्त्वपूर्ण सक्रिय सहयोग दिया है। वस्तुतः प्राचीन काल के राजवंशों का लोकजीवन के साथ ऐसा संपृक्त सम्बन्ध रहा कि भारत का राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक इतिहास लिखते समय यदि तत्कालीन राजवंशों की उपेक्षा कर दी जाय तो कोई भी इतिहास न पूर्ण ही माना जा सकता है और न प्रामाणिक ही।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए केवलिकाल के राजवंशों का यहां संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है। वीर नि० सं० १ से ६४ तक के केवलिकाल में मुख्यतः निम्नलिखित राजवंश भारत के विभिन्न प्रदेशों में सत्तारूढ़ रहे :-

१. मगध में शिशुनाग राजवंश
२. अवंती में प्रद्योत राजवंश
३. वत्स (कोशाम्बी) में पौरव राजवंश
४. कलिंघ में चेदि राजवंश

### मगध का शिशुनाग-राजवंश

शिशुनाग राजवंश भारत के प्राचीन राजवंशों में बड़ा प्रतापी और प्रसिद्ध राजवंश रहा है। इस वंश में अनेक न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी और शक्तिशाली राजा

<sup>१</sup> व्यतीते चोपसर्गेऽथ, मुनिविद्युच्चरो महान् ।

अथ भ्योन्नि यथादित्यो, तेजपुंज इवद्युतः ॥१६४॥

प्रातःकालेऽथ संजाते, प्राण्यसल्लेखनाविधी ।

चतुर्विधाराधनां कृत्वागमत्सर्वार्थसिद्धिके ॥१६५॥

गतानां पंच संख्याकाः, प्रभवादिमुनीश्वराः ।

प्रते सल्लेखनां कृत्वा, दिवं जन्मुर्येपादधम् ॥१६६॥

[जम्बूस्वामिचरित्रं, सर्ग १३]

जम्बूस्थी चरित्र में पं० राजमल्ल ने दो बार प्रभव का उल्लेख किया है पर कहीं उनका परिचय नहीं दिया है।

हुए हैं। मगध के उन प्रतापी शासकों ने समय-समय पर अतिप्रतिष्ठित नगर, चणकनगर, वृषभपुर, कुशाग्रपुर, राजगृह, चम्पा और पाटलीपुत्र (पटना) नगर बसा कर उन्हें मगध की राजधानी बनाया, इस प्रकार के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।<sup>१</sup> इतिहासप्रसिद्ध इस वंश के राजा प्रसेनजित् भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मतीर्थ के परमभक्त एवं श्रद्धालु श्रावक थे। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि मगधाधीश प्रसेनजित् के पुत्र महाराज श्रेणिक (बिम्बसार) भगवान् महावीर के प्रमुख भक्त नेराधिषों में अग्रणी थे। उन्होंने भगवान् महावीर के धर्मशासन की अत्युत्कट सेवा कर तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया। महाराजा श्रेणिक की अनेक रानियों, पुत्रों और कुटुम्बीजनों ने भगवान् महावीर के उपदेशों से प्रभावित हो श्रामण्य अंगीकार कर आत्मकल्याण किया।

मगधाधिप महाराज श्रेणिक की मृत्यु (वीर निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व) के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) ने मगध की राजधानी राजगृह मगर से हटा कर चम्पा में स्थापित की। अपने पिता महाराज श्रेणिक की ही तरह कूणिक भी भगवान् महावीर का परमभक्त था।<sup>२</sup>

जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ और उस ही रात्रि के भवसान से पूर्व गौतम गणधर को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई, उस समय मगध पर महाराजा कूणिक का शासन था और मगध की राजधानी चम्पा नगरी थी। कूणिक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र का अन्त कर दिये जाने के पश्चात् कूणिक की सम्राट् के रूप में और मगधराज्य की एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में गणना की जाने लगी थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल में भी मगधेश्वर कूणिक केवलज्ञानी गौतमस्वामी के तथा आचार्य सुधर्मा स्वामी के दर्शन, वन्दन, उपदेशश्रवण आदि के लिये समय-समय पर उनकी सेवा में आता रहा, इस प्रकार के उल्लेख जैन-वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं।

आर्य सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल में महत्वाकांक्षी मगधेश्वर कूणिक ने मगध राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया था। कूणिक के पिता श्रेणिक ने अपने राज्यकाल में ही अंग राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे मगध राज्य के अधीन कर लिया था अतः कूणिक को मगध और अंग का राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ। उसके अनन्तर कूणिक ने बंग, विदेह, काशी, कौशल और कौशाम्बी पर भी विजय प्राप्त कर इन राज्यों को मगध के अधीन कर लिया था।

<sup>१</sup> धार्यधक नियुक्ति, गाथा १२८४ एवं धार्यधक हारिभद्रीया वृत्ति, उत्तर भाग, पृ० सं० ६७०-७१

<sup>२</sup> श्रौपपातिक सूत्र, सूत्र ८

अज्ञातशत्रु कूणिक किस समय मगध के सिंहासन पर बैठा और कितने वर्ष तक शासन करने के पश्चात् किस समय उसका देहान्त हुआ इस सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि आगम में उपलब्ध उल्लेख से यह अनुमान किया जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व वह मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। कूणिक ने कितने वर्ष तक शासन किया इस सम्बन्ध में मथुरा संग्रहालय में उपलब्ध कूणिक की मूर्ति पर खुदे शिलालेख में कूणिक का शासनकाल ३४ वर्ष ८ मास बताया गया है।<sup>१</sup> इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वीर नि० सं० १७ अथवा १८ के मध्यवर्ती काल में कूणिक का देहावसान हुआ।

### शिशुनागवंश का संक्षिप्त परिचय

शिशुनागवंश कब से प्रचलित हुआ, इस वंश का प्रवर्तक मूल-पुरुष कौन था और किस-किस समय में इस वंश के किन-किन राजाओं का किस-किस राज्य पर शासन रहा, इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में प्रारम्भिक काल का विवरण नहीं के तुल्य उपलब्ध होता है। वस्तुतः जैन ग्रन्थों में “शिशुनागवंश” नामक किसी वंश का उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

बिम्बसार (श्रेणिक), कूणिक (अज्ञातशत्रु), उदायी (उदयाश्व), नंद (नन्दिवर्धन) महानन्द आदि इतिहास प्रसिद्ध मगध के सम्राटों का भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में एवं मत्स्यपुराण, वायुपुराण, और श्रीमद्भागवतपुराण आदि पुराणग्रन्थों में शिशुनागवंशी राजाओं के रूप में परिचय दिया गया है। जब कि जैनग्रन्थों में इन मगधसम्राटों एवं इनके पुत्र-पौत्रों, महारानियों, युवराजियों तक के जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश डाले जाने के उपरान्त भी ये सम्राट् किस वंश के थे इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। एक स्थल पर मगध दूत के द्वारा जिस समय कि श्रेणिक की अभिलाषा की पूर्ति हेतु वैशाली गणतन्त्र के भ्रष्टीश्वर महाराजा चेटक के समक्ष उनकी पुत्री सुज्येष्ठा का विवाह मगधपति श्रेणिक के साथ करने का प्रस्ताव रखा गया, उस अवसर पर त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रकार - आचार्य हेमचन्द्र ने चेटक के मुख से कहलवाया है -

चेटकोऽप्यब्रवीदेवमनात्मजस्तव प्रभुः ।

वाहीककुलजो वांछन्, कन्यां हैहयवंशजाम् ॥२२६॥

समानकुलयोरेव विवाहो, हन्त नान्ययोः ।

तत्कन्यां न हि दास्यामि श्रेणिकाय प्रयाहि भो ॥२२७॥

<sup>१</sup> निम्न प्रसेनी धज (१) सत्रु राजो(सि)र (१) ४,२० (य) १० (३) - ८(हि अथवा ह्य) कूणिक सेवासि नागो मगधानाम् राजा । ३४(वर्ष) ८ (महिना) (शासन काल) — जनरल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, दिसम्बर १९१६ वोल्यूम ५, भाग ४, प० ५५०

मागध दूत के मुख से मगधपति श्रेणिक द्वारा अपनी सुज्येष्ठा नामक राजकुमारी की याचना का संदेश सुनकर महाराजा चेटक ने कहा :-

“दूत ! तुम्हारे स्वामी को अपने स्वयं के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि वाहीक<sup>१</sup> कुल में उत्पन्न होकर भी वह हैहव वंश की कन्या के साथ पाणिग्रहण करना चाहते हैं। समान कुल वालों में ही परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध हो सकते हैं न कि असमान कुलों में। अतः मैं अपनी कन्या श्रेणिक को नहीं दूंगा। अब तुम यहां से यथेच्छ जा सकते हो।”

“वाहीककुलजो” इस वाक्यांश से यह तथ्य प्रकट होता है कि उपरिर्वाणित बिम्बसार आदि मगध सम्राट् वाहीक कुलोद्भव थे।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो शिशुनागवंश एक प्रतापी पुरुष के प्रताप का द्योतक होने के कारण कोई मूलवंश नहीं किन्तु एक वंश विशेष के व्यक्तियों की शाखा का बोधक है। किसी एक वंशविशेष में शिशुनाग नामक प्रतापी और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसने एक राज्य की स्थापना की। उस वंश के अन्याय सहस्रों श्रमियों से अपनी विशिष्टता अभिव्यक्त करने हेतु उस शिशुनाग की संतति अपना परिचय शिशुनागवंशी के रूप में देने लगी।

इसी प्रकार “वाहीक” भी कोई मूलवंश नहीं। “वाहीक” शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं - (१) वाहीक अथवा बाल्हीक देश का रहने वाला, (२) वाहीक बाह्य देश का रहने वाला और (३) वाहीक-बाह्य-बहिष्कृत (जाति से बहिष्कार किया हुआ) व्यक्ति अथवा जाति। इन तीनों अर्थों में से इन मगध सम्राटों पर कौनसा अर्थ लागू होता है यह एक विचारणीय विषय है।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त “वाहीककुलजो” पद को लेकर अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहासकारों ने कल्पना की बहुत लम्बी लम्बी उड़ानें भरी हैं। प्रसिद्ध इतिहासविद् ए. के. मजूमदार ने अपनी पुस्तक “दी हिन्दू हिस्ट्री आफ इन्डिया” के पृष्ठ ४९६ पर लिखा है :-

“Shishunaga was formerly a vassal of the Turanian Vrijjians. He founded his dynasty of ten Kings and ruled for 250 years.”

दी जर्नल आफ दी ओरिसा-बिहार रिसर्च सोसायटी, पुस्तक संख्या १, पृष्ठ ७६ पर यह उल्लेख है :-

“The Pali writers relate that the Sisunagas belonged to the family of Vaishali (Lichhavis).”

<sup>१</sup> बहिरचनाम हीकश्च, विषाशायां पिशाचकी ॥४१॥

तदोरपत्यं वाहीका, नैषा सृष्टिः प्रजापतेः । [महाभारत, कर्णपर्व, पृ० ४४]

इस प्रकार इतिहासविद् श्री मजूमदार ने शिशुनागवंशियों को तुकिस्तान के निवासी और त्रिज्जी जाति के माना है और पाली ग्रन्थों ने वैशाली निवासी लिच्छवी क्षत्रिय ।

भारतवर्ष के सगरकालीन अतिप्राचीन इतिहास का विहंगमावलोकन करने पर यह विदित होता है कि चन्द्रवंशी हैहय जाति के क्षत्रियों ने शक आदि अनेक जातियों की सहायता से अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा बाहुक पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर अयोध्या पर अधिकार कर लिया । राज्यच्युत राजा बाहुक अपनी रानियों के साथ वन में चला गया । वनवासकाल में बाहुक की एक रानी ने गर्भ धारण किया किन्तु पुत्र का मुख देखने से पूर्व ही बाहुक का देहावसान हो गया । समय पर बाहुक की रानी ने पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सगर रखा गया । सगर शैशवकाल से ही बड़ा ओजस्वी था । उसने महर्षि श्रीर्व के पास समस्त विद्याओं का अध्ययन किया । अपने समय के अप्रतिम धनुर्धर सगर ने युवावस्था में पदार्पण करते ही अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण कर उन्हें परास्त कर दिया और अपने वंशपरम्परागत अयोध्या के राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया । अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही सगर के अन्तर में प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो उठी । वह अपने पिता पर आक्रमण करने वाले हैहय आदि क्षत्रियों का सर्वनाश करने पर उतारू हो गया । सगर के भय के कारण उसके शत्रु सुदूर देशों की ओर पलायन कर गये । सगर ने वहां पर भी उनका पीछा किया और उन्हें वह चुन-चुनकर मारने लगा । अन्ततोगत्वा श्रीर्वऋषि द्वारा बीच-बचाव करने पर सगर ने उन क्षत्रियों को विरूप और बहिष्कृत कर उन्हें प्राण-दान दिया ।<sup>१</sup> इस घटना के पश्चात् तालजंघों, हैहयों, शकों आदि क्षत्रियों को अन्य क्षत्रियों द्वारा कुछ हीन समझा जाने लगा । कालान्तर में समय-समय पर परस्पर बिगड़े हुए ये सम्बन्ध कुछ सुधरे पर यादवों के प्रति रुक्मी और शिशुपाल द्वारा प्रयुक्त किये गये कटु वाक्-प्रहारों, जातीय हीनतासूचक कटाक्षों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाभारत काल तक इक्ष्वाकु आदि जातियों के क्षत्रिय यदुवंशियों, हैहयों आदि को अपने से हीन समझते रहे हैं ।

<sup>१</sup> भद्रकस्तस्मुतस्तस्माद् बृहस्तस्यापि बाहुकः ।  
 सोऽरिभिर्हृतभू राजा समार्यो वनमाविशत् ॥२॥  
 बृद्धं तं पंचतां प्राप्तं महिष्यनु भरिष्यती ।  
 श्रीर्वेण जानतास्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥३॥  
 आज्ञायास्यं सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्वसा सह ।  
 सह तेनैव संजातः सगराख्यो महायथाः ॥४॥  
 सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यस्तुतैः कृतः ।  
 यरतालजंघान् यवनादृक्षकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥  
 नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विद्वतवेषिणः ।

इस परम्परागत जातिविद्वेष के कारण तो वैशाली के महाराज चेटक मगधपति श्रेणिक को वाहीक नहीं कह सकते क्योंकि वे स्वयं हैहय वंश की लिच्छवी जाति के क्षत्रिय थे और मगधपति श्रेणिक वज्जी (त्रिज्जी) जाति के हैहयवंशी क्षत्रिय । ऐसी दशा में चेटक द्वारा श्रेणिक के लिये "वाहीककुलजो" कहने के दो ही कारण हो सकते हैं । पहला यह कि महाराजा श्रेणिक महाराजा चेटक की इच्छानुसार गणराज्य व्यवस्था में सम्मिलित नहीं हुए इसलिये उन्हें वाहीक कहा हो । दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रेणिक के पूर्वज हैहय-वंशी क्षत्रिय होने पर भी किसी संक्रान्तिकाल में किसी (टर्की आदि) ऐसे प्रदेश में रह चुके हों जिसे उस समय अनार्य देश समझा जाता हो ।

युक्ति की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर यह दूसरा कारण केवल काल्पनिक ही ठहरता है, क्योंकि सगर के समय में कौन लोग कहां-कहां गये थे इसका लेखा-जोखा अनेक सहस्राब्दियों तक रखना नितांत असाध्य ही समझा जायगा ।

पहला कारण युक्तिसंगत माना जा सकता है । हैहयवंशी समस्त कुलों के क्षत्रियों ने संगठित हो कर वैशाली गणराज्य की स्थापना की, उस समय उन सब लोगों ने मगध के हैहयवंशी शासकों को उस संघ में सम्मिलित होने के लिये बहुत आग्रह किया होगा पर मगध के शासकों द्वारा उनकी प्रार्थना को पूर्णरूपेण ठुकरा दिये जाने के पश्चात् ६ मल्ली, ६ लिच्छवी राजाओं ने मगध के राज्यवंश के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए उसे वाहीक (बहिष्कृत) घोषित कर दिया होगा । इस प्रकार की घोषणा के पीछे जातीय हीनता अथवा उच्चता कारण न बन कर राजनैतिक (सैद्धान्तिक) मतभेद ही कारण रहा होगा ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि त्रिज्जी शाखा के ये हैहयवंशी शासक शिशुनागवंशी किस कारण से कहलाये । शिशुनागवंश की स्थापना के सम्बन्ध में वायुपुराण में विवरण दिया गया है कि वाराणसी में शिशुनाक नामक राजा होगा । वह अपने पुत्र शकवर्ण (काकवर्ण) को वाराणसी के राज्य का स्वामी बना कर स्वयं गिरिव्रज के राज्य का स्वामी बनेगा ।

हैवा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनाको भविष्यति ॥१७३॥

वाराणस्यां सुतस्तस्य, संप्राप्स्यति गिरिव्रजम् ।

शिशुनाकस्य वर्षाणि चत्वारिणस् भविष्यति ॥१७४॥

[वायु पुराण, प्र० ६१]

नोट : वायु पुराण में शिशुनाक को प्रद्योतों के पश्चात् बताया गया है यह ठीक नहीं है । "श्लोक संख्या १६८ के तृतीय पाद "बृहद्रथेश्वतीतेषु" के संदर्भ में ही 'शिशुनाको भविष्यति' पढ़ना चाहिये । क्योंकि प्रद्योत वंश का संस्थापक चण्ड प्रद्योत भगवान् महावीर, बुद्ध और श्रेणिक का समकालीन था इस तथ्य को बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएं एक मत से स्वीकार करती हैं ।

- सम्पादक

मत्स्यपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण और जैन तथा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में मगध के इस प्रतापी राजवंश के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है, उसके सम्यक् पर्यालोचन से शिशुनाग द्वारा वाराणसी में इस नवीन राजवंश की स्थापना का समय तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के पिता काशिमपति महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् ईसा पूर्व द्वाँ शताब्दी के आसपास का निकलता है। श्रीमद्भागवतपुराण में शिशुनाग से ले कर महामन्दी तक नागदशकों (शिशुनागवंशी दश राजाओं) का शासनकाल समष्टि रूप से ३६० वर्ष बताया गया है।<sup>१</sup> वायुपुराण में इन नागदशकों का राज्यकाल ३६२ वर्ष और ऋषभः प्रत्येक राजा का राज्यकाल निम्नलिखित रूप से बताया गया है :-

राजा का नाम	शासनकाल
१. शिशुनाक	४० वर्ष
२. शकवर्ण (काकवर्ण)	३६ "
३. क्षेमवर्मा	२० "
४. अजातशत्रु	२५ "
५. क्षत्रौजा (प्रसेनजित्)	४० "
६. विंबिसार (श्रेणिक)	२८ "
७. दर्शक (कूणिक-अजातशत्रु)	२५ "
८. उदायी	३३ "
९. नन्दिवर्धन	४२ "
१०. महानन्दी <sup>२</sup>	४३ "

इन दश का सब मिला कर शासनकाल : ३३२ वर्ष

इस प्रकार इन शिशुनागवंशी दस राजाओं का पृथक्-पृथक् राज्यकाल उल्लिखित करने के पश्चात् वायुपुराणकार ने लिखा है :-

इत्येते भवितारो वै, शैशुनाका नृपा दश ।

शतानि त्रीणि वर्षाणि, द्विषष्ट्यम्यधिकानि तु ॥१८०॥ अ० ६१

अर्थात् ये दश शिशुनागवंशी राजा होंगे जिनका कि ३६२ वर्ष (तीन सौ बासठ वर्ष) तक शासन रहेगा। किन्तु इन दशों राजाओं का पृथक्-पृथक् जो शासनकाल दिया गया है, उस सबको जोड़ने पर ३६२ वर्ष के स्थान पर ३३२ वर्ष का ही होता है। वायु पुराणकार द्वारा इस प्रकार इन राजाओं का पृथक् २ जो शासनकाल बताया गया है, उसमें निश्चित रूप से किसी शासक का ३० वर्ष का शासनकाल जोड़ना रह गया है। इसी कारण समष्टि रूप से जो ३६२ वर्ष

<sup>१</sup> शिशुनागा दशवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥७

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं, कुरुभ्रष्ट कलौ नृपाः । [भागवत्, स्कंध १२, अ० १]

<sup>२</sup> वायुपुराण, अ० ६१, श्लोक १७४ से १८० ।



का इन नागदशकों का शासनकाल बताया है वह प्रत्येक राजा के पृथक्-पृथक् दिये गये शासनकाल को जोड़ने पर ३३२ ही होता है। इसी प्रकार की भूल नामों के सम्बन्ध में भी हुई है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न पुराणों में उल्लिखित इन नागदशकों के नामों में भी विभेद पाया जाता है।

मत्स्य पुराण में नागदशकों के स्थान पर १२ नागवंशी राजाओं के नाम व शासनकाल के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है :-

“वाराणसी का राज्यसिंहासन अपने पुत्र काकवर्ण को सम्हलाकर शिशुनाग गिरिव्रज में आयेगा। शिशुनाग का मगध पर ४० वर्ष, काकवर्ण का २६ वर्ष, क्षेमवर्मा का ३६ वर्ष, क्षेमजित् का २४ वर्ष, विन्ध्यसेन का २८ वर्ष, काण्वायन का ६ वर्ष, उसके पुत्र भूमिमित्र का १४ वर्ष, भ्रजातशत्रु का २७ वर्ष, वंशक का २४ वर्ष, उदासी (उदायी) का ३३ वर्ष, नन्दिवर्धन का ४० वर्ष और महानन्दी का ४३ वर्ष राज्य होगा। ये १२ शिशुनागवंशी राजा ३६० वर्ष तक राज्य करेंगे।<sup>१</sup> इन १२ शिशुनागवंशी राजाओं के पृथक्-पृथक् शासनकाल को जोड़ने पर कुल ३४४ वर्ष ही होते हैं किन्तु समष्टिरूप से पुराणकार ने ३६० वर्ष का इनका शासनकाल लिखा है। यह सम्भव है कि काकवर्ण को वाराणसी का राज्य देने एवं शिशुनाग द्वारा मगध के राज्य सिंहासन पर अधिकार करने से पूर्व शिशुनाग का वाराणसी राज्य पर १६ वर्ष तक शासन रहा हो और पुराणकार ने वाराणसी पर शिशुनागवंशियों के शासनकाल को मगध के शासनकाल के साथ जोड़ कर ३६० की गणना पूरी की हो।

उपर्युक्त तीनों पुराणों में नागदशकों का कुल मिला कर ३६० - ३६२ वर्ष का शासनकाल माना है।

अब हमें इन मगध के शासकों के शासनकाल के सम्बन्ध में जो जैन वाङ्मय में उल्लेख उपलब्ध हैं, उनकी ओर दृष्टिपात करना होगा। भगवान् महावीर की केवलचर्या के तेरहवें वर्ष में मगध पर कूरिक के शासन का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस वर्ष से पहले अथवा इसी वर्ष में कूरिक मगध की राजधानी को राजगृह से चम्पा में स्थानान्तरित कर चुका था।<sup>२</sup> इससे यह फलित होता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय अर्थात् ईसा पूर्व ५२७ में शिशुनाग वंश के ७वें शासक कूरिक के मगध पर शासनकाल के लगभग १७ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस प्रकार शिशुनाग के शासनकाल के ४० वर्ष, काकवर्ण के ३६, क्षेमवर्मा के २०, भ्रजातशत्रु के २५, क्षत्रौजा (प्रसेनजित्) के ४०, बिम्बिसार (श्रेणिक) के २८ वर्ष और कूरिक के महावीर निर्वाणकाल तक १७ वर्ष इस प्रकार इन शिशुनागवंशी ७ राजाओं का कुल मिला कर २०६ वर्ष का शासनकाल होता है और पुराणकार जो ३० वर्ष का समय जोड़ने में भूल बैठे

<sup>१</sup> मत्स्यपुराण, अ० २७१ श्लोक ५ से १२

<sup>२</sup> जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४१७

उस ३० वर्ष के शासनकाल को इसमें जोड़ने पर ईसा पूर्व ७६३ में शिशुनागवंश के संस्थापक एवं मूलपुरुष शिशुनाग द्वारा वाराणसी के राज्य सिंहासन पर आसीन होना सिद्ध होता है। भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण ईसा पूर्व ७७७ में हुआ। इन सब तथ्यों पर विचार करने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकुवंशी बृहद्रथ राजाओं की परम्परा में हुए वाराणसी के महाराजा अश्वसेन के स्वर्ग-गमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के १४ वर्ष पश्चात् शिशुनाग वाराणसी का राजा बना।

वाराणसी के राज्य सिंहासन पर शिशुनाग ने किस समय में अधिकार किया इस समस्या का निर्णायक हल करने में एक और तथ्य सहायक हो सकता है। वह यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के पंचम पट्टधर आर्य केशी मगध सम्राट् बिंबसार (श्रेणिक) के समय में विद्यमान थे। वायुपुराण और भागवतपुराण के उल्लेखों के अनुसार श्रेणिक शिशुनागवंश का छठा राजा और मत्स्यपुराण के उल्लेखानुसार ८वां राजा था। भगवान् पार्श्वनाथ के ५वें पट्टधर की विद्यमानता में शिशुनागवंश का छठा अथवा आठवां वंशज विद्यमान हो इस अनुमान के सहारे यह मानना असंगत नहीं कहा जा सकता कि शिशुनाग ने भगवान् पार्श्वनाथ के पिता वाराणसीपति महाराजा अश्वसेन के देहावसान के कुछ ही समय पश्चात् अथवा तत्काल पश्चात् वाराणसी के सिंहासन पर अधिकार कर लिया हो।

इन सब तथ्यों पर समीचीनतया विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ की विद्यमानता में ही शिशुनाग ने वाराणसी के राज्य पर अधिकार कर लिया था।

### मगध पर उदायी का शासनकाल

मगध के महान् प्रतापी एवं महत्वाकांक्षी महाराजा कूणिक की मृत्यु के पश्चात् वीर निर्वाण सं० १८-१९ में मगध के राज्यसिंहासन पर कूणिक के पुत्र उदायी का अभिषेक किया गया। उदायी भी अपने पिता और पितामह की ही तरह बड़ा शक्तिशाली और न्यायप्रिय शासक था। जैनधर्म के प्रति उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी। उसने न केवल प्रजा को सुशासन ही दिया अपितु पंतुक परम्परा से प्राप्त मगध के राज्य की शक्ति, सीमा, यशकीर्ति, श्री और समृद्धि में भी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की।

जिस प्रकार कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् मगध राज्य की राजधानी राजगृह से हटाकर चम्पा में प्रतिष्ठापित की, उसी प्रकार कूणिक की मृत्यु के पश्चात् उदायी ने भी मगध की राजधानी को चम्पा से किसी अन्य स्थान पर ले जाने का विचार किया। उस समय के विशाल मगधराज्य के अनुरूप ही राजधानी के लिये उपयुक्त स्थान की खोज हेतु विशेषज्ञों और नैमित्तिकों के दल चारों ओर प्रेषित किये गये।

### पाटलीपुत्र का निर्माण

उनमें से विशेषज्ञों का एक दल अनेक स्थानों के गुणदोष देखता हुआ गंगा नदी के तट पर पहुंचा। वहां उन निमित्तशास्त्र के विशेषज्ञों ने सुन्दर पुष्पों से आच्छादित एक पाटली (केसूला-रोहीड़ा) वृक्ष देखा जिस पर (चाष) नीलकण्ठ पक्षी अपना मुख खोले बैठा हुआ था और चारों ओर से कीट-पतंगे स्वतः ही आ आकर उसके मुख में प्रवेश कर रहे थे। इस प्रकार का अद्भुत दृश्य देखकर नैमित्तिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। परस्पर विचार-विनिमय के पश्चात् उन लोगों ने यह मन्तव्य अभिव्यक्त किया कि इस स्थान में कोई अद्भुत विशेषता है। जिस प्रकार इस चाष पक्षी के मुख में कीट-पतंगे स्वयमेव आ आकर गिर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार यदि इस स्थान पर नगर बसा दिया जाय तो उस नगर में रहने वाले पुण्यवान् नृपति के पास दूर-दूर से धन-सम्पत्ति स्वतः ही आ आकर एकत्रित होगी।<sup>१</sup>

वस्तुस्थिति पर विचार-विमर्श करते समय उनमें से एक अतिवृद्ध नैमित्तिक ने कहा - "बन्धुगो ! यह कोई सामान्य पाटलवृक्ष नहीं है। जानियों द्वारा इसकी बड़ी महिमा बतायी गई है :-

यह अन्निकापुत्र केवली के कपाल में पड़े हुए पाटली बीज का ही विशाल रूप है।

प्राचीन काल में दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा नामक दो नगरियां थीं। उत्तरमथुरा का निवासी देवदत्त नामक एक युवा व्यवसायी देशाटन करता हुआ दक्षिण मथुरा में पहुंचा। दक्षिण मथुरा के निवासी जयसिंह नामक एक वरिष्क पुत्र से देवदत्त की मित्रता हो गई। एक दिन जयसिंह द्वारा निमन्त्रण पाकर देवदत्त जयसिंह के घर भोजनार्थ गया। जयसिंह की रूपगुणसंपन्ना बहिन, कुमारी अन्निका ने अपने सहोदर और उसके सखा को षडसयुक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। अन्निका के रूप-लावण्य को देखकर देवदत्त उस पर आसक्त हो गया।

दूसरे दिन देवदत्त ने जयसिंह के पास एक प्रस्ताव भेजा, जिसमें उसने अन्निका के साथ अपना विवाह करने की प्रार्थना की। जयसिंह ने इस शर्त के साथ विवाह करने का सन्देश भेजा कि उसकी बहिन अन्निका उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय है, वह एक क्षण के लिए भी उसे दूर नहीं रख सकता। यदि देवदत्त यह प्रतिज्ञा करे कि विवाह होने पर जब तक अन्निका पुत्रवती न हो तब तक वह अन्निका सहित उसके घर पर ही रहेगा, तो वह देवदत्त के साथ अपनी बहिन अन्निका का विवाह करने को तैयार है ?

<sup>१</sup> ते चिन्तयन्नहोद्देशे, पक्षिणोऽस्य यथा मुखे ।

कीटिकाः स्वयमागत्य, निपतन्ति निरन्तरम् ॥३८॥

तथास्मिन्नुत्तमे स्थाने, नगरेऽपि निवेशिते ।

राज्ञः पुण्यात्मनोऽपुत्र्य, स्वयमेष्यन्ति सम्पदः ॥३९॥

[परिमिष्टपदं, सर्गं ६]

देवदत्त अन्निका के गुणों और रूपराशि पर इतना विमुग्ध हो गया था कि उसने अपने वृद्ध माता-पिता का विचार किये बिना ही जयसिंह द्वारा रखी गई शर्त को स्वीकार कर लिया। अपनी शर्त के स्वीकृत हो जाने पर जयसिंह ने देवदत्त के साथ अन्निका का विवाह कर दिया और नवदम्पती बड़े आनन्द के साथ रहने लगे। अन्निका के प्रेमपाश में आबद्ध देवदत्त ने अपने वृद्ध माता-पिता की वर्षों तक कोई सुध-बुध नहीं ली। पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर एक दिन देवदत्त के पास उत्तरमथुरा से उसके माता-पिता का पत्र आया। उस पत्र में लिखा हुआ था — “चिरंजीवीपुत्र ! अब हम दोनों चक्षुर्विहीन एवं वृद्धावस्था के कारण शिथिलांग हो गये हैं और कराल काल के गाल में जाने ही वाले हैं। हमारी मृत्यु के पहले यदि तुम एक बार आकर हमसे मिल लो तो हमारे हृदय को शान्ति मिल सकेगी।”

अपने वृद्धमाता-पिता का पत्र पढ़ते ही देवदत्त की आंखोंसे अश्रुओं की धाराएं बहने लगीं। वह बार-बार पत्र को पढ़ने लगा और उसका अश्रुप्रवाह बढ़ता ही गया।

अपने पति को दाम्पत्य जीवन में पहली बार इस प्रकार रोते देखकर अन्निका ने उससे शोक का कारण पूछा और उससे किसी प्रकार का उत्तर न मिलने पर अन्निका ने देवदत्त के हाथ से वह पत्र लेकर एक ही सांस में पढ़ डाला। पत्र को पढ़ते ही वह सारी स्थिति को समझ गई। अन्निका तत्काल अपने भाई के पास पहुंची और उसे सब बात समझाकर उसने उत्तर मथुरा जाने की अनुमति प्राप्त करली।

देवदत्त और अन्निका जिस समय अपने सेवकों के साथ उत्तर मथुरा की ओर प्रस्थित हुए, उस समय अन्निका गर्भवती थी। उत्तर मथुरा की ओर यात्रा करते हुए भाग में अन्निका ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उत्तर मथुरा पहुंचने पर शिशु के पितामह और पितामही ही इसका नाम रखेंगे, यह सोच कर देवदत्त और अन्निका ने उस शिशु का कोई नाम नहीं रखा। साथ के लोग उसे अन्निकापुत्र कह कर सम्बोधित करने लगे। कुछ ही समय पश्चात् देवदत्त ने अपने घर पहुँच कर अपने वृद्ध माता-पिता को प्रणाम किया और उस शिशु को उनकी गोद में रखते हुए कहा — “विदेश में रहते हुए मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह यह लीजिये।” पौत्र को गले से लगा कर वृद्ध दम्पती अति प्रसन्न हुए और अपना पहले का सब दुःख भूल गये। उन्होंने अपने पौत्र का नाम सन्धीरण (धैर्य बंधाने वाला) रखा पर सबको अन्निकापुत्र सम्बोधित बड़ा प्रिय लगता था अतः वह बालक अन्निकापुत्र के नाम से ही पहचाना जाने लगा। लालन-पालन के साथ-साथ अध्ययन योग्य वय होने पर अन्निकापुत्र को शिक्षा दिलाने का समुचित प्रबन्ध किया गया। सभी विद्याओं में निष्णातता प्राप्त करने के साथ-साथ अन्निकापुत्र ने युवावस्था में प्रवेश किया।

अन्निकापुत्र ने युवावस्था में ही भोगों का विषवत् परित्याग कर आचार्य जयसिंह के पास भ्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् भ्रमण

अश्लिकापुत्र ने सभी शास्त्रों का समीचीन रूप से अध्ययन किया। निरतिचाररूप से विभुद्ध संयम का पालन करते हुए अश्लिकापुत्र ने दुष्कर घोरतिघोर तपश्चरणा द्वारा अपने पूर्वसंचित कर्मसमूह को ध्वस्त करना प्रारम्भ किया। आचार्य जयसिंह ने अश्लिकापुत्र को सभी भाँति सुयोग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उनके दिवंगत होने पर अश्लिकापुत्र आचार्य बने।

एक समय वे अपने श्रमणसंघ के साथ विचरण करते हुए गंगातट पर बसी हुई पुष्पभद्रा नगरी में आये। उस समय पुष्पभद्रा नगरी पर पुष्पचूल नामक राजा का शासन था। उसकी रानी का नाम पुष्पचूला था जो कि वस्तुतः उस (पुष्पचूल) के साथ युगल रूप से उत्पन्न हुई उसकी सहोदरा थी। युगल रूप से उत्पन्न हुए उन दोनों बहिन-भाइयों में प्रगाढ़ स्नेह था। उनके पिता महाराज पुष्पकेतु ने अपने पुत्र और पुत्री का प्रगाढ़ स्नेह देख कर लोकनियम के विरुद्ध उनका विवाह कर दिया। इस अनैतिक विवाह सम्बन्ध से दुःखित हो पुष्पचूल और पुष्पचूला की माता पुष्पवती ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और अनेक वर्षों तक तपश्चरणा करके अन्त में समाधिमरण द्वारा देवत्व प्राप्त किया। राजा पुष्पकेतु की मृत्यु के पश्चात् पुष्पचूल पुष्पभद्रा के राज्य सिंहासन पर बैठे और वे दोनों बहिन-भाई अनेक वर्षों तक पति-पत्नी रूप से दाम्पत्य जीवन बिताने लगे। देवरूप से उत्पन्न हुई पुष्पवती ने पूर्व स्नेहवश सोचा कि इस लोकविरुद्ध वैवाहिक सम्बन्ध और विषयभोगों में भासक्त रहने के कारण पुष्पचूला कहीं नरक में न चली जाय। पुष्पचूला के भावी जीवन को सुधारने की इच्छा से प्रेरित हो उस देव ने पुष्पचूला को स्वप्नों में नरक के दारुण दृश्य दिखाने प्रारम्भ किये। स्वप्न में उन अत्यन्त दुःखदायक दृश्यों को देखने के कारण पुष्पचूला अहनिश कांपती हुई शोकसमुद्र में डूबी रहती। पुष्पचूल द्वारा चिन्ता का कारण पूछने पर पुष्पचूला ने स्वप्न में देखे गये घोर कष्टदायक दृश्यों का विवरण सुनाया। पुष्पचूल ने अनेक प्रकार के शान्तिपाठ करवाये पर देव पुष्पचूला को स्वप्नों में नरक के पहले दिखाये गये दृश्यों से और अधिक भयंकर दृश्य दिखाने लगा। राजा ने अनेक पाखण्डियों को बुला कर पुष्पचूला द्वारा देखे गये स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा पर कोई पुष्पचूला द्वारा देखे गये दृश्यों का यथातथ्यरूपेण चित्रण कर उसकी जिज्ञासा को शान्त करने में समर्थ नहीं हो सका।

अश्लिकापुत्र के आगमन का समाचार सुन कर राजा और रानी ने उनसे भी उन स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा। अश्लिकापुत्र ने नरकों के नामोल्लेख के साथ-साथ पुष्पचूला द्वारा देखे गये सभी स्वप्नों का ठीक उसी प्रकार से बर्णन किया जिस प्रकार से उसने (पुष्पचूला ने) स्वप्नों में देखा था।

अपने स्वप्नों का बिना किसी भूनाधिक्य से वास्तविक चित्रण सुन कर पुष्पचूला ने प्रश्न किया—“भगवन्! क्या आपने भी कभी इस प्रकार के स्वप्न देखे हैं, जिसके कारण आप उन स्वप्नों का ठीक उसी प्रकार से बर्णन कर रहे हैं, जैसा कि मैंने देखा था?”

आचार्य अन्निकापुत्र ने कहा — “श्राविके ! मैंने कभी इस प्रकार के स्वप्न नहीं देखे पर बिना देखी हुई बातें भी जिनामों से देखी हुई के समान मालूम हो जाती हैं । संसार में एक भी ऐसी वस्तु नहीं, जो जैन आगमों के द्वारा नहीं जानी जा सकती हो ।”

पुष्पचूला ने प्रश्न किया — “भगवन् ! इस प्रकार के घोर दुःखों से पूर्ण नरकों में जीव किस कारण उत्पन्न होता है ?”

अन्निकापुत्र ने उत्तर दिया — “घोर आरम्भ-परिग्रह, गुरु के प्रति अविनय, मद्य-मांससेवन, द्यूत, परस्त्री-परपुरुष-गमन, विषयासक्ति, पंचेन्द्रियवध आदि पापों के कारण जीव घोरतिघोर नरकों में उत्पन्न हो अनेक प्रकार के दारुण दुःख भोगता है ।”

अन्निकापुत्र द्वारा किये गये अपने स्वप्नों के समाधान से पुष्पचूल को पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ और वह अपने राजप्रासाद में लौट गई । उस रात्रि में देव ने उसे स्वर्ग के अत्यन्त मनोहारी एवं असीम आनन्दोत्पादक दृश्य दिखाये ।”

प्रातःकाल पुष्पचूला ने अन्निकापुत्र से अपने इन नवीन सुखद स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा । अन्निकापुत्र ने द्वादश देवलोकों, अनुत्तरविमानों आदि के देवों की महर्द्धि, सुदीर्घायु, शक्ति, ऐश्वर्य एवं सुख आदि का वर्णन करते हुए कहा कि अरिहंत, गुरु, साधु और धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति रखने वाले प्राणी के लिये स्वर्गसुखों की प्राप्ति एक साधारण एवं सुसाध्य कार्य है । सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से प्राणी समस्त कर्मसमूह को ध्वस्त कर परमपद निर्वाण प्राप्त करता है ।

अन्निकापुत्र द्वारा किये गये विवेचन से पुष्पचूला ने संसार का वास्तविक स्वरूप समझ लिया । उसने संसार के घोर दुःखों से सदा के लिये अपना उद्धार करने का हृदय संकल्प अभिव्यक्त करते हुए अन्निकापुत्र से प्रार्थना की — “भगवन् ! मुझे इस संसार से विरक्ति हो गई है, मैं अपने पति से आज्ञा लेकर आपके पास संयम ग्रहण करूंगी ।”

पुष्पचूला ने राजप्रासाद में लौट कर अपने पति के समक्ष अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा — “देव ! मैंने हृदय निश्चय कर लिया है कि मैं प्रव्रजित हो तपश्चरणपूर्वक संसृति के दुःखों के मूल कारण कर्मसमूह का समूल नाश करूंगी । मुझे आज्ञा दीजिये, मैं प्रव्रजित होना चाहती हूँ ।”

पुष्पचूल ने अपनी पत्नी के हृदयनिश्चय को देख कर कहा — “मैं तुम्हें उस ही दशा में प्रव्रजित होने की आज्ञा दे सकता हूँ जब कि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि प्रव्रजित होने के पश्चात् भी तुम इस राजप्रासाद के ही किसी एक स्थान में रहोगी और राजप्रासाद से ही भीक्षा ग्रहण करोगी ।”

पुष्पचूला ने अपने पति के उस आग्रह को स्वीकार कर दीक्षा ग्रहण कर ली एवं पूर्णरूपेण निर्दोष श्रमणाचार का पालन करते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया और वह राजप्रासाद में रहकर धीरे तपश्चर्याएं करने लगी।

कालान्तर में अन्निकापुत्र ने अपने ज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक भीषण दुष्काल का आगमन जान कर अपने श्रमणसंघ को अन्यत्र भेज दिया और वे जराजीर्ण शिथिलांग होने के कारण पुष्पभद्रा नगरी में ही रहे।

वृद्धावस्था के कारण अन्निकापुत्र को चलने फिरने में भी कठिनाई होती थी अतः आर्या पुष्पचूला प्रतिदिन राजप्रासाद के अन्तःपुर से निर्दोष आहार-पानी समय पर ला कर देती। संसार की प्रसारता के चिन्तन एवं अपने वृद्ध गुरु अन्निकापुत्र की बड़ी लगन के साथ उत्कट भावना से सेवा करने के फलस्वरूप पुष्पचूला को एक दिन केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब तो पुष्पचूला केवलज्ञान की धारिका होने के कारण अन्निकापुत्र के मन में जिस-जिस कार्य अथवा वस्तु के लिये विचार उत्पन्न होता उसे तत्काल पूर्ण कर देती। एक दिन अन्निकापुत्र ने पूछा - "जिस वस्तु की जिस समय मैं इच्छा करता हूं, तत्काल वह वस्तु मुझे मिल जाती है। तुम्हें मेरे मनोगत विचारों का ज्ञान कैसे हो जाता है?"

पुष्पचूला ने उत्तर दिया - "भगवन् ! मैं आपकी रुचि को पहचानती हूं।"

एक दिन वर्षा हो रही थी, उस समय पुष्पचूला ने आहार ला कर अन्निकापुत्र के समक्ष रखा। उन्होंने कहा - "तुम तो श्रमणाचार को सुचारु रूप से जानने वाली और सम्यकरूपेण पालन करने वाली हो, फिर इस वर्षा में तुम आहार ले कर कैसे आईं?"

पुष्पचूला ने कहा - "भगवन् ! जिस मार्ग में पानी अचित्त हो गया, उस मार्ग से मैं आहार-पानी लायी हूं। अतः आहार लाने में किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं लगा है।"

"वत्से ! तुमने यह कैसे जान लिया कि उस मार्ग में अप्काय (जल) अचित्त (जीवरहित) हो गया है?" अन्निकापुत्र ने साश्चर्य प्रश्न किया।

केवली पुष्पचूला ने कहा - "भगवन् ! मुझे केवलज्ञान की उपसन्धि हो गई है।"

यह सुनते ही अन्निकापुत्र ने पश्चात्ताप भरे स्वर में कहा - "भगवती ! आप मुझे क्षमा करें। मैंने केवलज्ञानी की आसातना की है। मेरा वह पाप निष्कल हो जाय।"

अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण स्वर में अन्निकापुत्र ने केवली पुष्पचूला से पूछा - "प्रभो ! मुझे निर्वाण की प्राप्ति होगी अथवा नहीं?"

केवली पुष्पचूला ने कहा - "आप चिन्ता न करें ! गंगा नदी को पार करते समय आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हो जायगी।"

यह सुन कर अन्निकापुत्र केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गंगा की ओर चल पड़े। गंगातट पर पहुंच कर अन्निकापुत्र भी अन्य लोगों के साथ नाव में बैठे। नाव गंगानदी में प्रवाहित की गई। नाव जब गंगा के मध्य-भाग में पहुंची तो अचानक उस ओर से पानी में डूबने लगी जिस ओर कि अन्निकापुत्र बैठे हुए थे। यह देख कर अन्निकापुत्र नाव में दूसरी ओर बैठे। उनके बैठते ही नाव उस ओर से पानी में डूबने लगी। जिस-जिस ओर अन्निकापुत्र सरकते, नाव उस ही ओर से पानी में डूबने लगती। अन्त में अन्निकापुत्र नाव के बीच में बैठे तो पूरी नाव ही पानी में डूबने लगी। यह देख कर नाव में बैठे हुए अन्य व्यक्तियों ने अन्निकापुत्र को उठा कर गंगा के प्रवाह में फेंक दिया।<sup>१</sup> अन्निकापुत्र शान्तभाव से प्राणिमात्र पर दया रखते हुए विचार करने लगे—“मेरे इस शरीर के द्वारा पानी के कितने जीवों का विनाश हो रहा है?”

इस प्रकार का विचार करते-करते अन्निकापुत्र का चिन्तन क्षणक्षणी पर आरूढ़ हुआ और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान की प्राप्ति के तत्काल पश्चात् अन्निकापुत्र शुक्लध्यान के तीजे और चौथे चरण में प्रविष्ट हुए और उस ही समय समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

मत्स्य, मच्छ आदि जलचर प्राणियों ने मुनि के पापिव शरीर को खा डाला और उनकी करोटी (टुड़ी सहित कपाल) घड़ से अलग हो गंगा की धाराओं में इधर-उधर बहती हुई गंगा के किनारे एक स्थान पर आ लगी। संयोगवत् पाटली वृक्ष का बीज उस करोटी में आ घुसा और कुछ ही समय पश्चात् उस करोटी की दाहिनी हनु (टुड़ी) को फोड़ कर एक पाटल वृक्ष का छोटा सा पौधा अंकुरित हुआ। वह पौधा समय पाकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर गया। यह वही पाटली का पवित्र वृक्ष है, जिस पर कि यह चाप पक्षी बैठा हुआ है।<sup>१</sup>

वृद्ध नैमित्तिक से पाटली वृक्ष के सम्बन्ध में सारा विवरण सुन कर अन्य सभी नैमित्तिक आश्चर्यभरी दृष्टि से उस पाटली वृक्ष को देखने लगे।

<sup>१</sup> आवश्यक पूर्णि। आवश्यक हारिमद्रीया, पत्र ६८६

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि ज्यों ही अन्निकापुत्र को गंगानदी में फेंका गया त्यों ही पूर्वजन्म में देर रखने वाली एक ब्यन्तरी ने उन्हें मूल पर उठा लिया। मूल से बिधे हुए अन्निकापुत्र ने उत्कट भावनाओं के माध्यम से केवलज्ञान प्राप्त किया और तत्काल वे मुक्त हुए।

यथा : ततो नीलितसोकेन, सूरिः चिञ्जेपि वारिणि ।

शूने न्यघात्प्रवचनप्रत्वनीकामरी च तम् ॥१६५॥

शूलप्रोतो पि गंगान्तः सूरिरैवमचिन्तयत् ।

महो वपुर्ममानेकप्राण्युपद्रवकारणम् ॥१६६॥

[परिक्रिष्टगर्वं, सर्ग ६]



तदनन्तर वह विशेषज्ञों का दल मगध की राजधानी के लिये नवीन नगर बसाने हेतु उस स्थान को सर्वश्रेष्ठ स्थान निश्चित कर महाराज उदायी के पास चम्पा पहुंचा। उन लोगों से उस स्थान की विशेषता और महिमा सुन कर मगधपति उदायी बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने मुख्यामात्य को आदेश दिया कि शुभ मुहूर्त में गंगा के तट पर पाटली वृक्ष के पास नगर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय।

महाराज उदायी के आदेशानुसार इस कार्य से सम्बन्धित मगध के उच्च निर्माण अधिकारी, स्थापत्य एवं वास्तुकला के लब्धप्रतिष्ठ शिल्पी, निमित्तज्ञ और हजारों कर्मकार गंगातट पर पाटली वृक्ष के पास पहुंचे। नगरी के लिये आवश्यक भूमि का माप करना प्रारम्भ किया गया। नाप करने के लिये सांकलें (जरीबें) डाली जाने लगीं। मुख्य नैमित्तिक ने कहा - "डोरी को पकड़े हुए पहले पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर बढ़ो। जब तक शृगाल न बोले तब तक पश्चिम दिशा की ओर बढ़ते ही जाओ। शृगाल के बोलते ही वहां रुक जाओ और फिर पश्चिम दिशा से उत्तर दिशा की ओर बढ़ते जाओ। उत्तर दिशा में भी बढ़ते हुए जिस जगह पहुंचने पर शृगाल की ध्वनि सुनो वहीं रुक जाओ और फिर वहां से पूर्व दिशा की ओर बढ़ो। शृगाल का शब्द सुनते ही पूर्व की ओर बढ़ना भी रोक दो तथा वहां से दक्षिण दिशा की ओर बढ़ना प्रारम्भ करो और शृगाल के बोलते ही वहां रुक जाओ।"

नैमित्तिक के परामर्शानुसार पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर, उत्तर से पूर्व और अन्त में पूर्व से दक्षिण की ओर डोरी डालने वाले बढ़े। शृगाल के बोलते ही उस दिशा की ओर बढ़ना बन्द कर उपरिर्वाणित दिशाक्रम से बढ़ते गये और इस प्रकार नगर बसाने के लिए एक सुविस्तीर्ण भूखण्ड का माप किया जाकर उस पर चारों ओर चिन्ह अंकित कर दिये एवं नगर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। उस नगर के निर्माण में छोटे-से-छोटे कर्मकार से लेकर बड़े-से-बड़े शिल्पी ने अथक श्रम, अद्भुत कला-कौशल, और उत्कट कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया। विस्तीर्ण राजपथों, सुन्दर मुख्य मार्गों, सीधे उपमार्गों, गगनचुम्बी राजप्रासादों, भव्य भवनों, विशाल व्यापारिक केन्द्रों, अति सुरम्य अतिथिगृहों, आकर्षक बाजारों, स्थान-स्थान पर बापियों, कूपों, तड़ागों एवं बाटिकाओं आदि से सुशोभित अति कमनीय नगरी का निर्माण पूरा हुआ। शुभ मुहूर्त में उदायी ने उस नगर का नाम पाटलीपुत्र रखा और मगध की राजधानी चम्पा से हटाकर इसी पाटलीपुत्र में प्रतिष्ठापित की।

सोन नदी और गंगा नदी के संगम स्थल के पास गंगा नदी के दक्षिणी तट पर पाटलीपुत्र नामक यह नगर मगधपति उदायी ने अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख वायुपुराण में किया गया है। यथा -

अष्टाविंशत्समा राजा विविशो भविष्यति ।

पञ्चविंशत्समा राजा दर्शकस्तु भविष्यति ॥१७७॥

उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।

स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुमुमाह्वयं ।

गंगाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥१७८॥ [वा० पु० अ० ६१]

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों, वैदिक परम्परा के पुराणग्रन्थों और गर्ग संहिता में यही अभिमत सर्वसम्मत रूप से दिया गया है कि मगधपति उदायी, उदयाश्व अथवा उदाई भट्ट ने पाटलीपुत्र नगर बसाया। वायुपुराण में कूणिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है।

अशोक की राज्य-सभा में यूनान की ओर से मेगस्थनीज नामक राजदूत कई वर्षों तक पाटलीपुत्र में रहा। उसने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में पाटलीपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा है :

“पाटलीपुत्र नगर का आवासस्थल ८० स्टुडिया अर्थात् ६३ माइल लम्बा, १५ स्टुडिया अर्थात् १ माइल और १२७० गज चौड़ा है। इसके चारों ओर लकड़ी का एक बड़ा मुट्ट परकोटा बना हुआ है जिसमें ५७० कोठे, (बुर्जे) और ६४ दरवाजे बने हुए हैं। इस परकोटे को चारों ओर से घेरे हुए एक खाई है, जो ६० फीट गहरी और २०० गज चौड़ी है।”

वर्तमान में परिवर्तित रूप से पाटलीपुत्र आज भी विद्यमान है, जिसको पटना कहते हैं।

जो कोई भी नवागन्तुक पाटलीपुत्र को देखता, उसके मुख से सहसा यही उद्गार निकल पड़ते — “अरे ! यह तो असीम आकाश में अवस्थित सुरलोक की राजधानी अलकापुरी ही अवनीतल पर अवतरित हो गई है।”

इस प्रकार स्वल्प समय में ही पाटलीपुत्र की ख्याति विभिन्नान्त में व्याप्त हो गई। देश-देशान्तरों से बड़े-बड़े लक्ष्मीपति श्रेष्ठी, उद्योगपति, समस्त विद्याओं के पारगामी विद्वान्, ज्योतिर्विद, साहित्यिक, आयुर्वेद-विशारद, वैयाकरण, सामन्त, जिल्वी और कलाकार आदि आ-आ कर पाटलीपुत्र के स्थायी निवासी बनने लगे।

महाराज उदायी द्वारा पाटलीपुत्र को मगध-की राजधानी बनाये जाने के पश्चात् पाटलीपुत्र भारतवर्ष का एक प्रमुख, सुन्दर, समृद्ध और अजेय नगर समझा जाने लगा। शनैः शनैः पाटलीपुत्र उद्योग, व्यापार, कलाकौशल, संस्कृति, शिक्षा और धर्म का एक बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। उदायी ने स्वयं द्वारा बसाये गये इस नगर की श्री-अभिवृद्धि में किसी प्रकार की कोर-कसर न रखी। वह पाटलीपुत्र में रहते हुए न्याय, नीति और धर्मपूर्वक शासन करने लगे। उन्होंने अपनी मन्त्रिपरिषद, माण्डलिक राजाओं, सामन्तों, विद्वानों, विशेषज्ञों और महापौरों के परामर्श से सभी वर्गों के लोगों के लिये सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का समुचित रूप से यथासमय प्रबंध कर पाटलीपुत्र की चहुंमुखी प्रगति करने में बड़ी तत्परता से कार्य किया। उदायी बड़ा दुर्धर्म योद्धा, नीति-निपुण और कुशल आसक्त था। उसने उदृण्ड सामन्तों और युद्धप्रिय राजाओं को

युद्ध में पराजित कर मगध के विशाल राज्य को निष्कण्टक-शत्रुविहीन बना कर प्रजा को सुशासन दिया ।

कुशल राजनीतिज्ञ एवं सुयोग्य शासक होने के साथ-साथ उदायी बड़े ही धर्मनिष्ठ थे । उनके हृदय में जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी । वे प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन नियमित रूप से पौषध किया करते थे ।

अपने शासन को सुदृढ़ बनाने हेतु उन्होंने अनेक उद्धत राजाओं एवं सामन्तों की सैन्यशक्ति को विच्छिन्न कर उन्हें राज्यच्युत किया । एक समय अपने वशवर्ती इसी प्रकार के एक उद्धत राजा द्वारा उनके प्रति किये गये विद्रोह को दबाने के लिये उदायी ने उसके राज्य पर आक्रमण किया । युद्ध में वह विद्रोही राजा बुरी तरह पराजित हुआ और इसी शोक से कुछ ही समय पश्चात् उसका प्राणान्त हो गया । उस मृत विद्रोही राजा का बड़ा राजकुमार अपने पिता की मृत्यु और राज्य छिन जाने से क्रुद्ध हो उदायी से बदला लेने की सोचने लगा । भीषण प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो वह उज्जयिनी गया । उस समय उज्जयिनी में चण्डप्रद्योत के पौत्र का राज्य था ।

चण्ड प्रद्योत और श्रेणिक के समय से ही मगध और मालवा के राजवंशों में परस्पर शत्रुता एवं स्पर्धापूर्ण सम्बन्ध चले आ रहे थे । अतः राजकुमार ने मालवपति की सेवा में उपस्थित हो उदायी से प्रतिशोध लेने का अपना संकल्प प्रकट किया । उदायी जैसे प्रबल प्रतापी एवं शक्तिशाली राजा के साथ लुटे रूप में टक्कर लेने का मालवपति साहस न कर सका और उसने केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे यह कह कर विदा किया कि उपयुक्त अवसर आने पर ही कुछ किया जा सकता है ।

विद्रोही राजकुमार के हृदय में प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो रही थी । उचित अवसर की प्रतीक्षा करने का उसमें धैर्य नहीं रहा अतः वह राजकुमार छद्म वेष में पाटलिपुत्र पहुँचा और महाराजा उदायी पर कपट-पूर्वक प्राणघातक प्रहार करने की अन्तर में दुराशा छुपाये रात-दिन किसी उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा । विद्रोही राजकुमार ने उदायी के प्राणों से अपनी प्यास बुझाने के मार्ग में सभी प्रकार के छल-छद्म का सहारा लिया किन्तु राजकीय सुदृढ़ रक्षा व्यवस्था के कारण उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में किञ्चित्मात्र भी सफलता प्राप्त नहीं हुई । अपनी असफलता पर हताश होने के स्थान पर वह प्रतिशोध लेने के लिये दिव्य अतिदिन और अधिक उत्तेजित रहने लगा । अहनिश इस उधेड़-बुन में रहते-रहते अन्ततोगत्वा उसने अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिये एक जघन्य उपाय ढूँढ़ निकाला ।

उसने देखा कि उदायी जैन साधुओं का अनन्य भक्त है । प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को वह अपनी पौषधशाला में श्रमणों को आमन्त्रित करता है और उनसे पौषध ग्रहण कर अहनिश उनकी सेवा में रहता है । श्रमणों पर

पूरा विश्वास होने के कारण सुरक्षा व्यवस्था उन दिनों में केवल पौषधशाला के बाहर ही रहती थी। पौषधशाला के अग्र्यन्तर कक्ष में किसी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था नहीं रहती। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उस विद्रोही राजकुमार ने एक आचार्य की सेवा में उपस्थित हो निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की। अपने अन्तर में प्रतिशोध की आग को गुप्त रखते हुए वह प्रकट में सभी प्रकार के श्रमणाचार का समीचीन रूप से पालन करने लगा। विनय, परिचर्या आदि गुणों के कारण वह स्वल्प समय में ही सब साधुओं का विश्वासपात्र और प्रीतिभाजन बन गया।

इस प्रकार उस विद्रोही राजकुमार को श्रमणाचार का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये। विविध क्षेत्रों में विहार करते हुए जैनार्च्य एक दिन पाटलीपुत्र नगर में पधारे। अष्टमी के दिन उदायी ने उन आचार्य को राजप्रासाद में अवस्थित अपनी पौषधशाला में उपदेश देने के लिये प्रार्थना की। उदायी की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन आचार्य महाराज ने अपने उस छद्मवेषधारी शिष्य को उपकरणादि ले कर राजप्रासाद में चलने के लिये कहा। अपने चिर-प्रतीक्षित कार्य की सिद्धि का समय सन्निकट आया समझ कर वह छद्मवेषधारी शिष्य मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अन्य उपकरणों के साथ-साथ अपनी दीक्षा के समय से ही छुपाकर साथ में रखी हुई कंकलोहनिमित्त छुरी भी अपने साथ रख ली और वह अपने धर्माचार्य का पदानुसरण करता हुआ राजप्रासाद में पहुंच गया। उदायी ने भक्तिपूर्वक आचार्य और उनके शिष्य को सविधि बन्दन कर पौषधश्रत ग्रहण किया। आचार्य श्री ने राजकीय पौषधशाला में प्रवचन दिये। दिन भर उदायी ने आचार्य महाराज की सेवा में रह कर उनसे धर्मचर्चा की। रात्रि में भी एक प्रहर तक धर्मचर्चा का क्रम चलता रहा। तदन्तर अपने शिष्य सहित धर्माचार्य और महाराजा उदायी ने पौषधशाला में ही शयन किया। महाराजा उदायी और आचार्य को निद्राधीन समझ कर वह छद्मवेषधारी साधु चुपके से उठा और बड़ी सावधानी से उदायी के पास आया। उसने १२ वर्ष पूर्व अपने पास छुपा कर रखी हुई तीक्ष्ण छुरी को दाहिने हाथ में दृढ़तापूर्वक पकड़ा और उससे उदायी की गर्दन काट दी। उदायी की हत्या करने के पश्चात् वह साधु वेषधारी विद्रोही राजकुमार पौषधशाला से बाहर निकला। “यह साधु शारीरिक शंका की निवृत्ति हेतु बाहर जा रहा होगा” यह समझ कर द्वारपालों ने उसे नहीं रोका और इस प्रकार वह उदायी का हत्यारा पाटलीपुत्र से भाग निकलने में सफल हुआ।

उदायी के घड़ और मस्तक से बहे रुधिर से आर्द्र होने पर आचार्य की निद्रा भंग हुई। उदायी की कटी हुई ग्रीवा के पास ही लहू से लथपथ छुरी और अपने शिष्य की अनुपस्थिति को देख कर उन्हें वस्तुस्थिति को समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। उन्हें तत्काल विश्वास हो गया कि उनके शिष्य के वेष में वस्तुतः उदायी का कोई घोर शत्रु छुपा हुआ था और वह उदायी की हत्या करने के पश्चात् वहाँ से पलायन कर गया है। जिनशासन और जिनवाणी को अपकीर्ति

से बचाने के लिये उन्होंने तत्काल अपना प्राणान्त करने का निश्चय किया। आलोचना-प्रतिक्रमण करके आचार्य महाराज ने उदायी के हत्यारे द्वारा घटना-स्थल पर छोड़ी गई छुरी से अपना मस्तक काट कर अपना प्राणान्त कर लिया।<sup>१</sup> इस प्रकार आवश्यक चूर्ण, आवश्यक वृत्ति, परिशिष्ट पर्व आदि प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण संवत् ६० में, आर्य जम्बूस्वामी के संघाधिनायकत्व काल में ही शिशुनागवंश के अन्तिम राजा संततिविहीन उदायी की हत्या के साथ ही मगध राज्य पर शिशुनागवंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। उदायी का हत्यारा विद्रोही राजकुमार साधुवेष का परित्याग कर उज्जयिनी के अधीश्वर के पास पहुंचा और उसे स्वयं द्वारा की गई उदायी की हत्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उज्जयिनी के महाराजा ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—“बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक महान् आचार्य की सेवा में रहते हुए श्रमणाचार के पालन करने के अनन्तर भी तुम्हारी पाशविक मनोवृत्ति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं आया, इससे सिद्ध होता है कि तुम एकान्ततः अविश्वसनीय नराधम हो। तुम यथाशीघ्र मेरी राज्य-सीमा से बाहर निकल जाओ।”

अवन्तीपति द्वारा तिरस्कृत हो कर वह विद्रोही राजकुमार वहां से चला गया। वह जहां कहीं जाता लोगों द्वारा यह कह कर दुत्कारा जाता कि यह उदायीमारक है।

अनेक इतिहासज्ञों द्वारा आशंका प्रकट की जाती है कि कौशाम्बी के राजा उदयन के जीवन की अन्तिम घटना को मगधपति उदायी के साथ किसी समय भ्रान्तिवश अथवा भूल से जोड़ दिया गया है। उनका अभिमत है कि वत्सपति उदयन पुत्र विहीन था और उसके किसी शत्रु ने साधु का छद्मवेष धारण कर उसकी हत्या की थी। मगधपति उदायी न तो पुत्र विहीन ही था और न उसकी किसी के द्वारा हत्या ही की गई थी। वस्तुतः यह एक गहन शोध का विषय है। भारतीय वाङ्मय से भिन्न 'महावंशों' के ऐतिहासिक कतिपय उल्लेखों से इस प्रश्न की जटिलता और भी बढ़ गई है।

### नन्दवंश का अभ्युदय

प्रायः श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक चूर्ण आदि सभी ग्रंथों में नन्दवंश के अभ्युदय के मन्त्रन्ध में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है :-

मगधपति महाराजा उदायी की हत्या से कुछ समय पूर्व वेश्या के गर्भ से उत्पन्न पाटलिपुत्र निवासि नन्द नामक एक नापित पुत्र ने रात्रि की अवसान बेला में स्वप्न देखा कि उसने अपनी आंनों से समस्त पाटलिपुत्र नगर को परिवेष्टित कर लिया है। नन्द ने प्रातःकाल होते ही अपने उपाध्याय को अपना स्वप्न

<sup>१</sup> एहिरेण आयरिया पञ्चानिया, उद्धिया, गच्छति रायाणम वाकाइयं, मा पवयरास्स उडाहो होहिति आलोइय पडिवकनो अपणो सोमं छिदेई. कालगमो से एवं।

[आवश्यक हारिभद्रिया, पत्र ६६०]

सुनाया। उपाध्याय स्वप्नशास्त्र का मर्मज्ञ था। नन्द के मुख से उसके स्वप्नदर्शन की बात सुनकर वह उसे अपने घर ले गया। वहाँ उसने नन्द को नहला-धुला एवं सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। उपाध्याय की पुत्री के साथ पाणिग्रहण संस्कार होने के उपरान्त नन्द उपाध्याय के घर पर ही रहने लगा। उपाध्याय ने नन्द के लिये एक सुन्दर पालकी का प्रबन्ध कर दिया, जिसमें बैठकर नन्द अपनी इच्छानुसार नगर में परिभ्रमण करने लगा।

मगधपति उदायी के कोई पुत्र नहीं था, इसलिये उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी के रूप में, किसको मगध के राज्यासिंहासन पर, अभिषिक्त किया जाय, यह प्रश्न मंत्रियों एवं अधिकारियों के समक्ष उपस्थित हुआ। बड़े विचार-विनिमय के पश्चात् मन्त्रियों द्वारा उदायी के पट्टहस्ती, प्रमुख अश्व, छत्र, कुम्भकलश और चंवरों को मन्त्राभिषिक्त किया गया एवं उन्हें राज्यप्रासाद की परिधि में घुमाया जाने लगा। कुछ समय तक प्रासाद के प्रांगण में घुमाने के पश्चात् पट्टहस्ती, प्रधान अश्व आदि पाँचों दिव्य प्रासाद के बाहर आये। पालकी में आसीन नन्द को उधर से निकलते हुए देखकर पट्टहस्ती ने चिंघाड़ते हुए अपनी सूंड से कुम्भकलश को उठाकर उसके जल से नन्द का अभिषेक कर दिया। प्रधानाश्व भी नन्द के पास पहुंचा और नन्द को उसने अपनी पीठ पर बैठा लिया। ज्योंही नन्द उस प्रधानाश्व की पीठ पर बैठा त्योंही वह प्रधानाश्व हर्षातिरेक-वशात् बड़े जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। उदायी का राजछत्र भी स्वतः ही नन्द के मस्तक पर तन गया और नन्द के दोनों ओर मन्त्राधिष्ठित वे दोनों चामर स्वतः ही अदृश्य शक्ति से प्रेरित हो व्यजित होने लगे।

यह सब चमत्कार देखकर अमात्यों, मन्त्रियों, प्रमुख पौरों एवं नागरिकों ने मिलकर बड़े आनन्दोल्लास एवं उत्सव के साथ नन्द का मगध के राज्यासिंहासन पर राज्याभिषेक कर दिया। नन्द का मगध के सिंहासन पर यह राज्याभिषेक वीर निर्वाण के पश्चात् ६० वर्ष व्यतीत हो जाने पर वीर नि० सं० ६१ में हुआ।<sup>१</sup> प्रारम्भ में नन्द के सामन्तों, द्वारपालों और अंगरक्षकों तक ने उसे नापितपुत्र समझकर उसका सम्मान, आज्ञापालन आदि नहीं किया किन्तु कुछ ही समय में उसके प्रबल पुण्य के प्रताप से वे सभी उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करने लगे। राजा नन्द किसी सुयोग्य एवं विश्वासपात्र व्यक्त को अपने कुमारा-मात्य के पद पर नियुक्त करना चाहता था। अतः वह रातदिन किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में रहने लगा।

### महान् अमात्य वंश का उद्भव

पाटलिपुत्र नगर में मगध की राजधानी स्थानान्तरित हो जाने के अनन्तर कपिल नामक एक विद्वान् एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण अपनी गृहिणी के साथ पाटलि-

<sup>१</sup> अनन्तर बह्मिनीमतामितिर्वाणवामरात्।

गतायां पठित्वात्सर्वामिप नन्दोऽभ्यन्तूपः ॥२४३॥ [परिशिष्ट पर्व. सर्ग ६]

पुत्र नगर में आया और वह उस नगर से कुछ ही दूर पर घर बनाकर वहाँ निवास करने लगा। कालान्तर में एक स्थविर मुनि अपने शिष्यों सहित विचरणा करते हुए कपिल ब्राह्मण के निवासस्थान पर पहुँचे। उस समय सूर्यास्त होने ही वाला था इसलिये वे मुनि कपिल से आज्ञा प्राप्त कर अपने शिष्यों सहित उसकी यज्ञशाला में रात्रिविश्राम के लिये ठहर गये।

कपिल के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये जैन साधु धर्म के गूढ़ रहस्य और तत्त्वों के ज्ञाता हैं या नहीं। वह रात्रि के समय उनके पास पहुँचा और उसने उन मुनि के साथ धर्मवर्चा प्रारम्भ की। मुनि के मुख से जीव, अजीवादि तत्त्वों और धर्म की अश्रुतपूर्व विशद व्याख्या सुनकर वह मुनि-चरणों में श्रद्धावनत हो गया और उन्हें अपना गुरु बनाकर उसने उनसे श्रमणोपासक धर्म अंगीकार कर लिया।<sup>१</sup> दूसरे दिन वे मुनि वहाँ से विहार कर अन्यत्र विचरणा करने लगे।

कपिल द्वारा श्रावकधर्म स्वीकार किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् एक अन्य आचार्य विहारक्रम से विचरणा करते हुए वहाँ पहुँचे और कपिल से अनुज्ञा प्राप्त कर उसके घर में ठहरे। दूसरे ही दिन कपिल की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस नवजात शिशु को व्यन्तरियों ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर निश्चेष्ट कर दिया। कपिल जैन साधुओं के तप, त्याग एवं तेजस्विता से बड़ा प्रभावित था। उसने अपने उस निस्संज्ञ पुत्र को उठाकर साधुओं द्वारा सुखाने के लिये उल्टे रखे गये एक पात्र के नीचे रख दिया। उन तपोधन महर्षियों के पात्रजल के स्पर्शमात्र से ही शिशु व्यन्तरियों के दुष्ट प्रभाव से सदा के लिये विमुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया। मुनियों द्वारा कल्प किये जाने वाले पात्रों के जल के प्रभाव से उस शिशु की जीवन-रक्षा हुई, इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये कपिल ने अपने उस पुत्र का नाम कल्पाक रखा। कल्पाक ने अपने पिता से समस्त विद्याओं एवं जैनागमों का अध्ययन किया। कालान्तर में कल्पाक के माता और पिता का देहान्त हो गया।

कल्पाक अपने समय का एक उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके घर पर विभिन्न विषयों के विद्यार्थियों की भीड़ रहने लगी। कल्पाक जब नगर में जाता तो उसके पीछे उसके शिष्यों की भीड़ लग जाती। पाटलिपुत्र के निवासी कल्पाक का बड़ा सम्मान करते थे। अपने पिता द्वारा प्राप्त श्रावक धर्म के संस्कारों के कारण कल्पाक बड़ा संतोषी विद्वान् था। धन-सम्पत्ति के संग्रह करने का कभी कोई विचार तक भी उसके मन में उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर लेने की प्रार्थनाएं कल्पाक से कीं पर कल्पाक ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया।

<sup>१</sup> तस्यामेव हि तामस्यां धर्मदेशनया तथा ।

श्रावकः कपिलो जज्ञेऽआचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७]

कल्पाक जिस मार्ग द्वारा अपने घर से पाटलिपुत्र नगर में जाता-आता था, उस ही मार्ग पर एक ब्राह्मण रहता था । उसकी एक कन्या जलोदर रोग से ग्रस्त थी अतः अनिन्द्य सुन्दरी होते हुए भी किसी ब्राह्मण कुमार ने उसके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया । उस कन्या के रजस्वला होने पर ब्राह्मण बड़ा चिन्तित हुआ और अपने आपको भ्रूण हत्या करने वाले अपराधी के तुल्य पापी समझते हुए अपनी कन्या के विवाह का कोई उपाय सोचने लगा । बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसे एक उपाय सूझा । उसने अपने घर के सम्मुख मार्ग के पास ही कूपतुल्य एक गड्ढा खोदा और कल्पाक को इस मार्ग से आते देखकर उसने अपनी कन्या को उस गड्ढे में ढकेल दिया और जोर-जोर से चिल्लाने लगा — “जो व्यक्ति मेरी कन्या को इस गहरे गड्ढे में से निकालेगा उस ही को मैं अपनी यह कन्या दे दूंगा ।”

कल्पाक कन्या के गड्ढे में गिर पड़ने की बात सुनते ही दौड़ कर गड्ढे के पास गया । उस ब्राह्मण के अन्तिम वाक्य को कल्पाक ने नहीं सुना । वह दया से द्रवीभूत हो गड्ढे में उतरा और उस कन्या को पकड़ कर गड्ढे से बाहर ले आया । ब्राह्मण ने कल्पाक से कहा — “मैंने उच्च-स्वर में कहा था कि जो इस कन्या को इस कूपिका से निकालेगा उस ही को मैं यह कन्या दूंगा । मेरी उस प्रतिज्ञा को सुन कर आपने इसे निकाला है अतः आप इसके साथ पाणिग्रहण कीजिये । आप सत्यसन्ध हैं ।” कल्पाक उस ब्राह्मण की बात सुन कर अवाक् खड़ा का खड़ा रह गया । अन्ततोगत्वा विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी उसे उस ब्राह्मण-कन्या के साथ विवाह करने की स्वीकृति देनी पड़ी । सकल विद्यानिष्णात कल्पाक ने आयुर्वेदिक औषधियों के प्रयोग से उस ब्राह्मण कन्या को जलोदर रोग से विमुक्त कर उसके साथ विवाह कर लिया ।

कल्पाक की विद्वत्ता और प्रत्युत्पन्नमती सम्बन्धी यशोगाथाएं सुन कर महाराज नन्द ने उसे अपना कुमारामात्य बनाने का निश्चय कर अपने पास बुलाया और उसे मगध राज्य के प्रधानामात्य का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की । कल्पाक ने नन्द की प्रार्थना को अस्वीकृत करते हुए कहा — “राजन् ! समय पर दो रोटी के अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार का परिग्रह बढ़ाने की इच्छा नहीं है । महत्वाकांक्षाओं से विहीन मेरे जैसे धर्मभीरु व्यक्तियों के लिये अमात्य जैसे गुरुतर पद के कर्त्तव्यों का निर्वहन करना सम्भव नहीं । अतः आप मुझे क्षमा प्रदान कीजिये, मैं इस पद को ग्रहण करने में असमर्थ हूँ ।”

कल्पाक द्वारा अपनी आज्ञा की अवहेलना से नन्द को बड़ा क्षोभ हुआ और वह उसे अपनी इच्छानुसार अपना आज्ञावर्ती अमात्य बनाने के लिये अहर्निश कल्पाक में किसी प्रकार के छिद्र का अन्वेषण करने में प्रयत्नशील रहने लगा । बहुत प्रयास करने पर भी नन्द उस स्वल्पसन्तोषी निरभिलाषी कल्पाक में किसी प्रकार का दोष न पा सका । बहुत सोच-विचार के पश्चात् नन्द ने अपने रंजक



(रंगरेज) से पूछा — “तुम्हारे ही घर की ओर कल्पाक पण्डित रहता है। वह तुमसे कभी अपने वस्त्र रंगवाता है अथवा नहीं ?”

रंजक ने सांजलि शीश झुकाते हुए उत्तर दिया — “पृथ्वीनाथ ! वे अपने घर के वस्त्र मुझ से ही रंगवाया करते हैं।”

नन्द ने आज्ञासूचक स्वर में कहा — “अब जब कभी वह तुम्हें वस्त्र रंगने के लिये दे तो उन वस्त्रों को उसे लौटाना मत।”

“जो आज्ञा महाराज !” कह कर रंजक ने नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य किया और वह वहाँ से अपने घर चला गया।

एक दिन कौमुदी महोत्सव का समय समीप आया समझ कर कल्पाक की पत्नी ने अपने पति से कहा — “कान्त ! मेरे इन बहुमूल्य वस्त्रों को आप राजा के रंजक से रंगवा दीजिये।”

कल्पाक ने पहले तो यह सोच कर अपनी पत्नी की बात की उपेक्षा की कि त्यौहार के दिनों में राजमान्य रंजक किराये के लोभ में किसी अन्य को वे सुन्दर वस्त्र दे सकता है किन्तु वह अपनी पत्नी के आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सका और अन्त में उसने अपनी पत्नी के वस्त्र उस राज-रंजक को रंगने हेतु दे दिये।

उत्सव के दिन कल्पाक रंजक के घर पर गया और उससे वस्त्र मांगे। राजाशा का अनुपालन करते हुए रंजक ने कल्पाक को वस्त्र नहीं लौटाये। कल्पाक अनेक बार रंजक के घर पर वस्त्र लेने गया पर हर बार रंजक ने उसे कोई न कोई बहाना बना कर बिना वस्त्र दिये ही लौटा दिया। इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। तृतीय वर्ष का प्रारम्भ होने पर एक दिन कल्पाक पुनः रंजक के घर पर पहुँचा और उसने पूर्ववत् उससे अपने वस्त्रों की मांग की। रंजक द्वारा पुनः एक नया बहाना बनाने और वस्त्र न लौटाने के कारण कल्पाक अत्यन्त क्रुद्ध स्वर में कहने लगा — “ओ परमाधम रंजक ! तू बड़ा अद्भुत चोर है, अब तो मेरे वस्त्र भी जीर्ण होने आये हैं। तुमने मुझे बहुत परेशान किया है। पर याद रखना, अब तो मैं अपने वस्त्र तेरे रक्त से रंग कर ही ले जाऊँगा।” यह कह कर कल्पाक क्रुद्ध सर्प की तरह फूत्कार करता हुआ अपने घर की ओर लौट गया।

दूसरे दिन सूर्यास्त हो जाने पर कल्पाक ने अपना छुरा अपनी बगल में छुपाया और वह क्रुद्ध मुद्रा में रंजक के घर की ओर बढ़ा। रंजक के द्वार पर पहुँच कर कल्पाक ने क्रोधावेश भरे स्वर में पुकारा — “ओ नराधम ! मैं पिछले दो वर्षों से सेवक की तरह तेरे घर पर आता रहा हूँ। आज तू स्पष्ट उत्तर दे कि मेरे वस्त्र देता है अथवा नहीं ?” क्रुद्ध यमराज की तरह भृकुटी ताने हुए कल्पाक को देख कर रंजक भय से सिहर उठा। उसने हड़बड़ाहट भरे स्वर में अपनी स्त्री से कहा — “ओ लक्ष्मी ! शीघ्रतापूर्वक आपके वस्त्र ला कर आपको दे दे।” “रंजकपत्नी ने तत्काल गृह के अन्त्यन्तर कक्ष से वस्त्र लाकर कांपते हुए हाथों से कल्पाक के समक्ष रख दिये। अपनी पत्नी के वस्त्रों को देखकर कल्पाक

ने अपने बगल में छुपाई हुई छुरी को निकाला। एक दो क्षण उस छुरी को अपने हाथ में नचाते हुए कल्पाक ने ब्रह्मराक्षस की तरह भीषण अट्टहास किया और लपक-भपक कर उस छुरी के प्रहार से रजक का पेट चीर डाला। रजक धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और उसके उदर से रक्तधारा बह निकली। कल्पाक ने उस रजक के लहू में अपनी पत्नी के वस्त्रों को रंगा। अपने पति को निश्चेष्ट पृथ्वी पर छटपटाते देखकर रजकपत्नी ने करुण क्रन्दन करते हुए कल्पाक से कहा— “ब्राह्मण देवता ! आपने मेरे निरपराध पति को व्यर्थ ही मार डाला है। हमारा कोई अपराध नहीं, हमने तो महाराज नन्द की आज्ञा से अनुबद्ध होने के कारण आपको वस्त्र नहीं दिये।” यह कहकर रजकपत्नी फूट-फूटकर रोने लगी।

विलक्षण बुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ लिया। उसने मन ही मन सोचा — “अच्छा, तो महाराज नन्द ने अपनी आज्ञा का अनुपालन करवाने हेतु यह पड्यंत्र रचा है। इस रजक की हत्या के अपराध में राजपुरुष मुझे पकड़ कर ले जायँ, उससे पहले ही मुझे महाराज नन्द के समक्ष उपस्थित हो जाना चाहिये।”

इस प्रकार का निश्चय कर कल्पाक तत्काल त्वरित गति से मगधपति महाराज नन्द के राजभवन की ओर प्रस्थित हुआ। कल्पाक को दूर से देखते ही नन्द ने अनुमान लगा लिया कि उसका दूरदक्षिणापूर्ण प्रपंच आज रंग ले आया है और उसकी मनोकामना आज पूर्ण होने जा रही है। वह मन ही मन अपार आनन्द का अनुभव करने लगा। ज्योंही कल्पाक ने उसके कक्ष में पैर रखा कि नन्द अपने सिंहासन से उतर कर कल्पाक के सम्मुख आया। बड़े आदर के साथ उसने कल्पाक को अपने पास ही के एक उच्च सिंहासन पर बैठाया। नन्द ने कल्पाक के मुख के हाव-भावों से उसकी आभ्यन्तरेच्छा का परिज्ञान कर लिया। अपनी कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त अवसर देखकर नन्द ने अत्यन्त मधुर स्वर में कल्पाक से प्रार्थना की — “त्रिद्वन् ! आप मगधराज्य का प्रधानामात्य पद स्वीकार कर मगधराज्य की सर्वतोमुखी प्रगति एवं श्रीवृद्धि कीजिये।”

“यथाज्ञापयति देव !” कहकर कल्पाक ने महाराजा नन्द की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

एक नीतिनिष्णात सुयोग्य विद्वान् को अपने प्रधानामात्य के रूप में प्राप्त कर नन्द ने अपने आपको कृतकृत्य माना। नन्द ने अत्यन्त हर्षविभोर हो अपने हृदय में सुदीर्घकाल से कण्ठक के समान खटकने वाली अनेक विकट समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में कल्पाक के सम्मुख कतिपय गूढ़ प्रश्न रखे। सुतीक्ष्ण-बुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण उन समस्याओं के समाधान सम्बन्धी सहज उपाय नन्द के सम्मुख प्रस्तुत किये, जिन्हें सुनकर नन्द बड़ा प्रसन्न, प्रभावित एवं चमत्कृत हुआ।

जिस समय महाराज नन्द और कल्पाक मन्त्रणा कर रहे थे, उस ही समय रजकों का एक प्रतिनिधिमंडल महाराज नन्द के दरबार में कल्पाक के विरुद्ध

अभियोग प्रस्तुत करने नन्द के प्रसाद में उपस्थित हुआ पर ज्यों ही उस प्रतिनिधि मंडल के सदस्यों ने देखा कि कल्याक महाराजा नन्द के अति सन्निकट एक उच्चासन पर बैठा है और राजा उसके साथ गूढ़ मन्त्रणा में निरत हैं, तो वे सभी रंजक भय एवं आश्चर्य से अभिभूत हो बिना कुछ बोले चुपचाप अपने-अपने घरों की ओर लौट गये।

महाराज नन्द ने तत्काल अपने पहले के प्रधानामात्य को अपदस्थ कर कल्याक को मगध का प्रधानामात्य बनाया। राजा ने कल्याक को प्रधानामात्य की मुद्रा, चिन्ह, अधिकार एवं सुख-सुविधा आदि प्रदान की। प्रधानामात्य का पदभार वहन करने के पश्चात् कल्याक ने बड़ी कुशलता से शांति, दाम, दण्ड, भेद आदि के प्रयोग से क्रमशः नन्द के समस्त शत्रु राजाओं को वश में कर लिया और दूर-दूर तक मगध राज्य का विस्तार कर दिया। कल्याक के नीतिनैपुण्य के कारण प्रथम नन्द की भारत के महान् शक्तिशाली महाराजाओं में गणना की जाने लगी।

### मगध सम्राट् उदायी तथा उसके उत्तराधिकारी नन्द (नन्दिबर्द्धन) के सम्बन्ध में विभिन्न माग्यताएं

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व में<sup>१</sup>, श्री जिनदास गणि महत्तरं ने आवश्यक चूर्ण में<sup>२</sup>, श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक वृत्ति में<sup>३</sup> तथा अनेक पूर्वाचार्यों एवं विद्वानों ने कतिपय ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में मगधसम्राट् उदायी की अनुभावस्था में हत्या किये जाने का उल्लेख किया है। भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति में एक स्थान पर उदायी की संततिविहीन दशा में हत्या किये जाने का तथा दूसरे स्थल में उदायी द्वारा अपने

<sup>१</sup> उदाय्यपुत्रगोत्रो हि परलोकमगदिति ।

तन्मान्तरे पंचदिव्यान्वभिविक्तानि मन्त्रिभिः ॥२३६॥

[परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

<sup>२</sup> रुचिरेण आचरिका द्विकका, पेच्छति राया विवावाडितो, मा पवयणस्स उद्वाहो होहितिति आलोइतपडिक्कंता अप्पणो सीसं छिदंति, तेवि कालगता, सोवि एयं । इतो य ष्हाविय-दासो.....सीयाए एगगं हिड्ढाविच्चति, सो य राया अंतेपुरपामेहि सेज्जावतीए विट्ठो, सहसा उ कूजितं, एतं, अपुत्तोति अण्णेण दारेण एीतो, सक्कारितो.....

[आवश्यकचूर्ण, भा० २, पृ० १८०]

<sup>३</sup> राजापि प्रमुत्त, तेनोत्थाय राजः शीर्षं निवेक्षिता,..... रुचिरेण आचार्याः प्रत्याद्रिताः, प्रेक्षन्ते राजानं व्यापादितं, मा प्रवचनस्य उद्वाहो भूदित्यालोचितप्रतिक्रान्ता आत्मनः शीर्षं छिन्दन्ति, कालगतास्त एव । इतश्च नापितशासायां नापितदास उपाध्यायाय कवचति-यथा ममाद्यान्त्रेण नगरं वेष्टितं, प्रभाते दृष्टं, स स्वप्नशास्त्रं जानाति, तदा ब्रूहि नीत्वा मस्तकं शीतं दुहिता च तस्मै दत्ता, दीपितुमारब्धः शिबिकया नगरं हिन्द्यते, सोऽपि राजा प्रन्तःपुरिकाग्रय्यापालिकाभिदृष्टः सहसा, कूजितं, जातः अपुत्र इत्यम्येन दारेण नीतः सत्कारितः, अश्वोऽधिवासितः, अभ्यन्तरे हिच्छितो मध्ये हिच्छितः बहिर्निर्गतो राजकुलात् तं नापितदारकं पृष्ठी लगयति प्रेक्षते च तं तेजसा ज्वलंतं राज्याभिवेकेणाभिविक्तो राजा जातः ।

[आवश्यक हरिभेदीयां, पत्र ६६०]

पुत्र अनुरुद्ध को राज्यभार सौंपा जा कर यात्रा, आत्मसाधना में निरत रहने का उल्लेख किया गया है।

लंका में लिखित बौद्ध ग्रंथ महावंश में तथा एक अन्य बौद्ध कृति अशोकावदान में मगधपति उदायी की मृत्यु के पश्चात् ६ वर्ष तक अनुरुद्ध और २ वर्ष तक मुन्द का मगध पर शासन रहने का उल्लेख किया गया है।

वायुपुराण में मगधसम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु कृष्णिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है और जैन ग्रंथों की मान्यता के अनुरूप उसके पुत्र का नाम उदायी बताया गया है। उदायी के पश्चात् वायुपुराण में नन्दिवर्द्धन को मगध का शासक बताते हुए लिखा गया है कि नन्दिवर्द्धन ने ४२ वर्ष तक मगध का शासन किया।<sup>१</sup>

श्रीमद्भागवत पुराण में उदायी को अज और उसके उत्तराधिकारी मगध के राजा नन्दिवर्द्धन (नन्द) को आज्ञेय के नाम से सम्बोधित किया गया है। गर्ग संहिता में उदायी को “धर्मात्मा उदयन” के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। बौद्धों के सर्वमान्य धर्मग्रंथ दीर्घनिकाय में उदायी का “उदायी भट्ट” नाम से परिचय दिया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुतः उदायी बड़ा शान्त, निश्चल, सौम्य और बहुत अच्छी प्रकृति का राजा था।

ऐतिहासिक महत्त्व के “महावंशो” नामक लंका में निर्मित ग्रंथ में उदायी के अनुरुद्ध और मुंद नामक दो पुत्रों के होने का जो उल्लेख किया गया है, उस उल्लेख के आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि उदायी ने अथवा उदायी के निर्देश से उसके बड़े पुत्र अनुरुद्ध ने लंका पर सैनिक अभियान किया एवं वहां के राजा को युद्ध में पराजित कर लंका में अनुरुद्धपुर नामक नगर बसाया और उसमें लंका की राजधानी प्रतिष्ठापित की। ‘महावंशो’ के आधार पर कतिपय विद्वानों ने उदायी के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र अनुरुद्ध का मगध साम्राज्य पर ६ वर्ष का और उसके पश्चात् उसके लघु सहोदर मुंद का दो वर्ष का शासनकाल माना है। किन्तु इन तथ्यों की किसी भी प्रामाणिक अभिलेख अथवा ग्रंथ आदि से न केवल पुष्टि ही नहीं होती अपितु प्राचीन जैन ग्रंथों एवं पौराणिक ग्रंथों में उदायी के पश्चात् दिये गये नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन के राज्य के उल्लेखों से ‘महावंशो’ की मान्यता का मूलतः निराकरण होता है। आज तक एक भी ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है, जिसमें उदायी के पश्चात् और नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन से पूर्व मगध पर अनुरुद्ध और मुंद के शासन का उल्लेख हो। ऐसी दशा में ‘महावंशो’ के आधार पर कतिपय विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई मान्यता को काल्पनिक न सही पर विश्वसनीय कभी नहीं माना जा सकता।

<sup>१</sup> श्लोक संख्या १७७-१७८ तथा :

इन्द्रवर्त्मानसमा भाव्यो राजा वं नन्दिवर्द्धनः । १७९॥

[वायुपुराण, अ० ६१]

वस्तुतः नन्द कौन था ?

आवश्यकचूर्ण, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, परिशिष्टपर्व तथा अनेक ग्रन्थ जैन ग्रन्थों में मगधसम्राट उदायी के पश्चात् मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन होने वाले नन्द को नापितदास, नापितपुत्र, एवं वैश्यापुत्र बताया गया है। इसके विपरीत वायुपुराण<sup>१</sup> और श्रीमद्भागवत पुराण में<sup>२</sup> इस नन्द का नन्दिवर्द्धन के नाम से परिचय देते हुए इसे उदायी का पुत्र बता कर इसकी गणना नागदशकों में की गई है। इस प्रकार सनातन परम्परा के इन दोनों मान्य पुराणों में नन्दिवर्द्धन को शिशुनागवंशी और उदायी का पुत्र माना गया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों में मगध के वाहीक कुलोद्भव शिशुनागवंशी राजाओं के नाम क्रमशः जितशत्रु, प्रसेनजित्, श्रेणिक (बिम्बसार), कूणिक (अजातशत्रु) और

- <sup>१</sup> हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं, शिशुनाको भविष्यति ॥१७३॥  
 वाराणस्यां सुतस्तस्य, संप्राप्स्यति गिरिव्रजम् ।  
 शिशुनाकस्य वर्षाणि, चत्वारिणदभविष्यति ॥१७४॥  
 शकवर्णः सुतस्तस्य षट्त्रिंशच्च भविष्यति ।  
 ततस्तु विधाति राजा क्षेमवर्मा भविष्यति ॥१७५॥  
 अजातशत्रुर्भविता पंचविंशत्समा नृपः ।  
 चत्वारिणत्समा राज्यं क्षत्रौजा प्राप्स्यते ततः ॥१७६॥  
 षष्टाविंशत्समा राजा बिबिसारो भविष्यति ।  
 पंचविंशत्समा राजा दशकस्तु भविष्यति ॥१७७॥  
 उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।  
 द्वाचत्वारिणत्समा भाव्यो राजा वै नन्दिवर्द्धनः ।  
 चत्वारिणत्त्रयं चैव महानन्दो भविष्यति ॥१७८॥  
 इत्येते भवितारो वै शिशुनाका नृपा दश ।  
 ज्ञातानि त्रीणि वर्षाणि द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ॥१८०॥

[ वायुपुराण, अ० ६१ ]

स्पष्टीकरण : रेखांकित पद के स्थान पर निम्नलिखित पद होना चाहिये क्योंकि इन नागदशकों का कुल मिला कर शासनकाल ३६२ वर्ष नहीं अपितु ३३२ वर्ष ही होता है:-  
 ..... द्वात्रिंशदधिकानि तु ॥

- सम्पादक

शिशुनागस्ततो भाव्यः, काकवर्णस्तु तस्मृतः ।  
 क्षेमवर्मा तस्य सुतः, क्षेत्रज्ञः क्षेमवर्मजः ॥१५॥  
 बिबिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।  
 दशकस्तस्मृतो भावी दशकस्याजयः स्मृतः ॥१६॥  
 नन्दिवर्द्धन भाजेयो, महानन्दिः सुतस्ततः ।  
 शिशुनागा दशवर्षे पष्ट्युत्तर शतत्रयम्, ॥१७॥  
 समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।

[ श्रीमद्भागवत् महापुराण, स्कन्ध १२, अ० १ ]

उदायी दिये हुए हैं।<sup>१</sup> इनसे पूर्व के इस वंश के राजाओं के नाम उपलब्ध जैन ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होते। ऐसी दशा में वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों में जो नागदशकों (शिशुनागवंशी दश राजाओं) के नाम दिये गये हैं, उनमें प्रथम ३ राजाओं, शिशुनाग, काकवर्ग और क्षेमधर्मा के नाम इस सूची में सर्वोपरि सम्मिलित करने और इस सूची के अन्त में नन्दिवर्द्धन और महानन्दि के नाम शिशुनागवंशियों में सम्मिलित करने पर ही नागदशक राजाओं की सूची पूर्ण होती है।

नागदशकों की नामपूर्ति के लिये सनातन परम्परा के पुराणों में वर्णित शिशुनागवंशियों के उपरिलिखित तीन पूर्वजों के नामों को ग्रहण करने और प्रामाणिक मानने में किसी को किञ्चित्मात्र भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये क्योंकि पूर्वकाल में घटित घटनाक्रम के संकलन एवं आलेखन का नाम ही इतिहास है। इतिहास में किसी देश, धर्म, जाति अथवा संस्कृति का विभेद नहीं होता, वह तो वस्तुतः अनादिकाल से अनवरतरूपेण घटित होने वाली घटनाओं का अक्षय्य, अथाह एवं अपार सागर है, जिसमें असंख्य गंगाओं के पूर के समान प्रतिदिन नवीनतम घटनाओं के प्रवाह आकर सम्मिलित एवं संचित होते रहते हैं। उस सबका संकलन आलेखन अथवा परिज्ञान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसी मानव की शक्ति की परिधि में नहीं आता। उस अथाह इतिहास सागर के गहन तल में गोते लगा लगाकर प्राचीनकाल से महान् आचार्य महर्षि और परमार्थी विद्वान् अपने-अपने प्रिय एवं अभीष्ट विषय का इतिहास खोज कर लिखते आये हैं। इस बात को हमें सदा ध्यान में रखना होगा कि आगमों, पुराणों एवं प्राचीन ग्रन्थों को उन आचार्यों, महर्षियों, महात्माओं और विद्वानों ने लिखा है— जिन्होंने समस्त ऐहिक आकर्षणों, लोकेषणाओं और अपनी कर्मेन्द्रियों तथा भावेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। उनके समस्त आलेखन का उद्देश्य केवल “जनहिताय” ही रहा। किसी तथ्य की स्मृति से स्वल्पना, पारम्परिक मान्यताभेद, विस्मृति

<sup>१</sup> अतीताद्यायां क्षितिप्रतिष्ठितं नगरं, जितशत्रु राजा, तस्य नगरस्य वस्तून्पुत्सन्नानि, अन्य नगरस्थानं वास्तुपाठकर्मार्थं गति, तैरेकं चणकक्षेत्रं अतीव पुष्पैः फलैश्चोपपेतं दृष्ट्वा अणकनगरं निवेशितं.....तत्र कुशाग्रपुरं जातं, तस्मिंश्च काले प्रसेनजित् राजा तच्च नगरं पुनः पुनः अग्निना दह्यते, तदा लोकभयजनननिमित्तं षोषयति यस्य गृहेऽग्निश्चितिष्ठति स नगरात् निष्काश्यते, तत्र महानसिकानां प्रमादेन राज एव गृहात् अग्निश्चित्यतः, ते सत्यप्रतिज्ञा राजानः निर्गतो नगरात् तस्मात् गम्युतमात्रे स्थितः, तदा दण्डिकभटभोजका वणिजश्च तत्र प्रव्रजन्तः भणन्ति क्व व्रजश्च ? आह राजगृहमिति, कुत आयाव ? राजगृहात् एवं नगरं राजगृहं जातं यदा च राज्ञो गृहेऽग्निश्चित्यतस्ततः कुमारा यत्स्य प्रियमश्वो हस्ती वा तत्तेन निष्काशिते श्रेणिकेन उष्का नीता। राजा पृच्छति केन किं नीतमिति ? अन्यो भणति—यया हस्ती, अश्व एवमादिः ; श्रेणिकः पृष्टः-भम्भा, तदा राजा भणति श्रेणिकं—एष ते सारो अग्नेति? श्रेणिको भणति—ओम् स च राज्ञोऽश्वस्तप्रियः, तेन तस्य नाम कृतं अश्वसार इति

अथवा लिपिक के दोष के कारण नामभेद, कालभेद आदि उन प्राचीन ग्रन्थों में मिल सकते हैं। पर इसके लिये किसी प्रकार की दूषित भावना का दोषारोपण उन पर नहीं किया जा सकता।

इन सब वास्तविकताओं पर विचार करने के पश्चात् पुराणों में उदायी के उत्तराधिकारी मगधपति नन्दिवर्द्धन और नन्दिवर्द्धन की मृत्यु के अनन्तर मगध के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने वाले महानन्दी को जो विशुद्ध शिशुनागवंशी बताया गया है, उस तथ्य को किसी भी दशा में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि जैन परम्परा के ग्रन्थों में उदायी को अपुत्र और उसके पश्चात् मगध के राज्यसिंहासन पर बैठने वाले नन्द को नापित एवं वेश्यापुत्र क्यों बताया गया है ? यद्यपि, जैन ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसका आश्रय लेकर इस प्रश्न का सर्वमान्य रूप से समाधान किया जा सके - किन्तु वायुपुराणदि में उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री के सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार करने और अनुमान प्रमाण का सहारा लेने पर इस प्रश्न का हल ढूँढा जा सकता है।

शिशुनाग से लेकर महानन्दी तक के नागदशकों का संक्षिप्त उल्लेख करने के पश्चात् भागवतकार और वायुपुराणकार ने लिखा है :-

मगधपति महानन्दी की शूद्रा पत्नी के गर्भ से नन्द नामक एक बड़ा बलवान् पुत्र होगा, जो महापद्म नामक निधि का स्वामी होगा और इसी कारण वह महापद्म नाम से भी विख्यात होगा। महापद्म समस्त क्षत्रिय राजाओं का अन्त करेगा। उस महापद्म के समय से ही राजा लोंग प्रायः शूद्र और अधार्मिक होंगे। वह पृथ्वी का एकच्छत्र शासक होगा। उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकेगा। क्षत्रान्तक होने के कारण वह एक प्रकार से दूसरा परशुराम होगा। उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे जो १०० वर्ष तक, पृथ्वी के राज्य का उपभोग करेंगे।”

वायुपुराण में भी पर्याप्तरूपेण इससे मिलता-जुलता ६ नन्दों का परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है :-

१ महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥५॥

महापद्मपतिःकश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।

ततो नृपाः भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥६॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः ।

शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥

तस्य चाष्टो भविष्यन्ति सुमाल्य प्रमुखाः सुता ।

य इमां भोक्षयन्ति महीं, राजानः स्म शतसमाः ॥११॥

[ श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय १ ]

“महानन्दी की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ कालोपेत (कृतान्तोपम) महापद्म नामक पुत्र समस्त क्षत्रियों के अनन्तर होगा। वह एकराट् और एकच्छत्र राजा होगा। उसके समय से ही प्रायः सभी राजा शूद्र होंगे। वह समस्त क्षत्रियों से बलपूर्वक कर ग्रहण कर विपुल धन एकत्रित करेगा और २८ वर्ष तक पृथ्वी पर शासन करेगा। उसके ८ पुत्र होंगे जो महापद्म की मृत्यु के पश्चात् क्रमशः राजा होंगे और वे कुल मिलाकर १२ वर्ष तक राज्य करेंगे।”

इस प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण और वायुपुराण के अनुसार नन्दिवर्द्धन और महानन्दी जिन्हें जैन परम्परा के ग्रन्थों में प्रथम नन्द और द्वितीय नन्द बताया गया है, विभुद्ध नामवंशीय राजा थे तथा महापद्म नन्द से शूद्र ६ नन्द राजाओं का राज्यकाल प्रारम्भ होता है।

धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण पुरातन काल में हुए धार्मिक संघर्षों, दुष्कालों, विदेशी आक्रमणों आदि के कारण प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के कतिपय अंशों में नष्ट हो जाने की दशा में यह संभव माना जा सकता है कि साहित्य का नव-निर्वाण करते समय जैन विद्वानों ने शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नन्द के जीवन की घटनाओं को नन्दिवर्द्धन के जीवनवृत्त के साथ जोड़कर उसे ही प्रथम नन्द समझ लिया हो। इस प्रकार की त्रुटि होना असंभव नहीं है क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में यह बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के छठे एवं सातवें गणधर आर्य मंडित और मौर्यपुत्र को कतिपय ख्यातनामा आचार्यों ने सहोदर बताकर उनकी समान नाम वाली माताओं को एक ही महिला मान लिया और अपने इस कथन की पुष्टि में यहां तक लिख दिया कि मंडित के पिता भनदेव की मृत्यु के पश्चात् मंडित की माता विजया ने मौर्य नामक एक ब्राह्मण नवयुवक से विधवा-विवाह कर लिया और मौर्य से विजया ने मौर्यपुत्र को जन्म दिया। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि आगमों में और स्वयं उन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में मौर्यपुत्र को मंडित से आयु में १३ वर्ष ज्येष्ठ बताया गया है।

इस प्रकार की ओर भी अनेक भूलें हुई हैं। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण में आगे बताया जायगा कि किस प्रकार एकादशांगी के अंशधर,

१ महानन्दिमुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः ।

उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तरे नृपः ॥१८५॥

ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः ।

एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥१८६॥

अष्टाविंशतिवर्षाणि पृथिवीं पालयिष्यति ।

सर्वक्षत्रास्तुतोद्घृत्य भाविनोऽर्षस्य वै वसात् ॥१८७॥

सहस्रास्तस्मृता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।

महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥१८८॥ [वायुपुराण, पृ० ६१]

श्लोक १८८ के प्रथम पाद में सहस्रा के स्थान पर साहसा होना चाहिये। - सम्पादक



नैमित्तिक भद्रबाहु और अंतिम श्रुतकेवली धनुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को एक ही भद्रबाहु मानने की भूल पिछली अनेक सदियों से आज तक चली आ रही है।

ठीक उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वत्सपति उदयन का अपुत्रावस्था में मृत्यु हुई और कालान्तर में उदायी और उदयन नामों में यत्किञ्चित् समानता होने के कारण उदायी के लिये यह मान्यता लोगों के मन में घर कर गई कि उसकी मृत्यु संततिविहीन दशा में हुई। इसके परिणामस्वरूप शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए महापद्मनन्द को घटना को उदायी के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन के साथ जोड़कर उसे ही प्रथम नन्द माना जाने लगा।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदायी का उत्तराधिकारी उदायी के पश्चात् मगध के राज्य सिंहासन पर आसीन होने वाला नन्दिवर्द्धन शिशुनागवंशीय ही था न कि नापितपुत्र अथवा वेश्यापुत्र।

नन्दिवर्द्धन के विशुद्ध शिशुनागवंशीय होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि वत्सपति उदयन की पुत्री का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ सम्पन्न हुआ था।

### अवन्ती का प्रद्योत राजवंश

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीर निर्वाण संवत् के प्रारम्भ होते ही प्रथम दिन में उज्जयिनी के भ्रवीश्वर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का अवन्ती (मालव) राज्य के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक हुआ। उस समय महत्वाकांक्षी मगधपति कृष्णक अपने राज्यविस्तार में जुटा हुआ था। कृष्णक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र को भूलुपिडत कर देने के पश्चात् मगध की गणना एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में की जाने लगी थी। मगधपति के प्रचण्ड प्रताप के कारण चण्डप्रद्योत के शासनकाल में अजित अवन्ती राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा भी शनैः शनैः क्षीण होने लगी थी।

पालक के राज्यारोहण के कुछ ही समय पश्चात् उसके छोटे भाई गोपाल ने आर्य सुधर्मा के उपदेश से विरक्त हो उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली थी। पालक के दो पुत्र थे, बड़ा अवन्तीवर्धन और छोटा राष्ट्रवर्धन। पालक ने उज्जयिनी में रहते हुए अवन्ती राज्य पर २० वर्ष तक शासन किया। पालक के शासनकाल में अवन्ती राज्य में कोई विशेष रूप से उल्लेखनीय घटना घटित हुई हो, ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

वीर निर्वाण सं० २० में आर्य सुधर्मास्वामी के निर्वाणगमन से कुछ समय पूर्व पालक ने अपने बड़े पुत्र अवन्तीवर्धन को उज्जयिनी का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद देकर आर्य सुधर्मा स्वामी के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

प्रद्योत राजवंश की इन तीन पीढ़ियों के घटनाक्रम का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वह यह है कि जिस दिन चण्डप्रद्योत का जन्म हुआ उस ही दिन बौद्धधर्म के प्रवर्तक भ० बुद्ध का जन्म हुआ था। जिस दिन बुद्ध को

बोधिलाभ हुआ, उसी दिन चण्डप्रद्योत उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर बैठा और जिस दिन चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस ही दिन चण्डप्रद्योत का देहावसान हुआ ।<sup>१</sup>

जिस दिन पालक का राज्याभिषेक हुआ उस ही दिन गौतमस्वामी को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई और आर्य सुधर्मस्वामी श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर बने । वीर निर्वाण संवत् २० में आर्य सुधर्मा स्वामी ने परमपद निर्वाण प्राप्त किया, उसी वर्ष में अवनती के अधीश्वर पालक ने अपने बड़े पुत्र को राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की<sup>२</sup> और पालक का बड़ा पुत्र अवनतीवर्धन अवनती के राज्यसिंहासन पर आरोहण हुआ ।

युवराज राष्ट्रवर्धन राज्यसंचालन में अपने बड़े भाई अवनतीवर्धन को सहायता करने लगा । एक दिन अवनतीवर्धन ने अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की अतिरूपवती पत्नी धारिणी को उद्यान में क्रीड़ा करते हुए देखा । उद्यान में किसी पुष्य की उपस्थिति की उसे आशंका नहीं थी, इसलिये वह निस्संकोचभाव से क्रीड़ा में निरत थी । अवनतीवर्धन अपनी भ्रातृजाया के अंगप्रत्यंगों के सौष्ठवपूर्ण गठन और अनुपम सौन्दर्य को प्रच्छन्न रूप से देख कर उस पर मुग्ध हो गया । उसने कामासक्त हो अपनी विश्वस्त दासी को धारिणी के पास भेज कर अपनी आन्तरिक अभिलाषा से उसे अवगत कराया । धारिणी ने अवनतीवर्धन के पापपूर्ण प्रस्ताव को ठुकराते हुए क्रुद्ध हो कहा — ‘उस कामुक से कहना कि क्या तुम्हें अपने भाई से भी लज्जा का अनुभव नहीं होता ।’

राजा अवनतीवर्धन ने कामान्ध हो षड्यन्त्र कर अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की रहस्यमय हत्या करवा दी । अपने पति की मृत्यु से दुःखित हो धारिणी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु उज्जयिनी का परित्याग करना ही श्रेयस्कर समझा । रात्रि के अन्धकार में अपने पोगण्ड-पुत्र अवनतीसेन को सोते छोड़कर धारिणी अपने और अपने मृत पति के मूल्यवान् आभरण लेकर उज्जयिनी के राजप्रासादों से निकली और प्रच्छन्नरूप से किसी सार्थ के साथ कौशाम्बी की ओर चल पड़ी । कौशाम्बी पहुंचने पर धारिणी कौशाम्बी के राजा की यानशाला में ठहरी हुई साध्वियों की सेवा में उपस्थित हुई और उसने उनके पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । इस उर से कि कहीं साध्वियां उसे प्रव्रजित ही न करें, धारिणी ने उनके समक्ष यह बात प्रकट नहीं की कि वह गर्भिणी है । थोड़े ही समय के पश्चात् महत्तरिका (गुरुणी) ने उसके गर्भ की बात ज्ञात होने पर धारिणी से उसके गर्भ के सम्बन्ध में पूछा ।

<sup>१</sup> देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५४५ से ५४३ - सम्पादक

<sup>२</sup> इतो य उज्जेणीये पञ्चोत्सुता दोष्णि पालमो गोपालमो य, गोपालमो पम्बइतो पालमो रज्जे ठितो, तस्स दो पुत्ता पालको भवतिवद्धणं राजाणं रज्जवद्धणं जुवरायाणं ठ्वेत्ता पम्बइतो [भाव० चूणि, भा० २ पृ० १८६]

(ख) ती राज-युवराजो च, कृत्वाभूत्पालको वती ।

[भावश्यक कथा]

धारिणी ने अपना परिचय देते हुए अपने साथ घटित हुई सारी घटनाएं अपनी गुरुणी के समक्ष निवेदित कर दीं। गर्भकाल पूर्ण होने पर रात्रि के समय धारिणी ने एकान्त स्थान में पुत्र को जन्म दिया। उसके पुत्र के सम्बन्ध में लोकों में निरर्थक चर्चा न चल पड़े, इस अभिप्राय से धारिणी ने अपनी नामांकित मुद्रिका, आभरणा और अपने पति के आभरणों की गठरी प्रच्छन्न स्थान से खोद कर निकाली और उसके साथ उस बालक को कौशाम्बी के राजप्रासाद के प्रांगण में ले जा कर रख दिया। उसका पुत्र किसी उचित स्थान पर पहुंचता है अथवा नहीं, यह देखने के लिये धारिणी एक अन्धकार-पूर्ण स्थान में बैठ गई। उसे वहां बैठे कुछ ही क्षण व्यतीत हुए होंगे कि नवजात शिशु चिल्लाया। शिशु का रुदन सुन कर कौशाम्बी नरेश अजितसेन प्रासाद से नीचे आया और मणिरत्नाभरणों की गठरी सहित उस बालक को उठा कर अपने प्रासाद में ले गया। अजितसेन ने नवजात शिशु को राजमहिषी के अंक में सुलाते हुए कहा— “देवि! देव ने हमें इस राज्य का उत्तराधिकारी दिया है।” राजदम्पति निस्संतान था अतः पुत्र के समान ही उस शिशु का राजकीय ऐश्वर्य और लाड-प्यार के साथ लालन-पालन होने लगा। भवन्तीसेन ने उस शिशु को अपना पुत्र घोषित करते हुए उसका नाम मणिप्रभ रखा।

मन ही मन अपने पुत्र के भाग्य की सराहना करती हुई साध्वी धारिणी अपनी गुरुणी के पास लौट गई और उनसे निवेदन कर दिया कि मृत बालक का जन्म हुआ था अतः वह उसे एकान्त में छोड़ आई है। पुत्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व से उन्मुक्त हो धारिणी निरतिचार साध्वी धर्म का पालन करने लगी।

उधर उज्जयिनीपति भवन्तीवर्धन अनुताप की अग्नि में जलने लगा। अपने निरपराध भाई की हत्या करवाने का और धारिणी के न मिलने का शोक उसे ग्रहनिश संतप्त करने लगा। उसने अपने उस जघन्य अपराध के प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने भाई राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी के पुत्र भवन्तीसेन को उज्जयिनी का अधीश्वर बना कर लगभग वीर निर्वाण संवत् २४ में श्रायं जम्बूस्वामी के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करली।

धारिणी यदा-कदा कौशाम्बी जाने पर राजप्रासाद में जाती रहती थी। कौशाम्बीराज के अन्तःपुर की सभी स्त्रियां साध्वी धारिणी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखने लगीं और बालक मणिप्रभ भी उसके प्रति बड़ा स्नेह रखने लगा। क्रमशः मणिप्रभ युवा हुआ और अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् वह कौशाम्बी के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ।

कौशाम्बी-नृप क्षतानीक और भवन्तीपति चण्डप्रद्योत के समय से इन दोनों राजवंशों में वैर-विरोध पसा आ रहा था। किसी एक कारण को ले कर भवन्तीसेन ने अपनी बड़ी क्षत्त्रिकाली सेना के साथ कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया।

श्रवन्तीसेन द्वारा कौशाम्बी पर आक्रमण करने से कुछ समय पूर्व विजयवती नाम की महत्तरा की शिष्या विगतभया ने अनशन किया था। कौशाम्बी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविका संघ ने उस अवसर पर साध्वी के त्याग की महिमा करते हुए बड़े महोत्सव के साथ उसका अनेक प्रकार से सम्मान किया। इस घटना के थोड़े ही दिनों पश्चान् धर्मघोष और धर्मयश नामक दो साधुओं ने अपना अन्तिम समय समीप समझ कर अनशन करने का निश्चय किया। धर्मघोष मुनि के मन में लोगों द्वारा सम्मान और प्रतिष्ठा पाने की उत्कण्ठा जागृत हुई और यह सोच कर कि जिस प्रकार विगतभया साध्वी की प्रतिष्ठा हुई थी उसी प्रकार की उसकी भी होगी, उन्होंने कौशाम्बी नगरी में अनशन किया। धर्मयश मुनि को मान-सम्मान की किसी प्रकार की चाह नहीं थी अतः उन्होंने श्रवन्ती और कौशाम्बी के मध्यमार्ग में स्थित वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत की गुफा के एकान्त स्थान में अनशन करने का निश्चय कर उस ओर विहार किया। जिन दिनों धर्मघोष मुनि कौशाम्बी में अनशन कर रहे थे, उन्हीं दिनों श्रवन्तीसेन ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया।

शत्रु के भय से लोग अपने घरों से बाहर निकलते हुए भी हिचकते थे अतः अनशन धारण किये हुए धर्मघोष मुनि के पास कोई व्यक्ति नहीं गया और उनका प्राणान्त हो गया। नगर के चारों ओर श्रवन्तीराज की सेना का धेरा पड़ा था अतः नगर के परकोटे के द्वार को खोलना खतरे से खाली नहीं था। यह सोच कर लोगों ने धर्मघोष मुनि के शव को परकोटे की दीवार पर से शहर के बाहर फेंक दिया।

दोनों ओर से युद्ध की पूरी तैयारियां हो चुकीं थीं। उस समय साध्वी धारिणी ने भीषण नरसंहार को बचाने के लिये अपने निगूढ़ रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक समझा। धारिणी राजभवन में मणिप्रभ के पास पहुंची। साध्वी को देखते ही मणिप्रभ ने अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में प्रगाढ़ भक्ति के साथ उन्हें वन्दन किया। साध्वी ने कहा—“अपने सहोदर के साथ तुम्हारा यह युद्ध कैसा ?”

मणिप्रभ ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—“पूज्ये ! यह आप क्या कह रही हैं ? यह शत्रु मेरा सहोदर किस प्रकार हो सकता है ?”

इस पर साध्वी धारिणी ने आदि से अन्त तक समस्त वृत्तान्त सुनाते हुए बताया कि उसने उसे जन्म देते ही किस प्रकार, किस स्थान पर, किन-किन आभरणों एवं पहिचान के चिन्हों के साथ रखा और किस प्रकार कौशाम्बी के अधिपति महाराज अजितसेन उसे प्रांगण से उठा कर अपने अन्तःपुर में ले गये।

कौशाम्बी की राजमाता ने अपने समक्ष घटित हुई उन सब बातों की पुष्टि की, जो साध्वी धारिणी ने बताई थीं। नामांकित मुद्रिकाओं, राष्ट्रवर्धन तथा धारिणी के आभरणों पर अंकित नाम एवं राजचिन्हों आदि तथा मणिप्रभ

एवं साध्वी धारिणी की नासिका, ललाट एवं लोचनों की साम्यता से सब को दृढ़ विश्वास हो गया कि धारिणी मणिप्रभ की माता है और मणिप्रभ उसका पुत्र ।

सहसा मणिप्रभ के हर्षं गद्गद कण्ठ से हठात् उद्भूत हुए संसार के समस्त स्नेह और ममता के आगर — “मां ! मेरी मां !” इन मधुर स्वरों ने सभी उपस्थित नारियों के हृदयों को पिघला कर पानी-पानी कर दिया और वह पानी बने हृदय आंसुओं की झड़ियां बन कर अति प्रबल प्रवाह के साथ प्रवाहित हो उठे । कुछ क्षणों तक सभी की अन्तरात्माएं उस अथाह अश्रुसागर में स्नान करती हुई एक अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करती रहीं ।

मणिप्रभ ने नीरवता को भंग करते हुए कुछ दुविधा भरे स्वर में कहा — “पूज्ये ! मेरा रोम-रोम इसी समय ज्येष्ठार्थ के चरणों पर लुठित होने हेतु उत्कण्ठित हो रहा है पर जब तक वे इस तथ्य से अवगत हो मुझे अपने हृदय से लगाने के लिये उद्यत न हों तब तक मेरी ओर से किया गया इकतरफा मैत्री प्रस्ताव कायरता का प्रतीक और कौशाम्बी के राजवंश के लिये अपयश का जनक बन सकता है ।”

“मैं अभी अवन्तीसेन के पास जाकर उसे वस्तुस्थिति से परिचित किये देती हूँ ।” यह कह कर साध्वी धारिणी राजप्रासाद से प्रस्थित हो अवन्ती के सैन्यशिविर पर पहुंचीं । प्रतिहार से साध्वी के आगमन का समाचार सुनते ही अपनी अंगपरिचारिकाओं सहित अवन्तीसेन ने अपने शिविरकक्ष के द्वार पर उपस्थित हो साध्वी को बड़ी श्रद्धा के साथ वन्दन किया । कुछ वृद्धा परिचारिकाओं ने धारिणी के चरण पर स्फुट प्राकृतिक चिह्न को देखते ही उसे तत्काल पहिचान लिया । एक परिचारिका ने विस्फारित नेत्रों से अवन्तीसेन की ओर देखते हुए आश्चर्य एवं उत्सुकतामिश्रित स्वर में कहा — “महाराज ! ये तो हमारी स्वामिनी और उज्जयिनी के महाप्रतापी — चिरायु राजराजेश्वर की मातेश्वरी हैं ।”

माता की ममतामयी गोद से घिरवंचित पुत्र की, अपनी जननी को पहचानते ही क्या दशा हुई होगी, यह कल्पना की पहुंच के परे है । बड़े-बड़े भूपतियों के भालों को भूलुष्टित करने वाले अवन्तीपति अवन्तीसेन का मातृचरणों में झुकता हुआ भाल सहसा भूमि से छू गया । शिशु के समान सुबकियां भरते हुए अवन्तीसेन ने कहा — “मां ! तुम इतने वर्षों तक अपने लाड़ले से दूर क्यों रही ?”

साध्वी धारिणी ने अवन्तीसेन को आश्वस्त करते हुए संक्षेप में समस्त घटनाचक्र का विवरण सुनाने के पश्चात् कहा — “अवन्तीसेन ! प्रसन्न के तत्काल

<sup>1</sup> पशुतो मल्लिक-पवि कोसराजि ता वन बबसो, अस्तुति तंनि कोहि,

पश्चात् ही मैंने तुम्हारे जिस लघु सहोदर का परित्याग कर दिया था, वही तो आज का कौशाम्बीपति मणिप्रभ है। एक प्राण-दो शरीर-सहोदरों में परस्पर यह युद्ध कैसा ?”

वास्तविकता से अवगत होते ही भवन्तीसेन ने स्नेहविह्वल स्वर में कहा—  
“पूजनीये ! मैं अज्ञानतावश अपने दक्षिण हस्त से स्वयं के वाम हस्त को काटने जैसी मूर्खता कर रहा था। आपने हमें उपकृत किया है। क्षण भर पहले तलवार का प्रहार करने के लिये उद्यत मेरे बाहु-युगल अब मेरे लघु बान्धव को दुलार भरे प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध करने के लिये लालायित हो रहे हैं। कहां है मेरा वह प्राणप्रिय सहोदर ?”

तत्पश्चात् दोनों भाइयों का पहली बार मिलन हुआ। चरणों पर झुकते हुए अपने छोटे भाई को भवन्तीसेन ने भुजपाश में आबद्ध कर बड़ी देर तक अपने हृदय से चिपकाये रखा। दो राजवंशों के पीढ़ियों के वैर को दोनों नरेशों ने अपने प्रेमाश्रुओं के प्रवाह में बहा दिया। क्षण भर में ही यह समाचार दोनों सेनाओं के योद्धाओं और कौशाम्बी के घर-घर में विद्युत् के संचार की तरह प्रसृत हो गया। योद्धाओं के हाथों की चमचमाती हुई तलवारें म्यानों में रख दी गईं, शतघ्नियों के कानों में कूचियां डाली जाकर उनके मुख नीचे की ओर झुका दिये गये और रणभेरी संघब आदि रणवाद्यों के घोरारव के स्थान पर मृदंग, मशक, झांझ, बीणा, शहनाई आदि की कर्णप्रिय स्वरलहरियों की गूँज से समस्त वातावरण मृदुल, मोहक और मादक बन गया। क्षण भर पहले अज्ञानवश जो सेनाएं एक-दूसरे के खून से होली खेलने को उद्यत थीं, वे अब अज्ञान का परदा हटते ही परस्पर एक दूसरे को अबीर-मुलाल के रंग से शराबोर करने लगीं। इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा दिये गये विश्वकल्याणकारी अहिंसा के दिव्य संदेश को जन-जन तक पहुंचाने वाली सज्जग साध्वी धारिणी ने उस समय की मानवता को एक भीषण नरसंहार से बचा लिया।

बड़े आनन्दोल्लास और सम्मान के साथ भवन्तीसेन का कौशाम्बी में नगर प्रवेश करवाया गया। थोड़ी ही देर पहले जो कौशाम्बी के नागरिक आतताई के रूप में आये हुए भवन्तीसेन से आतंकित थे वे अब उसे अपना प्रिय अतिथि समझकर उस पर आनन्दविभोर हो पुष्पों की वर्षा करने लगे। अपने छोटे भाई के आग्रह पर भवन्तीसेन को एक मास तक कौशाम्बी में रुकना पड़ा। दोनों भाइयों ने सह-अस्तित्व की भावनाओं का समादर करते हुए दोनों राज्यों की प्रजा की सुख-समृद्धि में अभिवृद्धि करने वाली अनेक नीतियों का निर्धारण किया। भवन्तीसेन ने कौशाम्बी राज्य की जनता के हित के लिये अनेक लोकोपयोगी कार्यों को सम्पन्न करने हेतु अपार धनराशि दी। एक मास तक कौशाम्बी में अनेक प्रकार के मंगलमय महोत्सव मनाये गये।

अन्ततोगत्वा एक मास पश्चात् भवन्तीसेन ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। उसने आग्रहपूर्वक अपने छोटे भाई मणिप्रभ को भी साथ लिया। दोनों

भाइयों की प्रार्थना पर साध्वी धारिणी ने भी अपनी महत्तरा और अन्य साध्वियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए अवन्तीसेन और मणिप्रभ कौशाम्बी तथा उज्जयिनी के बीच में वत्सका नदी के तट पर पहुँचे।

उस समय तक धर्मयश मुनि यथाशक्य विहारक्रम से वहाँ पहुँच चुके थे और उन्होंने वत्सका नदी के पास के एक पहाड़ की गुफा में अनशन प्रारम्भ कर दिया था। उस निर्जन एकान्त स्थान में अनशन प्रारम्भ करने पर भी लोगों से यह बात छुपी न रह सकी और अनशन में स्थित धर्मयश मुनि के दर्शन करने के लिये दूर-दूर से श्रद्धालु नर-नारी बड़ी संख्या में आने लगे।

बहुत बड़ी संख्या में नर-नारियों के समूहों को अनवरत रूप से पहाड़ पर चढ़ते-उतरते देखकर उन दोनों राजाओं ने चरों से वहाँ लोगों के आवागमन का कारण पूछा। धर्मयश मुनि द्वारा अनशन किये जाने के समाचार सुनकर दोनों भाइयों ने वत्सका नदी के तट पर दोनों सेनाओं का पड़ाव डाला। धारिणी आदि साध्वियाँ, अवन्तीसेन, मणिप्रभ और उन दोनों राजाओं की सेनाओं ने पहाड़ पर चढ़कर गुफा में स्थित अनशन किये हुए मुनि के दर्शन किये। हजारों कण्ठों ने जयघोष कर मुनि के अपूर्व त्याग, वैराग्य और अनशन की महिमा का गान किया। मुनि के अनशन के अन्त तक साध्वी धारिणी की उसी स्थान पर ठहरने की इच्छा जानकर उन दोनों भाइयों ने भी अपनी सेनाओं के साथ उस ही स्थान पर रहने का निश्चय किया। मुनि धर्मयश के अनशन की यशोगाथाएं दिग्दिगन्त में दूर-दूर तक गई जाने लगीं। दिन भर उस पर्वत पर अनशनस्थ मुनि के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों का आवागमन बना रहता। अन्त में मुनि ने लम्बे अनशन के पश्चात् देहत्याग किया। अपूर्व श्रद्धा और सम्मान के साथ धर्मयशमुनि के पार्थिव शरीर का राजकीय ऋद्धि के साथ अन्तिम संस्कार किया गया। इस प्रकार किंचित्मात्र भी यश की कामना न करने वाले धर्मयश मुनि का यश चारों ओर छा गया।<sup>१</sup>

तदनन्तर अवन्तीसेन और मणिप्रभ ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। महत्तरिका ने भी धारिणी आदि साध्वियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया।

कौशाम्बीपति मणिप्रभ का बड़े महोत्सव के साथ अवन्तीसेन ने उज्जयिनी में प्रवेश करवाया। मणिप्रभ के सम्मान में राज्य और उज्जयिनी की प्रजा दोनों ही ओर से भानन्दोल्लास के साथ अनेक उत्सवों के आयोजन किये गये। कतिपय दिनों तक अपने अग्रज के साथ उज्जयिनी में रहने के पश्चात् मणिप्रभ अपने राज्य की राजधानी कौशाम्बी में लौट आया।

<sup>१</sup> ...ताद्यो भवन्ति-भक्तपञ्चकसातद्यो एव ता अम्हे अच्छामो, ताहे ते दोषि रायाणो ठिता दिवे दिवे महिम् करेति, कासगता एवं ते गया रायाणो, एवं तस्स मणिच्छमाणस्सवि जाता, इतरस्स इच्छमाणस्स न जाता पूजा। [आवश्यक पूर्णि, उत्तर भाग, पृ० १६१]

उज्जयिनी और कौशाम्बी राज्यों का दीर्घकाल तक बड़ा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा। पारस्परिक सहयोग, व्यापार तथा कला-कौशल एवं विद्या के आदान-प्रदान के कारण दोनों राज्यों के कोष और प्रजा की सुख समृद्धि में उन दिनों उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

कहा जाता है कि वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत पर आर्य सुधर्मा के श्रमण-संघ के मुनि धर्मयश के अनशनपूर्वक पण्डितमरण की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये उज्जयिनी के राजा अश्वन्तीसेन और कौशाम्बी के राजा मण्डप्रभ ने एक स्तूप का निर्माण करवाया था जो आज सांची के स्तूप के रूप में विख्यात है।<sup>१</sup> इस सम्बन्ध में समीचीन रूप से शोध करने और ठोस प्रमाण एकत्रित करने की आवश्यकता है।

### कौशाम्बी (वत्सराज्य) का पौरव राजवंश

केवलिकाल के प्रथम चरण में कौशाम्बी पर पौरव राजवंश का शासन रहा पर द्वितीय चरण में जैसा कि उज्जयिनी के प्रद्योत राजवंश के विवरण में बताया जा चुका है—कौशाम्बी के राजा अजितसेन ने निसन्तान होने के कारण अश्वन्ती के राष्ट्रबर्देन के नवजात पुत्र को अपने पुत्र की तरह पाला और उसका नाम मण्डप्रभ रखा।

अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् कौशाम्बी के राज्य सिंहासन पर मण्डप्रभ बैठा जो कि चण्ड प्रद्योत का प्रपौत्र था। इस प्रकार कौशाम्बी पर पौरव राजवंश के स्थान पर प्रद्योत राजवंश का अधिकार हो गया।

कौशाम्बी पति मण्डप्रभ के राज्यकाल की कतिपय घटनाओं का प्रद्योत राजवंश के परिचय में उल्लेख कर दिया गया है। उन घटनाओं के अतिरिक्त केवलिकाल में कौशाम्बी के राजवंश से सम्बन्धित कोई ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं के घटित होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

### कलिंग का चेदि राजवंश

केवलिकाल में वीर नि० सं० १७ तक चेदि राजवंश के राजा सुलोचन का राज्य रहा। हिमवन्त स्थिविरावली के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० १८ में सुलोचन के अपुत्रीवस्था में निधन पर वैशाली गणराज्य के अधीश्वर महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय को कलिंग के सिंहासन पर अभिषिक्त किया गया। हिमवन्त स्थिविरावली में यह उल्लेख किया गया है कि वैशाली के अधिपति चेटक ने कृष्णिक के साथ युद्ध में अपनी पराजय के पश्चात् अनशन द्वारा स्वर्गारोहण किया। उनके पुत्रों में से शोभनराय नाम का एक पुत्र अपने श्वसुर कलिंगपति सुलोचन के पास कनकपुर चला गया। कलिंगपति सुलोचन के कोई पुत्र

<sup>१</sup> जैन परम्परा नो इतिहास, भा० १, (त्रिपुटी महाराज) [पृ० ७४, ७६]



नहीं था अतः उन्होंने अन्तिम समय में अपने आमाता शोभनराय को कलिंग राज्य का अधिपति बनाकर परलोक गमन किया। शोभनराय जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला प्रमुख श्रमणोपासक था।'

केवलिकाल में केवल कलिंग के राजवंश का ही नहीं अपितु भारत के प्रायः सभी अन्य राजवंशों का तेज शिशुनागवंश के बढ़ते हुए प्रताप के समक्ष एक प्रकार से निस्तेज तुल्य ही रहा।

अहं वेसाली लयराहिवो चेडभो शिवो सिरि महावीर तिल्ययरस्सुकिट्ठो समणोवासभो मासी । से एं शिय भाइल्लिज्जेणं चंपाहिवेणं कुण्णिगेणं संगामे अह्मिण्णिसित्तो अणसणं किच्चा सणं पत्तो । तस्सेगो सोहणरायनामधिज्जो पुत्तो तन्नो उच्चलिनो शिय ससुरस्स कनिगाहिवस्स सुळोयण लामधिज्जस्स सरणं गधो । सुलोयसो वि शिण्णुत्तो तं सोहणरायं कलिंग रज्जे ठाइत्तां परलोभातिहिं आमो । तेणं कालेणं तेणं समएणं वीराओ अट्ठारस वासेसु विइक्कत्तेसु से सोहणराओ कलिंग त्सिए कण्णपुरम्मि अभिसित्तो । से वि य एं जिण्णम्मरओ तत्य तित्थभूए कुमरगिरिम्मि कयजत्तो उक्किट्ठो समणोवासगो होत्था ।

[हिमवन्त स्थविरावली, धप्रकाशित]



## श्रुतकेवली-काल

(वीर निर्वाण संवत् ६४ से १७०)

श्रुतकेवली-काल के आचार्य :

**आचार्य प्रभवस्वामी**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ६४ से ७५

**आचार्य सद्यंभवस्वामी**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ७५ से ९८

**आचार्य यशोभद्रस्वामी**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ९८ से १४८

**आचार्य संभूतविजयस्वामी**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. १४८ से १५६

**आचार्य भद्रबाहुस्वामी**

आचार्यकाल – वी. नि. सं. १५६ से १७०



## श्रुतकेवली-काल

वीर नि० सं० ६४ में केवलिकाल की समाप्ति के साथ ही श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ। श्रुतकेवली का मतलब है समस्त श्रुतशास्त्र अर्थात् द्वादशांगी का केवली के समान पारगामी ज्ञाता एवं व्याख्याता। आगम में श्रुतकेवली को जीव, अजीव आदि समस्त तत्त्वों के व्याख्यान में केवली के समान ही समर्थ बताया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार श्रुतकेवलिकाल वीर नि० सं० ६४ से वीर नि० सं० १७० तक रहा और श्रुतकेवलिकाल की उस १०६ वर्ष की अवधि में निम्नलिखित ५ श्रुतकेवली हुए :-

- |                   |                  |
|-------------------|------------------|
| १. प्रभवस्वामी    | २. सय्यंभवस्वामी |
| ३. पशोभद्रस्वामी  | ४. संभूतविजय-और  |
| ५. भद्रबाहुस्वामी |                  |

दिगम्बर मान्यता :- दिगम्बर परम्परा के अंधिकांश ग्रन्थों एवं प्रायः सभी पट्टावलियों में वीर नि० सं० ६२ से वीर नि० सं० १६२ तक कुल मिला कर १०० वर्ष का श्रुतकेवलिकाल माना गया है। दिगम्बर परम्परा द्वारा सम्मत ५ श्रुतकेवलियों के नाम एवं उनका आचार्यकाल इस प्रकार है :-

- |                             |                        |
|-----------------------------|------------------------|
| १. विष्णुनन्दि अपरनाम नन्दि | वी० नि० सं० ६२ से ७६   |
| २. नन्दिमित्र " "           | वी० नि० सं० ७६ से ९२   |
| ३. अपराजित                  | वी० नि० सं० ९२ से ११४  |
| ४. गोवर्धन                  | वी० नि० सं० ११४ से १३३ |
| ५. भद्रबाहु प्रथम           | वी० नि० सं० १३३ से १६२ |

### ३. आचार्य प्रभवस्वामी

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभवस्वामी हुए। आप ३० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में, ६४ वर्ष सामान्य व्रतपर्याय में और ११ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य के रूप में रह कर शासन सेवा करते रहे। आपकी कुल व्रतपर्याय ७५ वर्ष और पूर्ण आयु १०५ वर्ष थी। आचार्य प्रभवस्वामी वीर निर्वाण संवत् ७५ में स्वर्ग पधारे।<sup>१</sup> आपका जीवन परिचय संक्षेप में इस प्रकार है :-

प्रभवकुमार विन्ध्याचल की तलहटी में स्थित जयपुर नामक राज्य के कात्यायन गौत्रीय क्षत्रिय महाराज विन्ध्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। राजकुमार प्रभव का जन्म ईसा पूर्व ५५७में विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर में हुआ। इन के लघु भाई का नाम सुप्रभ था। दोनों का लालन-पालन राजकुल के अनुरूप बड़े दुलार और प्यार के साथ हुआ। राजकुमार प्रभव को शिक्षा-योग्य वय में राज्याधिकारी राजकुमारों के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा दी गई। वे बड़े साहसी और तेजस्वी राजकुमार थे।

जिस समय राजकुमार प्रभव किशोरावस्था पार कर १६ वर्ष के हुए उस समय उनके पिता जयपुर नरेश विन्ध्य किसी कारणवश उनसे अप्रसन्न हो गये। उन्होंने क्रुद्ध हो राजकुमार प्रभव को राज्य के अधिकार से वंचित कर दिया और अपने कनिष्ठ पुत्र सुप्रभ को अपने राज्य का उत्तराधिकारी युवराज घोषित कर दिया।

#### डाकू सरदार प्रभव

अपने न्यायोचित पैतृक अधिकार से वंचित कर दिये जाने के कारण राजकुमार प्रभव को बड़ा मानसिक आघात पहुंचा और वे पिता से रुष्ट हो घर-द्वार छोड़ कर विन्ध्य पर्वत के विकट और भयानक जंगलों में रहने लगे। विन्ध्याटवी में रहने वाले लुटेरों ने साहसी एवं युवा राजकुमार प्रभव के साथ संपर्क स्थापित किया। लूट के अभियानों में राजकुमार प्रभव उन लुटेरों के साथ रहने लगे। प्रभव के पराक्रम और साहस को देख कर डाकूओं के गिरोह ने उन्हें अपना सरदार बना लिया। अब डाकू-सरदार प्रभव अपने ५०० डाकूओं के शक्तिशाली दल के साथ दिन-दहाड़े बड़े-बड़े कस्बों और ग्रामों को आये दिन लूटने लगे। डाकू-सरदार प्रभव को डकैती के अभियानों में ज्यों-ज्यों सफलताएं प्राप्त होती गई त्यों-त्यों उसकी महत्वाकांक्षाएं भी बढ़ती गई। अपनी महत्वा-

<sup>१</sup> गुरुपट्टावली, तपागच्छ पट्टावली आदि अनेक ग्रन्थों में गणना की भूल के कारण प्रभवस्वामी की सामान्य व्रतपर्याय ४४ वर्ष लिख दी है जब कि वह ६४ वर्ष होती है। गणना की इस त्रुटि के कारण आर्य प्रभव की कुल आयु भी उन स्थलों पर ८५ वर्ष ही लिखी है। वस्तुतः आ० प्रभव की कुल आयु १०५ वर्ष ही ठीक बैठती है। - संपादक

कांशाओं की पूर्ति के लिये उसने तालोद्धाटिनी विद्या — (मजबूत से मजबूत तालों को अनायास ही खोल डालने की विद्या) और “अवस्वापिनी विद्या” — (लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला देने वाली विद्या) — इन दो विद्याओं की भी प्रयत्नपूर्वक साधना कर ली। अपने शक्तिशाली डाकूदल और उपरोक्त दोनों विद्याओं के बल पर डाकू सरदार प्रभव बड़े से बड़े शहरों में रहने वाले धनाढ्यों के घरों में निशंक हो प्रवेश करता और बिना लहू की एक बूंद बहाये ही अपार सम्पत्ति लूटने में सफल हो जाता। चारों ओर डाकू सरदार प्रभव का भयंकर आतंक छा गया।

### प्रभव द्वारा श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर डाका

एक दिन डाकू सरदार प्रभव को उसके चरों ने सूचना दी कि राजगृह नगर में कुबेर के समान अपरिमित सम्पत्ति के स्वामी ऋषभदत्त श्रेष्ठी के पुत्र जम्बूकुमार का आठ बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली श्रेष्ठियों की ८ कन्याओं के साथ विवाह हुआ है और विवाह के अवसर पर जम्बूकुमार को अन्य अपरिमित दहेज के साथ-साथ कई करोड़ स्वर्णमुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं।

चरों के मुंह से जम्बूकुमार को दहेज में मिलने वाली सम्पत्ति और श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर में विद्यमान विपुल सम्पत्ति का व्यौरा सुन कर डाकूओं ने अपने सरदार प्रभवकुमार से कहा — “स्वामिन् ! इस अवसर का लाभ उठाने पर एक ही वार में इतनी सम्पत्ति मिल जायगी कि उससे हम सब लोगों की अनेक पीढ़ियां सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकेंगी।”

प्रभव ने इसे स्वर्णिम अवसर समझ कर अपने ५०० साथियों के साथ शस्त्रास्त्रों से सजधज कर राजगृह की ओर प्रयाण कर दिया।

रात्रि के समय तालोद्धाटिनी विद्या के प्रयोग से मुख्य द्वार खोल कर प्रभव ने अपने ५०० साथियों के साथ जम्बूस्वामी के गृह में प्रवेश किया। उसने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से विवाहोत्सव पर एकत्रित हुए सभी स्त्री-पुरुषों एवं घर के समस्त लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला दिया। तालोद्धाटिनी विद्या के प्रभाव से जम्बूकुमार के सुविशाल भव्य भवन के सभी कक्षों के ताले तत्क्षण खुल गये। प्रभव एवं उसके साथियों ने देखा कि सभी कक्ष अनमोल एवं अपार सम्पत्ति से भरे पड़े हैं।

### चोरों का स्तंभन

प्रभव के ५०० साथियों ने अवस्वापिनी विद्या के प्रभाव से प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए जम्बूस्वामी के अतिथियों के अंग-प्रत्यंगों से रत्नजटित अनमोल आभूषण उतारना और विभिन्न कक्षों से बहुमूल्य सम्पत्ति एकत्रित करना प्रारम्भ किया।

जम्बूस्वामी पर अवस्वापिनी विद्या का किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ था। जब उन्होंने देखा कि अतिथियों के अंगप्रत्यंग पर से चोरों द्वारा आभूषण

उतारे जा रहे हैं; तो उन्होंने घनरव गम्भीर स्वर में कहा—“तस्करो ! तुम लोग इन अतिथियों के आभूषण क्यों उतार रहे हो ?”

जम्बूस्वामी के मुख से उपरोक्त वाक्य के निकलते ही प्रभव के सभी ५०० साथी चित्रलिखित की तरह, जहां जिस मुद्रा में थे, वहां उसी रूप में स्तंभित हो गये ।<sup>१</sup>

अपने ५०० साथियों को चित्रलिखित से निश्चल मुद्रा में खड़े देख कर प्रभव को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने अपने उन साथियों में से कई का नाम ले ले कर उन्हें पुकारा, उनके कंधे पकड़-पकड़ कर भ्रुकभोरा पर सब व्यर्थ । वे सब ज्यों के त्यों खड़े के खड़े ही रह गये । प्रभव ने इसका कारण जानने के लिये एक के बाद एक, सारे कक्षों को देख डाला पर सर्वत्र निस्तब्धता और निद्रा का साम्राज्य था । जब वह जम्बूकुमार के शयनकक्ष की ओर बढ़ा तो उसने वहां तारिकाओं से घिरे हुए शरदपूणिमा के प्रकाशपुंज पूर्णचन्द्र के समान अपनी आठ नववधुओं के साथ सुखासन पर विराजमान जम्बूकुमार को देखा । प्रभव ने जम्बूकुमार को प्रगाढ़ निद्रा में सुला देने हेतु अपनी अस्वस्वापिनी विद्या का प्रयोग किया किन्तु उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उसकी कभी नहीं चूकने वाली उस विद्या का जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है ।

### प्रभव का जम्बू से निवेदन

प्रभव ने हाथ जोड़ कर जम्बूकुमार से कहा :—“भाग्यवान् ! मुझे निश्चय हो गया है कि आप कोई महापुरुष हैं । आपने कदाचित् सुना होगा, मैं जयपुर नरेश विन्ध्यराज का बड़ा पुत्र प्रभव हूँ । आपके प्रति मेरे हृदय में मैत्री के भाव प्रबल वेग से उमड़ रहे हैं । मैं आपके साथ मैत्री-सम्बन्ध चाहता हूँ । कृपा कर आप मुझे अपनी “स्तंभिनी” और ‘मोचनी’ विद्याएं सिखा दीजिये । मैं आपको तालोदघाटिनी और अस्वस्वापिनी नामक दो विद्याएं सिखाये देता हूँ ।”

इस पर जम्बूकुमार ने कहा—“सुनो प्रभव ! वस्तुस्थिति यह है कि मैं अपने समस्त कुटुम्बी जनों और अपरिमित वैभव का परित्याग कर कल ही प्रातःकाल प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ । वैसे मैंने भाव से सभी प्रकार के आरम्भ-समारम्भों का परित्याग कर दिया है । मैं पंचपरमेष्ठि का ध्यान करता हूँ अतः मुझ पर किसी विद्या का अथवा देवता का प्रभाव नहीं हो सकता । मुझे इन पाषाणभुङ्गी विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि ये सब घोरातिघोर दुःखपूर्ण दुर्गतियों में भटकाने वाली हैं । न मेरे पास कोई स्तंभिनी विद्या है और न विमोचनी ही । मैंने तो आर्य सुधर्मा स्वामी से भवविमोचनी विद्या ग्रहण कर रखी है ।”

<sup>१</sup> बयलोग तेण तेष्ठा ते, सव्वे थंभिया तम्मो भवणे ।

चित्तनिर्हित्यञ्च जाया, ग्रहवा पाहाणघडियञ्च ॥२१७॥ [जम्बू-चरित्र, रत्नप्रभसूरिरचित]



जम्बूकुमार की बात सुन कर प्रभव आश्चर्यमग्न हो विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखता ही रह गया। वह सोचने लगा—कैसा अश्रुतपूर्व महान् आश्चर्य है? यौवन की मध्याह्नवेला में बल, वैभव और सौन्दर्य की अतुल राशि को पाकर भी देवकन्याओं जैसी आठ-आठ रमणियों के बीच निर्लिप्त रहने वाला यह कौन शूरशिरोमणि है? इन सब का इस महापुरुष ने तृणवत् परित्याग कर दिया। यह तो कोई अलौकिक अनुपम ज्ञानी, अद्भुत विरागी पुरुष है। वस्तुतः यह वन्दनीय और पूजनीय है। सहसा प्रभव का सांजलि शीश जम्बूकुमार के समक्ष झुक गया।

### जम्बू और प्रभव का संवाद

प्रभव असीम आत्मीयता से श्रोतश्रोत स्वर में कहने लगा — “जम्बूकुमार! आप स्वयं विज्ञ हैं। फिर भी मैं एक बात आपसे निवेदन करता हूँ। संसार में रमा और रामा — ये दो अमृतफल हैं, जो देव को भी सहसा दुर्लभ हैं पर सीभाग्य से आपको ये दोनों अमृतफल प्राप्त हैं। आप इनका यथेच्छ, जी भर कर उपभोग कीजिये। भविष्य के गर्भ में छुपे बड़े से बड़े सुख की आशा में, उपलब्ध सुख के परित्याग की पण्डितजन प्रशंसा नहीं करते। अभी तो आपकी वय संसार के इन्द्रियजन्य सुखों के उपभोग करने की है। मेरी समझ में नहीं आता कि इस असमय में भोग-मार्ग से सुख मोड़ कर आपने अपने मन में प्रव्रजित होने की बात क्यों सोच रखी है? जिन लोगों ने आनन्दप्रद सांसारिक भोगोपभोगों का जी भर रसास्वादन कर लिया हो और जिनकी अवस्था परिपक्व हो चुकी हो, ऐसे व्यक्ति यदि धर्म का आचरण करें, तो उस स्थिति में त्याग का औचित्य समझ में आ सकता है।”

इस पर जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव! तुम जिन्हें सुख समझते हो वे तथाकथित विषयसुख मधुबिन्दु के समान अति तुच्छ, नगण्य और क्षणिक हैं। इनका परिणाम अत्यन्त दुःखदायी है।”

प्रभव ने पूछा — “बन्धुवर! वह मधुबिन्दु क्या है?”

इस पर जम्बूकुमार ने प्रभव को मधुबिन्दु का आख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है:—

### मधुबिन्दु का हृष्टान्त

धनोपाजन की अभिलाषा से एक सार्थवाह अनेकों अन्य अर्थार्थियों को साथ लिये देशान्तर की यात्रा को चला। उसके साथ एक बुद्धिहीन निर्धन व्यक्ति भी था। दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करता हुआ वह सार्थ एक जंगल में पहुँचा। वहाँ एक डाकुओं के दल ने सार्थ पर आक्रमण कर उसे लूटना चाहा। वह गरीब व्यक्ति भय के मारे वहाँ से किसी न किसी प्रकार अपने प्राण बचा कर भाग निकला। पर छोड़ी ही दूर चलने पर उसने देखा कि एक भयानक जंगली हाथी उसका पीछा कर रहा है। अपने प्राणों की रक्षा हेतु उसने इधर-उधर देखा कि

कहीं कोई सुरक्षित स्थान मिल जाय। उसकी दृष्टि पास ही के एक बट वृक्ष पर पड़ी। उसने बट वृक्ष के प्ररोहों को पकड़ने के लिये कूप के पास पहुंच कर छलांग मारी और बट वृक्ष के प्ररोहों को पकड़ लिया।

कुछ समय के लिये अपने आपको सुरक्षित समझ कर उसने बड़ की शाखा पर लटके-लटके ही कुएं के अन्दर की ओर दृष्टि दौड़ाई, तो उसने देखा कि कुएं के बीचोंबीच एक बहुत बड़ा भयंकर अजगर अपना मुंह फैलाये, जिह्वा लपलपाते हुए उसकी ओर सतृष्ण नेत्रों से देख रहा है और उससे आकार-प्रकार में छोटे चार अन्य सर्प कुएं के चारों कोनों में बने हुए उसकी ओर मुंह खोले देख रहे हैं। भय के कारण उसका सारा शरीर कांप उठा। अब उसने ऊपर की ओर आंखें उठाई तो देखा कि दो चूह, जिनमें से एक काले रंग का और दूसरा श्वेत रंग का है, जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उसी को बड़ी तेजी से काट रहे हैं।

यह सब कुछ देखकर उसे पक्का विश्वास हो गया कि उसके प्राण निश्चित रूप से पूर्ण संकट में हैं और अब उसके बचाव का कोई उपाय नहीं है। इधर उस व्यक्ति के पदचिन्हों की टोह लेता हुआ वह रंगली हाथी भी कुएं के पास पहुंचा और उस वृक्ष को जोर-जोर से हिलाने लगा। वृक्ष पर मधुमक्खियों का एक बहुत बड़ा छत्ता था। वृक्ष के हिलने से मधुमक्खियां उड़-उड़कर उस आदमी के रोम-रोम में डंक लगाने लगीं, जिसके कारण उसके शरीर में असह्य पीड़ा और जलन होने लगी। अब तो साक्षात् मृत्यु उसकी आंखों के समक्ष नाचने लगी। मृत्यु के भय से वह सिंहर उठा।

सहसा मधुमक्खियों के छत्ते में से एक शहद की बून्द टपक कर उसके मुंह में गिरी। उस घोर दुःखदायी और संकटपूर्ण स्थिति में भी मधु की एक बिन्दु के मधुर रसास्वाद पर मुग्ध हो वह अपने आपको सुखी समझने लगा।

ठीक उसी समय आकाशमार्ग से गमन करता हुआ एक विद्याधर उस ओर से निकला। उसने कुएं में लटकते हुए और सब ओर संकटों से घिरे उस व्यक्ति की दयनीय स्थिति पर दया कर उससे कहा—“ओ मानव ! तुम मेरा हाथ पकड़ लो। मैं तुम्हें इस कुएं में से निकालकर और सब संकटों से बचाकर सुखद एवं सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दूंगा।”

शाखा पर लटके एवं संकटों में फंसे हुए उस व्यक्ति ने उत्तर में विद्याधर से कहा—“तुम थोड़ी देर प्रतीक्षा करो। देखो वह मधुबिन्दु मेरे मुंह में टपकने वाली है।”

उस दयालु विद्याधर ने अनेक बार उस व्यक्ति को अपना हाथ पकड़ने और कुएं से बाहर निकलने के लिये कहा किन्तु हर बार उस व्यक्ति ने घोर दुःखी में फंसे होते हुए भी यही उत्तर दिया—“थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो, मैं एक और मधुबिन्दु का आनन्द ले लूँ।”

पर्याप्त प्रतीक्षा करने के पश्चात् उस विद्याधर ने देखा कि घोर दुःखों से पीड़ित होते हुए और मृत्यु के मुंह में फंसा होकर भी यह अभाग्य मधु-बिन्दु के लोभ को नहीं छोड़ रहा है, तो वह उसे वहाँ-छोड़कर अपने सुन्दर एवं सुखद आवास की ओर चला गया और वह दुःखी व्यक्ति अनेक प्रकार की असह्य यातनाओं को भोगता हुआ अंततोगत्वा काल का कवल बन गया ।

जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव ! इस दृष्टान्त में वरिष्ठ अर्थार्थी वरिष्क-संसारि जीव, भयानक वन-संसार, हाथी-मृत्यु, कुआ-देवमानवभव, वरिष्क-संसार की तृष्णा, अजगर-नरक और तिर्यञ्च गति, चार भीषण सर्प-दुर्गतियों में ले जाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार कपाय, वट वृक्ष की शाखा-प्रत्येक गति की आयु, काले और श्वेत रंग के दो चूहे-कृष्ण और शुक्ल पक्ष, जो रात्रि और दिन रूपी अपने दांतों से आयुकाल की शाखा को निरन्तर काट रहे हैं । वृक्ष-कर्मबन्ध के हेतुरूप अविरति और मिथ्यात्व, मधुबिन्दु-पाँचों इन्द्रियों के विषय सुख और मधुमक्खियाँ-शरीर में उत्पन्न होने वाली अनेक व्याधियाँ हैं । विद्याधर हैं सद्गुरु जो कि भवकूप में पड़े हुए दुःखी प्राणियों का उद्धार करना चाहते हैं ।”

प्रभव से जम्बूकुमार ने प्रश्न किया — “प्रभव ! अब तुम बताओ कि जित परिस्थितियों में वह व्यक्ति कुएं के अन्दर लटक रहा था, उसे कितना सुख था और कितना दुःख ?”

प्रभव ने क्षणभर के लिये विचार कर कहा — “जम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शहद की एक बून्द उसके मुख में गिरती थी, बस यही एक थोड़ा-सा उसे सुख था, शेष सब दुःख ही दुःख थे ।”

जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव ! यही स्थिति संसार के प्राणियों के सुख और दुःख पर घटित होती है । अनेक प्रकार के भय से घिरे हुए उस व्यक्ति को वस्तुतः नाममात्र का भी सुख कहाँ ? ऐसी दशा में मधुबिन्दु के रसास्वाद में सुख की कल्पनामात्र कही जा सकती है, वस्तुतः सुख नहीं ।”

जम्बूकुमार ने प्रभव से पुनः प्रश्न किया— “प्रभव ! इस प्रकार की दयनीय और संकटपूर्ण स्थिति में कोई व्यक्ति फंसा हुआ हो और उसे कोई परोपकारी पुरुष कहे — “ओ दुःखी मानव ! ले मेरा हाथ पकड़ ले, मैं तुझे इस घोर कष्टपूर्ण स्थान से बाहर निकालता हूँ ।” तो वह दुःखी व्यक्ति उस परोपकारी महापुरुष का हाथ पकड़कर बाहर निकलना चाहेगा या नहीं ?”

प्रभव ने उत्तर दिया — “दुःखों से अवश्य वचना चाहेगा ।”

जम्बूकुमार ने कहा — “कदाचित् मधुबिन्दु के स्वाद के मोह में फंस कर कोई मूढ़तावश कह दे कि पहले मुझे मधु से तृप्त होने दीजिये फिर बाहर निकाल लेना, तो वह दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि उसकी इस प्रकार कभी तृप्ति होने वाली नहीं है । जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उस शाखा के काले और श्वेत मूशकों द्वारा, कटते ही वह भयंकर अजगर के मुंह में पड़ेगा ।

प्रभव ! इस प्रकार की वस्तुस्थिति को समझ जाने के पश्चात् मैं इस भनकूप में से निकलने के कार्य में किञ्चित्मात्र भी प्रमाद नहीं करूंगा ।”

प्रभव ने जम्बूकुमार द्वारा रखी गई वस्तुस्थिति की तथ्यता को स्वीकार करते हुए प्रश्न किया - “आपने जो कहा वह तो सब ठीक है किन्तु आपके समक्ष ऐसी कौनसी दुःखपूर्ण स्थिति उपस्थित हो गई है, जिसके कारण आप असमय में ही अपने उन सब स्वजनों को छोड़कर जा रहे हैं, जो आपको प्राणों से भी अधिक चाहते हैं ?”

### संसार का बड़ा दुःख

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया “प्रभव ! गर्भवास का दुःख क्या कोई साधारण दुःख है ?” जो विज्ञ व्यक्ति गर्भ के दुःखों को जानता है, उसको संसार से विरक्त होने के लिये वही एक कारण पर्याप्त है, निर्वेद प्राप्ति के लिये उसे इसके अतिरिक्त अन्यान्य कारणों की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।” यह कह कर जम्बूकुमार ने प्रभव को गर्भवास के दुःख के सम्बन्ध में ललितांग का दृष्टान्त सुनाया, जो इस प्रकार है :-

### ललितांग का दृष्टान्त

“किसी समय वसन्तपुर नगर में शतायुध नामक एक राजा राज्य करता था। शतायुध की एक रानी का नाम ललिता था। रानी ललिता ने एक दिन एक अत्यन्त सुन्दर तरुण को देखा और उसके प्रथम दर्शन में ही वह उस पर प्राणपण से विमुग्ध हो, उसके संसर्ग के लिये छटपटाने लगी। रानी ने अपनी एक विश्वस्त दासी को भेज कर उस युवक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह युवक उसी वसन्तपुर नगर के निवासी समुद्रप्रिय नामक सार्थवाह का पुत्र है, तो उसने एक प्रेमपत्र लिखकर अपनी दासी के द्वारा उस युवक के पास पहुँचाया।

छल-छद्म में निपुण उस दासी ने येन-केन प्रकारेण युवक को रानी के भवन में लाकर रानी से उसका साक्षात्कार करवा दिया। रानी और ललितांग वहाँ निश्शंक हो विषयोपभोग में निरत रहने लगे। एक दिन राजा को अपनी रानी और युवक ललितांग के अनुचित सम्बन्ध के बारे में सूचना मिली, तो सहसा रानी के महल में वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिये छानबीन प्रारम्भ करा दी गई। चतुर दासी को तत्काल ही इसकी सूचना मिल गई और उसने अपने तथा अपनी स्वामिनी के प्राणों की रक्षा के निमित्त ललितांग को अमेध्यकूप (गन्दा पानी डालने का कुआँ) में डकेल दिया। नितान्त अपवित्र एवं दुर्गन्धपूर्ण उस कुएँ में अपने आपको बन्द पाकर ललितांग अपनी दुर्बुद्धि और अज्ञानता पर अहर्निश पश्चात्ताप करते हुए विचार करने लगा - हे प्रभो ! अब अगर एक बार किसी न किसी तरह इस अशुचि स्थान से बाहर निकल जाऊँ, तो इन भयंकर दुःख परिणाम वाले काम-भोगों का सदा के लिये परित्याग कर दूंगा।”

ललितांग पर दया कर के वह दासी प्रति दिन प्रचुर मात्रा में उस कुएं में जूठन डालती और सार्थवाहपुत्र ललितांग उस जूठन एवं दुर्गन्धपूर्ण गन्दे पानी से ग्रामी, भूख और प्यास शान्त करता ।

अन्ततोगत्वा वर्षा ऋतु आई और वर्षा के कारण वह कुआं पानी से भर गया । सफाई का कार्य करने वाले कर्मचारियों ने गन्दे नाले से जुड़ी हुई उस कुएं की मोरी को खोला । मोरी के खोलते ही पानी के तेज-बहाव के साथ ललितांग गंदे नाले में बहकर दूर, नाले के एक किनारे जा पड़ा । ललितांग एक लम्बे समय तक गंदे और बंद कुएं में रह चुका था अतः बाहर की हवा लगते ही वह मूर्च्छित हो गया । उसको गन्दे नाले के एक छोर पर मूर्च्छितावस्था में पड़े देख कर बहुत से नागरिक वहां एकत्रित हो गये । ललितांग की धाय भी मूर्च्छित युवक की बात सुन कर वहां पहुंची और बहुत समय से खोये हुए अपने ललितांग को पहिचान कर उसे सार्थवाह के घर ले आई । दीर्घकालीन उपचारों के पश्चात् ललितांग बड़ी कठिनाई से स्वस्थ हुआ ।”

ललितांग के उपर्युक्त दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव ! इस दृष्टान्त में वर्णित ललितांग के समान संसारी जीव हैं, रानी के दर्शन के समान मनुष्यजन्म है । दासी का उपमेय इच्छा, अन्तःपुरप्रवेश—विषय-प्राप्ति, दुर्गन्धपूर्ण कूप में प्रवेश—गर्भवास का स्रोतक, उच्छिष्टभोजन—माता द्वारा खा कर पचाये हुए अन्न तथा जल के खाव के आहार का, कूप से बाहर निकलना—प्रसवकाल का और धात्री द्वारा परिचर्या—देह की पुष्टि करने वाले कर्मविपाक की प्राप्ति का प्रतीक है ।”

जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया — “कहो प्रभव ! यदि वह रानी ललितांग को पुनः अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दे, तो क्या वह उसके निमन्त्रण को स्वीकार करेगा ?”

प्रभव ने दृढ़तापूर्ण स्वर में उत्तर दिया — “नहीं, कभी नहीं । इतना घोर नारकीय कष्ट उठा चुकने के पश्चात् वह कभी उस और मुंह भी नहीं करेगा ।”

जम्बूकुमार ने कहा — “प्रभव ! वह कदाचित् अज्ञान के वशीभूत हो, विषयभोगों के प्रति प्रगाढ़ासक्ति के कारण पुनः रानी के निमन्त्रण पर जा सकता है किन्तु मैंने बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को समीचीन रूप से समझ लिया है अतः मैं तो किसी भी दशा में जन्म-मरण की मूल और भवभ्रमण में फँसाने वाली रागद्वेष की परम्परा को स्वीकार नहीं करूँगा ।”

इस पर प्रभव ने कहा — “सौम्य ! आपने जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है किन्तु मेरा एक निवेदन है, वह सुनिये । लोकधर्म का निर्वहन करते हुए पति को अपनी पत्नियों का लालन-पालन एवं परितोष करना चाहिये । यह प्रत्येक पति का नैतिक दायित्व है । तदनुसार इन नववधुओं के साथ कुछ वर्षों तक सांसारिक सुखोपभोग करने के पश्चात् ही आपका प्रव्रजित होना वस्तुतः शोभास्पद रहेगा ।”

### अठारह प्रकार के नाते

जम्बूकुमार ने सहज शान्त स्वर में कहा - “प्रभव ! संसार में यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि जो इस भव में पत्नी अथवा माता है, वह आगामी भव में भी पत्नी अथवा माता ही होगी । वास्तविकता यह है कि जो इस भव में माता है, वह भवान्तर में बहिन, पत्नी अथवा पुत्री भी हो सकती है । इसके अतिरिक्त इस प्रकार का विपर्यास भी होता है कि पति पुत्र के रूप में उत्पन्न हो सकता है, पिता भाई के रूप में अथवा अन्य किसी भी रूप में उत्पन्न हो सकता है । अपने कृतकर्मों के अनुसार जीव जन्मान्तरों में स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक रूप में उत्पन्न होता रहता है । ऐसी दशा में एक समय जो माता, बहिन अथवा पुत्री थी, उसके साथ पत्नी जैसा व्यवहार करते हुए किस प्रकार लालन-पालन परिपोषण किया जा सकता है ?”

प्रभव ने कहा - “महाभाग ! भवान्तरों के सम्बन्ध तो वस्तुतः दुर्विज्ञेय ही हैं, इसी कारण वर्तमान की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि के सम्बन्ध समझे और कहे जाते हैं ।”

जम्बूकुमार ने उत्तर में कहा - “यह सब अज्ञान का दोष है । अज्ञान के कारण ही मानव अकार्य में कार्यबुद्धि से प्रवृत्त होता है अथवा कार्याकार्य को समझते हुए भी भोगलोलुपता एवं धन-सम्पत्ति के सुख से विमोहित हो अकरणीय दुष्कार्य में प्रवृत्त तथा संलग्न होता रहता है ।”

जम्बूकुमार ने अपनी बात को प्रारम्भ रखते हुए कहा - “प्रभव ! भवान्तर की बात को छोड़ो । एक ही भव में किस तरह १८ प्रकार के सम्बन्ध हो जाते हैं और अज्ञानवश कितनी अनर्थपूर्ण घटनाएँ घटित हो जाती हैं, इसका वृत्तान्त मैं तुम्हें सुनाता हूँ ।

### कुबेरदत्त एवं कुबेरवत्ता का आख्यान

“किसी समय मथुरा नगर में कुबेरसेना नामकी एक गणिका रहती थी । जब वह पहली बार गर्भवती हुई तो उसके पेट में बड़ी पीड़ा रहने लगी । जब उसे वैद्य को बताया गया, तो उस अनुभवी वैद्य ने कहा - “इसके गर्भ में दो बच्चे हैं, इसी कारण इसे अधिक पीड़ा हो रही है । वस्तुतः इसे अन्य कोई रोग नहीं है ।”

कुबेरसेना की माता ने अपनी पुत्री को बहुत समझाया कि वह गर्भसाव की कोई अच्छी औषधि लेकर उस पीड़ा से छुटकारा पा ले किन्तु कुबेरसेना ने गर्भपात कराने की अपनी माता की बात को स्वीकार नहीं किया । समय पर कुबेरसेना ने एक पुत्र और एक पुत्री के युगल को एक साथ जन्म दिया । कुबेरसेना ने अपने पुत्र का नाम कुबेरदत्त और पुत्री का नाम कुबेरदत्ता रखा ।

एक दिन कुबेरसेना की माता ने उससे कहा - “बच्चों की विद्यमानता में तुम्हारा यह गणिका-व्यवसाय पूर्णतः ठप्प हो जायगा अतः तुम्हें इन बच्चों का किसी निर्जन स्थान में परिश्रय कर देना चाहिये ।”

माता द्वारा बार-बार बल दिये जाने पर कुबेरसेना ने कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाग की अंगूठियां बनवाई और जब वे दोनों शिशु ग्यारह दिन के हुए तब कुबेरसेना ने उनके नाम की अंगूठियां सूत्र में पिरो कर उनके गले में बांध दीं और उन्हें बहुमूल्य रत्नों की दो गठरियों के साथ दो छोटी नावों के आकार के लकड़ी के सन्दूकों में रख दिया । रात्रि के समय कुबेरसेना ने अपने उन दोनों बच्चों सहित उन दोनों सन्दूकों को यमुना नदी के प्रवाह में बहा दिया ।

नदी के प्रवाह में तैरती हुई वे दोनों सन्दूकें सूर्योदय के समय शोरिपुर नामक नगर के पास पहुंचीं । वहां यमुनास्नान करने हेतु आये हुए दो श्रेष्ठिपुत्रों ने जब नदी में सन्दूकों को आते देखा तो तत्काल उन्होंने दोनों सन्दूकों को नदी से बाहर निकाल लिया । उनमें दो शिशुओं को नामांकित मुद्रिकाओं एवं रत्नों की पोटलियों के साथ देख कर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई । परस्पर विचारविनिमय के पश्चात् एक श्रेष्ठिपुत्र बालक को और दूसरा बालिका को अपने घर ले गया । उन दोनों श्रेष्ठिपुत्रों एवं उनकी पत्नियों ने उन शिशुओं को अपनी ही संतान के समान रखा और बड़े दुलार एवं प्यार से पावन-पोषण करते हुए क्रमशः शिक्षण देकर उन्हें योग्य बनाया ।

जिस समय कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता ने युवावस्था में पदार्पण किया, उस समय समान वैभव वाले उन श्रेष्ठियों ने उन्हें एक दूसरे के अनुरूप और योग्य समझ कर बड़े समारोह के साथ उन दोनों का परस्पर पाणिग्रहण करवा दिया । विवाह के दूसरे दिन द्यूतक्रीड़ा की लौकिक रीति का निर्वहन करते समय कुबेरदत्ता की सहेलियों ने कुबेरदत्त की अंगूठी उतार कर कुबेरदत्ता की अंगुली में और कुबेरदत्ता की अंगूठी कुबेरदत्त की अंगुली में पहना दी । कुबेरदत्ता ने अपनी अंगूठी के साथ उसकी साम्यता देख कर बड़े ध्यान से उसे देखा । यह देख कर उसे कुतूहल के साथ ही साथ बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों अंगूठियों की बनावट और उन पर अंकित अक्षरों में किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं है । वह सोचने लगी कि इन दोनों अंगूठियों की इस प्रकार की समानता के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये । उसने स्मृति पर बल देते हुए मन ही मन कहा - "हमारे पूर्वजों में इस नाम का कोई पूर्वज हुआ हो, यह बाल भी आज तक किसी के मुंह से नहीं मुनी । इसके साथ ही साथ मेरे अन्तर्मन में इस कुबेरदत्त के प्रति उस प्रकार की भावना स्वल्पमात्र भी उत्पन्न नहीं हो रही है, जिस प्रकार की कि एक पत्नी के मन में अपने पति के प्रति उत्पन्न होनी चाहिये ।"

उसके मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि इस सब के पीछे अवश्य ही कोई न कोई गूढ़ रहस्य होना चाहिये । यह विचार कर कुबेरदत्ता ने अपनी अंगुली में से

१ ततो नवीन यौवनिकानिकाभरामणीयकरंजितहृदयाभ्यां ताम्यामिस्याभ्यां सुमहेश्वरपरेवा-  
विशेषो विशेषफलवानस्त्विति कृतस्तयोरेव परिणयः ।

[जम्बू चरित्र, ( रत्नप्रभमूरिरचित ) उपदेशमाला दोषट्टीवृत्ति ]

अंगूठी निकाल कर कुबेरदत्त की उसी अंगुली में पहना दी जिसमें कि उसकी स्वयं की नामांकित अंगूठी विद्यमान थी ।

दोनों अंगूठियों में पूर्ण साम्य देख कर कुबेरदत्त के मन में भी उसी प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और उसे भी विश्वास हो गया कि निश्चित रूप से उस समानता के पीछे कोई रहस्य छुपा हुआ है । कुबेरदत्त ने कुबेरदत्ता को उसकी अंगूठी लौटा दी और अपनी अंगूठी लेकर वह अपनी माता (धर्ममाता) के पास पहुंचा । कुबेरदत्त ने अपनी माता को अपथ्य दिलाते हुए कहा - "मेरी अच्छी मां ! मुझे साफ-साफ और सत्य बात बता दो कि मैं कौन हूँ, यह अंगूठी मेरे पास कहां से आई ? कुबेरदत्ता के पास भी ऐसी ही अंगूठी है जिस पर अंकित अक्षर मेरी अंगूठी पर अंकित अक्षरों से पूर्ण रूपेण मिलते-जुलते हैं ।"

श्रेष्ठिपत्नी ने आदि से लेकर अन्त तक की सारी घटना कुबेरदत्त को सुना दी कि वस्तुतः वह उसका अंगज नहीं है । उसके पति ने उसे यमुना के प्रवाह में बहती हुई एक छोटी सी सन्दूक में रत्नों से भरी एक पोटली और उस अंगूठी के साथ पाया था ।

श्रेष्ठिपत्नी से पूरी घटना सुनने के पश्चात् कुबेरदत्त को पक्का विश्वास हो गया कि कुबेरदत्ता वस्तुतः उसकी सहोदरा है । उसने पश्चात्ताप और उपालम्भभरे स्वर में कहा - "मां तुमने जानते-बूझते भाई का बहिन के साथ विवाह करा कर ऐसा अनुचित और निन्दनीय कार्य क्यों किया ?"

श्रेष्ठिपत्नी ने भी पश्चात्तापभरे स्वर में कहा - "पुत्र ! हमने जानते हुए भी मोहव्रण यह अनर्थ कर डाला है । पर तुम शोक न करो । वधू को केवल पाणिग्रहण का ही दोष लगा है । कोई महापाप नहीं हुआ है । जो होना था सो हो गया । अब मैं पुत्री कुबेरदत्ता को उसके घर भेज देती हूँ । तुम कुछ दिनों के लिये दूसरे नगरों में धूम आओ । वहां से तुम्हारे लौटते ही मैं किसी दूसरी कन्या से तुम्हारा विवाह कर दूंगी ।"

तदनन्तर कुबेरदत्त की माता ने कुबेरदत्ता को उसके घर पहुंचा दिया और कुबेरदत्त भी अपने साथ पर्याप्त सम्पत्ति एवं पाथेय ले कर किसी अन्य नगर के लिये प्रस्थित हुआ ।

कुबेरदत्ता ने भी अपने घर पहुंच कर अपनी माता से अपने तथा उस अंगूठी के सम्बन्ध में अपथ्य दिला कर पूछा । श्रेष्ठिपत्नी ने भी यथाघटित सारी घटना उसे सुना दी ।

सारी घटना सुन कर कुबेरदत्ता को संसार से विरक्ति हो गई । उसने प्रवर्तिनी माध्वी के पाम प्रव्रज्या ग्रहण की और निरतिचार पंचमहाव्रतों का पालन वरती हुई वह उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगी । उसने प्रवर्तिनी से आज्ञा लेकर वह अंगूठी जिसके कारण कि उसे निर्वेद हुआ था, अपने पाम रख ली । विशुद्ध-चारित्र्य के पालन और कठोर तपश्चर्या में कुछ ही वर्षों पश्चात्



कुबेरदत्ता को अवधिज्ञान की उपलब्धि हो गई। जब कुबेरदत्ता को अवधिज्ञान से यह विदित हुआ कि उसका भाई कुबेरदत्त अपनी माता कुबेरसेना के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसे सांसारिक प्राणियों की गर्हणीय एवं दयनीय स्थिति पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मन ही मन विचार किया -- "अज्ञान के कारण मानव कितना घोर अनर्थ कर डालता है। कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने हेतु उसने प्रवर्तिनी की आज्ञा से कुछ आर्याओं के साथ मथुरा की ओर विहार किया। वहां पहुंच कर कुबेरसेना गणिका के घर में ही एक निवासयोग्य स्थान मांग कर कुबेरदत्ता ने वहां रहना प्रारम्भ किया। कुबेरदत्त से कुबेरसेना को एक बालक की प्राप्ति हुई थी। उस बालक को कुबेरसेना बार-बार साध्वी कुबेरदत्ता के पास लाने लगी।

कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने के लिये कुबेरदत्ता ने उस बालक को दूर से ही हुलारभरे स्वर में हुलाराना प्रारम्भ किया -- "अरे ओ नन्हें मुन्ने ! रो मत, तू मेरा भाई है, देवर भी है, पुत्र भी है, मेरी सौत (विपत्नी) का पुत्र भी है। एक तरह से तू मेरा भतीजा भी है। काका भी है। ओ मुन्ने ! जिसका तू पुत्र है वह मेरा भाई भी है, पति भी है, पिता भी, पितामह भी, श्वशुर भी और पुत्र भी है। अरे बालक ! और भी सुन ! मैं एक और निगूढ़ तथ्य का उद्घाटन तेरे समक्ष करती हूँ - ओ बच्चे ! जिस स्त्री के गर्भ से तू उत्पन्न हुआ है, वह मेरी माता है। वह मेरी सास भी, विपत्नी भी, भ्रातृजाया भी, पितामही भी और बहू भी है।"

साध्वी कुबेरदत्ता द्वारा अपने पुत्र का इस प्रकार का हुलाराना सुन कर कुबेरदत्त चौंका। उसने वन्दन करने के पश्चात् साध्वी से प्रश्न किया -- "साध्वीजी ! आप इस प्रकार की परस्परविरोधी और असम्बद्ध बातें क्यों और किस कारण से कह रही हैं ? क्या आपकी बुद्धि में कोई भ्रान्ति हो गई है अथवा आप इस बालक के विनोद के लिये केवल क्रीडार्थ ऐसी प्रयोग्य बातें कह रही हैं ?"

साध्वी कुबेरदत्ता ने उत्तर में कहा -- "श्रावक ! मैं जो बातें कह रही हूँ वे सब सच्ची हैं। मैं तुम्हारी बहिन वही कुबेरदत्ता हूँ जिसके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण हो गया था और यह है हम दोनों की माता कुबेरसेना।"

कुबेरसेना और कुबेरदत्त आश्चर्य से अवाक् हो साध्वी की ओर निहारते ही रह गये।

तत्पश्चात् साध्वी कुबेरदत्ता ने अपने अवधिज्ञान द्वारा देखी हुई अनेक बातें उन दोनों को प्रमाणपुरस्सर सुनाई और नामांकित मुद्रिका की बात कही, जिन पर कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाम अंकित थे।

साध्वी कुबेरदत्ता के मुख से समस्त यथातथ्य वृत्तान्त सुन कर कुबेरदत्त को संसार से तीव्र वैराग्य हो गया। उसने अत्यन्त विषादभरे स्वर में अपने

आपको धिक्कारते हुए कहा—“शोक ! महाशोक ! अज्ञानवश मैंने कैसा अकरणीय, अनर्थभरा घोर कुकृत्य कर डाला । आत्ममलानि और शोक से अभिभूत हो कुबेरदत्त ने उस बालक को अपनी समस्त सम्पत्ति का स्वामी बना कर साध्वी कुबेरदत्ता को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमन करते हुए कहा—“आपने मुझे प्रतिबोध दिया है । यह आपका मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है । अब मैं अपना शेष जीवन आत्मसाधना में ही व्यतीत करूंगा ।”

यह कह कर कुबेरदत्त घर से निकल गया । उसने एक स्थविर श्रमण के पास जाकर भागवती दोक्षा ग्रहण की और निश्चल-निर्वेद के साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अन्त में वह समाधिमरण द्वारा आयु पूर्ण कर देवरूप से उत्पन्न हुआ ।

कुबेरसेना भी बोध पाकर श्राविका-धर्म का एवं गृहस्थ योग्य नियमों का पालन करती हुई अपने घर में रहने लगी और साध्वी कुबेरदत्ता अपनी प्रवर्तिनी की सेवा में लीट गई ।”

उपर्युक्त आख्यान सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया—“प्रभव ! अब तुम ही बताओ कि उन तीनों को उपरिर्वाणित वस्तुस्थिति का सही-सही बोध हो जाने के पश्चात् भी क्या कभी विषयभोगों के प्रति राग अथवा आसक्ति हो सकती है ?”

प्रभव ने कहा—“कभी नहीं ।”

जम्बूकुमार ने त्यागमार्ग को अपनाने का अपना हृदय निश्चय दोहराते हुए कहा—“प्रभव ! कुबेरसेना आदि उन तीनों प्राणियों में से कदाचित् कोई भ्रूढ़ता-वश प्रमत्त हो विषयसेवन की ओर प्रवृत्ति कर सकता है किन्तु मैंने अपने गुरु के पास प्रमाण पुरस्सर विषयभोगों से होने वाले महान् अनर्थों को अच्छी तरह से समझ लिया है अतः मेरे मन में विषय-भोगों के लिये कभी लेशमात्र भी अभिलाषा उत्पन्न नहीं हो सकती ।”

प्रभव का मस्तक श्रद्धा से अवनत हो गया । उसने कहा—“श्रद्धेय ! तथ्यों से श्रोतश्रोत अतिशय सम्पन्न आपके वचनों को सुनकर ऐसा कौनसा चेतनाशील प्राणी है, जिसे प्रतिबोध नहीं होगा । किन्तु एक बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ । वस्तुतः धन बढ़े ही कठोर परिश्रम और प्रयत्नों से प्राप्त होता है । आपके पास अपार सम्पत्ति है । इस विपुल वैभव का उपभोग करने के लिये आप कम से कम एक वर्ष तक तो गृहवास में रहिये और षड्भ्रतुओं के अनुकूल विषयभोगों का आनन्द लेते हुए दीन-दुःखियों की सेवा कर इस द्रव्य का सदुपयोग करिये । फिर मैं भी आपके साथ प्रव्रजित होने को तैयार हूँ ।”

जम्बूकुमार ने कहा—“प्रभव ! पण्डित लोग सत्यात्रों को दान देने में सम्पत्ति का सदुपयोग प्रशंसनीय बताते हैं न कि विषय सुखों की कामनाओं की

पूर्ति में।" तत्पश्चात् जम्बूकुमार ने अर्थ के अनुचित उपयोग के सम्बन्ध में एक गोपयुवक का दृष्टांत सुनाया जो इस प्रकार है :-

### गोपयुवक का दृष्टांत

"अंग जनपद के एक गोकुल में अनेक समृद्ध गोपालक रहते थे, जिनके पास अगणित गायें तथा भैंसें थीं। एक बार डाकूओं के एक सशक्त एवं सशस्त्र दल ने उस गोकुल पर आक्रमण किया। डाकू लूट में मिले धन के साथ साथ एक अत्यन्त सुन्दरी गोपयुवती को भी अपने साथ ले गये जो एक पुत्र की मां थी। जाते समय डाकू उस युवती के पुत्र को गोकुल में ही छोड़ गये और उस गोपवधू को डाकू बेचने के लिये चम्पा नगरी में ले गये, जहां एक वेश्या ने उसे खरीद लिया।

वेश्या ने उस गोपवधू को नृत्य एवं संगीत कला तथा गणिकाकर्म की उच्चकोटि की शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। कुछ ही वर्षों के प्रयास से वह गोपयुवति संगीत और नृत्य कला में निष्णात एवं निपुण गणिका बन गई। वृद्धा गणिका ने गणिका-कार्य में निपुण उस गोपवधू के साथ एक रात्रि सहवास करने का एक लाख रुपया मूल्य रखा।

उधर गोकुल में रहे उस गोपवधू के पुत्र ने भी युवावस्था में प्रवेश किया। वह गोपयुवक घृतपात्रों से भरे अनेक गाड़े लेकर बेचने के लिये एक दिन चम्पा नगरी में पहुंचा। घृत-विक्रय के पश्चात् उसने देखा कि अनेक युवक गणिकाओं के घरों में नृत्य संगीत का आनन्द लूटते हुए यथोपिस्त ऋद्धाएं कर रहे हैं। उसके मन में भी विचार उठा कि यदि सुन्दर से सुन्दर गणिका के साथ ऋद्धा का आनन्द वह न ले सका तो फिर उसका सारा धन किस काम आयागा। यह विचार कर वह युवक अनेक गणिकाओं के सौन्दर्य को देखता हुआ गणिका बनी हुई उस गोपवधू के यहां जा पहुंचा। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उसे मुंह-मांगा शुल्क दे और रात्रि के समय आने का कह कर अपने गाड़ों के पास चला आया।

संध्या के समय वह गोपयुवक स्नानादि से निवृत्त हो सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर उस गणिका के घर की ओर चल पड़ा। एक देवी ने अनुकम्पावश उस युवक को उस घोर अनाचार से बचाने के लिये सवत्सा गौ का रूप धारण किया और मार्ग के बीचों-बीच बैठ गई। मार्ग में उस युवक का एक पैर मार्ग में पड़े मानव के मन से लिप्त हो गया। उस व्यक्ति ने मूले से भरा अपना पैर उस गाय के बछड़े की पीठ पर पोंछ डाला। मनुष्य की भाषा में बोलते हुए उस बछड़े ने अपनी माता से पूछा - "मां ! यह ऐसा कौन पुरुष है, जो विष्टा से भरा अपना पैर मेरे शरीर पर पोंछ रहा है ?"

गौ ने भी मानव की बोली में उत्तर दिया - "वत्स ! इस निकृष्ट नराधम पर क्रोध मन करना, यह अभाग्य तो अपनी माता के साथ सम्भोग करने जा रहा है। इस प्रकार का दुष्कृत्य करने वाला मानव यदि तेरे शरीर पर अपना विष्टा-निम्न पांव पोंछे, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

यह कह कर गो अपने बछड़े के साथ अन्तर्धान हो गई ।

पशुओं के मुंह से अश्रुतपूर्व मानवभाषा सुन कर गोपयुवक को आश्चर्य के साथ-साथ उनकी बात की प्रामाणिकता पर भी विश्वास हुआ । उसने विचार किया कि डाकू लोगों ने उसकी माता का अपहरण किया था । बहुत संभव है कि वह गणिका बन गई हो । क्षणभर के ऊहापोह के पश्चात् उसने निश्चय किया कि वह उस गणिका के पास जाकर वास्तविकता का पता अवश्य लगायगा ।

अपने निश्चय के अनुसार गोपयुवक उस गणिका के घर पहुंचा । चतुर गणिका ने उस युवक के समक्ष स्वादिष्ट भक्षण-पानादि प्रस्तुत कर नृत्य-संगीत आदि से उसका मनोरंजन करने का उपक्रम किया ।

युवा गोप ने कहा — “यह सब कुछ रहने दो । सबसे पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम कौन हो और कहां की रहने वाली हो ?”

गणिका ने उत्तर दिया — “तरुण ! तुमने मेरे जिन गुणों पर मुग्ध होकर उनके शुल्क के रूप में विपुल धन दिया है, उन गुणों के सम्बन्ध में तुम अपने मतलब की बात करो । तुम्हें मेरी उत्पत्ति अथवा अन्य परिचय से क्या प्रयोजन है ?”

युवक ने कहा — “तुम विश्वास करो, वास्तव में मुझे तुम्हारी उत्पत्ति के परिचय से ही प्रयोजन है, अन्य बातों से नहीं । कृपा कर बिना छुपाये अपना सारा इतिवृत्त सब-सब सुना दो ।”

युवक की बात सुन कर गणिका कुछ क्षणों के लिये ऊहापोहात्मक विचार-सागर में डूबी रही पर अन्ततोगत्वा उसने अपने श्वसुर-पक्ष एवं पितृपक्ष के मुख्य-मुख्य स्वजनों के नामोल्लेखपूर्वक अपने डाकूओं द्वारा अपहरण तथा गणिका द्वारा क्रय किये जाने आदि सभी घटनाओं का पूरा परिचय दे दिया ।

युवा गोप लज्जित हो गणिका के चरणों पर गिर कर कहने लगा — “मां ! मैं ही तुम्हारा वह अभागा पुत्र हूं, जिससे विलग कर तुम्हें डाकू उठा लाये थे । देव-कृपा से आज हम दोनों माता और पुत्र घोर अनाचार से बच गये हैं ।”

तदनन्तर गोपकुमार वृद्धा गणिका को उसके कहे अनुसार मूल्य चुका कर अपनी मां को अपने साथ गोकुल में ले गया ।”

उपर्युक्त दृष्टान्त सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से पूछा — “प्रभव ! यदि देवता द्वारा उस गोपयुवक को प्रतिबोध नहीं दिया जाता, तो उस दशा में उस युवा गोप के धन का उपयोग कैसा होता ?”

प्रभव ने कहा “अत्यन्त गहंणीय और नितान्त निन्दनीय ।

जम्बूकुमार ने एक और प्रश्न किया — “प्रभव ! माता-पुत्र का सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर क्या वह युवक गणिका बनी अपनी उस माता के साथ कभी विषयोपभोग की अभिलाषा कर सकता है ?”

प्रभव ने तत्काल उत्तर दिया - "कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।"

जम्बूकुमार ने कहा - "प्रतिबोध पाया हुआ प्रबुद्धचेता व्यक्ति ही सब प्रकार के प्रनाचारों से बच सकता है, न कि अज्ञाननिद्रा से विमूढ़ बना हुआ व्यक्ति। वस्तुतः ज्ञान द्वारा ही सब प्रकार के दुखों तथा दुष्कृत्यों से परित्राण हो सकता है।"

इस बार प्रभव ने जम्बूकुमार को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर अनुनयपूर्ण स्वर में कहा - "स्वामिन् ! आप लोकधर्म के अनुरूप सभी कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए पुत्र उत्पन्न कीजिये। पुत्र उत्पन्न करने से पितृगण परम प्रसन्न होते हैं, क्योंकि पुत्र द्वारा किये गये तर्पण के माध्यम से उनका महान् उपकार होता है। विचक्षण पुरुषों का यह कथन लोकविश्रुत है कि - पितृऋण से उन्मुक्त (पुत्र उत्पन्न करने वाला) व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में निवास करता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि अपुत्र की गति नहीं होती, उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।"

जम्बूकुमार ने प्रभव की युक्ति का उत्तर देते हुए कहा - "प्रभव ! तुमने पितृऋण से उन्मुक्त व्यक्ति के सम्बन्ध में स्वर्ग प्राप्ति की जो बात कही है, वह वस्तुतः सच नहीं है। मरने के पश्चात् अन्य भव में उत्पन्न पिता का उपकार करने की बुद्धि से किये गये अपने कार्य द्वारा पुत्र उसका कभी-कभी बड़ा अपकार भी कर डालता है, जबकि दूसरे भव में गये हुए पिता को पुत्र की ओर से वास्तव में किसी भी प्रकार की शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि सभी प्राणियों को स्वयं द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का ही सुख एवं दुःख रूप फल प्राप्त होता है, न कि किसी दूसरे के द्वारा किये गये कर्म का। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र द्वारा उसकी तृप्ति अथवा शान्ति के लिये किये गये कार्य से मृत प्राणी को तृप्ति अथवा शान्ति तो किसी भी दशा में नहीं मिल सकती। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक ग्रामान्तर में रहे हुए मित्र की भी श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाये गये भोजन से तृप्ति नहीं होती, तो फिर लोकान्तर में स्थित जीव की इस प्रकार के तर्पण से कैसे तृप्ति हो सकती है ? जलादि तर्पण से तृप्ति के विपरीत कभी कुंभू अथवा चींटी आदि जैसे छोटे-छोटे जन्तुओं के रूप में उत्पन्न हुए पिता को पुत्र द्वारा उनके तर्पण हेतु छोटे गये जल से मृत्यु आदि का कष्ट अवश्य हो सकता है।"

लोकधर्म की असंगति के सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, जो इस प्रकार है :-

### महेश्वरदत्त का आख्यान

"किसी समय ताम्रलिप्ति नामक नगर में महेश्वरदत्त नामक एक सार्धवाह रहता था। उसका पिता समुद्रदत्त अत्यन्त छल-छद्म एवं लोभपूर्णा प्रवृत्ति के

<sup>1</sup> अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।

तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥

[वैदिक साहित्य]

कारण मर कर उसी नगर में महिष की योनि में उत्पन्न हुआ और महेश्वरदत्त की माता भी पतिवियोग के शोक से सन्तप्त हो चिन्तावस्था में काल कर उसी नगर में कुतिया के रूप में उत्पन्न हुई ।

महेश्वरदत्त की युवा पत्नी गांगिला अपने घर में किसी वृद्धा का संकुश न रहने के कारण स्वेच्छाचारिणी बन गई । एक दिन उसने एक सुन्दर युवक पर आसक्त हो उसे रात्रि के समय अपने घर आने का संकेत किया । संध्याकाल के पश्चात् गांगिला द्वार पर खड़ी हो अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करने लगी । कुछ ही क्षणों की प्रतीक्षा के अनन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत एवं शस्त्र धारण किये हुए वह जार पुरुष अपनी प्रतीक्षा में खड़ी गांगिला के पास पहुंचा । संयोगवश उसी समय महेश्वरदत्त भी उन दोनों—प्रेमी एवं प्रेमिका के मिलनस्थल पर जा पहुंचा । जारपुरुष ने अपने प्राणों को संकट में देख कर महेश्वरदत्त को मार डालने के उद्देश्य से उस पर तलवार का घातक वार किया । पर महेश्वरदत्त ने पटुतापूर्वक अपने आपको उसके प्रहार से बचाते हुए उस जारपुरुष को अपनी तलवार के प्रहार से आहत कर दिया । घातक प्रहार के कारण वह जारपुरुष कुछ ही कदम चल कर लड़खड़ाता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा । जारपुरुष ने अपने दुष्कृत्य के लिये पश्चात्ताप करते हुए विचार किया — “मेरे जैसे अभागे को अपने दुराचार का तात्कालिक फल प्राप्त हो गया ।” सरल भाव से आत्मालोचन करते हुए उसकी मृत्यु हो गई और वह गांगिला के गर्भ में आया । गांगिला ने समय पर उसे पुत्र रूप में जन्म दिया । इस प्रकार महेश्वरदत्त का शत्रु वह जारपुरुष महेश्वरदत्त का लाडला लाल बन गया । महेश्वरदत्त उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगा ।

कालान्तर में महेश्वरदत्त ने अपने पिता का श्राद्ध करने का विचार किया और कुल परम्परानुसार उसने एक भैंसा खरीदा । संयोग की बात कि उसका पिता मर कर जिस भैंसे के रूप में उत्पन्न हुआ था वही भैंसा उसने खरीदा । उसने उस भैंसे को मार कर उसके मांस से तैयार की हुई भोज्य सामग्री से अपने पिता के श्राद्ध में आमन्त्रित लोगों को भोजन खिलाया । श्राद्ध के पश्चात् दूसरे दिन महेश्वरदत्त मद्यपान के साथ उस भैंसे के मांस को बड़ी रुचिपूर्वक खाने लगा । वह अपनी गोद में बैठे हुए उस जार के जीव—अपने पुत्र को महिष-मांस के टुकड़े खिला रहा था और पास ही में कुतिया के रूप में बैठी हुई अपनी मां को लाठी से मार रहा था । उसी समय एक मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए महेश्वरदत्त के घर में आये ।

मुनि ने महेश्वरदत्त को प्रतिप्रसन्न मुद्रा में महिषमांस खाते, पुत्र को दुलार करते और कुतिया को मारते देखा । मुनि अपने अवधिज्ञान से वस्तुस्थिति को जान कर मन ही मन विचार करने लगे — “अहो ! अज्ञान की कैंसी विडम्बना है । अज्ञान के कारण इस मानव ने अपने शत्रु को तो गोद में ले रखा है, मां को पीट रहा है और अपने पिता के श्राद्ध में अपने पिता के जीव को ही मार कर

स्वयं खाता है और अन्य लोगों को भी खिलाता है।” वे ‘ग्रहो अकार्यं’ कह कर घर के द्वार से ही लौट गये।

महेश्वरदत्त ने अपने मन में विचार किया कि मुनि बिना कुछ लिये ही “ग्रहो अकार्यं” कह कर घर के द्वार से ही लौट रहे हैं, क्या कारण है? मुनि से इसका कारण पूछना चाहिये, ऐसा सोच कर वह मुनि को खोजता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वे ठहरे हुए थे। महेश्वरदत्त ने मुनि को प्रणाम कर उनसे अपने घर से बिना भिक्षा लिये ही “ग्रहो अकार्यं” कह कर लौट आने का कारण पूछा।

साधु ने उत्तर दिया - “भव्य ! मांसभोजियों के गृहों से, जहाँ मर्यादा का विचार न हो, भिक्षा ग्रहण करना हम भ्रमणों के लिये कल्पनीय नहीं है।<sup>१</sup> मांसाशन नितान्त हिंसापूर्ण और जुगुप्सनीय है अतः मांसभोजी कुलों में मैं भिक्षा ग्रहण नहीं करता। फिर तुम्हारे घर में तो.....”<sup>२</sup>

अपने अन्तिम वाक्य को अपूर्ण छोड़ कर ही मुनि मौनस्थ हो गये। महेश्वरदत्त ने मुनि के चरणों में अपना मस्तक रखते हुए बड़े अनुनय-विनय के साथ वास्तविक तथ्य बताने की प्रार्थना की। इस पर मुनि ने अपने अवधिज्ञान द्वारा जाना हुआ महेश्वरदत्त के पिता, माता, जारपुरुष, महिष, कुत्ती और पुत्र का सारा वृत्तान्त सुना दिया।

महेश्वरदत्त ने कहा - “भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, वह सत्य है पर क्या इन तथ्यों की पुष्टि में आप कोई प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं?” मुनि ने कहा - “कुतिया को तुम अपने भण्डार-कक्ष में ले जाओ, उसे वहाँ जातिस्मरण ज्ञान हो जायगा और वह अपने पंजों से आंगन खोद कर रत्नों से भरा कलस बता देगी।”<sup>३</sup>

मुनि के कथनानुसार महेश्वरदत्त कुतिया को अपने घर के भण्डारकक्ष में ले गया। वहाँ जाते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और उसने अपने पंजों से कच्चा आंगन खोद कर रत्नों से भरा चरू बता दिया।

मुनि द्वारा अति निगूढ़ रहस्यों का प्रमाणपुरस्सर अनावरण हो जाने पर महेश्वरदत्त को संसार से विरक्ति हो गई। उसने उन्हीं अवधिज्ञानी मुनि के पास भ्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर अपना उद्धार किया।

<sup>१</sup> किं न गृहीता भिक्षा भगवन्, मुनिराह कल्पतेऽस्माकं।

न खसु पिशिताभिवेशमनि, महेश्वरः प्राह को हेतुः ॥२७८॥

[जम्बूचरित्र, रत्नप्रभसूरिकृत]

<sup>२</sup> तेन न भिक्षे भिक्षां, मांसाभिक्षुलेष्वहं जुगुप्सावान्।

भवतो मुद्गे विक्षेपादित्युक्त्वा स स्थितस्तूष्णीम् ॥२८३॥ (बही)

अन्तर्गृहं शुनी नीता, जातजातिस्मृतिः सती।

रत्नजातं तदेवा तन्निजातं दर्शयिष्यति ॥ (बही)

दृष्टान्त के निष्कर्ष को समझाते हुए जम्बूकुमार ने कहा—“प्रभव ! लोकाचार की तो वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति है। अज्ञानान्धतम से आवृत्त मन वाले प्राणी ही इसे प्रमाणभूत मान कर अकरणीय कार्यों में प्रवृत्ति और करने योग्य कार्यों में निवृत्ति रखते हैं। परन्तु जिनके हृदय में ज्ञान का विमल प्रकाश हो चुका है, वे लोग कभी ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते।

यह संसार दुःखों से ओत-प्रोत है, इस बात को जो प्राणी अनुभव करता है, उसे चाहिये कि वह संसार के समस्त प्रपंचों का परित्याग कर मोक्षप्राप्ति के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा कर निरन्तर प्रयत्न करता रहे।”

सुख के वास्तविक स्वरूप को समझने की जिज्ञासा लिये प्रभव ने जम्बू कुमार से अन्तिम प्रश्न किया—“स्वामिन् ! विषयसुख में और मुक्तिसुख में क्या अन्तर है ?

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—“प्रभव ! मुक्ति का सुख अनिर्वचनीय और निरूपम है। उसमें क्षणमात्र के लिये भी कभी कोई बाधा व्यवधान नहीं आता इसलिये वह अव्याबाध है, उसका कोई छोर नहीं, उसकी कभी कहीं परिसमाप्ति नहीं अतः वह अनन्त है और देवताओं के सुख से भी वह अनन्तगुना अधिक है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता इसलिये वह अनिर्वचनीय है।

विषयजन्य तथाकथित सुख वस्तुतः सुख नहीं है, वह तो सुख की कल्पना और विडम्बनामात्र है। अशन, पान, विलेपन आदि का उपभोग करते समय सुख की कल्पना करता हुआ मानव वस्तुतः दुखों को ही निमन्त्रण देता है। अनुभवियों ने ठीक ही कहा है कि भोग में रोग का भय है।”

दुःख में सुख की कल्पना करने विषयक एक दृष्टान्त सुनाते हुए जम्बूकुमार ने कहा :—

### बशिक का दृष्टान्त

“एक समय एक व्यापारी माल से कई गाड़े भर कर साथ के साथ देशान्तर जाता हुआ एक विकट अटवी में पहुँचा। उस व्यापारी ने मार्ग में लेन-देन की मुत्रिधा की दृष्टि से एक खच्चर पर खरीज (रेजगी, फुटकर सिक्के) से भरा एक बोरा लाद रखा था। जंगल में पहुँचते-पहुँचते फुटकर सिक्कों से भरा वह बोरा किसी तरह फट गया। परिणामतः बहुत से पैसे मार्ग में ही बिखर गये। जात होने पर उस व्यापारी ने अपने सभी गाड़ों को रोक दिया और राह में बिखरी हुई रेजगी को अपने आदमियों की सहायता से बीनने लगा। सार्थक रक्षकों ने उस व्यापारी से कहा—“क्यों कीड़ियों के बदले में करोड़ों की सम्पत्ति को खतरे में डाल रहे हो ? यहाँ इस भयावह वन में चोरों का बड़ा आतंक है अतः गाड़ों को शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने दो।”



रक्षकों की उचित सलाह को अस्वीकार करते हुए उस व्यापारी ने कहा - "भविष्य का लाभ संदिग्ध है, ऐसी दशा में जो पास में है, उसका परित्याग करना बुद्धिमानी नहीं" और वह उन फुटकर सिक्कों को बीनने में जुट गया।

साथ के अन्य लोग और सार्थ के रक्षक उस व्यापारी के माल से भरे गाड़ों को वहीं छोड़ कर भागे बढ़ गये। व्यापारी राह में बिखरे सिक्कों को बीनता रहा और शेष सार्थ रक्षकों के साथ-साथ उस घने जंगल से पार हो गया।

उस व्यापारी के साथ रक्षकों को न देख कर चोरों के एक दल ने आक्रमण किया और वे व्यापारी का सारा माल लूट कर ले गये।"

जम्बूकुमार ने दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिकरूप से घटित करते हुए कहा - "जो मनुष्य बिषयों के तुच्छ और नाममात्र के तथाकथित सुख में आसक्त हो भाषी मोक्षसुख की प्राप्ति का प्रयास छोड़ देते हैं, वे संसार में अनन्तकाल तक भ्रमण करते हुए उसी प्रकार शोक और दुःख से ग्रस्त रहते हैं, जैसे कौड़ियों के लोभ में करोड़ों की सम्पत्ति गंवा देने वाला यह व्यापारी।"

### प्रभव का आत्मचिंतन

जम्बूकुमार द्वारा कही गई हित-मित-तथ्य-युक्ति और विरक्तिपूर्ण उपर्युक्त बातों को सुनने के पश्चात् प्रभव के अन्तर्बन्धु कुछ उन्मीलित हुए, उसके हृदय में एक प्रकार की हलचल सी प्रारम्भ हुई। उसके अन्तर्मन में विचारों का फव्वारा फूट पड़ा। उसने सोचा - "यह अतिशय कान्त, परम सुकुमार, सुधांशु से भी सौम्य, सर्वांगसुन्दर एवं मनमोहक अनुपम स्वरूप, कुबेरोपम अपरिमित वैभव, सुरबालाओं के समान अनिन्द्य सौन्दर्य एवं सर्वगुण सम्पन्न आठ पत्नियां, भव्य-भवन और सहज सुलभ प्रचुर भोग सामग्री - इन सब का तृणवत् परित्याग कर एक ओर जम्बूकुमार मुक्तिपथ के पथिक बन रहे हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर मैं अपने पांच सौ साधियों के साथ दूसरे लोगों की उनके द्वारा कठोर परिश्रम से उपाजित सम्पत्ति लूटने के जघन्य दुष्कृत्य में रात-दिन निरत हूँ। मैंने अगणित लोगों को उनकी प्रिय सम्पत्ति से वंचित करके रूलाया है, उनके सर्वस्व का अपहरण कर उनके जीवन को दुःखमय बना डाला है। हाय ! मैंने लूट-मार और चोरी के अनैतिक, असामाजिक और घृणित कार्य को अपना कर घोरतिघोर पाप-पुत्रों का उपार्जन कर लिया है। निश्चित रूप से मेरा भविष्य बड़ा ही भीषण, दुःखदायी-और अन्धकारपूर्ण है।"

अपने कुर्मों का फल कितना दारुण और भयावह होगा ? यह विचार आते ही प्रभव सिहर उठा। उसने तत्काल दृढ़ निश्चय किया कि अब वह सब प्रकार के पापपूर्ण कार्यों का परित्याग कर एवं समस्त विषयोपभोगों से विरक्त हो अपने बिगड़े भविष्य को सुधारने में और आत्मकल्याण में जुट जायगा।

मन ही मन यह निश्चय कर प्रभव ने अपना मस्तक जम्बूकुमार के चरणों पर रक्ते हुए हाथ जोड़ कर कहा - "स्वामिन् ! आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका

शिष्य । आपने मुझे मोक्ष का मार्ग दिखा दिया है । मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं अब आपके साथ ही प्रव्रजित हो कर जीवनभर आपकी सेवा करूँगा । आप मुझे शिष्य रूप से स्वीकृत करें ।”

जम्बूकुमार ने स्वीकृति सूचक स्वर में कहा—“अच्छा ।” जम्बूकुमार द्वारा स्वीकृति सूचक शब्द के उच्चारण के साथ ही प्रभव के पांच सौ स्तंभित साथी स्तंभन से विमुक्त हो गये । प्रभव ने अपने सब साथियों को आदेश दे कर सब सम्पत्ति को जहाँ से हटाया था वहाँ यथास्थान रखवा दिया और वह जम्बूकुमार से अनुमति ले कर दीक्षार्थ अपने पिता की आज्ञा लेने हेतु तत्काल अपने साथियों सहित जयपुर नगर की ओर प्रस्थान कर गया ।

### प्रभव की दीक्षा और साधना

घर पहुँच कर प्रभव कुमार ने अपने कुटुम्बियों से आज्ञा प्राप्त की और दूसरे ही दिन अपने ५०० साथियों के साथ सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हो आर्य जम्बू के अनन्तर उनके २६ आत्मीयों एवं अपने ५०० साथियों के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली । इस प्रकार डाकुओं एवं लुटेरों के अग्रणी प्रभव साधकों के अग्रणी प्रभवस्वामी बन गये । जैसा कि जम्बूस्वामी के प्रकरण में पहले बताया जा चुका है, कुछ ग्रन्थकार जम्बू के पश्चात् कालान्तर में प्रभव का दीक्षित होना मानते हैं पर इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते । दीक्षा ग्रहण के समय आर्य प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी । आर्य प्रभव विवाहित थे अथवा अविवाहित, एतद्विषयक कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता ।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् आर्य प्रभव ने विनयपूर्वक आर्य जम्बूस्वामी के पास ११ अंगों एवं १४ पूर्वों का सम्यक् रूप से अध्ययन किया और अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याएँ कर के तपस्या की प्रचण्ड अग्नि में अपने कर्मसमूह को ईंधन की तरह जलाने लगे । दीक्षित होने के पश्चात् ६४ वर्ष तक उन्होंने जम्बूस्वामी की सेवा करते हुए साधक के रूप में श्रमण धर्म का पालन किया । तदनन्तर वीर निर्वाण संवत् ६४ में आर्य जम्बूस्वामी द्वारा आचार्यपद प्रदान किये जाने और आर्य जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभवस्वामी आचार्य बने । अपनी आत्मा के उद्धार के साथ-साथ प्रभवस्वामी ने युगप्रधान आचार्य के रूप में भगवान् महावीर के शासन की बड़ी निष्ठा और लगन के साथ महती सेवा एवं प्रभावना की ।

### उत्तराधिकारी के लिये चिन्तन

एकदा रात्रि के समय आचार्य प्रभवस्वामी योगसमाधि लगाये ध्यान में मग्न थे । शेष सभी साधु निद्रा में सो रहे थे । अर्द्धरात्रि के पश्चात् ध्यान की परिसमाप्ति पर उनके मन में विचार आया कि उनके पश्चात् भगवान् महावीर के सुविशाल धर्मसंघ का सम्यक् रूपेण संचालन करने वाला पट्टधर बनाने योग्य

कौन है ? उन्होंने श्रमणसंघ के अपने सभी साधुओं की ओर ध्यान दिया पर उनमें से एक भी साधु उन्हें अपनी अभिलाषा के अनुकूल नहीं जंचा। तत्पश्चात् उन्होंने अपने साधुसंघ से ध्यान हटा कर जब अन्य किसी योग्य व्यक्ति को खोजने के लिये श्रुतज्ञान का उपयोग लगाया, तो उन्होंने अपने ज्ञानबल से देखा कि राजगृह नगर में वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यंभव भट्ट, जो कि उन दिनों यज्ञानुष्ठान में निरत है, वह भगवान् महावीर के धर्मसंघ के संचालन के भार को वहन करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो सकता है।

दूसरे ही दिन गणनायक प्रभवस्वामी अपने साधुओं के साथ विहार करते हुए राजगृह नगर पधारे। वहां पहुंचने पर उन्होंने अपने दो साधुओं को आदेश दिया - "श्रमणो! तुम दोनों सय्यंभव ब्राह्मण के यज्ञ में भिक्षार्थ जाओ। वहां जब ब्राह्मण लोग तुम्हें भिक्षा देने से इन्कार कर दें तो तुम उच्च स्वर से निम्न श्लोक उन लोगों को सुना कर पुनः यहां लौट आना -

“अहो कष्टमहो कष्टं, तत्त्वं विज्ञायते न हि।’

अर्थात् - अहो ! महान् दुःख की बात है, बड़े शोक का विषय है कि सही तत्त्व (परमार्थ) को नहीं समझा जा रहा है।

इस प्रकार आचार्य के संकेतानुसार तत्काल दो साधु भिक्षार्थ राजगृह नगर की ओर प्रस्थित हुए और सय्यंभव भट्ट के विशाल यज्ञ-मंडप में पहुंच कर भिक्षार्थ खड़े हुए। वहां यज्ञ में भाग लेने हेतु उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों ने उन दोनों साधुओं को यज्ञाग्न की भिक्षा देने का निषेध कर दिया।

इस पर प्रभवस्वामी की आज्ञानुसार मुनि-युगल ने उच्च स्वर में उपरि-लिखित श्लोक का उच्चारण किया और वे अपने स्थान की ओर लौट पड़े।

मुनि-युगल द्वारा उच्चारण किये गये उपरोक्त श्लोक को जब यज्ञानुष्ठान में निरत, पास ही में बैठे हुए सय्यंभव भट्ट ने सुना तो वह इस पर ईहापोह करने लगा। वह इस बात को भलीभांति जानता था कि जैन श्रमण किसी दशा में असत्य-भाषण नहीं करते। अतः उसके मन में वास्तविक तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शंकाएं उठने लगीं। सय्यंभव के अन्तर्मन में उठे अनेक प्रकार के संशयों के तूफान ने जब उसे बुरी तरह झकझोरना प्रारम्भ किया, तो उसने यज्ञ का अनुष्ठान करवाने वाले अपने उपाध्याय से प्रश्न किया - “पुरोहितप्रवर ! वास्तव में तत्त्व का सही रूप क्या है ?”

उपाध्याय ने उत्तर में कहा - “यजमान ! सही ज्ञान का सार यही है कि वेद स्वर्ग और मोक्ष देने वाले हैं। जिन्होंने तत्त्वज्ञान को जान लिया है, वे कहते हैं कि वेदों के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है।”

इस पर सय्यंभव भट्ट ने क्रुद्ध स्वर में कहा - “सच, सच बताओ कि तत्त्व क्या है, अन्यथा मैं तुम्हारा सिर घड़ से अलग कर दूंगा।” यह कह कर सय्यंभव भट्ट ने अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली।

उपाध्याय ने काल के समान करवाल लिये अपने जजमान को सम्मुख देख कर सोचा कि अब सच्ची बात बताये बिना प्राणरक्षा असंभव है। यह विचार कर उसने कहा अर्हत् भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म ही वास्तविक तत्व और सही धर्म है। इसका सही उपदेश यहां विराजित आचार्य प्रभव से तुम्हें प्राप्त करना चाहिये।”

उपाध्याय के मुख से सच्ची बात सुन कर सय्यंभव बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने समस्त यज्ञोपकरण और यज्ञ के लिये एकत्रित पूरी की पूरी सामग्री उपाध्याय को प्रदान कर दी और स्वयं खोज करते हुए आचार्य प्रभव की सेवा में जा पहुंचा। सय्यंभव भट्ट ने आचार्य प्रभव के चरणों में प्रणाम करते हुए उनसे मोक्षदायक धर्म का उपदेश-देने की प्रार्थना की।

आचार्य प्रभव ने सम्यक्त्व सहित ग्रहिता, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप धर्म की महिमा समझाते हुए सय्यंभव से कहा कि वस्तुतः यही वास्तविक तत्व, सही ज्ञान और सच्चा धर्म है। इस वीतराग मार्ग की साधना करने वाला जन्म, जरा, मरण के बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा पा कर अक्षय सुख की प्राप्ति कर लेने में सफल होता है।

आचार्य प्रभव के मुख से शुद्ध मार्ग का उपदेश सुन कर सय्यंभव भट्ट ने तत्काल ही प्रभवस्वामी के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य प्रभव द्वारा सय्यंभव भट्ट को प्रतिबोध दिये जाने का यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारे महान् आचार्य अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ भविष्य में जाने वाली भय्य प्राणियों की पीढ़ियों को कल्याण का मार्ग बताने वाली श्रमण परम्परा को सुदीर्घ काल तक स्थायी और सशक्त बनाने के लिये भी अर्हानिश प्रयत्नशील रहते थे।

### आर्य प्रभव का स्वर्गगमन

डाकुओं के अधिनायक प्रभव ने ३० वर्ष की भरपूर युवावस्था में दीक्षित हो कर ६४ वर्ष के सुदीर्घ काल तक अतिकठोर संयम का पालन किया और ११ वर्ष तक श्रमणसंघ के गौरव-गरिमापूर्ण आचार्य पद पर अधिष्ठित रह कर ७५ वर्ष तक स्व और पर का कल्याण किया। इस प्रकार के उदाहरण संसार के इतिहास में विरले ही उपलब्ध होते हैं। अन्त में १०५ वर्ष की आयु में महान् राजर्षि आचार्य प्रभव ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ अपने शिष्य सय्यंभव को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशनपूर्वक १०५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण संवत् ७५ में स्वर्गगमन किया।

### दिगम्बर परम्परा की मान्यता

दिगम्बर मान्यता के सभी ग्रन्थों और पट्टावलिओं में भगवान् महावीर के धर्मसंघ के आचार्यों की परम्परा में आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभव के स्थान पर विष्णु को आचार्य माना गया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ उत्तर-पुराण (पर्व ७६) में जम्बूस्वामी के शिष्य के रूप में भव नामक मुनि का और पं० राजमल्ल ने 'जम्बूचरितम्' में प्रभव का उल्लेख किया है। जम्बूचरितम् में यह भी बताया गया है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण से कुछ दिन पश्चात् विशाचादि द्वारा दिये गये घोर उपसर्गों के परिणामस्वरूप विद्युच्चर और उसके साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० दस्यु राजकुमारों की मृत्यु हो गई और वे सब देव बने। उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में इससे अधिक प्रभव का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसंघ के आचार्य, आर्य प्रभव बने अथवा आर्य विष्णु - अपरनाम नन्दि बने - यह एक बड़ा ही जटिल, महत्त्वपूर्ण और नाजुक प्रश्न है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् की आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में आर्य जम्बू तक सचेलक और अचेलक दोनों परम्पराओं में प्रायः मतैक्य ही दृष्टिगोचर होता है। इन्द्रभूति गौतम को प्रथम पट्टधर मानने न मानने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उसमें विभेद की कोई गन्ध नहीं आती। अचेलक परम्परा इन्द्रभूति को प्रथम पट्टधर मानती है तो सचेलक परम्परा उन्हें पट्टधर पद से भी अधिक गरिमापूर्ण गौरव और सम्मान देती है। परन्तु जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी कौन बना इस प्रश्न को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के मतभेद का सूत्रपात होता है। यह मतभेद आचार्य विष्णु अपरनाम नन्दि से प्रारम्भ होकर नन्दिमित्र - अपरनाम नन्दि, अपराजित और आचार्य गोवर्धन तक चलता है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को दोनों परम्पराएं समान रूप से अपना अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य मानती हैं। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् पुनः यह मतभेद प्रारम्भ होता है और उसके पश्चात् कहीं इन दोनों परम्पराओं में एतद्विषयक मतैक्य के दर्शन नहीं होते। कालान्तर में यतिवृषभ के गुरु आर्य मंशु और नागहस्ति का काल ही एक ऐसा काल कहा जा सकता है जिसमें ये दोनों परम्पराएं संभवतः एक दूसरी के निकट संपर्क में आई हों।

जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी के नामभेद को देखकर अनेक विद्वानों ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि संभवतः जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही भगवान् महावीर के धर्मसंघ में श्वेताम्बर और दिगम्बर - इस प्रकार के भेद के बीज का बपन हो चुका था। पर उन विद्वानों के इस अभिमत को दोनों परम्पराएं समान रूप से अस्वीकार करती हैं। जम्बूस्वामी के पश्चात् आचार्यों के नाम के सम्बन्ध में मतभेद होने के उपरान्त भी न श्वेताम्बर परम्परा इस बात को मानने के लिये तैयार है और न दिगम्बर परम्परा ही कि आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् ही श्वेताम्बर और दिगम्बर - इस प्रकार की दो शाखाओं में भगवान् महावीर का धर्मसंघ विभक्त हो गया।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका समाधान करना कोई साधारण

कार्य नहीं। इस सम्बन्ध में गहन शोध की आवश्यकता है। एतद्विषयक शोध-कार्य में जो कतिपय तथ्य सहायक सिद्ध हो सकते हैं, उन तथ्यों को यहां रखा जा रहा है :-

(१) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में विष्णुनन्दि को जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी (पट्टघर) तो माना गया है पर कहीं पर यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है कि वे जम्बूस्वामी के शिष्य थे अथवा और किसी के।

(२) जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जम्बूस्वामी के पट्टघर प्रभवस्वामी का विस्तार के साथ परिचय दिया गया है, उस प्रकार दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्य विष्णु का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

(३) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रभव का उल्लेख किया गया है पर श्वेताम्बर परम्परा के एक भी प्राचीन ग्रन्थ में जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी इन विष्णुनन्दि का कहीं नामोल्लेख तक उपलब्ध नहीं होता।

आशा है दोनों परम्पराओं के विद्वान् इस सम्बन्ध में गहन शोध के पश्चात् समुचित प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

#### ४. आचार्य सय्यंभव

भगवान् महावीर के तृतीय पट्टघर आचार्य प्रभवस्वामी के पश्चात् वीर निर्वाण संवत् ७५ में चतुर्थ पट्टघर आचार्य सय्यंभव हुए। आप वत्स गोत्रीय ब्राह्मण कुल के विशिष्ट विद्वान् थे। २८ वर्ष की वय में आचार्य प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर, जिस समय सय्यंभव ने भ्रमण-दीक्षा ग्रहण की, उस समय उनके परिवार में केवल उनकी युवा पत्नी विद्यमान थी।

अपनी पत्नी को असहाय्यवस्था में छोड़कर सय्यंभव के दीक्षित होने पर नगर के नागरिक बड़े खेद के साथ निश्वास छोड़ते हुए बोले - "भट्ट सय्यंभव जैसा संसार में अन्य कौन इतना वज्रहृदय होगा जो अपनी युवती, सुन्दरी, सती स्त्री को एकाकिनो छोड़कर संयम-मार्ग का पथिक बना हो। एक पुत्र भी यदि होता तो उस आशालता के सहारे इस युवती का जीवन इतना दूभर नहीं होता।"

#### शालाचि मरणक

उसी दिन पास-पड़ोस की स्त्रियों ने सय्यंभव की पत्नीसे पूछा - "सरले क्या तुम्हें आशा है कि तुम्हारी कुल में भट्ट कुल का कुलप्रदीप आ चुका है?"

सज्जा से अरुणमुखी सय्यंभव की पत्नी ने अपने अंचल में मुंह छुपाने व उपक्रम करते हुए ईषत् स्मित के साथ उस समय की बोलचाल की भाषा में छोट सा उत्तर दिया - "मरणक" (मनाक) जिसका अर्थ होता है - हां, कुछ है।

कला-परम्परा से त्रिदलु वेग की तरह यह समाचार सय्यंभव भट्ट के परिजनों तथा पुरजनों में फैल गया और सब ने परम हर्ष और संतोष का अनुभव किया ।

समय पर माता के नीरस जीवन में आशा-सुखा का सिचन करते हुए सय्यंभव के घर में पुत्र ने जन्म ग्रहण किया । माता के "मरण" शब्द से उस शिशु के आगमन की पूर्व सूचना लोगों को प्राप्त हुई थी अतः सब ने उस शिशु का नाम "मरणक" रखा । माता ने अपने पुत्र मरणक के प्रति माता और पिता दोनों ही रूप में अपना कर्तव्य निभाते हुए बड़े स्नेहपूर्वक उसका लालन-पालन किया ।

द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः बढ़ते हुए बालक मरणक ने आठ वर्ष की वय में पदापंग किया और अपने समवयस्क बालकों के संग खेलने के साथ ही साथ अध्ययन भी करने लगा । बालक मरणक प्रारम्भ से ही बड़ा भावुक और विनयशील था । उसने एक दिन अपनी माता से प्रश्न किया - "मेरी अच्छी मां ! मैंने मेरे पिता को कभी नहीं देखा, बतलाओ मेरे पिता कौन और कहां हैं ?"

माता ने अपनी आंखों में उमड़ते हुए अश्रुसागर को बलपूर्वक रोकते हुए धैर्य के साथ कहा - "वत्स ! जिस समय तुम गर्भ में थे, उसी समय तुम्हारे पिता ने श्रमणाधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी । एकाकिनी मैंने ही तुम्हारा लालन-पालन किया है । पुत्र ! जिस प्रकार तुमने अपने पिता को नहीं देखा, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने भी तुम्हें नहीं देखा है । तुम्हारे पिता का नाम सय्यंभव भट्ट है । जिस समय तुम गर्भ में आये थे, उस समय उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया था । उसी समय दो धूर्त जैन श्रमण आये और उनके घोड़े में आकर तेरे पिता ने उनके पीछे-पीछे जा मेरा और अपने घर-द्वार का परित्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली । यही कारण है कि तुम पिता-पुत्र परस्पर एक दूसरे को अभी तक नहीं देख सके हो ।"

माता के मुख से अपने पिता का सारा वृत्तान्त सुनकर बालक मरणक के हृदय में अपने पिता सय्यंभव आचार्य को देखने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी और एक दिन अपनी माता को पूछ कर वह अपने पिता से मिलने के लिये घर से निकल पड़ा ।

आचार्य सय्यंभव उन दिनों अपने शिष्य-समुदाय के साथ विविध ग्राम नगरों में विहार करते हुए चम्पापुरी पधारे हुए थे । सुयोग से बालक मरणक भी पिता की खोज में धूमता-धामता चम्पा नगरी जा पहुंचा । वास्तव में जिसकी जो सच्ची लगन होती है वह अन्ततोगत्वा पूरी होकर ही रहती है । कहा भी है :-

"जिहि के जिहि पर सत्य सनेहू, सो तिहि मिलत न कछु सन्देहू ।"

पुष्पोदय से मरणक की मनोकामना पूर्ण हो गई । उसने नगरी के बाहर शीत-निवृत्ति के लिये आये हुए एक मुनि को देखा । "अवश्य ही वे मेरे पिता के सहसोबी मुनि होंगे" - इस विचार के आते ही सहसा मरणक के हृदय में बड़ी

प्रसन्नता हुई। उसने मुनि के पास पहुंच कर बड़े विनय से उन्हें वन्दन किया। मुनि भी कमल-नयन सुन्दर आकृति वाले बालक को देखकर सहज स्नेह भरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। एक दूसरे को देखकर अनायाम ही दोनों के हृदय में आनन्द की ऊर्मियां तरंगित होने लगीं।

बालक द्वारा वन्दन किये जाने के पश्चात् आचार्यश्री ने स्नेह-गद्गद् स्वर में बालक से पूछा - “वत्स ! तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, कहां से आये हो और कहां जा रहे हो ?”

उत्तर में बालक मराक ने मधुर स्वर में कहा - “देव ! मैं राजगृह नगर निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यंभव भट्ट का पुत्र हूं। मेरा नाम मराक है। मैं जिस समय माता के गर्भ में था, उसी समय मेरे पिता घर-द्वार और मेरी माता के स्नेहसूत्र को तोड़कर श्रमण-धर्म में दीक्षित हो गये। मैं राजगृह नगर से उन्हें अनेक नगरों और ग्रामों में ढूँढता हुआ यहां आया हूं। भगवन् यदि ! आप मेरे पिताजी को जानते हों तो कृपा कर मुझे बताइये कि वे कहां हैं ? मुझे यदि वे एक बार मिल जायं तो मैं उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण कर सदा के लिये उन्हीं के चरणों की सेवा में रहना चाहता हूं।”

बालक मराक के मुंह से यह सुनकर आचार्य सय्यंभव की मनोदशा किर प्रकार की रही होगी, यह केवल अनुभवगम्य ही है।

समुद्र के समान गम्भीर आचार्य सय्यंभव ने अद्भुत धैर्य के साथ स्नेह सनी निगूढ़ भाषा में कहा - “आयुष्मन् वत्स ! मैं तुम्हारे पिता को जानता हूं। वे केवल मन से ही नहीं अपितु तन से भी मुझ से अभिन्न हैं। तुम मुझे उनके तुल्य ही समझ कर मेरे पास प्रव्रज्या ग्रहण कर लो।”

मराक सय्यंभवसूरि के साथ हो लिया और सूरि उसे अपने साथ लेकर आश्रय-स्थान की ओर लौटे।

उपाश्रय में आने पर बालक मराक को जब अन्य मुनियों से यह ज्ञात हुआ कि जिनके साथ वह जंगल से उपाश्रय में आया है, वे ही आचार्य सय्यंभव हैं, तो अपने आन्तरिक आनन्दान्तिरेक को बिना किसी पर प्रकट किये वह मन ही मन बड़ा प्रमुदित हुआ। भक्तिबिह्वल एवं हर्षविभोर हो वह अपने पिता के चरणों पर गिर कर प्रार्थना करने लगा - “भगवन् ! मुझे शीघ्र ही श्रमण-दीक्षा प्रदान कीजिये, अब मैं आपसे पृथक् नहीं रहूंगा।”

बालक मराक की प्रबल प्रार्थना देखकर आचार्य सय्यंभव ने भी उसे सम्पूर्ण सावध-विरतिकरुप श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दी। बालक मराक जो कल तक खेलकूद में प्रमोद मान रहा था, आज एक बालरिषि के रूप में मुक्तिपथ का सच्चा पथिक बन गया। प्राक्तन संस्कारों का कितना जबरदस्त प्रभाव है कि उपरिष्ठ और प्रेरणा की भी आवश्यकता नहीं पड़ी ?



### दशवैकालिक की रचना

मराक ने दीक्षित होकर जब आचार्य सय्यंभव को आत्मसमर्पण कर दिया तो वे मराक के आत्मकल्याण की दिशा में विचार करने लगे। श्रुतज्ञान में उपयोग लगा कर उन्होंने देखा कि इस बालवि की आयु केवल ६ मास की ही अवशिष्ट रह गई है। इस अति स्वल्प काल में बालक मुनि ज्ञान और क्रिया, दोनों ही का सम्यक् रूपेण आराधन कर के किस प्रकार अपना आत्मकल्याण साध सकता है इस पर चिन्तन करते हुए आचार्य सय्यंभव को ध्यान आया कि “चतुर्दश पूर्वों का पारगामी विद्वान् मुनि या १० पूर्वधर कभी विशेष कारण के उपस्थित होने की दशा में स्व-पर कल्याण की कामना से पूर्व-श्रुत में से आवश्यक ज्ञान का उद्धार कर सकते हैं। बालक मुनि मराक का अल्प समय में आत्मकल्याण सम्पन्न करने के लिये मेरे समक्ष भी यह कारण है इसलिये मुझे भी पूर्वों में से सार ग्रहण कर एक सूत्र की रचना करनी चाहिये।”

यह निश्चय कर आचार्य सय्यंभव ने विभिन्न पूर्वों से सार ले कर दश ग्रन्थयनों वाले एक सूत्र की रचना की। सायंकाल के विकाल में पूर्ण किये जाने के कारण उस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। आचार्य सय्यंभव ने स्वयं मराक मुनि को उसका अध्ययन और ध्यानादि का अभ्यास कराया। मुनि मराक अपनी विनयशीलता, आज्ञा-पालकता और ज्ञानरुचि के कारण आचार्यश्री की कृपा से अल्प समय में ही ज्ञान और क्रिया का सम्यक् आराधक बन गया।

आचार्य सय्यंभव ने जब मराक मुनि का अंतिम समय सन्निकट देखा, तो उन्होंने उसकी अन्तिम आराधना के लिये आलोचनादि आवश्यक क्रियाएं सम्यक् रीति से सम्पन्न करवाईं। मराक मुनि ने भी ६ मास के अत्यल्प काल के निर्मल श्रमणधर्म की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गगति प्राप्त की। मराक मुनि के, इस स्वल्पकालीन साधना के पश्चात् सहसा देहत्याग पर आचार्य सय्यंभव को सहज ही मानसिक खेद हुआ और उनके नेत्रों से हठात् अश्रुकरण निकल पड़े। जब यशोभद्र आदि मुनिमण्डल ने बालमुनि मराक की देहलीला-समाप्ति के साथ आचार्य सय्यंभव के मुखकमल को म्लान और उनके नयनों में अश्रुबिन्दुओं को देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने विनयपूर्वक अपने गुरुदेव से पूछा—“भगवन् ! हमने आज तक कभी आपके मुखकमल पर किंचित्मात्र भी खिन्नता नहीं देखी पर आज सहसा आपके नयनों में अश्रु भर आने का क्या कारण है ? आप जैसे परमविरांगी एवं शोकमुक्त महामुनि के मन में खेद होने का कोई खास कारण होना चाहिये। कृपया हमारी शंका दूर करने का कष्ट करें।”

मुनिसंघ की बात सुन कर आचार्य सय्यंभव ने मराक मुनि और अपने बीच के पिता-पुत्र रूप सम्बन्ध का रहस्य प्रकट करते हुए बताया—“इस बालमुनि ने इतनी छोटी वय में सम्यक्ज्ञान के साथ निर्मल चारित्र्य का पालन किया और साधना के मध्य में ही वह परलोकगमन कर गया, इसलिये मेरा हृदय भर आया। अन्ध्रा होता, यह कुछ आयु बल पा कर साधना को पूर्ण कर पाता।”

आचार्य के मुख से यह जान कर कि बालक मुनि मरणक उनके गुरु का पुत्र था, मुनिमण्डल को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने कहा — “भगवन् ! आपने इतने समय तक हमें इस बात से अज्ञात रखा कि आपका और बालक मुनि मरणक का परस्पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध था। यदि हमें समय पर इस सम्बन्ध का पता चल जाता, तो हम लोग भी अपने गुरुपुत्र की सेवा का कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाते।”

आचार्य सय्यंभव ने कहा — “मुनियो ! यदि आप लोगों को बालमुनि का भेरे साधु पुत्ररूप सम्बन्ध ज्ञात हो जाता तो आप लोग मरणक ऋषि से सेवा नहीं करवाते और वह भी इस प्रकार आपके स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण ज्येष्ठ मुनियों की सेवा के महान् लाभ से वंचित रह जाता। अतः आपको इस बात का मन में खेद नहीं करना चाहिये। बालमुनि की अल्पकालीन आयु को देख कर मैंने, ज्ञान और क्रिया का वह सम्यक् आराधन कर सके, इस हेतु पूर्व-श्रुत से सार निकाल कर एक छोटे सूत्र की रचना की। कार्य सम्पन्न हो जाने से अब मैं उस दशवैकालिक सूत्र का पुनः पूर्वों में संवरण कर देना चाहता हूँ।”

आचार्य सय्यंभव की बात सुन कर यशोभद्र आदि मुनियों ने और संघ ने आचार्यश्री की सेवा में विनयपूर्वक प्रार्थना की — “पूज्य ! मरणक मुनि के लिये आपने जिस शास्त्र की रचना की है, वह आज भी मन्दमती साधु-साध्वियों के लिये आचारमार्ग का ज्ञान-सम्पादन करने के लिये उपयोगी है और भविष्य में होने वाले अल्पबुद्धि साधु-साध्वी भी इसके द्वारा संयमधर्म का ज्ञान प्राप्त कर सरलता से साधना कर सकेंगे अतः कृपा कर आप इस सूत्र का पूर्वों में संवरण न कर इसे यथावत् रहने दें।”

संघ द्वारा की गई प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य सय्यंभव ने “दश-वैकालिक सूत्र” को यथावत् स्थिति में रहने दिया। सय्यंभवस्वामी के इस कृपा-प्रसाद के फलस्वरूप आज भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ दश-वैकालिक सूत्र से पूरा आध्यात्मिक लाभ उठा रहा है।

दशवैकालिक सूत्र के दश अध्ययन न केवल मुनियों के लिये अपितु प्रत्येक साधक के लिये अलौकिक ज्योतिर्मय प्रदीपस्तम्भ हैं। उन अध्ययनों में प्रतिपादित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विषयों का सार रूप में विवरण इस प्रकार है :—

१. द्रुमपुष्पक नामक प्रथम अध्ययन में अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म का स्वरूप और महत्त्व बताया गया है। वस्तुतः आर्य संस्कृति के मूल मिढान्तों को पांच गाथाओं में सूत्र रूपेण ग्रथित कर समर्थ आचार्य सय्यंभव ने सागर को गागर में भर दिया है।

२. आमण्यपूर्वक नामक द्वितीय अध्ययन में संयम से विचलित मन को स्थिर करने के अंतरंग एवं बहिरंग उपाय बताये गये हैं।

३. क्षुल्लकाचार नामक तृतीय अध्ययन में साधु के लिये अनाचरणीय कार्यों की तालिका दी गई है।

४. पङ्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में छः प्रकार के जीवनिकाय साक्षिप्त स्वरूप और उनकी रक्षा हेतु यतना का निर्देश दिया गया है।

५. पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन में मुनियों की आहारविधि एवं भिक्षा-विषयक अन्य नियमों का विवेचन दो उद्देशकों द्वारा किया गया है।

६. धर्मार्थकाम नामक छठे अध्ययन में साधु के आचार धर्म का वर्णन करते हुए १८ स्थानों के वर्जन का उपदेश दिया गया है।

७. वचनशुद्धि नामक सातवें अध्ययन में वाणी और भाषा के भेदों का विशद वर्णन कर असत्य एवं दोषपूर्ण भाषा से बचकर सत्य और निर्दोष वाणी बोले यह बताया गया है।

८. आचार प्रणिधान नामक अष्टम अध्ययन में मुनियों के आचारों का वर्गीकरण सन्निहित है।

९. विनयसमाधि नामक नवम अध्ययन में चार उद्देशकों से विनय धर्म की शिक्षा दी गई है तथा (१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपसमाधि और (४) आचारसमाधि रूप से समाधि के चार कारण बतलाये हैं।

१०. "सः भिक्षु" नामक दशम अध्ययन में—साधु-जीवन का अधिकारी कौन है, किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, इसका माध्यम क्या है आदि आदर्श साधु-जीवन का सुन्दर विश्लेषण सारगर्भित एवं सीमित शब्दावलि में प्रस्तुत किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र पर नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहुस्वामी (श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न) द्वारा रचित निर्युक्ति के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएं और वृत्तियां आज भी उपलब्ध हैं। आत्मधर्म का जितना सुन्दर, व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण विवेचन दशवैकालिक में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र एक ही स्थान में उपलब्ध नहीं होता। समस्त श्रुतसागर के विलोडन के पश्चात् आचार्य सय्यम्भव ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम का गुंफन किया। इस सूत्र के अध्ययन और मनन को अपने दैनिक जीवन में प्रमुख स्थान देकर मरणक मुनि ने अतीव स्वल्पतर समय में दुस्साध्य मुनिधर्म का सम्यक् रीति से आराधन किया और आध्यात्मिक पथ पर अद्भुत प्रगति करते हुए स्वर्गगमन किया।

### आचार्य सय्यम्भव का स्वर्गगमन

आचार्य सय्यम्भव ने २८ वर्ष की युवा अवस्था में (वी० नि० सं० ६४ में) दीक्षा ग्रहण की। वे ११ वर्ष तक सामान्य साधु रहे और २३ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य पद पर रहकर उन्होंने महावीर के धर्मशासन की बड़ी तत्परता से सेवा की। अन्त में अपना आयुकाल सन्निकट समझकर अपने प्रमुख शिष्य यशोभद्र को

अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशन एवं समाधिपूर्वक वीर निर्वाण संवत् ६८ में ६२ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गगमन किया ।

### दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में सत्यंभव के स्थान पर नन्दिमित्र को आचार्य माना गया है । आचार्य नन्दिमित्र का भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता ।

## ५. आचार्य यशोभद्र स्वामी

आचार्य सत्यंभव के पश्चात् भगवान् महावीर के पंचम पट्टधर श्री यशोभद्र स्वामी हुए । आपका विस्तृत जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं होता । नन्दी स्थविरावली और युग प्रधान पट्टावली-आदि में जो थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त होता है, उसके आधार पर यहां भी संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :-

आपका जन्म तुंगियायत्त गोत्रीय याज्ञिक ब्राह्मण परिवार में हुआ । आपने अपना अध्ययनकाल पूर्ण कर जब तरुण अवस्था में प्रवेश किया, तब सहसा आचार्य सत्यंभव के सत्संग का आपको सुयोग मिला । आचार्य सत्यंभव की त्याग-विराग भरी वाणी सुन कर यशोभद्र की सोई हुई आत्मा जग उठी । उनके मन का मोह दूर हुआ और वे २२ वर्ष की भर तरुण अवस्था में सांसारिक मोह-माया का परित्याग कर आचार्य सत्यंभव के पास दीक्षित हो मुनि बन गये । १४ वर्ष तक निरंतर गुरु-सेवा में ज्ञान-ध्यान की साधना करते हुए यशोभद्र ने चतुर्दश पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और गुरु-आज्ञा से अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए वे विधिवत् संयम धर्म का पालन करते रहे ।

वीर नि० सं० ६८ में आचार्य सत्यंभव के स्वर्गरोहण के पश्चात् आप युगप्रधान आचार्यपद पर आसीन हुए । ५० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर जिनशासन की अनुपम सेवा करते हुए आपने वीतराग मार्ग का प्रचार एवं प्रसार किया । वीर निर्वाण सं० १४८ में अपने पश्चात् श्री संभूतविजय तथा भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आप समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे ।<sup>१</sup>

आचार्य यशोभद्र स्वामी ने अपने आचार्यकाल में अपने प्रभावशाली उपदेशों से बड़े-बड़े याज्ञिक विद्वानों को प्रतिबोध दे कर जैनधर्मानुरागी बनाया । यह

<sup>१</sup> मेधाविनी भद्रबाहुसंभूतविजयौ मुनौ ।

चतुर्दशपूर्वधरो तस्य शिष्यो बभूवतु : ॥३॥

सूरि श्रीमान्यशोभद्रः, श्रुतनिष्योस्तयोद्धयोः ।

स्वमाचार्यकमारोप्य, परलोकमसाधयत् ॥४॥

आप ही की विचक्षण प्रतिभा का फल था कि एक ही आचार्य के शासनकाल में सम्भूतविजय और भद्रबाहु जैसे दो समर्थ शिष्य चतुर्दश पूर्वधर-श्रुतकेवली बने ।

आचार्य यशोभद्रस्वामी २२ वर्ष गृहस्थ पर्याय में रहे, १४ वर्ष सामान्य साधु-पर्याय में और ५० वर्ष तक युगप्रधान-आचार्यरूप से जिन शासन की सेवा में निरत रह ८६ वर्ष की कुल आयु पूर्ण कर वी० नि० सं० १४८ में स्वर्गवासी हुए ।

भगवान् महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी से आचार्य यशोभद्र तक जैन श्रमणसंघ में एक ही आचार्य की परम्परा बनी रही । वाचनाचार्य आदि रूप से संघ में रहने वाले अन्य आचार्य भी एक ही शासन की व्यवस्था निभाते रहे । आचार्य यशोभद्र ने अपने शासनकाल तक इस परम्परा को सम्यक् रूपेण सुरक्षित रखा, यह आपकी खास विशेषता है ।

गुरुपट्टावली में आचार्य यशोभद्र का जीवनकाल इस प्रकार बताया गया है :-

“तत्पट्टे ५ श्री यशोभद्र स्वामी । स च २२ वर्षाणि गृहे, १४ वर्षाणि व्रते, ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे, सर्वायुः षड्षिति (८६) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १४८ वर्षान्ति स्वर्ग्ययी ।”  
पट्टावली समुच्चय, पृ० १६४

### दिगम्बर

दिगम्बर मान्यता के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में तीसरे श्रुतकेवली आचार्य यशोभद्र के स्थान पर अपराजित को तीसरा श्रुत-केवली आचार्य माना गया है । आपका भी कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता ।

### ६. श्री सम्भूतविजय

आचार्य यशोभद्र स्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के छठे पट्टधर आचार्य श्री सम्भूतविजय और भद्रबाहु स्वामी हुए ।

आचार्य सम्भूतविजय का विशेष परिचय कहीं उपलब्ध नहीं होता । इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे मादर गोत्रीय ब्राह्मण थे । तपागच्छ पट्टावली में इनके नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा गया है - “पदसमुदायो-पचारात् संभूतेति श्री संभूतविजयः भद्विति।”

आचार्य संभूतविजय का जन्म वीर नि० सं० ६६ में हुआ । ४२ वर्ष तक गृहवास में रहने के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के उपदेश से आपने वीर नि० सं० १०८ में श्रमण दीक्षा अंगीकार की । आपने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए आचार्य यशोभद्र के पास द्वादशांगी का समीचीन रूप से अध्ययन कर श्रुतकेवली पद प्राप्त किया । ४० वर्ष तक आपने सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए जिन-शासन की सेवा की और वीर निर्वाण संवत् १४८ से १५६ तक आचार्य पद पर

रहते हुए भगवान् महावीर के संघ का सुचारु रूप से संचालन किया। चतुर्वंश पूर्व के ज्ञाता और वाग्लब्धिसम्पन्न होने के कारण आपने अपने उपदेशों से अनेक भोगीजनों को त्यागी-विरागी बनाया। आर्य स्थूलभद्र जैसे परम भोगी गृहस्थ आपके ही शिष्य थे, जिनकी महान् योगियों में सर्वप्रथम गणना की जाती है। कल्पसूत्र स्वविरावली के अनुसार आपके निम्नलिखित मुख्य स्वविर शिष्य और शिष्याएं थीं :-

### शिष्य

१. नंदनभद्र, २. उपनंदनभद्र, ३. तीसभद्र, ४. जसभद्र, ५. सुमिरणभद्र, ६. मण्डिभद्र, ७. पुण्यभद्र, ८. स्थूलभद्र, ९. उज्जुमई, १०. जम्बू, ११. दीहभद्र और १२. पंडुभद्र।<sup>१</sup>

### शिष्याएं

१. जक्खा, २. जक्खदिण्णा, ३. भूया, ४. भूयदिण्णा, ५. सेणा, ६. वेणा और ७. रेणा। ये सातों ही आर्य स्थूलभद्र की बहिनें थीं।

वीर निर्वाण संवत् १५६ में आर्य संभूतविजय ने अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट जानकर अनशन किया और समाधिपूर्वक स्वर्गगमन किया।

यह यहां उल्लेखनीय है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टघर आर्य सुधर्मा से लेकर आचार्य यशोभद्र स्वामी तक अर्थात् ५ पट्ट तक श्रमणसंघ में एक आचार्य परम्परा बनी रही। वाचनाचार्य आदि के रूप में रहने वाले अन्य आचार्य एक ही पट्टघर आचार्य के तत्वावधान में शासन-सेवा का कार्य करते आये थे पर आचार्य यशोभद्र ने संभूतविजय और भद्रबाहू नामक दो श्रुतकेवली शिष्यों को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। आचार्य यशोभद्र ने अपने पश्चात् दो आचार्यों की परम्परा किस कारण प्रारम्भ की, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमणसंघ के अत्यधिक विस्तार को देखकर संघ का संचालन समीचीन रूप से हो सके, इसी दृष्टि से आभ्यन्तर और बाह्य संचालन का कार्य दो अलग आचार्यों में विभक्त कर दो आचार्यों की परम्परा प्रचलित की हो।

इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि आचार्य संभूतविजय वी० नि० सं० १४८ से १५६ तक भगवान् महावीर के शासन के सर्वेसर्वा आचार्य रहे और उनके स्वर्गगमन के पश्चात् ही आचार्य भद्रबाहू ने संघ की बागडोर सम्पूर्ण रूप से अपने हाथ में सम्भाली। संघ वस्तुतः दो आचार्यों की नियुक्ति के पश्चात् भी

<sup>१</sup> नंदनभद्र १ अनंदनभद्र २ तह तीसभद्र ३ जसभद्र ।

वेरे व सुमिरणभद्र ५ मण्डिभद्र (गण्डिभद्र) ६ पुण्यभद्र ७ य ।

वेरे व जसभद्र ८ उज्जुमई ९ अज्जुमभिज्जे १० य ।

वेरे व दीहभद्र ११ वेरे तह पंडुभद्र १२ य ॥

[कल्पसूत्र स्वविरावली]

वी० नि० सं० १४८ से १५६ तक आचार्य संभूतविजय का आज्ञानुवर्ती और १५६ से १७० तक आचार्य भद्रबाहु की आज्ञा का अनुवर्ती रहा। ऐसी दशा में यह कल्पना करना कि उस समय जैन संघ में किसी प्रकार के मतभेद का बीजारोपण हो चुका था, नितान्त निराधार कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है।

### दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा में चौथा श्रुतकेवली आचार्य गोवर्धन को माना गया है। इनका भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### ७. आचार्य श्री भद्रबाहु

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर के प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वी० नि० सं० १४ में हुआ। ४५ वर्ष गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् भद्रबाहु ने वीर नि० सं० १३६ में भगवान् महावीर के पांचवें पट्टधर आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास निर्बंध श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। अपने महान् यशस्वी गुरु यशोभद्र की सेवा में रहते हुए आपने बड़ी लगन के साथ सम्पूर्ण द्वादशांगी का अध्यायन किया और आप श्रुतकेवली बन गये। वीर नि० सं० १४८ में आचार्य यशोभद्रस्वामी ने स्वर्गगमन के समय श्री सम्भूतविजय के साथ-साथ आपको भी आचार्य पद पर नियुक्त किया। वीर नि० सं० १४८ से १५६ तक अपने बड़े गुरुभ्राई आचार्य संभूतविजय के आचार्यकाल में आपने शिष्यार्थी श्रमणों को श्रुतशास्त्र का अध्यापन कराने के साथ-साथ भगवान् महावीर के आसन की महती सेवा की।

भगवान् महावीर के छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आपने वीर निर्वाण संवत् १५६ में संघ के संचालन की बागडोर पूर्णरूपेण अपने हाथ में संभाली। आचार्य भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार और निशीय - इन चार छेद सूत्रों की रचना कर भुमुक्षु साधकों पर महान् उपकार किया। अनेक पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) आबश्यक, (४) दक्षवैकालिक, (५) उत्तराध्ययन, (६) दशाश्रुतस्कन्ध, (७) कल्प (८) व्यवहार, (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित - इन दश सूत्रों का निर्युक्तिकार, महान् नैमित्तिक और उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहु संहिता तथा सवा लाख पद वाले "वसुदेव चरित्र" नामक ग्रन्थ का कर्ता भी माना है। इस संबंध में आगे यथास्थान प्रमाण पुरस्कार विचार किया जायगा। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने धार्य स्थूलभद्र जैसे योग्य श्रमणभेष्ट को दो वस्तु कम दत्त पूर्वों का सार्थ सम्पूर्ण ज्ञान और अन्तिम चार पूर्वों का मूल रूपेण वाचन देकर पूर्व-ज्ञान को नष्ट होने से बचाया।

आचार्य भद्रबाहु अपने समय के घोर तपस्वी, महान् धर्मोपदेशक, सकल श्रुतशास्त्र के पारदृशवा और उद्भट विद्वान् होने के साथ-साथ महान् योगी भी थे। आपने निरन्तर १२ वर्ष तक महाप्राण-ध्यान के रूप में उत्कट योग की साधना की। इस प्रकार की दीर्घकालीन योगसाधना के उदाहरण भारतीय इतिहास में विरले ही उपलब्ध होते हैं। आपने वी० नि० सं० १५६ से १७० तक के १४ वर्ष के आचार्य-काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण कर जिनशासन का प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष किया।

### जैन शासन में भद्रबाहु की महिमा

आपको श्वेताम्बर तथा दिगम्बर<sup>१</sup> दोनों परम्पराओं द्वारा पांचवें तथा अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है। भद्रबाहु स्वामी द्वारा की गई संघ एवं श्रुत की उत्कट सेवा के कारण उनका स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊंचा है। श्रुतशास्त्र विषयक आपके द्वारा निर्मित कृतियां लगभग २३ शताब्दियों से आज तक मुमुक्षु साधकों के लिये प्रकाशमान दीपस्तम्भों का काम कर रही हैं। शासन-सेवा और अपनी इन अमूल्य कृतियों के कारण आप भगवान् महावीर के शासन के एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य के रूप में सदा से सर्वप्रिय और विख्यात रहे हैं। मुमुक्षु साधकों पर किये गये इस उपकार के प्रति अपनी निस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेक आचार्यों और विद्वानों ने आपकी बड़े भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की है।<sup>२</sup>

### भद्रबाहु के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जैन इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर आम्नाय के कतिपय ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख किया गया है कि अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन के अन्तिम चरण में ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—इस प्रकार के मतभेद का सूत्रपात हो चुका था। इस दृष्टि से भी आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक

<sup>१</sup> सिरिगोदमेण दिण्ण सुहम्मण्हस्स तेण जंबुस्स ।

विण्ह एंदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ॥४३॥

गोवद्धणो य तत्तो भद्भुओ अंतकेवली कह्हिओ ॥४४॥ [अंगपण्णत्ती]

<sup>२</sup> वदामि भद्बाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनारिण ।

सुत्तस्स कारगमिस्सि, दसासु कप्पे य वव्हारे ॥१॥ [दशाश्रुतस्कन्ध-नियुक्ति]

येनेषा पिण्डनियुक्तिरुत्तिरम्या विनिमिता ।

द्वादशांगविदे तस्मै नमः श्री भद्रबाहुवे ॥ [मलयगिरि पिण्डनियुक्ति टीका]

वदामि भद्बाहुं जेण य अईरसियं बहुकलाकलियं ।

रइयं सवायलक्खं चरियं वसुदेवरायस्स ॥ [शान्तिनाथ चरित्र-मंगलाचरण]

श्री कल्पसूत्रमभृतं विबुधोपयोग-

योग्यं जरामरणदाहणदुःखहारि ।

येनोद्धृतं मतिमता मथितात् श्रुतान्धेः,

श्री भद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥

[क्षेत्रकीर्ति-वृहत्कल्प टीका]



महत्त्व है। आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिग्म्बर इन दोनों परम्पराओं में तो मान्यताभेद है ही पर भद्रबाहु के जीवनचरित्र विषयक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का समीचीनतया अध्ययन करने से एक बड़ा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि न श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में मन्तव्य है और न दिग्म्बर परम्परा के ग्रन्थों में ही। भद्रबाहु के जीवन सम्बन्धी दोनों परम्पराओं के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ने से एक निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः दोनों परम्पराओं के अनेक ग्रन्थों में भद्रबाहु नाम वाले दो-तीन आचार्यों के जीवन चरित्रों की घटनाओं को गद्दु-मद्दु कर के अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ जोड़ दिया गया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा लिखे गये कुछ ग्रन्थों का, उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्टरूपेण आभासित होता है कि भद्रबाहु के चरित्र में पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर कुछ घटनाओं को जोड़ा है। उन्होंने ऐसा अपनी मान्यताओं के अनुकूल वातावरण बनाने के अभिप्राय से किया अथवा और किसी दृष्टि से किया, यह निर्णय तो तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् पाठक स्वयं ही निष्पक्ष बुद्धि से कर सकते हैं।

इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन शोधार्थियों एवं इतिहास में रुचि रखने वाले विज्ञों के लिये लाभप्रद होने के साथ-साथ वास्तविकता को खोज निकालने में सहायक सिद्ध होगा, इस दृष्टि से श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में भद्रबाहु से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध है, उसमें से आवश्यक सामग्री यहां प्रस्तुत की जा रही है।

### अत-पर्याय से पूर्व का जीवन

यों तो प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवन-परिचय श्वेताम्बर और दिग्म्बर - दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु वह सम्बन्धित घटनाचक्र और तथ्यों की कसीटी पर कसने से खरा नहीं उतरता। ऐसी दशा में भद्रबाहु के गृहस्थ जीवन के परिचय के रूप में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका जन्म वीर नि० संवत् ६४ में हुआ। आप प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण थे और आपने ४४ वर्ष की अवस्था में आचार्य यशोभद्र स्वामी के उपदेश से प्रतिबोध पा कर भांगवती दीक्षा ग्रहण की।

### श्वेताम्बर परम्परागत परिचय

दीक्षा ग्रहण के पश्चात् का आचार्य भद्रबाहु का जीवन-परिचय विद्योगालि-यपइन्ना, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों में अति संक्षिप्त एवं अतिस्वल्प मात्रा में मिलता है। दीक्षा-ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवनवृत्त "गच्छाचार पइन्ना" की गाथा ८२ की टी. हा में, प्रबन्ध चिन्तामणि में तथा राजशेखरसूरि कृत प्रबन्ध-कोश आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जो क्रमशः इस प्रकार है :-

तित्थोगालियपइष्णा के अनुसार:— लगभग विक्रम की पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में रचित "तित्थोगालियपइष्णा" नामक प्राचीन ग्रन्थ में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है:—

"आचार्य श्री सत्यंभव के सर्वगुण सम्पन्न शिष्य जसभद्र हुए। जसभद्र के शिष्य यशस्वी कुल में उत्पन्न श्री संभूत हुए। तदनन्तर सातवें आचार्य श्री भद्रबाहु हुए, जिनका भाल प्रशस्त एवं उन्नत तथा भुजाएं आजानु थीं। वे धर्मभद्र के नाम से भी प्रख्यात थे। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने बारह वर्ष तक योग की साधना की और (सुत्तथेण निबन्धइ अत्थं अजभयणाबन्धस्स) छेदसूत्रों की रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश में भयंकर अनावृष्टि के कारण दुष्काल पड़ा। व्रतपालन में कहीं किसी प्रकार का किंचित्मात्र भी दोष न लग जाय अथवा किसी प्रकार कर्मबन्ध न हो जाय— इस आशंका से अनेक धर्मभीरु साधुओं ने अत्यन्त दुष्कर आमरण अनशन की प्रतिज्ञाएं कीं और संलेखना कर समाधिपूर्वक प्राणत्याग किये। अवशिष्ट साधुओं ने अन्यान्य प्रान्तों की ओर प्रस्थान कर समुद्र और नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों में विरक्त भाव से विचरण करना प्रारम्भ किया। आ० भद्रबाहु नेपाल पधारे और वहां योग साधना में निरत हो गये।

दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर अवशिष्ट साधु पुनः मध्यप्रदेश की ओर लौटे।

"तित्थोगालियपइष्णा" में उपर्युल्लिखित के पश्चात् पाटलीपुत्र में हुई प्रथम आगमवाचना, साधुओं को चौदह पूर्वों की वाचना देने की प्रार्थना के साथ संघ द्वारा साधुओं के एक संघाटक का भद्रबाहुस्वामी की सेवा में नेपाल भेजना, भद्रबाहुस्वामी द्वारा प्रथमतः संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा संभोगविच्छेद की संघाज्ञा के सम्मुख झुक कर स्थूलभद्र आदि साधुओं को वाचना देना, स्थूलभद्र द्वारा पाटलीपुत्र में यक्षा आदि आर्याओं के समक्ष अपने विद्या प्रदर्शन के कारण आचार्य भद्रबाहु द्वारा उन्हें अन्तिम चार पूर्वों की वाचना न देने का संकल्प, संघ द्वारा स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर वाचना देने की प्रार्थना, आचार्य भद्रबाहु द्वारा चार पूर्वों की वाचना न देने के कारणों पर प्रकाश और अन्ततोगत्वा केवल मूलरूप से अन्तिम चार पूर्वों की भद्रबाहु द्वारा आर्य स्थूलभद्र को वाचना देने आदि का उल्लेख किया गया है।<sup>१</sup> यह सब विवरण स्थूलभद्रस्वामी के प्रकरण में यथास्थान दिया जा रहा है।

### आवश्यकचूर्ण

आवश्यकचूर्ण में भद्रबाहु विषयक तित्थोगालियपइष्णा में उल्लिखित उपरोक्त तथ्यों में से कुछ का अति संक्षेप में उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> तित्थोगालियपइष्णा, गाथासंख्या ७०० से ८०० के बीच की गाथाएं

<sup>२</sup> आवश्यकचूर्ण, भाग २, पृ० १८७

### गच्छाचार पइशा, दोघट्टीयुत्ति

यों तो श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं का थोड़ा बहुत उल्लेख उपलब्ध होता है पर गच्छाचार पइशा की गाथा संख्या ८२ की टीका में आचार्य भद्रबाहु का गृहस्थ जीवन से लेकर स्वर्गारोहण तक का थोड़े विस्तार के साथ जीवन-परिचय दिया हुआ है। उसका सारांश इस प्रकार है :-

“परम समृद्ध महाराष्ट्र प्रदेश में श्रीप्रतिष्ठान नामक एक नगर था। वहाँ चतुर्दश विद्याभ्रां में पारंगत, षट्कर्मममंज और प्रकृति से भद्र एक भद्रबाहु नामक ब्राह्मण रहता था। उसके सहोदर का नाम वराहमिहिर था, जो उसे परमप्रिय था। एक दिन वहाँ चतुर्दशपूर्वधर एवं महान् तत्वज्ञ आचार्य श्रीयशोभद्रस्वामी का पधारना हुआ।

यशोभद्रस्वामी के परमवैराग्योत्पादक उपदेश को सुनकर पंडित भद्रबाहु को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने अपने अनुज वराहमिहिर से कहा — “वत्स ! मुझे भवभ्रमण से विरक्ति हो गई है अतः मैं इन गुरुदेव की चरण-शरण में दीक्षित हो निर्दोष संयम का पालन करना चाहता हूँ। तुम घर लौट कर सावधानीपूर्वक अपने घर का कार्य सम्हालो।”

इस पर वराहमिहिर ने उत्तर दिया — “भैया ! आप यदि संसार सागर को तैर कर पार करना चाहते हैं, तो फिर मैं टूटी हुई नैया के नाविक की तरह भवाब्धि में क्यों डूबूंगा ? शर्करामिश्रित खीर यदि ब्राह्मण को मीठी लगती है, तो क्या वह ब्राह्मणतर जनों को मीठी नहीं लगेगी ?”

भद्रबाहु ने यह सोच कर कि यह कहीं भवाटवी में भटकता ही न रह जाय, वराहमिहिर को अपने साथ प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान कर दी और दोनों भाई समर्थ आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास प्रव्रजित हो गये। ज्ञान और चारित्र्य की शिक्षा ग्रहण कर भद्रबाहु ने अपने गुरु के पास क्रमशः मूल, अर्थ और रहस्य सहित द्वादशांगी का अध्ययन किया और वे चतुर्दशपूर्वधर ही समस्त भ्रमण संघ में चूडामणि की तरह सुशोभित होने लगे।

आचार्य यशोभद्रसूरि के प्रमुख शिष्य का नाम आर्यं संभूतविजय था, जो चतुर्दश पूर्वधर और अनुपम चारित्रवान् थे। अपने जीवन का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर आचार्य यशोभद्रसूरि ने अपने दोनों सुयोग्य और श्रुतकेवली शिष्यों—संभूतविजय और भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित कर संलेखना की और कुछ दिनों पश्चात् समाधिपूर्वक स्वर्ग-गमन किया।

आचार्य यशोभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् संभूतविजय और भद्रबाहु—ये दोनों आचार्य चन्द्र और सूर्य की तरह अपनी ज्ञानरश्मियों से अज्ञान-तिमिर का नाश करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करने लगे।

उधर वह अल्पमति बराहमिहिर मुनि चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि कुछ ग्रन्थों का अध्ययन कर अहंकार से अभिभूत हो आचार्य-पद प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा। किन्तु आचार्यद्वय ने अपने ज्ञान बल से उसे इस पद के अयोग्य समझा और :-

बूढ़ो गणहरसद्दो, गोयममाईहि धीरपुरिसेहि ।  
जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥

अर्थात् — गणधर जैसे गरिमामय पद को गौतम आदि धीर-गम्भीर महा-पुरुषों ने वहन किया है। ऐसे महान् पद पर यदि कोई जानबूझ कर किसी अपात्र को नियुक्त कर देता है, तो वह घोरान्तिघोर पाप का भागी होता है।

इस आप्तवचन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने बराहमिहिर को गणधर पद का अधिकारी नहीं बनाया। इसके परिणामस्वरूप मुनि बराहमिहिर मन ही मन अपने ज्येष्ठ भ्राता आचार्य भद्रबाहु के प्रति घोर विद्वेष रखने लगा और उसने इसे अपना घोर अपमान संभल कर सदा के लिये उनका साथ छोड़ने का निश्चय कर लिया। तीव्र कषाय और मिथ्यात्व के उदय से उसने बारह वर्ष के साधु-जीवन का परित्याग कर पुनः गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार कर लिया। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगमग्रन्थों से सार ग्रहण कर उसने बराहिसंहिता नामक सवालक्ष पद प्रमाण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। वह द्रव्यानुयोग एवं अन्य अंगोपांगों में से मंत्र ग्रहण कर, उनके प्रयोग से धनी-मानी लोगों का मनोरंजन करने लगा।

बराहमिहिर ने सर्वत्र सम्मान पाने की अभिलाषा से अपने भोले भक्त लोगों के माध्यम से इस प्रकार का मिथ्या प्रचार करना प्रारम्भ किया कि वह १२ वर्ष तक सूर्यमण्डल में रह कर आया है। वहाँ स्वयं सूर्य भगवान् ने समस्त ग्रहमण्डल के उदयास्त, गति, स्थिति, फल आदि को प्रत्यक्ष दिखा-दिखा कर उसे ज्योतिष-विद्या की सम्पूर्णा शिक्षा प्रदान की। ज्योतिष-विद्या में पारंगत बना कर सूर्य भगवान् ने उसे मर्त्यलोक में भेजा है। सूर्यमण्डल से पृथ्वी पर आकर उसने ज्योतिष-शास्त्र की रचना की है।

धूर्त भक्तों के माध्यम से यह कपोलकल्पित कथानक लोगों में शीघ्र ही फैल गया और इस प्रकार बराहमिहिर की सर्वत्र बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। इस प्रकार की लोकप्रसिद्धि से प्रभावित हो प्रतिष्ठानपुर के महाराजा ने बराहमिहिर को अपने राजपुरोहित के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। राज्य से प्रतिष्ठा पाने के अनन्तर तो बराहमिहिर की कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हो गई।

उन्हीं दिनों विविध क्षेत्रों के भव्यजनों को जिन-वचनामृत से तृप्त करते हुए आचार्य भद्रबाहु प्रतिष्ठानपुर के बहिस्थ उद्यान में पधारे। उनके आगमन का समाचार सुनकर प्रतिष्ठानपुर के नरेन्द्र अपने पुरजन परिजन सहित उनका वन्दन एवं उपदेश श्रवण करने हेतु उद्यान में पहुँचे। राजपुरोहित बराहमिहिर

भी राजा के साथ था। उसी समय एक पुरुष ने वहां उपस्थित हो महाराज के समक्ष ही वराहमिहिर को हर्षभरा शुभ-संवाद सुनाया—“देव ! अभी-अभी आपके यहां पुत्ररत्न का जन्म हुआ है।”

यह हर्षप्रद सन्देश सुन कर महाराज न प्रसन्न हो समाचार लाने वाले व्यक्ति को अन्धका पारितोषिक दिया और पुरोहित से प्रश्न किया—“पुरोहितजी! यह बताइये कि यह तुम्हारा पुत्र किन-किन विद्याओं में पारंगत और कितनी आयुष्य वाला होगा ? इसके साथ ही साथ यह भी बताइये कि यह हमारे द्वारा सम्मानित होगा अथवा नहीं ? आज तो परम सौभाग्य की बात है कि सर्वज्ञपुत्र एवं शत्रु तथा मित्र के प्रति समान व्यवहार रखने वाले श्री भद्रबाहु और समस्त ज्योतिषचक्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति एवं उसके परिणाम के ज्ञाता तुम जैसे ज्योतिष-शास्त्र के पारगामी विद्वान् यहां विद्यमान हैं। अतः दोनों विद्वद्शिरोमणि विचार कर कहिये।”

निज चपल स्वभाववश वराहमिहिर ने अपने पाण्डित्य की उत्कृष्टता का प्रदर्शन करते हुए कहा—“महाराज ! इस नवजात शिशु के जन्मकाल, लग्न, ग्रह आदि पर विचार करने के पश्चात् मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि यह बालक शतायु, आपके द्वारा तथा आपके पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा भी पूजित और अठारह विद्याओं का पारंगत विद्वान् होगा।”

जैन सिद्धान्त में निमित्त-कथन का निषेध है फिर भी राजा और उपस्थित अन्य पौरजनों के अनुरोध से, रोगनिवारणार्थ कटु औषध का पिलाना भी आवश्यक होता है, इस विचार से गीतार्थशिरोमणि आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि सातवें दिन के अन्त में इस बालक की विडाल से मृत्यु हो जायगी।

यह सुन कर वराहमिहिर बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज से प्रार्थना की कि यदि भद्रबाहु का कथन असत्य सिद्ध हो तो इनको कोई कठोर दण्ड दिया जाय। घर पहुंच कर वराहमिहिर ने अपने घर के चारों ओर सैनिकों का कड़ा पहरा लगा दिया। सूतिकागृह में सभी आवश्यक सामग्री का समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् पुत्र की रक्षार्थ धात्री को नियुक्त कर दिया। तदनन्तर विडाल के संचार को रोकने हेतु सूतिकागृह के द्वार को अन्दर की ओर से बन्द करवाकर वराहमिहिर स्वयं सूतिकागृह पर अर्हानिश पहरा देने लगा।

इस प्रकार के कड़े सुरक्षा प्रबन्धों के बीच सातवां दिन आ उपस्थित हुआ। ज्यों-ज्यों आशंकित संकट की घड़ी सन्निकट आती गई त्यों-त्यों सुरक्षा के प्रबन्ध और अधिक कड़े किये जाने लगे और अधिकाधिक सावधानी बरती जाने लगी। सातवें दिन के समाप्त होते-होते अकस्मात् सूतिकागृह के मुहड़ कपाटों की विडालमुखी भारी अर्गला बालक के ऊपर गिरी और उसके प्रहार से वह नन्हा सा बालक तत्काल प्राणविहीन हो गया। सारे घर में कुहराम मच गया। वराहमिहिर करुण अन्दन करते हुए कहने लगा—“हायरे देव ! तुम्हारी गति

विचित्र है, जो तुमने अपने हाथ से कल्पवृक्ष बोया था, उसे मदोन्मत्त हाथी की तरह एक ही क्षण में उखाड़ कर फेंक दिया ।”

राजा और प्रजा-सभी यह जानने को उत्सुक थे कि किस की भविष्यवाणी सत्य निकलती है । पुरोहितपुत्र की मृत्यु का समाचार तत्क्षण वन में लगी अग्नि की तरह सारे नगर में फैल गया । प्रतिष्ठानपुर के नरेन्द्र ने वराहमिहिर के घर पहुंच कर उसे शान्त किया और कहा—“महामुनि भद्रबाहु ने बालक के मरण की बात कही, वह तो सत्य सिद्ध हो गई पर उन्होंने जो मरण का हेतु बताया था वह सम्भवतः सत्य नहीं निकला है ।”

घाम्नी से बालक की मृत्यु का कारण पूछा गया तो उसने रोते हुए उस अर्गला को उठा कर महाराज के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया । अर्गला के मुख पर उत्कीर्ण की हुई बिडाल की आकृति को देख कर महाराज आश्चर्याभिभूत हो बारम्बार आचार्य भद्रबाहु की महिमा करते हुए कहने लगे—“धन्य है इन सर्वज्ञतुल्य श्वेताम्बर महामुनि की अद्भुत ज्ञान-गरिभा और उनके सत्य भविष्य-कथन को ।”

भविष्यवाणी की शतप्रतिशत सत्यता से चमत्कृत हो प्रतिष्ठानपुरपति तत्काल वराहमिहिर के घर से प्रस्थान कर आचार्य भद्रबाहु की सेवा में पहुंचे और उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर पूछा—“भगवन् ! पुरोहित के वचन किस कारण से झूठ सिद्ध हुए ?”

उत्तर में आचार्य भद्रबाहु ने फरमाया—“राजन् ! उस गुरुद्रोही ने त्रतों को ग्रहण कर के भी अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर आपका पौरोहित्य स्वीकार कर लिया । इसी कारण उसके वचन असत्य सिद्ध हुए । राजन् ! जो वचन सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रणीत है वह तो युग-युगान्तर में भी सत्य ही सिद्ध होता है ।” भद्रबाहु स्वामी की बात सुन कर प्रतिष्ठानपति को वास्तविक तथ्य का बोध हो गया और वे पश्चात्ताप भरे स्वर में भद्रबाहु स्वामी से निवेदन करने लगे—“महामुने ! मैंने मिथ्यात्वरूपी धतूरे के नशे में चूर हो संसार की सब वस्तुओं को स्वर्णमय समझते हुए अपना निश्शेष मनुष्य जीवन व्यर्थ ही खो दिया । प्रभो ! अब आप मुझे कृपा कर ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मैं कृतकृत्य हो सकूँ ।”

राजा की प्रार्थना पर भद्रबाहु ने उसे दुर्गतिनिवारण कल्याणकारी सच्चे धर्म का उपदेश दिया, जिसे राजा ने हृदयंगम एवं शिरीषार्थ करते हुए पुरोहित के मत का परित्याग कर जैन धर्म स्वीकार किया ।

इस दुःखद घटना के पश्चात् लोग वराहमिहिर का उपहास करने लगे और वह भी पुत्रमरण के शोक एवं लोगों में फैली अपनी अपकीर्ति के कारण संसार से विरक्त हो परिव्राजक बन गया । वह अज्ञानवश केवल काया को क्लेश पहुंचाने वाला तप करने लगा और अन्त में अपने अन्तर के पाप-मल्य का प्रायश्चित्त किये बिना ही मर कर हीन श्रद्धि वाला वाणव्यन्तर देव हुआ । उसने विभंगज्ञान से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त ज्ञात कर जिनशासन से अपने पूर्ववैर का

बदला लेने की ठानी और जैनसंघ को अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग दिये । व्यन्तरकृत उपसर्गों को अपने ज्ञानबल से जान कर आचारनिष्ठ श्रमणों ने भद्रबाहु स्वामी को सारी स्थिति से अवगत कराया ।

भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणसंघ के कष्ट का निवारण करने हेतु महान् चमत्कारी "उदसग्गहर स्तोत्र" की रचना कर उसका पाठ स्वयं ने भी किया और समस्त श्रमणसंघ से भी उस स्तोत्र का पाठ करवाया । उस स्तोत्र के प्रभाव से व्यन्तरकृत सारा उपद्रव सदा के लिये शान्त हो गया ।

युगप्रधान आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग आदि दश सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना कर जिनशासन की बड़ी प्रभावना की और पंचम तथा अन्तिम श्रुतकेवली के रूप में आचार्यपद का वहन करते हुए अन्त में अनशनपूर्वक स्वर्गारोहण किया ।<sup>१</sup>

### प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार

प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में भद्रबाहु और वराहमिहिर का जो परिचय उल्लिखित है वह गच्छाचार प्रकीर्णक की टीका में दिये गये परिचय से लगभग मिलता-जुलता ही है । (प्रबन्ध चिन्तामणि में) जो विभिन्नता है, वह इस प्रकार है -

(१) इसमें वराहमिहिर को पाटलीपुत्र का निवासी, भद्रबाहु का ज्येष्ठ भ्राता और राजा नन्द द्वारा प्रतिष्ठाप्राप्त नैमित्तिक बताया गया है ।

(२) इसमें उल्लेख है कि वराहमिहिर को, पुत्रजन्मोत्सव के समय उसके घर पर जन-साधारण से लेकर स्वयं नन्दराजा के उपस्थित होने पर भी अपने छोटे भाई भद्रबाहु का न आना बड़ा खटका और उसने शकडालु श्रावक शकडाल को भद्रबाहु की अनुपस्थिति के लिये उपालम्भ दिया । शकडाल मंत्री द्वारा वराहमिहिर की अप्रसन्नता की बात सुनकर भद्रबाहु ने कहा कि दो बार कष्ट करने की क्या आवश्यकता है ? जिस नवजात शिशु की वराहमिहिर भ्रमवश सौ वर्ष की आयु बता रहा है, वह वस्तुतः बीसवें दिन बिलाव से मृत्यु को प्राप्त हो जायगा । शकडाल मंत्री के मुख से भावी संकट की सूचना पाकर वराहमिहिर ने बालक की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया किन्तु कपाट की लोहागंला जिस पर कि विडाल की आकृति अंकित थी, के गिरने से बालक की बीसवें दिन मृत्यु हो गई ।

प्रबन्ध चिन्तामणि में वराहमिहिर के दीक्षित होने, १२ वर्ष तक श्रामण्य-पर्याय के पालन करने, आचार्यपद न मिलने के कारण रुष्ट हो श्रमणत्व का

<sup>१</sup> "अस्थि सिरिभरवरिट्ठे.....  
मह्वुगुण्हाणागमो सिरिभद्रबाहुस्वामी-आचार्य (१), सूयगडंग (२), आबस्सय (३), दसवैयालिय (४), उत्तरज्जयण (५), दसा (६), कप्प (७), ववहार (८), सूरियपन्नति उवंग (९), रिस्सिभासियाणं (१०), दस निज्जुत्तीओ काऊण जिणसासणं पंचमसुयकेवलियपयमणुह्विऊण य समए अणसराविहाणणं तिदसावासं पत्तो स्ति ।"

परित्याग करने और भद्रबाहु द्वारा १० नियुक्तियों की रचना करने का उल्लेख नहीं है, जबकि इसमें इन भद्रबाहु को चतुर्दश पूर्वधर बताया गया है ।

### प्रबन्धकोश के अनुसार

राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश में भद्रबाहु और वराहमिहिर के प्रतिष्ठानपुर निवासी निर्धन, निराश्रित पर विद्वान् ब्राह्मण होने, यशोभद्रसूरि के उपदेश से विरक्त एवं दैन्य-दुःख से प्रव्रजित होने, भद्रबाहु के चतुर्दश पूर्वधर बनने एवं उनके द्वारा १० नियुक्तियों की रचना किये जाने का उल्लेख है । इसमें वराहमिहिर के रूष्ट हो प्रतिष्ठानपुर के राजा जितशत्रु का पौरोहित्य स्वीकार करने तक का सारा विवरण दोघट्टी वृत्ति में दिये गये विवरण से मिलता-जुलता है । इसमें विशेष बात यह बताई गई है कि राजपुरोहित का पद मिल जाने पर वराहमिहिर ने गर्वोन्मत्त हो श्वेताम्बरों की निन्दा और गर्हा करनी प्रारम्भ कर दी । वह प्रायः यही कहता कि ये बेचारे काक-तुल्य श्वेताम्बर कुछ नहीं जानते, केवल मक्खियों की तरह भिनभिनाते और मलीन वस्त्र धारण किये अपना जीवन नष्ट करते हैं । इससे क्रुद्ध हो श्रावकों ने भद्रबाहु से प्रतिष्ठानपुर आने की प्रार्थना की और उनके पधारने पर नगरप्रवेश का बड़ा भव्य महोत्सव किया । भद्रबाहु के आगमन पर वह उनका कुछ भी अपकार नहीं कर सका ।

उन्हीं दिनों वराहमिहिर को पुत्र की प्राप्ति हुई । पुत्र-जन्म की खुशी में उसने प्रसन्न हो अपार धनराशि व्यय की । नागरिकों ने उसे बधाइयां दीं । जितशत्रु राजा व राजसभा के समक्ष उसने अपने ज्योतिष के ज्ञान-बल पर भविष्यवाणी की कि उसका पुत्र शतायु होगा । वराहमिहिर ने एक दिन राजसभा में कहा — “समस्त पौरजन पुत्रजन्म के उपलक्ष में मुझे बधाई देने आये पर भद्रबाहु मेरे सहोदर होते हुए भी मेरे यहां नहीं आये । श्रावकों ने आचार्य भद्रबाहु को इसकी सूचना दी और उनसे प्रार्थना की कि वे एक बार उसके घर पर अवश्य पधारें, व्यर्थ ही उसके क्रोध को न बढ़ावें । इस पर भद्रबाहु ने कहा कि दो बार कष्ट करने से क्या लाभ ? क्योंकि सातवीं रात्रि में बिल्ली के द्वारा इस बालक की मृत्यु हो जायगी ।

भद्रबाहु द्वारा कथित भावी अनिष्ट की सूचना पा, वराहमिहिर ने अपने पुत्र की सुरक्षा का बड़ा कड़ा प्रबन्ध किया पर सातवीं रात्रि में कपाट की अर्गला के गिर जाने से बालक की मृत्यु हो गई ।

पुत्र की मृत्यु के शोक से संतप्त वराहमिहिर को भद्रबाहु ने “शोकोपनोदो धर्माचार्यः” — इस उक्ति के अनुसार सान्त्वना देना आवश्यक समझा और वे उसके घर गये । वराहमिहिर ने उठकर भद्रबाहु के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा — “आचार्यजी ! आपका ज्ञान और कथन सत्य सिद्ध हुआ पर वच्चे की मृत्यु आपके कथनानुसार बिल्ली से न होकर आगल से हुई है ।”



इस पर भद्रबाहु ने कहा — “भद्र ! हम लोग कभी असत्य भाषण नहीं करते। अच्छी तरह से देखो, उस लोहे की अर्गला के अग्रभाग पर बिल्ली का रेखांकित चित्र है। वराहमिहिर ने देखा कि वस्तुतः अगल के अग्रभाग पर बिल्ली का चित्र खुदा हुआ है। तदनन्तर उसने कहा — “पुत्र की मृत्यु के शोक से मुझे उतना कष्ट नहीं हो रहा है, जितना कि राजा के समक्ष मेरे द्वारा की गई अपने पुत्र के शतायु होने की भविष्यवाणी के असत्य सिद्ध होने से। धिक्कार है इन मेरी सब पुस्तकों को, जिन पर विश्वास करके मैंने भविष्यवाणी की। ये सब पुस्तकें असत्य हैं। मैं इन सब को अभी नष्ट किये देता हूँ।” यह कहते हुए वराहमिहिर अपनी सब पुस्तकों को जल से भरे कुंडों में डालने के लिये उद्यत हुआ। भद्रबाहु ने उसे रोकते हुए कहा — “तुमने अपने प्रमाद के कारण ज्ञान को कनुषित किया है, इन पुस्तकों पर तुम व्यर्थ ही कुपित होते हो। ये पुस्तकें तो संवञ्जभाषित बातों को ही प्रकट करती हैं। वस्तुतः इनके ज्ञाता लोग ही दुर्लभ हैं। देखो तुमने भविष्य-कथन के समय असुक-असुक स्थान पर मतिविभ्रम के कारण त्रुटि की है। अतः तुम इन पुस्तकों की नहीं प्रत्युत अपनी स्वयं की निन्दा करो। तुम अपने पाण्डित्य के मद में मदोन्मत्त हो गये हो। प्रमत्त पुरुष में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की क्षमता नहीं रहती। अपराध तुम्हारा ही है, न कि इन पुस्तकों का अतः इन पुस्तकों को विनष्ट मत करो।”

भद्रबाहु की बात सुनकर वराहमिहिर किकर्तव्यविमूढ़ की तरह शोकमग्न मुद्रा में एक ओर बैठ गया। वराहमिहिर की यह स्थिति देखकर एक श्रावक बोला — “वह रात्रि व्यतीत हो चुकी जिसमें तुम्हारे जैसे खद्योत भी टिमटिमा कर प्रकाश करने का दम भरते थे। अब तो सूर्य की प्रखर किरणों से दशों दिशाओं को प्रकाशमान करता हुआ दिवस आ गया है। इस दिवस में तुम्हारे जैसे खद्योतों की तो सामर्थ्य ही क्या स्वयं निशानाथ चन्द्रमा का भी कहीं पता नहीं है।” यह कहकर वह श्रावक तत्काल वहाँ से चल दिया। वराहमिहिर को मन ही मन असह्य पीड़ा का अनुभव हुआ।

उसी समय प्रतिष्ठानपुर के महाराज वराहमिहिर के घर पर आये और शोकसन्तप्त वराहमिहिर को सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा — “पुरोहितराज ! इस प्रकार शोकसागर में निमग्न न होओ, यह तो संसार का अटल नियम है कि एक आता है और चला जाता है।”

उसी समय एक मन्त्री ने राजा से निवेदन किया — “महाराज ! ये आचार्यश्री इन्हीं दिनों यहाँ पधारे हैं। इन्होंने ही वराहमिहिर के तबजात शिशु की आयु सात दिन की बताई थी। आपका नाम आचार्य भद्रबाहु है। आपकी भविष्यवाणी वस्तुतः सत्य सिद्ध हुई।”

यह सुनकर दुःखी वराहमिहिर और अधिक दुःखी हुआ। राजा ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

अपने अपमान से संतप्त वराहमिहिर ने पुनः भागवती दीक्षा ग्रहण की और अत्युग्र तप करने लगा। अन्त में वराहमिहिर मर कर जैनधर्म का विद्वेषी व्यन्तर देव हुआ। वह व्यन्तर बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी साधुओं का किसी प्रकार का अपकार न कर सका क्योंकि तपोपूत महात्माओं के वज्रोपम तप-कवच पर किसी भी प्रकार के अनिष्ट का किंचित्मात्र भी प्रभाव नहीं होता। अतः वह व्यन्तर श्रावकों को अनेक प्रकार के रोगों और उपद्रवों से पीड़ित करने लगा। श्रावकों ने आचार्य भद्रबाहु के समक्ष अपनी दुःखगाथाएं रखते हुए उनसे रक्षा की प्रार्थना की। इस पर आचार्य भद्रबाहु ने श्रावकों को आश्वस्त करते हुए कहा कि उन्हें डरने की आवश्यकता नहीं है। व्यन्तर रूप से उत्पन्न हुआ वराहमिहिर पूर्ववैर के कारण उन्हें कष्ट दे रहा है। वह तो साधारण कोटि का व्यन्तर जाति का देव है, आवश्यकता पड़ने पर वे वज्रपाणि (इन्द्र) से भी अपने भक्तों की रक्षा करेंगे। तदनन्तर आचार्य भद्रबाहु ने पूर्वी से उद्धृत कर “उपसर्गहरं पासं”— इस पद से आरम्भ होने वाली पांच गाथाओं का एक स्तोत्र बना कर लोगों को सिखाया। उस उपसर्गहर स्तोत्र के पाठ के प्रभाव से तत्काल व्यन्तरकृत सब उपसर्ग शान्त हो गये और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो गया। कष्ट-निवारणार्थ आज भी लोग उस स्तोत्रराज का पाठ करते हैं। वस्तुतः वह अद्भुत चिन्तामणिरत्न के समान है।

### गुरु पट्टावली के अनुसार

“गुरु पट्टावली”— (जिसके रचनाकार का नाम अज्ञात है) में छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के पश्चात् भद्रबाहु का जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है:—

“भद्रबाहुस्वामी पुनः आवश्यक नियुक्तिकृत् । तद्भ्राता वराहमिहिर—  
स्त्यक्तव्रतो राज्ञः पुरोहितो राज्ञः पुरो निमित्तप्रकाशाद्यैः प्राप्तप्रतिष्ठः तद्भ्रातुः  
पराजयकरणे सभासमक्षं ५१ पल प्रमाणो मत्स्यः कुण्डप्रान्ते पतिष्यति, गुरुर्वक्ति  
५२ पलप्रमाणो मत्स्यः कुण्डमध्ये पतिष्यति । जिनशासनप्रभावात् गुरुवाक्यमेव  
संजातं राजापि शासनोत्सवं चकार । ततोऽसौ वराहमिहिरो मानभ्रष्टो मृत्वा  
व्यंतरीभूतः श्रीसंघमुपदद्राव, तज्जात्वा च भगवता उपसर्गहरस्तोत्रकरणेन स  
उपद्रवो निवारितः । स भगवान् ४५ वर्षाणि गृहे सप्तदश वर्षाणि व्रते चतुर्दश  
वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः षड्सप्तति वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १७०  
वर्षे स्वयंयौ ।”

[पट्टावली समुच्चय, पृ० १६४]

महामहोपाध्याय श्री धर्मसागरणी ने तपागच्छ पट्टावली में मत्स्यपतन की घटना को छोड़ कर गुरु पट्टावली के समान ही भद्रबाहु का परिचय दिया है।

[पट्टावली समुच्चय, पृ० ४४]

## दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आ० भद्रबाहु का परिचय

### भावसंग्रह के अनुसार

आचार्य विमलसेन के शिष्य आ० देवसेन<sup>१</sup> ने दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ भावसंग्रह में श्वेताम्बर परम्परा की उत्पत्ति का विवरण देते हुए गाथा संख्या ५२ से ७५ तक की २४ गाथाओं में भद्रबाहु नामक आचार्य का परिचय दिया है। चतुर्दश पूर्वघर आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र के विषय में किस प्रकार भ्रान्तियों का श्रीगणेश हुआ, इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये वे गाथाएं बड़ी सहायक सिद्ध होंगी अतः उन गाथाओं का भविकल अनुवाद यहां प्रस्तुत किया जा रहा है:—

राजा विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सोरठ देश की वल्लभी नामक नगरी में श्वेतपट-श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई ॥५२॥

उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामक एक आचार्य थे। वे निमित्तशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने निमित्त ज्ञान के बल पर उन्होंने अपने संघ से कहा ॥५३॥

यहां पर निरन्तर १२ वर्ष पर्यंत भयंकर दुष्काल का प्रकोप रहेगा अतः आप लोग अपने-अपने संघ के साथ अन्यान्य प्रान्तों और क्षेत्रों की ओर चले जाओ ॥५४॥

भद्रबाहु की यह भविष्यवाणी सुन कर सभी गणनायकों ने अपने-अपने संघ के साथ उज्जयिनी के विभिन्न क्षेत्रों से विहार कर दिया और जिन प्रदेशों में सुभिक्ष था वहां जाकर विचरण करने लगे ॥५५॥

शान्ति नामक एक संघपति अपने बहुत से शिष्यों के साथ सुरम्य सोरठ प्रदेश की वल्लभी नगरी में पहुंचा ॥५६॥<sup>२</sup>

<sup>१</sup> दर्शनसार के कर्ता देवसेन से भिन्न। इनके काल के सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

<sup>२</sup> छत्तीसे वरिससए विष्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।  
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वल्लहीए ॥५२॥  
आसी उज्जेणीण्यरे आयरियो भद्दबाहु णामेण ।  
जाणिय सुणमित्तघरो भण्णो संघो णिओ तेण ॥५३॥  
होहइ इह दुब्भिवस्स बारह वरसाणि जाव पुण्णारिण ।  
देसंतराए गच्छह णिय णिय संघेण संजुत्ता ॥५४॥  
सोउत्तए इयं वयणं णाणा देसेहि मण्हारा सम्भे ।  
णिय णिय संघ पउत्ता विहरिष्वा जत्थ सुब्भिवस्स ॥५५॥  
एकक पुण संति णामो संपत्तो वलही णाम णयरीए ।  
बहुत्तीस सम्पउत्तो विसए सोरट्ठए रम्भे ॥५६॥

अपने साधु-संघ के साथ आचार्य शान्ति के वल्लभी पहुंचने के पश्चात् वहां पर भी बड़ा भीषण दुष्काल पड़ा। वहां घोर दुष्काल के कारण ऐसी बीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि भूख से पीड़ित रंक लोग अन्य लोगों के पेट चोर-चोर कर और उनकी आंतों एवं ओभरियों में से सबभुक्त अन्न निकाल-निकाल कर खाने लगे ॥५७॥

इस भयावह स्थिति से मजबूर हो कर आचार्य शान्ति के संघ के सभी साधुओं ने कम्बल, दण्ड, तूबा, पात्र और आवरण हेतु श्वेत वस्त्र धारण कर लिये ॥५८॥

उन्होंने साधुओं के योग्य आचरण का परित्याग कर दीनवृत्ति से मांगना और बस्तियों में अपनी इच्छानुसार जा जा कर और बैठ-बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ कर दिया ॥५९॥

इस प्रकार का आचरण करते हुए उनका बहुत सा काल व्यतीत हो गया। अंततोगत्वा दुष्काल का अन्त और सुभिक्ष का प्रादुर्भाव हुआ। तब आचार्य शान्ति ने अपने संघ के सभी साधुओं को संबोधित करते हुए कहा कि अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ दो और अपने इस आचरण की गद्दी निन्दा कर के (प्रायश्चित्त कर के) पुनः महर्षियों के श्रेष्ठ आचरण को ग्रहण करो ॥६०-६१॥

आचार्य शान्ति की इस बात को सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा— “अब इस प्रकार के प्रति कठोर आचरण का कौन पालन कर सकता है? उपवास, भोजन का प्राप्त न होना, असह्य अनेक अन्य अन्तराय, एक स्थान, नमनत्व, मौन, ब्रह्मचर्य, भूमिशय्या, दो-दो मासों के अन्तर से केशों का असह्य कष्टप्रद लुंबन,

तस्य चि गयस्स जायं दुग्गिमक्खं दासुणं महाकोरं ।  
जत्थ विचारिय उयरं सद्दो रंकेह कुबल्लि ॥५७॥  
तं सहिऊण णिमित्तं गहियं सञ्जेह कम्बलि दंढं ।  
दुहियपत्तं च तद्दा पावत्थं सेयवत्थं च ॥५८॥  
चत्तं रिस्सि आधरणं गहिया भिक्खा य कीणवित्थीए ।  
उबवित्थिय जाइऊणं भुत्तं बसहीमु इच्छाए ॥५९॥  
एवं बट्टंताणं कित्थिय कालम्मि चावि परिणल्लिए ।  
संजायं सुग्गिमक्खं अपइ ता संति आधरिओ ॥६०॥  
आवाहिऊण संघं भणियं छंजेह कुत्थियाधरणं ।  
णिएदिय गरहिय गिण्हह पुणारवि चरियं मुणिएदाणं ॥६१॥

विक्रम सं० १३६ (वीर नि० सं० २०६) से १२ वर्ष पूर्व निमित्तम धा० मद्रवाहु द्वारा द्वादशवार्षिक दुष्काल की सूचना मिलने पर शान्ति नामक संघपति के अपने शिष्यों सहित वल्लभी जाने का जो उत्सव धा० देवसेन ने किया है उसमें रामिस्व, स्तूनाचार्य और स्तूनाभद्र का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है।

—सम्पादक

नित्य ही घोर बाबीस परीषहों का सहन करना आदि ये तो बड़े ही कठोर आचरण हैं ॥ ६२, ६३, ६४ ॥

इस समय हम लोगों ने जो यह आचरण ग्रहण कर रखा है, वह वस्तुतः इस लोक में सुखकर है अतः इसे इस दुःषम नामक पांचवें आरक में हम नहीं छोड़ सकते ॥६५॥

इस पर शान्त्याचार्य ने कहा कि इस प्रकार का चरित्रभ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं । यह तो जिनप्ररूपित धर्ममार्ग को दूषित करने वाला है ॥६६॥

जिनेन्द्रप्रभु ने निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही परमोत्कृष्ट बताया है, उसका त्याग कर अन्य मार्ग की प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है ॥६७॥

शान्त्याचार्य के इस कथन से रुष्ट हो कर उनके उस प्रधान शिष्य ने लम्बे डण्डे से गुरु के सिर पर प्रहार किया जिसके आघात से स्थविर आचार्य शान्ति का प्राणान्त हो गया और वे मर कर व्यन्तर जाति के देव हुए ॥६८॥

शान्त्याचार्य के मरने पर उनका वह प्रमुख शिष्य संघाधिपति बन बैठा और प्रकट में पाषंड-श्वेताम्बर हो गया । वह लोगों को इस प्रकार के धर्म का उपदेश देने लगा कि सग्रन्थ (वस्त्र-पात्रादि के परिग्रहधारक) को भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ॥६९॥

उसने (जिनचन्द्र ने) तथा उसके अनुयायियों ने स्वयं द्वारा ग्रहण किये गये पाषण्डों के अनुरूप शास्त्रों की रचना की और उन शास्त्रों का उपदेश दे कर लोगों में उस प्रकार के आचरण को प्रचलित कर दिया ॥७०॥

तं वयं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पड्ढेण ।

को सक्कइ चारेडं एयं अइ दुद्धारायणं ॥६२॥

उववासो य धलाभो अण्णे दुस्सहाइ अंतरायाइ ।

एकट्ठालमचेत्तं अजजायणं बम्मचेरं च ॥६३॥

भूमीसयणं लोच्चे वे वे मासेहि असहिण्णिज्जो हु ।

बाबीस परिसहाइ असहिण्णिज्जाइ निच्चं पि ॥६४॥

अं पुणं संपइ गहियं एयं अम्हेहि किं पि चायरणं ।

इह लोय सुवसयरणं एणं छंडिभो हु दुस्सने काले ॥६५॥

ता संतिएण पउत्तं चरियपभट्ठोहि जीवियं लोए ।

एयं एणं हु सुन्दरयं दूसणयं जइणं मग्गस्स ॥६६॥

णियग्गयं पम्बयणं त्रिएणवरणाहेण अणिससयं परमं ।

तं छंडिऊणं अण्णं पवत्तमारोणं मिच्छत्तं ॥६७॥

ता रुसिऊणं पड्ढो सीसे सीसेण दीहं बडेण ।

पविरो पाएणं मुधो जाओ सो वितरो देवो ॥६८॥

इयरो संघाहिबइ पयडिय पासंड सेवडो जाओ ।

असखइ लोए धम्मं सग्गयं अत्थि णिम्बाणं ॥६९॥

सत्थाइ विरइयाइ णिय णिय पासंड गहियसरिसाइ ।

वत्ताणिएऊणं लोए पवत्तिधो तारिसायरणो ॥७०॥

उन लोगों ने निर्घ्नन्थ मार्ग की निन्दा और अपने मार्ग की प्रशंसा करते हुए अनेक प्रकार की मायाओं के प्रदर्शन से लोगों को भ्रूढ़ बना कर बहुत सा द्रव्य ग्रहण किया ॥७१॥

आचार्य शान्ति व्यन्तर बन कर अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगा और उन लोगों (श्वेताम्बरों) को कहने लगा कि तुम लोग जैन धर्म को पाकर मिथ्यात्व मार्ग पर मत चलो ॥७२॥

व्यन्तर द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों से डर कर उन लोगों ने उस व्यन्तर की सकल द्रव्यों से संयुक्त आठ प्रकार की पूजा की । उस व्यन्तर की उस समय जो पूजा जिनचन्द्र द्वारा विरचित की गई वह आज दिन तक प्रचलित है ॥७३॥

आज भी सबसे पहले वह बलिपूजा उस व्यन्तर के नाम से दी जाती है और वह व्यन्तर श्वेताम्बर संघ का पूज्य कुलदेव कहा जाता है ॥७४॥

यह पथभ्रष्ट श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताई गई है । अब मैं आगे प्रज्ञान मिथ्यात्व के विषय में कहूंगा उसे सुनो ॥७५॥

इन गाथाओं द्वारा आचार्य देवसेन ने स्पष्ट रूप से अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि विक्रम संवत् १२४ तदनुसार वीर निर्वाण संवत् ५९४ में आचार्य भद्रबाहु ने श्रमणसंघ को भावी द्वादश वार्षिक दुष्काल की पूर्वसूचना देते हुए सलाह दी कि सब साधु उज्जयिनी (अवन्ती) राज्य को छोड़ कर दूर के प्रान्तों में चले जायं । तदनुसार शान्ति नामक एक आचार्य भी सोरठ देश की वल्लभीपुरी में जाकर अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ रहने लगा । वहां शान्त्याचार्य एवं उनके शिष्यों ने दुष्कालजन्य विकट परिस्थितियों से मजबूर हो कर कम्बल, दण्ड, वस्त्र, पात्रादि धारण किये और गृहस्थों के यहां बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ किया । सुमिश्र होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यों को पुनः निरवद्य दिगम्बर श्रमणाचार ग्रहण करने की सलाह दी । शान्त्याचार्य के शिष्यों ने उनकी आज्ञा का पालन करने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया । शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यों के जिनप्ररूपित धर्म से विपरीत आचरण की कटु शब्दों में भर्त्सना की । इससे क्रुद्ध हो शान्त्याचार्य के प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड का प्रहार किया ।

सिग्गंघं वूसिस्ता सिदिता अप्पणं पसंसिता ।

जीवे मूढए लोए कयमाए गेहियं बहु दध्वं ॥७१॥

इयरो बितर देवो संति लग्गो उवह्वं काउं ।

जंपइ मा मिच्छत्तं गच्छह लहिकण जिणधम्मं ॥७२॥

भीएहि तस्स पूमा षट्ठविहा सयलदव्वसंपुष्णा ।

जा जिणचन्द रइया सो अज्जवि दिणिणया तस्स ॥७३॥

अज्ज वि सा बलि पूया पइमयरं दिति तस्स एामेण ।

सो कुलदेवो उत्तो सेवइ संघस्स पुज्जो सो ॥७४॥

इय उप्पत्ती कहिया सेवइयाणं च मग्गभट्ठाणं ।

एण्णो उइदं बोध्धं सिमुण्ह अण्णाराणिच्छत्तं ॥७५॥

परिणामतः शान्त्याचार्य की मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के पश्चात् विक्रम संवत् १३६ तदनुसार वीर निर्वाण संवत् ६०६ में उनके शिष्यों ने अपने शिथिलाचार के अनुसार नवीन शास्त्रों की रचना कर श्वेताम्बर संघ की स्थापना की ।

वीर निर्वाण संवत् ६०६ में दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद प्रारम्भ हुआ, यह दिगम्बर सम्प्रदाय को सर्वसम्मत मान्यता है अतः उसके आधार पर देवसेन द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्युक्त मान्यता को दिगम्बर परम्परा की मान्यता संख्या १ के नाम से अभिहित किया जा सकता है ।

आचार्य हरिषेण इससे कुछ आगे बढ़े,

### वृहत्कथाकोश

पुत्राट संघ के श्री मौनि भट्टारक के प्रशिष्य तथा श्री भरतसेन के शिष्य आचार्य श्री हरिषेण ने विक्रम संवत् १८६ में निर्मित वृहत् कथाकोश में जो आचार्य भद्रबाहु का कथानक (कथानक संख्या १३१) दिया है, उसका सारांश यहां दिया जा रहा है :-

प्राचीनकाल में पुण्ड्रवर्धन राज्य में कोटिपुर नामक एक नगर था जो आज कल देवकोट्ट के नाम से प्रसिद्ध है । वहां के राजा पद्मरथ के राज-पुरोहित सोमशर्मा की धर्मपत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ । बालक भद्रबाहु जब कुछ बड़ा हुआ तो वह अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलने लगा । एक दिन नगर के बाहर अपने साथियों के साथ खेलते हुए भद्रबाहु ने बात ही बात में गोली पर गोली चढ़ाते हुए चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा कर सब खिलाड़ियों को आश्चर्य में डाल दिया ।

उसी समय भगवान् नेमिनाथ की स्तुति करने हेतु उर्ज्यन्त (गिरनार) पर्वत की ओर जाते हुए चौथे चतुर्दश पूर्वघर आचार्य गोवर्द्धन उस स्थान पर पधारे । उन्होंने बालक भद्रबाहु द्वारा चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा देने के अद्भुत कौशल को देख कर अपने ज्ञान से जान लिया कि यही प्रतिभाशाली बालक आगे चल कर अन्तिम चतुर्दश पूर्वघर होगा । गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु के पिता को सारा हाल सुना कर उनकी अनुमति से बालक भद्रबाहु को अध्ययन कराने हेतु अपने पास रख लिया और स्वल्प समय में ही सब विद्याओं एवं शास्त्रों में उसे पारंगत बना दिया ।

सब विद्याओं में निष्णात होने पर भद्रबाहु गुरु-आज्ञा से अपने माता-पिता के पास गये परन्तु कुछ ही दिनों पश्चात् वे अपने माता-पिता से दीक्षित होने की आज्ञा प्राप्त कर आचार्य गोवर्द्धन के पास लौट आये और उनके पास निर्द्वन्द्व-धर्म में दीक्षित हो गये । गुरु की कृपा से भद्रबाहु कुछ ही काल में द्वादशांगी के पारगामी विशेषज्ञ-श्रुतकेवली बन गये । अपने अन्तिम समय में आचार्य गोवर्द्धन ने भद्रबाहु को आचार्य पद प्रदान कर दिया और स्वयं कठोर तपश्चरण करते हुए अन्त में अनशन-पूर्वक स्वर्गगमन किया ।

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करते हुए एक समय अवनती राज्य की राजधानी उज्जयिनी पुरी के बाहर क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित उपवन में पधारे ।

उस समय अवनती राज्य पर महाराज चन्द्रगुप्त का शासन था । वे उज्जयिनी में रहते थे । महाराज चन्द्रगुप्त एक हठ सम्यक्त्वी और जिनशासन के श्रद्धानु श्रावक थे । उनकी महारानी का नाम सुप्रभा था ।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी में घर-घर भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए एक ऐसे घर में प्रविष्ट हुए जिसके अन्दर भोली में लेटे हुए एक शिशु के अतिरिक्त और कोई नहीं था । भद्रबाहु को देखते ही वह नन्हा सा शिशु बोल उठा - भगवन् ! आप यहां से शीघ्र ही चले जाइये ।

दिव्यज्ञानी भद्रबाहु ने उस शिशु के अत्यन्त आश्चर्योत्पादक वचन सुनकर तत्काल ही समझ लिया कि इस प्रकार के अति स्वल्पायुक्त शिशु के मुख से इस प्रकार के वचन प्रकट होने का परिणाम यह होने वाला है कि इस समस्त प्रदेश में निरन्तर १२ वर्ष तक भयंकर अनावृष्टि होगी । वे तत्क्षण बिना भिक्षा ग्रहण किये ही उपवन की ओर लौट गये । अपराह्नक वेला में उन्होंने श्रमण संघ को एकत्रित कर उसे भावी द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के महान् संकट से अवगत कराते हुए कहा - "श्रमणो ! जन-धन और अन्न से परिपूर्ण यह सुरम्य प्रदेश बारह वर्ष तक अनावृष्टि और दुष्काल के कारण शून्यप्रायः होने वाला है । मेरी तो बहुत ही कम आयु अवशिष्ट रह गई है अतः मैं तो यहीं रहूंगा पर आप सब लोग लवण समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों की ओर चले जाओ ।"

आचार्य भद्रबाहु के उपरोक्त वचन सुनकर महाराज चन्द्रगुप्त ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली । मुनि बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु से १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और वे विषाखाचार्य के नाम से विख्यात हो श्रमण संघ के अधिपति बन गये । आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार श्रमण संघ इन विषाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट प्रदेश में चला गया तथा रामिल्ल स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र - ये तीनों अपने संघ के साथ सिन्धु प्रदेश में चले गये ।

आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान में आकर ठहरे और वहां कई दिनों के अनशन के पश्चात् समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे ।

रामिल्ल, स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) और स्थूलभद्र जिस समय सिन्धु प्रदेश में पहुंचे, उस समय वहां पर भी दुष्काल का प्रभाव व्याप्त हो चुका था । सिन्धु प्रदेश के श्रद्धानु श्रावकों ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर निवेदन किया - "महात्मन् ! भूखे लोगों की अपार भीड़ के डर से हमारे घरों में रात्रि के समय ही भोजन बनाया जाता है, अतः जब तक यह संकटकाल समाप्त न हो जाय तब तक



आप लोग भिक्षापात्र लेकर भिक्षा लेने हेतु रात्रि के समय ही हमारे घरों में आया करें। रात्रि में लाया हुआ आहार दूसरे दिन खा लिया करें।”

श्रावकों के आग्रहपूर्वक निवेदन को स्वीकार करते हुए उन श्रमणों ने रात्रि के समय पात्रों में भिक्षा लाने तथा दूसरे दिन आहार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी और इस प्रकार उस भयावह दुर्भिक्ष का समय व्यतीत होने लगा।

कुछ समय पश्चात् उन श्रमणों में से एक अत्यंत कृषकाय श्रमण अर्द्धरात्रि के समय भिक्षापात्र लिये गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ। रात्रि के घनान्धकार में उस नग्न साधु के कंकालावशिष्ट बीभत्स स्वरूप को देखकर उस घर की गर्भिणी गृहणी इतनी अधिक भयभीत हुई कि तत्काल उसका गर्भ गिर गया।

इस दुर्भाग्यपूर्ण काण्ड से श्रमणों एवं श्रावकों को बड़ा दुःख हुआ। श्रावकों ने श्रमणों से प्रार्थना की कि वे अपने बांये स्कन्ध पर कपड़ा (अर्द्धफालक) रखें। भिक्षा ग्रहण करते समय बांये हाथ से कपड़े को आगे की ओर कर दें और दक्षिण हाथ में ग्रहण किये हुए पात्र में भिक्षा ग्रहण करें। सुभिक्ष हो जाने पर इस प्रकार के आचरण के लिये प्रायश्चित्त कर लें। श्रावकों की प्रार्थना को समयोचित समझ कर श्रमणों ने स्वीकार कर लिया और अर्द्धफालक एवं दण्ड आदि रखना प्रारम्भ कर दिया।

उधर विशाखाचार्य के साथ गये हुए श्रमणों के संघ ने दक्षिण देश में सुभिक्ष होने के कारण ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य का सम्यक् रूप से परिपालन करते हुए बारह वर्ष का संक्रान्तिकाल दक्षिणापथ में सुखपूर्वक व्यतीत किया।

उस द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष की समाप्ति पर सुभिक्ष होते ही विशाखाचार्य ने अपने श्रमण संघ के साथ दक्षिणापथ से मध्यप्रदेश की ओर विहार कर दिया और अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए वे मध्यप्रदेश में आ पहुँचे।

उधर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य ने दुर्भिक्ष की समाप्ति पर समस्त श्रमण संघ को एकत्रित कर कहा कि दुर्भिक्ष के दिन व्यतीत हो गये हैं। अतः अब सब मुमुक्षु श्रमणों को अर्द्धफालक का परित्याग कर निर्ग्रन्थता स्वीकार कर लेनी चाहिये। उनके वचन सुनकर मुक्ति के अभिलाषी कुछ साधुओं ने पुनः निर्ग्रन्थता ग्रहण कर ली। परम वैराग्यशाली रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य—ये तीनों विशाखाचार्य के पास आये और भवभ्रमण के भय से संव्रस्त उन तीनों ने दुष्काल के समय ग्रहण किये गये अर्द्धफालक (आधे कपड़े) का तत्काल परित्याग कर निर्ग्रन्थ मुनियों का वेष धारण कर लिया।<sup>१</sup> जो साधु कष्टसहन से कतराने थे और जिनका मनोबल टूट नहीं था, उन्होंने जिनकल्प और स्थविर

<sup>१</sup> रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी ।

महावैराग्यसम्पन्ना विशाखाचार्यमाययुः ॥६५॥

त्यक्तार्द्धकपटं सद्यः संसारात्प्रस्तमानसाः ।

नैर्ग्रन्थं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥६६॥

कल्प के विधान की कल्पना कर निग्रन्थ (नग्न) परम्परा से विपरीत स्थविरकल्प परम्परा को प्रचलित किया।<sup>१</sup>

इस प्रकार आचार्य देवसेन ने अपने ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में वीर निर्वाण संवत् ६०६ में हुए आचार्य भद्रबाहु (निमित्तज्ञ) के समय में जिस घटना के घटित होने का उल्लेख किया है उसे आचार्य हरिषेण ने अपने ग्रन्थ 'वृहत् कथाकोश' में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया है, जो कि दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० १६३ में और श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वी० नि० सं० १७० में स्वर्ग सिधारे। आचार्य हरिषेण ने रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य - इन तीनों के सम्बन्ध में लिखा है कि उन तीनों ने पुनः निग्रन्थ आचार्य स्वीकार कर लिया।

पर भट्टारक रत्ननन्दी इनसे बहुत आगे बढ़ गये .....

इस प्रकार विमलसेनगण के शिष्य देवसेन<sup>२</sup> (जो कि दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न हैं) ने अपने ग्रन्थ "भावसंग्रह" में वीर निर्वाण सं० ६०६ में हुए भद्रबाहु के समय में श्वेताम्बर दिगम्बर भेद होने का उल्लेख किया है, उसे हरिषेण<sup>३</sup> ने वी० नि० सं० १६३ अथवा १७० में स्वर्गस्थ होने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया।

घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि हरिषेण ने श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से जोड़ने का जो प्रयास किया, वह उनके अनुयायियों के भी गले नहीं उतरा। हरिषेण के इस प्रयास का अनौचित्य कुछ विद्वानों के मन में खटकता रहा और इसके परिणामस्वरूप ईसा की १५वीं शताब्दी में एक नई मान्यता का प्रचार एवं प्रसार दिगम्बर परम्परा में हुआ।

<sup>१</sup> इष्टं नयं गुरोर्वाक्यं संसारार्णवतारकम् ।  
जिनस्थविरकल्पं च विधाय द्विविधं भुवि ॥६७॥  
अष्टफालकसंयुक्तमज्ञात परमार्थकैः ।  
सैरिव कल्पितं तीर्थं कातरैः शक्तिवर्जितैः ॥६८॥

[वृहत् कथाकोश, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१९]

<sup>२</sup> सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो ति ।

अबुहुजणबोहणत्थं तेण्येयं विरइयं सुत्तं ॥

"भावसंग्रह" के अन्त में दी हुई इस गाथा के आधार पर परमानन्द शास्त्री ने यह अभिमत जाहिर किया है कि भावसंग्रह के कर्ता देवसेन दर्शनसार के कर्ता देवसेन से भिन्न हैं। देवसेन ने दर्शनसार में यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि प्राचीन आचार्यों की गाथाओं का संकलन कर वे दर्शनसार की रचना कर रहे हैं। दर्शनसार में ही हुई गाथाओं में से कुछ गाथाएं भावसंग्रह में उपलब्ध हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन गाथाओं के कर्ता वे देवसेन हीं और इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्य हीं।

<sup>३</sup> हरिषेण का समय ई० सन् ८३१ ई।

वि० सं० १४६५ तदनुसार ई० सन् १४३६ में हुए रयधू नामक अपभ्रंश भाषा के महाकवि ने अपने ग्रन्थ "महावीर चरित्" में मौर्य राजाओं का उल्लेख करते हुए कुणाल के पुत्र का नाम सम्प्रति के स्थान पर चन्द्रगुप्ति दिया है। रयधू ने लिखा है कि कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति ने एक रात्रि में १६ स्वप्न देखे। श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु से अपने स्वप्नों के फल को सुनकर उसे संसार से विरक्ति हुई और उसने आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। इन आचार्य भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से भावी बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ने की सूचना श्रमणसंघों को दी और उन्हें दक्षिण में विचरण करने की सलाह दी। इसी द्वादशवार्षिक काल के पश्चात् श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने का उल्लेख करते हुए रयधू ने आचार्य भद्रबाहु के साथ-साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद की घटना को भी वीर निर्वाण संवत् ३३० के आसपास ला रखा है।

रयधू ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उसका स्थान दिगम्बर परम्परा के महाकवियों में माना जाता है। अतः रयधू की एतद्विषयक मान्यता को यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्ति को राजराजेश्वर के पद पर अभिषिक्त किया। वह चन्द्रगुप्ति बड़ा ही विख्यात राजा हुआ। उसके बिन्दुसार नामक पुत्र हुआ। बिन्दुसार का पुत्र हुआ अशोक और अशोक के एउलु (कुणाल) नाम का पुत्र हुआ। एक समय राजा अशोक अश्वों और हाथियों की सेना से सुसज्जित हो एक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये गया। अशोक ने युद्धस्थल से अपने नगर में एक आज्ञापत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि "अधीयतु कुमारः" - अर्थात् कुमार को अब पढ़ाया जाय। एउलु (कुणाल) की सौतेली माता ने अपने नेत्रों के अंजन की मसी से 'अधीयतु' शब्द के प्रथमाक्षर पर अनुस्वार लगाकर "अधीयतु कुमारः" बना दिया। आज्ञापत्र पढ़कर अधिकारियों ने राजकुमार (कुणाल) को नेत्रविहीन कर दिया।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अशोक पुनः अपने घर लौटा तब अपने पुत्र को लोचनविहीन देखकर उसे बड़ा संताप हुआ। समय आने पर अशोक ने अपने अंधे पुत्र का विवाह कर दिया। उस अंधे राजकुमार के चन्द्रगुप्ति नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि सज्जनों को बड़ा आनन्द देने वाला था। अशोक ने अन्ततोगत्वा अपने पौत्र चन्द्रगुप्ति को राज्यपद दिया। राजा बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति बड़े उत्साह के साथ जैनधर्म का प्रचार-प्रसार और पालन करने लगा। चन्द्रगुप्ति बड़ी श्रद्धा व भक्ति के साथ भुक्तियों को दान दिया करता था। एक समय रात्रि में भुमुप्तावस्था में चन्द्रगुप्ति ने १६ स्वप्न देखे।

१ चन्द्रगुप्ति ते पविहितु राणउ, किउ चाणककं तउ जि पहाणउं।

चन्द्रगुप्ति रायहो विकलायउ बिन्दुसार एउदणु संजायउं।

तहो पुत्तु वि अमोउहु उप्पुण्णउं, एउउनु एणम तहु मुउ उप्पण्णउं।

गिणउ अमोउ गउ वडरिउ उप्परि, पत्ताणोप्पिणु सज्जिवि हरि करि।

नगण्य भेद के अतिरिक्त रयधू बर्णित चन्द्रगुप्ति द्वारा देखे गये १६ स्वप्न वही हैं जो दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नों के नाम से उपलब्ध होते हैं ।

इन सोलह स्वप्नों को देखने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति की निन्द्रा भंग हुई । वे अद्भुत स्वप्नदर्शन से चिन्तातुर हुए । उन्हीं दिनों उस नगर में श्रुतकेवली भद्रबाहु का पधारना हुआ । राजा चन्द्रगुप्ति ने भद्रबाहु की सेवा में पहुंच कर उनके समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाये और उनसे स्वप्नफल बताने की प्रार्थना की । भद्रबाहु से अपने स्वप्नों का फल सुनकर चन्द्रगुप्ति को विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में सभी दृष्टियों से बड़ी गम्भीर और हीन स्थिति पैदा होने वाली है । चन्द्रगुप्ति को संसार से विरक्ति हो गई और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर भद्रबाहु के पास श्रमणादीक्षा ग्रहण कर ली ।

इसके पश्चात् रयधू ने भिक्षार्थ श्रमण करते हुए भद्रबाहुस्वामी द्वारा एक घर में शिशु के मुख से 'जा, जा' शब्द सुनना, उनके द्वारा उस शिशु से पूछना कि कितने वर्ष के लिये, शिशु द्वारा उत्तर देना कि १२ वर्ष के लिये, भद्रबाहु द्वारा भावी द्वादशवार्षिक काल के सम्बन्ध में श्रमण संघ को सूचित करना, श्रावकों की प्रार्थना पर भी भद्रबाहु का न रुकना तथा स्थूलभद्र, रामिल्ल, और स्थूलाचार्य का अपने-अपने श्रमण संघ सहित उज्जयिनी में ही रहना, भद्रबाहु का बारह हजार

तेण जि सणयरहू. लेहु जु वेरिउ. सालिकूळमति देविप्र दूसिउ ।  
उज्जायहो एणंदणु पाडेव्वउ, अयरे एहु वयणु महु किण्वउ ।  
तं जि लेहु वंचिउ विवरेरउ, एणणजुयलु हरियउ सुयकेरउ ।  
अरि जित्ति विजापहू आउ अरिं, पुत्तु शिणयजि विगम एणणे ।  
बहु सोउ पउजिवि तेण तहिं, विहिउ सुयहो पुणु परिणयणु ॥६॥  
एणं चंदगुत्ति तहो एणंदणु संजायउ सज्जणं धाएणंदणु ।  
पोडत्तणि सो राजि परिट्ठिउ, शिणपउ पालणि सो उक्कंठिउ ।  
जिएणम्मामय तिसिउ अण्णइ, मुणिएणहं शिरुदारु पयण्णइ ।  
अण्णहिं दिणि वि रयणि सुपसुत्तइं, सिविएणइं दिट्ठइं सोलहमत्तइं ।

[ रयधू कृत महावीर चरित् (अप्रकामित ) ]

दिट्ठउ अत्तंगउ दिवसेसरु, साहामंग कप्परकखहु परु ।  
उत्तु विमाण वि याहरि जंतउ, अहि बारहफण फुकुवंतउ ।  
ससिमंजलहु मेउ तहं दिट्ठउ, हरियि किण्ह जुज्जंत अहिट्ठउ ।  
खज्जोउ वि दिट्ठउ पहवंतउ, मज्जि सुक्क सरवरु वि महंतउ ।  
धूम हु पूरे गयणु वि छण्णउं, वणायरणु विड्ढरिहि शिसण्णउं ।  
कणाय धालि वायमु मुंजंतउ, साणणि हालिय तेय फुरंत ।  
कारेकर खंधारुवा वाणार, दिट्ठ कथार मज्जि कमलयंवर ।  
मज्जा यंचतउ पुणु सायरु, बाल वसह धुरजोत्तिय रहवर ।  
तरुण वसह आरुवा खत्तिय दिट्ठा तेण अतुल बलसत्तिय ।

श्रमणों के साथ दक्षिणा की ओर विहार करना, एक वन में पहुंचने के पश्चात् ग्रहस्थ वाणी से अपना अन्तिम समय निकट समझ विशाख मुनि को आचार्य पद प्रदान कर उन्हें वारह वर्ष तक दक्षिणापथ में विचरते रहने का आदेश देना, चन्द्रगुप्ति का भद्रबाहु की सेवा में रहना, भद्रबाहु द्वारा अनशन ग्रहण, चन्द्रगुप्ति को वन में देवनिर्मित नगर से भिक्षा मिलना, भद्रबाहु का स्वर्गारोहण करना, स्पृशाचार्य आदि श्रमणों द्वारा पात्र, दण्ड वस्त्रादि ग्रहण करना, सुभिक्ष के पश्चात् श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होना आदि घटनाओं का उसी रूप में वर्णन किया है, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में आमतौर से उपलब्ध होता है।

### आचार्य रत्ननन्दी के अनुसार

प्राज दिगम्बर परम्परा में आमतौर पर वि० सं० १६२५ के आसपास हुए दिगम्बर आचार्य रत्ननन्दी, अपर नाम रत्नकीर्ति द्वारा रचित “भद्रबाहु चरित्र” सर्वाधिक मान्य गिना जाता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित भद्रबाहु चरित्र में रत्ननन्दी ने किस प्रकार की नवीन अभिवृद्धियां कीं, इस तथ्य से पाठक भली-भांति अवगत हो जायें, इस दृष्टि से उनके द्वारा रचित ग्रन्थ “भद्रबाहु चरित्र” में उल्लिखित भद्रबाहु का जीवन-परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है:—

“भारतवर्ष के पुण्ड्रवर्द्धन राज्य की राजधानी कोट्टपुर नगर में पद्मधर नामक राजा राज्य करता था। उसके राजपुरोहित सोमशर्मा की पत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ। पीगण्डावस्था में एक दिन कुमार भद्रबाहु ने नगर के बाहर अपने सखाओं के साथ गोलियों का खेल खेलते हुए बड़ी कुतलता के साथ चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा दिया। उस समय गिरनार की यात्रा के लिये जाते हुए श्री गोवर्द्धनाचार्य वहां पहुंचे। नग्न साधुओं को देखकर अन्य सब बालक तो भाग खड़े हुए पर निर्भीक कुमार भद्रबाहु वहीं खड़े रहे। गोली पर गोली, इस तरह चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ी देख कर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य गोवर्द्धन ने निमित्तज्ञान से पहिचान लिया कि वह बालक भविष्य में पंचम श्रुतकेवली होगा। बालक का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् आचार्य गोवर्द्धन बालक भद्रबाहु के साथ उसके घर पहुंचे। द्विज-दम्पती ने हर्ष विभोर हो बड़ी श्रद्धा से आचार्यश्री को सविधि वन्दन किया। तदनन्तर सोमशर्मा ने विनयपूर्वक निवेदन किया—“करुणासिन्धो! आपके दर्शन से हम कृतकृत्य हुए। आपके चरणसरोज से हमारा घर पवित्र हो गया। प्रभो! इस दास के योग्य कोई सेवा कार्य फरमाकर इसे अनुगृहीत कीजिये।”

गोवर्द्धनाचार्य ने कहा—“भद्र! तुम्हारा यह पुत्र बालक भद्रबाहु महान् प्रतिभा सम्पन्न और महान् भाग्यशाली है। भविष्य में यह बहुत उच्चकोटि का विद्वान् होगा। मैं इसे समस्त विद्याओं में पारंगत करना चाहता हूं, अतः इसे पढ़ाने के लिये हमारे सुपुत्र करो।”

द्विजदम्पती ने कहा — “अकारण करणाकर ! यह तो आप हम लोगों पर महान् उपकार करने जा रहे हैं । इसके लिये हमसे पूछने की क्या आवश्यकता है ? यह बच्चा आप ही का है । आप इसे ले जाइये और अपनी इच्छानुसार इसे सब शास्त्र पढ़ाइये ।”

माता-पिता की अनुमति मिल जाने पर गोवर्द्धनाचार्य बालक भद्रबाहु को अपने साथ ले गये और उसे व्याकरण, न्याय, साहित्य, दर्शन आदि सभी विषय पढ़ाने लगे । कुशाग्रबुद्धि भद्रबाहु ने अप्रतिम विनय, भक्ति, निष्ठा एवं परिश्रम से अध्ययन करते हुए स्वल्प समय में ही गुरु गोवर्द्धनाचार्य से समस्त विद्याओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया । अध्ययन समाप्त कर चुकने के पश्चात् भद्रबाहु अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर अपने माता-पिता की सेवा में कोट्टपुर लौटे । समस्त विद्याओं में निष्णात अपने पुत्र को देख कर सोमशर्मा और सोमश्री के हर्ष का परावार न रहा । हृदयसम्यक्त्वधारी विद्वान् भद्रबाहु के अन्तर में दिन प्रतिदिन जैन धर्म का उद्योत करने की भावना बल पकड़ने लगी । एक दिन भद्रबाहु कोट्टपुर नरेश पद्मधर की राज्यसभा में पहुँचे । महाराज पद्मधर ने अपने पुरोहित के तेजस्वी और विद्वान् पुत्र भद्रबाहु का बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार किया ।

राज्यसभा में उस समय एकत्रित विद्वान् इस प्रश्न पर चर्चा कर रहे थे कि सब धर्मों में कौनसा धर्म श्रेष्ठ है । कोई भी विद्वान् अपनी युक्तियों से महाराज पद्मधर को संतुष्ट नहीं कर सका । अतः उन्होंने भद्रबाहु से अनुरोध किया कि वे इस विषय में अपना मन्तव्य रखें ।

भद्रबाहु ने शान्त, गम्भीर और युक्तिपूर्ण शब्दों में धर्म के आधारभूत गूढ़ तथ्यों को रखते हुए सम्यक्त्व, सत्य, अहिंसा आदि जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का ऐसी कुशलता से और सरलता के साथ प्रतिपादन किया कि सारी राजसभा मन्त्रमुग्ध सी हो निर्निमेष दृष्टि से भद्रबाहु की ओर देखती रह गई ।

वर्षों के प्रयास से अर्जित अपनी यशस्कीर्ति एवं विद्वत्ता की धाक को इस प्रकार एक अल्पवयस्क कुमार के हाथों अपनायास ही धूलिधूसरित होते देख राजसभा के अनेक पण्डितमानी विद्वानों ने विविध प्रकार की जटिल से जटिलतर समस्याएँ भद्रबाहु के समक्ष रखीं । पर प्रखरबुद्धि भद्रबाहु ने अपनी अकाट्य युक्तियों और प्रबल प्रमाणाँ से उन सब का तत्क्षण समाधान कर दिया । राज्यसभा में हुआ वह वादविवाद कुछ ही क्षणों में एक निर्णायक शास्त्रार्थ का रूप धारण कर गया । राज्य सभा के सभी विद्वानों ने संगठित हो भद्रबाहु को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिये प्राणपण से पूरा बल लगा कर प्रयास किया किन्तु स्याद्वाद-सिद्धान्त रूपी सात धार वाले अमोघास्त्र से भद्रबाहु ने उन विद्वानों के युक्तिजाल को छिन्न-भिन्न कर डाला । अन्ततोगत्वा उस शास्त्रार्थ में भद्रबाहु को समस्त विद्वद्वृन्द का विजेता घोषित किया गया । महाराज पद्मधर और सभासद् भद्रबाहु द्वारा प्रस्तुत किये गये जैनधर्म के स्वरूप से ऐसे प्रभावित हुए

कि उन्होंने उसी समय जैनधर्म अंगीकार कर लिया। महाराज पद्मधर ने वस्त्राभूषणादि से भद्रबाहु को सम्मानित किया और भद्रबाहु की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई।

कुछ ही समय पश्चात् भद्रबाहु ने अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर गोवर्द्धनाचार्य के पास निर्ग्रन्थ-श्रमणदीक्षा ग्रहण की। श्रमणोचित सभी आचार्यों का सम्यग्रूपेण पालन करते हुए भद्रबाहु ने अपने गुरु गोवर्द्धनाचार्य के पास क्रमशः सभी अंग शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया और वे गुरु के अनुग्रह से शीघ्र ही सम्पूर्ण द्वादशांगी के पारगामी चतुर्दश पूर्वधर विद्वान् बन गये।

कालान्तर में गोवर्द्धनाचार्य ने अपना अन्तिम समय निकट समझ कर भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर नियुक्त किया और घोर तपश्चरणा करते हुए अन्त में चतुर्विध आहार का परित्याग कर समाधिपूर्वक स्वर्गमगन किया।

आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् भद्रबाहु संघ का संचालन करते हुए विभिन्न क्षेत्रों में जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे।

उस समय धन-धान्यादिक से सम्पन्न अवन्ती राज्य में चन्द्रगुप्ति नामक राजा का राज्य था, जो उस राज्य की राजधानी उज्जयिनी में निवास करता था। महाराज चन्द्रगुप्ति ने एक समय रात्रि के पिछले प्रहर में बड़े आश्चर्यजनक १६ स्वप्न देखे। उन स्वप्नों का फल जानने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई।

प्रातःकाल वनपाल ने राजा चन्द्रगुप्ति को सूचित किया कि नगर के बाहर राजकीय उपवन में आचार्य भद्रबाहु अपने १२,००० मुनियों के साथ पधारहे हुए हैं। यह शुभसंवाद सुन कर राजा चन्द्रगुप्ति अपने मन्त्रियों, सामन्तों, परिजनों और प्रतिष्ठित पौरजनों के साथ आचार्यश्री की सेवा में पहुंचा। दर्शन, वन्दन एवं उपदेशश्रवण के पश्चात् चन्द्रगुप्ति ने आचार्य भद्रबाहु के समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाते हुए उनसे उनका फल पूछा।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने अपने ज्ञानबल से राजा चन्द्रगुप्ति के स्वप्नों का फल बताते हुए कहा—“राजन् ! ये स्वप्न भावी घोर अनिष्ट के सूचक हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) अस्तमान रविदर्शन का प्रथम स्वप्न इस बात का द्योतक है कि इस पंचम काल में द्वादशांगादि का श्रुतज्ञान न्यून हो जायगा।

(२) दूसरे स्वप्न में कल्पवृक्ष की शाखा के भंग होने का फल यह है कि भव्य भविष्य में कोई राजा श्रमणदीक्षा ग्रहण नहीं करेगा।

(३) तीसरे स्वप्न में चलनीतुल्य सखिद्र चन्द्र के दर्शन का फल यह है कि इस दुषमा नामक पंचम काल में जैन धर्म में से अनेक मतों का प्रादुर्भाव होगा।

(४) चौथा स्वप्न, जिसमें तुमने बारह फलों वाला सर्प देखा, उसका फल यह है कि निरन्तर बारह वर्ष पर्यन्त अत्यन्त भोषण दुष्काल पड़ेगा ।

(५) पांचवें स्वप्न में उल्टे लौटते हुए देवविमान के दर्शन का यह फल है कि पंचम काल में देवता, विद्याधर, तथा चारण मुनि भरतक्षेत्र में नहीं आवेंगे ।

(६) छठे स्वप्न में तुमने जो अशुचि स्थान में उगे हुए कमल को देखा है, उसका फल यह है कि भविष्य में क्षत्रियादि उत्तम कुलोत्पन्न पुरुषों के स्थान पर हीन जाति के लोग जैन धर्म के अनुयायी होंगे ।

(७) सातवें स्वप्न में भूतों का नृत्य देखने का फल यह है कि अब भविष्य में मनुष्यों की अधोजाति के देवों के प्रति अधिक श्रद्धा होगी ।

(८) लघोत का उद्योत जिसमें देखा गया, उस आठवें स्वप्न का फल यह है कि जैनागमों का उपदेश करने वाले मनुष्य भी मिथ्यात्व से ग्रस्त होंगे और जैन धर्म कहीं-कहीं रहेगा ।

(९) बीच में सूखा हुआ पर छिछले जल से युक्त किनारों वाला सरोवर जो तुमने ९वें स्वप्न में देखा है, उसका फल यह होने वाला है कि जिन पवित्र स्थानों पर तीर्थंकरों के पंचकल्याणक हुए हैं, उन स्थानों में जैन धर्म विनष्ट होगा और दक्षिणादि देशों में कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत धर्म रहेगा ।

(१०) दशवें स्वप्न में तुमने कुत्ते को स्वर्ण की थाली में खीर खाते देखा, वह इस भावी का द्योतक है कि लक्ष्मी का उपभोग प्रायः नीच पुरुष ही करेंगे । लक्ष्मी कुलीनों को दुष्प्राप्य होगी ।

(११) ग्यारहवें स्वप्न में तुमने बन्दर को हाथी पर बैठे देखा, उसका फल यह है कि क्षत्रिय लोग राज्यरहित होंगे और नीच कुल के अनार्य लोग राज्य करेंगे ।

(१२) बारहवें स्वप्न में तुमने समुद्र को बेलाओं (तटों) का उल्लंघन करते देखा है, इसका फल यह है कि राजा लोग न्यायमार्ग का उल्लंघन करने वाले और प्रजा की समस्त लक्ष्मी को लूटने वाले होंगे ।

(१३) तेरहवें स्वप्न में तुमने बछड़ों द्वारा वहन किया जा रहा अति भारयुक्त रथ देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य में बहुधा लोग युवावस्था (बाल अवस्था) में ही संयम ग्रहण करेंगे और वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाने के कारण संयम धारण नहीं कर सकेंगे ।

(१४) चौदहवें स्वप्न में तुमने राजकुमार को ऊंट पर चढ़े देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य में राजा लोग निर्मल सत्य धर्म का परित्याग कर हिंसा-मार्ग स्वीकार करेंगे ।

(१५) पन्द्रहवें स्वप्न में तुमने घूल से आच्छादित रत्नराशि के दर्शन किये, उसका यह फल होने वाला है कि भविष्य में निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करने लगेंगे ।



(१६) सोलहवें (अंतिम) स्वप्न में तुमने दो काले हाथियों को लड़ते देखा है, वह स्वप्न इस दुःखद भविष्य का द्योतक है कि अब आगे के समय में बादल समय पर और मनुष्यों की अभिलाषा के अनुसार नहीं बरसेंगे ।

श्रुतकेवली भद्रबाहु से अपने १६ स्वप्नों का फल सुन कर महाराज चन्द्रगुप्त को दृढ़ विश्वास हो गया कि भविष्य में पग-पग पर भीषण संकटों से आकीर्ण विकट समय आने वाला है । भवभ्रमण की भयावहता पर विचार करते-करते उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपने पुत्र को अवन्ती का राज्य सौंप कर आचार्य भद्रबाहु के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली ।

कुछ समय पश्चात् एक दिन आचार्य भद्रबाहु जिनदास सेठ के घर पर आहार के लिये गये । उस सुनसान घर में पालने में भूलते हुए दो मास के शिशु ने चिल्ला कर भद्रबाहु को कहा - "चले जाओ ! चले जाओ !" यह अद्भुत एवं अभूतपूर्व दृश्य देख कर आचार्य भद्रबाहु ने शान्त स्वर में उस शिशु से पूछा - "बोलो वत्स ! कितने वर्ष के लिये चले जायें ?"

उत्तर में उस शिशु ने कहा - "बारह वर्ष के लिये ।"

निमित्तज्ञान में निष्णात श्रुतकेवली भद्रबाहु को यह समझने में निमेषमात्र समय भी नहीं लगा कि समस्त मालव प्रदेश में १२ वर्ष के लिये भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है । वे तत्काल अपने स्थान की ओर लौट गये । अपने स्थान पर आकर भद्रबाहु ने समस्त मुनिसंघ को बुलाया और भावी भीषण संकट की सूचना देते हुए उन्होंने कहा कि धनधान्यादिक से सुसम्पन्न यह मालव प्रदेश आगामी बारह वर्षों के लिये अभाव-अभियोग, लूट-खसोट, एवं भुखमरी का बीभत्स क्रीडांगण बनने वाला है । अब आगे चल कर यहां संयम का पालन दुरूह ही नहीं अपितु असंभव सा बन जायगा अतः समस्त श्रमणसंघ को सुदूर दक्षिण की ओर विहार कर देना चाहिये ।"

अपने दूरदर्शी एवं श्रुतकेवली आचार्य का आदेश सुन कर समस्त मुनिसंघ दक्षिण की ओर विहार करने के लिये उद्यत हो गया । श्रावकसंघ को ज्यों-ही आचार्यश्री के इस निर्णय की सूचना मिली तो समस्त श्रावकसंघ भद्रबाहु स्वामी की सेवा में उपस्थित हो प्रार्थना करने लगा कि समस्त श्रमणसंघ अवन्ती देश में ही रहे, अन्यत्र विहार न करे । अनेक कोटिपति श्रावकों ने कहा कि उनमें से एक-एक के पास धन-धान्यादिक का इतना अपार संग्रह है कि उससे वे बारह वर्ष ही नहीं बल्कि सौ वर्ष तक उज्जयिनी के अकालग्रस्त लोगों का परिपालन कर सकते हैं । ऐसी दशा में भीषण से भीषण और लम्बे से लम्बे दुष्काल में भी श्रमणसंघ को किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होगी ।

श्रावकसंघ द्वारा अनेक बार प्रार्थना किये जाने पर भी भद्रबाहु स्वामी ने अपने निर्णय पर स्थिर रहते हुए कहा - "अद्भालु उपासकवन्द ! यहां जो

निरंतर बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला है, वह इतना भयावह होभा कि यहां पर रहने वाले साधुओं के लिये व्रत-संयम का पालन असंभव हो जायगा ।”

श्रावकसंघ द्वारा बारम्बार की गई आग्रहपूर्ण प्रार्थना सुन कर रामल्य, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र आदि साधुओं ने उज्जयिनी के बाहर उपवनों में रहना स्वीकार कर लिया पर शेष १२,००० साधुओं को साथ ले कर आचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण की ओर विहार कर दिया । शने-शने विहार करते हुए आचार्य भद्रबाहु अपने साधुसमूह सहित एक गहन एवं विस्तीर्ण वन में पहुँचे । वहाँ एक अद्भुत गगनघोष को सुन कर निमित्त-ज्ञान से भद्रबाहु को ज्ञात हो गया कि अब उनका अन्तिम समय सन्निकट ही है । उन्होंने तत्क्षण दशपूर्वधर विशाखाचार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और श्रमणसंघ से कहा कि अब उनकी आयु का अति स्वल्प समय अवशिष्ट रहा है अतः वे उसी वन की किसी गिरिकन्दरा में रहेंगे । उन्होंने विशाखाचार्य के नेतृत्व में श्रमणसंघ को बारह वर्ष पर्यन्त दक्षिण देश में ही विचरण करते रहने का आदेश दिया ।

विशाखाचार्य और अन्य श्रमणों ने यह सब कुछ सुन कर शोकसंतप्त हो अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि समग्र श्रमणसंघ को अपने आचार्य की अन्तिम सेवा का लाभ लेने दिया जाय । पर अन्ततोगत्वा गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर विशाखाचार्य को श्रमणसंघ के साथ दक्षिण की ओर विहार करना पड़ा । चन्द्रगुप्ति मुनि, भद्रबाहु द्वारा बार-बार श्रमणसंघ के साथ चले जाने का आग्रह किये जाने के उपरान्त भी भद्रबाहु की सेवा में ही रहे ।

आचार्य भद्रबाहु ने यौगिक विधि से अपने मन, वचन, काय के समस्त योगों की वृत्तियों का निरोध कर एक गिरिगुहा में संलेखना की । उस निर्जन बीहड़ वन में आहार-पानी का मिलना नितान्त असंभव समझ कर चन्द्रगुप्ति मुनि कई दिन तक उपवास पर उपवास करते हुए रात दिन निरन्तर गुरु-सेवा में रहने लगे । कुछ दिनों पश्चात् मुनि चन्द्रगुप्ति को गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर वन में भिक्षार्थ जाना पड़ा । प्रथम दो दिन तक तो दैवी माया से बिना किसी दानदाता की उपस्थिति के निर्दोष भोजन उनके समक्ष प्रस्तुत होता रहा पर आचारनिष्ठ मुनि ने उसे ग्रहण नहीं किया और वन से लौट कर सारा वृत्तान्त अपने गुरु को निवेदन कर दिया । योगी भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्ति के आचार की प्रशंसा की । तीसरे दिन भिक्षार्थ वन में घूमते हुए चन्द्रगुप्ति मुनि ने देखा कि एकाकिनी स्त्री उन्हें भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना कर रही है पर इसे भी साधु आचार के प्रतिकूल समझ कर मुनि चन्द्रगुप्ति बिना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट आये । भद्रबाहु ने अपने शिष्य के मुख से उपरोक्त विवरण सुन कर उनकी आचारनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

तीसरे दिन गुरु-आज्ञा से मुनि चन्द्रगुप्ति उस वन में भिक्षार्थ एक ओर निकले तो उन्होंने समीप ही एक सुन्दर नगर देखा । मुनि ने उस नगर में प्रवेश

किया तो पग-पग पर श्रद्धालु भक्तों ने उनका हादिक स्वागत करते हुए सात्त्विक परमात्र से उन्हें पारणा करवाया ।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने गिरिगुहा में लौट कर अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में सारा वृत्तान्त यथावत् निवेदित किया और वे अर्हनिश गुरु-सेवा में निरत रहने लगे ।

अनेक दिनों के अनशन के पश्चात् चार प्रकार की आराधना एवं निर्मल ध्यान करते हुए कामनाशून्य हो भद्रबाहु ने समाधिपूर्वक प्राणत्याग कर स्वर्गगमन किया ।

आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् भी मुनि चन्द्रगुप्ति उसी पर्वत की गुफा में अपने गुरु के चरण अंकित कर उन चरणों की सेवा एवं श्रमराधर्म का पालन करते हुए रहने लगे ।

उधर अश्वन्ती राज्य में रामत्य, स्थूलाचार्य, और स्थूलभद्र आदि जो मुनि आचार्य भद्रबाहु के आदेश का उल्लंघन कर उज्जयिनी में रहे थे, उनको भीषण दुर्भिक्ष के कारण अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा । दुर्भिक्ष के प्रारम्भ में कोटिपति कुबेरमित्र आदि दानी एवं धर्मात्मा श्रेष्ठियों ने मुक्तहस्त हो अकाल पीड़ितों को धन-धान्यादिक का दान दिया पर ज्यों ही अकालघ्नस्त अन्य क्षेत्रों के लोगों को उन श्रेष्ठियों द्वारा दिये जाने वाले दान का पता चला तो सभी दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्रों की दुष्कालपीड़ित भूखी प्रजा बाढ़ की तरह उज्जयिनी की ओर उमड़ पड़ी । उस भूखे जनसमुद्र के कारण उज्जयिनी की स्थिति भी बड़ी कष्ट, बीभत्स, क्षुब्ध, अस्तव्यस्त, निरंकुश और बड़ी हृदयद्रावक बन गई । नगर के सभी पथ, वीथियां, बाजार, चौगान आदि का चप्पा-चप्पा नरककालों से ठसाठस व्याप्त हो गया । सारी उज्जयिनी रंकमयी दिखने लगी ।<sup>१</sup>

उज्जयिनी में रामत्य आदि साधुओं के समक्ष भिक्षार्थ शहर में जाते समय अनेक प्रकार की बाधाएं और विषम परिस्थितियां आने लगीं । एक दिन नगर में श्रावकों के घर आहार करने के पश्चात् जब श्रमरासमूह नगर के बाहर उपवन की ओर जा रहा था तो उस समय एक मुनि किसी तरह उन साधुओं से पीछे रह गया । उसी समय भोजन कर के आये हुए उन एकाकी मुनि का उदर भरा हुआ देख कर कुछ भूखे लोगों ने मुनि को घेर लिया । उन बुभुक्षित लोगों ने तत्क्षण बड़ी निर्दयतापूर्वक उस मुनि का पेट चीर डाला और उसमें से सद्यःभुक्त भोजन निकाल कर खा लिया । इस अमानवीय हृदयद्रावक घटना से सारे नगर में हाहाकार व्याप्त हो गया ।<sup>२</sup>

श्रावकसंघ ने एकत्रित हो साधुओं की सुरक्षा हेतु विचारविनिमय किया और अच्छी तरह सोच विचार के पश्चात् मुनिसंघ से प्रार्थना की कि जब तक

<sup>१</sup> भद्रबाहु चरित्र, (रत्नवंदी) परिच्छेद ३, श्लोक ४७ से ५३

<sup>२</sup> वही, श्लोक ५४ से ५६

यह संकटकाल है, तब तक वे नगर के मध्यभाग में रहें, जिससे कि समस्त श्रावक संघ को अपने पूज्य श्रमणों की सुरक्षा व भोजन आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में निश्चितता एवं संतोष रहे। साधुसंघ श्रावकों के आग्रह को न टाल सका और श्रावकसंघ बड़े उरसव के साथ मुनिसंघ को उसी समय नगर में ले आया।<sup>१</sup>

रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र आदि मुनियों को आहारार्थ जाते देख कर हजारों भूखे मानवों की भीड़ उनको घेर लेती और बड़े करुण स्वर में खाने के लिये कुछ दिलाने की उनसे प्रार्थना करती। उन भूखे लोगों की हकावट के कारण साधुओं को बिना भोजन लिये ही पुनः अपने स्थान पर लौट जाना पड़ता। आहारार्थ निकलने पर मुनि लोग उन भूखे लोगों की अपार भीड़ के कारण किसी श्रावक के घर पर पहुंच तक नहीं पाते थे। उन भूखे कृषकाय नरककालों को मुनियों के मार्ग में से हटाने हेतु यदि कोई श्रद्धालु श्रावक उन्हें लकड़ी आदि से डराने का प्रयास करते तो वे बड़ी करुण पुकार कर रोने लगते। करुण, कोमल चित्तवाले दयालु मुनिगण उन अस्थिपंजरावशेष दुष्कालपीडित लोगों की हृदयद्रावक करुण पुकार से द्रवित हो बिना आहार किये ही अपने स्थान को लौट जाते।

इस प्रकार की संकटापन्न स्थिति से दुखित हो श्रावक लोग मुनिगण के पास जाकर प्रार्थना करने लगे—“पूज्यवर! नगर की सम्पूर्ण भूमि दीन-हीन दुखी और भूखे लोगों से पूर्णरूपेण संकुल है। इन लोगों के भय से कोई गृहस्थ क्षण भर के लिये भी अपने घर के कपाट नहीं खोल पाता। इसी कारण हम लोग दिन में भोजन न बना कर रात्रि में बनाते हैं। येन केन प्रकारेण इस अति विकट बुरे समय को निकालना होगा। जब तक यह संकटकाल है तब तक आप मुनिगण रात्रि के समय पात्रों में हम लोगों के घरों से आहार ले आया करें और दिन के समय भोजन कर लिया करें। अब दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। अतः आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें।

श्रावकों की बात सुनकर उन मार्गभ्रष्ट कुमार्गगामी साधुओं ने यह कहते हुए कि—“जब तक अच्छा काल नहीं आवेगा तब तक ऐसा ही किया जायगा” तुम्बी के पात्र स्वीकार कर लिये। भिक्षुक तथा कुत्ते आदि के भय से वे लोग हाथ में दण्ड धारण कर गृहस्थों के घरों से तथा घरों के द्वार बन्द रहने की दशा में उन बन्द गृहों के गवाक्षों से आहार ले कर अपने स्थान पर लाने लगे और वे कुपथगामी साधु निरन्तर इसी प्रकार आहार ला कर अपना उदरपोषण करने लगे।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> आर्द्धरभ्ययिता भूयोऽङ्गी चक्रुस्तद्वचोवरम् ।

संयतास्तैः समानीता, मध्ये द्वंगं महोत्सवात् ॥६१॥

[भद्रबाहु चरित्र]

<sup>२</sup> भद्रबाहु चरित्र, परिच्छेद ३, श्लोक ७२ से ७५

एक समय एक क्षीणकाय नग्न साधु रात्रि के समय लाठी व पात्र हाथ में लिये आहार लेने हेतु यशोभद्र श्रेष्ठी के घर पहुंचा । गर्भवती गृहस्वामिनी अन्धेरे में मुनि की बीभत्स आकृति को देखकर इतनी भयविह्वल हुई कि तत्क्षण उसका गर्भ गिर गया ।<sup>१</sup> इस अकाण्ड काण्ड को देखकर मुनि उन्हीं पैरों अपने स्थान को लौट गये । यशोभद्र श्रेष्ठी के घर में कुहराम मच गया । इस दुःखद घटना पर श्रावकों ने मिल कर विचारविमर्श किया और उन्होंने मुनियों के समक्ष जाकर पुनः प्रार्थना की कि वस्तुतः उनका वह विषम स्वरूप भयोत्पादक है अतः जब तक सुभिक्ष न हो जाय तब तक कन्धे पर कम्बल धारण कर के गृहस्थों के घरों में रात्रि के समय भिक्षार्थ जाया करें । मुनियों ने श्रावकों की उस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया और वे धीरे-धीरे शिथिलाचारी बनकर व्रतादि में दोष लगाने लगे ।<sup>२</sup>

इस प्रकार उस बारह वर्ष के महाविनाशकारी भीषण दुःभिक्ष में गृहस्थों और मुनियों को अनेक प्रकार के दारुण दुःख सहने पड़े । बारह वर्ष बीत जाने पर अन्धेरी वर्षा होने के कारण जब पुनः सुभिक्ष हुआ तो दैवी प्रकोप से पीड़ित प्रजा ने सुख की सांस ली ।

अवन्ती प्रदेश में सुभिक्ष होने की सूचना मिलने पर विशाखाचार्य ने भी अपने मुनिमण्डल सहित दक्षिण से उत्तरी क्षेत्रों की ओर विहार किया । क्रमशः अनेक क्षेत्रों में विचरणा करते हुए वे उस विकट वन में आये जहां भद्रबाहु ने समाधि ली थी । मुनि चन्द्रगुप्ति द्वारा अंकित भद्रबाहु के चरणयुगल में उन सब ने प्रणाम किया ।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य को प्रणाम किया पर विशाखाचार्य ने यह विचारते हुए प्रतिवन्दन नहीं किया कि श्रावकों से विहीन उस विकट वन में वह मुनि १२ वर्ष तक किस प्रकार श्रमणाचार का पालन कर सका होगा । उस वन में कहीं भोजन नहीं मिलेगा, इस विचार से उस दिन विशाखाचार्य एवं उनके साथ आये हुए सब मुनियों ने उपवास रखा ।

दूसरे दिन मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य से निवेदन किया कि पास में एक बड़ा नगर है, उसमें श्रद्धालु श्रावक निवास करते हैं अतः वहां जाकर समस्त मुनिमण्डल आहार ग्रहण करे । उस वन में कोई बड़ा नगर भी है, यह सुनकर सब मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे वहां भिक्षार्थ गये । उस नगर में श्रद्धालु श्रावकों ने पग-पग पर मुनियों का बन्दन-सत्कार किया और उन्हें भोजन कराया । पारणा करने के पश्चात् श्रमण संघ आचार्य भद्रबाहु के समाधिस्थल पर लौट आया । मुनिमण्डल के साथ का एक ब्रह्मचारी उस नगर में भोजनो-परान्त अपना कमण्डलु भूल आया था अतः वह अपना कमण्डलु लेने के लिये पुनः

<sup>१</sup> वही, श्लोक ७८, ७९

<sup>२</sup> वही, श्लोक ८१, ८२, ८४ ।

नगर की ओर गया। पर यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस स्थान पर नगर का नामोनिशां तक नहीं। केवल उसका कमण्डलु एक वृक्ष की टहनी पर टंगा हुआ है। ब्रह्मचारी अपना कमण्डलु लिये मुनिमण्डल के पास लौटा और विशाखाचार्य आदि समस्त मुनियों को आश्चर्य में डालते हुए उस नगर के अन्तर्धान होने और वृक्ष की टहनी पर अपने कमण्डलु के मिलने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

विशाखाचार्य ने कहा कि निश्चित रूप से यह सब कुछ मुनि चन्द्रगुप्ति के विशुद्ध चारित्र्य का चमत्कार था। इन्हीं के पुण्य प्रताप से देवताओं ने उस मायानगरी की रचना की थी। विशाखाचार्य ने मुनि चन्द्रगुप्ति की उत्कट चारित्र्यनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें प्रतिवन्दना कर कहा—“मुनिश्रेष्ठ! देवताओं द्वारा कल्पित आहार मुनि को लेना उचित नहीं अतः सब को इसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।”

विशाखाचार्य के आदेशानुसार मुनि चन्द्रगुप्ति और सभी मुनिमण्डल ने देवपिण्ड-ग्रहण का प्रायश्चित्त किया। तदनन्तर विशाखाचार्य ने अपने मुनियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए वे उज्जयिनी आये और नगर के बाहर एक सुन्दर उपवन में ठहरे।

स्थूलाचार्य ने समस्त मुनिसंघ सहित विशाखाचार्य के लौटने का समाचार सुन कर अपने शिष्यों को उन्हें देखने के लिये भेजा। स्थूलाचार्य के शिष्यों ने विशाखाचार्य के पास पहुंच कर उन्हें भक्तिपूर्वक वन्दना की। विशाखाचार्य ने बिना प्रतिवन्दन किये ही उनसे पूछा—“अरे! मेरी अनुपस्थिति में तुम लोगों ने यह कौनसा दर्शन (मत) अपना लिया है?”

इस पर स्थूलाचार्य के शिष्य लज्जित हो बिना कुछ उत्तर दिये ही अपने गुरु के पास लौट गये और उन्हें पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने अपने सब मुनियों को एकत्रित कर मन्त्रणा की कि अब उन्हें किस स्थिति को अपनाना चाहिये? वृद्ध स्थूलाचार्य ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया कि अब उन्हें कुमार्ग का परित्याग कर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले छेदोपस्थापनीय चारित्र्य को ही अपनाना चाहिये।

स्थूलाचार्य के उपरोक्त वचन सुन कर वे मुनि लोग क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को कोसते हुए कहने लगे—“इस विषम पंचम आरक में ऐसे सुसाध्य मार्ग का परित्याग कर कौन इतने कष्टकर दुस्साध्य, बावीस परीषहों और अन्तरायादि से कण्टकाकीर्ण दुर्लभ पथ को अपनायेगा?”

स्थूलाचार्य ने उन साधुओं को समझाने का प्रयास करते हुए कहा—“अभी तो यह पथ तुम्हें किम्भाक फव के समान मनोहर प्रतीत होता है किन्तु अन्त में इसका परिणाम अत्यन्त दुःखायक होगा। यह मार्ग मुक्तिप्रद नहीं अपितु अन्त-काल तक भवभ्रमण कराने वाला है।”

स्थूलाचार्य की बात सुन कर कतिपय साधुओं ने तो उसी समय मूलमार्ग अपना लिया किन्तु बहुत से मुनि क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को डण्डों से पीटने लगे । उन मुनियों ने स्थूलाचार्य को बड़ी निर्दयतापूर्वक मार कर वहीं एक गहरे गड्ढे में डाल दिया । आर्तध्यान के साथ मर कर स्थूलाचार्य व्यन्तर देव हुए । अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान कर स्थूलाचार्य के जीव व्यन्तर देव ने अग्नि, धूलि और पत्थर आदि की वृष्टि कर उन साधुओं को तरह-तरह के घोर कष्ट देने प्रारम्भ किये ।

व्यन्तर द्वारा दिये गये घोर कष्टों से पीड़ित हो उन साधुओं ने व्यन्तर से क्षमायाचना करते हुए स्थूलाचार्य की हड्डी तथा चार अंगुल चौड़ी, आठ अंगुल लम्बी लकड़ी की पट्टी में स्थूलाचार्य की कल्पना कर उनकी पूजा करना प्रारम्भ किया । कालान्तर में वह व्यन्तर देव इन लोगों का पर्युपासन नामक कुलदेवता कहलाने लगा, जो आज भी गन्धादि द्रव्यों से पूजा जाता है । वही आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर आज सब लोगों में फैल गया ।”

यह है, विभिन्न काल में हुए भद्रबाहु नामक आचार्यों के साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद की उत्पत्ति को जोड़ने का एक प्रकार से क्रमिक इतिहास ।

दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्नकाल में भद्रबाहु नाम के निम्नलिखित ५ आचार्य हुए हैं :—

(१) अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु, जिनका स्वर्गवास वी० नि० सं० १६२ में हुआ और जो भगवान् महावीर के ८वें पट्टधर थे ।

(२) २६वें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु अपर नाम यशोबाहु जो आठ अंगों के धारक थे और जिनका काल वीर नि० सं० ४६२ से ५१५ तक का माना गया है ।

(३) प्रथम अंगधर आचार्य भद्रबाहु, जिनका काल वी० नि० सं० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जाता है । यथा :—

अग्निम अंगी सुभदो, जसभदो भद्रबाहु परमगणी ।

आयरियपरंपराइ, एवं सुदण्णाणमावहदि ॥४७॥

[अंग पञ्चत्ति, चूलिका प्रकीर्णक प्रज्ञप्ति]

(४) नन्दीसंध, बलात्कार गण की पट्टावली के अनुसार आचार्य भद्रबाहु जिनका आचार्यकाल वी० नि० सं० ६०६ से ६३१ माना गया है । इन्हीं के शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त था । ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं भद्रबाहु और गुप्तिगुप्त के कथानक को थोड़ा अतिरंजित करके कहीं श्रुतकेवली भद्रबाहु की जीवनी के साथ जोड़ दिया गया हो । गुरु-शिष्य के नाम और उनका काल भी करीब-करीब वही है ।

(५) निमित्तज्ञ भद्रबाहु जो एकादशांगी के विच्छेद के पश्चात् हुए । श्रुतस्कन्ध के कर्त्ता के अनुसार इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी बैठता

है।<sup>१</sup> क्योंकि वी० नि० सं० ६८३ में एकादशांगी का विच्छेद हो जाने के अनन्तर इनका उल्लेख दिया है।

उपरि वर्णित उल्लेखों पर गम्भीरता से विचार करने के पश्चात् केवल इतिहास का विद्वान् ही नहीं अपितु साधारण विद्यार्थी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि ये सभी उल्लेख सम्भवतः किंवदन्तियों, दन्तकथाओं और लोककथाओं के आधार पर किये गये हैं। वस्तुतः इनके पीछे कोई ठोस आधार अथवा पुष्ट प्रमाण नहीं है। ऊपर उद्धृत की गई सभी मान्यताओं के निरसन करने वाले अनेक प्रमाण स्वयं दिगम्बर परम्परा में विद्यमान हैं। उनमें से एक प्रबल और ठोस प्रमाण है पार्श्वनाथ बस्ती का शिलालेख, जिसका अभिलेखनकाल शक संवत् ५२२ तदनुसार विक्रम संवत् ६५७ और वीर निर्वाण संवत् ११२७ है। उस शिलालेख में क्रमशः गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णु, देव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकाय, जय, नाग, सिद्धार्थ, घृतिषेण और बुद्धिल इन १६ आचार्यों के नाम देने के पश्चात् इनकी उत्तरवर्ती आचार्यपरम्परा में हुए आचार्य भद्रबाहु को निमित्तज्ञ बताते हुए यह उल्लेख किया गया है कि उन भद्रबाहु स्वामी ने अपने निमित्तज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की संघ की सूचना दी। तदनन्तर समस्त संघ ने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया।<sup>२</sup>

### नामसाम्य से हुई भ्रान्ति

जिस प्रकार गणधर मंडित और मौर्यपुत्र की माताओं के केवल नामसाम्य के आधार पर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, आवश्यकचूर्णिकार आदि अनेक प्राचीन विद्वान् आचार्यों ने मौर्यपुत्र को मंडित का लघु सहोदर बता कर यह मान्यता अभिव्यक्त कर दी कि भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व भरतक्षेत्र के कतिपय प्रान्तों के उच्चकुलीन ब्राह्मणों तक में विषवाविवाह की प्रथा प्रचलित थी। किसी ने आगमों तथा इतर साहित्य में बार-बार दोहराये गये इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि जिन्हें छोटा भाई बताने का प्रयास किया जा रहा है, वह मौर्यपुत्र वस्तुतः मंडित से बय में छोटे नहीं अपितु तेरह वर्ष बड़े थे। ठीक उसी प्रकार वीर नि० सं० १५६ से १७० तक आचार्य पद पर रहे हुए छेदसूत्रकार-चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वीर नि० सं० १०३२ (शक सं० ४२७) के आसपास विद्यमान बराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक

<sup>१</sup> आयरिशो भद्रबाहु, घट्टंगमहणित्तजाण्यरो  
एिण्णासइ कालवसं, स चरिमो हु एिमिलियो होदि ॥८०॥ [श्रुतस्कन्ध]

<sup>२</sup> ".....महावीरसवितरि परिनिवृत्ते भगवत्परमविशौतमगण - चरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य-  
जम्बु - विष्णु - अपराजित - गोवर्द्धन - भद्रबाहु - विशाख - प्रोष्ठिल - कृत्तिकाय -  
जयनाम - सिद्धार्थ - घृतिषेण - बुद्धिलादि गुरु - परम्परीण वक्त्र (ऋ) माम्यापतमहा-  
पुरुषसंततिसमबन्धोर्तितान्वय - भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन  
त्रैकाल्यदक्षिणा निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपालभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथा-  
दक्षिणापथं प्रस्थितः। [पार्श्वनाथ बस्ति का शिलालेख]



ही व्यक्ति मानने का भ्रम भी काफी प्राचीन समय से विद्वानों में चला आ रहा है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का जन्म सर्वप्रथम किस समय और किस विद्वान् के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

बहुत प्राचीन समय से श्वेताम्बर परम्परा में यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी के द्वारा ही छेदसूत्रों की तथा निर्युक्तियों की भी रचना की गई थी। सर्वप्रथम संभवतः डा० हर्मन जैकोबी ने ई० सं० १९३१ में इस मान्यता की समीक्षा करते हुए आचार्य हेमचन्द्रकृत "परिशिष्ट पर्व" के इन्ट्रोडक्शन में लिखा :-

"There are ten Sutras to which Bhadra Bahu, a late namesake of the sixth patriarch, has written Niryukties, i.e., systematic expositions of the subject of Sutra to which they belong."

[Parisista Parva, Introductory, page 6]

डा० हर्मन जैकोबी ने इससे आगे पृ० ७ पर और लिखा है :-

The author of the Niryukties Bhadrabahu is identified by the Jains with the patriarch of that name who died 170 A. V.<sup>1</sup> There can be no doubt that they are mistaken. For the account of seven schisms (Ninhaga) in the Avashyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written 584 and 609 of the Vira Era. There are the dates of the 7th and 8th schisms of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore, certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 609 A.V.

डा० हर्मन जैकोबी द्वारा इस तथ्य के प्रकाश में लाये जाने के पश्चात् अनेक अन्य विद्वानों ने भी इस दिशा में अनुसन्धान और खानबीन करना प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक विचारणीय तथ्य विद्वानों के सामने आये।

### छेदसूत्रकार श्रुतवेवली भद्रबाहु

इस तथ्य को सभी विद्वान् एक मत से स्वीकार करने लगे हैं कि छेदसूत्रों के कर्त्ता असंदिग्ध रूप से चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ही हैं। यद्यपि छेद सूत्रों के आदि, मध्य अथवा अन्त में कहीं पर भी ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं है फिर भी इनके पश्चाद्गती ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों में जो उल्लेख किये हैं, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि छेदसूत्रों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ही हैं।

<sup>1</sup> बीरमोक्षाब्दषष्टे, सप्तत्यसे गते सति ।

भद्रबाहुरपि स्वामी, ययो स्वर्गं समाधिना ॥११२॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६]

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति के प्रारम्भ में लिखा है :-

वंदामि भद्रबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयनारिणं ।

सुत्तस्स कारगमिंसि, दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

अर्थात् में दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार सूत्र के प्रणेता प्राचीन गोत्रीय एवं अन्तिम श्रुतकेवली महर्षि भद्रबाहु को नमस्कार करता हूँ ।

यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार का नाम भी भद्रबाहु है और वे भद्रबाहु नमस्कार कर रहे हैं प्राचीन गोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु को । वस्तुतः यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण और निर्यायक तथ्य है जिस पर आगे विचार किया जायगा । पंचकल्प महाभाष्यकार ने उपरिलिखित गाथा में वर्णित तथ्यों की पुष्टि निम्नलिखित रूप में की है :-

भदंति सुंदरं ति य, तुल्लत्थो जत्थ सुंदरा बाहु ।

सो होति भद्रबाहु, गोणं जेणं तु बालत्ते ॥६॥

पाएण ण लक्खिज्जइ, पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स ।

उववण्णमतो णामं, तस्से यं भद्रबाहुत्ति ॥७॥

अण्णो वि भद्रबाहु, विसेसणं गोण्णगहण पाईणं ।

अण्णोसि पविसिट्ठे, विसेसणं चरिमसगलसुतं ॥८॥

चरिमो अपच्छिमो खलु, चोद्दसपुव्वा तु होति सगलसुतं ।

सेसाण बुदा सट्ठा, सुत्तकरज्झयणमेयस्स ॥९॥

किं तेण कयं तं तू, जं भण्णति तस्स कारतो सोउ ।

भण्णति गणघारीहि सव्वसुयं चेव पुव्वकयं ॥१०॥

तत्तोच्चिवय शिण्णज्जुबं, अण्णुगहणट्ठाए संपयजतीणं ।

तो सुत्तकारतो खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ॥११॥

इन गाथाओं में सुन्दर भुजाओं वाले प्राचीन गोत्रीय एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की छेदसूत्रकार के रूप में स्तुति करते हुए भाष्यकार ने इस बात का संकेत किया है कि भद्रबाहु नाम के अन्य भी आचार्य हुए हैं । अतः पेशल-सुन्दरभुज, प्राचीन गोत्रीय और अन्तिम श्रुतकेवली ये विशेषण छेद सूत्रकार भद्रबाहु के लिये प्रयुक्त किये हैं । यह ध्यान में रहे कि इन गाथाओं में उपर्युक्त तीन विशेषणों से युक्त भद्रबाहु के निर्युक्तिकार होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया है । निर्युक्तिकार और भाष्यकार दोनों ने ही आचार्य भद्रबाहु को दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन तीन छेदसूत्रों का कर्त्ता माना है । पंचकल्प भाष्य की चूर्ण में इन्हें आचार्य-कल्प अर्थात् निशीथ सूत्र का प्रणेता भी बताया गया है । विक्रम की पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रणीत "तित्थोगालिय पइण्णा" नामक ग्रन्थ में

<sup>१</sup> तेण भगवता प्रायारणकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य तवमपुव्वनीसंदभूता निज्जुदा ।

श्री प्राचार्य भद्रबाहु का चतुर्दशपूर्वधर और छेदसूत्रकार के रूप में परिचय दिया गया है ।<sup>१</sup>

इस प्रकार इन उपरिलिखित प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि अंतिम श्रुतकेवली प्राचीन गौत्रीय प्राचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रों के निर्माता थे ।

प्रब सबसे बड़ा यह प्रश्न सामने आता है कि दश निर्युक्तियों के कर्ता अन्तिम श्रुतकेवली प्राचार्य भद्रबाहु थे अथवा भद्रबाहु नाम के अन्य कोई प्राचार्य ।

भगवान् महावीर के शासन के सातवें पट्टधर चतुर्दश पूर्वधर प्राचार्य-भद्रबाहु वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों के रचनाकार नैमित्तिक भद्रबाहु से भिन्न हैं । दोनों समान नाम वाले महापुरुषों को एक ही व्यक्ति ठहराने के पक्ष में जो प्राचीन प्राचार्यों के उल्लेख कतिपय विद्वानों द्वारा प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं उनकी औचित्यानीचित्यता पर विचार करने से पहले उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :-

१. ओष निर्युक्ति की द्रोणाचार्य कृत टीका में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी को ही निर्युक्तिकार बताते हुए लिखा है :-

“गुणाधिकस्य बन्दनं कर्त्तव्यं न त्वधमस्य, यत उक्तम् - “गुणाहिण् वंदरायं ।” भद्रबाहु स्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति । अत्रोच्यते गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्ति गुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति ।” (पत्र ३)

२. शीलांकाचार्यकृत आचारांग की टीका पत्र ४ पर -

“अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यो अतस्तान् सर्वानिति ।” ऐसा उल्लेख है ।

३. उत्तराध्ययन सूत्र की शान्तिसूरि द्वारा कृत पाइय टीका के पत्र १३६ पर भी लिखा है :-

“न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालाद्दुर्वाकालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशंकनीयम्, स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशंका ? इति ।”

४. विशेषावश्यक टीका, पत्र १ पर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है :-

<sup>१</sup> सतमतो धिरबाहु जालुयसीसुपडिच्छय सुबाहु ।

नामेष भद्रबाहु धविहि साधम्मभहोति ॥

सो विय चोद्दसपुब्बी, धारसवासार्द जोगपडिबन्नी ।

सुतत्येण निबंभइ, अत्थं अज्जकयण बन्धस्स ॥ [तिस्सोगालियपइणा (अप्रकाशित)]

“अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकल साधु-श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दश-पूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैतद्द्रव्याख्यानरूपा “अभिनिबोहियनाणं” इत्यादि प्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिकृता ।”

५. मलयगिरि ने बृहत्कल्पपीठिका की टीका, पत्र २ पर लिखा है :—

साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिः ।”

६. बृहत्कल्पपीठिका की श्री क्षेमकीतिसूरि कृत टीका के पत्र १७७ पर उल्लेख है कि—

“श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्र संसूत्रणसूत्रधार..... श्री-भद्रबाहुस्वामी.....कल्पधेयनामाध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान् ।”

७. मुनि सुन्दरसूरि ने ‘गुर्वावली’ में चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी और ‘उपसर्गहरस्तोत्र’ के रचयिता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष बताते हुए लिखा है :—

अपश्चिमः पूर्वभृतां द्वितीयः, श्री भद्रबाहुश्च गुरुः शिवाय ।

कृत्वोपसर्गादिहरस्तवं यो, ररक्ष संघं धरणाचिंतांहिः ॥१३॥

निर्यूढसिद्धान्तपयोधिंराप, स्वर्यश्च वीरात् सनगेन्दुवर्षे ।

८. गच्छाचार पद्मना की वृत्ति में श्रुतकेवली भद्रबाहु और निर्युक्तिकार भद्रबाहु को एक ही व्यक्ति बताते हुए लिखा है :—

“अत्थि सिरिभरवरिट्ठे.....अह जुगप्पहाणागमो सिरिभद्बाहुसामी. आघारांग १. सूयगडांग २. आवस्सय ३. दसवैयालिय ४, उत्तरज्जभयण ५, दसा ६, कप्प ७, ववहार ८, सूरियपन्नत्ति उवंग ९, रिसिभासियाणं १० दस निज्जुत्तिमो काऊण जिणसासणं पभावेऊणं पंचमसुयकेवलियमणुहविऊण य समए अणसणविहाणेण तिदसावासं पत्तोत्ति ।”

उपरोक्त सभी उल्लेख प्रामाणिक आचार्यों द्वारा किये गये हैं। इनमें आचार्य शीलानक का उल्लेख सबसे प्राचीन-अर्थात् विक्रम की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ का है। उपरोक्त उल्लेखों में सभी आचार्यों ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहुस्वामी को ही निर्युक्तिकार माना है पर अपनी इस मान्यता के समर्थन में शान्त्याचार्य के अतिरिक्त किसी भी विद्वान् आचार्य ने कोई युक्ति प्रस्तुत नहीं की है। साधारण तौर पर केवल यह उल्लेख मात्र किया है कि चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी निर्युक्तिकार थे।

शान्त्याचार्य ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी को ही निर्युक्तिकार ठहराने की अपनी मान्यता के पक्ष में यह युक्ति दी है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने अपने से बहुत काल पश्चात् हुए महापुरुषों के व उनसे सम्बन्धित उदाहरण दिये हैं— उनके आधार पर कोई यह शंका न कर

बैठे कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित नहीं अपितु किसी अन्य द्वारा रचित है अथवा ये उदाहरण किसी अन्य आचार्य द्वारा इसमें जोड़े गये हैं । क्योंकि आचार्य भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली होने के कारण त्रिकालदर्शी थे और अपने पश्चाद्वर्ती अर्थात्चीन महापुरुषों के सम्बन्ध में भी विवरण लिखने में समर्थ थे ।

### श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं हो सकते, इस तथ्य की पुष्टि में निम्न लिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं :-

१. चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तियोंके कर्त्ता नहीं हैं । यदि वे निर्युक्तिकार होते तो वे अपने आपकी स्तुति करते हुए स्वयं को नमस्कार नहीं करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र का 'भगवान् स्थूलभद्र' इन स्तुत्यात्मक शब्दों में गुणगान ही करते । पर निर्युक्तियों में इस प्रकार के लोकव्यवहार विरुद्ध उदाहरण विद्यमान हैं । दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की पहली गाथा में निर्युक्तिकार द्वारा भद्रबाहु स्वामी को निम्नलिखित शब्दों में नमस्कार किया गया है :-

वंदामि भद्रबाहुं, पाइणं चरिमसगलसुयनारिण ।

सुत्तस्स कारगमिस्सि, दसासु कप्पे य वव्हारे ॥१॥

यदि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु निर्युक्तिकार होते तो क्या वे अपने आपको इस प्रकार वन्दन करते ? कदापि नहीं । सम्य संसार के साहित्य में एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता, जिसमें किसी साधारण से साधारण अथवा महान् से महान् व्यक्ति ने अपने आपको नमस्कार किया हो । लोकगुरु तीर्थंकर भी "नमो तित्थस्स" कह कर तीर्थ को नमस्कार करते हैं न कि स्वयं को ।

यहां यह शंका उठाई जा सकती है कि यह गाथा निर्युक्तिकार की नहीं अपितु भाष्यकार की है अथवा प्रक्षिप्त है । पर चूर्णिकार के निम्नलिखित स्पष्टीकरण के पश्चात् इस प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता । चूर्णिकार ने इस गाथा को भावमंगल की संज्ञा देते हुए निर्युक्ति की मूल गाथा बताया है :-

चूर्णः :- तं पुण मंगलं नामादि चतुर्विधं आवस्सगारुक्कमेण परूवेयव्वं । तत्थ भावमंगलं निज्जुत्तिकारो आह - "वंदामि, भद्रबाहुं....." इत्यादि । भद्रबाहु नामेणं । पाईणो गोत्तेणं । चरिमो अपच्छिमो । सगलाइं चोहसपुब्बाइं । कि निमित्तं नमोक्कारो तस्स कज्जति ? उच्चते जेण सुत्तस्स कारओ ण अत्थस्स, अत्थो तित्थगरातो पसूतो । जेण भणएति - "अत्थं भासति अरहा० गाथा । कतरं सुत्तं ? दसाप्रो कप्पो वव्हारो य । कतरातो उद्धृतम् । उच्चते पच्चक्खारणपुब्बातो । अहवा भावमंगलं नंदी सा तहेव चउव्विहा ।

छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति के रूप में प्रसिद्ध है, इसी लिये निर्युक्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति में श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया है ।

उत्तराध्ययन सूत्र की नियुक्ति में नियुक्तिकार ने आचार्य स्थूलभद्र को भगवान् की उपमा से अलंकृत करते हुए उनका निम्नलिखित शब्दों में गुणगान किया है :-

‘भगवं पि स्थूलभद्रो, तिवसे चंकम्मिओ न उण छिओ ।

अग्गिसिहाए वुत्थो चाउम्मासे न उण दड्ढो ॥

साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी नियुक्ति की इस गाथा को देखकर यही कहेगा कि इस नियुक्ति के कर्त्ता यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो वे अपने शिष्य की भगवान् के तुल्य इस प्रकार स्तुति नहीं करते ।

इन दोनों गाथाओं की ओर शान्त्याचार्य ने ध्यान दिया होता तो वे कदापि उत्तराध्ययनसूत्र के परीषहाध्ययन की टीका में “न च केषांचिदिहोदाहरणानां नियुक्तिकालाद्दविकाला - भाविता इत्यन्योक्तत्वमाशंकनीयम्, स हि भगवांश्चतु-दंशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशंका? इति” यह कभी नहीं लिखते । क्योंकि श्रुतकेवली त्रिकालवर्ती वस्तुओं को देखते हैं लेकिन स्वयं को नमस्कार करने और अपने शिष्य की भगवान् तुल्य स्तुति करने जैसे लोक व्यवहार विरुद्ध आचरण कदापि नहीं कर सकते ।

२. चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु नियुक्तिकार नहीं हैं, इस पक्ष का प्रबल समर्थक दूसरा प्रमाण यह है कि आवश्यक नियुक्ति की गाथा संख्या ७६२, ७६३, ७७३, और ७७४ में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि वज्रस्वामी के समय (वी० नि० सं० ५८४ तदनुसार वि० सं० ११४) तक कालिक सूत्रों का पृथक् पृथक् अनु-योग के रूप में विभाजन नहीं हुआ था । वज्रस्वामी के पश्चात् देवेन्द्रवन्दित आर्य रक्षित ने समय के प्रभाव से अपने विद्वान् शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की स्मरणशक्ति के ह्रास को देख कर सूत्रों का पृथक्करण चार अनुयोगों के रूप में किया ।<sup>१</sup>

पट्टावलियों में आर्य रक्षित के वी० नि० सं० ५६७ में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख मिलता है ।<sup>२</sup> ऐसी दशा में वी० नि० सं० ५८४ से ५६७ के बीच में चार

<sup>१</sup> मूढशब्दं सुयं कालियं, तु एण एया समोयरंति इहं ।  
अपुहुत्ते समोयारो अत्थि पुहुत्ते समोयारो ॥७६२॥  
आचंति अण्णवहरा, अपुहुत्ते कालियाणुभोगे य ।  
तेणारेण पुहुत्ते, कालियसुय दिट्ठिबाए य ॥७६३॥  
अपुहुत्ते अणुभोगो, चत्तारि दुवार भासई एणो ।  
पुहुत्ताणुभोगकरणे, ते अत्यतओ उ वोच्चिआ ॥७७३॥  
वेधिदंबिण्हि, महाणुभागेहि रक्खि अज्जेहि ।  
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुभोगो तो कथो चउहा ॥७७४॥

<sup>२</sup> अत्र श्रीवज्रस्वामिश्रीवज्रसेनयोरंतरालकाले श्रीमदार्यरक्षितसूरिः श्रीदुर्बलिकापुष्य (मित्र) ऋषेति ऋषेण युगप्रधानद्वयं संजातं । तत्र श्रीमदार्य रक्षितसूरिः सप्तनवत्यधिकपंचशत ५६७ वर्षान्ते स्वर्गप्रागिति पट्टाब्रह्मादी दृश्यते, परमावश्यकवृत्त्यादौ श्रीमदार्य-रक्षितसुरीणां स्वर्गजनानन्तरं चतुरशीत्यधिकपंचशत ५८४ वर्षान्ते सप्तम निन्द्वौत्पत्तिरुक्तास्ति । तेनैतत् बहुधृतगम्यमिति । [तपागच्छ पट्टावली (धर्मसागरगणितरचित), गा० ६]

अनुयोगों के रूप में किये गये सूत्रों के विभाजन की घटना का उल्लेख श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा किया जाना संभव एवं बुद्धिगम्य नहीं हो सकता क्योंकि उनका वीर नि० संवत् १७० में स्वर्गवास हो चुका था ।

३. आवश्यक निर्युक्ति की गाथा ७६४ से ७६६ और ७७३ से ७७६ में वज्रस्वामी के विद्यागुरु स्थविर भद्रगुप्त, 'आर्य सिंहगिरि, श्री वज्रस्वामी', आचार्य तोसलिपुत्र, आर्य रक्षित, फल्गुरक्षित आदि, श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चाद्द्वर्ती आचार्यों से सम्बन्धित विवरणों के उल्लेख के साथ-साथ वज्र ऋषि को अनेक बार वंदन-नमस्कार किया गया है ।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को निर्युक्तिकार कदापि नहीं माना जा सकता । क्योंकि उनके द्वारा अपने से बहुत काल पश्चात् हुए आचार्यों के प्रति इस प्रकार के विनय-वन्दन-नमन आदि की किसी भी दशा में संगति नहीं हो सकती ।

४. पिण्ड निर्युक्ति की गाथा ४६८ में आचार्य पादलिप्तसूरि के सम्बन्ध में तथा ५०३ से ५०५ गाथाओं में वज्रस्वामी के मामा आर्य समितसूरि के सम्बन्ध में और ब्रह्मद्वीपिक तापसों की श्रमणदीक्षा एवं ब्रह्मद्वीपिक शाखा की

<sup>१</sup> तुंबवणसन्निवेशो, निगयं पिउसगासमल्लीसं ।  
 छम्मासियं छमु जयं, माउय 'समन्तियं वन्दे ॥७६४॥  
 जो गुज्जएहि बालो, निमन्तिओ भोयणेण वासंते ।  
 एोच्छइ विणीयविणओ, तं वयररिसि 'एमंसामि ॥७६५॥  
 उज्जैणीए जो जंभगेहि, आणक्खिऊण थुयमहिओ ।  
 अक्खीएमहाणसियं, सीहगिरिपत्तंसियं वदे ॥७६६॥  
 जस्स अणुण्णए वायगत्थे दसपुरम्मिणायरम्मि ।  
 देवेहि कया महिमा, पयाणुसारि एमंसामि ॥७६७॥  
 जो कन्नाइ धणेण य, रिणंमंतिओ जुव्वणम्मि गिह्वइरण्ण ।  
 नयरम्मि कुसुम नामे, तं वइररिसि एमंसामि ॥७६८॥  
 जेणुद्धरिआ विज्जा, आमासगमा महापरिण्णाओ ।  
 वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयहराणं ॥७६९॥  
 अपुहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एणो ।  
 पुहुत्ताणुओगकरणे ते अत्थतओ उ बोच्छिता ॥७७३॥  
 देविदवंदिएहि, महाणुभागेहि रक्खि अज्जेहि ।  
 जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥७७४॥  
 माया य रुहसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति ।  
 भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिया ॥७७५॥  
 निज्जवण भद्दगुत्ते, वीसुं पइएणं च तस्स पुव्वणं ।  
 पग्वाविओ य भाया, रक्खियखमणेहि जएओ य ॥७७६॥

[आवश्यक निर्युक्ति]

उत्पत्ति आदि का वर्णन किया गया है।<sup>१</sup> इन गाथाओं में उल्लिखित विवरण श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए आचार्यों तथा उन आचार्यों के समय में घटित हुई घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

५. उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति की गाथा संख्या १२० में श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत समय पश्चात् हुए कालिकाचार्य के जीवन की घटनाओं का विवरण दिया गया है। यथा :-

उज्जैण कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णाभूमीए ।

ईदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिब्बकरणां च ॥१२०॥

६. वर्तमान काल में उपलब्ध निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस तथ्य को सिद्ध करने वाला एक प्रबल प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति (अकाममरणीय) की निम्नलिखित गाथा में निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट संकेत किया है कि वह चतुर्दश पूर्वधर नहीं है :-

सव्वे एए दारा, मरणाविभत्तोइ वण्णिणाया कमसो ।

सगलण्णउण्णे पयत्थे, जिण चउद्दसपुब्बि भासंति ॥२३३॥

अर्थात् - मैंने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं। समस्त आगमों और जैन साहित्य में एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जिसमें किसी केवलज्ञानी ने किसी तत्व का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा हो कि इसका पूर्णरूपेण विवेचन तो केवली ही कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर होते तो वे यह कभी नहीं कहते कि वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं। यह निर्युक्ति-गाथा ही इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु नहीं कोई अन्य ही आचार्य हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है शान्त्याचार्य ने "चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं - इस पक्ष का समर्थन करते हुए उपरोक्त निर्युक्ति-

<sup>१</sup> जइ जह पइमिणी जायागुम्मि पानित्तमो भमाडेइ ।

तह तह मोवे विपणा, पणम्मइ मुहउरायम्म ॥४६८॥

नइ कण्ह-विन्न दीवं, पंचसया तावमाण्णिवसनि ।

पव्वदिवमेमु कुलवइ पालेवुनार सक्कारे ॥५०३॥

जण सावमाण विमण, ममियक्खण माइटाण लेवेण ।

सावय पयनकरणं, अविणयलोए चनण धोए ॥५०४॥

पडिनामिण वच्चना निवुड्ड नइकूलमिणण ममियाणो ।

विग्घिय पंचमया, तावमाण पव्वज्ज माहा य ॥५०५॥



गाथा की टीका में यह युक्ति दी है - "आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वधर अर्थात् श्रुतकेवली थे अतः वे त्रिकाल के पदार्थों को जानने में समर्थ थे ऐसी दशा में निर्युक्तियों के अन्तर्गत अर्वाचीन घटनाओं एवं आचार्यों के विवरण देख कर इस प्रकार की कतई शंका नहीं करनी चाहिये कि निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य कोई आचार्य हैं।" पर इस गाथा की टीका करते समय उन्हें अपने स्वयं के अन्तर से कितना जूझना पड़ा इसकी झलक टीका में स्पष्टतः प्रकट होती है :-

"सम्प्रत्यतिगम्भीरताभागमस्य दर्शयन्नात्मौद्धत्यपरिहारायाह भगवान् निर्युक्तिकारः-

सव्वे एए दारां गाथा व्याख्या - 'सर्वाणि' अशेषाणि 'एतानि' अनन्तर-मुपदर्शितानि 'द्वाराणि', अर्थप्रतिपादनमुखानि 'मरणविभक्तेः' मरणविभक्त-यपरनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्य 'वर्णितानि' प्ररूपितानि, मयेति शेषः, 'कमसो' द्वि प्राग्बत् क्रमशः । आह एवं सकलापि मरणवक्तव्यता उक्ता उत न ? इत्याह-सकलाश्च- समस्ता निपुराणश्च-अशेषविशेष-कलिताः सकलनिपुराणाः तान् पदार्थान् इह मरणप्रशस्तादीन् जिनाश्च केवलिनः चतुर्दशपूर्वधरश्च-प्रभवादयो जिनचतुर्दश-पूर्वधरो 'भाषन्ते' व्यक्तमभिदधति, अहं तु मन्दमतित्वात् तथा वर्णयितुं क्षम इत्यभिप्रायः । स्वयं चतुर्दशपूर्वधरेऽपि यच्चतुर्दशपूर्वधरपादानं तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमाहात्म्यरूपापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथा-द्वयादारम्य लक्षयन्त इति प्रेर्यानिवकाश एवेति गाथार्थः ॥२३३॥

[ उत्तराध्ययन पाइय टीका, पत्र २४० ]

निर्युक्तिकार ने इस गाथा में यह कह कर कि - यद्यपि उन्होंने मरण-विभक्ति विषयक सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन करने का प्रयास किया है, तथापि इनका सम्पूर्णरूपेण विशदवर्णन तो केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही कर सकते हैं-यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि न तो वे केवली हैं और न चतुर्दश पूर्वधर ही ।

शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार की इस सरल और स्पष्ट स्वीकारोक्ति की अपने पक्ष के साथ संगति बैठाने हेतु क्लिष्ट कल्पना करते हुए टीका में दो युक्तियां दी हैं । पहली युक्ति यह कि निर्युक्तिकार ने स्वयं चतुर्दश पूर्वधर होते हुए भी अर्थज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधर भी परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक समझने वाले होते हैं, इस दृष्टि से अपने से पूर्व के पूर्वधरों की अपनी अपेक्षा अधिक महत्ता प्रकट करने हेतु ही लिखा है कि केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही इन पदार्थों का सम्पूर्ण रूप से विशद वर्णन कर सकते हैं ।

प्रत्येक चतुर्दश पूर्वधर को, चाहे वह पूर्ववर्ती ही अथवा पश्चाद्वर्ती - उसे आगमों में श्रुतकेवली के विरुद्ध से विभूषित कर केवलितुल्य प्ररूपणा करने वाला माना गया है । एक श्रुतकेवली चाहे वह कितना ही अवांतरकालवर्ती क्यों न हो वह पदार्थों के निरूपण में केवलितुल्य है अतः वह यह कह कर कि अमुक-अमुक विषयों का विवेचन वह नहीं कर सकता है, चौदह पूर्वी के ज्ञान की हीनता अपने

मुख से किसी भी दशा में प्रकट नहीं कर सकता। शान्त्याचार्य इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे अतः अपनी इस प्रथम युक्ति की औचित्यता और सबलता के सम्बन्ध में सशंक होने के कारण उन्होंने दूसरी युक्ति यह दी—“यह भी अधिक संभव है कि द्वारगाथा से इस गाथा तक की सभी गाथाएं मूल निर्युक्ति की गाथाएं न होकर भाष्य की गाथाएं हों। इनकी यह युक्ति तो वस्तुतः एक प्रकार से इस पक्ष को ही बल देती है कि निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की कृतियां नहीं। वैसे इनकी इस युक्ति को चूर्णिकार का समर्थन भी प्राप्त नहीं है। शान्त्याचार्य स्वयं भी अपने अभिमत की सत्यता के सम्बन्ध में सशंक हैं।

ऐसी दशा में शान्त्याचार्य का यह अभिमत कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं, कैसे मान्य हो सकता है ?

७. श्रुकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं, इस पक्ष की पुष्टि हेतु सातवें प्रमाण के रूप में आवश्यक निर्युक्ति की ७७८ से ७८३ तक की गाथाओं<sup>१</sup> को प्रस्तुत किया जाता है। इन गाथाओं में भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के चौदहवें वर्ष से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् हुए सात निन्हवों का तथा वीर नि० सं० ६०६ में हुई दिगम्बर मतोत्पत्ति तक का वर्णन किया गया है। वीर नि० सं० १७० में स्वर्गस्थ होने वाले भद्रबाहु द्वारा यदि निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो बी० नि० सं० ६०६ में हुई घटनाओं का उनमें उल्लेख कदापि नहीं होता।

८. इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति (चतुरंगीय अध्ययन) की गाथा संख्या १६४ से १७८ में सात निन्हवों तथा दिगम्बर मत की उत्पत्ति का आवश्यक निर्युक्ति से भी विस्तृत विवरण दिया हुआ है।

९. दशवैकालिक निर्युक्ति<sup>२</sup> और शोध निर्युक्ति<sup>३</sup> की गाथाओं में दशवै-

<sup>१</sup> बहुरय पएस भन्वत्त समुच्छ दुग तिग भवद्धिगा चेव ।

सत्तेए सिण्हगा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाएस्स ॥७७८॥

बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुलाओ ।

भवत्तासाढाओ समुच्छेयासमित्ताओ ॥७७९॥

गंगाओ दो किरिया, छलुगा तेरासियाए उप्पती ।

थेरा य गोठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परुविति ॥७८०॥

सावत्थी उसमपुरं सेयविमा मिहिल उल्लुगातीरं ।

पुरिमंतरंजि रहवीरपुरं च रायराइ ॥७८१॥

चोद्दस सोलस वासा, चोद्दस वीमुत्तरा य दोष्णिसया ।

अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ चोयालो ॥७८२॥

पंचसया खुलसीया, छञ्चेव सया एवोत्तरा हुंति ।

एागुपत्ती य दुवे उप्पणा निव्वुए सेसा ॥७८३॥ [भाव. नि०]

<sup>२</sup> अपुहुत्त - पुहुत्ताइ निदिसिउ एत्थ होइ अहिगारो ।

चरएकरणाणुओणेए, तस्स दारा इमे हुंति ॥ [दशवैकालिक नि०]

<sup>३</sup> ओहेएउ रिण्जुत्ति, बुच्चं चरएकरणाणुओगाओ ।

अप्पक्खरं महत्थं, अणुगाहत्थं सुविहियाए ॥ [शोध-निर्युक्ति]

कालिकसूत्र और ओघ - इन दोनों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया है। अनुयोगों के रूप में सूत्रों का पृथक्करण वीर नि० सं० ५६० से ५६७ के बीच के समय में, तदनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् ४२० से ४२७ वर्ष के मध्यवर्तीकाल में आर्य रक्षित द्वारा किया गया है।

१०. श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं, इस पक्ष की पुष्टि में दशाश्रुत-स्कन्ध-निर्युक्ति की एक और गाथा प्रमाण रूप से प्रस्तुत की जाती है :-

एगभवि ए य बद्धाउ ए य, अभिमुहियनामगो ए य ।

एते तिन्नि वि देसा, दव्वम्मि य पौडरीयस्स ॥१४६॥

इस गाथा में द्रव्य निक्षेप के तीन आदेशों का विवेचन किया गया है। इसकी वृत्ति इस प्रकार है :-

एगेत्यादि एकेन भवेन गतेन अनन्तरभव एक यः पौण्डरीकेषु उत्पत्स्यते स एकभविकः । तथा तदासन्नतरः पौण्डरीकेषु बद्धायुष्कः ततोऽप्यासन्नतमः ।

अभिमुखनामगोत्रः 'अनन्तर समयेषु यः पौण्डरीकेषु उत्पद्यते । एते अनन्त-रोक्ता त्रयोप्यादेशविशेषा द्रव्यपौण्डरीकेऽवगन्तव्या इति ।

[सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, श्रुत० २, अध्यायन १, पत्र २६७-६८]

वृहत्कल्पसूत्र के चूर्णिकार के कथनानुसार ये तीनों ही स्थविर आर्य-मंगू, स्थविर आर्य समुद्र और स्थविर आर्य सुहस्ती की पृथक्-पृथक् तीन मान्यताएं हैं। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कल्पभाष्य की हस्तलिखित प्रति की अधोलिखित गाथा और उसकी चूर्णः :-

गराहस्थेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणतो वा ।

धुवचल त्रिसेसतो वा, अंगाऽणंगेसु णाणत्तं ॥१४४॥

चूर्णः - किं च आएसा जहा अज्ज मंगू तिविहं संखं इच्छति - एगभवियं, बद्धाउयं, अभिमुहनामगोत्तं च । अज्ज समुद्दा दुविहं-बद्धाउयं अभिमुहनामगोत्तं च । अज्ज सुहत्थी एगं-अभिमुहनामगोयं इच्छति ।

[स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी, वृहत्कल्पसूत्र नी प्रस्तावना, पृष्ठ १३]

इस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के बहुत पश्चात् हुए आर्य मंगू, आर्य समुद्र और आर्य सुहस्ती की मान्यताओं का आकलन एवं उल्लेख जिस निर्युक्ति में हो, उसे किसी भी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृति नहीं माना जा सकता। निर्युक्तिकार भद्रबाहु और चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के एक होने न होने का विवादास्पद प्रश्न कल्पभाष्य के चूर्णिकार के समक्ष कभी रहा हो, इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः चूर्णिकार के इस कथन की निष्पक्ष अभिमत के रूप में गणना की जाकर प्रामाणिक और सत्य मानने में किसी प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

११. वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियां श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस पक्ष की पुष्टि करने वाला एक और प्रबल प्रमाण है स्वयं-इन निर्युक्तियों का वर्तमान आकार-प्रकार । आवश्यक निर्युक्ति में जिन-जिन सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचनाएं करने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है —

आयारस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्जमायारे ।

सूयगडे निज्जुत्ति, वोच्छामि तथा दसाणं च ॥६४॥

कप्पस्स य णिज्जुत्ति, ववहारस्सेस परमनिउरास्स ।

सूरियपण्णात्तीए, वुच्छं इसिभासियाणं च ॥६५॥

इन दश सूत्रों में से आचारांग और सूत्रकृतांग ये दोनों आगम आचार्य भद्रबाहु के समय में सर्वसम्मत मान्यतानुसार अति बृहदाकार एवं परिपूर्ण रूप में विद्यमान थे और प्रत्येक सूत्र पर चार-चार अनुयोग प्रवृत्त थे । ऐसी स्थिति में यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी द्वारा इन पर निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो वे उनके अनुरूप ही चार-चार अनुयोगों से युक्त अति विस्तीर्ण एवं अति विशाल आकार वाली होतीं । पर वस्तुस्थिति उससे नितान्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है । आज के इनके अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप को देखने से यही मानना उचित प्रतीत होता है कि माधुरी आदि विभिन्न वाचनाओं द्वारा अतिमरूपेण सुसंस्कृत एवं संकलित आगम जिस रूप में आज हमारे समक्ष हैं, उन्हीं को आधार मानकर इनके अनुरूप निर्युक्तियों की रचनाएं उपर्युक्त वाचनाओं के पश्चात् की गई हैं ।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आर्य रक्षित ने अपने विद्वान् शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की विस्मृति और भावी शिष्य-प्रशिष्यों की क्रमशः मन्द से मन्दतर बुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिस समय अनुयोगों को पृथक् किया उसी समय चार अनुयोगमय निर्युक्तियों को अनुयोग से पृथक् कर व्यवस्थित कर लिया गया था । पर इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति पर सम्यग्रूपेण विचार करने पर स्वतः ही इस कथन की अवास्तविकता और अनौचित्यता प्रकट हो जायगी । इस कथन की अवास्तविकता को प्रकट करने वाला प्रथम तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार आगमों की विविध वाचनाओं के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार का एक भी उल्लेख निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने के सम्बन्ध में नहीं मिलता ।

इसके अतिरिक्त दूसरा सबल तथ्य यह है कि आचारांग और सूत्रकृतांग का जो पूर्ण स्वरूप चतुर्दश पूर्व्वर आचार्य भद्रबाहु के समय में था, ठीक उसी प्रकार का इनका स्वरूप आर्य रक्षित के समय में भी था । ऐसी स्थिति में आर्य रक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक्करण के समय ही इन दो सूत्रों की निर्युक्तियों की इनके अनुयोगमय स्वरूप से पृथक् कर व्यवस्था की जाती तो इन दोनों सूत्रों की बृहदाकारता और विशालता के अनुरूप ही इन दोनों सूत्रों की निर्युक्तियों का आकार एवं विस्तार भी बृहत् तथा विशाल होना चाहिये था और इन सूत्रों के जो बहुत

से अंश तत्पश्चादवर्ती काल में विलुप्त हो गये उनमें से सबके सम्बन्ध में न सही पर कम से कम दो-चार अंशों के सम्बन्ध में तो थोड़े बहुत तथ्य इन निर्युक्तियों में हमें आज भी अवश्य देखने को मिलते । पर वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ही दृष्टिगोचर हो रही है ।

इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष एक पेचीदा पहेली के रूप में यह उपस्थित होता है कि भीषण दुष्कालों एवं अनवरत गति से चले आ रहे क्रमिक स्मृतिहास के परिणाम-स्वरूप श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में जो एकादशांगी का वृहत्स्वरूप विद्यमान था उसको तो श्रमण-पीढ़ियां यथावत् स्वरूप में सुरक्षित नहीं रख सकीं और उनके द्वारा (श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा) निमित्त निर्युक्तियों को आज तक सुरक्षित रख सकीं, क्या यह बात किसी निष्पक्ष विचारक के गले उतर सकती है ? कदापि नहीं ।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन में प्रमाण पुरस्सर जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है उससे भली-भांति निर्विवादरूप से यह सिद्ध होता है कि ये निर्युक्तियां अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं, किन्तु भद्रबाहु नाम के किसी अन्य आचार्य की हैं । यदि ये उनकी कृतियां होतीं तो वे न स्वयं को (चतुर्दश पूर्वधर प्राचीन गोत्रीय आ० भद्रबाहु को) ही नमस्कार करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र के लिये “भगवं पि शूलभद्रो” - जैसे अपने पूज्य के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों का प्रयोग कर उनका गुणगान ही करते । इसके अतिरिक्त इन निर्युक्तियों में श्रुतकेवली भद्रबाहु से ४२० वर्ष पश्चात् हुए अनुयोगों के पृथक्करण का, वीर नि० संवत् ६०६ तक की मुख्य घटनाओं का एवं पश्चादवर्ती आचार्यों का उल्लेख है, तथा आर्य वज्रस्वामी को निर्युक्तिकार द्वारा नमस्कार किया गया है । अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियां श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु द्वारा नहीं अपितु उनके पश्चादवर्ती भद्रबाहु नामक अन्य किसी आचार्य द्वारा निमित्त की गई हैं ।

### निर्युक्तिकार कौन

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं हैं, यह सिद्ध कर दिये जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर ये निर्युक्तियां किसकी कृतियां हैं ? प्रश्न वस्तुतः बड़ा जटिल है । इसको सुलभाने का प्रयास करने से पहले हमें यह देखना होगा कि भद्रबाहु नाम के कितने आचार्य हुए हैं और वे किस-किस समय में हुए हैं ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों एवं शिलालेखों को देखने से ज्ञात होता है कि भद्रबाहु कई हुए हैं । दिगम्बर परम्परा में तो विभिन्न समय में भद्रबाहु नाम के ६ आचार्य हुए हैं, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भद्रबाहु नाम के दो आचार्यों के होने का ही उल्लेख उपलब्ध होता है । एक तो

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु और दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु । नैमित्तिक भद्रबाहु के सम्बन्ध में निम्नलिखित जनप्रिय गाथा प्रसिद्ध है :—

पावयणी १ धम्मकही २ वाई ३, नेमित्तियो ४ तवस्सी ५ य ।  
विज्जा ६ सिद्धो ७ य कई ८ अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१॥  
अज्जरक्ख १ नन्दिसेणो २ सिरिगुत्त विणेय ३ भद्दबाहु ४ य ।  
खवग-५ ज्जखवुड ६ समिया ७ दिवायरो ८ वा इहाहरणा ॥२॥

आठ प्रभावकों में नैमित्तिक भद्रबाहु को चौथा प्रभावक माना गया है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है—श्वेताम्बर परम्परा में काफी प्राचीन समय से यह मान्यता सर्वसम्मतरूपेण प्रसिद्ध है कि दशाश्रुतस्कन्ध कल्पसूत्र व्यवहार-सूत्र और निशीथ सूत्र—ये चार छेदसूत्र आवश्यक निर्युक्ति आदि १० निर्युक्तियों 'उवसग्गहरस्तोत्र' और 'भद्रबाहु संहिता' ये १६ ग्रन्थ भद्रबाहु स्वामी की कृतियाँ हैं । इन १६ कृतियों में से ४ छेदसूत्र श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा निर्मित हैं, यह प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया जा चुका है । ऐसी स्थिति में अनुमानतः शेष १२ कृतियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु की हो सकती हैं क्योंकि इन दो भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य तीसरे भद्रबाहु के होने का श्वेताम्बर वाङ्मय में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता । इस अनुमान को पुष्ट करने वाला प्रमाण भी उपलब्ध है । वह यह है कि चौदहवीं शताब्दी की नोंध-पुस्तिका में उपसर्गहरस्तोत्रकार एवं ज्योतिविद् भद्रबाहु की कथा उद्धृत है । इसके साथ ही साथ जैसा कि भद्रबाहु के परिचय में पहले बताया जा चुका है—श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भद्रबाहु और वराहमिहिर को सहोदर मानकर उनका विस्तृत परिचय संयुक्त रूप से दिया गया है । ऐसी दशा में वराहमिहिर का समय निश्चित हो जाने पर भद्रबाहु का समय भी स्वतः ही निश्चित हो जाता है ।

वराहमिहिर ने अपने "पंचसिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ के अन्त में निम्न-लिखित श्लोक से ग्रन्थ रचना का समय शक सं० ४२७ दिया है :—

सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्र शुक्लादौ ।  
अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्य-दिवसाद्ये ॥

इस श्लोक के आधार पर वराहमिहिर के साथ-साथ नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु का समय भी शक सं० ४२७, तदनुसार वि० सं० ५६२ और वीर निर्वाण संवत् १०३२ के आसपास का निश्चित हो जाता है । यह पहले ही बताया जा चुका है कि बारह वर्ष तक श्रमणपर्याय की पालना के पश्चात् वराहमिहिर अपने बड़े भाई भद्रबाहु से विद्वेष रखने लगा । दोनों भाइयों की इस प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप वराहमिहिर ने वाराहसंहिता की और भद्रबाहु ने भद्रबाहु संहिता की रचना की इस प्रकार की श्वेताम्बर परम्परा की आम मान्यता अधिक तर्कसंगत और युक्तिसंगत प्रतीत होती है ।

\* वर्तमान में उपलब्ध भद्रबाहुसंहिता को विद्वानों ने भद्रबाहु की कृति नहीं माना है । वस्तुतः भद्रबाहुसंहिता अभी प्रकाशित नहीं हुई है ।

इन सब बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर निर्वाण सं० १५६ से १७० तक आचार्यपद पर रहने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु और वीर नि० सं० १०३२ के आसपास होने वाले महान् प्रभावक नैमित्तिक भद्रबाहु की जीवनियों को कालान्तर में एक दूसरे के साथ जोड़ कर प्रथम भद्रबाहु को ही स्मृतिपटल पर अंकित रखा गया और द्वितीय भद्रबाहु को एक दम भुला दिया गया। दो आचार्यों के जीवन-परिचय के इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप इस भ्रान्त धारणा ने जन्म लिया कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार, उपसर्गहरस्तोत्रकार और भद्रबाहुसंहिताकार थे। इस प्रकार के भ्रम का निराकरण हो जाने के पश्चात् स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रकार थे और नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय, निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता के रचयिता थे।

निर्युक्तियों के रचनाकार वस्तुतः ज्योतिष विद्या के प्रेमी और नैमित्तिक थे इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण निर्युक्तियों में उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ प्रमाण यहाँ दिये जा रहे हैं :-

१. आवश्यक निर्युक्ति में गन्धर्व नागदत्त का कथानक दिया हुआ है। उसमें १२५२ से १२७० तक की गाथाओं के मननपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार अष्टांगनिमित्त और मंत्रविद्या के एक चोटी के विद्वान् थे। गन्धर्व नागदत्त के उक्त कथानक में निर्युक्तिकार का नैमित्तिक ज्ञान सहजरूप से स्वतः ही परिस्फुटित हो गया है और उन्होंने नाग के विष को उतारने के व्याज से काम, क्रोध, मद, मोह आदि नागों से डसे हुए प्राणियों के विष को उतारने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। 'उपसर्गहर स्तोत्र' में प्रयुक्त 'विसहर फुलिगमंत', इस पद का आवश्यक निर्युक्ति में वर्णित विपनिवारक प्रक्रिया से तालमेल भी यह मानने के लिये बाध्य करता है कि ये दोनों कृतियाँ एक ही महापुरुष की हैं।

आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १२७० में सामान्यतया मन्त्रतन्त्रादि क्रियाओं में सर्वत्र प्रयुक्त किये जाने वाले रूढ़ शब्द "स्वाहा" का प्रयोग भी इस बात का

१ गन्धर्व नागदत्तो, इच्छद् सप्येहि सित्सिउं इहयं ।  
तं जइ कहं चि खज्जइ, इत्थं हु दोसो न कायव्वो ॥१२५२॥  
एए ते पावाही, चत्तारि वि कोहमाणमयसोभा ।  
जेहि सया संसत्तं, जरियमिष जयं कलकलेइ ॥१२६२॥  
एएहि अह खइयो, चउहि वि आसीन्दिसेहि पावेहि ।  
विसनिग्घायए हेउं, चरामि विविहं तवोकम्म ॥१२६४॥  
सिद्धे नमसिऊणं, संसारत्था य जे महाविज्जा ।  
बोच्छामि दण्डकिरियं, सब्बविसनिवारणं विज्जं ॥१२६६॥  
सब्बं पाणाइवाय, पच्चक्खाई मि अलियवयणं च ।  
सब्बमदत्तादाणं, अन्नं परिग्गहं स्वाहा ॥१२७०॥

प्रमाण है कि निर्युक्तिकार अष्टांग निमित्त तथा मंत्र-विद्या के पारंगत विद्वान् थे । आध्यात्मिक साधना पर इस प्रकार की मंत्र-विद्या की छाप वस्तुतः निर्युक्तिकार के अतिशय निमित्त प्रेम का ही द्योतक है ।

ज्योतिष विद्या के मान्य शास्त्र “सूर्य प्रज्ञप्ति” पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की । यह भी इस तथ्य को प्रकट करता है कि वे एक महान् नैमित्तिक थे और ज्योतिष शास्त्र के प्रति उनके अगाध प्रेम एवं अगाध ज्ञान ने ही उन्हें इस ज्योतिष शास्त्र के भण्डार “सूर्यप्रज्ञप्ति” शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करने को प्रेरित किया ।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु एक महान् नैमित्तिक थे, इस बात का एक और प्रबल प्रमाण यह है कि आचारांग जैसे चरणकरणानुयोग के तात्विक शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करते समय भी निमित्त शास्त्र के प्रति उनका अगाध प्रेम-पयोधि उद्वेलित हो उठा है और वे तात्विक निर्देश के समय भी निम्नलिखित गायथा में निमित्त का वर्णन कर देते हैं :—

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसामु य णिमित्तं ।

जत्तो मुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अबरा ॥५१॥

अर्थात् जो व्याख्याता जिस जगह पर जिस ओर मुंह किये हुए किसी को निमित्त का निरूपण करता है, उस स्थिति में जिस ओर उसका मुंह है वह पूर्व दिशा और जिस ओर उसकी पीठ है वह पश्चिम दिशा समझनी चाहिये ।

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की मंगलगाथा “वंदामि भद्रबाहुं, पाईणं चरिमस-गलसुयनाणि” में प्रयुक्त ‘पाईणं’ प्राचीन-शब्द हमें यह सोचने के लिये अवसर प्रदान करता है कि भद्रबाहु नामक निमित्तशास्त्र के विद्वान् महापुरुष ने निर्युक्ति की रचना करते समय दशाश्रुतस्कन्धकार चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु को अपने से प्राचीन मानकर वन्दन किया है । हो सकता है कि प्राचीनता के बोधक इस “पाईणं” शब्द का आगे चल कर प्राचीन गोत्रीय-ऐसा अर्थ कर लिया गया हो । इस प्रकार का विचार करने के लिये इस कारण अवसर मिलता है कि प्राचीन ग्रन्थ तिरथोगालिय पइन्ना में श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाम के साथ “पाईणं” विशेषण किसी भी स्थान पर नहीं लगाया गया है ।

इस अनुमान से भी वीर नि० संवत् १०३२ के आसपास होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियों के रचनाकार हैं, इस प्रकार के विश्वास को बल मिलता है ।

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण सं० १०३२ के लगभग होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु, जो कि वराहमिहिर के भाई थे, उन्होंने ही आवश्यक आदि दश निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु-संहिता की रचनाएं कीं । यह संभव है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि के पञ्चादवर्ती किसी काल में नाम साम्य के कारण चतुर्दश पूर्वधर, प्राचीन अथवा प्राचीन



गोत्रीय भद्रबाहु को तथा वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष मानने की भ्रान्त धारणा प्रचलित हो गई हो।

वस्तुतः 'तित्थोगालिय पइत्ता', 'आवश्यकचूर्णि', आवश्यक हारिभद्रीया टीका और परिशिष्टपर्व आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो थोड़ा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, उनमें द्वादश-वार्षिक दुष्काल, भद्रबाहु द्वारा छेदसूत्रों की रचना, उनके नेपालगमन, महाप्राण-ध्यान को साधना और आर्य स्थूलभद्र को पूर्वों की वाचना देना आदि घटनाओं का विवरण दिया गया है। इन ग्रन्थों में इनके वराहमिहिर का सहोदर होने, निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र तथा भद्रबाहु संहिता की रचना करने का कहीं किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं किया गया है।

### एक महत्वपूर्ण तथ्य

उपरोक्त उल्लेखों से यह जो प्रमाणित किया गया है कि वर्तमान में उपलब्ध आवश्यकनिर्युक्ति आदि निर्युक्तियों के रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु हैं, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि निर्युक्तियों के सर्वप्रथम कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही हैं। समवायांगसूत्र, स्थानांग सूत्र और नन्दीसूत्र में जहां द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, वहाँ प्रायः प्रत्येक सूत्र के सम्बन्ध में "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" इस प्रकार का उल्लेख है। मूल आगमों में इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगमकाल से ही प्रचलित रही है। "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" - आगम के इस पाठ पर ध्यानपूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रत्येक आचार्य, प्रत्येक उपाध्याय अपने शिष्यों को आगमों की वाचना देते समय अपने शिष्यों के हृत्पटल पर आगमों के अर्थ को सदा के लिये अंकित कर देने के अभिप्राय से अपने-अपने समय में अपने-अपने ढंग से निर्युक्तियों की रचना करते रहे हों। वस्तुतः आज की शिक्षा प्रणाली में व्याख्याता प्राध्यापकों द्वारा अपने छात्रों को "नोट्स" लिखाने की परम्परा प्रचलित है, उसी प्रकार आज की इस परम्परा से और अधिक परिष्कृत रूप में शिक्षार्थी श्रमणों के हित को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों द्वारा निर्युक्तियों की रचनाएं परम्परा से की जाती रहीं हैं।

निशीथ चूर्णि, कल्पचूर्णि आदि में आर्य गोविन्द की निर्युक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। ये आर्य गोविन्द युगप्रधान पट्टावली के अनुसार २८ वें युग-प्रधान थे। इनका समय विक्रम की पांचवीं शताब्दी के अंतिम चरण से छठी शताब्दी के प्रथम चरण के बीच का बैठता है। अतः ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु से पूर्व के हैं।

प्रत्येक सूत्र के साथ "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" यह पाठ देख कर यह भी संभव प्रतीत होता है कि समय-समय पर प्रायः सभी आचार्यों द्वारा निर्युक्तियों की रचनाएं की गईं। उन निर्युक्तियों की अनेक उत्तम एवं लोकप्रिय गाथाएं भद्रबाहु

(प्रथम) के काल से प्रचलित रही हों और उनमें से कतिपय गाथाओं का संकलन कर उन्हें निर्युक्तिकार नैमित्तिक भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियों में स्थान दिया हो।

### तत्कालीन उत्कट चारित्रनिष्ठा

अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय के आत्मार्थी श्रमणवर्ग के मानस में किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की चारित्रनिष्ठा थी, इसकी कल्पना भद्रबाहु के चार शिष्यों के निम्नलिखित उदाहरण से की जा सकती है :-

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रों में अनेक भव्य - प्राणियों का उद्धार करते हुए एक समय राजगृह नगर पधारे। अनन्तकाल से मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए प्राणियों को जगाकर उनके अन्तर में आत्मोद्धार की उत्कट अभिलाषा जागृत कर देने वाले भद्रबाहु के उपदेश को सुनकर अनेक व्यक्ति अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हुए। बाल्यकाल से ही साथ-साथ रहने वाले चार सम्पन्न श्रेष्ठी भद्रबाहु के उपदेश से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन चारों ने अपनी अपार धनसम्पत्ति का तत्काल परित्याग कर भद्रबाहु के पास श्रमण - दीक्षा ग्रहण कर ली। उन चारों ने कठोर तपश्चरण के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन किया। वे चारों ही श्रमण बड़े शान्त, दान्त, निरीह, वैराग्य रंग में पूर्णरूपेण रंजित, मित, मधुर एवं सत्यभाषी, विनीत और सेवाभावी थे।

आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर वे चारों श्रमण एकलविहारी प्रतिमा-धारी बन गये। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए कालान्तर में वे चारों एकल-विहारी श्रमण पुनः राजगृह नगर के वैभार पर्वत पर आये। उस समय शीतकाल की प्रति शीत लहरों के कारण राजगृह में अंग - प्रत्यंग को ठिठुरा देने वाली ठंड पड़ रही थी। दिन के तीसरे प्रहर में वे चारों एकलविहारी श्रमण राजगृह नगर में भिक्षार्थ आये। भिक्षा ग्रहण कर उनके लौटते-लौटते चतुर्थ प्रहर आ उपस्थित हुआ। एक साधु पर्वत की गुफा के द्वार पर, दूसरा उद्यान में, तीसरा उद्यान के बाहर और चौथा नगर के बहिर्भाग में ही पहुंच पाया था कि चतुर्थ प्रहर का समय हो गया। "साधु तृतीय प्रहर में ही भिक्षाटन एवं गमनागमनादि करे" - इस श्रमण - नियम के सच्चे परिपालक वे चारों साधु जहां थे वहीं ध्यानमग्न हो गये। रात्रि की निस्तब्धता के साथ-साथ प्राणहारी शीत की भीषणता भी बढ़ती गई। भीषण शीत लहर के कारण उन चारों मुनियों के अंग-प्रत्यंग पूर्णरूपेण ठिठुर गये। उनकी घमनियों में खून ठंड के मारे बरफ की तरह जमने लगा। किन्तु इस प्रकार की असह्य मारणान्तिक वेदना से भी वे चारों मुनि किंचित्मात्र भी विचलित हुए। वे अत्यंत उज्वल परिणामों के साथ शुभध्यान में मग्न रहे।

पर्वत के ऊपर गुफा के पास अत्यधिक ठंड थी अतः गुफा के द्वार पर ध्यानस्थ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में ही काल कर स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए। उद्यान में पर्वत की अपेक्षा कम ठंड थी अतः उद्यान में ध्यानस्थ मुनि रात्रि के द्वितीय प्रहर में, उद्यान के बाहर ध्यान मग्न मुनि रात्रि के तृतीय प्रहर में और

नगर के बहिर्भाग में ध्यानरथ मुनि रात्रि के चतुर्थ प्रहर में शरीर त्याग कर देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

साधना-पथ के पथिक श्रमणों के हृदय में उस समय श्रमणाचार के प्रति कितनी प्रगाढ़ निष्ठा और शरीर के प्रति कितनी निर्ममत्व भावना थी, इसका अनुमान भद्रबाहु के इन चार शिष्यों की अंतिम चर्या से सहज ही लगाया जा सकता है ।

### भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओं का निष्कर्ष

तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति और आ० हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व — इन श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि वे अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय में द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे, वहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक योगारूढ़ रहकर महाप्राण ध्यान की साधना की, उनके समय में पर उनकी अनुपस्थिति में आगमों की वाचना वीर नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर में हुई, उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वा का सार्थ और शेष पूर्वा का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने ४ छेदसूत्रों की रचना की और जिन-शासन का महान् उद्योत कर वे वी० नि० सं० १७० में स्वर्ग पधारे ।

उपरोक्त चार ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती काल में बने श्वेताम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ वीर नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को जोड़कर जो उन्हें बराहमिहिर का सहोदर बताया गया है, उस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कर दिया गया है । उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं ।

ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो परिचय तित्थोगाली पइन्ना आदि उपरोक्त चार ग्रन्थों में दिया गया है वही वास्तव में प्रामाणिक है । अन्य ग्रन्थों में उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त जिन घटनाओं को श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन के साथ जोड़ा गया है उन्हें वी० नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित समझना चाहिए ।

### श्रुतकेवलिकाल की राजनैतिक एवं अन्य प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएं

प्रमुख राजवंश :- यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६० में शिशुनागवंशी राजा उदायी के पश्चात् नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ । नन्दिवर्धन से लेकर अन्तिम नन्द धननन्द तक पाटलिपुत्र के राजाओं को जैन एवं जैनेतर साहित्य में नव नन्दों के नाम से अभिहित किया गया है ।

श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ उस समय प्रथम नन्द को पाटलिपुत्र के शासन की बागडोर सम्भाले ४ वर्ष बीत चुके थे। उन ६ नन्दों में से किस-किस का कितने-कितने वर्षों तक शासन रहा, इस सम्बन्ध में “दुष्पमा श्रमणसंघ स्तोत्र” की अवचूरि में<sup>१</sup> निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है :-

शासक	शासनकाल	शासनकाल में आचार्य एवं आ० काल
१. नन्द प्रथम	११ वर्ष	आर्य जम्बू ४ वर्ष, प्रभव ७ वर्ष
२. नन्द द्वितीय	१० वर्ष	प्रभव ४ वर्ष, सय्यंभव ६ वर्ष
३. नन्द तृतीय	१३ वर्ष	सय्यंभव १३ वर्ष
४. नन्द चतुर्थ	२५ वर्ष	सय्यंभव ४ वर्ष, यशोभद्र २१ वर्ष
५. नन्द पंचम	२५ वर्ष	यशोभद्र २५ वर्ष
६. नन्द षष्ठ	६ वर्ष	यशोभद्र ४ वर्ष संभूतविजय २ वर्ष
७. नन्द सप्तम	६ वर्ष	संभूतविजय ६ वर्ष
८. नन्द अष्टम	४ वर्ष	भद्रबाहु ४ वर्ष
९. नवम नन्द धननन्द	५५ वर्ष	भद्रबाहु १० वर्ष स्थूलभद्र ४५ वर्ष

दुष्पमा श्रमणसंघ स्तोत्र में उल्लिखित उपरिर्वाणित विवरण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्रुतकेवलिकाल के प्रारम्भ होने से ४ वर्ष पूर्व प्रथम नन्द नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ और श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के समय वीर निर्वाण संवत् १७० में अन्तिम एवं नवम नन्द धननन्द के शासनकाल के १० वर्ष व्यतीत हो चुके थे तथा श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के ४५ वर्ष पश्चात् १५५ वर्ष के नन्दों के शासनकाल की समाप्ति के साथ पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आसीन हुआ।

उपरोक्त ६ नन्दों में से केवल प्रथम, अष्टम और नवम नन्द के अतिरिक्त अन्य ६ राजाओं के नाम उपलब्ध नहीं होते। इन ६ नन्द राजाओं के कुल मिला कर १५५ वर्ष के राज्यकाल में किस-किस नन्द का कितने-कितने वर्ष तक राज्य रहा, इस सम्बन्ध में भी दुष्पमाश्रमणसंघस्तोत्र-अवचूरि को छोड़ कर अन्यत्र प्राचीन ग्रन्थों में कोई विश्वसनीय और सुव्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। दुष्पमाश्रमणसंघ स्तोत्र में नव नन्दों का राज्यकाल दिया गया है, उसे तब तक अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता जब तक कि इससे भिन्न कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं हो जाता।

प्राचीन ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ६४ से १७० तक के १०६ वर्ष के श्रुतकेवलिकाल में एक प्रकार

<sup>१</sup> पुगो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६, ६, ४, ५५ नवनन्द एवं वर्ष १५५ रज्जे - जंबू जेषवर्षाणि ४, प्रभव ११, सय्यंभव २३ यशोभद्र ५०, संभूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५, एवं वीरनिर्वाणात् २१५।

[दुष्पमाकाल श्री श्रमणसंघस्तोत्र, अवचूरि, पट्टावली - समुच्चय पृ० १७]

से प्रायः नन्द राजाओं का ही-प्रभुत्व रहा। प्रथम नन्द नन्दिवर्धन ने अनेक राज्यों को विजित कर मगधराज्य की सीमाओं और शक्ति में अभिवृद्धि की। नन्दिवर्धन के राज्यकाल से ही अवंती, कौशांबी और कलिंग के राजा मगध राज्य के आज्ञावर्ती शासक बन चुके थे।

### उपकेशगच्छ

उपकेशगच्छ पट्टावली आदि के अनुसार वी० नि० सं० ७० में आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा उपकेश नगर (ओसियां) में चातुर्मास किये जाने और वहां के क्षत्रियों को ओसवाल बनाने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि पार्श्व-परम्परा के आचार्य स्वयंप्रभसूरि के पास विद्याधर राजा 'मणिरत्न' भिन्नमाल में वन्दन करने आया और उनका उपदेश सुन कर अपने पुत्र को राज्य सम्हला आचार्यश्री के पास दीक्षित हो गया। उस समय विद्याधरराज मणिरत्न के साथ अन्य ५०० विद्याधर भी दीक्षित हो गये। दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्वयंप्रभ ने उनका नाम 'रत्नप्रभ' रखा।

वीर नि० सं० ५२ में मुनि रत्नप्रभ को आचार्य पद प्रदान किया गया। आचार्य रत्नप्रभ अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक समय उपकेशनगर में पधारे।

उपकेश नगर के सम्बन्ध में उपकेशगच्छ पट्टावली में उल्लेख है कि भिन्नमाल के राजा भीमसेन के पुत्र पुंज का राजकुमार उत्पलकुमार किसी कारण-वश अपने पिता से रुष्ट हो कर क्षत्रिय मंत्री के पुत्र ऊहड़ के साथ 'भिन्नमाल' से निकल पड़ा। राजकुमार और मन्त्रिपुत्र ने एक नवीन नगर बसाने का विचार किया और अन्ततोगत्वा १२ योजन लम्बे-चौड़े क्षेत्र में उपकेशनगर बसाया। नये बसाये गये उपकेश नगर में भिन्नमाल के १८०० व्यापारी, ६०० ब्राह्मण तथा अनेक अन्य लोग भी आकर बस गये।

आचार्य रत्नप्रभसूरि जिस समय अपने शिष्यसमूह के साथ उपकेशनगर में पधारे उस समय सारे नगर में एक भी जैन धर्मावलम्बी गृहस्थ के न होने के कारण उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। भिक्षा न मिलने के कारण उन्हें और उनके शिष्यों को उपवास पर उपवास करने पड़े फिर भी उन्होंने ३५ साधुओं के साथ उपकेश नगर में चातुर्मास करने का निश्चय किया और अपने शेष सब शिष्यों को कोरंटा आदि अन्य नगरों और ग्रामों में चातुर्मास करने के लिये उपकेशनगर से विहार करवा दिया।

उपकेशनगर में चातुर्मास करने के पश्चात् रत्नप्रभसूरि आहार-पानों की अनुपलब्धि आदि अनेक घोर परीषहों को समभाव से सहते हुए आत्मसाधना में तल्लीन रहने लगे। इस प्रकार चातुर्मास का कुछ समय निकलने के पश्चात् एक दिन उपकेश नगर के राजा उत्पल के दामाद त्रैलोक्यसिंह को, जो मंत्री ऊहड़ का पुत्र था एक भयंकर विषधर ने डस लिया। उपचार के रूप में किये गये सभी

प्रयत्न निष्फल रहे और कुमार को मृत समझ कर दाहसंस्कार के लिये स्मशान की ओर ले चले। वहाँ आचार्य रत्नप्रभसूरि का चरणोदक सींचने पर कुमार का जहर उतर गया और उसने नवीन जीवन प्राप्त किया। शोक में डूबा हुआ राज-परिवार और समस्त उपकेश नगर पुनः आनन्दित हो उठा।

इस अद्भुत घटना से प्रभावित हो कर राजा, मन्त्री, उनके परिजनों और पौरजनों आदि ने बहुत बड़ी, संख्या में जैनधर्म स्वीकार किया और उन सब के ओसियां निवासी होने के कारण उन नये जैन बने लोगों की “ओसवाल” नाम से प्रसिद्धि हुई।

यह भी कहा जाता है कि राज्य की अधिष्ठायिका चामुण्डा देवी को भी — जिसे कि — बलि दी जाती थी, आचार्य रत्नप्रभ ने उपदेश देकर सम्यक्त्वधारिणी बनाया और “सच्चिका” नाम देकर उसे ओसवालों की कुलदेवी के रूप में प्रतिष्ठापित किया। देवी ने केवल पशुओं की बलि लेना ही नहीं छोड़ा अपितु लाल रंग के फूल भी वह पसंद नहीं करती थी।

उपकेशगच्छ पट्टावली में आचार्य रत्नप्रभ के इस प्रकार के अन्य अनेक चमत्कारों की घटनाओं का उल्लेख किया गया है। कहा जाता है कि आपने १,८०,००० अजैनों को जैन धर्मावलम्बी बनाया और वीर नि० सं० ८४ में स्वर्ग प्राप्त किया।

रत्नप्रभसूरि के पश्चात् यक्षदेवसूरि आदि के क्रम से उपकेशगच्छ की आचार्य परम्परा अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से चलती हुई बताई गई है। द्विवन्दनिक गच्छ और तपारत्न शाखा इन्हीं आचार्य यक्षदेव के शिष्य उदयवर्द्धन से निकली कही जाती है।<sup>१</sup>

### आचार्य भद्रबाहु का शिष्यपरिवार

आचार्य भद्रबाहु के निम्नलिखित ४ प्रमुख शिष्य थे :-

- |                       |                     |
|-----------------------|---------------------|
| १. स्थविर गोदास       | २. स्थविर अग्निदत्त |
| ३. स्थविर यज्ञदत्त और | ४. स्थविर सोमदत्त   |

ये चारों शिष्य काश्यपगोत्रीय थे। स्थविर गोदास से गोदास-गण प्रचलित हुआ, जिसकी निम्नलिखित चार शाखाएं थीं :-

- |                                   |                  |
|-----------------------------------|------------------|
| १. तामलित्तिया,                   | २. कोडीवरिसिया   |
| ३. पंडुवद्धणिया (पोंडवद्धणिया) और | ४. दासी खब्बडिया |

<sup>१</sup> विशेष जानकारी के लिये देखें भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास।

## दशपूर्वधर-काल

(वीर नि. सं. १७० से ५८४)

दशपूर्वधर-काल के आचार्य :

८. आचार्य स्थूलभद्र

आचार्यकाल — वी. नि. सं. १७० से २१५

९. आचार्य आर्य महांगिरि

आचार्यकाल — वी. नि. सं. २१५ से २४५

१०. आचार्य आर्य सुहस्ती

आचार्यकाल — वी. नि. सं. २४५ से २६१

११. आचार्य गुण सुन्दर

आचार्यकाल — वी. नि. सं. २६१ से ३३५

१२. आचार्य श्याम (कालकाचार्य प्रथम)

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ३३५ से ३७६

१३. आचार्य सांडिल्य

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ३७६ से ४१४

१४. आचार्य रेवतीमित्र

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ४१४ से ४५०

१५. आचार्य धर्म

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ४५० से ४६४

१६. आचार्य भद्रगुप्त

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ४६४ से ५३३

१७. आचार्य श्री गुप्त

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ५३३ से ५४८

१८. आचार्य आर्य वज्र

आचार्यकाल — वी. नि. सं. ५४८ से ५८४





## दशपूर्वधर-काल

अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के साथ ही वीर नि० सं० १७० में श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति और दशपूर्वधरों के काल का प्रारम्भ होता है। श्वेताम्बर परम्परा वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक कुल मिला कर ४१४ वर्ष का और दिगम्बर परम्परा वी० नि० सं० १६२ से ३४५ तक कुल १८३ वर्ष का दशपूर्वधरकाल मानती है।

### ८. आर्य स्थूलभद्र

अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर आचार्य आर्य स्थूलभद्र हुए। कामविजयी आर्य स्थूलभद्र की गणना उन विरले नरपुंगवों में सर्वप्रथम की जा सकती है जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से किया है :-

मत्तेभकुंभदलने भुवि सन्ति शूराः,  
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।  
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,  
कन्दर्पदण्डदलने विरला मनुष्याः॥

आर्य स्थूलभद्र द्वारा काम पर प्राप्त की गई अद्भुत विजय से उत्प्रेरित हो अनेक कवियों ने इनके जीवनचरित्र पर अनेक भाषाओं में अनेक काव्य लिखे हैं। शृंगार और वैराग्य दोनों ही की पराकाष्ठा का अपूर्व एवं अद्भुत समन्वय आर्य स्थूलभद्र के जीवन में पाया जाता है। कज्जल से भरी कोटरी में रह कर भी कोई व्यक्ति अपने शरीर पर किञ्चित् मात्र भी कालिख न लगने दे, यह असंभव है। परन्तु आर्य स्थूलभद्र ने निरन्तर चार मास तक अपने समय की सर्वाधिक सुन्दरी कामिनी कोशा वेश्या के गृह में रहते हुए भी पूर्ण निष्काम रह कर इस असंभव को संभव कर बताया।

### जन्म, माता-पिता

आचार्य स्थूलभद्र का जन्म वीर निर्वाण सं० ११६ में एक ऐसे संस्कार-सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ जो जैन धर्म पर दृढ़ आस्था रखने वाला और राजमान्य था। मगधसम्राट् उदायी की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का पूर्व पुरुष कल्पक प्रथम नन्द द्वारा मगध साम्राज्य का महामात्य नियुक्त किया गया। तब ही से अर्थात् प्रथम नन्द के समय से नवम नन्द के समय तक निरन्तर इसी ब्राह्मण परिवार का मुखिया मगध के महामात्य पद को सुशोभित करता रहा। नवम नन्द के महामात्य का नाम शकटार अथवा शकडाल था।

ग्रार्य स्थूलभद्र इन्हीं गौतम गोत्रीय ब्राह्मण शकडाल के पुत्र थे । स्थूलभद्र की माना का नाम लक्ष्मीदेवी था ।

मन्त्रीश्वर शकडाल अपने समय के सर्वोच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, शिक्षा विशारद और कुशल प्रशासक थे । शकटार के महामात्य काल में मगधराज्य की उल्लेखनीय सीमावृद्धि के साथ-साथ राजस्व खाने में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई । अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि नवम नन्द के कोश में इतनी वृद्धि हुई कि स्वर्ण की ६ पहाड़ियां बना कर उसे अपने धन की रक्षा करने की स्थिति उत्पन्न हो गई ।

शकटार के महामान्त्रत्वकाल में शिक्षा के क्षेत्र में अम्युन्नति हेतु अपार धनराशि व्यय की जाती रही । उन दिनों नालन्दा विश्वविद्यालय चरम उत्कर्ष पर पहुंच चुका था और उसकी ख्याति समुद्र के पारवर्ती देशों तक फैल गई थी ।

इस प्रकार के विख्यात महामात्य के घर में स्थूलभद्र का जन्म हुआ । स्थूलभद्र के छोटे सहोदर का नाम श्रीयक था । यक्षा, यक्षदित्रा, भूता, भूतदित्रा, सैणा, मँणा तथा रँणा नाम की स्थूलभद्र और श्रीयक की सात बहिनें थीं । मन्त्रीश्वर शकटार ने अपने दोनों पुत्रों और सातों पुत्रियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया और उन सबको सभी प्रकार की विद्याओं की उच्च कोटि की शिक्षा दिलवाई ।

### कोशा के यहां

सकल विद्याओं में निष्णात होने के उपरान्त भी युवक स्थूलभद्र भोगमार्ग से नितान्त अनभिज्ञ रहे अतः संसार से विरक्त स्थूलभद्र को व्यावहारिक शिक्षा दिलाने एवं गृहस्थ जीवन की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से मन्त्रीश्वर शकटार ने उन्हें कोशा नाम की एक बड़ी चतुर वेश्या के यहां रखा, जो अपनी वाक्पटुता, अवसरज्ञता एवं अवसरानुकूल नैसर्गिक अभिनयकला के लिये विख्यात थी । कुछ ही दिनों के संसर्ग से शिक्षिका कोशा और शिक्षार्थी स्थूलभद्र एक दूसरे के गुणों पर इतने अधिक मुग्ध हो गये कि क्षण भर के लिये भी एक दूसरे की दृष्टि से दूर रहना उन दोनों के लिये प्राणापहरण के समान असह्य हो गया । यह पारस्परिक आकर्षण अन्ततोगत्वा उस चरम सीमा तक पहुंच गया कि बारह वर्ष पर्यन्त उन दोनों ने एक दूसरे में अत्यन्त अनुरक्त रहत हुए अपनी दासियों के अतिरिक्त किसी अन्य का मुख तक नहीं देखा ।

संभवतः अपने इस कटु अनुभव से शिक्षा लेकर मन्त्रीश्वर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र की तरह कनिष्ठ पुत्र को शिक्षण प्राप्त कर लेने पर किसी वेश्या के यहां व्यावहारिक शिक्षा दिलाना आवश्यक नहीं समझा । अतः श्रीयक अपने पिता के साथ नवम नन्द के राज-दरबार में जाने और राज्यकार्य में अपने पिता की सहायता करने लगा ।

### वररुचि की प्रतिस्पर्धा

यथार्थतः राज्यतन्त्र का व्यवस्थित रूप से संचालन बड़ा कांटन कार्य है क्योंकि राज्यतन्त्र अथवा राजनीति स्वयं एक अस्थायी तत्व है। शकटार के जीवन का अन्तिम समय वस्तुतः राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही विषम और विकट था। चरमोत्कर्ष के पश्चात् नन्द का राज्य संभवतः प्रकृति के नियम के अनुसार अपने पतन की प्रतीक्षा में पतन के गहन गर्त की कगार की ओर अप्रसर होना चाहता था।

शकटार के बुद्धिकौशल द्वारा संचालित नन्द का राज्यतन्त्र स्वचालित यन्त्र की तरह गुनियोजित ढंग से स्वतः ही चलता हुआ प्रतीत हो रहा था। राज्य के छोटे से छोटे कार्य से लेकर बड़े से बड़े कार्य में सर्वत्र शकटार का वर्चस्व था। प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रबल प्रताप से उलूक के मन में ईर्ष्या का उत्पन्न होना नैसर्गिक है। शकटार के प्रबल प्रताप को देखकर वररुचि नामक विद्वान् के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और शनैः शनैः विद्वान् वररुचि मन्त्रीश्वर शकटार का प्रयत्न प्रतिस्पर्धी बन गया। अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के माध्यम से राजा और प्रजा के मन में अपने लिये स्थान बनाने की दृष्टि से वररुचि राजा की प्रशंसा में प्रतिदिन नवीनतम काव्य-रचना सुनाकर राजा से प्रतिष्ठा के साथ-साथ अर्थप्राप्ति का प्रयत्न करने लगा। महाराजा नन्द अपने महामात्य शकटार की मर्मज्ञता से पूर्णरूपेण प्रभावित था। शकटार के मुख से वररुचि की काव्यरचना की श्लाघा में एक भी शब्द न सुनकर नन्द ने न तो वररुचि के अभिनव एवं सुन्दर काव्यों की कभी सराहना ही की और न कभी प्रसन्न हो उसे उसकी काव्यरचना के उपलक्ष में अर्थ ही प्रदान किया। अधिक प्रयास से तैयार की गई सुन्दर से सुन्दरतम काव्य-रचना पर भी जब वररुचि को राजा की ओर से किसी प्रकार का परितोषिक प्राप्त नहीं हुआ तो वररुचि वस्तुस्थिति को समझ गया। बहुत सोच विचार के पश्चात् वररुचि ने साहित्य की मर्मज्ञा शकटार-पत्नी लक्ष्मीदेवी को अपनी काव्य-रचनाओं से प्रसन्न करने का प्रयास प्रारम्भ किया। वह प्रतिदिन विदुषी लक्ष्मी-देवी की सेवा में उपस्थित हो अपनी नवीनतम रचनाएं सुनाने लगा। अपने पदलालित्य से लक्ष्मीदेवी को प्रसन्न कर वररुचि ने उससे प्रार्थना की कि मन्त्रीश्वर शकटार को कह कर वह नन्द की राज्यसभा में उसकी काव्यकृतियों की प्रशंसा करवाये। वररुचि द्वारा की गई चाटुकारिता से प्रसन्न हो लक्ष्मीदेवी ने अपने पति से प्रार्थना की कि अर्थार्थी ब्राह्मण वररुचि को लाभ पहुँचाने के लिये वे उसके काव्यों की राज्यसभा में प्रशंसा करें। अपनी विदुषी गृहिणी के आग्रह से दूसरे दिन शकटार ने वररुचि के काव्य की राज्यसभा में प्रशंसा की। फलतः नन्द ने प्रसन्न हो वररुचि को उसके काव्यपाठ के उपलक्ष में १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान कीं।

वररुचि नित्यप्रति अपनी नवीन काव्य रचनाएं नन्द के दरबार में सुनाता और उसे तत्काल १०८ स्वर्णमुद्राएं मगधाधिप महाराज नन्द के कोश से मिल जातीं। यह क्रम निरन्तर अनेक दिनों तक चलता रहा।

राज्यकोश में प्रतिदिन इतनी बड़ी धनराशि के व्यय को रोकना आवश्यक ममर्ष महामन्त्री शकटार ने एक दिन नन्द से कहा - "राजन् ! प्रतिदिन १०८ स्वर्गमुद्राणं वररुचि को किस अभिप्राय से दी जा रही है ?"

अपने महामात्य के प्रति गहरो आस्था प्रकट करते हुए जिज्ञासा भरे स्वर में नन्द ने कहा - "महामन्त्रिन् ! हम तो अपने महामात्य के इंगित के अनुसार ही वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्गमुद्राणं प्रदान कर रहे हैं। हम यदि स्वेच्छा से ही दते तो अपने प्रधानमन्त्री के मुख से काव्य की प्रशंसा सुनने से पहले ही दे देते।"

शकटार ने गम्भीर स्वर में कहा - "एकराट् मगधेश्वर का महामात्य किसी अन्य काव्य द्वारा कृत-काव्य का पाठ वररुचि के मुख से सुनकर कैसे प्रशंसा कर सकता है ? वस्तुतः मैंने उस दिन किसी अज्ञात कवि द्वारा निर्मित पदों के लालित्य की प्रशंसा की थी न कि वररुचि को। वह तो दूसरे कवियों की रचनाओं को हमार सनक्ष पढ़ता है। उसके द्वारा सुनाई गई काव्य रचना को यक्षा, यक्षद्विजा आदि आपको सातों बच्चियां सुना सकती हैं, कल प्रातःकाल ही इसको प्रत्यक्ष देख लिया जाय।"

महाराज नन्द को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल राज्यसभा में यदनिका के पोछे महामात्य शकटार की यक्षा आदि सातों पुत्रियों को ब्रंठा दिया गया। वररुचि ने महाराज नन्द की प्रशंसा में अपने नवीनतम १०८ श्लोक राज्यसभा में सुनाये।

### मन्त्री-पुत्रियों को स्मरण शक्ति

वररुचि और समस्त राज्यसभा को आश्चर्य में डालते हुए महामात्य की बड़ी पुत्री यक्षा ने वररुचि द्वारा पढ़े गये १०८ श्लोकों को यथावत् सुना दिया। तदनन्तर यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, एणा, वेणा और रेणा ने भी एक-एक के पश्चात् अनुक्रम से खड़े होकर उन श्लोकों को राज्यसभा के समक्ष सुना दिया। वस्तुतः वे कन्याएं क्रमशः एक पाठी (एक बार सुनने मात्र से बड़े से बड़े गद्य अथवा पद्य को कण्ठस्थ कर लेने वाली), द्विपाठी, त्रिपाठी, चतुष्पाठी, पंचपाठी, षड्पाठी एवम् सप्तपाठी थीं। समस्त राज्य परिषद स्तब्ध रह गई। सब के वक्र नेत्रों से वररुचि की ओर घृणा की वर्षा होने लगी। उसके पाण्डित्य की प्रतिष्ठा क्षण भर में ही धूल में मिल गई। काव्यों की चोरी के कलंक का टीका अपने मस्तक पर लगा देख वररुचि हतप्रभ एवं लज्जित हो राज्यसभा से उठकर चला गया।

महामात्य की एक ही चाल से अपनी बड़े परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिली देख कर वररुचि के हृदय में शकटार के प्रति प्रतिज्ञोष की ज्वाला भड़क उठी। उसने येन-केन प्रकारेण अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर

शकटार से बदला लेने का निश्चय किया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने एक उपाय खोज निकाला।

### रहस्यपूर्ण चमत्कार

कार्यसिद्धि हेतु समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् वररुचि ने अपने शिष्यों के माध्यम से पाटलिपुत्र के निवासियों में इस प्रकार का प्रचार करवाया कि अमुक तिथि को प्रातः सूर्योदय के समय वररुचि स्वनिर्मित काव्यपाठ से गंगा को प्रसन्न करेगा और गंगा स्वयं अपने हाथ से उसे १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करेगी। निश्चित तिथि को सूर्योदय से पूर्व ही अपार जनसमूह गंगा के तट पर उपस्थित हो गया। वररुचि गंगा में स्नान करने के पश्चात् उच्चस्वर में गंगा की स्तुति करने लगा। स्तुतिपाठ की समाप्ति के साथ ही प्राची में अरुण अंशुमालि उदित हुए। सहस्रों नरनारियों ने देखा कि सहसा गंगा के प्रवाह में से एक नारी का हाथ उठा और गंगा के जानुदघ्न जल में खड़े वररुचि के हाथ में एक थैली रख कर पुनः गंगा के वारिप्रवाह में विलीन हो गया। थैली खोल कर सबके समक्ष स्वर्णमुद्राएं गिनी गईं तो वे पूरी १०८ निकलीं। सहस्रों कंठों से उद्धोषित गंगामेया और वररुचि के जयघोषों से गगन गूँज उठा। विशुत्वेग से यह संवाद सर्वत्र फैल गया कि राजा ने वररुचि को स्वर्णमुद्राएं देना बन्द कर दिया तो क्या हुआ, उसे तो स्वयं गंगामाता प्रसन्न हो कर स्वर्णमुद्राएं देती है।

इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिये प्रतिदिन प्रातःकाल गंगानदी के तट पर लोगों का जमघट लगा रहता। प्रतिदिन सबके समक्ष एक हाथ गंगधारा से बाहर निकलता और वररुचि के हाथ में १०८ स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली रख कर पुनः जलप्रवाह में तिरोहित हो जाता। कुछ ही दिनों में वररुचि का यश दूर-दूर तक व्याप्त हो गया।

एक दिन राजा नन्द ने शकटार से कहा — “महामात्य ! हम कई दिनों से यह सुन रहे हैं कि गंगा स्वयं अपने हाथ से वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करती है।”

शकटार ने कहा — “नरनाथ ! सुन तो मैं भी यही रहा हूं, अच्छा हो कल गंगातट पर चल कर प्रत्यक्ष यह चमत्कार देख लिया जाय।”

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज नन्द और महामन्त्री शकटार के गंगातट पर जाने की बात पाटलीपुत्र के प्रत्येक नागरिक के पास पहुंच गई।

महामात्य शकटार ने अपने गुप्तचर विभाग के एक अत्यन्त चतुर चरकार्य-प्रवीण अधिकारी को वास्तविकता का पता लगाने का आदेश दिया। सूर्यास्त से पहले ही गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गंगातट के घने एवं ऊंचे सरकंडों की ओट में छुप कर बैठ गया। चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य हो चुकने के पश्चात् उसने देखा कि एक व्यक्ति दबे पांवों गंगातट की ओर बढ़ रहा है। अधिकारी ने सावधान हो बड़े ध्यान ने उस व्यक्ति की ओर देखा। शरीर की ऊंचाई एवं आकार-प्रकार से उसने तत्काल पहचान लिया कि वह वररुचि ही

है। वह श्वासोच्छ्वास को रोके अपलक दृष्टि से वररुचि की ओर देखने लगा। उसने देखा कि वररुचि गंगा के जल में घुस रहा है। वह गुप्तचर अपने स्थान से बड़ी सावधानी के साथ उठा और ध्यानपूर्वक वररुचि की ओर देखने लगा। उसे ऐसा लगा मानो वररुचि ने एक जगह पर पानी में अपने पैर से किसी वस्तु को टटोला है और फिर उसे अपने पैरों से दबा दिया है। अन्धेरा होने पर भी तारों की टिमटिमाहट में चमकते हुए गंगाजल में उसने देखा कि कोई वस्तु पानी से ऊपर उठी है और वररुचि ने अपनी बगल में से कुछ निकाल कर उसमें रख दिया है। इसके पश्चात् उसने देखा कि वररुचि शीघ्रतापूर्वक गंगा से बाहर निकला और पाटलीपुत्र नगर की ओर लौट गया।

वररुचि के लौट जाने के अनन्तर शकटार द्वारा नियुक्त गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गंगा के जल में ठीक उस ही जगह पहुंचा जहां थोड़ी देर पहले वररुचि को उसने देखा था। पानी में उस अधिकारी ने अपने पैरों से टटोलना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणों के प्रयास के पश्चात् पानी की निचली सतह में उसके पैर ने किसी कठोर वस्तु के स्पर्श का अनुभव किया। पैर से अच्छी तरह टटोल कर उस गुप्तचर ने उस वस्तु पर पैर रखा और धीरे-धीरे उसे अपने पैर से दबाना प्रारम्भ किया। उसने देखा कि गंगाजल में से एक वस्तु ऊपर उठी और उसके पास आ कर रुक गई। उसने पानी की सतह में अपने पैर के नीचे की वस्तु को यथापूर्व दबाये ही रखा और अपना हाथ बढ़ा कर पानी से ऊपर उठी हाथ के आकार की वस्तु से लटकी हुई थैली को ले लिया। बायें हाथ से उस थैली को थामे उस गुप्तचर ने पानी से ऊपर उठी वस्तु को अपने दाहिने हाथ से अच्छी तरह टटोल कर देखा। उसे विश्वास हो गया कि वह किसी कुशल शिल्पी द्वारा निर्मित काष्ठ का नारी-कर है। तत्काल सारा रहस्य उस गुप्तचर की समझ में आ गया कि वस्तुतः पानी में यंत्र रखा हुआ है, जिसको दबाने से काष्ठ-निर्मित हाथ ऊपर उठ आता है। उसने अपने दाहिने पैर को ऊपर उठाया। पैर के उठते ही वह काष्ठनिर्मित हाथ पानी में चला गया।

अपने अनुमान को दृढ़ विश्वास में परिणत करने और अपने आपको आश्चस्त करने की दृष्टि से उस गुप्तचर ने पानी के अन्दर स्थित उस यन्त्र को बार-बार दबाकर देखा। जितनी बार उस यन्त्र को पैर से दबाया गया उतनी ही बार वह दारुमय हाथ पानी से ऊपर उठा पर अब वह रिक्त था, उसमें कोई थैली नहीं थी। पूर्णरूपेण आश्चस्त हो चुकने के पश्चात् वह गुप्तचर गंगा से बाहर निकला। उसने थैली को खोलकर उसमें रखी स्वर्णमुद्राओं को गिना और पाया कि वे संख्या में पूरी १०८ हैं। स्वर्णमुद्राओं को पुनः थैली में रखकर वह तत्काल नगर की ओर लौट पड़ा और महामात्य के गुप्त मंत्रणाकक्ष में पहुंचकर उसने उन्हें प्रणाम किया।

महामात्य शकटार ने अन्तर्वेधी दृष्टि से उस अधिकारी की ओर देखते हुए कहा — “आ गये सौम्य ! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हारी प्रसन्न

मुखमुद्रा से प्रतीत हो रहा है कि तुमने उस धूर्त की धूर्तता का पूरा रहस्य जान लिया है ! तुम्हारे हाथ में वही स्वर्ण-मुद्राओं से भरी थैली है ? अब और कोई थैली उस यंत्र में नहीं है ?”

“मन्त्रीध्वर का अनुमान शतप्रतिशत ठीक निकला । यह है वह १०८ स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली, जो वररुचि को कल प्रातःकाल गंगामाता के हाथ से नहीं अपितु मगध के महाप्रतापी महामात्य के हाथ से ही प्राप्त हो सकेगी । मैंने समीचीन रूप से देख लिया है कि अब उस यन्त्र में और कोई थैली नहीं है ।”

उस थैली को अपने आसन के पास रखने का संकेत करते हुए शकटार ने “बहुत सुन्दर” इन दो शब्दों से अपने अधिकारी का उत्साह बढ़ाने के पश्चात् कहा — “सौम्य अब तुम विश्राम करो । अपने चरों को नियुक्त कर उस स्थान पर कड़ी दृष्टि रखना ।”

महामात्य को अभिवादन करने के पश्चात् गुप्तचर विभाग का अधिकारी वहां से चला गया ।

### रहस्योद्घाटन

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही विशाल जनसमूह गंगा के तट पर एकत्रित हो गया । यथासमय मगधेश्वर महाराज नन्द अपने महामात्य एवं अन्य अधिकारियों के साथ गंगातट पर पहुंचे । वररुचि ने गंगा में स्नान करने के पश्चात् उच्च एवं मधुर स्वर में गंगा की स्तुति करना प्रारम्भ किया । स्तुतिपाठ के अनन्तर वररुचि ने प्रतिदिन की भांति यन्त्र पर पैर रखकर दबाया । सहसा गंगा की धारा में से एक हाथ ऊपर उठा पर वह हाथ पूर्णतः रिक्त था । उसमें स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली नहीं थी । वररुचि ने गंगा में डुबकी लगाकर पानी में उस स्वर्णमुद्रापूर्ण थैली को इधर-उधर बहुत ढूँढा पर उसका सारा प्रयास व्यर्थ गया । अन्ततोगत्वा वह आकस्मिक अनभवज्जपात से प्रताड़ित की तरह अधोमुख किये हुए चुपचाप खड़ा हो गया ।

वररुचि के पास पहुंच कर महामात्य शकटार ने घनगम्भीर स्वर में उसे सम्बोधित करते हुए कहा — “वररुचि ! क्या यह गंगा नदी तुम्हारे द्वारा धरोहर के रूप में इसके पास रखा हुआ द्रव्य भी तुम्हें नहीं लौटा रही है, जिससे कि तुम बार-बार उस द्रव्य को खोज रहे हो ? शोक न करो ब्रह्मन् ! महाराज नन्द के राज्य में कोई भी व्यक्ति अपने स्वत्व से वंचित नहीं किया जा सकता । यह लो तुम्हारी वह १०८ स्वर्णमुद्राओं से पूरित थैली जिसे तुमने रात्रि के समय गंगा के पास धरोहर (अमानत) के रूप में रखा था ।”

यह कहते हुए महामात्य शकटार ने स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली वररुचि के हाथ पर रख दी । वररुचि ने अनुभव किया कि विगत कतिपय दिनों से जो विशाल जनसमूह उसे गंगामाता का परमप्रीतिपात्र समझकर सम्मान की दृष्टि से देखता आ रहा था वह अब उसे महाधूर्ताधिराज समझकर घृणा और

तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देख रहा है। उसे अपने प्राणापहरण से भी अत्यधिक दुस्सह पीड़ा का अनुभव हुआ।

महामात्य ने प्रणतिपूर्वक महाराज नन्द से निवेदन किया - "महाराज ! यह वररुचि रात्रि के समय यहां आकर स्वर्णमुद्राओं की थैली गंगा के अन्दर लगाये गये यन्त्र में रख देता है और प्रातःकाल पैर से उस यन्त्र को दबाकर उस थैली को प्राप्त कर जनसाधारण की आंखों में धूल भोकेता है।"

नन्द ने सस्मित आश्चर्य भरे स्वर में कहा - "महामात्य ! आपने इस छलछद्म को सर्वसाधारण पर प्रकट कर एक बहुत बड़ी भ्रान्ति का निराकरण कर दिया।"

तदनन्तर गंगातट पर एकत्रित समस्त जनसमूह अपने-अपने निवास-स्थान को लौट गया। वररुचि अपने इस छलप्रपंच के प्रकट हो जाने से इतना अधिक लज्जित हुआ कि वह कई दिनों तक अपने निवास-स्थान से बाहर तक नहीं निकला। अपने इस सार्वजनिक अपमान का कारण महामात्य शकटार को मानकर वररुचि अर्हनिश इसका प्रतिशोध लेने हेतु शकटार के दास-दासी के माध्यम से शकटार के किसी छिद्र को ढूँढने के प्रयास में रहने लगा। एक दिन वररुचि को शकटार की एक दासी से यह सूचना मिली कि अपने पुत्र श्रीयक के विवाह के अवसर पर महामात्य शकटार महाराज नन्द को अपने निवास-स्थान पर भोजनार्थ निमन्त्रित करने वाले हैं। उस समय महाराज नन्द को भेंट करने हेतु सुन्दरतम एवं बहुमूल्य छत्र-चंवरादि समस्त राज्यचिन्ह और आधुनिकतम विशिष्ट प्रकार के संहारक शस्त्रास्त्र मन्त्रीश्वर द्वारा निर्मित करवाये जा रहे हैं।

### वररुचि का शकटार के विरुद्ध षड्यन्त्र

शकटार से प्रतिशोध लेने हेतु वररुचि ने उपर्युक्त सूचना को अपने भावी षड्यन्त्र की उपयुक्त पृष्ठभूमि समझ कर निम्नलिखित श्लोक की रचना की :-

न वेत्ति राजा यदसौ शकटालः करिष्यति ।

व्यापाद्य नन्दं तदराज्ये, श्रीयकं स्थापयिष्यति ॥

अर्थात् - महामन्त्री शकटार जो कुछ करना चाहता है, उसे महाराज नन्द नहीं जानते। नन्द को मार कर शकटार अपने पुत्र श्रीयक को एक दिन मगध के राज्यसिंहासन पर बैठा देगा।

अभीष्ट कार्यसाधक श्लोक अनायास ही बन पड़ा है, यह देख कर उसे कार्यनिष्पत्ति का विश्वास हुआ। उसने पौगण्डावस्था के बहुत से बालकों को मिष्टानादि दे एकत्रित किया, उन्हें यह श्लोक कण्ठस्थ करवा कर और अधिक प्रलोभन देते हुए कहा कि वे लोग इस श्लोक को गलियों, वाजारों, चौहटों, क्रीड़ास्थलों एवं उद्यानों आदि में बारम्बार उच्च स्वर से बोलें।

वररुचि का तीर ठीक निशाने पर लगा। पाटलिपुत्र के सभी सार्वजनिक स्थानों पर उस रहस्यपूर्ण श्लोक की ध्वनि गुंजरित होने लगी। चरों के माध्यम



से जन-जन में प्रसृत वह श्लोक राजा नन्द के पास पहुंचा। नन्द चौंक पड़ा। उसने मन ही मन शकटार के व्यक्तित्व के साथ अपने व्यक्तित्व की तुलना की। उसे अनुभव हुआ कि शकटार वस्तुतः सारे साम्राज्य पर छाया हुआ है। शकटार का प्रभाव, प्रताप, बचस्व और सभी कुछ अपनी तुलना में नन्द को विराट, सर्वतोमुखी एवं सर्वव्यापी प्रतीत होने लगा। उसने सोचा सामूहिक स्वरो में प्रकट हुई बात निश्चित रूप से सत्य ही होगी। इसके अतिरिक्त श्लोक द्वारा इंगित कार्य शकटार के लिये दुस्साध्य नहीं। नन्द की विचारधारा ने नया मोड़ लिया। शकटार द्वारा अतीत में राजा और राज्य दोनों के हित में किये गये स्वामिभक्ति के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यों का विहंगमावलोकन करते हुए नन्द को दृढ़ विश्वास हो गया कि शकटार किसी भी दशा में उस प्रकार का घृणित कार्य नहीं कर सकता।

“प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुस्थिति से अवगत हो जाना तो सर्वथा हितप्रद है” इस विचार के अन्तर्गमन में उद्भूत होते ही नन्द ने अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति को महामात्य के निवासस्थान पर किये जा रहे कार्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त करने हेतु आदेश दिया। नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह व्यक्ति तत्काल महामात्य शकटार के निवासस्थान पर पहुंचा। उस समय संयोगवश महाराज नन्द को भेंट करने हेतु छत्र, चँवर, खड्ग व नवाविष्कृत शस्त्रास्त्र भण्डार में रखवाये जा रहे थे। नन्द के विश्वासपात्र व्यक्ति ने तत्काल नन्द के पास लौट कर जो कुछ उसने अपनी आंखों से देखा था वह सारा विवरण नन्द के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। नन्द को उक्त श्लोक में किये गये इंगित पर कुछ विश्वास हुआ। पर नन्द बड़ा चतुर नीतिज्ञ था। “कभी-कभी आंखों से देखी हुई बात भी असत्य सिद्ध हो सकती है” इस नीतिवाक्य को उसने अपने आचरण में ढाल रखा था। उसने सहसा कोई साहसपूर्ण कार्य करना उचित नहीं समझा। राजसेवा में महामात्य के समुपस्थित होने का नियत समय सन्निकट आ रहा था। नन्द उस समय की प्रतीक्षा में अपने सिंहासन पर बैठा रहा।

निश्चित समय पर महामात्य शकटार नन्द की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने राजा को प्रणाम किया। बहुत प्रयास करने पर भी नन्द अपने क्रोध को छुपा नहीं सका और उसने वक्र एवं क्रुद्ध दृष्टि से शकटार की ओर देखते हुए अपना मुख शकटार की ओर से दूसरी ओर मोड़ लिया।

### प्राण देकर भी परिवार-रक्षा

नन्द की तनी हुई भौंहों और वक्रदृष्टि को देख कर शकटार समझ गया कि उसके विरुद्ध किया गया कोई भीषण गुप्त षड्यन्त्र सफल हो चुका है। तत्काल अपने घर लौट कर शकटार ने श्रीयक से कहा—“वत्स ! महाराज नन्द को किसी षड्यन्त्रकारी ने विश्वास दिला दिया है कि अब मैं उनके प्रति स्वामिभक्त नहीं रहा हूँ। ऐसी स्थिति में किसी भी समय हमारे समस्त परिवार का सर्वनाश हो सकता है अतः अपने कुल की रक्षार्थ मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि

जिस समय में नन्द के समक्ष प्रणाम करते हुए अपना शिर भुकाऊं उस ही समय तुम बिना किसी प्रकार का सोच-विचार किये अपनी तलवार से मेरा शिर काट कर घड़ से पृथक् कर देना और राजा के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति प्रकट करते हुए कहना, “स्वामिद्रोही चाहे पिता ही क्यों न हो, उसका तत्काल वध कर डालना चाहिये। केवल इस उपाय से ही हमारे परिवार की रक्षा हो सकती है अन्यथा सर्वनाश समुपस्थित है।”

श्रीयक ने आंसू बहाते हुए प्रकम्पित स्वर में कहा - “तात ! जिस जघन्य कृत्य को करने के लिये आप आदेश दे रहे हैं वैसा कुकृत्य तो संभवतः कोई चाण्डाल भी नहीं करेगा।”

शकटार ने श्रीयक को सान्त्वना देते हुए कहा - “आसन्नसंकट की घड़ियों में इस प्रकार के विचार मन में ला कर तो तुम शत्रुओं के मनोरथों की पूर्ति में सहायता ही करोगे। राजा को प्रणाम करते समय मैं अपने मुख में कालकूट विष रख लूंगा। ऐसी दशा में मेरा शिर काटने से तुम्हें पितृहत्या का दोष भी नहीं लगेगा। काल के समान विकराल राजा नन्द हमारे समस्त परिवार को मौत के घाट उतारे, उससे पहले ही तुम अपने वंश को विनाश से बचाने हेतु मेरा शिर काट डालो। तुम अब मेरी चिन्ता न करो, मैं तो अब जराजीर्ण होने के कारण कुछ ही समय में मृत्यु के मुख में जाने वाला था। बेटा ! चलो, मेरी आज्ञा का पालन कर अपने वंश की रक्षा करो।”

श्रीयक को साथ लिये शकटार राजभवन में नन्द के समक्ष उपस्थित हुआ और उसे प्रणाम करने के लिये उसने शिर भुकाया। श्रीयक ने तत्काल खड्ग के प्रहार से शकटार का शिर काट डाला। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना वीर निर्वाण सं० १४६ में घटित हुई।

नन्द ने हड़बड़ा कर आश्चर्य भरे स्वर में कहा - “बेटा श्रीयक ! तुमने यह क्या कर डाला ?”

श्रीयक ने अति गम्भीर मुद्रा में कहा - “स्वामिन् ! जब आपको यह विदित हो गया कि महामात्य स्वामिद्रोही हैं तो उस दशा में मैंने इनको मार कर सेवक के योग्य ही कार्य किया है। प्रत्येक सेवक का यह कर्त्तव्य है कि यदि स्वयं उसको किसी के द्वारा स्वामिद्रोह किये जाने की बात विदित हो तो उस पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करे किन्तु यदि उसके स्वामी को स्वयं को ही ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति स्वामीद्रोही है, तो उस दशा में सेवक का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह विचार करे अपितु उसका तो उस दशा में यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि तत्काल उस स्वामिद्रोही के अस्तित्व को ही मिटा दे।”

नन्द अवाक् हो श्रीयक की ओर देखता ही रह गया। उसने पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ अपने स्वर्गस्थ महामात्य का अन्तिम संस्कार सम्पन्न करवाया।

मृतक की और्ध्वदैहिक क्रियाओं की समाप्ति के अनन्तर नन्द ने श्रीयक से मगध-राज्य के महामात्य पद को स्वीकार करने की अभ्यर्थना की।

श्रीयक ने विनम्र स्वर में कहा — “मगधेश्वर ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र मेरे पिता के समान ही योग्य हैं। अतः आप महामात्य का पद उन्हें ही प्रदान करें। मेरे पितृश्री के निस्सीम स्नेह के प्रसाद से वे विगत बारह वर्षों से कोशा वेश्या के निवासस्थान पर ही रहते आ रहे हैं।”

### महामात्य पद

महाराज नन्द ने तत्काल अपने उच्चाधिकारियों को आदेश दिया कि वे पूर्ण सम्मान के साथ स्थूलभद्र से निवेदन करें कि मगधाधिराज उनसे मिलने के लिये बड़े उत्सुक हैं।

पर्याप्त प्रतीक्षा के पश्चात् प्रोन्नतभाल, व्यूढोरष्क, वृषस्कन्ध, प्रलम्बबाहु, सुगीरवर्ण अत्यन्त सम्मोहक व्यक्तित्व वाले एक तेजस्वी युवक ने धीर-मन्थर गति से मगधपति के राजभवन में प्रवेश कर महाराज नन्द को प्रणाम करते हुए कहा — “मगधराज्य के स्वर्गीय महामात्य श्री शकटार का पुत्र स्थूलभद्र मगध के महामहिम सम्राट् महाराज नन्द को सादर प्रणाम करता है।”

नन्द ने अपने समीपस्थ आसन पर बैठने का संकेत करते हुए स्थूलभद्र से कहा — “सौम्य स्थूलभद्र ! अपने पिता के स्वर्गगमन के कारण रिक्त हुए मगध के महामात्य पद को अब तुम स्वीकार करो।”

“महाराज मैं सोच-विचार के पश्चात् ही इस सम्बन्ध में निवेदन कर सकता हूँ।” स्थूलभद्र ने यह छोटा-सा उत्तर दिया।

नन्द ने कहा — “स्थूलभद्र ! राजभवन के अशोकोद्यान में बैठकर तुम यही विचार करलो और शीघ्र मुझे उत्तर दो।”

“यथाज्ञापयति देव !” कह कर स्थूलभद्र ने महाराज नन्द को प्रणाम किया और वे अशोकोद्यान में एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित प्रश्न पर विचार करने लगे। यों तो स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहाँ रहकर शारीरिक वासनापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे पर उनका विवेकशील अन्तर्मन वस्तुतः पूर्णरूपेण जागरूक था। जिन परिस्थितियों में उनके पिता मगध के महामात्य शकटार की मृत्यु हुई, उन सब पर विचार करने के पश्चात् स्थूलभद्र के मन में एक विचित्र प्रकार का विचारमन्थन प्रारम्भ हो चुका था। स्थूलभद्र ने सोचा — “जिस राजसत्ता और राज-वैभव ने मेरे देवतुल्य पिता को अकारण ही अकालमृत्यु के गाल में ढकेल दिया, उस प्रभुत्व एवं सत्तासम्पन्न महामात्य पद को पाकर वस्तुतः मैं सुखी नहीं हों शकता। मेरी भी एक न एक दिन वैसी ही दुर्गति हो सकती है। ऐसी संशयास्पद स्थिति में मेरे लिये यही श्रेयस्कर है कि मैं इस प्रकार की सम्पदा और सत्ता का वरण करूँ जो सदा के लिये मुझे सुखी बना कर मेरी चिरसंगिनी बनी रहे।”

इस प्रकार के विचारमन्थन ने स्थूलभद्र को सासारिक वैभवों, प्रपंचों और बन्धनों से विरक्त बना दिया। वस्तुस्थिति के इस वास्तविक बोध ने स्थूलभद्र के जीवन की दशा ही बदल डाली। उन्होंने मन ही मन विचार किया—“महामात्य का पद निस्संदेह बड़ा उच्च पद है पर वह भी अन्ततोगत्वा है तो भृत्यकर्म, दासत्व और पारतन्त्र्य ही। पराधीन व्यक्ति स्वप्न तक में सुख की अनुभूति नहीं कर सकता। राजा, राज्य और राष्ट्र की चिन्ताओं से पूर्णरूपेण आच्छादित एक भृत्य के चित्त में स्वयं के सुख-दुःख के लिये सोचने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। राजा और राज्य के हित में अपनी बौद्धिक एवं शारीरिक शक्तिका निःशेष व्यय करने के पश्चात् भी भृत्य के लिये प्रत्येक पद पर सर्वस्वापहरण और प्राणापहार तक का भय सदा बना रहता है। उस समस्त शक्तिव्यय का प्रतिकूल शून्य के तुल्य है। कहा भी है :-

मुद्रेयं खलु पारवश्य जननी सौख्यच्छिद्ये देहिनां,  
 नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी, धर्मान्तरायावहा ।  
 राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्यापहृत्,  
 तद्ब्रूमः किमतः परं मतिमतां, लोकद्वयापायकृत् ॥

अर्थात्—यह राजमुद्रा परवशता उत्पन्न करने वाली और मनुष्यों के सुख का विनाश करने वाली है। सदा कठोर कर्मबन्ध की कारण और धर्मसाधन में विघ्न रूप है। एक मात्र राजा के हित को ही दृष्टि में रखने वाली यह (प्रधानामात्य की) प्रभुता स्वयं के तथा प्रजा के हित का हरण करने वाली है। वस्तुतः इहलोक और परलोक—दोनों ही लोकों को बिगाड़ने वाली इससे (प्रधानामात्य की मुद्रा अथवा सत्ता से) बढ़कर संसार में और कौनसी वस्तु हो सकती है ?

ऐसी दशा में बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह केवल राजा के हित में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर आत्मकल्याण के लिये शक्ति का सद्व्यय करे।

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलभद्र शीघ्र ही एक निर्णय पर पहुँच गये। उन्होंने संसार के सम्पूर्ण प्रपंचों का परित्याग कर आत्मकल्याण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने तत्क्षण पंचमुष्टि-लुंचन कर अपने रत्नकंबल की फलियों का ओषा (रजोहरण) बनाकर साधु वेष धारण कर लिया। तदनन्तर वे साधु वेष में ही महाराज नन्द के सम्मुख राज्यसभा में उपस्थित हो बोले—“राजन् ! मैंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय किया है कि मुझे भवप्रपंच बढ़ाने वाला महामात्यासन नहीं अपितु अपरोपतापी वैराग्यसाधक दर्भासन चाहिए। मैं राग का नहीं किन्तु त्याग का उपासक बनना चाहता हूँ।

यह कहकर आर्य स्थूलभद्र ने राज्यप्रासादों से बाहर की ओर प्रस्थान कर दिया। महाराज नन्द सहित समस्त राज्यपरिषद स्थूलभद्र द्वारा किये गये इस अप्रत्याशित निर्णय से स्तब्ध रह गई।

कहीं आर्य स्थूलभद्र पुनः कोशा वेश्या के गृह की ओर तो नहीं लौट रहे हैं इस आशंका से राजा नन्द अपने प्रासाद के गवाक्ष से राजपथ पर जाते हुए आर्य स्थूलभद्र की ओर देखने लगे । जब महाराज नन्द ने देखा कि आर्य स्थूलभद्र नगर की घनी बस्ती वाले मुहल्लों से मुख मोड़कर सुनसान श्मशानों और निर्जन एकान्त स्थलों को भी पार करते जा रहे हैं तो नन्द का मस्तक सहसा श्रद्धा से झुक गया । उसने पश्चात्तापपूर्णा स्वर में कहा—“मुझे खेद है कि मैंने ऐसे महान् त्यागी महात्मा के लिये भी अपने मन में कुविचार को स्थान दिया ।”

### स्थूलभद्र की दीक्षा और वररुचि का मरण

स्थूलभद्र ने भव्य भवन, सुरसुन्दरी-सी कोशा और नव्य-भव्य भोगों का तत्क्षण उसी प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार कि सर्प कंचुकी को छोड़ता है । वे तन, धन, परिजन का मोह छोड़कर पूर्ण वैराग्यभाव से नगर के बाहर विराजमान् आचार्य संभूतविजय के पास पहुँचे और सविनय वन्दन के पश्चात् उनकी चरमशरण ग्रहण कर वीर नि० सं० १४६ में उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली ।

समस्त श्रमणचर्या का निर्दोषरूप से पालन करने के साथ-साथ, सविनय गुरुपरिचर्या, दीक्षावृद्ध श्रमणों की सेवा-सुश्रूषा एवं तपश्चरणा द्वारा अपने कर्मन्धन को भस्मसात् करते हुए मुनि स्थूलभद्र अपने गुरु आचार्य संभूतविजयजी के पास बड़ी तन्मयता से शास्त्रों का अध्ययन करने लगे ।

आर्य स्थूलभद्र के चले जाने के अनन्तर महाराज नन्द ने श्रीयक को मगध का महामात्य बनाया । कुशल राजनीतिज्ञ श्रीयक ने अपने पिता शकटार की तरह बड़ी निपुणता के साथ राज्य का संचालन करते हुए मगध की श्री में अभिवृद्धि करना प्रारम्भ किया । महाराज नन्द अपने स्वर्गीय महामात्य शकटार के समान ही अपने युवा महामात्य श्रीयक का समादर करते थे । महामन्त्री शकटार की मृत्यु के पश्चात् वररुचि भी नित्यप्रति नियमित रूप से महाराज नन्द की सेवा में उपस्थित होने लगा । वह पुनः राजा और प्रजा का शनैः शनैः सम्मान-पात्र बन गया ।

श्रीयक समय निकालकर अपने ज्येष्ठ सहोदर स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के कारण दुखित कोशा वेश्या को सान्त्वना देने हेतु उसके घर पर जाते रहते थे । श्रीयक को देखकर अपने प्राणाधिक प्रिय स्थूलभद्र के विरह-जन्य दुःख से विह्वल हो कोशा फूट-फूटकर रोने लगती । अपने सहोदर के प्रति कोशा का निस्सीम प्रेम देखकर श्रीयक के मन में कोशा के प्रति आदर एवं आत्मीयता के भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही गये ।

शकटार की मृत्यु के पश्चात् वररुचि निर्भय होकर रहने लगा । राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान के मद में मदान्ध हो वररुचि पथभ्रष्ट एवं वेश्यागामी बन गया । अर्हनिश उपकोशा के संसर्ग में रहते-रहते वह शीघ्र ही मद्यपायी बन गया ।

वररुचि के मद्यपी होने की सूचना प्राप्त होते ही महाराज नन्द बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसके मद्यपी होने अथवा न होने का निर्णय करने के लिये परीक्षा करना आवश्यक समझा। एक दिन जब वररुचि राज्य सभा में आये तो उन्हें मदनफल के चूर्ण से युक्त कमल पुष्प सूंघने हेतु दिया गया। उसके सूंघते ही वररुचि को वमन हुआ और चन्द्रहास सुरा की तीव्र गन्ध राज्य सभा में तत्काल व्याप्त हो गई।

फलतः वररुचि का राजा, राजसभा, समाज और प्रजाजनों द्वारा बड़ा तिरस्कार हुआ एवं वह बड़ी दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति में अकाल में ही काल का कवल बन गया।

अपने पिता की हत्या करवाने वाले वररुचि की मृत्यु के पश्चात् श्रीयक कतिपय वर्षों तक बड़ी कुशलता के साथ मगध साम्राज्य के महामात्य पद के कार्यभार का निर्वहन करता रहा किन्तु उसके अन्तर में केवल राजनयिक प्रपंचों के प्रति ही नहीं अपितु समस्त सांसारिक कार्यकलापों के प्रति विरक्ति के बीज अंकुरित हो गये; शनैः शनैः पल्लवित एवं पुष्पित होने लगे।

### आर्य स्थूलभद्र द्वारा अतिदुष्कर अभिग्रह

उधर अर्हनिश अपने आराध्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहते हुए सुतीक्ष्ण बुद्धि स्थूलभद्र मुनि ने अनवरत परिश्रम करते हुए सम्पूर्ण एकादशांगी पर आधिकारिक रूप से निष्णातता प्राप्त कर ली।

वर्षाकाल समुपस्थित होने पर आचार्य सम्भूतविजय के सम्मुख उपस्थित होकर उनके तीन शिष्यों ने घोर अभिग्रहों को धारण करने की इच्छा प्रकट करते हुए क्रमशः प्रार्थना की। प्रथम शिष्य ने सांजलि शीश भुका कर कहा—“प्रभो! मैं निरन्तर चार मास तक उपवास के साथ सिंह की गुफा के द्वार पर ध्यानमग्न रहना चाहता हूँ।” दूसरे शिष्य ने निवेदन किया—“भगवन्! मैं चार मास तक निर्जल एवं निराहार रहते हुए दृष्टिविष सर्प की बांबी के पास खड़े रह कर कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ।”

तीसरे शिष्य ने कहा—“आराध्य गुरुवर! यह आपका अकिंचन शिष्य कृपण के मांडके पर अपना आसन जमा कर उपवास पूर्वक निरन्तर चार मास तक ध्यानमग्न रहने की आपसे आज्ञा चाहता है।”

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने उन तीनों शिष्यों को उनके द्वारा अभिग्रहीत दुष्कर कार्यों के निष्पादन के योग्य समझ कर उन्हें उनकी इच्छानुसार दुष्कर तपस्या करने की अनुमति प्रदान कर दी।

उस ही समय आर्य स्थूलभद्र मुनि ने अपने गुरु के चरणों में मस्तक भुकाते हुए हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—“करुणासिन्धो! आपका यह अनन्य सेवक कोशा वेष्या के भवन की, कामोद्दीपक अनेक आकर्षक चित्रों से मण्डित चित्रशाला में षड्रस व्यंजनों का आहार करते हुए चार मास तक रह कर समस्त विकारों से दूर रहने की साधना करना चाहता है।”

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने विशिष्ट ज्ञानोपयोग से क्षण भर विचार कर आर्य स्थूलभद्र को उस कठोर साधना में समुत्तीर्ण होने के योग्य समझा और उन्हें कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

आचार्य सम्भूतविजय की आज्ञा प्राप्त कर चारों शिष्य अपने-अपने अभीष्ट स्थान की ओर प्रस्थित हुए । प्रथम तीनों शिष्य अपने-अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर ध्यानमग्न हो गये । उनके तपोपूत शान्त आत्मतेज के प्रभाव से सिंह, सर्प और कूएँ का माण्डका ये तीनों ही क्रमशः उन तीनों मुनियों के समक्ष शान्त एवं निरापद हो गये । उन तीनों मुनियों ने पृथक्-पृथक् उन तीन स्थानों पर चार मास के लिये अशन-पानादि का परित्याग कर ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया ।

आर्य स्थूलभद्र भी कोशा वेश्या के भव्य भवन के प्रांगण में पहुंचे । चिरप्रोषित अपने जीवनधन को देखते ही कोषा हर्षोत्फुल्ल हो हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक मुनि स्थूलभद्र के सम्मुख उपस्थित हुई । उसने मन ही मन सोचा कि जन्मजात सुकुमार स्थूलभद्र संयम के दुर्वह विपुल भार से अभिभूत होकर सदा-सर्वदा उसके पास रहने के लिये ही आये हैं । सस्मित सुमधुर स्वर में कोशा ने कहा — “स्वामिन् आपकी जन्म-जन्म की यह दासी आपका स्वागत करती है । अपने अभीष्ट की अभिनिष्पत्ति हेतु आज्ञा प्रदान कर इसे कृतार्थ कीजिये । जीवनधन ! यह तन, मन, धन, जीवन और सर्वस्व आपके चरणों पर समर्पित है ।”

मुनि स्थूलभद्र ने कहा — “श्राविके ! चार मास तक तुम्हारी चित्रशाला में निवास करने की स्वीकृति दो ।”

“स्वामिन् ! चित्रशाला प्रस्तुत है, इसमें विराजिये और सेविका को कृतार्थ कीजिये ।” हर्ष से पुलकितांगी कोशा ने कहा ।

अपने आत्मबल पर पूर्णरूपेण आश्वस्त आर्य स्थूलभद्र ने रती की रंगस्थली के समान सहज ही कामोद्दीपिनी उस चित्रशाला में प्रवेश कर वहां अपना आसन जमाया । मधुकरी के समय कोशा ने मुनि स्थूलभद्र को स्वादुतम षड्रस भोजन करवाया । आहार आदि से मुनि के निवृत्त हो जाने के उपरान्त सोलह शृंगारों से विशिष्ट रूपेण सुसज्जित कोशा ने चित्रशाला के समस्त वायुमण्डल को अनेक प्रकार की सुगन्धियों से मादक और अपने नूपुरों की झंकार से चित्रशाला को मुखरित करते हुए मुनि स्थूलभद्र के समक्ष उपस्थित हो उन्हें प्रणाम किया । अलौकिक रूपसुधा के उद्वेलित सागर के समान उस कोशा की मुखमुद्रा से उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई अनुपम सुन्दरी सुरबाला अपने अग्रतिम सौन्दर्य से त्रिभुवन पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराने के लिये कृतसंकल्प हो । उस अतिकमनीय कान्तारत्न कोशा ने कतिपय बीणाओं के कसे हुए पतील तारों की लययुक्त अति कोमल एवं कर्णप्रिय युगपद् झंकार के समान अति सम्मोहक

स्वर में कहा — “मेरे जीवनधन ! आपकी विरहाग्नि में विदग्धप्राया आपकी इस कामवल्लरी को अपनी मधुर मुस्कान के अमृत से पुनरुज्जीवित कीजिये ।”

मुनि स्थूलभद्र पूर्णतः निर्विकार और मौन रहे ।

अपनी कारुण्यपूर्ण कामाभ्यर्थना का आर्य स्थूलभद्र पर कोई प्रभाव न होते देख कर कोशा के अन्तर में प्रसुप्त नारीत्व का अहं पूर्ण रूपेण जागृत हो उठा । उसने त्रियाचरित्र के समस्त अध्यायों को खोलते हुए आर्य स्थूलभद्र पर क्रमशः अपने अमोघ कटाक्ष-बाणों, विविध हावभावों के सम्मोहनास्त्रों और हृदय को हठात् आवद्ध करने वाले कर्णकन्दन, मूर्छा, प्रलाप, विविध व्याज आदि नागपाशों का, पुनः पुनः प्रयोग करना प्रारम्भ किया । पर जिस प्रकार वज्र पर किया गया नखों का प्रहार नितान्त निरर्थक और निष्प्रभाव होता है, ठीक उसी प्रकार एकान्ततः आत्मनिष्ठ महामुनि स्थूलभद्र पर कोशा द्वारा किये गये समस्त कामोद्दीपक कटाक्ष-प्रहार पूर्णरूपेण व्यर्थ ही गये । ज्यों-ज्यों स्थूलभद्र को साधनापथ से विचलित करने के अभिप्राय से कोशा द्वारा कामोत्तेजक प्रहारों में क्रमशः तीव्रता लाई गई त्यों-त्यों मुनि स्थूलभद्र के ध्यान की एकाग्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई । कोशा ने निरन्तर बारह वर्ष तक अपने साथ स्थूलभद्र द्वारा पूर्व में की गई कामकेलियों का स्थूलभद्र को स्मरण दिलाते हुए उस ही प्रकार की कामकेलियां पुनः करने के लिये बारम्बार असीम प्रेम के साथ आमन्त्रित किया, उत्तेजित किया पर सब व्यर्थ । कोशा प्रतिदिन मुनि स्थूलभद्र को षड्रसमय अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराती और उन्हें विषय सुखों के उपभोग के लिये आमन्त्रित करती हुई नित्यप्रति नवीनतम उपायों का आश्रय ले उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का अहर्निश प्रयास करती रहती किन्तु स्थूलभद्र मुनि किञ्चित्मात्र भी विचलित हुए बिना निरन्तर इन्द्रियदमन करते हुए साधनापथ पर उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ते रहे । अन्ततोगत्वा चातुर्मास का अवसान होते-होते कोशा ने अपनी हार स्वीकार करते हुए हताश हो मुनि स्थूलभद्र को अपनी ओर आकर्षित करने के सभी प्रयास समाप्त कर दिये । महायोगी स्थूलभद्र का इन्द्रियदमन में अदृष्टपूर्व अलौकिक सामर्थ्य देख कर कोशा स्थूलभद्र के समक्ष अपना मस्तक झुकाते हुए पञ्चाक्षर भरे स्वर में कहने लगी — “क्षमासागर महामुने ! मेरे सब अपराध क्षमा कर दीजिये । मुझ मूर्खों को अनेकशः धिक्कार है कि मैंने अज्ञानवश पहले की तरह आपका विषयोपभोगों की ओर आकर्षित करने का विफल प्रयास किया । कज्जलगिरि की गुफा में रह कर कोई अपने आपको कालिमा से नहीं बचा सकता पर आपने इस असंभव कार्य को सम्भव कर बताया है । असाध्य को सिद्ध करने वाले योगिराज ! आपको सहस्रशः नमस्कार है ।”

मुनि स्थूलभद्र के उपदेश से कोशा ने धर्म में अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए मुनि स्थूलभद्र से श्राविका-धर्म अंगीकार किया और वह पूर्ण विशुद्ध मनोभावों के साथ उनकी सेवा करने लगी ।



चातुर्मास की समाप्ति पर सिंहगुहा, दृष्टिविष-विषधर-वल्मीक और कूप-माण्डक पर चातुर्मास करने वाले तीनों मुनि निरतिचार रूपेण अपने-अपने अभिग्रहों का पालन करने के पश्चात् आचार्य सम्भूतविजय की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः उन तीनों मुनियों के आगमन पर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने आगमन से कुछ ऊपर उठ कर उन धार तपस्वियों का स्वागत करते हुए कहा— “दुष्कर साधना करने वाले तपस्वियों ! तुम्हारा स्वागत है।”

कोशा वेश्या के घर से आते हुए दैदीप्यमान शुभ्र ललाट वाले अपने शिष्य स्थूलभद्र को देख कर आचार्य सम्भूतविजय सहसा अपने आसन से उठ खड़े हुए और उन्होंने मुनि स्थूलभद्र का स्वागत करते हुए कहा— “दुष्कर से भी अतिदुष्कर कार्य को करने वाले साधकशिरोमणो ! तुम्हारा स्वागत है।”

स्थूलभद्र ने आभार प्रदर्शित करते हुए विनयावन्त हो कहा— “गुरुदेव ! यह सब आपका ही गुण है। मेरी क्या शक्ति है ?” मुनि स्थूलभद्र को गुरु द्वारा अपने से अधिक सम्मानित हुआ देख उन तीनों साधुओं के मन में ईर्ष्या अंकुरित हो उठी। वे तीनों मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति अपने ईर्ष्या के भाव अभिव्यक्त करते हुए परस्पर बात करने लगे— “आर्य स्थूलभद्र मन्त्रिपुत्र हैं, इस ही कारण गुरुदेव ने उनके साथ पक्षपात करते हुए उन्हें “दुष्करदुष्करकारिन्” के सम्बोधन से सर्वाधिक सम्मान दिया है। भव्य भवन में रह कर षड्रस भोजन करते हुए भी यदि “दुष्करदुष्करकारी” की उपाधि प्राप्त की जा सकती है तो आगामी चातुर्मास में हम लोग भी अवश्यमेव यह सुकर कार्य कर “दुष्करदुष्करकारी” की दुर्लभ उपाधि प्राप्त करेंगे।”

तदनंतर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने शिष्यसमूह सहित अन्यत्र विहार कर दिया। आठ मास तक अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए उन्होंने अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। इस प्रकार पुनः चातुर्मास का समय आ समुपस्थित हुआ।

### स्थूलभद्र से होड़

सिंह की गुफा के द्वार पर विगत चातुर्मास व्यतीत करने वाले मुनि ने आचार्यप्रवर के सम्मुख उपस्थित हो सविधि वन्दन के पश्चात् उनकी सेवा में प्रार्थना की— “गुरुदेव ! मैं यह चातुर्मास कोशा वेश्या की चित्रशाला में रह कर षड्रस भोजन करते हुए व्यतीत करना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान कीजिये।”

आचार्य सम्भूतविजय से यह छुपा न रह सका कि वह मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति मात्सर्यवश उस प्रकार का अभिग्रह धारण कर रहा है। अपने विशिष्ट ज्ञान से उपयोग लगाने के पश्चात् आचार्यश्री ने कहा— “वत्स ! तुम इस प्रकार के अतिदुष्करदुष्कर अभिग्रह को धारण करने का विचार त्याग दो, इस प्रकार के अभिग्रह को धारण करने में सुमेरु के समान अचल और दृढ़ मनोबल वाला स्थूलभद्र मुनि ही समर्थ है।”

शिष्य ने हठपूर्वक उत्तर दिया — “गुरुदेव ! यह कार्य मेरे लिये दुष्कर-दुष्कर नहीं अपितु सहज सुकर है । मैं इस अभिग्रह को अवश्यमेव धारण करूंगा ।”

घोर गर्त में जानबूझ कर गिरने के इच्छुक अपने शिष्य की दयनीय दशा पर दया से द्रवित हो आचार्य सम्भूतविजय ने उसे समझाते हुए शान्त और मधुर स्वर में कहा — “वत्स ! ऐसा दुस्साहस न करो । अपनी इस अविचारकारिता के कारण तुम अपने पूर्वोपाजित तप-संयम को भी खो बैठोगे । अपनी शक्ति से अधिक भार को अपने सिर पर उठाने पर प्रत्येक व्यक्ति के अंगभंग का भय रहता है । कहा भी है :-

“देखा-देखी साधे जोग, छोड़े काया बाड़े रोग”

ईर्ष्या से अभिभूत उस मुनि को अपने गुरु के हितकर वचन किञ्चित्मात्र भी रुचिकर नहीं लगे । वह गुरुआज्ञा की अवहेलना कर कोशा वेश्या के भवन की ओर प्रस्थित हुआ । अपने प्रांगण में उस मुनि को आया हुआ देख कर कोशा तत्काल समझ गई कि आर्य स्थूलभद्र के साथ प्रतिस्पर्धा की भावना से प्रेरित हो यह मुनि यहां चातुर्मास व्यतीत करने आया है । यह कहीं भवसागर के भंवर में फंस कर अनन्तकाल तक भववीचियों की भयावह थपेड़ों के असह्य कष्ट का भागी न हो जाय इस आशंका को ध्यान में रखते हुए उसकी रक्षा का उपाय करना आवश्यक है ।

यह विचार कर कोशा उस मुनि के समक्ष उपस्थित हुई और उसने मुनि को प्रणाम करते हुए पूछा — “महामुने ! आज्ञा दीजिये, मैं आपके किस अभीष्ट का निष्पादन करूँ ?”

“भद्रे ! मैं आर्य स्थूलभद्र की तरह तुम्हारी चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूँ, अतः तुम मुझे अपनी चित्रशाला रहने के लिये दो ।”

### कोशा द्वारा मुनि को प्रतिबोध

कोशा ने मुनि को चित्रशाला में रहने की अनुमति देकर षड्रस भोजन कराया । मध्याह्नवेला में मुनि की परीक्षा हेतु कोशा ने अति मनोरम एवं आकर्षक वेषभूषा से अपने आपको सुसज्जित कर चित्रशाला में प्रवेश किया । कोशा को एक भी कटाक्षनिक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि आकर्षक वस्त्राभूषणों से अलंकृत उस रूपराशि को देखते ही मुनि कामविह्वल हो अम्यस्त याचक की तरह उससे अम्यर्थना करने लगे । षड्रस भोजन के पश्चात् सुन्दर नारी के दर्शनमात्र से कामान्ध हो उस मुनि ने भर्तृहरि की निम्नलिखित उक्ति को तत्काल चरितार्थ कर दिखाया :-

विश्वामित्र परासरः प्रभृतयो वाताम्बुपर्णासना-

स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः ।

शास्यन्नं सधृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-

स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्द्यस्तेरेच्छागरम् ॥

मुनि को विषय-वाग्नाओं के घोर अन्धकूप में गिरने से बचाने हेतु कोशा ने कहा - "महात्मन् ! साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस बात को मनोभावि समझता है कि हम वारांगनाणं केवल द्रव्य की ही दासियां हैं ।"

"भद्रे ! मुझ जैसे व्यक्ति से द्रव्य की आशा करना बालू से तेल निकानने जैसी दुराशा मात्र है । सुमुखि ! तुम मेरी दयनीय दशा पर दया कर मेरी मनोकामना पूर्ण करो ।" स्मरार्त मुनि ने याचनाभरे करुण स्वर में अभ्यर्थना की ।

चनुर कोशा ने हृदय भरे स्वर में कहा - "महात्मन् ! मुनि भले ही अपना नियम तोड़ दे पर वेश्या अपने परम्परागत नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती । आप अपनी मनोकामना पूर्ण करना ही चाहते हैं तो आपको एक उपाय में बताना सकती हूँ । वह यह है कि नेपाल देश के क्षितिपाल नवागत साधुओं को रत्नकम्बलों का दान करते हैं । आप वहां जाइये और रत्नकम्बल ले आइये ।"

विषयान्ध व्यक्ति को आँचित्यानीचित्य का कोई ध्यान नहीं रहता । वह अपनी वासनापूर्ति के लिये नहीं करने योग्य कार्य को भी करने में नहीं हिचकिचाता । वह मुनि रत्नकम्बल की प्राप्ति के लिये तत्काल नेपाल की ओर चल पड़े । उन्होंने कामान्ध होने के कारण यह तक नहीं सोचा कि चातुर्मास के समय में विहार करना श्रमणकल्प के प्रतिकूल है । विषयोपभोग के अनन्तर और भी प्रचण्ड वेग से भड़कने वाली और कभी न बुझने वाली कामाग्नि को शान्त करने की अभिलाषा लिये वह मुनि हिसक पशुओं से व्याप्त सघन वनों और दुर्लभ गगन-चुम्बी पर्वतों को पार करते हुए नेपाल प्रदेश में पहुंचे । वहां के राजा से उन्हें रत्नकम्बल की प्राप्ति हुई । रत्नकम्बल को मुनि ने बांस के एक आकर्णित डंडे में छुपा कर रख लिया और वे प्रसन्न मुद्रा में पुनः पाटलिपुत्र नगर की ओर लौट पड़े । कोशा के आवास में पहुंचते ही उनकी इच्छापूर्ति हो जायगी, इस मधुर आशा को अपने अन्तर में छुपाये वे बिना विश्राम किये द्रुततर गति से मंजिलों पर मंजिलें पार करते हुए एक विकट अटवी के मध्यभाग में पहुंचे । वहां चोरों के शकुनी तोते ने कहा - "एक लाख रौप्यक के मूल्य का माल आ रहा है ।"

चोरों के अधिपति ने वृक्ष पर चढ़े अपने एक चोर साथी से पूछा - "सावधानी से देखो, कौन आ रहा है ?"

वृक्ष पर चढ़े चोर ने कहा - "एक साधु आ रहा है ।" उस मुनि के समीप आने पर चोरों ने उसे पकड़ा पर उसके पास किसी प्रकार का द्रव्य न पा कर उन्होंने उसे जाने की अनुमति दे दी । मुनि के पथ पर अग्रसर होते ही उस शकुनी ने पुनः कहा - "एक लाख रुपयों के मूल्य का माल जा रहा है ।"

चोरों के नायक ने उस मुनि से कहा कि वह सच-सच बता दे, वस्तुतः उसके पास क्या है ?

मुनि ने बांस के दीर्घ दण्ड में छुपाये हुए रत्नकम्बल की ओर इंगित करते हुए कहा कि वह एक वेश्या को प्रसन्न करने के लिये नेपाल के महाराजा से एक

रत्नकम्बल माग कर लाया है और उसे वेश्या को देने के लिये ले जा रहा है। चोरराट् ने साश्चर्य एक अट्टहाम किया और मुनि को अपनी अभीष्टसिद्ध्यर्थ जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

रत्नकम्बल लिये वह मुनि कोशा वेश्या के सम्मुख उपस्थित हुआ और ललचाई हुई आंखों से अपनी आन्तरिक अभिलाषा अभिव्यक्त करते हुए उसने कठोर परिश्रम से प्राप्त वह रत्नकम्बल कोशा के हाथों में रख दिया। कोशा ने उस रत्नकम्बल से अपने पैरों को पोंछ कर उसे गन्दी नाली के कीचड़ में फेंक दिया।

अथक प्रयास और अनेक कष्टों को भेलने के पश्चात् लाये गये उस रत्नकम्बल की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर मुनि ने अति खिन्न एवं आश्चर्यपूर्ण स्वर में कहा—“मीनाक्षि ! इतने महाहर्ष्य रत्नकम्बल का तुमने इस अशुचिपूर्ण कीचड़ में फेंक दिया, तुम बड़ी मूर्खा हो।”

कोशा ने तत्क्षण उत्तर दिया—“तपस्विन् ! आप एक महामूढ़ व्यक्ति की तरह इस कम्बल की तो चिन्ता कर रहे हैं पर आपको इस बात का स्वल्पमात्र भी शोक नहीं है कि आप अपने चारित्र-रत्न को अत्यन्त अशुचिपूर्ण पंकिल गहन गर्त में गिरा रहे हैं।”

कोशा की बोधप्रद कटूक्ति को सुनते ही मुनि के मन पर छाया हुआ काम-सम्मोह तत्क्षण विनष्ट हो गया। उन्हें अपने पतन पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण स्वर में कोशा से कहा—“श्राविके ! तुमने मुझे समुचित शिक्षा देकर भवसागर में निमज्जित होने से बचा लिया है। गुल्मज्ञा की अवहेलना कर मैंने जो यह पापाचरण किया है, उसकी शुद्धि हेतु मैं अभी गुरुदेव की शरण में जाकर कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण करूंगा।”

यह कहकर मुनि तत्काल कोशा के घर से निकलकर आचार्य सम्भूतविजय की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पतन का सच्चा विवरण उनके समक्ष प्रस्तुत करते हुए क्षमायाचना के साथ-साथ समुचित प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी शुद्धि की।

उन्होंने मुक्तकण्ठ से मुनि स्थूलभद्र की प्रशंसा करते हुए कहा—“आर्य स्थूलभद्र वस्तुतः महान् हैं। सच्चे कामविजयी होने के कारण वे ही ‘दुष्कर-दुष्करकारक’ की सर्वोत्कृष्ट महती उपाधि से विभूषित किये जाने योग्य हैं।”

तदनन्तर वे मुनि निर्मल भाव से कठोर तपश्चरण और निरतिचार संयम साधना से अपने कर्मसमूह को विध्वस्त करने में प्रवृत्त हो गये।

### श्रीयक को विरक्ति

शकडाल पुत्र स्थूलभद्र की तरह शकडाल की यक्षा, यक्षदिना, भूता, भूत-दिना, सेणा, वेणा और रेणा नामक सातों पुत्रियों ने भी अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण कर ली थी। वररुचि को भी उसके

दुष्कर्म के अनुरूप प्रतप्त शीशा पीकर मरता पड़ा। उसे उसके पाप का फल मिल चुका था। कर्म-रज्जु के निबिड़तम पाश में आवद्ध प्राणियों की मदारी के मर्कट के समान विचित्र लीलाएं देखकर श्रीयक को भी संसार के प्रपंचों से विरक्ति हो गई और उसने भी लगभग ७ वर्ष तक मगध के महामात्य पद का कार्यभार सम्भालने के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० सं० १५३ में आचार्य संभूतविजय के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। तत्कालीन संस्कृति में त्याग, तप की ओर इतना आकर्षण था कि महामात्य पद और लक्ष्मीदेवी को छोड़कर शकाल के दोनों पुत्र और सातों कन्याएं दीक्षित हो गईं। कितना बड़ा त्यागानुराग !

आचार्य संभूतविजय और आचार्य भद्रबाहु के सम्मिलित आचार्य काल में भी एक सुदीर्घकाल का भीषण दुष्काल पड़ा। उस भीषण दुष्काल की भयावह स्थिति के समय आचार्य संभूतविजय का धीर निर्वाण संवत् १५६ में स्वर्गवास हुआ। अपने ज्येष्ठ गुरुआता आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु ने संघ के संचालन की बागडोर पूर्णरूपेण अपने हाथ में सम्भाली। आर्य स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार विविध क्षेत्रों में धर्म-प्रसार करते हुए विचरण करने लगे।

उन्हीं दिनों मगधपति नन्द ने अपने एक सारथी के रथसंचालन-कौशल पर प्रसन्न हो उसे पारितोषिक के रूप में कोशा-वेश्या प्रदान कर दी। अपने अन्तर्भन से अभिग्रहीत श्राविकाव्रत पर संकटपूर्ण स्थिति आई समझकर कोशा ने बड़ी चतुराई से काम लिया। वह एक विरागिन की भांति हास-परिहास, शृंगारालंकारादि प्रसाधनों का परित्याग कर सादे वेष में उदास मुखमुद्रा बनाये उस सारथी के समक्ष उपस्थित होती और प्रत्येक बार आर्य स्थूलभद्र की प्रशंसा करते हुए कहती - "इस संसार में वस्तुतः यदि कोई पुरुष है, तो वह आर्य स्थूलभद्र ही हैं। उनके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता।"

### अद्भुत कला-कौशल

अपने प्रति विरक्ता कोशा को आकर्षित करने की दृष्टि से उस रथिक ने अपनी धनुर्विद्या का अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया। उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान कर पके हुए आमों के गुच्छे में एक तीर मारा। तदनन्तर अति त्वरित् वेग से हस्तलाघव प्रकट करते हुए उसने तीर पर तीर मारना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणों में तीरों की एक लम्बी पंक्ति बन गई और उस बाणावली का अन्तिम छोर उस रथिक से एक हाथ की दूरी पर रह गया। अब उसने एक अर्द्धचन्द्राकार बाण के प्रहार से उस टहनी को काट डाला, जिस पर कि वह आमों का झुमका लटक रहा था। इसके पश्चात् उसने उस तीरों की पंक्ति के अन्तिम तीर को अपने हाथ से पकड़ कर अपनी ओर खींचते हुए आमों के उस गुच्छे को अपने एक हाथ से पकड़कर कोशा को भेंट किया। रथिक अपने शस्त्र-कौशल पर फूला नहीं समा रहा था।

पर कोशा को किञ्चित्मात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ। वह रथिक के गर्व को चूर्ण करने की इच्छा से यह कहते हुए उठी—“अब तुम मेरी कला का चमत्कार देखो।” कोशा ने अपनी दासियों को कह कर उस विशाल कक्ष के प्रांगण के बीचोंबीच सरसों का एक ढेर लगवाया। गुलाब के फूल की कतिपय पंखुड़ियों को सुई से वेध कर कोशा ने उस सर्पपराशि पर डाल दिया। तदनन्तर कोशा ने सर्पपराशि पर नृत्य प्रारम्भ किया। अपनी सधी हुई सुकोमल देहयष्टि को यथेप्सित रूप से झुकाती, झुमाती हुई वह भूरे बादलों पर चपला की अनवरत चमक की तरह सर्पपराशि पर एक घटिका पर्यन्त नृत्य करती रही। अत्यद्भुत, परम मनोहारि होने के साथ-साथ कोशा के नृत्य-कौशल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इतने लम्बे समय के नृत्य से भी न कहीं से वह सर्पपराशि खण्डित हुई और न सुई ही उसके पैर में कहीं चुभी।

कोशा के नृत्य की समाप्ति पर भी रथिक चित्रलिखित सा अवाक् कोशा की ओर देखता ही रह गया। कतिपय क्षणों के पश्चात् थोड़ा प्रकृतिस्थ होने पर रथिक ने कोशा को सम्बोधित करते हुए कहा—“भद्रे ! किसी भी मानवी द्वारा दुस्साध्य तुम्हारे इस चमत्कारपूर्ण अत्यद्भुत, अतिसुन्दर नृत्य को देख कर मुझे अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है। तुम जो कुछ मांगना चाहती हो, वह मुझसे मांग लो, मैं इसी समय तुम्हारी वह अभीप्सित वस्तु तुम्हें दूंगा।”

कोशा ने कहा—“भद्र ! न तुम्हारा यह लुम्बिछेदन ही दुष्कर है और न मेरा सर्पप-सूची पर नृत्य ही। निरन्तर अभ्यास करने पर इनसे भी अत्यधिक कठिन कार्य किये जा सकते हैं। वस्तुतः दुष्करातिदुष्कर कार्य तो आर्य स्थूलभद्र ने किया है कि वारह वर्षों तक मेरे साथ यहाँ विविध कामोपयोगों का उपभोग करते रहे किन्तु दीक्षित होने के पश्चात् चार मास तक पड़रस भोजन करते हुए मेरे साथ इस चित्रशाला में संयमपूर्वक रह कर उन्होंने अजेय कामदेव पर विजय प्राप्त की। उन कामविजयी महान योगी स्थूलभद्र के चरित्र से प्रेरणा लेकर मैंने भी श्राविका-व्रत अंगीकार किया है। संसार का प्रत्येक पुरुष अब मेरे लिये सहोदर के समान है।”

कोशा की बात सुन कर रथिक निषण्ण रह गया। कोशा से मुनि स्थूलभद्र का परिचय प्राप्त कर वह संसार से विरक्त हो गया और उनके पास दीक्षित हो श्रमणाचार का पालन करने लगा। आर्य स्थूलभद्र के इस प्रेरणाप्रद चरित्र ने न मालूम ऐसे कितने ही पतनोन्मुख प्राणियों का उद्धार किया होगा।

**पाटलीपुत्र में हुई प्रथम आगम-वाचना**

(वीर नि० सं० १६०)

आचार्य मम्भूतविजय के स्वर्गगमन से पूर्व मध्य देश में अनावृष्टिजन्य जो भीषण दुष्काल पड़ा था, उसकी विभीषिका से बचने के लिये बहुत से श्रमण दुष्काल से प्रभावित क्षेत्र का परित्याग कर सुदूरवर्ती क्षेत्रों की ओर चले गये।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी भी कुछ श्रमणों के साथ नेपाल की ओर विहार कर गये। दुष्कालजन्य अन्नाभाव के कारण अनेक आत्मार्थी मुनियों ने संयम विराधना के भय से अनशन एवं समाधिपूर्वक भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा देहत्याग कर अपना जीवन सफल किया।<sup>१</sup> उन्होंने अपवाद की स्थिति में भी अपने संयम में शौधित्य नहीं आने दिया।

दुभिक्ष की समाप्ति और सुभिक्ष हो जाने पर विभिन्न क्षेत्रों में गये हुए श्रमण-श्रमणी-समूह पुनः पाटलीपुत्र लौटे। भीषण दुष्काल के दुस्सह परीषहों के भुक्तभोगी वे सब श्रमण परस्पर एक-दूसरे को देख कर ऐसा अनुभव करने लगे मानो वे परलोक में जा कर पुनः लौटे हों।<sup>२</sup> सुदीर्घकाल की भूख-प्यास और पग-पग पर अनुभूत विविध मारणान्तिक संकटों के कारण श्रुत का परावर्तन न हो सकने के फलस्वरूप बहुत सा श्रुत विस्मृत हो गया। वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि किस-किस को कितना-कितना श्रुत याद है? जव सभी श्रमणों ने देखा कि दीर्घकाल के दैवो प्रकोप के कारण श्रमण वर्ग समय पर एकादशांगी के पाठों का स्मरण, चिन्तन, मनन, पुनरावर्तन आदि नहीं कर सका है, जिसके परिणामस्वरूप सूत्रों के अनेक पाठ अधिकांश श्रमणों के स्मृतिपटल से तिरोहित हो चुके हैं। तब अंग शास्त्रों की रक्षा हेतु उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एकादशांगी के पारगामी स्थविर एक जगह एकत्रित हो समस्त अंगों की वाचना करें और द्वादशांगी को क्षीण एवं विनष्ट होने से बचायें।

इस प्रकार के निश्चय के पश्चात् आगमों की पहली वृहद्वाचना पाटलीपुत्र में लगभग वीर निर्वाण संवत् १६० में की गई। वहां उपस्थित समस्त श्रमण उस वाचना में सम्मिलित हुए। श्रमण-संघ के आचार्य भद्रबाहु उस समय नेपाल प्रदेश में महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ करने गये हुए थे अतः स्वर्गस्थ आचार्य सम्भूतविजय के शिष्य आर्य स्थूलभद्र के तत्वावधान में यह वाचना हुई।

<sup>१</sup> केहि वि विराहणा-भीरुएहि प्रदभीरुएहि कम्माणं ।

समणेहि संकलिट्ठं, पच्चक्खायाइं भत्ताइं ॥६॥

[तित्थोगालियपइष्णा]

<sup>२</sup> (क) ते दाइं एकमेकं, गयसेसा विरस दट्ठण ।

परलोगमणपच्चागयं व मग्गांति अप्पाणं ॥१२॥

[तित्थोगालिय प०]

(ख) जाग्रो अ तम्मि समए दुक्कालो दोग दस य वरिसाण ।

सग्घो साहुसमूहो गग्घो तग्घो जलहितीरेसु ॥

तदुवरमे सो पुण्णरवि पाडलिपुत्ते समागग्घो विहिया ।

संवेण सुयविसया चिता कि कस्स अत्येति ॥

जं जस्स आसि पासे उहेसज्जयणमाइ संघट्ठिं ।

तं सव्वं एककारय अंगाइं तहेव ठवियाइं ॥

[उपदेशपद, हरिभद्रसूरिकृत]

<sup>३</sup> ते विति एकमिक्कं, सग्घाधो कस्स कित्तमो धरति ।

हंति दुट्ठुकालेणं, अग्हं नट्ठे हु सग्घावो ॥१३॥

[तित्थोगालियपइष्णा (अमकाशित)]

द्वादशांगी के अनुक्रम से एक-एक अंग की समीचीनरूपेण वाचना में श्रमणों के पारस्परिक आत्यन्तिक सहयोग से विस्मृत पाठों को यथातथ्यरूपेण संकलित कर लिया गया। कतिपय मासों के अनवरत एवं अथक प्रयास से सम्पूर्ण एकादशांगी की वाचना संपन्न हुई। सब साधुओं ने अपने विस्मृत पाठों को उन साधुओं से सुन-सुन कर कण्ठस्थ किया जिनको कि वे कण्ठस्थ थे। इस प्रकार श्रमणसंघ की दूरदक्षिता और परस्पर सहयोग एवं आदान-प्रदान की वृत्ति ने एकादशांगी को विनष्ट होने से बचा लिया। दुष्काल के दुस्सह ताप से शुष्क श्रुतसागर पुनः श्रमणसंघ के मानस में अपनी पूर्ववत् अथाह ज्ञान-जलराशि और उत्ताल तरंगों के साथ कल्लोलित हो उठा।

### एक विकट समस्या

एकादशांगी की वाचना के समीचीनतया सम्पूर्ण होते ही श्रमणसंघ के समक्ष श्रुत की रक्षा के विषय में एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। वह यह कि उपस्थित श्रमणों में दृष्टिवाद का शाता एक भी श्रमण विद्यमान नहीं था। श्रमणसंघ के प्रत्येक साधु को पूछा गया कि क्या उनमें कोई चतुर्दश पूर्वधर है? पर सब का उत्तर नकारात्मक था। इस पर श्रमणसंघ को बड़ी चिन्ता हुई कि बिना दृष्टिवाद के भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित प्रवचनों के सार को किस प्रकार धारण किया जा सकता है? गम्भीर मन्त्रणा के पश्चात् श्रमणसंघ को आशा की एक किरण दृष्टिगोचर हुई। संघ के समक्ष कतिपय श्रमणों ने यह बात रखी कि समस्त श्रमणसंघ में केवल आचार्य भद्रबाहु ही चतुर्दशपूर्वधर हैं। वे इस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे हैं। केवल वे ही चतुर्दश पूर्वों की सम्पूर्ण वाचनाएं श्रमणों को दे कर दृष्टिवाद को नष्ट होने से बचा सकते हैं। संघ के समक्ष यह विचार भी रखा गया कि इस प्रकार की उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना में निरत आचार्य भद्रबाहु श्रमणों को पूर्वों की वाचना देना स्वीकार न करें तो उस दशा में क्या उपाय किया जाय।

अन्ततोगत्वा श्रमणसंघ द्वारा यही निश्चय किया गया कि श्रमणों के एक विशाल संघाटक को भद्रबाहु के पास नेपाल भेज कर संघ की ओर से प्रार्थना की जाय कि वे साधुओं को चतुर्दश पूर्वों की वाचनाएं दे कर श्रुतसागर की रक्षा करें। श्रमणसंघ के इस निर्णय के अनुसार स्थविरों के तत्वावधान में श्रमणों का एक बड़ा संघाटक पाटलीपुत्र से नेपाल की ओर प्रस्थित हुआ। श्रुतरक्षा की पावन एवं अमिट अभिलाषा लिये हुए उग्र विहार करता हुआ वह श्रमणों का संघाटक कुछ ही दिनों में आचार्य भद्रबाहु की सेवा में नेपाल पहुंचा। सविधि वंदन के पश्चात् उस संघाटक के मुखिया स्थविरों ने उस समय के सर्वसत्तासम्पन्न आचार्य भद्रबाहु की सेवा में संघ की ओर से निवेदन किया — “केवली तुल्य भगवन् ! पाटलीपुत्र में एकत्रित श्रमणसंघ ने एकादशांगी वाचना के अनन्तर

१ ते विति सब्ब सारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो ।

कह पुंस्वगएण विणा, पवणसारं घरेहामो ॥१५॥ [तित्योगालियपडिणा (अप्रकाशित)]



आपकी सेवा में प्रार्थना के रूप में यह संदेश भेजा है कि आज श्रमणसंघ में आपके अतिरिक्त चतुर्दश पूर्वों का ज्ञाता और कोई अन्य श्रमण अवशिष्ट नहीं रहा है अतः श्रुतरक्षा हेतु आप योग्य श्रमणों को चौदह पूर्वों का ज्ञान प्रदान करें।”

आवश्यक चूर्णि और धर्मसागरकृत तपागच्छ पट्टावली के अनुसार पाटलि-पुत्र से एक साधुओं का संघाटक भद्रबाहु को लाने के लिये नेपाल भेजा गया। महाप्राण ध्यान में संलग्न होने के कारण भद्रबाहु द्वारा संघाजा के अस्वीकार किये जाने पर संघ ने दूसरा संघाटक भेजा। उस संघाटक ने भद्रबाहु से पूछा— संघ की आज्ञा न मानने वालों के लिये किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है? भद्रबाहु ने कहा— “बहिष्कार। पर मैं महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ, संघ मेरे ऊपर अनुग्रह करे और सुयोग्य शिक्षार्थी श्रमणों को वहाँ भेज दे। मैं उन्हें प्रतिदिन ७ वाचनाएँ देता रहूँगा।” तदनन्तर संघ ने स्थूलभद्र आदि ५०० श्रमणों को भद्रबाहु के पास पूर्वज्ञान के अभ्यासार्थ भेजा, इस प्रकार का उल्लेख उपरोक्त ग्रन्थों में किया गया है।

पर तित्थोगालिय पइत्ता के अनुसार एक ही बार भेजे गए संघाटक द्वारा ही उपरिलिखित पूरी बातचीत व व्यवस्था की गई। संभव है संघाटक द्वारा भद्रबाहु की ओर से स्वीकृति सूचक उत्तर पाने पर ही पाटलीपुत्र से साधु-समुदाय को नेपाल भेजा गया हो। तित्थोगाली का उल्लेख इस प्रकार है :—

आगत श्रमणों से श्रमणसंघ का संदेश सुन कर आचार्य भद्रबाहु ने कहा— “पूर्वों के पाठ अति क्लिष्ट हैं, उनकी वाचना देने के लिये पर्याप्त समय की अपेक्षा है। परन्तु मेरे जीवन का संध्याकाल समुपस्थित हो जाने के फलस्वरूप पर्याप्त समयभाव के कारण मैं श्रमणों को पूर्वों की वाचनाएँ देने में असमर्थ हूँ। मेरी अब थोड़ी ही आयु अवशिष्ट है, मैं आत्मकल्याण में व्यस्त हूँ, ऐसी दशा में इन वाचनाओं के देने से मेरा कौन सा आत्म-प्रयोजन सिद्ध होगा?”

संघ की विनति को आचार्य भद्रबाहु द्वारा इस प्रकार ठुकराये जाने पर संघ की ओर से नियुक्त श्रमणों ने कुछ आवेशपूर्ण स्वर में भद्रबाहु से कहा “आचार्यप्रवर! हमें बड़े दुःख के साथ आपसे यह पूछने को बाध्य होना पड़ रहा है कि संघाजा के न मानने के परिणामस्वरूप क्या दण्ड प्राप्त होता है?”

आचार्य भद्रबाहु ने गम्भीरतापूर्ण स्वर में उत्तर दिया— “वीरशासन के नियमानुसार इस प्रकार का उत्तर देने वाला साधु श्रुतनिह्व समझा जाकर संघ से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिये।”

इस पर साधु—संघाटक के मुखियों ने कहा— “आप संघ के सर्वोच्च नायक हैं। ऐसी दशा में बारह प्रकार के संभोगविच्छेद के नियम को जानते हुए भी आप पूर्वों की वाचना देना अस्वीकार किस प्रकार कर रहे हैं?”

१ सो भणति एव भणिए भविससो वीरवणनियमेण ।

दण्डेवणो सुवनिह्वो ति,.....।।२५।।

[ तित्थोगालियपइत्ता ]

आचार्य भद्रबाहु ने निर्णयात्मक स्वर में कहा — “एक शर्त पर मैं वाचना देने को तैयार हूँ। वह यह है कि जिस समय मैं महाप्राण ध्यान द्वारा आत्मसाधना में लगा रहूँ उस समय मैं किसी से बात नहीं करूँगा और न उस समय और कोई मुझसे बात करे। ध्यान के पारण के पश्चात् मैं साधुओं को पूर्वो की प्रतिदिन ७ वाचनाएं दूँगा। एक वाचना गोचरी से लौटने के पश्चात्, तीन वाचनाएं तीनों कालवेलाओं में और तीन वाचनाएं सायंकाल के प्रतिक्रमण के पश्चात् दूँगा। इस प्रकार “मेरे ध्यान में भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी और संघ के आदेश की पूर्ति भी हो जायगी।”

श्रमण-संघाटक के मुखियों ने भद्रबाहु की इस शर्त को स्वीकार कर लिया और आर्य स्थूलभद्र आदि ५०० मेधावी श्रमणों को आचार्य भद्रबाहु ने अपनी प्रतिज्ञानुसार पूर्वो की वाचना देना प्रारम्भ किया। त्रिपय की जटिलता, दुरूहता अथवा यथेप्सित वाचनाएं न मिलने के कारण शनैः शनैः ४९९ पूर्व-ज्ञान के शिक्षार्थी-श्रमण हताश हो पढ़ना बन्द कर वहाँ से पाटलिपुत्र लौट गये पर आर्य स्थूलभद्र धैर्य, लगन एवं बड़े परिश्रम के साथ निरन्तर आचार्य भद्रबाहु के पास पूर्वो का अध्ययन करते रहे। इस प्रकार अपने द्वादशवार्षिक महाप्राण ध्यान के अवशिष्ट काल में आचार्य भद्रबाहु ने ध्यान की साधना के साथ-साथ आर्य स्थूलभद्र को निरन्तर आठ वर्ष तक वाचनाएं दीं और उस आठ वर्ष की अवधि में आर्य स्थूलभद्र आठ पूर्वो के ज्ञाता बन गये। आर्य स्थूलभद्र के धैर्य और ज्ञान-पिपासा आदि गुणों से प्रसन्न हो कर आचार्य भद्रबाहु ने एक दिन उनसे कहा— “वत्स ! अब मेरे ध्यान की समाप्ति का समय सन्निकट आ पहुंचा है। ध्यान के समाप्त हो जाने पर मैं तुम्हें यथेप्सित वाचनाएं देता हूँगा।”

गुरुचरणों में मस्तक झुकाते हुए स्थूलभद्र ने पूछा — “भगवन् ! अब मुझे और कितना अध्ययन करना अवशिष्ट है ?”

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर में कहा — “सौम्य ! सिन्धु की अगाध जलराशि में से एक बूंद के तुल्य तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न हुआ है। एक बिन्दु के अतिरिक्त अभी सिन्धु सम ज्ञान का अध्ययन अवशिष्ट है।”

१ “तम्मि य काले वारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठित्तो । संजता इतो-इतो य समुद्धतीरे गच्छित्ता पुणरवि ‘पाडलिपुत्ते’ मिलिता । तेसि अण्णस्स उद्देशो, अण्णस्स खंड, एवं संघाडित्तेहि एक्कारस अंगाणि संघातित्ताणि दिट्ठिवादो नत्थि । ‘नेपाल’ वत्तिणीए य भद्दाहुसामी अच्छत्ति चोदसपुब्बो, तेसि संघेणं पत्थवित्तो संघाडओ ‘दिट्ठिवाद’ वाइहि त्ति । गतो, निवेदितं संघवज्जं । तं ते भग्गति-दुक्कालनिमित्तं महापाणं न पबिट्ठो मि तो न जाति वायणं दातुं । पडिणियत्तेहि संघस्स अक्खातं । तेहि अण्णो वि संघाडओ विसज्जितो, जो संघस्स आणं प्रतिक्कमति तस्स को दंडो ? तो अक्खाई-उग्घाडिज्जइ । ते भग्गति मा उग्घाडेह, पेमह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि ।”

अपने शिष्य के शुभ्र मुखमण्डल पर निराशा की हल्की सी काली छाया देख कर आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा - "हताश न हो सौम्य ! मैं तुम्हें शेष पूर्वों का अध्ययन बहुत शीघ्र ही करवा दूंगा ।"

महाप्राण ध्यान की परिसमाप्ति होते-होते आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम दश पूर्वों का ज्ञान करवा दिया । ध्यान के समाप्त होते ही आचार्य भद्रबाहु ने अपने शिष्यसंघ सहित नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर विहार किया । महान् आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु के शुभागमन का समाचार सुन कर पाटलिपुत्र के नागरिक हर्ष से फूले नहीं समाये । हजारों नागरिकों, सामन्तों और श्रेष्ठियों ने सम्मुख जाकर उस महान् योगी के भावपूर्ण स्वागत एवं दर्शन, वन्दन तथा उपदेश श्रवण से अपने आपको कृतकृत्य किया । नगर के बाहर उद्यान में पहुंच कर आचार्य भद्रबाहु ने उद्वेलित सागर की तरह उमड़े हुए सुविशाल जनसमूह के समक्ष अध्यात्म ज्ञान से ओतःप्रोत धर्मोपदेश दिया । आचार्यश्री की पातकप्रक्षालिनी जगद्धितकारिणी अमृत-वाणी को सुन कर अनेक भव्यों ने यथाशक्ति सर्वविरति और देशविरति व्रत ग्रहण किये ।

आचार्य भद्रबाहु और आर्य स्थूलभद्र आदि महर्षियों के दर्शन हेतु स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों बहनें साध्वियों भी नगर के बाहर उस उद्यान में पहुंचीं । आचार्यश्री को प्रगाढ़ श्रद्धा से वन्दन करने के पश्चात् महासती यक्षा ने हाथ जोड़ कर अति विनीत स्वर में आचार्यश्री से पूछा - "भगवन् ! हमारे ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र कहां विराजते हैं ?"

आचार्यश्री ने फरमाया - "आर्य स्थूलभद्र उस ओर के जीर्ण-शीर्ण खण्डहर-प्राय चैत्य में स्वाध्याय कर रहे होंगे ।"

आर्या यक्षा आदि सातों बहनें अनेक पूर्वों का ज्ञान उपार्जित कर वर्षों पश्चात् आये हुए अपने ज्येष्ठ बन्धु को देखने की तीव्र उत्कण्ठा लिये आचार्यश्री द्वारा इंगित खण्डहर की ओर बढ़ीं । दूर से ही अपनी बहनों को आती हुई देख कर आर्य स्थूलभद्र के मन में अपनी बहनों को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने का कुतूहल उत्पन्न हुआ । उन्होंने तत्क्षण विद्या के प्रभाव से धनी और लम्बी केसर युक्त अति विशालकाय सिंह का स्वरूप बना लिया । उस जीर्ण चैत्य के अन्दर पहुंच कर साध्वियों ने देखा कि वहां एक भयावह सिंह बैठा हुआ है और उनके अग्रज आर्य स्थूलभद्र वहां कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, तो वे तत्क्षण आचार्यश्री के पास लौट कर कहने लगीं - "भगवन् वहां तो एक केसरी बैठा हुआ है, आर्य स्थूलभद्र वहां कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं । हम इस आशंका से आकुल-व्याकुल हो रही हैं कि कहीं उन होनहार विद्वान् श्रमण को सिंह ने तो नहीं खा डाला है ?"

आचार्यश्री ने ज्ञानोपयोग से तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ कर आश्वासन भरे स्वर कहा - "वत्सामो ! लौट कर देखो, अब वहां कोई सिंह नहीं अपितु

तुम्हारा बड़ा भाई ही बैठा हुआ है। जिसे तुम सिंह समझ रही हो वह सिंह नहीं तुम्हारा भाई ही था।”

यक्षा आदि साध्वियां जब चैत्य में लौटीं तो वहां सिंह के स्थान पर अपने भाई को देख कर वे बड़ी प्रसन्न हुईं। वन्दन-नमन के पश्चात् उन्होंने उत्सुकता भरे स्वर में पूछा—“ज्येष्ठार्य! अभी कुछ ही क्षणों पहले तो आपके स्थान पर सिंह बैठा हुआ था, वह सिंह कहाँ गया?”

आर्य स्थूलभद्र ने हँसते हुए कहा—“यहाँ कोई सिंह नहीं था, वह तो मैंने अपनी विद्या का परीक्षण किया था।”

अपने अग्रज को अद्भुत विद्याओं का आगार समझ कर यक्षा आदि सातों साध्वियों ने असीम आनन्द का अनुभव किया।

तदनन्तर साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को एकाशन और तत्पश्चात् उपवास करने की प्रेरणा देने व उपवास के फलस्वरूप परम सुकुमार श्रीयक के दिवंगत होने की दुखद घटना मुनि स्थूलभद्र को सुनाई।

मुनि श्रीयक का उपवास में मरणा होने के कारण साध्वी यक्षा को बड़ा दुःख हुआ। कहा जाता है कि यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिये अपने आपको दोषी मानते हुए उग्र तपस्या करना प्रारम्भ किया। अनेक पूर्वाचार्यों ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि यक्षा की कठोर तपस्या से चिन्तित हो संघ ने शासनदेवी की साधना की। देवी सहायता से साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी की सेवा में पहुँची। श्री सीमंधर प्रभु ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताते हुए उसे चार अध्ययन जूलिका रूप में प्रदान किये।

आचार्य भद्रबाहु के समय में साध्वी समुदाय का नेतृत्व किस आर्या द्वारा किया जाता रहा, इसका तो कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता पर परम विदुषी साध्वियां यक्षा आदि आर्य स्थूलभद्र की ७ बहिनों के नाम प्रमुख रूप से आते हैं।<sup>१</sup> इससे यह अनुमान होना सहज है कि आर्या यक्षा का तत्कालीन साध्वीसंघ में अग्रस्थ ही कोई विशिष्ट स्थान रहा होगा।

ज्ञानाराधन सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तरों के पश्चात् वे सातों साध्वियां अपने स्थान को लौट गईं।

साध्वियों के लौट जाने के पश्चात् वाचना का समय आने पर जब आर्य स्थूलभद्र आचार्यश्री की सेवा में पहुँचे तो आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में कहा—“वत्स! ज्ञानोपाजन करना बड़ा कठिन कार्य है पर वस्तुतः उपाजित किये हुए ज्ञान को पचा जाना उससे भी अति दुष्कर है। तुम गोपनीय विद्या को पचा नहीं सके। तुम अपने शक्तिप्रदर्शन के लोभ का संवरण नहीं कर सके।

रेरस्त एं अज्ज संभूइविजयस्त माडरगुत्तस्त इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ महाबन्धाओ,  
भ्रमत्वाओ होत्वा सं जहा—जक्का य जक्कविच्चा..... [कल्पसूत्र]

तुमने अपनी बहनों के समक्ष अपनी गुरुता और अपनी विद्या का चमत्कार प्रकट कर ही दिया। ऐसी दशा में तुम अब आगे के पूर्वों की वाचना के योग्य पात्र नहीं हो। जितना तुमने प्राप्त कर लिया है, उसी में सन्तोष करो। यह याद रखो, साधना के अति विकट पथ पर विचरण करने वाला केवल वही साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है, जो पूर्णरूपेण स्व को विस्मृत कर देता है। प्रदर्शन स्व की विस्मृति नहीं अपितु स्व की ओर आकर्षण है। साधक को एक क्षण के लिये भी यह नहीं भूलना चाहिये कि आत्मानन्द की अवाप्ति ही उसका एकमात्र ध्येय है। आत्मानन्द की अनुभूति के समक्ष अष्ट सिद्धि, नवनिधि तुल्य उच्च से उच्च कोटि के वैभव का न कभी कोई भूल्य रहा है और न होना ही चाहिए। समस्त भौतिक सम्पदाएं आत्मानन्द की तुलना में नगण्य, तुच्छ और नश्वर हैं।”

आचार्य श्री की बात सुन कर आर्य स्थूलभद्र को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने गुरुचरणों पर अपना मस्तक रखते हुए अनेक बार क्षमायाचनाएं कीं और बार-बार इस प्रतिज्ञा को दोहरा गये कि वे भविष्य में इस प्रकार की भूल कभी नहीं करेंगे। किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने यह कहते हुए वाचना देने से इन्कार कर दिया कि अन्तिम चार पूर्वों के अनेक दिव्य विद्याओं एवं चमत्कारपूर्ण लब्धियों से श्रोत-श्रोत ज्ञान को धारण करने के लिये वह योग्य पात्र नहीं है।

वस्तुस्थिति का बोध होते ही समस्त श्रीसंघ भी आचार्य भद्रबाहु की सेवा में उपस्थित हुआ और आचार्य श्री से बड़ी अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना करने लगा कि आर्य स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर के अथवा उसका उचित दण्ड दे कर उन्हें आगे के पूर्वों की वाचनाएं दी जायं।

संघ की प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु ने कहा — “वस्तुतः पूर्वज्ञान का योग्य पात्र समझ कर मैंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्व का अर्थ और पूर्ण विवेचन सहित ज्ञान दिया है। मैं यह भलीभांति जानता हूँ कि बुद्धिबल, अध्यवसाय, धैर्य, गाम्भीर्य, वैराग्य, त्याग और विनय आदि जो गुण स्थूलभद्र में हैं, उस दृष्टि से इनकी तुलना करने वाला अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। आप लोगों को चिन्तित अथवा दुःखित होने की आवश्यकता नहीं। मैं जो आगे के चार पूर्वों की वाचनाएं इन्हें नहीं दे रहा हूँ उसके पीछे एक बहुत बड़ा कारण है। यह तो सर्वविदित ही है कि आर्य स्थूलभद्र का जन्म महामन्त्री शकडाल के यहां हुआ है। इन्होंने कुमारावस्था में समस्त विद्याओं का अध्ययन कर उनमें निपुणता प्राप्त की। रूप-लावण्यादि स्त्रियोचित सभी गुणों में सुरबाला के समान कोशा के लक्ष्मीगृह तुल्य सभी सामग्रियों से सम्पन्न एवं समृद्ध सुरम्य भवन में रहते हुए इन्होंने सुरोपम कामादि सभी सुखों का कोशा के साथ जी भर बारह वर्षों तक उपभोग किया। पितृमरण के पश्चात् मगधाधिपति नन्द द्वारा महामात्य पदग्रहण करने की प्रार्थना पर विचार करते

हुए इन्होंने समस्त सांसारिक वैभव एवं मुखोपभोगादि को तुच्छ समझा। इन्हें तत्क्षण संसार से उत्कट विरक्ति हो गई और तत्काल मगध के महामात्य पद को, अपने घर की तथा कोशा की अपार सम्पत्ति को और अपनी प्रेयसी कोशा तक को युवावस्था में त्याग कर संयम ग्रहण कर लिया। गुरु की आज्ञा ले कर चार मास तक षडरस भोजन करते हुए निरन्तर कोशा के एकान्त संसर्ग में रह कर भी संयम-मार्ग पर मेरू गिरी की तरह स्थिर रहे। अजेय कामदेव पर इनकी इस महान् विजय के उपलक्ष में आचार्य संभूतविजय ने इन्हें 'दुष्कर-दुष्करकारकः' की उपाधि से विभूषित किया।<sup>१</sup>

इस प्रकार का महान् त्यागी, उच्चकोटि का मनोविजयी, दश पूर्वों के ज्ञान का धारक यह कुल-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने शक्ति-प्रदर्शन के लोभ का संवरण नहीं कर सका<sup>२</sup> तो अन्य साधारण लोग तो उन दिव्य विद्याओं, शक्तियों और लब्धियों को प्राप्त कर किस प्रकार पचा सकेंगे, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अब भविष्य में ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता जायगा त्यों-त्यों क्षण-क्षण में रुष्ट हो जाने वाले, अविनीत और गुरु की अवज्ञा करने वाले स्वल्पसत्वधारी श्रमण होंगे। उन मुनियों के पास यदि इस प्रकार की महाशक्तिशालिनी विद्याएं चली गईं तो वे क्षुद्रबुद्धि वाले श्रमण साधारण से साधारण बात पर किसी से क्रुद्ध हो कर चार प्रकार की विद्याओं के बल से लोगों का अनिष्ट कर अपने संयम से पतित हो सर्वनाश तक करने पर उतारू हो जायेंगे और इस प्रकार के उन दुष्ट कर्मों के फलस्वरूप अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहेंगे।<sup>३</sup>

ऐसी दशा में सभी दृष्टियों से श्रेयस्कार यही है कि शेष चार पूर्वों का ज्ञान अब भविष्य में लोगों को न दिया जाय।”

इस पर आर्य स्थूलभद्र ने कहा — “आप जो फरमा रहे हैं, वह ठीक है परन्तु आने वाली पीढ़ियां यही कहेंगी कि स्थूलभद्र की भूल के कारण अंतिम

<sup>१</sup> रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस संभूतो ।

गेहगभो चव पुणो, विसारओ सव्वसत्थेसु ॥६६॥

सो कुलधरस्स सिद्धि, गणियावरसंतियं च सामिद्धि ।

पाएण पुणो वेउं, एतात्तिणगरा अणवयक्खा ॥६७॥

[तिरथोगालियपइधम]

<sup>२</sup> जो एवं पुव्वविउ, एवं सज्जायभाणउज्जुतो,

गारवकरणेण हिओ, सीलभरुव्वहएणधारणया ॥६८॥

[वही]

<sup>३</sup> जह जह एही काले, तह तह अण्पावराहसंरद्धा ।

अणगारा पडणीए, निसंसयउ वट्टवेहिति ॥६९॥

उण्पायणीहि अवरं, केई विज्जाए इत्तरणं ।

उ विवहविज्जाहि, इट्ठाहि काहि उड्ढाहं ॥७०॥

मंतेहि य उण्णेहि य कुच्छियविज्जाहि तेण निमित्तेणं ।

काऊण उवज्जायं, भमिही सो एतंसंसारे ।

[वही]

चार पूर्व विनष्ट हो गये । इस अपयश की कल्पनामात्र से मैं सिहर उठता हूँ अतः आप मुझे भले ही शेष पूर्वों का अर्थ और विशिष्ट विवेचन न बताइये पर मूल रूप से तो उनकी वाचना मुझे देने की कृपा करिये ।”

चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने यह निश्चित तौर पर समझ लिया था कि सम्पूर्ण चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान में से अंतिम चार पूर्वों का ज्ञान उनकी आयु की समाप्ति के साथ ही विच्छिन्न हो जायगा; उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को अंतिम चार पूर्वों की मूल मात्र वाचनाएं दीं ।

वीर निर्वाण संवत् १७० में, तदनुसार ईसा से ३५७ वर्ष पूर्व आचार्य भद्रबाहु के स्वर्णारोहण के पश्चात् आर्य स्थूलभद्र भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर आचार्य बने ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का इस विषय में मतैक्य है कि आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के शासन में अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर अथवा श्रुतकेवली हुए ।<sup>१</sup>

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने स्थूलभद्र को भी चतुर्दशपूर्वधर माना है । उनके अनुसार भद्रबाहु ने इस आदेश के साथ शेष पूर्वों का ज्ञान दिया कि अन्य किसी को इन पूर्वों का ज्ञान नहीं दिया जाय । जैसा कि उन्होंने परिशिष्ट पर्व में लिखा है :-

स संघेनाग्रहादुक्तो, विवेदेत्युपयोगतः ।

न मत्तः शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०६॥

अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि ।

इत्यभिग्राह्य भगवान् स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥

सर्वपूर्वधरोऽथासीत् स्थूलभद्रो महामुनिः ॥१११॥

कल्प किरणावली में भी आचार्य स्थूलभद्र को चौदह पूर्वधर माना है । यहां अन्तिम चार पूर्वों की मूल वाचना आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दी थी इसी दृष्टि से उन्हें चतुर्दश पूर्वधर मान लिया गया है । वस्तुतः आर्य स्थूलभद्र दो वस्तु कम १० पूर्वों के ही पूर्ण रूप से ज्ञाता थे । अन्तिम चार पूर्वों का तो उन्हें विना अर्थ के मूल पाठ ही पढ़ाया गया था ।

संघाधिनायक बनने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने विभिन्न क्षेत्रों में विहार कर ४५ वर्ष तक अनेक भव्यों का उद्धार करते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की ।

<sup>१</sup> पठमो दसपुंवीणां, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो ।

नामेण धूलभद्रो, अबहि साधम्मभद्रो त्ति ॥६७॥

[तित्थोगालीपइन्ना]

(ख) सिरिगोदमेण दिण्णं सुहम्मणाहस्स तेण जुंबुस्स ।

विण्हू एदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ॥४३॥

गोवद्धणो य तत्तो भद्भुमो अंतकेवली कहिणो ।

[अंगपण्णत्ती (दिगम्बरमान्यता का ग्रन्थ)]

### मित्रं धर्मेश योजयेत्

आचार्य स्थूलभद्र अनेक क्षेत्रों के भव्यों का उद्धार करते हुए विहारानुक्रम से एक दिन श्रावस्ती पधारे । दर्शन-वन्दन-उपदेशश्रवण की उमंगों से उद्वेलित जनसमुद्र आचार्यश्री की सेवा में उमड़ पड़ा । समस्त संसार के प्राणियों की कल्याणकामना करने वाले आचार्य भद्रबाहु के भवरोग निवारक भावपूर्ण उप-देशाभूत का पान कर श्रावस्ती के आबालवृद्ध नागरिकों ने परमानन्द का अनुभव करते हुए सच्चे धर्म का स्वरूप समझा ।

देशानान्तर श्रोताओं में अपने बालसखा धनदेव को न देख कर आचार्य स्थूलभद्र ने विचार किया कि श्रावस्ती के प्रायः सभी श्रद्धालु जन वहाँ आये हैं पर धनदेव नहीं आया । हो सकता है वह कहीं अन्यत्र गया हुआ हो अथवा रुग्ण हो । उसके न आने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है अन्यथा वह उनका नाम सुनते ही अवश्य उपस्थित होता । ऐसी दशा में उन्हें स्वयं उसके घर जा कर देखना चाहिये कि आत्मकल्याण की ओर भी उसका ध्यान है अथवा नहीं ।

इस प्रकार विचार कर आचार्य स्थूलभद्र धनदेव पर विशेष अनुग्रह कर मार्ग में साथ हुए जनसमूह सहित उसके घर पहुँचे । धनदेव की पत्नी कल्पवृक्ष के समान महान् आचार्य को अपने घर के प्रांगण में देख कर हर्षविभोर हो उठी । उसने भक्तिपूर्वक आचार्यश्री को वन्दन किया और एक काष्ठासन प्रस्तुत करते हुए उस पर विराजमान होने की उनसे प्रार्थना की ।

आसन पर बैठने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने धनदेव की पत्नी से धनदेव के सम्बन्ध में पूछा कि क्या वह कहीं बाहर गया हुआ है ?

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया — “भगवन् ! वे अपनी समस्त सम्पत्ति का व्यय कर चुकने के पश्चात् दैन्य के दारुण दुःख से पीड़ित हो अर्थोपार्जन हेतु देशान्तर में गये हुए हैं ।”

अपने बालसखा की दैन्यावस्था पर विचार करते हुए स्थूलभद्र ने अपने ज्ञानबल से देखा कि धनदेव के घर में एक स्तम्भ के नीचे अपार निधि रखी हुई है । उन्होंने उस स्तम्भ की ओर देखते हुए धनदेव की गृहिणी से कहा — “श्राविके ! देख, संसार का वास्तविक स्वरूप यही है । कितनी विपुल सम्पत्ति थी तुम्हारे घर में, कितना बड़ा व्यवसाय था धनदेव का और आज यह दशा हो गई है ।”

तदनन्तर थोड़े समय तक सारभूत धर्मोपदेश दे कर आचार्य स्थूलभद्र अपने स्थान की ओर लौट गये और दूसरे दिन वहाँ से विहार कर धर्म का दिव्य सन्देश जन-जन तक पहुंचाते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करने लगे ।

धनदेव को बहुत कुछ प्रयास करने पर भी अर्थप्राप्ति नहीं हुई और जिस दशा में, जिन वस्त्रों को पहने हुए वह घर से निकला था, उसी दशा में और उन्हीं वस्त्रों को धारण किये हुए कुछ दिनों पश्चात् वह पुनः अपने घर लौटा । अपनी



पत्नी के मुख से आचार्य स्थूलभद्र के आगमन का सभाचार सुन कर उसने उससे पूछा—“क्या आचार्यदेव ने तुम्हें कुछ कहा था ?”

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया—“संसार की विचित्र गति और धर्मोपदेश के अतिरिक्त उन्होंने कोई विशेष बात तो नहीं कही पर वे बार-बार अपने घर के इस स्तम्भ की ओर देख रहे थे।”

धनदेव समझ गया कि महापुरुषों की कोई भी चेष्टा निरर्थक नहीं होती। उन ज्ञानी महात्मा की दृष्टि इस स्तम्भ पर अटकी तो निश्चित रूप से इसके नीचे विपुल धन होना चाहिये। इस प्रकार विचार कर धनदेव ने उस स्तम्भ के आसपास की भूमि को खोदना प्रारम्भ किया। थोड़े से परिश्रम के पश्चात् ही धनदेव ने देखा कि उस थम्भे के नीचे अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी है। धनदेव ने भूमि में दबी पड़ी उस सम्पत्ति को निकाला और पुनः कुबेर के समान सम्पत्ति-शाली श्रीमन्तों में उसकी गणना होने लगी।

धनदेव को ज्यों ही विदित हुआ कि आचार्य स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में विराजमान हैं, तो वह उनकी सेवा में पाटलिपुत्र पहुंचा। आचार्यश्री और समस्त मुनिवृन्द को भक्ति सहित वन्दन-नमन करने के पश्चात् धनदेव ने आचार्यश्री की सेवा में निवेदन किया—“भगवान् ! मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर में आपके पावन पदार्पण एवं कृपा-कटाक्षनिक्षेप से मेरा दारिद्र्य-दुःख दूर हुआ। आप ही मेरे स्वामी, गुरु और सर्वस्व हैं। कृपा कर आदेश दीजिये कि मैं क्या सेवा करूँ ?”

आचार्य स्थूलभद्र ने कहा—“धनदेव ! भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म ही अक्षय एवं अव्यावाध सुख का देने वाला है अतः तुम अन्तर्मन से उसका यथाशक्ति पालन करो। बस तुम्हारे लिये सबसे बड़ा और परमावश्यक यही कार्य है।”

आचार्य स्थूलभद्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर धनदेव भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित दया-धर्म का व्रतधारी श्रद्धालु उपासक बना और कतिपय दिनों तक आर्य स्थूलभद्र की सेवा में रह कर अपने घर लौट गया।

इस प्रकार प्राणिमात्र का कल्याण चाहने वाले करुणासागर आचार्य स्थूलभद्र ने अपने बालवय के मित्र धनदेव को सच्चे धर्म का अनुयायी और उपासक बना कर उसे भवभ्रमण से बचने का प्रशस्त मार्ग बताया।

### तृतीय निन्हव अव्यक्तवादी की उत्पत्ति

(वीर निर्वाण संवत् २१४)

आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल के ४४ वयं बीत जाने पर वीर निर्वाण संवत् २१४ में श्वेताम्बिका नगरी में आषाढाचार्य के शिष्यों से तीसरे निन्हव-अव्यक्तवादी की उत्पत्ति हुई। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

एक दिन श्वेताम्बिका नगरी में आर्य आषाढ नामक आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ पउलाषाढ नामक चैत्य में विराज रहे थे। वे अपने शिष्य समुदाय को वाचना प्रदान कर रहे थे। संयोगवश वाचनाकाल में ही आषाढाचार्य एक

समय रात्रि में हृदयशूल की व्यथा से पीड़ित हो काल कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। उस समय उनके सभी श्रमण निद्राधीन थे अतः गच्छ के किसी साधु को उनकी मृत्यु हो जाने के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका।

उधर सौधर्म देवलोक में तत्काल उत्पन्न हुए आचार्य आषाढ के जीव ने देवभव में अवधिज्ञान लगाकर जब वस्तुस्थिति को जाना तो अपने शिष्यों के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित हो वे अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने साधुओं को उठा कर वैरात्रिक काल के कार्यक्रम करने की उन्हें प्रेरणा दी और अवशिष्ट वाचनाएं यथासमय पूर्ण कीं। वाचनाएं पूरी होने के पश्चात् अपने शरीर को छोड़कर सौधर्म देवलोक में जाते समय उन्होंने साधुओं से कहा—“मुनियो! असंयत होते हुए भी मैंने आपको मुझे वन्दन करने से नहीं रोका, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। आप लोग सर्वविरति साधु हैं और मैं अमुक रात्रि में काल कर देव वन चुका हूं पर तुम लोगों पर अनुकम्पा वश पुनः देवलोक से अपने इस शरीर में आकर मैंने वाचना-कार्य पूर्ण कराया है।”

इस प्रकार कहकर जब देव चला गया तब वे साधु मृत शरीर की परिस्थापनक्रिया करने के पश्चात् सोचने लगे—“अहो! हमने बहुत समय तक असंयती की वंदना की। न मालूम इस तरह अन्यत्र भी कौन वास्तव में संयमी और कौन देव है, यह मालूम करना कठिन है, अतः सबको वन्दन न करना ही समुचित है अन्यथा असंयमी-वंदन और मृषावाद का दोष लग सकता है।”

इस प्रकार तीव्र कर्म के उदय से वे अपरिणत बुद्धि साधु अव्यक्तवादी बन गये और उन्होंने परस्पर वन्दन-व्यवहार पूर्णतः बन्द कर दिया। स्थविरों ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा—“साधुओ! यदि तुम्हें अन्य सब में सन्देह ही करना है तो देव की वात पर सन्देह क्यों नहीं किया? अपने इस अव्यक्तवादी सिद्धान्त के अनुसार तुम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि वह वस्तुतः कोई देव था या कोई मायावी। जिस प्रकार तुम्हें उसने अपने आपको देव बताया और बाहर से भी उसके दिव्य तेज को देखकर उसकी वात को सच मानते हुए उसे देव माना, उसी प्रकार साधु को भी उसके वचन और व्यवहार से सच मानना चाहिये।”

इस प्रकार अनेक तरह से समझाने पर भी जब वे साधु नहीं समझे तो उन्हें श्रमणसंघ द्वारा संघबाह्य घोषित कर दिया गया।

संघ से निष्कासित किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् वे अव्यक्तवादी निन्हव साधु घूमते-घामते राजगृह नगर में आये। उस समय वहां मौर्यवंश में उत्पन्न बलभद्र<sup>१</sup> नामक राजा शासन करता था जो कि जैन धर्म का श्रद्धालु श्रावक था।

<sup>१</sup> नन्दवंश का अन्त और पाटलीपुत्र में मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का अम्बुदय वीर नि० संवत् २१५ में हुआ अतः अनुमान किया जाता है कि वीर नि० सं० २१४ में निन्हव बनने के कतिपय वर्षों पश्चात् वे लोग अपने मत का प्रचार करते हुए राजगृह में आये हों और मौर्यवंशी सामन्त बलभद्र ने उन्हें प्रतिबोध दिया हो। — सम्पादक

राजा वलभद्र को जब यह विदित हुआ कि अग्र्यक्तवादी निन्हव राजगृह नगर के बाहर गुणशील उद्यान में आये हुए है तो उसने अपने सेवकों को भेजकर साधुओं को आमन्त्रित किया और उनको हाथियों द्वारा कटक-मर्दन से मारने की आज्ञा दी। जब साधुओं का मर्दन करने हेतु हाथी पास में लाये गये तो उन निन्हवों ने राजा से पूछा - "राजन् ! हम तो जानते हैं कि तुम श्रावक हो, तब फिर तुम हम श्रमणों की हिंसा क्यों कर रहे हो ?"

राजा ने कहा - "महाराज ! आपके सिद्धान्तानुसार कौन जानता है कि मैं श्रावक हूँ, अथवा नहीं। तुम सब भी चोर, गुप्तचर हत्यारे हो या साधु हो यह कोई नहीं जानता।"

साधुओं ने कहा - "हम साधु हैं।"

राजा ने कहा - "यदि ऐसा निश्चित है तो अग्र्यक्तवादी होकर परस्पर बड़ों को बन्दनादि क्यों नहीं करते ?" वर्षों से साथ-साथ रहने वाले आप लोगों को परस्पर एक-दूसरे पर यदि भरोसा नहीं है तो मुझे आप लोगों पर किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?"

राजा की युक्तिसंगत बात सुनकर वे बड़े लज्जित हुए और उन निन्हव साधुओं की शंका का पूर्णतः समाधान हो गया। उन्होंने अग्र्यक्तवाद का परित्याग कर दिया और गुरु-चरणों में जाकर उन्होंने पूर्ववत् बन्दनादि करना प्रारम्भ कर दिया।

आर्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थ-पर्याय में रहे। वीर निर्वाण संवत् १४६ में आपने आर्य संभूतिविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। २४ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहे। वीर नि० सं० १७० से २१५ तक आपने आचार्यपद पर रहते हुए वीरशासन की सेवाएं कीं। अन्त में ६६ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर वीर निर्वाण सं० २१५ में राजगृह नगर के समीप वैभारगिरि पर १५ दिन के अनशन व संघारे के बाद आपने स्वर्गगमन किया।

जैसा कि आगे बताया जायगा, भारतीय इतिहास की दृष्टि से आर्य स्थूलभद्र का युग राज्य-परिवर्तन अथवा राज्य-विप्लव का युग रहा। भारत पर यूनानियों का आक्रमण, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का अम्युदय, नन्दराज्य का पतन और मौर्य-राज्य का उदय - ये उनके काल की प्रमुख राजनैतिक घटनाएं हैं।

आर्य स्थूलभद्र के प्रारम्भिक जीवन-वृत्त से यह भी भलीभांति प्रकट होता है कि उन दिनों की राजनीति में जैनों का कितना व्यापक प्रभाव रहा। यह इसी से स्पष्ट है कि शकडाल और श्रीयक आदि नन्द-साम्राज्य के परम राजभक्त महामात्य रहे।

तात्कालिक जनजीवन का भी एक स्पष्ट चित्र आर्य स्थूलभद्र के समय के घटनाक्रम के चित्रण में उभर आता है। अहिंसा-संयम और तपोमय जीवन द्वारा श्रमण-संस्कृति के सिद्धान्त उस समय के प्रजाजीवन में साकार थे।

### भारत पर सिकन्दर द्वारा आक्रमण

आचार्य स्पूलभद्र के आचार्यत्वकाल में लगभग वीर निर्वाण सं० २०० तदनुसार ईसा पूर्व ३२७ में भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर यूनान के शाह सिकन्दर (एलेक्जेंडर दी ग्रेट) ने एक प्रबल सेना लेकर आक्रमण किया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों में छोटे-छोटे राज्य तथा पंजाब में विभिन्न जातियों के गणराज्य थे। मगध सम्राट् धननन्द (नवम नन्द) अपनी अत्यन्त लुब्ध प्रकृति और जनता पर अधिकाधिक करभार बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति के कारण अपने प्रति जनता का प्रेम और विश्वास खो चुका था। उसके अधीनस्थ अनेक राजाओं और सामन्तों ने उसके प्रति विद्रोह का झण्डा उठा अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। गृह-कलह के कारण राजा गण एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास में लगे हुए थे।

देश में सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक शक्तिशाली राज्य के अभाव में सिकन्दर को प्रारम्भ में अपने सैनिक अभियान में सफलता मिली। उसने हिन्दुकुश, काबुल की भाटी से लेकर सिन्धु नदी के पूर्व का इलाका तथा काश्मीर और तक्षशिला आदि भारतीय प्रदेशों पर विजयश्री प्राप्त की। छोटे-छोटे भारतीय राजाओं ने सिकन्दर के आक्रमण को निष्फल करने के लिये बड़ी वीरता के साथ प्राणों की बाजी लगा कर युद्ध किया किन्तु सिकन्दर की विशाल विजयवाहिनी के समक्ष वे बहुत अधिक समय तक नहीं टिक सके। अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये बहुत बड़ा बलिदान करने और शत्रुपक्ष को भारी क्षति पहुंचाने के पश्चात् भी अन्त में उन्हें आत्मसमर्पण करना ही पड़ा। पंजाब की हस्तिनायन, अश्वकायन आदि जातियों के गणतन्त्रों ने अपने-अपने राज्यों की शक्ति से कहीं अधिक सेनाएं संगठित कर सिकन्दर की सेना के साथ भयंकर युद्ध किये।

यों तो सभी राजाओं और गणराज्यों ने सिकन्दर की सेना के साथ बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया पर उनमें राजा पौरव द्वारा किया गया युद्ध भारत के इतिहास में सदा विशेष उल्लेखनीय रहेगा। राजा पौरव ने अपने तीस हजार पैदल सैनिकों, चार हजार घुड़सवारों, तीन सौ रथों और २०० हाथियों की सशक्त सेना लेकर आगे बढ़ती हुई सिकन्दर की सेना को रोक। राजा पौरव की सेना प्राणों की बाजी लगा कर बड़ी वीरता के साथ सिकन्दर की सेना के साथ लड़ी। यूनानी सेना को इस युद्ध में बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी किन्तु सहसा यूनानी सैनिकों के तीक्ष्ण तीरों की बौछारों से पौरव की हस्ति-सेना संतप्त होकर विगड़ खड़ी हुई और उसने पीछे की ओर तथा इधर-उधर भागते हुए बेकाबू हो स्वयं राजा पौरव की सेना को ही बड़ी क्षति पहुंचाई और इस प्रकार दुर्भाग्य से युद्ध का पासा ही पलट गया। राजा पौरव को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जयश्री प्राप्त हो जाने पर भी सिकन्दर ने राजा पौरव की शक्ति और वीरता देखते हुए उसके साथ मैत्री करना आवश्यक समझा और उसका जीता हुआ राज्य उसे पुनः लौटा कर वह विजय-अभियान में आगे बढ़ गया। पग-पग

पर भारतीयों द्वारा किये गये भीषण प्रतिरोध और उससे हुई अपनी गहरी क्षति को देख कर यूनानी सेना हतोत्साहित हो गई। किन्तु सिकन्दर समस्त भारतवर्ष पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने का दृढ़ संकल्प ले कर अपने देश से निकला था। उसने निरहत्साहित सैनिकों को तूफान की तरह आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया। सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ना चाहा पर क्षुद्रक और मालव गणतन्त्रों की संयुक्त सेना ने उसे सिन्धु और चिनाब के संगम के रणांगण में ललकारा। यहां यूनानी सेना को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी। इस युद्ध में मालवों से लड़ते हुए सिकन्दर स्वयं आहत हो गया था। उसके घाव लगने के कारण सिकन्दर की मृत्यु की अफवाह फैल गई और भारत के विजित क्षेत्रों में भारतीयों के विद्रोह को दबाये रखने की दृष्टि से जो क्षत्रपियां स्थापित की गई थीं व यूनानी सैनिकों की बस्तियां बसाई गई थीं, उनमें से बहुत से यूनानी सैनिक सामूहिक रूप से यूनान की ओर भाग खड़े हुए। सिकन्दर के सैनिकों का मनोबल भी टूट गया। उसके सैनिक अधिकारियों ने स्पष्ट शब्दों में सूचित कर दिया कि उसकी सैनिक शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी है। बहुत बड़ी संख्या में उसके सैनिक युद्ध में मारे गये हैं तथा अनेक सैनिक रोगग्रस्त हो मर चुके हैं। अवशिष्ट सैनिकों में न पहले के समान शारीरिक शक्ति ही रही है और न मनोबल ही।

अपनी और अपने सैनिकों की वास्तविक स्थिति को देखते हुए सिकन्दर अपनी सेना के साथ विजय अभियान को बन्द कर पुनः अपने देश की ओर लौट पड़ा।

भारतीय विद्रोही अश्वकायनों ने सिकन्दर द्वारा नियुक्त सिन्धु के पश्चिमी प्रदेश के क्षत्रप (शासक-गवर्नर) निकानोर की हत्या कर डाली। तत्पश्चात् जिस समय सिकन्दर भेलम नदी के रास्ते से लौट रहा था, उस समय उसका एक अति कुशल और अनुभवी क्षत्रप फिलिप उसे यूनान के लिये विदा करने पहुंचा। सिकन्दर को विदा करने के पश्चात् जिस समय फिलिप अपनी क्षत्रपी की ओर लौट रहा था उस समय उसकी हत्या कर दी गई। जिस समय सिकन्दर के पास यह सूचना पहुंची तो उसे बड़ा गहरा आघात पहुंचा। सिकन्दर चूंकि उस समय तक बहुत दूर नहीं निकला था अतः वह अगर चाहता तो विद्रोह को दबाने के लिये उस क्षेत्र में लौट सकता था पर अब वह उस स्थिति में नहीं रह गया था। तक्षशिला तथा सिन्धु एवं भेलम के संगम वाले प्रदेश का शासन जब तक कि दूसरा प्रबन्ध नहीं कर दिया जाय तब तक के लिये वह तक्षशिला के राजा को सुपुर्द कर चला गया। ज्यों-ज्यों यूनान की ओर लौटता हुआ सिकन्दर भारतीय प्रदेश को अपने पीछे छोड़ता गया त्यों-त्यों वे भारतीय प्रदेश विदेशी शासन के जूए को दूर फेंक कर स्वतन्त्र होते चले गये। बैबिलोन पहुंचते-पहुंचते सिकन्दर की ई० पूर्व जून ३२३ में मृत्यु हो गई।<sup>1</sup>

1 In June 323 B. C. Alexander died at Babylon and no permanent incumbent in Philip's place could ever be appointed.

[V. A. Smith's Ashoka P. I. Cambridge History, P. 428 - 1.23-8.

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य में सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो गई। सिकन्दर के कोई सन्तान नहीं थी अतः उसके सेनापतियों ने सिकन्दर के राज्य का परस्पर बंटवारा किया। पहला बंटवारा सिकन्दर की मृत्यु के तत्काल पश्चात् ईसा पूर्व ३२३ में और दूसरा बंटवारा त्रिपाशडिसस नामक स्थान पर ईसा पूर्व ३२१ में हुआ। पर इन दोनों बंटवारों के समय सिकन्दर द्वारा विजित सिन्धु नदी के पूर्वीय प्रदेशों को यूनानी साम्राज्य की गणना में नहीं लिया गया। इससे सिद्ध होता है कि सिकन्दर की भारत में विद्यमानता के समय में ही भारतीयों द्वारा यूनानी शासन के विरुद्ध खड़ा किया गया विद्रोह बल पकड़ता गया और सिकन्दर के ब्राह्मण होकर यूनान की ओर मुंह करते ही उन प्रदेशों के निवासियों ने यूनानी गुलामी के जुए को तत्काल भटक कर सदा के लिये उतार फेंका।

इस सब घटनाचक्र पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य स्पष्टरूपेण प्रकट हो जाता है कि जो सिकन्दर एक अजेय विशालवाहिनी के साथ विश्वत्रिजय की महत्वाकांक्षा लिये यूनान से भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के प्रदेशों की अनेक शक्तिशाली राज्यसत्ताओं को भूलुण्ठित करता हुआ एक तीव्रगामी प्रचण्ड तूफान की तरह आगे बढ़ता ही गया, उसे भारतीय रणबांकुरे देशभक्तों ने पग-पग पर अपने प्रतिरोध की फौलादी दीवार बनकर रोका। यह भी तथ्य है कि सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक सशक्त और विशाल राज्य के रूप में सुसंगठित न होने के कारण पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राजाओं और गणराज्यों की बिखरी हुई शक्ति अधिक समय तक सिकन्दर की सशक्त एवं सुविशाल वाहिनी के प्रबल प्रहारों के सम्मुख नहीं टिक सकी। इतना होने पर भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस बिखरी हुई भारतीय शक्ति ने भी अपने दृढ़ संकल्प, तीव्र प्रतिरोध और प्रबल प्रहारों से सिकन्दर की सेना को बहुत बड़ी क्षति पहुँचा कर तथा उसके मनोबल एवं अोज-तेज को समाप्तशाय बनाकर सिकन्दर की सब महत्वाकांक्षाओं पर पानी फेर दिया।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि भारतीय छोटे-छोटे राजा तथा गणराज्य बिना संगठित हुए अलग-अलग रूप से सिकन्दर की बड़ी सेना के साथ लड़ने के कारण अन्ततोगत्वा परास्त होते गये तो उसके पश्चात् सर्वव्यापी सामूहिक विद्रोह संगठित करने वाला कोई न कोई सूत्रधार तो अवश्य होना चाहिये अन्यथा पराजित भारतीयों द्वारा एक के पश्चात् दूसरे यूनानी क्षत्रियों की हत्या करना एवं यूनानी साम्राज्य की जड़ों को भारत से उखाड़ फेंकना भारतीयों के लिये कभी संभव नहीं होता।

इस प्रश्न का हमें भारतीय वाङ्मय में तो खोजने पर भी कोई उत्तर नहीं मिलता किन्तु सिकन्दर के निभार्कस, एनेसिक्टिस और एरिस्टोबुलस नामक तीन अधिकारियों द्वारा भारत की स्थिति के सम्बन्ध में लिखे गये विवरणों और उनके पश्चात् भारत में यूनानी राजदूत मेगास्थनीज द्वारा लिखे गये विवरणों के आधार पर लिखी गई विदेशी विद्वानों की रचनाओं से पर्याप्त संतोषजनक उत्तर

मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में जस्टिन नामक एक लेखक ने उपर्युक्त, सिकन्दर और सेल्यूकस के समकालीन अधिकारियों द्वारा लिखे गये विवरणों के आधार पर एपिटोम अर्थात् 'सारसंग्रह' की रचना की। उसके बारहवें खण्ड में उसने सिकन्दर के विजय अभियानों का चिचरणा देते हुए लिखा है :-

“सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने मानो अपने गले से यूनानी दासता का जूआ उतार फेंका और उसके अनेक क्षत्रपों को मार डाला। इस मुक्ति-अभियान का सूत्रधार सैंड्रोकोट्टस था। उसका जन्म एक साधारण कुल में हुआ था पर कुछ दैवी प्रोत्साहनों से उसे राजा का पद प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। हुआ यह कि उसकी धृष्टता पर 'नैडम' (नन्द) को क्रोध आ गया और उसने उसे मरवा डालने की आज्ञा दी, पर वह अपने प्राण बचा कर वहाँ से भाग निकला। सैंड्रोकोट्टस-चन्द्रगुप्त जब थक कर सो रहा था उस समय एक सिंह उसके पास आया और उसके शरीर से बहता हुआ पसीना चाट कर धीरे से उसे जगाया और चला गया। इस अनहोनी घटना से पहले-पहल चन्द्रगुप्त के मन में एक राजा का सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा जागृत हुई और उसने अपने चारों ओर लुटेरों का एक गिरोह जमा करके भारतवासियों को तत्कालीन (यूनानी) शासन का तख्ता उलट देने के लिये भड़काया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था, तो एक विशालकाय जंगली हाथी अपने-आप उसके सामने आकर खड़ा हो गया और सहसा पालतू हाथी की तरह शीलस्वभाव का होकर उसने चन्द्रगुप्त को अपने ऊपर बिठा लिया। वह हाथी चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक बन गया और रणक्षेत्र में बहुत आगे-आगे रहा। इस प्रकार राजसिंहासन पर अधिकार कर के सैंड्रोकोट्टस ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इसी समय सेल्यूकस अपनी भावी महानता की नींव डाल रहा था।”<sup>१</sup>

जस्टिन द्वारा दिये गये इस विवरण से इस प्रश्न के हल के साथ-साथ भारतीय इतिहास के अनेक धुन्धले तथ्य स्पष्ट रूप से किस प्रकार उभर आते हैं, यह चन्द्रगुप्त के जीवन वृत्त में आगे दिया जायगा।

यहां यही बताना अभीष्ट है कि सिकन्दर के इस आक्रमण ने भारतीयों में एक नवीन चेतना जागृत करदी और भारत में एक महान् शक्तिशाली बड़ी राजसत्ता को जन्म देने की पूर्वपीठिका का निर्माण किया। वस्तुतः सिकन्दर के इस सैनिक अभियान ने भारतीयों की रणक्षमता और वीरता को संसार के समक्ष प्रकट कर दिया क्योंकि सिकन्दर की विजय की कहानियों से भी उसके विरुद्ध भारतीयों द्वारा किये गये प्रतिरोध की कहानियां अधिक वीरताभरी,

<sup>१</sup> ग्राम तीर पर इस स्थान पर 'प्रलेक्सेंडस' शब्द मिलता है, जिसके बारे में टुडि ने सिद्ध कर दिया है कि वह गलत है मतः उसके स्थान पर 'नैडम' शब्द रखा दिया है।

[सैकिकडिस की इन्वेपन आफ इन्डिया बाई प्रलेक्सेंडर पृ० ३२७]

<sup>२</sup> [वही]

रोचक और प्रेरणाप्रदायिनी हैं। केवल पुरुषों ने ही नहीं यहां की वीरांगनाओं ने भी युद्ध के मैदानों में रणचण्डी के रूप में डट कर यूनानियों के आक्रमण से मातृभूमि की रक्षा करते हुए प्राणहृतियां दीं। ३६ ई० पूर्व तक जीवित यूनानी लेखक डियोडोरस ने लिखा है :-

“अश्वकायनों ने अपनी वीरांगना रानी क्लियोफिस (संभवतः कृपा देवी) के नेतृत्व में अन्त तक अपने देश की रक्षा करने का हृदय निश्चय किया। रानी के साथ ही वहां की स्त्रियों ने भी प्रतिरक्षा में भाग लिया। वेतनभोगी सैनिक प्रारम्भ में बड़े निरुत्साहित हो कर लड़े परन्तु बाद में उन्हें भी जोश आ गया और उन्होंने अपमान के जीवन की अपेक्षा गौरव के साथ मर जाना ही श्रेष्ठ समझा।”

३२७ ई० पूर्व सिकन्दर द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के दौरान, ई० पूर्व ३२३ में सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात्, ३०४ ई० पूर्व में यूनानी शासक सेल्यूकस द्वारा पुनः भारत पर किये गये आक्रमण के समय तथा ३२७ ई० पूर्व से ३०४ ई० पूर्व तक विदेशी आक्रमणों को विफल करने तथा भारत को एक सशक्त राष्ट्र बनाने में चन्द्रगुप्त मौर्य ने क्या-क्या महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा कीं इस सन्दर्भ में संक्षेपतः उसका जीवनवृत्त यहां दिया जा रहा है।

### मौर्य राजवंश का अम्युद्भय

वीर निर्वाण संबन्ध २१५ और तदनुसार ईसा पूर्व ३१२ में नन्द राज्यवंश की समाप्ति के साथ भारत में मौर्य-वंश के नाम से एक शक्तिशाली राज्यवंश का अम्युद्भय हुआ। इस राज्यवंश ने अपनी मातृभूमि आर्यधरा पर से यूनानियों के शासन का नामोनिशान मिटा न केवल सम्पूर्ण भारत पर ही अपितु भारत के बाहर के अनेक प्रान्तों पर भी अपनी विजयवैजयन्ती फहरा कर एक सशक्त और विशाल राजसत्ता के रूप में १०८ वर्ष तक शासन किया। इस राजवंश के शासनकाल में भारतवर्ष में चहुंमुखी प्रगति हुई।

इस राज्यवंश के संस्थापक मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के जीवन के साथ उस समय के महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का संपृक्त सम्बन्ध है, जिसे वस्तुतः इस शक्तिशाली राज्यवंश का संस्थापक एवं अभिभावक कहा जा सकता है। विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य के बुद्धिकौशल के बल पर ही इस महान् राज्यवंश की स्थापना हुई अतः इस राज्यवंश का परिचय देने से पूर्व महान् राजनैतिक, उच्चकोटि के अर्थशास्त्री एवं अद्वितीय कूटनीतिज्ञ चाणक्य का परिचय देना परमावश्यक है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त—दोनों का जीवन एक दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध है अतः उन दोनों का संक्षिप्त परिचय यहां साथ-साथ दिया जा रहा है।

१. मैकडिल-कृत 'इन्वेजन ऑफ इन्डिया बाई अलेक्जेंडर', पृ० २७०



### मौर्य राजवंश का संस्थापक चारणक्य

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में चारणक्य के जीवन का परिचय देते हुए लिखा है कि गोल्ल-प्रदेश के चणक नामक ग्राम में चणी नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम चणकेश्वरी था। यह ब्राह्मण दम्पति जैनधर्म का अनन्य अनुयायी था और श्रवक व्रत का पालन करते हुए श्रमणों की सेवा किया करता था। विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए जैन-श्रमण, ब्राह्मण चणी के गृह में प्रायः ठहरा करते थे।

ब्राह्मणी चणकेश्वरी ने कालान्तर में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु के जन्म के समय चणी ब्राह्मण के घर के एक एकान्त कक्ष में कुछ स्थविर श्रमण ठहरे हुए थे। चणी ने अपने नवजात पुत्र को उन स्थविरों के समक्ष लाकर दिखाया और कहा—“भगवन्! आज जो मेरे यहां पुत्र का जन्म हुआ है, इसके जन्म से ही मुंह में दांत हैं। वस्तुतः यह अष्टपूर्व घटना है, आज तक दांतों सहित बालक का जन्म न कहीं देखा गया है और न सुना ही।”

नवजात शिशु के मुंह में दांतों को देख कर स्थविर श्रमण न कहा—“सुश्रावक! तुम्हारा यह पुत्र एक महान् प्रतापी राजा होगा।”

“मेरा पुत्र राज्यसत्ता का स्वामी होकर कहीं नरक का अधिकारी न बन जाय”, यह विचार कर चणी ने शिशु को घर ले जाकर रेती से उसके दांत घिसना प्रारम्भ कर दिया। नवजात शिशु दन्तर्षण की पीड़ा से रोया-चिल्लाया और छटपटाया पर चणी ने कठोर हृदय कर के उसके दांतों को घिस डाला। जब चणी ने अपने पुत्र के दांतों को घिस दिये जाने की बात मुनियों से कही तो स्थविर मुनि ने कहा कि दांतों के घिस दिये जाने पर अब वह बालक कालान्तर में सम्राट् नहीं पर सम्राट् तुल्य (अन्य व्यक्ति को राजा बना कर उसके माध्यम से राज्यसत्ता का संचालन करने वाला) होगा। ब्राह्मण चणी ने यह विचार कर कि ‘यदभावी न च तद्भावी, भावी चेन्न तदन्यथा’ दांतों को प्रौर अधिक नहीं घिसा और अपने उस पुत्र का नाम चारणक्य रखा तथा यथासमय उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते हुए कुशाग्रबुद्धि चारणक्य ने अनेक प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। विद्वान् चारणक्य संतोष को ही सबसे बड़ा धन समझ कर श्रवक के व्रतों का सम्यक् रूपेण पालन करता था।

जब चारणक्य युवा हुआ तो एक कुलीन ब्राह्मणकन्या के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। अपने माता-पिता के देहावसान पर चारणक्य ने अपनी छोटी सी गृहस्थी का कार्यभार सम्हाला पर स्वल्पसंतोषी होने के कारण धनसंग्रह की ओर उसने कभी ध्यान नहीं दिया। अपने सहोदर के विवाह के अवसर पर एक दिन चारणक्य की पत्नी अपने मातृगृह गई। उसकी बहिन पहले ही बहू पंहच चुकी थीं। चारणक्य की सभी सालियों का विवाह महासम्पत्तिशाली सम्पन्न घरों में हुआ था अतः वे सभी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत, षोडश शृंगारों

से सुशोभित और दासिबन्धों से सदा परिवृत्त रहती थी। चारणक्य की पत्नी के पास भ्राभूषण के नाम पर कुछ भी नहीं था। वह रातदिन एक ही पुरानी साड़ी एवं कंचुकी पहने रहती थी। उसकी इस दरिद्रावस्था को देख कर उसकी लक्ष्मी के समान वैभवशालिनी बहनों तथा विवाहोत्सव में सम्मिलित हुई अन्य प्रायः सभी स्त्रियों ने विविध व्यंगोक्तियों से बड़ी हँसी उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। स्वाभिमानिनी चारणक्यपत्नी मारे लज्जा के गृह के एकान्त कक्ष के एक कोने में सबकी निगाहों से अपने आपको छुपाये हुए बैठी रहती। विवाह के उस मांगलिक महोत्सव में उसने लज्जावश कोई भाग नहीं लिया और विवाह के सम्पन्न होते ही वह अपने पतिगृह को लौट आई। दरिद्रता के कारण हुए अपने अपमान का उसे इतना गहरा दुःख हुआ कि वह अपने पतिगृह में आकर रात भर रोती रही। चारणक्य को अपनी पत्नी की आँखों में आंसू देख कर बड़ा दुःख हुआ। चारणक्य ने अपनी पत्नी से उसके शोक का कारण जानना चाहा। अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछने पर नहीं चाहते हुए भी पत्नी को अपने पति के सम्मुख अपनी अन्तर्वेदना को प्रकट करना ही पड़ा। चारणक्य को जब यह विदित हुआ कि उसकी दारिद्र्यावस्था के कारण उसकी पत्नी का परिहास हुआ है, तो उसने धन उपाजित करने का दृढ़ संकल्प किया। उसे यह विदित ही था कि मगधपति नन्द ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में पर्याप्त धन देता है अतः वह धन-प्राप्ति की आशा लिये पाटलिपुत्र पहुँचा। अन्य दक्षिणाधियों के आगमन से पूर्व ही राजप्रासाद में प्रवेश कर चारणक्य सबसे आगे रखे हुए एक उच्चासन पर बैठ गया। वस्तुतः नन्द सदा उस आसन पर बैठ कर ही दक्षिणाएं दिया करता था। नन्द के साथ आये हुए नन्द के पुत्र ने निरस्कारपूर्ण स्वर में एक दासी से कहा—“देखना इस ब्राह्मण की धृष्टता कि यह मगधमन्त्राट के आगमन पर आ कर बैठ गया है।”

दासी ने चारणक्य के पास पहुँच कर शान्त स्वर में कहा—“शत्रुणु! आप इस दूसरे आगमन पर बैठ जाइये।”

“इस पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा”—यह कहते हुए चारणक्य ने दूसरे आसन पर अपना कमण्डलु रख दिया।

दासी ने क्रमशः तीसरे, चौथे और पाँचवें आसन पर बैठने की चारणक्य से प्रार्थना की पर चारणक्य ने उन तीनों आसनों पर क्रमशः अपना दण्ड, जपमाला और यज्ञोपवीत रखते हुए कहा इस पर मेरा दण्ड, इस आसन पर मेरी जपमाला, और इस पर मेरा यज्ञोपवीत रहेगा।

चारणक्य के न उठने एवं अन्यान्य आसनों को रोकते रहने से क्रुब्ध हो, यह कहते हुए कि कितना धृष्ट है यह ब्राह्मण जो बार-बार कहने पर भी आसन से उठता नहीं है और दूसरे आसनों को रोकता ही चला जा रहा है, दासी ने पाण्डिप्रहार कर चारणक्य को उस आसन से उठा दिया।

दासी द्वारा किये गये इस अपमान से चारणक्य की क्रोधाग्नि प्रबल वेग से भड़क उठी। उसने उपस्थित विशाल जनसमूह के समक्ष दृढ़ और अत्युच्च

स्वर में यह प्रतिज्ञा की — “मैं इस नन्द का इसके सैन्य, पुत्र, मित्र और कोश के साथ सर्वनाश करके ही विश्राम लूंगा ।”

उपर्युक्त कठोर प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भ्रूविक्षेप और लाल-लाल आंखों से नन्द की और दृष्टिनिक्षेप करते हुए मारे क्रोध के कांपता हुआ चारणक्य राज-प्रासाद से निकल कर नगर से बाहर चला गया । चारणक्य को अपने माता-पिता से सुनी हुई स्थविरों की उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया जिसमें उन्होंने कहा था कि यह आगे चलकर सम्राट् नहीं पर सम्राट् के समान “विम्बान्तरित” — यवनिका के पीछे रहते हुए, सम्राट् बनेगा । ‘निस्पृह श्रमणश्रेष्ठ द्वारा कही गई बात कभी असत्य नहीं होती’ यह विचार कर चारणक्य ने राजा बनने योग्य किसी व्यक्ति को ढूँढ कर उसके माध्यम से नन्द, उसके वंश और राज्य का नाश करने का दृढ़ संकल्प कर लिया ।

### चन्द्रगुप्त का परिचय

किसी सुयोग्य व्यक्ति की तलाश में सन्यासी का वेध धारण किये हुए घूमता हुआ चारणक्य एक दिन एक ऐसे ग्राम में भिक्षार्थ पहुंचा, जहां राजा नन्द के मयूरों का पालन-पोषण करने वाले लोग निवास करते थे । मयूरपोषकों के मुखिया ने परिव्राजक वेधधारी चारणक्य को देख कर कहा — “महात्मन् ! मेरी पुत्री को चन्द्रपान का एक बड़ा ही अद्भुत दोहद उत्पन्न हुआ है । उसको चन्द्रमा के पीने की अत्युत्कट अभिलाषा बनी हुई है । इस असंभव कुर्य को कैसे किया जा सकता है ? गर्भिणी के दोहद की पूर्ति न होने की वशा में गर्भस्थ शिशु के साथ-साथ मेरी पुत्री का प्राणान्त होना भी अवश्यम्भावी है, यह चिन्ता मुझे अर्हनिश पीड़ित कर रही है । यदि आप इस अद्भुत दोहद की पूर्ति का कोई उपाय कर सकें तो हम पर बड़ा उपकार होगा ।”

विद्वान् चारणक्य ने समझ लिया कि जिस सुयोग्य पात्र की खोज में वह प्रयत्नशील है, वह पात्र तो मयूरपोषक की पुत्री के गर्भ में है । चारणक्य ने मयूर-पोषकों के मुखिया से कहा — “गर्भस्थ बालक को बड़ा होने पर यदि तुम मुझे दे देने की प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारी पुत्री के दोहद की पूर्ति कर सकता हूँ ।”

मयूरपोषकों के स्वामी ने चारणक्य की शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया । तदनन्तर बुद्धिमान चारणक्य ने घास-फूस की एक झोंपड़ी तैयार करवाई । उस झोंपड़ी के ऊपरी भाग में एक बड़ा-सा छिद्र रखवाया । उस झोंपड़ी में रात्रि के समय छिद्र में से पूर्णचन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ने लगा । चारणक्य ने गुप्तरूप से एक घाबरी को झोंपड़ी पर यह कह कर बड़ा बिया कि उसके संकेत करते ही वह भीरे-भीरे उस छिद्र को तृणों से ढंकना प्रारम्भ कर दे ।

यह सब व्यवस्था करने के पश्चात् चारणक्य ने गर्भिणी को बुलाकर उस झोंपड़ी में एक पीढ़े पर बैठाया और उसके हाथ में पानी से भरी हुई एक बाकी

रख दी। उस थाली में पूर्णचन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। चाणक्य ने गर्भिणी को सम्बोधित करते हुए कहा—“बेटी! इस चन्द्रमा को पी जाओ।”

गर्भिणी ने थाली का पानी पीना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों वह पानी पीती जा रही थी त्यों-त्यों भोंपड़ी के ऊपर बैठा हुआ पुरुष भोंपड़ी में रखे हुए छेद को तृणों से ढाँपता जा रहा था। इस प्रकार थाली का पूरा पानी पी लेने पर गर्भिणी को चन्द्र दिखना बन्द हो गया और उसके यह समझ लेने पर कि उसने चन्द्रपान कर लिया है, उसका दोहद पूर्ण हो गया। दोहद की पूर्ति हो जाने पर गर्भ निर्विघ्न रूप से बढ़ने लगा और समय पर मयूरपोषक की पुत्री ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। दोहद की बात को ध्यान में रखते हुए उस बालक का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया।

दूरदर्शी चाणक्य भावी राजा की सेना के लिये स्वर्ण एकत्रित करने की धुन में धातु-विशारदों की खोज करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा।

इधर कुछ बड़ा होने पर बालक चन्द्रगुप्त अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलते समय राजाओं जैसी चेष्टाएं करने लगा। वह कभी किसी बालक को हाथी बनाकर उस पर बैठता, तो कभी दूसरे बालक को घोड़ा बनाकर उस पर सवार होता। वह खेल ही खेल में मिट्टी के घरोदे बनाकर उन्हें गांव की संज्ञा देता और हाथी बनाये हुए किसी बालक पर बैठकर अपने साथियों की सेना ले उस गांव पर आक्रमण करता। वह उन कृत्रिम गांवों को जीत कर बड़े आनन्द का अनुभव करता। वह अपने साथी बालकों को अनेक प्रकार की आज्ञाएं देता और वे बालक स्वामिभक्त सेवक की तरह चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का पालन करते।

अनेक स्थानों पर घूमता हुआ चाणक्य एक दिन मयूरपोषकों के उस गांव में पहुंचा। उस समय चन्द्रगुप्त बालकों के साथ क्रीड़ा करते हुए अनेक प्रकार की राज-लीलाएं कर रहा था। चाणक्य उस तेजस्वी बालक की राजलीला देखकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। बालक की बुद्धि और बहादुरी की परीक्षा करने की दृष्टि से चाणक्य ने उससे कहा—“महाराज! मुझे भी आप कुछ दान दीजिये।”

बालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल उत्तर दिया—“गांव की ये इतनी गायें हैं उनमें से छांट-छांट कर आपको जो-जो अच्छी लगें, वे सब मैंने आपको दीं, आप उन्हें ले जाइये।”

चाणक्य ने हँसते हुए उत्तर दिया—“राजन्! इन औरों की गायों को मैं कैसे ले जाऊं, इनके स्वामी मुझे मारेंगे नहीं?”

बालक चन्द्रगुप्त ने भी हड़ता के साथ कहा—“ब्रह्मदेव! आपको किसी से डरने की आवश्यकता नहीं। मैंने ये गायें आपको दे दी हैं, मैं राजा हूँ, मेरी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। क्या आपको ज्ञात नहीं है कि “वीर-भोग्या वसंधरा”, यह पृथ्वी वीर पुरुषों के ही उपभोग की वस्तु है।

चाणक्य उस बालक के उत्तर को सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े ध्यान से बालक के शारीरिक लक्षणों को और आकृति को देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह बालक वस्तुतः राजा बनाये जाने के योग्य है। बालक के दृढ़ आन्तर्भाव और सहज निर्भय स्वभाव से चाणक्य बड़ा प्रभावित हुआ। उसके कुल-शील और माता-पिता के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने की इच्छा से चाणक्य ने एक बालक से पूछा — “यह बालक-राजा किसका पुत्र है ?”

अनेक बालकों ने एक साथ उत्तर दिया — “महाराज ! यह एक संन्यासीजी महाराज का दत्तक पुत्र है। इसका नाम चन्द्रगुप्त है। जिस समय यह गर्भ में था उस समय इसकी माता को यह तीव्र चाह हुई कि वह चन्द्रमा को पी जाये। उसकी चाह पूरी न होने के कारण माता और गर्भ दोनों ही दिन-प्रतिदिन क्षीण होने चले गये। इसके नाना ने अपना दुःख उन संन्यासीजी महाराज के समक्ष प्रकट किया। संन्यासीजी ने इस शर्त पर इसकी माता की चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण करने का विश्वास दिलाया कि जिस पुत्र को यह जन्म दे उसे बड़ा होने पर उन्हें दे दिया जाय। इसके नाना ने संन्यासीजी की वह शर्त स्वीकार कर ली और उन महात्मा ने इसकी माता को न मालूम किस विद्या के प्रभाव से चाँद पिला ही दिया। इसकी माता की चन्द्रमा को पीने की इच्छा पूर्ण होने से वह पूरी तरह स्वस्थ हो गई और उसने समय पर इस बालक को जन्म दिया। इसकी माता द्वारा चन्द्रमा के पिये जाने के कारण इस बालक की रक्षा हुई इसलिये इसके नाना-नानी ने इसका नाम चन्द्रगुप्त रखा। “महाराज ! यह बड़ा बहादुर तथा बहुत ही अचछा लड़का है पर क्या करें एक न एक दिन वे संन्यासीजी महाराज आयेंगे और इसको अपने साथ ले जायेंगे। हमारा यह प्यारा और अचछा राजा एक दिन हम लोगों को छोड़ कर चला जायगा इस बात का हमें बड़ा दुःख है।”

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के मुख और मस्तक पर दुलार से हाथ फेरते हुए कहा — “मेरे बच्चे !” मैं ही तो वह संन्यासी हूँ। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजा बना दूँगा।”

महत्वाकांक्षी बालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल चाणक्य के वामहस्त की कनिष्ठिका पकड़ ली और वह आशा के अनन्त नीलगगन में अपने भावी साम्राज्य के सुन्दर-सुनहले चित्र बनाता हुआ चाणक्य के साथ हो लिया। अब तो वह राजा बन कर ही अपने नाना-नानी, माता-पिता और बाल-सखाओं से मिलेगा इस प्रकार का मन ही मन दृढ़ निश्चय कर चुकने के कारण बालक चन्द्रगुप्त ने अपने साथी बालकों और अपने ग्राम की ओर मुड़ कर भी नहीं देखा। अपने स्वप्नों को साकार करने वाले उस स्वर्णिम सुयोग में कहीं किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो जाय, इस आशंका से चाणक्य ने बालक के माता-पिता आदि अभिभावकों को बिना पूछे ही उस गाँव से अनिश्चित स्थान के लिये तत्काल प्रस्थान कर दिया।

बालक चन्द्रगुप्त को चाणक्य अपने साथ बिना उसके अभिभावकों को पूछे ले गया, इस घटना के उल्लेख के तत्काल पश्चात् ही आचार्य हेमचन्द्र ने अपने परिशिष्ट पर्व में नन्द के साथ चाणक्य के संघर्षरत हो जाने का उल्लेख करते हुए बताया है कि चाणक्य ने धातुविज्ञान के माध्यम से उपाजित स्वर्ण से एक सेना संगठित की और चन्द्रगुप्त ने उस सेना के साथ पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर दिया। परिशिष्ट पर्व में किया गया यह उल्लेख नितांत असंगत और अव्यवहार्य प्रतीत होता है। बालक्रीड़ाओं में निरत एक ग्रामीण बालक को बिना किसी प्रकार की सैनिक शिक्षा दिये सहसा सेनापति बना कर उस समय के भारतवर्ष की सबसे शक्तिशाली राज्यसत्ता के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिये भौक देने जैसी अदूरदर्शिता चाणक्य जैसा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ नहीं कर सकता। विस्तारभय अथवा अन्य किन्हीं कारणों से आचार्य हेमचन्द्र ने इन दोनों घटनाओं के मध्यवर्ती काल में चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त को एक कुशल सेनानी और सुयोग्य शासक बनाने के लिये उसे समुचित शिक्षा दिलाने का उल्लेख नहीं किया है।

चाणक्य ने जिस कार्य को निस्पन्न करने का बीड़ा उठाया था वह वस्तुतः बड़ा गुरुतर और दुस्साध्य कार्य था। चाणक्य के कार्य का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट-रूपेण यह विदित हो जायगा कि केवल अपने अपमान के प्रतिकार के लिये बदले की भावना से प्रेरित हो कर ही उसने इतना बड़ा संघर्ष नहीं किया था। वस्तुतः इस महान् संघर्ष के पीछे उसके अन्तर में अनेक उद्देश्य थे। तात्कालिक देशव्यापी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने उसके मानस में तीव्र असंतोष को जन्म दिया। करभार से दबी हुई और कुशासन से प्रपीडित जनता को वह एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न सशक्त सुशासन देना चाहता था। हो सकता है कि नन्द के राजप्रासाद में हुए अपमान ने उसके अन्तर में छुपे उन विचारों को प्रचण्ड रूप दे कर उसे राज्य-क्रान्ति के लिये तीव्रतम प्रेरणा दी हो। अजस्र धर्म, शक्ति, शौर्य, साहस और मेधा से भी कष्टसाध्य इस महान् कार्य का श्रीगणेश करने से पहले महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को किसी न किसी आदर्श विद्यालय में उच्चशिक्षा अवश्यमेव दिलाई होगी, यह तो निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा। उस समय भारतवर्ष में दो महान् विश्वविद्यालय थे, एक तो तक्षशिला का और दूसरा नालन्दा का। नन्द के नाक के नीचे रहे हुए नालन्दा विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त को शिक्षा दिलाने का खतरा मोल न ले कर चाणक्य ने अवश्यमेव तक्षशिला विश्व-विद्यालय में उसके लिये शिक्षा की व्यवस्था की होगी, यह अनुमान युक्ति संगत ठहराया जा सकता है।

जातक कथाओं से पता चलता है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में राजकुमारों के लिये उच्चकोटि के सैनिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था थी, जिसमें सिद्धान्त तथा व्यवहार के साथ-साथ जातक के शब्दों में 'इस्तय सित्प' अर्थात् अनुविद्या एवं 'हृत्थिसत्त' हाथियों से सम्बन्ध रखने वाली विद्या आदि की

शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय के भारतरिक्त वहाँ एक शिक्षाशास्त्री द्वारा स्वतन्त्र-रूप से भी राजकुमारों को इस प्रकार का सैनिक प्रशिक्षण दिये जाने का जातक कथाओं में विवरण उपलब्ध होता है। नालन्दा विश्वविद्यालय की सैनिक एकेडेमी में १०१ राजकुमार और स्वतन्त्र प्राध्यापक की शिक्षणशाला में १०३ राजकुमार उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते रहते थे इस प्रकार का उल्लेख जातकों में है।

चाणक्य के समान उस समय के चोटी के विद्वान् के लिये चन्द्रगुप्त को उपरिर्वाणित दोनों शिक्षण संस्थाओं में से किसी एक में प्रवेश दिला कर उच्च-सैनिक प्रशिक्षण दिसवाना कोई कठिन कार्य नहीं था। ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चाणक्य को भयूरपालकों के ग्राम में ज्यों ही प्रतिभाशाली बाणिक चन्द्रगुप्त मिला, त्यों ही वह उसे ले कर सीधा नालन्दा पहुंचा और वहाँ उसने उसकी शिक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की। हमारे इस अनुमान को ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए पाश्चात्य लेखक जस्टिन द्वारा लिखित 'एपिटोम' (सारसंग्रह) के उस विवरण से बल मिलता है, जिसमें यह बताया गया है कि तत्कालीन यूनानियों के भासन का तख्ता उलट देने के लिये सैंड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने डाकुओं का दल एकत्रित कर के भारतवासियों को भड़काया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था तो एक विशालकाय जंगली हाथी ने उसको पालतू हाथी की तरह अपनी पीठ पर बैठा लिया। वह हाथी युद्ध में चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक बन गया और रणक्षेत्र में सदा बहुत आगे-आगे रहा।<sup>1</sup>

1 .....He then passed over to India, which after Alexander's death, as if the yoke of servitude had been shaken off from its neck, had put his prefects to death. Sandrocottus had been the leader, who achieved their freedom, but after his victory he had forfeited by his tyranny, all little to the name of liberator: for having ascended the throne, he oppressed with servitude the very people whom he had emancipated from foreign thralldom. He was born in humble life, but was prompted to aspire to royalty by an omen, significant of an august destiny. For, when by insolent behaviour he had offended king Nandrus, and was ordered by that king to be put to death, he had sought safety by a speedy flight. When he lay down, overcome with fatigue and had fallen into a deep sleep, a lion of enormous size, approaching the slumberer, licked with its tongue, the sweat, which oozed profusely from his body, and when he awoke, quietly took its departure. It was this prodigy, which first inspired him, with the hope of winning the throne, and so having collected a band of robbers, he instigated the Indians to overthrow the existing government. When he was there, after preparing to attack, Alexander's prefects, a wild elephant of monstrous size approached him and kneeling submissively like tame elephants, received him on to its neck and fought vigorously in front of the army. Sandrocottus having thus won the throne, was reigning over India when Seluecus was laying the foundation of his future greatness. Seleucus having made a treaty with him and otherwise settled his affairs in the east, returned home to prosecute the war with Antigonous.

—From *Parthian History*, Vol. 4: as translated by Mr. Crenish, Principal, Hultzsch, Corp. Inscr. Indic. Pt. I. Pref. xxviii.

ईसा की दूसरी शती में हुए विदेशी विद्वान् जस्टिन ने सिकन्दर के अधि-कारियों द्वारा तथा मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये संस्मरणों के आधार पर अपने “सारसंग्रह” में ये पंक्तियां लिखीं। इनसे हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं—

सिकन्दर ने एक बड़ी सेना के साथ यूनान से लेकर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के देशों को विजित करने के पश्चात् ईसा पूर्व ५२७ में भारत पर आक्रमण किया। अनेक बड़ी-बड़ी राज्यसत्ताओं को पददलित एवं पराजित कर देने के कारण सिकन्दर की सेना का मनोबल बढ़ा हुआ था। तबनीतम शस्त्रा-स्त्रों से सुसज्जित सिकन्दर की शक्तिशाली विशाल सेना के समक्ष भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राज्यों तथा गणराज्यों की सेनाएं कड़े संघर्ष के पश्चात् एक के बाद एक पराजित होती ही गईं। इस दयनीय स्थिति को देखकर देश के आवाल वृद्ध के अन्तर्मन में उत्पन्न हुए क्षोभ ने प्रत्येक भारतवासी को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये कुछ न कुछ कर गुजरने की प्रेरणा दी। प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों ने विदेशी शक्ति से लोहा लेने के लिये जनमानस को उभारा। नव-युवक अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्राणाहुति देने को तत्पर हुए। चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ और रणनीति विशारदों की निगाह तक्षशिला में “उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियों की ओर गईं और उनमें से सुयोग्य युवकों का चयन कर उनके द्वारा युवावर्ग को आवश्यक सैनिक प्रशिक्षण दिलवाया तथा इस प्रकार तक्षशिला की सैनिक एकेडमी से शिक्षा प्राप्त स्नातकों के सेनापतित्व में तत्काल खड़ी की गई सैनिक टुकड़ियों में से कुछ को विदेशी शासन की समाप्ति के लिये युद्ध के मैदानों में भेजकर तथा कुछ को गुरिल्ला युद्ध से शत्रु की शक्ति क्षीण करने का कार्य सौंप कर सामूहिक विद्रोह का ऋण्डा फहराया गया। चन्द्रगुप्त जैसा महत्वाकांक्षी युवक, जो उस समय तक तक्षशिला में पर्याप्त सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका था, देश पर आई हुई संकट की घड़ियों में चुपचाप नहीं बैठ सकता था। अतः चन्द्रगुप्त ने भी एक सैनिक टुकड़ी का सेनापतित्व करते हुए सिकन्दर की सेना के सम्मुख डटकर लोहा लिया।

एक विदेशी लेखक, तूफान की तरह निरन्तर आगे बढ़ती हुई अपने देश की बहादुर सेना की राह में डटकर उसकी प्रगति को रोकने वाले भारतीय सेनापति के लिये यह लिखे कि—चन्द्रगुप्त ने डाकुओं का दल एकत्रित करके भारतवासियों को भड़काया—तो इसके लिये उसे दोष नहीं दिया जा सकता। संसार का इतिहास साक्षी है कि अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणाहुति देने वाले रणबांकुरे देशभक्तों को आततायी सदा से ही चोर, डाकू, लुटेरे, गुण्डे आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करते आये हैं।

अपने समय के अप्रतिम कूटनीतिज्ञ और राजनीति-विशारद चाणक्य के दूरदर्शितापूर्ण निर्देशन में साहसी नवयुवक चन्द्रगुप्त ने अपनी मातृभूमि भारत को विदेशी यूनानियों की दासता से उन्मुक्त कराने का बीड़ा उठाया और अद्भुत धैर्य, साहस एवं पराक्रम से उसने यूनानियों को भारतवर्ष—की सीमाओं से बाहर



खदेड़ने में सफलता प्राप्त की। चन्द्रगुप्त उस राजनैतिक विप्लव के समय न तो किसी राज्य का शासक ही था और न उसके पास कोई नियमित सेना ही थी। उसने देश की ग्राम-वान पर मर मिटने की साध रखने वाले युवकों को संगठित कर डम अति दुष्कर कार्य को सम्भव बनाया।

अपने देश में विदेशी शासन का अन्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने अभिभावक अथवा भाग्यविधाता चाणक्य के आदेशानुसार पाटलिपुत्र पर अधिकार करने हेतु अनवरत परिश्रम द्वारा एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मगध जैसे उस समय के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य की सुसंगठित सेनाओं से लोहा लेने के लिये एक सशक्त सेना तैयार करने में चन्द्रगुप्त और चाणक्य को पर्याप्त समय लगा होगा। पर्याप्त शक्तिशाली सेना के संगठित हो जाने और सभी प्रकार की सैनिक तैयारियां सम्पन्न हो जाने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र पर प्रबल वेग के साथ आक्रमण करने का आदेश दिया। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के आदेश का पालन करते हुए तत्काल अपनी सेना के साथ पाटलिपुत्र की ओर रणप्रयाण किया। भारत पर विदेशी आक्रमण के समय से ही धननन्द सावधान हो चुका था। कहीं मिकन्दर उसके राज्य पर भी आक्रमण न कर दे, इस आशंका से उसने अपनी फौजों को सुसंगठित कर रखा था। चन्द्रगुप्त द्वारा किये जाने वाले इस अप्रत्याशित आक्रमण की सूचना मिलते ही धननन्द अपनी विशाल वाहिनी के साथ चन्द्रगुप्त से युद्ध करने के लिये युद्धस्थल में आ डटा। इस सैनिक अभियान में चाणक्य भी चन्द्रगुप्त के साथ था। दोनों सेनाएं बड़ी वीरता के साथ लड़ीं किन्तु मगध की सुसंगठित और विशाल सेना के सम्मुख चन्द्रगुप्त की सेना के पैर उखड़ गये। चन्द्रगुप्त की सेना में भगदड़ मचते ही धननन्द की सेना ने द्विगुणित वेग से उस पर प्रबल आक्रमण किया। परिणाम यह हुआ कि चन्द्रगुप्त की सेना के सिपाही बहुत बड़ी संख्या में मगध की सेना द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये और अन्ततोगत्वा चन्द्रगुप्त और चाणक्य को अपने प्राणों की रक्षा के लिये युद्धस्थल छोड़ कर भागना पड़ा। धननन्द के आदेश से मगध के सैनिकों द्वारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पीछा किया गया। उस संकटापन्न भयानक स्थिति में भी प्रत्युत्पन्नमती चाणक्य ने चन्द्रगुप्त एवं स्वयं के प्राणों की बड़ी ही दक्षता से रक्षा की।

धननन्द ने अपने राज्य में घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य को जीवित अथवा मृत अवस्था में उसके समक्ष प्रस्तुत करेगा उसे बहुत बड़ा पारितोषिक तथा राजकीय सम्मान दिया जायगा। ऐसी स्थिति में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के लिये पग-पग पर प्राणों का संकट था। उधर मगध का समस्त गुप्तचर विभाग एवं सैन्य संगठन चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त को पकड़ने के लिये धननन्द के समस्त साम्राज्य में सक्रिय था पर चतुर चाणक्य चन्द्रगुप्त को साथ लिये विकट वनों, दुर्लभ पर्वतों और वेगवती नदियों को छद्मवेष में पार करता चला जा रहा था।

### ग्रामीण महिला से चाणक्य की शिक्षा

नन्दवंश को समाप्त करने की अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने हेतु जीवित रहने का दृढ़ संकल्प हृदय में छुपाये हुए चाणक्य एक रात्रि में विश्राम के लिये चन्द्रगुप्त के साथ एक एकांत भौपड़ी में ठहरा। उस वृद्ध महिला ने एक थाली में गरम-गरम राव डाल कर अपने बालकों के सम्मुख रख दी। उन बालकों में से एक ने राव खाने के लिये थाली के बीच में हाथ डाला और हाथ जल जाने के कारण कराह उठा। उस वृद्धा ने खीझ भरा उपात्मभ देते हुए उस बालक में कहा—“मेरे बच्चे ! तू भी चाणक्य की तरह नितान्त मूढ़ ही नजर आता है।”

वृद्धा की बात सुन कर चाणक्य चौंक उठा। उसने वृद्धा से पूछा—“चाणक्य ने ऐसी कौतसी मूर्खता की है, जिसके कारण तुम इस बालक को उसके समान मूर्ख बता रही हो ?”

वृद्धा ने उत्तर दिया—“पान्थ ! जिस प्रकार चाणक्य ने मगध के सीमावर्ती क्षेत्रों को विजित किये बिना सहसा विशाल साम्राज्य के मध्यभाग में स्थित पाटलीपुत्र नगर पर आक्रमण कर के भयंकर पराजय के साथ प्राणसंकट मोल लेने की मूर्खता की उसी प्रकार यह मूर्ख बालक भी थाली के किनारों के आस-पास की राव न खा कर गरमागरम राव के बीच में हाथ डाल कर अपना हाथ जला चुका है।”

चाणक्य ने उस ग्रामीण वृद्धा द्वारा दिये गये ताने से शिक्षा ग्रहण की। मन ही मन वृद्धा का उपकार मानते हुए उसने रात भर जागते रह कर अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित किया और सूर्योदय से पूर्व ही अज्ञात स्थान के लिये वहां से प्रस्थान कर दिया।

अपने बुद्धि-कौशल से चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की ओर सरपट दौड़ से आते हुए नन्द के घुड़ सवारों को मौत के घाट उतार कर अपने तथा चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा की। अनेक संकटों का सामना करने के पश्चात् चाणक्य चन्द्रगुप्त के साथ मगध की सीमाओं से सकुशल बाहर निकलने में सफल हुआ। निरापद स्थान पर पहुंचने के पश्चात् चाणक्य ने पुनः सैन्य-संगठन का कार्य प्रारम्भ किया। अब की बार चाणक्य ने हिमालय की तलहटी के राजा पर्वतक के साथ मित्रता की और उसे नन्द का आधा राज्य देने का विश्वास दिला कर धननन्द के राज्य पर आक्रमण करने के लिये राजी कर लिया। कुछ ही समय में चन्द्रगुप्त ने भी एक सशक्त सेना सुगठित कर ली। चाणक्य के निर्देश के अनुसार चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सेनाओं ने सम्मिलित रूप से मगध राज्य पर आक्रमण किया और मगध के एक के पश्चात् दूसरे सीमावर्ती क्षेत्रों एवं नगरों पर अधिकार करते हुए अन्ततोगत्वा पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य की इस नवीन रणनीति के कारण इस बार के युद्ध में शीघ्र ही मगध का बहुत बड़ा भाग चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक के अधिकार में आ जाने के कारण घन जन रसद आदि की दृष्टि में

चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सम्मिलित सैन्य शक्ति धननन्द के लिये अजेय बन गई । अन्ततोगत्वा तुमुल युद्ध के पश्चात् मगध की सेना युद्धस्थल छोड़ कर भाग खड़ी हुई । पाटलीपुत्र का पतन होते ही चन्द्रगुप्त ने धननन्द को जीवितावस्था में पकड़ लिया । इस सैनिक अभियान की सफलता का सारा श्रेय चाणक्य को दिया जा सकता है, जिसकी गूढ़ कूटनीतिक चालों के कारण चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सेनाओं को निरन्तर सफलताएं प्राप्त होती रहीं ।

### नन्दवंश का अन्त : मौर्यवंश का अभ्युदय

चन्द्रगुप्त ने अपने गृह चाणक्य के समक्ष बन्दी-वेष में धननन्द को उपस्थित किया । धननन्द ने चाणक्य के सम्मुख प्राणभिक्षा मांगते हुए कहा कि वह अब एकान्त में धर्म-साधना करना चाहता है । चाणक्य ने धननन्द की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा कि वह अपनी दोनों रानियों, एक पुत्री और यथेप्सित धन-सम्पत्ति के साथ एक रथ में बैठ कर जहां चाहे वहां जा सकता है ।

चाणक्य के आदेशानुसार धननन्द ने अपनी दोनों पत्नियों और एक पुत्री को रथ में बिठाया और जीवनयापन योग्य पर्याप्त सम्पत्ति ले कर रथारूढ़ हो रथ को हांक दिया । जिस समय नन्द ने अपने रथ को हांका देवयोग से उसी समय चन्द्रगुप्त का रथ उसके सामने की ओर से आया । रथारूढ़ तेजस्वी युवक चन्द्रगुप्त पर दृष्टि पड़ते ही धननन्द की राजकुमारी अपना समस्त भान-कुल-कान आदि विस्मृत कर बैठी । जिस प्रकार चकोरी चन्द्र की ओर विस्फारित नेत्रों से देखती रहती है उसी प्रकार धननन्द की कन्या अपनी सुध-बुध भूले अपलक दृष्टि से चन्द्रगुप्त की ओर निहारती ही रह गई ! अनुभवी वृद्ध धननन्द से यह छुपाना न रहा कि उसकी पुत्री चन्द्रगुप्त पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकी है । उसने रथ रोक कर अपनी पुत्री से कहा — “वत्से ! क्षत्रिय कन्याओं के लिये स्वयंवर ही वर-चयन का श्रेष्ठ माध्यम माना गया है । तुम अपनी इच्छानुसार प्रसन्नता-पूर्वक चन्द्रगुप्त का वरण करो । अब तुम मेरे रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर आरूढ़ हो जाओ और इस तरह मुझे तुम्हारे लिये सुयोग्य वर ढूँढने की चिन्ता से सदा के लिये मुक्त कर दो ।”

अपने पिता की बात सुनते ही वह राजकन्या मन्त्रमुग्धा सी तत्काल धननन्द के रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर चढ़ने लगी । चन्द्रगुप्त के रथ पर नन्दराज की कन्या द्वारा एक पैर ही रखा गया था कि उसके पहियों के ६ आरे चर-चर शब्द करते हुए तत्काल टूट गये ।

यह देखते ही — “अरे ! मेरे रथ पर यह महा अमंगलकारिणी कौन आरूढ़ हो रही है, जिसके द्वारा रथ में एक पैर के रखने मात्र से मेरे रथ के आरे टूट गये । यदि यह पूरी तरह से रथ में बैठ गई तो मेरे रथ का ही नहीं संभवतः मेरा स्वयं का अस्तित्व भी खतरों में पड़ जायगा” — यह कहते हुए चन्द्रगुप्त ने नन्ददुलारी को अपने रथ में बैठने से रोका ।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को बीच में ही टोकते हुए कहा—“नहीं, नहीं चन्द्रगुप्त ! ऐसा न करो । तुम निस्संकोच होकर राजकुमारी को अपने रथ में बैठने दो । रथ के पहिये के ६ आरों के टूटने का यह तुम्हारे लिये और तुम्हारी भावी पीढ़ियों के लिये महान् शुभ शकुन है । तुम्हारी ६ पीढ़ियाँ अक्षुण्णरूप से राज्य करती रहेंगी ।”

“यथाज्ञापयति देव !” कहते हुए चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया और धननन्द की राजपुत्री को अपने रथ में बिठा लिया ।

तदनन्तर चन्द्रगुप्त और राजा पर्वतक ने धननन्द की अतुल धन-सम्पत्ति का परस्पर विभाजन करना प्रारम्भ किया ।

धननन्द की सम्पत्ति का बंटवारा करते समय धननन्द के रनिवास की एक अद्भुत रूप—लावण्यसम्पन्न कन्या चन्द्रगुप्त और पर्वतक के समक्ष प्रस्तुत की गई । राजा पर्वतक उस कन्या को देखते ही उस पर मुग्ध हो गया । वह कन्यारत्न किसके पास रहे, इस प्रकार का प्रश्न उठने से पहले ही दूरदर्शी चाणक्य ने कहा—“चन्द्रगुप्त ! धननन्द की राजपुत्री तुम्हारा वरण कर चुकी है, अब यह अनुपम सुन्दरी कन्या महाराज पर्वतक की पत्नी बने, यही न्यायसंगत है ।”

चन्द्रगुप्त ने विना किसी प्रकार की नन्नो-नच्च के अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया । महार्घ्य वस्तुओं का बंटवारा होते ही पर्वतक की इच्छानुसार उस रूपवती कन्या के साथ पर्वतक का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ सम्पन्न किया जाने लगा । सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित वर-वधू को हवन-वेदी के पास बिठाया गया और वर-वधू का परस्पर करग्रहण करवाने के पश्चात् विवाह की मांगलिक क्रियाएँ की जाने लगीं । विवाह-वेदी की अग्नि के ताप से वर-वधू के हाथों में स्वेद उत्पन्न हुआ । वधू के हाथ का स्वेद लगते ही पर्वतक पर अति वेग से विष का प्रभाव होने लगा । वस्तुतः वह कन्या विषकन्या थी, जिसे धननन्द ने अपनी राह के कांटों को गुप्त रूप से साफ करने हेतु अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक विष खिला कर पाला-पोसा था । उस विषकन्या के स्वेद के प्रभाव से पर्वतक के समस्त अंगोपांग शिथिल होने लगे । उसके अन्तर में विषजन्य तीव्र जलन होने लगी । उसने कष्टपूर्ण याचनाभरे स्वर में चन्द्रगुप्त को सम्बोधित करते हुए कहा—“मित्र ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो मुझे विष पिला दिया गया हो । मेरे कण्ठ अब रुद्ध हो रहे हैं । अब मुझ में बोलने का भी साहस नहीं रहा है । मेरे प्राण निकलने ही वाले हैं । कृपा कर मेरा शीघ्रतापूर्वक कुशल वैद्यों से उपचार करवाओ ।”

चन्द्रगुप्त को सहसा ऐसा अनुभव हुआ मानो उस पर अनभ्र-वज्रपात हुआ हो । वह हड़बड़ा कर अपने स्थान से उठा और—“कहाँ हैं मान्त्रिक ! कहाँ हैं वैद्य !” कहता हुआ स्वयं द्वार की ओर भागा । चाणक्य ने इस प्रकार हड़बड़ा

कर दौड़ते हुए चन्द्रगुप्त को एकान्त में रोका और उसके कान में कहने लगा — “चन्द्रगुप्त ! तुम महान् भाग्यशाली हो, बिना उपचार के ही तुम्हारा प्राणहारी रोग स्वतः शान्त हो रहा है । पर्वतक की मृत्यु तुम्हारे लिये वरदान सिद्ध होगी । आगे चल कर एक न एक दिन तुम्हें इस पर्वतक को मार डालने के लिये बड़ा प्रयास करना पड़ता । यह राजनीति का अटल सिद्धान्त है कि अपने आधे राज्य के अधिकारी को जो मारने में पहल नहीं करता वह एक न एक दिन स्वयं ही मृत्यु का श्रास बन जाता है । तुम्हें तो इसे एक न एक दिन मारना ही था । आज यह तुम्हारे द्वारा बिना किसी प्रकार का प्रयास किये ही स्वयं मर रहा है, तो इसे मरने दो । अपने इस भाग्योदय को मौन धारण कर चुपचाप देखते रहो ।”

अपने भाग्यविधाता चरणक्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस चन्द्रगुप्त में नहीं था । अन्ततोगत्वा विषकन्या के विषाक्त प्राणहारी पसीने के प्रभाव से पर्वतक पंचत्व को प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ में जिस वर्ष कि आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ, उसी वर्ष नन्दवंश का अन्त, पर्वतक का प्राणान्त और पाटलिपुत्र के विशाल साम्राज्य तथा पर्वतक के राज्य पर चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ ।

### चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण-काल के सम्बन्ध में मतभेद

चन्द्रगुप्त मौर्य ने चरणक्य की सहायता से वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राजवंश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार किया, यह जैनों की प्राचीन काल से मान्यता चली आ रही है । इस मान्यता की पुष्टि जैन परम्परा के अति प्राचीन ग्रन्थ ‘तित्थोगालियपइण्ण’ के निम्नलिखित उल्लेख से होती है :-

जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।  
तं रयणिमवंतीए अभिसित्तो पालओ राया ॥  
पालग रण्णो सट्ठी, पणपणसयं वियाणि एंदाणं ।  
मुरियाणमट्ठिसयं तीसा पुण पूसमित्ताणं ॥

अर्थात् जिस रात्रि में तीर्थंकर भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि में पालक राजा का अवन्ती के राज्य सिंहासन पर अभिषेक हुआ । पालक का ६० वर्ष तक, तदनन्तर नन्दों का १५५ वर्ष तक, नन्दों के पश्चात् मौर्यों का १०८ वर्ष तक और तदनन्तर पुष्यमित्र का ३० वर्ष तक राज्य रहा ।

कालान्तर में :-

एवं च श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते ।

पंचपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥३३६॥

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा अपने परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित इस श्लोक के आधार पर दूसरी नवीन मान्यता प्रचलित हुई कि वीर नि० सं० १५५ में नन्द

वंश का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अधिकार किया। पर तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् यह नवीन मान्यता खरी नहीं उतरी और इतिहास के विद्वानों ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक के राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।<sup>1</sup>

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा राजत्वकाल गणना में हुई इस भूल के कारण भगवान् महावीर के निर्वाण काल में भी ६० वर्ष का अन्तर आता था अतः विद्वानों द्वारा इस सम्बन्ध में गहन खोज की गई और उस खोज के परिणामस्वरूप यह तथ्य विद्वानों के समक्ष आया कि महाराजा कुमारपाल का काल देते समय आचार्य हेमचन्द्र ने पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों को कालगणना में सम्मिलित कर लिया है। यथा :—

अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यमय षोडश ।

नवषष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा ॥४५॥

कुमारपालभूपालो त्रौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।

भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः ॥४६॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व १०, सर्ग १२]

आचार्य हेमचन्द्र के इस कथन के अनुसार कुमारपाल वी० नि० सं० १६६६ में हुआ और यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४२-४३ में हुआ। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल (वी० नि० सं० १६६६-११४२) ई० पूर्व ५२७ मान कर तित्थोगालिय-पइण्णा में दी गई कालगणना को तथ्यपूर्ण माना है।

इस प्रकार के पुष्ट प्रमाणों के उपरान्त भी कुछ विद्वान् "पण पण सयं वियाणि रांदाण" इस गाथापद का यह असंगत अर्थ लगा कर कि वीर निर्वाण संवत् १५५ में नन्दवंश का अन्त हुआ—यह मान्यता अभिव्यक्त करते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० सं० १५५ में राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राज्यवंश का अन्त कर राज्यारोहण किया अथवा वी० नि० सं० १५५ में, यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक प्रश्न है। इससे न केवल जैन इतिहास पर अपितु आज से लगभग २३०० वर्ष पहले के भारतवर्ष के इतिहास पर भी प्रभाव पड़ता है अतः यहां नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

ईसा पूर्व मई ३२७ से ईसा पूर्व मई ३२४ तक लगातार तीन वर्ष तक भारतवर्ष पर अलेक्जेंडर का आक्रमण रहा। अलेक्जेंडर द्वारा भारत में नियुक्त अधिकारियों द्वारा लिखे गये युद्ध के संस्मरणों एवं विभिन्न अन्य तथ्यों के आधार

<sup>1</sup> Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of king Palaka after Mahaveera, [Epitome of Jainism Appendix A, P IV]

पर यूरोपीय लेखकों ने भारत पर अलेक्जेंडर के आक्रमणकाल की घटनाओं के विवरण समय-समय पर अपनी कृतियों में दिये हैं। उनसे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त विदेशी आक्रान्ता से देश की रक्षार्थ लड़ा था और उस समय तक मगध पर नन्द का राज्य था। उन यूरोपीय लेखकों में से चार लेखकों की रचनाओं में से एतद्विषयक कुछ उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

(१) ईसा से ३६ वर्ष पूर्व तक जीवित डिमोडोरस ने मेगस्थनीज की रचनाओं के आधार पर लिखा है :-

“पोरस ने सिकन्दर को सूचना दी कि गंगादिराई का राजा (नन्द) बल्कुल दुश्चरित्र शासक है, जिसका कोई सम्मान नहीं करता और उसे लोग नाई की संतान समझते हैं।”

(२) ईसा की पहली शताब्दी के यूरोपीय लेखक कटियस ने लिखा है :-

“पोरस (भारतीय राजा जिसे सिकन्दर ने भेलम की लड़ाई में पराजित किया और जो उस समय उस प्रदेश का सबसे महान् व्यक्ति था) ने सिकन्दर को बताया कि वर्तमान राजा (नन्द) न केवल ऐसा आदमी है जिसकी मूलतः कोई प्रतिष्ठा नहीं थी बल्कि उसकी स्थिति नीचतम थी। उसका पिता वास्तव में नाई था, जो चोरी छिपे रानी का प्रेमी बन गया और उसने छल से राजा का वध करवा दिया। फिर राजकुमारों के अभिभावक के रूप में काम करने के बहाने उसने सारी सत्ता अपने हाथ में कर ली और सारे अल्पवयस्क राजकुमारों की हत्या करवा दी, उसके बाद उसके संतान हुई जो वर्तमान राजा है। जिससे उसकी प्रजा घृणा करती है या उसे शूद्र समझती है।”

(३) लगभग ४५ से १२५ ई० सन् में हुए प्लूटार्क नामक लेखक ने अपनी “लाइव्स” (जीवनियां) नामक रचना के ५७वें से ६७वें अध्यायों में सिकन्दर के जीवन की घटनाओं को देते हुए लिखा है :-

“सैंड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) जो उस समय नवयुवक ही था, स्वयं सिकन्दर से मिला था और बाद में वह कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से पूरे देश पर (गंगादिराई तथा प्रासाई देश पर, जिस पर नन्द राजा का शासन था) अधिकार कर सकता था क्योंकि वहां का राजा स्वभावतः दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल में हुआ था और इसीलिये उसकी प्रजा उसे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।”

(४) ईसा की दूसरी शती में हुए यूरोपीय लेखक जस्टिन की रचना “एपिटोम” (सारसंग्रह) का एतद्विषयक उद्धरण अविकल रूप से पहले दिया जा चुका है, जिसमें उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने डाकुओं का दल संगठित कर के भारतवासियों में यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काई तथा वह युद्ध के मैदानों में एक जंगली हाथी पर सवार हो कर यूनानियों

से लड़ता रहा। उसने यूनानी शासन को भारत से समाप्त कर दिया और वह स्वयं राजा बन बैठा।

इस प्रकार आज से क्रमशः दो हजार, १६ सौ, १८ सौ और १७ सौ वर्ष पूर्व हुए विदेशी लेखकों की कृतियों के उपरि उद्धृत उद्धरणों से यह पूर्णरूपेण स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ अर्थात् वीर नि० सं० २०० से २०३ तक केवल चन्द्रगुप्त ही नहीं नन्द भी विद्यमान था और गंगा दरिया तथा भारत के पूर्वी क्षेत्रों पर नन्द का शासन था।

विदेशी लेखकों की कृतियों में इन महत्वपूर्ण विवरणों के पश्चात् और भी अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण मिलते हैं, जिनमें चन्द्रगुप्त को भारत का सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासक बताया गया है।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर के साम्राज्य का उसके सेनापतियों ने परस्पर बंटवारा किया और उनमें संघर्ष चलता रहा। सिकन्दर के उन सेनापतियों में से सेल्यूकस ने सिकन्दर की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ईरान तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके पश्चात् सेल्यूकस भारत की ओर बढ़ा और सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करने लगा। उसने अनेक बार बड़ी शक्तिशाली सेना ले कर भारत के उत्तरपश्चिमी भाग पर आक्रमण किये, किन्तु उस समय तक चन्द्रगुप्त मौर्यें भारत में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर चुका था, अतः चन्द्रगुप्त के समक्ष यूनानी सेना एक बार भी नहीं टिक सकी और सेल्यूकस को भारत के विरुद्ध किये गये अपने सभी सैनिक अभियानों में हर बार पराजय का मुंह देखना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३०४ में (नन्दवंश का अन्त कर राजा बनने के ८ वर्ष पश्चात् वीर निर्वाण सं० २२३ में) सेल्यूकस को करारी हार दी जिसके परिणामस्वरूप सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ संधि करनी पड़ी। विदेशी लेखक प्लूटार्क अपनी कृति “लाइव्स” के ४२वें अध्याय में इस संधि का उल्लेख अपने ढंग से इस प्रकार करता है :—

“इसके कुछ ही समय पश्चात् सेन्ड्रोकोट्टस ने जो उसी समय राजसिंहासन पर बैठा था, सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किये और ६,००,००० की सेना ले कर सारे भारत को अपने अधीन कर लिया।”

इन सत्र ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकट होता है कि वीर निर्वाण संवत् २०० में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उस समय देश की रक्षार्थ चन्द्रगुप्त ने यूनानियों से नि० सं० २०८-५ तक लोहा लिया। यूनानी शासन को भारत से समाप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने चाराक्य के तन्त्रावधान में शक्तिशाली सेना का संगठन करना प्रारम्भ किया। धननन्द जैसे शक्तिशाली राजा से युद्ध करने के लिये एक मजबूत सेना संगठित करने में पर्याप्त समय लगा होगा। मैन्यसंगठन के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण



किया, पर उस प्रथम युद्ध में नन्द ने उसकी सेना को नष्ट कर दिया। अपनी भयंकर पराजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य को जंगलों और पहाड़ों में छुप-छुप कर अपने प्राणों की रक्षा करते हुए काफी समय तक इधर से उधर भटकना पड़ा। तत्रश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नये सिरे से पुनः सेना संगठित की। सैन्य संगठन के पश्चात् चाणक्य ने राजा पर्वतक से मित्रता की और उसे नन्द के राज्य पर आक्रमण करने को येन-केन-प्रकारेण सहमत किया। पर्वतक की सहायता प्राप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दूसरी बार नन्द पर आक्रमण किया और इस युद्ध में चन्द्रगुप्त ने नन्द राजवंश का अन्त कर पाटलीपुत्र के राज्यासिंहासन पर अधिकार किया। इन सब अति दुष्कर कार्यों को सम्पन्न करने में चन्द्रगुप्त को निश्चित रूप से १० वर्ष अवश्य लगे होंगे।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्दवंश के अन्त और मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ के जो उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं, वे उपरिलिखित ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर शतप्रतिशत खरे उतरते हैं।

चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राजवंश को समाप्त कर मौर्य राजवंश की स्थापना की; इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि अशोक के १३वें शिलालेख से भी होती है। अशोक के सभी अभिलेखों पर उसके राज्याभिषेक के पश्चात् बीते हुए वर्षों के अनुक्रम से तिथियाँ डाली गई हैं। उदाहरण के तौर पर अशोक के राज्याभिषेक के दो वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर दो, पांच वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर ५ और १३ वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर १३ की संख्या लिखी गई है। इस प्रकार अशोक के जिस अभिलेख पर जो संख्या लिखी गई है, वह उसके राज्याभिषेक के उसी संख्या वाले वर्ष में लिखा गया है।

अशोक के १३वें राज्यवर्ष में जो तेरहवाँ शिलालेख लिखा गया उसका भारतीय इतिहास में तिथिक्रम की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। इस १३वें शिलालेख में अशोक ने यूनान के उन पांच सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजाओं का उल्लेख किया है, जिनके साथ अशोक ने अपने शिष्टमंडलों के माध्यम से मंत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। उन पांचों यूनानी राजाओं के नाम उनके इतिहास-सम्मत राज्यकाल के साथ यहाँ दिये जा रहे हैं :-

१. अंतियोक - बैबिलोन तथा ईरान का राजा ऐंटियोकस, द्वितीय थियोस, २६१-२४६ ई० पू०
२. तुर्मय - मिस्र का राजा तोलेमाइयस, द्वितीय फिलाडेल्फोस, २८५-२४७ ई० पू०
३. अंतिकिनि - मकदूनिया का राजा ऐंटिगोनस गोनाटस, २७७-२४० ई० पू०
४. मक - साइरीन का राजा मगस, ३००-२५० ई० पू० (बैलोख तथा मैयेर के अनुसार)

५. अतिकसुन्दर - एपिरस का अलेक्जेंडर, ( ई० पू० २५५ तक जीवित ) ।<sup>१</sup>

अशोक के राज्याभिषेक के समय के सम्बन्ध में इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में बताया जा चुका है कि उसका राज्याभिषेक ई० पू० २६६ में हुआ । इस हिसाब से अशोक का यह तेरहवां अभिलेख ई० पूर्व २५६ में लिखा गया । ऊपर बताया है पांचों यूनानी राजा इस अभिलेख के लेखन-समय में जीवित थे यह उनके सामने दी हुई तिथियों से स्पष्ट हो जाता है ।

वीर निर्वाण संवत् २१५ अर्थात् ई० पू० ३१२ में चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश को समाप्त कर उसके राज्य पर अधिकार किया । ३१२ ई० पूर्व चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने के काल और २६६ ई० पू० अशोक के राज्याभिषेक काल में ४३ वर्ष का अन्तर रहा । इसमें से १८ वर्ष चन्द्रगुप्त का और २५ वर्ष बिन्दुसार का मिलाकर कुल ४३ वर्ष का इन दोनों का शासनकाल हो गया ।

इन सब प्रबल प्रमाणों से पूर्णरूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि जैन मान्यतानुसार चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण संवत् २१५ तदनुसार ई० पू० ३१२ में नन्द राजवंश को समाप्त कर पाटलीपुत्र में मौर्य राजवंश की स्थापना की ।

### आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार

आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार यों तो बड़ा विशाल था पर उन शिष्यों में प्रतिशय प्रतिभासम्पन्न निम्नलिखित दो शिष्य थे :-

१. आर्य महागिरी एलापत्यगोत्रीय और
२. आर्य सुहस्ती, वाशिष्ठगोत्रीय

### आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर एवं आठवें आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् ६वें आचार्य आर्य महागिरि और १०वें आचार्य सुहस्ती हुए ।

### ६. आर्य महागिरि

आर्य महागिरि का गोत्र एलापत्य था । आप ३० वर्ष वृहस्प पर्याय में रहे । आपकी सामान्य व्रतपर्याय ४० वर्ष, आचार्यकाल ३० वर्ष, सम्पूर्ण चारित्र पर्याय ७० वर्ष और पूर्ण आयु १०० वर्ष थी । वीर निर्वाण सं० २४५ में आपका स्वर्गवास हुआ ।

### १०. आर्य सुहस्ती

आर्य सुहस्ती ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए । आपकी सामान्य व्रतपर्याय २८ वर्ष, आचार्यकाल ४६ वर्ष, कुल चारित्रपर्याय ७० वर्ष और पूर्ण आयु १०० वर्ष थी । आपका गोत्र वाशिष्ठ था । वीर निर्वाण सं० २६१ में आपका स्वर्गगमन हुआ ।

<sup>१</sup> चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल (डा. राधाकृष्ण मुकुर्जी), पृ० ७१-७२

### गृहस्थ जीवन

आर्य महागिरि और सुहस्ती के माता-पिता कौन थे और कहां के रहने वाले थे, एतद्विषयक कोई उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों के दीक्षित होने से पहले के जीवन का केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि इन दोनों को शैशवावस्था से ही आर्या यक्षा की देखरेख में रखा गया। इन दोनों का लालन-पालन-शिक्षण आदि आर्या यक्षा के तत्वावधान में हुआ। कहा जाता है कि इसी की स्मृति के रूप में इन दोनों के नाम से पहले आर्य विशेषण रखा गया पर यह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "आर्य" इस विशेषण का प्रयोग शास्त्रों में सुधर्मा और जम्बू के लिये भी प्रयुक्त किया गया है। इन दोनों ने क्रमशः ३०-३० वर्ष की वय में आचार्य स्थूलभद्र के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य महागिरि का जन्म वीर निर्वाण संवत् १४५ में और आर्य सुहस्ती का जन्म वीर निर्वाण संवत् १६१ में हुआ।

### श्रमण-दीक्षा

ऊपर दिये गये इन दोनों आचार्यों के जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल और स्वर्गारोहण के आँकड़ों के अनुसार आर्य महागिरि का दीक्षाकाल वी० नि० सं० १७५ और आर्य सुहस्ती का दीक्षाकाल वी० नि० सं० २२१ माना गया है। दुःषमा श्र० संचस्तोत्रयंत्र के अनुसार इन दोनों आचार्यों की पूर्णायु सौ-सौ वर्ष मानी गई है तथा युगप्रधान पट्टावली में आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् इन दोनों आचार्यों का आचार्यकाल क्रमशः ३० और ४६ वर्ष का माना गया है<sup>१</sup>, इससे उपरिर्वाणित काल की पुष्टि होती है।

जहां तक आर्य महागिरि का सम्बन्ध है, उपरोक्त कालगणना में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती किन्तु ऊपर बताये हुए आँकड़ों के अनुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा का काल वी० नि० सं० २२१ में आता है; उसमें सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र का हस्तदीक्षित शिष्य माना गया है और आचार्य स्थूलभद्र वीर नि० सं० २१५ में ही स्वर्गवासी हो गये थे। ऐसी स्थिति में आचार्य स्थूलभद्र के पास वीर नि० सं० २२१ में उनके दीक्षित होने की बात संगत और सत्य नहीं बैठती। आचार्य स्थूलभद्र के स्वर्गगमनकाल को १० वर्ष आगे सरका कर इसकी संगति बैठाने का कुछ विद्वानों की ओर से प्रयास किया गया है पर इस प्रकार की पद्धति को अपनाते से तो अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की प्रमाणिकता ही समाप्त हो जायगी। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती २३ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए हों और किसी लिपिकार के प्रमाद से तेवीस के स्थान पर तीस की संख्या प्रचलित हो गई हो। तेवीस वर्ष की अवस्था में इनके दीक्षित होने की बात को स्वीकार कर

<sup>१</sup> (वीर निर्वाण सं० २१५ में आ० स्थूलभद्र के स्वर्गगमन के पश्चात्)

अञ्ज महागिरि तीसं, अञ्ज सुहस्तीण वरिस छायासा ।

[स्थविरावली]

लेने से आचार्य स्थूलभद्र के पास बी० नि० सं० २१४-१५ में इनके दीक्षित होने की संगति भी बैठ जाती है और किसी महान् आचार्य के आयुष्य को इच्छानुसार कम या ज्यादा करने का प्रयास भी नहीं करना पड़ता । आर्य सुहस्ती तो शैशवावस्था से ही श्रमणोचित संस्कारों में ढाले गये थे । ऐसी स्थिति में उनकी औपचारिक दीक्षा ७ वर्ष पहले हो अथवा पश्चात्, उससे उनके महान् संत जीवन में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं पड़ता ।

### श्रमण-जीवन

वीर निर्वाण सं० १७५ में दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने अपने गुरु आचार्य स्थूलभद्र की सेवा में रहते हुए दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया । ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः ३० और अनुमानतः २३ वर्ष की अवस्था तक विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य में रह कर उन दोनों ने निश्चित रूप से एकादशांगी का समीचीनरूपेण अध्ययन कर लिया होगा । तदनन्तर दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने आचार्य स्थूलभद्र से १० पूर्वों का अध्ययन किया । आर्य सुहस्ती की दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र लगभग एक वर्ष तक जीवित रहे, अतः उन्होंने आर्य सुहस्ती को पूर्वों का अध्यापन प्रारम्भ तो कर दिया होगा पर उनके स्वर्गगमन के पश्चात् उन्हें दश पूर्वों का पूर्ण अध्यापन आर्य महागिरि ने ही किया होगा । सम्भवतः यही एक बहुत बड़ा कारण था कि आर्य सुहस्ती ने जीवन पर्यन्त आर्य महागिरि का अपने गुरु की तरह पूर्ण सम्मान किया ।

इन दोनों महापुरुषों ने क्रमशः ४० और ३१ वर्ष के अपने सामान्य व्रत-पर्याय के समय में कठोर तपश्चरणा, निरतिचार विशुद्ध संयमपालन एवं स्थविर श्रमणों की सेवा शुश्रूषा के साथ-साथ अनवरत अभ्यास और पूर्ण निष्ठा के साथ ज्ञानार्जन किया । ये दोनों महाश्रमण दो वस्तु कम १० पूर्वों के पूर्ण ज्ञाता थे ।

### आचार्य-पद

वीर निर्वाण संवत् २१५ में अपने स्वर्गगमन के समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने इन दोनों सुयोग्य शिष्यों—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती—को अपने उत्तराधिकारी के रूप में भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर-पद पर आचार्य नियुक्त किया ।

प्रायः कल्पसूत्र स्थविरावळी, परिशिष्ट पर्व, विभिन्न पट्टावलियाँ आदि सभी उपलब्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आर्य महागिरि और सुहस्ती—इन दोनों को साथ-साथ आचार्य पद प्रदान किये जाने का उल्लेख किया गया है; पर यह वस्तुतः विचारणीय है । इसका कारण यह है कि आर्य सुहस्ती आचार्य स्थूलभद्र के पास दीक्षित होकर संभवतः एकादशांगी का अभ्यास भी पूर्ण नहीं कर पाये होंगे कि स्थूलभद्र स्वामी स्वर्गस्थ हो गये । आर्य सुहस्ती का पूर्व श्रुत का अभ्यास आर्य महागिरि के सान्निध्य में उन्हीं की कृपा से पूर्ण हुआ, जैसा कि परिशिष्ट पर्वकार ने स्वयं आर्य सुहस्ती के

मुख से आर्य महागिरि के लिये कहलवाया है - "ममैते गुरवः खलु" - 'ये मेरे गुरु हैं।' ऐसी स्थिति में वीर नि० सं० २१५ में स्वल्प दीक्षाकाल वाले आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र द्वारा महागिरि के साथ आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होती।

इन सब तथ्यों के संदर्भ में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों को एक साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने के उल्लेख के पीछे कोई न कोई विशिष्ट स्थिति अथवा कारण अबश्य होना चाहिए।

एतद्विषयक सभी तथ्यों के सम्यक् पर्यालोचन से यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि आर्य महागिरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान से आर्य सुहस्ती को शासन संचालन में विशेष कुशल एवं प्रतिभाशाली समझकर आर्य सुहस्ती को कालान्तर में आचार्यपद प्रदान करने का उन्हें (महागिरि को) आदेश दिया हो। संभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती - इन दोनों की शिष्य-परम्पराओं का गुरु-परम्परा के रूप में स्थूलभद्रस्वामी के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ने की दृष्टि से इन दोनों को एक साथ आचार्य स्थूलभद्र का पट्टधर बताया गया हो।

इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि विशिष्ट श्रुतधर और शिष्यसम्पदा सम्पन्न होने पर भी इन दोनों आचार्यों की साधु परम्पराएं वात्सल्य भाव से एक ही व्यवस्था में रहीं हों और वीर नि० सं० २१५ से २४५ तक जब कि आर्य महागिरि युगप्रधान आचार्य रहे, उस काल में भी पीछे चल कर आर्य महागिरि ने वाचना के अतिरिक्त व्यवस्थाकार्य आर्य सुहस्ती को संभला रखा हो। संभव है इस कारण से भी आर्य सुहस्ती को आर्य महागिरि के साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख किया गया हो।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रायः सभी ग्रन्थों में आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् आचार्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्य होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है; तथापि यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने निशीथ चूर्ण में प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों, पट्टावलियों एवं परम्परागत मान्यता से पूर्णरूपेण भिन्न उल्लेख किया है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने आर्य महागिरि और सुहस्ती दोनों को आचार्य स्थूलभद्र के युगप्रधान शिष्य एवं आर्य महागिरि को ज्येष्ठ मानते हुए भी स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है कि आचार्य स्थूलभद्र ने आर्य महागिरि को अपना गण न देकर आर्य सुहस्ती को दिया। ऐसा होने पर भी आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती एक साथ ही विचरण करते रहे।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> थूलभद्रस जुगप्पहाणा दो सीसा - अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य। अज्ज महागिरी जेट्ठो।

अज्ज सुहत्थी तस्स सट्ठियरो।

थूलभद्रसामिणा अज्ज सुहत्थियस्स नियमो गणो दिण्णो। तथावि अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य पीतिवसेण एकमो विहरति।

[निशीथ सूत्र भाष्य चूर्ण सहित, २ विभाग, उ० ५, पृ० ३६१]

नन्दी सूत्र की चूर्णि<sup>१</sup> में आर्य महागिरि और सुहस्ती की आचार्य-परम्पराओं के पृथक्-पृथक् रूप में अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख किया गया है फिर भी निशीथ चूर्णिकार ने आर्य महागिरि को आचार्य न मानकर केवल आर्य सुहस्ती को ही स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गण सम्भलाये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है, इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य है—यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार की स्थिति में सहज ही अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। क्या आर्य महागिरि आचार्य नहीं थे? यदि थे तो किस गण के, स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गण दिये जाने के समय तक आर्य सुहस्ती १० पूर्वों के जाता हो चुके थे अथवा उसके पश्चात् हुए? यदि उसके पश्चात् हुए तो उन्होंने १० पूर्वों का ज्ञान किन से प्राप्त किया और तब तक गण के आचार्य कौन रहे आदि अनेक प्रश्न स्पष्ट निर्णय की अपेक्षा रखते हैं। इन सब प्रश्नों का समुचित समाधान आर्य महागिरि को आचार्य मानने पर ही हो सकता है।

ऐसी स्थिति में यह संभव है कि चूर्णिकार ने पश्चाद्वर्ती किसी मतभेद से प्रभावित होकर निशीथचूर्णि में इस प्रकार का उल्लेख किया हो।

इन दोनों आचार्यों के आचार्यकाल में जैन धर्म का भारतवर्ष के सुदूर प्रदेशों में प्रचार एवं प्रसार हुआ। यों तो आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गोदास से निकले हुए गोदासगण की ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पुण्ड्रवर्द्धनिका आदि शाखाएं क्रमशः दक्षिण बंगाल के तत्कालीन प्रसिद्ध बन्दर ताम्रलिप्ति, पश्चिमी बंगाल के कोटिवर्ष नगर और उत्तरी बंगाल की तत्कालीन राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन में फैल चुकी थीं किन्तु फिर भी जैन परम्परा का प्रधान केन्द्र मुख्यतः मगध प्रदेश ही रहा। इन दोनों आचार्यों के समय में अवन्ती प्रदेश का भी जैन परम्परा के एक सुदृढ़ केन्द्र के रूप में आविर्भाव हुआ। ११ अंग और १० पूर्वों के विशिष्ट अभ्यासी इन दोनों आचार्यों ने जैन परम्परा को उत्कर्ष की एक उल्लेखनीय सीमा तक पहुंचा दिया।

इन महान् आचार्यों के शान्त, दान्त, तपःस्वाध्यायपूत आदर्श श्रमण-जीवन से श्रमणों तथा अन्य साधकों ने महती प्रेरणा प्राप्त की और अपने जीवन को उज्ज्वल और आदर्श बनाये रखा।

### आर्य महागिरि की विशिष्ट साधना

आर्य महागिरि ने अपने अनेक शिष्यों को आगमों की वाचनाएं देकर उन्हें एकादशांगी का निष्णात विद्वान् बनाया। तदनन्तर उन्होंने अपना गच्छ भी आर्य सुहस्ती को संभला दिया और गच्छ की नेत्राय में रहते हुए उच्छिन्न जिन-

<sup>१</sup> सुहस्तिस्स सुद्धित्तं—सुपडिबुद्धादश्चो आवलीते जहा दसासु तहा भासितत्त्वा, इहं तेहि अहिमारो एत्थि, महागिरिस्स आवलीए अधिकारो।

[नंदी चूर्णि, पृ० ८ पुण्यविजयजी द्वारा संपादित]

कल्प का श्रमणाचार पालन करना प्रारम्भ किया । आर्य महागिरि ने जिनकल्पी आचार स्वीकार करने के पश्चात् भी गच्छवास नहीं छोड़ा । उनका विचरण तो आर्य मुहस्ती और अपने श्रमणों के साथ ही होता था । किन्तु वे भिक्षाटन एकाकी ही करते और निर्जन एकान्त स्थान में एकाकी ही ध्यानमग्न रहते । उन्होंने यह घोर अभिग्रह किया कि जो रूखा-सूखा-बासी अन्न गृहस्थों द्वारा बाहर फेंकने योग्य होगा, भिक्षा में उसी अन्न को वे ग्रहण करेंगे ।

विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य महागिरि और आर्य मुहस्ती एक समय अपने श्रमणसमूह के साथ घाटलिपुत्र पधारे । वहाँ पर वसुभूति नामक एक अति समृद्ध श्रेष्ठी ने आर्य मुहस्ती के उपदेश से प्रबुद्ध हो श्रावकधर्म अंगीकार किया । श्रेष्ठी वसुभूति ने अपने परिवार के सब सदस्यों को जिनप्ररूपित धर्म की महत्ता समझाते हुए जैन धर्मविलम्बी बनाने का बहुत प्रयास किया । जब वसुभूति ने देखा कि वह उन्हें धर्म के गूढ़ तत्व को संतोषजनक ढंग से नहीं समझा पा रहा है तो उसने आर्य मुहस्ती से प्रार्थना की कि वे उसके घर पधार कर उसके परिवार के लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझावें ।

श्रेष्ठी वसुभूति की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य मुहस्ती वसुभूति के घर जाकर उसके परिवार के सदस्यों को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाकर उन्हें जिनधर्मानुरागी बनाने लगे । जिस समय आर्य मुहस्ती उपदेश दे रहे थे उसी समय आर्य महागिरि भिक्षार्थ श्रमण करते हुए श्रेष्ठी वसुभूति के निवासस्थान पर पधारे । आर्य महागिरि को देखते ही आर्य मुहस्ती ने आसन से उठकर बड़े विनय के साथ उन्हें वन्दन-नमन किया ।

महागिरि के लौट जाने पर श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य मुहस्ती से पूछा — “गुरुवर ! आप तो विश्ववंद्य हैं । क्या आपके भी कोई गुरु हैं जो आपने अभी यहाँ आये हुए मुनिराज को वन्दन किया ?”

आर्य मुहस्ती ने कहा — “श्रेष्ठिमुख्य ! वे महान् तपस्वी मेरे गुरु हैं । गृहस्थों द्वारा बाहर फेंके जाने योग्य अन्न को ही वे भिक्षा में ग्रहण करते हैं । यदि इस प्रकार का त्याज्य अन्न भिक्षा में न मिले तो वे उपवास पर उपवास करते रहते हैं । वस्तुतः उनका नाम निरन्तर रटने योग्य और चरस्यारज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है ।”<sup>१</sup>

<sup>१</sup> महागिरिनिजं गच्छमन्यदादात्सुहस्तिने ।

विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम् ॥३॥

व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्चास्यतोऽपि हि ।

जिनकल्पाहंया वृत्या विजहार महागिरिः ॥४॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

<sup>२</sup> सुहस्ती स्माह भो ! श्रेष्ठिन्ममैते गुरुवः खलु ।

स्यागाहंभक्तपानादिभिक्षामाददते सदा ॥१३॥

ईदृग्भिक्षाज्ञाना ह्येतेऽपरथा स्युरूपोषिताः ।

सुगृहीतं च नामैषां वन्द्यं पादरजोऽपि हि ॥१४॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

तदनन्तर श्रेष्ठिपरिवार को प्रतिबोध देकर आर्य सुहस्ती अपने स्थान पर लौट गये। श्रेष्ठी वसुभूति ने अपने घर के सब लोगों को समझा दिया कि वे मुनि जब कभी इस घर में भिक्षार्थ आर्यें तो उन्हें यह अभिव्यक्त करते हुए भिक्षा में समुचित भोज्य सामग्री दें कि भगवन् ! यह सब कुछ हम बाहर डाल रहे थे।

दूसरे दिन आर्य महागिरि भिक्षार्थ श्रेष्ठी वसुभूति के घर पधारे तो श्रेष्ठी के भृत्यों एवं परिजनों ने विपुल भोजन सामग्री को त्याज्य बताते हुए उन्हें भिक्षा में देना चाहा। महातपस्वी महागिरि ने ज्ञानोपयोग से समझ लिया कि वह भिक्षा उनके अभिग्रह के अनुसार विशुद्ध और निर्दोष नहीं है अतः वे बिना भिक्षा ग्रहण किये ही श्रेष्ठी के घर से लौट गये।

तत्कालीन श्रमणसंघ में आचार्य महागिरि का स्थान सर्वोच्च माना जाता रहा है। वे पूर्वज्ञान के विशिष्ट अभ्यासी होने के साथ-साथ विशुद्ध आचार के भी सबल समर्थक एवं पोषक थे। उन्हें आहार, विहार एवं संयम में स्वल्पमात्र भी शिथिलता सह्य नहीं थी। जब उन्होंने श्रेष्ठी वसुभूति की धर्मभक्ति और रागवश सदोष आहार देने की प्रवृत्ति देखी तो उन्होंने एक दिन आर्य सुहस्ती से कहा—  
“सुहस्तिन् ! कल तुमने श्रेष्ठिपरिवार के समक्ष मेरे प्रति विनय प्रदर्शित कर वहां मेरे लिये अनेषणा की स्थिति पैदा कर दी। तुम्हारे मुख से प्रशंसा सुनकर उन लोगों ने आज मुझे भिक्षा में देने हेतु भोजन परित्यक्त के रूप में सजा रखा था।”

आर्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए क्षमायाचना की और कहा—“भगवन् ! भविष्य में मैं ऐसा कभी नहीं करूंगा।”

इस प्रकार उच्छिन्न जिनकल्प के अनुसार साधुचर्या का पालन करते हुए आर्यगिरि ने अनेक वर्षों तक बड़ी उग्र तपस्याएं करके अपने समय में एक उच्च कोटि के श्रमणजीवन का मापदण्ड स्थापित किया। वे अपने समय के अद्वितीय चारित्रनिष्ठ और उच्चकोटि के श्रमणश्रेष्ठ थे। अन्त में वे एलकच्छ (दशाण-पुर) के पास गजाग्रपद नामक स्थान पर पधारे और वहां उन्होंने अनशन कर वीर निर्वाण सं० २४५ में १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

### आर्य महागिरिकालीन राजवंश

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य स्थूलभद्र के आचार्यकाल के अन्तिम दिनों में (वीर नि० सं० २१५ में) मौर्य राजवंश का अम्युदय हुआ। आर्य महागिरि के आचार्यत्वकाल में इस राजवंश के प्रथम राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने प्रेरणास्रोत महामात्य चाणक्य के परामर्शानुसार अनेक वर्षों तक विदेशी और आन्तरिक राजसत्ताओं के साथ संघर्षरत रहते हुए समस्त भारत को अपने सुदृढ़ शासनसूत्र में बांध कर एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न, सशक्त एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने काबुल और कन्धार से भी यूनानी विजेता सेल्यूकस को खदेड़ कर उन प्रदेशों को वृहत्तर भारत की राज्यसीमा में सम्मिलित किया।



अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ उस समय वह जैन धर्मावलम्बी नहीं था। पर चारुक्व ने अनेक युक्तियों से जैन धर्म और जैन श्रमणों की महत्ता सिद्ध कर चन्द्रगुप्त को जैन धर्मावलम्बी बनाया। इसके परिणामस्वरूप आगे चल कर चन्द्रगुप्त जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखने वाला परम श्रद्धालु श्रावक बन गया और उसने जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं।

कहीं कोई षड्यन्त्रकारी धोखे से विष आदि के प्रयोग द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या न कर दे, इस दृष्टि से दूरदर्शी चारुक्व ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन करने के पश्चात् शनैः शनैः भोज्य पदार्थों के साथ अति स्वल्प मात्रा में विष खिलाना प्रारम्भ कर दिया था। अनुपात से बढ़ाया गया वह प्राणहारी विष चन्द्रगुप्त के लिये अमृततुल्य परमावश्यक पौष्टिक औषध का काम करने लगा। अनुक्रमशः इस प्रकार चन्द्रगुप्त के प्रतिदिन के भोजन में विष की मात्रा इतनी अधिक बढ़ा दी गई कि यदि चन्द्रगुप्त के लिये बने उस भोजन में से कोई दूसरा व्यक्ति थोड़ा सा अंश भी खा लेता तो उसके लिये वह विषमिश्रित भोजन तत्काल प्राणपहारी सिद्ध हो जाता था।

### बिन्दुसार का जन्म

एक दिन मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जिस समय भोजन कर रहे थे, उसी समय गर्भिणी राजमहिषी वहाँ उपस्थित हुईं। महारानी ने चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने की इच्छा अभिव्यक्त की। चन्द्रगुप्त ने ज्यों-ज्यों निषेध किया, त्यों-त्यों राजमहिषी का हठाग्रह बढ़ता ही गया और अन्ततोगत्वा महारानी ने चन्द्रगुप्त के थाल में से थोड़ी सी भोज्य सामग्री झपट कर अपने मुँह में रख ही ली। विषाक्त भोजन ने तत्काल अपना प्रभाव दिखाया और देखते ही देखते महारानी मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। तत्क्षण राजप्रासाद में सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया। उसी समय महामात्य चारुक्व घटनास्थल पर उपस्थित हुए।

“अब महारानी के प्राण किसी भी उपाय से नहीं बचाये जा सकते”— यह कहते हुए चारुक्व ने शल्यचिकित्सिकाओं को आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र महारानी के पेट को चीर कर गर्भस्थ शिशु के प्राणों की रक्षा करें। तत्काल शल्य क्रिया द्वारा गर्भस्थ शिशु को गर्भ से बाहर निकाल लिया गया। माता द्वारा खाये गये विषाक्त भोजन का बालक पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ था, केवल उसके ललाट पर नीले रंग की बिन्दी का चिन्ह ही बन पाया था। विषजन्य बिन्दी के कारण राजकुमार का नाम बिन्दुसार रखा गया।

वीर निर्वाण सं० २१५ से १८ वर्ष तक भारत के बहुत बड़े भूभाग पर शासन करने के पश्चात् मौर्यसाम्राज्य का संस्थापक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त वीर नि० सं० २३३ में इहलीला समाप्त कर परलोकगामी बना।

### मौर्य सम्राट् बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र त्रिन्दुसार भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामी बना। विभिन्न ग्रन्थों में त्रिन्दुसार के विभिन्न नाम उपलब्ध होते हैं। वायुपुराण आदि पुराणग्रन्थों में उसे भद्रसार एवं वारिसार के नाम से, महावंश तथा दीपवंश नामक बौद्ध ग्रन्थों में त्रिन्दुसार के नाम से और यूनानी अभिलेखों एवं पुस्तकों में अमित्रचेटस और अमित्रघात के नाम से अभिहित किया गया है।

बृहत्कल्पभाष्य के उल्लेखानुसार<sup>१</sup> सम्राट् बनने के पश्चात् त्रिन्दुसार ने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सीमाओं में अभिवृद्धि की। वह बड़ा न्यायप्रिय, दयालु और जैन धर्म में आस्था रखने वाला प्रजावरसल सम्राट् था। अपने शासनकाल में पड़े दुष्काल के समय में उसने दानशालाएँ एवं सार्वजनिक भोजनशालाएँ खोल कर अपनी दुष्कालपीड़ित प्रजा की मुक्तहस्त हो सहायता की। त्रिन्दुसार के दरबार में सेल्यूकस के पुत्र ऐंटिओकोस प्रथम की ओर से डाइमैकस नामक यूनान का एक राजदूत रहता था।

बिन्दुसार का अपर नाम अमित्रघात (शत्रुओं का संहारक) उपलब्ध होता है, इससे विद्वानों द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि उसे काफी समय तक युद्धरत रहना पड़ा होगा और शत्रुओं पर विजय के उपलक्ष में उसने "अमित्रघात" की उपाधि धारण की होगी। बिन्दुसार के शासनकाल के अन्तिम चरण में उसके साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तक्षशिला में विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। उम विद्रोह को दबाने के लिये उसे एक बहुत बड़ी सेना के साथ राजकुमार अशोक को भेजना पड़ा।

### चाणक्य की मृत्यु

छाया की तरह अपने अनन्य अनुगामी मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् चाणक्य ने श्रमणधर्म में दीक्षित हो आत्मकल्याण करने का निश्चय किया था किन्तु बिन्दुसार द्वारा बारम्बार आग्रह एवं अनुनय-विनय किये जाने पर उसने कुछ समय तक महामात्य पद पर कार्य करना स्वीकार किया।

अर्हनिश मगध साम्राज्य के महामात्य पद की प्राप्ति के स्वप्न देखने वाला सुबन्धु नामक एक अमात्य राजा, राज्य और प्रजा पर चाणक्य के वर्चस्व एवं सर्वतोमुखी प्रभाव को देख कर मन ही मन चाणक्य से जलने लगा। उसने यथावसर येन-केन-प्रकारेण बिन्दुसार को चाणक्य के विरुद्ध मड़काना प्रारम्भ किया। एक दिन सुबन्धु ने बिन्दुसार के समक्ष उसकी माता की मृत्यु की घटना का अतिरंजित रूप में इस ढंग से चित्रण किया कि मानो चाणक्य ने ही उसकी (बिन्दुसार की माता की) हत्या की हो। इस प्रकार बिन्दुसार के मस्तिष्क में चाणक्य के प्रति मनोमालिन्य उत्पन्न करने में अन्ततोगत्वा सुबन्धु को सफलता

<sup>१</sup> बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ११२७। निजीय भाष्य कृति, मा० ४ पृ० १२६

मिल गई। बिन्दुसार के मनोगत भावों को दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने तत्काल ताड़ लिया और वह संसार से विरक्त हो अशन-पानादि का परित्याग कर नगर के बाहर एकान्त स्थान में ध्यानस्थ हो गया। अपनी धाय भां से वास्तविकता का बोध होते ही बिन्दुसार को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने चाणक्य के समक्ष उपस्थित हो वार-बार क्षमायाचना करते हुए उन्हें यथावत् महामात्य पद का कार्यभार सम्हालने की प्रार्थना की, पर चाणक्य समग्र ऐहिक आकांक्षाओं का परित्याग कर आत्मचिन्तन में लीन हो चुके थे; अतः बिन्दुसार को हताश हो खाली हाथों लौटना पड़ा। जैन वाङ्मय में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि सुबन्धु सेवा करने के बहाने से चाणक्य के पास रहने लगा और रात्रि में उसने उस कण्ठों के ढेर में आग लगा दी जिस पर कि चाणक्य ध्यानस्थ बैठे थे। चाणक्य ने आग से बचने का कोई प्रयास नहीं किया और समाधिस्थ अवस्था में ही स्वर्गारोहण किया।

दिगम्बर परम्परा के “आराधना”<sup>१</sup>, “हरिषेण कथाकोष”<sup>२</sup> और “आराधना कथाकोष”<sup>३</sup> आदि ग्रन्थों में चाणक्य के दीक्षित होने, ५०० शिष्यों के साथ पादोपगमन संघारा करने और सुबन्धु द्वारा उन्हें कण्ठों की आग में जला डालने तथा समाधि मरण द्वारा चाणक्य के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। “आराधना-कथाकोष” में चाणक्य के सिद्ध होने का उल्लेख किया गया है, वह नितान्त भ्रान्त धारणा का ही प्रतिफल प्रतीत होता है।

सुबन्धु द्वारा किया गया यह घृणित एवं जघन्य अपराध जनसाधारण और बिन्दुसार से छुपा न रह सका। राजा एवं प्रजा द्वारा क्रमशः अपदस्थ एवं अपमानित किये जाने के पश्चात् सुबन्धु विक्षिप्त हो गया। उसकी बड़ी दुर्दशा हुई और अनेक प्रकार के घोर कष्टों से पीड़ित हो वह अन्त में पंचत्व को प्राप्त हुआ :

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया है कि गृहत्याग से पहले कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने सुबन्धु को उसकी कृतघ्नता का दण्ड देने के लिये एक बहुत बड़े सन्दूक को अनेक तालों से बन्द कर अपने कांशागार में रख दिया।

कण्ठों के ढेर में आग लगा कर चाणक्य को उसमें जलता छोड़ सुबन्धु चाणक्य के निवास स्थान पर पहुंचा और उस सन्दूक को देखते ही हर्षविभोर

<sup>१</sup> गोठे पयोगदो सुबधुरा गोव्वरे पलिविदम्मि ।

उज्जन्तो चाणकको पडिबण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५५६॥

[आराधना]

<sup>२</sup> चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र, शिष्यपंचशतैः सह ।

पादोपगमनं कृत्वा, शुक्लध्यानमुपेयिवान् ॥

उपसर्गं सहित्वेयं सुबन्धुविहितं तदा ।

समाधिमरणं प्राप्य, चाणक्यः सिद्धिमीयिवान् ॥

[हरिषेण कथाकोष]

<sup>३</sup> आराधना कथाकोष, श्लोक ४१-४२, पृ० ३१० ।

हो गया उसने यह सोच कर उसे खोला कि उसमें अपार सम्पत्ति भरी पड़ी होगी। पर सन्दूक के खुलते ही उसमें से एक तीव्र गन्ध निकली और उसके प्रभाव से सुबन्धु तत्काल नितान्त अस्थिर प्रकृति का एवं अर्द्धविक्षिप्त बन गया। 'शठे शार्द्यं समाचरेत्' इस उक्ति का अनुसरण करते हुए चाणक्य ने उस सन्दूक में इस प्रकार की औषधियां रख दी थीं, जिनकी तीव्र गन्ध से मस्तिष्क की शिराएं सदा के लिए सिकुड़ जायं। चाणक्य भली-भांति जानता था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् सुबन्धु उसकी सम्पत्ति पर येन-केन-प्रकारेण अवश्य अधिकार करेगा।

चाणक्य द्वारा चलाया गया युक्ति का तीर ठीक लक्ष्य पर लगा और सुबन्धु अनेक प्रकार के कष्टों से पीड़ित हो बड़ी दुर्दशापूर्ण स्थिति में काल का कवल बना।

### आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल का राजवंश

वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिस समय आर्य सुहस्ती आचार्य बने उस समय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के शासनकाल का अनुमानतः बारहवां वर्ष चल रहा था। आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल में लगभग १३ वर्ष तक बिन्दुसार का सत्ताकाल रहा। २५ वर्ष तक शासन करने के पश्चात् वीर नि० सं० २५८ में बिन्दुसार परलोकवासी हुआ।

### मौर्यसम्राट् अशोक

आर्य सुहस्ती के आचार्यत्वकाल में बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक (वीर नि० सं० २५८ में)<sup>१</sup> मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अनेक इतिहासविदों की मान्यता है कि अशोक का पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त दोनों ही जैनधर्मावलम्बी थे, अतः अशोक भी प्रारम्भ में जैनधर्मावलम्बी ही था।<sup>२</sup> अपने राज्य के दस वर्ष (वीर नि० सं० २६६) में अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। कलिंगपति क्षेमराज अपनी सशक्त विशाल सेना ले कर रणांगण में आ डटा। दोनों ओर से बड़ा भीषण युद्ध हुआ। क्षेमराज के वीर सैनिकों ने कलिंग की रक्षा के लिये बड़ी वीरता पूर्वक युद्ध किया किन्तु मगध साम्राज्य की अतिप्रबल अग्रगणित सेना के सम्मुख भीषण रक्तपात के पश्चात् अन्ततोगत्वा उन्हें पराजय का मुख देखना पड़ा। कलिंग के उस युद्ध में डेढ़ लाख सैनिक बन्दी बनाये गये, एक लाख योद्धा मारे गये तथा इससे कहीं अधिक योद्धा युद्ध में लगे घावों के फलस्वरूप युद्ध-समाप्ति के पश्चात् मर गये। इस भीषण नरमेध से अशोक के हृदय पर बड़ा

<sup>१</sup> गुर्जरा, रूपनाथ, सहसराम ब्रह्मगिरि, सिंहपुर, गोविमठ और अहरोरा के शिलालेखों पर २५६ का अंक उल्लिखित है। इसे इतिहासज्ञ वीर नि० सं० २५६ मानने लगे हैं।

<sup>२</sup> मौर्य साम्राज्य का इतिहास की के० पी० जायसवाल द्वारा लिखित भूमिका।

गहरा आघात पहुंचा । उसने अपने १३वें शिलालेख में इसके लिये स्वयं को दोषी बताते हुए गहरा दुःख प्रकट किया है । अशोक ने धर्म विजय को अपने साम्राज्य की नीति बताते हुए घोषणा करवा दी कि अब भविष्य में वह कभी इस प्रकार के नरसंहार एवं रक्तपात द्वारा किसी भी देश पर विजय अभियान नहीं करेगा ।

जिस समय अशोक अनुताप की अग्नि में जल रहा था उस समय संभवतः वह बौद्ध भिक्षुसंघ के आचार्य के सम्पर्क में आया और उनसे प्रभावित हो कर बौद्धधर्मावलम्बी बन गया । बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात् अशोक ने अपना शेष जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार, प्रसार और अग्र्युत्थान में लगा दिया । उसने भारत के पड़ोसी देशों में धर्मप्रचारकों को भेज कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया; यही नहीं अपितु अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बौद्ध भ्रमण और भ्रमणी के रूप में दीक्षित करवा कर लंका में भेजा । अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ प्रजा के हित के लिये भी अनेक लोककल्याणकारी कार्य किये और अनेक शिलालेख उत्कीर्ण करवाये, जिनमें जनहित की दृष्टि से अनेक प्रकार की धार्मिक एवं सांस्कृतिक आज्ञाएं प्रसारित की गई थीं ।<sup>१</sup>

गहन शोध से पहले अधिकांश इतिहासज्ञों की यह धारणा थी कि मौर्य-कालीन जितने भी शिलालेख उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः सब के सब मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण करवाये हुए और बौद्ध धर्म से ही सम्बन्धित हैं किन्तु अब ज्यों-ज्यों विद्वान् शोधार्थियों द्वारा इस विषय में और अधिक गम्भीर शोध की जा रही है त्यों-त्यों यह तथ्य प्रकाश में आता जा रहा है कि वस्तुतः मौर्यकालीन शिलालेखों में चन्द्रगुप्त से ले कर सम्प्रति तक के सभी मौर्य सम्राटों के शिलालेख सम्मिलित हैं और जिन शिलालेखों को आज तक अशोक के शिलालेखों के नाम से केवल बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिलालेख समझा जाता रहा था, उनमें से कतिपय शिलालेख सम्प्रति, बिन्दुसार और चन्द्रगुप्त के एवं जैन धर्म से सम्बन्धित भी हैं । सारनाथ के स्तम्भ के शीर्ष भाग में ४ सिंह और उन चारों सिंहों के ऊपर धर्मचक्र उत्खनित है । इसे भ० बुद्ध द्वारा सारनाथ में बौद्ध धर्म के प्रवर्तन का प्रतीक माना जाता रहा है । भ० बुद्ध को गिरनार के १३वें अभिलेख में उत्तम हस्ति के रूप में स्मरण किया गया है । सिंह के चिह्न का सम्बन्ध बुद्ध के साथ उतना संगत नहीं बैठता जितना कि भगवान् महावीर के साथ । भगवान् महावीर का चिह्न (लांछन) सिंह था और केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् भगवान् महावीर के साथ-साथ सिंह का चिह्न भी चतुर्मुखी दृष्टिगोचर होने लगा था । सिंहचतुष्टय पर धर्मचक्र इस बात का प्रतीक है कि जिस समय तीर्थंकर विहार करते हैं, उस समय धर्मचक्र नभमण्डल में उनके आगे-आगे चलता है । इस

<sup>१</sup> अब इतिहास के अनेक विद्वान् यह मानने लगे हैं कि ये सभी शिलालेख केवल अशोक के ही नहीं अपितु चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, सम्प्रति आदि सभी मौर्य सम्राटों के हैं । इन पर गहन शोध की आवश्यकता है ।

प्रकार के अनेक तथ्य हैं, जिनके सम्बन्ध में गहन शोध की आवश्यकता है। मौर्य-कालीन शिलालेखों में उपलब्ध प्रियदर्शी और देवानांप्रिय शब्द जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों द्वारा देवानांप्रिय शब्द को बौद्ध परम्परा का शब्द तथा प्रियदर्शी शब्द को अशोक का उपनाम माना जाता रहा है, इस कारण भी अनेक भ्रान्तियाँ हुई हैं। इन सब तथ्यों के सम्बन्ध में भी नये सिरे से शोधकार्य अपेक्षित है।

यों तो मौर्यवंशी सभी मगध के सम्राट् बड़े प्रतापी, प्रजावत्सल, न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ हुए हैं पर प्रेम, सौहार्द और सौजन्य से अपने देश के ही नहीं अपितु विदेशी एवं विजातीय कोटि-कोटि लोगों के हृदयों को सामूहिक रूप से जीतने का भारतीय संस्कृति का जो अनुपम उदाहरण मौर्य सम्राट् अशोक ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया, उस प्रकार का उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होगा।

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में मौर्य सम्राट् अशोक ने जो उल्लेखनीय कार्य किये हैं, उनके कारण बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का नाम चिरकाल तक आदर के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। २४ वर्ष तक मगध के साम्राज्य का संचालन करने के पश्चात् वीर नि० सं० २८२ में मौर्य सम्राट् अशोक का देहावसान हुआ।

बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का राज्यकाल ४१ वर्ष बताया गया है। उसकी विद्वानों द्वारा इस प्रकार संगति वैठाई जाती है कि बिन्दुसार की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् अशोक का राज्याभिषेक हुआ। तदनन्तर अशोक ने २४ वर्ष तक सम्राट् बने रह कर शासन किया और उसके पश्चात् अपने अल्पवयस्क पौत्र सम्प्रति को मगध का सम्राट् बना कर उसके अभिभावक ( Regent ) के रूप में १३ वर्ष तक साम्राज्य की बागडोर को सम्हाले रखा। तदनन्तर अशोक ने अपना शेष जीवन सब प्रपंचों का परित्याग कर आत्मकल्याण में व्यतीत किया। कतिपय इतिहासज्ञों की मान्यता है कि अशोक अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षों में पुनः जैन धर्मावलम्बी बन गया था।

मौर्य सम्राटों के सत्ताकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताओं के ग्रंथों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। "जैन ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएं अभिव्यक्त की गई हैं। पहली मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण सं० २१५ में नन्दवंश के अंत के साथ मौर्य राजवंश का अन्त्युदय माना गया है। दूसरी मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण सं० १५५ में नन्द वंश के अन्त के साथ मौर्यवंश के उदित होने का अभिमत प्रकट किया गया है।

वस्तुतः द्वितीय भद्रबाहु के पास दीक्षित हुए चन्द्रगुप्त नामक अश्वन्ती के किसी राजा के दीक्षित होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध करने के प्रयास में ही उपरोक्त दूसरी मान्यता प्रचलित की

गई है। उस सम्बन्ध में पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है और मौर्यकालीन अभिलेखों एवं सिकन्दरकालीन लेखकों के अभिलेखों के आधार पर पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थों के उद्धरण दे कर प्रमाणपुरस्सर यह सिद्ध कर दिया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० सं० २१५ में नन्द वंश के प्रभुत्व को समाप्त कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उन सब तथ्यों को यहाँ पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं।

पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल २४ वर्ष बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द को युद्ध में पराजित करने के दृढ़ निश्चय के साथ जब चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर प्रथम बार आक्रमण किया, उस समय से कुछ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त पंजाब के किसी छोटे मोटे राज्य का स्वामी अवश्य बन गया होगा। बिना किसी राज्य का अधिपति हुए चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र जैसे सशक्त साम्राज्य से युद्ध करने की किसी भी दशा में न क्षमता ही प्राप्त कर सकता था और न साहस ही कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द वंश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन होने से पूर्व का जो चन्द्रगुप्त का किसी छोटे-मोटे राज्य पर सत्ताकाल रहा उस काल को भी चन्द्रगुप्त के शासन काल में सम्मिलित कर गिना गया है।

अशोक के पश्चात् उसका पौत्र सम्प्रति मगध साम्राज्य का अधिपति बना।

### सुहस्ती द्वारा सम्प्रति को प्रतिबोध

कल्पचूरी में इस प्रकार का उल्लेख है कि आर्य सुहस्ती जीवित स्वामी को वंदन करने के लिये एक बार उज्जयिनी गए और रथ-यात्रा के साथ चलते हुए वे राजप्रासाद के आंगन में पहुँचे। राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए राजा सम्प्रति ने जब उन्हें देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उन्हें उसने कहीं न कहीं देखा है। ईहापोह करते हुए राजा सम्प्रति को जातिस्मरण जान हो गया। उसने अपने सेवकों को आचार्य सुहस्ती के सम्बन्ध में मातूम करने का आदेश दिया कि वे कहां ठहरे हुए हैं। अपने अनुचरों से आचार्यश्री के ठहरने के स्थान का पता चलने पर राजा सम्प्रति उनकी सेवा में पहुँचा और उपदेश-श्रवण के पश्चात् उसने आचार्यश्री से प्रश्न किया — “भगवन् ! धर्म का फल क्या है ?”

आचार्यश्री ने उत्तर दिया — “राजन् ! अव्यक्त सामायिक-धर्म का फल राज्यपद प्राप्ति आदि है।”

“सत्य कहते हैं भगवन् !” यह कहते हुए सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रश्न किया — “महाराज ! क्या आप मुझे पहिचानते हैं ?”

ज्ञानोपयोग से सम्प्रति के पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जान कर आचार्यश्री ने उत्तर दिया — “तुम मेरे परिचित हो। इससे पूर्व के अपने भव में तुम मेरे शिष्य

थे ।” तदनन्तर राजा सम्प्रति पांच अगुन्नतधारी, त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी और श्रमणसंघ की उन्नति करने वाला महान् प्रभावक हो गया ।<sup>१</sup>

निशीथ चूणि में उपरोक्त घटना के विदिशा नगरी में घटित होने का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि विदिशा में जीवित स्वामी की रथयात्रा में आर्य सुहस्तीस्वामी को देख कर राजा सम्प्रति को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वह तत्काल महलों से नीचे आया और आचार्य सुहस्ती के चरणों में गिर कर उसने प्रश्न किया — “भगवन् ! क्या आप मुझे जानते हैं ?”

आचार्य सुहस्ती ने कुछ क्षण के लिये ज्ञानोपयोग लगा कर सोचने के पश्चात् कहा — “हां ! मैं तुम्हें जानता हूं, तुम मेरे पूर्व भव के शिष्य हो ।” तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति को उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया । सम्प्रति ने श्रावकधर्म स्वीकार किया और आर्य सुहस्ती एवं राजा सम्प्रति में परस्पर घनिष्ठ धर्मस्नेह हो गया ।<sup>२</sup>

इसी संदर्भ में आगे विदिशा के स्थान पर उज्जयिनी में आर्य सुहस्ती के साथ सम्प्रति के मिलन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वह आचार्य सुहस्ती का उपदेश सुन कर प्रवचन का भक्त और परम श्रावक बन गया ।<sup>३</sup>

### सम्प्रति का पूर्वभव

राजा सम्प्रति के प्रश्न के उत्तर में उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा — “राजन् ! तुम्हारे इस जन्म से पूर्व की बात है, एकदा विचरण करते हुए मैं अपने श्रमणशिष्यों सहित कोशाम्बी नामक नगर में पहुंचा । उस समय वहां दुष्काल का प्रकोप चल रहा था अतः सामान्य लोगों को अन्न का दर्शन तक दुर्लभ हो गया था । श्रमणों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति के कारण

<sup>१</sup> इतो य अज्जमुहत्थी उज्जेण बंदमो आगमो रहागुज्जाणे य हिंडंते राउलंगणपदेसे रत्ता आलोयणगतेण दिट्ठो, ताहे रत्तो ईहापोहं करंतस्स जाइसरणं जातं तह तेण मणुस्सा भणित्ता पडिचरह आयरिए कहिं ठितत्ति तेहिं पडिचरिउं कहितं सिरिधरे ठित्ता । ताहे तत्थ गंतुं घम्मो शेण सुभो, पुच्छितं घम्मरुस किं फलं ? भणितं अन्नत्तस्य तु सामाइयस्स राजात्ति फलं, सो संमतो होत्ति, सच्चं भणसि अहं मे कहिं दिट्ठेल्लमो आयरियेहिं उवउत्तिजतं दिट्ठेल्लमो त्ति ताहे सो सावमो जामो पंचाणुवयधारी तसजीवपडिक्कममो पभावमो समणसंघस्स ।” [कल्पचूणि]

<sup>२</sup> अणण्या आयरिया पीतीदिसं (?) जियपडिमं बंदियं गतामो । तत्थ रहागुज्जाणे रणणे धरे रहोवरि अंचत्ति । संपतिरण्णा ओलोयणगएण अज्जमुहत्थी दिट्ठो । जातीसरणं जातं । [निशीथ चूणि, भा० २, पृ० ३६२]

<sup>३</sup> उज्जेणीए समोसरणे अणुजाणे रहपुरतो रायंगणे बहुसिस्स परिवारो आलोयण ठितेण रणणा अज्ज सुहत्थी आलोइयो, तं दट्ठएण जाति संभरिया ।.....ताहे सो पवयणभत्तो परम सावगो जातो । [निशीथचूणि, भाग ४, पृ० १२६]



श्रद्धालु गृहस्थ उन्हें भिक्षाटन के समय पर्याप्त मात्रा में अशनपानादि प्रदान करते थे। एक समय कोशाम्बी में भिक्षाटन करते हुए मेरे शिष्य एक गृहस्थ के घर में पहुंचे। उनके पीछे-पीछे एक दीन, हीन, दरिद्र और भूखे भिक्षुक ने उस गृहस्थ के घर में प्रवेश किया। उस गृहस्थ ने साधुओं को तो पर्याप्त रूपेण भोजन-पानादि का दान किया किन्तु उस भिक्षुक को उसने कुछ भी नहीं दिया। वह भूखा भिक्षुक साधुओं के पीछे हो लिया और उनसे भोजन की याचना करने लगा। साधुओं ने उससे कहा कि वे लोग तो अपने साधु आचार के अनुसार किसी गृहस्थ को कुछ भी नहीं दे सकते। भूख से पीड़ित वह भिक्षुक मेरे शिष्यों का अनुसरण करता हुआ मेरे स्थान पर पहुंच गया। उसने मुझसे भी भोजन की याचना की। मुझे ज्ञानोपयोग से ऐसा विदित हुआ कि अगले जन्म में यह भिक्षुक जिनशासन का प्रचार एवं प्रसार करने वाला होगा। मैंने उससे कहा कि यदि तुम श्रमणधर्म में दीक्षित हो जाओ तो तुम्हें हम तुम्हारी इच्छानुसार पर्याप्त भोजन दे सकते हैं। भिक्षुक ने यह सोच कर कि उसकी इस दीन-हीन दुखद अवस्था की तुलना में तो श्रमण-जीवन के कष्ट सहना कठिन नहीं है, तत्काल मेरे पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षित हो जाने पर वह हमारे द्वारा भिक्षा में प्राप्त भोजन का अधिकारी हो गया अतः उसे उसकी इच्छानुसार भोजन खिलाया गया। वस्तुतः वह कई दिनों का भूखा था अतः उसने जी भर कर स्वादिष्ट भोजन खाया। रात्रि में उस नवदीक्षित भिक्षुक की उदरपीड़ा के कारण मृत्यु हो गई और वह अशोक के अन्ध राजकुमार कुणाल के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। राजन् ! तुम वही भिक्षुक हो जो अपने इस सम्प्रति के भव से पहले के भव में मेरे पास दीक्षित हुए थे। यह सब तुम्हारे एक दिवस के श्रमणजीवन का फल है कि तुम बड़े राजा बने हो।”

### श्रमणसंघ में विसंभोग का प्रारम्भ

निशीथ भाष्य, चूण्डि आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर के शासन में आचार्य सुधर्मा से स्थूलभद्र तक श्रमणसंघ का परस्पर सांभोगिक व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा।<sup>१</sup> श्रमणसंघ में संभोगविच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल में घटित हुई। संभोग-विच्छेद का प्रारम्भ कब, क्यों और किसके समय में प्रारम्भ हुआ, इसका विशद परिचय देते हुए निशीथ एवं बृहत्कल्प-चूण्डि में उल्लेख किया गया है कि राजा सम्प्रति द्वारा दुष्काल के समय खोली गई दानशालाओं तथा प्रसारित किये गये उदारता-पूर्ण आदेशों के कारण कर्मचारी वर्ग एवं प्रजाजनों के माध्यम से श्रमणों को भिक्षा में पर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देख कर आर्य महागिरि को

<sup>१</sup> परिशिष्ट पत्र, सर्ग ११

<sup>२</sup> संभूयस्त थूलभद्रो, थूलभद्रं जाव सञ्जेसि एक्कसंभोगो प्रासी।

उसके राजपिण्ड होने की शंका हुई और उन्होंने आर्य सुहस्ती से यह जांच करने के लिये कहा कि कहीं साधुओं को सदोष आहार तो भिक्षा में नहीं मिल रहा है।

आर्य सुहस्ती ने बिना किसी प्रकार की जांच किये ही कह दिया — “यथा राजा तथा प्रजा, महाराज ! यह राजपिण्ड नहीं है। कारण कि तैली तैल, घृत वाले घी, कपड़े वाले वस्त्र और हलवाई भोज्य मिष्ठान्न स्वयं ही देते हैं।”

आर्य सुहस्ती का उत्तर सुन कर आर्य महागिरि ने विचार किया — यह मायावी है, शिष्यानुराग के कारण सदोष आहार-ग्रहण से साधुओं को रोक नहीं रहा है। उन्हें आर्य सुहस्ती पर क्षोभ हुआ और उन्होंने आर्य सुहस्ती से कहा — “आर्य ! तुम्हारे समान दोषादोष के ज्ञाता भी अपने शिष्यों के प्रति राग के कारण राजपिण्ड का उपभोग करते हैं, तो ऐसी दशा में मैं आज से तुम्हारे साथ साध्वोचित भोजनादि व्यवहार विषयक सम्बन्धों का विच्छेद करता हूँ।”

यह कह कर आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ तत्काल साम्भोगिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। इस प्रकार संयममार्ग की शिथिलता दूर करने हेतु आर्य महागिरि को सुहस्ती के प्रति उपालम्भ देते समय तीक्ष्ण एवं कटु शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा। तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने अपना मोड़ (रुख) बदल कर इसके लिये पश्चात्ताप किया और बोले — “भगवन् ! भविष्य में सदोष आहार नहीं लिया जायगा।”

इस पर आर्य महागिरि ने उस समय तो आर्य सुहस्ती के साथ सांभोगिक व्यवहार प्रारम्भ कर दिया पर कालान्तर में यह सोचते हुए कि ‘प्रायः मानव-स्वभाव में माया का बाहुल्य है’ — उन्होंने आर्य सुहस्ती के साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द ही रखा।

संभोगविच्छेद के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई घटना में यह बताया गया है कि सम्प्रति के राज्यकाल में आर्य महागिरि ने सुहस्ती द्वारा सदोष आहार आदि ग्रहण की प्रवृत्ति को देख कर उनके साथ संभोगविच्छेद कर दिया। यहां पर आर्य महागिरि का सम्प्रति के राज्यकाल में विद्यमान रहना बताया गया है पर ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में देखने पर सम्प्रति का महागिरि के समय में विद्यमान होना प्रमाणित नहीं होता।

महागिरि के समय में सम्प्रति के विद्यमान न होने के निम्नलिखित ऐतिहासिक प्रमाण गहराई से विचारने योग्य हैं :-

१. श्वेताम्बर परम्परानुसार वी० नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि का स्वर्गवास माना गया है।

२. आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के समय में बिन्दुसार का राज्यकाल था जो वीर नि० सं० २५८ तक रहा।

१ अज्ज महागिरि उवउत्तो, पायेण मायाबहुला मग्गुय ‘त्ति काउ विसंभोगं ठवेत्ति।

[निशोयभाष्य, भा० २, पृ० ३६२ (गा० २१५४ की च्वाण)]

३. वीर नि० सं० २५८ से २८३ तक मौर्य सम्राट् अशोक का शासनकाल रहा और इसके पश्चात् संप्रति का शासनकाल प्रारम्भ हुआ ।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में विचार करने पर यही प्रकट होता है कि मौर्य सम्राट् संप्रति का शासनकाल वीर नि० सं० २८३ से पूर्व किसी भी दशा में नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में वीर नि० सं० २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि द्वारा वीर नि० सं० २८३ के पश्चाद्द्वितीया संप्रति के शासनकाल में सुहस्ती के साथ संभोगविच्छेद की घटना का जो निश्चीय चूर्ण आदि में उल्लेख किया गया है वह संगत प्रतीत नहीं होता । संभव है इस प्रकार की घटना बिन्दुसार के शासन काल में वीर नि० सं० २३३ से २४५ के बीच में घटित हुई हो और उसे संप्रति के विशिष्ट औदार्य को देख कर अनुमानबल से संप्रति के साथ जोड़ दिया गया हो । तत्कालीन घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से स्पष्टतः प्रकट होता है कि साधारणतया अपने समस्त शासनकाल में और विशेषतः दुर्भिक्ष आदि जैसी संकटापन्न स्थिति में प्रजावात्सल्य की प्रवृत्ति मौर्यवंशीय राजाओं की विशेषता रही है । बौद्ध ग्रन्थों में उह उल्लेख उपलब्ध होता है कि बिन्दुसार अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में प्रतिदिन ६० हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया करता था ।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बिन्दुसार के शासनकाल की घटना का श्रुति अथवा स्मृति में कहीं स्खलना के कारण संप्रति के शासन में घटित हुई घटना के रूप में उल्लेख कर दिया गया हो । एक के जीवन की घटना को दूसरे के जीवन की घटना से जोड़ने के अन्य भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं ।

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व के ११वें सर्ग में संप्रति के जातिस्मरण ज्ञान होने में आर्य सुहस्ती के दर्शन को निमित्त माना है और उन्हें ही संप्रति के पूर्वमेव सम्बन्धी गुरु मानने का उल्लेख किया है । किन्तु आगे चल कर इन्हीं आचार्य ने परिशिष्टपर्व में राजा संप्रति के राज्यकाल में ही महागिरि द्वारा सुहस्ती के साथ सांभोगिक सम्बन्धविच्छेद का उल्लेख किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य महागिरि के जीवनकाल आदि तथ्यों की गहराई में न जा कर सरसरी तौर पर आर्य सुहस्ती के साथ आर्य महागिरि के उज्जयिनी जाने का और संप्रति के राज्यकाल में ही सांभोगिकविच्छेद का उल्लेख कर दिया है ।

जहाँ तक राजा संप्रति को प्रतिबोध दिये जाने का प्रश्न है, प्रायः सर्वत्र यही उल्लेख मिलता है कि आर्य सुहस्ती ने संप्रति को प्रतिबोध दिया । महागिरि द्वारा संप्रति को प्रतिबोध दिये जाने का कहीं भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता ।

<sup>१</sup> पिता सट्टिसंहस्सानि, ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके ।

भोजेसि सो पित्ते येव, तीणि वस्सानि भोजयि ॥२३॥

[महावंशो, परिच्छेद ५]

ऐतिहासिक घटनाक्रम और प्राचीन उल्लेखों से यह निर्विवाद रूप से ज्ञात होता है कि अशोक के राज्याभिषेक के कतिपय वर्ष पश्चात् राजकुमार कुणाल को चक्षुविहीन कर दिया गया और अन्धा हो जाने के कारण कुमारभुक्ति में मिला हुआ उज्जयिनी का राज्य उससे ले कर दूसरे राजकुमार को दे दिया गया। सम्प्रति का जन्म होने पर अन्ध कुमार कुणाल ने गन्धर्व कला से अशोक को प्रसन्न कर काकिणी-राज्य की अपने सद्यःजात पुत्र के लिये याचना की। वस्तु-स्थिति से भ्रवगत होते ही अशोक ने तत्काल सम्प्रति को युवराज पद प्रदान कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और तत्कालीन राज्यपरम्परा के अनुसार उज्जयिनी का राज्य शिशु सम्प्रति को कुमारभुक्ति के रूप में प्राप्त हुआ। ये सब घटनाएँ अशोक के राज्यकाल की हैं और अशोक का राज्याभिषेक वीर निर्वाण संवत् २५८ में होने के कारण द्रमक के दीक्षित होने से लेकर सम्प्रति के जन्म तक की सभी घटनाएँ आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के अनन्तर कम से कम १३ वर्ष से पहले की तो किसी भी दशा में नहीं हो सकतीं।

ऐसी स्थिति में आर्य महागिरि का सम्प्रति के जन्म समय अथवा उसके राज्यकाल में विद्यमान होना तो दूर द्रमक की दीक्षा के समय भी आर्य महागिरि का अस्तित्व संभव नहीं होता। कारण कि आर्य महागिरि का स्वर्गवास अशोक के राज्याभिषेक से १३ वर्ष पहले वीर नि० सं० २४५, तदनुसार बिन्दुसार के राज्यकाल में ही हो चुका था।

### राजा सम्प्रति द्वारा जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार

जैन साहित्य में मौर्य सम्राट् सम्प्रति को वही स्थान प्राप्त है जो कि मौर्य सम्राट् अशोक को बौद्ध साहित्य में। अनेक जैन ग्रंथों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि राजा सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रतिबोध पाने के पश्चात् समस्त भारतवर्ष ही नहीं अनेक अनार्य प्रदेशों में भी अपने अधिकारियों, कर्मचारियों और सैनिकों को जैन साधुओं के वेश में भेज कर जैन धर्म का सर्वत्र प्रचार एवं प्रसार किया तथा उसने अपने समस्त सामन्तों को दृढ़ जैनधर्मावलम्बी बनाया। साधु के वेश में सम्प्रति के कर्मचारियों ने अनार्य देशों में विचरण कर वहाँ की अनार्य जनता को श्रावक के कर्तव्यों एवं श्रमणाचार से परिचित कराते हुए उन अनार्य देशों को श्रमणों के विहार के योग्य बना डाला। राजा सम्प्रति की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ती ने अपने कतिपय श्रमणों को अनार्य भूमि में धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा और उन्होंने वहाँ के लोगों की जैनधर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धा देख कर हर्ष का अनुभव किया। साधुओं ने आर्य देश की तरह बड़ी सुगमता से अनार्य प्रदेशों में विहार करते हुए वहाँ जैन धर्म का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार किया। त्यागी, तपस्वी और ज्ञानधनी सन्तों के उपदेशों का अनार्य प्रदेशों की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन लोगों के आचार-विचार में एक प्रकार की क्रांति सी आ गई। अनार्य प्रदेश के निवासियों ने बड़ी संख्या में श्रावकधर्म अंगीकार किया। अनार्य प्रदेशों में धर्म-प्रचार करने के पश्चात् लौटे हुए साधुओं

ने आर्य सुहस्ती की सेवा में पहुँच कर अनार्य प्रदेशों के निवासियों की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का विवरण सुनाया, जिसे सुन कर आर्य सुहस्ती बड़े प्रसन्न हुए ।<sup>१</sup>

सम्प्रति के सम्बन्ध में कतिपय जैन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उसने भारत के आर्य एवं अनार्य प्रदेशों में इतने जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया कि वे सारे प्रदेश जिन-मन्दिरों से सुशोभित हो गये ।<sup>२</sup>

राजा सम्प्रति द्वारा किये गये कार्यों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैन इतिहास-वेत्ता स्व० मुनि श्री कान्ति सागरजी ने कुछ अंशों की जो पाण्डुलिपि तैयार की, उसके एतद्विषयक अंश को यहाँ अविकल रूप से दिया जा रहा है :-

“यह एक आश्चर्य की बात है कि मौर्य साम्राज्य के इतिहास में सम्प्रति के संबंध में जो कुछ भी उल्लेख मिलता है, वह उसके कृतित्व पर वास्तविक प्रकाश नहीं डालता । जैन साहित्य में सम्प्रति के सम्बन्ध में विषद विवेचन उपलब्ध है । उस विवेचन के अनुसार सम्प्रति ने जैन संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिये अपने पुत्रों तथा असूर्यपश्या कहलाने वाली अपनी पुत्रियों तक को कृत्रिम मुनियों का व साध्वियों का वेष धारण करवा कर अपने अनेकों सामन्तों के साथ दूर-दूर प्रदेशों में भिजवाया और इस तरह अशोक के आदर्श को सम्प्रति ने अपने जीवन में भी मूर्त रूप दिया ।

चूँकि और निर्युक्तियों में यह भी सूचित किया गया है कि सम्प्रति ने प्रचुर मात्रा में जिन-मूर्तियों की, मन्दिरों एवं देवशालाओं में स्थापना करवा कर जैन संस्कृति और सम्यता को स्थान-स्थान पर फैलाया था ।

जहाँ तक जैन मूर्ति-विधान एवं उपलब्ध पुरातन अवशेषों का प्रश्न है, यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि राजा सम्प्रति द्वारा निर्मित मन्दिर या मूर्तियाँ भारतवर्ष के किसी भी भाग में आज तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं । श्वेत पाषाण की कोहनी के समीप गाँठ के आकार के चिह्न वाली प्रतिमाएँ जैन समाज में प्रसिद्ध रही हैं और उन सभी का सम्बन्ध राजा सम्प्रति से स्थापित किया जाता है । ऐसी प्रतिमाओं के अनेक स्थानों पर प्रतिष्ठापित होने का भी उल्लेख किया गया है । मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार ये श्वेत पाषाण की प्रतिमाएँ सम्प्रति अथवा मौर्य काल की तो क्या तदुत्तरवर्ती काल की भी नहीं कही जा सकतीं ।

<sup>१</sup> एवं राज्ञोऽतिनिबन्धादाचार्यः केऽपि साधवः ।

विहर्तुं मादिदिशिरे ततोऽग्घ्रमिलादिषु ॥६६॥

निरवद्यं श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः ।

दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराक्यन्सविस्मयाः ॥१०१॥ परि० पर्व, स० ११

<sup>२</sup> येन सम्प्रतिना त्रिसंख्यमितापि मही जिनप्रासादमंडिता विहिता, साधुवेश-धारिनिज्वल-पुरुषप्रेषणेनानार्यदेशेषु साधुविहारः कारितः । [तपागच्छ पद्मावली]

दशम सदी से पूर्व के बहुत कम ऐसे शिल्पावशेष मिले हैं जो श्वेत प्रस्तरों पर उत्कीर्णित हों। मौर्यकाल में अधिकतर प्रादेशिक पत्थर ही शिल्पकला में व्यवहृत होते थे। मौर्यकाल की मूर्तियां जितनी भी उपलब्ध हैं, लगभग सभी सचिक्वण हैं। ये प्रतिमाएं अपनी शैली के कारण दूर से ही पहिचानी जा सकती हैं। पाटन-लोहानीपुरा मोहल्ले से निकलीं कुछ खण्डित प्रतिमाएं पटना-म्यूजियम में सुरक्षित हैं। एक बात और भी है कि मन्दिर बनवाने के सम्बन्ध में भी यदि स्पष्ट कहा जावे तो स्थिति सन्देहात्मक ही है, कारण कि मौर्य-शासित प्रदेशों में जहां कहीं भी उत्खनन हुआ है वहां इनके अवशेष या चिह्न कहीं नहीं मिले हैं। यदि संप्रति राजा ने इतना विशद् शैल्पिक निर्माण करवाया होता तो कम से कम कहीं न कहीं तो इनके अवशेषों एवं चिह्नों की प्राप्ति होनी ही चाहिये थी। इन बातों के बावजूद भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैनत्व के प्रति राजा सम्प्रति के हृदय में अगाध श्रद्धा और आस्था थी।

विदेशों में समनीया जाति कही जाती है। वह असम्भव नहीं, सम्प्रतिकालिक प्रचार एवं पुरुषार्थ का ही प्रतिफल हो। श्रमण और समनीया का साम्य स्पष्ट है। कालान्तर में उचित जैन संस्कारों के अभाव में समनीया जाति में से जैनत्व के संस्कार विलुप्त हो गये हों, पर नाम समणीया आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।”

उपरोक्त विचारों पर पाठक तटस्थता से चिन्तन कर तथ्य पर पहुंचने का प्रयास करें।

### उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्तिसुकुमाल

आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य सुहस्ती एकदा पुनः उज्जयिनी पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने अपने दो साधुओं को भद्रा नाम की एक अति समृद्ध श्रेष्ठमहिला के पास भेजा और उससे किसी स्थान में ठहरने की आज्ञा चाही। भद्रा ने बड़ी श्रद्धापूर्वक श्रमणद्वय को वन्दन किया और उनसे उनके आने का प्रयोजन ज्ञात होने पर उसने अपनी वाहनकुटी में साधुओं को ठहरने की अनुमति प्रदान की। तदनन्तर आर्य सुहस्ती अपने शिष्य परिवार सहित भद्रा की वाहनकुटी में ठहरे।

दूसरे दिन प्रदोषवेला में आचार्य सुहस्ती नलिनीगुल्म नामक अर्धयन का सस्वर पाठ कर रहे थे। उस समय भवन की सातवीं मंजिल पर अपनी ३२ सुकुमार पत्नियों के साथ सोये हुए भद्रा के पुत्र अवन्तिसुकुमाल के कर्णरन्ध्रों में आचार्यश्री का सुमधुर स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। अवन्तिसुकुमाल आचार्य सुहस्ती के स्वर को दत्तचित हो सुनने लगा। वह पाठ उसे इतना कर्णप्रिय लगा कि वह उसे और अधिक स्पष्ट रूप से सुनने और समझने की उत्कण्ठा से प्रेरित हो मन्त्रमुग्ध की तरह अपने महलों से उतरा और आचार्यश्री के पास आकर बड़े ध्यान से सुनने लगा। पाठ को सुन कर अवन्तिसुकुमाल के मन में उथल-पुथल सी

मच गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि पाठ में वांग्मन्त मुर्खों का उमने कहीं न कहीं अनुभव किया है। ईहापोह करते हुए उमने स्मृति पर जोर दिया और उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अवन्तिसुकुमाल ने आचार्यश्री के समीप उपस्थित हो उन्हें भक्ति सहित वन्दन किया और कहने लगा - "भगवन् ! मैं गृहस्वामिनी भद्रा का पुत्र हूँ। आपके इस पाठ को सुनकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मैं अपने इस जन्म से पहले नलिनीगुल्म नामक विमान में देवता था। अब पुनः वहीं जाने के लिये मेरे मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। आपके पास श्रमणत्व स्वीकार कर मैं पुनः वहीं नलिनीगुल्म विमान में जाना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे प्रव्रज्या प्रदान कीजिये।"

आचार्य मुहस्ती ने उसे श्रमणजीवन की दुष्करता से अवगत कराते हुए कहा - "सौम्य ! तुम अत्यन्त सुकुमार हो। लोहे के चने चवाना और अग्नि में खड़े रहना किसी के लिये साध्य हो सकता है पर जितेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित श्रमणाचार का पालन करना बड़ा ही कठिन और दुस्साध्य कार्य है।"

अवन्तिसुकुमाल ने कहा - "भगवन् ! प्रव्रज्या ग्रहण करने की मेरे मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। मैं प्रव्रज्या तो अवश्य ही ग्रहण करूँगा। साधु समाचारी के अनुसार चिरकाल तक तो मैं निरतिचार श्रामण्य का परिपालन नहीं कर सकूँगा अतः मैं प्रारम्भ में ही अनशन सहित श्रमणत्व ग्रहण करूँगा और थोड़े समय के लिये घोरतिघोर कष्ट को भी साहसपूर्वक सहन कर लूँगा।"

अवन्तिसुकुमाल को अपने निश्चय पर अटल देखकर आर्य मुहस्ती ने कहा - "भद्रानन्दन ! यदि तुम दीक्षित होने के लिये कृतसंकल्प हो तो इसके लिये तुम अपने स्वजनों की अनुमति प्राप्त करो।"

तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने अपनी माता और पत्नियों से उसे दीक्षार्थ अनुमति देने के लिये कहा किन्तु पूरी तरह प्रयास कर चुकने पर भी उसको स्वजनों से दीक्षा लेने की अनुमति नहीं मिली। अवन्तिसुकुमाल तो नलिनीगुल्म विमान में यथाशीघ्र जाने के लिये आतुर हो रहा था। उसने स्वयं ही केशलुंचन कर श्रमणवेष धारण कर लिया और वह आर्य मुहस्ती की सेवा में उपस्थित हुआ।

आर्य मुहस्ती ने अपने शरीर से भी निर्ममत्व और संसार से पूर्णरूपेण विरक्त अवन्तिसुकुमाल को स्वयंगृहीत साधुवेष में देखकर विधिपूर्वक श्रमणा दीक्षा प्रदान की। तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने आर्य मुहस्ती से निवेदन किया "प्रभो ! मैं लम्बे समय तक श्रमणजीवन के कष्टों को सहन नहीं कर पाऊँगा अतः मुझे आमरण अनशनपूर्वक साधना करने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

आर्य मुहस्ती से आज्ञा प्राप्त कर अवन्तिसुकुमाल नगर से बाहर निर्जन श्मशान भूमि में पहुँचा और कायोत्सर्ग कर खड़ा हो गया। अत्यन्त सुकुमार अवन्तिसुकुमाल प्रथम बार ही नये पांवों इतनी दूर तक चला था अतः कंकरो

तथा कंटकों से उसके पादतल विध्र गये और उन ब्रणों से खून टपकने लगा । बड़े घेर्य के साथ इस पीड़ा को तथा भूख-प्यास के कष्टों को सहन करते हुए बंध आत्मचिन्तन में तल्लीन हो गया । सूर्य की प्रखर किरणों से श्मशानभूमि आग की तरह तपने लगी पर अवन्तिसुकुमाल ने बड़ी शान्ति के साथ उसे सहन किया । दिन ढलने लगा, सूर्यास्त हुआ, शनैः शनैः अन्धकार ने अपना साम्राज्य जमा लिया । यत्र-तत्र वनैले हिंस्र जन्तुओं के दिल दहला देने वाले आक्रन्दारावों से वह भीषण रात्रि साक्षात् कालरात्रि के समान भयावह बन गई थी । किन्तु सद्यः प्रव्रजित सुकुमार श्रमण अवन्तिसुकुमाल उस श्मशानभूमि में परम शान्त, दान्त एवं विरक्त अवस्था में एकाग्र चित्त हो ध्यानमग्न खड़े रहे । उनके पदचिह्नों पर लहूमिश्रित धूलिकणों की गन्ध का अनुसरण करती हुई एक श्रृगालिनी अपने कतिपय बच्चों के साथ अवन्तिसुकुमाल मुनि के पास आ पहुंची । मुनि के पैरों से टपके हुए लहूकणों की गन्ध पा कर उसने मुनि के पैरों को चाटना प्रारम्भ किया । आध्यात्मिक ध्यान में रमण करते हुए मुनि निश्चल खड़े रहे । मुनि की ओर से किसी भी प्रकार का प्रतिरोध न होता देख कर श्रृगालिनी का साहस बढ़ा । उसने मुनि के पैर की मांसल पिण्डुली में दांत गड़ा दिये । गरम-गरम खून की धाराएँ वह निकलीं । अपने बच्चों सहित श्रृगालिनी लहूपान के साथ-साथ मुनि के पैर को काट-काट कर खाने लगी । क्रमशः मुनि का ध्यान चिन्तन की मनोभूमि के उच्च से उच्चतर सोपान पर चढ़ने लगा । बिना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये मुनि शान्त चित्त हो सोचने लगे — “यह श्रृगालिनी मेरे कर्मकलुष को काट-काट कर मेरे लिये नलिनीगुल्म विमान के कपाट खोल रही है ।” श्रृगालिनी और उसके बच्चों ने मुनि का दूसरा पैर भी काट-काट कर खाना प्रारम्भ कर दिया । मुनि का शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा किन्तु उनका ध्यान अधिकाधिक ऊंचाई पर चढ़ता गया । मुनि की दोनों जंघाओं और भुजदण्डों को खा चुकने के पश्चान् श्रृगाल-परिवार ने उनके पेट को चीर फाड़ कर खाना प्रारम्भ किया । मुनि ने भी अपने आत्मचिन्तन को शुभ से शुभतर बनाना प्रारम्भ किया और अन्ततोगत्वा समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग कर मुनि अवन्ति सुकुमाल अपने प्रिय लक्ष्यस्थान नलिनीगुल्म विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए ।

दूसरे दिन आर्य सुहस्ती से सब वृत्तान्त ज्ञात होने पर अवन्तिसुकुमाल की माता भद्रा ने अपनी एक गर्भिणी पुत्रवधु को छोड़ कर शेष ३१ पुत्रवधुओं के साथ श्रमणीधर्म की दीक्षा ग्रहण की । आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व में किये गये उल्लेख के अनुसार अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपने पिता की स्मृति में उनके मरणस्थल पर एक विशाल देवकुल का निर्माण करवाया जो आगे चल कर महाकाल के नाम से विख्यात हुआ ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत् ।  
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥  
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम् ।  
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११,]



आर्य सुहस्ती के शिष्य अवनिसुकुमाल के इस प्रकार के अलौकिक साहस, अद्भुत त्याग और वैराग्य से उस समय का जनमानस कितना प्रभावित हुआ होगा, इसको कल्पना से भी नहीं आंका जा सकता ।

### आर्य महागिरि की शिष्य-परम्परा

कल्पसूत्रानुसार<sup>१</sup> आर्य महागिरि की शिष्य परम्परा क्रमशः इस प्रकार है :-

- |                        |                                    |
|------------------------|------------------------------------|
| १. स्थविर उत्तर (बहुल) | ५. स्थविर कौडिन्य                  |
| २. स्थविर बलिस्सह      | ६. स्थविर नाग                      |
| ३. स्थविर घनाढ्य       | ७. स्थविर नागमित्र                 |
| ४. स्थविर श्री आढ्य    | ८. कौशिक गोत्रीय षडुल्लूक रोहगुप्त |

इन्हें प्रत्यक्ष शिष्यों की अपेक्षा पारम्परिक शिष्य मानना अधिक उपयुक्त होगा ।

आठवें शिष्य कौशिक गोत्रीय स्थविर षडुल्लूक रोहगुप्त से त्रैराशिक (निम्हवों) की उत्पत्ति हुई ।

स्थविर उत्तर और स्थविर बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गए निकला जिसकी ये निम्नलिखित ४ शाखाएं हैं :-

१. कौशाम्बिका, २. शुक्तिवतिका, ३. कोडंबाणी और ४. चन्दनागरी ।

### आचार्य सुहस्ती की शिष्य-परम्परा

आचार्य आर्य सुहस्ती का शिष्यपरिवार बड़ा विशाल था । उनके १२ प्रमुख शिष्य थे<sup>२</sup>, जिनके नाम, उनसे निकली हुई शाखाओं एवं कुलों के नाम सहित इस प्रकार हैं :-

<sup>१</sup> वेरस्स एणं अज्जमहागिरिस्स एलावचगुत्तस्स इमे अट्ठ येरा अन्तेवासी अहावच्चा आभिण्णयाया इत्या, तंजहा - १. येरे उत्तरे, २. येरे बलिस्सहे, ३. येरे षण्णद्दे, ४. येरे सिरिड्ढे, ५. येरे कौडिन्ने, ६. येरे नागे, ७. येरे नागमित्ते, ८. येरे छल्लूए रोहगुत्ते कोसियगुत्तेणं ;

येरेहिन्तो एणं छल्लूएहितो रोहगुत्तेहितो कोसियगुत्तेहितो तत्थ एणं तेरासिया निग्गया । येरेहिन्तो एणं उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ एणं उत्तर बलिस्सहे नामं गणे निग्गये । तस्सएणं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति; तंजहा :-

१. कोसंबिया, २. सोइतिया (सुत्तिवत्तिआ) ३. कोडंबाणी, ४. चन्दनागरी ।

<sup>२</sup> येरे अज्जरोहणा, जसभहे मेहगणी, य कामिड्ढी ।

सुट्ठिय, सुप्पडिबुद्धे, रत्थिखय तह रोहगुत्ते अ ॥१॥

इसिगुत्ते सिरियुत्ते गणी अ बम्भे गणी य तह सोमे ।

दत्त दो अ गणहरा खलु, एए सोसा सुहत्थिस्स ॥२॥

१. स्थविर आर्य रोहण । इनसे उद्देहगण निकला । उद्देहगण से निम्न-लिखित ४ शाखाएं निकलीं :-

- (१) उदुंबरिज्जिया, (२) मासपूरिया, (३) मइपत्तिआ और  
(४) पुण्यपत्तिका ।

उद्देहगण के निम्नलिखित ६ कुल थे :-

- (१) नागभूय, (२) सोमभूय, (३) उल्लगच्छ, (४) हत्थलिज्ज,  
(५) नन्दिज्ज और (६) परिहासय ।

२. आचार्य यशोभद्र - इनमें उडुवाडिय गण निकला । इस गण से निम्नलिखित ४ शाखाएं निकलीं :-

- (१) चंपिज्जिया, (२) भट्टिज्जिया, (३) काकन्दिया, और  
(४) मेहलिज्जिया ।

इस उडुवाडिय गण के निम्नलिखित ३ कुल हुए :-

- (१) भद्रयश, (२) भद्रगुप्त और (३) यशोभद्र ।

३. मेघगणी - कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके सम्बन्ध में कोई परिचय नहीं दिया गया है । इनसे कोई पृथक् गण नहीं निकला । ये गुरामुन्दर, गुराकर और घनमुन्दर के नाम से भी पहिचाने जाते थे । श्यामाचार्य इन्हीं के शिष्य माने जाते हैं ।

४. आचार्य कामधिगणी - इनसे बेसवाडिय गण निकला जिसकी (१) सावत्थिया, (२) रज्जपालिया, (३) अन्तरिज्जिया और (४) खेमिल-ज्जिया नाम की चार शाखाएं तथा (१) गणिय, (२) मेहिय, (३) कामडिह्य एवं (४) इन्द्रपुरग नाम के चार कुल थे ।

५. आचार्य सुस्थितसूरि और

६. आचार्य सुप्रतिबद्धसूरि

इन दोनों आचार्यों के गण, शाखाएं और कुल सम्मिलित थे ।

इन आचार्य सुस्थित से कोडिय-काकंदिय नामक गच्छ निकला । इस गच्छ की निम्नलिखित ४ शाखाएं और चार ही कुल थे :-

शाखाएं :-

- (१) उच्चानागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और  
(४) मज्झिमिल्ला ।

कुल :-

- (१) बम्भलिज्ज, (२) वत्थलिज्ज, (३) वाणिज्य और  
(४) पण्हाहणय ।

उपरिलिखित ४ शाखाएं वस्तुतः कोटिकगण की मूल एवं मुख्य शाखाएं हैं । इनका प्रारम्भ आ. सुस्थित और सुप्रतिबद्ध के संतानीय क्रमशः स्थविर

शान्ति श्रेणिक, स्थविर विद्याधर गोपाल, स्थविर भार्य वज्र और स्थविर प्रियग्रन्थ से होना बताया गया है। इनके अतिरिक्त कोटिकरण की अज्जसेणिया, अज्जतावसी, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिआ, अज्जनाइली, अज्ज पोमिला, अज्ज जयन्ती, एवं ब्रह्मद्वीपिका ये उप-शाखाएं और नागेन्द्रकुल, चन्द्रकुल आदि उपकुल थे।

७. भा० रक्षित } इनसे किसी शाखा या गण-के प्रकट  
८. भा० रोहगुप्त } होने का उल्लेख नहीं मिलता।

९. आचार्य ऋषिगुप्त - इनसे मानवगण निकला। इस गण की निम्न-लिखित ४ शाखाएं :-

- (१) कासवज्जिया, (२) गोयमज्जिया, (३) वासिट्ठिया तथा  
(४) सोरट्ठिया। और

- (१) ईसिगुत्तिय, (२) ईसिदत्तिय तथा (३) अभिजयन्त-ये ३ कुल थे।

१०. भा० श्रीगुप्त (हारितगोश्रीय) - इनसे चारण गण निकला, जिसकी निम्नलिखित ४ शाखाएं और ७ कुल थे :-

शाखाएं :-

- (१) हारियमालागारी, (२) संकासिया, (३) गवेधुया और  
(४) वज्जनागरी।

कुल :-

- (१) वत्थलिज्ज, (२) पीइधम्मिय, (३) हालिज्ज, (४) पूगमि-  
त्तिज्ज, (५) मालिज्ज, (६) अज्जवेडय और (७) कण्हसह  
(कृष्णसख)।

११. भा० ब्रह्मगणी } इनसे भी किसी गण या शाखा के प्रकट

१२. भा० सोमगणी } होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य सुहस्ती का शिष्य-समुदाय वस्तुतः सुविशाल था। उसमें अनेक उच्चकोटि के विद्वान् साधक-भ्रमण थे पर उन सब का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### समुच्छेदवादी चौथा निःहव-अश्वमित्र

(बीर-निर्वाण संवत् २२०)

भार्य महागिरि के आचार्यकाल के पांचवें वर्ष में अर्थात् बी० नि० संवत् २२० में समुच्छेदवादी (क्षणिकवादी) अश्वमित्र नाम का चौथा निहव हुआ। निहव अश्वमित्र भार्य महागिरि के कोडिन्न नामक शिष्य का शिष्य था। एक समय वह मधुरा नगरी में शास्त्राभ्यास कर रहा था। उस समय दशवें अनुप्रवाद पूर्व की नेउणिया नामक वस्तु के छिन्नछेद नय की वक्तव्यता के निम्नलिखित पाठ पर वह विचार करने लगा :-

“सर्वे पदुपणसमय नेरइया वोच्छिज्जिस्संति एवं जाव वेमारियत्ति ।”

इस पाठ का अर्थ यह है कि जो वर्तमान काल के नारकीय हैं, वे दूसरे समय में विनाश को प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्था में पहले समय के नारकीय की जो पर्याय थी, वह विनष्ट हो जाती है और दूसरे समय में विशिष्ट दूसरी पर्याय हो जाती है।

वस्तुतः यह पाठ पर्याय पलटने के सम्बन्ध में है पर जानावरणीय कर्म के उदय के कारण, अश्वमित्र ने इसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते हुए अपनी भ्रान्त धारणा बना ली कि संसार की समस्त वस्तुएं, पाप, पुण्य और यहां तक कि आत्मा भी क्षण-क्षण के अन्तर से नष्ट होने वाला है। अश्वमित्र के गुरु ने उसे अनेक प्रकार से उपरोक्त पाठ का सही अर्थ समझाने का प्रयास किया पर उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपनी क्षणिकवाद की मान्यता पर दुराग्रहपूर्वक डटा ही रहा। समझाने के सभी प्रकार के प्रयास निष्फल हो जाने पर गुरु द्वारा उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।

संघ से बहिष्कृत किये जाने के पश्चात् अश्वमित्र अपने नये सामुच्छेदिक मत का घूम-घूम कर प्रचार करने लगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि समुच्छेदवादी चौथे निह्वन अश्वमित्र के समय तक बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद का काफी प्रचार हो चुका होगा। सम्भव है अश्वमित्र पर भी बौद्धों के क्षणिकवाद का प्रभाव पड़ा हो। वह अपने अनेक साधियों के साथ विभिन्न क्षेत्रों में घूम-घूम कर अपने इस नये मत का प्रचार करने लगा और लोगों को उपदेश देने लगा कि जो जीव पहले समय में पाप करता है, वह दूसरे समय में नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम समय में किया हुआ पुण्य दूसरे समय में नष्ट हो जाता है।

अश्वमित्र अपने मत का प्रचार करता हुआ एक दिन अपने साधियों सहित राजगृह नगर पहुंचा। वहां उस समय नगर के चौकी-चुंगी विभाग का उच्चाधिकारी श्रमणोपासक था। उसने अश्वमित्र को सही मार्ग पर लाने के उद्देश्य से अपने कर्मचारियों द्वारा पकड़वा कर पिटवाना प्रारम्भ किया। पीड़ा से कराहते हुए अश्वमित्र ने उस अधिकारी से पूछा — “मैं साधु हूं और तुम श्रमणोपासक हो। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि तुम मुझे क्यों पीट रहे हो ?” उस चुंगी अधिकारी ने उत्तर में कहा — “तुम्हारे समुच्छेदवाद की मान्यता के अनुसार तुम्हारे शरीर में साधु के रूप में आत्मदेव विराजमान था वह तो कभी का विनष्ट हो गया। उसी प्रकार मेरे अन्तर में श्रमणोपासक के रूप में जो आत्मा थोड़ी देर पहले विद्यमान था, वह भी समाप्त हो चुका। इस दृष्टि से अब न तुम साधु हो और न मैं श्रमणोपासक।”

इस प्रत्यक्ष अनुभव और प्रमाण से अश्वमित्र की बुद्धि तत्काल ठिकाने पर आ गई। उसे अपनी श्रुति समझ में आ गई कि वस्तुतः वह भ्रमवश बिल्कुल मिथ्या धारणा बना बैठा था। चुंगी अधिकारी की बुद्धिमत्ता ने भटके हुए

विपथगामी अश्वमित्र को प्रतिबोध देकर पुनः सही पथ पर लगा दिया । अश्वमित्र तत्काल अपने गुरु के पास पहुंचा और उनसे क्षमा मांग कर एवं अपने मिथ्यात्व के लिये प्रायश्चित्त ले कर पुनः श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गया ।

### द्विक्रियावादी पाँचवाँ निह्लव-गंग (वीर-निर्वाण संवत् २२८)

वीर नि० सं० २२८ में भगवान् महावीर के शासन का पाँचवाँ निह्लव द्विक्रियावादी गंग नामक अणुगार हुआ । निह्लव गंग अथवा गंगदेव आचार्य महागिरि के शिष्य धनगुप्त का शिष्य था । गंग अणुगार एक दिन दुपहर की कड़ी धूप में उलूगातीर नामक नदी को पार कर रहा था । उक्त नदी को पार करते समय अणुगार गंग को अपने पैरों से ठंड का और ऊपर से चिलचिलाती धूप की गर्मी का अनुभव हुआ । एक ही साथ ठंड और गर्मी का अनुभव होने के कारण उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ - “भगवान् महावीर ने तो फरमाया है कि एक समय में दो क्रियाएँ नहीं होतीं, दो प्रकार का उपयोग नहीं होता । एक समय में एक ही क्रिया की जाती और एक ही प्रकार का उपयोग होता है । पर वह तो प्रत्यक्ष ही ठंड और गर्मी दोनों का अनुभव एक साथ, एक ही समय में कर रहा है । तो, इससे स्पष्टतः यह सिद्ध होता है कि एक ही समय में दो प्रकार की क्रियाएँ और दो प्रकार का उपयोग हो सकता है । भगवान् महावीर का यह फरमाना कि एक समय में एक ही क्रिया और एक ही उपयोग होता है - वस्तुतः असत्य है ।”

अपने गुरु धनगुप्त के पास पहुंच कर गंग अणुगार ने द्विक्रियावाद की नवीन मान्यता रखी । आर्य धनगुप्त ने गंग के मन में उत्पन्न हुई शंका को मिटाने का प्रयास करते हुए कहा - “वत्स ! तुम्हें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि एक क्षण के अन्दर असंख्य समय होते हैं । तुम जिसे समय की संज्ञा दे रहे हो वह समय नहीं, क्षण है । समय तो क्षण का असंख्यातवां भाग है । समय वस्तुतः क्षण का वह असंख्यातवां सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई टुकड़ा या भाग नहीं किया जा सकता । एक क्षण में अनेक क्रियाओं का अनुभव हो सकता है, पर एक समय में कभी नहीं । तुम्हें नदी में जो गरमी और सर्दी का अनुभव हुआ, वह एक समय में नहीं हुआ । गर्मी का अनुभव होने के पश्चात् जो सर्दी का अनुभव हुआ, वह वस्तुतः असंख्यात समय पश्चात् हुआ । इन दोनों प्रकार के उपयोगों के बीच में असंख्यात समय का व्यवधान है, अन्तर है । समय वस्तुतः काल का वह सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है जिसका और कोई दूसरा विभाग नहीं हो सकता, जबकि क्षण, काल का वह भाग है, जिसमें असंख्यात समय समाविष्ट होते हैं । इस प्रकार असंख्यात समयों के पुंज ‘क्षण’ नामक काल विभाग में जो तुम्हें दो प्रकार के अनुभव हुए, दो प्रकार के उपयोग हुए हैं, वे एक समय में हुए दो उपयोग नहीं, अपितु एक क्षण में हुए दो उपयोग हैं । जिस प्रकार, एक पुद्गल के उस छोटे से छोटे, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग को परमाणु कहते हैं, जिसका कि और कोई विभाग

नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार समय भी काल का सबसे छोटा, सबसे सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई विभाग नहीं किया जा सकता। काल के इतने छोटे अन्तिम विभाग 'समय' में दो क्रियाएं अथवा दो उपयोगों के उत्पन्न होने की कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती क्योंकि वह काल का ऐसा सूक्ष्म भाग है जिसके दो विभाग किये ही नहीं जा सकते। ऐसी स्थिति में एक समय के अन्दर दो क्रियाओं अथवा दो प्रकार के उपयोगों के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने जो फरमाया है, वह पूर्णरूपेण सत्य है। उसमें तुम्हें शंका नहीं करनी चाहिये।”

अपने गुरु के मुख से इस प्रकार के हृदयग्राही, तर्कसंगत सूक्ष्म विवेचन को सुनने के उपरान्त भी अणुगार गंग ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा, तो अन्ततोगत्वा उसे संघ से बहिष्कृत घोषित कर दिया गया।

संघ से बहिष्कृत किये जाने के पश्चात् गंग ने 'द्विक्रिय' नामक एक नया मत चलाया। यह मत थोड़े समय तक ही चल पाया था कि गंग को अपनी त्रुटि का अनुभव हो गया। उसने अपने गुरु के पास आकर क्षमा मांगी और प्रायश्चित्त लेकर पुनः संयममार्ग पर आरूढ़ हो गया।

### आचार्य सुहस्ता क बाद का संघ-व्यवस्था

संघ-व्यवस्था में आचार्य का बड़ा महत्वपूर्ण और सभी दृष्टियों से सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है। आर्य सुधर्मा से आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती तक लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त जिनशासन का सम्यक् रूपेण संचालन संरक्षण आचार्यों ने ही किया।

आचार्य के प्रतिरिक्त उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक आदि पदों के भी शास्त्र में नाम उपलब्ध होते हैं। पर आचार्य, गणाधर और धेर-स्थविर के प्रतिरिक्त तीर्थंकर काल से महागिरि तक के काल में किसी अन्य पद या उसके कार्य का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। जहां-तहां स्थविर का उल्लेख मिलता है। वे ही आचार्य के प्रमुख सहायक रूप से त्वदीक्षितों को संयमधर्म की शिक्षा और शास्त्रवाचना प्रदान करते रहे। इसके लिये शास्त्रों में जगह-जगह उल्लेख मिलते हैं—'धेराणं प्रति ए सामाइयमाइयाइं एक्कारस भंगाइं अहिज्जई'। संभव है स्थिर शील स्वभाव के कारण उपाध्याय के लिये स्थविर शब्द का भी प्रयोग किया गया हो। अथवा अधिकांश आचार्य ही अपने समाश्रित श्रमणवर्ग को आचारमार्ग में जोड़ने एवं स्थिर रखने के साथ-साथ श्रुतवाचना का कार्य भी सम्पन्न करते रहे हों और आत्मार्थी मेधावी शिष्य एक बार कहने से ही सरलता के साथ मर्यादा में चलते रहे हों। इस कारण प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी आदि पदों का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया हो। स्थिति कुछ भी रही हो, उपलब्ध उल्लेखों से तो यही प्रकट होता है कि हजारों साधुओं की संस्था

वाले विशाल साधुसमुदाय एक आचार्य के शासन में पूर्णतः व्यवस्थित रूप से चलते रहे। विभिन्न प्रान्तों में विचरने वाले विशाल साधुसमुदाय की व्यवस्था के लिये अनेक आचार्यों की सत्ता में भी संघ का प्रमुख नेतृत्व एक ही आचार्य के हाथ में रहा।

आर्य यशोभद्र के समय से कुल, गण और शाखाओं का उद्भव होने लगा पर भद्रबाहु और स्थूलभद्र जैसे प्रतिभाशाली आचार्यों के प्रभाव से भ्रमणसंघ में कोई मतभेद उभर न सका। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने भी मतभेद की दरारों को उत्पन्न होते ही पाटते हुए अपने अस्तित्वकाल में जिनशासन का ऐक्य बनाये रखा।

भावी संतति में यत्किञ्चित् परम्परा-भेद भी कहीं उग्र रूप धारण न कर ल तथा श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म की विशुद्ध परम्परा कहीं विनष्ट अथवा अपने स्वरूप से स्खलित न हो जाय, इस दृष्टि से उन्होंने आचार्य पद के आवश्यक कर्तव्यों एवं अधिकारों को (१) गणाचार्य, (२) वाचनाचार्य और (३) युग-प्रधानाचार्य - इन तीन भागों में बाँट दिया। इस व्यवस्था के फलस्वरूप निम्न-लिखित तीन परम्पराएं प्रचलित हुई :-

(१) गणाधरवंश - इसमें गण के अधिनायक उन आचार्यों की प्रतिष्ठापना की गई, जो गुरु-शिष्य क्रम से उस गण की परम्परा का संचालन करते रहे। इनकी परम्परा दीर्घकाल तक चलती रही। वर्तमान के गणपति उसी के अवशेष कहे जा सकते हैं।

(२) वाचकवंश - वाचकवंश के आचार्य वे कहलाते थे, जो आगमज्ञान की विशुद्ध परम्परा के पूर्ण मर्मज्ञ और वाचना-प्रदान में कुशल होते थे। इनकी सीमा अपने गण तक ही सीमित न हो कर पूरे संघ में मान्य होती थी।

(३) युगप्रधान परम्परा - इस परम्परा के अन्तर्गत युगप्रधानाचार्य उसे ही बनाया जाता था जो विशिष्ट प्रतिभा एवं योग्यता के कारण जैनधर्म ही नहीं, उससे बाहर भी प्रभावोत्पादक होता। वाचनाचार्य या युगप्रधानार्य के लिये किसी गण अथवा परम्परा का नियमन नहीं होता था कि वह किसी निश्चित गण अथवा परम्परा का ही हो। एक युगप्रधान के पश्चात् उससे भिन्न गण अथवा परम्परा का सुयोग्य भ्रमण भी उस पद का अधिकारी हो सकता था।

उपरोक्त परिवर्तन की स्थिति विचारणीय है कि भगवान् महावीर के पश्चात् लगभग ढाई-पौने तीन सौ वर्ष तक जो संघ व्यवस्था संघसंचालन एवं वाचनाप्रदान - इन दोनों कार्यों के एक ही गणाचार्य द्वारा निष्पादित किये जाने के रूप में सुव्यवस्थित रीति से चलाई जाती रही, वहाँ आर्य सुहस्ती के समय में ऐसी कौनसी आवश्यकता उत्पन्न हो गई कि सुदीर्घकाल से चली आ रही उस सुव्यवस्था को बदल कर संघसंचालन के लिये गणाचार्य तथा आगमवाचना के लिये वाचनाचार्य की नियुक्ति कर एक के स्थान पर दो आचार्यों की और तदनन्तर युगप्रधानाचार्य की परम्परा को प्रचलित करना पड़ा ?

चूँकि इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता अतः निश्चित रूप से तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी तत्कालीन कतिपय घटनाओं और पश्चाद्द्वर्ती आचार्यों एवं लेखकों द्वारा उल्लिखित कुछ विवरणों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि दूरदर्शी आचार्यों ने कालप्रभाव से होने वाले गणभेद, सम्प्रदायभेद एवं मान्यताभेद आदि विभिन्न भेदों को दृष्टि में रखते हुए भेद में अभेद को चिरस्थायी बनाने का यह मार्ग ढूँढ निकाला हो।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के जीवनपरिचय से यह तथ्य स्पष्टतः प्रकट होता है कि उनके समय में मतभेद का बीजारोपण तो नहीं हो पाया था पर श्रमणवर्ग में कतिपय श्रमण कठोर श्रमणाचार के पक्षपाती और अधिकांश श्रमण समय, सामर्थ्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए अपवादमार्ग के समर्थक हो चले थे। “वर्तमान का यह थोड़ा सा भी आचारभेद आगे चल कर पारस्परिक संपर्क के अभाव में कहीं अधिक उग्र रूप धारण न कर ले” — इस दृष्टि से आचार्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के पश्चात् शास्त्रीय परम्परा में एकवाक्यता एवं एकरूपता बनाये रखने की शासनहित की भावना से दोनों गणों द्वारा मान्य उनके शिष्य बलिस्सह को वाचनाचार्य पद पर नियुक्त कर एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

गणाचार्य के साथ वाचनाचार्य की स्वतन्त्र नियुक्ति से दोनों विचारधाराओं के श्रमणों का सदा निकटतम सम्पर्क बने रहने से श्रमणसंघ में यथावत् ऐक्य बना रहा।

अहाँ तक युगप्रधानाचार्य परम्परा का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय में मौर्य सम्राट् सम्प्रति द्वारा उत्कट निष्ठा और लगनपूर्वक किये गये शासनसेवा के कार्यों से जैनधर्म के उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार के साथ-साथ श्रमणसंघ भी खूब फलाफूला। श्रमणों के समुदाय देश और विदेशों के दूर-दूर्ती प्रदेशों में पहुंच कर धर्म का प्रचार करने लगे। फलस्वरूप आर्य सुहस्ती की सर्वतोमुखी प्रतिभा बहुगुणित हो चमक उठी और महान् प्रभावक होने के कारण वे समस्त संघ में युगप्रधानाचार्य के रूप में विख्यात हो गये। तभी से युग-प्रधानाचार्य की तीसरी परम्परा भी अधिक स्पष्ट रूप में उभर आई। वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ये दोनों पद किसी गणविशेष में सीमित न रह कर योग्यता विशेष से सम्बन्धित रहे।

यह भी संभव प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय में उनके विशाल साधुसंघ के श्रमण तथा अन्य गणों के श्रमण कालान्तर में स्वतन्त्र आचार्य के अधीन स्वतन्त्र गण के रूप में विचरण करने लगे हों और उन्हें उसी रूप में रहने की अनुमति के साथ-साथ एकता के सूत्र में बांधे रखने की दृष्टि से स्वधियों ने सोच-विचार के पश्चात् युगप्रधानाचार्य की परम्परा को सर्वमान्य एवं सर्वोपरि स्थान प्रदान किया हो।



वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य के पद किसी गणविशेष में सीमित न रख कर त्रिशिष्ट योग्यता से सम्बन्धित रखे गये, इसलिये ये दोनों पद उभय परम्पराओं एवं कालान्तर में सभी गणों के लिये मान्य रहे ।

युगप्रधानाचार्य का प्रमुख कर्तव्य समस्त गणों को एक सूत्र में संगठित रख कर मूल रीति-नीति पर चलाना, कठिन समय में शासन-संरक्षण के साथ-साथ जैनधर्म की गौरवगिरिमाभिवृद्धि में अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय देना था । उनका निर्णय जैनेतर समाज में भी प्रमाणभूत माना जाता था ।

दुष्पमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार भगवान् महावीर के धर्मशासन में दुष्पमाकाल के अन्त तक सुधर्मा आदि २००४ आचार्यों को युगप्रधान माना गया है ।

वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य की नयी व्यवस्था का तात्कालिक लाभ यह हुआ कि गण, कुल आदि के प्रादुर्भाव के उपरान्त भी संघ एकता के सूत्र में बंधा रहने के कारण छिन्न-भिन्न होने से बचता रहा ।

ऊपर लिखित तीनों परम्पराओं के आचार्यों के काल की ऐतिहासिक घटनाओं का देवद्वि क्षमाश्रमण तक का परिचय देने से पूर्व यहां पर तीनों परम्पराओं के आचार्यों की नामावली प्रस्तुत की जा रही है :—

पट्टधरों के क्रम में आर्य स्थूलभद्र के दो प्रमुख एवं पट्टधर शिष्यों—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती—में आर्य महागिरि बड़े थे । इस दृष्टि से आर्य महागिरि की शाखा सभी तरह से प्रमुख शाखा मानी जानी चाहिये । तदनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा आर्य महागिरि की शाखा को ही प्रमुख माना भी गया है ।<sup>१</sup> अतः यहां सर्वप्रथम, वाचकवंश-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध आर्य महागिरि की आचार्य परम्परा की नामावली प्रस्तुत की जा रही है :—

### वाचकवंश-परम्परा

१. आर्य सुधर्मा	१०. आर्य सुहस्ती
२. आर्य जम्बू	११. आर्य बलिस्सह
३. आर्य प्रभव	१२. आर्य स्वाति
४. आर्य शव्यंभव	१३. आर्य श्याम
५. आर्य यशोभद्र	१४. आर्य सांडित्य
६. आर्य संभूत विजय	१५. आर्य समुद्र
७. आर्य भद्रबाहु	१६. आर्य मंगु
८. आर्य स्थूलभद्र	१७. आर्य धर्म
९. आर्य महागिरि	१८. आर्य भद्रगुप्त

<sup>१</sup> अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः—स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्—आर्यमहागिरिः आर्य सुहस्ती च । तत्र आर्यमहागिरेर्यां शाखा सा मुख्या । [मेरुतुंगीया स्वविरावली]

१६. आर्य वज्र	२६. आर्य हिमवन्त
२०. आर्य रक्षित	२७. आर्य नागार्जुन
२१. आर्य आनन्दिल	२८. आर्य गोविन्द
२२. आर्य नागहस्ती	२९. आर्य भूतदिन्न
२३. आर्य रेवतिनक्षत्र	३०. आर्य लौहित्य
२४. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह	३१. आर्य दूष्यगण
२५. आर्य स्कंदिलाचार्य	३२. आर्य देवद्विगण

आचार्य मेरुतुंग ने आर्य महागिरि की शाखा को मुख्य मानते हुए इसके आचार्यों की, आर्य बलिस्सह से आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण तक की नामावली दो गाथाओं में दी है। वे गाथाएं इस प्रकार हैं :-

सूरि बलिस्सह, साई, सामज्जो, सँडिलो य जीयघरो  
 अज्ज समुदो, मँगू, नंदिल्लो, नागहस्थी य ॥  
 रेवईसिहो, खंडिल, हिमवं, नागज्जुणा य गोविन्दा ।  
 सिरि भूइदिन्न-लोहिच्च-दूसगणिणो य देवड्ढो ॥

इन गाथाओं में, ऊपर दी गई नामावली में उल्लिखित आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित-इन चार आचार्यों के नामों को सम्मिलित नहीं किया गया है। नन्दी के वृत्तिकार एवं चूर्णिकार ने भी स्थविरावली की गाथा सं० ३१, ३२ और ४१ को प्रक्षिप्त मानते हुए इन चारों आचार्यों के साथ साथ आर्य गोविन्द का नाम भी नन्दी स्थविरावली में सम्मिलित नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरुतुंग स्थविरावली की उपरोक्त दो गाथाओं तथा नन्दी स्थविरावली में आर्य महागिरि की परम्परा अर्थात् वाचकवंश परम्परा के आचार्यों का पट्टकम से उल्लेख है और प्रक्षिप्त गाथाओं में वाचकवंश परम्परा के आचार्यों के समकालीन युगप्रधानाचार्यों के नाम दे दिये गये हैं। वस्तुतः अधोलिखित युगप्रधानाचार्य-पट्टावली में इन चारों आचार्यों के नाम विद्यमान हैं।

#### युगप्रधानाचार्य परम्परा की नामावली

१. आर्य सुधर्मास्वामी	६. आर्य संभूतिविजय
२. आर्य जम्बूस्वामी	७. आर्य भद्रबाहुस्वामी
३. आर्य प्रभवस्वामी	८. आर्य स्थूलभद्रस्वामी
४. आर्य शर्यभस्वामी	९. आर्य महागिरि
५. आर्य यशोभद्रस्वामी	१०. आर्य सुहस्ती

<sup>१</sup> नन्दी-स्थविरावली की गाथा सं० ३१, ३२ और ४१ जिन्हें कि प्रक्षिप्त माना गया है, उनके अनुसार आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और आर्य गोविन्द इन पांच आचार्यों के नाम जोड़ने पर ही आर्य देवद्वि तक इस परम्परा के आचार्यों की संख्या ३२ होती है। नन्दी स्थविरावली की मूल गाथाओं के अनुसार आर्य देवद्विगणी २७ वें आचार्य हैं।

११. आर्य गुरासुन्दर	१६. आर्य रक्षित
१२. आर्य श्यामाचार्य (कालकाचार्य प्रथम)	२०. आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र
१३. आर्य स्कंदिलाचार्य	२१. आर्य वज्रसेन
१४. आर्य रेवतीमित्र	२२. आर्य मागहस्ती
१५. आर्य धर्म	२३. आर्य रेवतीमित्र
१६. आर्य भद्रगुप्त	२४. आर्य सिंह
१७. आर्य श्रीगुप्त	२५. आर्य नागार्जुन
१८. आर्य वज्रस्वामी	२६. आर्य भूतदित्र
	२७. आर्य कालकाचार्य (चतुर्थ)

### गणाचार्य-परम्परा

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों आचार्यों के पृथक्-पृथक् दो गण थे और उन दोनों गणों के अनुक्रमशः अलग-अलग आचार्य हुए हैं। इन दो गणों के अतिरिक्त कालान्तर में स्वतन्त्र रूप से जो अनेक गण हुए, उन सब गणों के भी भिन्न-भिन्न आचार्य पट्टानुक्रम से हुए हैं। इसके साथ ही साथ अनेक वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ऐसे भी हुए हैं, जो अपने-अपने गणों के गणाचार्य रहते हुए वाचनाचार्य अथवा युगप्रधानाचार्य भी रहे हैं। ऐसी स्थिति में सभी गणों के गणाचार्यों की नामावली का दिया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। विभिन्न गणों की पट्टावलियों से ही उनके सम्बन्ध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उन गणों में आर्य सुहस्ती का गण प्रारम्भ से ही अति विशाल और प्रसिद्ध रहा। कल्पसूत्र-स्थविरावली को आर्य सुहस्ती की आचार्य परम्परा माना गया है<sup>१</sup> अतः उसे यहां दिया जा रहा है :-

### कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली

१. आर्य सुवर्मा	९. आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध
२. " जम्बू	१०. " इन्द्रदित्र
३. " प्रभव	११. " दित्र
४. " शर्यभ्रव	१२. " सिंहगिरि
५. " यशोभद्र	१३. " वज्र
६. " संभूतविजय-भद्रबाहु	१४. " रथ
७. " स्थूलभद्र	१५. " पुष्यगिरि
८. " सुहस्ती	१६. " फल्गुमित्र

<sup>१</sup> तत्र सुहस्तिनः सुस्थित - सुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका यथा 'दसायु' तथैव द्रष्टव्या, न तथेहाधिकारः, महागिर्यावलिकथेहाधिकारः।

[नंदी वृत्ति (श्री पुष्यविजयजी द्वारा संपादित), पृ० ११]

१७. आर्य घनगिरि	२६. आर्य संपलितभद्र
१८. " शिवभूति	२७. " वृद्ध
१९. " भद्र	२८. " संघपालित
२०. " नक्षत्र	२९. " हस्ती
२१. " दक्ष	३०. " धर्म
२२. " नाग	३१. " सिंह
२३. " जेहिल	३२. " धर्म
२४. " विष्णु	३३. " सांडिल्य <sup>१</sup>
२५. " कालक	

महागिरि की परम्परा मुख्य होने के कारण यहाँ पर सर्व प्रथम नन्दी सूत्र की स्थविरावली के अनुसार महागिरि की परम्परा के आचार्यों का तथा उनके साथ ही उपरोक्त दोनों परम्पराओं के आचार्यों का परिचय अनुक्रमशः दिया जा रहा है।

### ११. आर्य बलिस्सह

वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके ८ प्रमुख स्थविरों (शिष्यों) में से आर्य बलिस्सह गणाचार्य नियुक्त हुए। उनके गण का नाम उत्तर बलिस्सह रखा गया।

यहाँ शंका हो सकती है कि बहुल और बलिस्सह इन दोनों स्थविरों में ज्येष्ठ होने पर भी बहुल का नाम गणाचार्य में न देकर बलिस्सह को गणनायक बनाने का क्या विशिष्ट कारण है, जब कि गण के नाम में उत्तर-बलिस्सह इस नामान्तर से बहुल को भी जोड़ा गया है? ऐसा प्रतीत होता है कि बहुल ने बलिस्सह से ज्येष्ठ और बहुश्रुत होने पर भी अपनी अल्पायु आदि कारणों से स्वयं आचार्य न बन कर अधिक प्रतिभाशाली बलिस्सह को ही आचार्य बनाना उचित समझा हो और इतलीलिये बलिस्सह ने भी ज्येष्ठ के आदरार्थ गण का नाम उत्तर बलिस्सह मान्य किया हो।

बलिस्सह के जन्म, दीक्षा, माता-पिता आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होने के कारण इतना ही लिखा जा सकता है कि बलिस्सह कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। आर्य महागिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। आर्य महागिरि के समान आर्य बलिस्सह आचार-साधना में भी विशेष निष्ठा रखने वाले थे। यही कारण है कि आर्य महागिरि के पश्चात् वे इस परम्परा में प्रमुख गणाचार्य माने गये।

महागिरि परम्परा के अन्य स्थविरों ने भी इनका गणनायकत्व स्वीकार

<sup>१</sup> कल्पसूत्र स्थविरावली के अंत में ही गई देवद्वि क्षमा श्रमण की बंदन गायिका के आधार पर सांडिल्य के पश्चात् देवद्वि को चौतीसवाँ आचार्य माना गया है परन्तु इस गायिका के ग्रन्थकर्त्ता होने के कारण इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

किया। फलस्वरूप आठ स्थविरों में से रोहगुप्त के अतिरिक्त किसी ने भी असंग गण स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया।

पहले बताया जा चुका है कि आर्य सुहस्ती ने संघ की ऐक्यता बनाये रखने के लिये गणाचार्य के अतिरिक्त वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य की नई परम्परा प्रचलित की। तदनुसार उन्होंने दोनों परम्पराओं में सामंजस्य एवं सहयोग बनाये रखने की दृष्टि से आगम के विशिष्ट ज्ञाता बलिस्सह को सम्पूर्ण संघ का वाचना-चार्य नियुक्त किया।

आर्य बलिस्सह ने श्रमण-समुदाय में आगमज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हुए जिन-शासन की प्रशंसनीय सेवा की और अपने समय में हुई श्रमणसंघ की वाचना में ११ अंगों एवं १० पूर्वों के पाठों को व्यवस्थित करने में भी अपना पूर्ण योगदान दिया, जैसा कि हिमवन्त स्थविरावली में बताया गया है :-

“पहले जो १२ वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमें आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के बहुत से शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण कुमारगिरि नामक पर्वत पर अनशन कर के शरीर छोड़ चुके थे। उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित बहुत से सिद्धान्त भी नष्टप्राय हो गये थे। यह जान कर भिक्षुराय ने जैन सिद्धान्तों का संग्रह और जैन धर्म का विस्तार करने के लिये सम्प्रति राजा की तरह श्रमण-निग्रन्थ तथा निग्रन्थियों की एक सभा कुमारगिरि पर आयोजित की, जिसमें आर्य महागिरि की परम्परा के आर्य बलिस्सह, बोधिर्लिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प की तुलना करने वाले साधु, तथा आर्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य प्रभृति ३०० स्थविरकल्पी साधु सम्मिलित हुए। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्वियां भी वहाँ उपस्थित हुई थीं। भिक्षुराय एवं सीवन्द, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और भिक्षुराय की महारानी पूर्णामित्रा आदि ७०० आदिकाएँ भी उस सभा में उपस्थित थीं।”

कहा जाता है कि बलिस्सह ने वाचना के प्रसंग पर विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंग-विद्या जैसे शास्त्र की भी रचना की। बलिस्सह के गण में सैंकड़ों साधु एवं साध्वियां होने पर भी उनका कहीं उल्लेख नहीं होने के कारण यहाँ परिचय नहीं दिया जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि इनके ४ शिष्यों से उत्तर बलिस्सह गण की ४ शाखाएँ प्रकट हुईं, जिनका कल्पसूत्रीय स्थविरावली में भी उल्लेख मिलता है। उन शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं :-

१. कोसंबिया २. सोतित्तिया ३. कोडंबाणी और ४. चन्दनागरी ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> वेदेर्हितो एं उत्तरबलिस्सहेर्हितो तत्प एं उत्तरबलिस्सह गणे नामं गणे निगणं । तस्स एं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जति, तं जहा - कोसंबिया, सोतित्तिया, कोडंबाणी, चन्दनागरी ॥२०६॥

इस प्रकार आर्य बलिस्सह महागिरि की परम्परा के गणाचार्य और समस्त संघ के वाचनाचार्य — इन दोनों पदों को चिरकाल तक सुशोभित करते रहे। इनके आचार्य काल आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होता। अनुमानतः वीर नि० सं० २४५ से ३२६ तक इनका सत्ताकाल हो सकता है।

### ११. गुरुसुन्दर—युगप्रधानाचार्य

युगप्रधान—परम्परानुसार आर्य बलिस्सह के समय में आर्य गुरुसुन्दर (गुणाकर) युगप्रधानाचार्य बताये गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

आचार्य सुहस्ती के पश्चात् वीर नि० सं० २६६ में गुरुसुन्दर युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किये गये। इनका जन्मकाल वीर नि० सं० २३५, दीक्षाकाल २५६ और युगप्रधान-पदारोहण २६१ में माना गया है। ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से जिनशासन की सेवा कर वीर नि० सं० ३३५ में आपने १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

आचार्य सुहस्ती के शिष्यसमूह में आर्य गुरुसुन्दर का मेघगणी के नाम से उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि मेघगणी, गुरुसुन्दर, गुणाकर एवं घनसुन्दर -- ये चारों इन्हीं युगप्रधानाचार्य के नाम माने गये हैं। इनके शिष्य-समुदाय एवं कार्यकलापों का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

### ११. सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध—गणाचार्य

आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिस प्रकार गुरुसुन्दर युगप्रधानाचार्य हुए उसी प्रकार आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य नियुक्त किये गये।

आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध — ये दोनों सहोदर थे। इनका जन्म काकंदो नगर के व्याघ्रापत्य गोत्रीय राजकुल में हुआ था। ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन दोनों आचार्यों ने सूरिमंत्र का एक करोड़ बार जाप किया। इस कारण इनका गच्छ, कौटिक गच्छ के नाम से विख्यात हुआ। इससे पहले आर्य सुधर्मा से आर्य सुहस्ती तक भगवान् महावीर का धर्मसंघ निर्ग्रन्थ गच्छ के नाम से विख्यात था।

हिमवन्त स्वविरावली के अनुसार कुमारगिरि पर्वत पर कलिंगपति महा-मेघवाहन द्वारा आगमवाचनार्य जो चतुर्विधसंघ एकत्रित किया गया था, उसमें ये दोनों आचार्य भी उपस्थित थे।\*

\* अथ सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध उम (१) साह सामज्जाइणं वेरकप्पियाणं वि तिभित्ता शिगंठाणं समागया ।

आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के निम्नलिखित ५ शिष्य थे :-

१. आर्य इन्द्रदिन्न
२. आर्य प्रियग्रन्थ
३. आर्य विद्याधर गोपाल
४. आर्य ऋषिदत्त और
५. आर्य अर्हदत्त

इनमें से प्रथम शिष्य आर्य इन्द्रदिन्न आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के पश्चात् गणाचार्य और द्वितीय शिष्य आर्य प्रियग्रन्थ बड़े मन्त्रवादी प्रभावक हुए। इन दोनों का परिचय आगे यथास्थान दिया जा रहा है।

आर्य सुस्थित का जन्म वीर नि० सं० २४३ में हुआ। ३१ वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहने के पश्चात् उन्होंने वीर नि० सं० २७४ में आर्य सुहस्ती के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यों में आपका पांचवां स्थान था। वे १७ वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय में रहे। वीर नि० सं० २६१ में आर्य सुहस्ती के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आपको गणाचार्य नियुक्त किया गया। ४८ वर्ष तक गणाचार्य पद पर रहते हुए आपने भगवान् महावीर के शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं और वीर नि० सं० ३३६ में ६६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

### आर्य बलिस्सह कासीन राजवंश

पहले किये गये उल्लेखानुसार यह तो निश्चित है कि आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य बलिस्सह वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के गण के गणाचार्य बने। इसके पश्चात् आर्य बलिस्सह को संघ का वाचनाचार्य बनाया गया। परन्तु इस प्रकार का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता कि वीर नि० २४५ से प्रारम्भ हुआ आर्य बलिस्सह का आचार्यकाल कब तक रहा। इस सम्बन्ध में बलिस्सह विषयक जो-जो उल्लेख विभिन्न पुस्तकों में उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर अनुमान का सहारा लेना होगा।

हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार कलिंगपति महामेघवाहन भिक्षुराय ने पूर्वज्ञान और एकादशांगी का पुनरुद्धार करने हेतु, जो कुमारगिरि पर चतुर्विध संघ को एकत्रित किया था, उसमें आर्य बलिस्सह विद्यमान थे।<sup>१</sup> यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर निर्वाण सं० ३२३ में मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसका सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुष्यमित्र के अत्याचारों से संतप्त मगध की जैनधर्मावलम्बी जनता की

<sup>१</sup> पुष्यमित्र तिल्यवरणहृत्पकविषं पवयसां वि बहुसो विण्टठमार्य णाऊण तेरां भिक्षुरायवलिसेणं त्रिणपवयण संगहृदं त्रिणचम्मवित्थरट्ठं संपइणिवुब्ब समसाणं शिगमंठाणं शिगमंठीणं य एमा परिसा तत्थ कुमरीपव्वयतित्थम्मि मेलिया। तत्थ हां थेराणं अरजमहागिरी-लमकुपताणं बलिस्सह वीहिग्गिणं, देवायिर चम्मसेल्ल मक्कत्तावरिवाइ शिणकम्मियुत्तसं कुलमाहाणं बुधि क्वा शिगमंठाणं समागया। [हिमवन्त स्थविरावली, हस्तलिखित]

पुकार सुन, भिक्खुराय ने मगध पर आक्रमण कर पुष्यमित्र को दो बार पराजित किया। इसके पश्चात् भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर आगमों के उद्धार हेतु श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं को एकत्रित किया और अंग-शास्त्रों तथा पूर्वज्ञान का संकलन, संग्रह अथवा पुनरुद्धार करवाया।

अंगशास्त्रों के संकलन, संग्रह अथवा संरक्षण हेतु खारवेल द्वारा किये गये उपरोक्त संघसम्मिलन का समय वीर नि० सं० ३२३ के पश्चात् का ३२७ से ३२९ के बीच का ठहरता है। क्योंकि वीर नि० के पश्चात् ६० वर्ष तक पालक का, तदनन्तर १५५ वर्ष तक नन्दवंश का, तत्पश्चात् १०८ वर्ष तक मौर्यवंश का राज्य रहा। इस प्रकार वीर नि० सं० ३२३ में पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन होते ही पुष्यमित्र ने बौद्धों और जैनों पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। जैन धर्म के परम पोषक कलिंगराज महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल को जब पुष्यमित्र द्वारा जैनों पर किये जाने वाले अत्याचार की सूचना मिली तो उसने अपने अपने राज्यकाल के ८ वें वर्ष में पाटलिपुत्र पर एक बड़ी सेना लेकर आक्रमण कर दिया।<sup>१</sup> संभव है पुष्यमित्र ने कलिंगराज की अजेय शक्ति के समक्ष झुक कर भविष्य में जैनों पर किसी प्रकार के अत्याचार न करने की प्रतिज्ञा कर खारवेल के साथ संधि कर ली होगी। संधि के पश्चात् खारवेल के लौट जाने पर जब जैन धर्म के परम विद्वेषी पुष्यमित्र ने पुनः जैनों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो पहले आक्रमण के चार वर्ष पश्चात् खारवेल ने अपने राज्य के १२वें वर्ष में एक विशाल सेना ले कर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। उसने पुष्यमित्र के सुगंभीय नामक राजप्रासाद में अपने हाथियों को पानी पिलाया। पुष्यमित्र को अपने पैरों पर गिरा कर नंदराजनीत कालिगजिन सनिवेस.....और रत्नादि को ले कर खारवेल पुनः कलिग लौट गया।<sup>२</sup>

इस प्रकार जैनों के उस समय के भयंकर शत्रु पुष्यमित्र से अच्छी तरह निबट चुकने के पश्चात् वीर नि० सं० ३२७ से ३२९ के बीच के किसी समय में

<sup>१</sup> प्रथमे च वसे महता सेना.....गोरषगिरि धातापयिता राजगहं उपपीडापयति (१) एतिनं च कमापदान-संनादेन संबितसेन-वाहनो विपमुञ्चित् मधुरं प्रपयातो यवनराजं द्विमित् ।

[कलिग च. म. खारवेल के शिलालेख का वि. पृ. १५]

<sup>२</sup> बारसमे च वसे.....हस के ज. सवसेहि.....वितासयति उत्तरापथ - राजानो..... मगधानं च विपुलं भयं जनेतो ह्यपी सुगंभीय (.) पाययति (१) मगधं च राजानं वसहतिमितं पादे वंदापयति (१) नंदराजनीतं च कालिगजिनं सनिवेसं.....गह-रत्नान पबिहारेहि प्रंगमागधवसुं च नेयाति (१)

(कलिग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण श्री के. पी. जायसवालकृत पृ. १६)



खारवेल ने कुमारगिरि पर श्रमणसंघ आदि चतुर्विध संघ को एकत्रित कर द्वादशांगी के पाठों को सुव्यवस्थित करवाया होगा ।

आगम-वाचनार्थ आयोजित उपरोक्त सम्मेलन में 'हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह भी सम्मिलित थे । इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० २४५ से ३२७-३२६ तक रहा । जब तक अन्य प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध न हो तब तक हिमवन्त स्थविरावली के उपरिउद्धृत उल्लेख को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता । ऐसी स्थिति में आर्य बलिस्सह की पूर्ण आयु कम से कम १०५ वर्ष होना अनुमानित किया जा सकता है ।

उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में निम्नलिखित प्रमुख राजाओं का राज्यकाल होना अनुमानित किया जाता है :-

१. मौर्यसम्राट् बिन्दुसार के वीर नि० सं० २३३ से २५८ तक के २५ वर्ष के राज्यकाल में से १३ वर्ष (वीर नि० सं० २४५ से २५८ तक) का राज्यकाल ।

२. मौर्यसम्राट् अशोक का वीर नि० सं० २५८ से २८३ तक राज्यकाल ।

३. मौर्यसम्राट् सम्प्रति का वीर नि० सं० २८३ से २६३ तक का शासनकाल । उसमें से प्रथम दो वर्ष पाटलिपुत्र में और शेष ६ वर्ष उज्जयिनी में ।

४. जैन परम्परानुसार पुण्यरथ और बृहद्रथ तथा हिन्दू पौराणिक परम्परानुसार शालिशूक, देववर्मा, शतधनुष और बृहद्रथ का अनुमानतः वीर निर्वाण सं० २६३ से ३२३ तक राज्यकाल । मौर्य सम्राट् सम्प्रति के पश्चात् इन राजाओं का उज्जयिनी पर भी अधिकार रहा ।

५. कलिग में भिक्षुराय अपरनाम महामेघवाहन तथा खारवेल का जैसा कि आगे बताया जायगा, अनुमानतः वीर नि० सं० ३१६ से ३२६ तक का शासनकाल ।

६. पुष्यमित्र के वीर नि० सं० ३२२ से ३५२ तक के ३० वर्ष के शासनकाल में से वीर नि० सं० ३२७-३२६ के बीच तक का काल । पुष्यमित्र की राजधानी भी पाटलिपुत्र में रही और उज्जयिनी का राज्य भी इसके अधीन रहा ।

१ तस्स एं भिक्षुरायणवस्स तिग्गिण्ण एणमधिग्गि एवमाहिज्जन्ति । एणं एं सिग्गन्ठाणं भिक्षुराणं भतिं कुणमाणो भिक्षुरामति । दुष्णं एं शिष पुष्पवाणुणव महामेहणामधिग्गयवाहणत्ताए महामेहवाहणत्ति । सीयं एं तस्स सावरतवरावकासीत्ताए खारवेलोहिबत्ति ।

[हिमवन्त-स्थविरावली]

उपर्युल्लिखित राजाओं में से बिन्दुसार, अशोक और सम्प्रति के राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का विवरण ऊपर यथास्थान दे दिया गया है। हां, सम्प्रति के राज्यकाल के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जिनसुन्दरकृत दीपालिकाकल्प में उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर ३०० वर्ष व्यतीत हो जाने पर सम्प्रति हुआ।<sup>१</sup> किन्तु हिमवन्त स्थविरावली में उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० २४४ में सम्प्रति को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बिठला कर अशोक निघन को प्राप्त हुआ।<sup>२</sup> सम्प्रति केवल दो वर्ष ही पाटलिपुत्र में रहने के पश्चात् अपनी राजधानी उज्जयिनी ले गया और शेष ६ वर्ष तक वहीं राज्य करता रहा।<sup>३</sup> जिन शासन की अनेक प्रकार से महती प्रभावनाएं कर सम्प्रति वीर नि० सं० २६३ में दिवंगत हुआ।<sup>४</sup>

हिमवन्त स्थविरावली में सम्प्रति का शासनकाल ४६ वर्ष बताया गया है। वस्तुतः वीर नि० सं० १५५ में नन्दवंश के अंत और मौर्यवंश के अम्युदय की मान्यता के आधार पर मौर्यशासन की संगति बैठाने के लिये ही इस प्रकार का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवन्त स्थविरावलीकार ने सम्प्रति के निघन का समय तो ठीक दिया है, पर उसके राज्यासीन होने का समय उल्लिखित करते समय उपरोक्त मान्यता के अनुसार मौर्यशासनकाल की संगति बैठाने में सम्प्रति का शासनकाल ११ वर्ष के स्थान पर बढ़ा कर ४६ वर्ष कर दिया है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर नि० सं० २१५ में नन्दवंश का अन्त कर मौर्यशासन का सूत्रपात्र किया था। इस सम्बन्ध में पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है। मौर्यशासन के समीचीनतया पर्यवेक्षण से सम्प्रति का शासनकाल वीर नि० सं० २८२-८३ से २६३ तक का ही ठीक बैठता है।

सम्प्रति के निघन के अनन्तर जैनाचार्यों ने पुण्यरथ और उसके पश्चात् वृहद्रथ—केवल इन दो मौर्यवंशी राजाओं का पाटलिपुत्र में शासन होने का उल्लेख किया है। घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यहां ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् गृहकलह के कारण सम्प्रति को अपनी राजधानी

<sup>१</sup> दिनतो मम मोक्षस्य, गते वर्षशतत्रये।

उज्जयिन्यां महापुर्यां, भावी सम्प्रतिभूपतिः ॥१०७॥

[दीपालिकाकल्प]

<sup>२</sup> तमदठं सोच्चा असोभ रिषेणं कोहाकंतेणं तां एियभज्जं मारिता दोसपरावरे वि ञ्णेणे राजकुमारा मारिया। पच्चा कुणालपुत्तं संपइणामधिज्जं रज्जे ठाइत्ता से एं असोभ रिषो वीराभो चत्तालीसाहिय दो सय वासेसु विइक्कंतेसु परलोभं पत्तो।

[हिमवन्त स्थविरावली]

<sup>३</sup> संपइ रिषोवि पाडलिपुत्तंभि एियारोगसत्तुभयं मुणित्ता रायहाणि तरुचा पुत्तिं एियपिउ-  
भुत्तिलद्धावतीणयरिम्मि ठिभो सुहंसुहेणं रज्जं कुणइ। [वही]

<sup>४</sup> अह वीराभो दोसयतेणउइ वासेसु विइक्कंतेसु जिएअम्माराहणपरो संपइ रिषो सगं पत्तो।

[वही]

पाटलिपुत्र से हटाकर अवन्ती (उज्जयिनी) स्थानान्तरित करनी पड़ी। अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र बौद्धों का सुदृढ़ केन्द्र बन चुका था। बहुत सम्भव है कि बौद्धधर्मावलम्बियों ने अशोक के द्वितीय पुत्र दशरथ को — जो कि बौद्धधर्मावलम्बी था — मगध के सिंहासन पर बिठाने का प्रबल प्रयत्न किया हो। और बौद्धों के प्राबल्य अथवा अन्य कारणों से सम्प्रति को अपने शासन के दो वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र का परित्याग कर कुणाल को कुमारभुक्ति में प्राप्त अवन्ती-राज्य की नगरी उज्जयिनी में अपनी राजधानी स्थापित करनी पड़ी हो।

पाटलिपुत्र से अवन्ती की ओर सम्प्रति के प्रस्थित होते ही अशोक के दूसरे पुत्र दशरथ ने पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। और इस प्रकार मौर्य-राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। पाटलिपुत्र में दशरथ का राज्य रहा और अवन्ति में सम्प्रति का। “संपइ म्गिवांवि पाडलिपुत्तंमि रियायोगमसत्तुभयं मुणित्ता, रायहाणि तच्चा .... अवंतीणयरिम्मि ठिओ. मुहंमुहेण रज्जं कुणइ ।” हिमवन्तस्थविरावली के इस पाठ से भी इस घटना की सत्यता सिद्ध होती है।

वीर नि० सं० २६३ में सम्प्रति की मृत्यु के पश्चात् संभव है पाटलिपुत्र के मौर्यवंशीय राजा दशरथ के पुत्र ने अवन्तिराज्य पर भी अधिकार कर लिया। सम्प्रति के निघन के पश्चात् जैन ग्रन्थों में पुण्यरथ और बृहद्रथ — इन दो मौर्य राजाओं का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों के उल्लेखानुसार चन्द्रगुप्त द्वारा प्राप्त की गई राजसत्ता (१) चन्द्रगुप्त, (२) बिन्दुसार, (३) अशोक, (४) कुणाल, (५) सम्प्रति, (६) पुण्यरथ और (७) बृहद्रथ इन सात पीढ़ियों तक ही रही। जबकि नन्द की राजकुमारी द्वारा चन्द्रगुप्त के रथ में एक पैर रखने के समय चन्द्रगुप्त के रथ के ९ आरों के टूटने पर चाणक्य के कथनानुसार चन्द्रगुप्त की ९ पीढ़ियों तक मौर्यवंश का राज्य रहना चाहिये। इससे यह प्रकट होता है कि सम्प्रति और बृहद्रथ के शासनकाल के बीच की अवधि में मौर्यसत्ता के पाटलिपुत्र और उज्जयिनी इन दो पृथक् स्थानों में, दो भागों में विभक्त होने तथा पुनः एक होने के कारण कहीं कुछ भ्रान्ति हो जाने के फलस्वरूप दो मौर्य राजाओं का उल्लेख करने में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो।

सनातन परम्परा के पुराणग्रन्थों में चन्द्रगुप्त से लेकर बृहद्रथ तक ९ मौर्य राजाओं का उल्लेख किया गया है। भागवत्कार का एतद्विषयक उल्लेख सर्वाधिक स्पष्ट है। भागवत्कार ने एक के पश्चात् होने वाले निम्नलिखित ९ मौर्यवंशी राजाओं के नाम दिये हैं —

१. चन्द्रगुप्त, २. वारिसार, ३. अशोकवर्द्धन, ४. सुयशा, ५. संगत, ६. शालिशूक, ७. सोमशर्मा (सोमवर्मा), ८. शतधन्वा और ९. बृहद्रथ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> स एव चन्द्रगुप्तं वं, द्विजो राज्येऽभिषेक्षति ।

तत्सुतो वारिसारस्तु, ततश्चाशोकवर्द्धनः ॥१३॥

भागवतकार ने उपरोक्त ६ नाम देने के पश्चात् लिखा है—

“मौर्या ह्येते दश नृपाः” ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण में पांचवें मौर्य राजा का नाम दशरथ दिया है, जो कि सम्प्रति के उज्जयिनी चले जाने के अनन्तर पाटलिपुत्र का अधिपति बना। मत्स्यपुराण<sup>१</sup> में भी दशरथ के नाम सहित १० मौर्य राजाओं का उल्लेख है। संभव है उसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए भागवतकार ने दश नाम न देकर भी १० की संख्या उल्लिखित कर दी हो। वायु पुराण में ६ मौर्य राजाओं के नाम दिये गये हैं।<sup>२</sup>

“६ पीढ़ियों तक तुम्हारा राज्य चलता रहेगा”—परिशिष्ट पर्वकार आचार्य हेमचन्द्र द्वारा चाणक्य के मुख से कहलवाये गये इस वाक्य की संगति तभी बैठती है, जबकि चन्द्रगुप्त से लेकर बृहद्रथ तक मौर्य राजाओं की संख्या ६ मानी जाय।

उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर, पुराणकारों द्वारा उपरोक्त क्रम से दी गई मौर्य राजाओं की संख्या ६ ही उचित प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों द्वारा, इनमें से कतिपय राजाओं का नामभेद के साथ उल्लेख किया गया है, इसके पीछे यह कारण हो सकता है कि उन राजाओं को अपरनाम से भी सम्बोधित किया जाता रहा हो। उदाहरणस्वरूप ‘कुणाल’ और ‘सम्प्रति’, कम से कम ये दो नाम तो उन राजाओं के वास्तविक नाम न होकर प्यार के नाम ही हो सकते हैं।

इस प्रकार यदि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० २४५ से ३२६ तक का अर्थात् ८४ वर्ष का माना जाय तो यह कहना होगा कि उनके आचार्यकाल में बिन्दुसार का १३ वर्ष और शेष ७ मौर्य राजाओं का ६५ वर्ष तक शासन रहा।

### कालिगपति महाभेघवाहन खारवेल

कालिगाधिपति महाराजा भिक्वुराय खारवेल का स्थान कालिग के इतिहास में तो अनन्यतम है ही पर जैन इतिहास में भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जाता रहकर अमर रहेगा। अपने राज्य की अभिवृद्धि के लिये

सुयशा भविता तस्य, जगतः सुयशः सुतः ।  
शालिशूकस्ततस्तस्य, सोमशर्मा भविष्यति ॥१४॥  
शतघन्वा ततस्तस्य, भविता तद् बृहद्रथः ।  
मौर्या ह्येते दश नृपाः, सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ॥१५॥

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अ० १]

<sup>१</sup> इत्येते दश मौर्यास्तु, ये भोक्ष्यन्ति वसुधराम् ।

[मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लोक २१ से २५]

<sup>२</sup> इत्येते नव भूपा ये, भोक्ष्यन्ति च वसुधराम् ।

सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यस्तु गौर्भविष्यति ॥१६५॥

[वायुपुराण, अनुषंगपाद-समाप्ति]

सैनिक अभियान करने वाले राजाओं की गणना नहीं की जा सकती। ऐसे उदाहरणों से विश्व के इतिहास भरे पड़े हैं। किन्तु दूसरे राज्य के शक्तिशाली राजा द्वारा किये गये अत्याचारों से संतप्त स्वधर्मी प्रजा के त्राण के लिये युद्ध का खतरा उठाने के उदाहरण विरले ही दृष्टिगोचर होते हैं।

महाराजा खारवेल ने न केवल जैनधर्म और जैन संस्कृति के विकास के लिये अपना अमूल्य योगदान देकर कलिंग की कीर्ति में अभिवृद्धि की अपितु उन्होंने मगध राज्य की जैन प्रजा और निर्ग्रथ श्रमणों पर पाशविक अत्याचार करने वाले मगधपति पुष्यमित्र शुंग (अपरनाम बृहस्पतिमित्र) पर दो बार आक्रमण कर उसे दण्डित एवं पराजित किया।<sup>१</sup>

विगत अनेकों सहस्राब्दियों के इतिहास में इस प्रकार का अन्य कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे खारवेल के जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, अनुपम स्वधर्मीवात्सल्य, अद्भुत साहस और अप्रतिम वीरता, महानता आदि का स्पष्टतः परिचय प्राप्त होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि धार्मिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण खारवेल जैसे महान् राजा का भारतीय ग्रन्थराशि में और विशेषतः जैन साहित्य में कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का यत्किञ्चित् परिचय हाथीगुफा के शिलालेख एवं 'हिमवन्त-स्थविरावली' नामक एक छोटी सी हस्त-लिखित पुस्तिका से प्राप्त हुआ है।

हाथीगुफा वाला खारवेल का शिलालेख उड़िसा प्रदेशान्तर्गत भुवनेश्वर तीर्थ के निकटस्थ कुमारगिरि (खण्डगिरि अथवा उदयगिरी) की एक चौड़ी गुफा के ऊपर खुदा हुआ है। हिमवन्त स्थविरावली में कलिंगपति खारवेल के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं, उनसे हाथीगुफा के शिलालेख में उपलब्ध कतिपय विवरणों की न केवल पुष्टि ही होती है अपितु शिलालेख में उद्धृत दो-तीन तथ्यों पर विशिष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के रूप में उपरोक्त शिलालेख और हिमवन्त स्थविरावली में उल्लिखित निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं :-

(१) हाथीगुफा के शिलालेख में खारवेल के वंश का परिचय देते हुए लिखा है :-

“चेतराजवसवधनेन” - अर्थात् चेत वंश का वर्धन करने वाले ने। शिलालेख के इस वाक्य के आधार पर कतिपय विद्वान् कलिंगपति खारवेल को चेदि वंश का, तो कतिपय विद्वान् चैत्रवंश का मानते हैं।

(२) हिमवन्त स्थविरावली में खारवेल को चेटवंशीय बताते हुए लिखा है कि कुरिणक के साथ युद्ध में पराजित हो वैशाली गणराज्य के अधिपति महाराज चेटक के स्वर्गगमन के पश्चात् उनका शोभनराय नामक पुत्र अपने श्वसुर कलिंग-

<sup>१</sup> देखिये खारवेल के हाथीगुफा वाले शिलालेख की पंक्ति संख्या ८ और १२। [सम्पादक]

पति सुलोचन के पास चला गया। सुलोचन के कोई पुत्र नहीं था अतः उसने अपने जामाता शोभनराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। तदनुसार सुलोचन की मृत्यु के पश्चात् शोभनराय कलिंग के सिंहासन पर बैठा। चेटक के पुत्र शोभनराय की दशवीं पीढ़ी में खारवेल हुआ।

इस प्रकार खारवेल के शिलालेख में विद्यमान 'चेतराजवसवधनेन' इस संदिग्ध वाक्यांश को हिमवन्त स्थविरावली में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है।

(३) हाथीगुफा के शिलालेख में जायसबालजी के वाचन के अनुसार अंग-शास्त्रों के उद्धार से सम्बन्धित केवल इतना ही उल्लेख है कि - मौर्यकाल में विच्छिन्न हुए ६४ अध्याय वाले अंगसप्तिक का चौथा भाग फिर से तैयार करवाया।<sup>१</sup>

(४) हिमवन्त स्थविरावली में अंग-शास्त्रों के उद्धार के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल द्वारा आयोजित उस चतुर्विध संघ के सम्मेलन में किन-किन श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं ने भाग लिया। इसमें बताया गया है कि आर्य बलिस्सह आदि जिनकल्पियों की तुलना करने वाले २०० श्रमणों, आर्यसुस्थित आदि ३०० स्थविरकल्पी साधुओं, आर्या पोइरीणी आदि ३०० श्रमणियों, भिक्षुराज, सीवंद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रावकों और पुर्णमित्रा (खारवेल की अग्रमहिषी) आदि ७०० श्राविकाओं ने कुमारगिरि पर हुए उस सम्मेलन में भाग लिया। भिक्खुराय की प्रार्थना पर उन स्थविर श्रमणों एवं श्रमणियों ने अवशिष्ट जिनप्रवचन को सर्वसम्मत स्वरूप में भोजपत्र, ताड़पत्र वल्कल आदि पर लिखा और इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी के रक्षक बने।<sup>२</sup>

हाथीगुफा वाले खारवेल के शिलालेख में ऐसे किसी निश्चित संवत् का उल्लेख नहीं किया गया है जिससे कि खारवेल के सत्ताकाल का असंदिग्ध रूप से निर्णय किया जा सके। फिर भी उसमें कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है, जिनसे खारवेल का सत्ताकाल निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है।

खारवेल के उपरिचचित हाथीगुफा वाले शिलालेख की सातवीं पंक्ति के अंत में तथा आठवीं पंक्ति में लिखा है कि खारवेल ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में एक बहुत बड़ी सेना ले गोरेथ गिरि को तोड़कर राजगृह नगर को घेर लिया। खारवेल की शौर्याथाओं के शंखनाद को सुनकर यवनराज डिमित-डिमिट्रियस

<sup>१</sup> मुरियकालकोच्छिन्नं च चोपठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति । [खारवेल का शिलालेख]

<sup>२</sup> इह तेषां शिवेषां चोइएहि तेहि धेरहि अजिंइ अक्सिट्ठं जिएपवयसां दिट्ठिवायं शिगण्ठणसां थोवं थोवं साहिइत्ता मुज्ज कलाइपत्तेमु अक्खरसंभवायोवयं कार-इत्ता भिक्खुरायणियमणोरहं पूरित्ता अज वएसियदुवालसंगीरक्खमा ते संजाया ।

हिमवन्त स्थविरावली]

मथुरा का घेरा उठाकर अपने दल-बल सहित वापिस (अपने देश की ओर) लौट गया ।<sup>१</sup>

शिलालेख की ये दोनों पंक्तियां ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं । यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र वीर नि० सं० ३२३ में मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर मगध के राजसिंहासन पर बैठा । राज्यारोहण करते ही उसने बौद्धों और जैनों पर भयंकर अत्याचार करने प्रारम्भ किये । बौद्धों की महायान शाखा के ग्रंथ 'दिव्यावदान' में पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारों का बड़ा ही रोमांचक विवरण दिया गया है । उसमें लिखा है :-

'पुष्यमित्र ने राज्यासीन होते ही अपने मंत्रियों से पूछा कि किन कार्यों को करने से उसका नाम चिरस्थायी रह सकता है ? जब मंत्रियों ने उसे अशोक की तरह धर्मकार्य करने की सलाह दी, तो वह उसे रुचिकर नहीं लगी । एक ब्राह्मण द्वारा सुझाये गये उपाय के अनुसार उसने संघारामों, स्तूपों आदि को नष्ट करने का संकल्प किया और उसने अपने राज्य में यह घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति उसे श्रमण का शिर लाकर देगा उसे वह प्रत्येक शिर के बदले में १०० स्वर्णमुद्राएं देगा ।'<sup>२</sup>

तदनुसार पुष्यमित्र के राज्य में श्रमणों की हत्याएं की जाने लगीं । पुष्यमित्र ने स्वयं एक बड़ी सेना लेकर पाटलिपुत्र से श्यालकोट तक के संघारामों और बौद्ध स्तूपों को विध्वस्त कर दिया ।

जैन ग्रन्थों में कलिंग द्वारा जैन श्रमणों पर किये गए अत्याचारों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह वस्तुतः पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारों का ही विवरण प्रतीत होता है ।

दिव्यावदान में पुष्यमित्र सम्बन्धी उल्लेखों के अध्ययन से यह अनायास ही प्रकट हो जाता है कि पुष्यमित्र को अपना नाम चिरस्थायी बनाने की बड़ी तीव्र उत्कण्ठा थी । अतः उसने मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होते ही, अपने विश्वस्त परामर्शदाताओं के परामर्शानुसार बौद्धधर्म और जैन धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकने के दृढ़ संकल्प के साथ जैनों और बौद्धों पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये । जो अन्ध धर्मावलम्बी पिछली कई शताब्दियों से राज्याश्रय से वंचित रहे, उन लोगों का निश्चित रूप से पुष्यमित्र को अपने धर्मान्धता के उस अभियान में पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ होगा । इस अनुमान को पतंजलि व्याकरण भाष्यकार के - 'पुष्यमित्रं याजयामः', इस वाक्य से पर्याप्त बल मिलता है । इतिहासकारों ने

<sup>१</sup> खारवेल का शिलालेख, पंक्ति ८

<sup>२</sup> यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षुष्व्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः । तेनाभिहितं - यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि ।

[दिव्यावदान, अबदान २६]

पतंजलि का समय भी ईसा से २००—१७५ वर्ष पूर्व का तदनुसार वीर नि० सं० ३२७—३५२ के आसपास का माना है। यह समय पुष्यमित्र के राज्यकाल और बाद तक का है।

तदनुसार वीर नि० सं० ३२३ में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को हथियाते ही पुष्यमित्र ने बौद्धों और जैनों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये और इसकी सूचना प्राप्त होते ही खारवेल ने (अपने राज्य के ८वें वर्ष में) वीर नि० सं० ३२४ में पुष्यमित्र पर पहला आक्रमण किया। खारवेल ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष में तदनुसार वीर नि० सं० ३२८ में दूसरी बार पुष्यमित्र को पराजित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि खारवेल वीर नि० सं० ३१६ में कलिग के राजसिंहासन पर बैठा।

हाथीगुफा के शिलालेख में खारवेल के राज्यकाल के १३ वर्षों का ही विवरण दिया गया है। इस पर इतिहासज्ञों का यह अनुमान है कि संभवतः १३ वर्ष राज्य करने के पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई हो।

इस प्रकार शिलालेख पर दिये गये विवरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वीर नि० सं० ३१६ से ३२६ तक खारवेल का सत्ताकाल सुनिश्चित रूप से रहा। हिमवन्त स्थविरावली में भी खारवेल के दिवंगत होने का समय वीर नि० सं० ३३० दिया हुआ है।<sup>१</sup>

हिमवन्तस्थविरावली में उल्लेख किया गया है कि खारवेल वीर नि० सं० ३०० में कलिग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। स्थविरावलीकार का यह कथन तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर खारवेल के हाथीगुफा वाले शिलालेख के एतद्विषयक उल्लेख की तुलना में प्रामाणिक नहीं ठहरता। शिलालेख में उद्धृत इस तथ्य से कि खारवेल ने अपने राज्य के ८वें वर्ष में पुष्यमित्र पर पहला और १२वें वर्ष में दूसरा आक्रमण किया—यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि वह वीर नि० सं० ३१६ में कलिग के राजसिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ने ३२३ में मौर्यराज्य का अन्त कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठते ही जब जैनों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो खारवेल ने उसे राह पर लाने के लिए मगध पर अपने राज्य के ८वें वर्ष में तदनुसार वीर नि० सं० ३२४ में पहला आक्रमण और वीर नि० सं० ३२८ में दूसरा आक्रमण किया, यह ऊपर बताया जा चुका है।

इतिहासविदों के अनुमान के अनुसार यदि इस बात को ठीक मान लिया जाय कि हाथीगुफा के शिलालेख में खारवेल के राज्य के केवल तेरह वर्षों का ही विवरण दिया हुआ है, यह इस बात का द्योतक है कि उसके पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई, तो उस दशा में हिमवन्त स्थविरावली में खारवेल के वीर नि० सं० ३३० में निधन को प्राप्त होने का उल्लेख करीब-करीब सही सिद्ध होता है।

<sup>१</sup> एको खं बिलासासत्पभाबगो भिक्षुराय शिवो एगे धम्मकयाणि किन्वा सुम्भाणोवेषो वीराको खं तीसाहिन तिसय भासेमु विदन्कतेमु सगं पत्तो। [हिमवन्त स्थविरावली]



तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः खारवेल का जन्म वीर नि० सं० २६२ में, युवराजपद ३०७ में, राज्याभिषेक ३१६ में और निधन वीर नि० सं० ३२६ में हुआ था।

### भिक्षुराय खारवेल का वंश

कलिंगपति भिक्षुराय खारवेल के सम्बन्ध में यद्यपि हाथीगुफा के शिलालेख तथा हिमवन्त स्थविरावली में पर्याप्त उल्लेख विद्यमान हैं तथापि इस सम्बन्ध में विद्वान् अद्यावधि किसी निश्चित एवं सर्वमान्य निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। अतः खारवेल के वंश के सम्बन्ध में यहाँ थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

हिमवन्त स्थविरावली में भिक्षुराय को वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराजा चेटक के पुत्र शोभनराय का वंशज बताया गया है। हाथीगुफा के शिलालेख में भिक्षुराय के वंश के सम्बन्ध में दो बार उल्लेख किया गया है। अर्हंतों एवं सिद्धों की नमस्कार के पश्चात् इस शिलालेख का पहला शब्द ऐरेन वस्तुतः भिक्षुराय के वंश के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाल देता है। इससे दो शब्द पश्चात् ही "चेतराजवसवधनेन" यह एक और शब्द देकर लेख की पहली पंक्ति में ही खारवेल के वंश का पूर्ण परिचय दे दिया गया है।

रलयोः डलयोश्चैव, शशयोः बबयोस्तथा ।

वदन्त्येषां तु सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः ॥

इस सर्वजनसुविदित सूक्ति के अनुसार ऐरेन शब्द को उपरोक्त प्रथम पंक्ति में 'ऐरेन' लिखा गया है जिसका सीधा सा अर्थ है - चन्द्रवंशी ने। पुराण-इतिहास के विज्ञ इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि चन्द्रपुत्र बुध और इला के संयोग से उत्पन्न हुए पुरुरवा से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई।<sup>१</sup> पुराणों में चन्द्रवंश को सोमवंश और ऐलवंश के नाम से भी अभिहित किया गया है। इला का पुत्र होने के कारण पुरुरवा की ऐल नाम से भी प्रसिद्धि हुई। चन्द्रवंश की आगे चल कर अनेक शाखा-प्रशाखाएं प्रसृत हुईं।

पुरुरवा के प्रतापी पुत्र का नाम ययाति था। ययाति के छोटे पुत्र यदु से यादव वंश चला, आगे चल कर यादव वंश की भी अनेक शाखाएं हुईं। यदु के बड़े पुत्र सहस्रजित् के एक ही पुत्र था जिसका नाम था शतजित्। शतजित् के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र हैहय से हैहयवंशी यादव क्षत्रियों की शाखा प्रचलित हुई। महाराज चेटक इसी हैहयवंशी शाखा के चन्द्रवंशी, सोमवंशी अथवा ऐलवंशी क्षत्रिय थे। उनके पुत्र शोभनराय ने कलिंग में अपने श्वसुर के पास शरण ली और उसकी मृत्यु के पश्चात् वे कलिंगपति बने। उन शोभनराय की वंशपरम्परा में ही भिक्षुराय हुआ, इसी कारण इसे शिलालेख में ऐल लिखा गया है।

<sup>१</sup> श्रीमद्भागवत, स्कंध ६, अ० १

ययाति के बड़े पुत्र अनु की वंश परम्परा में आगे चल कर हुए कलिग नामक राजकुमार के नाम पर कलिग का राजवंश और कलिग राज्य चला ।<sup>१</sup> इस दृष्टि से शोभनराय से पहले के राजा भी चन्द्रवंशी ही थे पर वे हैहय शाखा के नहीं, अपितु कलिग शाखा के थे ।

बार्हद्रथों के नाम से विख्यात चेदिवंश भी मूलतः चन्द्रवंश की ही शाखा होने के कारण क्षत्रियों की चेदि शाखा में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति भी 'ऐल' के विशेषण से अभिहित किया जा सकता है । वस्तुतः चन्द्रवंशी राजा ययाति के परम पितृभक्त पुत्र पुरु से जो पौरवों का वंश चला, उसी से क्षत्रियों की चेदी शाखा निकली थी ।<sup>२</sup> चेदि देश के अधिपति उपरिचर वसु की गणना पुरुवंश के पूर्व-पुरुषों में की गई है । वैदिक परम्परा के पुराणों तथा जैन परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में उपरिचर वसु को हरिवंश (चन्द्रवंश) का राजा बताया गया है ।<sup>३</sup>

इस प्रकार कलिग का राजवंश, चेदि राजवंश और हैहय-क्षत्रिय चेटक का वंश — ये तीनों ही राजवंश चन्द्रवंशी माने गये हैं, अतः इन्हें सोमवंशी और ऐलवंशी तथा हरिवंशी — इन नामों से भी अभिहित किया जा सकता है ।

हाथीगुंफा के शिलालेख में प्रयुक्त 'ऐलेन' एवं 'चेतराजवसवधनेन' इन शब्दों के आधार पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि खारवेल उपरोक्त तीन राजवंशों में से किस वंश के थे । हिमवन्त स्थविरावली में इस गुंथी को सुलभाते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि भिक्षुराय खारवेल चन्द्रवंशी हैहय क्षत्रिय चेटक के वंशधर थे ।

इस शिलालेख की दूसरी पंक्ति में 'वेनाभिविजयो' शब्द को देख कर कुछ विद्वानों ने उत्तानपाद के वंश में उत्पन्न वेन के साथ खारवेल का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है, जो निराधार होने के कारण किसी भी दशा में मान्य नहीं हो सकता । शिलालेख में प्रयुक्त 'वेनाभिविजयो' शब्द के प्रयोग से भिक्षुराय खारवेल को गरुड़ की तरह प्रबल वेग से शत्रुओं पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करने वाला बताया गया है ।

### खारवेल के शिलालेख का लेखनकाल

हाथीगुंफा वाले खारवेल के शिलालेख के सम्बन्ध में जहाँ तक हमारा खयाल है प्रायः सभी विद्वानों का यही अभिमत रहा है कि यह शिलालेख स्वयं खारवेल ने अपने जीवन-काल में ही उद्भूत करवाया था पर वास्तविकता इससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है ।

इस लेख में प्रयुक्त शब्दों पर भाषाविज्ञान की दृष्टि से तथा इसमें चर्चित घटना पर ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह सिद्ध

<sup>१</sup> श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० ३०, श्लोक ५

<sup>२</sup> श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २२, श्लोक ६

<sup>३</sup> जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भा० १, पृ० १४८, १५०

हो जाता है कि यह शिलालेख खारवेल की मृत्यु के पचास वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७६, तदनुसार ई० पूर्वं १४८ में लिखवाया गया। निम्नलिखित तथ्यों से इस बात की पुष्टि होती है :-

१. शिलालेख की १६वीं पंक्ति में लिखा है - "खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा पसंतो अनुभवंतो कलाणानि" इस पंक्ति में खारवेल के लिये स शब्द का प्रयोग किया गया है, जो तत् शब्द का प्रथमा विभक्ति का एक वचन का रूप है। यह सर्वजनविदित है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से तत् शब्द का प्रयोग देश ग्रथवा काल से अन्तरित - दूरदर्शी व्यक्ति के लिये ही किया जाता है। भिखुराय के लिये यह 'स' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि यह शिलालेख भिखुराय की विद्यमानता में ग्रथवा जीवनकाल में नहीं लिखवाया गया। यदि यह शिलालेख भिखुराय के जीवनकाल में लिखवाया गया होता तो निश्चित रूप से उनके लिये 'स' के स्थान पर 'एषः' शब्द का प्रयोग किया जाता।

२. शिलालेख की १६वीं पंक्ति में ऊपर उद्धृत किये गये वाक्य से पहले निम्नलिखित वाक्य दिया हुआ है :-

“मुरियकाले वोच्छिने च चोयठिसतिकंतरिये उपादयति ।

इस वाक्य की संस्कृत छाया होगी - “मौर्यकाले व्युरिच्छन्ने च चतुष्पष्टि-अग्रशतकांतरिते उत्पादयति ।” इसका सीधा-सा अर्थ होता है - मौर्यकाल की समाप्ति के पश्चात् अर्थात् मौर्य सं० १६४ में उद्धृत करवाया गया है।

जैसा कि प्रमाणपुरस्कार सिद्ध किया जा चुका है मौर्यकाल वीर नि० सं० २१५ में प्रारम्भ होकर १०८ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३२३, तदनुसार ई० पूर्वं २०४ में समाप्त हो गया था। इस प्रकार मौर्य सं० १६४ अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ की मृत्यु के ५६ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७६ तदनुसार ई० पूर्वं १४८ में आता है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि भिखुराय खारवेल का सत्ताकाल वीर नि० सं० ३१६ से ३२६ तदनुसार २११ से १६८ ई० पूर्वं तक रहा।

शिलालेख की १६वीं पंक्ति के उपर्युक्तलिखित वाक्य को श्री के. पी. जायस-वालजी ने निम्नलिखित रूप में पढ़ा है -

“मुरियकालवोच्छिनं च चोयठि-अंग-सतिकं तुरियं उपादयति ।”

उन्होंने इसका अर्थ किया है - “मौर्यकाल में नष्ट हुए ६४ अघ्याय वाले “अंगसप्तिक” के चौथे भाग को संकलित करवाया।

किन्तु उपरोक्त पंक्ति में वैडूर्य के स्तंभों के प्रतिस्थापित किये जाने के उल्लेख के साथ-साथ ‘उपादयति’ का पाठ स्पष्टतः यही प्रकट करता है कि अमुक समय में हाथीगुंफा के इस लेख को उत्कीर्ण करवाया गया। यदि अंगशास्त्रों ग्रथवा अंगतुल्य किसी ग्रन्थ के उद्धार का उल्लेख इस पंक्ति के द्वारा अभिहित होता तो निश्चित रूप से स्तंभ-आदि की प्रतिष्ठापना की तुलना में इस महान् कार्य को अत्यधिक महत्व दिया जाकर उल्लेख में प्राथमिकता दी जाती।

३. खारवेल के उपरोक्त शिलालेख में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख विद्यमान है, जो खारवेल की मृत्यु के २८ वर्ष पश्चात् घटित हुई। इस शिलालेख की आठवीं पंक्ति में यूनानी आक्रामक यवनराज डिमित के दलबल सहित पलायन करने (संभवतः बैक्ट्रिया लौट जाने) का उल्लेख किया गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है :-

....। अठमे च वसे महता सेना .... गोरथगिरि (७वीं पंक्ति) घातापयिता राजगृहं उपपीडापयति (१) एतिनं च कंभापदान - संनादेन सवित सेन - वाहनी विपमुचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित..... (पंक्ति ८)

इस पंक्ति में स्पष्ट रूप से यही दर्शाया गया है कि कलिगपति खारवेल द्वारा राजगृह पर किये गये प्रचण्ड आक्रमण की बात सुनकर यवनपति डिमित (डिमिट्रियस) हिन्दुस्तान छोड़कर अपने देश बैक्ट्रिया की ओर लौट गया।

यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण का उल्लेख पुष्यमित्र के पुरोहित एवं अग्निमित्र के राज्यकाल में भी विद्यमान व्याकरण भाष्यकार पतंजलि ने पाणिनी व्याकरण के सूत्र "अनद्यतने लङ्" के उदाहरण में "अरुणद्यवनः साकेतम्," "अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्" - इन दो वाक्यों के द्वारा किया है।

गार्गीसंहिता के युगपुराण प्रकरण में पांचाल, मथुरा, पाटलिपुत्र एवं मध्यदेश पर यवन आक्रमण का उल्लेख किया गया है।<sup>१</sup> भीषण गृह कलह के कारण उस यवन आक्रान्ता के स्वदेश लौटने का भी गार्गीसंहिता में उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup> यूनानी इतिहासकारों ने भी मिडिट्रियस के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस समय वह भारतविजय के अपने अभियान में उलझा हुआ था, उस समय उसके प्रतिद्वन्द्वी ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और इस सूचना के मिलते ही डिमिट्रियस भारत से दलबल सहित स्वदेश - बैक्ट्रिया लौट गया। गार्गीसंहिता और ग्रीक इतिहासकारों के उल्लेख एक दूसरे की पुष्टि करते हैं।

यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र का शासन ईसा पूर्व २०४ से ईसा पूर्व १७४ तक अर्थात् वीर नि० सं० ३२३ से ३५३ तक रहा। यूनानी इतिहासकार डिमिट्रियस के बैक्ट्रिया लौटने की घटना को ईसा पूर्व १७५ की मानते हैं। खारवेल का समय २११ से १९८ ईसा पूर्व का तदनुसार वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ का रहा है। इस प्रकार डिमिट्रियस के भारत से स्वदेश लौटने की घटना खारवेल की मृत्यु के २३ वर्ष पश्चात् घटित हुई। यह एक ही तथ्य इस

<sup>१</sup> ततः साकेतमाक्राम्य, पांचालान्मथुरां तथा।

यवनाः दुष्टविक्रान्ताः, प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ॥

[गार्गीसंहिता, युगपुराण प्रकरण]

<sup>२</sup> मध्यदेशे न स्थास्यन्ति, यवनाः युद्धदुर्मदाः।

आत्मचक्रोत्थितं घोरं, युद्धं परमदारुणम् ॥

[वही]

बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि हाथीगुंफा का शिलालेख खारवेल के जीवनकाल में नहीं अपितु काफी समय पश्चात् लिखा गया है।

### पुष्यमित्र शृंग

भिक्षुराय खारवेल द्वारा आयोजित संघ-सम्मेलन में आर्य बलिस्सह की उपस्थिति विषयक हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के आचार्यकाल में पुष्यमित्र शृंग का भी राज्यकाल रहा।

खारवेल के परिचय में यह तो बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३२३ में अन्तिम मौर्य-राजा बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ब्राह्मण था, क्षत्रिय था अथवा किसी इतर जाति का इस सम्बन्ध में विभिन्न अभिमत उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में पुष्यमित्र को केवल क्षत्रिय ही नहीं अपितु अशोक का, वंशज बताया गया है।<sup>१</sup> श्रीमद्भागवत,<sup>२</sup> वायुपुराण<sup>३</sup>, मत्स्यपुराण<sup>४</sup> और हिमवन्त स्थविरावली<sup>५</sup> में पुष्यमित्र को बृहद्रथ का सेनापति बताया गया है। पर इनमें से किसी ग्रंथ में पुष्यमित्र की जाति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री के० पी० जायसवाल ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण जाति का बताते हुए अपनी "कलिग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण" - नामक पुस्तिका में लिखा है - "बहसतिमित्त की रिशतेदारी अहिच्छत्र के राजाओं से थी, जो ब्राह्मण थे, यह कोसम-पभोसा के शिलालेख से साबित है।"

पतंजलि के व्याकरण भाष्य, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों, बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान और हिमवन्त स्थविरावली आदि में अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार कर मगध के सिंहासन पर आसीन होने वाले इस शृंगराज का नाम पुष्यमित्र लिखा है पर खारवेल के हाथीगुंफा वाले शिलालेख में मगधपति का

<sup>१</sup> पुष्यधर्मणः पुष्यमित्रः, सोऽमात्यानामंत्रयते कः उपायः स्याद् यदस्माकं नाम चिरं तिष्ठते । तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं.....देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापयतु ।

[दिव्यावदान, अवदान २६]

<sup>२</sup> हत्वा बृहद्रथं मौर्यं, तस्य सेनापतिः कलौ ।

पुष्यमित्रस्तु शृंगाङ्गः, स्वयं राज्यं करिष्यति ॥ [श्रीमद्भागवत, स्कंध-१२, अ० १]

<sup>३</sup> पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम् ।

[वायु पु०, अनुषंगपादसमाप्ति]

<sup>४</sup> पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान् ।

कारयिष्यति वै राज्यं, षट्त्रिंशति समा नृपः । [मत्स्य पु०, अ० २७१]

<sup>५</sup> तं वि सुगय धम्माराणुं बुद्धरहं एिवं मारित्ता तस्स सेणाहिबइ पुष्फमित्तो.....पाडलिपुत्त रउजे ठिष्ठी ।

[हिमवन्त स्थविरावली अप्रकाशित]

नाम वहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) दिया हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री जायसवाल ने अपनी उपर्युल्लिखित पुस्तक में लिखा है—“मैंने पुष्यमित्र (जो शुंग वंश के ब्राह्मण थे) और बृहस्पतिमित्र का एक होना बतलाया है। पुष्य नक्षत्र का बृहस्पति मालिक है। इस एकता को योरप के नामी ऐतिहासिकों ने मान लिया है।”

हिमवन्त स्थविरावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेल ने मगधपति पुष्यमित्र को युद्ध में पराजित कर अपना आज्ञानुवर्ती बनाया।<sup>१</sup> इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र ये दोनों नाम एक ही राजा के नाम हैं।

पुष्यमित्र का ही अपर नाम बृहस्पतिमित्र था, इस तथ्य की पुष्टि पुराणों के उल्लेखों एवं प्राचीन सिक्कों से भी होती है। श्रीमद्भागवत में पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र बताया गया है, जो कि भारत का एक बड़ा ही शक्तिशाली राजा हुआ है। इन दोनों पिता-पुत्र के जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, वे परस्पर एक दूसरे से पर्याप्त साम्यता रखते हैं। बृहस्पतिमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी आकार-प्रकार तथा कोटि का अग्निमित्र का भी सिक्का मिलता है। पुरातत्वविदों का अभिमत है कि अग्निमित्र के सिक्के बृहस्पतिमित्र के सिक्कों की अपेक्षा कुछ पश्चाद्वर्ती काल के हैं। पुराणों द्वारा पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र उल्लिखित किया जाना और वहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) तथा अग्निमित्र के सिक्कों में पर्याप्त साम्य होना इस बात का प्रमाण है कि पुष्यमित्र का अपर नाम बृहस्पतिमित्र भी था।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पुष्यमित्र का शासनकाल मगधराज्य में जैनों तथा बौद्धों के अपकर्ष का और वैदिक कर्मकाण्ड के उत्कर्ष का काल रहा। सम्भवतः कलिगपति खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र ने जैनों और बौद्धों के प्रति अपना कड़ा रुख और कड़ा कर लिया होगा। दक्षिण में जैन धर्म के प्रबल प्रचार-प्रसार के पीछे पुष्यमित्र का जैनों के प्रति कड़ा रुख भी प्रमुख कारण अनुमानित किया जा सकता है। संभव है पुष्यमित्र द्वारा किये गये अत्याचारों ने उन्हें मगध छोड़ने के लिये बाध्य किया हो और फलतः उन्होंने दक्षिण को अपना कार्य-क्षेत्र चुना हो।

उपरोक्त घटनाक्रम के सन्दर्भ में विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्य-काल में जहाँ जैन धर्म को सम्प्रति जैसे धर्मनिष्ठ एवं परस भक्त प्रभावक राजा के राज्यकाल में प्रचार-प्रसार की पूर्ण सुविधा प्राप्त हुई, वहाँ पुष्यमित्र जैसे जैनों से विद्वेष रखने वाले राजा के राज्य में घोर संकटापन्न दौर में से गुजरना पड़ा।

<sup>१</sup> एसो एं भिक्खुरायो अईव परक्कमज्जुगो गयाइसेएणाक्कंतमहियलमंडलो मगहाहिषं पुप्फमित्तं एिणं अहिण्णक्खित्ता एियाएम्मि ठाइत्ता..... [हिमवन्त स्थविरावली]

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समसामयिक युगप्रधानाचार्य आर्य गुप्त-सुन्दर का युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० सं० २६१ से ३३५ तक और आर्य सुहृस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध का गणाचार्यकाल वीर नि० सं० २६१ से ३३६ तक रहा, यह ऊपर बताया जा चुका है। आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में ही इन दोनों आचार्यों के अधिकांश आचार्यकाल का समावेश हो जाता है अतः इनके समय के राजवंशों के सम्बन्ध में पृथकतः उल्लेख करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इनके आचार्यकाल के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि आर्य बलिस्सह एवं कर्त्तिकाधिपति खारवेल के दिवंगत होने के पश्चात् इन दोनों आचार्यों के आचार्य-काल में मगध के जैनधर्मविलम्बियों को जैनों के प्रबल विरोधी पुष्यमित्र के राज्यकाल में अनेकों बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

## १२. आर्य स्वाति

आचार्य बलिस्सह के पश्चात् आर्य स्वाति आचार्य हुए। नंदीसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य स्वाति का जन्म हारीत गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था।<sup>१</sup> आर्य बलिस्सह के त्यागपूर्ण उपदेश सुन कर आपको संसार से विरक्ति हो गई और आपने तरुण वय में संसार के सब प्रपंचों का परित्याग कर आचार्य श्री के चरणों में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् आर्य स्वाति ने गुरु की सेवा में रहते हुए बड़ी निष्ठा एवं लगन के साथ क्रमशः एकादशांगी और १० पूर्वों का सम्यकरूपेण अध्ययन किया। विशेष परिचय के अभाव में आप द्वारा किये गये शासन-सेवा के कार्यों का परिचय नहीं दिया जा सकता।

तपागच्छ पट्टावली में यह संभावना अभिव्यक्त की गई है कि इन्हीं आर्य स्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों की रचना की गई<sup>२</sup> परन्तु इतिहासज्ञ विद्वानों का इस विषय में मतभेद है।

इतिहास लेखकों ने आर्य स्वाति से वाचक उमास्वाति को भिन्न माना है। उनके अनुसार उमास्वाति उच्चनागर शाखा के विद्वान् आचार्य माने गये हैं। इसके अतिरिक्त उमास्वाति का काल विक्रमीय तीसरी शताब्दी माना गया है। संभव है नामसाम्य के कारण पट्टावलीकार ने दोनों को एक मान लिया हो।

वीर नि० सं० ३३६ (३३५) में आप स्वर्गस्थ हुए।

हिमवन्त स्थविरावली आदि प्राचीन गिने जाने वाले ग्रन्थों में इन आर्य स्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के प्रणयन का उल्लेख नितान्त निराधार तो नहीं माना जा सकता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संभवतः इन आर्य स्वाति के

<sup>१</sup> हारियगोत्तं साइं च.....

[नंदीसूत्र]

<sup>२</sup> बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सभाव्यन्ते।

[पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६]

द्वारा प्राकृत भाषा में सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र के संक्षिप्त मूलस्वरूप का प्रणयन किया गया हो। हिमवन्तस्थविरावली के उल्लेखों से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि आर्यं बलिस्सह के समय से अंगविद्या के ग्रंथों के पृथकतः प्रणयन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ।<sup>१</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति तत्त्वज्ञानसुत्रों में काफी लोकप्रिय रही और उनकी प्रार्थना पर अथवा स्वतः भव्यजनहितार्थ आगमों से तत्त्वज्ञान को उद्धृत कर सरल एवं सुबोध्य प्राकृत शैली में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की हो। कालान्तर में उसी तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वाति ने परिवर्द्धित कर संस्कृत भाषा में प्रस्तुत किया हो। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र की रचना आर्यंस्वाति ने की अथवा उमास्वाति ने, यह प्रश्न पर्याप्त शोध की अपेक्षा रखता है। केवल नामसाम्य की युक्ति देकर इसे टाल देना उचित नहीं।

आर्यं स्वाति का आचार्यकाल कब प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित काल का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। फिर भी आर्यं बलिस्सह के परिचय में दिये गये उनके स्वर्गारोहण के अनुमानित काल के आधार पर यह खयाल किया जाता है कि वीर नि० सं० ३२६ में आर्यं स्वाति वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किये गये।

इस प्रकार आर्यं स्वाति का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० ३२६ से ३३५ तक रहा। आपके वाचनाचार्य काल में आर्यं गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य और सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य रहे।

### १३. श्यामाचार्य (कालकाचार्य) वाचनाचार्य

नन्दी सूत्र की स्थविरावली में वाचनाचार्य स्वाति के पश्चात् उन्हीं के शिष्य आर्यं श्यामाचार्य को वाचनाचार्य माना गया है। प्रभावक चरित्र तथा कालकाचार्य-प्रबन्ध में श्यामाचार्य को आचार्य गुणाकर के पश्चात् युगप्रधानाचार्य बताया गया है। यही पहले कालकाचार्य हैं। इस प्रकार आर्यं श्यामाचार्य वाचक-वंश और युगप्रधान-परम्परा - दोनों के आचार्य माने गये हैं।

श्यामाचार्य का जन्म वीर नि० सं० २८० में हुआ। आपने वीर नि० सं० ३०० में २० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। ३५ वर्ष तक श्रमणधर्म की साधना के पश्चात् वीर नि० सं० ३३५ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधान पद प्रदान किया गया। ४१ वर्ष तक वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए आपने जिनशासन की महती सेवा और प्रभावना की। वीर नि० सं० ३७६ में आपने ६६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

श्यामाचार्य अपने समय के, द्रव्यानुयोग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्हीं श्यामाचार्य को निगोदव्याख्याता प्रथम कालकाचार्य माना गया है। इस सम्बन्ध

<sup>१</sup> बलिस्सह शिष्याः स्वात्याचार्याः श्रुतसागरपारगास्तत्त्वार्थसूत्रारूपं शास्त्रं विहितवन्तः। तेषां शिष्यैरायंश्यामः प्रज्ञापना ररूपिता। [हिमवन्त स्थविरावली]



में विचारश्रेणी में एक उल्लेख मिलता है — “एक समय महाविदेह क्षेत्र में सीमंधरस्वामी निगोद की व्याख्या फरमा रहे थे । उसे सुनने के पश्चात् सीधमॅन्द्र ने सीमंधर प्रभु से प्रश्न किया — “भवगन् ! क्या भरतक्षेत्र में भी इस प्रकार निगोद का वर्णन करने वाला कोई श्रुतधर आचार्य आज विद्यमान है ?”

उत्तर में भगवान् ने फरमाया — “हां, भरतक्षेत्र में आर्य श्यामाचार्य द्रव्यानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता हैं । वे श्रुतबल से निगोद का भी यथार्थ स्वरूप बता सकते हैं ।”

सौधमॅन्द्र को यह सुन कर तीव्र उत्कण्ठा हुई और वह भरतक्षेत्र में श्यामाचार्य को वन्दन करने पहुँचा । उसने आचार्यश्री से निगोद का स्वरूप पूछा और उनके मुख से यथार्थ स्वरूप सुनकर सौधमॅन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ । आचार्य को वन्दन करने के पश्चात् लौटते समय सौधमॅन्द्र ने आर्य श्याम के शिष्यों को अपने आगमन से अवगत कराने के लिए चिन्हस्वरूप उपाश्रय का द्वार दूमरी दिशा की ओर मोड़ दिया ।<sup>१</sup>

यही श्यामाचार्य पन्नवरा सूत्र के रचयिता भी हैं । यह सूत्र आज भी ३६ पदों अर्थात् प्रकरणों में विद्यमान है । जीवाजोवादि समस्त पदार्थों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इस शास्त्र को तत्त्वज्ञान का अनुपम भण्डार कहा जा सकता है । जैनदर्शन के गहन तत्त्वज्ञान को समझने में इस सूत्र का अध्ययन बड़ा सहायक माना गया है ।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् दो वन्दनपरक गायाम्यों द्वारा आर्य श्याम को वन्दन किया गया है । टीकाकार द्वारा इन्हें अन्यकर्तृक बताया गया है । वस्तुतः ये हैं भी अन्यकर्तृक ही । उन गायाम्यों में श्यामाचार्य की स्तुति करते हुए कहा गया है — “वाचकवंश के २३ वें धीरपुरुष, जो दुर्धर पूर्वश्रुत को धारण करने वाले हैं तथा जिन्होंने शिष्यगण के हितार्थ अथाह श्रुतसागर से उद्धरण कर उत्तम श्रुतरत्न प्रदान किया है, उन आर्य श्यामाचार्य को प्रणाम हो ।”<sup>२</sup>

आर्य श्याम को कालकाचार्य (प्रथम) के नाम से भी अभिहित किया जाता है । ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यवेक्षण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है, कि पृथक्-पृथक् समय में कालकाचार्य नाम वाले ४ आचार्य हुए हैं । शेष तीनों कालकाचार्यों का परिचय यथास्थान आगे दिया जायगा ।

<sup>१</sup> सिरिबीरजिण्णदाओ वरिससया त्तिन्नि बीस (३२०) अहियाओ ।

कालयसूरी जाओ, सबको पडिबोहिओ जेण ॥

[विचारश्रेणिपरिणिष्टम्]

<sup>२</sup> वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।

दुद्धरघरेण मुणिया, पुब्बसुयसभिद्धबुद्धीण ॥३॥

सुयसागरः विरोऊण, जेण सुयखणमुत्तमं दिनं ।

सोसणस्स भगवओ, तस्स नओ अज्ज सामस्स ॥४॥

[पन्नवरा, (रायघनपतिसह) पत्र ४ (१)]

इतिहास के विशेषज्ञ मुनि कल्याणविजयजी ने भी आर्य श्याम को ही प्रथम कालकाचार्य माना है। “रत्नसंचयप्रकरण” के एतद्विषयक उल्लेख पर टिप्पण करते हुए मुनिजी ने लिखा है — “जहां तक हमने देखा है श्यामाचार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ताकाल सर्वत्र, निर्वाण सं० २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गगमन लिखा है।”

पन्नवणा सूत्र के प्रारम्भ में आर्य श्याम की स्तुतिपरक उपरोक्त दो गाथाओं में श्यामाचार्य को वाचकवंश का २३ वां पुरुष बताया गया है पर पट्टकमानुसार यह संख्या मेल नहीं खाती। क्योंकि आर्य सुधर्मा से आर्य श्याम पट्टपरम्परा में १३ वें आचार्य होते हैं।

विचारश्रेणी में इस समस्या का समाधान करते हुए बताया गया है कि वाचकवंश में गणधरों को सम्मिलित कर आर्य श्याम को तेबीसवां वाचक समझना चाहिए। टीकाकार ने भी — “वाचकाः पूर्वविदः” इस पद से वाचक का अर्थ पूर्वविद् किया है। उन गाथाओं में स्तुतिकार ने गणधरों की भी वाचकों में गणना करते हुए श्यामार्य को २३ वां वाचक बताया है।<sup>१</sup> आचार्य मेरुतुंग का यह कथन शतप्रतिशत युक्तिसंगत है। वस्तुतः गणधरों की जीवनचर्या में एक तरह से आगमवाचना देने का प्राधान्य रहता है। इस दृष्टि से यदि इन्द्रभूति आदि गणधरों को वाचक कहा जाय तो इसमें अनौचित्य के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। इस दृष्टिकोण से पन्नवणा के प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् दो गाथाओं में स्तुतिकार द्वारा आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वां धीर पुरुष बताना संगत ही है।

### १२ वें युगप्रधानाचार्य आर्य श्याम

वाचनाचार्य आर्य श्याम के परिचय में ऊपर यह बताया जा चुका है कि आर्य स्वाति के पश्चात् १३ वें वाचनाचार्य के पद पर तथा आर्य गुणसुन्दर के पश्चात् १२ वें युगप्रधानाचार्य के पद पर आर्य श्याम को नियुक्त किया गया। वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक इन दोनों महत्वपूर्ण पदों पर निरन्तर ४१ वर्ष तक रह कर आर्य श्याम ने शासन की महती सेवा की।

### आर्य श्याम के आचार्यकाल की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

१३ वें वाचनाचार्य तथा १२ वें युगप्रधानाचार्य — इन दोनों पदों को विभूषित करने वाले आर्य श्याम के आचार्यकाल में पुष्यमित्र ने वैदिक धर्म को राज्याश्रय दिया। इसके परिणामस्वरूप यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। पुष्यमित्र ने अनुमानतः वीर नि० सं० ३३० से ३४० के बीच के किसी समय में अश्वमेध यज्ञ किया। हरिवंश पुराण में इस घटना की ओर

<sup>१</sup> तिद्धान्ते श्री-वीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशन्तितमः पुष्यः श्यामार्य इति व्याख्यातः। [विचारश्रेणी]

स्पष्ट संकेत किया गया है। उसमें बताया गया है कि राजा जन्मेजय द्वारा किये गये वाजिमेघ की परिसमाप्ति पर कृष्ण द्वैतयन ने राजा से कहा — राजन् तुमने जो यह अश्वमेध यज्ञ किया है, इसे अब प्रलय काल तक कोई क्षत्रिय नहीं करेगा।<sup>१</sup> यह सुनकर जन्मेजय की बड़ी निराशा हुई। उसने व्यास से प्रश्न किया — “भगवन् ! भविष्य में यदि और भी कोई इस यज्ञ को करने वाला हो तो उसके सम्बन्ध में मुझे बताइये।”<sup>२</sup>

व्यासजी ने कहा — “कलियुग में एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण सेनापति होगा, वही तुम्हारे पश्चात् इस यज्ञ को पुनः करेगा।”<sup>३</sup>

हाथीगुंका के शिलालेख पर विचार करते समय पहले यह बताया जा चुका है कि यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस ने भिक्खुराय खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र के राज्यकाल में पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उस पर अधिकार भी कर लिया था। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि डिमिट्रियस के आक्रमण से पूर्व ही पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर लिया हो। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार डिमिट्रियस के — भारत छोड़कर बैक्ट्रिया लौटने का समय यदि वीर नि० सं० ३५२, तदनुसार ईसा से १७५ वर्ष पूर्व माना जाय तो पुष्यमित्र द्वारा किए गये इस यज्ञ का समय वीर नि० सं० ३४७ और उसके अनुसार ईसा पूर्व १७० के आसपास का ठहरता है।

पुष्यमित्र द्वारा किये गए अश्वमेध यज्ञ के साथ ही देश में यज्ञों की एक तरह से लहर सी दौड़ गई। देश के विभिन्न भागों में छोटे-बड़े अनेक यज्ञ होने लगे। यही कारण है कि शुंगों के राज्यकाल में यज्ञ-तंत्र अनेक यज्ञों के किए जाने के शिलालेख उपलब्ध होते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में शुंगों का राज्यकाल वीर नि० सं० ३२३ में प्रारम्भ हुआ। वीर नि० सं० ३५३ में पुष्यमित्र शुंग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र शुंग मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। शुंग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र शुंग के अतिरिक्त इस वंश के अन्य राजाओं एवं उनके राज्यकाल का जैन साहित्य में विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। पौराणिक (हिन्दू) ग्रन्थों में शुंगवंश के राजाओं एवं उनके राज्यकाल का उल्लेख निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :-

१. पुष्यमित्र	३६ वर्ष
२. अग्निमित्र	८ ”
३. वसु ज्येष्ठ	७ ”

<sup>१</sup> त्वया वृत्तं कृतं चैव वाजिमेषं परंतपः ।  
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद्भूमि धरिष्यति ॥

[हरिवंश पु० ३।२।३५]

<sup>२</sup> यद्यस्ति पुनरावृत्तिर्यज्ञस्याशवासयस्व माम् ।

[वही]

<sup>३</sup> श्रीभूमिजो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विजः ।  
अश्वमेधं कलियुगे, पुनः प्रत्याहरिष्यति ॥

[वही]

४. वसुमित्र	१० वर्ष
५. भद्र	२ "
६. पुलिन्दक	३ "
७. घोष	३ "
८. वज्रमित्र	१ "
९. भागवत	३२ "
१०. देवभूति	१० "

शुंगवंशी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के सिक्के उपलब्ध होते हैं। मालविकाग्निमित्र में काली सिन्धु के तट पर राजकुमार वसुमित्र शुंग का यवनों के साथ युद्ध होने का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। अनुमान किया जाता है कि वसुमित्र का यह युद्ध डिमिट्रियस के जामाता मीनाण्डर के साथ हुआ।

यह पहले बताया जा चुका है कि डिमिट्रियस के प्रतिद्वन्द्वी यूक्रेटाइडीज ने डिमिट्रियस की अनुपस्थिति में उसके बैक्ट्रिया (बाल्हीक) के राज्य पर अधिकार कर लिया था; इस कारण डिमिट्रियस को अपनी सेनाओं के साथ भारत छोड़कर स्वदेश लौटना पड़ा। डिमिट्रियस बाल्हीक पहुँचा, उससे पहले ही यूक्रेटाइडीज बाल्हीक में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर चुका था अतः डिमिट्रियस को अपने बाल्हीक के राज्य से हाथ धोना पड़ा और वह केवल गान्धार और उसके ब्रासपास के राज्य का ही अधिपति रह गया। वह गृहयुद्ध में मारा गया।

डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् मीनाण्डर और यूक्रेटाइडीज के वंशजों ने लगभग एक शताब्दी से भी अधिक वर्षों तक पंजाब पर शासन किया। मीनाण्डर इन सभी यवन शासकों में प्रतापी माना गया है।

प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द पल्लो' की रचना ही मिलिन्द नामक राजा द्वारा बौद्धभिक्षु नागसेन से किये गए प्रश्नों के आधार पर की गई है। इसमें बताया गया है कि नागसेन से अपने प्रश्नों का पूर्ण सन्तोषप्रद उत्तर सुनकर राजा मिलिन्द बौद्धधर्मावलम्बी बन गया। इतिहासविदों का अभिमत है कि 'मिलिन्द पल्लो' का प्रमुख पात्र मिलिन्द वस्तुतः यवन शासक मीनाण्डर ही था। भारतीय राजवंशों की नामावलियों के पर्यवेक्षण से उस समय में मिलिन्द नामक किसी भारतीय राजा का नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

शुंगवंशी राजाओं के राज्यकाल पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के ६वें राजा भागवत के अतिरिक्त अन्य किसी राजा का शासन सुदृढ़ एवं शान्तिपूर्ण नहीं रहा। पाँचवें से आठवें—इन चार शुंगवंशी राजाओं का राज्यकाल तो एक प्रकार से नगण्य ही रहा।

शुंगवंश के राज्यकाल की घटनाओं के विहंगमावलोकन से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस वंश के शासनकाल में पारस्परिक धार्मिक सद्भावना का केवल अभाव ही नहीं रहा अपितु धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा तक

पहुंच चुकी थी। पुष्यमित्र द्वारा किया गया बौद्धभिक्षुओं का कत्लेआम इसका प्रमाण है।

### अभ्रम का निराकरण

अहिंसा के महान् सिद्धान्तों, प्राचीन भारतीय एवं विश्व-इतिहास की ऐतिहासिक घटनाओं का पूरी तरह मूल्यांकन न कर पाने तथा यत्किंचित् साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण कतिपय आधुनिक इतिहासकारों ने इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म द्वारा किये गये अहिंसा के व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण विदेशियों ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया। उनका कहना है कि विदेशियों के आक्रमण के समय मौर्यवंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ मुण्डित हो बौद्ध भिक्षुओं के पास धर्मश्रवण करता रहता। इसके कारण विदेशी आक्रान्ताओं को अपने भारतविजय अभियान में सफलताएं मिलीं। और इससे जनमानस में अहिंसा के प्रति क्षोभ उत्पन्न हुआ। अहिंसा से ऊब कर सेना और जनता ने वृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का साथ दिया। परिणामतः पुष्यमित्र शुंग ने मगध साम्राज्य की प्रजा और सेना के समक्ष अन्तिम मौर्यवंशी राजा वृहद्रथ की हत्या कर दी।

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से इस प्रकार का प्रचार वस्तुतः भ्रान्त और निराधार सिद्ध होता है। इतिहास और पुराण साक्षी हैं कि पुष्यमित्र ने अपनी वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अपने स्वामी के साथ विश्वासघात कर धोखे से उसकी हत्या की। यवन आक्रान्ता डिमिट्रियस ने वृहद्रथ के शासनकाल में नहीं, अपितु पुष्यमित्र के शासनकाल में भारत पर आक्रमण किया। पुष्यमित्र द्वारा पहला अश्वमेध सम्पन्न किये जाने के पश्चात् ही डिमिट्रियस द्वारा पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया गया। पाटलिपुत्र की प्राचीरों को धूलिसात् कर डिमिट्रियस ने पाटलिपुत्र में भीषण नरसंहार किया।<sup>१</sup> उस युद्ध में पुष्यमित्र डिमिट्रियस से पराजित हुआ। गृहकलह के कारण डिमिट्रियस को अपनी विशाल वाहिनी के साथ स्वदेश लौटना पड़ा। बैक्ट्रिया के गृहयुद्ध में डिमिट्रियस अपने अनेक योद्धाओं के साथ मारा गया। अन्यथा पुष्यमित्र के शासनकाल में ही देश विदेशी आक्रान्ता की दासता में आ चुका होता। एक अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् डिमिट्रियस से पराजय के कारण ही पुष्यमित्र को दूसरा अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। उस द्वितीय अश्वमेध के घोड़े की रक्षा के लिये पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र को काली सिन्धु के तट पर संभवतः यवन आक्रान्ता मीनाण्डर से युद्ध करना पड़ा, जिसका कि उल्लेख मालविकाग्निमित्र में उपलब्ध होता है।

ऐसी स्थिति में इस प्रकार का आरोप लगाना नितान्त निराधार और तथ्यहीन है कि बौद्धों और जैनों द्वारा किये गये अहिंसा-प्रचार के प्रभाव में

<sup>१</sup> यवनाः दुष्टविक्रान्ताः, प्राप्स्यति कुसुमध्वजं ।

ततः पुष्यपुरे प्राप्ते, कदंभे प्रथिते हि ते ॥ [गार्गी संहिता, युगपुराण]

राजाओं के आ जाने के कारण विदेशी आक्रास्ताओं को भारत पर आक्रमण करने का अवसर मिला ।

भारत पर विदेशी आक्रमणों के इतिहास का निष्पक्ष दृष्टि से पर्यालोचन किया जाय तो यह स्पष्टतः प्रकट हो जायगा कि गृहकलह, धार्मिक असहिष्णुता, विशृंखल शासन और विकृत आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था आदि कारणों में से ही कोई न कोई कारण विदेशी आक्रमण के मूल में रहा है ।

भारत पर विदेशियों के आक्रमण का सबसे प्राचीन उल्लेख श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । उसमें बताया गया है कि हैहयों एवं तालजंघों ने यवनों, शकों और बबंर जाति के विदेशियों की सहायता से अयोध्या के सूर्यवंशी राजा बाहुक पर आक्रमण कर उसे पराजित किया । बाहुक अपनी रानियों के साथ अयोध्या से निकल कर जंगलों में चला गया और वहाँ रहने लगा । अयोध्या के राज्यसिंहासन से सूर्यवंशी राजा को पदच्युत करने की पुराणकारों द्वारा यह सर्वप्रथम घटना बताई गई है ।

तदनन्तर बाहुक के पुत्र मगर ने युवावस्था में प्रवेश करते ही अयोध्या के अपने पैतृक राज्य पर पुनः अधिकार किया । अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही मगर ने हैहयों तथा तालजंघों के साथ-साथ विदेशी यवनों, शकों और बबंरों को इतनी बुरी तरह से कुचला कि फिर शताब्दियों ही नहीं अनेक सहस्राब्दियों तक विदेशी आततायियों ने भारत की ओर मुंह तक नहीं किया ।

तत्पश्चात् भारत पर दूसरा बड़ा विदेशी आक्रमण महाभारत के महान् संहारक युद्ध से कुछ वर्ष पूर्व काल-यवन द्वारा किया गया, जिसमें योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा काल-यवन कराल काल के गाल का कवल बना दिया गया । पुराणवेत्ता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि उक्त दोनों विदेशी आक्रमण भारत के गृह-कलह के ही परिणामस्वरूप हुए थे ।

भारत पर तीसरा बड़ा विदेशी आक्रमण ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व यूनान के महत्त्वाकांक्षी योद्धा सिकन्दर ने किया ।

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का कारण ज्ञान करने से पहले ईरान और यूनान के तात्कालिक पारस्परिक सम्बन्धों पर सरसरी तौर से दृष्टिपात करना होगा । भारतीयों की तरह ईरानी और यूनानी भी आर्य हैं । यूनानी लोग गणतन्त्र व्यवस्था में विश्वास करते थे । ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान में अधिकांशतः नगरों के रूप में गणराज्य थे । ईरान के विशाल साम्राज्य की

<sup>1</sup> मगरश्चक्रवर्त्यासीत्, सागरो यत्सुतः कृतः ।

यस्तालजघान् यवनाञ्छकान् हैहयबबंरान् ॥५॥

नावधीद् गुहवाक्येन, चक्रे विकृतवेपिणः ।

मुडाञ्छम्भुधरान्काञ्चिन्मुक्तकेशार्घमुण्डितान् ॥६॥

[श्रीमद्भागवत. ६ स्कंध, ८ अ०]

उत्तरी सीमा पर सीथियन लोग आये दिन उत्पात एवं लूटपाट करते रहते थे। कास्पियन सागर का निकटवर्ती प्रदेश उन लोगों का शरणस्थल था, जो बड़ा ही विकट तथा अगम्य था।

ईरान के तत्कालीन सम्राट् डेरियस ने सीथियनों का दमन करने के लिये उनके गढ़ पर ही आक्रमण की योजना तैयार की। डेरियस की सेना ने ज्योंही केस्पियन सागर के निकटवर्ती क्षेत्र की ओर बढ़ने के लिये यूनान की सीमा में प्रवेश किया तो यूनानियों ने इसे अपनी प्रभुसत्ता पर भयंकर आघात मानते हुए डेरियस की सेनाओं का प्रतिरोध किया। डेरियस की सेनाएं प्रतिरोध को कुचल कर आगे बढ़ गईं। सीथियनों ने डेरियस की सेनाओं को अपनी गुरिल्ला रणनीति से बुरी तरह परेशान किया। अन्ततोगत्वा ईरान की सेनाओं को बाध्य होकर लौटना पड़ा। डेरियस ने और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र क्षहयार्थ ने क्रमशः दो बार यूनान पर भीषण आक्रमण किये पर उन दोनों युद्धों में ईरानी सेनाओं को बड़ी भारी हानि के साथ पराजय का मुंह देखना पड़ा।

इन दो बड़े युद्धों के कारण यूनानियों के मनो में ईरानियों के प्रातः प्रगाढ़ शत्रुता के भाव प्रवृद्ध हो चुके थे। प्रत्येक यूनानी ईरान से प्रतिशोध लेने के लिये आतुर हो रहा था। मैसीडोनियां के शासक फिलिप ने ईरान से प्रतिशोध लेने का बीड़ा उठाया। यूनानियों ने प्रारम्भिक प्रतिरोध के पश्चात् अन्ततोगत्वा फिलिप का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। फिलिप ईरान पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर चुका था, उस समय उसकी हत्या कर दी गई। फिलिप का पुत्र सिकन्दर उसका उत्तराधिकारी बना। राज्यासीन होने के दो वर्ष पश्चात् ईसा पूर्व ३३४ में सिकन्दर ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। उस समय सिकन्दर की आयु २२ वर्ष थी। ईरान के ईसस क्षेत्र में ईरानी सेनाओं ने सिकन्दर की सेना के साथ तुमुल युद्ध किया। ईरान का सम्राट् डेरियस तृतीय, जो कि बड़ा ही विलासप्रिय सम्राट् था, अपनी माता तथा स्त्रियों को रणक्षेत्र में ही छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। सिकन्दर के भाग्य ने उसका साथ दिया और ईरानियों के साथ इस प्रथम युद्ध में उसे आशातीत सफलता के साथ विजयश्री ने वरण किया। सिकन्दर ने ईसस विजय के पश्चात् मिस्र पर आक्रमण किया। मिस्री जनता ईरानियों की दीर्घकालीन दासता से मुक्त होना चाहती थी, अतः मिस्र में सिकन्दर को प्रतिरोध के स्थान पर सर्वतोमुखी स्वागत प्राप्त हुआ।

मिस्र विजय से सिकन्दर की महात्वाकांक्षाएं जागृत हुईं। मिस्र के धर्माध्यक्षों ने सिकन्दर को यूनानी देवता ज्यूस का पुत्र बता कर उसे अलौकिक सम्मान से विभूषित किया। मिस्रवासियों द्वारा प्रदत्त इस सम्मान से सिकन्दर वास्तव में अपने आपको महान् देवता ज्यूस का पुत्र समझने लगा। उसने तत्काल पुनः ईरान पर आक्रमण किया। डरपोक ईरानी सम्राट् डेरियस के नेतृत्व में ईरानी सेना ने अरवेला में यूनानी सेना के साथ युद्ध किया पर ईरानियों को भीषण पराजय का मुंह देखना पड़ा। डेरियस अरवेला के युद्ध में भी रणभूमि से

भाग खड़ा हुआ और उसी के एक अधिकारी द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। इस प्रकार ईसा पूर्व ३३१ में सिकन्दर २६ वर्ष की वय में सम्पूर्ण यूनान, पूरे मिस्र और समस्त ईरान के विशाल साम्राज्य का सम्राट् बन गया।

अतिस्वल्प काल में ही प्राप्त हुई इतनी बड़ी सफलताओं ने सिकन्दर के मन में विश्वविजय की भावना को बड़े प्रबल वेग से जागृत किया। उसने अपने सेनापतियों के समक्ष भारत पर आक्रमण करने की अपनी योजना रखी। जिन-जिन लोगों ने भारत पर आक्रमण करने का विरोध किया उन्हें चुन-चुन कर सिकन्दर ने मौत के घाट उतार दिया। अन्ततोगत्वा ईसा पूर्व ३२७ में सिकन्दर ने महज विश्वविजय की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया।

यद्यपि शशि गुप्त और तक्षशिला के शासक प्रांभी जैसे घर के भेदी देश-द्रोहियों का सिकन्दर को पूर्ण सहयोग प्राप्त था और भारत का उत्तरी सीमान्त प्रदेश छोटे-छोटे गणराज्यों में विभक्त था तथापि देश की आन-बान की रक्षा के लिये हंस-हंस कर प्राण देने वाले रणाबांकुरे अश्वकों, अशवाहकों, गौरों, गान्धार-पति-हस्ति, केकयराज पुरु, र्लुचकायनों, कठों, आद्रिजों आदि ते प्राणपण से पग-पग पर सिकन्दर की सेनाओं के साथ क्रमशः बड़े ही लोमहर्षक युद्ध किये। भारत के उत्तरी सीमान्त के उन छोटे-छोटे गणराज्यों और राजाओं में संगठन के एक सूत्र में बंधे न होने के कारण अन्ततोगत्वा यद्यपि सिकन्दर की विशाल सेना के साथ युद्ध में पराजय का मुख देखा, पर इनके भीषण प्रहारों से सिकन्दर की सेना को बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी। यूनानियों के हौंसले पस्त हो गये। सिकन्दर के सेनापतियों एवं सेनाओं ने स्पष्ट शब्दों में आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। इससे सिकन्दर की विश्वविजय की महत्वाकांक्षा मिट्टी में मिल गई। उसके हृदय पर इससे ऐसा आघात पहुँचा कि वह कई दिनों तक अपने शिबिर में तम्बू से बाहर तक नहीं निकला।

यह पहले बताया जा चुका है कि भारतीयों के भीषण प्रतिरोध, अपनी सेनाओं के आगे बढ़ने से इन्कार करने तथा अपने विजित क्षेत्रों में विद्रोह की भीषण आग भड़क उठने के कारण सिकन्दर को स्वदेश लौटने के लिये बाध्य होना पड़ा। स्वदेश लौटते समय रावी के तटों पर बसे मालवों ने सिकन्दर की सेनाओं के साथ बड़ा भीषण युद्ध किया। मालवों के साथ युद्ध करते समय सिकन्दर के सीने में एक गहरा घाव लगा। इसी घाव के कारण ईरान पहुँचने पर ईसापूर्व ३२४ में केवल ३२ वर्ष की युवावस्था में ही सिकन्दर संसार से चल बसा।

भारत पर किये गये अपने दुस्साहसपूर्ण आक्रमण के प्रतिफल रूप में सिकन्दर को धन-जन-क्षय और अपनी मौत के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। भीषण नरसंहारक तुमुल युद्धों के उपरान्त भी सिकन्दर को बृहत्तर भारत का केवल थोड़ा सा पश्चिमोत्तरी भाग ही हाथ लगा और वह भी सिकन्दर के ईरान की ओर मुंह करते ही पुनः पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। छोटे-छोटे गणतन्त्रों और



छोटे-छोटे राजाओं के राज्यों की पृथक्-पृथक् और असंगठित सेनाओं ने मिस्र, ईरान और यूनान के सुविशाल साम्राज्य के स्वामी सिकन्दर की सेनाओं को नाकों चने चबवा दिये। यदि वे छोटे-छोटे राज्यों की सेनाएं सम्मिलित रूप से सिकन्दर के साथ युद्ध करतीं तो क्या परिणाम होता, इसका रणनीतिविशारद सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

भारत पर किये गये उपरिर्चचित तीनों आक्रमणों के कारणों के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले दो आक्रमण भारत के गृहकलह के कारण हुए और तीसरे आक्रमण का मूल कारण था एक अहम्मानी आक्रान्ता की महज महर्त्वाकांक्षा। इन तीनों में से एक भी आक्रमण ऐसा नहीं, जिसके लिये कहा जा सके कि वह अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन करने के फल स्वरूप अथवा अहिंसा के पुजारी किसी राजा की अहिंसाप्रधान नीति के परिणाम स्वरूप हुआ हो।

भारत के आद्योपान्त इतिहास का सिंहावलोकन करने से यही तथ्य प्रकट होता है कि जब तक भारत में अहिंसा के महान् सिद्धान्तों का प्राधान्य, प्राबल्य अथवा प्रभुत्व रहा तब तक सम्पूर्ण देश में सहअस्तित्व, समानता, सौहार्द सहिष्णुता और सर्वतोमुखी सद्भावना का साम्राज्य रहा। अहिंसा के आचारभूत-मूलभूत इन सहअस्तित्व आदि मानवीय गुणों का जब तक भारतीयों के जीवन में प्राचुर्य रहा तब तक भारत समृद्ध-सम्पन्न, सशक्त एवं समुन्नत बना रहा। अहिंसा के अनन्य उपासक शिशुनागवंशी उदायी, नन्दीवर्द्धन, मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक एवं सम्प्रति के शासनकाल में किसी विदेशी शक्ति को भारत की ओर घाँस उठा कर देखने का भी साहस नहीं होता था। देश धन-धान्य से सम्पन्न और देशवासी सब तरह से सुखी थे।

नगरों का प्रबन्ध नगरपरिषदों, एवं ग्रामों का प्रबन्ध ग्राम-सभाओं के माध्यम से किया जाता था। उद्योगधन्धों को संस्थापित कर समुन्नत बनाना, क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण, अतिथियों का स्वागतसत्कार के पश्चात् अतिथिगृहों में ठहराने का प्रबन्ध करना, जन-चिकित्सा और पशुचिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना, कर एकत्रित करना आदि जनहित के सभी कार्य समुचित रूप से नगर-परिषदों और ग्रामसभाओं की देखरेख में सम्पन्न किये जाते थे। कृषि उन्नति के लिये राज्य की ओर से विशिष्ट प्रबन्ध किये जाते थे। सिंचाई की यथासंभव पूरे देश में समुचित व्यवस्था की जाती थी। कृषि कार्यों को उत्तरोत्तर समुन्नत बनाने तथा बाँधों के निर्माण के लिये एक परिषद का निर्माण किया जाता था। नई सड़कों के निर्माण, पुरानी सड़कों के सुधार एवं भागों में यात्रियों की सुरक्षा की देख-रेख आदि कार्य एक विभाग किया करता था।

देश की सुरक्षा के लिये नवीनतम शस्त्रास्त्रों से लैस-तैस सशक्त एवं विशाल सेना सदा सन्नद्ध रखी जाती थी। सेना की देख-रेख का कार्य एक समरपरिषद सम्हालती थी। पदातिसेना, अश्वारोही सेना, रथ-सेना, हस्ति-सेना और नौसेना—

सेना के इन पांचों विभागों की देखरेख, समुन्नति एवं अभिवृद्धि के लिये सामरिक परिषद द्वारा पृथक्-पृथक् एक-एक समिति नियुक्त की जाती थी। सामरिक परिषद द्वारा नियुक्त एक पांच सदस्यीय समिति सेना के लिये आवश्यक साज-सामान, नवीनतम शस्त्रास्त्रों के निर्माण आदि की व्यवस्था करती थी।

कोई आम्यन्तरिक अथवा बाहरी शत्रु देश की प्रभुसत्ता अथवा सुरक्षा पर किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाने का प्रयास करता तो उसे तत्काल सैन्य-शक्ति के माध्यम से सदा के लिये कुचल दिया जाता।

इसी प्रकार असामाजिक तत्वों के लिये, अपराधियों के लिये कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण कोई अपराध करने का दुस्साहस ही नहीं करता था। यह भी एक कारण था कि उस समय अपराधों की संख्या नगण्य थी। उच्च शिक्षा के साथ-साथ सदाचार की शिक्षा का भी उस समय में समुचित प्रबन्ध किया जाता था। अपराधी मनोवृत्ति के उन्मूलन में सदाचार की शिक्षा का भी बहुत बड़ा महत्वपूर्ण योगदान माना गया है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में यूनानी राजदूत मैगस्थनीज बहुत वर्षों तक भारत में राजदूत रहा। उसने भारत विषयक अपने संस्मरणों में लिखा है - "भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन बहुत ही सुसंगठित और सुदृढ़ है। सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पैदल सेना, ३० हजार अश्वारोही, ६ हजार हाथी और हजारों रथ सदा सन्नद्ध रहते हैं।"

चीनी यात्री हुएनत्सांग और फाहियान ने अपने यात्रा विवरणों में तत्कालीन भारत की समृद्धि, राज्य व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था-विषयक आंखों से देखे हाल का चित्रण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि प्रजा पूर्णतः सम्पन्न और सुखी है, लोग अपने घरों तथा हीरे, जवाहरात, स्वर्ण एवं चांदी आदि की दुकानों पर भी ताले नहीं लगाते। राज्य की ओर से लम्बी-चौड़ी सड़कों के आसपास धर्मशालाओं, अतिथिगृहों, प्रपात्रों तथा यात्रियों के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं एवं सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है। भारत के लोग सुखी सम्पन्न और खुशहाल हैं। वे अतिथिसत्कार को अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते हैं।

तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में विदेशियों द्वारा लिखे गये विवरणों, राजाओं द्वारा उत्कीर्ण करवाये गए शिलालेखों तथा प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा ही सौहार्दपूर्ण था। राजा प्रजा की सुख-सुविधा एवं सुरक्षा हेतु समुचित प्रबन्ध करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य मानता था। प्रजा भी शासन को सदा अपने लिए हितकर मानकर राजाज्जाओं का अक्षरशः पालन करती थी। राजा और प्रजा के बीच प्रेम पूर्ण व्यवहार के कारण शासन स्वचालित यन्त्र की तरह सुचारु रूप से चलता था, न कि सैन्य बल के सहारे। यद्यपि शक्तिशाली सुविशाल सेनाएं सदा सन्नद्ध रखी जाती थीं पर उनका विदेशी आक्रान्ताओं को कुचल डालने एवं आम्यांतरिक शत्रुओं के दमन के लिए ही उपयोग किया जाता था।

राजा अपनी प्रजा के सुख में ही अपना सुख मानता था। अशोक द्वारा शिलाश्रीं पर खुदवाये गये निम्नलिखित अभिलेख का एक-एक अक्षर इस तथ्य की साक्षी देता है :-

“मेरा यह कर्तव्य है कि शिक्षा के प्रसार द्वारा मैं प्रजाजनों का उपकार करूँ। निरन्तर चलने वाले उद्योग एवं न्याय का समुचित प्रबन्ध ये सर्वसाधारण के हित की आधारशिलाएँ हैं - इनसे बढ़कर फलप्रद अन्य और कुछ भी नहीं है। मेरे सभी प्रयासों-प्रयत्नों का मूल उद्देश्य यही है कि मैं सभी लोगों के ऋण से उन्मुक्त हो जाऊँ। जहाँ तक मुझसे सम्भव है, मैं सर्वसाधारण को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि सब लोग भविष्य में भी स्वर्गीय सुख प्राप्त करें, मेरे पुत्र, पौत्रादि भावी पीढ़ियाँ भी सर्व साधारण को सुख पहुंचाने में सदा निरत रहें। मैंने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लिपि उत्कीर्ण करवाई है।”

कितना ऊँचा आदर्श रहा है अहिंसा के उपासक राजाश्रीं का ? इस प्रकार का आदर्श खोजने पर भी संसार के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

अहिंसा और जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों से परिचित न होने के कारण अनेक विद्वानों को यह विदित नहीं है कि वस्तुतः अपराधियों, आतताइयों, असामाजिक तत्वों और आक्रान्ताश्रीं को समुचित दण्ड देने में अहिंसा के सिद्धान्त कहीं किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। इस प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में विश्वधर्म-जैनधर्म के आदि-संस्थापक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने जिस समय सर्वप्रथम राज्य-व्यवस्था, सामाजिक-व्यवस्था एवं अर्थ-व्यवस्था की नींव डाली, उसी समय उन्होंने देश और समाज में अशान्ति तथा अव्यवस्था फैलाने का प्रयास करने वाले असामाजिक तत्वों, आतताइयों एवं अपराधियों के दमन के लिये जनहिताय-समष्टिहिताय कठोर दण्डनीति की व्यवस्था की। उस दण्ड-व्यवस्था में अपराधियों के अंगछेदन तक की व्यवस्था थी। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित उस कठोर दण्ड-व्यवस्था का जनहित में औचित्य बताते हुए प्राचीन आचार्य भद्रेश्वर सूरि ने अपने “कहावली” नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जिस प्रकार भयंकर विषधर अथवा आग की भट्टी की ओर बार-बार मना करने पर भी बढ़ते हुए अबोध बालक को उसका पिता बालक के हित की दृष्टि से रस्सी से एक स्थान पर बांध देता है, घसीटता अथवा ताड़न-तर्जन करता है, उसी प्रकार समष्टि के हित की दृष्टि से अपराधियों की अपराध करने की प्रवृत्ति के उन्मूलन हेतु भगवान् ऋषभदेव ने कठोर दण्डव्यवस्था की।<sup>1</sup>

<sup>1</sup> .....बीस पुष्पकलोवरि राया जाओ ति। न य एवं उस्तुत्तं, चडियपाइले वि बबहारत्पिणो भगवमो तुलहारिव्व दोसो। अह्वा एगो गोवालगो कीलंतो सप्पहरत्तलं गमो। तत्थ व तं दसिउकामो सप्पो पुणो पुणो हेत्ताउ दंतो बालगपिउत्ता कहुवि विट्ठो। तपो तुरियमागतूण तेण भणिएओ बालगो - पुत्तागा एहि एहि मा सप्पेरोत्थ वसिज्जति। सो य बालं तूणधावलेणं सप्पाभिमुहं चेव वच्चंतं दट्ठण तस्सेव हियकरणत्थं पायाइसु

इससे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि अहिंसा के महान् सिद्धान्तों में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये अपराधियों तथा आतताइयों को समुचित दण्ड देने का पूरा प्रावधान युगादि से ही रखा गया है ।

यही नहीं संसार को सुशासन देने के लिये समय-समय पर हुए बारह चक्रवर्तियों ने विशाल वाहिनियों के साथ दिग्विजय की । उनमें शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्रवर्ती क्रमशः सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें तीर्थंकर हुए हैं ।

ऐसी स्थिति में यदि कोई विद्वान् वास्तविकता की ओर से दृष्टि घुमाकर तथा इन ज्वलंत ऐतिहासिक तथ्यों को नजरन्दाज करके यह कहने की हठधर्मिता करते हैं कि अहिंसा के प्रचार-प्रसार के कारण राजतन्त्र अथवा राजालोग शिथिल एवं शक्तिहीन बने और देश फलतः विदेशी आक्रमणों का शिकार बना, तो यह उनका केवल साम्प्रदायिक व्यामोहमात्र है — उनके इस कथन में कहीं कोई किञ्चित्मात्र भी तथ्य नहीं है ।

वास्तविकता यह है कि अहिंसा के परमोपासक राजाओं का जब तक देश पर आधिपत्य रहा, तब तक देश सुसंपन्न सशक्त, स्वर्गोपम सौख्यशाली और समुन्नत रहा । अहिंसा के परमोपासक मौर्य सम्राट् अशोक को विदेशियों और संसार के प्रायः सभी विचारकों ने संसार का सर्वश्रेष्ठ शासक एवं उसके शासन को विश्व का सर्वोत्कृष्ट सुशासन माना है ।

इतिहास साक्षी है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्र, राजतन्त्र और राजाओं की अहिंसा के महान् सिद्धान्तों के प्रति आस्था कम होती गई, त्यों-त्यों असहिष्णुता, असमानता, आपसी कलह आदि की अभिवृद्धि होती गई । आपसी-कलह — फूट, वर्ग-विद्वेष — आदि हिंसा की संततियाँ ही देश की दासता का प्रमुख कारण बनीं, इस तथ्य से कोई विचारक इन्कार नहीं कर सकता ।

### आर्य इन्द्रदिन - गणाचार्य

आर्य सुहृस्ती की परम्परा में आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ३३६ में कौशिक गोत्रीय आर्य इन्द्रदिन गणाचार्य नियुक्त किये गए । आर्य इन्द्रदिन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता । आपके गणाचार्य काल में आपके गुरुभाई आर्य प्रियग्रन्थ बड़े ही प्रभावक भ्रमण बताये गए हैं । उनका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

### आर्य प्रियग्रन्थ

आर्य प्रियग्रन्थ जैन साहित्य में मन्त्रवादी प्रभावक के रूप में विख्यात रहे हैं । यों तो मन्त्रवाद का जैनजगत में कोई महत्व नहीं माना गया है । साधुओं के

वेत्तूण कड्डिओ पिउणा "जहा य बालस्स घम्मनित्पर हल्लाणइ गीढासंभवे वि परिणाम-सुंदरत्तलओ कंडडंतस्स पिउणो न दोसो दिट्ठो" तथा भगवओ पयाए परिणाम सुंदरं थोवदोसनिग्गाइ दंडं कुणमाणस्स न ताए बंये कोवि दोसो भत्थीति ।

[कहावली — भद्रे श्वरभूरि — अप्रकाशित]

लिए इसे सदा हेय बताया गया है, पर संस्कृति-संघर्ष के युग में वादविवाद आदि में प्रतिपक्ष को लोगों की निगाहों से गिरा अपने पक्ष की विजय से जनमत को प्रभावित करने एवं स्वपक्षप्रताप परिवृद्धयर्थ इस प्रकार के प्रयत्नों को अपनाया भी गया है। वैयक्तिक स्वार्थसिद्धि के लिए तो मन्त्र-तन्त्र और औषधि आदि का प्रयोग जैन साधु के लिए सर्वथा निषिद्ध माना गया है, पर शासन हित तथा संघ के कल्याणार्थ प्रभावकों, आचार्यों को कभी-कभी इस प्रकार के कार्य भी करने पड़ते थे, जो प्रत्यक्षतः अथवा लौकिक दृष्टि से जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल दृष्टिगोचर हो सकते थे।

स्व० मुनि कान्तिसागरजी ने प्रियग्रन्थ सूरि का परिचय निम्न रूप में दिया है :-

“एक समय प्रियग्रन्थ मुनिराज विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए अजमेर के समीप हर्षपुर पहुँचे। हर्षपुर में ब्राह्मणों और श्रमणोपासकों के परिवार पर्याप्त संख्या में थे। मगधपति पुष्यमित्र शुंग द्वारा किये गए दो अश्वमेध यज्ञों के कारण देश में एक बार पुनः यज्ञ-यागादि की लहर दौड़ चुकी थी। हर्षपुर के ब्राह्मण वैदिक क्रियाकाण्ड के प्रति इतने अनुरक्त थे कि वे लोग खुले आम पशुओं की बलि देने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे : तदनुसार ब्राह्मणों ने बड़े समारोह के साथ एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ में बलि के लिए एक हूष्ट-पुष्ट बकरा खूटे से बांध दिया गया।

श्रमणोपासकों ने आर्य प्रियग्रन्थ के समक्ष पूरी स्थिति रखी। बताया जाता है कि हिंसक यज्ञों की प्रवृत्ति को रोकने एवं शासन की प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए प्रियग्रन्थसूरि ने एक अभिमन्त्रित चूर्ण श्रावकों को देकर उसे बलि के बकरे पर डाल देने के लिए कहा। श्रावकों ने येनकेन प्रकारेण वह चूर्ण बकरे पर डाल दिया। वासक्षेप के प्रभाव से बकरा मनुष्य की बोली में कहने लगा :- “आप लोग मुझे अग्नि में भौंके जा रहे हो। यदि मैं आप लोगों के समान निर्दयी बन जाऊँ तो आप सबको तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। परं मेरा अन्तर्मन मुझे ऐसा करने के लिए साक्षी नहीं देता, क्योंकि मेरे हृदय में दया का निवास है। हनुमानजी ने रावण की जगरी, लंका में जो ताण्डव नृत्य किया था, उससे भी अधिक भीषण दशा मैं तुम लोगों की कर सकता हूँ।”

बकरे के मुँह से इस प्रकार की बात सुन कर इस तरह की अभूतपूर्व घटना से सब ब्राह्मण भयविह्वल और आश्चर्यान्वित हो गये।

किसी तरह साहम बटोर कर उनमें से एक ब्राह्मण बोला :- “तुम कौन हो ? तुम्हारा स्वरूप क्या है ?”

बकरे ने उत्तर दिया - “मैं अग्नि हूँ, द्याग मेरा वाहन है। आप मेरी शक्ति देकर किस धर्म की साधना करना चाहते हो ? क्या स्वर्ग की प्राप्ति अथवा दण्डामन के लिए पशुबलि करना उचित है ? इस प्रकार का अधर्म किसी

भी दशा में धर्म नहीं कहा जा सकता । यदि तुम लोग वास्तविक धर्म का स्वरूप समझना चाहते हो तो यज्ञ में की जाने वाली हिंसा को बन्द करो और यहां तुम्हारे नगर में विराजित आर्य प्रियग्रंथ मुनि की सेवा में उपस्थित हो उनसे आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ समझो ।”<sup>१</sup>

इस प्रकार कल्पसुबोधिका नामक ग्रंथ में बताया गया है कि आर्य प्रियग्रंथ ने संघ के कल्याण और जैन संस्कृति के प्रताप को बढ़ाने के लिए मन्त्रविद्या का सहारा लिया और वहां के अनेक ब्राह्मणों को प्रबुद्ध किया ।

### १४. आर्य षांडिल्य - वाचनाचार्य

श्यामाचार्य के पश्चात् कौशिक गोत्रीय आर्य षांडिल्य वाचनाचार्य हुए । इनको स्कंदिलाचार्य भी कहा जाता है । आचार्य देववानक (देवद्वि क्षमाश्रमण) ने - “वन्दे कोसियगोतं सांडिल्लं अज्जजीयधरं ।” - इस पद से कौशिक गोत्रीय षांडिल्य को वन्दन किया है । गाथा में प्रयुक्त पद - अज्जजीयधरं” - से प्रकट होता है कि आचार्य षांडिल्य जीतव्यवहार के प्रति अधिक निष्ठावान् थे । तपागच्छ पट्टावली में इन्हें ‘जीतमर्यादा’ नामक शास्त्र का रचनाकार बताया गया है । किन्तु हिमवन्त स्थविरावली में इससे भिन्न प्रकार का उल्लेख मिलता है । उसमें बताया गया है कि आपके एक शिष्य का नाम आर्य जीत था<sup>२</sup>, इस कारण आपको आर्य जीतधर कहा गया है । केवल आर्य जीत नामक शिष्य के कारण ही आपको आर्य जीतधर कहा गया ही, यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । हो सकता है कि आपके शिष्य का नाम आर्य जीत हो किन्तु यहां ‘जीतधर’ शब्द से जीत

<sup>१</sup> हनिष्यत नु मां हृत्यः, बध्नीतायात् मां हन ।  
 युष्मद्वन्निर्देयः स्यां चेत्, तदा हन्मि क्षणेन वः ॥  
 यत्कृतं रक्षसां द्रोगे कुपितेन हतमता ।  
 तत्करोम्येव वः स्वस्थः, कृपा चेन्नान्तरा भवेत् ॥  
 यावन्ति रोभकृपाणि, पशुमात्रेषु भारत ।  
 तापद्वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः ॥  
 यो दद्यात् कांचन मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् ।  
 एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर ॥  
 महतामपि दानानां, कालेन क्षीयते फलम् ।  
 भीताभयप्रदानस्य, क्षय एव न विद्यते ॥ इत्यादि ॥  
 कस्त्वं प्रकाशयात्मानं, तेनोक्तं पावकोऽस्म्यहम् ।  
 ममैतं दाह्यं कस्मा-ज्जिघांसष पशु वृथा ॥  
 इहास्ति श्री प्रियग्रंथः सूरिन्द्रः समुपागतः ।  
 तं पृच्छत शुभं धर्मं, समाचरत शुद्धितः ॥  
 यथा नको नरेन्द्राणां, घानुष्काणां धनंजयः ।  
 तथा घुरि स्थितः साधुः, स एकः सत्यवादिनाम् ॥

[कल्पसुबोधिका, २ अधि०, ८ क्षण]

<sup>२</sup> तेषां षांडिल्याचार्याणां आर्य जीतधरार्यसमुद्राख्यो द्वौ शिष्यावभूताम् ।

[हिमवन्त स्थविरावली]

कल्प जैसे शास्त्र को धारण करने वाले अथवा जीतव्यवहार का सम्यकरूपेण पालन करने वाले - इस प्रकार का अर्थ मानना विशेष संगत प्रतीत होता है। सम्भव है स्थविरावलीकार ने 'अज्जजीयधर' को एक पद मान कर इसे संज्ञावाचक माना हो पर विचारपूर्वक देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि "अज्ज" शब्द "सांडिल्ल" का विशेषण है और छान्दसत्वात् "अज्जं" के स्थान पर "अज्ज" रखा गया है। इतिहास के विशेषज्ञ इस पर विशेष प्रकाश डालें।

"प्रभावक चरित्र" में उपलब्ध उल्लेख से ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य वृद्धवादी इन्हीं आर्य षांडिल्य के शिष्य थे। आचार्य षांडिल्य से 'षांडिल्य गच्छ' निकला जो आगे चलकर 'चन्द्रगच्छ' में सम्मिलित हो गया।

आर्य षांडिल्य का जन्म वीर नि० सं० ३०६ में हुआ। २२ वर्ष की आयु में आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। आप ४८ वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय में रहे। तदनन्तर वीर नि० सं० ३७६ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य - ये दोनों पद प्रदान किये गए। २८ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए जिन-शासन की सेवा कर आपने १०८ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर नि० सं० ४१४ में स्वर्गारोहण किया।

युगप्रधानाचार्य - यह बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३७६ से ४१४ तक आर्य षांडिल्य वाचनाचार्य पद के साथ-साथ युगप्रधानाचार्य पद पर भी रहे। तदनुसार आप वाचकवंश परम्परा के १४ वें आचार्य और युगप्रधानाचार्य परंपरा के १३ वें आचार्य रहे।

आपके जीवन का इससे अधिक विशिष्ट परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### आर्य विन्न - गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आर्य विन्न गणाचार्य हुए। आप गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।

आपका जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### १५. आर्य समुद्र - वाचनाचार्य

आर्य सांडिल्ल के पश्चात् आर्य समुद्र वीर नि० सं० ४१४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य देववाचक ने नन्दी-स्थविरावली में - "तिसमुद्द-खायकिंत्ति" - इस पद से यह बतलाया है कि वे आसमुद्र कीर्त्ति वाले थे। आगे के पदों में उनकी ज्ञानगरिमा का गुणगान करते हुए देववाचक ने कहा है - "दीवसमुद्देसु गहिय - पेयालं" - अर्थात् द्वीपों एवं समुद्रों के विषय में आप तलस्पर्शी ज्ञाता थे।

यद्यपि स्पष्ट रूप से आर्य समुद्र के श्रुताराधन का परिचय नहीं मिलता, तथापि देववाचक द्वारा आपके लिये प्रयुक्त किये गये प्रशंसात्मक विशेषणों से यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि आप क्षेत्र विभाग (द्वीप-समुद्र) के

विशिष्ट ज्ञाता थे और आपका उपदेश सर्वप्रिय होने के साथ ही परम प्रभावकारी भी था। “त्रिसमुद्रख्यातकीर्त्ति” इस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि आपका विचरण सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी रहा, अन्यथा सम्पूर्ण देश में आपकी इस प्रकार की ख्याति नहीं हो पाती।

संभवतः आर्य समुद्र तत्वज्ञान के अतिरिक्त मुख्य रूपेण भूगोल के विशेषज्ञ थे। आपके लिये देववाचक द्वारा प्रयुक्त “अक्खुब्भियसमुद्गंभीरं”<sup>१</sup> पद इस बात का द्योतक है कि विविध शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता एवं प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी आपमें समुद्रवत् गाम्भीर्य का अद्भुत गुण विद्यमान था। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आपका मन किञ्चित्मात्र भी क्षब्ध नहीं होता था।

आपकी विद्वत्ता का दूसरा प्रबल प्रमाण यह भी है कि आर्य मंगु जैसे विविध विद्याओं के ज्ञाता मुनि आप ही के शिष्य थे। लगभग ४० वर्ष तक आचार्य पद पर विराजमान रह कर वीर-शासन की सेवा करने के पश्चात् आपने वीर नि० सं० ४५४ में स्वर्गरोहण किया।

वृद्ध-परम्परा के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि अपनी आयु के अन्तिम वर्षों में आर्य समुद्र का जंघाबल क्षीण हो गया था और वे विहार करने में असमर्थ हो गये थे। ऐसी स्थिति में संभव है कि कुछ काल के स्थिरवास में ही उनका प्राणोत्सर्ग हुआ हो।<sup>२</sup>

आर्य समुद्र के आचार्यकाल के अन्तिम समय में आर्य कालकाचार्य नामक एक महान् प्रभावक आचार्य हुए। उनका परिचय यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है :-

### कालकाचार्य (द्वितीय)

प्रथम कालकाचार्य से लगभग एक शताब्दी पश्चात् वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी में द्वितीय कालकाचार्य हुए। उत्तराध्ययन टीका, बृहत्कल्पभाष्य, निशीथचूर्ण आदि के आधार पर उनका परिचय यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है :-

धारावास के राजा वैरसिंह और रानी सुरसुन्दरी के पुत्र का नाम कालक और पुत्री का नाम सरस्वती था। राजकुमारी सरस्वती नाम के अनुसार रूप और गुणों में भी सरस्वती के समान थी। दोनों भाई-बहिन में इतना प्रगाढ़ स्नेह था कि वे दोनों प्रायः साथ-साथ ही रहा करते थे। किसी समय राजकुमार कालक अपनी बहिन सरस्वती के साथ अश्वारूढ़ हो घूमने निकला। नगर के बाहर एक उद्यान में उस समय एक जैन मुनि धर्मोपदेश दे रहे थे। कालक और सरस्वती ने भी उनका उपदेश सुना और उन्हें संसार से विरक्ति हो गई।

<sup>१</sup> नंदीसूत्र स्थविरावलो, मा० २६

<sup>२</sup> जंघाबल परिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्यसमुद्राणामपराक्रमं मरणमभूदिति वृद्धप्रसिद्धिः।

[आचार्यकाल वृत्ति, १ अं०, ८ अं०, १ उ०]



माता-पिता की अनुमति से कालक और सरस्वती ने गुणाकर मुनि के पास जैन श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली ।<sup>१</sup>

आर्य कालक ने अल्प समय में ही गुरु के पास शास्त्राभ्यास कर वीर नि०सं० ४५३ में आचार्य पद प्राप्त किया ।<sup>२</sup> कालकाचार्य अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे पर कहा जाता है कि उनके द्वारा दीक्षित शिष्य उनके पास अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाते थे । इसे अपने मुहूर्तज्ञान की त्रुटि समझ कर उन्होंने विशिष्ट मुहूर्तज्ञान के लिये आजीवकों के पास निमित्त-ज्ञान का अध्ययन किया ।<sup>३</sup>

इस प्रकार आचार्य कालक जैनागमों के अतिरिक्त ज्योतिष और निमित्त-विद्या के भी विशिष्ट ज्ञाता बन गये । किसी समय आर्य कालक अपने श्रमण-संघ के साथ विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे । नगर के बाहर उद्यान में आर्य कालक के दर्शन के लिये अन्य श्रमणियों के साथ आई हुई साध्वी सरस्वती को राजा गर्दभिल्ल ने मार्ग में देखा । उसके अनुपम रूप — लावण्य पर मुग्ध हो कर गर्दभिल्ल ने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण करवा उसे अपने अन्तःपुर में पहुंचा दिया ।

गर्दभिल्ल के इस घोर अनाचारपूर्ण पाप का पता चलते ही आर्य कालक और उज्जयिनी के संघ ने गर्दभिल्ल को समझाने का यथाशक्य पूरा प्रयास किया किन्तु उस कामान्ध ने साध्वी सरस्वती को उन्हें नहीं लौटाया । इससे क्रुद्ध होकर आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की प्रतिज्ञा की ।

भावी संकट से गर्दभिल्ल कहीं सतर्क न हो जाय, इस दृष्टि से दूरदर्शी आचार्य कालक कुछ दिनों तक विक्षिप्त की तरह उज्जयिनी के राजमार्गों एवं चौराहों पर — “गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? उसका अन्तःपुर रम्य है तो क्या ? मैं भिक्षार्थ इधर-उधर घूमता हूँ तो क्या, यदि मैं शून्य देवल में रहता हूँ तो क्या ?” इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप करते हुए घूमते रहे । जब उन्होंने देखा कि गर्दभिल्ल को उनके विक्षिप्त होने का पूरा विश्वास हो गया है, तो वे उज्जयिनी से निकल पड़े ।

उस समय भरींच में राजा बलमित्र और भानुमित्र नामक बन्धुद्वय का राज्य था, जो साध्वी सरस्वती और आर्य कालक के भाग्निनेय थे । आर्य कालक अचञ्ची तरह जानते थे कि गर्दभिल्ल जैसे शक्तिशाली राजा को पराजित करने के लिए

<sup>१</sup> गुणाकरसूरि के पास आर्य कालक के दीक्षित होने का उल्लेख प्रथम कालकाचार्य आर्य श्याम की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि गुणाकरसूरि का समय वीर नि० सं० २९१ से ३३५ तक रहा है । [सम्पादक]

<sup>२</sup> एवं वीर निर्वाण वर्ष ४५३ । अस्मिन् वर्ष गर्दभिल्लकोच्छेदकस्य श्री कालकाचार्यस्य सूरिपदप्रतिष्ठाभूत् । [विचारश्रेणी]

<sup>३</sup> एत्तिउं पठिउं सो न नामो मुहुतो जत्थ पम्वाविमो यिरो होज्जा । तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पठियं ।” [पंचकल्पचूणि, पत्र २४]

इस प्रकार के छोटे राज्य की शक्ति अपर्याप्त है और अन्य कोई ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं है, जो गर्दभिल्ल से युद्धभूमि में टक्कर ले सके। अतः उन्होंने अपनी बहिन को मुक्त करवाने तथा गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने के लिए अपने भानुजे बलमित्र-भानुमित्र के अतिरिक्त शकों की भी सहायता प्राप्त की।

आर्य कालक ने अपनी बहिन को मुक्त करवाने के लिए शकों की भी सहायता प्राप्त की, इस सम्बन्ध में प्रायः सभी लेखक एकमत हैं। किन्तु शक लोग देश के बाहर से लाये गये, अथवा देश में ही विद्यमान युद्धोपजीवी अन्य जातियों एवं शकों को साथ लेकर युद्ध जीता गया, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का मतैक्य नहीं है। अधिकांश लेखक आर्य कालक द्वारा विदेश से शकों का लाया जाना और उनकी सैनिक सहायता से गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करना मानते हैं। इसके विपरीत कुछ इतिहासज्ञों ने गहन अनुसन्धान के पश्चात् यह अभिमत अभिव्यक्त किया है कि आर्य कालक के समय में सिन्ध प्रान्त में शकों का राज्य था। आर्य कालक उज्जयिनी से सीधे सिन्ध प्रदेश में गये और वहाँ के शकों को उज्जयिनी पर आक्रमण करने के लिए सहमत किया। तदनन्तर शकों और बलमित्र-भानुमित्र की सेनाओं ने एक साथ उज्जयिनी पर आक्रमण कर गर्दभिल्ल को पराजित किया तथा साध्वी संरस्वती को मुक्त करवाया।

प्राचीन ग्रन्थ निशीथचूर्णिका में कालक के फारस देश में जाने का नहीं अपितु 'पारिसकुल' जाने का तथा वहाँ के शकराज को अपने निमित्तज्ञान से प्रभावित कर अपना सहायक बनाने का उल्लेख किया गया है। फारस में शकों के साम्राज्य को समाप्त के पश्चात् वहाँ के शाह द्वारा चलाये गये शकविरोधी अभियान के कारण जो शक लोग सिन्ध प्रदेश में आकर रहने लगे थे, संभवतः निशीथचूर्णिकार ने उन्हीं शकों के लिए 'पारिसकुल' शब्द का प्रयोग किया हो। उज्जयिनी से आर्य कालक का फारस जैसे सुदूरवर्ती एवं अपरिचित देश में जाना, वहाँ के शकों का विश्वास प्राप्त करना तथा उन्हें भारत जैसे विशाल देश पर आक्रमण करने के लिए सहमत करना, ये सब कार्य बड़े कष्टसाध्य, समयसाध्य एवं संशयास्पद प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में आर्य कालक द्वारा उस समय सिन्ध प्रदेश में शासन करने वाले शकों की सहायता प्राप्त करने तथा बलमित्र भानुमित्र एवं शकों की संगठित सैन्यशक्ति से गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की बात अधिक संगत प्रतीत होती है।

जो भी हो इतना तो निश्चित है कि आर्य कालक जैसे समर्थ आचार्य ने विवश होकर अन्याय का प्रतिकार तथा दुष्ट का दमन करने के लिए ही अन्य कोई उपाय न होने के कारण युद्ध का सहारा लिया। अपनी सती-साध्वी बहिन के सतीत्व एवं सम्मान की रक्षा के लिए सैन्य शक्ति एकत्रित कर आर्य कालक ने गर्दभिल्ल को उसके अनाचारपूर्ण निकृष्ट दुष्कृत्य का जो दण्ड दिया, उसमें राष्ट्र के विघटन की स्वल्पमात्र भी गंध नहीं हो सकती। यदि आर्य कालक के अन्तर में देश के विघटन की किञ्चित्मात्र भी भावना होती तो वे शकों की सेना के साथ बलमित्र भानुमित्र की सेना को नहीं लेते। इतिहास साक्षी है कि शकों के साथ उज्जयिनी

की ओर बढ़ते हुए आर्य कालक ने मार्ग में भरौच के राजा—अपने भानजे बलमित्र-भानुमित्र को भी साथ लिया और बलमित्र तथा शकों की संयुक्त सेनाओं ने उज्जयिनी पर प्रबल वेग से आक्रमण किया।<sup>१</sup>

भीषण युद्ध के पश्चात् उज्जयिनी की सेना बुरी तरह परास्त हुई।<sup>२</sup> गर्दभिल्ल की विद्या को निरर्थक कर दिया गया और उसको बन्दी बनाकर साध्वी सरस्वती को छोड़ा लिया गया। जिस शकुराज के यहां आर्य कालक ठहरे थे, उसे उज्जयिनी के राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया।<sup>३</sup> उससे शक वंश प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् ४६६ में उज्जयिनी पर कुछ काल के लिए शकों का शासन स्थापित हुआ। आर्य कालक के निर्देशानुसार गर्दभिल्ल को बन्दीगृह से छोड़ दिया गया।

आर्य कालक ने संघ रक्षार्थ किये गये इस महा आरम्भजन्य पाप की समुचित प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धी की<sup>४</sup> और अपनी बहिन सरस्वती को भी पुनः दीक्षित कर संयम मार्ग में स्थापित किया।<sup>५</sup> तप संयम की साधना करते हुए आचार्य कालक पुनः जिनशासन की सेवा में निरत हो गये। आपने सुदूर प्रदेशों में विचरणा कर

<sup>१</sup> (क) .....ताहे जे गृहिल्लेनाबभाणिया लाडरायाणो अण्णो य ते मिलिउं सम्भेहि पि रोहिया उज्जेणी । [कहावली, २, २८५]

(ख) निशीयचूर्णि, १० उ०, भा० ३, पृ० ५६

<sup>२</sup> निशीयचूर्णि, भा० ३, पृ० ५६ के उल्लेखानुसार गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या की साधना कर रखी थी। उस विद्या के बल से वह अपने आपको अपराजेय समझता था। किसी भी शत्रु के आक्रमण की सूचना पाकर वह गर्दभी को एक उच्चतम घट्टालिका पर स्थापित कर स्वयं घण्टम तप पूर्वक उस विद्या की साधना करता। विद्या के सिद्ध होते ही गर्दभी बड़े उच्च स्वर में रेंकती। गर्दभी का प्रखर स्वर शत्रुओं का जो भी सैनिक भयवा हस्ती, अश्व आदि पशु सुनता, वही तत्काल मुंह से रक्त-वमन करता हुआ निश्चेष्ट हो पृथ्वी पर गिर पड़ता। आर्य कालक इस गुप्त रहस्य से परिचित थे अतः उन्होंने १०८ शब्दवेधी धनुर्धर योद्धाओं को पहले से ही सन्नद्ध रखा और गर्दभिल्ल द्वारा सिद्ध की हुई गर्दभी ने बोलने के लिए ज्यों ही अपना मुंह खोला त्यों ही उन योद्धाओं ने बाणों से उसका मुंह भर दिया। परिणामतः गर्दभिल्ल की विद्या का प्रभाव नष्ट हो गया।

— सम्पादक

<sup>३</sup> (क) जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अघिजो ।

राया ठवित्तो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो ॥

[निशीयचूर्णि, १० उ०]

(ख) भूरो जप्पासि ठिधो, मासी सो वतिसामिधो सेसा ।

तस्सेवगा य जाया, तधो पउत्तो अ सगवंसो ॥

[कालकाचार्य कथा, भा० ८०]

<sup>४</sup> एरिसे वि महारभे कारणे विधीए सुद्धो अजयणा पच्चत्तियं, पुण्ण करेति पच्छित्तं ।

[निशीयचूर्णि, उ० १०, भा० ३, पृ० ६०]

<sup>५</sup> (क) भणिसि पुण्णरवि संजने ठविया..... [निशीयचूर्णि, उ० १०, भाग ३, पृ० ६०]

(ख) भिल्लं निगृह्य सरस्वतीं मुमोच, भूलच्छेदेन शोधयित्वा पुनः आमभ्ये स्थापयत् ।

[अभिधान राखेन्द्र, भा० ३, पृ० ४६०]

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार और अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया। आपका शिष्य-परिवार इतना विशाल था कि वह भारत और भारत से बाहर के विभिन्न प्रदेशों में विचरण कर अग्रणीत भव्य जनों को सद्धर्म का अनुयायी बनाने लगा।

इषर शक राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य के कारण उज्जयिनी में शकों का राज्य शनैः शनैः शक्तिविहीन होने लगा। चार वर्ष<sup>१</sup> भी नहीं हो पाये थे कि विक्रमादित्य ने एक प्रबल सेना ले कर वीर निर्वाण संवत् ४७० में उज्जयिनी के शक-राज पर भयंकर आक्रमण किया और युद्ध में शकों को पराजित कर उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया।

जैन वाङ्मय में अनेक ऐसे पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे निर्विवादरूपेण यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य ने वीर नि० सं० ४७० में शकों को परास्त कर उज्जयिनी के राजसिंहासन पर अधिकार किया और उसी वर्ष से विक्रम संवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार के प्रबल प्रमाणों की विद्यमानता में भी यह प्रश्न आज तक एक अनबूझ पहेली के रूप में विद्वानों के समक्ष उपस्थित है कि विक्रम संवत् विक्रम के राज्यारोहण के समय से प्रारम्भ हुआ अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात्। जैन वाङ्मय में ही उपलब्ध एक-दो उल्लेखों ने इस प्रश्न को और भी जटिल रूप प्रदान कर दिया है, जिनमें यह बताया गया है कि विक्रमादित्य ने उज्जयिनी के राजसिंहासन पर आसीन होने के १७ वर्ष अथवा १३ वर्ष पश्चात् संवत्सर प्रचलित किया।

विक्रमादित्य के वीर नि० सं० ४७० में राज्यासीन होने का सीधा और स्पष्ट उल्लेख 'विचारश्रेणी' की एक गाथा में दृष्टिगोचर होता है, जो इस प्रकार है :-

विक्रमरज्जारंभा, परमो, सिरिवीरनिव्वुई भणिया।

सुन्न-भुरिणवेय (४७०) जुतो, विक्रमकालाउ जिणकालो ॥

अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण दिन से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का राज्य प्रारम्भ हुआ।

विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् उज्जयिनी के राजसिंहासन पर आरूढ़ होते ही प्रचलित किया अथवा कालान्तर में - इस प्रकार के प्रश्न के उत्पन्न होने के पीछे भी एक कारण है। वह यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध चूर्ण की एक गाथा में, गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य के वीर नि० सं० ४५३ में होने का उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup> उस गाथा में दिये हुए संवत् के आघार पर साध्वी सरस्वती के अपहरणकर्ता गर्दभिल्ल का शकों द्वारा उच्छेद किया जाना ४५३ में और विक्रमादित्य द्वारा शकों का उन्मूलन एवं उज्जयिनी के सिंहासन पर आरूढ़ होना

<sup>१</sup> .....“सगास्स चउ”.....

[विचारश्रेणी (मेरुगं)]

<sup>२</sup> तह गद्भिल्लरज्जस्स छेपगो कालगायरियो होही।

तेवन्नचउसएहि (४५३) गुणसयकलिधो पहाजुत्तो ॥

४५७ में मान लिया गया। यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ४५३ में आर्य कालक को आचार्य पद प्रदान किया गया था।

वीर नि० सं० ४५७ और ४७० के बीच सम्भवतः तालमेल बैठाने के लिए निम्नलिखित गाथा का उपयोग किया गया, जो कि विचारश्रेणी में उल्लिखित है :-

विक्रमरज्जासांतर सतरसवासेहि वच्छरपवित्ति

उज्जयिनी के राज्य पर आसीन होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा विक्रम संवत्सर प्रचलित किये जाने की बात भी कालगणना को दृष्टि से ठीक नहीं बैठती। यदि वीर नि० सं० ४५७ में राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा संवत्सर प्रचलित करने की बात मानी जाय तो विक्रम द्वारा संवत्सर प्रवर्तन का काल भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् नहीं अपितु ४७४ वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

इस वैषम्य को हल करने वाली एक अन्य गाथा विचारश्रेणी के परिशिष्ट में मुनि जिनविजयजी ने दी है :-

विक्रमरज्जासांतर तेरसवासेमु वच्छरपवित्ति ।

इस गाथा में बताया गया है कि विक्रम ने सिंहासनारूढ़ होने के १३ वर्ष पश्चात् संवत् चलाया।

इसके अतिरिक्त वीर नि० सं० ४७० से पहले वीर नि० सं० ४५७ अथवा अन्य किसी समय में शकों को पराजित कर विक्रम द्वारा उज्जयिनी के राज्य-सिंहासन पर अधिकार करने की मान्यता का जन्म सम्भवतः उपरोक्त दो प्राचीन गाथाओं और चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने विषयक निशीथचूरिण के उल्लेख के आधार पर हुआ है। निशीथचूरिण में यह उल्लेख विद्यमान है कि आर्य कालक शक राज्य की समाप्ति के पश्चात् उज्जयिनी गये। उस समय उनके भानजे बलमित्र और भानुमित्र उज्जयिनी राज्य के स्वामी थे। उज्जयिनी में अनुकूल अथवा प्रतिकूल परीषह उपस्थित किये जाने पर कालक ने उज्जयिनी से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया। प्रतिष्ठानपुर में पहुँचने पर वहाँ के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर आर्य कालक ने परम्परागत पंचमी के स्थान पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथचूरिण के इस प्रकार के उल्लेख की पुष्टि हेतु ही उपर्युक्तलिखित दोनों गाथाओं में से किसी एक की रचना की गई हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में समीचीनतया पर्यालोचन से गर्दभिल्ल तथा शकों के पश्चात् बलमित्र-भानुमित्र द्वारा उज्जयिनी पर अधिकार किया जाना किसी भी दशा में प्रमाणित नहीं होता। आर्य कालक के भागिनेय बलमित्र भानुमित्र उस समय में भृगुकच्छ (भड़ोंच) के राजा थे और उनका राज्य, शकों का उज्जयिनी पर से विक्रम द्वारा आधिपत्य समाप्त किये जाने के पश्चात् भी भड़ोंच तक ही सीमित रहा।

वर्तमान में जो वीर नि० सं०, विक्रम सं० और शक सं० प्रचलित हैं, वे पूर्ण प्रामाणिक होने के साथ-साथ परस्पर एक-दूसरे से पूरी तरह तालमेल रखते हैं। इन तीनों ही संवत्तों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में सबसे अधिक सहायक एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण यदि कोई उल्लेख है, तो वह विचारश्रेणी का निम्नलिखित उल्लेख है :-

ज रयाण कालगमो अरिहा तित्थं करो महावीरो ।  
 तं रयणमवंतिवई अहिसित्तो पालमो राया ॥  
 सट्ठी पालगरणो, पयावन्नसयं तु होइ नंदाणं ।  
 अट्ठसयं मुरियाणं, तीसच्चिय पूसमित्तस ॥  
 बलमित्त भानुमित्ताण सट्ठि वरिसाण चत्त नहवहरण ।  
 तह गह्भिल्लरज्जं, तेरस वासे सगस्स चउ ॥

इन गाथाओं के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने के पश्चात् निम्नलिखित राजाओं का उनके नाम के आगे उल्लिखित वर्षों तक राज्य रहा :-

पालक	६० वर्ष
नन्दवंश	१५५ "
मीर्यवंश	१०८ "
पुष्यमित्र	३० "
बलमित्र-भानुमित्र	६० "
नभोवाहन	४० "
गर्दभिल्ल	१३ "
शक	४ "
पूर्ण योग	४७० वर्ष

इसके पश्चात् 'विचारश्रेणी' में निम्नलिखित उल्लेख किया गया है :-

तदनु विक्रमादित्यः	६० वर्ष
धर्मादित्यः	४० "
भाइल्लः	११ "
नाइल्लः	१४ "
नाहडः	१० "
एवं	१३५

उभयं (ऊपर के ४७० और ये १३५)

६०५

तदनु शाकसंवत्सरप्रवृत्तिः । उक्तं च -

श्रीवीरनिर्वृतेवर्षेः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः ।

शाक संवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

इसकी पुष्टि 'तिलोयपण्यात्ती,' 'त्रिलोकसार' आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों द्वारा भी की गई है।<sup>१</sup>

उपरोक्त उल्लेखों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर नि० सं० ४६६ में गर्दभिल्ल को राज्यच्युत कर उज्जयिनी राज्य पर अधिकार करने वाले शकों को विक्रमादित्य ने वीर नि० सं० ४७० में पराजित किया। इसी वर्ष अर्थात् वीर नि० सं० ४७० में उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही विक्रमादित्य ने अपने नाम का संवत्सर प्रवृत्त किया।

यह सम्भव है कि विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित किया गया यह संवत्सर प्रारंभ में उज्जयिनी राज्य तक ही सीमित रहा हो और शकों को भारत के सम्पूर्ण भूभाग से बाहर खदेड़ने तथा भारत के अनेक पड़ोसी राज्यों को अपने शासन के अन्तर्गत ला वृहत्तर भारत का निर्माण करने के पश्चात् उसने पूर्वप्रचलित संवत्सर ही विधिवत् अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में मान्य करने की घोषणा की हो। इस प्रकार की घोषणा का काल वीर नि० सं० ४७० से १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् का हो सकता है, न कि संवत्सर-प्रवृत्तन का। डिमिट्रियस मीनाण्डर, यून्नेडाइटीज और अन्य शकों द्वारा भारत के अनेक भागों पर किये गये आधिपत्य को हटाने में विक्रम को १३ अथवा १७ वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। हमारे अनुमान से उपरोक्त दोनों गाथाएं विक्रम द्वारा की गई इस प्रकार की उद्घोषणा की ओर ही संकेत करती हैं।

ऐसी स्थिति में एक प्रकार से निश्चित रूपेण यह कहा जा सकता है कि निशीथचूर्णिकार को, बलमित्र भानुमित्र का भडोंच के स्थान पर उज्जयिनी में राज्य होने का और वहां स तन्निमित्त से आर्य कालक के विहार का उल्लेख करने में अवश्य कोई भ्रंति हुई हो।

### पंचमी के स्थान पर चतुर्थी का पर्वाराधन

आर्य कालक ने पंचमी के बदले चतुर्थी को पर्युषण पर्व का आराधन प्रचलित किया<sup>२</sup> इस घटना का विवरण देते हुए निशीथचूर्णी में निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है :-

“अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य कालक उज्जयिनी (भडोंच) पधारे और वहां वर्षावास किया। उस समय वहां बलमित्र का राज्य था और उनके अनुज भानुमित्र युवराज थे।<sup>३</sup>

बलमित्र-भानुमित्र की एक बहिन थी जिसका नाम भानुथी था। भानुथी का पुत्र बलभानु प्रकृति से बड़ा ही सरल एवं विनीत था और साधुओं के प्रति

<sup>१</sup> जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ. ५४५

<sup>२</sup> कारणिया चउत्थी अज्ज कालगायरिण पवत्तिया। [निशीथचूर्णी, भा० ३, पृ० १३१]

<sup>३</sup> बलमित्र भागुमित्रा, आसि अवंतीइ रायजुवराया।

निय भाणिज्जसि तथा, तत्त्व गधो कालगायरिओ। ॥८४॥

[कालकाचार्य कथा]

प्रगाढ़ निष्ठा तथा भक्ति रखता था। संयोगवश कालकाचार्य का उपदेश सुन कर वह प्रतिबुद्ध एवं संसार से विरक्त हो उन्हीं के पास दीक्षित हो गया। इसके फलस्वरूप बलमित्र और भानुमित्र ने रुष्ट होकर कालकाचार्य को वर्षाकाल में ही उज्जयिनी (भडोंच) से विहार करने के लिये बाध्य किया। प्रशासन की ओर से उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति में आचार्य कालक ने अपने शिष्य-समूह सहित उज्जयिनी (भडोंच) से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार किया।

वर्षाकाल में विहार करने जैसी प्रतिकूल विकट परिस्थिति का अन्य आचार्य एक दूसरा ही कारण बताते हैं। उनका कहना है कि आचार्य कालक के भागिनेय होने के कारण बलमित्र-भानुमित्र अपने मातुल आचार्य के प्रति आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति रखते और उनका अत्यधिक आदर-सम्मान करते थे। आचार्य के प्रति उनकी निस्सीम श्रद्धा देख कर पुरोहित के मन में आचार्यश्री के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वह राजा तथा युवराज के सम्मुख बार-बार यह कह कर कि—ये वेद-बाह्य हैं, पाषंडी हैं, उनकी निन्दा करता रहता था। धार्मिक असहिष्णुता से प्रेरित हो पुरोहित ने एक दिन बलमित्र-भानुमित्र के समक्ष आचार्य कालक के साथ सैद्धान्तिक चर्चा प्रारम्भ की। आचार्य ने प्रश्नोत्तर में पुरोहित को निरुत्तर और हतप्रभ कर दिया। अपनी इस पराजय से पुरोहित के अन्तर में आचार्य के प्रति विद्वेषाग्नि भड़क उठी। पुरोहित ने उपयुक्त अवसर देख कर राजा को आचार्य कालक के प्रति भड़काते हुए कहा—“राजन् ! ये ऋषि बड़े प्रतापी, पुण्यात्मा और महान् तपस्वी हैं। जिस मार्ग से ये जाते हैं, उस मार्ग से किसी राजपुरुष को नहीं चलना चाहिये। उस मार्ग से चलने पर उनके चरणचिन्हों पर पैर गिरना संभव है। गुरु-चरणों पर पैर गिरने से राज्य में देवी प्रकोप आदि के रूप में अशिव व्याप्त हो सकता है। अतः राज्यहित और जनहित में इन्हें यहां से विदा कर देना ही श्रेयस्कर है।”

इस प्रकार कारणान्तर से चातुर्मासावधि में ही आचार्य कालक ने वहां से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया और प्रतिष्ठानपुर के श्रमणसंघ को संदेश पहुँचाया कि वे पर्युषण पर्वाराधन से पूर्व ही प्रतिष्ठानपुर पहुँच रहे हैं अतः पर्वाराधन सम्बन्धी आवश्यक कार्यक्रम उनके वहां पहुँचने के पश्चात् निश्चित किया जाय।

प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन जैनधर्मावलम्बी और परम श्रद्धालु श्रमणोपासक था। वह वहां के संघ, राजन्यवर्ग, भृत्यगण, परिजन एवं प्रतिष्ठित पौरजनों सहित स्वागतार्थ आचार्यश्री के सम्मुख पहुँचा और बड़े ही आदर-सत्कार एवं उल्लास के साथ कालकाचार्य का नगर-प्रवेश हुआ।

नगर में पहुँचने के पश्चात् आर्य कालकाचार्य ने संघ के समक्ष कहा कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी को सांभूहिक रूप से पर्युषण पर्वाराधन किया जाय। श्रमणोपासक संघ ने आचार्य के इस निर्देश को स्वीकार किया परन्तु उसी समय राजा सातवाहन ने कहा—“भगवन् ! पंचमी के दिन लोकपरम्परानुसार मुझे इन्द्र-



महोत्सव में सम्मिलित होना होगा। ऐसी स्थिति में यदि पंचमी के दिन पर्वाराधन किया गया तो मैं साधुवन्दन, धर्मश्रवण और समीचीनतया पर्वाराधन से वंचित रह जाऊंगा। अतः ६ के दिन पर्वाराधन किया जाय तो समुचित रहेगा।”

आचार्य ने कहा - “पर्व-तिथि का अतिक्रमण तो नहीं हो सकता।”

राजा सातवाहन ने कहा - “ऐसी दशा में एक दिन पहले चतुर्थी को पर्वाराधन कर लिया जाय तो क्या हानि है?”

अपनी सहमति प्रकट करते हुए कालकाचार्य ने कहा - “ठीक है, ऐसा हो सकता है।”

इस प्रकार प्रभावक होने के कारण कालकाचार्य ने देश-काल आदि की परिस्थिति को देखते हुए भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी में पञ्जोसवण (पर्यूषण पर्वाराधन) प्रारम्भ किया।<sup>१</sup>

कुछ पट्टावलीकारों ने वीर निर्वाण संवत् ६६३ में कालकाचार्य (चतुर्थी) द्वारा चतुर्थी का पर्यूषण पर्व प्रचलित किये जाने का उल्लेख किया है। उसी को दृष्टि में रखकर मेरुर्तुंग ने अपनी विचारश्रेणी में चतुर्थी पर्व के कर्त्ता कालकाचार्य को निर्वासित करने वाले बलमित्र भानुमित्र को वीर नि० सं० ४७० से ४७२ की अवधि के बीच विद्यमान बलमित्र-भानुमित्र से भिन्न और वीर नि० सं० ६६३ में विद्यमान होने का उल्लेख किया है। संभव है उनके सम्मुख निम्नलिखित गाथा रही हो :-

तेणउअ नक्सएहि, समइकतेहि वडमाणाओ ।

पज्जोसवण चउत्थी, कालगसूरीहि तु ठविया ॥

मूलतः यह गाथा किस ग्रंथ की है, इस बात का निर्णय अनेक ग्रंथों के सम्यगवलोकन के पश्चात् भी अभी तक नहीं हो पाया है। ऐसी दशा में इसे प्रक्षिप्त गाथा ही कहा जा सकता है। कल्पसूत्र की संदेहविषोषधि नामक अपनी टीका में आचार्य जिनप्रभ ने इसे तित्थोगालियपइशा की गाथा बताया है। पर वहाँ इस गाथा का कहीं नाम-निशान तक नहीं है। कालकाचार्य कथा में इस गाथा को - “उक्तं च प्रथमानुयोगसारोद्धारं” - लिखकर प्रथमानुयोगसारोद्धार की होना बताया है पर इस नाम का कोई भी ग्रंथ आज अस्तित्व में नहीं है।

कालसप्ततिका में गाथांक ४१ के साथ यह गाथा उपलब्ध होती है, पर इस ग्रंथ की अवचूर्णी में इस गाथा के सम्बन्ध में एक शब्द तक नहीं लिखा गया है। इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि वस्तुतः यह गाथा कालसप्ततिका की नहीं अपितु प्रक्षिप्त है। जैसा कि कल्पकिरणावली में कहा गया है :-

“इति गाथाचतुष्टयं तीर्थोद्गाराद्युक्तसम्मतितया प्रदर्शितं तीर्थोद्गारे च न हश्यते इत्यपि विचारणीयम्। यद्यपि ‘तेणउअनवसएहि’ इति गाथा कालसप्त-

<sup>१</sup> निशीथर्षणि, उ० १०, भा० ३, पृ० १३१

तिकायां दृश्यते परं तत्र प्रक्षेपगाथानां विद्यमानत्वेन तदवचूर्णाविख्यातत्वेन चेयं न सूत्रकृतकृतेति संभाव्यते ।”<sup>१</sup>

इस प्रकार उक्त गाथा का मूल स्थान अनिर्णीत होने के कारण इसे अविश्वसनीय और प्रक्षिप्त ही कहा जा सकता है। फिर भी यह अवश्य विचारणीय है कि वीर नि० सं० ६६३ में चतुर्थी पर्यूषणा प्रारम्भ होने की गाथोक्त बात तथ्यों की कसौटी पर खरी उतरती है या नहीं।

ऊपर बताया जा चुका है कि निशीथ चूर्णा और अन्य ग्रन्थों में निर्विवाद रूप से यह बात मानी गई है कि प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के निवेदन पर कालकाचार्य ने सकारण चतुर्थी के दिन पर्यूषणा की। जब यह मान लिया जाता है कि सातवाहन के समय में ही पर्यूषणा पर्व चतुर्थी को हुआ तब यह मानना किसी भी तरह संगत नहीं होगा कि वी० नि० सं० ६६३ में कालकाचार्य ने चतुर्थी से पर्व का आराधन प्रारम्भ किया। क्योंकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईसा की तीसरी शताब्दी में आन्ध्र राज्य का अन्त हो चुका था। भडौच में बलमित्र — भानुमित्र का राज्यकाल और प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन का राज्यकाल भी, कालकाचार्य द्वितीय द्वारा वीर नि० सं० ४७० से ४७२ के बीच में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने के काल से मेल खाता है।

ऐसी स्थिति में निर्विवाद रूप से यही प्रमाणित होता है कि कालकाचार्य द्वितीय ने वीर नि० सं० ४७० से ४७२ के बीच किसी समय बलमित्र — भानुमित्र के पुरोहित द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति के कारण चातुर्मासावधि में भडौच से विहार कर प्रतिष्ठानपुर में वहां के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्व की प्रतिष्ठापना की।

ऐसा प्रतीत होता है कि वी० नि० सं० ६६३ में कालकाचार्य चतुर्थ द्वारा वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के पुत्र-शोक-निवारणार्थ संघ के समक्ष पहले-पहल कल्पसूत्र की वाचना की गई, नामसाम्य के कारण उस घटना के साथ द्वितीय कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्वाराधन की घटना को भी जोड़ दिया गया हो। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि आगे चल कर विक्रम की बारहवीं शताब्दी में चतुर्थी के स्थान पर पुनः पंचमी को पर्वाराधन की प्रक्रिया प्रचलित हुई, उस समय चतुर्थी के पर्वाराधन को अर्वाचीन ठहराने की दृष्टि से किसी ने यह गाथा बना कर किसी प्राचीन ग्रन्थ के नाम से प्रक्षिप्त कर दी हो।

द्वितीय कालकाचार्य के इस समय के सम्बन्ध में दशाश्रुत स्कंध की चूर्णि में एक प्राचीन गाथा भी उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है:—

तह गद्दभिल्लरज्जंस्स छेयगो कालगायरियो होइ ।

तेवण्ण चउसयेहि, गुणसयकलियो सुअपउत्तो ॥<sup>२</sup>

<sup>१</sup> कल्पकिरणावली, पृ० १३१

<sup>२</sup> (क) दुस्समाकालसमणसंधयं, अवचूरि  
(ख) अपापा वृहत्कल्प

[पट्टावली समुच्चय]

इस गाथा के अनुसार भी द्वितीय कालकाचार्य का अस्तित्व बी० नि० सं० ४५३ में होना सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है ।

### कालकाचार्य (द्वितीय) स्वर्णभूमि में

अपनी आयु के अन्तिम चरण में एक समय आचार्य कालक (द्वितीय) अपने सुविशाल शिष्य-परिवार के साथ उज्जयिनी में विचर रहे थे । वृद्धावस्था होते हुए भी वे अपने शिष्यसमूह को आगम-वाचना देने में सदा तत्पर रहते थे । उन्हीं दिनों आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर जो कि सूत्रार्थ के अच्छे ज्ञाता थे - स्वर्णभूमि में विचरण कर रहे थे ।

अपने समीपस्थ शिष्यों में आगमों के अध्ययन के प्रति यथेष्ट रुचि और तत्परता का अभाव देख कर आचार्य कालक एक दिन बड़े खिन्न हुए । वे सोचने लगे - "ये मेरे शिष्य मनोयोग से अनुयोगश्रवण नहीं कर रहे हैं । ऐसी दशा में इनके बीच ठहरने से क्या लाभ ? मुझे उसी स्थान पर रहना चाहिये जहां कि अनुयोगों की प्रवृत्ति अच्छी तरह से हो रही हो । संभव है, मेरे अन्यत्र चले जाने पर शिष्य भी लज्जित होकर अनुयोग ग्रहण करने के लिये उत्साहित हो जायं ।"

ऐसा विचार कर आर्य कालक ने शय्यातर से कहा - "मैं स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हूँ । तुम मेरे शिष्यों को अनायास ही यह बात अत बताना । जब ये अत्यधिक आग्रह करें तो कह देना कि आचार्य स्वर्णभूमि में सागर के पास गये हैं ।"

इस प्रकार शय्यातर को अवगत कर रात्रि में शिष्यों के जागृत होने से पहले ही कालकाचार्य स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थित हुए और स्वर्णभूमि में पहुंच कर सागर के गच्छ में प्रविष्ट हो गये । आर्य सागर ने भी - "यह कोई खंत है" ऐसा समझ कर उपेक्षा से अम्युत्थानादि नहीं किया ।

अर्थ-पौरुषी के समय तत्वों का व्याख्यान करते हुए आचार्य सागर ने नवागन्तुक वृद्ध साधु (कालकाचार्य) से पूछा - "खन्त ! क्या तुम यह समझते हो ?"

आचार्य ने उत्तर दिया - "हाँ ।"

सागर ने सगर्व स्वर में - "तो फिर सुनो" - यह कह कर अनुयोग प्रारम्भ किया ।

उधर उज्जयिनी में रहे हुए शिष्यों ने जब आचार्य को नहीं देखा और सब ओर ढूँढने पर भी उन्हें नहीं पाया तो उन्होंने शय्यातर से आचार्य के सम्बन्ध में पूछा ।

शय्यातर ने कहा—“जब आप के आचार्य ने आप लोगों को भी नहीं बताया तो मुझे कैसे बताते। अपने आचार्य की इस प्रकार अप्रत्याशित अनुपस्थिति से चिन्तित होकर जब शिष्यों ने बार-बार अत्याग्रहपूर्वक पूछा तो शय्यातर ने कहा—“आगमों के अध्ययन में आप लोगों की मन्द प्रवृत्ति को देखकर आचार्य को बड़ा निर्वेद हुआ है, अतः वे आर्य सागर के पास स्वर्णभूमि चले गये हैं।” यह कह कर शय्यातर ने अध्ययन के प्रति उपेक्षा के लिये उन शिष्यों को कटु शब्दों में उपालम्भ दिया।

इससे लज्जित हो शिष्य भी उसी समय स्वर्णभूमि की ओर चल पड़े। मार्ग में सोच जब उनसे पूछते कि यह कौन आचार्य जा रहे हैं? तो वे उत्तर देते—“आचार्य कालक।” इस प्रकार, यह सूचना बड़ी तीव्र गति से स्वर्णभूमि में सर्वत्र फैल गई और लोगों ने सागर से कहा—“बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले आचार्य कालक यहां पधार रहे हैं।”

यह सुनकर आचार्य सागर बड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों से कहने लगे—“भरे श्रद्धेय दादागुरु आ रहे हैं। उनसे मैं कुछ ज्ञातव्य बातें पूछूंगा।”

सागर अपने अनेक शिष्यों को साथ लेकर उस युग के महान् आचार्य अपने दादागुरु आर्य कालक की अनुभानी के लिये सम्मुख पहुँचा। आगन्तुक शिष्य समूह ने उनसे पूछा—“क्या यहां आचार्य आये हैं।” उन्होंने उत्तर दिया—“नहीं! एक अन्य खंत तो आये हुए हैं।”

उपाश्रय में पहुँच कर उज्जयिनी से आये हुए साधु-समूह ने जब भावविभोर हो निस्सीम श्रद्धा के साथ अपने आचार्य के चरणों में वन्दन किया, तब आर्य सागर को ज्ञात हुआ कि ये खंत ही उसके दादागुरु आचार्य आर्य कालक हैं। वह लज्जा से भूमि में गड सा गया। वह पश्चात्ताप भरे स्वर में बोला—“ग्रहो! मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमण से वन्दन भी करवाया।” तदनन्तर आसातना की शुद्धि के लिये आर्य सागर ने अपराह्न में ‘मिथ्यादुष्कृत’ किया और आचार्य के चरणों में मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर में पूछा—“क्षमाश्रमण! मैं कैसा अनुयोग करता हूँ?”

आचार्य कालक ने कहा—“अच्छा है, पर कभी भूल कर भी गर्व मत करना।” आर्य कालक ने मुट्ठी में धूलि ले उसे एक स्थान पर रखा। उसे पुनः उठा-उठा कर क्रमशः तीन स्थानों पर रखा और सागर को बताया कि जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान पर डालने के पश्चात् वहां से दूसरे, तीसरे आदि स्थानों पर रखने और उठाने से निरन्तर कम होती जाती है, इसी प्रकार अर्थ भी तीर्थंकरों से गणधरों को, गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्य-उपाध्यायों को परम्परा से प्राप्त हुआ है। इस तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में आते-आते इस अर्थ के कितने पर्याय निकल गये हैं, छूट गये हैं, विलीन हो गये हैं, इसकी

कल्पना तक करना कठिन है। अतः ज्ञान के सम्बन्ध में कदापि गर्व करना उचित नहीं।”

इस प्रकार आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य आर्य सागर को प्रतिबुद्ध किया।

एक इस प्रकार की भी मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि इन्हीं द्वितीय कालकाचार्य की परम्परा से षांडिल्य गुरु निकला।

### आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन

विक्रमीय प्रथम शताब्दी के आचार्यों में वृद्धवादी का एक विशिष्ट स्थान है। आप सिद्धसेन के गुरु और बड़े ही प्रतिभाशाली एवं दृढ़ संकल्पशील संत थे। गौड़ देश के कौशल ग्राम में इनका जन्म हुआ। आपका जन्मनाम मुकुन्द था। विद्याधर वंश के आचार्य स्कन्दिलसूरि के उपदेश से विरक्त हो मुकुन्द ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। प्रौढ़ वय में दीक्षित होने पर भी वे ज्ञानाम्यास के बड़े रसिक थे। वे ज्ञान की पिपासा लिये दिन-रात बड़ी लगन के साथ विद्याभ्यास करते। उच्च स्वर से अभ्यास करते रहने के कारण अन्य साधुओं को विक्षेप होने लगा और उन्होंने उन्हें प्रातःकाल जल्दी उठ कर पढ़ने से मना किया। अन्य साधुओं द्वारा समय-समय पर उच्च स्वर से अभ्यास करने का निषेध किये जाने के उपरान्त भी ज्ञानप्राप्ति की तीव्र लगन के कारण उनसे नहीं रहा गया। एक दिन किसी साधु ने उन्हें कह दिया — “इतने उच्च स्वर से पढ़कर क्या तुम्हें मूसल के फूल लगाना है ?”

मुकुन्द मुनि के मन में यह बात चुभी और उन्होंने गुरुकृपा से सरस्वती — मंत्र प्राप्त कर २१ दिन तक निरन्तर आचाम्ल व्रत के साथ उसकी साधना की।<sup>२</sup> मंत्रसिद्धि के परिणामस्वरूप सरस्वती प्रसन्न होकर बोली — “सर्वविद्यासिद्धो भव।”

इस प्रकार दैवी प्रभाव से कबीन्द्र होकर मुनि मुकुन्द गुरुचरणों में उपस्थित हुए और उच्च स्वर से संघ के समक्ष बोले — “जो मेरा यह कह कर उपहास करते हैं कि क्या वृद्धावस्था में यह मूसल के फूल लगायेगा, वे सब देखें, आज मैं वस्तुतः मूसल को पुष्पित किये देता हूँ।”

यह कह कर मुकुन्द मुनि ने मैदान में खड़े हो अपनी विद्या के बल से सब के देखते-देखते प्रामुक जल से सींचकर मूसल को पुष्पित कर दिया<sup>३</sup> और यह

<sup>१</sup> जहा एस धूली ठविज्जमाणी उक्खिप्पमाणी य सम्बत्थ परिसड्ढ, एवं अत्थो वि तित्थगरे-हितो गणहाराणं, गणहारेहितो जाव अम्हं आयरिय उवज्जायाणं परंपराएण आगधं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ? ता मा गम्भं काहिंसी ।

[बृहत्कल्प, सभाष्य, १ भा., पृ. ७३-७४]

<sup>२</sup> मुहूर्तमिव तत्रास्थात्, दिनानामेकविंशतिम् ।

सत्त्वतुष्टा ततः साक्षाद् भूत्वा देवी तमब्रवीत् ॥

[प्रभावक च०, पृ० ५५]

<sup>३</sup> वही, पृ० ५५. श्लोक ३१

प्रमाणित कर दिया कि दृढ़ संकल्प वाले मनुष्य के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है ।

वृद्ध मुनि मुकुन्द की अप्रतिम विद्वत्ता के कारण कोई भी प्रतिवादी उनके समक्ष वाद में खड़ा नहीं रह पाता था, इसलिये वृद्धवादी के नाम से उनकी चारों ओर प्रसिद्धि हो गई ।

सब प्रकार से योग्य समझ कर भार्य स्कन्दिल ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया । एक समय विहारक्रम से घूमते हुए वृद्धवादी भृगुपुर की ओर जा रहे थे । उस समय सिद्धसेन नाम के एक विद्वान्, जो अपने प्रज्ञाबल-बुद्धिबल के समक्ष संसार के अन्य विद्वानों को तृणावत् समझ रहे थे, शास्त्रार्थ की इच्छा से देश-देशान्तर में घूमते हुए भृगुपुर की ओर पहुँचे । वृद्धवादी की विद्वत्ता की यशोगाथाएं सुन कर वे उनके पीछे चल पड़े । उस समय वृद्धवादी विहार में थे । सिद्धसेन भी उनके पीछे-पीछे गये और मार्ग में दोनों का मिलन हुआ । मिलते ही सिद्धसेन ने वृद्धवादी से कहा—“मैं आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ ।”

आचार्य वृद्धवादी ने कहा—“अच्छी बात है, पर यहाँ शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करने वाला कोई विद्वान् सम्य नहीं है । ऐसी दशा में बिना सम्यों के वाद में जय-पराजय का निर्णय कौन करेगा ?”

वाद की तीव्र उत्कण्ठा का शमन करने में असमर्थ सिद्धसेन ने चरवाहों की ओर इंगित करते हुए कहा—“ये गोपाल ही सम्य बनें ।”

वृद्धवादी ने सिद्धसेन का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया । गोपालकों के समक्ष शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । सिद्धसेन ने वाद की पहल की । उन्होंने सम्य गोपालों को सम्बोधित कर बड़े लम्बे समय तक पदलालित्यपूर्ण संस्कृत भाषा में बोलते हुए अपना पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया । पर सिद्धसेन की एक भी बात उन गोपालों के समक्ष में नहीं आई । जब सिद्धसेन अपना पूर्वपक्ष रखने के पश्चात् चुप हुए तो अवसरज्ञ वृद्धवादी ने दृढ़ कच्छा बांध कर संगीत की लय में बोलना प्रारम्भ किया, जिसका भावार्थ है—जो किसी जीव को नहीं मारता, चोरी नहीं करता, परदार-गमन का परित्याग करता और यथाशक्ति थोड़ा-थोड़ा दान करता है, वह धीरे-धीरे स्वर्गधाम प्राप्त कर लेता है ।<sup>1</sup>

वृद्धवादी की बात सुनकर गोपाल बड़े प्रसन्न हुए और बोले—“ओ, हो ! बाबाजी महाराज ने कैसा श्रुतिमुखद, सुन्दर और सही मार्ग बतलाया है । ये सिद्धसेनजी तो क्या बोले, क्या नहीं बोले, यह भी ज्ञात नहीं हुआ । केवल जोर-जोर से बोल कर इन्होंने हमारे कानों में टीस पैदा कर दी ।”

<sup>1</sup> न वि मारियइ न वि चोरियइ, परदारह गमणु निवारियइ ।

थोवा थोवा दाइयइ, सगि दुकु दुकु जाइयइ ॥

गोर्षों का यह निरुण्य सुन कर सिद्धसेन ने अपनी पराजय स्वीकार की और कहा - "भगवन् ! आप मुझे दीक्षित कर अपना शिष्य बना लें, क्योंकि सन्ध्यों ने आपकी विजय घोषित की है ।"

आचार्य वृद्धवादी ने कहा - "सिद्धसेन ! भृगुपुर में चल कर राजसभा में हम दोनों का शास्त्रार्थ हो, गोपालमण्डल के समक्ष किये गये वाद का क्या महत्त्व है ?"

पर सिद्धसेन अपने वचन पर हड़ रहे और बोले - "महाराज ! आप कालज्ञ हैं । जो कालज्ञ होता है, वह सर्वज्ञ होता है अतः आप मुझे दीक्षित कीजिये । सिद्धसेन के हृदय-निश्चय को देखकर आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें दीक्षित कर लिया और दीक्षा के पश्चात् उनका नाम कुमुदचन्द्र रखा । कालान्तर में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित दिये जाने के पश्चात् कुमुदचन्द्र की आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्धि हुई । अपने सुयोग्य शिष्य सिद्धसेन को आचार्य पद पर नियुक्त करने के पश्चात् वृद्धवादी अन्यत्र विचरण करने लगे और सिद्धसेन अवन्ती की ओर पधारे ।

अवन्ती के संघ ने आचार्य का बड़ा स्वागत किया और "सर्वज्ञ-पुत्र" आदि विरुद्ध से उनकी जय बोलते हुए उन्हें नगरप्रवेश करवाया । संयोगवश उस समय महाराज विक्रमादित्य गजारूढ़ होकर सामने की ओर आ रहे थे । "सर्वज्ञपुत्र" का विरुद्ध सुनते ही उन्होंने परीक्षा के लिये हाथी पर बैठे-बैठे ही मन से सिद्धसेन को नमस्कार किया । इस पर सिद्धसेन ने हाथ उठाकर विक्रमादित्य द्वारा किये गये मानसिक वन्दन का उत्तर दिया । राजा ने आचार्य से प्रश्न किया - "क्या आपका आशीर्वचन इतना सस्ता है कि वन्दन नहीं करने वाले व्यक्ति को बिना वन्दन किये ही वह दे दिया जाता है ?" उत्तर में आचार्य सिद्धसेन ने कहा - "राजन् ! तुमने तन से न सही पर मन से वन्दन किया है ।"

इस पर प्रसन्न होकर महाराज विक्रमादित्य ने सर्वजन समक्ष हाथी से उतर कर उन्हें वन्दन किया और उनके चरणों पर कोटि मुद्राओं की भेंट समर्पित की ।

धन-धान्य आदि परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी आचार्य ने विक्रमादित्य को समझाते हुए कहा - "राजन् ! कंचन-कामिनी को ग्रहण करना तो दूर, जैन मुनि इनका स्पर्श तक नहीं करते ।"

राजा ने भी यह सोचकर कि यह राशि मुनि के निमित्त की जा चुकी है, उसे पुनः स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार उस राशि का जनहित के शुभ कार्यों में व्यय किया गया ।

\* (क) धर्मलाभ इति श्लोके, दूरादुच्छ्रितपाण्ये ।

सूरये सिद्धसेनाय, ददौ कोटि नराधिपः ॥

[प्रबन्धकोश, प्रबन्ध ६]

(ख) तस्य दक्षतया नृपटः प्रीतिदाने ददौ नृपः ।

कोटि हाटक टंकानां, लेखकं पत्रकेऽलिखत् ॥

[प्रभावक च., पृ. ५६, श्लो० ६३]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की विद्वत्ता और उनके चमत्कारों के सम्बन्ध में बहुत सी जनश्रुतियां प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक में कहा गया है कि चित्रकूट के मानस्तम्भ से सिद्धसेन ने मंत्र-विद्या का एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें कि दो विद्याएं थीं। प्रथम — हेमसिद्धि विद्या से यथेप्सित स्वर्ण तैयार किया जा सकता था और दूसरी “ससंप-विद्या” से सरसों की तरह अग्रणीत सैनिक उत्पन्न किये जा सकते थे। उपरोक्त दोनों विद्याएं लेकर आचार्य सिद्धसेन कूर्मारपुर पहुंचे और वहां के राजा देवपाल को अपने विद्याबल से विजयवर्मा के साथ युद्ध में विजयी बनाया। कृतज्ञतावश राजा देवपाल सिद्धसेन का परम भक्त बन गया और उन्हें उच्चतम राजकीय सम्मान और ‘दिवाकर’ पद से सम्मानित कर प्रतिदिन वन्दन करने जाता। राजभक्ति से प्रभावित हो आचार्य सिद्धसेन भी पालकी में बैठकर राजा को दर्शन देने जाया करते।

यह नियम है कि रागातिरेक से मानवमन सहज ही प्रभावित हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं रहे। राजा और पुरमान्य भक्तजनों की भक्ति से वे संयम-साधना में कुछ शिथिल हो गये। खा-पीकर आराम करने और सोने में उनका अधिकांश समय व्यतीत होने लगा। वे अपने श्रमणवर्ग को भी साधना की प्रेरणा नहीं दे पाते। प्रबन्धकोशकार ने लिखा है — “जहां गुरु निश्चित होकर सोये रहते हों, वहां शिष्यवर्ग पीछे क्यों रहेगा। उनके शिष्य भी खा-पीकर प्रायः दिन-रात सोये रहते हैं और इस प्रकार शयन की स्पर्धा में मुनियों द्वारा मोक्ष पीछे की ओर ठेल दिया जाता है।”<sup>१</sup>

धर्मस्थान में शिथिलाचार के प्रवेश का चित्र खींचते हुए राजशेखरसूरि ने खेदपूर्वक कहा है :-

“सदोष जलपान, फूल, फल और गृहस्थ के सावद्य कर्मों का यतनारहित होकर वहां सेवन किया जाता था। अधिक क्या कहा जाय, वहां साधु वेष की विडम्बना हो रही थी।”<sup>२</sup>

वृद्धवादी ने जब सिद्धसेन की कीर्ति के साथ-साथ उपरोक्त शिथिलाचार के समाचार सुने, तो उन्हें खेद हुआ और वे सिद्धसेन को प्रतिबोध देने हेतु योग्य साधुओं को गच्छ की व्यवस्था समूहला कर स्वयं एकाकी रूप से कूर्मारपुर की ओर चल पड़े। वहां पहुंच कर वे पालकी उठाने वालों में सम्मिलित हो गये और सिद्धसेन को पालकी में बिठा कर चलने लगे।

<sup>१</sup> सुप्रसिद्ध गुरु निश्चितो, सोसा वि सुवंति तस्स अणुकमतो।

ओसाहिज्जइ मुक्खो, हुड्डाहुड्डं सुवतेहि ॥

[प्रबन्धकोश, ६।१२]

<sup>२</sup> दगपाराणं पुष्पफलं, अरोसरिज्जं गिहत्थकज्जाइं।

अजया पडिसेवंति, जइवेसविडंबगा नवरं ॥

[वही, १३]

वर्तमान काल में भी शनैः-शनैः धर्मस्थानों में बिजली की रोशनी, पंखे तथा नल के पानी का उपयोग होने लगा है। मुनिराज गृहस्थों का कार्य बताकर इन कार्यों के लिए वस्तुतः मोन स्वीकृति प्रदान कर रहे हैं।

—सम्पादक



सिद्धसेन ने डगमगाती चाल देख कर वृद्ध पालकीवाहक से पूछा —  
“भूरिभारभराकान्तः, बाधति स्कन्ध एष ते ?”

वृद्धवादी ने उत्तर में कहा :-

“तथा न बाधते स्कन्धः, यथा बाधति बाधते ।”

परिचित स्वर में उत्तर सुन कर सिद्धसेन चौंक उठे और सोचने लगे — “भेरी भूल बताने वाला यह कौन ? ये कहीं मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं हैं ?” उन्होंने तत्काल पालकी से नीचे उतर कर देखा और वृद्धवादी को पहिचान कर लज्जित मन से क्षमायाचना की ।

प्रसंगवश सिद्धसेन को साधना में और अधिक स्थित करने के लिये वृद्धवादी ने निम्नलिखित गद्या पढ़ कर उनसे इसका अर्थ पूछा :-

अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ, मां रोवा मोडहि ।

मणकुसुमेहि अच्चि निरंजणु, हिडहि कांइ वणेण वणु ॥१४॥

[प्रबन्धकोश]

बहुत कुछ सोचने पर भी सिद्धसेन इस श्लोक का यथार्थ भाव नहीं समझ सके । तब वृद्धवादी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा —

“अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ” अर्थात् — सिद्धसेन ! योगरूपी वृक्ष के यश कीर्ति और प्रताप आदि जो फूल हैं, उन्हें केवलज्ञानरूपी फल के पाये बिना ही अविकसित दशा में मत तोड़ ।

“मा रोवा मोडहि” — अर्थात् — महाव्रतों के रोपों (पौधों) को व्यर्थ ही मत मरोड़, मत रोंद ।

“मणकुसुमेहि अच्चि निरंजणु” — अर्थात् सद्भावरूपी मन्त्र के कुसुमों — फूलों से निरंजन जिनेन्द्रदेव की पूजा कर । अथवा सिद्धि प्राप्त निरंजन प्रभु की मनकुसुमों से पूजा कर ।<sup>१</sup>

“हिडहि कांइ वणेण वणु” अर्थात् — व्यर्थ ही वन से वन भटकने की तरह राजरंजन आदि निरर्थक कार्य क्यों करता है ? कितनी सुन्दर शिक्षा है ?

वृद्धवादी की शिक्षा को सुन कर सिद्धसेन ने आलोचनापूर्वक शुद्धि की । वे संयम-साधना में पूर्णरूपेण स्थिर हुए और राजा को पूछ कर वृद्धवादी के साथ कठोर साधना करते हुए विचरण करने लगे ।

जैनशास्त्रों की भाषा के प्रश्न को ले कर ब्राह्मण विद्वान् प्रायः कहा करते थे कि जैन परम्परा के आचार्य संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे । अन्यथा शास्त्रों की रचना प्राकृत जैसी सरल भाषा में नहीं की जाती । इतना ही नहीं इनका महामन्त्र भी साधारण जनों की भाषा — प्राकृत में बोला जाता है । जातिगत संस्कार और

<sup>१</sup> (क) प्रभावक परिच में पालकी उठाने का उल्लेख नहीं है ।

(ख) या कुसुमैर्यव निरंजन वीतराजम् ।

[प्रभावक परिच]

बाल्यकाल से संस्कृत के अभ्यास के कारण सिद्धसेन को उनका यह कथन बुरा लगा । नमोऽर्हत्सिद्धान्चार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः — इस प्रकार नमस्कार मंत्र का उन्होंने संस्कृत में उच्चारण कर विद्वत्समाज को सुनाया और उपाश्रय में आकर अपने गुरु के समक्ष नमस्कारमंत्र का संस्कृत रूपान्तर सुनाते हुए जैन शास्त्रों को संस्कृत भाषा में रचने का विचार प्रस्तुत किया ।

इस पर संघ ने कहा — “सिद्धसेन ! आपने वारणो के दोष से पाप का उपाजंन कर लिया है । तीर्थंकर भगवान् और गणधर संस्कृत से अनभिज्ञ नहीं थे । ऐसा करने से तीर्थंकर-गणधरों की अवहेलना होती है । आपने अनादि शाश्वत नमस्कार मंत्र का संस्कृत भाषा में अनुवाद कर घोर अपराध किया है । आप इसकी शुद्धि के लिये दशवें पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं ।

यह सुनकर सिद्धसेन ने संघ और गुरु की साक्षी से १२ वर्ष पर्यन्त मोन के साथ मुखवस्त्रिका रजोहरण रूप साधुवेश को गुप्त रख कर शासन की सेवा करने का पाराञ्चिक प्रायश्चित्त स्वीकार किया ।<sup>१</sup> वे गुप्त रूप से शासन की सेवा के कार्य में निरत हो गये और अनेक राजाओं को प्रतिबोध देते हुए सातवें वर्ष के पश्चात् उज्जैन पहुँचे । कहा जाता है कि अवधूत वेष में वे महाकालेश्वर के मन्दिर में जा, शिवलिंग की ओर पैर फँलाकर लेट गये । प्रभाचन्द्र और राजशेखर ने शिवलिंग की ओर पैर करके लेटने का उल्लेख नहीं किया है ।<sup>२</sup> प्रातःकाल जब पुजारियों ने उन्हें शिवलिंग की ओर पैर किये देखा तो उन्होंने सिद्धसेन को वहाँ से हट जाने के लिए बहुत कुछ कहा-सुना पर उनके सभी प्रयत्न निष्फल रहे । अन्त में उन्होंने राजा के पास पुकार की । राजा ने क्रुद्ध हो अपने सेवकों को आदेश दिया कि वे तत्काल उस योगी को कोड़े मार कर वहाँ से भगा दें । राजपुरुषों ने महाकालेश्वर के मन्दिर में पहुँच कर उस योगी को बहुत कुछ समझाया, डराया, धमकाया और इस पर भी उसके न हटने पर उसे कोड़ों से मारना प्रारम्भ किया । सब लोग यह देखकर विस्मित हो गये कि योगी के शरीर पर एक भी कोड़ा नहीं लगा । यह देख राजपुरुष अवाक् रह गये । उन्होंने राजा को सूचित किया । इस अद्भुत घटना से आश्चर्यचकित हो राजा विक्रमादित्य स्वयं तत्काल महाकाल के मन्दिर में गये और योगी से कहने लगे — “महारमन् ! आपको इस प्रकार शिवलिंग की ओर पैर करके सोना शोभा नहीं देता । आपको तो विश्ववन्द्य शिव को प्रणाम करना चाहिये ।”

योगी ने कहा — “राजन् ! आपका यह देव-शिवलिंग मेरा नमस्कार सहन नहीं कर सकेगा ।” राजा द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने पर सिद्धसेन ने महादेव

<sup>१</sup> (क) ततो विमृश्याभिदधेऽसौ — संघोऽवधारयतु, अहमाश्रितमोनो द्वादशत्रासिकं पाराञ्चिकं नाम प्रायश्चित्तं गुप्तमुखवस्त्रिका-रजोहरणादिलिङ्गः प्रकटितावधूतरूपश्चरिण्या-म्युपयुक्तः । [प्रबन्धकोश, पृ० १८]

(ख) प्रभावक चरित्र पृ० ५८

<sup>२</sup> यह घटना आर्य खण्ड के जीवन परिचय में दी गई घटना से मेल खाती है । — सम्पादक

के अच्चे स्वरूप की स्तुति प्रारम्भ की। कतिपय कथा ग्रन्थों में बताया गया है कि सिद्धसेन स्तुति के कुछ ही श्लोकों का उच्चारण कर पाये थे कि अद्भुत तेज के साथ वहाँ भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हो गई।

राजा विक्रमादित्य अचिन्त्य आत्मशक्ति के अनेक चमत्कारों को देख कर सिद्धसेन के परम भक्त बन गये। इस प्रकार सिद्धसेन ने ७ वर्षों में १८ राजाओं को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। कहा जाता है कि प्रायश्चित्तकाल के ५ वर्ष अवशिष्ट रह जाने पर भी श्रोसंघ ने सिद्धसेन के महाप्रभावक कार्यों से प्रसन्न हो कर उनके प्रायश्चित्त के शेष काल को क्षमा कर दिया। महाराज विक्रमादित्य और उनके धर्मकृत्यों पर आचार्य सिद्धसेन का गहरा प्रभाव माना जाता है। सिद्धसेन के प्रभाव से ही महाराज विक्रमादित्य ने जैनधर्मानुयायी बन कर अनेक परोपकार के कार्य किये थे। जैन साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में आज भी विक्रमादित्य के गुण-गौरव का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

आचार्य सिद्धसेन उद्भट विद्वान्, महाप्रभावक मधुर वक्ता, कुशल संघ-संचालक एवं उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा को प्रमाणित करने वाला उनका विशाल साहित्य आज भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। आप न्यायावतार, सन्मतितर्क, बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ, नयावतार, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, और आचारांग पर गन्धहस्ती के विवरण की टीका आदि प्रमुख ग्रन्थों के रचनाकार माने गये हैं।

सिद्धसेन दिवाकर का काल विक्रम की पहली शता माना जाता है। कुछ विद्वानों ने आपका काल विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना है। प्रभावक चरित्र, प्रबन्धकोश आदि के उल्लेखों से आपका काल विक्रम की पहली शताब्दी ही प्रामाणिक होता है। आपके पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। आप जाति से कात्यायन ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि दीक्षित होने से पहले वे पाण्डित्य के अभिमान में पेट पर लोहे का पट्टा, एक हाथ में कुदाली और दूसरे हाथ में निसैनी रख कर चला करते थे।

घटनाचक्र के चित्रण पर निष्पक्षरूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि ग्रंथकारों द्वारा अनेक स्थलों पर साहित्यिक अलंकार के रूप में अतिरंजन के साथ भी कतिपय घटनाओं का उल्लेख किया गया है।

### आर्य खपुट

द्वितीय कालकाचार्य के पश्चात् प्रभावक आचार्यों में आर्य खपुट विशेष प्रभावशाली माने गये हैं। इनके जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में परिचय उपलब्ध नहीं होता। इनके जीवन की कतिपय प्रभावोत्पादक घटनाओं का उल्लेख जैन साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। आर्य खपुट का युग सम्भवतः विशिष्ट विद्याओं का युग रहा है।

आवश्यक चूर्ण, निशीथचूर्ण आदि में इन्हें विद्यासिद्ध एवं विद्या-चक्रवर्ती जैसे विशेषणों से अभिहित किया गया है।<sup>१</sup> इससे यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होता है कि वे अतिशय विद्याओं के विशिष्ट जाता थे।

इनके जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओं का परिचय इस प्रकार है :-

एक बार आर्य खपुट भृगुकच्छपुर पधारे। वहां उनका भगिनीपुत्र भुवन आपके उपदेशों से प्रभावित होकर आपके शिष्यरूप से श्रमणाधर्म में दीक्षित हो गया। बुद्धिशाली समझ कर आर्य खपुट ने भुवन मुनि को कतिपय विद्याएं सिखाईं। संयोगवश भृगुपुर में बौद्ध भिक्षुओं ने राजा बलमित्र के सम्मान से गवित होकर जैन श्रमणों के उपाश्रय में घास की पूलियां गिराकर उन्हें पशुतुल्य बताते हुए द्वेष प्रकट करना प्रारम्भ किया। इससे भुवन मुनि बड़ा क्रुद्ध हुआ और श्रावक समुदाय को लेकर राजा बलमित्र की सभा में पहुंचा। वहां उसने उच्च स्वर में कहा - "हे राजन् ! तुम्हारे गुरु गेहेनदी बन कर जैन श्रमणों की निन्दा करते हैं। हम उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आ गये हैं। तुम उनको एक बार बुला कर मेरे साथ शास्त्रार्थ करवा दो। जिससे लोग भी वास्तविकता को जान सकें।" मुनि के आह्वान पर राजा ने बौद्धभिक्षुओं को बुलाया और मुनि भुवन के साथ शास्त्रार्थ करवाया। बौद्ध भिक्षु भुवन की अकाट्य युक्तियों के समक्ष चर्चा में परास्त हो गये। भुवन मुनि की विजय से जैन-संघ में हर्ष की लहर फैल गई पर बौद्ध संघ को इस अपमान से गहरा दुःख हुआ। उन्होंने गुडशस्त्रपुर से बौद्धाचार्य वृद्धकर को बुलाया और भुवन मुनि को उसके साथ शास्त्रार्थ के लिए कहा गया। भुवन मुनि ने विद्याबल एवं तर्क-बल से उसे भी पराजित कर दिया। इस अपमान से दुःखित होकर वृद्धकर कुछ ही दिनों पश्चात् काल कर गुडशस्त्रपुर में यक्ष के रूप से उत्पन्न हुआ। पूर्व-जन्म के वर के कारण वह जैन संघ और श्रमणों को डराने एवं विविध यातनाएं पहुंचा कर सताने लगा। संघ ने आर्य खपुट को वहां की परिस्थिति से परिचित कर गुडशस्त्रपुर पधारने की प्रार्थना की।

आर्य खपुट गच्छ के अन्य साधुओं के साथ भुवन मुनि को वहीं भृगुपुर में रख कर स्वयं गुडशस्त्रपुर पधारे। जाते समय आर्य खपुट ने एक कपदि (जन्त्री-पट्ट) भुवन मुनि को देकर उसे सावधानी से रखने एवं कभी न खोलने का आदेश दिया। गुडशस्त्रपुर पहुंच कर आर्य खपुट ने यक्ष को अपने प्रभाव से अपना भक्त बना लिया और राजा सहित समस्त नागरिकजनों को भी प्रभावित किया।

<sup>१</sup>, (क) विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि ।

सिग्गेज्ज महाविग्गा, विज्जासिद्धोऽज्जसउडोब्ब ।।

[आवश्यक मलय, पृ. १४१]

(ख) जो विज्जावसेण जुतो जहा अज्ज सउडो ।

[निशीथचूर्ण, भा० ३, पृ० १८]

आर्य खपुट गुडशस्त्रपुर में ही विराजित थे कि उनके पास भृगुपुर से दो साधु आये और उन्होंने निवेदन किया — “भगवन् ! आपके इधर चले आने पर भुवन मुनि ने आपकी सम्हलाई हुई गोपनीय कपर्दी को खोल कर उसमें से एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें उसे पाठ मात्र से सिद्ध होने वाली आर्काषिणी विद्या प्राप्त हो गई है। वह उस विद्या के प्रभाव से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोजन मंगवा कर खाने लगा। इस पर स्थविरों ने जब उसे ऐसा करने से मना किया तो वह क्रुद्ध होकर सौगतों के विहार में चला गया है। विद्या के प्रभाव से पात्र आकाशमार्ग से जाते और भोज्य पदार्थों से भरे लौटते हैं। इस प्रकार के प्रभाव को देख कर श्रावक भी भुवन मुनि की ओर आर्काषित होने लगे हैं। ऐसी स्थिति में आपको वहां पधार कर संघ को आश्वस्त करना चाहिये।”

मुनि युगल की बात सुन कर आर्य खपुट कुछ विचारमग्न हुए और गुड-शस्त्रपुर से भृगुकच्छपुर की ओर चल पड़े। भृगुकच्छपुर पहुंच कर आर्य खपुट कहीं गुप्त रूप से ठहरे और भुवन मुनि द्वारा आर्काषिणी विद्या से मंगवाये गए अन्नपूर्ण पात्रों को आकाशमार्ग में ही शिला द्वारा फोड़ कर गिराने लगे। पात्रों से मिष्टान्न आदि भोजन लोगों के सिर पर गिरने लगा। अपने श्रम को विफल होता देखकर भुवन मुनि को यह समझने में देरी नहीं लगी कि आर्य खपुट वहां पधार चुके हैं। भयभीत होकर वह भृगुपुर से भाग निकला। आर्य खपुट मुनिमण्डल सहित बौद्ध-विहार में पहुंचे और अपनी विद्या के प्रभाव से सबको प्रभावित कर उन्होंने अन्य क्षेत्र की ओर विहार किया। [आवश्यक वृत्ति के आधार पर]

विशिष्ट विद्याओं के माध्यम से चमत्कार-प्रदर्शन के उस युग में आर्य खपुट ने जिन शासन की सेवाएं कीं। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार आर्य खपुटाचार्य का समय वीर नि० सं० ४५३ और प्रभावक चरित्र में वीर नि० सं० ४८४ बताया गया है।<sup>१</sup> इन दोनों उल्लेखों को एक-दूसरे का पूरक, अर्थात् वीर नि० सं० ४५३ में उनके आचार्य काल का प्रारम्भ और वीर नि० सं० ४८४ में अवसान मान लिया जाय तो उपरोक्त दोनों ग्रन्थकारों के उल्लेख संगत और आर्य खपुट के आचार्य काल के निर्णायक बन सकते हैं।

### आर्य रेवतीमित्र (युगप्रधानाचार्य)

आर्य स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपके कुल, जन्म, जन्मस्थान आदि का परिचय प्राप्त नहीं होता। युगप्रधान यंत्र

<sup>१</sup> (क) श्रीबीरात् त्रिपंचाशदधिकचतुःशतवर्षातिक्रमे ४५३ भृगुकच्छे आर्य खपुटाचार्य इति पट्टावल्याम् । प्रभावकचरित्रे तु चतुरशीत्यधिकचतुःशत ४८४ वर्षे आर्य खपुटाचार्यः । [तपागच्छ पट्टावली]

(ख) श्रीबीर मुक्तिः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते ।

वर्षाणां समजायत, श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः ॥७६॥

[प्रभावक चरित्र, (विजयसिंहसूरिचरिते) पृ० ४३]

एवं मेरुतुंगाचार्य विरचित विचारश्रेणी में युगप्रधानाचार्यों के गृहस्थपर्याय, सामान्य यतिपर्याय, युगप्रधानपर्याय और पूर्ण आयु का विवरण प्रस्तुत करने वाली ६ माथाओं के अनुसार रेवतीमित्र १४ वर्ष की आयु में दीक्षित हुए। ४८ वर्ष तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की सम्यकरूपेण उपासना करते हुए उन्होंने सामान्य साधुरूप से श्रमणधर्म की परिपालना की। वीर नि० सं० ४१४ में आर्य स्कंदिल (षांडिल्य के स्वर्ग-गमन के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। तदनन्तर आपने ३६ वर्ष, ५ मास और ५ दिन तक युगप्रधान पद पर रहते हुए जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं। वीर नि० सं० ४५० में ६८ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्ग-रोहण किया।

गरााचार्य - ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य समुद्र के समय में आर्य सुहस्ती की परम्परा के गरााचार्य आर्य दित्र ही रहे।

### आर्य समुद्र के समय के राजवंश

आर्य समुद्र के वाचनाचार्य काल में पाटलिपुत्र में शुंगों, उज्जयिनी में नभोवाहन तथा नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल तथा प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजवंश के संस्थापक शिशुक का राज्य रहा। इस समय में अधिकांशतः यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड एवं वैदिक संस्कृति का भारत में व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

### १६. आर्य मंगू-वाचनाचार्य

आचार्य समुद्र, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे रसों में इतने अनासक्त थे कि सरस-नीरस जो भी आहार भिक्षा में प्राप्त होता, उसको बिना स्वाद की अपेक्षा किये एक साथ मिला कर प्रशान्त भाव से सेवन कर लिया करते थे। उन्हें सदा यह विचार रहता था कि रसों में आसक्ति के कारण कहीं आत्मा कर्मपाश में आबद्ध हो भारी न बन जाय।<sup>१</sup>

इनके इस प्रकार स्वाद-विजय और लाभ के प्रति अनासक्ति के कारण आचार्य देवद्वि ने 'अकवुब्धिभय समुद्रगंभीरं' इस पद से आपकी स्तुति की है। आर्य मंगू इन्हीं आर्य समुद्र के शिष्य थे।

आचार्य समुद्र के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके शिष्य आर्य मंगू वीर नि० सं० ४५४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आप बड़े ज्ञानी, ध्यानी और सम्यग्दर्शन के प्रबल प्रचारक थे। आचार्य देववाचक ने नन्दी की स्यविरावली में आपके लिए 'भरणं करणं ऋणं' इन तीन विशेषणों का एक साथ प्रयोग करते हुए अभिव्यक्त किया है कि आप भक्तिपूर्वक सेवा करने वाले शिष्यों को कुशलता के साथ सूत्रार्थ प्रदान करते और सद्धर्म की देशना द्वारा सहस्रों भव्य जनों को प्रतिबोध देकर जिनशासन की महत्वपूर्ण सेवा करते थे।

निशीथ भाष्य और चूर्ण के अनुसार आर्य मंगू बहुश्रुत और बहुशिष्य परिवार वाले होने पर भी उद्यतविहारी थे। एक समय विहारक्रम से विचरण

<sup>१</sup> पञ्चपक्षे अत्र समुद्रा, ते रसगिद्धीए भिता एकतो सव्वं मेलेउं भुजंति। [निशीथ चूर्ण]

करते हुए आचार्य मंगू मथुरा पधारे और अपने मृदु, मनोहर एव वैराग्यपूर्ण वचनों से मथुरा के नागरिकों को उपदेश से प्रतिबुद्ध करने लगे। आचार्य के ज्ञान, वैराग्यपूर्ण प्रवचन के प्रभाव से प्रभावित हो मथुरा के श्रद्धालु भक्तों ने वस्त्रादि से उनकी बड़ी भक्ति की। दूध, दही, घृत, गुड़ आदि स्वादिष्ट पदार्थों से वे उन्हें प्रतिदिन प्रतिलाभित करते। आचार्य का मोह भाव जागृत हुआ और उन्होंने साता-सुख में प्रतिबद्ध होकर वहीं स्थिरवास कर दिया। साथ के शेष मुनि वहाँ से विहार कर गये।

निमित्तों का भी बड़ा प्रभाव होता है। उपादान अर्थात् आत्मसामर्थ्य में किञ्चित्मात्र दुर्बलता आते ही निमित्त को अपना प्रभाव जमाने में देरी नहीं लगती।

स्थिरवास में रहने के कारण आचार्य के तप, संयम, साधना में शिथिलता आ गई। उनका चारित्र्याराधन मन्द हो गया और ऋद्धि, रस, साता-नौरव का प्राबल्य बढ़ गया। भक्तजनों द्वारा दिये गए सुस्वादु आहार और प्रेमपूर्ण सेवा से वे उग्रविहार को छोड़ कर वहीं पर प्रमादभाव में रहने लगे। अन्तिम समय में अपने सदोष आचरण की बिना आलोचना किये और बिना प्रमाद त्यागे आयु पूर्ण कर वे चारित्र्य धर्म की विराधना के कारण यक्ष योनि में उत्पन्न हुए।<sup>१</sup>

ज्ञान के द्वारा जब अपने पूर्व भव का परिचय प्राप्त किया तो वे पश्चात्ताप करने लगे - "अहो ! मैंने दुर्बुद्धि के कारण पूर्ण पुण्य से पाने योग्य महानिधान की तरह दुर्गतिहारी जिनमत पाकर भी अपना जीवन विफल कर दिया। ठीक ही कहा है - "चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता भी प्रमाद के कारण अनन्तकाय में जाकर उत्पन्न होते हैं।"<sup>२</sup> इस प्रकार परमनिर्वेद भाव से वे अपने पूर्वकृत प्रमाद की निन्दा करते रहे।

एकदा उन्होंने स्थंडिल भूमि की ओर जाते हुए अपने पूर्वभव के शिष्यों को देखा तो उन्हें प्रतिबोध देने हेतु वे अपना विचित्र स्वरूप बना कर मुंह से लम्बी जिह्वा निकाल मार्ग में खड़े हो गये। यक्ष को देख कर एक सात्विक भावना

<sup>१</sup> (क) मथुरा मंगू आगम, बहुसुय वेरग सङ्कष्या य।

सातादि-लोभ-गितिए, भरणे जीहाइ गिद्धमणे ॥३२००॥

सोबि अणालोइय पडिक्कंतो विराहिय सामणो वंतरो गिद्धमण जक्खो जातो।

[निशोष चूर्ण, भा० ३, पृ० १५२-१५३]

(ख) कालं काऊण भवणवासी उववण्णो, साह पडिबोहण्णो आगमो।

[वही, भा० २, पृ० १२५]

(ग) सो गाडपमायपिसाय - गहियहिययो, विमुक्क तवचरणे।

गारणतिग-पडिबडो, सद्धेसु ममत्त संजुत्तो ॥३

दडसिडिसयसामन्तो, निस्सामन्नं पमायमचइत्ता।

कालेण भरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ॥४॥

[दर्शनशुद्धि सटीक]

<sup>२</sup> चउदसपुम्बधरावि, पमायधो जंविनंतकायेसु।

एयंपि ह हा हा पावं, जीवनतए तथा सरियं ॥१०॥

[आर्य मंगू कथा]

वाले शिष्य ने कहा — “देवानुप्रिय ! तुम देव, यक्ष अथवा जो भी हो प्रकट होकर बोलो । इस प्रकार तो हम लोग तुम्हारा अभिप्राय किंचित्मात्र भी नहीं समझ पा रहे हैं ।”

यक्ष ने खेदपूर्ण स्वर में कहा — “हे तपस्वियो ! मैं वही तुम्हारा गुरु आर्य मंगू हूँ ।”

साधुओं ने भी खिन्न मन से कहा — “देव ! आपने इस प्रकार की दुर्गति किस प्रकार प्राप्त की ?”

यक्ष ने कहा — “प्रमाद के अधीन होकर चारित्र्य में शिथिलता लाने वालों की ऐसी ही गति होती है । हमारे जैसे ऋद्धि-रस-साता के गौरव वाले शिथिल-विहारियों की ऐसी गति हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तुम लोग यदि दुर्गति से बचना और सुगति की ओर बढ़ना चाहते हो तो प्रमादरहित होकर उद्यत-विहार से विचरते हुए निर्ममत्व भाव से तप-संयम की आराधना करते रहना ।”

साधुओं ने कहा — “ओ देवानुप्रिय ! तुमने हमें ठीक प्रतिबुद्ध किया है ।” यह कह कर उन्होंने तत्परता के साथ संयम-धर्म का आराधन प्रारम्भ किया और उद्यत-विहार से विचरने लगे ।

नंदीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देववाचक ने, भ्रणं इस पद से कालिक आदि सूत्रों को पढ़ने वाले. करणं से सूत्रोक्त क्रियाकलाप को करने वाले और भ्रणं पद से धर्मध्यान ध्याने वाले आदि विशेषणों से आर्य मंगू की स्तुति करते हुए उन्हें श्रुतसागर का पारगामी आचार्य बताया है । उनके द्वारा कहे गये — “पभावगं नाणदसंलगुणाणं” — इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य मंगू ज्ञान दर्शन के प्रबल प्रभावक थे । आगे चल कर आचार्य देववाचक ने यहां तक लिख दिया है — “श्रुतसागर के पारगामी एवं धीर आर्य मंगू को वंदन हो ।”<sup>१</sup>

दिगम्बर परम्परा के मान्य शास्त्र “कसाय-पाहुड” की टीका जयधवला के अनुसार आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती कसायपाहुड के चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के विद्यागुरु माने गये हैं । जैसा कि जयधवलाकार ने लिखा है — आचार्य मंक्षु और आचार्य नागहस्ती द्वारा आचार्य यतिवृषभ को दिव्यध्वनिरूप किरण प्राप्त हुई ।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> दृष्ट्वा प्रासारयहीर्षा, जिह्वां बोधयितुं सुधीः ।

तेष्वेकः सात्त्विकः साधुरुचे त्वं कोऽसि गुह्यकः ॥५॥

[आचारकरूप]

<sup>२</sup> भ्रणं करणं भ्रणं, पभावगं नाणदसंलगुणाणं ।

वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारणं धीरं ॥३०॥

[नंदीसूत्र स्थविरावली]

<sup>३</sup> ... विउलगिरिमत्थयत्थ वड्डमाणदिवायरादो विण्णिग्गमिय गोदम — लोहज्ज — जंबुसामि-यादि आइरियपरम्पराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंक्षु — गागहत्थीहितो जइवसहायरियमुवणमिय चुण्णिसुत्तापारेण परिणददिव्वज्जुण्णि—किरणदो सण्वदे ।

— [कसायपाहुड (यतिवृषभआचार्यकृत चूर्ण एवं जयधवलाटीका सहित) अणुभागविभक्तौ भाग ५, पृ० ३८८]



यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि नन्दी स्थविरावली की ३१ वीं तथा ३२ वीं गाथाओं में वाचक परम्परा के आर्य मंगू के पश्चात् आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित - इन चार युगप्रधान आचार्यों को वाचनाचार्य भी बताया गया है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र और टीकाकार मलयगिरि ने इन दोनों गाथाओं का नदीसूत्र की चूर्णिका, वृत्ति और टीका में निर्देश तक नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इन गाथाओं को प्रक्षिप्त माना है।

इन चार युगप्रधान आचार्यों में से आर्य वज्र स्पष्ट रूप से आर्य सुहस्ती की परम्परा के आचार्य हैं। शेष तीन आचार्य आर्य महागिरि की परम्परा के आचार्य है अथवा सुहस्ती की परम्परा के - इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये तीनों युगप्रधानाचार्य किसी अन्य ही स्वतन्त्र परम्परा के अथवा आर्य महागिरि की परम्परा की किसी शाखा के आचार्य हों और इनकी अप्रतिम प्रतिभा के कारण इन्हें वाचनाचार्य माना हो। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों तथा युगप्रधानाचार्य पट्टावली से यह निर्विवाद रूपेण प्रमाणित होता है कि ये चारों ही आचार्य अपने समय के महान् प्रभावक युगपुरुष और आगमों के पारदृष्टा थे। इनकी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ही इन्हें युगप्रधान आचार्य के साथ-साथ वाचनाचार्य भी माना गया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य मंगू, आर्य नन्दिल और आर्य नागहस्ती ये तीनों ही वाचनाचार्य सुदीर्घजीवी हुए हैं और उनके वाचनाचार्य काल में ही उपरोक्त चारों युगप्रधानाचार्य वाचक वंश के न होते हुए भी अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं तलस्पर्शी आगम-ज्ञान के कारण वाचनाचार्य माने गये हैं।

इन सभी तथ्यों और मुख्य परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए इन चारों आचार्यों का परिचय वाचनाचार्य परम्परा में न देकर युगप्रधानाचार्य परम्परा में दिया जा रहा है।

### आर्य धर्म - युगप्रधानाचार्य

आर्य रेवतीमित्र के पश्चात् वीर निर्वाण सं० ४५० में आर्य धर्म युगप्रधानाचार्य हुए। आप १८ वर्ष की वय में दीक्षित हुए। ४० वर्ष तक श्रमण धर्म की साधना कर आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। ४४ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहते हुए आपने वीरशासन की प्रभावशाली सेवा की। १०२ वर्ष, ५ मास, ५ दिन की पूर्ण आयु भोग कर आप वीर नि०सं० ४६४ में स्वर्गस्थ हुए। मेरुतुंगीया 'विचारश्रेणी' के उल्लेखानुसार वृद्ध परम्परा में आर्य मंगू का ही अपर नाम धर्म माना गया है। यदि इसमें तथ्य होता तो नन्दी स्थविरावली और जयधवला में भी अवश्य इस प्रकार का उल्लेख होता।

### आर्य सिंहगिरि - गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य दिक्ष के पश्चात् आर्य सिंहगिरि गणाचार्य हुए। आपके सम्बन्ध में केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि आप विशिष्ट प्रतिभाशाली एवं जातिस्मरण ज्ञान सम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। खुशाल पट्टावली के अनुसार वीर नि. सं० ५४७-४८ में अपना स्वर्गवास हुआ। वीर नि. सं. ४९६ में आर्य वज्र का जन्म हुआ, उससे बहुत पहले आर्य समित सिंहगिरि के पास दीक्षित हो चुके थे इससे अनुमान किया जाता है कि आर्य सिंहगिरि वीर नि. सं. ४९० में आचार्य रहे हों। आपके सुविशाल शिष्यपरिवार में से केवल आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र और आर्य अर्हदत्त इन चार प्रमुख शिष्यों के ही नाम उपलब्ध होते हैं। उनका परिचय इस प्रकार है :-

#### आर्य समित

आर्य समित का जन्म अतिसमृद्ध अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन नामक ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम धनपाल था जो कि बहुत बड़े व्यापारी थे। गौतम गौत्रीय वैश्य श्रेष्ठी धनपाल की उस समय के प्रमुख कोटघडीशों में गणना की जाती थी। आर्य समित के अतिरिक्त श्रेष्ठी धनपाल के एक पुत्री भी थी, जिसका नाम सुनन्दा था।

श्रेष्ठी धनपाल ने अपने होनहार पुत्र समित की शिक्षायोग्य वय में शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की। आर्य समित बाल्यकाल से ही विरक्त की तरह रहते थे। ऐहिक सुखोपभोगों के प्रति उनके चित्त में किञ्चित्मात्र भी अभिरुचि नहीं थी।

किशोरावस्था में प्रवेश करते ही उन्होंने अतुल धन-वैभव और सभी प्रकार की प्रचुर भोगसामग्री का परित्याग कर आचार्य सिंहगिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

उसी तुम्बवन ग्राम के निवासी श्रेष्ठी धन के पुत्र-धनगिरि की समित के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। श्रेष्ठी धनपाल ने अपने पुत्र समित के प्रव्रजित हो जाने पर उसके मित्र धनगिरि के समक्ष अपनी पुत्री सुनन्दा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। यद्यपि धनगिरि ऐहिक भोगों के प्रति उदासीन था, तथापि अपने मित्र के पिता द्वारा अनन्य आग्रह किये जाने पर उसने अन्ततोगत्वा सुनन्दा के साथ विवाह किया। आर्य समित की बहिन सुनन्दा ने समय पर महान् प्रतापी एवं प्रभावक आचार्य वज्र को जन्म दिया।

आर्य समित ने दीक्षित होने के पश्चात् गुरुसेवा में रहते हुए त्रिधिपूर्वक शास्त्रों का बड़ी ही लगन के साथ अध्ययन किया। वे मन्त्रविद्या के भी विशेषज्ञ थे। उन दिनों अचलपुर के समीप कृष्णा और वेणा नामक दो नदियों से घिरे हुए एक आश्रम में ५०० तापस निवास करते थे। उनके कुलपति का नाम देवसर्म

था।<sup>१</sup> दो नदियों से घिरा हुआ होने के कारण वह आश्रम ब्रह्मद्वीपक के नाम से प्रसिद्ध था। संक्रान्ति आदि कतिपय पर्व दिनों के अवसर पर देवशर्म अपने मत की प्रभावना करने के उद्देश्य से पैरों पर एक विशिष्ट प्रकार का लेप लगाकर सभी तापसों के साथ कृष्णा नदी के जल पर चलता हुआ अचलपुर पहुंचता। इस प्रकार का चमत्कारपूर्ण अद्भुत दृश्य देख कर भोले-भाले और भावुक लोग बड़े प्रभावित होते और अशनपानादि से उन तापसों का बड़ा आदर-सत्कार करते। तापसों के भक्तगण बड़े गर्व के साथ श्रावकों के समक्ष अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए उनसे पूछते - "क्या तुम्हारे किसी गुरु में इस प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य है?" श्रावकों को मौन देखकर वे लोग और अधिक उत्साह और गर्व भरे स्वर में कहते - "हमारे गुरु की तपस्या का जैसा अद्भुत एवं प्रत्यक्ष चमत्कार है, उस प्रकार का चमत्कार और अतिशय न तुम्हारे धर्म में है और न तुम्हारे गुरुओं में ही। अस्तुतः हमारे गुरु प्रत्यक्ष देव हैं, इन्हें नतमस्तक हो श्रद्धापूर्वक नमन करो।"

तापसों के भक्तों के इस प्रकार के व्यंगभरे वचनों से श्रावकों के अन्तर्मन को गहरा आघात पहुंचता। उन्हीं दिनों आर्य सिंहगिरि के शिष्य एवं आर्य वज्र के मातुल आर्य समितसूरि का अचलपुर में पदार्पण हुआ। श्रावकगण ने आर्य समित को बन्दन-नमन करने के पश्चात् भूतल की तरह ही नदी के जल पर भी तापसों के चलने-फिरने की सारी घटना निवेदित की। आर्य समित कुछ क्षणों तक मौन रहे। श्रावकों ने पुनः निवेदन किया - "देव! जनमानस में जिनमत का प्रभाव कम होता जा रहा है। कृपा कर कोई न कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे कि जैन धर्म का प्रभाव बड़े।"

आर्य समितसूरि ने सस्मित स्वर में कहा - "तापस जल पर चलते हैं, इसमें तपस्या का कोई प्रभाव नहीं, यह तो उनके द्वारा अपने पैरों पर किये जाने वाले लेप का प्रभाव है। भोले-भाले लोगों को वृथा ही भ्रम में डाला जा रहा है।"

श्रावकों ने तापसों द्वारा फैलाये गये मायाजाल और भ्रम को सर्वसाधारण पर प्रकट करने का दृढ़ संकल्प लिए कुलपति सहित सभी तापसों को अपने यहां भोजनार्थ निमन्त्रित किया। जब दूसरे दिन सभी तापस भोजनार्थ श्रावकों के यहां आये तो श्रावकों ने उष्ण जल से सभी तापसों के पैरों को धोना प्रारम्भ किया। कुलपति ने श्रावकों को रोकने का पूरा प्रयास किया। किन्तु श्रावकों ने उनकी एक भी बात नहीं सुनी। "आप जैसे महात्माओं के चरणकमलों को बिना धोये ही यदि हम आपको भोजन करवा दें तो हम सब के सब महान् पाप के भागी हो जाएंगे" - यह कहते हुए श्रावकों ने बड़ी तत्परतापूर्वक उन सब तापसों के पैरों को खूब मल-मल कर धो डाला।

भोजनोपरान्त तापस अपने आश्रम की ओर प्रस्थित हुए। श्रावकों ने उन्हें ससम्मान विदा करने के बहाने हजारों नर-नारियों को वहां पहले ही एकत्रित कर लिया था। तापसों के पीछे विशाल जनसमूह जयघोष करता हुआ चलने लगा।

<sup>१</sup> देवशर्मनामा कुलपतिः परिवसति।

[पिण्डनिर्युक्ति, पत्र १४४ (१)]

वेणा के तट पर पहुंचते ही कुलपति के साथ-साथ समस्त तापससमुदाय भिन्नका । उनके समक्ष अति विकट समस्या उपस्थित थी । एक ओर नदी में डूबने का डर था तो दूसरी ओर बड़ी कठिनाई से उपाजित कीर्ति के मिट्टी में मिलने का भय । लेप का थोड़ा-बहुत प्रभाव तो अवश्य रहा होगा — यह विचार कर कुलपति वेणा के जल में उतरा । वेणा का प्रवाह तेज था और कुलपति के पैरों का लेप गरम पानी से पहले ही धुल चुका था । अतः तापसों का कुलपति वेणा के अगाध एव तीव्र प्रवाहपूर्ण जल में डूबने लगा ।

उसी क्षण आर्यं समितसूरि वेणा-तट पर पहुंचे और तापसों के कुलपति को वेणा में डूबता हुआ देखकर बोले — “वेण्यो ! हमें उस ओर जाने के लिए मार्ग चाहिये ।” यह देख कर विशाल जनसमूह स्तब्ध रह गया कि तत्क्षणा नदी का जल सिकुड़ गया और उस नदी के दोनों पाट पास-पास दृष्टिगोचर होने लगे । आर्यं समित एक डग में ही वेणा के दूसरे तट पर पहुंच गये । आर्यं समितसूरि की अनुपम आत्मशक्ति से सभी तापस और उपस्थित नर-नारी बड़े प्रभावित हुए । आर्यं समित ने उन सबको धर्म का सच्चा स्वरूप समझाते हुए स्व-पर का कल्याण करने के लिए प्रेरित किया । आर्यं समित के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेश को सुनकर तापस कुलपति अपने ४६६ शिष्यों सहित निर्ग्रन्थ-श्रमण-धर्म में दीक्षित हो गये । वे ५०० श्रमण पहले ब्रह्मद्वीप आश्रम में रहते थे अतः श्रमण धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी शाखा “ब्रह्मद्वीपिका शाखा” के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गई ।<sup>१</sup>

आर्यं समित अपने समय के महान् प्रभावक आचार्य थे । उन्होंने आत्म-कल्याण के साथ-साथ अनेक भव्यों को साधना-पथ पर आरूढ़ कर जिनशासन की अनुपम सेवाएं कीं ।

### आर्यं धनगिरि

आर्यं सिंहगिरि के दूसरे प्रमुख शिष्य आर्यं धनगिरि ने युवास्था में बिपुल वैभव और अपनी पतिपरायणा गुर्विणी पत्नी के मोह को छोड़ कर जो उत्कट त्याग-वैराग्य का अनुपम उदाहरण रखा उस प्रकार का अनन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । आपका परिचय आर्यं वज्र के परिचय के साथ दिया जा रहा है ।

### आर्यं अर्हद्दत्त

आपका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता ।

### आर्यं मंगू के समय के प्रमुख राजवंश

आर्यं मंगू के वाचनाचार्यकाल में, वीर नि० सं० ४७० में तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व तथा शक संवत् से १३५ वर्ष पूर्व अवन्ती के राज्य-सिंहासन पर

<sup>१</sup> ते य पंचतावसत्या समियायारियस्स समीवे पव्वत्तिता । ततो य बंधवीवा साहा संभुत्ता ।

[निशीयचूर्णा, भा० ३, गा० ४२७२, पृ० ४२६]

महान् प्रतापी एवं परमप्रजावत्सल विक्रमादित्य नामक गण-राजा आसीन हुआ । विक्रमादित्य जिस दिन उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ, उसी दिन से अवनती राज्य में और उसके १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण भारतवर्ष में उसके नाम से एक संवत् प्रचलित हुआ जो क्रमशः कृत संवत्, मालव संवत्, मालवेश संवत् और विक्रम संवत् के नाम से व्यवहृत हुआ । आज भारत के प्रायः सभी भागों में विक्रम संवत् प्रचलित है और प्रतिदिन उस ऐतिहासिक दिवस का जन-जन को स्मरण कराता रहता है, जिस दिन शकारि विक्रमादित्य राज्यसिंहासन पर बैठा । दो सहस्र से भी अधिक वर्षों से विक्रम संवत् जैन कालगणना को सुनिश्चित करने तथा भारतीय ऐतिहासिक तिथिक्रम को प्रामाणिक रूप से सुनियोजित-सुव्यवस्थित बनाये रखने में प्रमुख एवं सर्वसम्मत आधार माना जाता रहा है ।

वीर विक्रमादित्य के शौर्य, दानशीलता, परोपकारपरायणता, न्यायप्रियता एवं प्रजावत्सलता आदि गुणों से ओतप्रोत यशोगाथाओं से भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है । ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी के विद्वान् गुणाढ्य की पैशाची भाषा की महान् कृति "वृहत्कथा" के आधार पर सोमदेव भट्ट द्वारा रचित "कथासरित्सागर" में विक्रमादित्य को अनाथों का नाथ, बन्धुहीनों का बान्धव, पितृहीनों का पिता, निराश्रितों का आश्रयदाता और प्रजाजनों का प्राण-त्राण एवं सर्वस्व तक बताया गया है ।<sup>१</sup> विक्रम सम्बन्धी साहित्य के सम्यक् पर्यालोचन के पश्चात् यदि यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम और महान् कर्मयोगी श्रीकृष्ण के पश्चात् भारतीय साहित्य, साहित्यकारों और जनमानस पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव विक्रमादित्य का रहा है । वस्तुतः विक्रमादित्य का नाम भारतीय जनमानस में रम गया है ।

एक अज्ञात प्राचीन कवि ने तो विक्रमादित्य के लिये यहां तक कह दिया है कि — विक्रमादित्य नृपति ने उन महान् कार्यों को किया, जिनको कि कभी कोई नहीं कर सका, इतने बड़े-बड़े दान दिये, जो कभी कोई नहीं दे सका और ऐसे-ऐसे असाध्य कार्यों को साध्य बनाया, जिनको अन्य कोई साध्य नहीं बना सका ।<sup>२</sup>

भारतीय विभिन्न भाषाओं में विक्रमादित्य के सम्बन्ध में बड़ी ही प्रचुर मात्रा में साहित्य निर्मित किया गया है । उस समग्र साहित्य की यदि सूची तैयार की जाय तो संभवतः वह एक बहुत बड़ी सूची होगी । विक्रमादित्य के जीवन से सम्बन्धित अनुमानतः ५० से ऊपर पुस्तकें तो जैन साहित्य में आज दिन तक उपलब्ध हैं । अनुमानतः इतनी ही विक्रम सम्बन्धी पुस्तकें जेनेतर वाङ्मय में होनी चाहिये । इनके अतिरिक्त लोकभाषाओं में हजारों जनप्रिय लोककथाएं एव

<sup>१</sup> स पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः

अनाथानां च नाथः सः, प्रजानां कः स नामवत् ॥ १८।१।६२

<sup>२</sup> तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचिद् ।

तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥ १२४६ ॥

[साङ्गधरपद्धति]

आख्यान प्रचलित हैं, जिनमें विक्रम की न्यायप्रियता, परोपकारिता आदि अनेक अद्भुत गुणों का बड़ा ही रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।

कुछ जैन ग्रन्थों के आधार पर विक्रमादित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

मालव प्रदेश की अवन्ती नगरी में गर्दभिल्ल नामक राजा न्यायपूर्वक शासन करता था। उसकी पहली रानी धीमती से भर्तृहरि और उसके पश्चात् दूसरी रानी श्रीमती से विक्रम का जन्म हुआ।<sup>१</sup>

अश्विनीकुमारों के समान सुन्दर स्वरूप वाले वे दोनों कुमार क्रमशः किशोर वय में प्रविष्ट हुए। गर्दभिल्ल ने अपने बड़े पुत्र का राजा भीम की राजकुमारी अनंगसेना के साथ बड़ी धूमधाम-पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार करवा दिया। तदनन्तर गर्दभिल्ल ने अनेक देशों को विजित कर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

कालान्तर में शूल रोग से राजा गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई और मन्त्रियों ने भर्तृहरि का अवन्ती के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक कर दिया।<sup>२</sup>

एक दिन अपने अग्रज भर्तृहरि द्वारा किसी तरह अपमानित किये जाने के कारण विक्रमादित्य अमर्षवशात् खड्ग लेकर एकाकी ही अवन्ती राज्य से निकल पड़ा।<sup>३</sup>

इस प्रकार बड़ा भाई भर्तृहरि अवन्ती राज्य पर शासन करने लगा और उसका अनुज विक्रमादित्य देश-देशान्तरों में परिभ्रमण करने लगा।

<sup>१</sup> तत्र न्यायाध्वना सर्वा, जनता पालयन् सदा ।

गर्दभिल्लः नृपो राज्यं चकार स्वगिनाथवत् ॥१८॥

धीमती श्रीमतीत्याह्ने द्वे पत्न्यौ तस्य सुन्दरे ॥१९॥

दधाना धीमती गर्भं सुन्दरस्वप्नसूचितम् ।

शुभेऽह्नि सुपुत्रे पुत्रं, पूर्ववार्कस्फुरद्द्युतिम् ॥२०॥

जन्मोत्सवं नृपः कृत्वाकार्यं सज्जनबान्धवान् ।

ददौ भर्तृहरेत्याख्यां, पुत्रस्य मुदिताशयः ॥२१॥

सम्प्राप्त समये हारिवासरेऽर्कोदयक्षणे ।

श्रीमती सुपुत्रे पुत्रं निधानमिष मेदिनी ॥२२॥

गर्दभिल्ल क्षमापालः कृत्वा जन्मोत्सवं मुदा ।

विक्रमार्कंतिनामादात्, सूनोरर्कविलोकनात् ॥२३॥

[विक्रमचरितम्, सर्ग १]

<sup>२</sup> ग्रन्थेषुः शूलरोगेण गर्दभिल्लमहीपतिः ।

मृत्वाकस्मान्मरुद्धाम्, जगाम धर्मतत्परः ॥२४॥

मृत्युकृत्यादिके कार्ये कृते मन्त्रीश्वरादयः ।

सदुत्सवं व्यधुर्भर्तृहरे राज्याभिषेचनम् ॥२५॥

[वही]

<sup>३</sup> भूनेन विक्रमादित्योऽप्रमानं गमिन्नान्यदा ।

एकाकी खड्गमादाय ययो देशान्तरे बवचित् ॥२६॥

[वही]

शुभशीलगरी ने विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई आदि का उपरोक्त परिचय देने के पश्चात् “यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता” यह लोकविश्रुत श्लोक देते हुए अमरफल वाला वृत्तान्त दिया है, जिसमें एक ब्राह्मण द्वारा अमरफल प्राप्त करने, उसे भर्तृहरि राजा को देने, राजा द्वारा अपनी रानी को दिये जाने, रानी द्वारा कुबड़े अश्ववाहक को, अश्ववाहक द्वारा गणिका को और गणिका द्वारा पुनः राजा भर्तृहरि को उस फल के दिये जाने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि वस्तुस्थिति से अवगत होते ही भर्तृहरि संन्यस्त हो वन में चला गया और उसके पश्चात् विक्रमादित्य उज्जयिनी के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ।

अन्यान्य विद्वानों द्वारा रचित विक्रमचरित्रों में कतिपय अंशों में इससे मिलता-जुलता विषय का प्रारम्भिक परिचय दिया हुआ है। इनमें से किसी भी ग्रंथ में विक्रमादित्य के वंश के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला गया है।

### हिमवन्त स्थविरावलीकार और विक्रमादित्य

प्राकृत और संस्कृत भाषा की हस्तलिखित पुस्तक “हिमवन्तस्थविरावली” में विक्रमादित्य को मौर्यवंशी बताया गया है। हिमवन्त स्थविरावली का एत-द्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :-

‘अवन्ती नगरी में सम्प्रति के निष्पुत्र निधन के अनन्तर अशोक के पौत्र तथा तिष्यगुप्त के पुत्र बलमित्र एवं भानुमित्र नामक राजकुमार अवन्ती के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए। वे दोनों भाई जैनधर्म के परमोपासक थे। उनके निधन के पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन अवन्ती के राज्य का स्वामी बना। नभोवाहन भी जैनधर्म का अनुयायी था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल राजा बना। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य द्वितीय की बहिन साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण करवा कर उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर दिया। सब प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी गर्दभिल्ल ने त्याग-पथ की पथिका साध्वी सरस्वती को मुक्त नहीं किया। अन्ततोगत्वा कालकाचार्य ने अन्य और कोई चारा न देख भृगुकच्छ के अधिपति अपने भागिनेय बलमित्र-भानुमित्र’ एवं सिन्धुप्रदेश के शक राजाओं की सम्मिलित सेना द्वारा उज्जयिनी पर आक्रमण करवा दिया। भीषण युद्ध में गर्दभिल्ल मारा गया और शकों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। आर्य कालक ने अपनी बहिन साध्वी सरस्वती को पुनः संयम धर्म में स्थापित किया और वे स्वयं भी समुचित प्रायश्चित्त कर संयमसाधना में निरत हुए।

१ वे दोनों बन्धु आर्य कालक के भागिनेय भृगुकच्छ राज्य के अधिपति बलमित्र भानुमित्र से मिले हैं। इनका सत्ताकाल बीर सि० सं० ३५३ से ४१३ तक का है जबकि मड़ीप के बलमित्र-भानुमित्र का समय बीर निर्वाह से ४५४ वर्ष पश्चात् का है।

विदेशी शकों के अत्याचारों से संतप्त प्रजा का नेतृत्व कर विक्रमादित्य ने शकों को परास्त किया और ४ वर्ष पश्चात् ही पुनः अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया ।”

आचार्य मेरुतुंग की 'विचारश्रेणी' तथा अनेक प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित राजवंशों के विवरणों के संदर्भ में विचार करने पर हिमवन्त स्थविरावली में वर्णित उपरोक्त घटनाक्रम संगत और विश्वसनीय प्रतीत होता है। कहावली एवं परिशिष्ट पर्व में वीर निर्वाण के पश्चात् राजवंशों की कालगणना में पालक के राज्य के ६० वर्षों को सम्मिलित न किये जाने के कारण जो कालक्रम के आलेखन में त्रुटि रही है, तथा उसके परिणामस्वरूप कालगणनाविषयक एक तबीन मान्यता विगत अनेक शताब्दियों से प्रचलित रही है, उसका प्रभाव हिमवन्त स्थविरावली-कार पर भी पूरी तरह से पड़ा है। उपरिर्चित उद्धरण में हिमवन्त स्थविरावली-कार ने जो ऐतिहासिक घटनाओं का तिथिक्रम दिया है, उन सभी तिथियों में यह ६० वर्ष का अन्तर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैन कालगणना विषयक उस दूसरी मान्यता के प्रभाव में हिमवन्तस्थविरावलीकार ने ६० वर्ष पश्चात् घटित होने वाली घटनाओं का तिथिक्रम ६० वर्ष पहले का दे दिया है। नन्दवंश के अन्त एवं मौर्य-शासन के प्रारम्भ होने के काल की चर्चा करते समय इस कालभेद के सम्बन्ध में पहले प्रमाण-पुरस्सर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

सोमदेव रचित कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की उपासना की। शंकर के कृपाप्राप्त से शंकर का माल्यवान नामक गण सौम्यदर्शना के गर्भ से उत्पन्न हुआ और महेन्द्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य रखा।

सिंहासन बत्तीसी आदि अनेक ग्रंथों में भर्तृहरि और विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में बड़ा ही अद्भुत उल्लेख उपलब्ध होता है। उससे सभी परिचित हैं अतः उसे यहां देने की आवश्यकता नहीं।

‘महामती रायरमि संपड् एिवस्स णिपुत्तस्स सग्गमणंतरमसोणसिक्खपुत्तस्सगुत्तस्स बलमित्तभागुमित्तणामधिज्जे दुवे पुत्ते वीराओ दो तय चउणवई वासेसु विडक्कतेसु रज्जं पत्ते । ते एं दुन्नि वि भाया जिणधम्माराहणे वीराओ चउवन्नाहियतिसयवासेसु विडक्कतेसु सग्गं पत्ते । तयणंतरं बलमित्तस्स पुत्तो एणोवाहणो भवंती रज्जे ठिओ । से वि य एं जिणधम्मणो वीराओ तिसयचउणवई वासेसु विडक्कतेसु सग्गं पत्तो । तओ तस्स पुत्तो गद्दहीविज्जोवेओ गद्दहिल्लो णिवो भवंतीरायरे रज्जं पत्तो ।

.....तय एं भीसरो जुज्जे जायमारो गद्दहिल्लो णिवो कालं किच्चा सेरइया-तिहिओ जाओ ।.....

तउ गद्दहिल्लसिक्खपुत्तो विक्कमणामधिज्जे तं सामंतणामधिज्जं सगरायमाकम्म वीराओ दसाहियचउसयवासेसु विडक्कतेसु भवंती रायरे रज्जं पत्तो । से वि य एं विक्कमवकी णिवो भईव परक्कमज्जओ जिणधम्माराहणो परोपयारेगणिट्ठो भवंतीए रायरे रज्जं कुणामाणो लोणामाणवई पिओ जाओ । [हिमवन्तस्थविरावली, अप्रकाशित]



जहां एक ओर विक्रमादित्य का संवत् आज से २०३० वर्ष पहले से चला आ रहा है, संस्कृत, प्राकृत एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं में विक्रम का जीवन-परिचय देने वाले १०० से ऊपर ग्रंथ, हजारों आख्यान और लोककथाएं भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं तथा विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले सैकड़ों शिलालेख, दानपत्र आदि विद्यमान हैं, वहां दूसरी ओर यह देखकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि भारतीय जनजीवन में शताब्दियों से पूर्णतः रमे हुए, भारतीयों के हृदयसम्राट् महान् प्रतापी राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में भी कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सन्देह प्रकट करते हैं।

‘ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में इस प्रकार का महान् प्रतापी विक्रमादित्य नामक राजा हुआ अथवा नहीं।’ अपनों इस शंका की पुष्टि में मुख्य रूप से उन विद्वानों द्वारा यही कहा जाता है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व यदि विक्रमादित्य नाम का महान् प्रतापी राजा हुआ होता और उसने अपने नाम से संवत् प्रचलित किया होता तो उसके नाम के सिक्के अवश्य उपलब्ध होते। इसके साथ ही साथ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की षठी शताब्दी के बीच के किसी समय के कम से कम एक दो शिलालेख तो विक्रम संवत् के उल्लेख के साथ मिलते। पर इस अवधि के बीच का एक भी शिलालेख इस प्रकार का नहीं मिलता जिस पर स्पष्ट शब्दों में विक्रम संवत् अंकित हो। विक्रम संवत् के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिलालेख चण्डमहासेन नामक चौहान राजा का धोलपुर से मिला है जिस पर विक्रम संवत् ८६८ खुदा हुआ है। इस प्रकार यह लेख ई० सन् ८४१ का है। इससे पहले के जितने भी अभिलेख विक्रमादित्य के संवत् से सम्बन्धित बताये जाते हैं, उन पर विक्रम संवत् नहीं अपितु निम्नलिखित पद खुदे हुए हैं :-

- (१) श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते ।
- (२) कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां ।  
(नगरी का लेख)
- (३) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ।  
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यधनस्तने ॥  
(मन्दसोर का कुमारगुप्त (१) का शिलालेख)

जो विद्वान् इस प्रकार की शंका उठाते हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी और उसके पश्चात् की भी कतिपय शताब्दियों में देश की राजनैतिक स्थिति कितनी अस्थिर, डांवाडोल और विदेशी आक्रमणों, गृह कलहों के कारण उथलपुथल से भरी होगी। इस प्रकार के संक्रान्तिकाल में यह बहुत कुछ संभव है कि वह ऐतिहासिक सामग्री बाद में प्राये हुए शकों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दी गई हो अथवा वह सामग्री इधर-उधर बिखर गई हो।

वह कितना भीषण संक्रान्तिकाल था, इसका अनुमान मालव गण द्वारा अपनी जन्मभूमि भेलम के तट (पंजाब) का परित्याग किया जाकर प्रथमतः

पूर्वी राजस्थान में और उसके पश्चात् अवंती राज्य में बसने से लगाया जा सकता है।

विक्रम ने अवंती के राज्यसिंहासन पर आसीन होते ही अपने नाम का संवत् चलाने के स्थान पर कृत संवत् अथवा मालव संवत् क्यों चलाया ? इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय विद्वानों ने आज तक एक बड़े महत्वपूर्ण तथ्य की ओर किंचितमात्र भी दृष्टिनिक्षेप नहीं किया है। उस तथ्य की ओर ध्यान देने से संभवतः इस प्रश्न का सहज ही समाधान हो जाता है। वह तथ्य यह है कि बलमित्र-भानुमित्र तथा शकों की सम्मिलित सेना द्वारा पराजित एवं राज्यच्युत होने के पश्चात् गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई। ऐसी स्थिति में युवा राजपुत्र विक्रमादित्य के पास न तो कोई संगठित सेना ही रही और न कोई छोटा-मोटा राज्य ही। अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने के लिये निश्चित रूप से उसे विदेशी शकों के विरुद्ध प्रजा में विद्रोह भड़काने तथा किसी अन्य शक्ति की सहायता लेने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में क्या यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि विक्रम ने उस समय की एक वीर और योद्धा जाति के मालवों के साथ वैवाहिक अथवा अन्य किसी प्रकार के सम्बन्ध के माध्यम से मैत्री कर कार्यसिद्धि के लिये उनकी सहायता प्राप्त करने का पूरे मनोयोग से प्रयास किया होगा ? इस प्रयास में सफलता प्राप्त होते ही निश्चित रूपसे विदेशी आतनाइयों के अत्याचारों से पीड़ित अवंती की प्रजा में विद्रोह की आग भड़का, मालवों की सहायता से विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर अवंती के अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया होगा। भैलम के तटवर्ती पंजाब के उपजाऊ प्रदेश को परिस्थितिवश छोड़ कर आये हुए मालव लोगों ने भी अवंती प्रदेश की उर्वरा भूमि पर स्थायी रूप से बस जाने की आशा लिये शक राज्य के विनाश के लिये प्राणपण से विक्रमादित्य की सहायता की होगी।

मालवों के इस असीम उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये विक्रमादित्य ने अवंती प्रदेश का नाम मालव और मालवों के साथ हुई मैत्री को अमर बनाने के लिये प्रारम्भ में मालव राज्य में और कालान्तर में समस्त भारत में कृत संवत् अथवा मालव संवत् चलाया। लेखन आदि में भले ही यह कृत संवत् मालव संवत् लिखा जाता रहा हो पर शकों को भारत की घरा से भगा देनेवाले अपने प्रतापी एवं परोपकारी सम्राट के प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा प्रकट करते हुए जनता जनार्दन ने बोलचाल में इसे विक्रम संवत् के नाम से ही व्यवहार में लिया होगा। कोटि-कोटि कण्ठों पर चढ़ा हुआ विक्रम संवत् अन्ततो-गत्वा लेखन आदि में भी कृत संवत्—मालव संवत् के स्थान पर व्यवहृत होने लगा।

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक महाप्रतापी राजा हुआ, इस तथ्य की पुष्टि केवल जनश्रुति ही विण्डिमघोष के साथ नहीं करती अपितु ऐतिहासिक जनश्रुति भी इसकी पुष्टि करती है। सभी सम्बन्धप्रतिष्ठ विद्वानों को

विक्रम संवत् के आधार पर, ईसा की पहली शताब्दी के ऐतिहासिक विद्वान् सातकर्णी राजा हाल की 'गाथासप्तशती' के उल्लेखों एवं उन्हीं के समकालीन विद्वान् गुणादय की वृहत्कथा के उल्लेखों के आधार पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक प्रतापी राजा हुआ है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० स्टेनकोनो ने भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के इस पहलू को स्वीकार किया है।<sup>1</sup>

जनअनुश्रुति और ऐतिहासिक अनुश्रुति के साथ-साथ साहित्यिक अनुश्रुति से भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि जैन एवं जैनेतर साहित्य के १०० से अधिक संस्कृत-प्राकृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रन्थ और हजारों आख्यान विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। उनमें स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी राजा हुआ। अब यहां इस तथ्य की पुष्टि करने वाले कतिपय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।—

१. ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अगणित साधनों में विक्रम संवत् सबसे प्रमुख और अकाट्य प्रमाण है। 'हाथ कंगन को क्या आरसी'—तथा 'प्रत्यक्षे कि प्रमाणम्'—इन सूक्तियों को सार्थक करते हुए विक्रम संवत् ने वस्तुतः विक्रमादित्य के अस्तित्व को अमर बना दिया है। जिस संवत् का विगत २०३० वर्षों से अनवच्छिन्न—अजस्र गति से व्यवहार भारत में चला आ रहा है, उसका प्रचलन विक्रम नामक एक महान् प्रतापी राजा ने किया था—इस तथ्य को किस आधार पर अस्वीकार किया जा सकता है? भारत के सुविशाल भूभाग में प्रायः सर्वत्र विक्रम संवत् का व्यवहार किया जाता है। इतने सुविशाल भूभाग में विक्रम संवत् का पिछले २०३० वर्षों से उपयोग किया जाना—यह एक तथ्य ही इस बात का प्रबल एवं पर्याप्त प्रमाण है कि आज से २०३० वर्ष पहले विक्रम का अस्तित्व था, जिसने कि विक्रम संवत् का प्रचलन किया।

२. ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए सातवाहनवंशी राजा हाल ने अपने 'गाथासप्तशती' नाम - मंगरील ग्रन्थ में विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की है :—

संवाहणसुहरसतोसिएण, देन्तेण तुहकरे लख्खं ।

चलणेण विक्रमाइस्स, चरिअमणुसिक्खिअं तिससा ॥४६४

अर्थात्—जिस प्रकार महादानी राजा विक्रमादित्य अपने सेवकों द्वारा की हुई चरणसंवाहनादि साधारण सेवाओं से भी संतुष्ट होकर उन्हें लाखों स्वर्ण मुद्राओं का दान कर देता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उस दानशीलता का

1 "Problems of Saka and Satavahana History" - Journal of the Bihar and Orissa Research Society, 1930.

अनुकरण करते हुए लाख के लाल रस से रंगे हुए प्रियतमा के चरणों ने प्रियतम द्वारा किये गए चरण-संवाहन से तुष्ट होकर प्रियतम के हाथों में लाख (लाख स्वर्णमुद्राओं के समान लाख का लाल रंग) दे डाला।

गाथा में वर्णित शृंगाररस के अद्भुत श्लेष से यहां कोई प्रयोजन नहीं। यहां इस गाथा से यही बताना अभिप्रेत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए विद्वान् राजा हाल ने विक्रम की लोकप्रसिद्ध दानशीलता का उल्लेख किया है। गाथा सप्तशती में हाल ने अपने समय में प्रसिद्ध, चुनी हुई, चमत्कारपूर्ण गाथाओं का संग्रह किया था - इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि उपरोक्त गाथा - राजा हाल के समय से पूर्व की कोई प्रसिद्ध रचना है और हाल से बहुत पहले ही विक्रमादित्य की दानशीलता की यशोगाथाएं लोक में गुंजरित हो चुकी थीं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'गाथासप्तशती' के रचयिता महाराजा हाल के ही एक पूर्वज के हाथों विक्रमादित्य रणक्षेत्र में ग्राह्य हुए थे और उस शस्त्राघात के फलस्वरूप उज्जयिनी लौटने पर विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

३. सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन विद्वान् गुणादय्य ने पैशाची भाषा में "बृहत्कथा" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज वह मूल ग्रंथ कहीं उपलब्ध नहीं है। सोमदेव भट्ट ने 'बृहत्कथा' का संस्कृत भाषा में रूपान्तर कर कथासरित्सागर की रचना की, जो आज उपलब्ध है। कथासरित्सागर के लम्बक ६, तरंग १ में विक्रमादित्य का विस्तार के साथ परिचय दिया हुआ है।

"कथासरित्सागर" के लम्बक १८, तरंग १ के निम्नलिखित श्लोक में विक्रमादित्य की, महिमा का जिन शब्दों में गान किया गया है, उस प्रकार का सौभाग्य संभवतः श्री राम कृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी राजा को प्राप्त नहीं हुआ होगा :-

सः पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः।

अनाथानां च नाथः सः, प्रजानां कः स नाभवत् ॥

४. 'भविष्यपुराण' में भी विक्रमादित्य का अधोलिखित रूप में उल्लेख उपलब्ध होता है :-

शकानां च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये।

जातः शिवाज्ञया सोऽपि, कैलाशात् मुह्यकालयात् ॥

विक्रमादित्य नामानं, पिता कृत्वा मुमोह हः।

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः ॥

तत्फलं तपसा प्राप्तः, शक्तश्च स्वगृहं ययौ।

जयंतो भर्तृहरये, लक्ष स्वर्णैर्न वर्णयन् ॥

भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः।

विक्रमादित्य एवास्य, भुक्त्वा राज्यमकंटकम् ॥

[भविष्य पुराण, खण्ड २, अध्याय २३]

५. स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग के ३००० वर्ष बीतने पर (ईसा से १०० वर्ष पूर्व) विक्रमादित्य का जन्म होगा।

६. गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'वृहत्कथा मंजरी' में भी निम्नलिखित रूप में विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है :-

ततो विजित्य समरे कलिंग नृपतिं विभुः ।  
 राजा श्री विक्रमादित्यः स्त्रीप्रायः विजयश्रियम् ॥  
 अथ श्री विक्रमादित्यो, हेलया निजिताखिलः ।  
 म्लेच्छान् काम्बोज यवनान् चीनान् हूणान् सबर्बरान् ॥  
 तुषारान् पारसीकांश्च, त्यक्ताचारान् विष्टुखलान् ।  
 हत्वा भ्रूभंगमात्रेण, भुवो भारमवारयत् ॥  
 त प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते ।  
 जातोऽसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छ शकांतकः ॥

यह यहां उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर के विद्वान् सम्पादक श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने गुणाढ्य का समय ई० सन् ७८ के आसपास का माना है।

७: श्रीमद्भागवत् में भी गर्दभिन् राजाओं के होने का संक्षेप में उल्लेख है, जो इस प्रकार है :-

सप्ताभीरा आवभृत्या, दशगर्दभिन्नो नृपाः ।

कंका षोडश भूपाला, भविष्यन्त्यति लोलुपाः ॥२६

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

८. पहली शताब्दी ई० पूर्व की कुछ मालव मुद्राएं मालव प्रान्त में प्राप्त हुई हैं, उनमें से कतिपय मुद्राओं पर एक ओर सूर्य का चिन्ह तथा दूसरी ओर 'मालवानां जयः' और 'मालवगणस्य जयः' की छाप लगी हुई है। ये मुद्राएं ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य द्वारा शकों पर मालव जाति के योद्धाओं की सहायता से प्राप्त की गई बड़ी विजय की साक्षी देती हैं। इन मुद्राओं पर एक ओर अंकित सूर्य का चिन्ह विक्रमादित्य शब्द के संक्षिप्त रूप "आदित्य" का द्योतक है।

९. महाकवि बाण भट्ट के पूर्व कालिक कवि सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' के प्रास्ताविक पद्य १० में विक्रमादित्य का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

सा रसवन्ता विहता, नवका विलसन्ति चरति नो कंकः ।

सरसीव कीर्ति शेषं, गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

१०. विक्रम संवत् के प्रचलन से पहले चेटक, श्रेणिक, कूरिक, चण्ड प्रद्योत, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि महाप्रतापी राजाओं में से किसी ने विक्रमादित्य के विरुद्ध को धारण नहीं किया। ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य से लगभग दो तीन शताब्दी पश्चात् सात बाहन सम्राट् गीतमीपुत्र सातकर्ण ने और लगभग चार सौ - पांच सौ वर्ष पश्चात् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त

ने 'विक्रमादित्य' का विरुद्ध धारण किया। यह भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक राजा हुआ और उसने विक्रम संवत् चलाया। उसे आदर्श मान कर सातकण्ठि और गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त ने भी अपने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' का विरुद्ध लगाया।

११. विक्रमादित्य की राजसभा में ६ रत्न थे—इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ में विक्रमादित्य की राज्यसभा के ६ रत्नों के नामों का उल्लेख है, जो इस प्रकार है:—

धन्वन्तरिक्षपणाकाऽमरसिंह शंकु,—

वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभायां,

रत्नानि वै वररुचिर्नैव विक्रमस्य ॥

इन ६ रत्नों के समय को निर्धारित करने के सम्बन्ध में विद्वान् प्रयत्नशील हैं। इनमें से कतिपय रत्नों का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी ही ठहरता है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य राजा हुआ और उसने विक्रम संवत् चलाया।

१२. इन सब के अतिरिक्त विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला एक ऐसा प्रमाण है जो पूर्णतः निष्पक्ष और विदेशी साक्ष्य पर आधारित है। वह साक्षी है अरब देश के साहित्य की जो इस प्रकार है:—

“हजरत मोहम्मद साहब से १६५ वर्ष पूर्व 'जर्हम बिनतोई' नामक अरब का एक कवि हो गया है, जो ओकाज—मक्का में प्रतिवर्ष भरे जाने वाले अरब के उस समय के सबसे बड़े मेले के कवि सम्मेलन में तीन वर्ष तक लगातार सर्वप्रथम भाता रहा। मक्का के इस मेले में हजरत मोहम्मद साहब से लगभग २००० वर्ष पूर्व तक के कवि सम्मेलनों में प्रथम आने वाले कवियों की कविताओं को सोने के पत्रों पर अंकित कर मक्का के विशाल मंदिर में टांगा जाता आ रहा था। अरब के उस समय के महाकवि 'जर्हम बिनतोई' की, उन तीन कविताओं में से एक कविता इस प्रकार है:—

इत्रशशाफाई सनतुल बिकरमतुन, फहलमिन करीमुन यतफीहा वयोवस्सरु ।  
बिहिल्लाहायसमीमिन एला मोतकब्बेनरन, बिहिल्लाहा यूही कंद मिन होवा यफ़सरु ।  
फज्जल-आसारि नहनी मोसारिम बेजेहलीन, युरीदुन बिआबिन कजनबिनयसतरु ।  
यह सबदुन्या कनातेफ़ नातेफी त्रिजेहलीन, अतदरी बिलला मसीरतुन फ़लेफ़ तसबहू ।  
कउभी एजा माज़करलहदा वलहदा, अशमीमान, बुरुकन कद तोलुहो बतस्तरु ।  
बिहिल्लाहा यक्रजी बैनना वले कुल्ले अमरेना, फहेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन ।

[सैमरूल-ओकूल, पृ० ३१५]

वे लोग धन्य हैं, जो राजा विक्रम के राज्यकाल में उत्पन्न हुए, जो (राजा विक्रम) बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा

अरब ईश्वर को भूल कर भोग विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सब से बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अंधकार फैला रक्खा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फंस कर छूटपटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फंसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अंधकार फैला हुआ था परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ ? यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है, जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दया दृष्टि से वंचित नहीं किया और पवित्र धर्म का सन्देश दे कर अपनी जाति के विद्वानों को यहां भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्यगामी हुए, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिये आए थे।”

१३. शार्पेण्टियर<sup>१</sup>, रेंसन<sup>२</sup>, फ्रेंकलिन एजर्टन<sup>३</sup> आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कालकाचार्य कथा में उल्लिखित शकों द्वारा गर्दभिल्ल की पराजय और तदनन्तर विक्रमादित्य द्वारा शकों को परास्त कर उज्जयिनी पर अधिकार करने की घटनाओं को ऐतिहासिक मानते हुए विक्रमादित्य द्वारा ईसा पूर्व ५८-५७ में विक्रम सम्बत् प्रचलित किये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है।

उपरिलिखित प्रमाणों से न केवल विक्रमादित्य का अस्तित्व ही सिद्ध होता है अपितु यह भी प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य वस्तुतः बड़ा साहसी, परोपकारी और अरब जैसे सुदूर देशों में भी प्रसिद्धि-प्राप्त राजा था। उसने अनेक वर्षों तक न्यायपूर्वक राज्य करते हुए केवल भारत ही नहीं अपितु भारत के पड़ोसी एवं सुदूरवर्ती राष्ट्रों से भी अविद्या और गरीबी को मिटाने तथा मानवसमाज को सुसम्य एवं सुखी बनाने के लिए अनेक प्रयास किये। विक्रमादित्य का व्यक्तित्व वस्तुतः विराट था।

<sup>१</sup> विक्रम स्मृति ग्रन्थ (सिन्धिया और एण्टल इन्स्टीट्यूट, ब्वालिपर) में प्रकाशित श्री महेश प्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल के लेख से उद्धृत।

1. Only one legend, the Kalkacharya-Kathanaka 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B. C. or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B. C. This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest.  
[Cambridge History of India, Vol. I. P. 167]

2. The memory of an episode in the history of Ujjain..... may possibly be preserved in the Jain story of Kalka..... Both the tyrant Gardabhilla whose misdeeds were responsible for the introduction of these evengers, and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters.  
[इंडी, pp. 532-33]

3. "It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a king named Vikramaditya who reigned in Malva and founded the era of 58-57 B. C.  
[Op. W. LXVI]

‘विक्रम चरित’ के अनुसार किसी सातवाहन-वंशी राजा के साथ युद्ध में विक्रमादित्य के घातक प्रहार लगा और उज्जयिनी लौटने पर उसकी बहाना मृत्यु हो गई।

ई० सन् १०३० के आसपास हुए इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् भलबेरूनी ने भी अरबी भाषा की अपनी पुस्तक ‘किताबुलहिन्द’ में मालिवाहन नामक एक जमींदार के साथ विक्रमादित्य के युद्ध का और उस युद्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु होने का उल्लेख किया है।

प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में विक्रमादित्य को जैन धर्मानुयायी बताया गया है।

### १७ (२१) आर्य नन्दिल-वाचनाचार्यः

आर्य मंगू के पश्चात् वाचक-परम्परा में आर्य नन्दिल वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देवद्वि ने आर्य नन्दिल की स्तुति करते हुए लिखा है :-

“नारुमि दंसणमि य, तवविणए निक्ककालमुज्जत।

अज्जं नन्दिल खमणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥

उपरोक्त गाथा में आर्य देवद्वि ने नन्दिल को ज्ञान, दर्शन, तप और विनय में सदा-काल तत्पर बतलाया है। उन्होंने नन्दिल के जीवन का परिचय देते हुए “खमणं और पसन्नमणं” - ये दो विशेषण दिये हैं, इससे ज्ञात होता है कि आपका जीवन तपप्रधान था और आप कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी सदा प्रसन्नमन रहते थे।

प्रभावकचरित्र के अनुसार आप वैरोट्या नामक देवी के प्रतिबोधक माने गये हैं। वैरोट्या के प्रतिबोध की घटना संक्षेप में इस प्रकार है :-

सार्थवाह वरदत्त की प्रियपुत्री वैरोट्या का पद्मिनी खण्ड के पद्मकुमार नामक सार्थवाह के साथ पाणिग्रहण हुआ। सास की सेवाशुश्रूषा करते रहने पर भी वैरोट्या उसे संतुष्ट नहीं कर सकी। फलस्वरूप सास के अवज्ञापूर्ण कटु वचनों को सुन कर वैरोट्या चिन्ता से कृष रहने लगी। वह सदा यही सोचा करती “मेरे कृतकर्म का फल मुझे ही भोगना है। हंस कर भोगूंगी तो मुझे ही भोगना है और हाय-हाय करके भोगूंगी तो भी मुझे ही भोगना है।” इस प्रकार विचार कर वह सदा मन को शान्त करने का प्रयास करती पर शरीर दुःख से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उसमें कृषता आ गई।

एक दिन नागेन्द्र के शुभस्वप्न के साथ वैरोट्या ने गर्भ धारण किया। सास अपने दुष्ट स्वभाववश यद्वा-तद्वा बोला करती - “इस अभागिनी के भाग्य में पुत्र कहां, इसके तो पुत्री ही होगी।”

वैरोट्या साम के सब तानों को शान्त भाव से सुना करती। तीन महिने के गर्भकाल में वैरोट्या को दुग्धपाक (खीर) का दोहद उत्पन्न हुआ।



इसी बीच आर्य नन्दिल का वहां पदार्पण हुआ। वैरोट्या ने वन्दन-नमन के पश्चात् आचार्य श्री को अपना सब दुःख कह सुनाया। आचार्य ने क्षमाधर्म की आराधना का उपदेश देते हुए उसे आश्वस्त किया और दूधपाक के दोहद की जानकारी देते हुए कहा “तुम्हारे दोहद की पूर्ति हो जायगी, चिन्ता मत करो।”

चैत्री पूर्णिमा के दिन वैरोट्या ने पुंडरीक तप का उपवास किया और उसकी सास ने दूसरे दिन साधमियों को भोजन कराने हेतु दुग्धपाक बनाया। उसमें से बची हुई कुछ खीर उसने वैरोट्या को भी दी। खीर का पात्र लेकर वैरोट्या तालाब पर गई और वस्त्र से प्रादृत खीरपात्र को तट पर एक सघन वृक्ष के मूल के पास रख कर स्वयं पैर घोने लगी। सहसा उस समय नागराज की अग्रमहिषी आई और उसने वह सब खीर पी ली। जब वैरोट्या ने लौट कर खीर पात्र को रिक्त देखा तो वह हर्षित मन से बोली — “जिसने भी खीर का आस्वादन किया है उसके मनोरथ पूर्ण हों।” सर्वभूतानुकम्पा रूप परोपकार की उस उदकट भावना के फलस्वरूप नागराज की महिषी बड़ी प्रसन्न हुई। उससे वैरोट्या की उदात्त भावना जान कर नागराज ने भी दयादर्द्र हो उसकी सास को स्वप्न में वैरोट्या के दोहद की पूर्ति करने की प्रेरणा की। तदनन्तर वैरोट्या का दोहद पूर्ण हुआ और समय पर उसने एक पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। बालक का नाम नागदत्त रखा गया।

कालान्तर में वैरोट्या ने अपने पति पद्मदत्त और पुत्र नागदत्त के साथ श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। संयम की समुचित रूपेण पालना करते हुए अन्त में पद्मदत्त तथा नागदत्त समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग कर सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए और वैरोट्या नागेन्द्र के ध्यान से आयु पूर्ण कर धरणेन्द्र की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के अशान्त जीवन में ज्ञानोपदेश द्वारा शान्ति प्रदान की थी अतः वैरोट्या धरणेन्द्र की महिषी के रूप में उत्पन्न होने के पश्चात् आचार्य नन्दिल के प्रति भक्ति एवं बहुमान रखने लगी। भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में भक्ति रखने वाले भक्तों के कष्टों का निवारण करने में वह समय-समय पर उनकी सहायता करने लगी।

कहा जाता है कि आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के स्तुतिपरक “नमिऊण जिणं पास” इस मंत्रगर्भित स्तोत्र की रचना कर वैरोट्या की स्मृति को चिर-स्थायी बना दिया।

### आर्य भद्रगुप्त - युगप्रधानाचार्य

आर्य धर्म के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ४६४ में आर्य भद्रगुप्त युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त आगमज्ञान के पारगामी और अप्रतिम विद्वान् थे। आपको वज्रस्वामी जैसे महान् युगप्रधान

आचार्य के शिक्षागुरु होने का सीभाग्य प्राप्त है। वज्रस्वामी ने आपसे १० पूर्वा का ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य भद्रगुप्त का यत्किंचित् परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है— आपका जन्म वीर नि० सं० ४२८ में, श्रमण-दीक्षा वीर नि० सं० ४४६ में इक्कीस वर्ष की अवस्था में, युगप्रधानाचार्य पद वीर नि० सं० ४६४ में और स्वर्ग गमन वीर नि० सं० ५३३ में हुआ। आपने ४५ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में और ३६ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की।

इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि आर्य रक्षित सूरि ने आपकी निर्यामणा (अन्तिम आराधना) करवाई। आपकी पूर्ण आयु १०५ वर्ष, ४ मास और ४ दिन की थी।

### गणाचार्य

आर्य नन्दिल के वाचनाचार्य काल में वीर नि० सं० ५४७—४८ में आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सिंह गिरि का स्वर्गवास हुआ।

### १८ (२२) आर्य नागहस्ती—वाचनाचार्य

आचार्य आर्य नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देवद्विगण क्षमाश्रमण ने आपको कर्मप्रकृति के प्रधान ज्ञता तथा जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं का समुचित एवं संतोषप्रद समाधान करने में कुशल बताया है। 'पूर्वज्ञान' के धारक होने के कारण द्रव्यानुयोग और कर्मविषयक ज्ञान के आप मर्मज्ञ माने गये हैं। श्रमणसंघ-स्तोत्र आदि ग्रन्थों के अनुसार नागहस्ती (आर्य नाग) को युगप्रधान-आचार्य भी माना गया है पर इस सम्बन्ध में यह अन्वेषणीय है कि आर्य नागहस्ती और आर्य नागेन्द्र एक ही आचार्य के नाम हैं अथवा दोनों अलग-अलग समय के आचार्य हैं।

हमारे विचार से आर्य नन्दिल के शिष्य वाचनाचार्य नागहस्ती और युग-प्रधानाचार्य नागेन्द्र, जिन्हें आर्य नाग तथा आर्य नागहस्ती के नाम से भी अभिहित किया जाता है, दोनों भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य होने चाहिए। हमारे इस अनुमान में निम्न आधार विचारणीय है:—

१. नागहस्ती को प्रभावकचरित्रानुसार पादलिप्त का गुरु माना गया है और पादलिप्त का आर्य रक्षित से पहले होना प्रमाणित है। कारण कि आर्य रक्षित द्वारा संकलित अनुयोगद्वारा सूत्र में "तरंगवईकारे" पद से आर्य पादलिप्त की स्मृति की गई है। इसके विपरीत आर्य नागेन्द्र को आर्य रक्षित के पश्चाद्वर्ती आर्य वज्रसेन की शिष्य-परम्परा में माना गया है।

१ गच्छे विद्याधराख्यस्यायं नागहस्तिमूरयः ॥१५॥

पुत्रमिच्छसि चेत्तेषां, पादशौच जलं पिवे ॥१६॥

२. आर्य नागहस्ती वाचकवंश के प्रभावक आचार्य माने गये हैं, जिनके लिये देवद्वि क्षमाश्रमण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—“वड्डउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणां ।”

अर्थात्—आर्य नागहस्ती का वाचकवंश यशोवंश की तरह वृद्धिगत हो । गाथा में नागहस्ती को वाचकवंश से सम्बद्ध बताया गया है, जब कि वज्रसेन संतानीय आर्य नाग नाइली शाखा, नागेन्द्र गच्छ और नागेन्द्र कुल के प्रवर्त्तक माने गये हैं । ऐसी स्थिति में यदि वज्रसेन संतानीय नागेन्द्र ही वाचकवंशीय नागहस्ती होते तो उनके लिये ‘वड्डउ वायगवंसो’ के स्थान पर ‘वड्डउ नाइलवंसो’ इस प्रकार का पद प्रयुक्त किया जाता । क्योंकि आर्य नाग नाइल शाखा, नागेन्द्र कुल एवं नागेन्द्र गच्छ के प्रवर्त्तक माने गये हैं ।

श्वेताम्बर-परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रंथों में भी आर्य मंगू और नागहस्ती का परिचय उपलब्ध होता है । श्वेताम्बर साहित्य की तरह यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती का कोई खास परिचय प्राप्त नहीं होता फिर भी कसायपाहुड की जयधवला टीका में आचार्य वीरसेन ने आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती को चूर्णिकार यतिवृषभ के गुरु होने का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित रूप में इन दोनों की स्तुति की है :-

गुणहरवयणविणिग्गय, गाहाणत्थोऽवहारिओ सव्वो ।

जेणज्जमंखुणा सो, सणागहत्थी वरं देऊ ॥७॥

जो अज्ज मंखु सीसो, अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।

सो वित्तिसुसकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥

इन गाथाओं में बताया गया है कि जिन आर्य मंखु और नागहस्ती ने गुणधराचार्य के मुख-कमल से विनिर्गत गाथाओं के सम्पूर्ण अर्थ को सम्यकरूपेण अवधारण किया, वे आचार्य मुझे वर प्रदान करें । जो आर्य मंखु के शिष्य और आर्य नागहस्ती के भी अंतेवासी हैं, वे वृत्तिसूत्र के कर्ता यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें ।

नन्दीसूत्र की स्थविरावली के समान ही दिगम्बराचार्य वीरसेन ने ‘जयधवला’ में इन दोनों आचार्यों को कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञाता और प्रागम-ज्ञान के पारगामी के रूप में स्वीकार किया है । ‘जय धवला’ टीका में बताया गया है कि गुणधराचार्य द्वारा १८० गाथाओं में ‘कसायपाहुड’ का उपसंहार कर लिये जाने पर वे सूत्र गाथाएं आचार्य-परम्परा से आर्य मंखु और आर्य नागहस्ती को प्राप्त हुईं । तदनन्तर उन दोनों आचार्यों के चरणकमलों में बैठकर भट्टारक यतिवृषभ ने उन १८० गाथाओं के अर्थ को भलीभांति समझा और प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित हो उन पर चूर्णिसूत्र की रचना की । जैसा कि टीका में कहा है—

“पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियंपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्ज मंखुनागहत्थीणां पत्ताओ । पुणो तेसि दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणां

गुणहरमुख-कमल-विरिणगयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयण-  
वच्छलेण चुण्णिण सुत्तं कयं ।”<sup>१</sup>

उपरिलिखित उद्धरणों में यतिवृषभ को आर्य मंखु (मंगु) का शिष्य एवं आर्य नागहस्ती का अन्तेवासी बताया गया है। ‘शिष्य’ एवं ‘अन्तेवासी’ शब्दों की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से धरिभाषा की जाय तो समानार्थक होते हुए भी ये दोनों शब्द अपने-आपमें विशिष्टार्थ को लिये हुए होने के कारण अपना-अपना पृथक् स्थान रखते हैं। ‘शिष्य’ शब्द का अर्थ है संयमसाधना अथवा विद्याध्ययन हेतु गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करने वाला। ‘अन्तेवासी’ शब्द का अर्थ होता है—जीवन-पर्यंत अथवा सुदीर्घ काल तक ज्ञानदाता के पास रहते हुए तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ज्ञानार्जन करने वाला। इन शब्दों की इस प्रकार की व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर यह संभव प्रतीत होता है कि आर्य मंगु के स्थिरवास काल से कुछ समय पूर्व यतिवृषभ ने उनके पास दीक्षा स्वीकार की हो और उनकी स्थिरवास में रसगृद्धि एवं शिथिलाचार की ओर प्रवृत्ति देखकर आर्य मंगु के अन्य श्रमण परिवार की तरह उनका साथ छोड़ आर्य नागहस्ती की चरण-शरणा ग्रहण की हो। तदनन्तर नागहस्ती के अन्तकाल तक उनकी सेवा में निरत रहते हुए उन्होंने उनसे ज्ञानार्जन किया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण घटनाक्रम की ओर संकेत करने के अभिप्राय से ही जयध्वलाकार ने यतिवृषभ के लिये “आर्य मंखु के शिष्य” और “आर्य नागहस्ती के अन्तेवासी” — इन भिन्न पदों का प्रयोग किया है।

नदी-स्थविरावली की ३१वीं एवं ३२वीं प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार पर आर्य मंगु और आर्य नागहस्ती के बीच में आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र तथा आर्य रक्षित के नाम देखकर कतिपय विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि आर्य मंगु और आर्य नागहस्ती के बीच लगभग १५० वर्ष का अन्तराल रहा अतः यतिवृषभ को कसायपाहुड़ का ज्ञान देने वाले मंखु एवं आर्य नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मंगु और नागहस्ती से भिन्न हैं।

वस्तुतः उन विद्वानों की इस प्रकार की मान्यता केवल भ्रान्ति पर आधा-रित होने के कारण मान्य नहीं की जा सकती। जिन ४ आचार्यों के नाम देखकर कुछ विद्वानों ने जो इस प्रकार की कल्पना की है, वस्तुतः आर्य धर्म से आर्य रक्षित तक के वे चारों आचार्य वाचक परम्परा के मुख्य आचार्य नहीं थे। वे तो वास्तव में अन्य परम्परा के तत्समयवर्ती वाचक आचार्य रहे हैं। उन चारों का मुख्य स्थान युगप्रधान-परम्परा में माना गया है। यह एक ही तथ्य इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त है।

इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में विचार करने पर वाचक-परम्परा में आर्य मंगु के पश्चात् आर्य नन्दिल और नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती—यह क्रम ही उचित प्रमाणित होता है। इस क्रम की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर आर्य मंगु और

<sup>१</sup> जयध्वला, भाग १, पृ. ८८

नागहस्ती का सत्ताकाल समसामयिक सिद्ध होने के साथ-साथ जय धवलाकार का वह कथन भी संगत संभव हो सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंक्षु और नागहस्ती — इन दोनों के चरणों में बैठकर कसायपाहुड़ की गाथाओं का अवधारण किया ।

‘तिलोयपण्णत्ती’ भी यतिवृषभ की रचना है । तिलोयपण्णत्ती में वीर नि० सं० १००० तक के काल में हुए राजाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है । इस उल्लेख को आधार बनाकर कतिपय विद्वान् यतिवृषभ का समय वीर निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि कालगणना की शृंखला की कड़ियों को जोड़ने के लिये उक्त गाथाओं में से अनंक गाथाएं कालान्तर में अन्य विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त की गई हों । प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि तिलोयपण्णत्ती में प्रक्षिप्त गाथाओं का बाहुल्य है ।

यद्यपि यतिवृषभ ने आर्य मगू और नागहस्ती का अपनी चूरिण में कहीं नामोल्लेख नहीं किया है तथापि जयधवलाकार ने इन दोनों आचार्यों की स्तुति करते हुए स्पष्ट रूपेण यह लिखा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंक्षु और नागहस्ती से कसायपाहुड़ का ज्ञान प्राप्त किया । जयधवलाकार के इस कथन को श्राभाणिक न मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता । ऐसी स्थिति में एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आर्य यतिवृषभ विक्रमीय प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे ? यह प्रश्न गहन शोध की अपेक्षा रखता है । आशा है इतिहास के विद्वान् इस पर प्रकाश डालेंगे ।

आपके शिष्यों में आर्य पादलिप्त बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं । संक्षेप में यहां उनका परिचय दिया जा रहा है :-

### आर्य पादलिप्त

आर्य खपुट की तरह आर्य पादलिप्त भी बड़े प्रतिभाशाली आचार्य माने गये हैं । कोशला नगरी के महाराज विजयवर्मा के राज्य में फुल्ल नाम का एक बुद्धिमान और दानवीर श्रेष्ठी रहता था । उसकी पत्नी का नाम प्रतिमाना था । वह रूप, शील और गुण की आधारभूमि होकर भी पुत्र रहित थी । किसी ने उसे परामर्श दिया कि वैरोट्या देवी की आराधना की जाय तो पुत्रलाभ हो सकता है । इष्टसिद्धि के लिए उसने भी तप, नियम के साथ वैरोट्या का समाराधन कर उसे प्रसन्न किया । देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा — “बोलो ! मुझे किस लिये याद किया है ?”

श्रेष्ठपत्नी बोली — “पुत्र के लिए ।”

देवी ने कहा — “विद्याधर वंश में आर्य नागहस्ती नाम के आचार्य हैं, जो इस समय यहां आये हुए हैं । उनका चरणोदक पिया जाय तो तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो सकती है ।”

उसने वैसा ही किया। आचार्य से १० हाथ दूर एक मुनि के हाथ के पात्र से उसने चरणोदक लेकर पी लिया। फलस्वरूप उसको १० पुत्र होने का भविष्य बताया गया। श्रेष्ठिपत्नी प्रतिमाना ने घर पहुंच कर अपने पति को पूरी बात सुना कर कहा - "१० पुत्र होंगे तो उनमें से एक प्रथम पुत्र को गुरुदेव के चरणों में भेंट कर देना है।"

कालान्तर में प्रतिमाना ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम नागेन्द्र रखा गया। प्रतिमाना ने उसे गुरु की निधि मान कर ८ वर्ष तक बड़े दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया और फिर उसे गुरुचरणों में भेंट कर दिया। ८ वर्ष का जान कर गुरु ने नागेन्द्र को दीक्षित किया और मण्डन नामक मुनि की देख-रेख में उसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। प्रखर बुद्धि के कारण बालक मुनि नागेन्द्र स्वल्पकाल में ही सर्वविद्याविशारद बन गया। एक बार गुरु ने उसे जल लाने हेतु भेजा और जब वह कांजी लेकर लौटा तो गुरु ने उससे पूछा - "कहां से लाये हो?"

उत्तर में मुनि नागेन्द्र ने काव्यमयी भाषा में कहा :-

अंबं तंबच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए ।

नवसालिकजियं नववहूइ कुडएण भे दिन्नं ॥<sup>१</sup>

पुष्प की तरह दन्तपंक्ति वाली किसी ताम्राक्षी नववधु ने मुझे डांगर की तरोताजा कांजी करुए (मृत्पात्र) से बहराई है।

गुरु ने नागेन्द्र मुनि के शृंगाररसगर्भित वचन सुनकर कहा - "पालितोऽसि।"

बालमुनि नागेन्द्र बोला - "भगवन् ! मात्रा बढ़ाकर प्रसाद कीजिए।" गुरु ने बाल मुनि की विचक्षणता देख उसे पादलेप की विद्या प्रदान की। इससे मुनि नागेन्द्र आकाशमार्ग से भ्रमण करने में समर्थ हो गया।

पाटलिपुत्र में मुरुण्ड के राज्य के समय की एक घटना है कि मुरुण्ड-राज के शिर में ६ नास से असह्य वेदना हो रही थी। संयोगवश पादलिप्त भी आचार्य पद से संघ के दायित्व को सम्हालने के अनन्तर पाटलिपुत्र पहुंचे। उस समय तक राजा ने शिरोवेदना की शान्ति के लिए विविध मंत्र-तंत्र, औषध आदि के प्रयोगों के उपरान्त भी जब शान्ति प्राप्त नहीं की तब मंत्री को आचार्य पादलिप्त के पास भेज कर उनसे प्रार्थना की कि वे भूपाल की शिरोवेदना को दूर करने की कृपा करें।

आचार्य राजप्रासाद में गये और एक ओर बैठ कर अपने घुटने पर अंगुलि धुमाते हुए उन्होंने मंत्र शक्ति से राजा की शिरोवेदना पूर्णतः शान्त कर दी।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> प्रभाषक चरित्र, पादलिप्तसूरिचरितम्, पृ० २६

<sup>२</sup> (क) जह-जह पएसिण जाणुयम्मि पालितओ भमाडेइ ।

तह-तह से सिरवेयण पएस्सइ मुरुण्डरायस्स ॥ [प्रभाषक चरित्र, पृ० ३०]

(ख) सासे वियण, पणासति मुरुण्ड रायस्स । ४४६० [नि० भा० चू०, भा० ३पृ० ४२३]

शिरोवेदना दूर हो जाने से राजा परम प्रसन्न हुआ । उसने आचार्य पादलिप्त की और भी अनेक प्रकार से परीक्षा की और अन्त में वह उनका परम भक्त बन गया ।

आर्य पादलिप्त की अप्रतिम प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक आख्यानों में से कुछ इस प्रकार हैं :-

(१) एक बार प्रतिष्ठानपुर में राजा सातवाहन के यहां विद्वानों की सभा में सहसा बात चली कि सर्व विद्या विशारद आचार्य पादलिप्त वहां पहुंचने वाले हैं । विद्वानों ने अपनी प्रौढ़ता बताने के लिए जमे घृत से भरा एक कटोरा देकर एक आदमी को आचार्य श्री के पास भेजा । आचार्य पादलिप्त ने घी में एक सूई डाल कर कटोरा पुनः लौटा दिया । राजा ने यह सब वृत्तान्त सुन कर पण्डितों से पूछा कि घी से भरा कटोरा आचार्य श्री के पास भेजने में उन लोगों का क्या अभिप्राय था ?

पण्डितों ने उत्तर दिया - 'कटोरे में घी के समान नगर विद्वानों से भरा है इसलिए आप सोच-समझ कर इस नगर में प्रवेश करें । इसके उत्तर में आचार्य ने घी में सूई डाल कर कटोरा लौटाया है ।'

राजा ने कहा - 'आप लोगों के प्रश्न का आचार्य ने निर्भयता से यह उत्तर दिया है कि जिस प्रकार जमे हुए घी में तीक्ष्ण सुई समा गई, उसी प्रकार मैं भी विद्वानों से मण्डित इस नगर में प्रवेश कर सकूंगा ।'

आचार्य के उत्तर से सब प्रभावित हुए और राजा तथा पण्डितों ने सम्मुख जाकर सम्मानपूर्वक आचार्य श्री का नगर-प्रवेश करवाया ।

(२) आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्नमति का एक उदाहरण इस प्रकार है :-

एक बार वादियों के साथ विचारगोष्ठी में किसी ने कहा :-

पालित्तय ! कहसु फुडं, सयलं महिमंडलं भमंतेणं ।

दिट्ठं सुयं च कत्थवि, चन्दणरससीयलो अग्गी ॥

अर्थात् - हे पादलिप्त ! भूमण्डल पर विचरण करते समय तुमने कहीं चन्दनरस के समान शीतल अग्नि को देखा अथवा सुना हो तो स्पष्ट कहो ।

प्रत्युत्पन्नमति आचार्य पादलिप्त ने तत्काल उत्तर दिया :-

अयसाभियोग सट्ठीणयस्स, पुरिसस्स सुद्धहिययस्स ।

होइ वहंतस्स दुहं, चन्दणरससीयलो अग्गी ॥

अर्थात् - अकीर्ति के अभियोग से संतप्त-पीड़ित शुद्ध हृदय वाले पुरुष को अकीर्तिजन्य दुःख का वहन करते हुए अग्नि भी चन्दन के रस के समान शीतल प्रतीत होती है ।

(३) 'तरगवती' जैसे विद्वत्तापूर्ण काव्य को देखकर जब सब विद्वानों ने पादलिप्त की प्रशंसा की तब राजा ने आचार्य से कहा - 'हम सब संतुष्ट हैं और

आपकी स्तुति करते हैं। केवल यह विदुषी वेभया गुणज्ञा होकर भी आपकी स्तुति नहीं करती। आप कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे यह भी आपकी स्तुति करे।”

राजा की बात सुनकर आचार्य पादलिप्त अपने स्थान पर चले आये और रात्रि में गच्छ की सम्मति से प्राण निरोध कर कपट मृत्यु से निष्प्राण हो लेट गये। आचार्य को अर्थी पर लिए जब लोग रुदन करते हुए उस गणिका के द्वार पर पहुँचे तो वह भी द्वार पर आई और रुदन करती हुई बोली :-

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स ।

जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढा ॥

अर्थात् - अरे ! उन पादलिप्त का हरण करते समय यमराज का शिर क्यों नहीं फूट गया, जिनके मुख रूपी निर्भर से 'तरंगतोला' -तरंगवती नदी प्रवाहित हुई है ?

आचार्य यह सुनकर तत्काल उठ बैठे। गणिका ने कहा - “आचार्यवर ! क्या आप मर कर स्तुति करवाते हैं ?”

आचार्य ने कहा - “क्या तुमने नहीं सुना - ‘मृत्वापि पंचमो गेयः’ - मर कर भी पंचम वेद गाना चाहिये।”

कितना चमत्कारपूर्ण उत्तर है ? प्रभावक चरित्र में गणिका के स्थान पर पांचाल नामक विद्वान् के नामोल्लेख के साथ यही कथानक दिया गया है। आचार्य पादलिप्त ने अपने आचार्य काल में स्व-पर कल्याण के साथ-साथ जिनशासन की बड़ी ही उल्लेखनीय सेवाएं कीं।

आचार्य पादलिप्त ने 'तरंगवती', 'निर्वाणकलिका' एवं 'प्रश्न प्रकाश' आदि ग्रन्थों की रचनाएं कीं। 'तरंगवती' प्राकृत कथा साहित्य का ग्रन्थरत्न माना जाता है।

आचार्य पादलिप्त के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं के पर्यवेक्षण से उनका विहार-क्षेत्र बड़ा विस्तृत प्रतीत होता है। मान्यखेट का कुष्णराजा, ओंकारपुर का भीमराजा आदि अनेक राजा-महाराजा उनके अनुयायी थे। पाटलिपुत्र, भृगुकच्छपुर आदि में उन्होंने अपने प्रभाव का प्रयोग कर अन्य मतावलम्बियों द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के विरोध में उत्पन्न किये गये वातावरण को शान्त कर अनेक लोगों को जैन-धर्म का अनुयायी बनाया।

आचार्य पादलिप्त के सम्बन्ध में जैन साहित्य में अनेक कथानक प्रचलित हैं। उनमें बताया गया है कि वे औषधियों के पादलेप द्वारा गगनमार्ग से विचरण करते थे। इस विद्या से प्रभावित होकर डंक गिरि का निवासी नागार्जुन नामक एक क्षत्रिय उनका अनन्य उपासक बन गया। नागार्जुन का परिचय पृथकतः यथास्थान दिया जायगा।

१. रागस्य पंचमो वेदः ।



प्रबन्ध कोश तथा प्रभावक चरित्र के अतिरिक्त सभाध्य निशीथचूर्णि और वृहत्कल्प भाष्य में भी अनेक स्थलों पर आचार्य पादलिप्त के समय में हुए मुरुण्ड राजा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं ।

### मुरुण्डराज की बहिन द्वारा जैन भ्रमणी धर्म की वीक्षा

वृहत्कल्प भाष्य में मुरुण्डराज की बहिन के भ्रमणी धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख-उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :-

एक बार मुरुण्डराज की विधवा बहिन ने उसके समक्ष प्रव्रजित होने की अभिलाषा प्रकट की । किस धर्म की अनुयायिनी साध्वी के पास उसे दीक्षित करवाया जाय और कौन सा धर्म वस्तुतः वास्तविक आत्मिक धर्म है - इस बात की परीक्षा लेने का मुरुण्ड ने निश्चय किया । उसने महावत को आदेश दिया कि वह हाथी पर बैठ कर राजप्रासाद के पास वाले मार्ग पर इधर-उधर घूमे और ज्यों ही किसी भी धर्म की साध्वी उसे दृष्टिगोचर हो, वह हाथी को उसकी ओर यह कहते हुए बढ़ाए-“तुम्हारे तन पर जो भी वस्त्र हैं, उन्हें दूर फेंक दो अन्यथा यह मदीन्मत्त हाथी तुम्हें कुचल डालेगा ।”

हस्तिचालक ने मुरुण्डराज के आदेश का पालन किया । विभिन्न मतोंवाली साध्वियों की ओर उन्हें वस्त्र फेंक देने की चेतावनी देते हुए महावत जब-जब हाथी को बढ़ाता तो वे तत्काल सब वस्त्र दूर फेंक कर नग्न हो जातीं । मुरुण्डराज अपने प्रासाद के गवाक्ष से इस प्रकार के दृश्य देखता रहता । अंततोगत्वा एक दिन एक जैन साध्वी को उस पथ पर यतनापूर्वक जाती हुई देख कर महावत ने उसे सब वस्त्र फेंक देने की चेतावनी देते हुए उसकी ओर हाथी को वेग से बढ़ाया ।

हाथी को तीव्र गति से अपनी ओर बढ़ते हुए देख कर भी साध्वी ने धैर्य नहीं छोड़ा । उसने सबसे पहले हाथी की ओर अपनी मुखवस्त्रिका गिरा दी ।<sup>१</sup> हाथी थोड़ी देर रुका, उसने सूंड से मुखवस्त्रिका को पकड़ कर देखा और फिर उसे एक ओर फेंक वह साध्वी की ओर बढ़ा । साध्वी ने उसी धैर्य के साथ अब की बार अपना रजोहरण हाथी की ओर डाला । हाथी रजोहरण को सूंड से पकड़ कर थोड़ी देर तक हवा में फहराता रहा और पुनः साध्वी की ओर बढ़ा । आर्या बड़े धैर्य के साथ अपने अन्याय बाह्य उपकरणों को एक-एक करके हाथी की ओर डालती रही । हाथी प्रत्येक बार रुक कर साध्वी द्वारा अपनी ओर डाले गये उपकरणों को इधर-उधर कर देखता और साध्वी की ओर बढ़ता । अंत में साध्वी के पास लज्जा ढांकने का केवल एक ही वस्त्र बचा रह गया । महावत बार-बार तीव्र स्वर में साध्वी को वस्त्र फेंकने के लिए कहता रहा पर वह नटी की तरह कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होकर अपना बचाव करने लगी । राजपथ पर दर्शकों की भारी भीड़ एकत्रित हो गई । साध्वी के अपूर्व साहस और प्रत्युत्पन्नमति से

<sup>१</sup> तीए पदमं मुहपोत्तिया मुक्का, ततो निसिजा ।

[वृहत्कल्प भा., भा० ४, पृ० ११२३]

जनता प्रभावित हुई। चारों ओर से आक्रोशपूर्ण तीव्र स्वर महावत पर गर्जन-तर्जन के साथ बरसने लगे—“यह दुष्टता बन्द करो, मोड़ दो हाथी को, पूज्या आर्या की ओर एक उग भी बढ़ाया तो तुम्हारा अक्षेम होगा।” उद्वेलित सागर की तरह क्रुद्ध अपार जनसमुद्र के आक्रोशपूर्ण कोलाहल से हाथी भी किकत्तव्य विमूढ़ हो गया और साथ-साथ महावत भी। साध्वी धैर्य की प्रतिमूर्ति की तरह वस्त्र में लिपटी एक ओर खड़ी थी।

मुरुण्डराज राजप्रासाद के गवाक्ष से यह सब दृश्य देख रहा था। उसने जैन श्रमणी को परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण पाकर महावत की ओर संकेत किया। हस्तिवाहक ने विचित्र शब्दों के उच्चारण के साथ अपना अंकुश गजराज के गण्डस्थल पर दे मारा। हाथी तत्काल अपनी सूंड, पूंछ एवं बड़े-बड़े कान फटकारता हुआ मुड़ा और एक चिंघाड़ के साथ तीव्रगति से हस्तिशाला की ओर बढ़ गया।

मुरुण्डराज ने अपनी बहिन से कहा—“सहोदरे! यही धर्म सर्वज्ञ-दृष्ट है।<sup>१</sup> तुम अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहती हो तो इस जैन साध्वी के पास दीक्षा ग्रहण कर सकती हो।” मुरुण्डराज की विधवा बहिन ने जैनश्रमणी दीक्षा ग्रहण कर ली।<sup>२</sup>

### मुरुण्डकाल में धार्मिक कटुता

मुरुण्ड राज के समय देश के कतिपय भागों में धार्मिक कटुता अथवा धार्मिक असहिष्णुता किस प्रकार धर किये हुए थी, इसका परिचय भी निम्न-लिखित छोटे से आख्यान से प्राप्त होता है।

पाटलिपुत्र के मुरुण्डराज की पुरुषपुर (पेशावर) के राजा के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। एक बार मुरुण्ड ने अपना एक दूत पुरुषपुर के अधिपति के पास भेजा। वहाँ के विदेश मंत्री ने उस विशिष्ट दूत के लिए समुचित आतिथ्य एवं आवास आदि की व्यवस्था कर उसे दूसरे दिन पुरुषपुराधिप से मिलने के समय के सम्बंध में सूचित किया।

दूत दूसरे दिन राजा से मिलने हेतु अतिथिभवन से प्रस्थित हुआ। उन दिनों पुरुषपुर बौद्धों का केन्द्रस्थल बना हुआ था। वह बौद्धभिक्षुओं से इतना संकुल था कि भवन से बाहर निकलते ही दूत की दृष्टि सर्वप्रथम एक बौद्ध भिक्षु पर पड़ी।

दूत ने इसे धीरे अपशकुन समझा और उस दिन राजा से मिलने का विचार छोड़कर पुनः अतिथिभवन में लौट गया। लगातार तीन दिन तक जब-जब भी दूत राजा से मिलने हेतु अतिथिगृह से बाहर निकला, तो उसे प्रत्येक बार सर्व

<sup>१</sup> एस धम्मो सबन्नु दिट्ठो।

[वृहत्कल्प भा०, भा० ४, पृ० ११२३]

<sup>२</sup> साधुनां समीपे भगिनी प्रव्रज्या ग्रहणार्थं विसर्जिता।

[वही, पृ० ११२४]

प्रथम बौद्ध भिक्षु ही दृष्टिगोचर हुआ और वह उस तथाकथित अपशकुन में त्रस्त हो तत्काल अपने कक्ष की ओर लौट पड़ा ।

तीन दिन बीतने पर भी जब दूत पुरुषपुर के राजा की सेवा में नहीं पहुँचा तो त्रिदेशामात्य दूत के पास पहुँचा और उसने दूत से राजा की सेवा में नहीं पहुँचने का कारण पूछा । सरल हृदय दूत ने अपने मन में जमे विश्वास को प्रकट करते हुए उत्तर दिया — “बौद्ध भिक्षु के दर्शन से बढ़ कर और कोई अन्य अपशकुन नहीं । मैं जब-जब भी राजा की सेवा में उपस्थित होने इस भवन से बाहर निकला तभी जिस व्यक्ति पर मेरी सबसे पहली दृष्टि पड़ी, वह बौद्ध भिक्षु था । अब आप ही बताइये इस प्रकार के घोर अपशकुन की अवस्था में मैं राजदर्शन के लिए कैसे आता ?”

मंत्री ने दूत को बार बार समझाया कि गली के अन्दर अथवा बाहर बौद्ध भिक्षु दृष्टिगोचर हो तो उससे अपशकुन नहीं होता, पर अपशकुन का भय दूत के हृदय से पूर्ण रूपेण नहीं निकला । मंत्री के आग्रह पर वह डरता-डरता राजा की सेवा में पहुँचा ।

मत्स्य पुराण, वायु पुराण और श्रीमद्भागवत<sup>१</sup> आदि में मुरुण्ड राजाओं का पुरुण्ड, परुण्ड और गरुण्ड नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है ।

मुरुण्ड लोग अफगानिस्तान में काबुल के आस-पास के मुरुण्ड प्रदेश के रहने वाले थे । प्राचीन काल में मुरुण्ड प्रदेश को लम्बक के नाम से भी पहिचाना जाता था । आजकल उस प्रदेश को लम्घान कहते हैं ।<sup>२</sup>

युगप्रधानाचार्य :— आर्य नागहस्ती के वाचनाचार्य काल में क्रमशः आर्य श्रीगुप्त और वज्र और रक्षित ये तीन युगप्रधानाचार्य हुए ।

### आर्य श्रीगुप्त — युग प्रधानाचार्य

आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमनानन्तर आर्य श्रीगुप्त युगप्रधानाचार्य हुए । आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता । दुष्प्रसाकाल श्रमण-संघ-स्तव के अन्त में जो युगप्रधान यन्त्र दिया हुआ है, उसके अनुसार आपके जीवन की प्रमुख घटनाओं का तिथिक्रम इस प्रकार है :—

आर्य श्री गुप्त का जन्म वीर नि० सं० ४४८ में हुआ । ३५ वर्ष की युवावस्था में आपने वीर नि० सं० ४८३ में श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की । ५० वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए आपने तप, संयम एवं विनय धर्म की

<sup>१</sup> ततोऽपि यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्काः ।

भूयो दश गुरुण्डाश्च, मौना एकादशैव तु ॥३०॥

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अ० १]

<sup>२</sup> मुरुण्ड—muranda, is a country to the north-west of Hindustan (also called Lampaka and now Lamghan in Cabul).

मुरुण्ड—murunda .. a king ... dynasty and a people [ मोन्कोर मोन्कोर डिक्शनरी ]

आराधना के साथ साथ ग्रंथ शास्त्रों एवं दश पूर्वों का अध्ययन किया। आपने वीर नि० सं० ५३३ से ५४८ तदनुसार १५ वर्ष तक युगप्रघानाचार्य पद से जिन शासन की सेवा की और १०० वर्ष, ७ मास एवं ७ दिन की पूर्णायु का उपभोग कर वी० नि० सं० ५४८ में स्वर्गारोहण किया।

छठा निह्वव रोहगुप्त आप ही का शिष्य था।

### छठा निह्वव रोहगुप्त

वीर नि० सं० ५४४ में रोहगुप्त से त्रैराशिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है।<sup>१</sup> भगवद्वचन के एक देश का अपलाप करने के कारण रोहगुप्त को निह्वव माना गया है। त्रैराशिक मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्ण में निम्नलिखित उल्लेख किया गया है:—

अंतरंजिका नगरी के बाहर भूतगुहा नामक एक चैत्य था। एक समय वहां श्रीगुप्त नामक आचार्य अपने शिष्य समूह के साथ पधारे। उस समय अंतरंजिका में राजा बलश्री का राज्य था। आचार्य श्रीगुप्त के अनेक शिष्यों में से रोहगुप्त नाम का एक बड़ा बुद्धिमान शिष्य था। वह ग्रामान्तर से आचार्यश्री की सेवा में अंतरंजिका पहुंचा। मार्ग में उसने एक परिव्राजक को देखा, जो अपने पेट पर लोह का पट्टा बांधे और हाथ में जामुन की टहनी लिये हुए था। लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ज्ञानाधिक्य के कारण पेट कहीं फट न जाय, इसलिये उस संन्यासी ने अपने पेट पर लोह का पट्टा बांध रखा है। पेट पर लोहे का पट्टा रखने के कारण उसकी पोट्टसाल के नाम से प्रसिद्धि हो गई। परिव्राजक अपने हाथ में जम्बू (जामुन) की डाली को धारण किये मानो इस बात की ओर संकेत कर रहा था कि समस्त जम्बूद्वीप में उसके साथ वाद करने वाला कोई प्रतिवादी नहीं है। शास्त्रार्थ करने के लिये विद्वानों का आह्वान करते हुए वह ढिंढोरा पिटवा रहा था।

रोहगुप्त ने परिव्राजक द्वारा की गई घोषणा को सुना और परिव्राजक के अतिशय गर्व को देख कर ढिंढोरा रोका। उसने कहा—“मैं परिव्राजक के साथ शास्त्रार्थ करूंगा।”

परिव्राजक के ढिंढोरे को रोकने के पश्चात् रोहगुप्त गुरु की सेवा में पहुंचा और बम्हन-भमन के पश्चात् उसने आचार्य श्रीगुप्त की सेवा में निवेदन किया—“भगवन् ! मैंने पोट्टसाल परिव्राजक के साथ वाद करना स्वीकार किया है।”

आचार्य श्रीगुप्त ने कहा—“परिव्राजक के साथ वाद स्वीकार कर तुमने उचित नहीं किया। परिव्राजक विद्याबली है। यदि वह वाद में पराजित हो भी गया तो भी वह विद्याओं के प्रयोग से तुम्हें परास्त करने का पूरा प्रयास करेगा।”

<sup>१</sup> पंचसया चोपाला, तइया तिद्धिमयस्स वीरस्स।

रोहगुप्त बोला - “अब तो वाद करना स्वीकार कर लिया है अतः अब उसे कैसे परास्त किया जाय, यह बताने की कृपा करें।”

इस पर आचार्य श्रीगुप्त ने सिद्धमात्र विद्याएं देकर रोहगुप्त को अपना रजोहरण भी दिया और कहा - “यदि विद्याओं के उपरान्त भी कोई उपद्रव खड़ा हो जाय तो रजोहरण को धुमा देना। तुम्हें कोई नहीं जीत सकेगा।”

रोहगुप्त गुरु द्वारा प्रदत्त विद्याएं और रजोहरण लेकर राजसभा में पहुंचा और बोला - “परिव्राजक ! अपना पूर्वपक्ष उपस्थित करो।”

परिव्राजक ने सोचा कि यह श्रमण बड़े कुशल होते हैं अतः इन्हीं के सिद्धान्त को मैं अपनी ओर से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करूँ। इस प्रकार सोच कर वह बोला - “संसार में दो राशियां हैं - जीव राशि और अजीवराशि।”

रोहगुप्त ने प्रतिपक्ष में कहा - “नहीं राशियां तीन होती हैं। जीव-अजीव और नोजीव।” जीव अर्थात् चेतना वाले प्राणी, अजीव घटपदादि जड़ पदार्थ और नोजीव - छिपकली की कटी हुई पूँछ।”

संसार में अन्य भी तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं। दंड के भी तीन भाग होते हैं - आदि मध्य और अन्त। लोक भी उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक - इस प्रकार तीन होते हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि राशियां दो ही होती हैं।”

इस प्रकार थोड़ी ही देर के शास्त्रार्थ में रोहगुप्त के प्रबल तर्कों से निरुत्तर होकर परिव्राजक खिसिया गया और वह अपनी विद्याओं के बल से रोहगुप्त को जीतने का प्रयास करने लगा। परिव्राजक ने क्रमशः वृश्चिकी, सर्पिकी, मूशिकी काकी एवं मृगी विद्याओं का रोहगुप्त पर प्रयोग किया। रोहगुप्त ने मयूरी, नकुली, मार्जारी, व्याघ्री और उलूकी विद्याओं के प्रयोग द्वारा परिव्राजक की उन सभी विद्याओं को प्रभावहीन बना दिया।

विद्याबल के प्रयोग में भी रोहगुप्त से पराजित हो जाने पर परिव्राजक बौखला उठा। उसने अन्त में अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में सुरक्षित गर्दभी विद्या का रोहगुप्त पर प्रयोग किया। रोहगुप्त के पास उसे निरस्त करने वाली कोई विद्या नहीं थी अतः उसने गुरु द्वारा प्रदत्त रजोहरण के माध्यम से गर्दभी विद्या को प्रभावहीन बना परिव्राजक को पराजित कर दिया। राजा और सम्भ्यों द्वारा रोहगुप्त को विजयी और परिव्राजक को पराजित घोषित किया गया।

परिव्राजक को पराजित करने के पश्चात् रोहगुप्त अपने गुरु की सेवा में लौटा और उसने अपनी विजय की सारी घटना उन्हें कह सुनाई।

तीन राशियों की प्ररूपणा की बात सुनकर आचार्य श्रीगुप्त ने कहा - “वत्स ! उत्सूत्र प्ररूपणा कर विजय प्राप्त करना उचित नहीं। सभा से उठते ही तुम्हें यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिये था कि हमारे सिद्धान्त में तीन राशियां नहीं हैं। मैंने तो केवल वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिये ही तीन राशियों

की प्ररूपणा की है। वस्तुतः राशियां दो ही हैं। जीवराशि और अजीव राशि। अब भी समय है, तुम तत्काल राजसभा में जाकर सत्यव्रत की रक्षा के लिये स्पष्टीकरण के साथ वास्तविक स्थिति रख दो।”

गुरु की आज्ञा को अनसुनी कर रोहगुप्त राजसभा में जाने के लिये उद्यत नहीं हुआ। वह मौन धारण किये अपने स्थान पर बैठा रहा। जब आचार्य श्रीगुप्त ने राजसभा में जाने के लिये उसे बार बार बल दिया तो वह उनसे वाद करने को उद्यत हो गया। उसने अपनी बात को सही प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए कहा—“मैंने तीन राशियों की बात कह दी तो इसमें मुझे कौनसा दोष लग गया? राशियां तीन हैं ही।”

रोहगुप्त को अपने साथ वाद करते देख आचार्य श्रीगुप्त ने राजकुल में जाकर कहा—“राजन्! मेरे शिष्य रोहगुप्त ने जो आपकी राजसभा में तीन राशियों की प्ररूपणा की है, वह वास्तव में सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्त में वस्तुतः दो ही राशियां मानी गई हैं। आप हम दोनों के बीच होने वाले वाद-प्रतिवाद को सुनकर सत्य का निर्णय करें।

राजा द्वारा स्वीकृति प्रदान किये जाने के पश्चात् गुरु शिष्य के बीच वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ और निरन्तर ६ मास तक चलता रहा। अन्त में राजा बलश्री ने आचार्यश्री से निवेदन किया—“भगवन्! राज्यकार्य में बड़ा विक्षेप हो रहा है। अतः वाद को अब शीघ्र समाप्त करने की कृपा करें।”

बलश्री को आश्वस्त करते हुए आचार्य श्रीगुप्त ने कहा—“राजन्! कल वाद-विवाद समाप्त हो जायगा।”

दूसरे दिन आचार्य श्रीगुप्त ने ६ महिनों से चले आ रहे शास्त्रार्थ को निर्णायक स्थिति में लाने का उपक्रम करते हुए राजसभा के समक्ष राजा से कहा—“राजन्! कुत्रिकापण में संसार भर के सब द्रव्य (पदार्थ) उपलब्ध होते हैं। आप वहां से जीव, अजीव और नोजीव इन तीनों द्रव्यों को मंगवाइये।”

राजा द्वारा तत्काल राज्याधिकारियों को कुत्रिकापण पर भेजा गया। वहां जीव और अजीव की तो उपलब्धि हो गई पर नोजीव मांगने पर कोई वस्तु नहीं मिली।

राजा ने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—“कुत्रिकापण पर संसार के सभी द्रव्य मिल जाते हैं। वहां पर जीव और अजीव मिल गये, नोजीव नामक द्रव्य नहीं मिला। इससे यह प्रमाणित होता है कि संसार में जीव और अजीव ये दो ही राशियां हैं नोजीव नाम की तीसरी कोई राशि नहीं। ऐसी स्थिति में आचार्य श्रीगुप्त को वाद में विजयी घोषित किया जाता है और उनके दुविनीत शिष्य रोहगुप्त को पराजित।” राजा ने रोहगुप्त को अपने देश से निर्वासित भी कर दिया।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> वाए पराजिभो सो, निव्विसभो कारिभो नरिदेण।

घोसावियं च नयरे, जयइ जिणो बद्धमाणोत्ति ॥२५०६

[विशेषावश्यक भाष्य

आचार्य श्रीगुप्त ने भी दुराग्रही समझ कर रोहगुप्त को श्रमणसंघ से बहिष्कृत कर दिया ।

शास्त्रज्ञान तथा अनेक विद्याओं में निष्णात, ज्ञान और प्रतिभा दोनों ही का धनी रोहगुप्त मिथ्याभिनवेश के वशीभूत होकर मिथ्यात्वी हो गया । इससे प्रमाणित हो जाता है कि मिथ्याभिनवेश वस्तुतः महान् अनर्थों का मूल है । मिथ्याभिनवेश के वशीभूत व्यक्ति कर्षों से अजित ज्ञान, सम्यक्त्व, गुरुभक्ति आदि को तिलांजलि देकर अपनी आत्मा का घोर पतन कर बैठता है ।

जैन साहित्य और इतिहास के अनुसार यही रोहगुप्त वैशेषिक दर्शन का प्रख्यनकर्त्ता माना गया है । रोहगुप्त का श्रीलुक्य गोत्र होने के कारण इसके द्वारा प्रणीत वैशेषिक दर्शन को श्रीलुक्य दर्शन तथा छः द्वयों का उपदेश करने के कारण षडौलुक्य दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

कल्पसूत्र स्थविरावली में कौशिक गोत्रीय षडुलूक रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है ।<sup>१</sup> आर्य महागिरि का आचार्यकाल वीर नि० सं० २१५ से २४५ तक माना गया है और रोहगुप्त द्वारा त्रैराशिक दर्शन का प्रवर्तन वीर नि० सं० ५४४ में किया गया । ऐसी स्थिति में रोहगुप्त को आर्य महागिरि का साक्षात् शिष्य किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि वी. नि. सं. २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि के साक्षात् शिष्य का उनसे ३२९ वर्ष पश्चात् विद्यमान रहना संभव नहीं ।

वस्तुतः रोहगुप्त युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त के साक्षात् शिष्य थे । आर्य श्रीगुप्त वास्तव में आर्य महागिरि की परम्परा में हुए अथवा किसी अन्य परम्परा में — इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता । कल्पसूत्र स्थविरावली के इस उल्लेख से कि रोहगुप्त महागिरि के शिष्य थे, इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त आर्य महागिरि की मूल परम्परा से निकली किसी शाखा में हुए हैं ।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि रोहगुप्त श्रीगुप्त का साक्षात् शिष्य और आर्य महागिरि की परम्परा के अन्तर्गत शिष्यानुशिष्य सन्तति का एक श्रमण था । कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पाठ का अभिप्राय भी यही होना चाहिए ।

लिपिकार के दोष अथवा वास्तविक पाठ के विस्मृति के गर्भ में तिरोहित हो जाने के कारण ही कल्पस्थविरावली में रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है ।

<sup>१</sup> नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य लप्पए स चोलुओ ।

दब्बाइ छप्पयत्थो — वएसणाओ छलुओत्ति ।।२५०८

[वही]

<sup>२</sup> थेरस्स एणं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिष्णायाम्हा होत्थाम् । तंजहा — थेरे उत्तरे.....थेरे छलुए रोहगुत्तो कोसिय गुत्तेणं । थेरेहितो एणं छलुएहितो एणं रोहगुत्तेहितो तेरासियाम्हा निग्गया ।

### आर्य वज्रस्वामी

भगवान् महावीर के शासन में हुए प्रभावक आचार्यों में आर्य वज्रस्वामी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि आपको अपने जन्म के तत्काल पश्चात् ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अपने जन्म के प्रथम दिन से ही आप संसार से पूर्णरूपेण विरक्त एवं वैराग्य भावनाओं से ओत-प्रोत हो जीवनपर्यंत अहंनिश स्व-पर कल्याण में निरत रहे।

आर्य वज्रस्वामी के पितामह श्रेष्ठी धन अवनती प्रदेश के तुम्बवन नामक नगर के निवासी थे। उनकी गणना अवनती राज्य के अतिसमृद्ध, प्रतिष्ठित एवं प्रमुख श्रेष्ठियों में की जाती थी। दानशीलता, दयालुता एवं उदारता आदि गुणों के कारण श्रेष्ठी धन का यश उस समय आर्यधरा में दूर-दूर तक फैला हुआ था।

श्रेष्ठी धन के धनगिरि नामक एक मात्र पुत्र था जो बड़ा तेजस्वी, सुकुमार, सौम्य और सुन्दर था। श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि बाल्यावस्था से ही ऐहिक आकर्षणों के प्रति उदासीन और अपनी अवस्था के अननुरूप सदा धार्मिक विचारों में ही निमग्न रहता था। संभवतः आर्य धनगिरि के युवा होने से पूर्व ही श्रेष्ठी धन का देहावसान हो चुका था।

उन दिनों तुम्बवन नगर में धनपाल नामक एक व्यापारी रहता था, जो विपुल वैभव तथा अनुल सम्पत्ति का स्वामी था। श्रेष्ठी धनपाल के समित नामक एक पुत्र और सुनन्दा नाम की एक सर्वगुण-सम्पन्ना परम रूप-लावण्यवती पुत्री थी। श्रेष्ठिपुत्र समित ने आर्य सिंहगिरि के उपदेश से प्रबुद्ध हो पूर्ण तरुणावस्था में ही अपने पैतृक अमित वैभव का परित्याग कर उत्कृष्ट वैराग्य के साथ आर्य सिंहगिरि के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर जब सुनन्दा किशोरावस्था के कगार पर पहुंची तो धनपाल को अपनी कन्या के योग्य वर ढूँढने की चिन्ता हुई। अपने समान कुल, शील एवं धनसम्पन्न श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि को अपनी पुत्री के लिये योग्य समझ कर धनपाल ने उसके समक्ष सुनन्दा से पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव रखा। सांसारिक भोगों से निस्पृह धनगिरि ने अति विनम्र शब्दों में एक प्रकार से धनपाल के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए प्रश्न किया—“क्या भवसागर की भयावहता से भलीभांति परिचित आप जैसे स्वजनहितैषी महानुभावों द्वारा अपने किसी प्रियजन को भव-पाश में आबद्ध करना उचित कहा जा सकता है?”

धनपाल ने अतिशय स्नेहसिक्त स्वर में अनेक युक्तियों एवं दृष्टान्तों से धनगिरि को समझाते हुए कहा—“सौम्य! भवार्णव से असंख्य भव्यों का समुद्धार करने वाले भगवान् ऋषभदेव ने भी ऋण चुकाने के समान भोगों का उपभोग करने के पश्चात् त्यागमार्ग को अंगीकार कर स्व तथा पर का कल्याण किया था। अतः तुम्हें भी मेरी बात को स्वीकार कर लेना चाहिये।”



भोगों के प्रति अनिच्छा होते हुए भी धनपाल के अत्यधिक प्रेमपूर्ण आग्रह के समक्ष धनगिरि को झुकना पड़ा। अन्ततोगत्वा एक दिन शुभ मुहूर्त में सुनन्दा के साथ धनगिरि का विवाह बड़ी धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हो गया। नवदम्पति सहज-सुलभ सांसारिक भोगोपभोगों का मर्यादापूर्वक उपभोग करने लगे। कुछ ही दिनों पश्चात् सुनन्दा के गर्भ में एक भाग्यशाली जीव अवतरित हुआ।<sup>१</sup>

गर्भसूचक शुभ-स्वप्न से धनगिरि और सुनन्दा को दृढ़ विश्वास हो गया कि उन्हें अत्यन्त सौभाग्यशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। गर्भ की अभिवृद्धि के साथ-साथ सुनन्दा के हर्ष की भी अभिवृद्धि होने लगी। आशा के अतिमुन्दर मान-सरोवर में उसका मनमराल हिलोरों के साथ अठखेलियां करने लगा। वह अर्हनिष्ठ अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती हुई परमप्रमुदित मूद्रा में रहने लगी।

“ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः” — इस उक्ति के अनुसार ज्ञाततत्त्वा विरक्त धनगिरि के मन में सांसारिक भोगों के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण अवशिष्ट नहीं रहा। वे घर परिवार, और वैभव आदि को प्रगाढ़ बन्धन एवं प्रपञ्चतुल्य समझते थे। उन्होंने आत्मकल्याण के लिये उपयुक्त अवसर समझ कर अपनी पत्नी की प्रसन्न मूद्रा से लाभ उठाने का निश्चय किया।

धनगिरि ने एक दिन सुनन्दा से कहा — “सरले ! तुम्हें यह विदित ही है कि मैं साधनापथ का पथिक बन कर आत्महित-साधन करना चाहता हूँ। सौभाग्य से तुम्हें अपना जीवन यापन करने के लिये शीघ्र ही पुत्र का अवलम्बन प्राप्त होने वाला है। अब मैं प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। तुम्हारे जैसी भार्य सन्नारियां अपने दयित के अम्युत्थान-मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करना उचित नहीं समझतीं। वे अपने प्रियतम के अभीष्ट पथ को प्रशस्त बनाने हेतु महान् से महान् त्याग करने के लिये सदा सहर्ष कटिबद्ध रहती हैं। अतः तुम मेरे आत्मसाधना के मार्ग में सहायक बन कर मुझे प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान करो। यही मेरी हार्दिक इच्छा है।”

भार्य धनगिरि के अन्तस्तलस्पर्शी उद्गारों से सुनन्दा का सुषुप्त भार्य-नारीत्व अपने सनातन स्वरूप में सहसा जागृत हो उठा। उसने शान्त, मन्द पर सुदृढ़ स्वर में कहा:—“प्राणाधार ! आप सहर्ष अपना परमार्थ सिद्ध कीजिये। मैं आपके द्वारा दिये हुए सम्बल के सहारे भार्यनारी के अनुरूप गौरवमय जीवन व्यतीत कर लूंगी।”

<sup>१</sup> भार्य प्रभावन्द ने प्रभावंक चरित्र में उल्लेख किया है कि गौतमस्वामी द्वारा अष्टापद पर्वत पर प्रतिबोधित सामानिक वैश्रमण देव देवायु पूर्ण होने पर सुनन्दा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। वही जन्म ग्रहण करने के पश्चात् बज्रस्वामी के नाम से विख्यात हुआ।  
मथाः— स वैश्रमणजातीयसामानिक सुरोज्यदा।

अष्टापदाग्रिमृगे यः प्रत्यबोधीन्द्रभूतिना ॥४२॥

सुनन्दाकुसिसारेऽभावतीराः स्वामुषः क्षये।

[प्रभावक चरित्र]

सुनन्दा से अनुमति प्राप्त कर धनगिरि तत्काल घर से निकल पड़े। उस समय संयोगवश आर्य सिंहगिरि तुम्बवन में पधारे हुए थे। धनगिरि ने आचार्य सिंहगिरि की सेवा में उपस्थित हो निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या ग्रहण की और गुरुचरणों में आगमों का अध्ययन करने के साथ-साथ कठोर तपश्चरणा एवं संयम-साधना करने लगे। आर्य धनगिरि वैराग्य के रंग में इतने गहरे रंग गये थे कि उन्होंने कभी क्षण भर के लिये भी अपनी पत्नी का स्मरण तक नहीं किया।

सुनन्दा ने गर्भकाल पूर्ण होने पर वीर निर्वाण संवत् ४६६ में एक परम-तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। सुनन्दा द्वारा पुत्र को जन्म दिये जाने के समाचार जिस किसी ने सुने, उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। परिवार की स्त्रियों और सुनन्दा की सखियों ने बड़े हर्षोल्लास से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। उस आनन्द के अवसर पर किसी ने कहा—“यदि इस बालक के पिता धनगिरि प्रव्रजित न हुए होते तो आज इसका जन्मोत्सव और भी अधिक हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता।”

उपरोक्त वाक्य के कर्णरन्ध्रों में पड़ते ही पूर्वजन्म के संस्कारों से बालक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। नवजात शिशु ने मन ही मन विचार किया—“अहो! मेरे पिता बड़े पुण्यशाली हैं कि उन्होंने भ्रमणत्व स्वीकार कर लिया। मुझे भी कालान्तर में यथाशीघ्र संयम ग्रहण करना है, क्योंकि संयम के परिपालन से ही मेरा भवसागर से उद्धार हो सकता है। उसकी माता का उसके प्रति पुत्रस्नेह प्रगाढ़ न बने और उसके व्यवहार से पीड़ित हो माता उसका शीघ्र ही परित्याग कर दे, इसके लिये रुदन को ही शीघ्र फलदायी समझ कर बालक ने तत्काल रुदन करना प्रारम्भ किया। बालक को रुदन से उपरत कराने हेतु सुनन्दा ने, सुनन्दा की सखियों ने और सभी बड़ी, बूढ़ी, सयानी स्त्रियों ने सभी प्रकार के उपाय कर लिये किन्तु बालक का रुदन निरन्तर चलता रहा। अपने पुत्र के अनवरत रुदन से सुनन्दा बड़ी दुःखित रहने लगी। उसे न रात्रि में क्षणभर के लिये चैन था न दिन में। वह बार-बार दीर्घ निश्वास छोड़ कर कहती—“पुत्र! यों तो तू बड़ा नयनाभिराम है, तुझे देख-देख कर मेरी आंखें आध्यायित हो जाती हैं पर तेरा यह अर्हनिश रुदन बड़ा क्लेशप्रद लगता है। यह मेरे हृदय में शूल की तरह चुभता है। इस प्रकार येन केन प्रकारेण सुनन्दा ने ६ मास छः वर्षों के समान व्यतीत किये। संयोगवश उस समय आर्य सिंहगिरि का तुम्बवन में पुनः पदार्पण हुआ।

मधुकरी की वेला में जिस समय आर्य धनगिरि मधुकरी हेतु अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर प्रस्थान करने लगे, उस समय किसी पक्षिविशेष के रव को सुन कर निमित्तज्ञ आर्य सिंहगिरि ने अपने शिष्य धनगिरि को सावधान करते हुए कहा—“वत्स! आज तुम्हें भिक्षा में सचित्त, अचित्त अथवा मिश्रित जो भी वस्तु मिले उसे बिना किसी प्रकार का विचार किये तुम ग्रहण कर लेना।”

“यथाज्ञापयति देव” कह कर आर्य धनगिरि आर्य समित के साथ भिक्षार्य भ्रमण करते हुए सर्वप्रथम सुनन्दा के घर पहुँचे । आर्य धनगिरि और समित को सुनन्दा के घर में भिक्षार्य प्रवेश करते देख कर सुनन्दा की अनेक सखियां तत्काल सुनन्दा के पास पहुँचीं और उससे कहने लगीं — “सुनन्दे ! तुम अपना यह पुत्र धनगिरि को दे दो ।”

सुनन्दा अपने पुत्र के कभी बन्द न होने वाले रुदन से दुःखित तो थी ही । उसने अपनी सखियों की बात सुन कर तत्काल पुत्र को दोनों हाथों में उठा कर धनगिरि को वन्दन करते हुए कहा — “आपके इस पुत्र के प्रतिपल क्रन्दन से मैं तो बड़ी दुःखित हो चुकी हूँ । कृपया आप इसे ले लीजिये और अपने पास ही रखिये । यदि यह आपके पास रह कर सुखी रहता है तो उससे भी मुझे सुखानुभूति ही होगी ।”

आर्य धनगिरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा — “श्राविके ! मैं इस को लेने के लिये तैयार हूँ किन्तु स्त्रियों की बात का कोई विश्वास नहीं । पंगु व्यक्ति की तरह उनकी बात आगे चलती नहीं । कालान्तर में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित न हो जाय, इस दृष्टि से तुम अनेक व्यक्तियों को साक्षी बनाते हुए उनके समक्ष यह प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में तुम कभी अपने पुत्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई बात नहीं कहोगी ।”

सुनन्दा ने अतीव खिन्न स्वर में कहा — “एक तो ये आर्य समित (संसार पक्ष से सुनन्दा के सहोदर) मेरे साक्षी हैं और इनके अतिरिक्त मेरी ये सभी सहेलियां साक्षी हैं । इन सबको साक्षी बनाकर मैं स्वीकार करती हूँ कि इस क्षण के पश्चात् मैं अपने इस पुत्र के सम्बन्ध में कभी कोई बात नहीं कहूँगी ।”

तदनन्तर सुनन्दा ने अपने पुत्र को मुनि धनगिरी के पात्र में रख दिया । बालक ने तत्काल परम सन्तोष का अनुभव करते हुए रुदन बन्द कर दिया । मुनि धनगिरि ने भोली के वस्त्र में सुदृढ़ गांठें लगाईं और दक्षिण हस्त से दृढ़तापूर्वक पात्रबन्ध को थामे हुए वे सुनन्दा के घर से उस स्थान की ओर प्रस्थित हुए जहाँ आर्य सिंहगिरि विराजमान थे । सुनन्दा के गृहांगण से निकल कर उपाश्रय पहुँचते पहुँचते मुनि की भुजा उस शिशु के भार से भग्न सी होने लगी । वे उस भार को उठाये किसी तरह अपने गुरु के समक्ष पहुँचे । भार से एक ओर अधिक झुके हुए धनगिरि को दूर से ही देख कर आर्य सिंहगिरि अपने शिष्य के सम्मुख आये और धनगिरि के हाथ से उन्होंने वह भोलीबन्ध अपने हाथ में ले लिया । भोलीबन्ध को हाथ में लेते ही आर्य सिंहगिरि ने धनगिरि से आश्चर्य भरे स्वर में पूछा — “मुने ! तुम यह वज्र के समान अत्यन्त भारयुक्त आज्ञा क्या ले आये हो ? यह तो मेरे हाथों की पकड़ से भी खिसका जा रहा है ।” यह कहते हुए आर्य सिंहगिरि ने अपने आसन पर पात्र को रखा और भोली को खोलकर देख । पात्र में चन्द्रमा के समान काञ्चिमान् परमतेजस्वी बालक को देखकर आर्य सिंहगिरि ने उस बालक

का नाम वज्र रखा और कहा — “यह बालक प्रवचन का आधार होगा, इसका संरक्षण किया जाय ।”

आचार्य सिंहगिरि ने साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातरी की देखरेख में बालक वज्र को सम्हला दिया और स्वयं वहां से किसी अन्य क्षेत्र के लिए विहार कर गये ।

शय्यातरी श्राविका अपने बालकों को सम्हालने से पहले बालक वज्र के दुग्धपान, स्नानमर्दन आदि का पूरा ध्यान रखती और दिनभर उपाश्रय में रखकर रात्रि में अपने घर ले आती । बालक भी मल-मूत्र की शंका होने पर मुष्काकृति प्रकृति रुदन से शय्यातरी को सचेत कर देता और उन्हें कष्ट नहीं होने देता ।

बालक की इस बदली हुई स्थिति और शय्यातरी श्राविका द्वारा बड़ी लगन के साथ की गई सेवाशुभूषा के कारण उसके हृष्ट-पुष्ट होने की बात सुनकर सुनन्दा अपने पुत्र को देखने के लिए एक दिन उपाश्रय में आ पहुँची । अपने सुन्दर एवं स्वस्थ पुत्र को प्रसन्न मुद्रा में देखकर सुनन्दा के हृदय में मातृस्नेह उद्वेलित सागर की तरह उमड़ पड़ा । उसने शय्यातरी से अपने पुत्र को लौटाने का आग्रह किया किन्तु शय्यातरी ने देना स्वीकार नहीं किया । सुनन्दा स्नेहवश बालक वज्र को यथासमय आकर स्तनपान करा जाती । इस तरह बालक वज्र ३ वर्ष का हो गया । वह जाति-स्मरण ज्ञान के कारण प्रस्तुत आहार ही ग्रहण करता और साध्वियों के मुख से शास्त्रों के श्रवण में बड़ी रुचि रखता ।

कालान्तर में आर्य सिंहगिरि अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए अपने शिष्यों सहित तुम्बवन में पधारे । सुनन्दा ने आर्य घनगिरि के पास पहुँच कर उनसे अपना पुत्र लौटाने की प्रार्थना की ।

आर्य घनगिरि ने सुनन्दा को साध्वाचार के सम्बन्ध में समझाते हुए कहा — “श्राविके ! हम साधु लोग साधु-कल्प के अनुसार जिस प्रकार एक बार ग्रहण की हुई वस्त्र-पात्रादि वस्तु को लौटा नहीं सकते, ठीक उसी प्रकार एक बार ग्रहण किये हुए बालक वज्र को भी तुम्हें नहीं लौटा सकते । तुम तो स्वयं धर्मज्ञा हो, अतः एक बार स्वीकार की हुई बात से मुकरने जैसा अनुचित कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता । तुमने आर्य समित और अपनी सखियों को साक्षी बना कर बालक वज्र को हमें देते हुए कहा था — ‘यह बालक मैं आपको देती हूँ, अब मैं कभी इस बालक के सम्बन्ध में किसी प्रकार की बात नहीं करूँगी ।’ अतः अब तुम्हें अपनी उस प्रतिज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिये ।”

आर्य घनगिरि द्वारा अनेक प्रकार से समझाने — बुझाने पर भी सुनन्दा ने जब अपना अविचारपूर्ण हठ नहीं छोड़ा तो संघ के प्रमुख सदस्यों ने भी उसे समझाने का प्रयास किया । किन्तु इस पर भी सुनन्दा ने हठाग्रह नहीं छोड़ा और उसने राजद्वार में उपस्थित हो राजा के समक्ष अपनी मांग रखते हुए न्याय की प्रार्थना की ।

न्यायाधिकारियों ने दोनों पक्षों से पूर्ण जानकारी की और इस जटिल मामले को निर्णय के लिये राजा के समक्ष रखा। दोनों पक्षों के मुख से क्रमशः बालक को देने और लेने की स्वीकारोक्ति सुन कर राजा सहित न्यायाधीश बड़े असमंजस में पड़ गये कि एक ओर तो माता अपने पुत्र को प्राप्त करने की मांग कर रही है। दूसरी ओर स्वयं सुनन्दा द्वारा स्वेच्छा से अपना पुत्र उस मुनि को दिया जा चुका है, जो उस पुत्र का जनक और सुनन्दा का पति रहा है। साधु को दिये जाने के कारण वह बालक संघ का हो चुका। संघ वस्तुतः सर्वोपरि है क्योंकि तीर्थंकरों ने भी संघ को सम्मान दिया है। अन्ततोगत्वा बहुत सोच-विचार के पश्चात् राजा ने यह निर्णय दिया कि यह बालक दोनों पक्षों में से जिस पक्ष के पास स्वेच्छा से चला जायगा, उस ही के पास रहेगा।

राजाज्ञा के अनुसार प्रथम अवसर माता को दिया गया। सुनन्दा ने बालकों को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले अनेक प्रकार के सुन्दर एवं मनोहर खिलौने, बालकों को अत्यन्त प्रिय मिष्ठान्न आदि बालक वज्र की ओर प्रस्तुत करते हुए उसे अपने पास बुलाने के लिए अनेक बार मधुर सम्बोधनों एवं करतल-ध्वनि के साथ करयुगल प्रसारण आदि से उसका आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। एक प्रबुद्धचेता योगी की तरह वह प्रलोभनों की ओर किञ्चित्मात्र भी आकृष्ट नहीं हुआ। वह अपने स्थान से ठस से मस तक नहीं हुआ।

तदनन्तर राजा ने बालक के पिता मुनि धनगिरि को अवसर दिया। आर्य धनगिरि ने अपना रजोहरण बालक वज्र की ओर उठाते हुए कहा :- “वत्स ! यदि तुम तत्वज्ञ और संयम ग्रहण करने के इच्छुक हो, तो अपनी कर्म-रज को भाड़ फेंकने के लिए यह रजोहरण ले लो।”<sup>१</sup>

आर्य धनगिरि अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाये थे कि बालक वज्र अपने स्थान से उछल कर उनकी गोद में आ बैठा और उनके हाथ से रजोहरण लेकर उसे चंवर की तरह ढूलाने लगा। समस्त परिषद् यह देखकर क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गई। धर्म के जयघोषों से गगनचुम्बी राजप्रासाद गूँज उठा। “बालक वज्र संघ के पास ही रहेगा” - यह राजाज्ञा सुनाते हुए राजा ने साधुओं एवं संघ के प्रति भावभरा सम्मान प्रकट किया। तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

सुनन्दा मन ही मन विचार करने लगी - “मेरे सहोदर आर्य समित दीक्षित हो गये, मेरे पतिदेव भी दीक्षित हो गये और पुत्र भी दीक्षित के समान ही है। ऐसी दशा में मुझे भी श्रमणी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिये।” पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् उसने दीक्षा ग्रहण करने का हृदय निश्चय किया और

<sup>१</sup> जइ सि कयव्ववसातो धम्मज्जयभूसियं इमं वइर ।

मेण्ह सहं रयहरणं, कम्मरयपमज्जणं धीर ॥

[भावस्य मत्स्यवृत्ति, उपोद्भाव, पृ० ३८७]

साध्वियों की सेवा में पहुँच कर उसने श्रमणी-धर्म की दीक्षा स्वीकार की। उस समय तक बालक वज्र ३ वर्ष के हो चुके थे।

ज्यों ही बालक वज्र आठ वर्ष की आयु का हुआ त्यों ही आर्य सिंहगिरि ने साध्वियों के सान्निध्य से हटाकर उसे श्रमणी-दीक्षा प्रदान की और अपने पास रखना प्रारम्भ कर दिया।<sup>१</sup> उस समय तक बालक वज्र ने साध्वियों के मुख से सुन-सुन कर एकादश अङ्ग प्रायः कण्ठस्थ कर लिए थे।

अपने शिष्यपरिवार सहित अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए कालान्तर में आर्य सिंहगिरि एक दिन एक पर्वत के पास पहुँचे। मुनि वज्र की परीक्षा लेने के अभिप्राय से वहाँ उनके पूर्वभव के मित्र जृम्भक देवों ने अपनी वैक्रियशक्ति से घोर गर्जन करती हुई घनघोर मेघघटा की रचना की। वर्षा के आसार देखकर आर्य सिंहगिरि ने अपने शिष्यों सहित उस पर्वत की एक गुफा में प्रवेश किया। उनके गुफा में पहुँचते-पहुँचते बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की चमक के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर में चारों ओर जलबिम्ब ही जलबिम्ब दृष्टिगोचर होने लगा। वर्षा बन्द न होने के लक्षण देखकर सब साधुओं ने उपवास का व्रत ग्रहण कर लिया और परम सन्तोष के साथ वे आत्मचित्तन में निरत हो गये। सायंकाल होते-होते वर्षा बन्द हुई अतः आर्य सिंहगिरि ने अपने शिष्यों सहित रात्रि उसी गिरिकन्दरा में व्यतीत की।

दूसरे दिन मध्याह्नवेला में आर्य वज्र मुनि अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर भिक्षार्थ वसति की ओर प्रस्थित हुए। थोड़ी दूर जाने पर मुनि वज्र ने एक छोटी सी सुन्दर वसति देखी और उन्होंने भिक्षार्थ एक घर में प्रवेश किया। उस गृह में अत्यन्त सौम्य आकृति के कतिपय भद्र पुरुषों ने मुनि वज्र को नमस्कार किया और वे उन्हें कुष्माण्डपाक भिक्षा में देने हेतु समुद्यत हुए। लघुवय होते हुए भी विचक्षण वज्रमुनि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार करते हुए मन ही मन सोचा कि द्रव्य-कुष्माण्डपाक, क्षेत्र-मालव प्रदेश, काल-ग्रीष्मकाल और भाव की दृष्टि से अम्लान-कुसुममालाधारी दिव्य दानकर्ता, जिनके पैर हलन-चलन आदि क्रिया करते समय पृथ्वीतल का स्पर्श तक नहीं करते—ऐसी दशा में निश्चितरूपेण ये लोग मनुष्य नहीं अपितु देव होने चाहिये। देवताओं द्वारा दिया गया दान साधु के लिए किसी भी दशा में कल्पनीय नहीं माना गया है।

<sup>१</sup> ताहं अट्टवाससो संजतिपडिस्सताओ निक्कालिओ ताहे उज्जेण गतो ।

[आवश्यक चूणि, प्रथम भाग, पृ० ३६२]

(क) आचार्य प्रभावन्द ने अपने "प्रभावक चरित्र" में लिखा है कि आर्यसिंहगिरि ने वज्रस्वामी को जब वे तीन वर्ष की आयु के थे, उन ही समय दीक्षा कर लिया। यथा :-

त्रिदापिकोऽपि न स्तन्यं, पपी वज्रो व्रतेच्छया ।

दीक्षित्वा गुरुभिस्तेन तत्र मुक्तः समानृकः ॥६२॥

अथाष्टदापिकं वज्रं, कृष्टदा साध्वीप्रतिश्रयान् ।

ओ सिंहगिरयोऽयत्र, विजह सपरिच्छदाः ॥६३॥

[प्रभावक चरित्र, पृ० ५]

इस प्रकार जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि दी जाने वाली भिक्षा वस्तुतः सद्बोध है, तो मुनि वज्र ने अस्वीकृतिसूचक सस्मित स्वर में उन मानववेपथारी देवों से कहा — “द्युसदो ! यह कूष्माण्डपाक देवपिण्ड होने के कारण श्रमणों के लिए अग्राह्य है ।”

वज्रमुनि के विलक्षण बुद्धिकौशल को देखकर वे जृम्भकदेव बड़े चकित एवं प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर वज्रमुनि को भक्तिपूर्वक बन्दन किया और उनके विशुद्ध श्रमणाचार के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वे अपने स्थान को लौट गये ।

कालान्तर में उन्हीं जृम्भक देवों ने एक बार पुनः वज्रमुनि की परीक्षा लेने की ठानी । एक दिन ग्रीष्मकालीन मध्याह्न की चिलचिलाती धूप में वज्रमुनि भिक्षाटन कर रहे थे । परीक्षा के लिए उपयुक्त अवसर समझ कर जृम्भक देवों ने अपनी वैक्रियशक्ति से सद्गृहस्थों का रूप बना कर देवमाया द्वारा रचित अपने घर से वज्रमुनि को भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की । वज्रमुनि ने भिक्षार्थ घर में प्रवेश किया । गृहस्थवेषधर जृम्भकों ने मिष्टान्न (फैनियों) से भरा थाल मुनि के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उन्हें ग्रहण करने की अभ्यर्थना की । शरत्काल में बनाये जाने वाले मिष्टान्न को मध्य-ग्रीष्मर्तु में देख कर वज्रमुनि ने दीयमान वस्तु तथा दाता आदि के सम्बन्ध में बड़ी बारीकी से समीचीन रूपेण पर्यवेक्षण किया और उस भिक्षा को देवपिण्ड बताते हुए अस्वीकार कर दिया । वज्रमुनि की विशुद्ध आचारनिष्ठा एवं भिक्षान्न की पूर्ण गवेषणा से प्रसन्न होकर उन्होंने वज्रमुनि को आकाशगामिनी — विद्या प्रदान की । आवश्यक निर्युक्ति में महापरीक्षा अध्ययन से भी आर्य वज्र द्वारा आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करना बताया गया है ।

आर्य वज्र बाल्यकाल से ही बड़े ज्ञान रसिक और सेवावृत्ति वाले थे । वे अल्प समय में ही अपने शम, दम, विनय और गुणग्राहकता आदि अनुपम गुणों के कारण गुरुदेव और अन्य सभी श्रमणों के प्रेमपात्र बन गये । गुरुदेव के पास उन्होंने अङ्ग शास्त्र के ज्ञान को पूर्ण कर उनके गूढ रहस्यों को हृदयगम किया ।

### आर्य वज्र की प्रतिभा और विनयशीलता

उपरिर्वाणित घटना के दूसरे ही दिन जब आर्य सिंहगिरि शौचनिवृत्त्यर्थ जंगल की ओर एवं अन्य सभी साधु गोचरी अथवा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए उपाश्रयस्थल से बाहर गये हुए थे, उस समय एकान्त पाकर वज्रमुनि के मन में बालसुलभ चापल्य प्रादुर्भूत हुआ । उन्होंने सभी साधुओं के विटनों (वस्त्रों) को मंडलाकार में रखा और उनके मध्य भाग में बैठ कर क्रमशः अंग और पूर्वी की वाचना देने लगे । धाराप्रवाह धनरवगम्भीर स्वर में आर्य वज्र द्वारा शास्त्रों की वाचना का क्रम चल रहा था, ठीक उसी समय आर्य सिंहगिरि जंगल से लौटे । आर्य वज्र की ध्वनि को पहिचान कर आर्य सिंहगिरि द्वार के पास दीवार की ओट में खड़े रह गये । बालक मुनि के मुख से शास्त्र के एक-एक सूत्र का अतीव स्पष्ट

एवं सुन्दर विवेचन सुनकर आर्यसिंहगिरि हर्षविभोर हो गद्गद हो उठे। परमानन्द की अनुभूति के साथ उनके हृदय में सहसा इस प्रकार के उद्गार उद्भूत हुए—  
“धन्य है भगवान् महावीर का यह शासन, धन्य है यह गच्छ, जिसमें इस प्रकार का अलौकिक शिशुमुनि विद्यमान है।”

बालक-मुनि कहीं हतप्रभ अथवा लज्जित न हो जायं इस दृष्टि से आर्य सिंहगिरि ने उच्च स्वर से आगमनसूचक “निस्सिही-निस्सिही” शब्द का उच्चारण किया।

अपने गुरु का स्वर पहिचानते ही वज्रमुनि को लज्जामिश्रित भय का अनुभव हुआ। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक साधुओं के विटरणों को यथास्थान रखा और वे अधोमुख किये हुए गुरु के सम्मुख पहुंचे। आर्य वज्र ने सविनय वन्दन के पश्चात् अपने गुरु के पैरों का वस्त्र से प्रमार्जन कर साफ किया। अपने गुरु के स्नेहसुधा-सिक्त सस्मित दृष्टिनिक्षेप से वज्रमुनि ने समझ लिया कि उनका प्रच्छन्न कार्य गुरु से छुपा नहीं रहा है।

आर्य सिंहगिरि ने रात्रि में अपने शिष्य वज्र मुनि की अद्भुत प्रतिभा पर विचार करते हुए मन ही मन सोचा कि वय में लघु पर ज्ञान में वृद्ध इस बालक मुनि की अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनियों की सेवा शुभ्रूषा करने में जो अवज्ञा हो रही है, उसे भविष्य में नहीं होने दिया जाना चाहिये। सोच-विचार कर उन्होंने इसके लिए एक उपाय खोज निकाला। प्रातःकाल सिंहगिरि ने अपने शिष्यसमूह को एकत्रित कर कहा—“मैं आज यहां से विहार कर रहा हूँ। शिक्षार्थी सब श्रमण यहीं पर रहेंगे।”

अंगशास्त्रों का अध्ययन करने वाले श्रमणों ने अति विनीत एवं जिज्ञासा भरे स्वर में पूछा—“भगवन् ! हमें शास्त्रों की वाचना कौन देंगे ?”

आर्य सिंहगिरि ने शान्त, गम्भीर एवं दृढ़ स्वर में छोटा सा उत्तर दिया—“लघु मुनि वज्र।”

यदि उस समय आज के समान दूषित वातावरण होता तो निश्चित रूपेण शिष्यों द्वारा गगनभेदी अट्टहास से गुरु की घञ्जियां उड़ा दी जातीं पर वे विनयशील शिष्य गुरुवाक्य को ईश्वरवाक्य समझते थे।

सहज मुद्रा में “यथाज्ञापयति देव” कह कर सब श्रमणों ने गुरु के आदेश को शिरोधार्य किया। तदनन्तर आर्यसिंहगिरि ने कुछ स्थविर साधुओं के साथ वहां से किसी अन्य स्थान के लिये विहार कर दिया। वाचना का समय होते ही साधुओं द्वारा एक पाट पर वज्रमुनि का आसन बिछाया जा कर उस पर वज्रमुनि को आसीन किया गया। सब साधु वज्रमुनि के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित कर अपने-अपने आसन पर बैठ गये। वज्रमुनि ने उन्हें शास्त्रों की वाचना देना प्रारम्भ किया। प्रत्येक सूत्र की, प्रत्येक गाथा की, समीचीन रूप से विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए वज्रमुनि ने आगमों के निगूढ़ से निगूढ़ रहस्यों को इस प्रकार



सरल रीति से समझाया कि प्रत्येक साधु के भस्तिष्क में उनका स्पष्ट अर्थ अभिष्ट रूप से अंकित हो गया। प्रतिदिन शास्त्रों की वाचना का क्रम चलता रहा। वज्रमुनि से शास्त्रों की वाचना ग्रहण करते समय प्रत्येक साधु ने अमृत तुल्य रसास्वादन की अनुभूति की।

कतिपय दिनों के पश्चात् आर्य सिंहगिरि पुनः वहां लौट आये। सब श्रमणों ने गुरुचरणों में भक्तिसहित अपने मस्तक भुकाये। गुरु ने अपने शिष्यों से प्रश्न किया — “कहो श्रमणो ! तुम्हारा आगमों का अध्ययन कैसा चल रहा है ?”

सब साधुओं ने एक साथ आनन्दातिरेक भरे सम्मिलित स्वर में उत्तर दिया — “गुरुदेव ! गुरुकृपा से बहुत सुन्दर, अतिसमीचीन। वाचना ग्रहण करते समय हमें परमानन्द की अनुभूति होती है। भगवन् ! अब सदा के लिये आर्य वज्र ही हमारे वाचनाचार्य रहे।”

असीम संतोष का अनुभव करते हुए आर्य सिंहगिरि ने कहा — “प्रत्यक्षानुभव से मैंने यह सब कुछ जान लिया था। इसी लिये इस बालकमुनि की अनुपम गुणगिरिमा से तुम लोगों को अवगत कराने के लिये ही मैंने जानबूझ कर यहाँ से विहार किया था।”

अनेक प्रकार के तपश्चरण के साथ-साथ मुनि वज्र साधु-समूह को वाचना भी देते रहे और अपने गुरु के पास अध्ययन भी करते रहे। स्वल्प समय में ही आर्य वज्र ने अपने गुरु के पास जितना आगम-ज्ञान था वह सब ग्रहण कर लिया। आर्य सिंहगिरि ने तदनन्तर आर्य वज्र को अवशिष्ट श्रुतशास्त्र का अध्ययन कराने के लिये किसी सुयोग्य विद्वान् मुनि की सेवा में भेजने का विचार किया। विहारक्रम से एक दिन वे दशपुर नामक नगर में पहुँचे। वहाँ से उन्होंने आर्य वज्र को अबन्ती (उज्जयिनी) में विराजित दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के पास अध्ययनार्थ भेजा। गुरुभ्राजा को शिरोधार्य कर आर्य वज्र मुनि उग्र विहार करते हुए अबन्ती नगर पहुँचे। संध्याकाल हो जाने के कारण आर्य वज्र ने रात्रि नगर के बाहर ही एक स्थान में बिताई।

प्रातःकालीन आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् मुनि वज्र दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के स्थान की ओर प्रस्थित हुए। उस समय आर्य भद्रगुप्त ने अपने शिष्यों से कहा — “बत्सो ! मैंने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि स्त्री से भरे हुए मेरे पात्र को एक सिंह-भावक ने आकर पी लिया एवं जिह्वा से चाट लिया है।” इस स्वप्नदर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक कोई महान् बुद्धिशाली व्यक्ति आने ही वाला है।”

आर्य भद्रगुप्त ने अपनी बात समाप्त की ही थी कि मुनि वज्र ने उनके सम्मुख उपस्थित हो भक्ति सहित उन्हें वन्दन-नमन के पश्चात् अपने आगमन का

१ सो आगंतूख सीहपोयएण पीतो लेहिप्पो य ।

[आवश्यक मलय, पत्र ३८६ (१)]

प्रयोजन बताते हुए श्रुतशास्त्र का अध्यापन करने की प्रार्थना की। शरीर की चेष्टाओं और लक्षणों से वज्र मुनि को श्रुतशास्त्र के ज्ञान का सुयोग्य पात्र समझ कर आर्य भद्रशुप्त ने उन्हें पूर्वज्ञान की वाचनाएं देना प्रारम्भ किया। मुनि वज्र को दश पूर्वों का सार्थ सम्पूर्णा अध्यापन कराने के पश्चात् आर्य भद्रशुप्त ने पुनः आर्य सिंहगिरि की सेवा में लौटने की अनुज्ञा प्रदान की। वज्र मुनि अपने गुरु आर्य सिंहगिरि की सेवा में उपस्थित हुए। आचार्य ने प्रसन्न हो दशपुर में आकर उन्हें वाचक पद से सुशोभित किया।

अपने प्रिय शिष्य वज्रमुनि को दशपूर्वधर के रूप में देख कर आर्य सिंहगिरि ने परम संतोष का अनुभव किया और अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर उन्होंने वी० नि० सं० ५४८ में अपने शिष्य दशपूर्वधर आर्य वज्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया। आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि की मान्यतानुसार वज्र स्वामी के पूर्वभव के मित्र गुह्यकों ने आचार्य सिंहगिरि द्वारा आर्य वज्रस्वामी को आचार्यपद दिये जाने के अवसर पर बड़ा अद्भुत महोत्सव किया।<sup>१</sup> उस समय आचार्य वज्र ५०० साधुओं के साथ विचर रहे थे।<sup>२</sup>

आर्य वज्रस्वामी ने भी अपने गुरु सिंहगिरि की अन्त समय तक बड़ी लगन के साथ सेवा-शुश्रूषा की। गुरुदेव के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य वज्रस्वामी ने बड़ी योग्यता के साथ संघ का संचालन करते हुए जिनशासन की सेवा की। विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करते हुए वे एक समय पाटलिपुत्र पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। आपके तात्विक उपदेशों से अपने मानस को और दर्शनों से नेत्रों को पवित्र करने के लिये हजारों की संख्या में नरनारीवृन्द उद्यान में उपस्थित हुए। आपकी अतीव रोचक एवं अद्भुत व्याख्यानशैली से प्रबुद्ध हो अनेक नरनारियों ने सम्यक्त्व, व्रत, नियमादि ग्रहण कर अपना आत्म-कल्याण किया।

पाटलिपुत्र नगर के निवासी धन नामक एक अतुल सम्पत्तिशाली श्रेष्ठी की रुक्मिणी नाम की कन्या ने अपनी यानशाला में विराजित साध्वियों से आर्य वज्र के गुणों की प्रशंसा सुनी। उसने एक दिन आचार्य वज्रस्वामी के दर्शन किये और उनका व्याख्यान सुना। जब उसने अखण्ड ब्रह्मचर्य के अपूर्व तेज से प्रदीप्त आर्य वज्र के सौम्य मुखमण्डल को देखा और उपदेश देते समय उनकी सुधासिक्त मधुर वाणी को सुना तो श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी आचार्य वज्र पर प्रारणपण से मुग्ध हो

<sup>१</sup> (क) जस्स असुन्नाए वायगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि ।

देवेहि कया महिमा, पयासुसारि नमंसामि ॥ ७६७

[आव०]

(ख) वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः ।

तस्याचार्यप्रतिष्ठायां चक्रुत्सवमद्भुतम् ॥ १३२ [प्रभावकचरित्र, पृ० ६]

<sup>२</sup> वयरसामि वि पंचहि अणगारसयेहि संपरिवुडो विहरइ । २

[आवश्यक मलय, ३८६(२)]

गई। उसने प्रण किया “यदि आर्य वज्र मेरे पति हों तो मुझे संसार में रहना है अन्यथा भोगों का पूर्ण रूपेण परित्याग कर देना है।”<sup>१</sup> कहा जाता है कि रुक्मिणी ने अपनी स्त्रियों के माध्यम से अपने पिता को कहलवाया कि उसने वज्रस्वामी को अपने पति के रूप में वरणा कर लिया है अतः यदि वज्रस्वामी के साथ उसका विवाह नहीं किया गया तो वह निश्चित रूप से अग्नि में प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

पिता अपनी पुत्री की दृढप्रतिज्ञता एवं हठ से भलीभांति परिचित था अतः वह पुत्री की सहेलियों के मुख से उसके दृढ निश्चय की बात सुन कर बड़ा घबराया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् अनेक बहुमूल्य रत्न और अपनी अनुपम रूपवती पुत्री को अपने साथ ले कर वह उस उद्यान में पहुँचा जहाँ कि आचार्य वज्रस्वामी अपने शिष्यों सहित विराजमान थे। श्रेष्ठी धन ने वज्रस्वामी को नमस्कार करने के पश्चात् निवेदन किया - “आचार्यप्रवर ! मेरी यह परम रूप-गुणसम्पन्ना कन्या आपके गुणों पर मुग्ध हो आपको अपने पति के रूप में वरणा करना चाहती है। मेरे पास एक अरब रौप्यक का धन है। अपनी कन्या के साथ मैं वह सब धन आपको समर्पित करना चाहता हूँ। उस धन से आप जीवन भर विविध भोगोपभोग, दान, उपकार आदि का आनन्द लूट सकते हैं। आप कृपा कर मेरी इस कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लीजिये।”<sup>२</sup>

आचार्य वज्र ने सहज शान्त-सस्मित स्वर में कहा - “भद्र ! तुम वस्तुतः अत्यन्त सरल प्रकृति के हो। तुम स्वयं तो सांसारिक बन्धनों में बन्धे हुए हो ही, दूसरों को भी उन बन्धनों में आबद्ध करना चाहते हो। तुम नहीं जानते कि संयम के मार्ग में कितना अद्भुत अलौकिक आनन्द है। वह पथ कष्टकाकीर्ण भले ही हो पर इसका सच्चा पथिक संयम और ज्ञान की मस्ती में जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, उसके समक्ष यह क्षणिक पौद्गलिक सुख नितान्त नगण्य, तुच्छ और सुखाभास मात्र हैं। संयम से प्राप्त होने वाला अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनन्द अमूल्य रत्नराशि से भी अनन्तगुणित बहुमूल्य है। तुम कल्पवृक्षतुल्य संयम के सुख की तुच्छ तृणा तुल्य इन्द्रिय-सुख से तुलना करना चाहते हो। सौम्य ! मैं तो निस्परिग्रही साधु हूँ। मुझे संसार की किसी प्रकार की सम्पदा अथवा विषय-वासना की कामना नहीं है। यदि यह तुम्हारी कन्या वास्तव में मेरे प्रति अनुराग रखती है, तो मेरे द्वारा स्वीकृत परम सुखकर संयम-मार्ग पर यह भी प्रवृत्त हो जाय।”

आचार्य वज्र की त्याग एवं तपोपूत विरक्तिपूर्ण सयुक्तिक वाणी सुन कर श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी के अन्तर्मन पर आया हुआ अज्ञान का काला पर्दा हट गया। उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसने तत्काल संयम ग्रहण कर लिया और

<sup>१</sup> जइ सो मम पति होष्या, ताहं भोगे भुजिस्सं । इयरहा धलं भोगेहि

[शाबश्यक मलयगिरी, पत्र ३८६(२)]

<sup>२</sup> जो कन्नाइ भणेण य निभंतिओ जुब्बणम्मि गिह्वइस्सा ।

नयरम्मि कुसुमनामे, सं इहररिस्सि नमंसाभि ॥७६८॥

[शाबश्यक मलय, पत्र ३६० (१)]

संयम का समीचीन रूप से पालन करती हुई वह आर्या रक्मिणी भी साध्वियों के साथ विचरण करने लगी ।

यद्यपि आर्य वज्रस्वामी के पूर्वभव के मित्र जृंभक देवों ने उन्हें प्रसन्न हो गगनगामिनी विद्या दी थी पर स्वयं उन्होंने अपने अथाह आगमज्ञान के सहारे आचारंग सूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या को ढूँढ निकाला<sup>१</sup> और भयंकर संक्रान्तिकाल में अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर भूतहितानुकम्पा से प्रेरित हो उस गगनगामिनी विद्या का प्रयोग कर अनेक मानवों के प्राणों की रक्षा की ।

इस प्रकार अनेक विद्यासम्पन्न आचार्य वज्र अपने आचार्यकाल में विचरते हुए भारत के पूर्वी भाग से उत्तर प्रदेश में पधारे । वहाँ भारत के समस्त उत्तरी भाग में घोर अनावृष्टि के कारण भीषण दुष्काल पड़ा । खाद्य सामग्री के अभाव के कारण अभाव-अभियोगों से संतप्त प्रजा में सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया । तृण-फल-पुष्पादि के अभाव में पशुपक्षिगण और अन्न के अभाव में आबालवृद्ध मानव भूख से तड़प-तड़प कर कराल काल के अतिथि बनने लगे । उस दैवी-प्रकोप से संतप्त संघ आचार्य वज्रस्वामी की शरण में आया और त्राहि-त्राहि की पुकार करने लगा ।

आचार्य वज्रस्वामी ने संघ की करुण पुकार सुन कर दया से द्रवित हो विशाल जनसमूह की प्रारणार्थ, समष्टि के हित के साथ-साथ धर्महित की दृष्टि से, साधुओं के लिए वज्रित होते हुए भी आकाशगामिनी विद्या के प्रयोग से संघ को माहेश्वरीपुरी में पहुंचा दिया । वहाँ का राजा बौद्धधर्मानुयायी होने के कारण जैन उपासकों के साथ विरोध रखता था पर आर्य वज्र के प्रभाव से वह भी श्रावक बना और इससे धर्म की बड़ी प्रभावना हुई ।

दुष्कालों की परम्परा केवल भारत में ही नहीं, अन्य अनेक देशों में भी प्राचीन काल से चली आ रही है । दुष्कालों ने मानवता को समय-समय पर बड़ी बुरी तरह से भकभोरा है । दुष्कालों के दुष्प्रभाव के कारण मानव-संस्कृति, शताब्दियों के अथक परिश्रम और अनुभव से उपार्जित आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवतामूलक धर्म की पर्याप्त क्षति हुई है परन्तु इस प्रकार की संकट की घड़ियों में भी वज्रस्वामी जैसी महान् आत्माओं ने अपने अपरिमेय आत्मिक बल से संयम और आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखा । इसी प्रकार के आध्यात्मिक नेताओं के कृपाप्रसाद से हमारा धर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और संस्कृति आदि शताब्दियों से भीषण दुष्कालों, राज्यक्रान्तियों, धर्मविप्लवों की थपेड़ें खाने के उपरान्त भी आज तक जीवित रह कर मानवता को अनुप्राणित करते आ रहे हैं ।

आचार्य वज्रस्वामी की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि श्रुतगंगा की पावन धारा अबाध एवं अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहे किन्तु दश पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने वाले किसी सुयोग्य पात्र के अभाव में उन्हें अपने जीवन के

<sup>१</sup> महापरिज्ञाध्ययनादाचारंगान्तरस्थितात् ।

श्री वज्रेणोद्धृता विद्या, तदागगनगामिनी ॥

[प्रभावक चरित्र]

संध्याकाल में चिन्ता रहने लगी कि कहीं दश पूर्वों का ज्ञान उनके साथ ही विच्छिन्न न हो जाय । महान् विभूतियों की आध्यात्मिक चिन्ता अधिक दिनों तक नहीं रह सकती, इस पारम्परिक जनश्रुति के अनुसार आर्य तोसलिपुत्र के आदेश से युवा मुनि आर्य रक्षित आचार्य वज्रस्वामी की सेवा में उपस्थित हुए । उन्होंने आर्य वज्रस्वामी से ९ पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया पर दसवें पूर्व का वे आधा ही ज्ञान प्राप्त कर सके । एतद्विषयक पूरा विवरण आर्य रक्षित के इतिवृत्त में दिया जा रहा है ।

तत्पश्चात् अनेक क्षेत्रों में भगवान् महावीर के धर्म-शासन का उद्योत करते हुए वज्रस्वामी आर्यावर्त के दक्षिणी क्षेत्र में पधारे । वहां कफ की शान्ति के लिए उन्होंने अपने किसी शिष्य से सोंठ मंगवाई । उपयोग के पश्चात् अवशिष्ट सोंठ को वज्रस्वामी ने अपने कान के ऊपरी भाग पर रख लिया और भूल गये । मध्याह्नोत्तर वेला में प्रतिलेखन के समय मुखवस्त्रिका को उतारने के साथ ही सोंठ पृथ्वी पर गिर पड़ी । यह देखकर वज्रस्वामी ने मन ही मन विचार किया “मेरी आयु का वस्तुतः अन्तिम छोर आ पहुंचा है और मैं प्रमादशील हो गया हूँ इसी कारण कान पर सोंठ को रखकर मैं भूल गया । प्रमाद में संयम कहां ? अतः मेरे लिए भक्त का प्रत्याख्यान कर लेना श्रेयस्कर है ।”<sup>१</sup> तत्काल उन्होंने ज्ञान के उपयोग से देखा कि शीघ्र ही एक और बड़ा भयावह द्वादशवार्षिक दुष्काल पड़ने ही वाला है, जो पहले के दुष्काल से भी अत्यन्त भीषण होगा । उस भीषण दुष्काल के कारण कहीं ऐसा न हो कि एक भी साधु जीवित न रह सके । इस दृष्टि से साधुवंश की रक्षा हेतु वज्रस्वामी ने अपने शिष्य वज्रसेन को कुछ साधुओं के साथ कुंकुण (कोंकण) प्रदेश की ओर विहार करने और सुभिक्ष न हो जाने तक उसी क्षेत्र में विचरण करने की आज्ञा दी । उन्होंने आर्य वज्रसेन से यह भी कहा — “जिस दिन एक लाख मुद्राओं के मूल्य के आवलों के आहार में कहीं विष मिलाने की तैयारी की जा रही हो, उस दिन तुम समझ लेना कि दुष्काल का अन्तिम दिन है । उसके दूसरे दिन ही सुभिक्ष (सुकाल) हो जायगा ।”<sup>२</sup> गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर आर्य वज्रसेन ने कतिपय साधुओं के साथ कुंकुण की ओर विहार कर दिया और धन-धान्य से परिपूर्ण उस क्षेत्र में विचरण करने लगे ।

आर्य वज्रस्वामी जिस क्षेत्र में विचरण कर रहे थे, उस क्षेत्र में शनैः शनैः दुष्काल का दुष्प्रभाव भीषण से भीषणतर होने लगा । कई दिनों तक भिक्षा प्राप्त न होने के कारण भूख से पीड़ित साधुओं को वज्रस्वामी ने अपने विद्या बल से प्रतिदिन समानीत पिण्ड देते हुए कहा — “यह विद्या पिण्ड है और इस प्रकार

<sup>१</sup> तेसि उवभोगो जातो भ्रहो ! पमतो जातो, पमतस्स मे नत्थि संजमो, तं सेयं सलु मे भत्तं

<sup>२</sup> पञ्चवक्खाइत्तए ।

[भावश्यक मलय पत्र, ३६५ (२)]

<sup>३</sup> इत्याकर्ण्य मुनिः प्राह, गुरुशिक्षाचमत्कृतः ।

धर्मशीले शृणु श्रीमद्वज्रस्वामिनिवेदितं ॥१६०॥

स्थालीपाके किलकत्र, लक्षमूल्ये समीक्षिते ।

सुभिक्षं भावि सविषं, पाकं भा कुरु तद्वृथा ॥१६१॥

[प्रभावक चरित्र पृ० ८]

१२ वर्ष व्यतीत करने हैं। यदि संयमगुण की वृद्धि भालूम होती हो तो यह पिण्ड ग्रहण करो और यदि संयमगुण में किसी प्रकार का लाभ नहीं दिखता हो तो हम लोगों को आजीवन अनशन (संभारा) कर लेना चाहिये। आप लोग स्वेच्छापूर्वक इन दो मार्गों में से जिस मार्ग को श्रेयस्कर समझते हों, उस ही मार्ग को अंगीकार कर सकते हैं।”

वज्रस्वामी की उपरिक्थित बात सुनकर सब (५००) साधुओं ने एकमत हो आमरण अनशन करने का अपना निश्चय उनके सामने अभिव्यक्त किया। अपने ५०० ही शिष्यों का एक ही दृढ़ निश्चय सुनकर आचार्य वज्रस्वामी ने अपने शिष्यसंघ सहित दक्षिण प्रदेश के मांगिया नामक एक पर्वत की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने अपने नववय के एक साधु को अनशन में सम्मिलित न होने के लिए समझाया पर वह नहीं माना। मार्ग में आचार्य वज्रस्वामी ने उस नववय के साधु को किसी कार्य के व्याज से एक गांव में भेज दिया और वे अपने अन्य सब साधुओं के साथ उस पर्वत पर जा पहुँचे। पर्वत पर पहुँचने के पश्चात् आर्य वज्रस्वामी तथा उनके सभी शिष्यों ने भूमि का प्रतिलेखन किया और सबने यावज्जीव सभी प्रकार के अशन-पानादि का परित्याग कर अनशन ग्रहण कर लिया।

उधर वह युवा साधु गांव से पुनः उसी स्थान पर लौटा, जहाँ से उसके गुरु ने उसे गांव में भेजा था। अन्य साधुओं सहित वज्रस्वामी को वहाँ न देख कर वह युवा साधु समझ गया कि गुरु ने जानबूझ कर उसे अनशन के लिए साथ नहीं लिया है। उसने मन ही मन सोचा — “गुरुदेव मुझे सत्वहीन समझ कर पीछे छोड़ गये हैं। क्या मैं वस्तुतः निस्सत्व हूँ, निर्वीर्य हूँ? सम्भवतः मुझे अनशन के अयोग्य समझ कर ही गुरुदेव ने पीछे छोड़ दिया है। संयम की रक्षार्थ गुरुदेव अन्य सब साधुओं के साथ अनशन ग्रहण कर रहे हैं, तो मुझे भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चलना चाहिये।”

यह विचार कर उस युवा साधु ने उत्कट वैराग्य के साथ पर्वत की तलहटी में पड़ी हुई एक प्रतप्त पाषाणशिला पर पादपोषगमन अनशन ग्रहण कर लिया। तप्तशिला और सूर्य की प्रखर किरणों मुनि की प्राण की तरह जलाने लगीं। पर अनित्य भावना से ओत-प्रोत मुनि ने अपने शरीर के साथ मन को भी पूर्णरूपेण निश्चल रखा और अंतर्मुहूर्त काल में ही वे अपने विनाशशील शरीर का परित्याग कर स्वर्गवासी हुए। देवों ने दिव्य घोष के साथ मुनि के धर्म, वीर्य एवं गाम्भीर्य का गुणगान किया।

दक्षिण प्रदेश के जिस मांगिया नामक पर्वत पर आचार्य वज्रस्वामी और उनके साधु अनशनपूर्वक निश्चल आसन से आत्मचिन्तन में निरत थे, उस ही पर्वत के अधोभाग में देवताओं द्वारा मनाये जा रहे महोत्सव की दिव्यध्वनि सुन कर एक वृद्ध साधु ने वज्रस्वामी से उसका कारण पूछा। आचार्य वज्रस्वामी ने किशोर वय के मुनि द्वारा प्रतप्त शिला पर पादपोषगमन अनशन ग्रहण करने और उसके

१ वीर बंशावली अथवा तपागच्छ वृद्ध वट्टावली, जैन साहित्य संकोषक, खंड १, अंक ३, पृ. १५

स्वर्गगमन आदि का विवरण सुनाते हुए कहा कि उस मुनि के स्वर्गगमन के उपलक्ष में देवगण महोत्सव मना रहे हैं ।

नितान्त नव-वय के उस मुनि के अद्भुत आत्मबल से प्रेरणा लेकर सभी मुनि उच्च अध्यवसायों के साथ आत्मचित्तन में तल्लीन — एकाग्र हो गये । उन मुनियों के समक्ष व्यन्तर देवी द्वारा अनेक प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये गए पर वे सभी मुनि उन देवी उपसर्गों से किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए । वज्रस्वामी ने अपने उन सभी मुनियों के साथ समीपस्थ दूसरे पर्वत के शिखर पर जाकर भूमि का प्रतिवेशन किया तथा वहाँ उन्होंने अपने-अपने आसन जमाये ।<sup>१</sup> वहाँ आध्यात्मिक चिन्तन (समाधि भाव) में तल्लीन उन सभी साधुओं ने अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्गगमन किया ।

अनशनस्थ अपने सब शिष्यों के देहावसान के पश्चात् आर्य वज्रस्वामी ने भी एकाग्र एवं निष्कम्प ध्यान में लीन हो अपने प्राण विसर्जित किये । इस प्रकार जिनशासन की महान् विभूति आर्य वज्रस्वामी का वीर नि० सं० ५८४ में स्वर्ग-वास हुआ । आचार्य वज्रस्वामी के स्वर्गगमन के साथ ही दशम पूर्व और चतुर्थ संहनन (अर्धनाराच संहनन) का विच्छेद हो गया ।<sup>२</sup>

आचार्य वज्रस्वामी का ज्ञान कितना अगाध था, इसका मापदण्ड आज के युग में हमारे पास नहीं है । जिस पुण्यात्मा वज्र स्वामी ने जन्म के तत्काल पश्चात् जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण स्तनधयी शैशवावस्था में स्तनपान के स्थान पर साध्वियों के मुख से उच्चरित तीर्थेश्वर की वाणी का पान करते हुए एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया हो और जिन्होंने पीगण्डावस्था से ही संसार के समस्त प्रपंचों-भ्रमेलों से सर्वथा दूर रहते हुए निरन्तर समर्थ गुरुओं के सान्निध्य में रह कर अहनिश ज्ञानाराधना की हो, उनके निस्सीम ज्ञान का थाह पाने में कल्पना भी ऊंची से ऊंची उड़ानें भरती हुई अन्ततोगत्वा थक कर निराश हो जायगी । ऐसी ही महान् विभूतियों के तपोपूत त्याग-विराग और ज्ञान की आभा से शताब्दियों के तिमिराच्छन्न अतीत के उपरान्त भी साधक आज आलोक का लाभ कर रहे हैं ।

आचार्य वज्रस्वामी ने ८० वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए धर्म का प्रसार किया । वस्तुतः वे जन्मजात योगी थे । उनकी वक्तृत्वशैली हृत्तलस्पर्शी, प्रभावोत्पादक और अत्यन्त आकर्षक थी । उन महान् आचार्य की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए वीर नि० सं० ५८४ में उनके स्वर्गगमन के पश्चात् वज्जीशाखा की स्थापना की गई ।

वज्रस्वामी के शिष्यों द्वारा प्रचलित वज्जीशाखा के अतिरिक्त उनके प्रशिष्यों से जो शाखाएं प्रचलित हुईं, वे इस प्रकार हैं :-

<sup>१</sup> यामो ध्यात्वैति ते जग्मुस्तदासन्नं नगान्तरम् ॥१७२॥ परि० पूर्व ।

<sup>२</sup> दुष्कर्माविनिभृद्वज्रं, श्री वज्रो स्वर्गमीयुषि ।

विच्छिन्नं दशमं पूर्वं तुयं संहननं तदा ॥१७६॥

(१) वज्रसेन सूरि के शिष्य नागहस्ती से वीर नि० सं० ६०६ में नाइला शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में इस नाइला शाखा से नाइल, चन्द, निम्बुई और विज्जाहर नामक चार कुल प्रशाखा के रूप में उद्भूत हुए। इन चारों कुलों की गच्छ के रूप में प्रसिद्धि हुई।

(२) आचार्य पद्म श्री से पौमिली शाखा का उद्भव हुआ।

(३) ऋषि जयन्त से जयन्ती शाखा प्रचलित हुई।

(४) तापस नामक मुनि से तापसी शाखा प्रकट हुई। ये तापस श्री शान्ति श्रेणिक नामक महात्मा के शिष्य थे।<sup>१</sup>

आर्य वज्रस्वामी के बहुमुखी अनुपम महान् व्यक्तित्व का एक कवि ने निम्नलिखित शब्दों में चित्रण किया है:—

कि रूपं किमुपांगसूत्रपठनं शिष्येषु किं वाचना।

किं प्रज्ञा किमु निःपृहत्वमथ किं सौभाग्यभंग्यादिकं ॥

किं वा संघ समुन्नतिः सुरनतिः किं तस्य किं वर्णनं।

वज्रस्वामिविभोः प्रभावजलधेरेकैकमप्यद्भुतम् ॥

गणाचार्य — आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य भी उपरोक्त अवधि में आर्य वज्र ही रहे।

### दिगम्बर परम्परा में वज्रमुनि

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के 'उपासकाध्ययन' और हरिपेरणकृत बृहत्कथाकोश में भी प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए वज्रमुनि का उल्लेख किया गया है। दोनों परम्पराओं में वज्रमुनि को विविध विद्याओं का ज्ञाता और धर्म का प्रभावक माना गया है। दोनों परम्पराओं में एतद्विषयक जो अन्तर अथवा समानता है वह संक्षेप में इस प्रकार है:—

श्वेताम्बर परम्परा में आर्य वज्र के पिता का नाम धनगिरि और माता का नाम सुनन्दा बताया गया है जबकि दिगम्बर साहित्य में आर्य वज्र को पुरोहित सोमदेव और यज्ञदत्ता का पुत्र बताया है।<sup>२</sup> दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनों

<sup>१</sup> (क) यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्।

[उपासकाध्ययन (भारतीय ज्ञानपीठ), पृ० ८४]

(ख) भुंजानामा रति तेन सोमदत्तेन भोगिना।

बभूव सहसा गर्भो यज्ञिकायाः सुतेजसः ॥१६॥

[बृहत्कथाकोश, भारतीय विद्याभवनः, पृ० २३]

<sup>२</sup> अज्ज नाइली शाखा एवं जयन्ती शाखा के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में कल्प स्थविरावली की संक्षिप्त तथा बृहत्वाचनाओं में मत वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ संक्षिप्त वाचना में आर्य नाइल से नाइली शाखा का तथा आर्य जयन्त से जयन्ती शाखा का प्रादुर्भाव बताया है वहाँ विस्तृत वाचना में आर्य वज्रसेन से नाइली शाखा का और आर्य रथ से जयन्ती शाखा का उद्गम बताया है। यह विचारणीय है। —सम्पादक



ग्रन्थों में उल्लेख है कि जिस समय आर्य बज्र गर्भ में थे उस समय उनकी माता यज्ञदत्ता को आश्रम चल खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय आम्रफल की ऋतु नहीं थी। दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण यज्ञदत्ता दिनप्रतिदिन दुर्बल होने लगी। सोमदेव को अपनी गुर्विणी पत्नी के कृषकाय होने का कारण ज्ञात हुआ तो वह बड़े असमंजस में पड़ गया। अन्ततोगत्वा वह अपने कुछ छात्रों के साथ आम्रफल की खोज में घर से निकला। वह अनेक आम्रनिकुंजों, वनों और उद्यानों में घूमता फिरा किन्तु असमय में आम्रफल कहां से प्राप्त होता? पर सोमदेव हताश नहीं हुआ, वह आगे बढ़ता ही गया। एक दिन वह एक विकट वन में पहुँचा। उस वन के मध्यभाग में उसने एक सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक तपस्वी श्रमण को देखा। यह देख कर उसके हर्ष का पारावार नहीं रहा कि वह आम्रवृक्ष बड़े-बड़े एवं पक्व आम्रफलों से लदा हुआ है। आम्र की ऋतु नहीं होते हुए भी आम्रवृक्ष को आम्रफलों से लदा देख कर सोमदेव ने उसे मुनि के तपस्तेज का प्रभाव समझा और भक्तिविभोर होकर उसने मुनि के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। सोमदेव ने अपने साथ आये हुए छात्रों में से एक छात्र के साथ अपनी पत्नी के पास आम्रफल भेज दिया और शेष छात्रों के साथ मुनि की सेवा में बैठ कर उपदेश-श्रवण करने लगा। मुनि के त्याग-वैराग्यपूर्ण उपदेश और उनसे अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुन कर सोमदेव को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।<sup>१</sup> भीषण भवाटवी के भयावह भवप्रपंच से मुक्त होने की एक तीव्र उत्कण्ठा उसके अन्तर में उद्भूत हुई और उसने तत्क्षण समस्त सांसारिक भ्रमणों को एक ही भटके में तोड़ कर उन अवधिज्ञानी<sup>२</sup> सुमित्र मुनि के पास निर्ग्रन्थ-श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव के साथ आये हुए छात्र अहिच्छत्र नगर को ओर लौट गये। एक छात्र के साथ आये आम्र से यज्ञदत्ता का दोहदपूर्ण हो गया। बाद में आये छात्रों के मुख से अपने पति के प्रव्रजित होने का समाचार सुन कर यज्ञदत्ता को बड़ा दुःख हुआ। गर्भकाल की समाप्ति पर यज्ञदत्ता ने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

उन्हीं दिनों मुनि सोमदेव अपने गुरु सुमित्राचार्य के साथ विचरण करते हुए सोपारक नगर आये। मुनि सोमदेव गुरु की आज्ञा ले पास ही के पर्वत पर पहुँचे और वहाँ एक शिला पर खड़े हो सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यानमग्न हो गये। यज्ञदत्ता को जब यह विदित हुआ कि मुनि सोमदेव निकटस्थ पर्वत पर सूर्य की आतापना ले रहे हैं तो वह नवजात शिशु को लेकर उस पर्वत पर मुनि के पास पहुँची। उसने बड़ी ही अनुनय-विनयपूर्वक सोमदेव को एक बार अपने तेजस्वी पुत्र की ओर देखने तथा घर लौट कर अपने गार्हस्थ्य भार को वहन करने की प्रार्थना की। बड़ी देर तक अनुनय-विनय करने के पश्चात् भी

<sup>१</sup> आम्राणि खादितुं नाघ, दोहदं मे मनःप्रियम् ॥२१॥

[वृहत्कथाकोश]

<sup>२</sup> बज्र के पिता आर्य धनगिरि के गुरु को जातिस्मरणज्ञान था, इस प्रकार के उत्सव वैशाख परम्परा में उपलब्ध होते हैं।

[सम्पादक]

जब उसने देखा कि मुनि सोमदेव ने घर चलना तो दूर, अपने पुत्र की ओर भ्रांख उठा कर भी नहीं देखा है तो उसने क्रुद्ध हो आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा — “ओ मेरे मन को जला डालने वाले पाषाण हृदय मूर्ख वचक ! इस दिग्म्बर वेष को स्वेच्छा से छोड़ कर मेरे साथ घर चलता हो तो चल, अन्यथा सम्हाल अपने इस पुत्र को ।”<sup>१</sup>

इतना कहने पर भी मुनि को निश्चल भाव से ध्यानमग्न देख कर यज्ञदत्ता ने अपने उस कुसुमकोमल नवजात पुत्र को मुनि के चरणों पर लिटा दिया और स्वयं अपने घर की ओर लौट गई ।

सूर्य के प्रचण्ड ताप से शिला जल रही थी । पैरों पर से प्रतप्त शिला पर गिरने से बालक का कहीं प्राणान्त न हो जाय, इस कर्णपूर्ण भ्रांशंका से मुनि सोमदेव अपने पैरों को विष्टर की तरह बनाये अचल मुद्रा में खड़े रहे । मुनि ने मन ही मन दृढ़ संकल्प किया कि जब तक वह उपसर्ग समाप्त नहीं हो जायगा तब तक आहारादि ग्रहण करना तो दूर, शरीर को किंचित्मात्र भी हिलाएंगे-डुलाएंगे तक नहीं ।<sup>२</sup> मुनि इस प्रकार का अभिग्रह कर पुनः ध्यानमग्न हो गये ।

यज्ञदत्ता के लौटने के थोड़ी ही देर पश्चात् भास्करदेव नामक विद्याधरराज अपनी पत्नी के साथ मुनिदर्शन हेतु वहां पहुंचा । जब उसने सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी शिशु को मुनि के पैरों पर लेटे हुए देखा तो मुनि वन्दन के पश्चात् उसने उसे उठा कर अपनी पत्नी की गोद में देते हुए कहा — “धर्मिष्ठे ! लो ! मुनिदर्शन के तात्कालिक सुखद फल के रूप में हम सन्ततिविहीनों को यह पुत्र मिल गया है ।” सूर्य की प्रखर रश्मियों की ज्वालामाला का उस शिशु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, इस कारण विद्याधरदम्पती ने बालक का नाम वज्र रखा । उन्होंने वज्र को अपना पुत्र घोषित करते हुए बड़े दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया । शिक्षायोग्य वय में वज्र को समुचित शिक्षा दिलाने तथा चमत्कारपूर्ण विद्याएं सिखाने की व्यवस्था की गई ।

दिग्म्बर परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा की तरह आर्य वज्र का साधुसंघ में रहना नहीं माना गया है । बृहत्कथाकोश के अनुसार पवनवेगा नाम की एक विद्याधर कन्या के साथ और उपासकाध्ययन के अनुसार इन्दुमती और पवनवेगा नामक दो कन्याओं के साथ वज्रकुमार का विवाह होना माना गया है ।

उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि अनेक वर्षों तक गार्हस्थ्यजीवन का मुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन वज्रकुमार को अपने मित्रजनों से जब यह विदित हुआ कि भास्करदेव उसके पिता नहीं अपितु पालक मात्र है । वस्तुतः

<sup>१</sup> यदीमं दिग्म्बर प्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छयच्छयागच्छसि तदागच्छ । नो चेद्गृहाणे-  
नमात्मनो नन्दनम् । [उपासकाध्ययन]

<sup>२</sup> उपसर्गं महानेप यदि शोभेण यास्यति ।

तथाहारजरीरादेः प्रवृत्तिर्मे भविष्यति ॥३१॥

[बृहत्कथाकोश, पृ० २३]

उसके पिता तो सोमदेव हैं, जो उसके जन्म से पहले ही मुनि बन चुके हैं। वस्तु-स्थिति से परिचित होते ही वज्रकुमार ने प्रतिज्ञा कर डाली कि वह अपने पिता के दर्शन किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगा। भास्करदेव तत्काल वज्रकुमार को साथ लेकर मुनि सोमदेव के दर्शनों के लिये प्रस्थित हुआ। दर्शन-वन्दन के पश्चात् मुनि के त्याग-विरागपूर्ण उपदेश को सुन कर वज्रकुमार को संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने उसी समय सोमदेव मुनि के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आर्य वज्र को चारण-ऋद्धिसम्पन्न मुनि माना गया है और दोनों परम्पराओं के मध्ययुगीन कथासाहित्य में उनके द्वारा आकाशगामिनी विद्या के अद्भुत चमत्कारपूर्ण कार्यों से जिनशासन की महती प्रभावना किये जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्य वज्र के प्रगुरु का नाम सुमित्र और गुरु का नाम सोमदेव बताया गया है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इन्हें जाति-स्मरणज्ञानधारी आर्य सिंहगिरि का शिष्य मानती है। नाम, स्थान आदि विषयक कतिपय विभिन्नताओं के उपरान्त भी आर्य वज्र के पिता द्वारा वज्र के जन्म से अनुमानतः ६ मास पूर्व ही प्रव्रज्या ग्रहण करने, माता द्वारा उन्हें उनके पिता को दे दिये जाने, आर्य वज्र के गगनविहारी होने, जैनों के साथ बीड़ों द्वारा की गई धार्मिक उत्सव विषयक प्रतिस्पर्धा में आर्य वज्र द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के मनोरथों की पूर्ति के साथ जिन-शासन की महिमा बढ़ाने आदि आर्य वज्र के जीवन की घटनाओं एवं सम्पूर्ण कथावस्तु की मूल आत्मा में दोनों परम्पराओं की पर्याप्त साम्यता है, जो यह मानने के लिये आधार प्रस्तुत करती है कि आर्य वज्र के समय तक जैन संघ में पृथकतः श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—इस प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं हुआ था।

दोनों परम्पराओं के मान्य ये मुनि निश्चित रूप से वे ही वज्रमुनि हैं, जो वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में हुए आर्य रक्षित के विद्यागुरु थे। परम्परा भेद के प्रकट होने का इतिहास भी इसी बात को प्रमाणित करता है। कारण कि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का स्पष्ट भेद आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ६०६ में और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में माना गया है।

### दशपूर्वधर-विषयक दिगम्बर मान्यता

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् ६२ वर्ष का तथा कुछ ग्रन्थों में ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

इन्द्रभूति, मुधर्मा और जम्बूस्वामी—इन ३ अनुबद्ध केवलियों के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में भी ५ श्रुतकेवली अर्थात् एकादशांगी और १४ पूर्वों के ज्ञाता

माने गये हैं। परन्तु दोनों परम्पराओं द्वारा माने गये श्रुतकेवलियों के नामों में तथा सत्ताकाल में थोड़ी भिन्नता है। केवल पांचवें श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के नाम के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं का मतैक्य है।

श्वेताम्बर परम्परा में आर्य प्रभव, आर्य शय्यभव, आर्य यशोभद्र, आर्य संभूत विजय और आर्य भद्रबाहु—इस प्रकार ५ श्रुतकेवली और इनका श्रुतकेवलीकाल १०६ वर्ष का माना गया है।

जबकि दिगम्बर परम्परा में विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु इन ५ श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का समय माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों का परिचय दिया जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा ६४ वर्ष का केवलिकाल, १०६ वर्ष का श्रुतकेवलिकाल और ४१४ वर्ष का दशपूर्वधरकाल माना गया है। केवलिकाल के ६४ वर्ष, श्रुतकेवलिकाल के १०६ वर्ष और दशपूर्वधरकाल के ४१४ वर्ष—ये कुल मिला कर ५८४ वर्ष होते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ५८४ तक १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा।

किन्तु दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर ६२ वर्ष तक केवलिकाल, तत्पश्चात् १०० वर्ष तक श्रुतकेवलिकाल और तदनन्तर १८३ वर्ष तक दशपूर्वधरों का काल रहा। इस प्रकार दिगम्बर मान्यतानुसार वीर नि० सं० ३४५ तक ही १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा। दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों के नाम इस प्रकार हैं:—

१. विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४. जय, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. घृतिषेण, ८. विजय, ९. बुद्धिल, १०. गंगदेव और ११. धर्मसेन। इन ग्यारहों आचार्यों को गुणभद्राचार्य ने द्वादशांग के अर्थ में प्रवीण तथा दश पूर्वधर बताया है।<sup>१</sup>

### आ. नागहस्ती एवं आ. वज्र के समय की राजनैतिक स्थिति

यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ४७० से ५३० तक देश में विक्रमादित्य का शासन रहा। विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक, बौद्धिक एवं सैनिक शक्ति की दृष्टि से सबल, सुसमृद्ध एवं समुन्नत रहा। विक्रमादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विक्रमसेन के शासनकाल में भी साधारणतया देश समृद्ध और सबल रहा। विक्रमसेन के शासन के अन्तिम दिनों में शकों के पुनः आक्रमण होने प्रारम्भ हुए और विदेशी शकों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। विक्रमसेन की मृत्यु के पश्चात् शकों के आक्रमणों का दबाव बढ़ता ही गया।

<sup>१</sup> द्वादशांगण-कुशला, दशपूर्वधराश्च ते।

[उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५२३]

# सामान्य पूर्वधर-काल

(वीर नि. सं. ५८४ से १०००)

सामान्य पूर्वधर-काल के आचार्य

१९. आचार्य रक्षित  
आचार्यकाल - वी. नि. सं. ५८४ से ५९७
२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र  
आचार्यकाल - वी. नि. सं. ५९७ से ६१७
२१. आचार्य वज्रसेन  
आचार्यकाल - वी. नि. सं. ६१७ से ६२०
२२. आचार्य नागहस्ती (नागेन्द्र)  
आचार्यकाल - वी. नि. सं. ६२० से ६८६
२३. आचार्य रेवतीमित्र  
आचार्यकाल - ६८६ से ७४८
२४. आचार्य सिंह  
आचार्यकाल - ७४८ से ८२६
२५. आचार्य नागार्जुन  
आचार्यकाल - ८२६ से ९०४
२६. आचार्य भूतबिम्ब  
आचार्यकाल - ९०४ से ९८३
२७. आचार्य कालकाचार्य (चतुर्थ)  
आचार्यकाल - ९८३ से ९९४
२८. आचार्य सत्यमित्र  
आचार्यकाल - ९९४ से १००१



## सामान्य पूर्वधर-काल

वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक के दशपूर्वधरकाल के आचार्यों का परिचय दिया जा चुका है। वीर नि० सं० ५८४ से वीर नि० सं० १००० तक सामान्य पूर्वधरकाल रहा। इस अवधि में आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वों के ज्ञाता आचार्य हुए। आर्य रक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमशः परिहानि होती रही। आर्य रक्षित के पश्चात् होने वाले आचार्यों में कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने पूर्वों के ज्ञाता रहे, एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में निश्चित रूप से तो यही कहा जा सकता है कि वीर नि० सं० १००० तक सम्पूर्ण रूपेण १ पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा।

### २३. रेवतीनक्षत्र-वाचनाचार्य

### २४. रेवतीमित्र - युगप्रधानाचार्य

आर्य नागहस्ती के पश्चात् आर्य रेवतीनक्षत्र वाचनाचार्य हुए। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीनक्षत्र एक ही आचार्य थे अथवा भिन्न-भिन्न, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करने वाला कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों आचार्यों के नाम में पर्याप्त साम्य होने के कारण प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को यह भ्रान्ति हो सकती है कि रेवतीनक्षत्र और रेवतीमित्र एक ही आचार्य के दो नाम हैं, जो वाचनाचार्य भी थे और युगप्रधानाचार्य भी। किन्तु वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्टतः यह अनुमान होने लगता है कि वस्तुतः वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र भिन्न-भिन्न समय में हुए दो भिन्न आचार्य थे।

जिस प्रकार पादलिप्त के गुरु एवं आर्य रक्षित के समकालीन वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और आर्य वज्रसेन के शिष्य युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) के बीच काल का पर्याप्त व्यवधान होना सिद्ध किया जा चुका है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वीपकसिंह के शिष्य आर्य रेवतीनक्षत्र से नागेन्द्र के शिष्य आर्य रेवतीमित्र भी पर्याप्त काल पश्चात् होने चाहिये।

आर्य वज्रसेन के समय के आसपास होने के कारण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र का स्वर्गगमन अधिक से अधिक वीर निर्वाण सं० ६४०-६५० के आसपास होना चाहिये जबकि युगप्रधानाचार्य आर्य रेवतीमित्र का स्वर्गगमन वीर नि० सं० ७४८ में माना गया है, जो आर्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन से लगभग १०० वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

आर्य रेवतीनक्षत्र की स्तुति करते हुए आचार्य देववाचक ने भी कहा है :  
“रेवतीनक्षत्र का वाचकवंश वर्द्धमान हो।” आचार्य देववाचक ने आर्य

<sup>१</sup> बड्डुड वायगवंसो, रेवइनवखत नामाणं ।

[नंदी-स्थविरावली]

रेवतीनक्षत्र के शरीर का वर्ण जातीय अंजन, पकी दाख अथवा नील कमल के समान श्याम बताया है।

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय में वाचकवंश की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-वाचना में आप विशिष्ट रूप से कुशल थे। आपके जन्म, दीक्षा आदि काल का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### आर्य रक्षित — युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रस्वामी के पश्चात् आर्य रक्षित एक विशिष्ट युगप्रधान आचार्य माने गये हैं। इनका जन्म वीर नि० सं० ५२२ में, दीक्षा २२ वर्ष की वय होने पर वीर नि० सं० ५४४ में, युगप्रधानपद ४० वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय पालन के पश्चात् वीर नि० सं० ५८४ में और ७५ वर्ष की पूर्णायु के पश्चात् वीर नि० सं० ५९७ में स्वर्गवास माना गया है। कुछ आचार्यों ने वीर नि० सं० ५८४ में आपका स्वर्गवास होना बताया है। आपके दीक्षागुरु आचार्य तोषलिपुत्र और विद्यागुरु आर्य वज्र माने गये हैं। आवश्यक चूर्ण आदि प्राचीन ग्रंथों में आपका परिचय इस प्रकार उपलब्ध होता है :-

मालव प्रदेश के दशपुर (मन्दसोर) नामक नगर में सोमदेव नामक एक ब्राह्मण पुरोहित रहते थे। उनकी धर्मपत्नी रुद्रसोमा जैनधर्म की उपासिका थी। सोमदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम रक्षित और दूसरे का फल्गुरक्षित था। सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को दशपुर में शिक्षा दिलाने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए पाटलीपुत्र भेजा। प्रतिभाशाली किशोर रक्षित ने पाटलीपुत्र में रह कर स्वल्प समय में ही वेद-वेदांगादि १४ विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की और अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् दशपुर लौटे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने पुरोहित-पुत्र के लौटने का समाचार सुन कर दशपुर के राजा ने और नागरिकों ने रक्षित का भव्य स्वागत किया। स्वागतार्थ उपस्थित लोगों में आर्य रक्षित को उनकी माता रुद्रसोमा कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई।

सब लोगों का अभिवादन स्वीकार करने के पश्चात् रक्षित ने घर आकर माता को प्रणाम किया। सामायिक में होने के कारण रुद्रसोमा ने अपने पुत्र की ओर मध्यस्थभाव से देखा और 'स्वागत' कह वह पुनः आत्मचिन्तन में लीन हो गई। माता की ओर से अपेक्षित वात्सल्य और उल्लास का अभाव और मध्यस्थ भाव देख कर रक्षित ने पूछा — "अम्ब ! मेरे विद्याध्ययन कर लौटने पर नगर में सबको प्रसन्नता है पर तुम्हारे मुख पर मुझे सन्तोष दृष्टिगत नहीं होता। इसका क्या कारण है ?"

माता रुद्रसोमा ने कहा — "पुत्र ! तुमने हिसावद्वक ग्रन्थ पढ़े हैं, इससे तो जन्म-मरण रूपी भवभ्रमण की ही वृद्धि हो सकती है। ऐसी दशा में मुझे सन्तोष किस प्रकार हो ? स्व-पर का कल्याण करने वाले दृष्टिवाद को पढ़कर आया होता तो मुझे सन्तोष होता।"



रक्षित ने बड़ी जिज्ञासापूर्वक दृष्टिवाद और उसके ज्ञाता आदि के सम्बन्ध में अपनी माता से अनेक प्रश्न किये और माता ने पुत्र की जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा - “पुत्र ! इक्षुवाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान हैं, वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं ।”

“कल ही मैं उनके पास अध्ययनार्थ चला जाऊंगा ।” - यह कह कर रक्षित ने माता को आश्वस्त किया और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही माता की आज्ञा ले वह दशपुर से इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थित हुआ ।

नगर से बाहर निकलते ही रक्षित को सामने की ओर से आते हुए एक वृद्ध सज्जन मिले जो सोमदेव के बालसखा थे । यथोचित अभिवादनानादि के पश्चात् रक्षित का परिचय मिलते ही आगन्तुक वृद्ध ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा - “पुत्र मैं तुम्हें देखने के लिए ही आया हूँ । लो, मैं तुम्हारे लिए यह सौगात लाया हूँ ।”

यह कह कर वृद्ध ने ६ पूर्ण और एक आधा इस तरह साढ़े नौ इक्षुदण्ड रक्षित की ओर बढ़ाये ।

रक्षित ने विनम्र स्वर में वृद्ध से कहा - “तात ! मैं अध्ययनार्थ बाहर जा रहा हूँ । आप घर पधारें, ये इक्षुयष्टियां माता को ही दे दें और कह दें कि रक्षित मुझे मिल गया था ।”

इस प्रकार आगन्तुक से थोड़ी देर तक बात करने के पश्चात् रक्षित अपने गन्तव्य स्थान की ओर आगे बढ़ा ।

इक्षुवाटिका पहुँचने के पश्चात् रक्षित यह सोचते हुए उपाश्रय के बाहर ही खड़ा हो गया कि आचार्य के पास किस प्रकार जाना और अभिवादन करना चाहिये । रक्षित इस प्रकार सोच ही रहा था कि एक श्रावक उपाश्रय के मन्दर से आया और दैहिकचिन्ता से निवृत्त हो मुनः उपाश्रय में लौटने लगा । रक्षित ने भी तत्क्षण उस श्रावक का अनुसरण करते हुए उपाश्रय में प्रवेश कर आचार्य तोषलिपुत्र को विधिपूर्वक उसी तरह प्रणाम किया जिस प्रकार कि उस श्रावक ने किया ।

आचार्य ने नवागन्तुक को यथाविधि बंदन करते हुए देखकर पूछा - “वत्स तुमने यह धर्मक्रिया का ज्ञान कहां से पाया ?”

आर्य रक्षित ने उस श्रावक की ओर इंगित करते हुए कहा - “इनसे ।”

तदनन्तर आचार्य द्वारा आगमन का कारण पूछने पर रक्षित ने विनय-पूर्वक निवेदन किया - “भगवन् ! मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए आपकी सेवा में आया हूँ ।”

आचार्य द्वारा यह कहने पर कि दृष्टिवाद का ज्ञान तो दीक्षित होने पर ही दिया जा सकता है, रक्षित तत्काल दीक्षा ग्रहण करने के लिए सहर्ष उद्यत हो गया । श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् रक्षित मुनि ने अपने गुरु तोषलिपुत्र से निवेदन किया - “भगवन् ! यहां के राजा का और सभी नागरिकों का मेरे

प्रति अत्यधिक अनुराग है। मुझे आशंका है कि वे लोग कहीं मुझे बलात् घर लौटा कर न ले जाएं अतः मेरे लिए श्रेयस्कर यही है कि अब शीघ्र ही यहां से किसी अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया जाय।”

नवदीक्षित मुनि रक्षित की प्रार्थना स्वीकार कर आचार्य तोषलिपुत्र ने अपने शिष्यसमूह सहित इक्षुवाटिका से विहार कर दिया। गुरु-सेवा में रह कर बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते हुए मुनि रक्षित ने अल्प समय में ही आचारांग आदि एकादश अंगों का पूर्ण अध्ययन और दृष्टिवाद का जितना ज्ञान आचार्य तोषलिपुत्र के पास था, उसका अध्ययन कर लिया।

तदनन्तर आचार्य तोषलिपुत्र ने मुनि रक्षित को पूर्वों के अग्रतन अध्ययन के लिए दश पूर्वघर आचार्य वज्र स्वामी के पास भेजा। आर्य वज्र की सेवा में जाते समय मुनि रक्षित उज्जयिनी पहुँचे। वहां स्थविर भद्रगुप्त ने युवा मुनि रक्षित का स्वागत करते हुए कहा—“वत्स ! तुम ठीक समय पर आ गये। अब मेरा अन्तिम समय आ चुका है। मेरी सलेखना में यहां अन्य कोई नियामक नहीं है अतः तुम नियामक बन कर मेरी सलेखना पूर्ण होने तक यहां मेरे पास ही रहो जिससे कि मेरी सलेखना पूर्ण समाधि के साथ सम्पन्न हो।”

तपोधन अमराश्रेष्ठ स्थविर की अन्तिम सेवा के स्वर्णिम सुयोग को अपना ग्रहोभाष्य समझ कर मुनि रक्षित उज्जयिनी में स्थविर भद्रगुप्त के पास रहे और उन्होंने बड़ी लगन के साथ उनकी सेवा की।

अन्त में स्थविर भद्रगुप्त ने मुनि रक्षित से कहा—“वत्स ! तुम पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्य वज्र के पास जा रहे हो, यह तो ठीक है पर तुम उनसे अलग उपाश्रय में ठहर कर विज्ञान्यास करना। क्योंकि इस समय आर्य वज्र की जन्म कुण्डली में इस प्रकार का योग पड़ा हुआ है कि जो कोई भी उनके पास एक रात्रि के लिए भी ठहरेगा, उसका उन्हीं के साथ मरण होना मुनिश्चित है।” आर्य रक्षित ने स्थविर भद्रगुप्त की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

स्थविर भद्रगुप्त के समाधिपूर्वक स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य रक्षित ने आर्य वज्र की सेवा में उपस्थित होने के लिए उज्जयिनी से विहार किया। वे सीधे आर्य वज्र के उपाश्रय में न जाकर एक पृथक् स्थान में ठहरे। प्रातःकाल रक्षित मुनि आचार्य वज्र की सेवा में पहुँचे। आर्य रक्षित के उपाश्रय में पहुँचने से कुछ समय पहले आचार्य वज्र ने अपने शिष्यों से कहा—“मैंने आज रात्रि के अवसान समय में स्वप्न देखा कि एक आगन्तुक हमारे यहां आया और मेरे पात्र में रखा हुआ अधिकांश दूध उसने पी लिया, अल्प दुग्ध ही शेष रहा।”

जिस समय आर्य वज्र अपने शिष्यों से यह कह ही रहे थे, उसी समय आर्य रक्षित ने उनकी सेवा में पहुँच कर सविधि भक्तिसहित वन्दन किया।

आचार्य वज्रस्वामी ने आगन्तुक से पूछा—“कहां से आये हो।”  
मुनि रक्षित ने कहा—“आर्य तोषलिपुत्र की सन्निधि से।”

आचार्य वज्र ने पूछा — “क्या तुम आर्य रक्षित हो ?”

विनयावनत हो आर्य रक्षित ने कहा — “हां, भगवन् !”

आचार्य वज्र ने “स्वागतम्” कह कर पूछा — “क्या तुम यह नहीं जानते कि पृथक् स्थान में रहते हुए समीचीन रूप से अध्ययन नहीं होता ?”

आर्य रक्षित ने जब आचार्य भद्रगुप्त से प्राप्त निर्देश के अनुसार पृथक् ठहरने की बात कही तो आचार्य वज्र ने कहा — “ठीक है, स्वर्गस्थ आचार्य ने किसी कारण से ही ऐसा कहा होगा ।”

तदनन्तर आचार्य वज्र ने आर्य रक्षित को पूर्वों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया । महामेधावी आर्य रक्षित ने बड़ी लगन और तत्परता से अध्ययन करते हुए अल्प समय में ही नव (९) पूर्वों की शिक्षा पूर्ण कर ली और दशवें पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया ।

उधर आर्य रक्षित के माता-पिता पुत्रवियोग से चिन्तित हो सोचने लगे — “अहो ! हमने सोचा था कि पुत्र उद्योत करेगा पर वह तो घर में अंधेरा कर चला गया ।” उन्होंने आर्य रक्षित को बुला लाने के लिए अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को भेजा ।

फल्गुरक्षित ने आर्य रक्षित के पास पहुँच कर कहा — “माता आपकी अर्हनिश स्मरण करती रहती है । आप अगर एक बार दशपुर चलो तो माता-पिता आदि सभी स्वजन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेंगे ।”

आर्य रक्षित पूर्णतः अध्यात्मज्ञान में रम चुके थे । उन्होंने समझ लिया था — “संसार के सभी सम्बन्ध नश्वर हैं । तन, धन, परिजन आदि कोई मेरा नहीं है । मैं शरीर से भिन्न शुद्ध चेतन हूँ । ज्ञान मेरा स्वभाव और विवेक ही मेरा मित्र है ।”

उन्होंने फल्गुरक्षित से कहा — “वत्स ! यदि मेरे चलने पर माता-पिता आदि प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर हैं, तो पहले तुम तो प्रव्रज्या ग्रहण कर लो ।”

फल्गुरक्षित ने तत्काल प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और वे श्रमराधर्म का यथा-विधि पालन करते हुए सदा आर्य रक्षित को दशपुर चलने की स्मृति कराते रहे ।

एक दिन आर्य रक्षित ने आचार्य वज्र से पूछा — “भगवन् ! अब दशवां पूर्व कितना और पढ़ना शेष है ?”

आचार्य वज्र ने कहा — “वत्स अभी तो सिन्धु में से चिन्दु जितना हुआ है और समुद्र जितना शेष है ।”

आर्य रक्षित ने इतना विशाल ज्ञान अर्जन करना अपने सामर्थ्य से बाहर समझ कर आर्य वज्र से दशपुर जाने की अनुमति चाही पर आर्य वज्र ने उन्हें आप्रव्रत करते हुए कहा — “वत्स ! धैर्य धारण करो । अभी और पढ़ो ।”

१ दशमस्यास्य पूर्वस्य, मयाधीनं कियत्प्रभो ।

अत्रशिष्टं कियन्चेति, सप्रसादं समादिश ॥

[परिशिष्ट पं., सर्ग १३]

“यथाज्ञापयति देव !” कह कर आर्य रक्षित ने पुनः आगे पढ़ना प्रारम्भ किया, पर क्योंकि अब उन्हें पहले के समान आत्मविश्वास नहीं रहा था कि वे अवशिष्ट अथाह ज्ञान को हृदयंगम कर सकेंगे अतः वे पुनः पुनः आचार्य वज्र से दशपुर जाने के लिए अनुमति चाहने लगे। इस पर आचार्य वज्र के मन में विचार आया कि क्या दशवां पूर्व उनके देहावसान के साथ ही विच्छिन्न हो जायगा ? उन्होंने ज्ञानोपयोग लगा कर देखा - “वस्तुतः अब आर्य रक्षित दशपुर जाने के पश्चात् लौट कर नहीं आयेगा।<sup>१</sup> न कोई ऐसा अन्य सुयोग्य पात्र ही दृष्टिगोचर होता है, जो समस्त पूर्वज्ञान को ग्रहण कर सके और न मेरा आयुष्य ही अब इतना अवशिष्ट है। ऐसी दशा में दशवां पूर्व मेरी आयुसमाप्ति के साथ ही भरतक्षेत्र से नष्ट हो जायगा।”<sup>२</sup>

इस प्रकार अपने ज्ञानोपयोग से अवश्यंभावी भवितव्य को देख कर आचार्य वज्र ने अन्ततोगत्वा आर्य रक्षित को दशपुर जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

इस प्रकार आर्य रक्षित ६ पूर्वों का सम्पूर्ण और दशवें पूर्व का अपूर्ण-आधा ज्ञान ही प्राप्त कर सके। आचार्य वज्र की अनुमति प्राप्त होते ही वे अपने अनुज मुनि फल्गुरक्षित के साथ दशपुर की ओर प्रस्थित हुए। दशपुर पहुँचने के पश्चात् आर्य रक्षित ने अपने माता-पिता आदि परिजनों को उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया। इसके फलस्वरूप वे सब भ्रमणधर्म में दीक्षित हो गये। रक्षित के पिता खंत (वृद्ध मुनि) सोमदेव भी पुत्रानुरागवश उनके साथ विचरते रहे पर बाल्यकाल से चले आ रहे संस्कार और लज्जावश वे निर्ग्रन्थ के लिए विहित लिंग-वेश धारण नहीं कर पाये। उन्हें प्रारम्भ में छत्र, उपानत्, यज्ञोपवीत आदि धारण करने की छूट देकर फिर शनैः शनैः पूर्णरूपेण साधुमार्ग में स्थिर किया गया।

नवदीक्षित साधुओं को लेकर आर्य रक्षित अपने गुरु आर्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचे। साढ़े नौ पूर्वों के ज्ञानधारी अपने शिष्य आर्य रक्षित को देख कर आचार्य तोषलिपुत्र ने परम संतोष का अनुभव किया और उन्हें सर्वथा योग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया।

आचार्य रक्षित ने विभिन्न क्षेत्रों में विहार कर अनेक भव्यजनों को प्रबोध दिया।

आवश्यक निर्युक्ति में आर्य रक्षित को अनुयोगों का पृथक्कर्त्ता बताने के साथ-साथ उन्हें शक्रेन्द्र द्वारा वन्दित भी बताया गया है। “देविद्वंदिएहि” इस विशेषण की सार्थकता बताते हुए आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है कि सीमंधरस्वामी के मुखारविन्द से आर्य श्याम (प्रथम कालकाचार्य) की ही तरह आर्य रक्षित की निगोद व्याख्याता के रूप में प्रणमा मुन, कर इन्द्र आर्य रक्षित की

<sup>१</sup> सोऽश्यामस्तेत्यतोयातो, नायमाशास्यति पुनः ।

[परिशिष्ट पूर्व, सर्ग १३]

<sup>२</sup> तथा दशमपूर्वं च, मर्यादं स्यास्यति ध्रुवम्

[प्रभावक च० पृ० १२]

परीक्षा लेने आया और उनके मुख से निगोद की सूक्ष्मतर व्याख्या सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ ।<sup>१</sup>

### अनुयोगों का पृथक्करण

अनुयोगों के पृथक्कर्ता के रूप में आर्य रक्षित का नाम जैन इतिहास में सदा अमर रहेगा ।

जैन शासन में प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को आगम के छोटे-बड़े सभी सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का उन्हें बोध करा दिया करते थे । उनकी वाचना का वह सही रूप हमारे समक्ष नहीं है तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उनके पालनकर्ता, उनके साधनक्षेत्र का विस्तार और नियम ग्रहण की कोटि एवं भंग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगों का एक साथ बोध करा देते होंगे । इसी को अपृथक्त्वानुयोग वाचना कहा जाता है । अपृथक्त्वानुयोग की व्याख्या करते हुए आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में कहा गया है — “जब चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो उसे अपृथक्त्वानुयोग कहते हैं । अपृथक्त्वानुयोग में विभिन्न नय-दृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार के साथ चर्चा की जाती है । पर पृथक्त्वानुयोग की व्यवस्था में ऐसा करना आवश्यक नहीं होता ।”<sup>२</sup>

वाचना की यह अपृथक्त्वानुयोगात्मक पद्धति आर्य वज्र तक अक्षुण्णरूपेण चलती रही । जैसा कि कहा गया है :-

“आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमों के अनुयोग (वाचना) में अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा, उसके पश्चात् आर्य रक्षित से कालिक-श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की गई ।”<sup>३</sup>

अनुयोगों के पृथक्करण की वह घटना इस प्रकार है :- “आर्य रक्षित के धर्मशासन में ज्ञानी, ध्यायी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के साधु थे । आर्य रक्षित के उन शिष्यों में पुष्यमित्र नाम के तीन शिष्य विशिष्ट गुणसम्पन्न और महामेधावी थे । उनमें से एक को दुर्बलिकापुष्यमित्र दूसरे को घृतपुष्यमित्र और तीसरे को वस्त्रपुष्यमित्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था । दूसरे और तीसरे पुष्यमित्र मुनि लब्धिसम्पन्न थे ।

<sup>१</sup> देविवर्द्धिर्हि महागुणार्थेहि रक्षितश्च अज्जेहि ।

जुगमासञ्ज विहसो, अनुयोगो ता कसो षड्हा ॥७७४॥

[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृ० ३६१ (२)]

<sup>२</sup> अपुद्गतमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सुवित्तरं जत्थ ।

मन्तंतलुधोगा, चरणधम्मसंज्ञाणवञ्जाणं ॥

[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० ३८३ (२)]

<sup>३</sup> जावन्ति अज्जवड्ढरा अपुद्गत कालियागुधोगे य ।

तेणारेण पुद्गतं कालिबबुध विट्ठिवाणे य ॥१६३॥

[वही]

धृतपुष्यमित्र अपनी लब्धि के प्रभाव से साधुओं को जितने धृत की आवश्यकता होती उतना ही धृत और वस्त्र-पुष्यमित्र वस्त्रलब्धि के प्रताप से श्रमणों की आवश्यकतानुसार वस्त्र किसी गरीब से गरीब गृहस्थ के यहां से भी प्राप्त कर सकते थे। लब्धि के कारण उन दोनों को प्रत्येक गृहस्थ क्रमशः धृत और वस्त्र देने के लिए सहर्ष उद्यत रहता था।

दुर्बलिकापुष्यमित्र स्वाध्याय के बड़े रसिक थे अतः अर्हनिश स्वाध्याय में निरत रहते थे। निरन्तर स्वाध्याय के कारण वे बड़े दुर्बल हो गये थे। गुरु-चरणों में रहकर सतत अध्ययन करते हुए उन्होंने ६ पूर्वा का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

आर्य रक्षित के गण में दुर्बलिकापुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गाष्ठा-माहिल ये चार सर्वाधिक प्रतिभा एवं योग्यतासम्पन्न मुनि माने जाते थे। उनका अन्य साधुओं पर भी बड़ा प्रभाव था। इनमें विन्ध्य मुनि अत्यन्त मेधावी और सूत्रार्थ की धारणा में पूर्णतः समर्थ थे। अध्ययन के समय अन्य शिष्यार्थी साधुओं के साथ उन्हें जितना सूत्रपाठ आचार्य श्री से प्राप्त होता था, उससे उनको संतोष नहीं होता था। मुनि विन्ध्य ने एक दिन आचार्य की सेवा में निवेदन किया—  
“भगवन् ! मुझे पर्याप्त सूत्रपाठ नहीं मिल पाने के कारण मेरा अध्ययन समीचीन रूपण नहीं हो रहा है अतः कृपा कर मेरे लिए एक पृथक् वाचनाचार्य की व्यवस्था करें।”

आचार्य रक्षित ने मुनि विन्ध्य की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र को आज्ञा दी कि वे विन्ध्य मुनि को वाचना दें। कतिपय दिनों तक विन्ध्य मुनि को वाचना देने के पश्चात् दुर्बलिकापुष्यमित्र ने आचार्य की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—  
“गुरुदेव ! मुनि विन्ध्य को वाचना देने में निरत रहने के कारण मैं पठित ज्ञान का पूरा परावर्तन नहीं कर पाता अतः अनेक सूत्रपाठ मेरे स्मृति-पटल से तिरोहित हो रहे हैं। पहले पारिवारिक लोगों के यहां आने-जाने के कारण भी परावर्तन नहीं हो पाया था। इस प्रकार मेरा नौवें पूर्व का ज्ञान नष्ट हो रहा है।”

अपने मेधावी शिष्य दुर्बलिकापुष्यमित्र के मुख से विस्मरण की बात सुन कर आचार्य रक्षित ने सोचा—  
“जब ऐसे परम मेधावी मुनि को भी पठितार्थ का स्मरण न करने के कारण विस्मरण हो रहा है तो अन्य की क्या स्थिति होगी ?”

उपयोग-बल से आचार्य रक्षित ने भविष्यकालीन साधुओं (शिष्यों) की धारणाशक्ति को मंद जान कर उन पर अनुग्रह करते हुए, वे सुखपूर्वक ग्रहण और धारणा कर सकें इसके लिए प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक् कर दिये। अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नयदृष्टि का मूल भाव नहीं समझ कर कहीं कभी एकान्त ज्ञान, कभी एकान्त क्रिया या एकान्त निश्चय अथवा एकान्त व्यवहार को

ही उपादेय नहीं मान लें तथा सूक्ष्म विषय में मिथ्याभाव नहीं ग्रहण करें, एतदर्थ नयों का विभाग नहीं किया।<sup>१</sup>

### आर्य रथ - गणनाचार्य

आर्य वज्र के आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ - ये तीन प्रमुख क्षिप्य थे।<sup>२</sup> आर्य वज्रसेन को कालान्तर में आर्य रक्षित तथा आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के पश्चात् युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किया गया। आर्य पद्म से आर्य पद्मा शास्त्रा तथा आर्य रथ से जयन्ती शास्त्रा के प्रकट होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

कल्प स्थविरावली में आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् स्थविर आर्य रथ को गणनाचार्य नियुक्त किया जाना और उनसे प्रचलित हुई आचार्य-परम्परा को प्रमुख परम्परा बताया गया है। कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पहले सूत्र

१ (क) नाऊण रक्सियञ्जो, मद्मेहाधारणासमर्गपि ।  
किच्छेणं धरमाणं, सुपण्णवं पूसमित्तपि ॥  
अइसयकघोवओगो, मद्मेहाधारणाइपरिहीणो ।  
नाऊण मेस्सपुरिसे, खेतं कालाणुख्वं च ॥  
साणुग्गहोऽणुओगो, वीसुं कासीं प्र सुयविभागेण ।  
सुहगहणाइनिमित्तं, नए य सुनिपूहिय विभागे ॥  
सविसयमसहंता, नयाण तम्मत्तयं च गेण्णंता ।  
मभंता य विरोहं, अपरिणामातिपरिणामा ॥  
गच्छेज मा हु मिच्छं, परिणामा य सुहमादि बहुभेए ।  
होण्णा सत्तो वेत्तुं, न कालिए तो नयविभागे ॥

[आवश्यक मसक, पृ० ३६६ (१)]

(ख) आवास्यकभूणि

(ग) भूत्वेत्यचिन्तयत् सूरिरीहग्मेधानिधियंदि ।  
विस्मरत्स्वागयं तहि कोऽयस्तं धारयिष्यति ॥२४०  
ततश्चतुविधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया ।  
ततोऽङ्गोपाङ्ग मूलाख्य ग्रंथच्छेदकृतागमः ॥२४१  
अयं चरणाकरणानुयोगः परिकीर्तितः ।  
उत्तराध्ययनाद्यस्तु, सम्यग्धर्मकथापरः ॥२४२

(घ) सूर्यप्रशप्तिमुख्यस्तु गणितस्य निगद्यते ।  
इध्यस्य दृष्टिबादोऽनुयोगाश्चत्वार ईदृशः ॥२४३ [प्रभावक चरित्र, पृ० १७]

(ङ) नाऊण गहणधारणाहाणि चउहा पिहीकओ जेण ।  
अणुओगो तं देविदवदियं रक्सियं वन्दे ॥२१० [श्रुषिमंडलस्तोत्र]

(च) विशेषावश्यक भाष्य

<sup>१</sup> वेरस्स खं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिभि अन्तेवासी.....होत्या । येरे अज्ज वइरसेणो, येरे अज्ज पउमे, येरे अज्ज रहे ॥१४

[कल्प स्थविरावली]

में गौतम गोत्रीय आर्य वज्र से वज्जी शाखा का प्रकट होना तथा अगले सूत्र में आर्य रथ से जयन्ती शाखा के प्रकट होने का उल्लेख है ।<sup>१</sup>

कल्प सूत्रस्थ स्थविरावली में आर्य रथ से प्रचलित हुई आचार्य परम्परा के आचार्यों का ही गणाचार्य परम्परा के रूप में नामोल्लेख किया गया है अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कल्पसूत्रीया स्थविरावली का अनुसरण करते हुए उसे प्रमुख मानकर गए परम्परा के रूप में उस ही का उल्लेख किया गया है । दुर्भाग्य है कि आर्य रथ से प्रचलित हुई इस गणाचार्य परम्परा के आचार्यों का नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय आज उपलब्ध नहीं होता । दूसरी ओर गुर्वावली, तपागच्छ पट्टावली और वीरवंशावली आदि में वज्रसेन के पश्चात् आर्य चन्द्र से आचार्य परम्परा चलती है । ऐसी स्थिति में आर्य रथ से चलने वाली आचार्य परम्परा के आचार्यों का कोई परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहां उनके नाम मात्र बताये जा सकेंगे । और आर्य चन्द्र से चलने वाली परम्परा के आचार्यों का यत्किञ्चित् जो परिचय प्राप्त होता है, उसे यहां संक्षेपतः दिया जायगा ।

### सातवां निह्लव गोष्ठामाहिल

सातवां एवं अन्तिम निह्लव गोष्ठामाहिल वीर नि० सं० ५८४ में हुआ । गोष्ठामाहिल ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के विपरीत अपसिद्धान्त 'अबद्धिक-दर्शन' का प्ररूपण एवं प्रवर्तन किया अतः वह निह्लव कहलाया । गोष्ठामाहिल और उसके द्वारा प्ररूपित अबद्धिक दर्शन का परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है ।

अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में आर्य रक्षित उद्यत बिहार से अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक दिन अपने शिष्य परिवार सहित दक्षपुर नगर के बहिरांचल में अवस्थित इक्षुधर नामक स्थान में पधारे ।

उन दिनों मथुरा में अक्रियावादियों का वर्चस्व बढ़ रहा था । उन्होंने सभी धर्मावलम्बियों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी । अक्रियावादियों के साथ वाद करने का किसी विद्वान् ने साहस तक नहीं किया । जैन धर्म की चिरअजित प्रतिष्ठा की रक्षार्थ संघ ने एकत्रित होकर विचार-विमर्श किया । अन्य किसी विद्वान् को अक्रियावादियों के साथ शास्त्रार्थ करने में समर्थ न पाकर संघ ने आर्य रक्षित के पास दशपुर (मन्दसौर) सन्देश भेजकर उन्हें मथुरा में आकर अक्रियावादियों को परास्त करने की प्रार्थना की । प्रव्रजित होने के प्रथम दिन से ही अपने कर्मसमूहों को तप-संयम की प्रवण्ड उवालाओं में भस्मावशेष कर डालने का दृढ़ संकल्प लिये आर्य रक्षित अपने शरीर को अस्थिपंजर मात्र बना चुके थे । इसके उपरान्त वे बहुत वृद्ध हो चुके थे और उन्हें यह विदित था कि उनके जीवन

<sup>१</sup> धेरेहिंनो एं अज्ज वइरेहिंनो गोयमसगुत्तेहिंनो इत्थ एं अज्ज वइरीसाहा सिग्गया ॥१३॥  
धेरेहिंनो एं अज्ज र्हेहिंनो इत्थ एं अज्ज जयंती साहा सिग्गया ॥१४



का अन्तिम समय अब सन्निकट आ चुका है। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपना जाना उचित न समझकर शास्त्रार्थ में कुशल एवं सुयोग्य अपने शिष्य गोष्ठामाहिल को मथुरा भेजा।

अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर गोष्ठामाहिल मथुरा पहुंचे। अक्रियावादियों के साथ गोष्ठामाहिल ने शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। गोष्ठामाहिल के प्रबल तर्कों एवं अक्राट्य युक्तियों के समक्ष अक्रियावादियों के पैर उखड़ गये। मध्यस्थों एवं सभ्यों ने सर्वसम्मत समवेत स्वरों में अक्रियावादियों को पराजित और गोष्ठामाहिल को विजयी घोषित किया। जिनशासन की महती प्रभावना हुई और संघ में सर्वत्र हर्ष की हिलोरें लहरा उठीं। विजयी होकर गोष्ठामाहिल गुरुसेवा में दशपुर लौटे। उनके साथ मथुरा संघ के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि भी थे। उन्होंने आर्य रक्षित से प्रार्थना की कि वे मुनि गोष्ठामाहिल को मथुरा नगरी में चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान करें। संघ की आग्रह एवं अनुनयविनयपूर्ण विनति को आर्य रक्षित ने स्वीकार किया और गोष्ठामाहिल ने पुनः मथुरा की ओर विहार किया।

चातुर्मासावधि में जब आर्य रक्षित दशपुर में और उनके शिष्य गोष्ठामाहिल मथुरा में थे, उस समय आर्य रक्षित ने अपने शरीर की स्थिति क्षीण और आयु का अन्तिम समय समीप समझकर संघ के समक्ष अपने उत्तराधिकारी के विषय में विचार विमर्श किया। आर्य रक्षित के शिष्य-समूह में घृतपुष्यमित्र, वस्त्रपुष्यमित्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये ६ शिष्य बड़े प्रतिभा-शाली थे। आर्य रक्षित के मुनिमण्डल में से कतिपय मुनि आर्य फल्गुरक्षित को और कुछ मुनि गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाने के पक्ष में थे। पर आर्य रक्षित केवल दुर्बलिकापुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के योग्य समझते थे।

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के प्रश्न के सम्बन्ध में जब आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह में मतभेद देखा तो उन्होंने बड़ी ही सूझबूझ से काम लिया। सबको एकत्रित कर वे बोले - "कल्पना करो कुछ ईगितज्ञ श्रावकों ने यहां तीन घड़े प्रस्तुत किये। उनमें से एक घड़े में उड़द, दूसरे में तेल और तीसरे में घृत भरा और साधुसमूह एवं समस्त संघ के समक्ष उन तीनों घड़ों को दूसरे तीन घड़ों में क्रमशः उल्टा करवा दिया। उन तीनों रिक्त घड़ों में कितना कितना उड़द, तेल और घृत अवशिष्ट रहेगा?"

आर्य रक्षित का प्रश्न सुनकर शिष्यों एवं श्रावकप्रमुखों ने उत्तर दिया - "भगवन्! जो घट उड़द से भरा था, वह पूर्णतः रिक्त हो जायगा, तेल के घट में थोड़ा बहुत तेल अवशिष्ट रह जायगा पर घृत के घट में घृत इधर-उधर चारों ओर चिपके रहने के कारण पर्याप्त मात्रा में अवशिष्ट रह जायगा।"

आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह और संघमुख्यों को सम्बोधित करते हुए निर्णायक स्वर में कहा - "उड़द धान्य के घट की तरह मैं अपना समस्त ज्ञान

दुर्बलिकापुष्यमित्र में उडेल चुका हूं। जिस प्रकार पूरी तरह उडेल दिये जाने पर भी तेल के घड़े तथा घी के घड़े में थोड़ी मात्रा में तेल और उससे अधिक मात्रा में घृत अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार शेष शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सके हैं।”

आर्य रक्षित के इस संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं युक्तियुक्त निराणंय से उत्तराधिकार का प्रश्न तत्क्षण हल हो गया। शिष्यसमूह सहित समस्त संघ ने सर्वसम्मति से दुर्बलिकापुष्यमित्र को आर्यरक्षित का उत्तराधिकारी स्वीकार किया। आर्य रक्षित ने नवनिर्वाचित आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र और संघ को संघ-संचालन विषयक निर्देश दिये। तदनन्तर अध्यात्म-ध्यान में लीन हो आर्य रक्षित ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

आर्य रक्षित के स्वर्गारोहण के समाचार सुनकर गोष्ठामाहिल भी चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् साधुसंघ के पास आये और आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र के गणाचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात सुनकर बड़े खिन्न हुए। श्रमणसंघ एवं श्रावकसंघ द्वारा उन्हें समझाने का पूरा प्रयास किया गया पर गोष्ठामाहिल ने किसी की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और वे सब साधुओं से पृथक् एक अन्य ही उपाश्रय में ठहर कर सूत्र-पौरुषी के समय एकाकी स्वाध्याय करने लगे। अर्थ-पौरुषी के समय जब गणाचार्य आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र साधुसमूह को आगम-वाचना देते, उस समय भी गोष्ठामाहिल उपस्थित नहीं होते। वे मन ही मन गणाचार्य के प्रति विद्वेष रखने लगे। गणाचार्य द्वारा की जाने वाली वाचना के अनन्तर मुनि विन्ध्य जब अर्थवाचना करते, तब गोष्ठामाहिल वहां उपस्थित होते और आठवें पूर्व की व्याख्या सुनते।

अपने अन्तर में उत्पन्न हुए गणाचार्य के प्रति विद्वेष और कांक्षामोह के उदय के कारण वे आठवें पूर्व के भावों को यथार्थरूपेण ग्रहण न कर उनका विपरीत अर्थ ही ग्रहण करने लगे।

आठवें कर्मप्रवादपूर्व की वाचना के समय आर्य विन्ध्य ने कर्मबन्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा :- “आत्मा के साथ कर्म का बन्ध तीन प्रकार का होता है - बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित। जीव प्रदेशों के साथ कर्म-परमाणुओं के सम्बन्ध मात्र को बद्ध कहते हैं। जैसे कषायरहित जीव के ईर्यापथिक कर्म का बन्ध सूखी दीवार पर गिराई गई चूर्ण की मुष्टि के समान कालान्तर में बिना स्थिति पाये ही अलग हो जाता है। दूसरा बद्ध-स्पृष्ट - जो कर्म गीली दीवार पर गिराये गये स्नेहयुक्त चूर्ण की तरह कुछ काल तक आत्मप्रदेशों के साथ मिला रहकर अलग हो जाता है, उसे बद्धस्पृष्ट कहा गया है। तीसरा निकाचित कर्म - वही बद्ध - स्पृष्ट कर्म जव अध्यवसायों और रस की अति तीव्रता के कारण न्यूनाधिक्य के रूप में

१ एवं विहियपुद्दत्तेहि रक्षियज्जेहि पूसमित्तम्मि ।

उच्चिए गणम्मि किर गोठ्ठमाहिलो पबिनिवेसेण ॥२२६६॥

[विशेषावश्यक भाष्य]

परिवर्तन की स्थिति को पार कर जाता है तथा फलभोग के पश्चात् ही जिस कर्म से छुटकारा हो सकता है, उस कर्मबन्ध को निकाचित बन्ध कहा है।

बद्ध, बद्ध-स्पृष्ट और निकाचित कर्म के बन्ध को सरलता से समझने के लिये सूचिका का दृष्टान्त दिया जाता है। बद्ध कर्म का आत्मा के साथ डोरे से लिपटी सुई की तरह सम्बन्ध बताया गया है। जिस प्रकार स्वल्पतर प्रयास मात्र से घामे से लिपटी हुई सुई को घामे से पृथक् किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को बद्ध-कर्म से सहज ही वियोजित किया जा सकता है। बद्ध-स्पृष्ट कर्म को लोहे के पत्र से आबद्ध सुई की तरह बताया गया है। जिस प्रकार लोहपत्र से प्रबद्ध सूचिका को पृथक् करने में विशेष प्रयास की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बद्ध-स्पृष्ट कर्मों को आत्मप्रदेशों से वियोजित करने में थोड़े पौरुष की आवश्यकता रहती है। तीसरे निकाचित कर्मबन्ध की, सूचिकाओं के उस समूह से तुलना की गई है, जिसे तपाकर घन-प्रहार से स्पृक्त कर दिया गया हो। जिस प्रकार तपाकर घण की चोट से परस्पर मिलाई गई सूचिकाओं को पुनः गलाकर सांचे में ढालने से ही पूर्व रूप में लाया जा सकता है उसी प्रकार निकाचित कर्म के फलभोग के अनन्तर ही उसे आत्मप्रदेशों से पृथक् किया जा सकता है।”

विन्ध्य मुनि द्वारा किये गये कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन को सुनकर गोष्ठामाहिल ने कहा — “मुने ! यदि कर्म की इस प्रकार की व्याख्या करोगे कि जीवप्रदेशों के साथ अन्योन्य अविभक्त रूप से कर्म का बन्ध होता है, तो उस दशा में आत्मा कभी कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो सकेगा। कंचुकी और पुरुष के समान आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है। कंचुकी पुरुष को स्पृष्ट कर रहता है बद्ध करके नहीं। ठीक उसी प्रकार कर्म भी आत्मा के साथ दूध पानी की तरह घुल-मिल कर बद्ध नहीं होते, केवल स्पृष्ट होकर ही रहते हैं।”

गोष्ठामाहिल की बात सुनकर विन्ध्य ने कहा — “हमको गुरु ने इसी प्रकार बताया है।” गोष्ठामाहिल ने कहा — “वह स्वयं नहीं जानते तो क्या व्याख्यान करेंगे ?”

इस पर सरलमना विन्ध्य मुनि शंकित हुए और आचार्य के चरणों में पहुंचकर कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन एवं गोष्ठामाहिल का अभिमत सुनाते हुए उन्होंने स्पष्टीकरण चाहा कि वस्तुतः सूत्र का अर्थ क्या है ?

दुर्बलिकापुष्यमित्र ने कहा — “सौम्य ! जो तुम कहते हो वह ठीक है। एतद्विषयक गोष्ठामाहिल का कथन ठीक नहीं है। उसने, आत्मा के साथ बद्ध, बद्धस्पृष्ट और निकाचित सम्बन्ध मानने पर जीव से कर्म के पृथक् न होने की बात रखी, वह प्रत्यक्ष विरोधिनी है। आयुर्कर्म का अन्त अथवा वियोजन मरण के रूप में प्रत्यक्ष है। गोष्ठामाहिल का यह कथन भी ठीक नहीं है कि अन्योन्य अविभाग से रहे हुए का वियोग नहीं होता। एक रूप से मिले हुए दूध-पानी का उपाय विशेष से पृथक्करण देखा जाता है। लोहगोलक और अग्नि का अविभक्त सम्बन्ध भी

इसी प्रकार पृथक् होते देखा जाता है। जैसे अग्नि में तपाये गये लोहपिण्ड के कण कण में, प्रत्येक प्रदेश में अग्नि व्याप्त हो जाती है और शीतल जल आदि के प्रयोग से पुनः वह लोहगोलक शीतल—अग्निरहित हो जाता है। इसी प्रकार जीव के आत्मप्रदेशों में धुलमिल कर रहा हुआ भी कर्मणि सम्यग्ज्ञान एवं क्रिया के योग से पृथक् किया जाता है और जीव कर्म रहित हो अपने “सत्यं शिवं सुन्दरम्”—स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।”

विन्ध्यमुनि ने गोष्ठामाहिल को वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट एतद्विषयक अर्थ समझाने का प्रयास किया। पर गोष्ठामाहिल अपने एकान्त अभिमत पर अड़ा रहा। मुनि विन्ध्य ने वस्तुस्थिति गणाचार्य के समक्ष रखी। आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने भी शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों से गोष्ठामाहिल को समझाने का प्रयास किया पर सब व्यर्थ। फिर आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने अन्य-गच्छों के स्थविरों एवं शासनाधिष्ठात्री देवी के माध्यम से भी गोष्ठामाहिल को आत्मा के साथ कर्म के बन्ध के विषय में समझाने का पूरा प्रयास किया पर उसने हठाग्रह नहीं छोड़ा। गोष्ठामाहिल द्वारा की जाने वाली उत्सूत्र प्ररूपणा से खिन्न हो धर्मसंघ ने उसे सप्तम निह्लव घोषित करते हुए संघ से बहिष्कृत कर दिया।

सातवां निह्लव गोष्ठामाहिल किस समय हुआ, यह प्रश्न शताब्दियों से विद्वानों के समक्ष पहली के रूप में उपस्थित रहा है। विशेषावश्यक भाष्य की—

पंचसया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।

आबद्धियाण दिट्ठी दसपुर नयरे सकुप्पन्ना ॥

इस गाथा से वीर नि० सं० ५८४ में दशपुर नगर में अबद्धिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है पर ऐतिहासिक अन्य ग्रन्थों में दुर्बलिकापुष्यमित्र के ऐतिहासिक काल के साथ आर्य रक्षित के सम्बन्ध को देखते हुए ५८४ का काल मेल नहीं खाता। यह आर्यरक्षित के स्वर्गगमन के पश्चात् की घटना है और यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि आर्यरक्षित वीर नि० सं० ५६७ में स्वर्गस्थ हुए। इतिहास-विज्ञ इसके लिये विशेष गवेषणा का प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है।

## २०. आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र—युगप्रधानाचार्य

वीर नि० सं० ५६७ में आर्य रक्षित के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र युगप्रधानाचार्य बने। आपका जो थोड़ा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है:—

“दुर्बलिकापुष्यमित्र का जन्म वीर नि० सं० ५५० में एक सुसम्पन्न बौद्ध परिवार में हुआ। वीर नि० सं० ५६७ में आपने १७ वर्ष की अवस्था में आर्य रक्षित के पास निर्ग्रथश्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् वर्षों विनयपूर्वक गुरुसेवा करते हुए निरन्तर के पठन, मनन और परावर्तन से आपने एकादशांगी और सार्द्धनव पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया।

“जिस प्रकार सरसों से भरे घड़े को उड़ेलने पर घड़े में एक भी सर्पकण अवशिष्ट नहीं रह जाता, उसी प्रकार मैंने अपना सम्पूर्ण ज्ञान आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र को सिखा दिया है” — आर्य रक्षित द्वारा अपने अन्तिम समय में संघ के समक्ष प्रकट किये गये इन उद्गारों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि सार्द्धनव पूर्वधर आर्य रक्षित से आर्य दुर्बलिकालपुष्यमित्र ने साढ़े नव पूर्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र प्रबल आत्मबल के धनी होते हुए भी शारीरिक दृष्टि से बड़े दुर्बल रहते थे। वे अध्ययन, चिन्तन, मनन में इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि अहर्निश किये जाने वाले उस अत्यधिक परिश्रम के कारण स्निग्धतर और गरिष्ठ से गरिष्ठतम भोजन से भी उनके शरीर में आवश्यक रस का निर्माण नहीं होता था। इसी शारीरिक दुर्बलता के कारण आप संघ में दुर्बलिका-पुष्यमित्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।”

भारतीय इतिहास और जैन इतिहास — इन दोनों ही दृष्टियों से आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र का आचार्यकाल बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आपके आचार्यकाल में ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित दो घटनाएँ घटित हुईं :-

१. आपके आचार्यकाल ( वीर नि० सं० ६०५ ) में प्रतिष्ठानपुर के अधिपति गीतमीपुत्र सातवाहन ने आर्यधरा से शक-शासन का अन्त कर शालि-वाहन शाक-संवत्सर की स्थापना की, जो विगत १६ शताब्दियों से आज तक भारत के प्रायः सभी भागों में प्रचलित है।

२. आपके आचार्यकाल ( वीर नि० सं० ६०६ ) में जैन-संघ — श्वेताम्बर और दिगम्बर — इन दो भागों में विभक्त हो गया।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य रक्षित ने आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र द्वारा परावर्तन के अभाव में पठितार्थ के विस्मरण की बात सुन कर कालप्रभाव से भावी क्षिण्यसन्तति की परिक्षीयमाण स्मरणशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए अनुयोगों का पृथक्करण किया। जैन इतिहास की दृष्टि से, अति महत्वपूर्ण, अनुयोगों के पृथक्करण की घटना में भी आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ही निमित्त माने गये हैं।

३० वर्ष तक सामान्य व्रतपर्याय में रहने के अनन्तर वीर निर्वाण सं० ५६७ में आप युगप्रधानाचार्य बने। युग — प्रधानाचार्य पद से भगवान् महावीर के धर्मशासन की २० वर्ष तक उल्लेखनीय सेवा और प्रभावना करने के पश्चात् वीर नि० सं० ६१७ में आपने स्वर्गारोहण किया। आपकी पूर्ण आयु ६७ वर्ष, ७ मास और ७ दिन की मानी गई है। दुष्पमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र की तालिका में पक्षान्तर का उल्लेख करते हुए आपका युगप्रधानाचार्यकाल २० के स्थान पर १३ वर्ष और पूर्णायु ६७ वर्ष, ७ मास एवं ७ दिन के स्थान पर ६० वर्ष, ७ मास तथा ७ दिन बताई गई है।

### शासिवाहन शाक-संवत्सर

प्रतिष्ठान राज्य के अधिपति सातवाहन वंशीय गौतमीपुत्र सातकर्णों ने शक्तिशाली शाक-शासक नहपान को मार कर तथा भारत के दक्षिणी भाग, सौराष्ट्र एवं गुजरात से शाक महाक्षत्रियों का समूलोन्मूलन कर शकारि विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण करने के साथ-साथ वीर निर्वाण संवत् ६०५, तदनुसार विक्रम सं० १३५ तथा ई० सन् ७८ में शाक-संवत्सर प्रचलित किया।

प्राचीन कथासाहित्य के आधार पर सातवाहन वंश के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि संभवतः ग्रान्ध के किसी नागवंशीय शासक एवं महाराष्ट्रीय विषवा ब्राह्मणी के संयोग से सिमुक नामक बालक का जन्म हुआ, जो आगे चल कर सातवाहनवंश का संस्थापक हुआ। "प्रबन्धकोश" के सातवाहन प्रबन्ध और अल्बरूनी द्वारा किये गये उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवंश का मूल पुरुष सिमुक विक्रमादित्य का समकालीन था।<sup>१</sup>

सातवाहन वंश में अनेक प्रतापी, शक्तिशाली और विद्वान् राजा हुए हैं। सातवाहन राजवंश के राजाओं ने भारतभूमि पर शकों के शासन का अन्त करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान किया। वायुपुराण में सातवाहन वंश के १६ राजाओं का नामोल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है:—

१. शिशुक (सिमुक), २. कृष्ण, ३. सातकर्ण, ४. पुलुमायी, ५. अरिष्टकर्ण,
६. हाल (गावासप्तसती का रचयिता), ७. पत्तलक, ८. पुरीन्द्रसेन, ९. सुन्दर,
१०. चकोर, ११. शिवस्वाति, १२. गौतमीपुत्र, १३. पुलुमायी- (द्वितीय),
१४. शिवश्री, १५. शिवस्कन्द, १६. यज्ञश्री, १७. विजय, १८. चन्द्रश्री और,
१९. पुलुमायी (तृतीय)<sup>२</sup>

<sup>१</sup> तथा सातवाहन वृत्तनया भग्नमवन्तीशितुर्बंसम् । विक्रमनरपतिरपि पलाय्य ययाववन्तीम् । तदनु सातवाहनो राज्येऽभिषिक्तः प्रतिष्ठानं च निज-निज विभूति परिभूतबस्वोकसारविधान् धवलशुद्ध देवशुद्धशक्तिराजपथशकारपरिष्कारिभिः सुनिविष्टमजनिष्ट पत्तनम् ।

[प्रबन्धकोश, सातवाहन प्रबन्ध, पृ० ६८]

<sup>२</sup> (क) शिशुकोऽध्रः सजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम् ।

त्रयोविंशत्समारजा शिशुकस्तु भविष्यति ॥ २ ॥

एकोनविंशत्सिद्धोऽन्धो भोक्ष्यन्ति वै महीम् ॥ १६ ॥

[मत्स्य पुराण, कलौ भाविनुपान्वयवर्षानम्]

(ख) सिन्धुकोऽध्रः सजातीयः, प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम् ।

त्रयोविंशत्समारजा सिन्धुको भविता त्वथ ॥ ३४८ ॥

अष्टौ भातस्तु वर्षाणि तस्माद्दश भविष्यति (?) ॥ ३४९ ॥

श्री सातकर्णो भविता तस्य पुत्रस्तु वै महान् ।

पंचाशत्समाः षट् च सातकर्णो भविष्यति ॥ ३५० ॥

ततः षड्वत्सरं पूर्णं हानो राजा भविष्यति ॥ ३५२ ॥

सातवाहनवंशीय उपरिलिखित १९ राजाओं में से इस वंश का आदिपुरुष शिशुक-सिन्धुक अथवा सिमुक अबन्तीपति महाराज विक्रमादित्य के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसका छोटा भाई कृष्ण प्रतिष्ठान का राजा बना। कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सातकर्ण बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। सातकर्ण ने अपने राज्य की सीमा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। महाराष्ट्र के किसी बड़े जागीरदार की पुत्री नायनिका के साथ इसका विवाह सम्पन्न हुआ इससे इसकी शक्ति में अभिवृद्धि हुई। सातकर्ण ने पश्चिमी घाट एवं कोंकण पर विजय प्राप्त की तथा वह पूरे महाराष्ट्र और कर्नाटक का अधिपति बन गया। सातकर्ण की तेजस्विता और प्रताप के कारण इसके पश्चाद्वर्ती सातवाहनवंश के सभी राजाओं के नाम के साथ सातकर्ण उपनाम भी जुड़ता रहा। कतिपय इतिहासविदों की मान्यता है कि सातवाहनवंश के संस्थापक सिमुक और कृष्ण बात्यकाल में आन्ध्र देश में रहे थे अतः इनकी आन्ध्र सातवाहन नाम से प्रसिद्धि हुई। हमारा अभिमत है कि आन्ध्र के किसी नागवंशी राजा की संतति होने के कारण ही सातवाहनवंशी राजाओं को आन्ध्र-सातवाहन कहा जाने लगा।<sup>१</sup>

यह पहले बताया जा चुका है कि ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व शक लोग अपने मूल निवासस्थान को छोड़ ईरान की ओर बढ़े और उन्होंने सम्पूर्ण ईरान पर आधिपत्य जमा लिया। शक लोग युद्धप्रिय और बर्बर थे। वे जब कभी

राजा च गौतमीपुत्र एकविंशत्सभा नृषु ।  
एकोनविंशति राजा यज्ञश्रीः सातकण्यथ ॥ ३५५ ॥  
इत्येते वै नृपास्त्रिंशदन्ध्रा भोक्ष्यन्ति ये महीम् ॥ ३५७ ॥

[वायुपुराण, अनुवंगपाद, अ० ६६]

वायुपुराण के उपरोक्त अध्याय में सातवाहनवंशीय पन्द्रह-सोलह राजाओं के ही नाम दिये गये हैं पर इनकी संख्या ३० बताई गई है। मत्स्यपुराण के उपरि उद्धृत श्लोक में सातवाहनवंशी राजाओं की संख्या १९ बताई गई है। ब्रह्माण्ड पुराण में भी इन राजाओं की संख्या १९ ही बताई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन वंश की दक्षिण कोशल शाखा में हुए ११ राजाओं की भी इन १९ राजाओं के साथ गणना कर के ३० की संख्या पूरी कर दी गई है। विभिन्न पुराणों में दी गई सातवाहनवंशी राजाओं की नामावली को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके नाम भी उत्तराधिकार के अनुक्रम से नहीं दिये गये हैं।

[सम्पादक]

<sup>१</sup> तत्र चंकदा द्वौ वैदेशिकद्विजौ समागत्य विधवया स्वभ्रा साकं कस्यचित्कुम्भकारस्य शालायां तस्थिवांसौ ।....अन्येष्टुः सा तयोर्विप्रयोः स्वसा जलाहरणाय गोदावरीं गता । तस्याश्च रूपमप्रतिरूपं निरूप्य स्मरपरवशोन्तह्मं दवासी शेषो नाम नागराजो ह्मं दान्निगंत्य विहित-मनुष्यवपुस्तया सह बलादपि सम्भोगकेलिकलयत् । भक्तिव्यताविलसितेन तस्या सप्त-धातुरहितस्यापि तस्य दिव्यशक्त्या शुकपुद्गलसंचारात् गर्भाधानमभवत् । स्वनामधेयं प्रकाशय व्यसनसंकटे मां स्मरेरित्यभिधाय च नागराजः पाताललोकमगमत् । सा च गृहं प्रत्यगच्छत् ।  
[प्रबन्धकोश, सातवाहनप्रबन्ध, पृ० ६६]

किसी देश पर आक्रमण करते तो टिड्डी दल की तरह तूफानी आक्रमण करते थे। उनके स्वभाव में स्वेच्छाचारिता और अहं का आधिक्य होने के कारण उनका शासन बड़ा ही कर्कश और उनके द्वारा विजित राष्ट्र पर किये जाने वाले अत्याचार बड़े ही लोमहर्षक होते थे। ईरान की जनता शकों की दासता से मुक्त होने के लिये स्वल्पकाल में ही छटपटाने लगी। ईरान के प्राचीन राजवंश ने ईरान से शकों के शासन को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और वहाँ के शाह ने एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् शकों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर ईरान में एक सशक्त साम्राज्य की स्थापना की। ईरान में अपने प्रति भीषण असंतोष और प्रतिकार की भावना की तीव्र लहर देखकर शकों ने भारत के सिन्ध प्रदेश की ओर अपना सैनिक अभियान किया और उन्हें सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने में सफलता भी मिल गई।

उन्हीं दिनों अपनी बहिन सरस्वती साध्वी को गर्दभिल्ल के अन्तःपुर से मुक्त कराने के प्रश्न को लेकर कालकाचार्य द्वितीय ने सिन्ध के शकों की सहायता प्राप्त की और कालकाचार्य के बुद्धिकौशल एवं भडौंच के शासक बलमित्र भानुमित्र की सहायता से शकों ने गर्दभिल्ल को परास्त कर अश्वन्ती राज्य पर अधिकार कर लिया। अश्वन्ती राज्य पर शकों का शासन कठिनाई से चार वर्ष ही चल पाया था कि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर अश्वन्ती राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया।

यह भी पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ५३० में महाराज विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर शकों ने पुनः भारत पर प्रबल आक्रमण प्रारम्भ किये और उन्होंने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। उन्हीं दिनों पार्थियन जाति के विदेशी आक्रान्ता भी ईरान होते हुए भारत में आये। पार्थियन राजा गोंडोफरनीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। उसने अपने राज्य की सीमा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की और अनेक प्रदेशों में अपनी क्षत्रपियां स्थापित की।

सातवाहनवंशी राजा पुलोमावि (प्रथम) के शासनकाल में पश्चिमी क्षत्रपों के बंस के संस्थापक चष्टन का प्राबल्य बढ़ा। उसने पुलोमावि के राज्य के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर उज्जयिनी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चष्टन के पुत्र रुद्रदामा ने अपनी पुत्री का विवाह पुलोमावि के साथ किया। कुछ काल पश्चात् किसी कारणवश श्वसुर जामाता के बीच युद्ध ठन गया। उस युद्ध में पुलोमावि का पराजय ने और रुद्रदामा का विजयश्री ने चरण किया।

शकों की बढ़ती हुई शक्ति को प्रतिष्ठान के सातवाहनवंशी शासकों ने समय समय पर क्षीण करने का प्रयास किया।

वीर नि० सं० ५५२ के आसपास यूबी जाति के विदेशी कुषाणों ने भारत में बढ़ते हुए पार्थियन जाति के विदेशियों को पराजित कर अफगानिस्तान और



पंजाब के कतिपय क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। शकों एवं पार्थियन लोगों की तरह कुषाणों ने भी भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्मों को अपनाया। उन लोगों ने अपने नाम तक भारतीय पद्धति के अनुरूप रखे और उनमें से प्रायः सभी ने बौद्ध, हिन्दू, शैव, जैन और भागवत धर्मों को अपना लिया। शकराज रुद्रदामा भारतीय भाषाओं तथा व्याकरण एवं तर्कशास्त्र का अपने समय का एक माना हुआ विद्वान् था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्मित सुदर्शन भील पर बहुत बड़ी धनराशि व्यय करके उसका जीर्णोद्धार करवाया।

वीर नि० सं० ५६५ से ६०५ तक नहपान नामक एक शक महाक्षत्रप का भारत के पश्चिमी एवं अनेक दक्षिणी भागों पर शासन रहा। नहपान ने भृगुकच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर प्रतिष्ठान की ओर प्रयाण किया। उस समय प्रतिष्ठान पर गौतमीपुत्र सातकर्णिक का शासन था। गौतमीपुत्र ने नहपान की बढ़ती हुई सेनाओं को रोका। दोनों सेनाओं के बीच बड़ा भीषण युद्ध हुआ। कड़े संघर्ष के पश्चात् गौतमीपुत्र सातकर्णिक ने रणस्थल में नहपान को मौत के घाट उतार दिया। गौतमीपुत्र सातकर्णिक ने भारत से शकों के शासन का अन्त कर शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और इस विजय के उपलक्ष में उसने वीर निर्वाण संवत् ६०५ में शाक-संवत्सर की स्थापना की।<sup>१</sup>

सातवाहनवंशी राजाओं में से कुछ राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये, इस प्रकार के शिलालेख उपलब्ध होते हैं। अनेक इतिहासविदों का अभिमत है कि सातवाहनवंशी राजाओं के समय में हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हुआ। दूसरी ओर जैन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवंशी राजाओं में से कतिपय जैन थे।<sup>२</sup>

शालिवाहन शाक-संवत्सर - इस पद में शाक शब्द को देखकर कतिपय साधारण लोगों को सहज ही भ्रम होना संभव है कि क्या यह संवत्सर किसी विदेशी शक राजा के द्वारा चलाया हुआ संवत्सर है? वस्तुतः यहां शाक शब्द शक्ति का द्योतक है।<sup>३</sup> शालिवाहन शाक-संवत्सर का शाब्दिक अर्थ है - शालिवाहन द्वारा चलाया गया शक्ति-संवत्सर। प्रायः सभी प्रामाणिक शब्दकोशों में "शाक"

<sup>१</sup> (क) सातवाहनोऽपि ऋषेण दक्षिणापथमनुसं विधाय तापीतीरपर्यन्तं चोत्तरापथं साधयित्वा स्वकीय संवत्सरं प्रावीवृत्तत् । [प्रबन्धकोश पृ० ६८]

(ख) इत्थं य पणहिय द्यसएमु सागसंवत्सररूप्पत्ती ॥

[विचारश्रेणी]

(ग) श्रीवीरनिवृत्तेर्वर्ष, षड्भिः पंचोत्तरं शतैः ।

शाकसंवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरते ऽभवत् ॥ [वही]

<sup>२</sup> (क) जैनश्च समजनि । [प्रबन्धकोश, पृ० ६८]

(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ में कालकाचार्य (द्वितीय) का प्रकरण ।

<sup>३</sup> शाक - m. power, might, help, aid. - Samvatsara - for any era  
[Sanskrit-English Dictionary-by Sir Monier Williams.]

शब्द का अर्थ शक्ति सामर्थ्य, ऊर्जा तथा वर्ष — विशेषतः शालिवाहन संवत्सर किया गया है।<sup>१</sup>

जैन कालगणना में वीर निर्वाण संवत् के पश्चात् सर्वाधिक महत्व शालि-वाहन शाक-संवत्सर को दिया गया है।

### जैन शासन में सम्प्रदाय भेद

आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य वज्र स्वामी तक जैन शासन विना किसी सम्प्रदाय — भेद के चलता रहा। यद्यपि गणभेद और शाखाभेद का प्रारम्भ आचार्य यशोधर के समय से ही प्रारम्भ हो गया था और आर्य सुहस्ती के समय से तो गणभेद परम्पराभेद के रूप में भी परिणत हो गया था पर तब भी उसमें सम्प्रदाय भेद का स्थूल रूप दृष्टिगोचर नहीं हो पाया। समस्त जैनसंघ श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि बिना किसी भेद के “निर्ग्रन्थ” नाम से ही पहिचाना जाता रहा। आवश्यक-तानुसार वस्त्र रखने वाले और जिनकल्प की तुलना करने वाले — दोनों ही वीतराग भाव की साधना को लक्ष्य में रख कर परस्पर विना टकराये चलते रहे।

एक और महागिरि जैसे आचार्य जिनकल्प तुल्य साधना करने की भावना से एकान्तवास को अपनाते तो दूसरी ओर आर्य सुहस्ती भव्यजनों को प्रतिबोध देने एवं जिनशासन का प्रचार-प्रसार करने की भावना से प्रेरित हो ग्राम-नगरादि में भव्य भक्तजनों के साथ सम्पर्क बनाये रख कर विचरण करते। फिर भी उन दोनों का परस्पर प्रेम सम्बन्ध रहा। उस समय तक वस्तुतः वस्त्रधारी मुनि और वस्त्ररहित मुनि समान रूप से सम्माननीय, वन्दनीय और मुक्ति के अधिकारी माने जाते रहे। मुनित्व और मुक्तिपथ के लिए न सवस्त्रता बाधक समझी जाती थी और न निर्वस्त्रता ही एकान्त मुक्ति-सहायिका। वस्त्रधारी मुनियों का यह आग्रह न था कि बिना धर्मोपकारणों के मुक्ति नहीं और न निर्वस्त्र मुनियों का ही यह आग्रह था कि वस्त्र रखने वाला मुनि, मुनि नहीं। थोड़े से में कहा जाय तो उस समय तक सवस्त्रता और निर्वस्त्रता मुनि की महानता अथवा लघुता का मापदण्ड नहीं बन पाई थी। ज्ञान, दर्शन चारित्र्य की सम्यक् आराधना ही वस्तुतः मुनिता का सही मापदण्ड माना गया है।<sup>२</sup>

किन्तु वीर नि० सं० ६०६ में वह स्थिति समाप्त हो गई और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के नाम से जैन शासन में सम्प्रदायभेद स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण न कहा है — “वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष बीतने पर रथवीरपुर में बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति हुई।”<sup>३</sup>

<sup>१</sup> संस्कृत हिन्दीकोश, वामन शिवराम आष्टे।

<sup>२</sup> पञ्चयत्नं च लोगस्स, नाणाविहविगण्णं।

जत्तत्थं गहणत्थं च, लोणे लिंग पयोयणं ॥३२॥

नाणं च दंसणं चैव, चरितं चैव निच्छणं ॥३३॥

[उत्तराध्ययन, अ. २३]

<sup>३</sup> स्रग्वास सयाई, तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।

तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥२५५०॥

[वि० भाष्य]

इस सम्प्रदायभेद के उत्पन्न होने की घटना का जो उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्ण आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है, उसका सारांश इस प्रकार है :-

एक वार रथवीरपुर के दीप्र नामक उद्यान में आचार्य कृष्ण का आगमन हुआ। वहाँ शिवभूति नाम का एक राजपुरोहित रहता था। राजा का कृपापात्र होने के कारण वह नगर में विविध भोग-विलासों का उपभोग करता हुआ यथेप्सित रूप से घूमता रहता और मध्यरात्रि के पश्चात् अपने घर पहुँचता था।

एक दिन शिवभूति की पत्नी ने अपना वह दुःख अपनी सास को सुनाते हुए कहा - "आपके पुत्र रात्रि में कभी समय पर नहीं आते, सदा अर्द्धरात्रि के पश्चात् आते हैं, अतः मैं भूख और जागरण के दुःख से बड़ी दुःखित हूँ।" सास ने वधू को आश्वस्त किया और दूसरे दिन वधू को सुला कर स्वयं वृद्धा ने जागरण किया। मध्यरात्रि के पश्चात् जब शिवभूति ने आकर घर का द्वार खटखटाया तो उसकी वृद्धा माता ने क्रुद्ध स्वर में डाँटते हुए कहा - "जहाँ इस समय द्वार खुले रहते हों, वहीं चले जाओ। यहाँ तेरे पीछे कोई मरने वाला नहीं है।"

इस प्रकार अपनी बुढ़िया मां से फटकार सुन कर शिवभूति अहंकारवश तत्क्षण लौट पड़ा। नगर में घूमते हुए जब उसने उपाश्रय का द्वार खुला देखा तो उसमें चला गया और दूसरे दिन आचार्य कृष्ण के पास दीक्षित होकर उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगा।

कालान्तर में आचार्य कृष्ण अपने शिष्यमण्डल सहित पुनः रथवीरपुर आये। उस समय वहाँ के राजा ने पूर्वप्रीति के कारण शिवभूति मुनि को एक बहुमूल्य रत्नकम्बल भेंटस्वरूप प्रदान किया।

आचार्य को ज्ञात होने पर उन्होंने कहा - "साधु को इस प्रकार का मूल्यवान् वस्त्र रखना उचित नहीं।"

गुरु द्वारा बहुमूल्य वस्त्र अपने पास न रखने का निर्देश प्राप्त होने के उपरान्त भी शिवभूति ने ममत्ववश उस वस्त्र का परित्याग नहीं किया और उसे सावधानी के साथ गठरी में बांधकर रख लिया।

एक दिन अवसर देख कर आचार्य ने उस रत्नकम्बल के खण्ड-खण्ड कर उन्हें साधुओं में वितरित कर दिया। जब शिवभूति को यह विदित हुआ, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। इस घटना के पश्चात् शिवभूति अपने अन्तर में आचार्य के प्रति कलुषित भाव रखने लगा।

एक समय आचार्य कृष्ण अपने शिष्य-समूह के समक्ष जिनकल्पधारी साधुओं के आचार का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा - "जिनकल्पिक २ प्रकार के होते हैं, पाणिपात्र और पात्रधारी। उनमें से प्रत्येक के सबस्त्र और निर्बस्त्र - ये दो भेद होते हैं। उपधि की अपेक्षा जिनकल्प में ८ विकल्प होते हैं। जिनकल्पी

कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो उपकरण रखते हैं। इस तरह ३ से लेकर १२ उपधि तक के अन्य ७ विकल्प बताये गये हैं।

इस प्रकार जिनकल्प का वर्णन सुन कर शिवभूति ने कहा—“यदि ऐसा है तो आज भौतिक और भौषणिक के नाम से इतने उपकरण क्यों रखे जाते हैं?”

आचार्य ने कहा—“जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर संहनन की मन्दता से जिनकल्प परम्परा विच्छिन्न मानी गई है।”

शिवभूति अपने रत्नकम्बल के हरण से खिन्न तो था ही, उसने कहा—“महाराज! मेरे जीते जी जिनकल्प का विच्छेद नहीं होगा। परलोकार्थी को भय-मूर्च्छा और कषाय बढ़ाने वाले संपूर्ण परिग्रह से दूर ही रहना चाहिये।”

गुरु ने कहा—“वत्स! वस्त्र आदि उपकरण एकान्ततः कषायवृद्धि के कारण नहीं हैं। शरीर की तरह ये वस्त्र आदि उपकरण धर्म में सहायक भी होते हैं। जिस प्रकार धर्म-साधन के लिए ममता-मूर्च्छा रहित होकर शरीर धारण किया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र आदि आवश्यक उपकरण भी धर्म-साधन की भावना से रखना अनुचित नहीं है। बिना किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा के इन्हें केवल साध्य की सिद्धि के लिए उपकरण मात्र समझ कर रखना चाहिये।”

इस प्रकार आचार्य ने उसे प्रमाणपुरस्सर अनेक युक्तियों से समझाया पर शिवभूति अपने आग्रह पर डटा रहा और उसने वस्त्रादि सभी उपकरणों का परित्याग कर नग्नत्व स्वीकार कर लिया। वह अपने गुरु और साधु परिवार से अलग नगर के बाहर एक उद्यान में रहने लगा। शिवभूति की उचरा नाम की एक बहिन भी अपने भाई का अनुगमन कर दीक्षित हो गई। पर उसने फिर वस्त्र धारण कर लिया।

इस प्रकार शिवभूति, जिनको सहस्रमल्ल भी कहते हैं, उनसे श्वेताम्बर परम्परानुसार दिगम्बर मत की उत्पत्ति मानी गई है। शिवभूति के कोण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए और इस प्रकार शिवभूति से वोटिक मत की परम्परा चली।<sup>१</sup>

श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रंथों में प्रायः ऐसा ही मिलता-जुलता उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार वीर नि० सं० ६०६ में दिगम्बर मत की उत्पत्ति बताई गई है, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में वीर नि० सं० ६०६ में सेवकसंघ-श्वेतपट्ट संघ (श्वेताम्बर संघ) की उत्पत्ति की बात कही गई है।

<sup>१</sup> (क) रहषीरपुरं नगरं, दीवगमुज्जासमज्जकण्हे य।

शिवभूतस्सुबहिम्मि, पुच्छा येरण कहणा य ॥२५५१॥

कोट्टिय शिवभूतपो, कोट्टियसिगस्स होइ उप्पत्ति।

कोट्टिस-कोट्टवीरा, परम्पराफासमुप्पन्ना ॥२५५१॥

[विशेषावश्यक भाष्य, वृ० वृ०, पृ० १०२०]

(ख) आवश्यक शूलि-उपोद्घात नियुक्ति, पृ० ४२७-२८

भावसंग्रह के रचनाकार देवसेनमूरि ने लिखा है - "विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी में श्वेतपट-श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।"<sup>१</sup>

देवसेन मूरि ने इस सम्बन्ध में विशेष परिचय देते हुए लिखा है - "विक्रम की दूसरी शताब्दी में निमित्त जानी भद्रबाहु ने अपने श्रमणसंघ से कहा कि निकट समय में ही १२ वर्ष का दुर्भिक्ष होने वाला है अतः आप लोग अपने संघ के साथ देशान्तर में चले जायं। सभी गणधर भद्रबाहु के वचनानुसार अपने-अपने साधु-समुदाय को लेकर दक्षिण की ओर विहार कर गये पर शान्ति नाम के एक आचार्य ने अपने बहुत से शिष्यों के साथ सौराष्ट्र प्रदेश की वल्लभी नगरी की ओर प्रस्थान किया, जहाँ उन्हें भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा। वल्लभी में घोर दुष्काल के कारण ऐसी वीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि क्षुधातुर रंक लोग दूसरों के पेट चीर-चीर कर उसमें से सद्यःभुक्त अन्न निकाल कर अपनी भूख की ज्वाला मिटाने लगे। तत्कालीन भयङ्कर स्थिति से विवश होकर आचार्य शान्ति के साधु दण्ड, कम्बल, पात्र और आवरण हेतु वस्त्र धारण करने लगे। वे वसतियों में इच्छानुसार जाकर और वहाँ गृहस्थों के घर बैठ कर भोजन करने लगे।

जब दुष्काल समाप्त हुआ तो आचार्य शान्ति ने संघ के सभी साधुओं को सम्बोधित कर कहा - "अब सुभिक्ष हो गया है अतः इस हीन आचार को छोड़ दो और दुष्कर्म की आलोचना कर सच्चे श्रमणधर्म को ग्रहण करो।"

इस पर उनके शिष्यों ने कहा - "उस प्रकार के कठोर आचार आज कौन पाल सकता है? इस समय हम लोगों ने जो मार्ग ग्रहण किया है, वस्तुतः यह सुखकर है अतः इसको छोड़ना हमारे लिए सम्भव नहीं।"

जब आचार्य शान्ति ने अधिक कहा तो उनके मुख्य शिष्य ने उनके सिर पर डण्डे से भरपूर प्रहार किया। उससे आचार्य शान्ति की तत्काल मृत्यु हो गई और वे व्यन्तर रूप से उत्पन्न हुए।"<sup>२</sup>

भावसंग्रह में आचार्य देवसेन ने शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र से ही श्वेतपट्ट संघ की उत्पत्ति बताई है।

रत्ननन्दी के "भद्रबाहु चरित्र" में और हरिवेण के "वृहत्कथाकोष" में भी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का कुछ इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। वहाँ स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र के साधु से श्वेताम्बर मत के प्रचलित होने की बात कही गई है।

वृहत्कथाकोष में बताया गया है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु की आशानुसार कुछ साधु विशाखाचार्य के साथ दक्षिण के पुत्राट प्रदेश में चले गये

<sup>१</sup> छत्तीसे वरिससए, विवकमरायस्स मरणपत्तस्स।

सोरठ्ठे उप्पण्णो सेवढो संघो हु बलहीए।।५२।।

[भावसंग्रह]

<sup>२</sup> भावसंग्रह, गा० ५३ से ६८

तथा रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र अपने-अपने साधुसंघ के साथ सिन्धु प्रदेश की ओर गये। रामिल्ल आदि को भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा। वे श्रद्धालु श्रावकों के आग्रह से भिक्षारियों के संकट से बचने के लिए वहां रात्रि में भिक्षा लेने जाते और उसे दिन में खा लिया करते थे। श्रावकों की प्रार्थना से वे बायें स्कन्ध पर एक वस्त्र भी रखने लगे। दुष्काल के पश्चात् दोनों ओर के श्रमणसंघों का मध्यप्रदेश में पुनः मिलन हुआ। उस समय रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने तो भवभ्रमण के भय से त्रस्त हो वस्त्र का त्याग कर निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया।<sup>१</sup> पर कुछ साधु जो कष्ट सहने से घबराते थे, उन्होंने जिनकल्प और स्थविरकल्प की कल्पना कर निर्ग्रन्थ परम्परा से विपरीत स्थविर कल्प को प्रचलित किया।<sup>२</sup> इसमें यह नहीं बताया गया है कि स्थूलाचार्य आदि आचार्यों में से किस आचार्य के किस शिष्य से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई।

रत्ननन्दी ने अपने “भद्रबाहु चरित्र” में अर्द्धफालक मत से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बताई है। उनके अनुसार वल्लभीपुर के महाराज लोकपाल ने महारानी चन्द्रलेखा की प्रार्थना पर उज्जयिनी में विराजमान उसके गुरु जिनचन्द्र को वल्लभी बुलवाया। जिनचन्द्र के शरीर पर मात्र एक वस्त्र देख कर वल्लभी नरेश असमंजस में पड़ गया और उन्हें बिना वन्दन-नमन किये ही अपने राज-प्रासाद की ओर लौट गया। तब रानी ने अपने पति के भावों को समझ कर जिनचन्द्र मुनि के पास वस्त्र भेज कर उन्हें वस्त्र धारण करने की प्रार्थना की। साधुओं द्वारा वस्त्रधारण की बात सुन कर राजा ने भक्तिसहित उनका पूजन किया। उसी दिन से श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण अर्द्धफालक मत श्वेताम्बर मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह श्वेताम्बर मत विक्रम नृपति की मृत्यु से १३६ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी ।

महावैराग्य सम्पन्ना, विशाखाचार्यमाययुः ॥६३॥

स्थक्तुर्वाद्धकपटं सद्यः, संसारात्प्रस्तमानसाः ।

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥६६॥

[वृहत्कथाकोष, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१९]

<sup>२</sup> इष्टं न यैर्गुरोर्वाक्यं, संसाराणवतारकम् ।

जिनस्थविरकल्पं च, विधाय द्विविधं मुनि ॥६७॥

अर्द्धफालकसंयुक्तमज्ञातपरमार्थकः ।

तैरिदं कल्पितं तीर्थं, कातरै र्शक्तिवर्जितं ॥६८॥

[वही]

<sup>३</sup> घृतानि श्वेतवासांसि, तद्दिनास्तमजायत ।

श्वेतांबरमतं स्यात्, ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥६५॥

मृते विक्रमभूपाले, षट्त्रिंशदधिके मते ।

गतेऽश्वानामभूत्सोके, मतं श्वेताम्बरान्निबन्धम् ॥६५॥

[भद्रबाहु चरित्र, (रत्ननन्दीकृत) ४ परिच्छेद]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों भावसंग्रह, बृहत्कथाकोष और रत्ननन्दी के भद्रबाहु चरित्र - इन तीनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा में बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति के वर्णन में विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि और स्थानांग आदि में मूल घटना की पूर्णरूपेण समानता और वैषम्यरहित मनःस्थिति का परिचय मिलता है, जबकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में विविधरूपता व विषम मनस्थिति की प्रतिध्वनि प्रकट होती है।

दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ के लगभग श्वेताम्बर-दिगम्बर का सम्प्रदाय-भेद प्रकट हुआ।

### दिगम्बर परम्परा में संघभेद

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर - ये चार शाखाएं और विविध कुल प्रकट हुए। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी काष्ठा संघ, मूल संघ, माथुर संघ और गोप्य संघ आदि अनेक संघ तथा नन्दीगण, बलात्कार गण एवं शाखाओं के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

दिगम्बर परम्परा के साहित्यकारों का ऐसा मतव्य है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर आचार्य अर्हद्बलि तक मूलसंघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। परन्तु वीर नि० सं० ५९३ में<sup>१</sup> जब आचार्य अर्हद्बलि ने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के अवसर पर महिमा नगर में एकत्रित किये गये महावृ यति - सम्मेलन में आचार्यों एवं साधुओं में अपने २ शिष्यों के प्रति कुछ पक्षपात देखा तो उन्होंने मूल संघ को अनेक भागों में विभाजित कर दिया। तत्पश्चात् मूलसंघ के वे सब भाग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखने लगे। उन्होंने उस समय जिन संघों का निर्माण किया, उनमें से कतिपय के नाम इस प्रकार हैं :-

- |                 |                                    |
|-----------------|------------------------------------|
| १. नन्दिसंघ     | ६. भद्र संघ                        |
| २. वीर संघ      | ७. गुणधर संघ                       |
| ३. अपराजित संघ  | ८. गुप्त संघ                       |
| ४. पंचस्तूप संघ | ९. सिंह संघ                        |
| ५. सेन संघ      | १०. चंद्र संघ इत्यादि <sup>२</sup> |

<sup>१</sup> यही समय धार्य रक्षित का भी है।

[सम्पादक]

<sup>२</sup> यह सम्मेलन मुख्य रूप से किस उद्देश्य को लेकर किया गया, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता

[सम्पादक]

<sup>३</sup> बबला, भाग १, प्र० १४

दिगम्बर परम्परा के कतिपय मान्य ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें बताया गया है कि भिन्न-भिन्न समय में होने वाले अनेक संघों में से कतिपय संघों में शिथिलाचार व्याप्त हो गया अतः उन संघों की जैनाभासों में गणना की जाने लगी। आचार्य देवसेन ने इस प्रकार के पांच संघों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. द्वाविड़ संघ, २. यापनीय संघ, ३. काष्ठा संघ, ४. माथुर संघ और ५. भिल्लक संघ।

आचार्य नंदि ने अपने नीतिसार नामक ग्रन्थ में १. गोपुच्छक, २. श्वेताम्बर, ३. द्वाविड़, ४. यापनीय, ५. निष्पिच्छक - ये ५ जैनाभास बताये हैं।<sup>१</sup>

इनमें गोपुच्छक अर्थात् काष्ठा संघी और निष्पिच्छक-माथुर संघी ये, दोनों देवसेन के अनुसार जैनाभासी कहे गये हैं। परन्तु प्रेमीजी के अनुसार इनका मूल संघ से अधिक पार्थक्य नहीं है, जिससे कि उनको जैनाभासी कहा जा सके।

सब संघों का परिचय दिया जाना कठिन होने के कारण यहाँ केवल उन्हीं संघों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी कि शास्त्रीय उल्लेखों (दि. प. के ग्रन्थों) के आधार पर खोज हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. अनन्तकीर्ति संघ, २. अपराजित संघ, ३. काष्ठा संघ, ४. गुणधर संघ, ५. गुप्त संघ, ६. गोपुच्छ संघ, ७. गोप्य संघ, ८. चन्द्र संघ, ९. द्वाविड़ संघ १०. नंदी संघ, ११. नंदीतट संघ, १२. निष्पिच्छक संघ, १३. पंचस्तूप संघ, १४. पुत्राट संघ, १५. बागड़ संघ, १६. भद्र संघ, १७. भिल्लक संघ, १८. माघ-नन्दि संघ, १९. माथुर संघ, २०. यापनीय संघ, २१. लाडबागड़ संघ, २२. वीर संघ, २३. सिंह संघ, और २४. सेन संघ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार मूल संघ में से ही उत्तरोत्तर अन्य सर्व संघों की उत्पत्ति मानी गई है। अतः मूल संघ को भिन्न न मान कर सामान्य दिगम्बर संघ का नाम ही बताया गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् वीर के पश्चात् ३८३ वर्ष की आगम-प्रसिद्ध आचार्य परम्परा बताई गई है।

वीर नि० सं० ३८३ के पश्चात् ५६५ तक के आचार्यों का उल्लेख नहीं मिलता। ३८३ के पश्चात् ५६४ में संघ-विभाजन किस प्रकार हुआ और आगे की आचार्य परम्परा किस रूप में चली, इसे बताने के लिए एक काल्पनिक वृक्ष बना कर बताया गया है। उसमें सर्व प्रथम वीर नि० की छठी सातवीं शताब्दी के आचार्य माघनन्दी, धरसेन और गुणधर के नाम दिये गये हैं। इनका काल वीर नि० सं० ५६५ से ६७३ तक का माना गया है।

आचार्य अर्हद्बलि ने वीर नि० सं० ५६३ में मूल संघ से जिन संघों का विभाजन किया, उनके अतिरिक्त भी उत्तर काल में कई संघ प्रकट हुए और

<sup>१</sup> गोपुच्छकः श्वेताभासा, द्वाविडो, यापनीय निष्पिच्छश्चेति पंच जैनाभासाः। [नीतिसार]



श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी शाखाओं और कुलों का काफी विस्तार फैला। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की क्रमिक पट्ट-परम्परा और आगमवाचना का स्पष्ट परिचय उपलब्ध नहीं होता। संभव है इस प्रकार का, क्रमिक पट्ट-परम्परा के लेखन का प्रयास ही नहीं हुआ हो।

### यापनीय संघ

वर्तमान समय में जैन समाज में श्वेताम्बर और दिगम्बर - ये दो सम्प्रदाय ही मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं पर पूर्व काल में 'यापनीय संघ' नामक एक तीसरा सम्प्रदाय भी भारतवर्ष में एक बड़े संघ के रूप में विद्यमान था। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अनेक पुष्ट प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यापनीय संघ किस समय अस्तित्व में आया, इस संघ का आदि संस्थापक कौन था तथा इसका अस्तित्व किन परिस्थितियों में, किस समय उठ गया, इस विषय में पुष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यापनीय संघ के सम्बन्ध में यत्र-तत्र जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक 'यापनीय संघ' जैन धर्म के एक सम्प्रदाय के रूप में आर्यधरा पर विद्यमान रहा। यापनीय संघ के आपुलीय संघ और गोप्य संघ - इन दो और नामों का भी उल्लेख मिलता है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जहां कतिपय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि दिगम्बर सम्प्रदाय से यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई, वहां 'भद्रबाहु चरित्र' के रचनाकार आचार्य रत्ननन्दी ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय से इसकी उत्पत्ति होना बताया है।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य मलधारी राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'षड्दर्शन-समुच्चय' में गोप्य संघ अर्थात् यापनीय संघ को दिगम्बर परम्परा का एक भेद बताते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है :-

दिगम्बराणां चत्वारो, भेदा नाम्यव्रतस्पृशः ।

काष्ठासंघो मूलसंघः, संघो माधुरगोप्यकौ ॥२१

आचार्य रत्ननन्दी ने 'भद्रबाहु चरित्र' में उल्लेख किया है कि विक्रम संवत् १३६ (वीर नि. सं. ६०६) में सौराष्ट्र के बलभी नगर में श्वेताम्बरों की उत्पत्ति हुई<sup>१</sup> और कालान्तर में श्वेताम्बरों से करहाटाक्ष नगर में यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> मृते विक्रम भूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते ।

गतेऽब्दानाममूल्लोके, मते श्वेताम्बराभिधम् ॥५५॥ [भद्रबाहुचरित्र, रत्ननन्दी, ४ परिच्छेद]

<sup>२</sup> तदातिवेलं भूपार्थः, पूजिता मानिताश्च तैः ।

घृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ॥१५३॥

गुरु शिक्षातिर्गं लिगं, नटवद् भण्डिमास्पदम् ।

ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ॥१५४॥

[वही]

दिगम्बराचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' नाम की अपनी छोटी-सी पुस्तक में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर आचार्य से विक्रम सं० २०५ में यापनीय संघ की उत्पत्ति होने का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

कल्लाणो वरणयरे, दुष्णिएसए पंच उत्तरे जादे ।

जावणिय संघ भावो, सिरिकलसादो हु सेवड्डो ॥२६॥

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय जैन श्रमणसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप में विभक्त हुआ, लगभग उसी समय में यापनीय संघ का भी मध्यममार्गविलम्बी-समन्वयवादी परम्परा के रूप में प्रादुर्भाव हुआ हो । दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर दिगम्बर भेद के ६६ वर्ष पश्चात् यापनीय संघ की उत्पत्ति मानी गई है । स्व० श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने तीनों परम्पराओं की एक ही समय में उत्पत्ति होने की संभावना प्रकट करते हुए अपने ग्रन्थ - 'जैन साहित्य और इतिहास' में लिखा है - "यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समय के हैं, तो कुछ बड़ा दोष न होगा । विशेष कर इसलिए कि संप्रदायों की उत्पत्ति की जो तिथियां बताई जाती हैं, वे बहुत सही नहीं हुआ करती ।"<sup>१</sup>

यापनीय शब्द के अर्थ सम्बन्धी सभी पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर भी इस प्रश्न का कोई संतोषप्रद संगत उत्तर नहीं मिलता कि इस संघ का नाम 'यापनीय संघ' किस अभिप्राय से रखा गया । इस सम्बन्ध में पन्यास श्री कल्याणविजयजी का अभिमत ही तर्कसंगत प्रतीत होता है । मुनिश्री ने अपने ग्रन्थ 'पट्टावली पराग संग्रह' में लिखा है कि जिस प्रकार मरुधरा के यति परस्पर मिलते एवं विच्छुडते समय 'मत्थएण वंदांमि' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते थे, इस कारण यतिसमूह का नाम ही जनसाधारण द्वारा 'मत्थेण' रख दिया गया तथा वर्ष में एक बार लुंचन करने वाले साधु समुदाय का - कूचिक की तरह उनकी बढी हुई दाढ़ी-मूछ देखकर कूचिक नाम रख दिया गया, ठीक उसी प्रकार यापनीयों द्वारा गुरुवन्दन के समय 'जावणिएज्जाए' शब्द का कुछ उच्च स्वर में प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप संभवतः जनसाधारण ने उस साधुसमूह का नाम यापनीय रख दिया हो ।

यद्यपि आज भारतवर्ष में यापनीय संघ का कहीं अस्तित्व नहीं है और न इस संघ का कोई अनुयायी ही है, तथापि उपलब्ध अनेक उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि भारत में लगभग बारह सौ - तेरह सौ वर्षों तक एक प्रमुख धर्म-संघ के रूप में रहे हुए यापनीय संघ का सर्वांगपूर्ण साहित्य विद्यमान था । आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'ललित विस्तरा' में यापनीयतन्त्र का उल्लेख किया है, इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि यापनीयों का अपना समृद्ध साहित्य किसी समय यहां विद्यमान था ।

<sup>१</sup> जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६ ।

यापनीय आचार्य शाकटायन अपरनाम 'पाल्यकीर्ति' द्वारा रचित 'अमोघ-वृत्ति', 'स्त्रीमुक्ति-प्रकरण', 'केवलि-भुक्ति प्रकरण', यापनीय आचार्य अपराजित द्वारा भगवती 'आराधना' पर लिखी गई विजयोदया टीका आदि ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। स्वर्गीय दिगम्बर विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी ने भगवती 'आराधना' के रचयिता शिवार्य को यापनीय आचार्य और उनकी रचना भगवती 'आराधना' को प्रमाण पुरस्सर यापनीय संघ का धर्मग्रन्थ सिद्ध करते हुए लिखा है कि मूल-आराधना की अनेक गाथाएं दिगम्बर मान्यता से मेल नहीं खातीं और उसमें उद्धृत कल्पव्यवहार आदि श्रुतशास्त्र, अधिकांश गाथाएं एवं भैतार्य मुनि का आख्यान उसी रूप में दिये गये हैं, जिस रूप में कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं।<sup>१</sup>

शाकटायन की अमोघवृत्ति में दिये गये अनेक उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि यापनीय संघ श्वेताम्बरों के आगमग्रन्थों, आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैकालिक आदि को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।<sup>२</sup>

यापनीय आचार्य अपराजित ने जिस प्रकार अपने यापनीय सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ भगवती 'आराधना' पर 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की, उसी प्रकार उन्होंने 'दशवैकालिक' सूत्र पर भी 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की थी। इसका उल्लेख स्वयं अपराजित ने भगवती 'आराधना' की गाथा संख्या ११६७ की अपनी 'विजयोदया' टीका में निम्नलिखित शब्दों में किया है :-

'दशवैकालिक टीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते' -- अर्थात् उद्गमादि दोषों का दशवैकालिक की टीका में वर्णन कर दिया गया है अतः यहां पिष्टपेषण नहीं किया जा रहा है। यापनीय आचार्य अपराजित का ही दूसरा नाम विजयाचार्य था और उन्होंने ही भगवती 'आराधना' तथा दशवैकालिक की 'विजयोदया' टीकाएं लिखीं, इस बात की पुष्टि पं० आशा-धर द्वारा 'अनगार प्राभूत टीका' के पृष्ठ ६७३ पर लिखे गये इस वाक्य से होती है :- 'एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृतमूलाराधनटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं दृष्टव्यम्।'<sup>३</sup>

इन सब उल्लेखों से सिद्ध होता है कि यापनीय संघ भी आचारांगादि उन सभी आगमों को अपने धर्मग्रन्थों के रूप में मानता था, जो श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं और जिन्हें दिगम्बर परम्परा विलुप्त हुआ मानती है। उपरोक्त तथ्यों से यह भी अनुमान किया जाता है कि यापनीय आचार्यों ने दशवैकालिक की तरह अन्य आगमों पर भी टीकाओं की रचनाएं की होंगी। अपराजित ने स्थान स्थान

<sup>१</sup> जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी), पृ. ६८ से ७३

<sup>२</sup> (क) एतमावश्यकमध्यापय । इयमावश्यकमध्यापय । [अमोघवृत्ति १-२-२०३-४]

(ख) भवता खलु छेद-सूत्रं बोधव्यम् । निर्युक्तीरधीष्व निर्युक्तीरधीते ।

[वही ४-४-११३-४०]

(ग) कालिकसूत्रस्यानध्यायवेशकालाः पठिताः ।

[वही ३-२-४७]

(घ) अथो क्षमाश्रमणस्तं ज्ञानं पीयते [वही १-२-२०१]

पर अपने पक्ष की पुष्टि में आचारांग, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों के उद्धरण प्रमाण के रूप में दिये हैं<sup>१</sup>, इससे इस बात में किञ्चित्-मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि यापनीय संघ आचारांगादि आगमों को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।

यापनीयों की मान्यताओं के सम्बन्ध में दर्शनप्राप्त की टीका में श्रुतसागर ने लिखा है—“यापनीयास्तु वेसरा इव उभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलजिनानां कवलाहारं परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।”

षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने यापनीयों के सम्बन्ध में लिखा है—“यापनीय संघ के मुनि नग्न रहते हैं, मोर की पिच्छी रखते हैं, पाण्डित्य भोजी हैं, नग्न मूर्तियों की पूजा करते हैं तथा वन्दना करने पर श्रावकों को ‘धर्मलाभ’ कहते हैं।”

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में यापनीयतन्त्र का एक उद्धरण दिया है। यद्यपि आज ‘यापनीय-तन्त्र’ कहीं उपलब्ध नहीं पर उस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों के अतिरिक्त यापनीय संघ का एक ऐसा ग्रन्थ भी पूर्वकाल में विद्यमान था, जिसमें यापनीय संघ की मुख्य-मुख्य मान्यताओं को सहजसुबोध प्राकृत भाषा में संकलित किया गया था। वह उद्धरण इस प्रकार है :-

- १ (क) अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तत्कथं ?
- (ख) आचार प्रणिधो भणितं ।
- (ग) प्रतिलेखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ?
- (घ) आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयोनाम, तस्य पंचमे उद्देशे एवमुक्तम् — “पडिलेहणं पादपुंछणं उगहं कदासणं भण्णदरं उर्वाधि पावेज्ज ।
- (ङ) बत्थेसणाए वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं बत्थं वा धारेज्ज, पडिलेहणं विदियं । एत्थ एसे जुगिन्दे देसे दुवे बत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं तिदियं । एत्थ एसे परिस्सहं भण्णहिहासस्स तगो बत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं ।
- (च) पुनश्चोक्तं तत्रैव — “आलावुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्पसरिदं तहा अप्पाकारं पात्रलाभे सति पडिग्गहिंसाभीति” वस्त्रपात्रे यदि न प्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?
- (छ) बरिसं चीवरघारी तेन परमचेलगो जिणो ।
- (ज) एा कहेज्ज धम्मकहं बत्थपत्तादिहेदुमिदि ।
- (झ) कसिणाइं बत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लह्मं इदि ।
- (ञ) द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते — “अह पुण एवं आणेज्ज — पातिकते हेमंतेहि सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधि पदिट्ठा-वेज्ज ।”

[भगवती ‘माराधना’ की गाथा सं० ४२७ की अपराजित द्वारा रचित विजयोदया टीका]

“स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम् — यथोक्तं यापनीयतन्त्रे — “सो खलु इत्थी अजीवो, एण यावि अन्नव्वा, एण यावि दंसणविरोहिणी, एणो अमाणुसा, एणो अणारि(य) उप्पत्ती, एणो असंखेज्जाउया, एणो अइकूरमई, एणो एण उवसन्तमोहा, एणो एण सुद्धाचारा, एणो असुद्धबोंदी, एणो ववसायवज्जिया, एणो अपुव्वकरण विरोहिणी, एणो एणवगुणट्टाणरहिया, एणो अजोग्गा लद्धीए, एणो अकल्लाण भायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगन्ति । [ललित विस्तरा, पृ० ४०२]

यापनीय संघ का कर्नाटक और उसके अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों में बड़ा प्रभाव था। इस तथ्य की कदम्बवंश एवं अन्य राजवंशों के राजाओं द्वारा ई० सन् ४३५-४७५ के आसपास यापनीय संघ को दिये गये भूमिदान के दानपत्र साक्षी देते हैं।<sup>१</sup>

यापनीय संघ का जो थोड़ा बहुत परिचय विभिन्न ग्रन्थों से उपलब्ध होता है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यह संघ पूर्वकाल में एक प्रभावशाली संघ रहा है। कागवाड़ा जैनमंदिर के भौहरे में विद्यमान शक सं० १३१६ (वि० सं० १४५१) के शिलालेख में यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवराज्यस्थापनाचार्य' की पदवी से विभूषित बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी तक यापनीय संघ राजमान्य सम्प्रदाय रहा है। ऐसी स्थिति में यदि प्रयास किया जाय तो यापनीय संघ और उसके साहित्य के सम्बन्ध में विपुल सामग्री एकत्रित की जा सकती है। आशा है शोधप्रिय इतिहासविद् इस दिशा में अवश्य प्रयास करेंगे।

### २१. आर्य वज्रसेन — युगप्रधानाचार्य

वीर नि० सं० ४६२ में आर्य वज्रसेन का जन्म हुआ। आपने ६ वर्ष की वय में वीर नि० सं० ५०१ में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ११६ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए आपने आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। वीर नि० सं० ६१७ में आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर अधिष्ठित किये गये।

आपके जन्मस्थान एवं कुल आदि का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता फिर भी इतना असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आपने आर्य वज्र से पूर्व आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण की थी। विशिष्ट प्रतिभा और विद्यातिशय सम्पन्न होने के कारण आर्य वज्र को आर्य सिंह ने अपनी विद्यमानता में ही आचार्य पद का कार्यभार समूहला दिया और स्वर्गवास के समय उन्हें विधिवत् आचार्यपद प्रदान किया।

सम्भव है आर्य वज्र के ज्ञानातिशय के सम्मान हेतु वज्रसेन ने उनकी विद्यमानता में आचार्यपद स्वीकार नहीं किया हो।

आवश्यक चूँसि आदि के उल्लेख से इनका आर्य वज्र के साथ गुरु-शिष्य का सा सम्बन्ध प्रतीत होता है। जैसा कि आर्य वज्र द्वारा ५०० साधुओं के साथ

<sup>१</sup> दाण्डेकर की -- History of the Guptas, page 87-91

अनशन करने से पूर्व भावी दुर्भिक्ष की समाप्ति के पूर्वलक्षण के रूप में सोपारक के श्रेष्ठी जिनदत्त के यहां बहुमूल्य अन्न में विष मिलाने की वज्रसेन को दी गई पूर्व-सूचना से प्रमाणित होता है।

इस प्रकार दीक्षा - पर्याय से कनिष्ठ होने पर भी ज्ञानपर्याय की ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता की दृष्टि से भार्य वज्र ही दश पूर्वघर होने के कारण आचार्य पद के लिए सर्वाधिक योग्य माने गये हों। वीर नि० सं० ५८४ में भार्य वज्रसेन गणाचार्य घोषित किये गये और दश से कुछ कम पूर्व के ज्ञाता भार्य रक्षित वज्र के पश्चात् वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि भार्य वज्रसेन संघ-व्यवस्था के कार्यों में कुशल एवं प्रतिभाशाली होकर भी भार्य वज्र आदि के समान पूर्वज्ञान के विशेषज्ञ नहीं थे। इसी कारण भार्य रक्षित के पश्चात् पूर्वज्ञानी दुर्बलिकापुष्यमित्र को युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त करना उपयुक्त माना गया और उस समय तक वज्रसेन गणाचार्य पद का सुचारू रूप से संचालन करते रहे। १२ वर्ष के दुष्काल के अन्त में जब विहारक्रम से अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए भार्य वज्रसेन सोपारक नगर में पधारे तब वहां के श्रेष्ठी जिनदत्त और श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने अपने चारों पुत्रों के साथ वीर नि० सं० ५९२ में भार्य वज्रसेन के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

जिनदत्त के चार पुत्रों में से नागेन्द्र से नागेन्द्रगच्छ, नाइली शाखा, चन्द्रमुनि से चन्द्रकुल, विद्याघर मुनि से विद्याघर कुल तथा निर्वृत्ति मुनि से निर्वृत्ति कुल - इस प्रकार ये चार मुख्य कुल प्रकट हुए।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वज्रसेन के समय में ही वीर नि० सं० ६०६ में आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति से दिगम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ। इसका विस्तृत परिचय "संप्रदायभेद" नामक शीर्षक के नीचे दिया जा चुका है।

वीर नि० सं० ६१७ में दुर्बलिका पुष्यमित्र के स्वर्गवासानन्तर, भार्य वज्रसेन युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त हुए। तीन वर्ष तक सुचारू रूप से युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा कर आपने वीर नि० सं० ६२० में १२८ वर्ष की सुदीर्घायु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

### १५. भार्य चन्द्र - गणाचार्य

भार्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् भारद्वाज गोत्रीय भार्य वज्रसेन एक वार विहारक्रम से सोपारक नगर पधारे। वहां पर सल्हड़ गोत्रीय श्रेष्ठी जिनदत्त अपनी पत्नी ईश्वरी एवं परिवार के साथ रहता था। संयोगवश भार्य वज्रसेन भिक्षार्थ श्रमण करते हुए श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुंचे। उस समय दुष्काल का प्रकोप अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। खाद्यान्नों का सर्वत्र पूर्ण अभाव था। अतुल सम्पत्ति के होते हुए भी धान्याभाव में भूख से तड़प-तड़प कर अपने कुटुम्ब के मरने की कल्पना से जिनदत्त सिहर उठा। अपनी पत्नी से परामर्श के

पश्चात् उसने भूख से छूटपटाकर मरने के स्थान पर सकुटुम्ब विषमिश्रित भोजन कर एक साथ इहलीला समाप्त करने का निश्चय किया। विष मिलाने के लिये एक समय की भोजन-सामग्री जुटाना भी बड़ा कठिन कार्य था। श्रेष्ठी जिनदत्त ने एक लाख रुपये व्यय कर येन-केन-प्रकारेण एक समय की भोजन-सामग्री जुटाई।

जिस समय आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर में भिक्षार्थ पहुँचे, उस समय श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी भोजन में विष मिलाने का उपक्रम कर रही थी। लक्ष रौप्यक मूल्य के भोजन में गृह-स्वामिनी को विष का मिश्रण करते देख आर्य वज्रसेन को उन्हें आर्य वज्र द्वारा कहा गया भविष्य-कथन स्मरण हो आया। उन्होंने शान्त एवं गम्भीर स्वर में गृहस्वामिनी ईश्वरी से कहा - "सुभिक्षं भावि सविषं, पाकं मा कुरु तद्वृथा।" श्राद्धे ! अब दुष्काल का अन्त सन्निकट है। तुम भोजन में विष मत मिलाओ। कल तक प्रचुर मात्रा में अन्न उपलब्ध होने लगेगा।"

'परोपकारकव्रती महापुरुषों के वचन अन्यथा नहीं होते।' इस दृढ़ विश्वास के साथ श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने तत्काल प्रस्तुत भोजन मुनिराज को बहरा कर संतोषानुभव किया।

आर्य वज्रसेन के कथनानुसार दूसरे ही दिन धान्य से भरे पीत सोपारक नगर पहुँचे।<sup>१</sup> भूख से पीड़ित दुष्कालग्रस्त निराश लोगों में जीवन की नवीन आशा का संचार हुआ। आवश्यकतानुसार सबको अन्न मिलने लगा। यह देखकर श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने श्रेष्ठी जिनदत्त से कहा - "कल यदि मुनि ने हमें आश्वस्त नहीं किया होता तो आज हमारे परिवार का एक भी व्यक्ति संसार में दिखाई नहीं देता। हम सब के सब यमराज के अतिथि बन चुके होते। श्रमणश्रेष्ठ ने हम सब को जीवन-दान दिया है। ऐसी स्थिति में क्यों न हम सभी जिनधर्म की शरण ग्रहण कर अपने-अपने जीवन को सफल कर लें।"

श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी का परामर्श सब को रुचिकर लगा और श्रेष्ठिदम्पती ने अपने चारों पुत्रों चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर के साथ समस्त वैभव का त्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा-ग्रहण कर ली।<sup>२</sup> चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारों मुनियों ने विनयपूर्वक क्रमशः अंग शास्त्रों एवं पूर्वों का अध्ययन किया और वे चारों आचार्य पद के योग्य बने।

<sup>१</sup> प्रभावक चरित्र, प्रथम प्र., श्लो. १६१

<sup>२</sup> एवं जाते च संध्याया, बहित्राणि समापयुः।

प्रशष्य शष्यपूर्यानि, जलदेशान्तराध्वना ॥१६३॥ प्रभावक च., वज्र ॥

<sup>३</sup> सुभिक्षं तत्क्षणं जज्ञे, ततः सा सपरिच्छदा।

अचिन्तयदहो मृत्यु, भविष्यदरो ततः ॥

जीवितव्यफलं किं न, गृह्यते संयमग्रहात्।

वज्रसेनमुनेः पार्श्वे, जैनबीजस्य सद्गुरोः ॥

प्यात्वेति सा सपुत्राहि, व्रतं जग्राह साग्रहं ।.....

[जैन साहित्य संशोधक, खंड २, अंक ४ में प्रकाशित विचार श्रेणि, परिशिष्ट, पृ. १०]

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य वज्रसेन ने अपनी विद्यमानता में ही अपने इन चारों शिष्यों को पृथक्-पृथक् श्रमण-समुदाय सम्भला कर आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया था। आर्य चन्द्र से चन्द्रकुल, आर्य नागेन्द्र से नाइली शाखा (नागेन्द्रकुल), आर्य निर्वृत्ति से निर्वृत्ति कुल और आर्य विद्याधर से विद्याधर नामक ४ कुल प्रकट हुए।<sup>१</sup> चन्द्रकुल ही आगे चल कर चन्द्र गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कतिपय आचार्यों ने आर्य चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर—इन चारों को किंचिदून १० पूर्वों का ज्ञाता बताया है।<sup>२</sup>

चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित पट्टावली एवं टिप्पणों में इस प्रकार के उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं कि चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारों आचार्यों में से प्रत्येक ने अपने-अपने सुविशाल शिष्य-समूह में से २१-२१ सुयोग्य श्रमणों को पृथक्-पृथक् रूप से आचार्य पदों पर नियुक्त किया, जिन से वीर नि. सं. ६११ में ४ गणों और ८४ गच्छों की उत्पत्ति हुई।<sup>३</sup>

गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ८४ गच्छों की उत्पत्ति विषयक इस प्रकार का उल्लेख केवल इन चारों गच्छों का महत्त्व बढ़ाने की दृष्टि से किया गया है। इसमें यथार्थता होती तो उपाध्याय धर्मसागर 'तपागच्छ पट्टावली' में—“तस्माच्च क्रमेणानेक गणहेतवोऽनेके सूरयो बभूवांसः”<sup>४</sup>—इस प्रकार का अनिश्चित उल्लेख नहीं करते। इसके अतिरिक्त यदि इन ४ गणों से ८४ गच्छ उत्पन्न हुए होते तो उनमें से थोड़े बहुत गच्छों का नामोल्लेख भी पट्टावली में अवश्य किया जाता। यही नहीं, अज्ञातकर्तृक कुछ श्लोकों में इन चारों गच्छों के सम्बन्ध में परिचय देते हुए ८४ गच्छों का कोई उल्लेख न कर—

'अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना, जयिनोऽवनिमण्डले।'<sup>५</sup>—इस पद से केवल इतना ही उल्लेख किया गया है कि उनके नाम से गच्छ आज भी विद्यमान हैं।

उपरोक्त उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६११ में ८४ गच्छों की उत्पत्ति होने की बात सही मानी जाय तो पश्चाद्द्वर्ती काल में होने वाले बड़गच्छ, खरतरगच्छ,

<sup>१</sup> नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति, विद्याधराख्यान् चतुरः सकुटुम्बान् इम्यपुत्रान् प्रवाजितवान् । तेभ्यश्च स्व स्व नामांकितानि चत्वारि कुलानि संजातानीति ।

[तपागच्छ पट्टावली, भा. १, स्वोपज्ञवृत्ति (प० कल्याण विजयजी) पृ. ७१]

<sup>२</sup> नागेन्द्रो निर्वृत्तिश्चन्द्रः, श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥

अभूवन्ते किंचिदूनदशपूर्वविदस्ततः ।

चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धार धुरंधरा ॥

[जैन सा. संशोधक, खं. २, ग्रं. ४ में प्रकाशित विचार श्रेणि के साथ का परि. पृ. १०]

<sup>३</sup> आदौ चत्वारो गणा, एकस्मिन् एकस्मिन् गच्छे एकविंशति आचार्याः स्वगणिताः । एवं क्रमेण श्री वीरात् ६११ वर्षे ८४ गच्छाः संजाताः । [वही]

<sup>४</sup> तपागच्छ पट्टावली, भा. १, (मुनि कल्याण विजयजी) पृ. ७१

<sup>५</sup> विचारश्रेणि के साथ संलग्न परिशिष्ट, जैन सा. सं. खं. २, अंक ४ में प्रकाशित ।



आंचलगच्छ, धर्मघोषगच्छ, आदि ८४ गच्छों को वीर नि० सं० ६११ में हुए ८४ गच्छों से निश्चित रूप से पृथक् मानना होगा। क्योंकि इन ८४ गच्छों में से अनेक गच्छ प्रशस्तियों एवं अन्य उल्लेखों के आघार पर वीर नि० सं० ६११ से कई शताब्दियों पश्चात् उत्पन्न हुए सिद्ध होते हैं। इस प्रकार वीर निर्वाण सं० ६११ में ८४ गच्छों की उत्पत्ति की बात को सही मानने की दशा में गच्छों की संख्या ८४ के स्थान पर १६८ माननी होगी, जिसका कि औचित्य किसी भी दशा में सिद्ध नहीं किया जा सकता। वीर नि० सं० ६११ में जो ८४ गच्छों की उत्पत्ति की बात कही जाती है, उसे इस आघार पर भी विश्वसनीय नहीं माना जा सकता कि उन ८४ गच्छों में से किसी एक गच्छ का नाम भी कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में उत्पन्न होने वाले ८४ गच्छों का स्रोत चन्द्रगच्छ को बता कर इसका महत्व बढ़ाने की दृष्टि से इस प्रकार का उल्लेख किया गया हो।

तपागच्छ पट्टावली में आपका जन्म वीर नि० सं० ५७६ में, दीक्षा ६१३ में, ७ वर्ष गुरु की सेवा करने और २३ वर्ष तक गणाचार्य पद से शासन की सेवा करने एवं वीर नि० सं० ६४३ में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है<sup>१</sup> पर तत्कालीन घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से एवं सोपारक में दुर्भिक्ष के अन्त में आर्य वज्रसेन के पास आपके दीक्षित होने के उल्लेख को देखते हुए वीर नि० सं० ५६२ में आपकी दीक्षा होना संगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार तपागच्छ पट्टावली के उपरोक्त उल्लेखानुसार ३७ वर्ष की अवस्था में आपके द्वारा दीक्षा ग्रहण करना माना गया है, वह भी ठीक प्रतीत नहीं होता। "जैन परम्परा नो इतिहास" नामक ग्रन्थ में त्रिपुटी (मुनित्रय) ने आपके वी० नि० सं० ५६२ में दीक्षित होने और ६५० में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया है।

यदि गणाचार्य चन्द्र की पूर्णायु ६७ वर्ष और स्वर्गस्थ होने का समय वीर नि० सं० ६४३ सही मान लिया जाय तो उस दशा में उनके जन्म, दीक्षा, आचार्य-पद आदि का समय निम्नलिखित रूप से अनुमानित किया जाना पर्याप्तरूपेण संगत और उचित होगा।

जन्म वीर नि० सं० ५७६, दीक्षा ५६३, गणाचार्य पद वीर नि० सं० ६२० में और स्वर्गारोहण वीर नि० सं० ६४३ में।

### चेत्यवास

आर्य सुधर्मा से सामंतभद्रसूरि के पहले के समय तक जैन मुनि अधिकांशतः वनों एवं उद्यानों में ही निवास करते रहे, जैसा कि निरयावलिका सूत्र में सुधर्मा स्वामी के गुणशील उद्यान में अवग्रह लेकर विचरने का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> तपागच्छ पट्टावली, स्वीपञ्च वृत्ति सहित (प० कल्याणविजयजी), पृ० ७६

<sup>२</sup> निरयावलिका, १, अ० १, सू० २

अपवाद रूप से भले ही कभी किसी ने वसतिवास किया हो पर उस समय तक साधुओं का प्रायः वन में ही निवास होता था। इतना होते हुए भी वे साधु वनवासी गच्छ के नाम से नहीं अपितु नियंत्रण गच्छ के नाम से ही पहिचाने जाते रहे। इसके पश्चात् सामन्तभद्र का समय आता है। उस समय में सामन्तभद्र का साधुसमुदाय 'वनवासी गच्छ'— इस नये नाम से पुकारा जाने लगा इसके पीछे कोई खास कारण होना चाहिये। सामन्तभद्र ने कोई नवीन रूप से वनवास स्वीकार नहीं किया पर सम्भव है उनके समय में वसतिवास का प्रचार बढ़ चला हो और वनवासी अल्पसंख्या में रहे हों। उस स्थिति में वसतिवास के बढ़ते प्रचार को रोकने के लिए सामन्तभद्र ने वनवास का प्रचार करना प्रारम्भ किया हो। जैसा कि तपागच्छ-पट्टावलीकार ने उल्लेख किया है :-

“पूर्वश्रुत के विशारद और वैराग्यनिधि सामन्तभद्र ने शरीर की मुख-सुविधा को छोड़ कर निर्ममत्व भाव से देवकुल और वन-उद्यान आदि में ठहरना स्वीकार किया इसलिए वे “वनवासी” नाम से पुकारे जाने लगे।”<sup>1</sup>

सामन्तभद्र द्वारा की गई इस व्यवस्था के लिए कहना चाहिये कि यह एक प्रकार से त्यागी वर्ग में शिथिलता के प्रवेश को रोकने का एक शुभ प्रयत्न था। पर समय के प्रभाव और मनोबल की मन्दता से साधु-समुदाय में इस प्रकार की कड़ी व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी।

प्रभावक चरित्र में मानदेवसूरि के प्रबन्ध में वृद्धदेवसूरि को चैत्यवासी बताया गया है। वे चैत्य की व्यवस्था करते थे पर सर्वदेवसूरि द्वारा प्रतिबोध पाकर उन्होंने चैत्य का वैभव छोड़ दिया। उपरोक्त घटना यदि सत्य हो तो इससे प्रमाणित होता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी में भी चैत्यवास प्रचलित था।

कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि सामन्तभद्र द्वारा पुनरुज्जीवित वनवास अधिक समय तक नहीं चल सका। अल्प समय में ही वसतिवास में परिवर्तन होते-होते वीर नि० सं० ८०० के आसपास उसने चैत्यवास का रूप धारण कर लिया, जैसा कि धर्मदास गणी ने तपागच्छ पट्टावली में उल्लेख किया है :-

“वीर नि० सं० ८८२ के पश्चात्” “चैत्यस्थितिः” अर्थात् चैत्यवास की स्थिति हुई।<sup>2</sup>

वस्तुतः तात्कालिक स्थिति का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे भी काफी पहले इसका प्रचलन विद्यमान था। मुनि कल्याणविजयजी आदि इतिहासज्ञ विद्वानों का भी खयाल है कि इससे भी पहले चैत्यवास की जड़ जम गई थी और वीर नि० सं० ७८२ तक तो इसकी सार्वत्रिक प्रवृत्ति हो गई थी।

<sup>1</sup> श्री चन्द्रसूरिपट्टे षोडशः श्री सामन्तभद्रसूरिः । स च पूर्वगतश्रुतविशारदो वैराग्यनिधि-निर्ममतया देवकुलवनादिष्ववस्थानात् लोके वनवासीत्युक्तस्तस्मान्चतुर्थं नाम वनवासीति प्रादुर्भूतम् ।

[तपागच्छ पट्टावली, पृ० ७१]

<sup>2</sup> इयंशैत्यधिकशत (८८२) वर्षातिक्रमे चैत्यस्थितिः । — पट्टा० समु०, पृ० ५०

वस्तुतः इतिहास इस बात का साक्षी है कि ज्यों ज्यों श्रमणों में राजनैतिक सम्मानों के प्रति आकर्षण बढ़ता गया, त्यों त्यों वैयक्तिक प्रभाव के माध्यम से मुनिगण संयम-मार्ग से उत्तरोत्तर विचलित होते गये। स्वाध्याय के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती गई और उनके लिये धर्म के मौलिक आचरण केवल वाणी-विलास के साधनमात्र रह गये। यह एक तथ्य है कि जब सुखोपभोग की वृत्तियां जीवन में साकार होती हैं, तब संयमित जीवन की यथावत् प्रतिपालना समस्या का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार जीवन में सुखोपभोग की वृत्तियों के साकार होने के फलस्वरूप वनवास से वसतिवास, तदनन्तर वसतिवास से चैत्यवास आया और विक्रम की १५वीं शताब्दी के पश्चात् यही चैत्यवास परिवर्तित होते होते यतिसमाज के मठवास-उपाश्रयवास के रूप में बदल गया।

त्रिपुटी मुनि द्वारा, 'जैन परम्परा नो इतिहास, प्रथम भाग' में किये गये उल्लेखानुसार चन्द्रकुल के आचार्य सामन्तभद्र ने जिस समय वनवास प्रचलित किया, उस समय उनके साथ नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर कुलों के अन्य श्रमण भी वन में रहने लगे और तब से "वनवासी गच्छ" नाम प्रारम्भ हुआ। परन्तु समय की विषमता के कारण वन के निवास में बहुत सी बाधाएं खड़ी होने लगीं। राजाओं के एक-दूसरे के साथ भयंकर युद्ध, बारम्बार दीर्घकाल के दुष्काल, आहार-पानी की दुर्लभता, पठन-पाठन में अन्तराय-विक्षेप, श्रुत का ह्रास, शक्ति की क्षीणता, लोकों की अप्रीति एवं संघ की अस्तव्यस्तता इत्यादि कारणों से श्रुतधरों ने गम्भीर विचारणा के पश्चात् श्रावकों की बस्ती में नहीं किन्तु मन्दिरों के पास उपाश्रय में उतरने की मर्यादा प्रचलित की। इसका प्रारम्भ वीर सं० ८८२ में हो गया। यद्यपि उस समय वन के बदले मुनि लोग वसति के चैत्य और उपाश्रय मात्र में उतरते थे किन्तु वहां वे स्नानपति होकर नहीं रहते थे। चैत्यवसति में उतरने पर भी वे सततबिहारी होने के कारण विहरूक कहलाते थे।

पर समय के प्रभाव से इस मर्यादा में भी शिथिलता आई और कितने ही मुनियों ने स्थायी रूप से चैत्यवास अपना लिया। वीर निर्वाण की बारहवीं, अर्थात् विक्रम की आठवीं शती के अन्त में तो यह चैत्यवास विकृत होकर घरवास जैसा बन गया।

जैन श्रमण अपनी निर्ग्रन्थता और वीतरागभाव की साधना के लिये सदा से यह परमावश्यक मानते रहे हैं कि जितना हो सके गृहीजनों के संसर्ग से बचा जाय, ताकि उनके मन में रागभाव की उत्पत्ति ही न हो सके। धिरकाल तक किसी एक स्थान पर रहने से रागवृद्धि के साथ निर्ग्रन्थता में विकृति घाना संभव है। इस दृष्टि से उन्होंने अपना निवास भी गृहस्थों के संसर्ग से दूर और अस्थिर रखा। इसी भावना को लेकर भगवान् महावीर के पश्चात् भी जैन श्रमण जनसंसर्ग से दूर विविक्तवास और "गामे गामे एग रायं, नगरे नगरे पंच रायं" इस वचन के अनुसार अप्रतिबद्ध भाव से नबकस्पी विहार करते रहे।

परन्तु जब चैत्यवास के रूप में गृहीजनों के निकट सम्पर्क में जैन श्रमणों का निवास प्रारम्भ हुआ तो यह सुनिश्चित था कि आसपास के भक्तजन प्रातः-सायं जितना भी अधिक हो, सेवाभक्ति का लाभ लेने लगे। भावुक भक्तों के बारम्बार गमनागमन और उनके द्वारा की गई उपासना से श्रमणवर्ग का मन भाव-विभोर हो उठा। परिणामतः मुनियों द्वारा अपने मलमलीन देह और घूलिघूसरित प्रावरणों की, भावुकजनों की प्रीति हेतु धुलाई-सफाई की जाने लगी। चैत्यवास-जन्य जनसंसार ने केवल इन सब प्रवृत्तियों को ही जन्म नहीं दिया अपितु इससे रागातिरेक के कारण मुनियों में स्थिरवास की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। रागातिरेक से किसी एक स्थान पर स्थिरवास कर लेने पर साधनामय जीवन में कितनी विकृति आ सकती है, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। चैत्यवास के कारण यही सब कुछ हुआ।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासजन्य तात्कालिक उन विकृतियों का अपने ग्रन्थ 'संबोधप्रकरण' में एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। उससे चैत्यवास के दुष्परिणामों को भलीभांति समझा जा सकता है। आचार्य हरिभद्र के वे विचार इस प्रकार हैं :-

'वे साधु लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करने में श्रमति, शरीर से मैल उतारते, पादुका-उपानत् आदि पहन कर घूमते और निष्कारण कटिवस्त्र धारण करते हैं।' यहाँ लोच नहीं करने वाले को आचार्य ने क्लीब - कायर कहा है।<sup>१</sup> उन्होंने आगे फिर लिखा है :-

'ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजा करने का आरम्भ एवं देवद्रव्य का उपभोग करते हैं। ये कुसाधु जिन-मन्दिर और शालाएं चुनवाते, रंग-बिरंगे, सुगन्धित एवं धूपवासित वस्त्र पहनते, बिना नाथ के बैलों की तरह स्त्रियों के आगे गाते, आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते, तरह-तरह के उपकरण रखते, जल, फूल, फल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते, दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।'

'ये लोग मुहूर्त निकालते, निमित्त बताते और भभूति भी देते हैं। जीमन-वार में मिष्टान्न ग्रहण करते, आहार के लिये खुशामद करते और पूछने पर भी सच्चा धर्म नहीं बताते हैं।'

'ये लोग स्नान करते, तैल लगाते, श्रृंगार करते और इत्र-फुलेल का भी उपयोग करते हैं। स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों की आलोचना करते हैं।'

इस प्रकार की विकृत स्थिति में भी जो लोग तीर्थंकरों का वेष समझ कर उन मुनियों को वन्दनादि करते हैं, उनके लिये भी आचार्य हरिभद्र ने बड़ी दर्दभरी भाषा में कहा है :-

<sup>१</sup> कीबो न कुण्ड सोयं, लज्जइ पडिमाइ जस्तमुवल्लोइ ।

सोबाहणो य हिण्डइ, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥ [सम्बोध प्रकरण, पा० १४]

“कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेष है। इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो! धिक्कार है उन्हें। मैं अपने शिरःशूल की पुकार किसके आगे करूँ ?”<sup>१</sup>

जिनवत्सल ने अपने संघपट्टक की भूमिका में चैत्यवास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—“वीर ति० सं० ८५० के लगभग कुछ मुनियों ने उपविहार छोड़ कर मन्दिर में रहना प्रारम्भ कर दिया। इनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई और समयान्तर में वे बहुत प्रबल हो गये।”

“.....उन्होंने यह प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि वर्तमान काल के मुनियों का चैत्यों में रहना उचित है। उन्हें पुस्तकादि के लिये यथावश्यक द्रव्य भी रखना चाहिये।”

यह भी कहा जाता है कि वि० सं० ८०२ में अणहिलपुर पाटण के राजा वनराज चावड़ा द्वारा उनके गुरु शीलगुणसूरि ने यह आज्ञा प्रसारित करवा दी कि उनके नगर अणहिलपुर पाटण में चैत्यवासी साधुओं के अतिरिक्त अन्य वनवासी आदि साधु प्रवेश तक नहीं कर सकेंगे। उस अनुचित आज्ञा को निरस्त करवाने के लिये विक्रम सं० १०७४ में जिनेश्वर और बुद्धिसागर नामक दो विधिमार्गी विद्वान् साधुओं ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया और तब कहीं पाटण में विधिमार्गियों का प्रवेश हो सका।

विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अल्पसंख्यक सुविहित मुनियों की विद्यमानता में भी चिरकाल तक चैत्यवासियों की प्रभुता बनी रही। फिर भी शासनप्रेमी सुविहित मुनियों ने शिथिलता का विरोध करते हुए, सिद्धान्तानुगामी मार्ग पर अपने चरण जमाये रखे।

जिनवत्सल के पश्चात् आचार्य जिनदत्त एवं जिनपति और सीराष्ट्र में मुनिचन्द्र एवं मुनिसुंदर आदि विधिमार्गी विद्वान् मुनि भी अपनी रचनाओं एवं उपदेशों के माध्यम से चैत्यवासियों के साथ टक्कर लेते रहे और अन्त में उन्होंने चैत्यवासियों की हतप्रभ कर दिया। विक्रम की १५वीं शताब्दी के पश्चात् यही चैत्यवास परिवर्तित हो कर यतिसमाज के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इसका प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। भट्टारकों की गादियां उस चैत्यवास और मठवास की ही प्रतिनिधि कही जा सकती हैं।

आचार्य कुंदकुंद के “लिंगपाहुड़” से पता चलता है कि उस समय ऐसे भी जैन साधु थे जो गृहस्थों के विवाह जुटाते और कृषिकर्म, वाणिज्य आदि हिंसा-कर्म करते थे।<sup>२</sup> चैत्यवास के समर्थक मुनि शिवकोटि ने अपनी रत्नमाला में लिखा है

<sup>१</sup> बाला बयति एवं, वेसो तित्थंकराण एसो वि ।

नमण्णो विद्धि अहो, तिरसूलं कस्स पुक्करिओ ॥

[संनोधप्रकरण, गा० ७६ (जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित) ]

<sup>२</sup> जो जोडेज्ज विवाहं, किसिकम्मवाणिज्जवीवचावं च ।

[जिन पाहुड़]

कि उत्तम मुनियों को कलिकाल में वनवास नहीं करना चाहिये। जिनमन्दिरों और विशेष कर ग्रामादि में रहना ही उनके लिये उचित है।<sup>१</sup>

अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर मुनियों ने वि० सं० ४७२ में वनवास छोड़ कर “निसीहि” आदि में रहना प्रारम्भ किया हो एवं उसमें विकृति होने पर वि० सं० १२१६ के पश्चात् मठवास चालू हुआ हो और उनमें रहने वाले मठवासी भट्टारक कहे जाने लगे हों।

उपलब्ध साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् १२८५ से “चैत्यवास” सर्वथा बन्द हो गया और मुनियों ने उपाश्रय में उतरना प्रारम्भ कर दिया। यथास्थान इस विषय में विशेष प्रकाश डाला जायगा।

### तत्कालीन राजनैतिक स्थिति

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय की राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पूर्व उस समय से पहले की राजनैतिक स्थिति पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। यह पहले बताया जा चुका है कि पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल में बेक्ट्रिया के यूनानी राजा डिमिट्रियस ने एक प्रबल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। मथुरा, साकेत आदि प्रदेशों को विजित करने के पश्चात् उसने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया। किन्तु उसी समय उसे उसके घर में गृहकलह होने तथा यूक्रेटाइडीज द्वारा उसके राज्य पर अधिकार कर लिये जाने की सूचना मिली। अतः उसे तत्काल अपने दलबल सहित बेक्ट्रिया की ओर लौटना पड़ा। वहाँ गृहकलह में उसकी मृत्यु हो गई। डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् उसके निकटतम सम्बन्धी मेनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया। उसके पास पर्याप्त धन और शक्तिशाली विशाल सेना थी। मेनेण्डर ने पंजाब पर अधिकार कर साकल अर्थात् स्यालकोट में अपनी राजधानी स्थापित की। पंजाब-विजय के समय मेनेण्डर का अनेक बौद्ध भिक्षुओं से साक्षात्कार हुआ। उसने एक बौद्ध आचार्य से ग्रन्थात्म और दर्शन विषयक अनेक प्रश्न किये। बौद्धाचार्य से अपने प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर सुन कर वह बड़ा प्रभावित हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रंगीकार कर लिया। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि ‘मिलिन्दपन्हो’ नामक बौद्ध धर्मग्रन्थ मेनेण्डर के प्रश्नों और बौद्धाचार्य नागसेन द्वारा दिये गये उन प्रश्नों के उत्तर के आधार पर बना हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में मेनेण्डर को मिलिन्द के नाम से अभिहित किया गया है।<sup>२</sup> मिलिन्द ने बौद्धधर्म को राज्याश्रय देकर उसके प्रचार-प्रसार में पर्याप्त सहायता प्रदान की।

पंजाब में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के पश्चात् मिलिन्द (मेनेण्डर) ने सिन्ध की राह से भारत-विजय का अपना अभियान प्रारम्भ किया। काठियावाड़,

<sup>१</sup> कलौ काले बने बासी, वर्यते मुनिसत्तमैः।

स्वीषते च जिनागारे, ग्रामादिषु विशेषतः ॥२२॥

[रत्नमाला]

<sup>२</sup> ‘The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 3

माध्यमिका (मज्झिमा) और मथुरा को अपने अधिकार में करता हुआ वह भागे बढ़ा। सिन्धु (संभवतः कालीसिन्धु) नदी के दक्षिण तटवर्ती किसी स्थान पर पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने मेनेण्डर को भयंकर युद्ध के पश्चात् बुरी तरह परास्त किया।<sup>१</sup> इस करारी हार के पश्चात् यूनानियों का राज्य केवल पंजाब और भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रहा।<sup>२</sup>

इसी समय शकों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर आक्रमण कर वहाँ से यूनानियों की सत्ता को समाप्त कर दिया। शकराज मोगा अपरनाम मोस प्रथम ने शैव धर्म अंगीकार किया और उसने कतिपय वर्षों तक गान्धार (अफ-गानिस्तान) तथा पंजाब पर राज्य किया। इसके पश्चात् शकों ने उत्तर प्रदेश, राजपूताना और कुछ दक्षिणी प्रदेशों तक अपने राज्य का विस्तार किया। शकों ने भारत के अनेक प्रदेशों में अपनी क्षत्रपियां स्थापित कीं। उनमें से मथुरा की क्षत्रपी का राजुल नामक शासक एक शक्तिशाली क्षत्रप हुआ, जिसके अनेक सिक्के उपलब्ध होते हैं।<sup>३</sup>

वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के प्रथम चरण की समाप्ति के अनन्तर, तदनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भकाल में पार्थियनों ने ईरान के अनेक प्रदेशों पर अधिका करके पश्चात् भारत पर आक्रमण किया। इनका शकों के साथ संघर्ष हुआ। पार्थियनों ने शकों को परास्त कर भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती क्षेत्रों एवं पंजाब पर अधिकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप शकों का राज्य भारत के दक्षिण-पश्चिमी सौराष्ट्र आदि प्रदेशों में ही रह गया। पार्थियनों ने पंजाब पर अधिकार करने के पश्चात् अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। गोंडाफरनीज नामक पार्थियन शासक ने तक्षशिला, मथुरा उज्जयिनी आदि में अपनी क्षत्रपियां स्थापित कीं। थोड़े समय पश्चात् ही अधिकांश पार्थियन क्षत्रपों ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप पार्थियनों का शक्ति विकेन्द्रित होने के कारण शनैः शनैः क्षीण होती गई।

यह उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी पार्थियन एवं शक शासकों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर भारतीय संस्कृति को विकसित-पल्लवित करने के बड़े प्रयास किये। उन लोगों ने पूर्णतः भारतीय शासन-प्रणाली के अनुसार राज्य करते हुए अनेक जनहित के कार्य किये।

अब तक किये गये उल्लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि भारत पर जब जब भी विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण किये, तब-तब भारत के गणराज्यों, राजाओं और जनता ने उन विदेशी शक्तियों के साथ बड़ी वीरता से युद्ध किया। यद्यपि भारत में सुदृढ़ केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव और विदेशियों की सुसंगठित

<sup>१</sup> भासविकानिमित्र (कासीदास)।

<sup>२</sup> The Gupta Empire by Shri Radhakumud Mookerji, page 3

<sup>३</sup> वही, page 4

विशाल सेनाओं के कारण विदेशियों को भारत के विभिन्न प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलताएं मिलीं पर भारतीय राज्य शक्तियां उन विदेशियों के साथ प्रायः निरन्तर संघर्षरत रहीं। भारतीय जनता एवं राज्य शक्तियों द्वारा किये गये उन संघर्षों तथा विदेशी आक्रान्ताओं के परस्पर टकराने के फलस्वरूप अन्ततोगत्वा वे विदेशी शक्तियां क्षीण होते होते विलीन ही हो गईं। जिस प्रकार यूनानियों के शासन को प्रथमतः चन्द्रगुप्त मौर्य और तदनन्तर शकों ने, शकों के शासन को वीर नि० सं० ४७० में विक्रमादित्य ने और तदनन्तर वीर नि० सं० ६०५ में गौमतीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने समाप्त किया, उसी प्रकार भारत के विदेशी पाथियनों के शासन को विदेशी यू-ची जाति के कुषाणों ने समाप्त किया।

आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य-काल से पूर्व कुजुल कंडफाइसिस (प्रथम) नामक कुषाण सरदार ने पाथियनों को पराजित कर गान्धार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके पुत्र वेम कंडफाइसिस ने भारत में और आगे बढ़ना प्रारम्भ किया और आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र के युगप्रधानत्व काल में पूरे पंजाब तथा दुआबा पर अपना अधिकार करने के पश्चात् पूर्व में वाराणसी तक अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर लिया।

विदेशी आक्रमणों के कारण देश को सर्वतोमुखी हानि हुई। विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों से सन्नत जनमानस में असहिष्णुता, पारस्परिक जातीय, सामाजिक एवं धार्मिक विद्वेष ने बल पकड़ा। विदेशियों द्वारा देश एवं देशवासियों की जो दुर्दशा की जाती उसके लिए एक जाति दूसरी जाति को एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियों को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को दोषी ठहराने लगा। देशवासियों के मन में उत्पन्न हुई इस प्रकार की घातक मनोवृत्ति से देश को जो हानि हुई, उसे आंका तक नहीं जा सकता क्योंकि वस्तुतः वह विदेशी आक्रमणों से हुई हानि से कई गुना अधिक थी। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार की विकृत मनोवृत्ति को निहित-स्वार्थ लोगों ने समय-समय पर उभाड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सहस्राब्दियों से साथ-साथ रहते आये वर्गों, धर्मावलम्बियों एवं जातियों ने परस्पर एक दूसरे को मिटाने के अनेक प्रयास किये। भारत से बौद्धधर्म की समाप्ति में अनेक कारणों के साथ-साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष भी प्रमुख कारण रहा है। पुष्यमित्र शंग द्वारा बौद्धों और बौद्धधर्म के विरुद्ध किया गया अभियान इस तथ्य का साक्षी है।

भारत में विदेशी आक्रान्ताओं की सफलताओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई उन विषम परिस्थितियों में जैनधर्मावलम्बियों को भी बड़े कठिन दौर से गुजरना पड़ा। मौर्य सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में, जहां भारत और भारत के पड़ोसी राष्ट्रों में भी जैनधर्म का अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हुआ, वहां ईसा की पहली शताब्दी के प्रथम चरण से भारत पर प्रारम्भ होने वाले आक्रमणों के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियों की संख्या में उन्नतरोमर ह्रास होना चला गया।



## २० (२४) ब्रह्मद्वीपकसिंह—वाचनाचार्य

वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह २०वें वाचना-चार्य हुए। चौबीसवें युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह के साथ नाम साम्य होने के कारण वाचनाचार्य आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह और युगप्रधानाचार्य सिंह को अंधिकांश लेखकों द्वारा एक ही आचार्य मान लिया गया है। वाचनाचार्य सिंह के नाम के पहले 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण से यह अनुमान किया जाता है कि युग-प्रधानाचार्य सिंह से आप भिन्न और पूर्ववर्ती आचार्य हैं।

२३वें युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र के पश्चात् होने वाले २४वें युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह २०वें वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह से भिन्न हैं अथवा नहीं, यह एक गवेषणा का विषय है, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक ही होते तो वाचनाचार्य सिंह और युगप्रधानाचार्य सिंह की भिन्नता बताने वाला 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण वाचनाचार्य सिंह के नाम के साथ नहीं जोड़ा जाता। आशा है विद्वान् गवेषक इस सम्बन्ध में शोध कर प्रकाश डालेंगे।

आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का परिचय आगे आर्य सिंह के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## २२. आर्य नागेन्द्र (नागहस्ती)—युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधान परम्परा में नागहस्ती का नाम आता है। नागेन्द्र सोपारकपुर के श्रेष्ठी जिनदत्त के दोक्षित चार पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे। युगप्रधानों की नामावलि में आर्य नागेन्द्र का आर्य नागेन्द्र नाम से उल्लेख न कर नामसाम्य-तन्व्य त्रुटि से नागहस्ती के नाम से उल्लेख किया गया है। वस्तुतः युगप्रधान नागेन्द्र वाचक आर्य नागहस्ती से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। दुष्काल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार नागेन्द्र का दीक्षाकाल ५६२-६३ माना गया है। किञ्चिन्मूल १० पूर्वधर होने से आर्य नागेन्द्र ही वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। ६६ वर्ष जैसे सुदीर्घ काल तक आपने युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा की। वीर नि० सं०, ६८६ में इनका स्वर्गवास माना गया है।

पहले यह बताया जा चुका है कि आर्य नागहस्ती और नागेन्द्र - दोनों, दो भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। आचार्य नागहस्ती वाचकवंश परम्परा के आचार्य हैं और उनके गुरु आर्य नन्दिल माने गये हैं जबकि नागेन्द्र युगप्रधान परम्परा के आचार्य और वज्रसेन के शिष्य हैं। पहले वज्रसेन के पूर्ववर्ती आचार्य हैं तो दूसरे वज्रसेन के पश्चाद्वर्ती उनके उत्तराधिकारी। वाचक नागहस्ती और युगप्रधान नागेन्द्र की भिन्नता इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि आर्य नागहस्ती का दिगम्बर परम्परा के साहित्य में भी यतिवृषभ के गुरु रूप से उल्लेख किया गया है पर आर्य नागेन्द्र को संशयमिध्यादृष्टि, श्वेताश्वर आदि विशेषणों से अभिहित किया गया

है।<sup>१</sup> इससे भी प्रतीत होता है कि चन्द्रमुनि के ज्येष्ठ गुरुबन्धु नागेन्द्र ही श्वेताम्बर आचार्य के रूप से दिगम्बर परम्परा में चर्चित होते रहे हैं।

नागहस्ती परम्परा-भेद होने से पूर्व के आचार्य होने के कारण दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उन्हें कहीं पर भी श्वेताम्बर विशेषण से अभिहित नहीं किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर नागहस्ती और नागेन्द्र ये दोनों भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य प्रमाणित होते हैं। आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती ये दोनों पर्याप्त ग्रंथों में समकालीन होने चाहिये। पर नागेन्द्र को नागहस्ती मान लेने पर किसी भी दशा में संगति नहीं बैठती। क्योंकि आर्य नागेन्द्र का जन्म बी. नि. सं. ५७३ में होने का उल्लेख उपलब्ध होता है जब कि आर्य मंगू का आचार्यकाल ४७० माना गया है।

वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) ये दोनों भिन्न-भिन्न काल में हुए दो भिन्न आचार्य हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले सर्वाधिक सबल शास्त्रीय प्रमाण, अनुयोगद्वारा सूत्र के पाठ का वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है।<sup>२</sup>

### १६. आचार्य सामन्तभद्र-गणाचार्य

वीर नि० सं० ६४३ में<sup>३</sup> आर्य चन्द्रसूरि के स्वर्गगमन के पश्चात् १६ वें गणाचार्य सामन्तभद्र हुए। आपके जन्म, कुल आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होता। आपका जो कुछ परिचय उपलब्ध होता है, उससे यह विदित होता है कि आप पूर्वश्रुत के श्रम्यासी होते हुए भी अस्खलित चारित्र्य की आराधना करने वाले थे। निर्मोह भाव से विचरण करते हुए ये संयमशुद्धि के लिये अधिकांशतः वनों, उच्चानों, ब्रह्मयतनों, एवं शून्य देवालयों में ही ठहरा करते थे। इनके उत्कट वैराग्य और वनवास को देख कर लोग इन्हें वनवासी और इनके साधुसमुदाय को वनवासी-गच्छ कहने लगे। सौषर्मकाल के निर्ग्रंथ गच्छ का यह चौथा नाम वनवासी गच्छ कहा जाता है। वनवासी शब्द सापेक्ष होने के कारण वसतिवास की स्मृति दिलाता है। भगवान् महावीर और सुधर्मा के समय तक साधुओं का प्रायिक निवास वन-प्रदेशों में ही होता था फिर भी उस समय के श्रमण वनवासी न कहला कर निर्ग्रंथ नाम से ही पहिचाने जाते रहे। क्योंकि उनके सम्मुख वनवासी से भिन्न वसतिवासी नामक कोई भिन्न श्रमणवर्ग नहीं था।

<sup>१</sup> (क) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी विध्यादृष्टिः। संशयवादी किलेव मन्यते. सेयंबरो य।

[बोधप्राप्त, गा० ५३ श्रुतसागरी टीका]

(ख) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छोत्पन्नानां तदुलकपायोदकादिसमाचारीसमाश्रयीणां श्वेतपदानां

[भावप्राप्त, गा० १३५, श्रुतसागरी]

<sup>२</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५५२

<sup>३</sup> त्रिपुटी के अनुसार वीर नि० सं० ६५०।

जब निग्रंथ गच्छ, कौटिक गच्छ, और चन्द्रगच्छ के नामान्तरों से गुजरता हुआ साधु-समुदाय जनसम्पर्क में आगे बढ़ा, तब श्रमणों का आवास भी मुख्य रूप से वसतियों में होने लगा हो, यह स्वाभाविक है। संभव है आर्य रक्षित के पश्चात् साधु सम्प्रदाय में शिथिलता अधिक बढ़ी हुई देख कर संयमशुद्धि और उग्र साधना को बनाये रखने के लिये सामन्तभद्र ने शिथिलाचार के विरुद्ध वनवास स्वीकार किया हो।

दूसरा यह भी संभव है कि वीर नि० सं० ६०६ में हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायभेद को पाट कर दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से उग्र संनमाराधन का प्रयत्न प्रारम्भ किया गया हो। आचार्य सामन्तभद्र द्वारा किया गया यह उग्र आचार का अभियान शिथिलाचार के विरोध में कुछ समय तक अवश्य प्रभावोत्पादक रहा होगा। पर इसमें यथेप्सित स्थाई सफलता नहीं मिल पाई।

इसी अवधि में दिगम्बर परम्परा में भी सामन्तभद्र नामक एक आचार्य के होने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्गी के अनुसार उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी में आता है।<sup>१</sup> हो सकता है सामन्तभद्र को ही सामन्तभद्र समझ कर उनके उत्कट आचार के कारण उन्हें सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा एवं अपना लिया गया हो।

आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यपद और स्वर्गवास का समय उपलब्ध नहीं होता। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार आपका अस्तित्वकाल वीर नि० सं० ६७० के आसपास माना गया है।

### १७. आचार्य वृद्धदेव-गणाचार्य

आचार्य सामन्तभद्र के पश्चात् १७वें गणाचार्य वृद्धदेव हुए। इनका केवल इतना ही परिचय मिलता है कि वृद्धावस्था में आचार्य पद प्राप्त करने के कारण सभी उन्हें वृद्धदेवसूरि के नाम से संबोधित करने लगे। सामन्तभद्र की परम्परा के आचार्य होने के कारण आपको भी उग्र क्रिया का समर्थक माना गया है।

### १८. आचार्य प्रद्योतन-गणाचार्य

आचार्य वृद्धदेव के पश्चात् आर्य प्रद्योतनसूरि गणाचार्य हुए। पट्टावलियों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध है कि अजमेर और स्वर्णगिरि में आपने प्रतिष्ठा करवाई पर स्वर्गीय मुनि कान्तिसागरजी के अनुसार इतिहास के प्रकाश में इस प्रकार के उल्लेखों की सच्चाई संदिग्ध मानी गई है।<sup>२</sup>

आपका स्वर्गवास वीर नि० सं० ६९८ में होना बताया गया है।

### १९. आचार्य मानदेव-गणाचार्य

आचार्य प्रद्योतनसूरि के पश्चात् १९वें पट्टधर गणाचार्य मानदेव हुए। आचार्य मानदेव त्याग-तप की विशिष्ट साधना में इतने प्रसिद्ध थे कि जैन

<sup>१</sup> जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष, भा० १, पृ० ३३६

<sup>२</sup> मुनि कान्तिसागरजी द्वारा लिखित जैन इतिहास की पाण्डुलिपि, पृ० १०६।

समाज में संभवतः विरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो आपके प्रभाव से अपरिचित हो ।

नाडोल निवासी प्रख्यात श्रेष्ठी धनेश्वर आपके पिता और धारिणी माता थी । अपना एकमात्र पुत्र होने के कारण माता-पिता ने आपका नाम मानदेव रखा । एक बार आचार्य प्रद्योतन विहार क्रम से नाडोल पधारे । भाग्यवश मानदेव ने भी आचार्यश्री के उपदेशों को सुनने का सुअवसर पाया । आचार्य प्रद्योतन-सूरि की वैराग्यपूर्ण बाणी सुनकर मानदेव को अपूर्व उल्लास हुआ और उन्होंने गुरुचरणों में प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की । बड़ी कठिनाई से मानदेव ने माता-पिता से अनुमति प्राप्त की और शुभ समय में श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर वे विनयपूर्वक ज्ञानाराधन के साथ कठोर तप की साधना करने लगे । प्रखर प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उन्होंने ११ अंगश्रुत, मूल, छेद और उपांग श्रुतों का पूर्ण अभ्यास कर लिया ।<sup>१</sup>

गुरु ने मानदेव को योग्य समझकर आचार्य पद से सुशोभित करना चाहा पर कहा जाता है कि लक्ष्मी (लावण्यश्री) और सरस्वती का आपस में एकत्र अद्भुत सम्मिलन देखकर गुरुदेव इस बात के लिए चिन्तित हुए कि मुनि मानदेव से चारित्र्य का पालन किस प्रकार निभ सकेगा ।

गुरु की चिन्ता से मानदेव चारित्र्य के प्रति और अधिक आस्थावान् बन गये । गुरुदेव की प्रीति हेतु उन्होंने सम्पूर्ण रूप से विगड-विकृति का परित्याग कर दिया और भक्तजनों के यहाँ से आहार लाना भी वन्द कर दिया । आत्मसाधना के प्रति सजगता विश्व को सहज ही भुका देती है । इस नियमानुसार मानदेव के चरणों में भी कुछ दैवी शक्ति का सामीप्य हो गया था, इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं ।

### आर्य नागेन्द्र के समय की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

इससे पहले के प्रकरण में बताया जा चुका है कि आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य काल में कुषाणवंश के राजा वेम कंडफाइसिस ने अपने पिता कुजुल कंडफाइसिस द्वारा ईरान की सीमा से लेकर सिन्धु नदी तक संस्थापित राज्य की सीमा में विस्तार करना प्रारम्भ किया । वेम ने पूरे पंजाब और दोआबा को जीत कर पूर्व में वाराणसी तक अपने राज्य का विस्तार किया । वेम कंडफाइसिस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कनिष्क वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तदनुसार शक सम्बत्सर के प्रचलित होने के पश्चात् राज्य मिहासन पर आसीन हुआ । कनिष्क ने पुरुषपुर-पेशावर नामक एक नवीन नगर बसा कर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की ।

<sup>१</sup> अंगकादशकेऽधीती, छेदमौलेयु निष्ठितः ।

उपांगेषु च निष्णातस्ततो जज्ञे बहुश्रुतः ॥२३॥

[प्रभावक चरित्र, प्रकरण १३]

कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर विजय का अभियान प्रारम्भ किया। इसने पार्थिवों के शासन को भारत से मूलतः उखाड़ फेंका। काश्मीर-विजय के पश्चात् कनिष्क ने चीनी साम्राज्य के प्रदेशों - चीनी तुकिस्तान, काशगर, यारकन्द एवं खोतान पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। कनिष्क का साम्राज्य ईरान की सीमाओं से वाराणसी, चीनी, तुकिस्तान से काश्मीर और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वतश्रेणियों तक फैला हुआ था।<sup>1</sup> कनिष्क ने काश्मीर में अपने नाम पर कनिष्कपुर नामक एक नगर बसाया। उसने जन्मभारत भारतीय की तरह भारतीय संस्कृति को अपनाया। उसने विदेशी होते हुए भी मौर्यसम्राट् अशोक द्वारा अपनाई गई नीति का अनुसरण करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में बड़ा योगदान दिया। कनिष्क ने काश्मीर के कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्ध - संगीति (बौद्ध भिक्षुओं, विद्वानों एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के धर्म-सम्मेलन) का आयोजन किया। उस संगीति में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं उसमें नये सुधार से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिये गये। इतिहासकारों का ऐसा अनुमान है कि कनिष्क द्वारा की गई उस बौद्ध-संगीति के पश्चात् बौद्धधर्म हीनयान और महायान - इन दो संप्रदायों में विभक्त हो गया। बुद्ध के निराडम्बर, सहज-सरल धर्म एवं जीवन-दर्शन को मानने वालों की संख्या स्वल्प थी अतः उन लोगों के संप्रदाय का नाम 'हीनयान' पड़ा। बुद्ध को भगवान् का अवतार मान कर उनकी मूर्ति की पूजा करनेवालों की संख्या अधिक थी अतः उन लोगों का संप्रदाय महायान कहा जाने लगा। कनिष्क ने महायान संप्रदाय को प्रथम दिया। कनिष्क के शासनकाल में बुद्ध की प्रतिमाओं की बड़े आडम्बर के साथ पूजा होने लगी और देश में मूर्तिकला का बड़ा विकास हुआ। कनिष्क बौद्ध धर्मावलम्बी था फिर भी उसने अन्य सभी धर्मावलम्बियों के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार रखा।

कनिष्क के शासनकाल में संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय उन्नति हुई। उसके द्वारा सम्मानित महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित्र', 'सौन्दरानन्दम्' एवं 'वज्रशुची' नामक उत्कृष्ट कोटि के संस्कृत-ग्रन्थों की रचनाएं की।

कनिष्क ने अपने विशाल साम्राज्य के शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये भारत के विभिन्न प्रदेशों में क्षत्रपियों स्थापित की थीं। उनमें से मथुरा, वाराणसी, गुजरात, काठियावाड़ एवं मालवा की क्षत्रपियों एवं उनके खरपल्लान वनस्फर आदि क्षत्रपों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।<sup>2</sup>

शक्तिशाली कुषाणवंशी महाराजा कनिष्क के देश-विदेशव्यापी विजय अभियानों के संक्रान्तिकाल में भी कतिपय भारतीय राजाओं ने बड़े शौर्य और धैर्य के साथ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा। इसका ज्वलन्त उदाहरण है

1. His Empire in India included Kapisa, Gandhara and Kasmira and extended in the east upto Varanasi and beyond.

{The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 3}

1. 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, p. 4.

दक्षिणापथ का सातवाहन राजवंश, जिसके, विक्रमादित्य के समय से वीर नि० सं० ६६३ तक अक्षुण्ण राज्य चलने के अनेक उल्लेख जैन वाङ्मय में तथा अन्य इतिहास-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

कतिपय सातवाहनवंशी राजाओं के जैन धर्म-वलम्बी होने विषयक अनेक उल्लेख जैन साहित्य में विद्यमान हैं।

महाराजा कनिष्क के समय में कुषाणवंशी विदेशी राजसत्ता बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ इतनी अधिक धुलमिल गई थी कि दोनों एक दूसरे के उत्कर्ष को अपना स्वयं का उत्कर्ष समझने लगे थे। इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण कुषाण-साम्राज्य के उत्कर्ष में बौद्ध संघ का सर्वतोमुखी सहयोग और बौद्ध संघ में कनिष्क का वर्चस्व बढ़ता ही गया। बौद्ध और कुषाणों की इस प्रकार की घनिष्ठता जहाँ एक ओर बौद्धधर्म के तात्कालिक उत्कर्ष में बड़ी ही सहायक हुई, वहाँ दूसरी ओर वह बौद्धधर्म के लिए महान् अभिशाप सिद्ध हुई। विदेशी दासता से मुक्ति चाहने वाली समस्त भारतीय प्रजा के हृदय में कुषाणों के प्रति जो घृणा थी, वह कुषाणों के शासन को मुहड़ बनाये रखने में सहायता प्रदान करने वाले बौद्ध संघों, बौद्ध-भिक्षुओं एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के प्रति भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। भारत की स्वतन्त्रताप्रिय प्रजा बौद्ध संघ को राष्ट्रीयता के धरातल से च्युत, प्राध्यात्मिक स्वतन्त्रता से विहीन एवं आततायी का प्राणप्रिय पोष्य-पुत्र समझने लगी। भारतीय जनमानस में उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना अन्ततोगत्वा भारत में बौद्धधर्म के अपकर्ष ही नहीं अपितु सर्वनाश का कारण बनी।

### नाग भारशिव राजवंश का अम्युदय

बौद्धों के सर्वतोमुखी सहयोग के बल पर बढ़ते हुए विदेशी दासता के उस उत्पीड़न ने भारशिव नामक नाग-राजवंश को जन्म दिया। लकुलीश नामक एक परिव्राजक ने विदेशी दासता के जूड़े को उतार फेंकने के लिये लालायित भारतीय जनमानस में शिव के संहारक स्वरूप की उपासना के माध्यम से प्राण फूँकने का अभियान प्रारम्भ किया। भारशिव नागों ने लकुलीश को शिव का अंशावतार मानकर उनके प्रत्येक आदेश का अक्षरशः पालन किया। कनिष्क की मृत्यु होते ही भारशिव नागवंश एक राजवंश के रूप में उदित हुआ। आगे चलकर इन भारशिवों ने कुषाण साम्राज्य का अन्त कर विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की।<sup>१</sup>

ऐतिहासिक तथ्यों के पर्यवेक्षण से कनिष्क का गन्धार के सिंहासन पर आसीन होने का समय वीर नि० सं० ६०५ (ई० सन् ७८) तथा मृत्यु का समय वीर नि० सं० ६३३ (ई० सन् १०६) ठहरता है।<sup>२</sup> तदनुसार भारशिव नागों के

१ Several Vakataka inscriptions mention Bhavanaga, sovereign of the dynasty known as the Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Asvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges). [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 7].

२ 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, page 3-4.

प्रारम्भिक अभ्युदय का समय वीर निर्वाण सं० ६३३ के पश्चात् का अनुमानित किया जाता है।

भारशिव नागवंशी मूलतः पद्मावती, कान्तिपुरी और विदिशा के निवासी थे। ब्रह्माण्ड पुराण और वायुपुराण में नागों को वृष (शिव का नन्दी) नाम से सम्बोधित करते हुए इनके विशाल साम्राज्य का उल्लेख किया गया है। जिसमें मद्र (पूर्वी पंजाब), राजपूताना, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, मालवा, बुन्देलखण्ड और बिहार आदि प्रदेश सम्मिलित थे। शुंगकाल में शेष, भोगिन, रामचन्द्र, धर्मवर्मन और बंगर इन पांच नागवंशी राजाओं का विदिशा में राज्य होने के प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शुंगोत्तरकाल में भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशनन्दी, पुरुषदात, उसभदात, कामदात, भवदात तथा शिवनन्दी नामक आठ नागराजाओं का विदिशा में राज्य होना कतिपय शिलालेखों एवं मुद्राओं से प्रमाणित होता है। कनिष्क द्वारा कुषाण राज्य के विस्तार के समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में नागों को अपने मूल निवास-स्थान विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी को छोड़कर मध्यभारत की ओर सामूहिक निष्क्रमण करना पड़ा। ये लोग विन्ध्य के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में निर्वासितों की तरह रहने लगे। विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी पर कुषाणों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। नाग लोगों को कुषाणों की बढ़ती हुई प्रबल शक्ति के कारण निष्क्रमण करना पड़ा था पर समुचित अवसर प्राप्त होते ही अपने परम्परागत राज्य पर पुनः अधिकार कर लेने की अभिलाषा उनके अन्तर में बलवती बनी रही। अतः वे लोग अवसर की प्रतीक्षा में शक्ति संचय करते रहे। नागों ने अपने निर्वासनकाल में नागपुर, पुरिकन, रीवां आदि के शासकों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा।

कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त नागों ने अपने मूल निवास-स्थान विदिशा आदि को कुषाणों की दासता से पुनः मुक्त कराने का दृढ़ संकल्प किया। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे सैनिक अभियान हेतु सभी आवश्यक सामग्री जुटाने में बड़ी तत्परता से जुट गये।

### २३ आर्य रेवतीमित्र—युगप्रधानाचार्य

(वीर नि० सं० ६८६-७४८)

आर्य नागेन्द्र के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपका यत्किञ्चित् परिचय वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के साथ दे दिया गया है।

#### भारशिव और कुषाण महाराजा हुविष्क

प्रतापी महाराजा कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र हुविष्क अनुमानतः वीर नि० सं० ६३३ (ई० सन् १०६) में कुषाणवंश के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। हुविष्क के शासनकाल में नाग जाति की भारशिव शाखा पुनः एक राज्यशक्ति के रूप में उदित हुई। भारशिवों ने विन्ध्य के निकटवर्ती प्रदेशों में अपनी शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ कुषाण साम्राज्य पर आक्रमण करने प्रारम्भ

किये। उत्तरप्रदेश से चीनी तुकिस्तान तक फैले कुषाणों के विशाल साम्राज्य से लोहा लेना भारतियों की नवोदित राज्य शक्ति के लिए कोई साधारण साहस का कार्य नहीं था। मध्यप्रदेश से बुन्देलखण्ड की राह भारतियों ने कुषाणों के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान द्वारा कुषाण साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों को अपने अधिकार में करना प्रारम्भ किया। भारतियों ने बड़े साहस और रणचतुरी से काम किया।

इस प्रकार हुविष्क के शासनकाल में ही कुषाण-साम्राज्य का शनै-शनै ह्रास प्रारम्भ हो गया।

### कुषाण महाराजा वाशिष्क

वीर नि० सं० ६६५ में हुविष्क की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वाशिष्क कुषाणवंश के ह्यसोन्मुख साम्राज्य का अधिकारी बना। वाशिष्क ने काश्मीर में अपने पिता के नाम पर हुविष्कपुर नामक एक नगर बसाया। वाशिष्क का शासनकाल वीर नि० सं० ६६५ से ६७९ तदनुसार ई० सन् १३८ से १५२ तक रहा।

### भारतियों द्वारा कुषाण-साम्राज्य पर प्रहार

वाशिष्क के शासनकाल में नवनागे के नेतृत्व में भारतशिव नागों ने अपने खोये हुए परम्परागत राज्य को पुनः हस्तगत करने के लिये कुषाण साम्राज्य पर बड़ी वीरता के साथ प्रबल आक्रमण किये। उत्तरप्रदेश के अनेक क्षेत्रों से कुषाण शासन की समाप्ति के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० सं० ६७४ तदनुसार ई० सन् १४७ के आसपास नवनाग ने कुषाणों की दासता से कान्तिपुरी के राज्य को मुक्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।

नागवंशी प्रथम भारतशिव राजा नवनाग ने कान्तिपुरी में अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् कुषाण-साम्राज्य को समाप्त करने के उद्देश्य से मद्रकों, यौधेयों, मालवों एवं अन्य गणतन्त्रप्रिय संघों को अपना संरक्षण प्रदान किया। भारतियों से सामरिक सहायता प्राप्त कर वे गणतन्त्र पुनः सक्रिय हुए। नवनाग एवं मद्रक, मालव, यौधेय आदि गण-जातियों के आकस्मिक आक्रमणों से कुषाण राज्य निरन्तर क्षीण और आकार में छोटा होता गया।

### कुषाण महाराजा वामुदेव

वीर नि० सं० ६६९ में वाशिष्क के देहावसान के पश्चात् उसका पुत्र वामुदेव कुषाण राज्य का अधिपति बना। कान्तिपुरी का राजा नवनाग भारतशिव अपने शेष जीवन काल में वामुदेव के साथ युद्धरत रहा। वीर नि० सं० ६९७ तदनुसार ई० सन् १७० के आसपास नवनाग की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र वीरसेन ने कान्तिपुरी के राजसिंहासन पर आसीन होते ही बड़े प्रबल वेग से कुषाण साम्राज्य पर प्रहार करने प्रारम्भ किये। वीरसेन ने अनेक युद्धों में कुषाणों को पराजित किया। यौधेय, मद्रक, अर्जुनायन, शिवि एवं मालव आदि गणराज्यों



ने भी भारशिवों द्वारा कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के लिये प्रारम्भ किये गये अभियान में बड़ा उल्लेखनीय योगदान दिया और अन्ततोगत्वा भारशिव राजा वीरसेन ने ईसा की दूसरी शताब्दी के समाप्त होते होते आर्य धरा से सदा के लिये कुषाणों के शासन को समाप्त कर दिया ।

भारशिवों ने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी में गंगा के किनारे पर १० अश्वमेध यज्ञ किये<sup>१</sup> और इन यज्ञों की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये उस स्थान पर दशाश्वमेध घाट का निर्माण करवाया ।

यद्यपि भारशिवों ने कुषाण राजवंश के शासन को भारत भूमि से सदा के लिये समाप्त कर दिया पर भारत के अन्तिम कुषाण राजा वासुदेव के पश्चात् भी कुषाण वंश के कतिपय और भी राजा हुए । उनका राज्य काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश तक हो सीमित रहा । गुप्त राजवंश के चरमोत्कर्षकाल में काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश के बचे-खुचे कुषाण राज्य भी समाप्त हो गये । समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तंभलेख में गान्धार और काश्मीर के कुषाण राजाओं द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं की भेंट के साथ समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार किये जाने का उल्लेख है । किदार नामक एक कुषाणवंशी राजा के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं । इन तथ्यों से ऐसा प्रकट होता है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी तक गान्धार और काश्मीर में कुषाणों का राज्य रहा ।<sup>२</sup>

### भारशिव राजवंश की शाखाएं

विदेशी कुषाणों के शासन का अन्त करने के पश्चात् भारशिव वंशी नाम राजा वीर सेन ने अपने एक पुत्र ह्यनाग को कान्तिपुरी के राज्य का, दूसरे पुत्र भीमनाग को पद्मावती के राज्य का और तीसरे पुत्र को जिसका कि नाम अज्ञात है - मथुरा के राज्य का अधिकारी बनाया ।

ह्यनाग के पश्चात् कान्तिपुरी के राज्य पर क्रमशः त्रयनाग, बहिन नाग, चरजनाग और भवनाग ने शासन किया । भवनाग ने अन्त समय में अपने दौहित्र रुद्रसेन (वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के पौत्र) को पुरिका का राज्य दिया । इस प्रकार भारशिव राजवंश की एक शाखा का राज्य वाकाटक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया ।

पद्मावती के राजसिंहासन पर भीमनाग के पश्चात् क्रमशः स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, देवनाग और गरुपति नाग बैठे ।

वाकाटकों और गुप्तों के साथ भारशिवों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए । इस वैवाहिक गठबन्धन के परिणामस्वरूप इन तीनों राजवंशों ने भारत को एक लम्बे समय तक विदेशी आक्रान्ताओं के भय से सर्वथा मुक्त रखा ।

१ ..... Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Ashvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges) [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 7]

२ [पृष्ठी; page 4]

भारत-शिववंश की तीन शाखाएं मानी गई हैं। उनके राजाओं के नाम इस प्रकार हैं :-

### १. कान्तिपुरी की मुख्य शाखा

- |            |  |
|------------|--|
| १. नवनाग   | ५. बहिननाग   |
| २. वीरसेन  | ६. चरजनाग  |
| ३. ह्यनाग  | ७. भवनाग   |
| ४. प्रयनाग | ८. वाकाटक राजा रुद्रसेन (भवनाग का दौहित्र)<br>जिसको भवनाग ने पुरिका का राज्य दिया। |

### २. पद्मावती शाखा

- |                |   |
|----------------|---|
| १. भीमनाग      | ४. व्याघ्रनाग   |
| २. स्कन्दनाग   | ५. देवनाग   |
| ३. बृहस्पतिनाग | ६. गणपतिनाग (इसके सिक्के बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं) |

गणपतिनाग के पश्चात् संभवतः पद्मावती शाखा में नागसेन नामक राजा हुआ जिसे कवि हरिवंश के इलाहाबाद स्थित स्तम्भ लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने अपने पहले विजय अभियान में ही पराजित एवं अपदस्थ किया। महाकवि बाण ने भी 'हर्षचरित्र' में नागसेन को पद्मावती का राजा बताते हुए उसकी मूर्खता का उल्लेख किया है।

### ३. मथुरा शाखा

मथुराशाखा के राजाओं के नाम उपलब्ध नहीं होते।

### वाकाटक राजवंश का अभ्युदय

गुप्त राजवंश के उत्कर्ष से पूर्व भारत के बहुत बड़े भूभाग पर वाकाटक राजवंश का विशाल साम्राज्य था। अर्जुनायन, माद्रक, यौधेय, मालव आदि गणराज्य तथा पंजाब, राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि प्रान्तों के प्रायः सभी राजा वाकाटक साम्राज्य के करद एवं अधीनस्थ थे। पुराणों में वाकाटक राजवंश को विध्यक के नाम से ही अभिहित किया गया है।<sup>१</sup> वाकाटक राजवंश के अनेक सिक्के, शिलालेख एवं ताम्रपत्र उपलब्ध होते हैं। अजन्ता के गुहाचित्रों एवं अभिलेखों से भी वाकाटक राजवंश के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इतिहासज्ञों ने विन्ध्यशक्ति नामक नाग को वाकाटक राजवंश का संस्थापक माना है। पुराणों में कोलिकिल वृषों (भारतियों) में से इस राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति का अभ्युदय बताया गया है।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> विन्ध्यकानां कुलेऽस्तीते...

॥३७३॥

[वायुपुराण, अध्याय ६६]

<sup>२</sup> तच्छन्नेन च कालेन, ततः कोलिकिला वृषाः ॥३६६॥

ततः कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ।...॥३६७॥

[वही]

“ततः कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ।” इस श्लोकार्थ से यह प्रकट होता है कि भारशिव नागों के साथ विन्ध्यशक्ति का अति सन्निकट का सम्बन्ध था । भारशिव भी नागवंशी थे और विन्ध्यशक्ति भी नागवंश की किसी शाखा विशेष में उत्पन्न हुआ था । संभव है वह नागवंश की शाखा वाकाटक नाम से विख्यात किसी ग्राम, स्थान अथवा प्रदेश विशेष की रहने वाली हो अतः भारशिव आदि अन्य नागवंशियों से अपनी भिन्नता अभिव्यक्त करने के लिये विन्ध्यशक्ति एवं उसके वंशजों ने अपनी शाखा का नाम वाकाटक रखा हो ।

उपरिलिखित श्लोकांश के आधार पर ही संभवतः कतिपय इतिहासज्ञ अपनी यह मान्यता अभिव्यक्त करते हैं कि विन्ध्यशक्ति वस्तुतः भारशिवों की सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और उसने विन्ध्य प्रदेश में अपनी पृथक् राजसत्ता स्थापित कर उसका विस्तार किया अतः विन्ध्य से नवोदित शक्ति के रूप में वह विन्ध्यशक्ति के नाम से विख्यात हुआ । उपरोक्त श्लोकपद से यह तो निर्विवाद-रूपेण सिद्ध होता है कि भारशिव नागवंश से ही वाकाटक राजवंश उदित हुआ ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वाकाटक राजवंश के अनेक राजाओं के सिक्के, शिलालेख आदि उपलब्ध होते हैं किन्तु इस राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के न तो कोई सिक्के ही उपलब्ध हुए हैं और न अभिलेखादि ही । ऐसी स्थिति में विन्ध्यशक्ति के सत्ताकाल को सुनिश्चित करने के लिये अन्य प्रमाणों का सहारा लेना होगा ।

भारशिव वंश के सातवें राजा भवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (विन्ध्यशक्ति के पुत्र) के पुत्र गीतमी पुत्र के साथ तथा गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पाणिग्रहण वाकाटक नृपति पृथ्वीषेण (प्रथम) के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ । इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में इन तीनों राजवंशों के सत्ताकाल पर विचार करने पर यह अनुमान किया जाता है कि वाकाटक राजवंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति भारशिव राजवंश के चौथे राजा त्रयनाग तथा गुप्त राजवंश के संस्थापक राजा श्रीगुप्त का समकालीन था । पुराणों में विन्ध्यशक्ति का शासनकाल जो ६६ वर्ष बताया गया है,<sup>१</sup> वह वस्तुतः वाकाटकों का साम्राज्यकाल है । उसमें ३६ वर्ष विन्ध्य शक्ति का और ६० वर्ष प्रवीर अर्थात् प्रवरसेन का राज्य,<sup>२</sup> इस प्रकार ९६ वर्ष का वाकाटकों का साम्राज्यकाल बताया गया है । प्रवरसेन के पश्चात् उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम (भवनाग के दौहित्र) और उसके पश्चात् पृथ्वीषेण प्रथम — इन दो वाकाटक राजाओं का शासनकाल ज्ञात करना अवशिष्ट रह जाता है । पृथ्वीषेण प्रथम का पुत्र रुद्रसेन द्वितीय, गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का जामाता था । चन्द्रगुप्त द्वितीय ई० सन् ३७५ में

<sup>१</sup> ...समाःषण्णवति शतका, पृथिवीं च समेष्यति ॥३६७॥

[वापुपुराण, अनुबन्गपादतमाम्पि]

<sup>२</sup> विन्ध्यशक्तिसुताश्चापि, प्रवीरो नाम भीर्यवान् ।

मोक्षयति च सत्ताः शक्तिं पुरीं काचमकां च वै ॥३७३॥

[वही]

गुप्त साम्राज्य का अधिपति बना, यह प्रायः सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं और मोटे शीर पर यही समय चन्द्रगुप्त द्वितीय के जामाता रुद्रसेन द्वितीय का भी होना चाहिए।

कवि हरिषेण द्वारा उद्धृत करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के स्तम्भलेख से यह स्पष्ट है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम (वाकाटक महाराजा) को कौशाम्बी के युद्धक्षेत्र में पराजित किया। समुद्रगुप्त का समय ई० सन् ३३५ से ३७५ के आसपास का माना जाता है और रुद्रसेन प्रथम का समय ई० सन् ३४४ से ३४८ माना गया है।<sup>१</sup>

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के जामाता रुद्रसेन द्वितीय के सिंहासनासीन होने का समय ई० सन् ३७५ मान लिये जाने पर पृथ्वीसेण प्रथम का समय स्वतः ही ई० सन् ३४८ से ३७५ तक का सिद्ध हो जाता है। इन तथ्यों से वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति का शासनकाल ३६ वर्ष उसके पुत्र प्रवरसेन का ६० वर्ष, रुद्रसेन प्रथम का ४ वर्ष और पृथ्वीसेण प्रथम का शासनकाल २७ वर्ष का तथा इन चारों वाकाटक बंधुओं का कुल मिलाकर ई० सन् ३७५ तक १२७ वर्ष का शासनकाल सिद्ध होता है। इस प्रकार ३७५ में से १२७ घटाने पर वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के राज्यसिंहासनारूढ होने का समय ई० सन् २४८ प्रमाणित होता है। गुप्तवंश के संस्थापक श्री गुप्त का शासनकाल ई० सन् २४० से २८० तक का और भाराशिव राजवंश के चौथे राजा त्रयनाग का शासनकाल ई० सन् २४५ से २५० तक का अनुमानित किया जाता है। ऐसी स्थिति में विन्ध्यशक्ति गुप्तवंश के प्रथम राजा श्रीगुप्त और भाराशिव वंश के चौथे राजा त्रयनाग का समकालीन सिद्ध होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राधाकुमुद मुकर्जी ने भी विन्ध्यशक्ति का लगभग यही समय अनुमानित किया है।<sup>२</sup>

विन्ध्यशक्ति ने कांचनका (बुंदेल खण्ड) में अपनी राजधानी स्थापित की और ई० सन् २४८ से २८४ तदनुसार वीर नि० सं० ७७५ से ८११ तक के ३६ वर्ष के शासनकाल में अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। इसके शासनकाल का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

### वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (प्रवीर)

विन्ध्यशक्ति की मृत्यु के पश्चात् वीर नि० सं० ८११ में प्रवरसेन कांचनका के राजसिंहासन पर बैठा। वीर नि० सं० ८११ से ८७१ तक के अपने ६० वर्ष

<sup>१</sup> The first of these kings was Rudradeva who is identified with Rudrasena I Vakataka (A.D. 344-48) and who must have been deprived of the eastern part of his territory between Juma & Vidua, i. e. Bundelkhand.

[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 23]

Thus we may assume a period of 150 years at the least for the reigns of the four kings from Vindhyashakti I to Vindhyashakti II and the date A. D. 250 for the foundation of Vakataka I dynasty by Vindhyashakti.

[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 43]

के शासनकाल में प्रवरसेन ने अनेक विजय अभियान किये और भारत के सुविशाल भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने ४ अश्वमेध किये<sup>१</sup> और अपने आपको सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट् घोषित किया। भारशिवों ने लम्बे समय तक कुषाणों के साथ युद्धरत रहकर भारत को विदेशी दासता से मुक्त किया। अपनी उन महान् विजयों के उपलक्ष में भारशिवों ने जो दश अश्वमेध किये, इससे यही प्रतीत होता है कि उन्होंने भारत से कुषाण शासन का पूर्णतः उन्मूलन कर दिया। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जाता है कि प्रवरसेन के समक्ष विदेशी शक्तियों के साथ संघर्ष करने का कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ और उसने भारशिवों, अन्य राजाओं एवं गणराज्यों के साथ युद्धरत रहकर उन पर विजय प्राप्त की। प्रवरसेन के बड़े पुत्र गौतमीपुत्र का भारशिव वंशी राजा भवनाग की पुत्री से विवाह हुआ। पुराणों में प्रवरसेन के ४ पुत्र होने का उल्लेख है।<sup>२</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन से पहले ही उसके बड़े पुत्र गौतमी पुत्र की मृत्यु हो गई, जिसके परिणामस्वरूप प्रवरसेन का पौत्र रुद्रसेन (प्रथम) अपने दादा के पश्चात् वाकाटक साम्राज्य का अधिकारी बना। प्रवरसेन के शेष तीन पुत्र भी अन्य राज्यों के अधिकारी बने।

### रुद्रसेन प्रथम

ऊपर बताया जा चुका है कि रुद्रसेन (प्रथम) का ई० सन् ३४४ से ३४८ तक केवल ४ वर्ष ही शासन रहा। रुद्रसेन को अपने दादा से कांचनका का विशाल साम्राज्य और मातामह भवनाग से पुरिका का राज्य मिला था। समुद्रगुप्त ने इसे युद्ध में परास्त किया<sup>३</sup> और इस प्रकार वाकाटक साम्राज्य के भग्नावशेषों पर गुप्त साम्राज्य का निर्माण हुआ। रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् हुए वाकाटक वंश के अनेक राजा गुप्त साम्राज्य के करद रहे।

वाकाटक वंश के राजाओं का शासनकाल इस प्रकार है :-

१. विन्ध्यशक्ति प्रथम	ई० सन् २४८ से २८४
२. प्रवरसेन प्रथम (गौतमीपुत्र)	" " २८४ से ३४४
३. रुद्रसेन प्रथम (भारशिवराज भवनाग का दौहित्र)	" " ३४४ से ३४८
४. पृथ्वीषेण प्रथम	" " ३४८ से ३७५
५. रुद्रसेन द्वितीय (चंद्रगुप्त द्वितीय का जामाता)	" " ३७५ से ३९५
६. दिवाकरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	" " ३९५ से ४०५
७. दामोदरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	" " ४०५ से ४१५
८. प्रवरसेन द्वितीय	" " ४१५ से ४३५

<sup>१</sup> यस्यन्ति वाजपेयैश्च, समाप्तवरदक्षिणैः । ... ॥३७४॥

[वायुपुराण, अध्याय ९९]

<sup>२</sup> ...तस्य पुत्रास्तु चत्वारो, भविष्यन्ति नराधिपाः ॥३७४॥

[बही]

<sup>३</sup> समुद्रगुप्त की विजयों का हरिषेण द्वारा तैवार करवाया गया इसाहाबाद स्थित स्तम्भसेल।

९. नरेन्द्रसेन	” ”	४३५ से ४७०
१०. पृथ्वीषेण द्वितीय	” ”	४७० से ४८५
११. देवसेन	” ”	४८५ से ४९०
१२. हरिषेण	” ”	४९० से ५२०

वाकाटकों की वरसगुल्म शाखा :-

१. विन्ध्यशक्ति	५. प्रवरसेन द्वितीय
२. प्रवरसेन प्रथम	६. (अज्ञात नामा)
३. सर्वसेन	७. देवसेन
४. विन्ध्यसेन (विन्ध्यशक्ति द्वितीय)	८. हरिषेण

२० आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह - वाचनाचार्य

२४. आर्य सिंह - युगप्रधानाचार्य

आचार्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह वाचनाचार्य हुए । आपकी श्रमण-दीक्षा नन्दीसूत्र स्थविरावली के अनुसार अचलपुर में हुई । आचार्य देवद्वि ने नन्दीसूत्र की स्थविरावली में 'बंभगदीवगसीहे' इस पद से आपको ब्रह्मद्वीप का सिंह एवं कालिकश्रुत की व्याख्या करने में अस्यन्त निपुण, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त करने वाला बताया है ।

आर्य सिंह के नाम के साथ ब्रह्मद्वीपक विशेषण से आचार्य देवद्वि ने सिंह नाम के अनेक मुनियों से आर्य सिंह को भिन्न बताने के लिए इन्हें 'ब्रह्मद्वीप का सिंह' इस नाम से अभिहित किया है । ब्रह्मद्वीप शब्द को देख कर सहज ही ब्रह्मद्वीपिकी शाखा की स्मृति हो सकती है और ऐसा अनुमान होना भी स्वाभाविक है कि आर्य सिंह ब्रह्मद्वीपिका शाखा के मुनि होंगे । किन्तु ज्यों ही इनका रेवतीनक्षत्र के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध और देवद्वि द्वारा कथित वाचकपदधरों का ध्यान आता है, तब विचार आता है कि ये आर्य सिंह वाचकवंश के ही विशिष्ट आचार्य होने चाहिये । क्योंकि युगप्रधान परम्परा में रेवतीमित्र के शिष्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का नहीं अपितु सिंह का उल्लेख मिलता है । कल्प स्थविरावली में स्थविर आर्य धर्म के शिष्य आर्य सिंह का नाम अवश्य उपलब्ध होता है । यदि उन्हें ब्रह्मद्वीपिकी शाखा के आचार्य मान कर स्कन्दिलाचार्य का गुरु माना जाय तो समय का मेल बैठ सकता है । परन्तु नन्दीसूत्र की चूणि, वृत्ति' आदि में स्कंदिल को स्पष्ट रूप से वाचक आर्य सिंह के शिष्य के रूप में मान्य किया है ।

सम्भव है ब्रह्मद्वीपकसिंह का वाचनाचार्यकाल भी वीर नि० की ८ वीं शताब्दी का अन्तिम काल रहा हो । दुष्यमाकालश्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार युग-प्रधान आचार्य सिंह का काल इस प्रकार मान्य किया गया है :-

१. ब्रह्मद्वीपके निर्वर्त-प्रसिद्ध वकी देवी से बहून्धरनिर्वर्तककवः ताव वन्दे सिद्धवाचकनिष्पान्  
स्कीन्वसावावापि । [मन्वी स्थविरावली, हरिभद्रावली, भा० ३३]

वीर नि० सं० ७१० में जन्म, १८ वर्ष पश्चात् ७२८ में दीक्षा, २० वर्ष सामान्य साधु-पर्याय और ७८ वर्ष युगप्रधानकाल पूर्ण कर वीर नि० सं० ८२६ में स्वर्गवास ।

वाचक आर्य सिंह को युगप्रधान सिंह से भिन्न मानने पर आर्य स्कंदिल का कार्यकाल २६ वर्ष अधिक होता है जबकि युगप्रधान आर्य सिंह को ही वाचक आर्य सिंह मानने से आर्य स्कंदिल का कार्यकाल वीर नि० सं० ८२६ में आता है । इतिहास के विशेषज्ञ ज्ञान् तथ्यों को ध्यान में लेकर निर्णय करें कि वाचक आर्य सिंह और युगप्रधान आर्य सिंह भिन्न आचार्य हैं अथवा एक ।

### २०. गणाचार्य मानतुंग

आचार्य मानदेव के पश्चात् आचार्य मानतुंग बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं । ये वाराणसी के ब्रह्मक्षत्रिय श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र बताये गये हैं । उस समय वाराणसी में नग्न जैन मुनियों का आगमन हुआ । मानतुंग उनका उपदेश सुन कर भोगवासना से विरक्त हुए । मुनि चास्कीर्ति ने मानतुंग की इच्छा देख कर माता-पिता की अनुमति से उसे मुनिधर्म में दीक्षित किया और दीक्षान्तर मानतुंग का नाम महाकीर्ति रखा । कहा जाता है कि मुनि महाकीर्ति को अपनी बहिन द्वारा कमण्डलु के जल में असावधानी से रहे हुए जलीय जन्तु दिखाये जाने पर प्रेरणा हुई और उन्होंने आचार्य अजीतसिंह के पास श्वेताम्बरी दीक्षा स्वीकार की ।

एक बार राजा हर्ष ने मयूर और बाण की विद्वत्ता एवं चमत्कारपूर्ण भक्ति को देख कर आचार्य मानतुंग को सादर निमन्त्रित किया । मन्त्री के आग्रह पर शासन-प्रभावना का सुअवसर जान कर आचार्य मानतुंग राजभवन पधारे । महाराज हर्ष ने भी अभ्युत्थानपूर्वक अभिवादन कर कहा — “महात्मन् ! भूमण्डल पर ब्राह्मण कितने अतिशयसम्पन्न हैं । एक ने सूर्य की आराधना से अपने अंग का कुष्ठ रोग मिटा दिया जब कि दूसरे ने (बाण ने) चण्डिका की उपासना से कटे हाथ पैर पुनः प्राप्त कर लिये । यदि आपकी भी शक्ति हो तो कुछ चमत्कार बताइये ।”

राजा की बात सुन कर आचार्य मानतुंग ने कहा — “भूपाल ! हम गृहस्थ नहीं हैं, जो धन, धान्य, पुत्र, कलत्र आदि के लिये राजरंजन आदि किया करें । परन्तु शासन का उत्कर्ष ही हमारा कार्य है ।”

मुनि की बात सुन कर राजा ने कहा — “इनको बेड़ियों से जकड़ कर अन्धेरे कोठों में बन्द कर दिया जाय ।”

राजपुरुषों ने ४४ लोहमय बन्धनों से आचार्य मानतुंग को जकड़ कर अन्धेरे कमरों में बन्द कर ताले लगा दिये । आचार्य मानतुंग ने बिना किसी प्रकार के क्षोभ के एकाग्र मन से भगवान् श्री ऋषभदेव की स्तुति रूप भक्तामर स्तोत्र की रचना प्रारम्भ की । स्तोत्र के ४४ श्लोक पूरे होते-होते ताले और

कमरों के द्वार स्वतः ही खुल गये और आचार्य मानतुंग के सभी बन्धन कट गये। बन्धन-मुक्त आचार्य पूर्वाचल से उदीयमान भास्कर की तरह राजसभा में जा उपस्थित हुए।<sup>१</sup>

इस प्रकार मानतुंगसूरि के त्याग-तप और प्रतिभा के चमत्कार से प्रभावित राजा हर्ष आपका परम भक्त बन गया। आचार्य मानतुंग ने भी वीतराग-मार्ग का उपदेश सुना कर अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। उनके द्वारा निर्मित “भक्तामरस्तोत्र” आज भी जैन समाज में बड़ी ही श्रद्धा-भक्ति के साथ घर-घर में गाया जाता है।

“भयहरस्तोत्र” भी आचार्य मानतुंग की रचना मानी जाती है। चिरकाल तक जैनशासन का उद्योत कर अपने सुयोग्य शिष्य गुणाकर को आचार्य पद पर नियुक्त कर सलेखनापूर्वक आप वीर नि० सं० ७५८ में स्वर्गस्थ हुए।

तपागच्छ पट्टावली में बताया गया है कि आचार्य मानतुंग के पश्चात् क्रमशः (२१) श्री वीरसूरि, (२२) श्री जयदेवसूरि, और (२३) देवांनन्दसूरि गणगाचार्य हुए।

इन आचार्यों का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होने के कारण यहां इनकी नामावली मात्र प्रस्तुत की गई है।

### गुप्तप्रधानाचार्य आर्य सिंह के काल में गुप्त राजवंश का अम्युदय

पुण्यभूमि भारत को विदेशी शासकों की दासता से उन्मुक्त करने का जो देशव्यापी अभियान भारशिवों ने प्रारम्भ किया था, उसमें उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। भारशिवों द्वारा प्रारम्भ किये गये स्वातन्त्र्य-संग्राम को वाकाटक राजवंश ने और अधिक व्यापक बनाया और उनके पश्चात् गुप्त राजवंश ने उसे अन्तिम रूप से सम्पन्न कर अफगानिस्तान, काश्मीर, नेपाल, आसाम और बंगाल से लेकर समुद्रपर्यन्त समस्त दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों तक भारत की चप्पा-चप्पा भूमि को एक सुदृढ़ शासनसूत्र में बांधकर सुविशाल गुप्त साम्राज्य की संस्थापना की।

सभी इतिहासकारों एवं पाश्चात्य विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गुप्त साम्राज्य के समय में भारत ने चहुंमुखी प्रगति की। इतिहासकारों का

<sup>१</sup> स्वयमुद्घटिते द्वारयन्त्रे संयमसंयतः।

सदानुच्छ्रुत्वाः श्रीमानुच्छ्रुत्वालयपुबंभौ ॥१४१॥

[प्रभावक चरित्र, पृ० ११६]

कतिपय कथाकारों द्वारा यह उल्लेख किया गया है कि आचार्य मानतुंग को एक के धन्दर एक करके ४४ कोटरियों में भ्रमल-भ्रमल ४४ ताले लगा कर बन्द किया गया। आचार्य मानतुंग आदिनाथस्तोत्र के एक-एक श्लोक की रचना करते गये और कोटरियों के ताले व द्वार क्रमशः स्वतः ही खुलते गये। राजा हर्ष का समय वीर निर्वाण की १२वीं शताब्दी है। हर्ष की मृत्यु ई० सन् ६४८ में हुई। ऐसी स्थिति में आचार्य मानतुंग हर्ष के सम-कालीन नहीं हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावक चरित्रकार ने यहाँ राजा का नाम उल्लेख करने में खलना की है।



इस विषय में भी मतैक्य है कि गुप्त राजवंश का आदि संस्थापक श्रीगुप्त था। श्रीगुप्त के सत्ताकाल को निश्चित रूप से निर्णीत करने वाले अभिलेखादि अभी तक भारत में उपलब्ध नहीं हुए हैं। ई० सन् ६७२ में इत्सिंग नामक एक चीनी यात्री भारत में आया। उसके भारत यात्रा के विवरण श्रीगुप्त के सत्ताकाल पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। इत्सिंग ने अपने भारत-भ्रमण के विवरण में ई० सन् ६६० में लिखा है कि ५०० वर्ष पूर्व श्रीगुप्त ने चीनी तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिये मृगशिखावन के समीप एक मन्दिर का निर्माण करवा उसके व्यवहार को बहन करने के लिये २४ गाँव प्रदान किये। इत्सिंग ने लिखा है कि मृगशिखावन नालन्दा से पूर्व में ५० स्टेग (अनुमानतः २५० मील) दूर, गंगा नदी के किनारे पर स्थित है। नालन्दा को इत्सिंग ने महाबोधि से उत्तर-पूर्व में ७ स्टेग (लगभग ३५ माइल) दूरी पर अवस्थित बताया है।

इत्सिंग के उपरिलिखित उल्लेखानुसार मगधराज श्रीगुप्त का समय ई० सन् १६० के आसपास का और उसके राज्य की सीमा नालन्दा से आधुनिक मुम्बई तक होना अनुमानित किया जाता है। श्रीगुप्त के सत्ताकाल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार राधाकुमुद मुकर्जी का अभिमत है कि गुप्त राजवंश के सम्पूर्ण शासनकाल पर गहराई से विचार करने पर श्रीगुप्त का सत्ताकाल ई० सन् १६० के स्थान पर ई० सन् २४० से २८० तक का अनुमानित किया जाता है। क्योंकि श्रीगुप्त के शासनकाल से ५०० वर्ष पश्चात् जनश्रुति के आधार पर एक विदेशी द्वारा उल्लिखित समय में थोड़ा फरक आना अवश्यम्भावी है।

गुप्त महाराजा किस जाति अथवा वंश के थे - इस प्रश्न का समुचित समाधान गुप्त सम्राटों के किसी भी अभिलेख से नहीं होता। बाकाटक महाराजा रुद्रसेन द्वितीय की महारानी प्रभावती गुप्ता (चन्द्रगुप्त : द्वितीय : विक्रमादित्य की पुत्री) के पूना के ताअपत्रीय अभिलेख में गुप्त राजाओं का 'धारण' गोत्र बताया गया है।<sup>१</sup>

गुप्तवंश के आदि संस्थापक श्रीगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। इतिहासज्ञों द्वारा इसका शासनकाल वीर नि० सं० ८०७ से ८४६ (ई० सन् २८०-३१६) अनुमानित किया जाता है पर इसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वीर नि० सं० ८४६ में गुप्त संवत् प्रचलित किये जाने की ऐतिहासिक घटना को दृष्टि में रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ८४६ से कुछ वर्ष पहले ही इसका देहावसान हो चुका था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासनकाल में श्री घटोत्कचगुप्त नामक बैशाही का शासक (भुक्ति-अधिकारी) था। उसके नाम के मुद्रालेख प्राप्त हुए हैं।

<sup>१</sup> The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 11

<sup>२</sup> बाकाटक नृपति विद्याकरसेन और दामोदर-प्रवरसेन की माता एवं अभिभाषिका का पूना का ताअपत्रीय अभिलेख।

श्री घटोत्कचगुप्त वस्तुतः महाराजा घटोत्कच का पश्चाद्वर्ती कुमारामात्य माना या न कि गुप्त राजाओं के वंशवृक्ष का महाराजा ।<sup>१</sup>

गुप्त नृपति घटोत्कच के सम्बन्ध में उसके नामोल्लेख के अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता ।

## २१ (२५) आर्य स्कन्दिल-वाचनाचार्य

वाचक वंश परम्परा में आर्य स्कन्दिल बड़े प्रभावक और प्रतिभाशाली आचार्य हो गये हैं । उन्होंने अति विषम समय में श्रुतज्ञान की रक्षा कर जो शासन की सेवा की है, वह सदा जैन-इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों से लिखी जाती रहेगी । हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आर्य स्कन्दिल का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

“मथुरा के ब्राह्मण मेघरथ और ब्राह्मणी रूपसेना के यहाँ आपका जन्म हुआ । गर्भकाल में माता ने चन्द्र का स्वप्न देखा अतः पुत्र का नाम सोमरथ रखा गया । आपके माता-पिता प्रारम्भ से ही जैन धर्मावलम्बी थे ।

एक बार ब्रह्मद्वीपक आचार्य सिंह विहारक्रम से मथुरा पधारे । उनके धर्मोपदेश को सुनकर सोमरथ ने वैराग्य भाव से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । गुरु ने दीक्षा के समय आपका नाम स्कन्दिल रखा । मुनि स्कन्दिल ने अपने गुरु आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह की सेवा में निरत रहते हुए एकादशांगी एवं पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया । आर्य सिंह ने स्कन्दिल को सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया । तदनुसार आर्य सिंह के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य स्कन्दिल को संघ द्वारा वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किया गया ।”

कल्प स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल को काश्यप गोत्रीय आर्य धर्म का शिष्य बताया गया है । स्कन्दिल और स्कन्दिल को एक मानकर कुछ लेखकों ने स्कन्दिलाचार्य को काश्यप गोत्रीय आर्य सिंह के शिष्य आर्य धर्म का शिष्य बताया है, जबकि नन्दीसूत्र-स्थविरावली में उल्लिखित वाचक आर्य स्कन्दिल रेवतीनक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह के अन्तेवासी माने गये हैं ।

हिमवन्त स्थविरावली में भी यही आर्य ब्रह्मद्वीपक सिंह स्कन्दिलाचार्य के गुरु माने गये हैं । इन्हीं ब्रह्मद्वीपकसिंह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिल नामक दो प्रमुख शिष्य थे । आचार्य परम्पराओं को गहराई से देखने पर प्रतीत होता है कि आर्य सिंह नाम के अनेक आचार्य हुए हैं । पहले आर्यवज्र के गुरु सिंह गिरी । दूसरे आर्य धर्म के गुरु काश्यपगोत्रीय आर्य सिंह । इनके गुरु का नाम भी आर्य धर्म बताया गया है । तीसरे रेवती नक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपक सिंह । समान नाम वाले इन तीन आचार्यों में वस्तुतः दो आर्य सिंह आर्य मुहूर्ती की परम्परा के हैं, जबकि तीसरे आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह रेवतीनक्षत्र के शिष्य और आर्य महागिरि की

<sup>१</sup> The 'Gupta Empire', Radhakumud Mukerji, p. 12.

परम्परा के आचार्य माने गये हैं। हिमवन्त स्थविरावली भी डमी बात की पुष्टि करता है।

सम्भव है आर्य समित द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मद्वीपिक शाखा से भिन्न ये कोई तत्प्रदेशवर्ती साधु-समुदाय के प्रमुख साधु रहे हों। पट्टावली और परम्परा लेखक स्वयं भी कितनी ही जगहों पर पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाये इसलिये अनेक स्थानों पर नामसाम्य के कारण एक का परिचय उन्होंने दूसरे के साथ जोड़ दिया है, जिससे कतिपय स्थलों पर विपर्यास भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

स्कन्दिलाचार्य का कार्यकाल वीर नि० सं० ८२३ से ८४० के आस-पास का प्रायः सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया गया है पर स्थविरावलीकार ने वि० सं० १५३ मे आचार्य स्कन्दिल द्वारा मथुरा में साधु-समुदाय को एकत्रित करने का उल्लेख किया है, जो स्थविरावली में उद्धृत गन्धहस्ती के विवरणकाल को बताने वाली गाथाओं से भी बाधित होता है। आचार्य गन्धहस्ती ने स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध से विक्रम सं० २०० में आचारांग का विवरण पूर्ण किया, इस प्रकार का उल्लेख हिमवन्त स्थविरावली में उद्धृत गाथाओं में किया गया है। संभव है लिपिदोष अथवा दृष्टिदोष 'विक्रमार्कस्य त्रिंशताधिक त्रिपंचाशत संवत्सरे' इस पद को— 'विक्रमार्कस्यैकशताधिक त्रिपंचाशत संवत्सरे—' समझ लिया गया हो। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम प्रति से निर्णय किया जा सकता है। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर नि० सं० ८२३ के पश्चात् का मानने पर ही आगे के घटनाक्रम की निर्विरोध संगति बैठ सकती है। मेरुतुंग की विचारश्रेणी में भी आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० सं० ८२३ ही दिया हुआ है। मेरुतुंग ने स्पष्ट लिखा है कि विक्रम से ११४ वर्ष पश्चात् आर्य वज्रस्वामी हुए और आर्य वज्रस्वामी से २३६ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए।<sup>१</sup> वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् चला और उससे ३५३ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० सं० ८२३ ठीक बैठता है।

यह समय बड़ा ही विषम समय था। एक ओर सौराष्ट्र में बौद्धों और जैनों के बीच संघर्ष चल रहा था तो दूसरी ओर मध्य भारत में हूणों के साथ गुप्तों का भयंकर युद्ध चल रहा था। उसी विषम समय में १२ वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा और उस दीर्घकालीन दुष्काल ने भयंकर संघर्षों से पूर्ण उस संक्रान्ति-काल की विभीषिका को और अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार के संकटपूर्ण समय में जैन मुनियों और विशेषतः श्रुतधरों की संख्या घटते घटते अति न्यून रह गई। फलतः आगम-विच्छेद की स्थिति आ चुकी थी। इस प्रकार के अति विकट समय में सुभिक्ष होने पर वी० नि० सं० ८३० से ८४० के मध्यवर्ती किसी समय में स्कन्दिल सूरि ने उत्तर-भारत के मुनियों को मथुरा में एकत्रित कर आगम

<sup>१</sup> यतः श्री विक्रमात् ११४ वर्षे वज्रस्वामी, तदनु २३६ वर्षेः स्कन्दिलः.....।

[मेरुतुंगीया विचारश्रेणी]

वाचना की। जैसा कि एक प्राचीन गाथा में कहा गया है:— “दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर आर्य स्कन्दिलसूरि ने श्रमणसंघ को मथुरा में एकत्रित कर अनुयोग प्रारम्भ किया।”<sup>१</sup>

आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान में आगमों की वाचना हुई और अनुयोग व्यवस्थित किया गया, जो आज भी संघ में प्रचलित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रबल प्रमाण के रूप में नन्दी-स्थविरावलो की निम्नलिखित गाथा पर्याप्त है:—

जेसिमिमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अइडभरहम्मि ।  
बहुनयरनिगयजसे, से वंदे खंदिलायरिए ॥३३॥

अर्थात्—जिनके द्वारा संगठित-सुव्यवस्थित अनुयोग (आगमपाठ) आज भी भरतक्षेत्र में प्रचलित है, उन महान् यशस्वी आर्य स्कन्दिल को प्रणाम करता है।

इस गाथा की टीका करते हुए मलयगिरि ने लिखा है:—

“स्कन्दिलाचार्य के समय में दुष्काल के प्रभाव से बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। उस भयंकर दुर्भिक्ष के समय में साधुओं को आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गई। इससे अपूर्व सूत्रार्थ-ग्रहण एवं पठित का परावर्तन प्रायः नष्ट हो चुका था। बहुत सा अतिशययुक्त श्रुत भी इस काल में विनष्ट हो गया तथा परावर्तन न हो सकने के कारण अज्ञ-उपांगगत श्रुत भी पूर्ण रूप में नहीं रहा।

जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त होने पर सुभिक्ष हुआ तो मथुरा में स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में श्रमणसंघ ने एकत्र मिलकर आगम-वाचना प्रारम्भ की। जिस-जिस स्थविर को जो-जो श्रुतपाठ स्मरण था, उसे सुन-सुन कर आगमों के पाठ को स्कन्दिलाचार्य ने सर्वानुमति से सुनिश्चित किया। इस प्रकार कालिक-श्रुत और पूर्वगत को सम्यग् अनुसन्धान के पश्चात् सुव्यवस्थित किया गया।

मथुरा में यह संघटना हुई इसलिए इसको माथुरी वाचना कहते हैं और यह उस समय के युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य को मान्य थी एवं अर्थरूप से उन्होंने ही शिष्यों को उसका अनुयोग दिया था इसलिए वह स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग कहलाता है।

दूसरे आचार्यों का कहना है कि दुर्भिक्ष से कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ.....केवल अनुयोग करने वाले सभी प्रमुख आचार्य दुर्भिक्ष के समय में काल के ग्रास बन चुके थे। केवल एक स्कन्दिलाचार्य

<sup>१</sup> दुर्भिक्षम्मि पण्ट्ठे, पुणारवि मिलित्त समणसंघामो ।

मिहुराए अणुओगो, पवईयो खंदिलो सूरि ॥

[पट्टावली समुच्चय, परिशिष्ट]

ही बचे रह गये थे अतः उन्होंने दुर्भिक्ष के अन्त में मथुरा में पुनः अनुयोग (साधुओं को सूत्रार्थ का अध्यापन) प्रारम्भ किया ।<sup>१</sup>

कहा जाता है कि १२ वर्षीय दुष्काल में भिक्षा न मिलने के कारण कितने ही जैन मुनि वैभारपर्वत तथा कुमारगिरि पर अनशन कर स्वर्गवासी हो गये । दुष्काल के पश्चात् जब धार्मिक स्कन्दिल ने मथुरा में जैन मुनियों की महती सभा आयोजित की तो उस समय स्थविर मधुमित्राचार्य और धार्मिक गन्धहस्ती प्रमुख १२५ निर्ग्रन्थ उसमें उपस्थित थे । उन निर्ग्रन्थों के स्मृतिपटल पर अंकित अवशिष्ट कष्टस्थ पाठों को मिला कर आचार्य गन्धहस्ती आदि की सम्मति से धार्मिक स्कन्दिल ने ११ अर्गों का संकलन किया । वे ही सूत्र माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुए । यह भी कहा जाता है कि मथुरा निवासी ओस वंशीय श्रावक पोलाक ने गन्धहस्ती के विवरण सहित उन सूत्रों को ताड़पत्रादि पर लिखा कर मुनियों को प्रदान किया ।<sup>२</sup>

जिस समय मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम-वाचना हुई, लगभग उसी समय में दक्षिण के श्रमणों को एकत्रित कर आचार्य नागार्जुन ने भी वल्लभी में एक आगम-वाचना की । इस प्रकार के उल्लेख 'कहावली', 'योगशास्त्र प्रकाश' और 'ज्योतिषकरण्डक' आदि में उपलब्ध होते हैं ।

दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् मथुरा और वल्लभी में हुई दोनों आगम-वाचनाओं का उल्लेख करते हुए भद्रेश्वरसूरि ने अपने ग्रन्थ 'कहावली' में लिखा है कि मथुरा में विशाल आगमज्ञान के धनी स्कन्दिल नाम के आचार्य और वल्लभी में नागार्जुन नामक आचार्य थे । दुष्काल के समय में उन महान् विरक्त आचार्यों ने साधुओं को दूर-दूर के देशों में भेज दिया । उस संकटकाल को किसी न किसी

<sup>१</sup> धर्मायमनुयोगोऽर्द्धभारते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलभाष्नामाचार्याणां सम्बन्धी ? उच्यते, इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्ती ..... द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि तत्र चैवं ये महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थानुस्मरणश्रुत-परावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः । श्रुतमपि चातिशायिप्रभूतमनेशत् । अंगोपांगादिगतमपि भावतो विप्रणष्टम् । तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मथुरापुत्रि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसत्त्वेनैकत्र मिलित्वा यो यत् स्मरति स कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वश्रुतं च किञ्चिदनुसंधाय धटितं, यतश्चैतन्मथुरापुत्रि संघटितं इयं वाचना "माथुरी"— श्यमिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमतता तरेव चार्थतः शिष्य-बुद्धि प्रापितेति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते । अपरे पुनरेवमाहुः न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशादनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म । केवलमस्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म । ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुत्रि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति वाचना माथुरीति व्यप-दिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति ।" [नन्दीसूत्र, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५१ (२)]

<sup>२</sup> मथुरानिवासिना श्रमणोपासकबरेण ओसवंशविभूषणेन पोलाकाभिषेन तरलकलमपि प्रवचनं गच्छतिःकृतबिबरलोपेतं तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्यः स्वाध्यायार्थं समर्पितम् ।

[हिमवन्त स्थविरावली]

प्रकार बिताकर सुकाल होने पर वे साधु पुनः मिले। स्वाध्याय करते समय उन्होंने अनुभव किया कि जो कुछ उन्होंने पहले अध्ययन किया था, वह आगमज्ञान अनेक स्थलों की विस्मृति के कारण खंडित हो गया है। कहीं श्रुतज्ञान विनष्ट न हो जाय, इस विचार से उन दोनों आचार्यों ने आगमों का उद्धार करना प्रारम्भ किया। जो पूरी तरह स्मरण था, उसको उसी प्रकार रख लिया गया और जो-जो स्थल विस्मृति के कारण नष्ट हो चुके थे, उनको पूर्वापर सम्बन्ध से सूत्रों के अर्थानुसार पुनः सुसंगठित किया गया।<sup>१</sup>

वाचनाभेद का कारण बताते हुए कहावलीकार ने लिखा है कि — 'मथुरा और वल्लभी में पृथक्-पृथक् हुई आगम-वाचनाओं में आगमों का उद्धार करने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन मिल नहीं सके। उनका स्वर्गवास हो गया। इसलिये उनके द्वारा उद्धरित सिद्धान्तों में समानता होने पर भी कहीं-कहीं पर जो वाचनाभेद रह गया था, वह वैसा ही बना रहा। पापभीरु पश्चाद्-वर्ती आचार्यों ने उसे नहीं बदला। फलस्वरूप विवरणकारों ने भी 'नागार्जुनीयाः पुनः एवं कथयन्ति' इस प्रकार के उल्लेख से वाचनाभेद सूचित किया।'<sup>२</sup>

योगशास्त्र की वृत्ति में भी उपरोक्त दोनों वाचनाओं का उल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य ने दुष्प्रमाकाल के प्रभाव से जिनवचन को नष्टप्राय समझकर पुस्तकों में लिखा।<sup>३</sup>

इसी प्रकार ज्योतिषकरण्डक की टीका में भी मथुरा और वल्लभी में हुई वाचनाओं तथा उन दोनों वाचनाओं में परस्पर वाचना-भेद होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विस्मृत सूत्र एवं अर्थ को याद करके व्यवस्थित करने में वाचनाभेद हो जाना अवश्यम्भावी है।<sup>४</sup>

<sup>१</sup> अथि मथुराउरीए सुयसमिद्धो, खन्दिलो नाम सूरि तह बलहीनयरीए नागज्जुणो नाम सूरि । तेहिं य जाए बरिसीए दुक्काले निव्वउ भावओ वि कुट्टिकाऊण पेसिया दिसोदिंसि साहवो गमिउं च कइवि दुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सअर्यायति ताव खंडुसुकडीहूयं पुव्वाहियं । तओ मा सूयविच्छिन्ती होइति पारदो सूरिहि सिद्धन्तुदारो । तत्थवि जं न वीसरियं तं तहेव संठवियं पम्हुट्टाणो उण पुव्वावाराउंत सुतत्यासुसारओ कया संघटणा । [कहावली, २६८ (अप्रकाशित)]

<sup>२</sup> परोपरासंपन्नमेलावा य तस्समयाओ खंडिलनागज्जुणायरिया कालं काउं देवलोयं गया तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथमवि वायणभेओ सो य न चालिओ पच्छिमैहि । तओ विवरणकारेहि वि "नागज्जुणीया उण एवं पढंती" ति समुस्सिगिया तहेवायाराइसु । [वही]

<sup>३</sup> जिनवचनं च दुष्प्रमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य-प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम् । [योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७]

<sup>४</sup> इह हि स्कंदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्प्रमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनायिकं सर्वमप्यनेशत् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत् । तद्यथा एको बलभ्यामेको मधुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदः न काचिदनुपपत्तिः ।

[ज्योतिषकरण्डक टीका]

आगमज्ञान को नष्ट होने से बचाकर आर्य स्कन्दिल ने जिन-शासन की प्रमूत्य सेवा के साथ-साथ मुमुक्षुओं, तत्त्वजिज्ञासुओं एवं साधकों का जो असीम उपकार किया है, उसके लिये जिन-शासन में प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ उनका स्मरण किया जाता रहेगा ।

आगमवाचना की समाप्ति के पश्चात् कितने वर्ष तक आर्य स्कन्दिल आचार्य पद पर रहे, यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, केवल अनुमानित काल ही बताया जा सकता है । सम्भव है आप वीर नि० सं० ८४० के आसपास किसी समय में स्वर्गाधिकारी हुए हों । आपने अन्तिम समय में अनशन एवं समाधिपूर्वक मञ्जुरा नगरी में प्राणीत्सर्ग किया ।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन आगमवाचनाओं के पश्चात् परस्पर मिल नहीं सके, इसी कारण दोनों वाचनाओं में रहे हुए पाठ-भेदों का निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका ।

### २२ (२६) हिमवन्त क्षमाश्रमण-वाचनाचार्य

आर्य स्कन्दिल के पश्चात् आर्य हिमवान् वाचनाचार्य हुए । आपके जन्म, दीक्षा आदि का स्पष्ट काल-निर्देश उपलब्ध नहीं होता । केवल नदीसूत्रस्थ स्थविरावली से आपका थोड़ा सा परिचय प्राप्त होता है । नदी-स्थविरावली में आचार्य वेवडि ने आर्य हिमवन्त की स्तुति करते हुए कहा है :-

ततो हिमवन्तमहन्तविक्रमे धिइपरक्कममण्णते ।

सज्झायमण्णतधरे, हिमवन्ते वंदिमो सिरसा ॥३३॥

कालिअसुयअणुअोगस्स, धारए धारए य पुब्बाणं ।

हिमवन्तस्समासमणे, वंदे सागज्जुणायरिए ॥३४॥

स्थविरावलीकार आर्य देववाचक ने आर्य हिमवन्त के विक्रम की हिमालय पर्वत से तुलना की है । इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चूणिकार ने बताया है :-  
“जिनका यज्ञ उत्तर में हिमवान् पर्वत व शेष दिशाओं में समुद्र तक फैला हुआ है और जो विशिष्ट सामर्थ्ययुक्त, कुल, गण एवं संघ के हित में प्रतिवादियों पर विजय प्राप्त करने एवं विशिष्ट लब्धिसम्पन्न होने के कारण महान् पराक्रमशाली तथा परीषह-उपसर्ग-सहन एवं तपविशेष में भी धृति-बल से महान् थे, उन महान् आचार्य हिमवन्त को प्रणाम करता हूँ । जैसा कि कहा है :-

“महंत विक्रमो कहं - उच्यते सामर्थ्यतो महन्ते वि कुलगण-संघ पओयणो तरति स्सि - परप्पवादिजयणा वा विशेषबललब्धिसंपन्नतरणतो वा महंत विक्रमो, अहवा परिसहोवसणे तवविसेसे वा प्पित्तबलेण परक्कमंतो महंतो । अण्णंत गम पण्णत्तंणतो अण्णंतधरो तं महंत हिमवन्त णाम वंदे ।”

देवर्द्धि द्वारा प्रणीत उपरोक्त गाथाओं से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हिमवन्त क्षमाश्रमण कई पूर्वों के जाता और समर्थ व्याख्याता-वाचनाचार्य थे। उन्होंने दूर-दूर के क्षेत्रों में विचरण कर जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार एवं प्रसार किया था। प्रचारक्षेत्रों में आने वाले कष्टों को भी उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सहन किया।

नंदीसूत्र-स्थविरावली के अनुसार आचार्य हिमवान् (हिमवन्त) स्कन्दि-लाचार्य के शिष्य माने गये हैं। आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एवं स्वर्गगमन विषयक स्पष्ट उल्लेख के नहीं होते हुए भी इतना तो कहा जा सकता है कि आप बीर की नौवीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल के आचार्य होने चाहिए।

### २३ (२७) आचार्य नागार्जुनः वाचनाचार्य

हिमवन्त क्षमाश्रमण के पश्चात् आर्य नागार्जुन वाचनाचार्य हुए। कहा जाता है कि नागार्जुन ढंक नगर के क्षत्रिय संग्रामसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुव्रता था। नागार्जुन के गर्भ में आते ही माता ने स्वप्न में सहस्र फन वाला नाग देखा, इसलिये बालक का नाम नागार्जुन रखा गया। कहा जाता है कि नागार्जुन ने बाल्यावस्था में ही एक सिंह को मार गिराया और प्रारम्भ से ही प्रबल साहिंसी होने के कारण पर्वतों-की गुफाओं एवं जंगलों में घूम-घूम कर वनवासी महात्माओं के संसर्ग से वनस्पतियों, जड़ियों और रसायनों द्वारा रस बनाना सीख लिया। उसने वचपन से ही पादलिप्तसूरि के अद्भुत चमत्कारों की बात सुन रखी थी अतः एक दिन आचार्य पादलिप्तसूरि के पास उनके किसी शिष्य के माध्यम से उसने एक रसकूपिका पहुंचाई। आचार्य ने रसकूपिका में भरे रस को एक पत्थर पर उंडेल दिया और उसमें अपना प्रसवण भर उसे नागार्जुन के पास लौटा कर कहला भेजा कि वह अपनी रसकूपिका सम्हाल ले। नागार्जुन ने भी उस रसकूपिका को पत्थर पर दे मारा। कूपिका को पत्थर पर पछाड़ते ही पत्थर में अग्नि प्रदीप्त हो उठी और वह पत्थर तत्काल स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो गया। यह देख कर नागार्जुन दंग रह गया और पादलिप्तसूरि के पास जाकर उनके चरणों में गिर गया।

उसी दिन से नागार्जुन आचार्य पादलिप्त का परम भक्त बन कर उनके पास रहने लगा। नागार्जुन इतना प्रतिभावान् था कि वह पादलिप्तसूरि के पैरों के लेप को सूँघ-सूँघ कर १६० वनस्पतियों के गुण-धर्म आदि से परिचित हो गया। लेप द्वारा वह स्वयं गगन-विचरण की प्रक्रिया को मूर्त रूप देने लगा। पर एक वस्तु की अपूर्णता के कारण वह कुछ दूर तक आकाश में गमन करने के पश्चात् पृथ्वी पर गिर पड़ता। यह जान कर आचार्य ने उसकी सूक्ष्म बौद्धिक प्रगल्भता से प्रसन्न हो कर कहा—“वत्स ! तुम्हारा औपध्विज्ञान निस्मदेह गन्धेयणापूर्ण है पर इसमें कुछ गुरुगम्य ज्ञान की न्यूनता रह गई है।”



आचार्य ने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा—“इस ओषधि को चावल के धोवन और कांजी में घिस कर लेप किया जाय तो गगन में सरलता से गमन किया जा सकता है।” तदनन्तर आचार्य ने उसे यह भी शिक्षा दी कि वह सदा भौतिक विभूतियों के प्रलोभनों से दूर रह कर अन्तर्मन से वीतराग मार्ग का आराधन करता रहे, इसी में उसकी आत्मा का सच्चा कल्याण निहित है।

उपरोक्त उल्लेख में, नागार्जुन ने पादलिप्त से विद्या ग्रहण की, यह तो बताया गया है, पर उसने कब और किसके पास दीक्षा ग्रहण की यह नहीं बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि आ० पादलिप्त का समय वीर नि० सं० ५६७ से पूर्व का है।

नंदीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य हिमवन्त के पश्चात् नागार्जुन का उल्लेख किया गया है। तदनुसार चूणिकार जिनदास द्वारा नंदी चूणि में और हिमवन्त स्थविरावली के अंत में स्पष्ट रूप से आपको हिमवन्त का शिष्य बताया गया है। आचार्य देवद्वि ने नन्दी स्थविरावली में निम्नलिखित शब्दों में आपकी स्तुति की है :—

मिउमद्दव संपन्ने, आणुपुम्बिवायगत्तणं पत्ते ।

ओहमुयसमायादे, नागज्जुणवायए (गं) वदे ॥३६॥

अर्थात्—जो सरलता आदि मनोज्ञ गुणों से संपन्न हैं और जिन्होंने क्रमशः योग्यता का विकास करते हुए वाचक पद की प्राप्ति की, उन ओषधुत् अर्थात् विधिमार्ग की समाचरणा करने वाले वाचक नागार्जुन को वन्दन करता हूँ। गाथा में प्रयुक्त ‘आणुपुम्बि’ पद वस्तुतः विशिष्ट रूप से विचारणीय है, जो अनुक्रम से वाचक पद की प्राप्ति बताता है। यहाँ अनुक्रम शब्द से श्रुतग्रहण का क्रम और लघुबुद्ध की अपेक्षा बताई गई है। चूणिकार ने भी इसी अर्थ को मान्य किया है।<sup>१</sup>

आनुपूर्वी से वाचक पद प्राप्त करने की बात का अभिप्राय तत्कालीन आचार्य परम्परा के क्रम को देखने से जाना जा सकता है। इतिहास के प्राप्त उल्लेखानुसार आर्य स्कन्दिल, आर्य हिमवान् और आर्य नागार्जुन समकालीन और वाचनाचार्य माने गये हैं। नन्दी स्थविरावली में नागार्जुन को हिमवन्त समाश्रमण का पश्चाद्वर्ती आचार्य बताया गया है, जब कि युगप्रधान पट्टावली और दुष्कालाकाल श्रमणसंघस्तोत्र में नागार्जुन को आर्य सिंह के पश्चात् युगप्रधान माना गया है। निर्दिष्ट काल और क्रम को ध्यान में रख कर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ८२६ में युगप्रधान आर्य सिंह के स्वर्गवास काल में आर्य स्कन्दिल को विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न और बड़ा मान कर वाचक पद प्रदान किया गया और उसी समय युवा मुनि नागार्जुन युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

<sup>१</sup> “आणुपुम्बि”—सामाह्वादि सुतग्गहणेणं कालतो व पुरिम परियायत्तणेण पुरिसाणुपुम्बितो व वाचगत्तणं पत्तो । [नंदी चूणि, (पुण्य विजयजी) पृ० १० गा० ३५]

फिर वीर सं० ८४० के लगभग वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के स्वर्गस्थ होते ही ज्येष्ठ मुनि हिमवान् को वाचनाचार्य नियुक्त किया और हिमवान् के स्वर्ग गमनानन्तर अन्य वाचनाचार्य के अभाव में नागार्जुन को ही युगप्रधानाचार्य के कार्यभार के साथ वाचनाचार्य का पद भी सम्भला दिया गया। ऐसा मानने पर आर्य स्कन्दिल आर्य हिमवान् और नागार्जुन के समकालीन और वाचनाचार्य होने की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

नन्दी सूत्र के चूर्णिकार जिनदास ने भी अनुक्रम से वाचक पद प्राप्त करने का यही अर्थ—‘पुरिसागुपुव्विओ’ पद से मान्य किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है—“सामायिक आदि श्रुतग्रहण से तथा काल की अपेक्षा पूर्वकालीन दीक्षा-पर्याय और पुरुषानुक्रम से नागार्जुन ने वाचक पद प्राप्त किया।”

चूर्णिकार के इस विवेचन से हमारे अनुमान की स्पष्टतः पुष्टि हो जाती है। आर्य स्कन्दिल के प्रकरण में बताया गया है कि जब मथुरा में आर्य स्कन्दिल ने आगम-वाचना की, उस समय नागार्जुन ने भी दक्षिणापथ के श्रमण संघ को एकत्र कर वल्लभी में वाचना की। नागार्जुन द्वारा आनुपूर्वी से वाचकपद प्राप्त करने की बात को मानने पर इसकी संगति भी बराबर बैठ सकती है।

कुछ लेखकों ने नागार्जुन को योगरत्नावली, योगरत्नमाला और अनेकाक्षरी आदि ग्रन्थों का रचनाकार माना है। ये दोनों नागार्जुन एक हैं या भिन्न-भिन्न, यह कहना सरल नहीं। विशेषज्ञ इस पर अनुसन्धान करें, यह अपेक्षित है।

युगप्रधान-यन्त्र के अनुसार युगप्रधानाचार्य नागार्जुन के जीवन की प्रमुख घटनाओं का कालक्रम इस प्रकार है :—

“नागार्जुन का वीर नि० सं० ७९३ में जन्म, १४ वर्ष की अवस्था अर्थात् वीर नि० सं० ८०७ में दीक्षा, १९ वर्ष तक सामान्य साधुपर्याय का बालन करने के पश्चात् वीर नि० सं० ८२६ में युगप्रधानपद और ७५ वर्ष तक आचार्य पद से जिनशासन की सेवा करने के पश्चात् वीर नि० सं० ९०४ में १११ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास।

### आर्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन के समय के राजवंश

आर्य नागार्जुन के युगप्रधानत्वकाल में गुप्तवंश के महाराजा घटोत्कच का वीर नि० सं० ८४६ तक शासन रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त वंश के राज्य का विस्तार किया।

### चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कच की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त (प्रथम) मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ। इतिहासविदों का अनुमान है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का शासनकाल ई० मन् ३१९ से ३३५, तदनुसार वीर नि० सं० ८४६ से ८६२ तक रहा। इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य विद्वान् फ्लोड ने चन्द्रगुप्त द्वारा

प्रचलित किये गये गुप्त संवत्, नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव (प्रथम) के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के घनिष्ठ सम्बन्ध, वल्लभी संवत् तथा शक संवत् आदि के मन्दभं में गहन विचार करने के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि ई० सन् ३१६ से ३२० में चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने महाराजाधिराज का विरुद्ध धारण कर गुप्त सम्बत् चलाया। ऐसी स्थिति में सद्दत्त ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण करने से पहले चन्द्रगुप्त को राजा बनने के पश्चात् महाराजाधिराज का पद धारण करने के लिये मगध के अड़ोस-पड़ोस के राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में कम से कम चार-पांच वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। एक राजा सिंहासन पर आसीन होते ही तत्काल महाराजाधिराज का विरुद्ध धारण करने योग्य विशाल भूभाग को कुछ ही मास में अपने अधिकार में कर ले - यह संभव प्रतीत नहीं होता। इन तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने का समय ई० सन् ३१६-२० से कुछ वर्ष पूर्व अनुमानित करना ही युक्तिसंगत होगा। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम लिच्छवियों<sup>१</sup> की सहायता से महाराजाधिराज बना।

चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने अभिलेखों में गुप्तपुत्र के स्थान पर अपने आपको 'लिच्छवी दौहित्र' लिखा है। इतिहासज्ञों ने समुद्रगुप्त के राज्यसिंहासनासीन होने का समय ई० सन् ३३५ अनुमानित किया है। स्मृति-ग्रन्थों में २५ वर्ष की वय राजा बनने के योग्य वय मानी गयी है। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जा सकता है कि सन् ३०८ के आसपास चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ पाणिग्रहण और ई० सन् ३१० के लगभग कुमारदेवी की कुक्षि से समुद्रगुप्त का जन्म हुआ होगा। इन सब घटनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ३१० से ३१५ के मध्य-वर्ती किसी समय में चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक हुआ अथवा उसने युवराज काल में ही अपने पिता के राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया होगा।

<sup>१</sup> भगवान् महावीर की विद्यमानता में मगध के आसपास लिच्छवियों के शक्तिसाली गणतन्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव द्वितीय के अभिलेख में भी उल्लेख किया गया है कि उसके पूर्वज सुषुष का जन्म (ईसा की पहली शताब्दी में) पाटलिपुत्र में हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों के साम्राज्यविस्तार के परिणामस्वरूप लिच्छवियों की शक्ति क्षीण हो गई और इनका कोई छोटा-मोटा राज्य ही अवशिष्ट रह गया हो। लिच्छवी क्षत्रियों की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम ने राज्य-विस्तार किया - इस ऐतिहासिक तथ्य से यह अनुमान किया जाता है कि मगध और मगध के अड़ोस-पड़ोस में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में भी लिच्छवी क्षत्रियों की घनी आबादी रही होगी।

लिच्छवी क्षत्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् लिच्छवियों की सहायता से चन्द्रगुप्त ने राज्य विस्तार किया। इस तन्त्र की पुष्टि अयोध्या, बर्दमान् और गया में मिले सम्राट् समुद्रगुप्त के उन सिक्कों से होती है, जिन पर दुल्हन को अंगूठी भेंट करते हुए दूल्हे का चित्र, एक और चन्द्रगुप्त, दूसरी और 'लिच्छवयः' और 'कुमार देवी' अंकित है।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने किन-किन राजाओं एवं राज्यों को जीतकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस सम्बन्ध में कोई अभिलेख अथवा अन्य प्रकार की कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होती। पुराणों में समुच्चय रूप से गुप्तों के राज्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। वायुपुराण में गंगा के निकटवर्ती प्रदेशों, प्रयाग, साकेत और मगध राज्य पर गुप्त राजाओं के आधिपत्य का उल्लेख है।<sup>१</sup> इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का उपरोक्त राज्यों पर अधिकार रहा।

इतिहासज्ञों ने श्रीगुप्त को गुप्त राजवंश का और चन्द्रगुप्त प्रथम को गुप्त साम्राज्य का संस्थापक माना है। इलाहाबाद में एक स्तम्भ अभिलेख सुरक्षित है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग पर मौर्य सम्राट् अशोक का अभिलेख और उसके नीचे समुद्रगुप्त का अभिलेख उट्टंकित है। समुद्रगुप्त के इस स्तम्भ-लेख में उट्टंकित कुछ पंक्तियों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वाधिक सुयोग्य समझकर अपनी राज्यसभा के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए कहा - "अब तुम इस पृथ्वी की प्रतिपालना करो।" इस स्तम्भ-अभिलेख में इस बात का भी संकेत है कि चन्द्रगुप्त के इस निर्णय को सुनकर उसकी राज्यसभा स्तम्भित रह गई और समुद्रगुप्त के भाइयों (तुल्यकुलजाः) के मुख पीले पड़ गये।<sup>२</sup> स्तम्भलेख में खुदे - "घमण्ड पश्चात्ताप में पलट गया।" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त को राज्य सिंहासन पर अधिकार करने में गृहकलह का भी सामना करना पड़ा। काच - (काचगुप्त) द्वारा प्रचलित घटिया सोने के सिक्कों से यह अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रगुप्त के बड़े भाई काच ने कुछ समय के लिये पाटलिपुत्र के सिंहासन पर अधिकार कर लिया था जिसे थोड़े समय पश्चात् ही समुद्रगुप्त ने अपदस्थ कर दिया।

चन्द्रगुप्त प्रथम का इससे अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता।

<sup>१</sup> अनुगङ्गं प्रयागं च, साकेतं मगधांस्तथा ।

एताञ्जनपदान् सर्वान्, भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजा ॥३८३॥

[वायुपुराण, अनुषङ्गपाद, अ. ६६]

<sup>२</sup> आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिण्डुनैः रुत्कर्णितं रोमभिः,  
सभ्येषूच्छ्रमिषु तुल्यं कुलजम्लानाननीदीक्षितः ।

स्नेहव्याकुलितेन वाष्पगुरुणा तत्स्वेक्षिणा चक्षुषा,  
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्यं बभुवर्षमिति ॥४॥

कोशाम्बी का अशोक एवं समुद्रगुप्त का स्तम्भलेख, जो इलाहाबाद में विद्यमान है।

## आर्य नागार्जुन के समय के राजवंश गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त पराक्रमांक

यह पहले बताया जा चुका है कि परम भट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने अपने जीवन के संध्याकाल में अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वतः सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।<sup>१</sup> चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गृहकलह का बड़े साहस के साथ दमन कर वीर नि० सं० ८६२ तदनुसार ई० सन् ३३५ में समुद्रगुप्त मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ। वामन ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम चन्द्रप्रकाश उल्लिखित किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि संभवतः समुद्रगुप्त का दूसरा नाम चन्द्रप्रकाश हो और समुद्र तक अपने राज्य का विस्तार करने के पश्चात् अपने राज्य की सीमाओं के समुद्र द्वारा सुरक्षित होने के अर्थ को द्योतित करने के लिये उसने अपना नाम 'समुद्रगुप्त' रखा हो।

इलाहाबाद के स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त द्वारा दिग्विजय में विजित राजाओं, उनके राज्यों, गणराज्यों एवं तत्कालीन अनेक घटनाओं का उल्लेख है। कौशाम्बी में जिस स्तम्भ पर अशोक ने अपना अभिलेख उत्कीर्ण करवाया, उसी स्तम्भ पर नीचे की ओर समुद्रगुप्त का यह अभिलेख उसके सांघिविग्रहिक कवि हरिषेण ने सुन्दर गद्यपद्यमयी संस्कृत भाषा में अंकित करवाया। सांघिविग्रहिक पद के साथ साथ हरिषेण कुमारामात्य और महादण्डनायक के पदों पर भी कार्य करता था।<sup>२</sup>

ऐतिहासिक दृष्टि से इलाहाबाद का यह स्तम्भलेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। इससे भारत की तात्कालिक भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति के साथ-साथ उस समय के राजाओं, राज्यों की सीमाओं, गणराज्यों आदि का विशद परिचय मिलता है। इस स्तम्भलेख का आज के शोधयुग की दृष्टि से सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अंकित घटनाचक्र की एक भी तिथि का उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इसमें समुद्रगुप्त के विजयोल्लेखों के साथ साथ तिथियां भी उद्धृत की जातीं तो यह स्तम्भलेख ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता और इससे उलभी हुई अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में बड़ी सहायता मिलती। इस कमी के रहते हुए भी इस स्तम्भलेख का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है।

<sup>१</sup> ऋद्धपुर के शिलालेख में उत्कीर्ण - "तत्पादपरिष्ठीत" पद से भी इलाहाबाद के स्तम्भलेख में उद्धृत इस बात की पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बड़े पुत्रों से समुद्रगुप्त को अधिक सुयोग्य समझकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। [सम्पादक]

<sup>२</sup> एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारक पदानां दासस्य ... महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सांघिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहितायास्तु।

[अशोक स्तम्भ के अधोभाग पर अंकित समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्थित स्तम्भलेख]

महादण्डनायक, कुमारामात्य और सांघिविग्रहिक पदों को धारण करने वाले अमात्य कवि हरिषेण द्वारा उद्धृत कित करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के उपरोक्त स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त के तीन विजयाभियानों का विवरण दिया गया है। इस अभिलेख में समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ का विवरण नहीं दिया गया है अतः यह प्रमाणित होता है कि अश्वमेध के आयोजन से पूर्व ही यह स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण करवाया गया।

प्रथम विजय अभियान - समुद्रगुप्त द्वारा आर्यावर्त में किये गये उसके सर्व-प्रथम विजय अभियान का विवरण देते हुए इस स्तम्भलेख में बताया गया है कि इस सैनिक अभियान में समुद्रगुप्त ने कलिपय राज्यों को जड़ से उखाड़ फेंका। जिन राज्यों का समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलन किया गया, उनमें अहिच्छत्र के राजा अच्युत और पद्मावती के नागवंशी राजा नागसेन के राज्य प्रमुख थे।<sup>१</sup>

द्वितीय विजय अभियान - अपने दूसरे विजय-अभियान में समुद्रगुप्त अपनी सुविशाल एवं सशक्त विजयवाहिनी के साथ दक्षिणापथ की विजय के लिये प्रस्थित हुआ। इस सैनिक अभियान में समुद्रगुप्त ने क्रमशः निम्नलिखित राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य के अधीनस्थ बनाया :-

कोशल, विन्ध्य के घने जंगलों से आच्छादित दुर्गम एवं भयावह महा-कान्तार - जहां वाकाटकों का शक्तिशाली सामन्त व्याघ्र राज्य करता था, कौराल (कोलेर भील एवं मध्यप्रदेश के वर्तमान सोनपुर जिले के आसपास का राज्य जहां मन्तराज का शासन था), पिष्टपुर (महेन्द्रगिरि का राज्य), कोट्टूरा (विजयापट्टम अथवा गंजम जिला), काञ्ची (जहां का राजा विष्णुगोप था), अवमुक्त (जहां नीलराज का राज्य था), वेगी (हस्तिवर्मन का राज्य), पलक्क (संभवतः वर्तमान नेल्लोर जिला, जहां उग्रसेन का राज्य था), देवराष्ट्र (कलिंग प्रान्तवर्ती राज्य, जहां उस समय कुबेर नामक राजा का राज्य था) और कुशथलपुर (कुशस्थली नदी का निकटवर्ती राज्य, जहां उस समय धनंजय नामक राजा का राज्य था)।<sup>१</sup>

दक्षिणापथ के उपरोक्त विजय अभियान का उल्लेख करते हुए हरिषेण ने इलाहाबाद स्थित उपरिर्चित स्तम्भलेख में यह भी बताया है कि समुद्रगुप्त ने

<sup>१</sup> उद्धेनोदितवाहुवीर्यभसादेकेन येन क्षणा -

दुग्मून्याच्युतनागसेन ...।

[इलाहाबाद स्तम्भलेख]

<sup>१</sup> तस्य विविध समरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमकवन्धो, पराक्रमांकथ परशुर-शंकुशक्तिप्रासासितोमरभिदिपायनाराचवैतस्तिकाथनेकप्रहरणविरुडा कुलब्रणशतांशोभा-समुदयोपचितकान्ततरवर्षणः कौशलक - महेन्द्र-महाकान्तारक व्याघ्रराज - कैरल कमण्ट-राजपिष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकोट्टूरकस्वामिदत्तरण्डपल्लकदमनकांचेयकविष्णुगोपावमुक्तनीलराज-वैगेयकहस्तिवर्मगाल्लकोप्रसेनदेवराष्ट्रक कुबेरकौशथलपुरकधनंजय प्रभृति सर्वदक्षिणापथ-राजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य।

[इलाहाबाद स्थित अशोक स्तम्भ के अधोभाग पर अंकित समुद्रगुप्त का लेख]

दक्षिणापथ के अभियान में अनेक राजाओं को बन्दी बनाया, अनेक राजाओं को बन्दी बनाकर पुनः मुक्त कर दिया एवं अनेक राजाओं पर कृपा कर उनका राज्य उन्हें लौटा दिया। दक्षिण-विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त के राज्य विस्तार के साथ-साथ उसके प्रताप और कोषबल की भी अपूर्व वृद्धि हुई।

तृतीय विजय अभियान - अपने द्वितीय विजय अभियान द्वारा दक्षिण-विजय के पश्चात् मगध में लौटने पर समुद्रगुप्त ने यह अनुभव किया कि उसका मगध राज्य वस्तुतः ऐसे राजाओं से घिरा हुआ है, जिनके हृदय में उसकी श्री-अभिवृद्धि सदा शूल के समान चुभती रहती है। यदि वे सब संगठित हो जायें तो किसी भी समय उसके शासन के लिये संकट के बादल बन सकते हैं।

इस संभावित संकट को सदा के लिये समाप्त कर डालने का दृढ़ संकल्प लिये उसने आर्यावर्त में दूसरी बार सैनिक अभियान किया। इस विजय अभियान में भीषण नरसंहार हुआ। लोमहर्षक युद्ध के पश्चात् समुद्रगुप्त का विजयश्री ने वरण किया। रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गरुणपति नाग, नागसेन, अच्युतनन्दी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त के राजाओं की पूर्ण पराजय हुई।<sup>१</sup>

उपरोक्त तीन विजयाभियानों में समुद्रगुप्त ने पश्चिमी शकों के अतिरिक्त भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े दुर्दान्त राजाओं को युद्ध में परास्त कर एक सावं-भौम सत्ता सम्पन्न सुविशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। उसके प्रचण्ड प्रताप से अभिभूत हो समतट (ताम्रलिप्ति से पूर्व का समुद्र-तटवर्ती प्रदेश समतात), डवाक (आसाम का डबोक क्षेत्र), कामरूप (आसाम का गोहाटी जिला), नेपाल, कर्तृपुर आदि राज्यों के राजाओं एवं मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिकादि गणराज्यों ने करप्रदानादि से समुद्रगुप्त को संतुष्ट कर उसकी अधीनता स्वीकार की।<sup>२</sup>

कवि हरिषेण ने उपरोक्त स्तम्भलेख में उद्धृत करवाया है कि देवपुत्र शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, आदि विदेशी राजा तथा सिंहल आदि द्वीपों के शासक समुद्रगुप्त की सेवा में आत्मनिवेदन करते, अपनी कन्याएं भेंट में देते तथा अपने विषय एवं भुक्ति के लिये समुद्रगुप्त की गरुडांकित राजमुद्रा के चिन्ह से युक्त आज्ञाएं मांगते रहते थे।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगरुणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मानिकायवर्तंराजप्रसभोद्धर-एणोद्धत्प्रभावमहतः, परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य....

[इलाहाबाद स्थित हरिषेण का स्तम्भलेख]

<sup>२</sup> समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिः मालवाजुनायनयौधेयमाद्रकाभीर प्राजुंसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाजाकरगुप्रणामागमनपरितोपित प्रचण्डशासनस्य.... । [वही]

<sup>३</sup> देवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सिंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपाय-नदानगरुमदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरिणान्धरय... [वही]

इलाहाबाद स्थित उपरिचर्चित स्तम्भलेख से यह प्रमाणित होता है कि समुद्रगुप्त युद्धों में सबसे आगे रहकर युद्ध करने वाला महात् योद्धा,<sup>१</sup> कवि,<sup>२</sup> संगीतज्ञ,<sup>३</sup> दयालु<sup>४</sup> और लोकोत्तर गुणों से सम्पन्न था ।<sup>५</sup>

यद्यपि इलाहाबाद स्थित उपरोक्त स्तम्भलेख में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है कि समुद्रगुप्त ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया अथवा नहीं, तथापि प्रभावती गुप्ता के पूना - दानपत्र<sup>६</sup>, स्कन्दगुप्त के अभिलेख<sup>७</sup> तथा समुद्रगुप्त के उन अश्वमेधिक सिक्कों से, जिन पर एक ओर गृध्र के सम्मुख अश्व का चित्र, दूसरी ओर महारानी का चित्र क्रमशः "अश्वमेध पराक्रमः" और "राजाधिराजःपृथिवीमवित्वा दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्यः" - इन पदों के साथ अंकित हैं, यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।

समुद्रगुप्त ने सुदूरवर्ती एवं सीमावर्ती राज्यों को विजित करने के पश्चात् पुनः उन्हें पराजित राजाओं को लौटाकर उनके साथ जो उदारतापूर्ण व्यवहार किया, उससे उसका यश चारों ओर फैल गया । शत्रुओं के प्रति इस प्रकार के सुन्दर व्यवहार से यह प्रमाणित होता है कि वह बड़ा दूरदर्शी, स्थायी शान्ति का इच्छुक और सबके साथ सच्चा सौहार्द रखने के लिये समुत्सुक था ।

समुद्रगुप्त के कुल मिलाकर आठ प्रकार के सिक्के उपलब्ध होते हैं, जो सभी विशुद्ध स्वर्ण के हैं । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि समुद्रगुप्त के शासनकाल में भारत कितना समृद्धिशाली देश था ।

अनुमान किया जाता है कि समुद्रगुप्त ने वीर नि० सं० ८६२ से ९०२ तक शासन किया ।

<sup>१</sup> (क) संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्चापकारी ।

(ख) ....परशुशरशंकुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचर्चस्तिकाद्यनेकप्रहणविरुद्धाकुत्र  
- व्रणशतांकशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ध्मणः....। [वही]

<sup>२</sup> अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं । [वही]

<sup>३</sup> निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः स्त्रीडितत्रिदशपतिगुस्तुम्बुह्नारदादेः [वही]

<sup>४</sup> ....अनेकअष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्त्यशसः.. (वही)

<sup>५</sup> सुचरितस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य,.... [वही]

<sup>६</sup> ...तस्य सत्पुत्रो महाराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिविदोहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः.....

[प्रभावती गुप्ता का पूना - दानपत्र]

<sup>७</sup> .....न्यायगतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिविदोहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रः....

[प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन खण्ड २]



(२८) आर्य गोविन्द - वाचनाचार्य

आर्य गोविन्द एक विशिष्ट अनुयोगधर और प्रसिद्ध वाचक हुए हैं। नंदीसूत्र स्थविरावली की मूल गाथाओं में आर्य गोविन्द का नाम नहीं मिलता किन्तु आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणी में नागार्जुन और भूतदित्र के बीच आर्य गोविन्द का नाम आता है। नंदीसूत्र स्थविरावली की प्रक्षिप्त दो गाथाओं में भी भूतदित्र से पूर्व आर्य गोविन्द की स्तुति की गई है।<sup>१</sup>

आर्य गोविन्द आर्य महागिरि की परम्परा के मुख्य वाचक रहे अथवा शाखान्तर के, इस सम्बन्ध में निश्चित एवं स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी इतना तो असंदिग्धरूपेण कहा जा सकता है कि आर्य गोविन्द भी तत्कालीन विशिष्ट वाचक आचार्य थे।

निशीथ चूर्णिक के ११वें उद्देशक में 'ज्ञानस्तेन' का वर्णन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है :-

गोविन्दज्जो नागो, दंसरो मुत्तट्ठ हेउ अट्ठावा ।

पावादिय उदचरगा, उदायिवधगादिगाचले ॥३६५६॥

आर्य गोविन्द के ज्ञानस्तेन होने की घटना का चूर्णिकार ने निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

“गोविन्द नामक एक बौद्ध भिक्षु ने किसी जैनाचार्य के साथ वाद में १८ बार पराजित हो चुकने पर सोचा - “जब तक इनके सिद्धान्त का स्वरूप नहीं जान लिया जायगा तब तक इनको नहीं जीता जा सकेगा।” यह विचार कर गोविन्द ने जैन सिद्धान्तों का अध्ययन करने की अपनी आन्तरिक इच्छापूर्ति मात्र के लिये एक जैनाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। सामायिक आदि श्रुत का अभ्यास करते हुए उन्हें जब शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने गुरु को नमस्कार करते हुए निवेदन किया - “भगवन् ! मुझे व्रत ग्रहण करवाइये।”

गुरु ने कहा - “वरस ! तुम्हें तो पंच महाव्रत ग्रहण करवाये जा चुके हैं, अब तुम्हें और कौनसे व्रत दिये जायं ?”

इस पर गोविन्द ने गुरु के समक्ष अपनी व्याज-दीक्षा का वास्तविक वृत्तान्त कह सुनाया। आचार्य ने अनुग्रह कर उन्हें पुनः व्रत ग्रहण करवाये।

समय पा कर वही आर्य गोविन्द आचार्य-पद के अधिकारी हुए। निशीथ चूर्णिकार ने “गोविन्द नियुक्ति” का उल्लेख किया है। इससे आर्य गोविन्द नियुक्ति-कार भी प्रमाणित होते हैं। आज न तो गोविन्द-नियुक्ति ही उपलब्ध है और न इस प्रकार का कोई उल्लेख ही कि वह नियुक्ति किस आगम पर थी। ऐसी स्थिति में प्रमाणाभाव के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य गोविन्द ने

<sup>१</sup> गोविन्दाणं पि नमो, अणुअणो विउत्तभारणियाणं ।

निष्णं संतिवयाणं, पक्खणे दुत्तमिदाणं ॥

[नंदीस्थविरावली]

किस आगम पर नियुक्ति की रचना की थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्य गोविन्द ने सम्भवतः आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर नियुक्ति की रचना की हो। शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में ५ स्थावर और त्रसकाय का जीवत्व प्रमाणित किया गया है। चूणिकार ने भी—“तेण एण्णदिय जीव साहरणं, गोविदनिज्जुत्ती कया” — इस वाक्य द्वारा एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व को स्पष्टतः प्रमाणित करने वाली नियुक्ति का निर्माण करना बताया है। स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार नियुक्ति के प्रणेता आचार्य गोविन्द अन्य कोई नहीं पर जिनको नंदीसूत्र में अनुयोगधर के रूप में और युगप्रधानपट्टावली में २८वें युग-प्रधान होने के साथ माथुरी वाचना के प्रवर्तक आर्य स्कन्दिल से चौथे युगप्रधान बताया गया है, वे ही होने चाहिये। मुनि पुण्यविजयजी ने आर्य गोविन्द का सत्ताकाल विक्रम की ५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध बताया है।<sup>१</sup>

आठ दिनकृत्य की गाथा सं० ६० में जिनशासन को अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व की व्याधि का विरेचन बताया है। इसी की टीका एवं बालबोध में क्रमशः आर्य शय्यभव, जिलातीपुत्र और गोविन्द वाचक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।<sup>२</sup>

इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि आर्य गोविन्द अपने समय के महान् प्रभावक वाचनाचार्य हुए हैं।

### २४. (२६) आर्य भूतदिन्नः वाचनाचार्य

आर्य नागार्जुन के पश्चात् वाचनाचार्य आर्य भूतदिन्न हुए। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता फिर भी नन्दी-स्थविरावली और दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार आपका परिचय इस प्रकार है:—

नन्दी-स्थविरावली में आर्य भूतदिन्न को वाचक नागार्जुन का शिष्य बताया गया है। पर 'दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र' में इनको युगप्रधानाचार्य माना गया है। स्थविरावली में आचार्य देववाचक द्वारा निर्दिष्ट परिचय के अनुसार—“आप मृदु-मनोहर उपदेश से भव्यजनों के वल्लभ और अप्रमत्त भाव से दयाधर्म के परिपालक एवं प्रचारक थे। आचारांग आदि ग्रंथ और अंगबाह्य श्रुत के विशिष्ट अभ्यास के कारण आप भारतवर्षीय तत्कालीन मुनियों में प्रमुख माने जाते थे। संघ-संचालन की आपकी कुशलता बताते हुए देववाचक ने कहा है कि जिन्होंने अनेकों योग्य साधुओं को स्वाध्याय और वैयापृत्य आदि कार्यों में नियुक्त किया, ऐसे नागेन्द्र-कुल-वंश की प्रीति करने वाले और उपदेश द्वारा भक्तों के

<sup>१</sup> बृहत्कल्पमाध्य की प्रस्तावना, भा० ६, पृ० १६-२०

<sup>२</sup> आठदिनकृत्य और आत्मनिन्दामावना, बालबोध, पृ० १८

भवभय को दूर करने वाले आचार्य भूतदिन को वन्दन करता है ।” आपके शरीर की कान्ति तपाये हुए कंचन के समान गौरवर्ण बताई गई है ।<sup>१</sup>

नदी स्थविरावली की प्रक्षिप्त मानी जाने वाली गाथा में आपको तप-संयम में नित्य अनिर्विन्न, पंडितजन सम्मान्य और संयमविधिज्ञ कह कर वन्दन किया गया है । इससे भी आपकी श्रुतज्ञान के साथ गंभीर संयमनिष्ठा प्रकट होती है ।<sup>२</sup>

देववाचक द्वारा निर्दिष्ट इस प्रकार के विस्तृत परिचय से यह सहज ही प्रकट होता है कि आचार्य भूतदिन के प्रति देववाचक देवद्विगणी के हृदय में अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी । संभव है आचार्य भूतदिन देवद्वि की गुरु-परम्परा में हों और उनके साथ देवद्वि का साक्षात्कार भी हुआ हो ।

युगप्रधान यन्त्र के अनुसार यदि इन्होंने भूतदिन को युगप्रधान भी माना जाय तो उनका कार्यकाल इस प्रकार बताया गया है :-

वीर नि० सं० ८६४ में जन्म, ८८२ में दीक्षा । वीर नि० सं० ९०४ में युगप्रधान पद और ९८३ में स्वर्गगमन । इस प्रकार आप १८ वर्ष गृहवास, २२ वर्ष सामान्य साधुपर्याय और ७९ वर्ष युगप्रधान पद को भोग कर ११९ वर्ष की पूर्ण आयु में समाधिपूर्वक स्वर्ग के अधिकारी हुए ।

### आर्य नागार्जुन एवं भूतदिन के समय का राजवंश चन्द्रगुप्त द्वितीय

वीर नि० सं० ९०२-९४१ (ई० सन् ३७५-४१४)

वीर नि० सं० ९०२ में समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विशाल गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना । एरण की प्रशस्ति में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अनेक पुत्रों एवं पौत्रों के होने का उल्लेख है ।<sup>३</sup> जिस प्रकार समुद्रगुप्त के पिता (चन्द्रगुप्त प्रथम) ने अपने अनेक पुत्रों में से छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वतः सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था उसी प्रकार समुद्रगुप्त

<sup>१</sup> तबियवरकण्ण चंपग-त्रिमउल कमलगढभसरिवञ्जे ।

भवियजणहियय दइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ४३ ॥

अड्डभरहप्पमाणे, बहुविहसज्जाय सुमुणियपहाणे ।

अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥

भूयहियपगम्भे, वंदेहं भूयदिनमायरिए ।

भवभयदुञ्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ४५ ॥ [नंदीसूत्र स्थविरावली]

<sup>२</sup> ततो य भूयदिनं, निच्चं तवसंजमे अनिर्विण्णं ।

पंडियजणसम्माणं, वंदामो संजमविहिण्णुं ॥ ४२ ॥ [नंदी स्थविरावली]

<sup>३</sup> ....(धीर) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुक्ला, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता ।

....(यस्य)....गृहेषु मुदिता बहुपुत्र पौत्रसंक्राणणी कुलवधूः व्रतिनी निर्विष्टा ॥

[एरण की प्रशस्ति]

ने भी अपने अनेक पुत्रों में से चन्द्रगुप्त द्वितीय को सभी दृष्टियों से सुयोग्य समझ कर उसका अपने उत्तराधिकारी के रूप में चयन किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्थित शिलालेख तथा स्कन्दगुप्त के बिहार एवं भितरी के शिलालेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए क्रमशः 'तातपरिगृहीतेन' और 'तातपरिगृहीत' - पदों के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वानों की इस धारणा के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के बीच में दो-तीन वर्ष के थोड़े से समय के लिये रामगुप्त जैसे अकर्मण्य एवं क्लीब शासक का शिथिल शासन रहा था। उपरि चर्चित तीन शिलालेखों में से प्रथम में जो 'तातपरिगृहीतेन' और शेष दो में 'तातपरिगृहीत' पद का प्रयोग चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये किया गया है, उससे निर्विवाद रूपेण यह प्रमाणित हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को स्वयं उसके पिता ने गुप्त साम्राज्य का स्वामी बनाया था।

गुप्तवंशी सम्राटों के सभी शिलालेखों एवं अभिलेखों में तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (वाकाटक नृपति रुद्रसेन द्वितीय की महारानी तथा वाकाटक नृपतियों दिवाकर सेन तथा दामोदर सेन की ई० सन् ३६५ से ४१५ तक अभिभाविका) के पूना के दानपत्र में जो गुप्त राजवंशी राजाओं की वंशावली दी गई है, उनमें रामगुप्त का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। इन सभी अभिलेखों में गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को ही उसका उत्तराधिकारी गुप्त सम्राट् बताया गया है।

समुद्रगुप्त के पश्चात् यदि रामगुप्त नामक कोई गुप्त राजा गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा होता तो कोई कारण नहीं था कि प्रभावती गुप्ता अपने पूना वाले दानपत्र में और स्कन्दगुप्त अपने भितरी के स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त के पश्चात् तथा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) से पहले रामगुप्त के नाम का उल्लेख नहीं करते। साहित्यिक उल्लेखों की अपेक्षा शिलालेख, स्तम्भलेख, ताम्रपत्राभिलेख अधिक

१ (क) सिद्धम् । सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुर्दशिसलिलास्वादितयशासो धन-  
दवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्ना-  
श्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजा-  
धिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिवीदीहित्रस्य महादेव्यां कुमार देव्यामुत्पन्नस्य  
महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः  
स्वयं चाप्रतिरथः परम भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादा-  
नुध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम भागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः  
तस्य.... [स्कन्दगुप्त का भितरी (जिला गाजीपुर उत्तरप्रदेश) का स्तम्भलेख]

(ख) .....श्री समुद्रगुप्तः तस्त्पुत्रतत्पादपरिगृहीत पृथिव्यामप्रतिरथः सर्वराजोच्छेता  
चतुर्दशिसलिलास्वादितयशासनेकगोहिरण्यकोटिसहस्रप्रद परम भागवतो महाराजा-  
धिराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुलसंभूतायां श्री महादेव्यां  
कुबेरनामायामुत्पन्नोभयकुलमूलकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजा  
श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्री दिवाकर सेन जननी श्री प्रभावति गुप्ता...।

[प्रभावती गुप्ता का पूना (महाराष्ट्र) का दानपत्र]

महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होते हैं, यह एक सर्वसम्मत निर्विवाद तथ्य है। शिलालेखों में जहाँ किसी तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हो, उसके समक्ष कम से कम किसी नाटक में किये गये उससे विपरीत उल्लेख का तो कोई महत्त्व नहीं। क्योंकि नाटकों में प्रायः अधिकांश कथावस्तु एवं पात्र कल्पित होते हैं, उनमें चरित्र चित्रण अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण और कभी-कभी वास्तविकता से कोसों दूर रहता है। ऐसी स्थिति में केवल किसी नाटक में किये गये किसी उल्लेख के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय की प्रक्रिया को अपनाया जाने लगे तो इतिहास की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायगी। उदाहरण के तौर पर यदि “कौमुदी महोत्सव” नामक नाटक में तत्कालीन जनमनरंजन के लिये किये गये उल्लेखों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अंगीकार कर लिया जाय तो लिच्छवी जाति के विशुद्ध क्षत्रियों को म्लेच्छ, लिच्छवी राजकुमारी के साथ विवाह करने वाले चण्डसेन (चन्द्रगुप्त) को पाटलीपुत्र के मीखरी राजा सुन्दर वर्मन का दत्तकपुत्र और गुप्तवंश के राजाओं को कारसकर (कृषक) मानना पड़ेगा। नाटक की दृष्टि से ‘कौमुदी महोत्सव’ का महत्त्व हो सकता है पर ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि उसमें एक राजवंश से दूसरे राजवंश को नीचा दिखाने की भावना की गंध स्पष्टतः प्रकट होती है।

कुछ विद्वानों द्वारा इसी प्रकार के ‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ नामक एक नाटक के आधार पर गुप्त सम्राटों की नामावली में समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त का नाम जोड़ने का प्रयास किया गया है।

‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ नामक नाटक ईसा की छठी शताब्दी की कृति अनुमानित की जाती है। यह नाटक मूल रूप में तो उपलब्ध नहीं होता पर उसके कतिपय उद्धरण ‘नाट्यदर्पण’ नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इसके कर्ता के विषय में भी विद्वान् अभी तक अपना कोई निश्चित अभिमत नहीं बना पाये हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः ‘मुद्राराक्षस’ नाटक का रचयिता विशाखदत्त ही इस नाटक का रचनाकार हो, पर इस अनुमान की ग्रन्थ किसी प्रकार से पुष्टि नहीं होती। विशाखदत्त ने अनेक नाटकों की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख ‘मुद्राराक्षस’ नाटक में विद्यमान है।<sup>१</sup> यदि अर्धवीन राजवंशोत्पन्न विशाखदत्त को ‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ नाटक का रचनाकार मान लिया जाय तो इस सन्देह की पुष्टि होती है कि भारत के एक सुविख्यात एवं प्रतिष्ठित राजवंश को जनसाधारण की निगाहों में गिराने की भावना लिये किसी राजवंश का निहित स्वार्थ भरा हाथ इस नाटक की रचना के पीछे अदृष्ट रूप से अवश्य रहा होगा।

‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ नाटक के जो थोड़े बहुत उद्धरण उपलब्ध हैं, उनसे केवल निम्नलिखित सूचना प्राप्त होती है—

१. अपने प्रजाजनो के आश्वारतन हेतु रामगुप्त ने अपनी महारानी ध्रुवदेवी को शकराज की सेवा में समर्पित करना स्वीकार किया।

<sup>१</sup> कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विषो वा ।— मुद्राराक्षस ४।३

२. कुमार चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष में शकराज के पास जाने और उसे मारने की पूरी तैयारी की और इष्टसिद्धि हेतु प्रस्थान किया ।<sup>१</sup>
३. ध्रुवदेवी के कक्ष के समीप से जाते हुए चन्द्रगुप्त ने राहु द्वारा प्रस्त चन्द्रकला के समान दुःख, करुणा और शोक से म्लान, अपने पति के नपुंसक तुल्य आचरण के कारण आत्यन्तिक लज्जा, कोप, विषाद, भय एवं घृणा से प्रपीड़िता ध्रुवदेवी को देखा ।<sup>२</sup>

ईसा की सातवीं शताब्दी के कवि बाण ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित्र' में सौराष्ट्र के पर-स्त्री-लम्पट शकराज (रुद्रसिंह तृतीय) को स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मार दिये जाने का उल्लेख निम्नलिखित एक वाक्य में किया है :—

“अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत् ।”

ईसा की नौवीं शताब्दी के शंकराय नामक टीकाकार ने उपरोक्त वाक्य की टीका करते हुए लिखा है — “शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः ।” अर्थात् शक राजा ने चन्द्रगुप्त के भाई की महारानी ध्रुवदेवी को अपने पास पहुँचाने की मांग की । इस पर चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष पहिन कर स्त्री वेषधर पुरुषों को साथ ले शक राजा को मार डाला ।

ईसा की दशवीं शताब्दी के कन्नोजाधिपति यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में हिमाद्रि की पर्वतमालाओं पर किसी खस राजा के घेरे में आये हुए शर्मगुप्त नामक राजा द्वारा अपनी महारानी ध्रुवस्वामिनी को उस खस राजा को अर्पित किये जाने और वहाँ से हतोत्साहित हो लौटने का उल्लेख किया है । राजशेखर ने उस राजा की क्लेश्यता पर व्यंग कसते हुए आगे लिखा है कि षष्मुख कार्तिकेय के हिमालयवर्ती उस नगर की कामिनियाँ हिमालय पर्वत की गुफाओं में वायु के संसर्ग से निकलती हुई विविध ध्वनियों की लय के साथ ओ शर्मगुप्त ! तेरे यश के गीत गा रही हैं ।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> प्रकृतीनामाश्रयाय शकस्य ध्रुवदेवीसंप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते ।

[‘देवीचन्द्रगुप्त’ का नाट्यदर्पण] में उद्धरण]

<sup>२</sup> यथा ‘देवीचन्द्रगुप्ते’ चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह—इयमपि सा देवी तिष्ठति ।

येषा — रम्यां धारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीतां दशाम्,

तत्कालोपगतेनराहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला ।

पत्युःकलीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः ।

लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते । [वही]

<sup>३</sup> दत्त्वा रुद्रगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्,  
यस्मात् क्षण्डितसाहसो निवृत्ते श्री शर्मगुप्तो नृपः ।

तस्मिन्नेव हिमासये गुल्गुहाकोणत्बवणत्किन्नेरे,

नीयन्ते तत्र कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणाः कीर्तयः ।।

[काव्य मीमांसा, राजशेखर]

कुछ विद्वानों ने कवि की इस व्यंगोक्ति को भी ध्रुवस्वामिनी और शर्म के साथ गुप्त शब्द को देख कर तथाकथित रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के कथानक के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। हालांकि राजशेखर ने चन्द्रगुप्त द्वारा खसराज को मार कर ध्रुवस्वामिनी के लौटाने और अपनी महादेवी बनाये जाने का कोई उल्लेख नहीं किया है।

उपरिर्चित उद्धरणों के आधार पर रामगुप्त का कथानक इस प्रकार बनता है :-

“गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त के पश्चात् कायर एवं बुद्धि विहीन रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना। उस पर शकराज ने आक्रमण किया। डरपोक रामगुप्त पराजित हुआ। उसने शकराज के साथ सन्धिवार्ता की और अपनी सती साध्वी महारानी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) को शकराज की सेवा में प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया। रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त (द्वितीय) स्त्रीवेष धारण कर ध्रुवदेवी का स्वांग बनाये शकराज के शिविर में पहुँचा। कामुक शकराज ध्रुवदेवी से मिलने की उत्कण्ठा लिये ज्यों ही एकान्त कक्ष में पहुँचा त्यों ही स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने सिंह की तरह झपट कर शकराज को मौत के घाट उतार दिया। तदनन्तर अवसर पाकर चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की भी गुप्त रूप से हत्या करवा दी। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के साथ विवाह (विधवा विवाह) कर लिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना।”

मुख्यतः लोकरंजन के लिये बनाये गये नाटक ‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ में वर्णित रामगुप्त का उपरोक्त कल्पित कथानक ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों विकृत होता गया। ईसा की १२वीं शताब्दी के अरबी ग्रन्थ ‘मुजमलुतु तवारीख’ में इस कथानक ने विकृत होते-होते निम्नलिखित रूप धारण कर लिया :-

“भारत में रव्वल नामक एक राजा था। उसके छोटे भाई बरकमारिस द्वारा स्वयंवर में प्राप्त एक राजकुमारी के रूप पर मुग्ध हो रव्वल ने उसके साथ विवाह कर लिया। इस घटना के पश्चात् बरकमारिस अध्ययन में जुट गया और वह एक उच्चकोटि का विद्वान् बन गया। रव्वल के पिता के शत्रु ने आक्रमण कर रव्वल को पराजित किया। रव्वल ने अपने परिवार एवं परिजनों के साथ पर्वत की चोटी पर बने एक दुर्ग में शरण ली और शत्रु से सन्धि की प्रार्थना की। शत्रु द्वारा रखी गई सन्धि की शर्त के अनुसार रव्वल ने अपनी उस रानी और सामन्तों की पुत्रियों को शत्रु के समर्पित करना स्वीकार किया। बरकमारिस ने राजा की आज्ञा से एक चाल चली। सामन्तपुत्रों सहित स्त्रीवेष धारण कर उमने स्वयं ने रानी का और शेष युवकों ने सामन्तपुत्रियों का स्वांग बनाया। उन सबने अपने अपने परिधानों में एक एक शस्त्र छुपा लिया। बरकमारिस ने अपने स्त्रीवेषधारी सब साथियों को समझा दिया कि शत्रु राजा को मौत के घाट उतारने के पश्चात्

ज्यों ही वह विगुल बजाये, त्यों ही सब युवक विजली की तरह शत्रुओं पर टूट पड़ें। बरकमारिस और उसके साथियों को सफलता मिली। रञ्जल विजयी हुआ पर मन्त्री द्वारा बरकमारिस के प्रति सन्देह उत्पन्न करा दिये जाने के कारण वह पागल हो गया। बरकमारिस ने महल में पहुँच कर रञ्जल को मार डाला। उसने राजसिंहासन पर बैठ कर स्वयंवर में प्राप्त उस रानी से विवाह कर लिया। बरकमारिस ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार किया और उसका यश दूर-दूर तक फैल गया।<sup>1</sup>

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुए विक्रम संवत् के प्रवर्तक वीर विक्रमादित्य के सम्बन्ध में बड़ी ही विचित्र अनेक लोक कथाएं शताब्दियों से केवल भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में प्रचलित रही हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि इस्लाम की उत्पत्ति से कतिपय शताब्दियों पूर्व वीर विक्रमादित्य से सम्बन्धित साहित्य अरब में बड़ा लोकप्रिय रहा है।<sup>2</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि अरबी लेखक द्वारा लिखा गया भारत के बरकमारिस का उपरोक्त कथानक, संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित हजारों लोक कथानकों में से किसी एक कथानक का विकृत स्वरूप है। अपने बड़े भाई भर्तृहरि द्वारा अपमानित किये जाने पर विक्रमादित्य के घर से एकाकी निकलने और अनेक वर्षों तक देशविदेशों में घूमने का उल्लेख 'विक्रमचरित्र' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।<sup>3</sup>

संजन से प्राप्त राष्ट्रकूट राजा अमोधवर्ष (प्रथम) के दानपत्र (ताम्रपत्र) में भी सुनी-सुनाई किंवदन्ती के आधार पर लिखा है - "हमने सुना है कि गुप्तवंश के कलियुगी दानी एक राजा ने अपने भाई को मार कर उसके राज्य और उसकी स्त्री पर अधिकार कर लिया।"

इस प्रकार की सुनी-सुनाई, किंवदन्तियों और नाटकों पर आधारित बातों को इतिहास का रूप देना वस्तुतः इतिहास के साथ अन्याय करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। इतिहास के लब्ध-प्रतिष्ठ निष्पक्ष विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय में इस प्रकार के नाटकों को नितान्त अविश्वसनीय माना है।<sup>4</sup>

उपरोक्त तथ्यों पर निष्पक्ष दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने, तथा गुप्त सम्राटों एवं वाकाटक राजमाता प्रभावती गुप्ता द्वारा अभिलेखों में दिये गये गुप्त राजाओं के वंशवृक्ष में रामगुप्त के नाम का उल्लेख तक न होने से यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

<sup>1</sup> अबुल हसन (१०२६ ई०) द्वारा अरबी ग्रन्थ का पारसी अनुवाद। देविये - 'Elliot and Dawson, History of India, I, 110-111.'

<sup>2</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ५४८-४९

<sup>3</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ५४०

<sup>4</sup> As Sylvian Levi points out, these later historical dramas cannot be considered as trustworthy sources of the history they make for purposes of the drama. 'Mudra-rakshasa' is not considered as a reliable source of Maurya history.



ही गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर आसीन हुआ। इन दोनों सम्राटों के बीच में रामगुप्त नाम का कोई गुप्त राजा नहीं हुआ।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) बड़ा पराक्रमी एवं प्रतापी राजा हुआ है। उसने मालवा, सीराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रियों को परास्त एवं शक महाक्षत्रप सत्यसिंह के पुत्र रुद्रसिंह (तृतीय) को मौत के घाट उतार कर वीर नि० सं० ६२७ तदनुसार ई० सन् ४०० के आसपास भारत से शकों के शासन का सदा के लिये अन्त किया। शकों के राज्य का अन्त करने के कारण प्रजाजनों ने उसे शकारि विक्रमादित्य के विरुद्ध से विभूषित किया। वह बड़ा न्यायप्रिय, सच्चरित्र और विद्वान् सम्राट् था। उसने सम्पूर्ण भारत को एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासनसूत्र में बाँधा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के निम्नलिखित ७ अभिलेख अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं :-

(१) मथुरा का गु० सं० ६१ (ई० सन् ३८०) का स्तम्भलेख। (२) उदयगिरि का गु० सं० ८२ का गुहा-लेख। (३) गढ़वा का गु० सं० ८८ का शिलालेख। (४) सांची का गु० सं० ६३ का वेष्टनी पर खुदा लेख। (५) उदयगिरि का बिना तिथि का गुहा (गुहा सं० ७) लेख। (६) मथुरा का बिना तिथि का खण्डित शिलालेख, जिसमें चन्द्रगुप्त तक गुप्तवंशी राजाओं की वंशावली उद्घृतित है। (७) मेहरौली का बिना तिथि का लोह-स्तम्भलेख।

मेहरौली का लोहस्तम्भलेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें चन्द्र नामक राजा द्वारा बंगाल में शत्रुओं की सामूहिक शक्ति को पराजित किए जाने, समुद्र के सात मुखों तुल्य सात नदियों वाले प्रदेश पंजाब को पार कर बाल्हिकों को जीतने एवं विष्णु की भक्ति से प्रेरित हो विष्णुपद पर्वत पर विष्णु की ध्वजा के आरोपित किये जाने का उल्लेख है।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> यस्योद्धतं यतः प्रतीपमुरसा शत्रुन् समेस्यागतान्,  
 बंगेष्वाहवदतिनोऽभिलिखिता खगेन कीर्तियुजैः।  
 तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोजिजता बाल्हिकाः,  
 यस्याद्याप्यधिवासते जलनिधिः वीर्यानिर्लदैक्षिणैः ॥१॥  
 खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां,  
 मूर्त्या कर्मं जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षिती।  
 शान्तस्येव बने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-  
 प्राद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥  
 प्राप्तेन स्वभुजाजितं च सुचिरं चैकाग्र्यराज्यं क्षिती,  
 चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं बक्षत्रश्रियं विभ्रता।  
 तेनायं प्रलिषाय भूमिपतिना भावेन विष्णोः मतिम्,  
 प्रांशुविष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥

[चन्द्र का मेहरौली का लोहस्तम्भलेख]

मेहरोली का लोहस्तम्भलेख द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है अथवा चन्द्र नामक किसी अन्य राजा का, यह इतिहास के विद्वानों के लिये आज भी प्रश्न ही बना हुआ है। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं प्रकट करते हुए अनेक ऊहापोहों के साथ अपने-अपने अभिमतों की पुष्टि में बहुत सी युक्तियां प्रस्तुत की हैं। उन सब अभिमतों पर गहन विचार करने के पश्चात् भी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा यशस्वी विष्णुभक्त, समस्त भारत ही नहीं अपितु बाह्य देश तक अपनी विजय का डंका बजाने वाला परम प्रतापी एकराट् चन्द्र भारतीय इतिहास के क्षितिज में खोजने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत अन्य किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में यही कहना होगा कि मेहरोली का लोहस्तम्भ अभिलेख गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही है।

### आर्य भूतदिन के समय की राजनैतिक स्थिति

द्वितीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त उसका बड़ा पुत्र कुमार-गुप्त (प्रथम) विशाल गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बना। उसकी माता का नाम ध्रुवदेवी था।<sup>१</sup> कुमार गुप्त के शासनकाल के अनेक शिलालेख और दानपत्र मिलते हैं, जिनसे इसके विशाल साम्राज्य, शौर्य, शासन पद्धति, सुशासन एवं धार्मिक सहिष्णुता आदि के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इन अभिलेखों में गुप्त सं. ६६ (ई. सन् ४१५) से पूर्व का<sup>२</sup> तथा गुप्त सं. १३५ (ई. सन् ४५४) के पश्चात् का<sup>३</sup> कोई अभिलेख नहीं है अतः यह अनुमानित किया जाता है कि ई. सन् ४१४ से ४५५ तदनुसार वीर नि. सं. ६४१ से ६८२ तक कुमार गुप्त का शासन रहा। इसके चांदी के सिक्कों पर अंकित अन्तिम तिथि गुप्त सं. १३६ (वीर नि. सं. ६८२) है, इससे भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

कुमार गुप्त प्रथम के विभिन्न सिक्कों पर लालित्यपूर्ण संस्कृत भाषा के छोटे-छोटे एवं सुन्दर भिन्न-भिन्न वाक्य अंकित हैं, जो इस प्रकार हैं :-

(१) विजितावनिरवनिपतिः (पृथ्वीविजयी पृथ्वीपति) (२) महितलं जयति (सम्पूर्ण पृथ्वी का विजेता) (३) क्षितिपतिरजितो विजयी महेन्द्रसिंहो दिवं जयति (पूरी पृथ्वी का स्वामी, अविजितों का विजेता महेन्द्रसिंह स्वर्ग-विजय कर रहा है)। (४) साक्षादिव नरसिंहो सिंह-महेन्द्रो (साक्षात् नृसिंह तुल्य है सिंह-महेन्द्र) (५) युधि सिंहविक्रमः (युद्ध में सिंह के समान पराक्रमशाली),

<sup>१</sup> महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज कुमारगुप्तस्य।

[भिलसद, जिला एटा का स्तम्भलेख - प्लेट का लेख सं. १०]

<sup>२</sup> भिलसद का स्तम्भलेख [प्लेट का लेख सं. १०]

<sup>३</sup> मथुरा के गुप्त संवत् ११३ एवं गुप्त सं. १३५ के जैन अभिलेख।

[कारपस इन्स्कृपशनं इडिकेरम् भाग ३, सं. ६३]

(६) व्याघ्रवल-पराक्रमः, (७) गुप्तकुल न्योमशशी और (८) गुप्तकुलामलचन्द्रो (गुप्तवंश के निष्कलंक चन्द्र)। इन सिक्कों से स्पष्टतः विदित होता है कि कुमारगुप्त बड़ा पराक्रमी प्रतापी और लोकप्रिय सम्राट् था। यद्यपि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के समान कुमारगुप्त के विजयाभियानों एवं अश्वमेध का एक भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि उपरोक्त सिक्कों तथा इसके अश्वमेधिक सिक्के से ऐसा प्रतीत होता है कि इसने दिग्विजय करने के पश्चात् अश्वमेध किया। अश्वमेध के परिचायक सिक्के पर अश्व का चित्र, अश्व के पैरों के बीच में 'अश्वमेध', यूप, महारानी के चित्र आदि के साथ-साथ 'जयतादेव कुमार, जयति दिवं कुमारगुप्तोऽयम्' तथा 'अश्वमेधमहेन्द्रः' अंकित हैं।

कुमारगुप्त के वीर नि० सं० ६४१ से ६८२ तक के ४१ वर्ष के शासनकाल में अन्तिम ५ वर्षों को छोड़कर कोई विशेष राजनैतिक घटना के घटित होने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वीर निर्वाण सं० ६७७ के आस-पास नर्मदा नदी के तटवर्ती दक्षिणी प्रदेश की पुष्यमित्र नामक जाति ने कुमारगुप्त के साम्राज्य को उलट देने के दृढ संकल्प के साथ बड़ी शक्तिशाली विशाल सेना लेकर कुमार गुप्त पर आक्रमण किया। दोनों ओर से भीषण युद्ध हुआ। संभवतः इस संघर्ष की उत्पत्ति गुप्तों की दासता के जूड़े को उतार फेंकने अथवा महात्वाकांक्षा के लक्ष्य को लेकर हुई थी। इस सशस्त्र विद्रोह का प्रारम्भ पुष्यमित्रों ने पट्टमित्रों, दुर्मित्रों और नर्मदा घाटी के मेकल प्रदेशवासियों की सहायता से किया। इन सब जातियों का सम्मिलित कोषबल एवं सैन्यबल इतना प्रबल था कि पुष्यमित्रों को युद्ध में निरन्तर सफलताएं मिलती गईं। कुमारगुप्त की सेना के पैर उखड़ गये। पुष्यमित्रों को दृढ विश्वास हो गया कि विजयश्री उनका वरण करने ही वाली है। किन्तु जय-पराजय के उन निर्णायक क्षणों में कुमारगुप्त (प्रथम) के बड़े पुत्र राजकुमार स्कन्दगुप्त ने अपूर्व धैर्य और शौर्य के साथ स्थिति को सम्हाला। उसने नई कुमुक के साथ शत्रु सैन्य पर भीषण प्रत्याक्रमण कर पुष्यमित्रों को पराजित किया। इस प्रकार कुमारगुप्त के साम्राज्य की उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने संकट के विकट क्षणों में रक्षा की।<sup>२</sup>

तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के साथ हुए पुष्यमित्रों के युद्ध में वाकाटकों द्वारा पुष्यमित्रों की सहायता की गई होगी। इस अनुमान को वाकाटक नृपति पृथ्वीषेण (द्वितीय) के बालाघाट ताम्रपत्र से बल मिलता है। बालाघाट के ताम्रपत्र में पृथ्वीषेण (द्वितीय) ने अपने पिता नरेन्द्रसेन (ई० सन् ४३५ से ४७०) को महाराष्ट्र,

<sup>१</sup> पुष्यमित्रा भविष्यन्ति, पट्टमित्रास्त्रयोदश ॥३७३॥

मेकलायां नृपाः सप्त, भविष्यन्ति च सप्तमा ।....३७४॥

[शामुपुराण, प्र. ६६]

<sup>२</sup> विचलितकुलसहमीस्तम्भनायोघतेन, क्षितिदलक्षयनीये येन नीता त्रिशया।

समुदितबलकोष्ठान् पुष्यमित्राश्च जिस्वा, क्षितिपचरणपीठे स्वापितो वामपादः ॥४॥

[स्कन्दगुप्त का मितरी स्तम्भलेख]

कोंकण, कुन्तल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल, आन्ध्र और सम्पूर्ण विन्ध्य की तलहटी का स्वामी बताया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी दिग्विजय में इन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम वर्षों में वाकाटकों, पुष्यमित्रों, पट्टमित्रों (पट्टु-मित्रों) एवं मेकलवासियों ने स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया हो। उस सम्मिलित प्रयास को स्कन्दगुप्त द्वारा कुचल दिये जाने के अनन्तर भी वाकाटक लोग अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील एवं अवसर की प्रतीक्षा में रहे। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक नृपति पृथ्वीसेन (ई० सन् ४७० से ४८५) ने अपने वंश की खोई हुई राज्य-लक्ष्मी को पुनः प्राप्त कर “कोशलमेकलमालवाधिपत्यभ्यर्चितशासनः” की उपाधि धारण की।<sup>१</sup>

कुमारगुप्त और पुष्यमित्रों के बीच हुए उस भीषण गृहयुद्ध के कारण भारत की शक्ति क्षीण हुई। यदि यह गृहयुद्ध न हुआ होता तो हूणों को भारत पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं होता।

### २५ (३०) आर्य लोहित्य—वाचनाचार्य

आर्य भूतदिग्ग के पश्चात् आर्य लोहित्य वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आपके श्रुतज्ञान सम्बन्धी परिचय के अतिरिक्त आपका अन्यत्र और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

नन्दी स्थविरावली में आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण ने इन्हें सूत्रार्थ के सम्यक् धारक और पदार्थों के नित्यानित्य स्वरूप का प्रतिपादन करने में अति कुशल बताया है।<sup>२</sup>

दिगम्बर परम्परा में भी आर्य लोहित्य से नाम साम्य रखने वाले लोहाचार्य अथवा लोहार्य नामक अष्टांगधारी आचार्य की प्रमुख आचार्यों में गणना की जाती है।

### २६ (३१) आर्य द्रुष्यगणी—वाचनाचार्य

आर्य लोहित्य के पश्चात् आर्य द्रुष्यगणी वाचनाचार्य हुए। युगप्रधान पट्टावली में इनका परिचय नहीं मिलता। नन्दी सूत्र की स्थविरावली में इन्हें लोहित्य के पश्चात् वाचनाचार्य माना गया है।

आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण ने नन्दी स्थविरावली में तीन गाथाओं द्वारा जिन शब्दों से इनकी स्तुति की है, उससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि द्रुष्यगणी उस समय के विभिष्ट वाचनाचार्य थे और सैकड़ों अन्य गच्छों के ज्ञानार्थी श्रमण

<sup>१</sup> पृथ्वीसेन (द्वितीय) का बालघाट—ताम्रपत्र

<sup>२</sup> सुमुणियनिष्कानिष्क, सुमुणियसुतस्थधार्यं वदे।

कामापुराणकेकथा, तस्य लोहिचरणामासं ॥४६॥

[नन्दी स्थविरावली]

उनकी सेवा में श्रुतज्ञान का अध्ययन करने आया करते थे। श्रुतज्ञान के व्याख्यान में द्रव्यगणी इतने समर्थ वाचक थे कि उन्हें व्याख्यान करने में कभी शारीरिक एवं मानसिक थकान का अनुभव नहीं होता था। देवद्वि क्षमाश्रमण ने द्रव्यगणी को श्रुतार्थ की खान, प्रकृति से ही मधुरभाषी, तप, नियम, सत्य-संयम आदि गुणों के विशिष्ट साधक एवं अनुयोग में युगप्रधान बताते हुए प्रणाम किया है।<sup>१</sup>

“प्रशस्त लक्षणों से संयुक्त सुकोमल तलवों वाले आर्य द्रव्यगणी के चरण युगल में मैं प्रणाम करता हूँ”<sup>२</sup> इन शब्दों में स्थविरावलीकार देवद्वि क्षमाश्रमण ने जो उन्हें प्रणाम किया है, इससे स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित होता है कि वे (देवद्वि) आचार्य द्रव्यगणी के शिष्य थे और उसी कारण वे उनके लक्षणयुक्त सुकोमल तलवों वाले चरणों से भलीभांति परिचित थे।

कल्पसूत्र की स्थविरावली में संडिल्ल के गुरुभाई की परम्परा में आर्य देसी-गणी क्षमाश्रमण का नाम उपलब्ध होता है। संभव है द्रव्यगणी और देसीगणी ये दोनों नाम एक ही आचार्य के हों।

आपका विशेष परिचय और काल का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं होता। फिर भी इतना निश्चित है कि वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी का मध्यभाग इनका सत्ताकाल रहा है।

### २७ (३२) देवद्विक्षमाश्रमण—वाचनाचार्य एवं गणाचार्य।

भगवान् महावीर के धर्म-शासन में हुए महान् आचार्यों में वाचनाचार्य आर्य देवद्वि क्षमाश्रमण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। आज से लगभग १५२० वर्ष पूर्व दूरदर्शी आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी में श्रमण संघ का सम्मेलन आयोजित किया। उसमें उन्होंने न केवल आगमवाचना द्वारा द्वादशांगी के विस्मृत पाठों को सुव्यवस्थित-सुसंकलित एवं सुगठित ही किया अपितु भविष्य में सदा-सर्वदा बिना किसी प्रकार की परिहानि के आगम यथावत् बने रहें, इस अभिप्राय से एकादशांगी सहित सभी सूत्रों को पुस्तकों के रूप में लिपिबद्ध करवा कर अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया। आपके द्वारा किये गये इस अनिर्वचनीय अपूर्व उपकार के प्रति पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त अजस्र रूप से चलने वाला प्रभु महावीर का चतुर्विध संघ पूर्यातः ऋणी रहेगा।

देवद्वि जन्मतः काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। आपको देवद्वि क्षमाश्रमण और देववाचक, इन दो नामों से सम्बोधित किया जाता है। आप क्षान्ति, धीरता-

<sup>१</sup> अत्यमहत्त्वस्त्राणि, सुसमशासकस्त्राणुहणनिष्ठाणि ।

पयईए मद्दुरव्वाणि, पयसो पणमामि दूसगणि ॥५७॥

तवनियमसत्त्वसंजम, विलायज्जवसंतिमद्दुरव्याणं ।

सीलगुणगदियाणं, अशुभोगजुगण्यहाणारणं ॥५८॥

[नंदी स्वविरावली]

<sup>२</sup> मुकुमालकोमलतले, तेति पणमामि लक्खणपसत्त्वे ।

पाए पाकयणीणं, पडिच्चयसयएहि पणिवइए ॥५९॥

[वही]



कुछ लेखक आपको दूष्यगणी का शिष्य मान कर उनका उत्तराधिकारी वाचनाचार्य बताते हैं और कतिपय लेखक लोहित्य का शिष्य एवं उत्तराधिकारी । वास्तव में देवद्विगणी किस परम्परा के और किसके शिष्य थे, इस विषय में आगे विचार किया जायगा ।

परम्परा से यह कहा जाता है कि देवद्वि क्षमाश्रमण ने श्रमणसंघ की अनुमति से वीर नि. सं. ६८० में बल्लभी में एक बृहत् मुनिसम्मेलन किया और उसमें आगमवाचना के माध्यम से, जिनको जैसा स्मरण था, उसे सुन कर उपलब्ध शास्त्रों के पाठों को व्यवस्थित कर आगमों को पुस्तकारूढ किया । जैसा कि कहा गया है :-

बलहपुरम्मि नयरे, देवद्विपमुहसमणसंघेण ।  
पुत्थइ आगम लिहिओ, नवसय असियाओ वीराओ ॥

श्रद्धालुओं द्वारा परम्परा से यह मान्यता अभिव्यक्त की जा रही है कि आपके तप-संयम की विशिष्ट साधना एवं आराधना से कपर्दि यक्ष, चक्रेश्वरी देवी तथा गोमुख यक्ष सदा आपकी सेवा में उपस्थित रहते थे ।

### आगमवाचना अथवा लेखन

मथुरा में आर्य स्कन्दिल द्वारा और बल्लभी में नागार्जुन द्वारा की गई आगमवाचना के पश्चात् १५० वर्ष से भी अधिक समय बीतने पर आचार्य देवद्विगणी ने बल्लभी में श्रमण संघ को एकत्र कर श्रुतरक्षा की विचारण की । कहा जाता है कि समय की विषमता, मानसिक दुर्बलता और मेधा की मन्दता आदि कारणों से जब सूत्रार्थ का ग्रहण, धारण एवं परावर्तन कम हो गया, स्वयं देवद्वि भी कफ व्याधि की शान्ति के लिये औषधरूप से लाई गई सोंठ का सेवन करना भूल गये । प्रतिलेखन के समय सोंठ को नीचे गिरी हुई देख कर उन्हें स्मृति हुई तो आचार्य ने एक मुनि-परिषद की आयोजना कर संघ के समक्ष विचार रखा कि भावी मन्द मेधावी श्रमणों में इस प्रकार श्रुतिपरम्परा से शास्त्रज्ञान किस तरह अक्षुण्ण रह पायेगा ? अतः कोई उपाय सोचना चाहिए जिससे कि श्रुतज्ञान का यथावत् रक्षण हो सके । विचार-विमर्श के पश्चात् सब ने निर्णय किया कि विद्यमान शास्त्रों एवं ग्रन्थों को लिपिबद्ध कर लिया जाय । उस मुनि-परिषद का देवद्वि क्षमाश्रमण ने नेतृत्व किया । परिषद में आगमवाचना की गई अथवा शास्त्र लिपिबद्ध किये गये, इस विषय में इतिहास लेखक एकमत नहीं हैं । परम्परानुसार कई विद्वान् इसे आगमवाचना मानते हैं तो कतिपय तवीन शोधक इसे मात्र आगम-लेखन ही । वास्तव में इसे वाचनापूर्वक आगम-लेखन कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । यह तो सुनिश्चित है कि वीर नि. सं. ६८० में देवद्वि क्षमाश्रमण ने आगमों को लिपिबद्ध करने का निर्णय किया । उन्होंने प्रथमतः उपस्थित श्रमणों से आगमों के पाठों को सुन एवं ध्यान में लेकर उन्हें व्यवस्थित किया और जहां कुछ वाचनाजन्य भेद सामने आया, वहां

नागार्जुनीया वाचना के जो महत्वपूर्ण पाठ थे, उन्हें भी यथावत् वाचनान्तर के रूप से सुरक्षित कर सब को पुस्तकारुढ करवाया ।

यहाँ यह विचार हो सकता है कि क्या देवद्वि क्षमाश्रमण से पूर्व शास्त्र लिपिबद्ध नहीं हुए थे । यद्यपि पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्पष्ट रूप से इस विषय में निराय करना संभव नहीं है फिर भी जैन साहित्य में यत्र-तत्र कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किये गये उल्लेखों को देखते हुए यह संभव लगता है कि आर्य रक्षित के समय में शास्त्रीय भागों का कुछ अभिलेखन प्रारम्भ हो गया हो । क्योंकि अनुयोगद्वार सूत्र में द्रव्यश्रुत का नामोल्लेख करते हुए पुस्तक पर लिखित सूत्र का उल्लेख किया गया है । जैसा कि कहा है -

“पत्तयपुस्थयलिहियं”<sup>१</sup>

निर्णाय चूर्ण में शिष्य के उपकारार्थ पुस्तक-पंचक के ग्रहण का भी उल्लेख किया गया है । यथा :- “सेहउग्गहधारंणादि परिहारिणं जाणिऊण कालिय-सुयट्ठा, कालियसुयनिज्जुत्तिनिमित्तं वा पुत्थगपणणं घिप्पति ।”<sup>२</sup>

इतिहासज्ञ मुनि कल्याण विजयजी देवद्विगणी के पहले आगम-लेखन के पक्ष में निम्न विचार प्रस्तुत करते हैं :-

“देवद्विगणी के पहले यदि आगम लिखे हुए नहीं होते तो अनुयोगद्वार सूत्र में द्रव्यश्रुत के वर्णन में ‘पुस्तकलिखितश्रुत’ का उल्लेख नहीं होता । इससे यह बात तो निश्चित है कि देवद्विगणी के समय से बहुत पहले जैन शास्त्र लिखने की प्रवृत्ति हो चली थी । छेद सूत्रों में साधुओं को कालिक श्रुत और कालिक श्रुत-निर्युक्ति के लिये ५ प्रकार की पुस्तकें रखने का अधिकार दिया गया है ।”<sup>३</sup>

फिर मथुरा और वल्लभी की वाचनाओं में भी आगमों का संकलन कर उन्हें लेखबद्ध किया गया इस प्रकार का उल्लेख मिलता है । जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में कहा है :-

“जिनवचनं च दुष्पमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्वि नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम् ।”<sup>४</sup> इसके समर्थन में हिमवन्त स्थविरावली में उल्लेख मिलता है कि मथुरा निवासी श्रीसवंशीय श्रमणोपासक पोलाक ने गन्धहस्तिकृत विवरण के साथ सब शास्त्रों को तालपत्र आदि पर लिखा कर साधुओं को अर्पित किया ।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> अनुयोगद्वार, द्रव्यश्रुताधिकार सूत्र, ३४

<sup>२</sup> निर्णाय चूर्ण, उ. १२

<sup>३</sup> वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ. १०६

<sup>४</sup> योगशास्त्र, प्रकाश २, पत्र २०७

<sup>५</sup> मथुरानिवासी श्रमणोपासकवरेणोशवशविभूषणान् पोलाकाभिधेन तत्सकलेमपि प्रवचनं गन्धहस्तिकृतविवरणोपेतं तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्यः स्वाध्यायार्थं समर्पितम् ।

[हिमवन्त स्थविरावली, अग्रकाशित]



उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान होता है कि देवर्द्धिगणी के सूत्र-लेखन से पहले भी जैन शास्त्र लिखे जाते थे । लेखनारंभ के निश्चित समय के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर इतना कह सकते हैं कि आर्य रक्षित के समय से ही पूर्वी के अतिरिक्त शास्त्रीय भाग का अल्प प्रमाण में लेखन प्रारम्भ हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं । परन्तु उन्होंने सम्पूर्ण आगमों का लेखन करवाया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता । आगम लेखन के लिये तो देवर्द्धि क्षमाश्रमण का काल ही सर्वसम्मत माना जाता है । संभव है पूर्ववर्ती आचार्यों के समय में शास्त्र के कुछ विशिष्ट स्थलों का आलेखन किया गया हो । यदि देवर्द्धि की तरह पहले ही सम्पूर्ण शास्त्रों का किसी ने लेखन करवा लिया होता तो श्रुतरक्षण हेतु उन्हें इस प्रकार चिंतित होने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । स्कंदिल के समय में श्रमणोपासक पोलाक द्वारा सम्पूर्ण प्रवचन के लेखन का कथन भी किसी शास्त्र विशेष अथवा स्थल विशेष को लेकर ही संगत हो सकता है । देवर्द्धि ने अपने आगम-लेखन कार्य में उन लिखित भागों को अपने अभ्यस्त पाठों और नागार्जुन-परम्परा के पाठों के साथ मिलाकर उन्हें व्यवस्थित किया होगा । देवर्द्धिगणी को इस कार्य में आर्य कालक का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार दोनों वाचनाओं को एक संयुक्त रूप देने में आचार्य देवर्द्धि ने सफलता प्राप्त की ।

इस प्रकार आगमलेखन को प्रमुख मानते हुए भी दोनों वाचनाओं के पाठों को ध्यान में रखा गया है । अतः इसे 'वाचना के साथ आगमलेखन' कहना ही उचित होगा ।

दुष्पमाश्रमणसंघस्तोत्र यंत्र की प्रति में एक गाथा उपलब्ध होती है -

वालम्भसंघकज्जे, उज्जमियं जुगपहाणतुल्लेहि ।

गंधव्वदाइवेयाल, सतिसूरीहि वलहीए ॥२॥

गाथा में बताया गया है कि युगप्रधान तुल्य गन्धर्व-वादि वैताल शान्तिसूरि ने वालम्भ संघ के कार्य हेतु वल्लभी नगरी में उद्योग किया ।

गाथा में आये हुए "वालम्भसंघकज्जे उज्जमियं" इस पद पर से कुछ विद्वान् यह आशंका अभिव्यक्त करते हैं कि दोनों वाचनाओं को संयुक्त कर एक रूप देने में दोनों वर्गों के बीच संघर्ष हुआ और उस समय वालम्भ संघ अर्थात् नागार्जुनीय परम्परा के श्रमणसंघ में प्रचलित वाचना को मनवाने के लिये शान्तिसूरि ने अपनी पूरी शक्ति लगाई । पर हमारे विचार से इस प्रकार की आशंका करना उचित प्रतीत नहीं होता । कारण कि आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की वाचनाएं जो दोनों के स्वर्गस्थ होने के कारण एक नहीं की जा सकीं, उनको एक रूप देने के लिये दोनों परम्पराओं के श्रमणों ने सद्भावपूर्वक आचार्य देवर्द्धि के नेतृत्व में मुनि-परिषद की । ऐसी स्थिति में विवाद की आशंका करना वस्तुतः उनकी सद्भावना को भुलाना होगा । वाचना को एक रूप देने की भावना ही उनके अनाग्रह भाव को प्रकट करती है । फिर जिस परिषद् के नेता आर्य देवर्द्धि एवं आर्य कालक जैसे प्रमुख श्रमण हों, वहां शास्त्रीय पाठों को लेने न लेने जैसे महत्वपूर्ण

प्रश्न पर दुराग्रह ग्रथवा संघर्ष की संभावना ही किस प्रकार हो सकती है ? संभव है 'वालम्य संघ के लिये कार्य किया'—इसका अभिप्राय बल्लभी में मिले हुए दोनों परम्पराओं के श्रमणसंघ का भागम लेखन कार्य ही इष्ट हो और शान्ति सूरि ने भागम लेखन और पाठ निर्धारण के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान किया हो।

### देवद्वि और देववाचक

देवद्वि क्षमाश्रमण की गुरु परम्परा का निर्णय करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि देवद्वि क्षमाश्रमण ही देववाचक हैं ग्रथवा दोनों भिन्न-भिन्न। यद्यपि यह सर्वविदित है कि देवद्विगण क्षमाश्रमण बल्लभी में हुई अंतिम भागम-वाचना के सूत्रधार और नन्दीसूत्र के रचनाकार थे, पर नन्दीसूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरी ने तथा नन्दीसूत्र की चूणि में चूणिकार जिनदास ने नन्दीसूत्र के रचयिता के रूप में दूष्यगणी के शिष्य देववाचक का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> इससे देववाचक और देवद्विगणी क्षमाश्रमण के भिन्न-भिन्न होने की आंति हो सकती है। किन्तु विभिन्न ग्रन्थकारों एवं इतिहासकारों के विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देववाचक और देवद्विगणी क्षमाश्रमण दो नहीं अपितु दो नाम के एक ही आचार्य थे।

पूर्वाचार्यों ने वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर और वाचक इन शब्दों को एकार्य-वाचक बताया है। पूर्वगत श्रुत के जानकार के लिये इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।<sup>२</sup>

इस दृष्टि से देवद्विगणी क्षमाश्रमण और देववाचक दोनों शब्द दो भिन्न व्यक्तिवाचक नहीं होते। यह तो एक निस्संदिग्ध तथ्य है कि देवद्विगणी क्षमाश्रमण अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ महान् गणनायक होने के साथ-साथ एक समर्थ वाचनाचार्य भी थे। संभव है उनके वाचनाचार्य पद की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके नाम के प्रथम दो अक्षरों—“देव” के साथ वाचक शब्द जोड़ कर “देवद्विगणी वाचक” के स्थान पर इनका संक्षिप्त नाम देववाचक रख दिया गया हो। देव-वाचक नाम के साथ ही साथ गणधर के रूप में उनकी अधिक प्रसिद्धि होने के

<sup>१</sup> (क) क एवमाह — दूष्यगणि शिष्यो देववाचक इति गाथायः।

[नन्दी, हारिभद्राया वृत्ति, पृ० २०]

(ख) देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां कुर्वन्नदिमाह—

[वही, पृ० २३]

(ग) तत आचार्योऽपि देववाचकनामा ज्ञानपंचकं व्याचिख्यासुः.....तीर्थकृत्स्तुतिमभिधा-  
तुमाह— [श्री मलयगिरीया नन्दीवृत्ति; पत्र २]

(घ) दूष्यगणिपादोपसेवि पूर्वन्तिर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा  
सम्पत्त्यधिकृताध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति— [वही, पत्र ६५ (१)]

(ङ) दूसगणिसीसो देववाचगो साधुजगहियट्ठाए इणमाह— [नन्दी चूणि, पृ० १०]

<sup>२</sup> वाई य क्षमासमलो, दिवायरे वायगति एगटठा।

पुव्वगयम्म मुने, एए सट्टा पउजति ॥

[पुरातन आचार्य]

कारण उनका दूसरा नाम देवद्विगणी क्षमाश्रमण अथवा देवद्वि क्षमाश्रमण ही व्यवहार में बोला जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

वाचकवंश की परम्परा में आचार्य द्रुष्यगणी के पश्चात् जो २५वें आचार्य देववाचक माने गये हैं, वे कोई अन्य नहीं, देवद्वि क्षमाश्रमण ही हो सकते हैं । जैसा कि जयसिंह सूरिकृत धर्मोपदेश माला में गणधर और वाचनाचार्यों में देवद्विगणी को ही आर्य जम्बू से २४वें आचार्य होना बताया है ।

यह कोई निरी कल्पना नहीं अपितु इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण हैं कि देवद्विगणी क्षमाश्रमण का ही दूसरा नाम देववाचक था । कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति में देवेन्द्रसूरि ने अवधिज्ञान के भेद के विवेचन में नन्दीसूत्रगत पद का उल्लेख करते हुए कहा है :- “यदाह देवद्वि क्षमाश्रमणः - “से कि तं अणारुणामियमित्यादि ।” - अर्थात् - नन्दीसूत्र में देवद्वि क्षमाश्रमण ने कहा है - “वह अनानुगामी क्या है ? इत्यादि । यदि देववाचक और देवद्वि दो भिन्न आचार्य होते तो देवेन्द्रसूरि वस्तुतः देववाचक के स्थान पर देवद्वि क्षमाश्रमण को नन्दीसूत्र का रचनाकार नहीं बताते ।

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि देववाचक यदि देवद्वि क्षमाश्रमण से भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य होते तो स्कन्दिलाचार्य की वाचना का प्रतिनिधित्व भी देववाचक को ही मिलना चाहिये था न कि देवद्वि क्षमाश्रमण को । परन्तु स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है । यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि वल्लभी वाचना में नागार्जुनीया वाचना के प्रतिनिधि आचार्य नागार्जुन की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य कालक (चतुर्थ) और स्कन्दिली (माथुरी) वाचना के प्रतिनिधि आर्य स्कन्दिल की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण माने गये हैं । इससे यही प्रमाणित होता है कि देवद्वि क्षमाश्रमण ही देववाचक हैं, भिन्न नहीं ।

मेरुतुंग की स्थविरावली में भी यह उल्लेख है कि देवद्विगणी ने सिद्धान्तों को विनाश से बचाने के लिये पुस्तकारूढ किया ।<sup>१</sup> इन्होंने अपनी स्थविरावली में भी पट्टकर्म का निर्देश करते हुए श्री भूतदिग्ग, लोहित्य, द्रुष्यगणी और देवद्विगणी - इस प्रकार द्रुष्यगणी के पश्चात् स्पष्टरूपेण देवद्विगणी का उल्लेख किया है ।

### देवद्वि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा

देवद्वि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा के विषय में इतिहासज्ञ एकमत नहीं हैं । कुछ विद्वान् कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार देवद्वि को सुहस्ती शाखा के

<sup>१</sup> (क) यदाह भगवान् देवद्वि क्षमाश्रमण :- नारां पंचविहं पन्नत्तमित्यादि ।  
यदाह देवद्विवाचक :- से कि तं मण्णारुणेत्यादि ।

(ख) यदाहुर्निर्दलितान्जानसंभारप्रसरा देवद्विवाचकवरा :-  
तं समासधो चरविहं पन्नत्तमित्यादि । [ धा० देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ-स्वोपज्ञवृत्ति ]

<sup>२</sup> श्री बीरादनु सप्तविंशतमः पुरुषो देवद्विगणः सिद्धान्तान् सम्यक्खेदाय  
पुस्तकाधिकारुदानकार्षीत् । [ मेरुतुंगीया थेराचमी, टीका, ५ ]

आर्य पाण्डित्य के शिष्य बता रहे हैं और दूसरे नन्दीसूत्र की स्थविरावली, जिनदास रचित चूर्ण, हारिभद्राया वृत्ति, मलयगिरीया टीका और मेरुतुंगीया विचार-श्रेणी के आधार पर देवद्वि को दूष्यगणी का शिष्य बताते हैं। तीसरा पक्ष देवद्वि को आर्य लौहित्य के शिष्य होने का भी उल्लेख करता है।

इन विभिन्न विचारों में से यह निर्णय करना है कि वास्तव में देवद्वि किस परम्परा के और किनके शिष्य थे। इतिहास के विशेषज्ञ मुनि श्री कल्याणविजयजी आदि लेखकों ने इनको सुहस्ती-परम्परा के आर्य पाण्डित्य का शिष्य मान्य किया है। उनका कहना है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली देवद्वि की गुर्वावली नहीं अपितु युग प्रधानावली है, देवद्वि की गुर्वावली तो कल्पसूत्रीया स्थविरावली है। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में उन्होंने कहा है कि कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली में पाण्डित्य के पश्चात् कुछ गाथाएं देकर देवद्वि को वन्दन किया गया है।

कल्प स्थविरावली के गद्य पाठ के अन्तिम सूत्र में आर्य धर्म के अन्तेवासी काश्यपगोत्रीय आर्य पाण्डित्य बताये गये हैं। इसके पश्चात् १४ गाथाओं से कतिपय आचार्यों को वन्दन किया गया है। उनमें फल्गुमित्र से काश्यपगोत्रीय धर्म तक तो पाठगत स्थविरों की ही वन्दना की गई है। तदनन्तर (१) स्थविर आर्य जम्बू, (२) आर्य नन्दियमपिय, (३) माडरगोत्रीय आर्य देसिगणी, (४) स्थिर-गुप्त क्षमाश्रमण, (५) स्थविर कुमार धर्म, और (६) देवद्वि क्षमाश्रमण काश्यपगोत्रीय को प्रणाम किया गया है। बस यही कल्पसूत्रीय स्थविरावली को देवद्वि की गुर्वावली मानने का आधार माना है। स्थविरावली के अन्य आचार्यों की तरह जम्बू आदि स्थविरों के लिये यह नहीं बताया गया है कि ये किनके अन्तेवासी थे। गाथाओं की शैली और उनमें फल्गुमित्र आदि कुछ आचार्यों के नामों का पुनरावर्तन कर वन्दन करने से प्रतीत होता है कि पीछे के किसी लेखक ने भक्तिवश जम्बू आदि आठ आचार्यों को वन्दन कर अन्तिम गाथा में देवद्वि क्षमाश्रमण का नाम भी जोड़ दिया है। स्थविरावली के मूलपाठ में तो इनका कहीं उल्लेख तक नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल देवद्वि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र का संकलन किया और उसकी स्थविरावली में आर्य धर्म के अन्तेवासी आर्य पाण्डित्य का अन्तिम नाम है, यही एक पाण्डित्य को देवद्वि के गुरु मानने का आधार हो सकता है। अन्यथा कल्पसूत्रीया स्थविरावली में ऐसा कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस पर से कि देवद्वि के गुरु का स्पष्टतः निर्णय किया जा सके।

गाथाओं में निदिष्ट आचार्यक्रम के आधार से यदि देवद्वि की गुरु परम्परा मान्य की जाय तो स्थविर कुमार धर्म को देवद्वि का गुरु मानना होगा। क्योंकि कुमार धर्म की वन्दना के पश्चात् देवद्वि क्षमाश्रमण को प्रणिपात किया गया है। वस्तुतः कल्प स्थविरावली की अन्त की गाथाओं में देवद्वि क्षमाश्रमण के आसपास कहीं पाण्डित्य का नामोल्लेख भी नहीं है। हम नहीं समझ पाते कि ऐसी स्थिति में देवद्वि को आर्य पाण्डित्य का शिष्य किस आधार पर बताया जाता है। स्थविरावली को गहराई से देखने पर भी आर्य पाण्डित्य को देवद्वि का गुरु मानने

का कोई कारण समझ में नहीं आता। आर्य षाण्डिल्य यदि देवद्वि के गुरु होते तो अवश्य उनके प्रति कुछ विशिष्ट शब्दों द्वारा वन्दन पूर्वक गुरु भाव व्यक्त किया जाता।

मुनिश्री की कल्पना के अनुसार यदि देवद्विगणी आर्य सुहस्ती की शाखा के आचार्य होते तो नन्दीसूत्रस्थ स्थविरावली के समान ही कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली में भी प्रत्येक आचार्य का विशेष स्तुतिपूर्वक परिचय दिया जाता। पर वस्तुतः कल्पसूत्रीया स्थविरावली में वैसा न कर, अमुक स्थविर का अन्तेवासी अमुक, केवल इतना ही परिचय दिया गया है। नन्दीसूत्रीया स्थविरावली में प्रत्येक आचार्य को वन्दन और षाण्डिल्य के पश्चात् अधिकांश आचार्यों का स्तुतिपूर्वक स्मरण किया गया है। इसके विपरीत कल्प की स्थविरावली में आदि से अंत तक इतना ही बताया गया है कि कौन किसका शिष्य था। अन्तिम सूत्र में—“थेरस्स ण अज्ज धम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज संडिल्ले थेरे अते—” दिया है। इस वाक्य से केवल इतना ही अभिव्यक्त होता है कि स्थविर आर्य धर्म के अन्तेवासी आर्य षाण्डिल्य थे। इसके आगे १४ गाथाओं द्वारा १७वें स्थविर फल्गुमित्र से ३२वें आर्य धर्म तक का स्मरण किया गया है। अंत में जम्बू आदि ६ आचार्यों का स्मरण कर किसी अन्यकर्त्तृक गाथा से देवद्वि का स्मरणपूर्वक वन्दन किया गया है। कल्पसूत्रीया स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रमवाली होने और षाण्डिल्य के पश्चात् अन्यकर्त्तृक गाथा द्वारा देवद्वि को वन्दन करने मात्र से ही यह अनुमान कर लेना कि सूत्र के लेखक आचार्य (देवद्वि) की भी यही गुरु-परम्परा है और स्थविरावली के अन्तिम आचार्य षाण्डिल्य उनके दीक्षा-गुरु हैं, उचित नहीं। आर्य स्थविर षाण्डिल्य यदि देवद्वि के गुरु होते तो अवश्य ही कुछ विशिष्ट विशेषणों से उनका दूष्यगणी के समान परिचय दिया जाता।

ऐसी स्थिति में नन्दीसूत्र की स्थविरावली को माथुरी वाचनानुगत युग्म-प्रधान स्थविरावली अथवा वाचकवंश पट्टावली कह कर उसे देवद्वि की गुर्वावली न मानना न तो कोई सयौक्तिक ही है और न किसी प्रमाण द्वारा पुष्ट ही।

यह ठीक है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली में मुख्य रूप से वाचकवंश की परम्परा प्रस्तुत की गई है और इसलिये कहीं-कहीं गुरुभाई एवं गणान्तर के आचार्य का भी वहां वाचक रूप से उल्लेख हो गया है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें गुरु-शिष्य का क्रम सर्वथा ही नहीं है। आचार्य नन्दिल से आगे के सभी नाम नन्दी की स्थविरावली में भी प्रायः गुरु-शिष्य क्रम से ही दिये गये हैं। आर्य मुघर्मा और जम्बू जैसे शिवंगत आचार्यों और अन्य विशिष्ट श्रुतधरों का कल्प की तरह यहां भी नाममात्र से स्मरण कर भूतदिन्न और दूष्यगणी का तीन और दो गाथाओं से अभिवादन कर उनके चरणों में प्रणाम किया गया है। बिना विशिष्ट अनुराग और भक्ति के इस प्रकार गुणगानपूर्वक चरणवन्दन संभव नहीं होता। निश्चय ही इस प्रकार के अभिवादन के पीछे आचार्य का कोई विशिष्ट अभिप्राय होना चाहिये और वह विशिष्ट अभिप्राय शिक्षा-दीक्षा आदि उपकार-

जन्य गुरुभक्ति के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता। देवद्वि द्वारा नन्दी स्थविरावली की ४०वीं एवं ४१वीं गाथाओं में आचार्य दूष्यगणी के प्रशस्त लक्षण युक्त कोमल-सुकुमार चरणों का जिस रूप में वर्णन करते हुए वंदन किया गया है, उस प्रकार का वर्णन किसी साक्षात् द्रष्टा श्रद्धालु द्वारा ही किया जा सकता है। यदि देवद्वि सुहस्ती की परम्परा के वाचक होते तो वे अवश्य ही कल्पस्थ स्थविरावली में भी ऐसी स्तुति-परक गाथा द्वारा षांडिल्य के गुरुओं के उल्लेखपूर्वक उनका अभिवादन करते। पर वहाँ ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। कल्प स्थविरावली के अन्त में जो देवद्वि के लिये स्तुतिपरक गाथा दी गई है, वह भी अन्यकर्तृक होने के कारण गुरुपरम्परा का निर्णय करने में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

इन सब तथ्यों पर तटस्थ गवेषक की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर देवद्वि को दूष्यगणी का शिष्य मानना ही उचित प्रतीत होता है। दूष्यगणी के साथ देवद्विगणी का गणीपदान्त नाम भी दोनों के बीच गुरु-शिष्य जैसा निकट सम्बन्ध सूचित करता है।

देवद्वि क्षमाश्रमण को परम्परा से उग्रविहारी एवं हठाचारी माना जाता है। जैसा कि एक प्राचीन गाथा द्वारा प्रकट होता है—

देवद्विखमासमणजा; परं परं भावो वियाणोमि ।

सिद्धिलायारे ठविया, दब्बेण परंपरा बहुहा ।<sup>१</sup>

अर्थात्—देवद्वि क्षमाश्रमण पर्यंत आचार मार्ग की भाव-परम्परा चलती रही। उनके पश्चात् शिथिलाचार के कारण द्रव्य-परम्परा का बाहुल्य हो गया।

उपरोक्त गाथा के निर्देशानुसार देवद्वि क्षमाश्रमण का भावपरम्परानुगामी रत्न भी उनका महागिरीया परम्परा के आचार्य होना प्रमाणित करता है।

कुछ वर्ष पहले नन्दी सूत्र की प्रस्तावना में हमने देवद्वि के लिये सुहस्ती की परम्परा के आचार्य होने का उल्लेख किया था किन्तु वर्तमान के अनुसन्धान से आज इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि देवद्वि क्षमाश्रमण दोनों परम्पराओं में मान्य होने पर भी वाचक दूष्यगणी के ही शिष्य होने चाहिए। संभव है कि आर्य देवद्वि विशिष्ट श्रुतधर एवं सर्वप्रिय उदारमना आचार्य होने के कारण दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से सम्मान-प्राप्त माने गये हों। इसके उपरान्त भी नन्दी स्थविरावली को एकान्ततः महागिरी की ही परम्परा नहीं कहा जा सकता, इसमें सुहस्ती की शाखा के नागार्जुन जैसे आचार्यों के नाम भी सम्मिलित हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी इसमें महागिरि की परम्परा के आचार्यों की प्रधानता एवं बाहुल्य होने के कारण नन्दी स्थविरावली को लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों द्वारा टीका चूषि आदि में महागिर्यावलिका ही माना गया है। दूष्यगणी महागिरी की शाखा के आचार्य हैं, अतः देवद्वि क्षमाश्रमण को भी आचार्य महागिरी की शाखा के ही आचार्य मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जैसा कि टीकाकार मलयगिरि ने कहा है—

<sup>१</sup> भागम अष्टोत्तरी

"सुहस्ति से सुस्थित-सुप्रतिबुद्धादि क्रम से चलने वाली आबलिका दशाश्रुत स्कन्ध के अनुसार देखनी चाहिए। यहां (नन्दी सूत्र में) उसका अधिकार नहीं है। प्रस्तुत अद्ययन के रचनाकार देवद्वि का उसमें (कल्प स्थविरावली में) अभाव है इसलिये यहां महागिरी की आबलिका से ही प्रयोजन है।"<sup>१</sup>

इस प्रकार टीकाकार आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि कल्पस्थविरावली में देवद्वि (देववाचक) का नाम नहीं है, ऐसी स्थिति में दूष्यगणी को देवद्वि के दीक्षा-गुरु मानने में और देवद्विगणी को महागिरि की शाखा के वाचनाचार्य मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। चूणिकार जिनदासगणी ने भी स्पष्ट लिखा है - "दूसगणि सीसो देववायगो गाधुगण ह्यिट्ठाए इणमाह।"<sup>२</sup>

संभव है कल्पसूत्रीय स्थविरावली के अंत में आई हुई गाथाओं में निर्दिष्ट देसिगणी पद दूष्यगणी का ही बोधक हो। आचार्य मेरुतुंग ने भी अपनी स्थविरावली में वृद्ध संप्रदाय का उल्लेख करते हुए लिखा है :- "स्थूलभद्र" के दो शिष्य हुए, आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। उनमें से आर्य महागिरि की शाखा मुख्य है।<sup>३</sup> इससे आगे आचार्य मेरुतुंग ने और भी स्पष्ट करते हुए दो गाथाओं द्वारा बलिस्सह आदि क्रम से महागिरि परम्परा के आचार्यों की नामावली प्रस्तुत की है। उसमें दूष्यगणी के साथ देवद्वि का नाम अन्त में दिया गया है। वे गाथाएं इस प्रकार हैं :-

सूरि बलिस्सहसाई, सामज्जो संडिलो य जीयधरो ।

अज्जसमुदो मंगू, नंदिलो नागहत्थी य ॥

रेवइ-सिहो खंदिल हिमवं नागज्जुणा गोविदा ।

सिरि भूइदिन्न-लोहिच्च-दूसगणिरणो य देवड्डी ॥

यहां यह अनुमान करना कि मेरुतुंग और मलयगिरि के उल्लेखों का कोई ठोस आधार नहीं है - ठीक नहीं। उनके पीछे महागिरि परम्परा के वाचकों का गुरु-शिष्य क्रम से उल्लेख करने वाली नन्दी-स्थविरावली की गाथाओं का पुष्ट एवं स्पष्ट प्रमाण विद्यमान है। आचार्य मेरुतुंग ने ऐसा मानने का आधार जो वृद्ध सम्प्रदाय बताया है, उसका अर्थ किंवदन्ती रूप नहीं, किन्तु मेरुतुंग के समक्ष पूर्वाचार्यों की ऐसी परम्परा विद्यमान थी, ऐसा मानना चाहिए। बिना किसी पुष्ट प्रमाण के केवल कल्पना के आधार पर मलयगिरि और मेरुतुंग की मान्यता को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता।

<sup>१</sup> स्थूलभद्रस अंतेवासी इमं दो धेरा-महागिरि एलावच्चसगोत्ते सुहत्थीवासिदुसगोत्ते । सुहत्थिस्स सुद्वित्तसुपडिबुद्धादयो आबलीते जहा दसासु (अ० ८ सूत्रं २१०) तहा भाणितम्भा, इहं तेहि अहिगारो सत्थि, महागिरिस्स आबलीए अधिकारो ।

[नंदी चूणि, पुष्य विजयजी, पृ० ८]

<sup>२</sup> नंदी चूणि, पृ० १०

<sup>३</sup> अत्र चायं वृद्ध सम्प्रदायः--स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्-१ आर्य महागिरिः, २ आर्य सुहस्ती च । तत्र आर्य महागिरेर्या शाखा सा मुख्या । [मेरुतुंगीया विचारत्रणः]

आर्य महागिरि और सुहस्ती की शाखाओं में बड़े होने के कारण महागिरि की शाखा को 'वृद्धशाखा' कहा जाना उचित ही है। जैसा कि विधिपक्ष पट्टावली में आचार्य देवद्वि की वन्दना करते हुए कहा गया है—

वीरस्स सत्तबीसे, पट्टे सुत्तत्थरयसासिगारं ।

देवद्विखमासमणं, पणमामि य बुद्धसाहाए ॥२१॥<sup>१</sup>

अर्थात् — वृद्ध शाखा में प्रभु महावीर के २७वें पट्टधर सूत्रार्थरत्न के शृंगार से सुशोभित देवद्वि क्षमाश्रमण को नमस्कार करता है ।

### बल्समी-परिषद् का आगम-लेखन

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की यह परम्परागत एवं सर्वसम्मत मान्यता है कि वर्तमान में उपलब्ध आगम देवद्विगणी क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध करवाये गये थे। लेखनकला का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय से मानते हुए भी यह माना जाता है कि आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण से पूर्व आगमों का व्यवस्थित लेखन नहीं किया गया। पुरातन पराम्परा में शास्त्रवाणी को परमपवित्र मानने के कारण उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आगमों को श्रुत-परम्परा से कण्ठाग्र रखने में ही श्रेय समझा जाता रहा। पूर्वकाल में इसीलिये शास्त्रों का पुस्तकों अथवा पत्तों पर आलेखन नहीं किया गया। यही कारण है कि तब तक श्रुत नाम से ही शास्त्रों का उल्लेख किया जाता रहा।

जैन परम्परा ही नहीं वैदिक परम्परा में भी यही धारणा प्रचलित रही और उसी के फलस्वरूप वेद वेदांगादि शास्त्रों को श्रुति के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। जैन श्रमणों की अनारम्भी मनोवृत्ति ने यह भी अनुभव किया कि शास्त्र-लेखन के पीछे बहुत सी खटपटें करनी होंगी। कागज, कलम, मसी और मंसिपात्र आदि लाने, रखने तथा सम्हालने में आरम्भ एवं प्रमाद की वृद्धि होगी। ऐसा सोच कर ही वे लेखन की प्रवृत्ति से बचते रहे। पर जब देखा कि शिष्यवर्ग की धारणा-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती चली जा रही है, शास्त्रीय पाठों की स्मृति के अभाव से शास्त्रों के पाठ-परावर्तन में भी आलस्य तथा संकोच होता जा रहा है, बिना लिखे शास्त्रों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा, शास्त्रों के न रहने से ज्ञान नहीं रहेगा और ज्ञान के अभाव में अधिकांश जीवन विषय, कषाय एवं प्रमाद में व्यर्थ ही चला जायगा, शास्त्र-लेखन के द्वारा पठन-पाठन के माध्यम से जीवन में एकाग्रता बढ़ाते हुए प्रमाद को घटाया जा सकेगा और जैन-परम्परा को भी शताब्दियों तक अबाध रूप से सुरक्षित रखा जा सकेगा, तब शास्त्रों का लेखन सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार संघ को ज्ञानहानि और प्रमाद से बचाने के लिये संतों ने शास्त्रों को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया। जैन परम्परानुसार आर्य रक्षित एवं आर्य स्कन्दिल के समय में कुछ शास्त्रीय भागों का लेखन प्रारम्भ हुआ माना

<sup>१</sup> भावसागर की 'विधिपक्ष पट्टावली'।



गया है। किन्तु आगमों का सुव्यवस्थित सम्पूर्ण लेखन तो आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी में ही सम्पन्न किया जाना माना जाता है।

देवद्वि के समय में कितने व कौन-कौन से शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गये एवं उनमें से आज कितने उसी रूप में विद्यमान हैं, प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता। “आगम पुत्थय लिहिओ” इस परम्परागत अनुश्रुति में सामान्य रूप से आगम पुस्तक रूप में लिखे गये - इतना ही कहा गया है। संख्या का कहीं कोई उल्लेख तक भी उपलब्ध नहीं होता। अर्वाचीन पुस्तकों में ८४ आगम और अनेक ग्रन्थों के पुस्तकारूढ करने का उल्लेख किया गया है। नन्दीसूत्र में कालिक और उत्कालिक श्रुत का परिचय देते हुए कुछ नामावली प्रस्तुत की है। बहुत सम्भव है देवद्वि क्षमाश्रमण के समय में वे श्रुत विद्यमान हों और उनमें से अधिकांश सूत्रों का देवद्वि गणी क्षमाश्रमण ने लेखन करवा लिया हो। नन्दीसूत्रानुसार कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों की संख्या निम्न प्रकार है :-

### उत्कालिक सुय (श्रुत)

- |                   |                       |
|-------------------|-----------------------|
| १. दसवेयालियं     | १६. सूरपण्णत्ती       |
| २. कप्पियाकप्पियं | १७. पोरिसिमंडल        |
| ३. चुल्लकप्पसुयं  | १८. मंडलपवैस          |
| ४. महाकप्पसुयं    | १९. विज्जाचरणविशिच्छओ |
| ५. उववाइय         | २०. गणिविज्जा         |
| ६. रायपसेणइयु     | २१. भाणविभत्ती        |
| ७. जीवाभिगम       | २२. मरणविभत्ती        |
| ८. पन्नवणा        | २३. आयविसोही          |
| ९. महापन्नवणा     | २४. वीयरगसुयं         |
| १०. पमायप्पमाय    | २५. संलेहणासुयं       |
| ११. नन्दी         | २६. विहारकप्पो        |
| १२. अणुओगदाराइं   | २७. चरणविहि           |
| १३. देविन्दथव     | २८. आउरपच्चक्खाण      |
| १४. तंदुलवेयालिय  | २९. महापच्चक्खाण, आदि |
| १५. चंदाविज्जय    |                       |

### कालिक सुय (श्रुत)

#### १२ अंग

- |                  |                           |
|------------------|---------------------------|
| १. आयारो         | ७. उवासगदसाओ              |
| २. सुयगडो        | ८. अंतगडदसाओ              |
| ३. ठाणं          | ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ      |
| ४. समवाओ         | १०. पण्हावागरणाइं         |
| ५. विवाहपण्णत्ती | ११. विवाग सुयं            |
| ६. नायाधम्मकहाओ  | १२. दिट्ठिवाओ (विच्छिन्न) |

- |                           |                     |
|---------------------------|---------------------|
| १. उत्तरज्जयणाइं          | १९. वेसवणोववाए      |
| २. दसाओ                   | २०. वेलंधरोववाए     |
| ३. कप्पो                  | २१. देवेन्दोववाए    |
| ४. ववहारो                 | २२. उट्ठाणसुयं      |
| ५. निसीहं                 | २३. समुट्ठाणसुयं    |
| ६. महानिसीहं              | २४. नागपरियावलियाओ  |
| ७. इसिभासियाइं            | २५. निरयावलियाओ     |
| ८. जंबूदीवपण्णत्ती        | २६. कप्पिया         |
| ९. दीवसागरपण्णत्ती        | २७. कप्पवडंसिया     |
| १०. चंदपण्णत्ती           | २८. पुप्फियाओ       |
| ११. खुडियाविमाणपविभत्ती   | २९. पुप्फचूलियाओ    |
| १२. महल्लियाविमाणपविभत्ती | ३०. बण्हदसाओ        |
| १३. अंगचूलिया             | ३१. आसीविसभावणाणं   |
| १४. विवाह चूलिया          | ३२. दिट्ठविसभावणाणं |
| १५. अरुणोववाए             | ३३. सुमिणभावणाणं    |
| १६. वरुणोववाए             | ३४. महासुमिणभावणाणं |
| १७. गरुलोववाए             | ३५. तेयग्गिसग्गाणं  |
| १८. धरणोववाए              |                     |

इस प्रकार कुल ७५ श्रुत बताये गये हैं ।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा द्वारा वर्तमान में ४५ आगम माने जाते हैं पर स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक इस प्रकार ३२ शास्त्रों को प्रामाणिक मानते हैं । ४५ सूत्रों की संख्या इस प्रकार है :-

११ अंग :-

- |                   |                       |
|-------------------|-----------------------|
| १ आचारंग          | ७ उपासकदशांग          |
| २ सूत्रकृतांग     | ८ अंतकृतदशांग         |
| ३ स्थानांग        | ९ अनुत्तरोपपातिकदशांग |
| ४ समवायांग        | १० प्रश्नव्याकरण      |
| ५ भगवती           | ११ विपाक श्रुत        |
| ६ ज्ञाताधर्मकथांग |                       |

१२ उपांग :-

- |                        |                 |
|------------------------|-----------------|
| १ औपपातिक              | ७ सूरप्रज्ञप्ति |
| २ राजप्रश्नीय          | ८ कल्पिका       |
| ३ जीवाभिगम             | ९ कल्पावतंसिका  |
| ४ प्रज्ञापना           | १० पुष्पिका     |
| ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति | ११ पुष्पचूलिका  |
| ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति     | १२ वृष्णिदशा    |

## १० प्रकीर्णक :-

१ चतुष्शरण प्रकीर्णक	६ चन्द्रविद्यक
२ आतुर प्रत्याख्यान	७ देवेन्द्रस्तव
३ भक्त प्रत्याख्यान	८ गणिविद्या
४ संस्तार प्रकीर्णक	९ महाप्रत्याख्यान
५ तंदुल वैचारिक	१० मरणसमाधि

## ६ छेदसूत्र :-

१ निशीथ	४ व्यवहार
२ महानिशीथ	५ दशाश्रुतस्कंध
३ वृहत्कल्प	६ जीतकल्प

## ४ मूलसूत्र -

१ दशवैकालिकसूत्र	३ अनुयोगद्वार
२ उत्तराध्ययन	४ नन्दीसूत्र

## २ चूलिका

१ ओघनिर्युक्ति

२ पिण्डनिर्युक्ति

कुछ लेखक नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका मानते हैं ।

## १. आवश्यक

## १. आधारभूत सूत्र

इनमें से १० प्रकीर्णक, अंतिम २ छेदसूत्र और २ चूलिकाओं के तिरिक्त ३२ सूत्रों को स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय मान्य करती हैं । श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ को प्रामाणिक स्वीकार करती है ।

नन्दीसूत्र-गत कालिक उत्कालिक सूत्रों की तालिका में १० में से ४ प्रकीर्णक, २ छेदसूत्र एवं २ चूलिकाएं (ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति) नहीं हैं और ऋषिभाषित का नाम जो कि नन्दी सूत्र की तालिका में है, वह वर्तमान ४५ आगमों की संख्या में नहीं है । संभव है ४४-४५ आगम और ज्योतिषकरंडक आदि बौर नि. सं० ६८० में हुई बल्लभी परिषद में लिखे गये हों । विद्वान् इतिहासज्ञ पुरातन सामग्री के आधार पर इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक गवेषणा करें तो सही तथ्य प्रकट हो सकता है ।

## स्पष्टीकरण

मूल सूत्रों की संख्या और क्रम के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं । कुछ विद्वानों ने ३ मूल सूत्र माने हैं तो कहीं ४ की संख्या उपलब्ध होती है । क्रम की दृष्टि से उत्तराध्ययन को पहला स्थान दे कर फिर आवश्यक और दशवैकालिक बताया गया है जब कि दूसरी और उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यक इस प्रकार मूलसूत्रों की संख्या तीन की गई है । पिण्डनिर्युक्ति

तथा, कहीं-कहीं पिण्डनिर्युक्ति और ओषनिर्युक्ति को संयुक्त मान कर चार की संख्या मानी गई है।

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नदी और अनुयोगद्वार को मिला कर चार मूल सूत्र माने गये हैं। जब कि दूसरी परम्परा नन्दी और अनुयोगद्वार को चूलिका सूत्र के रूप में मान्य करती है।

### देवद्वि क्षमाश्रमण का स्वर्गगमन और पूर्व-ज्ञान का विच्छेद

वाचनाचार्य आर्य देवद्वि क्षमाश्रमण के जन्म, श्रमण-दीक्षा, गणाचार्य एवं वाचनाचार्य-काल के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख आज उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार आपके स्वर्गारोहण-काल के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टि-गोचर नहीं होता। परम्परागत मान्यतानुसार आर्य देवद्वि क्षमाश्रमण अंतिम पूर्वधर माने गये हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भगवती-सूत्र के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद माना गया है। ऐसी स्थिति में एक प्रकार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि अंतिम पूर्वधर आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण वीर नि० सं० १००० में स्वर्गस्थ हुए। इसके उपरान्त भी कतिपय पट्टावलीकारों का अभिमत है कि अंतिम पूर्वधर युग-प्रधानाचार्य सत्यमित्र थे तथा सत्यमित्र का वीर नि० सं० १००० में और देवद्वि क्षमाश्रमण का उनसे पहले वीर नि० सं० ६६० में स्वर्गगमन हुआ।

‘तित्थोगालिय पइज्जा’ की हस्तलिखित प्रति का अध्ययन करते हुए हमें दो गाथाएं दृष्टिगोचर हुईं, जिनमें स्पष्टतः उल्लेख है—“भगवान् महावीर के मोक्ष-गमनान्तर १००० वर्ष व्यतीत हो जाने पर अन्तिम वाचक वृषभ (वाचनाचार्य) के साथ पूर्वज्ञान विलुप्त हो जायगा। वर्द्धमान भगवान् के निर्वाण के १००० वर्ष पूर्ण होते ही परिपाटी से जिसको जितना पूर्वज्ञान प्राप्त होगा, वह नष्ट हो जायगा।”

वे गाथाएं इस प्रकार हैं :-

बोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ ।

उत्तरवायग - वसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥

वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोगालीए वड्ढमाणस्स ।

नासिहि पुव्वगतं, अणुपरिवाडीए जं जस्स ॥८०६॥

इन गाथाओं में देवद्वि क्षमाश्रमण का नाम तो स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है परन्तु प्रथम गाथा के - “उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो” - इन पदों में प्रयुक्त-‘उत्तर-वाचक-वृषभ’ पद अंतिम वाचनाचार्य आर्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण का ही बोधक है। क्योंकि समस्त जैन वाङ्मय में देवद्वि को ही सर्व सम्मत रूपेण अन्तिम वाचनाचार्य स्वीकार किया गया है।

तित्थोगाली पइज्जा की एक गाथा में आर्य सत्यमित्र नामक एक मुनिपुगव को अंतिम दशपूर्वधर बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तित्थोगाली पइज्जा

की उस गाथा में अन्तिम दशपूर्वधर आर्य सत्यमित्र के नित्य अभिव्यक्त किये गये भावों को नाम साम्य के कारण २८वें युगप्रधानाचार्य सत्यमित्र के साथ जोड़ कर भ्रान्तिवश पट्टावलीकारों द्वारा उन्हें अन्तिम पूर्वधर मान लिया गया है। तित्थो-गाली पइन्ना की पूर्वगत श्रुतविषयक गाथाओं के समीचीनतया पर्यालोचन से यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि सत्यमित्र को अन्तिम दशपूर्वधर बताया गया है, न कि अन्तिम एक पूर्वधर। वीर नि० सं० ६६४ से १००१ तक युगप्रधान पद पर रहने वाले २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र यदि अन्तिम पूर्वधर होते तो तित्थोगाली पइन्ना में अन्तिम वाचक-वृषभ (देवद्विगणी) को अन्तिम पूर्वधर न बता कर आर्य सत्यमित्र को बताया जाता।

पूर्व-ज्ञान के लुप्त होने विषयक तथा श्रमणोत्तम आर्य सत्यमित्र से सम्बन्धित तित्थोगाली पइन्ना की वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:-

नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणानिउण विचरिअओ ।

होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वी धारओ वीरो ॥८०२॥

एयस्स पुव्वसुयसारस्स, उदहिव्व छल्ल अपरिमेयस्स ।

सुणंसु जह अथ काले, परिहाणी दीसते पच्छा ॥८०३॥

पुव्वसुयतेल्ल भारिए, विज्झाए सच्चमित्त दीवम्मि ।

धम्मावायनिसिल्लो, होही लोगो सुयनिसिल्लो ॥८०४॥

अर्थात् - श्रमण-गुणों की परिपालना में पूर्णतः निपुण सत्यमित्र नामक वीर श्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होंगे। अगाध उदधि के समान छलाछल भरे सारभूत पूर्वश्रुत का कालान्तर में किस प्रकार ह्रास होगा, यह सुनिये। पूर्वश्रुत रूपी तैल से भरे आर्य सत्यमित्र रूपी दीपक के बुझ जाने पर लोग (अधिकांशतः) धर्माचरण एवं श्रुताराधन से विरत हो जायेंगे।”

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त गाथा संख्या ८०४ से किसी समय इस प्रकार की भ्रान्ति का जन्म हुआ कि सत्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ ही सम्पूर्ण पूर्वज्ञान विनष्ट हो गया और उसके फलस्वरूप लोग धर्माचरण एवं श्रुताराधन से विहीन हो गये। वस्तुतः इस गाथा द्वारा अन्तिम दशपूर्वधर सत्यमित्र के स्वर्गगमन से हुई धर्म एवं श्रुत की हानि का ही उल्लेख किया गया है, न कि पूरे पूर्वगत ज्ञान के विलुप्त होने का। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है आर्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण को ही तित्थोगाली पइन्ना में अन्तिम पूर्वधर बताते हुए स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि उनके निघन के साथ ही पूर्वगतज्ञान विलुप्त हो जायगा।

इस प्रकार ऊपर बताये हुए सब तथ्यों पर विचार करने से सुनिश्चित रूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि वीर नि० सं० ६८० से लेकर पंचम आरक की समाप्ति तक के २००२० वर्षों जैसे सुदीर्घ काल में होने वाले कोटि-कोटि श्रमणों, श्रमणियों, श्रमणोपासकों, श्रमणोपासिकाओं एवं साधकों पर आगमलेखन द्वारा अनन्त उपकार करने के पश्चात् अन्तिम वाचकवृषभ देवद्वि क्षमाश्रमण वीर नि० सं० १००० के समाप्त होने पर स्वर्ग सिधारे।

## २७ कालकाचार्य (चतुर्थ) — युगप्रधानाचार्य

२६वें युगप्रधानाचार्य आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य कालक २७वें युगप्रधान हुए। चतुर्थ कालकाचार्य<sup>१</sup> के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है :-

नागार्जुन की परम्परा में आगे चल कर आर्य कालक हुए। उनका जन्म वीर सं० ६११ में, दीक्षा ६२३ में, युगप्रधान पद ६८३ में और स्वर्गवास वीर सं० ६६४ में माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में यही आचार्य कालक, चतुर्थ कालकाचार्य के रूप में विख्यात हैं।

वल्लभी में हुई अन्तिम आगम-वाचना में जिस प्रकार आचार्य स्कंदिल की माथुरी-वाचना के प्रतिनिधि आचार्य देवद्वि क्षमाश्रमण थे, उसी प्रकार आचार्य नागार्जुन की वल्लभी-आगमवाचना के प्रतिनिधि कालक सूरि (चतुर्थ कालकाचार्य) थे। वल्लभी में वीर नि० सं० ६८० में हुई अन्तिम आगमवाचना में इन दोनों आचार्यों ने मिल कर दोनों वाचनाओं के पाठों को मिलाने के पश्चात् जो एक पाठ निश्चित किया, उसी रूप में आज आगम विद्यमान हैं।

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेख उपलब्ध हैं कि वीर नि० सं० ६६३ में वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के राजकुमार की मृत्यु हो गई और शोकसंतप्त राजपरिवार बड़नगर में निवास करने लगा। कालकाचार्य ने उस वर्ष वहाँ चातुर्मास कर राजकुटुम्ब के शोकनिवारणार्थ संघ के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना प्रारम्भ की। राजा ने भी शोक का परित्याग कर, उपाश्रय में आ कल्पसूत्र का श्रवण किया। तभी से संघ के समक्ष कल्पसूत्र का प्रकट रूप से वाचन होने लगा, जो आज तक भी प्रचलित है।

<sup>१</sup> प्रथम और द्वितीय कालकाचार्य का यथासम्भव पूर्ण परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७४ पर कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यों की नामावली में क्रम संख्या २५ पर आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वें गणाचार्य आर्य कालक का नाम दिया गया है। आर्य सुहस्ती की परम्परा के १३वें आचार्य आर्यवज्र के पश्चात् कल्पसूत्रीया स्थविरावली में जिन आचार्यों के नाम दिये गये हैं, उन आचार्यों का परिचय उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में उन गणाचार्यों का नामोस्तेज के प्रतिरिक्त कोई परिचय नहीं दिया जा सका है। प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् सहज ही प्रत्येक पाठक को तृतीय कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा होना संभव है। पर वस्तुतः तृतीय कालकाचार्य का केवल इतना ही परिचय उपलब्ध है कि वे आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वें गणाचार्य थे। आप मांडर गोत्रीय आर्य विष्णु के शिष्य एवं पट्टधर थे। आर्य कालक के प्रमुख शिष्य का नाम संघपालित था, जो कल्प-स्थविरावली के अनुसार आपके स्वर्गरोहण के पश्चात् आर्य सुहस्ती की परम्परा में २६वें आचार्य बने। रत्नसंघ्य प्रकरण (पत्र ३२) के—

सत्तस्यवीस ग्रहिए, कालिगगुरु सबकसंधुणियो ॥५७॥

इस उल्लेख के अनुसार आपके गणाचार्य पद पर आसीन होने का समय वीर नि० सं० ७२० माना गया है।

—सम्पादक

इस प्रकार आचार्य कालक उस समय के प्रधान आचार्य माने गये हैं। दुष्पमाकाल श्रमणसंघ-स्तोत्र के अनुसार वज्रसेन (वीर नि० सं० ६२०) के पश्चात् ६६ वर्ष नागहस्ती, ५६ वर्ष रेवतीमित्र, ७८ वर्ष ब्रह्मद्वीपकसिंह, ७८ वर्ष नागार्जुन, ७६ वर्ष भूतदित्र और तदनन्तर ११ वर्ष कालकाचार्य का आचार्यकाल रहा।<sup>१</sup> तदनुसार वीर नि० सं० ६६४ में कालकाचार्य का स्वर्गवास माना गया है।

वीर नि० सं० ६६३ में कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्युषण पर्व मनाने की जो बात कही जाती है, वह उल्लेख वस्तुतः वीर नि० सं० ४५७ से ४६५ के बीच किसी समय द्वितीय कालकाचार्य द्वारा प्रचलित किये गये चतुर्थी-पर्वाराधन के स्थान पर मध्य काल में जो पंचमी के दिन पर्वाराधन का प्रचलन हो गया था, उसे निरस्त कर पुनः चतुर्थी-पर्वाराधन को स्थिर करने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।<sup>२</sup>

### २८ आर्य सत्यमित्र-युगप्रधानाचार्य

दुष्पमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र का द्वितीयोदय के युगप्रधानाचार्यों में आठवां स्थान माना गया है।<sup>१</sup> युगप्रधान कालकाचार्य (चतुर्थ) के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ६६४ में आर्य सत्यमित्र २८वें युगप्रधानाचार्य हुए।

आपका केवल यही परिचय उपलब्ध होता है कि वीर नि० सं० ६५३ में आपका जन्म हुआ। वीर नि० सं० ६६३ में आपने १० वर्ष की बाल्यावस्था में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। तीस वर्ष तक सामान्य श्रमण-पर्याय में रहने के अनन्तर वीर नि० सं० ६६३ में आपको युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने ७ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य के रूप में जिन-शासन की सेवा करने के पश्चात् ४७ वर्ष, ५ मास और १ दिवस की आयु समाधिपूर्वक पूर्ण कर वीर नि० सं० १००१ में स्वर्गारोहण किया।

### देवद्वि कालीन राजनैतिक स्थिति

गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(वीर नि० सं० ६८२-६६४)

वीर नि० सं० ६८२ में कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र स्कन्दगुप्त सुविशाल गुप्त - साम्राज्य का स्वामी बना। इसका पहला अभिलेख, जूनागढ़ का चट्टान-अभिलेख गुप्त सम्वत् १३६ का और अन्तिम गडवा का शिलालेख गुप्त सं० १४८ का है। इन दोनों शिलालेखों के आधार पर यह विश्वास किया

<sup>१</sup> वयरसेण ३, नागहस्ति ६६, रेवतीमित्र ५६, ब्रह्मद्वीपकसिंह ७८, नागार्जुन ७८, एवं वर्षाणि ६०४, भूतदित्र ७६, कालकाचार्य ११

[दुष्पमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र, भवचूरि, पृष्ठा० समु० पृ० १८]

<sup>२</sup> देखें द्वितीय कालकाचार्य का प्रकरण, पृ० ५१७-२१

जाता है कि स्कन्दगुप्त का शासनकाल वीर नि० सं० ६८२ से ६६४ (ई० सन् ४५५-४६७) तक रहा। स्कन्दगुप्त बड़ा ही शूरवीर और प्रतापी सम्राट था। उसे जीवन भर संघर्षरत रहना पड़ा। यह पहले बताया जा चुका है कि स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के शासनकाल में पुष्यमित्रों की बड़ी शक्तिशाली विशाल सेना को परास्त कर गुप्त-साम्राज्य की रक्षा की थी। गुप्त-साम्राज्य की बागडार सम्हालते ही स्कन्दगुप्त ने मध्य एशिया से आये हुए बर्बर हुए आक्रान्ताओं से अपनी मातृभूमि भारत की रक्षार्थ बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया। यूरोप और एशिया के अनेक भू-भागों को अपने घोड़ों की टापों से पददलित करते हुए हूणों ने टिप्पू दल की तरह भारत पर आक्रमण किया। एशिया की बड़ी-बड़ी राजसत्ताओं को भू-लुण्ठित करने के पश्चात् हूण जाति का सरदार आंटीला बड़े गर्व के साथ कहा करता था—“जिस भूमि पर मेरे घोड़े की टाप एक बार गिर जायगी, उस भूमि पर बारह वर्ष पर्यन्त घास तक नहीं उग सकेगी।”

हूण सैनिक, संख्या में अत्यधिक होने के साथ-साथ निपुण अश्वारोही थे। उन्होंने प्रलयकालीन आंधी की तरह भारत पर आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये एक सशक्त सेना लेकर रणांगण में हूणों की सेना से जा भिड़ा। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। हूण सैनिक भारतीयों के भीषण प्रतिरोध से तिलमिला उठे क्योंकि अब तक प्रत्येक देश में अश्वारोही की तरह बड़ती हुई उनकी दुर्दान्त अश्वारोही सेना को इस प्रकार अन्यत्र कहीं नहीं रोक़ा गया था। हूणों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर पूरी शक्ति के साथ आगे बढ़ने का प्रयास किया। षष्ठमुख कार्तिकेय के समान स्कन्दगुप्त ने भारतीय सेना का संचालन करते हुए आततायी हूण आक्रान्ताओं का संहार किया और उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। लोमहर्षक तुमुलयुद्ध में जनघन की अपार शक्ति उठाने के अनन्तर, बुरी तरह हारा हुआ हूण सरदार अपनी बची खुची सेना के साथ रणांगण से भाग खड़ा हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत पर हुए विदेशी आक्रमणों में हूणों द्वारा किया गया आक्रमण सबसे अधिक भीषण था।<sup>१</sup> स्कन्दगुप्त ने अद्भुत शौर्य और साहस के साथ दुर्दान्त हूणों को परास्त कर भारत की एक महान् संकट से रक्षा की।

यद्यपि इस युद्ध में हूणों की शक्ति नष्टप्रायः हो चुकी थी तथापि अपनी पराजय का प्रतिषोध लेने के लिये हूणों ने अनेक बार भारत पर आक्रमण किये। हठी हूण सरदार ने पन्द्रह-पन्द्रह, सोलह-सोलह वर्ष की आयु के हूण किशोरों को युद्ध में भौंक दिया पर हर बार स्कन्दगुप्त ने रणाक्षेत्र में हूणों को बुरी तरह पराजित किया।

अपने १२ वर्ष के शासनकाल में निरन्तर युद्धों में उसके रहने के कारण स्कन्दगुप्त का कोषबल अत्यधिक क्षीण हो चुका था तथापि उसने अपने जीवन-काल में बर्बर हुए आतताइयों को भारत की धरती पर आगे नहीं बढ़ने दिया।

<sup>१</sup> हूणस्य समागतस्य समरे शोर्मा धरा कम्पिता ।

[स्कन्दगुप्त का मित्रो (जिला गाजीपुर, उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख]



कतिपय इतिहासज्ञों का अभिमत है कि गुप्त सम्राट् कुमार गुप्त के निधनान्तर पुरुगुप्त राज्य सिंहासन पर बैठा। पुरुगुप्त को अपदस्थ करने एवं गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर अपना अधिकार करने के लिये स्कन्दगुप्त को गृहयुद्ध में उलभना पड़ा। उस गृह-कलह में स्कन्दगुप्त अन्ततोगत्वा विजयी हुआ और पुरुगुप्त को राज्यच्युत कर उसने गुप्त साम्राज्य के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। अपने इस अभिमत की पुष्टि में उन विद्वानों द्वारा स्कन्दगुप्त के भितरी (उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है :-

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्.

भुजबलविजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।

जितमिव परितोपान्मातरं साश्रुनेत्राम्,

हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥६॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि पिता के दिवंगत होने के पश्चात् अपने बाहुबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर स्कन्दगुप्त ने संकटों से घिरे गुप्त साम्राज्य की पुनः पूर्ववत् प्रतिष्ठा स्थापित की। जिस प्रकार कंस आदि शत्रुओं का संहार करने के पश्चात् श्री कृष्ण (अपनी विजय का संदेश सुनाने) मां देवकी की सेवा में उपस्थित हुए, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त ने भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अपनी माता को अपनी विजय का संदेश सुनाया। उसकी माता के नेत्रों में हर्ष के आंसू भर आये।

कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त को गुप्तसम्राट् मानने वाले विद्वान् "विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्" इस पद से यह अनुमान लगाते हैं कि दायदाधिकार के प्रश्न को लेकर स्कन्दगुप्त का अपने पुरुगुप्त आदि अन्य भाइयों से झगड़ा हुआ। उस गृह-कलह के फल स्वरूप वंशलक्ष्मी विप्लुत अर्थात् संकटाच्छन्न हो गई। स्कन्दगुप्त ने अपने भुजबल से उन शत्रुओं (न कि भाइयों) को जीत कर उस विप्लुत (पलायनोद्यत) वंशलक्ष्मी को पुनः स्थिर किया।

वस्तुतः इस प्रकार के प्रबल प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तसाम्राज्य पर जो संकट के काले बादल छाये, वे हूणों के प्रबल आक्रमण के फलस्वरूप थे, न कि तथाकथित दायदाधिकार के प्रश्न को लेकर परस्पर भाइयों में हुए किसी गृहकलह के कारण। इस तथ्य की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :-

१. कुमारगुप्त के समय का गुप्त सं० १३५ का मथुरा से प्राप्त जैन शिलालेख।

२. कुमारगुप्त के चाँदी के वे सिक्के, जिन पर गुप्त सं० १३६ अंकित है।

३. स्कन्दगुप्त का गुप्त संवत् १३६ का जूनागढ़ स्थित चट्टान अभिलेख। उपरि लिखित तीन प्रमाणों में से पहले दो प्रमाण इस बात की साक्षी

देते हैं कि कुमारगुप्त का शासनकाल गुप्त संवत् १३६ (ई० सन् ४५५) तदनुसार वीर नि० सं० ६८२ में समाप्त हो गया ।

उपरोक्त प्रमाणों में से अंतिम प्रमाण (जूनागढ़ का चट्टान-अभिलेख) इस तथ्य को तो सिद्ध करता ही है कि गुप्त संवत् १३६ में कुमारगुप्त की मृत्यु होते ही स्कन्दगुप्त का शासनकाल प्रारम्भ हुआ ।<sup>१</sup> इस तथ्य के अतिरिक्त निम्न-लिखित तथ्य भी जूनागढ़ के उपरोक्त चट्टान अभिलेख से प्रकट होते हैं :-

१. गुप्त संवत् १३६ ( ई० सं० ४५५, वीर नि० सं० ६८२ ) में जिस समय कुमारगुप्त की मृत्यु हुई और स्कन्दगुप्त विशाल गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बना, उसी वर्ष में हूणों ने भारत पर बड़ा भयंकर आक्रमण किया ।

२. उसी वर्ष में अर्थात् वीर नि० सं० ६८२ में स्कन्दगुप्त ने हूणों के साथ युद्ध किया और युद्ध में उनका भीषण रूप से संहार कर उन्हें बुरी तरह पराजित किया ।<sup>२</sup>

उपरिर्वाणित तथ्यों से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त सं० १३६ (ई० सन् ४५५) में कुमारगुप्त की मृत्यु होने पर उसका उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त विशाल गुप्त-साम्राज्य के राज-सिंहासन पर आसीन हुआ । उसके राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते ही ई० सन् ४५५ में हूणों ने भारत पर आक्रमण किया । उसी वर्ष स्कन्दगुप्त ने हूणों को पराजित कर जूनागढ़ का शिलालेख उट्टं कित करवाया । ऐसी स्थिति में कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के बीच में पुरु-गुप्त के सम्राट् बनने का न कोई प्रश्न ही उत्पन्न होता है और न कोई अवकाश ही रह जाता है । वस्तुतः कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चात् स्कन्दगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना यह एक निर्विवाद सत्य है ।

हूणों को पराजित करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य के सभी प्रान्तों में अपने परम विश्वासपात्र और सुयोग्य शासकों को नियुक्त किया । जिससे कि देश के शत्रुओं को शिर उठाते ही कुचल दिया जा सके । उन दिनों सौराष्ट्र सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रदेश माना जाता था । डिमिट्टि-

<sup>१</sup> क्रमेण बुद्धया निपुणं प्रघार्यं, ध्यात्वा च कृतस्नानं गुणदोषहेतून् ।

अपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार ॥ [जूनागढ़ का लेख]

<sup>२</sup> प्रथयन्ति यशांसि यस्य, रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छ-देशेषु । [वही]

“स्कन्दगुप्त ने जिन शत्रुओं की शक्ति को आमूलचूल विनष्ट कर उनके घमण्ड को चकनाचूर कर डाला, वे शत्रु स्वयं द्वारा पूर्वतः विजित म्लेच्छ देशों (ईराक, ईरान आदि) में भी भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप रह कर स्कन्दगुप्त के यश का विस्तार कर रहे हैं” - यह तीखा कटाक्ष शतप्रतिशत हूणों पर ही षटित होता है । वस्तुतः स्कन्दगुप्त ने हूणों की रोड़ की हड्डी तोड़ दी थी । ई० सन् ४५५ के इस युद्ध में हूणों को जनधन की इतनी अधिक हानि हुई कि इस युद्ध के ४५ वर्ष पश्चात् कहीं हूणों का सरदार तोरमाण भारत पर बड़ा आक्रमण करने का साहस कर सका और ई० सन् ५०२ में उमने मालवा पर अधिकार किया ।

-सम्पादक

यस, भेनेण्डर आदि विदेशी आक्रान्ताओं ने सौराष्ट्र को ही भारत का प्रवेश-द्वार बनाया था। शकों ने तो कुछ व्यवधानों को छोड़ कर शताब्दियों तक सौराष्ट्र को अपनी सत्ता का गढ़ बनाये रखा था। स्कन्दगुप्त ने इस महत्वपूर्ण प्रदेश की सुरक्षा के लिये किसी सुयोग्य शासक का चयन करने के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक सोच-विचार किया और अन्त में पर्णदत्त को ही सर्वाधिक सुयोग्य समझ कर उसे सौराष्ट्र का शासक नियुक्त कर परम संतोष का अनुभव किया।<sup>१</sup>

स्कन्दगुप्त ने जनकल्याण के अनेक कार्य किये। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में वीर नि० सं० २२७ के आस पास बनी सुदर्शन भील का स्कन्दगुप्त ने विपुल धनराशि व्यय कर जीर्णोद्धार करवाया।<sup>२</sup>

स्कन्दगुप्त स्वयं विष्णुभक्त था पर अन्य सभी धर्मों के प्रति वह सद्भाव रखता था। उसके शासनकाल में शैबों, जैनों एवं बौद्धों को अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

उत्तर प्रदेश में गोरखपुर जिले के कहीम नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में किसी मद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्त्ता ग्रहंतों (श्री भगवानलाल इन्द्रजी के अभिमतानुसार एक ही स्तम्भ में आदिनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर) की मूर्तियाँ बनवाई गईं।<sup>३</sup>

जूनागढ़ के शिलालेख तथा भितरी के स्तम्भलेख में स्कन्दगुप्त के शौर्य, औदार्य, सच्चरित्रता, प्रजावत्सलता आदि सम्राटोचित गुणों का जो चित्रण किया गया है, उसके कतिपय अंश पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में भारतीय जनसाधारण भी भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि से बड़ा समृद्ध था। यथा राजा तथा प्रजा की कहावत को चरितार्थ करने वाले कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

स्कन्दगुप्त के विमल चरित्र का भितरी के स्तम्भलेख में निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया गया है :-

चरितममलकीर्तः गीयते यस्य शुभ्रम्,

दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥५॥

<sup>१</sup> सर्वेषु देशेषु विषय गौप्तुन्, संचिन्तयामास बहुप्रकारम् ।  
सर्वेषु भृत्येष्वपि संहृतेषु, यो मे प्रशिष्यन्निखिलान्पुराष्ट्रान् ।  
आम् श्वातमकः खलु पर्णदत्तो, भारस्य तस्योद्ग्रहणे समर्थः ॥

[स्कन्दगुप्त का, जूनागढ़ का शिलालेख]

<sup>२</sup> जूनागढ़ का शिलालेख

<sup>३</sup> पुष्यस्कंधं स चक्रे जगदिदमलिलं संसरद्दीह्य भीतो,  
बेबोर्जं भूतभूत्यं पथि नियमवतामहंतामादिकर्तुन् ।  
मद्रस्तस्यास्मजोऽभूत् द्विजगुह्यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः ।

[कहीम का स्तम्भलेख]

वाहुभ्यामवनि विजित्य हि जितेष्वात्तेषु कृत्वा दयाम् ।  
 नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिनं संवद्धमानद्युतिः  
 गीतेश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम् ॥७॥

स्कन्दगुप्त की प्रजा किस प्रकार आदर्श मानवता से ओतप्रोत, धर्मनिष्ठ, सुखी और समृद्ध थी, इसका चित्रण जूनागढ़ के शिलालेख में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :-

तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्माद्द्व्यपेतो मनुजः प्रजाम् ।  
 आर्ता दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितःस्यात् ॥

राजा और प्रजा में इस प्रकार के आदर्श गुणों की समानता विश्व के इतिहास में बहुत कम दृष्टिगोचर होती है ।

वीर नि० सं० ६८२ से ६६४ तक के अपने १२ वर्ष के शासनकाल में स्कन्दगुप्त ने अनेक युद्धों में शत्रुओं को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की । स्कन्दगुप्त के शासनकाल में जनकल्याण के अनेक कार्य किये गये ।

भारतीय इतिहास में स्कन्दगुप्त का नाम अमर रहेगा । हूणों जैसी आत-तायी बर्बर जाति की मदभरी शक्ति को विचूर्णित कर स्कन्दगुप्त ने न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप के निवासियों का बड़ा उपकार किया । यदि स्कन्दगुप्त ने हूणों की उन्मत्त अजेय शक्ति को नष्ट न किया होता तो हूणों के अत्याचारों से संव्रस्त हो सम्पूर्ण एशिया त्राहि-त्राहि की पुकार के साथ बड़े लम्बे समय तक कराहता रहता ।

समुद्रगुप्त के शासनकाल से स्कन्दगुप्त के शासनकाल तक, अर्थात् वीर० नि० सं० ८६२ से ६६४ तक गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष काल रहा । स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया । स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र नहीं था अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई पुरुगुप्त गुप्त—साम्राज्य का अधिकारी बना ।

संभवतः डेढ़ वर्ष तक ही पुरुगुप्त का राज्य रहा । वीर नि० सं० ६६६ में पुरुगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त अयोध्या के सिंहासन पर बैठे । वीर नि० सं० १००० में नरसिंह गुप्त की भी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् कुमार गुप्त (द्वितीय) गुप्त-राज्य का स्वामी बना ।

**वीर नि० सं० १००० तक हुए गुप्तराजवंश के राजाओं की तिथिक्रम सहित नामावली**

नाम :-	अनुमानित शासनकाल :-
१. श्री गुप्त	वीर नि० सं० ७६७ से ८०७
२. घटोत्कच	” ” ” ८०७ से ८४६
३. चन्द्रगुप्त प्रथम	” ” ” ८४६ से ८६२

४. समुद्रगुप्त	वी० नि० सं०	८६२ से ९०२
५. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य	" " "	९०२ से ९४१
६. कुमारगुप्त (प्रथम) महेन्द्रादित्य	" " "	९४१ से ९८२
७. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य	" " "	९८२ से ९९४
८. पुरुगुप्त	" " "	९९४ से ९९६
९. नरसिंह गुप्त	" " "	९९६ से १०००

गुप्त वंश के ८वें राजा बुधगुप्त के नालन्दा से प्राप्त हुए एक मुद्रा अभिलेख में श्रीगुप्त से बुधगुप्त तक गुप्तराजाओं की नामावली दी हुई है, जो इस प्रकार है :-

- (१) महाराजा श्रीगुप्त
- (२) पुत्र - महाराजा श्री घटोत्कच
- (३) पुत्र - महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त प्रथम  
महादेवी - कुमारदेवी
- (४) पुत्र - लिच्छविदौहित्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त  
महादेवी - दत्तदेवी
- (५) अप्रतिरथ - परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय  
महादेवी - ध्रुवदेवी
- (६) पुत्र - महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त प्रथम  
महादेवी - अनन्तदेवी
- (७) पुत्र - महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त  
महादेवी - चन्द्रदेवी
- (८) पुत्र - परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त

इस अभिलेख में कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का और पुरुगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय का नाम छोड़ दिया गया है।

### सामान्य पूर्वधर-काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता

निर्वाणानन्तर दश पूर्वधर-काल तक की श्रुतपरम्परा तथा आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों ही परम्पराओं की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में यथाप्रसंग जो विवरण दिया गया है, उससे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि एक ही मूग की दो फाड़ के समान प्रभु वीर की उपासक इन दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में परस्पर पर्याप्त अन्तर है। पूर्वधरों के नाम, उनकी संख्या तथा पूर्व-ज्ञान के अस्तित्वकाल विषयक भेद के अनन्तर इन दोनों परम्पराओं का मान्यता-भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है।

जहां श्वेताम्बर परम्परा चतुर्दश पूर्वधरों की विद्यमानता वीर नि० सं० ६४ से १७०, तदनुसार १०६ वर्ष मानती है, वहां दिगम्बर परम्परा में चौदह पूर्व-

धारियों का समय वीर नि० सं० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का माना गया है। यद्यपि दोनों परम्पराएँ चतुर्दश पूर्वधरों की संख्या समान रूप से ५ मानती हैं तथापि अंतिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त शेष चारों चतुर्दश पूर्वधरों के जो नाम दोनों परम्पराओं के प्रामाणिक ग्रन्थों में दिये गये हैं, वे पूर्णतः भिन्न हैं।

इसी प्रकार दश पूर्वधरों का काल जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक ४१४ वर्ष का माना गया है, वहाँ दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में इनका काल वीर नि० सं० १६२ से ३४५ तक, केवल १८३ वर्ष का ही बताया गया है। दश पूर्वधर आचार्यों की संख्या दोनों परम्पराओं में समान रूप से ११ मानी गई है पर इन ग्यारहों आचार्यों के जो नाम दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, वे एक दूसरी परम्परा द्वारा दिये गये नामों से पूर्णतः भिन्न हैं।

दश पूर्वधरों के काल के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० ५८४ से १००० तक ४१६ वर्ष का पूर्वधर-काल माना गया है।<sup>१</sup> उस ४१६ वर्ष की अवधि में १० आचार्यों को पूर्वज्ञान का धारक माना गया है, जिनमें आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वों के ज्ञाता तथा देवद्वि क्षमाश्रमण एक पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। मूलागम भगवतीसूत्र में वीर नि० सं० १००० तक पूर्वज्ञान के विद्यमान रहने का उल्लेख होने के कारण श्वेताम्बर परम्परा द्वारा अपनी इस मान्यता को निर्विवादरूपेण पूर्णतः प्रामाणिक माना जाता है।

इस प्रकार जहाँ श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि वीर नि० सं० १००० के पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद हुआ, वहाँ दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि अंतिम दश पूर्वधर धर्मसेन के स्वर्गस्थ होते ही वीर नि० सं० ३४५ में पूर्वज्ञान का विच्छेद हो गया और तदनन्तर वह (पूर्वज्ञान) एक देश अर्थात् आंशिक रूप में ही विद्यमान रहा। पूर्वज्ञान के अस्तित्वकाल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं की मान्यता में यह ६५५ वर्ष का अन्तर वस्तुतः प्रत्येक विचारक के लिये केवल चिन्तन ही नहीं अपितु चिन्ता का विषय भी है।

पूर्वज्ञान जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण एवं अति विशाल ज्ञान का क्रमिक ह्रास तो युक्तिसंगत एवं बुद्धिमय हो सकता है किन्तु बिना किसी असाधारण परिस्थिति

<sup>१</sup> (क) गीयमा ! जंबुद्वीपे एं दीवे भारहेवासे इमीसे ओसधिसीए मम एगं वाससहस्सं पुअ्वगए अणुसज्जिसइ ।

[भगवती सूत्र, अ० २०, उ० ८, सू० ६७७ (सुत्तागम, पृ० ७०४)]

(ख) बोलीणम्मि सहस्से वरिसाण वीरभोक्खगमणाओ ।

उत्तर वायगवसभे, पुअ्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥

वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोमालिए बड्ढमाणास्स ।

नासीहि पुअ्वगतं, अणुपरिवाडीए जं जस्स ॥८०६॥

[तित्थोमालियपइस्सा — अप्रकाशित]

अथवा विप्लवकारी घटना के उल्लेख के, यह कहा जाय कि अंतिम दश पूर्वधर आचार्य धर्मसेन के वीर नि० सं० ३४५ में स्वर्गस्थ होते ही दशों पूर्वों का ज्ञान सहसा एक ही क्षण में विलुप्त हो गया, दश में से एक भी पूर्व का ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहा, यह बात किसी निष्पक्ष विचारक के गले नहीं उतर सकती ।

पूर्वज्ञान विषयक दोनों परम्पराओं के इस गहन मान्यता—भेद की अपेक्षा एक और अत्यधिक गम्भीर मतभेद एकादशांगी की विच्छिन्नता के सम्बन्ध में है । दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में स्पष्टतः एक स्वर से यह उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० ६८३ में एकादशांगी का विच्छेद हो गया और उसके पश्चात् उसका केवल एक देश ज्ञान ही अवशिष्ट रह गया ।<sup>१</sup>

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्वेताम्बर परम्परा का मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगमों को और स्थानकवासी तथा तेरापथ ये दोनों सम्प्रदाय ३२ आगमों को वर्तमान काल में विद्यमान मानते हैं । श्वेताम्बर परम्परा के इन तीनों सम्प्रदायों की स्पष्ट और निश्चित मान्यता है कि काल—प्रभाव से आगमज्ञान अंगोपांगादि उत्तरोत्तर क्षीण, अति क्षीण और क्षीणतर होते रहने पर भी दुष्काल की समाप्ति पर्यन्त वीर नि० सं० के २१००३ वर्ष = मास १४ दिन बीत जाने पर १५वें दिन प्रथम प्रहर तक अपने शुद्ध स्वरूप में अंशतः विद्यमान रहेगा ।

यहां यह विचारणीय है कि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में अंगप्रविष्ट आचारांगादि (द्वादशांगी) के विच्छेद का तो उल्लेख है किन्तु अंगबाह्य आदि शेष आगमों के विच्छिन्न होने का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया गया है । दिगम्बर परम्परा की प्रचलित मान्यता के अनुसार तो द्वादशांगी की तरह अंगबाह्य आगम भी विच्छिन्न की कोटि में गिने जाते हैं पर यदि दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध वाङ्मय का समीचीनतया अनुशीलन किया जाय तो उसमें कहीं इस बात का संकेत तक भी नहीं मिलेगा कि अंगबाह्य आगम विलुप्त हो गये ।

यदि निष्पक्ष एवं सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों परम्पराओं के आगमों का तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति (केवलि-कवलाहार) आदि छोटी बड़ी ८४ बातों के मान्यताभेद के अतिरिक्त शेष सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन,

<sup>१</sup> (क) पट्टक्षणागम, वेदनाक्षण्ड, धवला टीका, भाग ६, पृ० १३०

(ख) हरिवंश, पु०, सर्ग ६६, श्लोक २२ से २४

(ग) उत्तरपुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१६ से ५२७

(घ) महापुराण पुष्पदन्त, सन्धि १००, पृ० २७४

(ङ) तिलोपपष्णती, अधि० ४, गा० १४६२

(च) श्रुतावतार (इन्द्रनदी), श्लोक ७८-८४

(छ) छ सयतिरासिय वामे एण्वाष्णा अंगच्छिन्न कहिय जिणं ॥१७॥

(नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली)

तत्त्वों का निरूपण आदि दोनों परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलेगा। यही नहीं, दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम और कषायपाहुड़ जैसे एकादशांगी के सर्वाधिक सन्निकट समझे जाने वाले आगमिक ग्रन्थों की क्रमशः घबला और जयघबला टीका में श्वेताम्बर परम्परा के आचारांगादि आगमों के उद्धरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। विवेच्य वस्तुविषय की साम्यता के साथ-साथ दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में अधिकांशतः ऐसी गद्यांश उपलब्ध होती हैं जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों, निर्युक्तियों, भाष्यों आदि की गद्यांशों से अक्षरशः मिलती-जुलती हैं। वस्तुतः दोनों परम्पराओं के कतिपय आगम ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होता है, मानो एक ही सुधासागर के अमृत को भिन्न-भिन्न पात्रों में भरकर नामभेद से रखा गया हो। दिगम्बर परम्परा के पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर आचार्य ने षट्खण्डागम आदि आगमों में जो तात्विक तथा सैद्धान्तिक निरूपण किया है, यह समग्ररूपेण वही है जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशांगी, अंगबाह्य आगमों, छेदसूत्रों, उपांगों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में सूत्ररूपेण अथवा विशद रूपेण पहले से ही विद्यमान है। दोनों परम्पराओं के आगमों में विभेद नाम की यदि कोई वस्तु है तो केवल नाम, शैली और क्रम की ही है। श्वेताम्बर परम्परा के जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम वर्तमान काल में विद्यमान हैं, उनका नामोल्लेख तो दिगम्बर परम्परा के आगमों में ज्यों का त्यों विद्यमान है ही पर सार रूप में इन आगमों के विषय का जो परिचय दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दिया गया है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के विद्यमान आगमों के विषय से अधिकांशतः मिलता-जुलता ही है। यदि यह कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम-ग्रन्थों में मूलतः जिन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वे अर्थतः वे ही हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आगमों एवं आगम-ग्रन्थों में विशद रूपेण वर्णित हैं। उनकी टीकाओं में भी उपर्युक्त ८४ मान्यताभेदों के अतिरिक्त नवीन कुछ नहीं है।

उदाहरणस्वरूप षट्खण्डागम को ही ले लिया जाय। दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थ के रूप में षट्खण्डागम का सर्वोपरि स्थान है। वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक १३वें वाचक (वाचनाचार्य) पद पर और १२वें युगप्रधान पद पर रहे आर्थ श्यामाचार्य द्वारा पूर्वज्ञान से उद्धृत उपांग-“पन्नवशा (प्रज्ञापना) सूत्र” और वीर नि० सं० ७६३ से ७६९ के बीच हुए आचार्य अर्हद्वलि<sup>१</sup> के पश्चाद्वर्ती आचार्य

<sup>१</sup> अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् हुए आचार्य विनयधर ने अर्हद्वलि एवं अर्हद्वलि से धरसेन तक के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में केवल एक अविश्वसनीय-नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के आधार पर दिगम्बर परम्परा के कतिपय उल्ककोटि के विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा के आगमों एवं प्राचीन ग्रन्थों से भिन्न मान्यता प्रचलित करने का प्रयास किया है, इस विषय पर इसी अध्याय में आगे प्रकाश डाला जा रहा है। -सम्पादक



धरसेन<sup>१</sup> के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम के तुलनात्मक अध्ययन से यह आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि शैलीभेद को छोड़कर पन्नवर्णा सूत्र और षट्खण्डागम में पर्याप्त साम्य है। इन दोनों आगमों की समानता सिद्ध करने वाले कतिपय तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

(१) जीव तथा कर्म का सैद्धान्तिक विवेचन इन दोनों शास्त्रों का विषय है।

(२) दोनों का मूल स्रोत दृष्टिवाद है।<sup>२</sup>

(३) इन दोनों रचनाओं में निरूपण-साम्य के अतिरिक्त समान शब्दावलि एवं उक्तियों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

(४) इन दोनों की रचना सूत्र रूप में है।

(५) दोनों में ही सूत्र कहीं-कहीं गाथात्मक भी हैं।

(६) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम की निम्नलिखित गाथाएं पर्याप्त रूपेण समान हैं :-

**प्रज्ञापना सूत्र -**

समयं बककंतायां, समयं तेसिं सरीरं निव्वत्ती ।

समयं प्राणुग्गहणां, समयं ऊसास-नीसासे ॥ ६६ ॥

एकस्स उ जं गहणां, बहूण साहारणाणां तं चेव ।

जं बहुयाणां गहणां, समासओ तं पि एगस्स ॥ १०० ॥

साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणां च ।

साहारणजीवाणां, साहारणलक्खणां एयं ॥ १०१ ॥

<sup>१</sup> हरिवंशपुराण में जिनसेन द्वारा दी गई आचार्यों की पट्टावली में उल्लिखित आचार्य धरसेन के अतिरिक्त अन्यत्र किसी पट्टावली में पुष्पदन्त तथा भूतबलि के गुरु आचार्य धरसेन का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। हरिवंशपुराण में दी गई पट्टावली के अनुसार जिनयंभर से १८वें आचार्य धरसेन को यदि पुष्पदन्त और भूतबलि का शिष्यागुरु मान लिया जाता है तो धरसेन का समय बीर नि० सं० १०१३ से १०४३ के बीच का ठहरता है। पुन्नाटसंघीय आचार्य धरसेन से यदि चन्द्रगुहावासी धरसेन को मिन्य माना जाता है तो भी अहंइती के पश्चात् होने के कारण इनका समय निश्चित रूप से बीर नि० सं० ७८३ के पश्चात् का ही ठहरता है।

<sup>२</sup> (क) अजकण्णमिणां चित्तं, सुयरयणां दिट्ठीवायसीसवं ।  
जह बण्णियां भगवया, अहमसि तह बण्णइस्सामि ॥ ३ ॥  
(पण्णवणासुत्तं, पृ० १)

(ख) अघायणीयपूर्वस्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थमहा-।  
कर्मप्राभृतकङ्गः सूरिधरसेन नामाभूत् ॥ १०४ ॥  
कर्म प्राकृतिप्राभृतमुपसंहायैव बह्मिनिह कण्ठेः ॥ १३४ ॥  
(भूतावतार-इन्द्रनन्दीकृत)

(ग) भूतबलि-भयवदा जिलाबालिद पासे दिट्ठ विसदिसुत्तेण अण्णाउभोत्ति अयवयबलि-  
वालिदेण महाकम्मपयडिपाहुइस्स बोण्णेशो होहदि ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणे  
दब्बपमाणाणुगममादि काऊण गंवरयणा कदा ।

(षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, भा० १, पृ० ७१)

षट्क्षणागम, पुस्तक १७, सूत्र १२२ से १२४ :-

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च ।  
साहारणजीवाणं, साहारणलक्षणां भणिदं ॥<sup>१</sup>  
एयस्स अणुगहणं, बहूणं साहारणाणमेयस्स ।  
एयस्स जं बहूणं, समासदो तं वि होदि एयस्स ॥  
समगं वक्कंताणं, समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती ।  
समगं च अणुगहणं, समगं उस्सासणिस्सासो ॥

उपर्युक्त तीन गाथाओं का षट्क्षणागम में जो पाठ दिया गया है, उसकी अपेक्षा पन्नबणासूत्रान्तर्गत पाठ अधिक व्यवस्थित और विस्तृत है ।

(७) पन्नबणा सूत्र में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो षट्क्षणागम में भी हैं । इसके अतिरिक्त षट्क्षणागम, पुस्तक सं० १३ के गाथा सूत्र ४ से ६, १२, १३, १५ और १६ आवश्यक निर्युक्ति (गाथा सं० ३१ से) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गा० ६०४ से) की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं ।

(८) इन दोनों में अल्प-बहुत्व प्रायः समान रूप से वर्णित हैं और उन्हें महादंडक के नाम से अभिहित किया गया है ।

(९) प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र १४४४ से ६३) और षट्क्षणागम (पुस्तक ६, सूत्र ११६, २२० आदि), इन दोनों के गत्यागत्यादि प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, तथा वासुदेव के पदों की प्राप्ति के उल्लेख की समानता तो वस्तुतः आश्चर्यजनक है ।

(१०) इन दोनों में अथगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

(११) जीवों के अल्प-बहुत्व विषयक विचार के प्रसंग में प्रज्ञापनासूत्र और षट्क्षणागम के अधोलिखित पाठों की प्रतिपादनशैली आदि की समानता भी वस्तुतः विचारणीय है :-

“अहं भंते ! सम्बजीवण्यबहुं महादंडयं बत्तइस्सामि-सम्बत्थो वा गम्भव-  
क्कंतिया मणुस्सा.....सजोगी विसेसाहिया ६६, संसारत्था विसेसाहिया ६७,  
सम्ब जीवा विसेसाहिया ६८ ॥”-पन्नबणा, सूत्र ३३४ ।

“एत्तो सम्बजीवेषु महादंडमो कादब्बो भवदि । सम्बत्थो वा मणुस्सपज्जत्ता  
गम्भोवक्कंतिया.....णिगोदजीवा विसेसाहिया ॥ - षट्क्षणागम, पु० ७,  
सूत्र १-६६ ।

(१२) प्रज्ञापनासूत्र में इसके ३६ पदों में से २३ वें से २७ वें और ३५ वें पद के क्रमशः कर्मप्रकृतिपद, कर्मबन्ध पद, कर्मबन्धवेद पद, कर्मबेदबन्ध पद, कर्म-

<sup>१</sup> तत्प इमं साहारण लक्षणां भणिदं । - इस सूत्र सं० १२१ के पाठ से अनुमान किया जाता है कि ये गाथाएँ कहीं से उद्धृत हैं ।

वेदवेदक पद और वेदनापद ये ६ नाम उल्लिखित हैं। षट्खण्डागम के टीकाकार ने षट्खण्डागम के ६ खण्डों के क्रमशः जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध—ये ६ नाम दिये हैं। वस्तुतः ये तुलना करने योग्य हैं। प्रज्ञापना में उपर्युक्त पदों के अन्तर्गत जिन तथ्यों की चर्चा की गई है, उन्हीं की चर्चा षट्खण्डागम के तत्समान नाम वाले खण्डों में भी की गई है।

(१३) आहारक एवं अनाहारक जीवों का वर्गीकरण करते हुए इन दोनों आगमों में सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण किये जाने तथा अयोगिकेवली एवं समुद्घातगत सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण न किये जाने का समान रूप में उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :-

**पण्यवरण सूत्र -**

“केवलि आहारणं” भन्ते ! केवलि आहारणं त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ॥” सूत्र १३६६।

“सजोगि भवत्थकेवलि अणाहारणं भन्ते ! ० पुक्खा । गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णं समया ॥” सूत्र १३७२।

“अजोगिभवत्थकेवलि अणाहारणं ० पुक्खा । गोयमा ! जहण्णेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं ॥” सूत्र १३७३।

**षट्खण्डागम -**

“आहारारणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा” ॥सूत्र १७५।

“आहारा एयंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥” - जीवट्ठाण संत-परूवणा, सू० १७६।

अर्थात् आहारमार्गणा की दृष्टि से जीव आहारक और अनाहारक दोनों ही प्रकार के होते हैं। १७५

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त होते हैं ॥१७६॥

“अणाहारा चद्रुमु ट्ठाणेमु विग्गहइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुद्घा-दगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥

इन दोनों मूल आगमों के मूल पाठ में केवलि-भुक्ति का समान रूप से समान भावद्योतक शब्दों में प्रतिपादन किया गया है।

(१४) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम - इन दोनों ही आगमों में गति प्रादि मार्गणास्थानों की अपेक्षा से जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में अल्प-बहुत्व की मार्गणाओं में २६ द्वार हैं, जिनमें जीव-अजीव इन दोनों का ही विचार किया गया है। षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों से अन्धित गत्यादि मार्गणास्थानों को दृष्टिगत रखते हुए जीवों के अल्प-बहुत्व विचार किया गया है। यद्यपि प्रज्ञापनासूत्र में अल्प-बहुत्व की मार्गणाओं के

द्वार २६ और षट्खण्डागम में १४ हैं तथापि दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि षट्खण्डागम में वर्णित १४ मार्गणाद्वार वस्तुतः प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित २६ द्वारों में से १४ के साथ पूर्णतः मिलते-जुलते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्टतः प्रकट होता है :-

प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम (पुस्तक ७, पृ० ५२०)	प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम
		१३. उपयोग	—
१. दिशा	—	१४. आहार	१४. आहारक
२. गति	१. गति	१५. भाषक	—
३. इन्द्रिय	२. इन्द्रिय	१६. परित्त	—
४. काय	३. काय	१७. पर्याप्त	—
५. योग	४. योग	१८. सूक्ष्म	—
६. वेद	५. वेद	१९. संज्ञी	१३. संज्ञी
७. कषाय	६. कषाय	२०. भव	११. भव्य
८. लेश्या	१०. लेश्या	२१. अस्तिकाय	—
९. सम्यक्त्व	१२. सम्यक्त्व	२२. चरिम	—
१०. ज्ञान	७. ज्ञान	२३. जीव	—
११. दर्शन	८. दर्शन	२४. क्षेत्र	—
१२. संयत	९. संयम	२५. बन्ध	—
		२६. पुद्गल <sup>१</sup>	—

१५ जिस प्रकार पन्नवर्णासूत्र के बहुवक्तव्यता नामक तीसरे पद में गति आदि मार्गणास्थानों की अपेक्षा से २६ द्वारों द्वारा जीवों के अल्प-बहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त में - "अह भंते ! सन्वजीवप्यबहुं महादंड्यं वत्तइस्सामि" - इस वाक्य द्वारा महादण्डक प्रस्तुत किया गया है, ठीक उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी १४ गुण स्थानों में गति आदि १४ मार्गणास्थानों द्वारा जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त में महादण्डकों का उल्लेख किया गया है।<sup>२</sup>

प्रज्ञापनासूत्र में जीव को केन्द्र मान कर जीवप्रधान निरूपण किया गया है। षट्खण्डागम में अद्यपि कर्म को केन्द्र बना कर कर्मप्रधान निरूपण किया गया है तथापि "सुहाबन्ध" नामक द्वितीय खण्ड में बन्धक - जीव का विचार १४ मार्गणा-

<sup>१</sup> सूत्र २१२

दिसि गति इंदिय काए जीये वेदे कसाय लेस्सा य ।

सम्भत णाण दंसण संजय उवधीग आहारे ॥१८० गाथा॥

भासग परित्त पज्जत्त सुहुम सण्णी भवत्थिए चरिमे ।

जीवे य खेत. बंवे पोग्गल महदंडए चैव ॥१८१ गाथा॥

[पन्नवर्णासूत्र, तद्वयं बहुवक्तव्यपर्यं, सूत्र २१२]

<sup>२</sup> षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ० ७४५ ।

स्थानों द्वारा किया गया है। इस प्रकरण में पन्नवणासूत्र की शैली को अपना लिया गया है।

इन दोनों आगमों के सूक्ष्म तथा निष्पक्ष अध्ययन से इस प्रकार की श्रीर भी कतिपय समानताओं को प्रकाश में लाया जा सकता है। उपरिलिखित समानताओं पर विचार करने के पश्चात् कम के कम यह तथ्य तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों का स्रोत एक है, इन दोनों का विषय एवं इन दोनों की प्रतिपाद्य वस्तु एक है। यदि इनमें भिन्नता नाम की कोई वस्तु है तो वह है ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम की श्रीर निरूपण-शैली की।

गति प्रादि मार्गणास्थानों द्वारा जीव के अल्प - बहुत्व पर विचार करने के तत्काल पश्चात् इन दोनों ग्रन्थों के एतद्विषयक प्रकरण में महादण्डक का निरूपण तथा षट्खण्डागम के "खुदाबंध" नामक द्वितीय खण्ड में पन्नवणासूत्र के समान जीवप्रधान निरूपण शैली को अपनाना—ये दो तथ्य निष्पक्ष विचारकों के इस अनुमान को पुष्ट करते हैं कि इन दोनों ग्रन्थों में से किसी एक की रचना के समय उसके रचनाकार के समक्ष इनमें से कोई एक ग्रन्थ अवश्य ही आधार रूप में विद्यमान रहा होगा।

पन्नवणासूत्र और षट्खण्डागम इन दोनों ग्रन्थों में अधिक प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है, इसका निर्णय इन दोनों ग्रन्थों के प्ररोताओं के काल-निर्णय के अनन्तर स्वतः ही हो जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार पन्नवणासूत्र के प्ररोता दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य और दिगम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार षट्खण्डागम के प्रणयनकार हैं पूर्व तथा अंगजान के एक दशवार आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि।

दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य ने पन्नवणासूत्र की रचना की - इस श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यता की पुष्टि में मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं:-

१. पन्नवणासूत्र के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा तीन गाथाएँ दी गई हैं। पहली गाथा में सिद्धों को नमस्कार करने के अनन्तर त्रैलोक्य गुरु भगवान् महावीर का बंदन किया गया है। दूसरी और तीसरी गाथा में ग्रन्थकार ने कहा है कि भव्य जीवों का उद्धार करने वाले भगवान् ने श्रुतरत्ननिघान स्वरूप सब भावों की प्रज्ञापना का उपदेश दिया। जिस प्रकार भगवान् ने बर्णन किया है, उसी प्रकार मैं भी दृष्टिवाद से उद्धृत श्रुतरत्नस्वरूप इस अति सुन्दर अध्ययन का बर्णन करूँगा।

तीसरी गाथा के अन्तिम चरण में आये हुए - "अहमवि तह वण्णइस्सामि" से ग्रन्थकार के नाम का बोध नहीं होता अतः प्राचीन काल में किसी आचार्य ने

इस दृष्टि से कि भविष्य में कहीं ग्रन्थकार के सम्बन्ध में भ्रान्ति न हो जाय, दूसरी और तीसरी गाथा के बीच में निम्नलिखित दो गाथाएं रख दीं :-

वायगरवंसाग्नो तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।  
दुद्धरधरेण मुणिएण, पुब्बमुयसमिद्धबुद्धीण ॥१॥  
मुयसागरा विणोऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिणं ।  
सीसगणस्स भगवओ तस्स नमो अज्जसामस्स ॥२॥

अर्थात् - वाचकश्रेष्ठों (वाचनाचार्यों) के वंश में हुए पूर्व - श्रुत - ज्ञान से समृद्ध बुद्धि वाले मुनियों में अधिक गहन ज्ञान धारण करने वाले जिन-तेवीसमें धीर मुनिवर ने अथाह श्रुतसागर से सूत्र - रत्न निकाल कर शिष्यगण को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है ।

तीसरी गाथा में आये हुए "अहमवि" की परिचायक ये दो अन्य-कर्तृक गाथाएं किसी ने बहुत सोच विचार के पश्चात् उचित स्थान पर ग्रन्थ के मूल भाग में रखी हैं । हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने पन्नवणा की स्वनिर्मित वृत्तियों में इन दोनों गाथाओं को स्थान देकर अन्यकर्तृक अथवा प्रक्षिप्त बताते हुए इनकी व्याख्या की है । आचार्य हरिभद्र वस्तुतः धवलाकार आचार्य वीरसेन से लगभग १२५ वर्ष पूर्व हुए हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएं विक्रम की ८ वीं शताब्दी से बहुत पूर्व की हैं । यह भी संभव है कि श्यामार्य के किसी शिष्य ने उनके जीवन-काल में अथवा कुछ समय पश्चात् ही इन गाथाओं को पन्नवणा के प्राय मूल पाठ के साथ जोड़ दिया हो ।

२. दूसरा प्रमाण हिमवन्त स्थविरावली का प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है :-

'समणारणं' गिण्णंठाणं' गिण्णंठीणं' य जिणपवयणमुलहबोहट्ठं' एणं अज्जसामेहिं' थेरेहिं य तत्थ पणवणा परुविया ।<sup>१</sup>

अर्थात् - श्रमण निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थनियों को जिन - प्रवचनों का सुगमता-पूर्वक बोध कराने के उद्देश्य से स्थविर आर्य श्याम ने "पन्नवणा" नामक सूत्र की प्ररूपणा की ।

षट्खण्डागम का निर्माण पुष्पदंत और भूतबलि ने धरसेन से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् किया, दिग्म्बर परम्परा की इस परम्परागत मान्यता की पुष्टि में मुख्य रूप से धवला और इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :-

१. तदो सव्वेसिमंगपुठ्वाणमेगदेसो आइरिय - परंपराए आगच्छमाणो धरसेणारियं संपत्तो । (षट्खण्डागम, जीवट्ठाण (धवला), भा० १, पृ० ६८) .....पुणो तेहि धरसेण भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु

<sup>१</sup> हिमवन्त स्थविरावली, हस्तलिखित ।

तुट्ठेण धरसेण भडारएण सोम्म-तिहि-एक्खत्त-वारे गंधो पारद्धो । पुणो कमेण  
वक्खाणतेण तेण आसाड-मास-मुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वहे गंधो समाणियो ।  
विराएण गंधो समाणियो त्ति तुट्ठेहिं भूदेहिं तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ - बलि -  
संख - तूर - रवसंकुला कदा । तं दट्ठण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण गामं  
कयं । भवरस्स वि भूदेहिं पूजिदस्स अत्थ - वियत्थ - ट्ठिय - दंत - पंतिमोसारिय  
भूदेहिं समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति गामं कयं ।.....

..... तदो पुप्फयंताइरिएण जिणबालिदस्स दिक्खं दाऊण विसदि सुत्ताण  
कारिय पढाविय पुणो सो भूदबलि - भयवंतस्स पासं पेसिदो । भूदबलिभयवदा  
जिणबालिद - पासे दिट्ठ विसदि सुत्तेण अप्पाउओ त्ति भवगय - जिणबालि -  
देण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दब्ब -  
पमाणाणुगममादिं काऊण गंधरयणा कदा । तदो एवं खंड सिद्धंतं पडुक्क  
भूदबलि - पुप्फयंताइरियावि कत्तारो उच्चंति । '(वही, पृ० ७१ - ७२)

इस प्रकार विग्रह सं० ८३० (वीर नि० सं० १३००) के आसपास हुए  
आचार्य वीरसेन ने धवला में षट्खण्डागम का रचनाकार पूर्व तथा अंग - ज्ञान के  
एक देशधर आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदंत तथा भूतबलि को माना है ।

२. इसकी पुष्टि में दूसरे प्रमाण के रूप में इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के  
निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किये जाते हैं :-

देशे ततः सुराष्ट्रे, गिरिनगर पुरान्तिकोर्जयन्तगिरो ।  
चंदगुहाविनिवासी, महातपा परम मुनि - मुख्यः ॥१०३॥  
अप्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा -  
कर्म - प्राभूतकज्ञः, सूरिधरसेननामाभूत् ॥१०४॥  
सोऽपि निजायुष्यान्तं, विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदम् ।  
शास्त्रं व्युच्छेदमवाप्स्यतीति संचिन्त्य निपुणमतिः ॥१०५॥  
देशेन्द्रदेशनामनि, वेणाकतटीपुरे महामहिमा ।  
समुदितमुनीन् प्रति, ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥१०६॥  
-अभिवन्द्य कार्यमेवं, निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम् ।  
स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छ्रितः ॥१०६॥  
न स्याद्यथा तथा द्वौ, यतीश्वरी ग्रहणधारणसमथौ ।  
निशित - प्रज्ञौ यूयं, प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥११०॥  
सम्यगवधार्यं तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य ।  
प्रहितौ तावपि गत्वा, चापनुररमूर्जयन्तगिरिम् ॥१११॥  
-सोऽप्यति योग्याविति संचिन्त्य ततः सुप्रशस्ततिथिवेला -  
नक्षत्रेषु तयोर्ग्याख्यातुं, प्रारब्धवान् ग्रन्थम् ॥११४॥  
दिवसेषु कियस्वपि गतेष्वथाषाढमासि सितपक्षे ।  
एकादश्यां च तिथौ ग्रन्थसमाप्तिः कृता विधिना ॥१२६॥

तद्वन एवैकस्य द्विज-पंक्ति विषमितामपास्य सुरैः ।  
 कृत्वा कुन्दोपमितां नाम कृतं पुष्पदन्त इति ॥१२७॥  
 अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयधोषैर्गन्धमाल्यधूपार्चैः ।  
 भूतपतिरेष इत्याहूतो भूतेर्महं कृत्वा ॥१२८॥  
 स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।  
 इति गुरुणा संचिन्द्य द्वितीय दिवसे ततस्तेन ॥१२९॥  
 प्रियहित वचनेरमुष्य तावुभावेव कुरीश्वरं प्रहिती ।  
 ..... ॥१३०॥  
 —अथ पुष्पदन्त मुनिरप्यध्यापयितुं स्व भागिनेयं तम् ।  
 कर्म प्राकृतिप्राभूतमुपसंहायैव षड्भिरिह खण्डैः ॥१३१॥  
 वाञ्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणाय ।  
 युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ॥१३५॥  
 सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम् ।  
 तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमदेशेऽपि ॥१३६॥  
 तेन ततः परिपठितां, भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा ।  
 षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥१३७॥  
 विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः ।  
 द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खण्डपंचकस्यान्वक् ॥१३८॥  
 सूत्राणिषट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।  
 प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्टकं खण्डम् ॥१३९॥  
 त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा ।  
 तेषां पञ्चानामपि खण्डानां शृणुत नामनि ॥१४०॥  
 —एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ।  
 आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ॥१४२॥

इन्द्रनन्दी के कथन का सारांश यह है कि वीर नि० सं० ६८३ में अंतिम  
 आचारांगधर लोहार्य के स्वर्गगमन के साथ अंग ज्ञान का भी विच्छेद हो गया ।  
 उनके पश्चात् पूर्व और अंगज्ञान के एक-देश-धर क्रमशः (१) विनयधर,  
 (२) श्रीदत्त, (३) शिवदत्त, (४) अर्हदत्त, (५) अर्हदुवली और (६) माघनन्दी  
 नामक आचार्य हुए । माघनन्दी से अनिश्चित काल पश्चात् धरसेन नामक महान्  
 तपस्वी आचार्य हुए । धरसेन के समय, इनकी गुरु परम्परा अथवा शिष्य परम्परा  
 आदि से सम्बन्धित किसी प्रकार की सूचना देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए  
 इन्द्रनन्दी ने लिखा है कि इस सम्बन्ध में न तो किसी मुनि को जानकारी है और न  
 कहीं किसी पुस्तक में ही इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध होता है ।<sup>१</sup> आचार्य

<sup>१</sup> गुणधर धरसेनान्वय गुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।

न जायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

[श्रुतावतार - इन्द्रनन्दीकृत]



धरसेन अप्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के अन्तर्गत चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञाता थे। अपने जीवन के संघ्याकाल में धरसेन को चिन्ता हुई कि कहीं उनके निधन के साथ ही "महाकर्म प्राभृत" विलुप्त न हो जाय। उन्होंने महामहिमा नगरी में एकत्रित श्रमण-समूह की सेवा में एक पत्र भेज कर दो मेधावी मुनियों को अपने पास भेजने की प्रार्थना की, जिन्हें वे चतुर्थ महाकर्म प्राभृत का ज्ञान देकर उसे नष्ट होने से बचावें। वेणातट पर सम्मिलित श्रमणों ने धरसेन के निर्देशानुसार श्रमण-समूह में से दो मेधावी मुनियों को चुन कर उनके पास भेजा। अच्छी तरह परीक्षण के पश्चात् आचार्य धरसेन ने उन दोनों मेधावी मुनियों को चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञान के लिये सुयोग्य पात्र समझ कर शिक्षा देना प्रारम्भ किया। परम निष्ठा, परिश्रम और विनय-पूर्वक अध्ययन करते हुए उन दोनों मुनियों ने उस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन समुचित समय में सम्पन्न किया। सुरों ने बड़े उत्सव के साथ उन दोनों मुनियों में से एक का नाम पुष्पदन्त और दूसरे का भूतबलि (भूतबलि) रखा। अध्ययन की समाप्ति के दूसरे दिन ही धरसेन ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ कर उन दोनों मुनियों को हितकर निर्देश देकर अपने यहाँ से कुरीश्वर नामक स्थान के लिये विदा किया। ६ दिनों में वे दोनों कुरीश्वर पत्तन पहुँचे। वहाँ वर्षावास बिताने के पश्चात् दक्षिण की ओर विहार कर वे करहाट पहुँचे। वहाँ पुष्पदन्त मुनि के भानजे जिनपालित ने अपने मातुल मुनि के सान्निध्य में निर्ग्रन्थ श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर पुष्पदन्त ने जिनपालित के साथ वनवास में और भूतबलि द्रविड़ देश के मधुरा नामक नगर में रहने लगे।<sup>१</sup> पुष्पदन्त आचार्य ने गुण, जीव आदि बीस प्ररूपणा गभित सत्प्ररूपणा के सूत्र बना उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर उसे भूतबलि के पास भेजा। जिनपालित के मुख से सत्प्ररूपणा को सुनकर भूतबलि ने समझ लिया कि अब पुष्पदन्त की प्रायु स्वल्प ही अवशिष्ट रही है और उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि षट्खण्डागम की रचना की जाय। तदनुसार भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की।

पन्नवणा सूत्र और षट्खण्डागम - इन दोनों ही आगमों के मूल पाठ में कहीं इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे इनके रचयिताओं का नाम ज्ञात हो सके। इन दोनों रचनाओं के रचनाकारों का नामोल्लेख दूसरे विद्वानों द्वारा किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ पन्नवणासूत्र के प्रणेता का

<sup>१</sup> दिगम्बर परम्परा में यह मान्यता प्रचलित है कि अर्द्धवली ने उन दोनों मुनियों को धरसेन के पास भेजा। पर इस मान्यता का कोई प्रामाणिक आधार दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण बाङ्गमय में खोजने पर भी नहीं मिलता। हरिवंशपुराण और श्रुतावतार के अनुसार अर्द्धवली का स्वर्गवास बीर नि० सं० ७८३ अथवा ७९१ में अनुमानित किया जाता है। इनके पश्चात् माघमन्दी २१ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे तदनुसार बी० नि० सं० ८०४ अथवा ८१२ के पश्चात् का धरसेन का समय हो सकता है। -सम्पादक

<sup>२</sup> षट्खण्डागम (पृ० १, पृ० ७२) में - "भूतबलि भहारप्रो वि दमिल विसयं गदो!" इस प्रकार का उल्लेख है।

नामोल्लेख करने वाले दो प्रमुख विद्वानों में से एक ने पन्नवणा सूत्र की आदि के मूल मंगलपाठ में ही अपनी ओर से २ गाथाएं देकर इस तथ्य को प्रकट किया है कि पन्नवणा सूत्र की श्रुतसागर के मन्थन द्वारा तेवीसवें वाचक श्रेष्ठ श्यामाचार्य ने रचना की वहां षट्खण्डागम के रचनाकार का नामोल्लेख करने वाली दोनों ही साक्षियां स्वयं मूल ग्रन्थ की न होकर इतर दो ग्रन्थों की हैं। आज से १३०० वर्ष पूर्व भी आचार्य श्यामार्य का पन्नवणा सूत्रकार के रूप में परिचय देने वाली उपरिलिखित दोनों गाथाएं मूल मंगल पाठ में निहित थीं इस तथ्य की साक्षी विक्रम की आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने पन्नवणासूत्र की स्वरचित वृत्ति में इन गाथाओं को केवल स्थान देकर ही नहीं अपितु इनकी व्याख्या करके दी है।<sup>१</sup>

इसमें तो किसी की दो राय नहीं होंगी कि याकिनो महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवणा सूत्र पर टीका की रचना करते समय पन्नवणासूत्र की उनके समय में उपलब्ध हो सकने वाली प्राचीन से प्राचीनतम प्रतियों को प्राप्त करने का प्रयास किया होगा। आज के युग में भी आज से ८००-९०० वर्ष पुरानी आगमों की हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। हरिभद्र सूरि को भी टीका की रचना करते समय आठसौ-नवसौ वर्ष पुरानी न सही कम से कम २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ताड़पत्रीय प्रतियां तो अवश्य मिली होंगी - यह मानने में तो किसी को किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती।

आचार्य हरिभद्र का समय पुरातत्वाचार्य पद्मश्री मुनि जिनविजयजी द्वारा अन्तिम रूप से विक्रम सं० ७५७-८२७ निर्णीत किया जा चुका है,<sup>२</sup> जिसे सभी इतिहासज्ञों ने स्वीकार किया है।

उद्योतनसूरि अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने प्राकृत भाषा के अपने उच्चकोटि के ग्रन्थ कुवलयमाला में आचार्य हरिभद्रसूरि को इन शब्दों में नमन किया है:-

जो इच्छइ भवविरहं, भव विरहं<sup>३</sup> को ए वंदए सुयगो।

समय-सय-सत्य-गुरुगो, समरमियंका कहा जस्स ॥

[ कुवलय माला, प्रारम्भ ]

<sup>१</sup> अस्याश्च गाथायाः “अञ्जणमिणं चित” मित्यनया गाथायासहासिस्त्वन्धः। अतश्च येनेयं सत्वानुग्रहाय श्रुतसागरादुद्भूता असावप्यासन्नतरोपकारित्वात्स्मद्विधानां नमस्काराहं इत्यतस्तद्विषयमिदमपांतराल एवान्यक्तुं कं गाथाद्वयमिति। “वायगवरः” गाथा, वाचकाः पूर्वविदः वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधाना इत्यर्थः, तेषां वंशः प्रवाहो वाचक-वरवंशस्तस्मिन् त्रयोविंशतितमेन, तथा च सुधर्मादारभ्य आर्यं श्यामस्त्रयोविंशतितम एव,..... [हारीभद्राया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ४-५]

<sup>२</sup> (क) जैन साहित्य संशोधक, भाग १, अंक १, वीर नि० सं० २४४६, पृष्ठ २१ से ५३,

(ख) “समदर्शी आचार्य हरिभद्र” (पं० सुखलाल संघवी डी० लिट्) पृ० ८,

<sup>३</sup> “विरह” शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितम्, विरहं कत्वात् हरिभद्रसूरैरिति। [जिनेश्वर सूरिकृत ‘षष्ठम प्रकरण’ टीका]

सो सिद्धतेण गुरु, जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभदो ।

बहु- सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ॥

[कुवलयमाला प्रशस्ति]

इस प्रकार उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में हरिभद्र सूरि को अनेक ग्रन्थों की रचना द्वारा समस्त श्रुतशास्त्र का सच्चा अर्थ प्रकट करने वाले तथा स्वयं की प्रमाण और न्यायशास्त्र के सिखाने वाले गुरु के रूप में स्मरण किया है ।

‘कुवलय मालाकार’ उद्योतन सूरि, अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने अपने इस ग्रन्थरत्न के अन्त में इसके समापन के समय का उल्लेख इस प्रकार किया है:-

“.....अह चोद्सीए चित्तस्स, किण्हपवखम्मि ।

निम्मविया बोहकरी, भव्वाणं होउ सव्वाणं ॥

.....

सगकाले बोलीणे, वरिसाण सएहि सत्तिहि गएहि ।

एग दिणे सूर्योहि, एस समत्ता वरण्हम्मि ॥

अर्थात् -शक संवत् ७०० की समाप्ति से एक दिन पूर्व शुभ बेला में इस (कुवलयमाला) की रचना सम्पूर्ण की । चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्ण की गई यह (कुवलयमाला) सभी भव्यजनों के लिये बोधप्रद हो ।

‘कुवलयमाला’ जैसे अद्भुत एवं उच्चकोटि के ग्रन्थ का प्रणयन करने योग्य पाण्डित्य प्राप्त करने में उद्योतन सूरि को कम से कम २५-३० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा । यह एक निर्विवाद सत्य है कि पाण्डित्य का प्रवेश द्वार प्रमाण और न्यायशास्त्र का अध्ययन माना गया है । उद्योतन सूरि को दीक्षित करने के अनन्तर उनके गुरु तत्तायरिय ने उनकी सुतीक्ष्णबुद्धि और विलक्षण प्रतिभा देख कर उन्हें उस युग के लिये परमावश्यक प्रमाण और न्यायशास्त्र की शिक्षा दिलाने हेतु हरिभद्र सूरि की सेवा में रखा । उस समय तक हरिभद्र सूरि के प्रखर पाण्डित्य की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में फहरा रही होगी, यही प्रमुख कारण हो सकता है कि तत्तायरिय ने हरिभद्र सूरि को अपने मेधावी शिष्य के शिक्षक के रूप में चुना ।

इससे यह अनुमान किया जाता है कि शक सं० ६७० के आसपास उद्योतन सूरि न्याय शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने हेतु हरिभद्र सूरि की सेवा में उपस्थित हुए होंगे । यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हरिभद्र को शक सं० ६७० तक इस प्रकार की सर्वतो व्यापिनी प्रसिद्धि कम से कम ३० वर्ष की अनवरत साहित्य सेवा एवं अपूर्व जिन शासन सेवा के पश्चात् ही प्राप्त हुई होगी । इस प्रकार सम्भवतः हरिभद्र सूरि ने शक सं० ६४० के आस-पास साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया होगा एवं उस समय उनकी अनुमानित वय ४० के लगभग और जन्मकाल शक सं० ६०० होना चाहिए । हरिभद्र सूरि ने उपलब्ध सूची के अनुसार

छोटे बड़े ८६ ग्रन्थों की रचना की। उनका सुविशाल साहित्य ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे अवश्यमेव शतजीवी रहे होंगे।

इन सब तथ्यों पर विचार करने पर हरिभद्र सूरि का जन्मकाल शक सं० ६०० और निधनकाल शक सं० ६६० से ७०० के आसपास का अनुमानित किया जा सकता है।

इस प्रकार 'कुवलयमाला' के उल्लेखानुसार निश्चित रूप से शक सं० ७०० से पहले और अनुमानतः शक सं० ६०० से ७०० तदनुसार विक्रम सं० ७३५ से ८३५ के बीच हुए आचार्य हरिभद्र के समक्ष पन्नवणा की टीका लिखते समय उपरोक्त दो गाथाएं पन्नवणा के मूल पाठ में विद्यमान थीं, जिनमें आर्य श्यामाचार्य को पन्नवणासूत्र का प्रणेता बताया गया है। पन्नवणा पर टीका की रचना करते समय यदि हरिभद्र सूरि के समक्ष २०० वर्ष पुरानी पन्नवणा की प्रतियां भी रही हों तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व भी ये दो गाथाएं पन्नवणा के मूल पाठ में अन्यकर्त्तृक गाथाओं के रूप में विद्यमान थीं, जिनमें यह बताया गया है कि आचार्य श्यामाचार्य ने पन्नवणा सूत्र की रचना की।

इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि आर्य श्यामाचार्य को पन्नवणा का रचनाकार सिद्ध करने वाली साक्षी हरिभद्र द्वारा किये गये उल्लेख की दृष्टि से विक्रम सं० ७८५ के आसपास की और उनके समक्ष पन्नवणा (मूल) की जो प्रति विद्यमान रही, उसकी दृष्टि से विक्रम सं० ५८५ की है।

आचार्य पुष्पदन्त और — भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख मुख्य रूप से आचार्य वीर सेन ने षट्खण्डागम की अपनी धवला नामक टीका में और इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में किया है। ये दोनों साक्षियां पन्नवणा सूत्र को आर्य श्यामाचार्य की रचना बताने वाली उपरोक्त प्राचीन साक्षी की तुलना में अर्वाचीन और कम वजनदार हैं। डॉ० हीरालाल ने आचार्य वीर सेन का समय शक सं० ७३८ तदनुसार विक्रम सं० ८७३ निश्चित रूप से निर्णीत किया है।<sup>१</sup> इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार भी विक्रम की ११ वीं शताब्दी का रचना मानी गई है।<sup>२</sup>

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य श्यामाचार्य का पन्नवणाकार के रूप में परिचय देने वाली उपरिचर्चित २ गाथाएं आज से १४५० से भी अधिक पूर्वकाल से पन्नवणा सूत्र के मूल पाठ के साथ चली आ रही हैं। धरसेन का षट्खण्डागमकार के रूप में परिचय देने वाला धवला का उल्लेख आज से ११५८ वर्ष पहले का होने के कारण पन्नवणा विषयक उल्लेख से लगभग ३०० वर्ष पीछे का है।

<sup>१</sup> षट्खण्डागम (जयधवला) प्रथम खण्ड, (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ० ३६

<sup>२</sup> "जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार (फतेहचन्द बेलानी), पृ० ११

इन उल्लेखों के अतिरिक्त पन्नवणाकार आर्य श्यामाचार्य और षट्सण्डा-  
गमकार आचार्य धरसेन के काल के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो आर्यश्याम  
वस्तुतः दशपूर्वधर होने के कारण<sup>१</sup> अंग पूर्वदेशधर आचार्य धरसेन से बहुत  
पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं ।

नदी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की गाथा सं० २० से २६ में तिन महापुरुषों का  
स्मरण और वन्दन किया गया है, उनमें आर्यश्यामाचार्य का २३वां स्थान है ।  
दुष्पमाकाल श्रमण-संघस्तोत्र की अवचूर्ति<sup>२</sup>, विचारश्रेणी<sup>३</sup>, तपागच्छ पट्टावली<sup>४</sup>  
आदि अनेक ग्रन्थों में आपका युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० सं० ३३५ से ३७६  
बताया गया है ।

प्रथमोदय युगप्रधान यंत्र में आपका गृहस्थपर्याय २० वर्ष, व्रतपर्याय ३५  
वर्ष, युगप्रधानाचार्यकाल ४१ वर्ष और पूर्ण आयु ६६ वर्ष, १ मास तथा १ दिन  
का बताया गया है । तपागच्छ पट्टावली के अतिरिक्त 'विचारश्रेणी' में भी आर्य  
श्यामाचार्य को 'प्रज्ञापनासूत्र' का रचनाकार बताते हुए लिखा है :-

“ततः ३३५ अनुनिगोदव्याख्याता कालकाचार्यः । ‘किलास्मद्वत् संप्रति भरते  
कालकाचार्यो निगोदव्याख्यातेति’ श्रीसीमंधरवाचं श्रुत्वा वृद्धविप्ररूपेणन्द्रः  
कालकाचार्य-पार्श्वे तथैव निगोदव्याख्याश्रवणादनु निजमायुरपृच्छत् । तैश्च  
श्रुतोपयोगादिन्द्रोऽसाविति ज्ञातः । ..... अयं च प्रज्ञापनोपांगकृत् .....”

यह पहले ही बताया जा चुका है कि पन्नवणा सूत्र की रचना का उपक्रम  
करते हुए पन्नवणा सूत्रकार ने इसकी आदि में जो तीन गाथाएं दी हैं, उनमें  
दूसरी और तीसरी गाथा के बीच में आर्य श्यामाचार्य के पश्चाद्वर्ती किसी  
आचार्य ने “वायगवरवंसाग्रो, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण” - इन पदद्वय से प्रारम्भ  
होने वाली दो गाथाएं जोड़कर सदा के लिये स्पष्ट कर दिया है कि इस श्रतरत्न  
पन्नवणा सूत्र की रचना आर्य श्याम ने की है ।

इन सभी उपर्युक्त सुस्पष्ट, परस्पर पुष्ट एवं प्रबल प्रमाणों से यह निर्विवाद  
रूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण सं० ३३५ से ३७६ तक युग प्रधान पद  
पर रहे तेवीसवें वाचक श्रेष्ठ आर्य श्याम ने पन्नवणा सूत्र की रचना की ।

<sup>१</sup> महागिरि सुहस्ती च सूरि श्री गुणसुन्दरः ।

श्यामायं स्कन्दिलाचार्यो, रेवतीमित्र सूरिराट् ॥

श्री धर्मो भद्रगुप्तश्च, श्री गुप्तो बन्धसूरिराट् ।

युगप्रधानप्रवरा, दशते दशपूर्विकाः ॥

[विचारश्रेणि परिशिष्टम्, जैन साहित्य संशोधक खं० २, ४]

<sup>२</sup> पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृ० १७

<sup>३</sup> गुणसुन्दर चउमाला, एवं तिसयापणतीसा ॥

तसो द्दगचालीसं निगोदवक्खाय कालिगायरिमो । [जैन सा० संशोधक अं० २, पृ० ४]

<sup>४</sup> बलिस्सहस्य शिष्यः स्वाति ..... तच्छिष्यः श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकृत् । श्री धीरात्  
षट्सप्तरथधिक शतत्रये (३७६) स्वर्गभाक् । [पट्टावली समुच्चय, भा० १, पृष्ठ ४६]

दिगम्बर परम्परा के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान डॉ० हीरालाल जैन और श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड के द्वितीय संस्करण के अपने सम्मिलित सम्पादकीय में— “आर्यं श्याम ही पन्नवणा सूत्र के रचनाकार हैं” — इस तथ्य को संदेहास्पद सिद्ध करने का प्रयास करते हुए लिखा है :—

“.....उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओं में पन्नवणा सूत्र का नाम भी नहीं आया । जिस श्रुतरत्न का दान श्यामाचार्य ने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थरत्न का भी तो अभिप्राय हो सकता है । यदि हरिभद्राचार्य ने भी इन गाथाओं को प्रक्षिप्त कह कर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवीं शती में श्यामाचार्य की ख्याति हो चुकी थी । किन्तु इससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथाएं जोड़ी गईं, इसके क्या प्रमाण हैं । उन गाथाओं में श्यामाचार्य को वाचक वंश का तेईसवां पुरुष कहा है । यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेईसवीं पीढ़ी कब पड़ी, इसका लेखा-जोखा कहां है ? उनसे पूर्व ग्रन्थ की अंगभूत गाथा में तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णावणा का उपदेश भगवान् जिनभर ने भव्य जनों की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओं में दुर्धर और व सप्तदशबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिदिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया । क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में मूल और अक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है ।”

डॉ० द्वय की प्रथम तीन और अंतिम, इन चार दलीलों में तो वस्तुतः कोई दम नहीं है । क्योंकि उपर्युक्त दो गाथाएं पन्नवणा सूत्र की मूल गाथाओं के बीच में जोड़ी गई हैं तथा तीसरी गाथा के चतुर्थ चरण में ग्रन्थकार द्वारा अपने लिये प्रयुक्त— “अहमवि तह वण्णाइस्सामि” को पूर्णतः स्पष्ट करने वाली हैं कि यह “अहमवि” कहने वाले आचार्य श्याम ही हैं, अन्य कोई नहीं । मूल गाथाओं के बीच में दी हुई इन गाथाओं को पढ़ते ही साधारण से साधारण पुरुष को भी सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि निश्चित रूप से पन्नवणा सूत्र को उद्दिष्ट कर ही ये गाथाएं यहां रखी गई हैं और आर्य श्याम ने इसी ग्रन्थरत्न पन्नवणा सूत्र का अपनी शिष्य-प्रशिष्य सन्तति को दान दिया है । यदि ये दोनों गाथाएं पन्नवणा सूत्र की मूल गाथाओं के बीच में न होकर अन्यत्र कहीं फुटकर रूप में होतीं तो सम्पादक द्वय की इन दोनों दलीलों में बड़ा महत्वपूर्ण वजन होता ।

तीसरी दलील का सीधा सा उत्तर इस प्रकार हो सकता है— हरिभद्राचार्य को पन्नवणा की टीका करते समय मूल पन्नवणासूत्र की जो प्रतियाँ मिलीं वे उनके समय से कम-अज-कम ४००-५०० वर्ष पुरानी तो सुनिश्चित रूपसे होंगी क्योंकि आज भी कतिपय आगमों की ८००-९०० वर्ष पुरानी प्रतियाँ अनेक ग्रन्थागारों—ग्रन्थभण्डारों में विद्यमान हैं । जब आचार्य हरिभद्र को अपने समय से ४००-५०० वर्ष पुरानी प्रतियों में उपरिलिखित २ गाथाएं मिलीं और इन्हें

१ षट्खण्डागम प्रथम खंड, द्वितीय संस्करण, सम्पादकीय, पृ० ८

अन्यकर्तृक बताते हुए उन्होंने इनकी व्याख्या की, तो इससे तो ये गाथाएं अज्ञ से १६००-१७०० वर्ष पुरानी सिद्ध होती हैं।

जहां तक प्रक्षिप्त गाथाओं के प्रक्षेप के समय का श्रीर प्रक्षेपकर्ता के नाम का प्रश्न है, स्वयं डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस तथ्य से भक्तीमति परिचित हैं कि प्रक्षेपक का नाम और समय बताना शतप्रतिशत मामलों में न सही ११ प्रतिशत में तो एक प्रकार से असंभव ही है। प्रवचनसार पर ईसा की १० वीं शताब्दी में अमृतचन्द्र<sup>१</sup> ने टीका लिखी, उस समय स्त्री की उसी भव में मुक्ति का निषेध करने वाली "पेच्छदि ए हि इहलोगं" आदि ११ गाथाएं उसमें नहीं थीं अतः न तो अमृतचन्द्र ने उन गाथाओं को अपने टीका-ग्रन्थ में स्थान ही दिया और न उनकी व्याख्या ही की।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् हुए जयसेनाशर्म ने<sup>२</sup> उन ११ गाथाओं को अपनी टीका में स्थान देकर उनकी व्याख्या की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से टीका में लिखा है:-

"तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ए हि इह लोम' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति।"<sup>३</sup>

इन ११ गाथाओं को किसने और कब प्रवचनसार में प्रक्षिप्त किया इसका सन्तोषप्रद उत्तर संभवतः किसी विद्वान् के पास नहीं होगा।

पन्नवणा सूत्र की आदि की दूसरी और तीसरी गाथाओं के बीच में प्रक्षिप्त २ गाथाओं में आर्यश्याम को वाचकवर-वंश का तेवीसवां पुरुष बताया गया है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर द्वय ने अपने सम्पादकीय में एक बड़ा महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है कि यह वाचकवंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेवीसवीं पीढ़ी कब पड़ी - इसका लेखा-जोखा कहां है ?

वस्तुतः यह प्रश्न विचारणीय है। आचार्य परम्परा से संबन्धित बाङ्गमय में इसका हल विद्यमान है पर कतिपय विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। पन्नवणा सूत्रान्तर्गत उपयुद्धत दो अन्यकर्तृक गाथाओं में से प्रथम गाथा में आर्य श्याम को वाचक वंश का २३ वां पुरुष बताया गया है। वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार हरिभद्र ने लिखा है - "वाचकाः पूर्व-विदः"<sup>४</sup> अर्थात् वाचक शब्द का अर्थ है पूर्वज्ञान के ज्ञाता। पूर्व-विदों को वाचक मान लिये जाने की स्थिति में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणाधरों की वाचकवंश में गणना करना आवश्यक हो जाता है। आर्य सुधर्मा से वाचनाचार्यों की गणना किये जाने पर आर्य श्याम का नाम १३ वें स्थान पर आता है। पर इन्द्रभूति आदि ग्यारहों

१ Introduction—by A. N. Upadhye—on Pravachansara p. 101.

२ Same—p. 104.

३ प्रवचनसार (ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित), पृ० २१६

४ हारीभद्रीया प्रज्ञापना वृत्ति, पृ० ५

गणधरों को वाचक मान लिये जाने पर आर्य श्याम निश्चित रूप से २३ वें वाचक ही ठहरते हैं। वस्तुतः सभी गणधर वाचक अर्थात् आगमों की वाचना देने वाले होते ही हैं अतः उनकी वाचकों में गणना करना उचित भी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की २० वीं और २१ वीं गाथा में ११ गणधरों के नाम देने के पश्चात् गाथा सं० २३ से २६ में सुधर्मा से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक वाचनाचार्यों को वंदन किया गया है, इनमें गौतम गणधर से आर्य श्याम तक नामों की गणना की जाय तो आर्य श्याम का नाम तेवीसवें स्थान पर ही आता है।

इसी प्रकार विचारश्रेणी में भी गणधरों की वाचकों में गणना कर आर्य श्याम को २३वां वाचकवर बताते हुए लिखा है :-

“आर्य च प्रज्ञापनोपांगकृत् सिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणधृद्भिः सह चयोर्विशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः।”

सिद्धान्त में प्रज्ञापना उपांग के रचनाकार आर्य श्याम को भगवान् महावीर के पश्चात्, ग्यारह गणधरों को वाचकों की गणना में सम्मिलित कर तेवीसवां पुरुष बताया गया है—आचार्य मेरुतुंग का यह कथन संभवतः नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की ओर ही संकेत करता है।

नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली वीर निर्वाण संवत् ६८० में आगम-निष्णात एवं एक पूर्वधर आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण द्वारा अपने समय में उपलब्ध सभी प्राचीन तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् निर्मित की गई; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अतः नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह का किञ्चित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता। यह भी सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० सं० ६२३ के आसपास आर्य स्कंदिल और नागार्जुन के तत्वावधान में हुई स्कंदिलीया एवं नागार्जुनीया आगमवाचनाओं में अनेक आगम निष्णात स्थविर श्रमणों ने विचार-विमर्श के पश्चात् जिन आगमों के पाठों को सुस्थित एवं सुस्थिर किया,<sup>२</sup> उन्हीं आगमों को वीर नि० सं० ६८० में देवद्विगणक्षमाश्रमण और कालकाचार्य चतुर्थ के तत्वावधान में बहलभी में हुई अंतिम आगमवाचना में स्कंदिली और नागार्जुनी—इन दो भिन्न आगम-वाचनाओं के पाठों का परस्पर मिलान करने के पश्चात् सर्व सम्मत रूप से एक पाठ निर्धारित कर आगमों को पुस्तकारूढ किया गया। वीर

<sup>१</sup> जैन साहित्य संशोधक खंड २, अंक ३ में प्रकाशित 'विचार श्रेणी' पृ० ५

<sup>२</sup> (क) जेसि इमो अणुओगो,पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि ।

बहुनगरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिण ॥३२॥

[नन्दी सूत्र पट्टावली]

(ख) दुर्भिक्षान्ते च विक्रमाकंस्यैकशताधिक त्रिपंचाशत (६२३) संवत्सरे स्थविरैरायस्कंदिलाचार्यैश्चरमधुरायां जैन भिक्षूणां संघो मेलितः ।

[हिमवंत स्थाविरावली]



नि० सं० ६२६ में हुई आगम वाचनाओं के जिन पाठों के सम्बन्ध में दोनों वाचनाओं के प्रतिनिधि एक मत न हो सके, उन दोनों पाठों को यथावत् पुस्तकारुद्ध करते हुए नागार्जुनीया वाचना के पाठों के सम्बन्ध में "नागज्जुणीया पुण एवं भणन्ति" अथवा "अण्णे पुण एवं भणन्ति" - इस प्रकार का निर्देश कर दिया गया। नंदीसूत्र के मूल पाठ में पन्नवणा सूत्र का उल्लेख निम्न लिखित रूप में विद्यमान है:-

"८१ से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अरोगविहं पण्णात्तं, तं जहा - दसवेयालियं १, कप्पियाकप्पियं २, चुल्लकप्पसुत्तं ३, महाकप्पसुत्तं ४, ओवाइयं ५, रायपसेणियं ६, जीवाभिगमो ७, पण्णावणा ८, ..... महापञ्चवलाणं २६ से तं उक्कालियं ।"

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वीर नि० सं० ६८० में हुई आगमवाचना में आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन इन दोनों के तत्वावधान में वीर नि० सं० ६२३ में हुई आगमवाचनाओं में जिन आगमों का पाठ सुस्थित एवं सुस्थिर किया गया था, उन्हीं आगमों के दोनों पाठों का एकीकरण करते हुए उसे पुस्तकारुद्ध किया गया था। ऐसी स्थिति में यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण ६२३ के बहुत पहले से ही पन्नवणा सूत्र श्रमण-श्रमणी-समूह के स्मृतिपटल पर अंकित हो उनका कण्ठाभरण बना हुआ था।

पन्नवणासूत्र वस्तुतः वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक युगप्रधानपद पर विराजमान २३ वें वाचकवर आर्य श्यामाचार्य की ही कृति है - इस तथ्य के परस्पर एक दूसरे द्वारा परिपुष्ट जितने अधिक प्रबल और प्राचीन प्रमाण उपलब्ध हैं, उतने अधिक संभवतः द्वादशांगी को छोड़कर शेष आगमों में से बहुत कम के ही उपलब्ध हो सकेंगे।

उपरोक्त सभी प्रबल प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणा सूत्र आर्यश्याम द्वारा वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच के किसी समय में दृष्टिवाद से उद्धृत उनकी कृति है।

यद्यपि नंदी सूत्रान्तर्गत वाचकवंश की पट्टावली और मेरुत्तुंगीया विचार श्रेणी के उपर्युक्त उल्लेखों से भली-भांति यह सिद्ध हो चुका है कि आचार्य श्याम वाचकवंश के एक दृष्टि से १३ वें और दूसरी दृष्टि से २३ वें पुरुष हैं तथापि हम शोधार्थियों के समक्ष शोध हेतु एक जटिल प्रश्न उपस्थित करना चाहते हैं। याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवणा सूत्र की टीका में उपर्युक्त दो अन्यकत्तूक गाथाओं की टीका करते हुए आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वां पुरुष तो बताया है, पर उन्होंने उन्हें गौतम गणधर से २३ वां पुरुष न बता कर आर्य सुधर्मा से ही २३ वां पुरुष बताते हुए लिखा है :-

<sup>१</sup> नंदी सूत्र सञ्ज्ञा (मुनि पुष्य बियजी द्वारा संपादित), पृ० ५७

“वाचकाः पूर्वविदः, वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधाना इत्यर्थः, तेषां वंशः—प्रवाहो वाचकवरवंशस्तस्मिन् त्रयोविंशतितमेन, तथा च मुधर्मादारम्य आर्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव,.....”<sup>१</sup>

वर्तमान में जितनी भी आचार्य परम्परा की पट्टावलियां उपलब्ध हैं, उन सब में आर्य मुधर्मा से गणना कर आर्यश्याम को १३ वां वाचनाचार्य और १२ वां युगप्रधानाचार्य बनाया गया है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में ऐसी एक भी आचार्य परम्परा की पट्टावली दृष्टिगोचर नहीं होती, जिसमें आर्य मुधर्मा से गणना कर आर्य श्याम को २३ वां पुरुष बताया गया हो। आचार्य हरिभद्र के—“तथा च मुधर्मादारम्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव”—इन शब्दों से तो स्पष्टतः यही प्रतिध्वनित होता है कि उनकी दृष्टि में निश्चितरूपेण आर्यश्याम आर्य मुधर्मा से २३ वें पुरुष ही थे। तभी उन्होंने साधिकारिक भाषा में लिखा है—“मुधर्मादारम्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव।” तो क्या आचार्य हरिभद्र के समक्ष कोई ऐसी पट्टावली विद्यमान थी, जिसमें आर्य श्याम को आर्य मुधर्मा से २३ वां पुरुष बताया गया था? यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर आचार्य परम्परा की वर्तमान काल में उपलब्ध पट्टावलियों में खोजने पर भी कहीं नहीं मिलेगा। आचार्य हरिभद्र जैसे उच्च कोटि के विद्वान् आचार्य बिना किसी ठोस प्रमाण के इस प्रकार की साधिकारिक भाषा में आर्य श्याम को आर्य मुधर्मा से २३ वां पुरुष कभी न लिखते।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने के पश्चात् हमें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि ग्यारहों गणधरों की वाचकों में गणना करने पर ही आर्य श्याम २३ वें वाचक ठहरते हैं। हरिभद्रसरि को भी सुनिश्चित रूपेण ग्यारहों गणधरों की वाचकों में गणना करना अभीष्ट था, इसी कारण उन्होंने वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए—“वाचकाः पूर्वविदः” अर्थात् पूर्वज्ञान के वेत्ताओं को वाचक माना गया है—यह लिखा है। शास्त्रों की वाचना देने का सबसे पहला काम तो वस्तुतः गणधरों का ही था अतः वाचकों में न्यायतः सर्वप्रथम उनकी गणना होनी ही चाहिए। हरिभद्र ने भी गणधरों को वाचक मानकर आर्य श्याम को २३ वां वाचक लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने “इन्द्रभूति गौतमादारम्य” लिखा होगा। किन्तु आर्य मुधर्मा से प्रारम्भ हुई पट्टावलियों को ध्यान में रखते हुए किसी लिपिक ने “इन्द्रभूतिगौतमादारम्य”—इस पाठ को प्रचलित पट्टपरंपरा के विपरीत समझ, जानबूझ कर उसके स्थान पर—“मुधर्मादारम्य”—यह लिख दिया हो। अपनी समझ में लिपिक ने अपने प्रयास को त्रुटि-परिहार माना होगा पर ऐसा करते समय लिपिक ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया कि आर्य मुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य २३वें नहीं अपितु १३वें वाचक ही होते हैं। तथ्यों पर आधारित हमारे इस अनुमान का मूल्यांक चिन्तक इतिहासविदों पर

<sup>१</sup> हरिभद्रीया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ५

निर्भर करता है। आर्य सुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य तक ३७६ वर्ष का समय अनेक प्रामाणिक उल्लेखों द्वारा परिपुष्ट और तर्क की कसौटी पर भी खरा उतरता है। अतः नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावलि में उल्लिखित आचार्यों के अतिरिक्त और भी कोई अज्ञातनामा १० आचार्य हुए हों, इस प्रकार की कल्पना तो किसी भी दशा में नहीं की जा सकती।

वस्तुतः - “सुधर्मादारम्य” किस दृष्टि से लिखा गया है, इस सम्बन्ध में कहीं कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण हम साधिकारिक रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं। इतिहास के विद्वान् इस सम्बन्ध में समुचित खोज कर विशेष प्रकाश डालेंगे तो अत्युत्तम होगा।

“पञ्चवणासूत्र आर्य श्याम की कृति है” - इस तथ्य के प्रति शंका प्रकट करते हुए श्री ए. एन. उपाध्ये और श्री हीरालालजी-इन डाक्टरद्वय ने षट्खण्डा-गम, प्रथम पुस्तक (द्वितीय संस्करण) के अपने संपादकीय में लिखा है - “— ग्रन्थ की अंगभूत गाथा में तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णावणा का उपदेश भगवान् जिनवर ने भव्यजनों की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओं में दुर्द्धर, धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किया अनिदिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ कर्त्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है?”

ग्राज के जैन जगत के उच्च कोटि के इन दो विद्वानों द्वारा लिखी गई उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर संभवतः प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक को वस्तुतः बड़ा आश्चर्य होगा। क्योंकि पञ्चवणा सूत्र की अंगभूत दूसरी और तीसरी गाथा का अर्थ इस प्रकार है :-

“भव्य जनों की निवृत्ति करने वाले जिनेश्वर ने श्रुतरत्न के अक्षय्य भण्डार स्वरूप सभी भावों की प्रज्ञापनाओं का उपदेश दिया ॥२॥ जिस प्रकार भगवान् ने (सब भावों की प्रज्ञापना का) वर्णन किया, उसी प्रकार मैं भी दृष्टिवाद से उद्धृत अद्भुत श्रुतरत्न स्वरूप इस अध्ययन (पञ्चवणा सूत्र) का निरूपण-वर्णन करूंगा ॥३॥”

तोसरी गाथा के अन्त में उल्लिखित वे “अहमवि” कौन हैं, यह सुनिश्चित रूप से बताने के लिये ही मुख्यतः किसी अज्ञातनामा आचार्य ने दो गाथाएं मूल के बीच में जोड़ी हैं, जिनमें सार रूप में यह बताया गया है कि जिस तेवीसवें वाचकोत्तम आर्य श्याम ने श्रुतसागर से उद्धृत कर (यह) श्रुतरत्न शिष्य समूह को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है।

मूल गाथाओं के पश्चात् इन अन्यकर्त्तृक प्रक्षिप्त गाथाओं को पढ़ने से अनायास ही यह बोध हो जाता है कि मूल गाथाओं में ग्रन्थकार ने अपना नाम न बताकर अपने लिये जो केवल “अहमवि” शब्द का प्रयोग किया है, उसे दो प्रक्षिप्त

गाथाओं ने पूरक गाथाओं का काम करते हुए स्पष्ट कर ग्रन्थकार का सार रूप में आवश्यक परिचय दे दिया है। समझ में नहीं आता कि षट्सङ्गागम के विद्वान् सम्पादकों को यहां मूल और प्रक्षेप की मान्यता में विभेद किस प्रकार दृष्टिगोचर हुआ। मूल गाथा में भगवान् को मूलतन्त्रकर्त्ता और अपना 'अहमवि' से परिचय देने वाले आचार्य को वस्तुतः उपतन्त्रकर्त्ता — अर्थात् पञ्चवणाकार बताया है। प्रक्षिप्त कही जाने वाली उन दो अन्यकस्तृक गाथाओं में भी ग्रन्थकार के नामो-ल्लेख के साथ मूल गाथाओं की पुष्टि की गई है। "पञ्चवणा सूत्र की रचना भगवान् महावीर ने की," यह निष्कर्ष विद्वान् सम्पादकों ने किस प्रकार निकाला? मूल और प्रक्षिप्त — दोनों ही प्रकार की गाथाओं में पञ्चवणाकार भगवान् को न बताकर 'अहमवि' के रूप में अपना परिचय देने वाले आर्य श्याम को पञ्चवणाकार बताया गया है।

त्रिपदी के उपदेश कर्त्ता के रूप में मूलतन्त्रकर्त्ता तो प्रभु महावीर ही हैं। उस उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना करने वाले ग्यारहों गणधर अनुतन्त्रकर्त्ता और अनुतन्त्र दृष्टिवाद से आर्य श्याम ने 'पञ्चवणा सूत्र' उद्धृत किया अतः आर्य श्याम उपतन्त्रकर्त्ता हैं।<sup>१</sup> मूलतः तो पञ्चवणा सूत्र भी भगवान् की ही वाणी है।

जिस प्रकार पञ्चवणा को आर्य श्याम की कृति माना गया है, उसी प्रकार षट्सङ्गागम को पुष्पदन्त-भूतबलि की कृति माना गया है।<sup>२</sup>

भगवान् महावीर के उपदेशों को आधार बनाकर पञ्चवणाकार की तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर, परम्परा के अनेक विद्वान् आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचनाएं कीं, इस तथ्य के प्रमाण जैन वाङ्मय में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बोधप्राप्त की निम्नलिखित गाथाओं से यह प्रमाणित होता है कि पञ्चवणाकार के पद-चिन्हों पर अनेक आचार्य बले हैं :-

रूवर्यं शुद्धस्थं, जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।  
 भवज्जणबोहणस्थं, छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥  
 सद्वियारो हूमो भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।  
 सो तह कहियं णाणं, सीसेण महवाहुस्स ॥६१॥<sup>१</sup>

पञ्चवणाकार ने ग्रन्थ रचना का उपक्रम करते हुए प्रतिज्ञा की है कि श्री वीर प्रभु ने जिस तरह संसार के समस्त भावों की प्रज्ञापनाओं का उपदेश

<sup>१</sup> जं पुण षण्णेहि विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहि बेरेहि अण्णाउयाणं मणुयाणं अण्णबुद्धिसत्तीणं च दुग्गाहकं-ति णाऊण तं वेव प्रायाराह सुमणाणं परंपरगतं अत्पतो गंभतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपा णिमित्तं दसवेतालियमादि परुवियं तं अणेमभेदं अणणपविट्ठं ।

[भावम्यक जूलि, भा १, पृ. ६]

<sup>२</sup> तयो भुमंतंतकत्ता बह्दभाण भडारभो, अणुतंतकत्ता गोदमसाभी, उचवंतकत्तारा भूदवलि पुष्पयंतादयो ।

[षट्सङ्गागम, भाग १, पृ. ७३]

दिया, उसी तरह मैं भी प्रज्ञापनासूत्र नामक इस अद्भुत श्रुतरत्न का वर्गान करूंगा। ठीक उसी तरह अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए बोधपाहुडकार ने भी कहा है कि भव्यजनों को बोध देने एवं षड्जीव त्रिकाय के हितार्थ भगवान् ने जो उपदेश दिया, वह शब्दों के रूप में ढाला जाकर भाषा सूत्रों के स्वरूप में प्रकट हुआ। जिनेन्द्र प्रभु के उस उपदेश को उसी रूप में भद्रबाहु के शिष्य ने कहा है।

इन सब तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र तेवीसवें वाचक आर्य श्याम की ही कृति है। श्री ए० एन० उपाध्ये और श्री हीरालालजी द्वारा प्रस्तुत शंकाओं के बारे में जो विचार ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि उनकी शंकाएं न न्याय संगत ही हैं और न तर्कसंगत ही।

उपर्युल्लिखित विस्तृत विवेचन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र की रचना आर्यश्याम ने वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच किसी समय की। इसके विपरीत षट्खण्डागम के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि का निश्चित समय बताने वाले प्रामाणिक उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साहित्य में आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं। हरिवंश पुराण में दी हुई आचार्य-परम्परा की पट्टावली पर विचार करने के पश्चात् अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७९१ तक का सिद्ध होता है। यद्यपि धरसेन और पुष्पदन्त तथा भूतबलि की कोई प्रामाणिक पट्टपरम्परा उपलब्ध नहीं होती, फिर भी धवलाकार तथा इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार विषयक विवरण को पढ़ने से धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय वीर नि० सं० ८०० और उससे भी पश्चात् का अनुमानित किया जाता है। आगे अभी इसी अध्याय में इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

षट्खण्डागम के समान ही कषाय-पाहुड़ का भी दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों में सर्वोपरि स्थान है। जयधवलाकार ने जयधवला में तथा इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में आचार्य गुणधर को कषाय-पाहुड़ का कर्ता बताया है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में कहीं आचार्य गुणधर का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन्द्रनन्दी ने भी श्रुतावतार में लिखा है कि आचार्य गुणधर और धरसेन की गुरु-शिष्य परम्परा का पूर्वापर क्रम कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतना सब कुछ होते हुए भी अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ विभाजन का विवरण प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दी ने लिखा है :-

ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागता तेषु।

काश्चिद् गुणधर संज्ञान्काश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥६४॥

अर्थात् - शाल्मली महावृक्ष के मूल से जो साधु आये थे, उनमें से कतिपय को अर्हद्बलि ने गुणधर संज्ञा और कतिपय को गुप्त संज्ञा प्रदान की।

इससे अनुमान लगाया जाता है कि गुणधर संघविभाजन से पर्याप्तरूपेण पूर्ववर्ती आचार्य रहे हैं और उनकी शिष्य प्रशिष्य संतति को ग्रहंदबलि ने गुणधर संघ के नाम से अभिहित किया।

कषाय-पाहुड़ के उद्धरण, आधार, साक्षी एवं निर्देश आदि श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों 'शतकचूर्णि' तथा 'सप्ततिकाचूर्णि' आदि में उल्लेख होते हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि पूर्ववर्ती समय में यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा में मान्य है।

कषाय-पाहुड़ की चूर्णि में "सर्वलिगेसु च भज्जाणि"—अर्थात् चारित्र्यवेष धारण किये बिना जीव अन्य तीर्थिकों के वेष में भी क्षपक हो सकता है—यह जो बात कही गई है, वह दिगम्बर परम्परा की मान्यता से विरुद्ध पड़ती है। इसके अतिरिक्त कषाय-पाहुड़ की चूर्णि में ऋजुसूत्र नय को द्रव्याधिक नय के रूप में बताया गया है। वस्तुतः यह दिगम्बर परम्परा की मान्यता के विपरीत है। दिगम्बर परम्परा में नैगम, संग्रह और व्यवहार नय को द्रव्याधिक नय तथा ऋजुसूत्रादि नयों को पर्यायाधिक नय माना गया है।

कषाय प्राभृत चूर्णि में 'देशोपशमना' का अधिकार श्वेताम्बर ग्रन्थ 'कम्मपयडि' में से जान लेने का निर्देश दिया गया है।<sup>1</sup>

जयधवला में कषाय-पाहुड़ के रचयिता आचार्य गुणधर को तथा यतिवृषभ के गुरु आर्य मंक्षु एवं नागहस्ति को वाचक बताया है। वाचक परम्परा वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा की एक क्रमबद्ध एवं विश्रुत परम्परा मानी गई है। केवल यही नहीं गुणधर, मंक्षु और नागहस्ति ये तीनों आचार्य दिगम्बर परम्परा की किसी भी क्रमबद्ध अथवा अक्रमबद्ध पट्टावली में दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन कतिपय तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में श्वेताम्बर परम्परा के अनेक विद्वानों द्वारा गुणधर को श्वेताम्बर आचार्य तथा उनकी कृति कषाय पाहुड़ को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ बताया जाता है। वस्तुतः पट्ट-खण्डागम और कषाय-पाहुड़ ये दोनों मूल ग्रन्थ दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य होने योग्य हैं।

**कालनिर्णय के सम्बन्ध में सम्भीर आन्ति :-**

हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोपपञ्चली, जंबूद्वीप पण्णाली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतान्तार, और नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली आदि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में वीर नि० संवत् ६८३ तक अंग ज्ञान की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। वीर नि. सं. ३४५ में अंतिम दश पूर्वधर

<sup>1</sup> जा सा करणोवसामणा सा दुबिहा..... देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा ति वि। अपसत्थ उवसामणाति वि। एसा कम्मपयडिसु।

आचार्य धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर पूर्वज्ञान के विच्छिन्न होने का इन सभी ग्रन्थों में उल्लेख है। यहां तक केवल केवलिकाल को छोड़कर दशपूर्वधरों<sup>१</sup> तक की श्रुतपरम्परा की विद्यमानता के सम्बन्ध में उपरोक्त ग्रन्थों के रचयिताओं का मतैक्य है।

इसके पश्चात् एकादशांगधर और आचारांगधर आचार्यों के काल के सम्बन्ध में भी नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अतिरिक्त उपरोक्त सभी ग्रन्थों में यह सर्वसम्मत अभिमत व्यक्त किया गया है कि वीर नि. सं. ५६५ में अंतिम एकादशांगधर कंसार्य के दिवंगत होने पर एकादशांगधरों की परम्परा समाप्त हो गई और वीर निर्वाण सं. ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य का स्वर्गवास होते ही आचारांग भी विच्छिन्न हो गया। इन सभी ग्रन्थों में एक स्वर से यह मान्यता प्रकट की गई है कि एक अंग (आचारांग) धारियों में अंतिम आचार्य लोहार्य हुए और उनके पश्चात् सभी आचार्य पूर्वज्ञान तथा अंगज्ञान के एक देशधर ही हुए तथा पंचम आरक को समाप्ति पर्यन्त सभी आचार्य पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर होंगे। दिगम्बर परम्परा की कतिपय पट्टावलियों में भी उपर्युक्त ग्रन्थों के उपरिलिखित अभिमत की पुष्टि की गई है।<sup>२</sup>

दिगम्बर परम्परा में शताब्दियों से सर्वसम्मत रूपेण चली आ रही इस मान्यता एवं आस्था को ई० सन् १९१३ के "जैन सिद्धान्त भास्कर", भाग १, किरण ४ में छपी नन्दी संघ की (तथाकथित) प्राकृत पट्टावली ने थोड़ा हिला दिया। ई० सन् १९३६ में प्रकाशित धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना में प्रसिद्ध विद्वान् डा. हीरालाल ने गौतम आदि आचार्यों के समय पर विचार करते हुए धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार (इन्द्रनन्दीकृत) आदि के एतद्विषयक उल्लेखों को प्रस्तुत करने के पश्चात् नन्दीसंघ की तथाकथित पट्टावली को उद्धृत किया। इस पट्टावली में निर्वाण पश्चात् के ३ केवलियों, ५ श्रुतकेवलियों और ११ अंगधरों का तो वही समय दिया गया है, जो हरिवंश पुराण, तिलोय पण्यत्ती, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, श्रुतावतार आदि में उल्लिखित है। परन्तु अंतिम १० पूर्वधर धर्मसेन के पश्चात् पांच एकादशांगधरों का समय जहां उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों में २२० वर्ष बताया गया है, वहां नन्दी संघ की कही जाने वाली इस पट्टावली में १२३ वर्ष ही दिया गया है।

जहां धवला आदि उपरिचर्चित सभी ग्रंथों में सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य को एकांगधारी (आचारांगधर) बताते हुए इन चारों का समय समुच्चय रूप से ११८ वर्ष उल्लिखित किया गया है, वहां नन्दी संघ की इस पट्टावली में

<sup>१</sup> उत्तरपुराण (पर्व ७६, पृ. ५३७) और पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश के महापुराण में वीर नि. सं० १ से ६४ तक केवलिकाल माना गया है। — सम्पादक

<sup>२</sup> सुभद्रोऽथ यशोभद्रो, भद्रबाहुर्गणधरणी।

लोहाचार्येति विख्याता, प्रथमांगाधिपारगाः ॥१०॥

[काष्ठा संघस्य गुर्वावली]

इन्हें दश, नव एवं आठ अंगधारी' बताकर एकादशांगधारियों के काल में से काटे गये ६७ वर्षों को इनके साथ संलग्न करते हुए इन चारों का समय ६७ वर्ष बताया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले सभी ग्रंथों में अन्तिम आचारांग- धर लोहार्य का समय जहां वीर निर्वाण संवत् ६८३ बताया गया है, उसे नन्दी संघ की इस प्राकृत पट्टावली में ११८ वर्ष पीछे की ओर ढकेल कर वीर नि. सं. ५६५ उल्लिखित किया गया है। तदनन्तर लोहार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि ४ आराती मुनियों का समय निर्देश तो दूर नामोल्लेख तक इस पट्टावली में नहीं किया गया है। केवल यही नहीं अपितु दिगम्बर परम्परा के समस्त वाङ्मय की मान्यता से पूर्णतः विपरीत एक अति विलक्षण एवं आश्चर्यजनक उल्लेख के साथ नन्दी संघ की तथाकथित पट्टावली में लोहार्य के पश्चात् अर्हद्वलि, माघनदी, धरसेन, पुष्पदंत और भूतवली, इन पांच आचार्यों को आचारांगधर बताने के साथ साथ इन पांचों का कुल समय ११८ वर्ष बताया गया है। इस प्रकार अंग ज्ञान के विच्छिन्न होने का समय हरिबंध पुराणादि की मान्यतानुसार वीर नि. सं. ६८३ यथावत् रखते हुए पट्टावलीकार ने सुभद्र, यशोभद्र, भद्रवाहु, और लोहार्य को १०, ६ तथा अष्टांगधर बनाकर वीर नि. सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य का ११८ वर्ष पूर्व, वीर नि. सं. ७८३ के लगभग स्वर्गस्थ हुए आचार्य अर्हद्वलि का वीर नि० सं० ५६३ में दिवंगत होना बताया है। धवला प्रथम भाग की अपनी प्रस्तावना में डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली की विशेषताओं और दोषों का उल्लेख करने के पश्चात् इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबंध में अपना कोई निश्चित अभिमत व्यक्त नहीं करते हुए लिखा है - "समयाभाव के कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किन्तु साधक-बाधक प्रमाणां का संग्रह करके इसका निर्णय किये जाने की आवश्यकता है।"<sup>१</sup>

धवला के उपर्युक्त प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण के सम्पादकीय में डॉ० द्वय श्री हीरालालजी और ए. एन. उपाध्ये ने 'पन्नवणा सूत्र और पट्टखण्डा-गम' में प्रतिपादित विषय तथा अन्य कतिपय साम्यताओं पर अपने बहुमूल्य विचार प्रकट कर विशेष प्रकाश डाला है किन्तु नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के प्रकाशन से निर्वाणानन्तर हुए प्राचीन आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो भ्रान्त एवं संदिग्ध धारणा उत्पन्न हो गई है, उसके सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है।

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने उक्त प्रस्तावनान्तर्गत अपने निष्कर्ष में "नन्दी संघ प्राकृत पट्टावली' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है पर हरिबंध पुराणादि में दिये गये वीर नि. सं. १ से ६८३

<sup>१</sup> नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली में यह नहीं बताया गया है कि इन चारों आचार्यों में से कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने अंगों के ज्ञाता थे।

<sup>२</sup> धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ. २५



तक हुए गौतमादि लोहार्यान्त आचार्यों के समुच्चयकाल की तुलना में नन्दी संघ प्राकृत पट्टावलीकार द्वारा प्रत्येक आचार्य के पृथक् पृथक् दिये गये काल को कुछ अधिक विश्वसनीय बताया है।<sup>१</sup> इसके साथ ही हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार आदि में उल्लिखित पांच एकादशांगधरों के समुच्चय २२० वर्ष के काल के स्थान पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में दिये गये १२३ वर्ष के काल निर्देश का तथा आचारांगधर सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहार्य को दश, नव व आठ अंगधारी बताते हुए शेष बचे ६७ वर्ष के समय को इन चारों में विभक्त किये जाने एवं इन चार आचारांगधरों के स्थान पर अर्हद्वली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन अंगजान के एक देशधरों का आचारांगधरों के रूप में उल्लेख कर शेष ११८ वर्ष का समय इनमें विभक्त किये जाने को एक प्रकार से बुद्धिगम्य अथवा तर्कसंगत बताते हुए डॉ० हीरालालजी ने लिखा है :-

“इस पट्टावली में जो अंग विच्छेद का क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है, वह अन्यत्र की मान्यता के विरुद्ध जाती है। किन्तु उससे अकस्मात् अंगलोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्यों का २२० वर्ष का काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है। उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत परम्परा के संबंध में हरिवंश पुराण के कर्त्ता से लगाकर श्रुतावतार के कर्त्ता इन्द्रनन्दी तक के सब आचार्यों ने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावली के कर्त्ता को थे।”

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने अपनी उक्त प्रस्तावना में इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दिया है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली विश्वसनीय एवं प्रामाणिक है अथवा नहीं तथापि उनकी प्रस्तावना के उपरिलिखित दो उद्धरणों से नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली द्वारा प्रकाश में आये, नये एवं अति विलक्षण अभिमत को बल मिला। पं० जुगलकिशोरजी द्वारा आचार्य अर्हद्वलि का समय वीर नि० सं० ७१३ अनुमानित किया गया है<sup>२</sup> पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अभिमत को मान्य कर लिये जाने पर इनका समय इससे १२० वर्ष पूर्व अर्थात् वीर नि० सं० ५९३ ठहरता है।<sup>३</sup> परम श्रद्धेय अर्हद्वलि आदि आचार्य नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित मान्यतानुसार अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं, इस दृष्टि से आत्यन्तिक धर्मानुरागवशात् प्राकृत पट्टावली की मान्यता केवल

१ “जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियों का समय समष्टि रूप से दिया जाता है, वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहां एक एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है, वहां ऐसी भूल की संभावना बहुत कम हो जाती है ..... प्रस्तुत परम्परा में इन २२० वर्षों के काल में ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।”

[धवला, भाग १ (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ. २४]

२ समन्तभद्र, (पं० जुगलकिशोर मुख्त्यार) पृ० ६१।

३ नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली गा० सं० १५ और १६।

साधारण जन-मानस में ही नहीं अपितु चोटी के विद्वानों के हृदय में भी घर करने लगी। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी जैसे बहुश्रुत एवं अध्ययनशील विद्वान् ने भी अति श्लाघनीय परिश्रम से निमित्त अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में डॉ० हीरालालजी के अपूर्ण अभिमत को—४ आचार्य परम्परा—इस शीर्षक के नीचे—दृष्टि नं० २ (घवला, भाग १, प्रस्तावना २४/ नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली—इस पंक्ति द्वारा एक मान्यता के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया है।<sup>१</sup>

छद्मस्थ द्वारा भूल संभव है, इस संदर्भ में तथ्यातथ्य की गहराई में उतरे बिना डॉ० हीरालालजी द्वारा प्रकट किये गये अभिमत को, जिस पर स्वयं उन्होंने अपना निर्णय और अधिक तथ्यों की गवेषणा के पश्चात् ही देने का स्पष्टतः उल्लेख किया है, प्राचीन आचार्यों की मान्यता के समकक्ष ही नहीं अपितु उससे भी सबल मान्यता के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए वर्णी जी ने निम्न नोट आधिकारिक भाषा में लिख दिया है—

“नोट—पहली दृष्टि में लोहाचार्य तक ही ६८३ वर्ष पूरे कर दिये, परन्तु दूसरी दृष्टि में लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही हुए हैं। शेष ११८ वर्षों में अन्य ६ आचार्यों का उल्लेख किया है, जो आगे बताया जाता है। इन दोनों में प्रथम (द्वितीय)<sup>२</sup> दृष्टि ही युक्त है। इसके दो कारण हैं, एक २२० वर्ष में ५ आचार्यों का होना दुःशक्य है और दूसरे ६८३ वर्ष पश्चात् षट्खण्डागम की रचना प्रसिद्ध है, उसकी संगति भी इसी मान्यता से बैठती है।”<sup>३</sup>

वर्णीजी ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—प्रथम भाग के पृष्ठ ३३१ पर जो आचार्य-परम्परा की समयसारिणी दी है, उसमें गौतम से लोहाचार्य का वीर नि० सं० १ से ६८३ तक के काल का विवरण देने के पश्चात् डॉ० हीरालालजी द्वारा अर्द्ध-समर्थित नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में लिखे गये गौतमादि लोहाचार्यान्त आचार्यों के वीर नि० सं० १ से ५६५ तक के काल का उल्लेख किया है। किन्तु इस चार्ट के पश्चात् पृष्ठ ३३२ पर दी गई लोहाचार्य से भूतबली तक के काल की सारिणी, पृष्ठ ३३५ से ३३६ पर—“४ समयानुक्रम से आचार्यों की सूची” शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी, पृष्ठ ३४५ पर दी गई पुत्राट संघ के आचार्यों की काल निर्देश सहित सूची तथा पृष्ठ ३४८ से ३५५ पर—६ आगम परम्परा, समयानुक्रम से आगम की सूची—नामक शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी में एक मात्र नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को ही मान्यता प्रदान कर अर्हदबली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि का समय ५६५ से ६८३ के बीच का देते हुए इनसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों का भी उनके वास्तविक काल से लगभग १६० वर्ष पूर्व होने का उल्लेख किया है।

<sup>१</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

<sup>२</sup> यहाँ “प्रथम दृष्टि” यह सम्भवतः प्रेस की गलती से छप गया है। वर्णीजी का अभिप्राय नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित द्वितीय दृष्टि से है। — मध्यादक

<sup>३</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

हरिवंश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा के अनुसार अर्हदबलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७६१ के बीच का सिद्ध होता है किन्तु वर्णीजी ने आज से ११६० वर्ष पूर्व के लिखित पुष्ट प्रमाण की अपेक्षा भी डॉ० हीरालालजी द्वारा केवल अनुमान के आधार पर अर्द्धसमर्थित नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित अर्हदबलि के वीर नि० सं० ५६५ से ५६३ तक के काल को प्रश्रय देकर पूर्ण प्रामाणिक ठहराने का प्रयास करते हुए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में उस ही का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने लोहाचार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए उनका अंतिम समय ६८३ और स्वयं द्वारा हरिवंश पुराण की रचना का काल शक सं० ७०५ तदनुसार वीर नि० सं० १३१० उल्लिखित किया है। पर वर्णीजी ने पुत्राट संघ की आचार्य परम्परा के आचार्यों की जो सूची दी है, उसमें हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन का तो वही समय (शक सं० ७०५) दिया है, जो हरिवंश में उल्लिखित है किन्तु लोहाचार्य का समय हरिवंशपुराण के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६८३ न देकर नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० सं० ५१५ से ५६५ दिया है।

कतिपय आचार्यों तथा उनकी कृतियों को, उनके वास्तविक समय से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्वकालीन सिद्ध करने के प्रयास का ही प्रतिफल है कि प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों की प्रामाणिकता को संदेहास्पद बता नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को सर्वाधिक प्रश्रय देकर उसे प्रामाणिकता का जामा पहनाने का असफल प्रयास किया जा रहा है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति इतिहास की गरिमा के लिये बड़ी घातक सिद्ध हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के उल्लेखों को एक मान्यता के रूप में स्थान दे दिया गया है। यह प्रवृत्ति आगे न बढ़ने पाये और यहीं समाप्त कर दी जाय इस दृष्टि से यहां इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। वास्तविक स्थिति को समझने के लिये सर्व प्रथम धवला तिलोयपण्यात्ती, उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार आदि प्राचीन ग्रन्थों के उन उल्लेखों को यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो कि परम्परागत मान्यता के मूल आधार हैं।

आचार्य वीरसेन (शक सं० ७३८) ने दिगम्बर परम्परा के परम मान्य षट्खण्डागम-वेदना खण्ड की टीका में वीर नि० सं० १ से ६८३ तक आचार्यों के काल एवं क्रम का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

“भगवान् महावीर के मुक्त होने पर गणधर गीतम केवलज्ञानी हुए। १२ वर्ष तक केवली रूप में विचरण कर वे भी मुक्त हुए। उनके पश्चात् आचार्य सोहाय्य केवलज्ञान के धारक हुए। वे भी १२ वर्ष तक केवली रूप में विहारकर निर्वाण को प्राप्त हुए। ३८ वर्ष तक केवल विहार से विचरण कर आर्य जम्बू भी सिद्ध हुए। आर्य जम्बू के मुक्त होने पर केवलज्ञान परम्परा का भरत क्षेत्र में

<sup>१</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा० १, पृ० ३४५

व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष पश्चात् भरत क्षेत्र से केवलज्ञान रूपी सूर्य अस्त हो गया। आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् सकल श्रुतज्ञान की परम्परा को धारण करने वाले (द्वादशांग एवं चतुर्दश पूर्व-धर) आचार्य विष्णु हुए। उनके पश्चात् चतुर्दश पूर्वज्ञान की अविच्छिन्न सन्तान परम्परा के रूप में क्रमशः नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये सकल श्रुत (द्वादशांगी) के धारक हुए। इन पांच श्रुतकेवलियों के काल का योग १०० वर्ष रहा। भद्रबाहु के स्वर्ग गमनानन्तर भरत क्षेत्र से श्रुतज्ञान रूपी चन्द्र पूर्णविस्था में नहीं रहा और भरत क्षेत्र अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् ११ अंगों तथा विद्यानुवाद पर्यन्त दृष्टिवाद अंग के धारक (एकादशांग तथा दश पूर्वधर) विशाखाचार्य हुए। विद्यानुवाद के आगे के ४ पूर्व, उनका एक देश अवशिष्ट रहने के कारण व्युच्छिन्न हो गये। इस विकलावस्था में श्रुतज्ञान विशाखाचार्य से क्रमशः प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, घृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन—इन आचार्यों की परम्परा से १८३ वर्ष तक रह कर व्युच्छिन्न हो गया। धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के साथ ही दृष्टिवाद रूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने पर ११ अंगों एवं दृष्टिवाद के एक देश के धारक आचार्य नक्षत्र हुए। वह एकादशांग रूप श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस—इन (५) आचार्यों की परम्परा से २२० वर्ष पर्यन्त रहकर व्युच्छिन्न हो गया। कंसाचार्य के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर ११ अंग रूप प्रकाश के व्युच्छिन्न हो जाने पर सुभद्राचार्य आचारांग के तथा शेष अंगों एवं पूर्वों के एक देश के धारक हुए। आचारांग भी सुभद्राचार्य से क्रमशः यशोभद्र यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से ११८ वर्ष रहकर व्युच्छिन्न हो गया। इस (गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहाचार्य तक) सब काल का योग (६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३) छह सौ तेरासी वर्ष होता है।<sup>१</sup>

धवलाकार ने आगे चलकर स्पष्ट शब्दों में कहा है—“लोहाइरिये सग्लोगगदे आयार दिवायरो अत्थमिओ। एवं बारसमु दिणयरेसु भरह्खेतम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसभूद पेज्जदोस-महाकम्मपडिपाहुडादीणं धारया जादा।”<sup>२</sup> अर्थात् लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर आचारांग रूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरत क्षेत्र से १२ सूर्यों के अस्त हो जाने पर शेष आचार्य सब अंगों तथा पूर्वों के एकदेशभूत ‘पेज्जदोस’ और ‘महाकम्मपयडिपाहुड’ आदिकों के धारक हुए।

<sup>१</sup> महविमहावीरे सिम्बुदे संते केवलसाणसंताणहरो गोदम सामी जादो.....  
.....सुमहाइरियो आयारंगस्स सेसंगपुम्वाणमेगदेसस्स य धारओ जादो। तदो  
आयारंगमि जसमह-जसबाहु-लोहाइरियपरंपराए अट्टारहोत्तरवरिससयमांगंणुए  
बोच्छिण्णं। सब्बकाल समासो तेयासीदीए अहियद्धस्सदमेतो।

(पट्लच्छागम, वेदनाखण्ड, धवलाटीका युक्त, भाग ६, पृ० १३०-१३१)

<sup>२</sup> वही, पृ० १३३

दिग्भर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती में भी वीर नि० सं० १ से ६८३ तक हुए आचार्यों के तथा ध्रुवपरम्परा के काल का जो विवरण दिया गया है वह उपरिलिखित धबला के विवरण से पर्याप्त रूपेण मिलता है। तिलोय पण्णत्ती में भी लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए वीर नि० सं० ६८३ में उनका स्वर्गस्थ होना बताया गया है और यहां स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि लोहार्य के पश्चात् भरत क्षेत्र में कोई आचारांगधर नहीं होगा।<sup>१</sup>

इन्द्रनन्दी ने भी अपने ग्रन्थ ध्रुवावतार में वीरू नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अंतिम आचारांगधर लोहार्य और उनके पश्चाद्गती कतिपय आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर निम्नलिखित रूप में प्रकाश डाला है:—

भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही नत्थण गौतम गणधर को केवल ज्ञान हुआ और वे १२ वर्ष केवली रह कर मुक्त हुए। गौतम का निर्वाण होते ही सुधर्म मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया। सुधर्म भी १२ वर्ष केवली के रूप में विचरण कर सिद्ध हुए। सुधर्म के निर्वाण के समय ही जम्बू को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे ३८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण कर मुक्त हुए। ये तीनों ही अनुवद्ध केवली थे। जम्बू के मुक्त होते ही केवल्य सूर्य भरत क्षेत्र से अस्त हो गया। (तीनों केवलियों के काल का योग १२+१२+३८=६२)

ज्यू के पश्चात् विष्णु, नन्दि, अपराजित गोवर्द्धन और भद्रवाहु वे ५ श्रुतकेवली हुए इन पांचों श्रुतकेवलियों का सम्मिलित काल १०० वर्ष रहा।

श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का काल व्यतीत हो जाने पर क्रमशः विशाख-दत्त, प्रोष्ठल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिपेण, विजयसेन, बुद्धिमान्,

<sup>१</sup> बासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीणं सासाणं ताणं ।  
 धम्मपयट्ठणकाले, परिमाणं पिडह्वेणं ॥१४७८॥  
 एंदि य एंदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य ।  
 गोवद्धणो चउत्थो, पंचमओ भद्वाहुत्ति ॥१४८२॥  
 पंच इमे पुरिसवरा, चउदस पुव्वी जगम्मि विवलादा ।.....॥१४८३॥  
 पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं ह्वेदि वाससदं ।..... ॥१४८४॥  
 .....दसपुव्वधरा इमे सुविवलादा ।  
 पारंपरिओवगदो, तेसीदिसदं च ताण वासाणि ॥१४८६॥

—एवकारसंगधारी, पंच इमे वीर तित्थम्मि ॥१४८८॥  
 दोण्णि सया वोसजुदा, वासाणं ताण पिण्ड परिमाणं ।.....॥१४८९॥  
 पढओ सुभद्दणामो, जसभद्दो तह य होदि जसबाहू ।  
 तुरिओ य लोहणामो, एते आयार अंगधरा ॥१४९०॥  
 सेसेकरसंगाणं चोद्दसपुव्वाराणमेकदेसधरा ।  
 एवकसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥१४९१॥  
 तेसु अदीदेसु तदा, आचारधरा ण होति भरहम्मि  
 गोदममुण्णिपहुदीणं, वासाणं (६८३) छस्सदाणि तेसीदी ॥१४९२॥

[तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

गंग और धर्म ये ११ मुनि दशपूर्वधर हुए। इन ग्यारहों दशपूर्वधरों के काल का योग १८३ वर्ष है।

अंतिम दशपूर्वधर धर्म मुनि के स्वर्गगमन के पश्चात् अनुक्रम से नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रुमसेन और कंस नामक ५ मुनि एकादश अंगों के धारक हुए। इन पांच ११ अंगधरों के काल का योग २२० वर्ष होता है।

एकादशांगधारियों का २२० वर्ष का समय बीत जाने पर क्रमशः सुभद्र, अभयभद्र, जयबाहु और लोहार्य ये चार मुनि आचारांगधर (एक अंगधारी) कुल मिला कर ११८ वर्षों में हुए।<sup>१</sup>

इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् केवलज्ञानी गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक वीर निर्वाण सं० के ६८३ वर्ष व्यतीत हुए।

इसी प्रकार उत्तरपुराण<sup>२</sup> तथा ब्रह्महेमचन्द्र कृत श्रुत स्कन्ध में भी इन्द्र-भूति गौतम से अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक आचार्यों का उपरिर्चित्रित क्रम देने के पश्चात् लोहार्य के पश्चात् आचारांग का विच्छेद बताया गया है। ब्रह्म

<sup>१</sup> भगवत्परिनिर्वाणक्षणएवावाप केवलं गणमुत् ।

गौतमनामा सोऽपि, द्वादशभिवंस्तरंमुक्तः ॥७२॥

निर्वाणक्षण एवासावापत् केवलं सुधर्ममुनिः ।

द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्तिं परामाप ॥७३॥

जम्बूनामापि ततस्तन्निर्वृत्तिसमय एव कंवलयम् ।

प्राप्याष्टत्रिंशत्तमिह समा विहृत्यापि निर्वाणम् ॥७४॥

—जम्बूनामा मुक्तिं प्राप यदासी तथैव विष्णुमुनिः ।

पूर्वांगभेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जातः ॥७६॥

एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽत्रासन् ।

नन्धपराजितगोवर्द्धनाह्वया भद्रबाहुश्च ॥७७॥

एषां पंचानामपि काले वर्षंशतसम्मिसेऽस्तीते ।

दशपूर्वविदोऽभूवस्तत एकादश महात्मानः ॥७८॥

तेषामाद्यो नाम्ना विशासदत्तस्ततः क्रमेणासन् ।

श्लोष्ठिज्ञनामा क्षत्रियसंज्ञो जयनागसेनसिद्धार्थाः ॥७९॥

धृतिषेण विजयसेनो च बुद्धिमान् गंग धर्मनामानो ।

एतेषां वर्षंशतं श्रुश्रीतियुतमजनि युगसंख्या ॥८०॥

नक्षत्रो जयपालः पाण्डुद्रुमसेनकंसनामानो ।

एते पंचापि ततो बभूवुरेकादशांगधराः ॥८१॥

विशत्यधिकं वर्षंशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ।

आचारांगधराश्चरवारस्तत उदमबन् क्रमशः ॥८२॥

प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्यापरोऽपि जयबाहुः ।

लोहार्योऽन्त्ययर्चतेऽष्टादशवर्षयुगसंख्या ॥८३॥

[श्रुतावतार — इन्द्रनन्दी]

<sup>२</sup> उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो० ११८ से १२० तथा श्लो० ५१५ से ५२७

हेमचन्द्र ने इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के समान ही अपने श्रुतस्कंध में इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष व्यतीत होने का उल्लेख किया है ।<sup>१</sup>

उपर्युल्लिखित पांचों पट्टावलियों में दिये गये तथ्यों की जम्बूद्वीप पण्यत्ती के अन्तर्गत दी गई श्रुतधर पट्टावली द्वारा पूर्णतः पुष्टि की गई है । पाठकों को अन्यत्र खोजना न पड़े इस दृष्टि से उसे यहाँ अविकल रूप से दिया जा रहा है :-

### श्रुतधर-पट्टावलि

एमिऊण वड्डमाणं, समुरासुरवदिदं विगयमोहं ।  
 वरसुदगुरुपरिवाडि, वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ १ ॥  
 विउलगिरित्तुंगसिहरे, जिण्णिद इंदेण वड्डमारोण ।  
 गोदममुण्णस्स कहिदं, पमाणायसंजुदं अत्थं ॥ २ ॥  
 तेण वि लोहज्जस्स य, लोहज्जेण य सुधम्मणामेण ।  
 गणहर सुधम्मणा खलु, जंबू णामस्स णिहिट्टं ॥ ३ ॥  
 चदुरमलबुद्धि सरिदे, तिण्णेदे गणधरे गुणसमग्गे ।  
 केवलणायणपईवे, सिद्धिपत्ते णमंसामि ॥ ४ ॥  
 णंदी य णंदिमित्तो, अवराजिद मुण्णिवरो महात्तेणो ।  
 गोवड्डणो महप्पा, महागुणो भद्वाहू य ॥ ५ ॥  
 पंचेदे पुरिसवरा, चउदसपुव्वी हवन्ति णायव्वा ।  
 बारस अंगधरा खलु, वीर जिण्णिदस्स णायव्वा ॥ ६ ॥  
 तह य विसाखायरिओ, पोट्टिलो खत्तिओ य जय णामो ।  
 णागो सिद्धत्थो वि य, धिदिसेणो विजय णामो य ॥ ७ ॥  
 बुद्धिल्ल गंगदेवो, धम्मसेणो य होइ पच्छिमओ ।  
 पारंपरेण एदे दसपुव्वधरा समक्खादा ॥ ८ ॥  
 एक्खत्तो जसपालो पंडु धुवसेण कंस आयरिओ ।  
 एयारसंगधारी, पंचजणा होंति णिहिट्टा ॥ ९ ॥  
 णामेण सुभद्द जसभद्दो तह य होइ जसवाहू ।  
 आयारधरा णेया, अपच्छिमो लोह णामो य ॥ १० ॥  
 आइरिय परंपरया सायर दीवाण तह य पण्यत्ती ।  
 संसेवेण समत्थं, वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ ११ ॥

इसी प्रकार काष्ठा संघ की गुर्वावली में भी इन्द्रभूति गौतम से लेकर लोहार्य तक यही क्रम देते हुए निम्नलिखित श्लोक में लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताया गया है :-

सुभद्रोऽथ यशोभद्रो, भद्रबाहुर्गणाग्रणीः ।  
 लोहाचार्येति विख्याता, प्रथमांगाब्धिपारगाः ॥ १० ॥

<sup>१</sup> महाहेमचन्द्र विरचित श्रुतस्कंध, गाथा ६६, ६७, ७१ से ७६

पुत्राट संघ के आचार्य जिनसेन ने वीर नि० सं० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा की पट्टावली दो है। आचार्य परम्परा की इतनी लम्बी अवधि की क्रमबद्ध एवं अविच्छिन्न पट्टावली दिगम्बर परम्परा में अन्यत्र देखने में नहीं आती। इस पट्टावली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक ६८३ वर्ष की आचार्य परम्परा का उल्लेख करने के पश्चात् लोहाचार्य के अनन्तर संघ विभाजन से पूर्व के आचार्यों के क्रमबद्ध नाम देकर तत्पश्चात् संघ विभाजन के अनन्तर हुए पुत्राटसंघ के आचार्यों का अनुक्रमशः नामोल्लेख किया है। इस पट्टावली के महत्त्व को अभी तक आंका नहीं गया है। यदि यह कहा जाय तो भी अनुचित नहीं होगा कि इस पट्टावली की आज दिन तक विद्वानों द्वारा उपेक्षा की जाती रही है।

नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के माध्यम से आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो एक जटिल समस्या उत्पन्न कर दी गई है, उसका समुचित रूपेण सदा के लिए समाधान करने में यह पट्टावली बड़ी सहायक सिद्ध होगी, अतः इसे यहां यथावत् दिया जा रहा है :-

### हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली

त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे, द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन् ।  
 ततः परे पंच समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥२२॥  
 त्र्यशीतिके वर्षशते तु रूपयुक्, दशैव गीता दशपूर्विणः शते ।  
 द्वये च विशेषेऽङ्गभृतोऽपि पंच ते, शते च साष्टादशके चतुर्मुनिः ॥२३॥  
 गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामकः, परो यशोबाहुरनन्तरस्ततः ।  
 महाहंलोहार्यगुरुश्च ये दधुः, प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥२४॥

इसी तरह अपभ्रंश भाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में वीर निर्वाण के पश्चात् हुए केवलियों, श्रुतकेवलियों, दशपूर्वधरों, एकादशांगधरों तथा एकांगधरों का उपरिर्वाणित काल बताते हुए लोहाचार्य को अंतिम आचारांगधर बताया है।<sup>१</sup>

इस प्रकार धवला, तिलोयपण्णत्ती, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध, उत्तर पुराण, जम्बूद्वीप पण्णत्ती के अन्तर्गत दी हुई श्रुतधर पट्टावली और हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० १ से ६८३ तक हुए इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक आचार्यों का काल तथा क्रम सर्वसम्मत रूपेण एक समान दिया गया है। गौतम से लोहार्य तक सभी आचार्यों के काल अथवा क्रम के सम्बन्ध में उपरिर्वाणित सभी ग्रन्थकार एक मत हैं। कहीं किसी का किंचित्मात्र भी मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के उपरिलिखित प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख के उपरान्त भी आचारांगधर लोहाचार्य का काल वीर नि०

<sup>१</sup> महापुराण (पुष्पदन्त), सन्धि १००, पृ० २७४



सं० ५६५ अनुमानित करने की मान्यता का एक मात्र आधार नन्दि ब्राम्नाय की प्राकृत पट्टावली है। इस पट्टावली के प्रारम्भ के श्लोकों एवं पट्टावली की गाथाओं पर भाषा, शब्द, भाव आदि की दृष्टि से विचार करने पर स्वतः ही यह प्रकट हो जाता है कि न तो यह कोई उच्च कोटि के विद्वान् की ही कृति है और न अति प्राचीन ही। इस पट्टावली के प्रथम श्लोक के तृतीय एवं चतुर्थ चरण तथा तृतीय श्लोक को पढ़ते ही साधारण से साधारण भाषाविद् पर भी सहज ही प्रकट हो जाता है कि यह पट्टावली अति स्वल्प भाषाबोध वाले किसी साधारण रचनाकार की सामान्य कृति है। इतना सब कुछ होते हुए भी प्राचीन पुराणों एवं तिलोप पण्णात्ती जैसे माने हुए ग्रन्थ से भिन्न मान्यता की जननी होने के कारण इस पट्टावली का बहुत ही बड़ा महत्व है। इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों के विचारार्थ इस पट्टावली को यहां दिया जा रहा है:

### नन्दि ब्राम्नाय की पट्टावली

श्री त्रैलोक्याधिपं नत्वा, स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम् ।  
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूल संघ गणाधिपाम् ॥१॥  
श्री मूलसंघ प्रवरे, नन्दाब्राम्नाये मनोहरे ।  
बलात्कार गणोत्तसे, गच्छे सारस्वतीयके ॥२॥  
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्तमं श्रीगणाधिपं ।  
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि, श्रूयतां सज्जना जनाः ॥३॥

### पट्टावली:

अंतिम-जिण-णिन्वाणे, केवलणासी य गोयम मुणिदो ।  
वारहवासे य गये सुधम्मसामी य संजादो ॥१॥  
तह वारह वासे पुण संजादो जंबुसामि मुणिणाहो ।  
अठ्ठीसवास रहियो, केवलणासी य उक्किट्ठो ॥२॥  
वासट्ठी-केवलवासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जम्बू य ।  
वारह वारह दो जण, तिय दुगहीणं च चालीसं ॥३॥  
सुयकेवलि पंच जणा वासट्ठि वासे गये सुसंजादा ।  
पढमं, चउदहवासं विण्हुकुमारं मुणेयब्बं ॥४॥  
नंदिमत्त वास सोलह तिय अपराजिय वास बावीसं ।  
इगहीण वीसवासं, गोवद्धण भद्वाहु गुणतीसं ॥५॥  
सदसुय केवलणासी, पंच जणा विण्हु नंदिमत्तो य ।  
अपराजिय गोवद्धण तह भद्वाहु य संजादा ॥६॥  
सद वासट्ठि सुवासे गए सु-उप्पण्णा दह सुपुव्वहरा ।  
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिंवरं जादा ॥७॥  
आयरिय त्रिसाखपोट्टल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी ।  
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुहिलिग देव धमसेणं ॥८॥

दह उगलीस य सत्तर, इकवीस अट्टारह सत्तर ।  
 अट्टारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेण्यं ॥१६॥  
 अंतिम जिण णिग्वाणे, तियसय-पण-चालवास जादेसु ।  
 एगदहंगधारिय पंचजणा मुणिवरा जादा ॥१०॥  
 नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।  
 अठारह वीस-वासं गुणचालं चोद बत्तीसं ॥११॥  
 सद तेवीस वासे, एगादह अंगधरा जादा ।  
 वासं सत्ताणवदिय, दसंग नव अंग अट्टधरा ॥१२॥  
 सुभदं च जसोभदं, भद्वाहु कमेण च ।  
 लोहाचय्य मुणीसं च, कहियं च जिणागमे ॥१३॥  
 छह अट्टारह वासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणि गार्हं ।  
 दस णव अट्टगधरा, वास दुसदवीस सधेसु ॥१४॥  
 पंचसये पणसठे, अंतिम-जिण-समय जादेसु ।  
 उप्पणा पंचजणा, इयंगधारी मुण्येग्वा ॥१५॥  
 अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदवली ।  
 अडवीसं इगवीस उगलीसं, तीस वीस वास पुणो ॥१६॥  
 इगसय-अठार-वासे, इयंगधारी य मुणिवरा जादा ।  
 छ सय तिरासिय वासे णिग्वाणा अंगच्छित्तिकहिय जिणे ॥१७॥  
 सत्तरि-चउ-सद युत्तो, जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।  
 अठ वरस वाललीला सोडस वासेहि भम्मिण देसे ॥१८॥  
 पणारस वासे रज्जं, कुणंति मिच्छोवदेससंयुत्तो ।  
 चालीस वरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥१९॥

इस पट्टावली के अनुसार वीर के पश्चात् की आचार्य - कालगणना इस प्रकार आती है:

### वीर निर्वाण के पश्चात्

१. गौतम	केवली	१२	६. विशाखाचार्य दश पूर्वधर	१०
२. सुधर्म	"	१२	१०. प्रोष्ठिल	" १६
३. जम्बू स्वामी	"	३८	११. क्षत्रिय	" १७
		<u>६२</u>	१२. जयसेन	" २१
४. विष्णु श्रुतकेवली		१४	१३. नागसेन	" २८
५. नन्दिमित्र	"	१६	१४. सिद्धार्थ	" १७
६. अपराजित	"	२२	१५. धृतिषेण	" १८
७. गोवर्धन	"	१६	१६. विजय	" १३
८. भद्रबाहु	"	२६	१७. बुद्धिलिंग	" २०
		<u>१००</u>	१८. देव	" १४

१६. धर्मसेन दश पूर्वघर १४ ( १६ )	२६. यशोभद्र १०,६ व ८
योग १८१ ( १८३ )	अंगधारी १८
२०. नक्षत्र ११ अंगधारी १८	२७. भद्रबाहु ( २ ) ,, २३
२१. जयपाल ,, २०	२८. लोहाचार्य ,, ५२ ( ५० )
२२. पाण्डव ,, ३६	योग ६६ ( ६७ )
२३. ध्रुवसेन ,, १४	२९. अर्हद्वलि १ अंगधर २८ वर्ष
२४. कंस ,, ३२	३०. माघनन्दि ,, २१
योग १२३	३१. धरसेन ,, १६
२५. सुभद्र १०,६,८	३२. पुष्पदंत ,, ३०
अंगधारी ६	३३. भूतबलि ,, २०
	योग ११८

पूर्ण योग ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ६७ + ११८ = ६८३

हरिवंशपुराण, श्रुतावतार और नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली - इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य सभी उपर्युक्त ग्रन्थों में ग्रन्थकारों ने आर्य लोहाचार्य तक समाप्त हुए वीर नि० के ६८३ वर्षों के पश्चात् न तो आचार्यों का नामनिर्देश ही किया है और न कालनिर्देश ही ।

इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक संख्या ७४, ७८, ७९, ८१ और ८२ में 'ततः' शब्द का प्रयोग पूर्वापर अनुक्रम बताने के लिये किया गया है । 'ततः' शब्द का स्वतः सिद्ध सीधा सा अर्थ है - उसके पश्चात् । उपरिचर्चित श्लोकों में भी 'ततः' (तदनन्तरम्) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है कि पूर्ववर्णित आचार्य के पश्चात् अमुक-अमुक आचार्य हुए, पूर्वचर्चित श्रुतपरम्परा के अनन्तर अमुक श्रुतपरम्परा का अस्तित्व रहा और इन इन ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने के पश्चात् ये ऐतिहासिक घटनाएं घटित हुईं ।

वीर निर्वाण सं० १ से ६८३ वर्षों के सुदीर्घकाल में हुए गौतमादि लोहार्यादि आचार्यों केवली, श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और आचारांगधारी श्रुत-परम्परा पर परिचय देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में पुनः 'ततः' शब्द के साथ अंग-पूर्व के देशघर आचार्यों का अनुक्रम निम्नलिखित रूप में दिया ।

श्रीदत्तः, शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्वत्तनामैते ।

आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नंगपूर्वदेशधराः ॥८४॥

वर्गपूर्वदेशकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।

श्रापुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्यः ॥८५॥

अर्थात् - ततः तदनन्तरं (अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात्) विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्वत्त नाम के चार (४) आरातीय मुनि अंगपूर्व

के एक देश के धारक हुए। ततः—अर्हद्दत्त के पश्चात् पूर्वदेश के मध्यभाग में स्थित श्रीपुण्ड्रवर्धनपुर में सब अंगों एवं पूर्वी के देशधर अर्हद्दलि नामक मुनि हुए।

इन्द्रनन्दि ने इस स्थल पर एक श्लोक से अर्हद्दलि के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—“वे अर्हद्दलि जिनवाणी के धारण और प्रसारण के विशुद्ध प्रतिशय से युक्त एवं सत्—विमल क्रिया (साध्वाचार) के पालन में सदा उद्यत रहते थे। वे अष्टांग निमित्त के ज्ञाता तथा सन्धान, अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ थे।”

अर्हद्दलि की महिमा का वर्णन करने के पश्चात् संघविभाजन का उल्लेख करते हुए श्रुतावतारकार ने लिखा है—“एक समय पांच वर्षों के पश्चात् किये जाने वाले युग-प्रतिक्रमण के अवसर पर सौ-सौ योजन से मुनिसमाज एकत्रित हुआ। युग-प्रतिक्रमण के अवसर पर अर्हद्दलि ने एकत्रित सकल भ्रमण संघ को यह कहते हुए कि भविष्य में कालप्रभाव से गणपक्षपात का प्राबल्य रहेगा—भ्रमण संघ को नन्दीसंघ, वीर संघ, अपराजित संघ, देव संघ, सेन संघ, भद्रसंघ, गुणधर संघ, गुप्त संघ, सिंह संघ और चन्द्र संघ—इन दश संघों में विभाजित किया।”

संघ-विभाजन का विवरण देते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि उस युग प्रतिक्रमण के अवसर पर एकत्रित हुए समस्त मुनि गिरिगुहा, अशोकवाट, पंचस्तूप, शात्मलीमहाद्रुममूल और खण्डकेसर नामक ५ स्थानों से आये थे। प्रत्येक स्थान से आये हुए मुनियों को दो दो भागों में विभक्त कर अर्हद्दलि ने अनुक्रमशः उपरोक्त १० संघों की स्थापना की।

अपने इस अभिमत का आधार प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दि ने एक अज्ञात-लेखक का निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है:—

आयातो नन्दिवीरो प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा—  
 देवाश्चान्योऽपरादिजित इति यतिपी सेन भद्राह्वयो च ।  
 पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर—वृषभः शात्मलीवृक्षमूला—  
 त्रिय्यातो सिंहचन्द्री प्रथितगुणमणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥

एक अन्य मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है—“गिरिगुहा से आये हुए मुनियों से नंदिसंघ, अशोक वन से आये हुए मुनियों से देव संघ, पंचस्तूप से आये हुए मुनियों से सेन संघ, शात्मलीतरु के मूल में निवास करने वाले मुनियों से वीर संघ और खण्डकेसर वृक्ष के मूल में रहने वाले मुनियों से भद्रसंघ इस प्रकार पांच संघ ही गठित किये गये। इस प्रकार मुनिसंघों के प्रवर्तक अर्हद्दलि के प्रति विनय प्रदर्शित करने वाले पांच प्रकार के कुलों के आचार से पूजनीय (उपास्य) पांच आचार्य थे।”

अर्हद्दलि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् माघनन्दि नामक आचार्य हुए। वे भी एक देश अंगपूर्व की प्ररूपणा कर समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए। इन्द्रनन्दि ने माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर महातपा धरसेनाचार्य के होने का तो उल्लेख किया है किन्तु आचार्य धरसेन आचार्य माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् तत्काल

उनके उत्तराधिकारी बने अथवा अनिश्चित काल व्यतीत होने पर आचार्य बने, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक सं० १५१ में किये गये निर्देश से तो यही प्रकट होता है कि इन्द्रनन्दि के समय में धरसेन के काल, गुरुपरम्परा, शिष्यपरम्परा तथा गण-गच्छ आदि के सम्बन्ध में न तो कहीं किसी प्रकार का कोई उल्लेख ही उपलब्ध था और न किसी को एतद्विषयक कोई जानकारी ही थी।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लिखित पट्ट-परम्परा को शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सहज ही यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि वीर नि० सं० ६८३ में दिवंगत हुए अंतिम आचारांगधर आचार्य लोहार्य के पश्चात् विनयधर से लेकर अर्हद्बलि तक प्रभु वीर के पट्टधरों का जो नामोल्लेख किया है, वह अनुक्रमशः एक के पश्चात् हुए आचार्यों का क्रमबद्ध उल्लेख है। यदि किसी प्रकार का पूर्वाग्रह न हो तो श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ का सीधा सा अर्थ इस प्रकार होता है :- “ततः - तदनन्तर अर्थात् वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य के पश्चात् क्रमशः विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के भ्रंग एवं पूर्वज्ञान के एकदेशधर चार आरातीय मुनि हुए।”

इस श्लोक की शब्दरचना से इस प्रकार का किञ्चिन्मात्र भी आभास नहीं होता कि विनयधर आदि वे चारों मुनि एक ही समय में अर्थात् समकालीन हुए होंगे, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतावतार को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर उसके १८७ श्लोकों में से एक भी ऐसा श्लोक दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसमें एक ही समय में हुए दो अथवा दो से अधिक मुनियों का उल्लेख किया गया हो। ऐसी स्थिति में इन चारों आरातीय मुनियों के एक ही समय में होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

इस प्रकार की स्पष्ट स्थिति के होते हुए भी विश्रुत विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार ने एतद्विषयक उपलब्ध अन्य प्रामाणिक साक्ष्य की ओर ध्यान न देकर अपनी पुस्तक 'समन्तभद्र' के पृष्ठ १६१ पर केवल अपने अनुमान के आधार पर विनयधर आदि चारों आरातीय मुनियों को समकालीन मानकर इन चारों का समुच्चय रूप से २० वर्ष का समय अनुमानित किया है। जैन जगत् के ख्याति प्राप्त विद्वान् डा० हीरालालजी ने भी मुस्तारजी की कल्पना को बल देते हुए लिखा है :-

“लोहार्य के पश्चात् चार आरातीय यतियों का जिस प्रकार इन्द्रनन्दि ने एक साथ उल्लेख किया है, उससे जान पड़ता है कि संभवतः वे सब एक ही काल में हुए थे। इसी से पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार ने उन चारों का एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है।”<sup>१</sup>

श्री मुस्तार सा० और डॉ० हीरालालजी के उपर्युद्ध अनुमान का अक्षरशः अनुकरण करते हुए क्षु० श्री जिनेन्द्रवर्णीजी ने एक प्रकार से सुनिश्चित तथ्य के सम्मान विनयधर आदि चारों आरातीय मुनियों को समकालीन बता कर इन चारों

<sup>१</sup> पद्लक्षणागम, भाग १, द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना, पृ० २०

का समष्टि रूप से २० वर्ष का समय अपने “जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश” में उल्लिखित कर दिया है।<sup>१</sup> वस्तुतः कोश का बहुत बड़ा महत्व होता है। वह भावी पीढ़ियों के लिये सहस्राब्दियों तक एक प्रामाणिक धाती के रूप में प्रकाश स्तम्भ का काम करता है। उसमें उल्लिखित प्रत्येक तथ्य सभी दृष्टियों से पूर्वाग्रहों से परे और परम प्रामाणिक होना चाहिए। वर्गीजी ने सैकड़ों ग्रन्थों के साथ-साथ हरिवंश पुराण का भी आलोड़न किया है। उन्होंने आज से १२०० वर्ष पूर्व की हरिवंश पुराण<sup>२</sup> की साक्षी को दरगुजर कर पुष्पाट संघ की पट्टावली देते हुए आधुनिक विद्वानों के केवल अनुमान और कल्पना पर आधारित अभिमत को प्रथम दे कर लोहाचार्य आदि आचार्यों के काल को ११८ वर्ष पीछे की ओर ठेलने का प्रयास किया है। किन्तु पुष्पाट संघ के आचार्य शान्तिसेन, जयसेन और हरिवंश पुराणकार जिनसेन का समय उपलब्ध साहित्य में उल्लिखित है अतः उन्हें उसे बिना हेर फेर किये यथावत् देना पड़ा है। इससे वास्तविक तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है।<sup>३</sup>

वस्तुतः इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ में प्रयुक्त ‘ततः’ शब्द का अग्र्याहार विनयधर आदि चारों मुनियों के साथ कर लिया जाता और हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् की जो आचार्य परम्परा दी गई है, उस ओर दृष्टिपात किया जाता तो वास्तविकता सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट हो जाती और मुख्तार सा० आदि तीनों विद्वानों की कल्पना एवं अनुमान का सहारा लेने की किञ्चित्मात्र भी आवश्यकता नहीं होती। हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् लोहाचार्य से उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा इस प्रकार दी हुई है :-

महातपोभृद्विनयधरः श्रुतामृषिश्रुति गुप्तपदादिकां दधत् ।

मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्त संज्ञको गुरोः स्वमहदंबलिरप्यधात् पदम् ॥२५॥

अर्थात् वीर नि० सं० ६८३ में लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर क्रमशः महान् तपस्वी विनयधर, गुप्तश्रुति, गुप्त ऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त और अर्हदंबलि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए।

यह लोहाचार्य के पश्चात् की और अर्हदंबलि के समय में हुए संघ-विभाजन से पूर्व की आचार्य परम्परा है। यहाँ स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, उनके पश्चात् गुप्तश्रुति, फिर गुप्त ऋषि, तदनन्तर शिवगुप्त और उनके अनन्तर अर्हदंबलि आचार्य हुए। वस्तुतः विनयधर आदि ये पाँचों ही आचार्य मूल आचार्य परम्परा के क्रमशः - एक के पश्चात् एक - हुए आचार्य हैं, इस तथ्य को स्वीकार करने में तो किसी को कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दिग्म्बर संघ में परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि

<sup>१</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ३३२

<sup>२</sup> हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २२-३३

<sup>३</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १ पृ० ३४५

अर्हद्बलि ने भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पृथक् पृथक् संघों का निर्माण किया। इन्द्रनन्दि ने तो अपने श्रुतावतार में अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ-विभाजन का विशद एवं सुस्पष्ट विवरण दिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विनयंधर से अर्हद्बलि तक जो पांच आचार्यों के नाम हरिवंशपुराण और श्रुतावतार में दिये गये हैं, वे अनुक्रमशः हुए मूल आचार्य-परम्परा के ही आचार्य हैं।

यहां एक बात जो विचारणीय है, वह यह है कि हरिवंश पुराणकार तथा श्रुतावतारकार—इन दोनों ने ही लोहार्य के पश्चात् तथा संघविभाजन से पूर्व हुए आचार्यों की संख्या समान रूप से यद्यपि ५ ही दी है तथापि उन ५ आचार्यों में से २ आचार्यों के नाम दोनों ने एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न दिये हैं। इन दोनों ग्रन्थकारों ने लोहाचार्य के पश्चात् हुए प्रथम आचार्य का नाम विनयंधर और पांचवें आचार्य का नाम अर्हद्बलि दिया है। इन्द्रनन्दि ने तीसरे आचार्य का नाम शिवदत्त और जिनसेन ने चौथे आचार्य का नाम शिवगुप्त दिया है। क्रम के अतिरिक्त इस नाम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दूसरे और चौथे आचार्यों के नाम इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में श्रीदत्त एवं अर्हद्दत्त लिखे हैं पर जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में दूसरे आचार्य का नाम गुप्तश्रुति तथा चौथे आचार्य का नाम गुप्त ऋषि उल्लिखित किया है। यह नाम वैषम्य अवश्य ही कुछ खटकने वाला है पर पूर्वापर दोनों आचार्यों के समान नाम, तीसरे आचार्य का नगण्य अन्तर के साथ नाम साम्य तथा दोनों ही ग्रन्थों में आचार्यों की समान संख्या को देखते हुए इन उल्लेखों की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। उपरिलिखित विभिन्न ग्रन्थों में कतिपय आचार्यों के नामों की भिन्नता प्रायः यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में केवल आचार्यों ही नहीं अपितु गणधरों के नामों में भी वैभिन्य पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हरिवंश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा की पट्टावली अपने आपमें परिपूर्ण एवं सभी दृष्टियों से अन्य उपलब्ध पट्टावलियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। वीर नि. सं. १ से ६८३ तक और दूसरे शब्दों में केवली गौतम से लेकर अन्तिम आचारांगधर लोहार्य तक की ६८३ वर्ष की अवधि में जिनसेन ने २८ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो धवला, तिलोयपण्णत्ती, श्रुतावतार आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा समर्थित हैं। लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि. सं. ६८३ से वीर नि. सं. १३१० (शक सं. ७०५) तक कुल मिलाकर ६२७ वर्षों में जिनसेन ने ३१ (स्वयं को मिलाकर

१ शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषुत्तरा  
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णश्रुपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।  
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूमृति तृपे वत्सादिराजेऽपरा,  
सूर्याणामधिमंडलं जय युते वीरे वराहेऽवति ॥१२॥  
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्री वर्धमाने पुरे,  
श्री पार्श्वालयनन्तराजवसती पर्यपित्तशेषः पुरा ।  
पश्चादोष्पतटिका-प्रजाप्रजनितप्राण्यार्चनार्थवर्चने,  
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

३२) आचार्यों का होना बताया है, जो सभी दृष्टियों से सुसंगत प्रतीत होता है। यद्यपि जिनसेन ने विनयंधर से लेकर आचार्य अमितसेन तक ३१ आचार्यों का पृथक् पृथक् आचार्यकाल नहीं दिया है तथापि लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि. सं. ६८३ से स्वयं द्वारा हरिवंश पुराण की समाप्ति का समय शक सं. ७०५ तदनुसार वीर नि. सं. १३१० देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि लोहाचार्य से लेकर उन स्वयं (जिनसेन) तक की ६२७ वर्षों की अवधि में ३१ आचार्य हुए। इस ६२७ वर्ष के समुच्चय काल को ३१ आचार्यों में विभक्त किया जाय तो मोटे तौर पर एक एक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग आंका जा सकता है।

इस प्रकार हरिवंश पुराण की आचार्य-परम्परा की पट्टावली में उल्लिखित तर्कसंगत एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समर्थित प्रामाणिक तथ्यों से विनयंधरादि अर्हद्बल्यान्त पांच आचार्यों का, प्रत्येक आचार्य के २० वर्ष के काल के हिसाब से, समुच्चयकाल १०० वर्ष और तदनुसार अर्हद्बलि का आचार्यकाल वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ तक का सिद्ध होता है, न कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० सं० ५६५ से ५६३ तक का। यह १६० वर्ष का गोलमाल वस्तुतः श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ का पूर्वाग्रहानुसार अर्थ लगाने एवं हरिवंश पुराण में दी हुई पट्टावली की उपेक्षा करने के कारण हुआ है। यदि दिग्म्बर परम्परा के अग्रगण्य विद्वानों ने हरिवंश पुराणान्तर्गत आचार्य परम्परा की पट्टावली पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया होता तो न तो आचार्यों के काल के विषय में इस प्रकार की गम्भीर भ्रान्ति ही उत्पन्न होती और न उसे कोश जैसे प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ में स्थान ही दिया जाता। इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में अर्हद्बलि के पश्चादवर्ती माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के काल के सम्बन्ध में भी पुनर्विचार करना परमावश्यक हो गया है।

उपरिलिखित सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर सहज ही यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है कि आचार्यों के काल के विषय में हुई इस भूल की मूल जननी वस्तुतः नन्दीसंघ की उपर्युद्धत प्राकृत पट्टावली है, जिसकी कि हस्तलिखित मूल प्रति डॉ० हीरालालजी के कथनानुसार आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं।<sup>१</sup>

ऊपर उद्धृत की गई पट्टावलियों एवं सम्बद्ध उल्लेखों से यह तथ्य तो निर्विवाद रूपेण प्रकट हो चुका है कि दिग्म्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय में खोजने पर एक भी इस प्रकार की पंक्ति उपलब्ध नहीं होगी, जिससे कि नन्दी

<sup>१</sup> इस पट्टावली की जांच करने के लिये हमने सिद्धान्त भवन, आरा को उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजने के लिये लिखा, किन्तु वहां से पं० भुजबली जी शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावली की मूल प्रति मिल नहीं रही है ऐसी भवस्था में हमें उसकी जांच मुद्रित पाठ पर से ही करनी पड़ती है।

[षट्खण्डागम, भा० १ (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ० २४]



संघ की प्राकृत पट्टावली में आचार्यों एवं श्रुतपरम्परा की अवस्थिति के सम्बन्ध में उल्लिखित 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले विचित्र अभिमत की पुष्टि होती हो। प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन सभी दिग्म्बर परम्परा के ग्रन्थों में लोहार्य को अंतिम आचारांगघर बताते हुए एक स्वर से यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० ६२३ में लोहार्य के स्वर्गस्थ होते ही द्वादशांगी में से अवशिष्ट एक मात्र आचारांग भी विच्छिन्न हो गया। लोहार्य के पश्चात् कोई आचार्य किसी एक भी सम्पूर्ण अंग का ज्ञाता नहीं हुआ। लोहार्य के पश्चाद्दवर्ती सभी आचार्य अंगज्ञान एवं पूर्व ज्ञान के एक देश-घर ही हुए।

ऐसी स्थिति में नन्दी संघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली, जिसकी कि मूल प्रति आज कहीं उपलब्ध नहीं, जिसके रचनाकार एवं रचनाकाल तक का कोई पता नहीं, उसे कहां तक प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक माना जा सकता है, इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करना परमावश्यक हो जाता है।

इस पट्टावली में सर्व प्रथम ३ श्लोक संस्कृत के और १६ गाथाएं प्राकृत की हैं। डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली के सम्बन्ध में लिखा है :- "यह पट्टावली प्राकृत में है और संभवतः एक प्रति पर से बिना कुछ संशोधन के छपाई गई होने से उसमें अनेक भाषादि दोष हैं। इस लिये उस पर से उसकी रचना के समय के सम्बन्ध में कुछ कहना अशक्य है। पट्टावली के ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं, उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सदोष है।<sup>१</sup> पर उन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वयं पट्टावली की रचना नहीं कर रहा, किन्तु वह अपनी उस प्रस्तावना के साथ एक प्राचीन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहा है।"<sup>२</sup>

वस्तुस्थिति यह है कि इस पट्टावली के प्रारम्भ के तीन संस्कृत श्लोकों को यदि अन्यकर्तृक मान लिया जाता है अथवा इन्हें पट्टावली में से हटा दिया जाता है तो उस दशा में केवल गाथाओं को पढ़ने से किसी को किंचित्मात्र भी इस प्रकार का आभास नहीं हो सकेगा कि यह किस संघ की पट्टावली है। ऐसी स्थिति में न तो इन तीन श्लोकों को इस पट्टावली से पृथक् ही किया जा सकता है और न इन्हें अन्यकर्तृक ही कहा जा सकता है। यदि इस पट्टावली को भाषा विज्ञान एवं गणित की कसौटी पर कसा जाय तो न केवल इसके आदि के तीन संस्कृत श्लोक ही, अपितु यह सम्पूर्ण पट्टावली ही दोषों से भरी हुई प्रतीत होगी।

<sup>१</sup> वस्तुतः पहला श्लोक भी सदोष है। चतुर्थ चरण में गणाधिपां के स्थान पर गणाधिपानां होना चाहिए पर उस दशा में छन्दभंग होता है। —सम्पादक

<sup>२</sup> (क) डॉ० हीरालालजी ने यह किस आधार पर लिखा है? कुछ समझ नहीं पड़ता क्योंकि प्रथम श्लोक में ही स्पष्टतः कहा गया है — "वक्ष्ये पट्टावलि रम्यां, मूलसंघ गणाधिपाम्" अर्थात् — मूलसंघ के गणाधिनायकों की पट्टावली कहूंगा। — सम्पादक  
(ख) पट्टखण्डागम, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० २४-२५

१६ गाथाओं की इस छोटी सी पट्टावली में काल—गराना में गणित की दृष्टि से दो स्थानों पर इस प्रकार की त्रुटियाँ की गई हैं कि इतिहास के विशेषज्ञों को ११ दशपूर्वघरों में से किसी एक महापुरुष की आयु को २ वर्ष बढ़ाने तथा दश-नवाष्टांगघरों में से किसी एक महामुनि की आयु को २ वर्ष घटाने का प्रयास करना पड़ रहा है, क्योंकि इन दोनों वर्गों के आचार्यों का जो पृथक्-पृथक् काल दिया गया है, वह पिण्ड रूप में दिये गये उनके काल से मेल नहीं खाता ।<sup>१</sup>

इस पट्टावली की गाथाओं पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो ये सदोष ही सिद्ध होंगी । इसकी गाथा संख्या २ के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'रहियो' शब्द प्राकृत भाषा की शब्दावली में 'रहा'—इस अर्थ में कहीं देखने में नहीं आया । प्राकृत भाषा में 'रहिओ' शब्द का प्रयोग पार्थक्य अथवा घटाने के अर्थ में होता है । हाँ, डिंगल, राजस्थानी-गुजराती, अपभ्रंश एवं कतिपय देशज भाषाओं में 'रहियो' शब्द का प्रयोग 'रहा' के अर्थ में होता है । इसके अतिरिक्त गाथा संख्या १३ में चार बार 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है जो खटकने के साथ-साथ इस बात का द्योतक है कि पट्टावलीकार का भाषा पर पूर्णाधिकार नहीं था । इस पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर एक बात बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि पट्टावलीकार को जहाँ परम्परागत मान्यता और प्राचीन ग्रन्थों से विपरीत बात कहनी थी, वहाँ उसने जिनागम और जिन-कथन की दुहाई दी है । सभी प्राचीन ग्रन्थों द्वारा समर्थित यह परम्परागत मान्यता रही है कि ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य स्वर्गस्थ हुए । इसके विपरीत लोहार्य को आठ अंगों के धारक और वीर नि० सं० ५६५ में स्वर्गस्थ हुए सिद्ध करने के लिये पट्टावलीकार ने गाथा संख्या १३ में—“लोहाचर्य मुणीसं च, कहियं च जिणागमे” इस गाथाद्वारा अपने अभिमत पर जिनागम की छाप लगाने का प्रयास किया है । इसी प्रकार लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमशः हुए त्रिनयंधर आदि चार आचार्यों को अपनी पट्टावली में स्थान न देकर ८० वर्ष के आचार्यकाल को ऊपर ही ऊपर उड़ाने का प्रयास करते हुए जहाँ अंग पूर्व के एक देशधर अहंइल्लि, माधनंदी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन ५ आचार्यों को आचारांगधर सिद्ध करने एवं भूतबलि का ६८३ में स्वर्गस्थ होना तथा उनके साथ ही अंग विच्छेद होने की बात सिद्ध करने का प्रयास किया है, वहाँ पर भी पट्टावलीकार ने लिख दिया है कि जिनेन्द्र भगवान् ने इस प्रकार कहा है :—

अहिवल्लि माधनंदि य धरसेण पुष्कयंत भूदबली ।

अडवीसं इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥

इगसय अठारवासे दसंगधारी य मुणिवरा जादा ।

छ सय-तिरासिय-वासे सिण्वाणा अंगच्छति कहिय जिणे ॥१५॥

वस्तुतः वास्तविक स्थिति यह है कि किसी जिनागम में अथवा दिगम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ में एक पंक्ति तो क्या एक शब्द भी इस प्रकार का उपलब्ध

<sup>१</sup> डेलिपे मनुत ग्रन्थ का पृष्ठ ७३७

नहीं होता, जिससे नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के रचनाकार के उपरिलिखित अभिमतों की किञ्चिन्मात्र भी पुष्टि होती हो।

एक बात और बड़ी विचारणीय है, वह यह है कि इस पट्टावली के भादि के प्रथम श्लोक में पट्टावलीकार ने त्रैलोक्येश्वर प्रभु को नमस्कार एवं सद्गुरु की वाणी का स्मरण करने के पश्चात् मूलसंघ के गणनायकों (आचार्यों) की सुन्दर पट्टावली की रचना करने की तथा दूसरे एवं तीसरे श्लोक में “श्रेष्ठ मूल संघ के नन्दी भ्राम्नायी बलात्कारगण के सरस्वती गच्छ में जितने कुन्दकुन्दान्वयी आचार्य हुए हैं, उन सबका विवरण मैं यहां प्रस्तुत करूंगा अतः सब सज्जन उसे सुनें”<sup>१</sup>, इस प्रकार की प्रतिज्ञा की है।

पट्टावलीकार की उपरोक्त प्रतिज्ञा के सन्दर्भ में इस सम्पूर्ण पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो स्वतः ही यह तथ्य प्रकट हो जायगा कि यह पट्टावली वस्तुतः अपने आप में अपूर्ण है। क्योंकि पट्टावलीकार की उपर्युद्धृत प्रतिज्ञानुसार न इस पट्टावली में कहीं नन्दी भ्राम्नाय का, न बलात्कार गण का, न सरस्वती गच्छ का और न आचार्य कुन्दकुन्द का ही कहीं उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

इस पट्टावली की गाथा संख्या १४ के चतुर्थ चरण — “वास दुसद वीस सधेसु ॥” पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विचारकों के मस्तिष्क में यह आशंका उत्पन्न होती है कि इस पट्टावली के रचनाकार ने प्राचीन, प्रचलित एवं प्रामाणिक पट्टावलियों में उल्लिखित तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर इसमें प्रस्तुत किया है। सभी पट्टावलीकारों की वर्णनशैली का अनुसरण करते हुए नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणयनकार ने भी प्रत्येक श्रुतपरम्परा के आचार्यों के काल का उल्लेख करते हुए — “सदतेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा” — इस गाथार्द्ध से एकादशांग-धारियों का काल १२३ वर्ष तथा — “वास सत्ताणवदिय, दसंग नव अंग अट्टधरा” इस आधी गाथा द्वारा दश नव-अष्टांगधरों का काल ६७ वर्ष बताया है। इस सारी पट्टावली को पढ़ने पर यह स्पष्टतः जात हो जाता है कि इसमें सर्वत्र पृथक्-पृथक् श्रुत परम्परा का पृथक्-पृथक् काल दिया है, दो श्रुत परम्पराओं का सम्मिलित काल नहीं। परन्तु इन एकादशांगधारियों के परम्परागत २२० वर्ष के काल का प्रश्न आया और उसे पट्टावलीकार ने विवादास्पद बनाया वहां — “दस नव अट्टंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥१४॥” इस गाथार्द्ध द्वारा एकादशांगधारियों एवं दश-नवाष्टांगधारियों का सम्मिलित समय २२० वर्ष बताने का प्रयास किया है। यहां पट्टावलीकार द्वारा भयंकर त्रुटि हो गई है। पट्टावलीकार गाथा संख्या १२

<sup>१</sup> इन तीन श्लोकों में पट्टावलीकार ने दो बार कहा है कि मूल संघ में हुए गणाचार्यों तथा मूल संघ के नन्दी भ्राम्नायी बलात्कार गण के सरस्वती गच्छ में कुन्द कुन्दान्वयी जितने भी आचार्य हुए हैं उनके सम्बन्ध में मैं कथन करूंगा। ऐसी स्पष्ट दो उक्तियों के होते हुए भी डॉ० हीरालालजी ने इन श्लोकों का अर्थ यह किस प्रकार लगाया है कि पट्टावलीकार किसी पुरातन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठकगण स्वयं इस पर निर्णय करें।

में एकादशांगधारियों का १२३ वर्ष का काल और दश-नव-अष्टांगधारियों का ६७ वर्ष का काल बता चुकने के पश्चात् गाथा संख्या १४ द्वारा पुनः दश, नव तथा आठ अंगधारियों का काल ६७ वर्ष के स्थान पर २२० वर्ष बताते हैं। यहां पट्टावलीकार द्वारा वस्तुतः बड़ी भारी भूल हो गई है। गाथा की शब्दयोजना पर विचार करने की दशा में यह गाथा त्रुटिपूर्ण और नितान्त अशुद्ध प्रतीत होती है। गाथा के पूर्वाह्न में दी हुई संख्या ६+१८+२३+५२ (५०) का योग ६६ और ६७ आता है पर गाथा के उत्तराह्न में दश, नव तथा आठ अंगधारियों का काल २२० वर्ष बीतने तक बताया गया है। पूर्वापर सम्बन्ध की खींच तान से तो इस गाथा का अर्थ येन केन प्रकारेण यह लगाया जा सकता है कि २२० वर्षों में एकादशांगधर तथा दश-नव-अष्टांगधर हुए, पर गाथा की शब्द रचना से तो गाथा का सीधा सा अर्थ यही निकलता है कि इसमें दश-नव-अष्टांगधरों का काल २२० वर्ष बताया गया है। इस अप्रासंगिक, अनावश्यक एवं सद्योप उल्लेख को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस पट्टावलीकार के समक्ष एकादशांगधरों का २२० वर्ष का काल बताने वाली अनेक पट्टावलियां विद्यमान थीं। उनमें से हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली का—“द्वये च विशेषऽङ्गभृतोऽपि पंच ते” तथा जय धवला का—“तदो तमेकवारसंगं सुदण्डाणं जयपाल-पांडु-ध्रुवसे-णकसोत्ति आइरिय परम्पराए वीमुत्तर बेसद वासाइमागंतूण वोच्छिण्णं।” यह पद एवं श्रुतावतार के निम्नलिखित पद पट्टावलीकार के कर्गारन्ध्रों में गूजते रहे:—

एते पंचापि ततो बभूवुरेकादशांगधराः।

विशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ॥८१॥

उन पदों की छाप जो नन्दीसंघ प्राकृत पट्टावलीकार के मस्तिष्क में थी, वह अनावश्यक एवं अप्रासंगिक होते हुए भी इस पट्टावली की गाथा संख्या १४ में “दस नव अट्ठ गधरा, वास दुसदवीस सधेसु” के रूप में उतर आई। अन्यथा “वास दुसदवीस सधेसु” यह चरण इस गाथा में किसी भी दृष्टि में उपयुक्त नहीं जंचता। यह पद ही इस बात का साक्षी है कि यहां हेर फेर के रूप में कुछ गड़बड़ की गई है किन्तु वास्तविकता इस चतुर्थ चरण के रूप में अपना चिन्ह छोड़ गई है।

यही नहीं, अपितु इस नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणेता ने भावी पीढ़ियों को एक बड़ी उलझन में भी डाल दिया है। गाथा सं० १२ के उत्तराह्न से १४ वीं गाथा तक सुभद्र आदि ४ आचार्यों को दश, नव, आठ अंगों का धारक तो बताया है, पर यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे चारों ही आचार्य उपरोक्त तीनों ही अंगों के धारक थे अथवा इनमें से विभिन्न अंगों के। यदि वे विभिन्न अंगों के धारक थे तो कौन-कौन से आचार्य किस-किस अंग के धारक थे? उपरिर्चित गाथाओं में आचार्यों की संख्या ४ और अंगों की संख्या तीन ही है अतः चारों ही आचार्यों को उपरोक्त तीनों अंगों का समान रूप से धारक माना जाय, उस दशा में तो ठीक है किन्तु उन चारों आचार्यों में से प्रत्येक को उपरोक्त तीनों अंगों में से पृथक्-पृथक्

अंगों का ज्ञाता माने जाने की स्थिति में यह प्रश्न एक जटिल पहली का रूप धारण कर लेता है ।<sup>१</sup>

इस प्रकार आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो तथ्य ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं, उन सब पर और विशेषतः हरिवंश पुराण एवं श्रुतावतार में लोहार्य से उत्तरवर्ती वीर निर्वाण सं० ६८३ के पश्चात् की आचार्य-परम्परा के जो उल्लेख ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उन पर निष्पक्ष एवं सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली भट्टारककालीन किसी अति साधारण रचनाकार की नितान्त साधारण, त्रुटिपूर्ण एवं अपूर्ण कृति होने के कारण वस्तुतः अविश्वसनीय और अप्रामाणिक है । एकादशांगधरों के काल के विषय में की गई काट-छांट, दश, न एवं आठ अंगधरों की कल्पना के साथ उनके काल के सम्बन्ध में जोड़-तोड़, लोहाचार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि चार आचार्यों को आचार्यों के क्रम में सम्मिलित तक न करना, अंगपूर्वज्ञान के एक देशधर आचार्य अर्हदबलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि को एक अंगधारी मनवाने का प्रयास करना, ये सब बातें वस्तुतः पट्टावलीकार की स्वयं की ऐसी कल्पनाएँ हैं, जिनके समर्थन में दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य का मंथन करने पर भी एक शब्द तक उपलब्ध नहीं होगा । ऐसी दशा में नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली की किसी भी तरह प्रामाणिकता की कोटि में गणना नहीं की जा सकती । ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय आचार्यों को उनके वास्तविक काल से प्राचीन सिद्ध करने के उद्देश्य से भट्टारक काल में इस पट्टावली की रचना की गई है ।

दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण बाङ्गमय से पूर्णतः विरुद्ध जो विचित्र मान्यताएँ नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में प्रस्तुत की गई हैं, उनके सम्बन्ध में स्व० डॉ० हीरालालजी ने लिखा है “उससे अकस्मात् अंग लोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है ।” दिगम्बर परम्परा के सभी प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों में जिस प्रकार वीर नि० सं० ३४५ में पूर्वज्ञान का और ६८३ में अंगज्ञान का विच्छिन्न होना बताया गया है; नन्दीसंघ की पट्टावली में भी इन दोनों प्रकार के ज्ञान का ठीक उसी समय में विच्छेद बताया गया है । ऐसी दशा में इससे काल की कठिनाई तो किञ्चित्मात्र भी कम नहीं होती । केवल तीन अंगों के लोप की कठिनाई काल की दृष्टि से नहीं अपितु क्रम की दृष्टि से कुछ कम होती है पर शेष ६ अंगों के अकस्मात् लोप की कठिनाई तो ज्यों की त्यों ही बनी रहती है । इसी प्रकार पूर्वज्ञान के लोप की कठिनाई में भी इस पट्टावली के उल्लेखों से किसी प्रकार की कमी नहीं आती । कठिनाई को कम करना तो दूर इस पट्टावली

<sup>१</sup> इनके पश्चात् आने के जिन चार आचार्यों को अग्र्यत्र एकांगधारी कह कर श्रुतज्ञान की परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहाँ क्रमशः दश, नव और आठ अंगों के धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कौन कितने अंगों का ज्ञाता था ।

ने दिगम्बर परम्परा के परम प्रामाणिक माने जाने वाले धवला जैसे प्राचीन ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों के प्रति प्रगाढ़ आस्था को झुकझोर कर न सही, पर थोड़ा हिलाकर अनेक नवीन उलझनों उत्पन्न कर दी हैं और कतिपय विद्वानों द्वारा इसको प्रश्रय दिये जाने के कारण आचार्यों के काल के प्रश्न को लेकर एक बड़ी अजीब संशयात्मक स्थिति जनमानस में व्याप्त हो गई है। आज के युग के उच्च कोटि के विद्वानों के एतद्विषयक अभिमत को पढ़ कर प्रबुद्ध जनमानस ईहापोह करने लगा है कि आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व तपोपूत महात्माओं द्वारा प्राचीन ग्रन्थों में आचार्यों का जो कालक्रम लिखा गया है, उसे प्रामाणिक माना जाय अथवा आज के युग के कतिपय विद्वानों द्वारा प्रश्रय प्राप्त तथाकथित “नदीसंघ की प्राकृत पट्टावली” के उल्लेखों को, जिसके कि न तो लेखक का ही कोई पता है और न लेखनकाल ही का।

इस उलझन भरी जटिल ऐतिहासिक गुत्थी को प्रमाण पुरस्सर सुलझाने का प्रयास किया जाय, एक मात्र इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर यहां इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के ही अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण इस दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं कि पाठकों एवं शोधार्थियों को एक ही स्थान पर पूरी आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो जाय और उन्हें विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों को प्राप्त करने के प्रयास में समय एवं श्रम व्यर्थ ही व्यय न करना पड़े। ऊपर जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमें “हरिवंश-पुराण” के उल्लेखों का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि उनमें वीर नि० सं० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा का अविच्छिन्न रूप से उल्लेख है। इसमें उल्लिखित, वीर नि० सं० ६८३ में दिवंगत हुए लोहार्य तक की आचार्य परम्परा धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती, जम्बूदीय पण्णत्ती के आदि में दी हुई श्रुतधर पट्टावली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अनेक पट्टावलियों एवं शिलालेखों द्वारा पूर्ण रूपेण समर्थित है। नदीसंघ की प्राकृत पट्टावली को अनेक प्रमाणों एवं तर्क संगत तथ्यों द्वारा पूर्णतः अप्रामाणिक और अविश्वसनीय सिद्ध किया जा चुका है। इस पट्टावली के अतिरिक्त अन्यत्र कोई एक भी उल्लेख (लोहार्य के समय वीर नि० सं० ६८३ तक) हरिवंश पुराण के विपरीत उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में लोहार्य के अंतिम आचारांगधर होने तथा उनके समय वीर नि० सं० ६८३ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किंचित्मात्र भी सदेह के लिये स्थान नहीं रह जाता।

लोहार्य के पश्चात् वीर नि० सं० ६८३ से अनुमानतः ७८३ तक, संघ विभाजन से पूर्व की आचार्य परम्परा का जो उल्लेख हरिवंश पुराण में किया गया है, वह इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार द्वारा (दो आचार्यों के नाम विभेद के साथ) समर्थित है। उपरिलिखित अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में लोहार्य के पश्चात् की आचार्य परम्परा का उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में हरिवंश पुराण में लोहार्य के पश्चात् अनुक्रमशः हुए त्रिनयंश्वर, गुणश्रुति, गुणवृत्ति, गितगुण और

ग्रहद्वलि, इन पांच आचार्यों के नाम दिये हैं, उनके क्रमगत आचार्यत्व और आचार्य काल के सम्बन्ध में भी वस्तुतः किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं रहना चाहिए ।

इस प्रकार विस्तार सहित प्रस्तुत किये गये उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में निर्वाण पश्चात् गौतम से लेकर ग्रहद्वलि तक हुए विगम्बर परम्परा के आचार्यों का क्रम एवं काल निम्नलिखित रूप से सुनिश्चित सिद्ध होता है :-

नाम	श्रुतपरम्परा	काल
१. इन्द्रभूति गौतम	केवली	१२ वर्ष
२. सुधर्मा (सोहार्य)	"	१२ वर्ष
३. जम्बू	"	३८ (४०) वर्ष
		योग ६२ (६४)
४. विष्णु (नन्दी)	श्रुतकेवली	समुच्चय काल  १०० वर्ष
५. नन्दिमित्र	"	
६. अपराञ्जित	"	
७. गोवर्धन	"	
८. भद्रबाहु	"	
९. विशाल	एकादशांग एवं दशपूर्वधर	समुच्चय काल  १८३ वर्ष
१०. प्रोष्ठिल	"	
११. क्षत्रिय	"	
१२. जय	"	
१३. नाग	"	
१४. सिद्धार्थ	"	
१५. धृतिषेण	"	
१६. विजय	"	
१७. बुद्धिल	"	
१८. गंगदेव	"	
१९. धर्मसेन	"	
२०. ब्रह्मत्र	एकादशांगधर	समुच्चय काल  २२० वर्ष
२१. यशःपाल	"	
२२. पाण्डु	"	
२३. ध्रुवसेन	"	
२४. कंसाचार्य	"	

२५. सुभद्र	} आचारांगधर	} समुच्चय काल
२६. यशोधर		
२७. यशोबाहु		
२८. लोहार्य		

११८ वर्ष

पूर्ण योग ६८३ वर्ष

२९. विनयधर	अंग-पूर्व के एक देशधर	२० वर्ष (अनुमानतः)
३०. गुप्तश्रुति	"	२० "
३१. गुप्तश्रुति	"	२० "
३२. शिवगुप्त	"	२० "
३३. अर्हद्बलि <sup>१</sup>	"	२० "
योग		<u>१००</u>
पूर्ण योग		<u>७८३</u>

अर्हद्बलि के पश्चात् हरिवंशपुराण में वीर नि० सं० १३१० तक की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा दी है, वह पुत्राट संघ की आचार्य-परम्परा प्रतीत होती है। यह तथ्य विचारणीय है कि हरिवंश पुराणकार ने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया है कि पुत्राट संघ के प्रवर्तक प्रथम आचार्य कौन हुए। हरिवंश पुराण के ६६वें सर्ग के ३१वें श्लोक में पुराणकार ने अमितसेन को पवित्र पुत्राट गण का अग्रणी आचार्य बताया है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे पुत्राट संघ के एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, न कि मूल पुरुष। पुत्राट संघ के प्रथम आचार्य तो अनुमानतः मन्दरार्य ही होने चाहिए जो कि मूल संघ का विभाजन करने वाले अर्हद्बलि के पश्चात् इस पट्टावली में बताये गये हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि अर्हद्बलि (वीर नि० सं० ७६३-७८३) ने दिग्म्बर संघ को १० संघों में विभाजित किया। उन संघों में से अधिकांश के नाम तो आज केवल पत्रों पर ही अवशिष्ट रह गये हैं। कालान्तर में उपरोक्त संघों के अतिरिक्त और भी कई संघ समय-समय पर उत्पन्न हुए तथा उनमें से भी अनेक संघ विलुप्ति के गहन गह्वर में विलीन हो गये। ऐसी स्थिति में अर्हद्बलि के उत्तरवर्ती काल की मूल संघ की कोई एक सर्व-सम्मत आचार्यपरम्परा की पट्टावली प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार कौ कोई प्रामाणिक एवं अविच्छिन्न पट्टावली कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में अर्हद्बलि के पश्चात् जिन ४ आचार्यों के नाम दिये हैं, उन्हीं के

<sup>१</sup> हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २५



नाम नन्दी संघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली में भी दिये गये हैं। अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ विभाजन का विवरण देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में लिखा है :-

तस्थानन्तरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाभूत् ।

सोऽप्यंगपूर्वदेशं प्राकाशय समाधिना दिवं यातः । १०२

अर्थात् - अर्हद्बलि के पश्चात् मुनिश्रेष्ठ माघनन्दि नामक आचार्य हुए। वे भी अंग और पूर्वज्ञान के एक देश का उपदेश कर स्वर्गस्थ हुए।

इन्द्रनन्दि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हद्बलि के पश्चात् माघनन्दि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। संघ-विभाजन के विवरण को दृष्टिगत रखते हुए इस श्लोक का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अर्हद्बलि ने मूल संघ को १० अथवा ५ संघों में विभाजित किया, उन संघों में नन्दीसंघ का सर्व-प्रथम स्थान था और उस नन्दीसंघ के आचार्य माघनन्दि हुए। इसी कारण इन्द्रनन्दि ने अर्हद्बलि के पश्चात् माघनन्दि का आचार्य पद पर अधिष्ठित होना बताया है। अर्हद्बलि के पश्चात् जो आचार्य-परम्परा इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दी है, उसके साथ आनुमानित रूप में यदि नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित उन आचार्यों का काल जोड़ दिया जाय तो अर्हद्बलि के पश्चात् आचार्यों का क्रम और काल निम्नलिखित रूप में होगा :-

नाम	आचार्यकाल
३४. माघनन्दि	२१ वर्ष
३५. धरसेन	१६ "
३६. पुष्पदन्त	३० "
३७. भूतबलि	१० "
	<hr/>
योग	६० वर्ष
	<hr/>
पूर्णा योग	८७३ वर्ष

किन्तु आचार्य अर्हद्बलि के पश्चात् ऊपर बताये हुए चार आचार्यों के क्रम और काल को मानने में निम्नलिखित बाधाएँ उपस्थित होती हैं :-

इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि धरसेन की गुरु शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस दशा में धरसेन को माघनन्दि का उत्तराधिकारी आचार्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि को धरसेन के समय के सम्बन्ध में भी विदित नहीं है। अतः उनके उपरोक्त काल को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

धवला तथा श्रुतावतार के उल्लेखानुसार पुष्पदन्त और भूतबलि धरसेन की परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के मुनि थे। ऐसी स्थिति में एक क्रमबद्ध

आचार्य-परम्परा की प्रामाणिक पट्टावली में पुष्पदन्त को धरसेन की परम्परा का उत्तराधिकारी नहीं माना जा सकता। धरसेन पुष्पदन्त और भूतबलि किस संघ की परम्परा के आचार्य अथवा मुनि थे, इस प्रश्न का समाधान करने वाला एक भी ठोस प्रमाण दिगम्बर परम्परा के साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

धरसेन नामक एक तपोधन आचार्य का उल्लेख पुष्पाट संघ की पट्टावली में अवश्य विद्यमान है<sup>१</sup> पर वे अर्हद्वलि के पश्चात् १३वें पट्टधर आचार्य बताये गये हैं। संयोगकी बात है कि इन्द्रनन्दि ने धरसेन को महातपा<sup>२</sup> के विशेषण से और जिनसेन ने तपोधन के विशेषण से संबोधित किया है। किन्तु श्रुतावतार में वर्णित महातपा धरसेन की और हरिवंश पुराण में उल्लिखित तपोधन धरसेन को एक मानने में दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी विद्वानों को बहुत बड़ी आपत्ति होगी। क्योंकि हरिवंश पुराण में लोहार्य के पश्चात् ६२७ वर्षों में हुए ३१ आचार्यों में आचार्य धरसेन का स्थान १८वां है। ३१ आचार्यों में ६२७ वर्ष के समय को मोटे तौर पर विभाजित किया जाय तो प्रत्येक आचार्य का आचार्य-काल २० वर्ष फलित होता है। इस प्रकार वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य के पश्चात् १८वें आचार्य धरसेन का समय (१८ आचार्यों के ३६० वर्षों को ६८३ में जोड़ने पर) वीर नि० सं० १०४३ सिद्ध होता है। षट्षण्ढागम के निर्माता पुष्पदन्त एवं भूतबलि के गुरु धरसेन का समय वीर नि० सं० १०२३ से १०४३ स्वीकार करने के लिये संभवतः दिगम्बर परम्परा का कोई विद्वान् तैयार नहीं होगा।

मूलतः धवला, जयधवला, तिलोयपण्यति और उत्तरपुराण तथा तदनन्तर हरिवंश पुराण एवं श्रुतावतार के उल्लेखानुसार अर्हद्वलि का काल वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ के लगभग निर्णीत हो जाने पर आचार्य कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध में अग्रतर विचार करना परमावश्यक हो जायगा। क्योंकि लोहाचार्य से पश्चाद्बर्ती आचार्य-परम्परा का पट्टावलियों, शिलालेखों आदि में जो उल्लेख किया गया है, वह प्रायः एक प्रकार से अपूर्ण और आचार्यों के क्रम की दृष्टि से परस्पर विरोधी है। सिद्धर वसति के शक सं० १३२० के लेख संख्या १०५ में तथा अन्य अनेक शिलालेखों में लोहाचार्य के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा उद्धृति की हुई मिलती है। उनमें लोहाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य के मध्यवर्ती आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं है। केवल शक सं० १३२० के सिद्धर वसति के लेख सं० १०५ में लोहाचार्य के पश्चात् हुए आचार्यों की कुन्दकुन्दाचार्य तक नामावली और तदनन्तर कुन्दकुन्दाचार्य की शिष्य परम्परा में हुए आचार्यों की नामावली दी गई है, जो इस प्रकार है :-

- |            |            |                |           |           |
|------------|------------|----------------|-----------|-----------|
| १. कुम्भ   | २. विनीत   | ३. हलधर        | ४. वसुदेव | ५. अक्षल  |
| ६. मेरुधीर | ७. सर्वज्ञ | ८. सर्वगुप्त   | ९. महीधर  | १०. धनपाल |
| ११. महावीर | १२. धोर    | १३. कौण्डकुन्द |           |           |

<sup>१</sup> "तपोधन : श्री धरसेन नामकः"—हरिवंश पु०, सर्ग ६६, श्लोक २८

<sup>२</sup> श्रुतावतार (इन्द्रनन्दिकृत), श्लोक १०३

कुन्दकुन्द की शिष्य-परम्परा के आचार्य :-  
(कुन्दकुन्द)

१४. उमास्वाति (गृध्रपिच्छ)

१८. देवनन्दी (अपरनाम

जिनेन्द्र बुद्धि, पूज्यपाद)

१५. बलाकपिच्छ

१९. भट्टाकलंक

१६. समन्तभद्र

२०. जिनसेन

१७. शिवकोटि

२१. गुणभद्र

गुणभद्र के पश्चात् अर्हद्बलि का नाम देते हुए उपरोक्त लेख में निम्नलिखित रूप से संघ-विभाजन का विवरण दिया गया है :-

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।

फलप्रदानाय जगज्जनानां, प्राप्तींऽकुराम्यामिव कल्पभूजः ॥२५॥

अर्हद्बलिस्संघं चतुर्विधं स, श्रीकोण्डकुन्दान्वय मूलसंघं ।

कालस्वभावादिह ज्ञायमान, - द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

सिताम्बरादौ विपरीत रूपेऽखिले विसंघे वितर्नोतु भेदं ।

तत्सेन नन्दि-त्रिदिवेश-सिंह-संघेषु यस्तं मनुते कुहवसः ॥२७॥

अर्थात् - पुष्पदन्त और भूतबलि - इन दो शिष्य रूपी अंकुरों से अंकुरित कल्पवृक्ष के समान जो संसारियों को मनोवांछित फल प्रदान करने के लिए प्रकट हुए, उन अर्हद्बलि ने काल स्वभाव से प्रवर्द्धमान द्वेष को कम करने के लिये कोण्डकुन्दान्वय मूल संघ को (१) सेन, (२) नन्दी, (३) देव और (४) सिंह - इन चार संघों में विभक्त किया । जो व्यक्ति इन चारों संघों में भेद मानता है, वह कुहष्टि-मिथ्यादृष्टि है ।

२२. अर्हद्बलि

२३. पुष्पदन्त

२४. भूतबलि

भूतबलि के पश्चात् उक्त शिलालेख सं० १०५ में निम्नलिखित आचार्यों के नाम उद्धृत किये हैं :-

२५. नेमिचन्द्र

२६. माघनन्दि

(उनके वंश में)

अभयचन्द्रदेव (अभयचन्द्रदेव के अनुज) श्रुतकीर्ति

श्रुतमुनि

चारुकीर्ति

(इनके प्रशिष्य)

पण्डितदेव (स्वर्ग १३२०)

अभिनव श्रुत मुनि

अभिनव पण्डित

हरिवंश पुराण और श्रुतावतार के उल्लेखों के आधार पर यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् और लगभग वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ तक आचार्य पद पर रहे आचार्य अहंद्वलि से पूर्व क्रमशः विनयधर आदि चार आचार्य हुए। इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा प्रजातकत्तुक नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में अहंद्वलि के पश्चात् क्रमशः माघनन्दी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन चार आचार्यों के होने का उल्लेख है।

नन्दी संघ की पट्टावली में भी कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा निम्न रूप में उल्लिखित है :-

भद्रबाहु

गुप्तिगुप्त

माघनन्दि

जिनचन्द्र

कुन्दकुन्द

इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में सुस्पष्ट रूप से लिखा है कि षट्स्रण्डागम और कषाय-प्राभृत का ज्ञान गुरु परिपाटी से पद्मनन्दी मुनि को कुण्डकुन्दपुर में प्राप्त हुआ और उन्होंने षट्स्रण्डागम के प्राद्य तीन खण्डों पर १२,००० श्लोक परिमाण की परिकरं नामक टीका की रचना की।

इस प्रकार हरिवंश पुराण, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली—इन तीनों ग्रन्थों के उल्लेखों से अहंद्वलि निश्चित रूपेण कुन्दकुन्दाचार्य के प्रगुरु (दादागुरु) माघनन्दि से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं।

नन्दी संघ की पट्टावली में सर्वप्रथम भद्रबाहु (द्वितीय) और उनके पश्चात् गुप्ति गुप्त का नाम दिया है पर इस पट्टावली से विद्वान् यही निष्कर्ष निकालते हैं कि माघनन्दी ही वस्तुतः नन्दी संघ के प्रथम आचार्य, उनके शिष्य जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

ऐसी स्थिति में सिद्धरबस्ती के उपरिलिखित स्तम्भलेख में कुन्दकुन्द के पश्चात् उनका १६वीं पीढ़ी में अहंद्वलि को, दशवीं पीढ़ी में पुष्पदन्त-भूतबलि को और १२वीं पीढ़ी में माघनन्दी को बताया गया है, उसे किस प्रकार प्रामाणिक माना जा सकता है, यह इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय है। वस्तुतः ये चारों आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य के पूर्वज हैं। हरिवंश पुराण सिद्धरबस्ती के उपरिलिखित लेख संख्या १०५ से ६१५ वर्ष पूर्व लिखा गया था। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार की रचना भी इस लेख से लगभग २५० वर्ष पूर्व की थी

क्योंकि इन्द्रनन्दि इतिहासज्ञों द्वारा विक्रम की ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ के आचार्य माने गये हैं।<sup>१</sup>

दिगम्बर परम्परा के गण्य-मान्य विद्वानों ने बड़े खेद के साथ इस प्रकार के उद्गार अभिव्यक्त किये हैं कि भ्रंगधारियों के पश्चाद्द्वितीय काल की दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों को जितनी परम्पराएं उपलब्ध हैं, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं, जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन नहीं रह गया था।<sup>२</sup>

जिस प्रकार मथुरा के कंकाली टीले की तीन बार की गई खुदाई में कुषाण सं० ५ से ६८ (ई० सन् ८३ से १७६) तक के ऐसे लेख मिले हैं, जिनमें उन ३ गणों, १२ कुलों और १० शाखाओं के नाम उट्टंकित हैं, जो कि श्वेताम्बर परम्परा के आगम - कल्पसूत्र में उल्लिखित हैं, तथा नन्दीसूत्रान्तर्गत वाचकवंश के आचार्यों की पट्टावली के आर्य समुद्र, आर्य मंगु, आर्यनन्दिल, आर्य नागहस्ती तथा आर्य भूतदिन्न के नाम भी कंकाली टीले से प्राप्त लेखों में उट्टंकित मिले हैं,<sup>३</sup> उसी प्रकार यदि दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों, गणों, गच्छों आदि के उल्लेख भी उपलब्ध हुए होते तो दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के क्रम एवं काल को सुनिश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती। पर कंकाली टीले से दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के सम्बन्ध में कोई अभिलेख नहीं मिला।

श्री माणिकचन्द्र - दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित "जैन शिलालेख संग्रह के तीनों भागों के समीचीनतया पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भ्रंगधारियों के पश्चात् की आचार्य परम्परा की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नहीं है। डॉ० हीरालालजी एवं पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' के शब्दों में सब अपूर्ण हैं।

ऐसी स्थिति में जबकि भ्रंगधारियों के उत्तरवर्ती काल के दिगम्बर आचार्यों की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नहीं होती; दिगम्बर परम्परा के कतिपय प्रामाणिक ग्रन्थों एवं नन्दी संघ की पट्टावली में उपलब्ध तथ्यों से श्रवणबेल्गोल

<sup>१</sup> (क) जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार (फतेचन्द बेलानी) पृ० ११

(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३८, क्रम सं० २१४

<sup>२</sup> (क) ".....इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् तोहाचार्य तक ६८३ वर्ष व्यतीत हुए थे। बहुत से लेखों में आगे के आचार्यों की परम्परा कुन्दकुन्दाचार्य से ली गई है। दुर्भाग्यतः किसी भी लेख में उपर्युक्त श्रुतज्ञानियों और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नहीं पाई जाती। केवल उपर्युक्त लेख नं० १०५ (क्रम सं० १३२०) में ही इस बीच के आचार्यों के कुछ नाम पाये जाते हैं....."

[जैन शिलालेख संग्रह, भा० १, भूमिका (डॉ० हीरालाल), पृ० १२७-१२८]

(ख) दिगम्बर सम्प्रदाय में भ्रंगधारियों के बाद की जितनी परम्पराएं उपलब्ध हैं, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था। [स्व० श्री नाथूराम प्रेमी, भगवती आराधना की प्रस्तावना]

<sup>३</sup> जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना (डॉ० गुलाबचन्द चौधरी), पृ० १९-२८

के उपरिचचित शिलालेख के आचार्यों के क्रम सम्बन्धी तथ्य अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं, तथा हरिवंश पुराण एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में दी हुई पट्टावलिओं के आधार पर अर्हद्वलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ के बीच का एक तरह से सुनिश्चित हो जाता है, तो उस दशा में अर्हद्वलि में पर्याप्त रूपेण पश्चाद्वर्ती कुन्दकुन्दाचार्य के काल का प्रश्न एक जटिल समस्या के रूप में विद्वानों के समक्ष उपस्थित होता है। यह देख कर तो और भी बड़ा आश्चर्य होता है कि पंचस्तूपान्वयी आचार्य वीर सेन ने धवला में, पुत्राट संघीय जिनसेन ने हरिवंश पुराण में और वीर सेन के शिष्य जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी) ने जय-धवला में दिगम्बर परम्परा के उद्भट विद्वान् कुन्दकुन्दाचार्य का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के सम्बन्ध में निम्नलिखित एक अज्ञातकस्तक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है:-

वर्षे सप्तशते चैव, सप्तत्या च विस्मृतौ।

उमास्वामिमुनिर्जातः, कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥<sup>१</sup>

अर्थात् - ७७० वर्ष व्यतीत हो चुकने पर उमास्वामी और (आचार्य) कुन्दकुन्द हुए। श्लोक में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि यह ७७० सम्बत् वस्तुतः वीर नि० सं० है, विक्रम संवत् है, शक सं० है अथवा अन्य कोई संवत्। यही नहीं, इसमें कुन्दकुन्द के पश्चाद्वर्ती आचार्य उमास्वामी के अनन्तर आचार्य कुन्दकुन्द का नाम देते हुए इन दोनों को स्पष्टतः सनकालीन बताया गया है। इसके साथ ही साथ यह श्लोक कहां का है, किसकी तथा किस समय की रचना है, ये सब तथ्य भी ग्रंथकार में छुपे हुए हैं। अतः विद्वानों द्वारा इस श्लोक को कुन्दकुन्दाचार्य के कालनिर्णय के सम्बन्ध में न तो विशेष प्रामाणिक ही समझा जा रहा है और न कोई महत्त्व ही दिया जा रहा है।

कतिले बस्ती के एक स्तम्भ-लेख (लेख सं० ५५, लगभग शक सं० १०२२) में कुन्दकुन्द को ही निम्नलिखित श्लोक द्वारा मूल संघ का प्रादि गणी बताया गया है:-

श्रीमतो वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने।

श्री कौण्डकुन्दनामाभूत्, मूल संघाप्रणी गणी ॥३॥<sup>२</sup>

इसी प्रकार लेख सं० ५४ (शक सं० १०५०), ४० (शक सं० १०८५) और लेख सं० १०८ (शक सं० १३५५) में गौतम के उल्लेख के पश्चात् उनकी संतति में भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त के अनन्तर उन्हीं के अन्वय में कुन्दकुन्द मुनि के होने का उल्लेख किया गया है।<sup>३</sup> आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में इन सब परस्पर

<sup>१</sup> स्वामी समन्तभद्र, पं० जुगल किशोर, पृ० १४७

<sup>२</sup> जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ० ११५

<sup>३</sup> जैन शिलालेख संग्रह, भा० १

विरोधी और विखण्डित उल्लेखों को देख कर ही स्वर्गीय प्रेमीजी को दिगम्बर परम्परा की उपलब्ध पट्टावलियों के सम्बन्ध में कहना पड़ा कि वे अपूर्ण हैं तथा ऐसे समय में संगृहीत की गई हैं, जब कि विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था ।

प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका के प्रारम्भ में शिवकुमार और आध्यात्मी बालचन्द्रकृत कन्नड टीका में 'शिवकुमार महाराजम्' के उल्लेख को आधार बना कर कतिपय विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि आचार्य कुन्दकुन्द ने महाराजा शिवकुमार को बोध देने हेतु प्रवचनसार नामक ग्रन्थ की रचना की । कन्नड टीका में उल्लिखित शिवकुमार महाराज को शक सं० ४५० में हुए शिव मृगेश वर्म मान कर न्याय शास्त्री पं० श्री गजाधर लालजी जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० लिखा है :-

“श्री शिवकुमार-महाराज-प्रतिबोधनार्थं विलिखेत् भगवान् कुन्दकुन्दः स्वीयं ग्रन्थमिति, समाविर्भावितं च पंचास्तिकायस्य क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत-टीकाकारैः श्री बालचन्द्र-जयसेनाचार्यैः ततो युक्त्यापि भगवत्कुन्दकुन्द समयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम-शक-संवत्सर एव सिद्ध्यति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ।”<sup>१</sup>

अर्थात्-श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की - यह कार्णाटिक टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है । इस युक्ति से भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय शिवमृगेशवर्म (कदम्ब राजवंशी) के समकालीन होने से ४५० वां शक संवत्सर सिद्ध होता है और इसे स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा भी उपस्थित नहीं होती ।

प्रवचनसारादि क्री टीकाओं में किये गये इस उल्लेख के आधार पर कि आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार अथवा शिवकुमार महाराज नामक आसन्न भव्य के प्रतिबोधार्थं प्रवचनसार का उपदेश दिया, डॉ० पाठक ने भी आचार्य कुन्दकुन्द को कदम्बवंशी महाराजा शिवमृगेशवर्म का समकालीन बताते हुए उनका समय शक सं० ४५० माना है ।<sup>२</sup>

इसी प्रकार प्रोफेसर चक्रवर्ती ने भी टीकाकारों द्वारा किये गये शिवकुमार के उल्लेख को आधार बना यह अनुमान लगाया है कि पल्लववंशी महाराजा शिवस्कन्द - युवा महाराजा के बोधार्थं आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की ।

सर्वप्रथम तो यह बात विचारणीय है कि आज जितने भी ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाते हैं उनमें से “बारस अणुवेक्खा” नामक ग्रन्थ को

<sup>१</sup> समय प्राप्त (प्रथम संस्करण ई० १९१४ में प्रकाशित) की प्रस्तावना, पृ० ८

<sup>२</sup> समय प्राप्त और षट् प्राप्त संग्रह (सांनिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, पृष्ण १७) की प्रस्तावना, पृ० १५

छोड़ कर शेष किसी भी ग्रन्थ के मूल पाठ में इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि अमुक ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। यही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाने वाले किसी एक भी ग्रन्थ के मूल पाठ में कहीं किञ्चित्मात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं है कि अमुक ग्रन्थ की, किसी अमुक व्यक्ति को, शिवकुमार को अथवा शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये रचना की गई।

ईसा की १० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए आचार्य अमृतचन्द्र<sup>१</sup> ने प्रवचनसार की तात्पर्य वृत्ति में न तो प्रवचनसार के प्रणयनकार का ही कोई उल्लेख किया है और न यही लिखा है कि अमुक व्यक्ति को प्रतिबोध देने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की १० वीं शताब्दी तक निश्चित रूपसे किसी को यह ज्ञात नहीं था कि इस ग्रन्थ के कर्ता कौन हैं और इसकी रचना किसको बोध देने के लिये की गई है। ईशवन्दन एवं अनेकान्तवाद की जयकार के साथ प्रवचनसार की वृत्ति करने का अपना उद्देश्य प्रकट करने के अनन्तर आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है :-

“अथ खलु कश्चिदासन्न-संसारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनवेशः परमेश्वरीमनेकान्तविद्यामुपगम्य मुक्त-समस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा पुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसराम् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमन-वन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वाभ्येण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते।”<sup>२</sup>

इसका सारांश यह है कि - निकट भविष्य में मुक्त होने वाला कोई भव्य अपने अन्तर में विवेक की ज्योति के प्रकट होने तथा उसके फलस्वरूप एकान्त-वाद के समस्त मिथ्याभिनवेशों की समाप्ति के साथ ही अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार एवं समस्त मिथ्या पक्षों का परित्याग कर मध्यस्थ हो परम सत्य मोक्ष सुख को ही उपादेय के रूप में चुन कर समस्त तर्ककों को वन्दनपूर्वक समस्त आरम्भ समारम्भों से निवृत्त हो मुक्तिप्रदायी श्रमणत्व को स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा करता है।

उस आसन्न भव्य की प्रतिज्ञा ने ही प्रवचनसार ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। अमृतचन्द्र ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उस आसन्न भव्य का कोई नामोल्लेख नहीं किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् (ईसा की १२ वीं शताब्दी में)<sup>३</sup> हुए जयसेन ने प्रवचनसार पर निर्मित अपनी तात्पर्यवृत्ति में आचार्य

<sup>१</sup> Introduction on Pravachansar, by Dr. A. N. Upadhye, p. 101

<sup>२</sup> प्रवचनसार, A. N. उपाध्ये द्वारा संपादित (रामचन्द्र जैन सास्त्र माला), पृ० २

<sup>३</sup> Introduction on Pravachansar by A. N. Upadhye, p. 104



अमृतचंद्र द्वारा उल्लिखित उस आसन्न भव्य का नाम बिना किसी विशेषण के केवल शिवकुमार दिया है ।<sup>१</sup>

यहां यह विचारणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समय प्राभृत आदि की टीकाओं में न ग्रन्थकार का नाम दिया है और न यही उल्लेख किया है कि वह ग्रन्थ किसके प्रतिबोधार्थं निर्मित किया गया । इसके विपरीत आचार्य जयसेन ने 'पंचास्तिकाय प्राभृत' की अपनी तात्पर्य वृत्ति में ग्रन्थकार का नाम आचार्य कुन्दकुन्द बताते हुए उनके विदेह-गमन, वहां श्रीमंदरस्वामी की वाणी के श्रवण आदि का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि विदेह क्षेत्र से लौटने के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचि शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिये पंचास्तिकाय प्राभृत की रचना की ।<sup>२</sup>

जयसेन के पश्चात् ईसा की १३ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग हुए आध्यात्मी बालचन्द्र ने प्रवचनसार की अपनी कन्नड़ टीका में, अमृतचन्द्र द्वारा "आसन्न संसारपारः" के रूप में तथा जयसेन द्वारा "कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमार नामा" के रूप में उल्लिखित उस आसन्न भव्य का अपनी ओर से विशेषण लगा कर "आसन्नभव्यं अप्य शिवकुमार महाराजम्" के रूप में परिचय दिया है ।

उपर्युक्त तीनों टीकाकारों के इन उल्लेखों के सम्बन्ध में विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि प्रवचनसार की रचना कुन्दकुन्द द्वारा और वह भी शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये की गई, यह ईसा की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए टीकाकार जयसेन की अपनी स्वयं की कल्पना है । यदि ईसा की १०वीं शताब्दी तक इस प्रकार की मान्यता प्रचलित होती अथवा किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख होता कि कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की रचना की और शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए की, तो ईसा की १०वीं शताब्दी के टीकाकार अमृतचन्द्र अपनी टीका में जयसेन की तरह अवश्य ही इस प्रकार का उल्लेख करते । स्त्री उसी भव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती - इस विषय का प्रतिपादन करने वाली ११ ग्रथाओं का अमृतचन्द्र द्वारा अपनी टीका में सम्मिलित न किया जाना भी प्रत्येक तटस्थ विचारक के मस्तिष्क में

<sup>१</sup> प्रवचनसार (ए. एन. उपाध्ये द्वारा संपादित) पृ० १-२

<sup>२</sup> (क) अथ कुमारान्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्व-विदेहं गत्वा बीतराज सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणा-वधारितपदार्थान्कुन्दात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य-देवैः पञ्चान्यायप्रारम्भधैर्यन्तस्तस्वबहिस्तस्वगोणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं, अथवा शिवकुमार महाराज-आदि संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकाय-प्राभृतशास्त्रे, यथाक्रमेणाधिकारमुद्रिपूर्वकं तात्पर्यार्थाव्याख्यानं कथ्यते ।

[पंचास्तिकायप्राभृत, जयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः]

(ख) अथ प्राभृतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निर्मित ग्रन्थत्र द्वय्य संग्रहादौ मोना श्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम् ।

[वही, गाथा एक की जयसेनाप्रायंकृत वृत्ति]

एक प्रकार का गहरा संदेह उत्पन्न कर देता है कि जिन-जिन ग्रन्थों को आचार्य कुन्दकुन्द की कृति बताया जा रहा है, उनमें से वस्तुतः कौन-कौन से ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखे गये हैं।

पंचास्तिकाय प्राभृत की गाथा संख्या २ और १७३ को ध्यानपूर्वक ढप लेने के पश्चात् यह तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है कि श्री जयसेन एवं अघ्यात्मी बालचन्द्र द्वारा अपनी-अपनी टीकाओं में किया गया शिवकुमार महाराज का उल्लेख पूर्णतः उनकी स्वयं की निराधार कल्पना मात्र है। उस कल्पना में कोई तथ्य नहीं।

पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा में ग्रन्थकार ने निम्नलिखित प्रतिज्ञा की है:-

“श्रमण (भगवान् महावीर) के मुख से प्रकट हुए, चारों गतियों का अन्त करने वाले एवं मोक्षप्रदायी अर्थपूर्ण समस्त श्रुत को प्रणाम कर मैं इस (पंचास्तिकाय ग्रन्थ) का कथन करूंगा, उसे सुनो।”

अपनी प्रतिज्ञानुसार पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र का कथन समाप्त करने के पश्चात् अन्त में ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :-

मग्गपभावणट्टं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।

भणियं पवयणसारं, पंचत्थियसंगहं सुत्तम् ॥१७३॥

अर्थात् - प्रवचन की भक्ति से प्रेरित हो जिन-मार्ग की प्रभावना हेतु मैंने प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र का कथन किया है।

ऐसा विचित्र उदाहरण तो संभवतः साहित्य के इतिहास में अन्यत्र खोजने पर भी नहीं मिलेगा। ग्रन्थकार जहां स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि प्रवचन के प्रति अपनी भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने जिनशासन की प्रभावनायें इस ग्रन्थ का कथन किया है, वहां इसके विपरीत टीकाकार का यह कथन किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की। जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य कुन्दकुन्द को कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है। अन्य किसी प्रमाण से इसकी पुष्टि न होने तथा सिद्धान्तदेव की उपाधि के विशेष प्राचीन न होने के कारण दिग्गम्बर परम्परा के विद्वान्, जयसेन द्वारा किये गये उल्लेख की, प्रामाणिकता की कोटि में गणना नहीं करते।<sup>१</sup>

संस्कृत टीकाकार जयसेन एवं कन्नड़ टीकाकार बालचन्द्र द्वारा पंचास्तिकाय-प्राभृत की टीकाओं में किया गया ‘शिवकुमार महाराज’ का उल्लेख ही जब काल्पनिक और अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है तो उस दशा में शिवमृगेशवर्म, पल्लवनरेश शिवस्कन्ध अथवा युवा महाराजा को कुन्दकुन्द का समकालीन मान

<sup>१</sup> कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला ९) की प्रस्तावना, (पं० कंलाचन्द्र) पृष्ठ ८

<sup>२</sup> Introductory on Pravachansara, by, Dr. A. N. Upadhye, p. 10-14

कर आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्णय करना वस्तुतः आकाश कुसुम में सुगन्ध दूँदने तुल्य निरर्थक प्रयास ही होगा ।

ख्यातनाम विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने स्वसंपादित प्रवचनसार की प्रस्तावना में आचार्य कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । स्वर्गीय श्री नाथुराम प्रेमी, डॉ० पाठक, प्रोफेसर चक्रवर्ती और पं० जुगलकिशोर मुस्तार के अभिमतों को पस्तुत करते हुए उन्होंने केवल प्रोफेसर चक्रवर्ती के इस अभिमत एवं संभावना को अपना थोड़ा समर्थन प्रदान किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द पल्लवनरेश शिवस्कन्द के समकालीन तथा तामिल भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ कुरल के कर्ता थे ।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने विस्तृत विवेचन के पश्चात् ऊहापोह के साथ जो अपना अभिमत व्यक्त किया है, वह इस रूप में है :-

“कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में की गई इस लम्बी चर्चा के प्रकाश में, जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओं की पूरी तरह से छान-बीन करने तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से समस्या का मूल्य आंकने के पश्चात् केवल संभावनाओं को समझने का प्रयत्न किया है । हमने देखा है कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध<sup>१</sup> और ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध बतलाती है । कुन्दकुन्द से पूर्व षट्खण्डागम की समाप्ति की सम्भावना उन्हें ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् रखती है । मर्कुरा ताम्रपत्र से उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दी का मध्य होना चाहिये । चर्चित मर्यादाओं के प्रकाश में, ये संभावनाएं कि कुन्दकुन्द पल्लववंशी राजा शिवस्कन्द के समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारों पर यह प्रमाणित हो जाये कि वही एलाचार्य थे तो उन्होंने कुरल को रचा था, सूचित करती है कि ऊपर बतलाये गये विस्तृत प्रमाणों के प्रकाश में कुन्दकुन्द के समय की मर्यादा ईसा की प्रथम दो शताब्दियां होनी चाहिए । उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मैं विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है (प्रवचनसार प्रस्तावना पृ० २२)<sup>२</sup>

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार पर लिखी गई अपनी प्रस्तावना में आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जो अपने विचार रखे हैं, उनमें संभावनाओं के अतिरिक्त ऐसा कोई ठोस प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि उनके द्वारा प्रकट किये गये अभिमत की पुष्टि होती हो एवं सुनिश्चित

<sup>१</sup> आचार्य कुन्दकुन्द के सामान्यतः सभी ग्रन्थों से एवं विशेषतः सुत्पाहुड से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य उस समय के आचार्य हैं, जिस समय श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद धरम सीमा तक पहुँच चुका था । यह तो दोनों परम्पराओं द्वारा सम्मत ऐतिहासिक तथ्य है कि बीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०६ में निर्बंध संघ इन दो संघों में विभक्त हुआ । ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी कुन्दकुन्द का समय हो सकता है, इस प्रकार की परम्परागत मान्यता तो कहीं देखने सुनने में नहीं आई ।

<sup>२</sup> कुन्दकुन्द प्राप्त संग्रह की प्रस्तावना, पृ० ३६

रूपेण इस निर्णय पर पहुँचा जा सके कि—“कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है।”<sup>१</sup> डॉ० उपाध्ये ने विविध संभावनाओं पर तो विस्तार पूर्वक चर्चा की है पर उनकी प्रस्तावना के पढ़ने के पश्चात् यह बात खटकती है कि आचार्य कुन्दकुन्द के कालनिर्णय में सर्वाधिक सहायक दिगम्बर परम्परा के आज उपलब्ध प्रमाणों में सबसे अधिक प्राचीन लिखित प्रमाण की ओर उनका ध्यान नहीं गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है—गौतम से लोहार्य (वीर नि० सं० ६८३) तक की आचार्य-परम्परा का सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में समान उल्लेख है। वीर निर्वाण, सं० ६८३ में दिवंगत हुए लोहाचार्य के पश्चात् की, संघविभाजन के समय तक की आचार्य परम्परा पुद्गाट संघीय आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २५ में उल्लिखित की है। हरिवंश पुराण का यह उल्लेख दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध प्रमाणों में सबसे अधिक प्राचीन है, इस तथ्य को तो कोई विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ तथा ८५ द्वारा हरिवंश पुराण के उपरोक्त श्लोक में उल्लिखित तथ्यों की पुष्टि की है कि आर्य लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमशः पांच आचार्य हुए। जिनमें से प्रथम का नाम विनयधर और पांचवें का अर्हद्वलि था। अर्हद्वलि के पश्चात् हरिवंश पुराण में तो पुद्गाट संघ के आचार्यों की नामावलि दी गई है किन्तु इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक सं० १०२—१०४, १२७, १२८, १३२, १३३, १४६ द्वारा अर्हद्वलि के पश्चात् हुए माघनन्दी, धरसेन, षुष्यदन्त, भूतबलि, और जिनपालित इन ५ आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। तदनन्तर श्लोक संख्या १६० तथा १६१ द्वारा इन्द्रनन्दी ने कुण्डकुन्दपुर में आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) के होने तथा उनके द्वारा षट्खण्डागम के आद्य ३ खण्डों पर १२,००० श्लोक परिमाण के परिकर्म नामक ग्रन्थ के लिखे जाने का उल्लेख किया है।

“षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक एक ग्रन्थ लिखा गया था” — इन्द्रनन्दि के इस कथन की तो पुष्टि होती है, पर वह “कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि द्वारा लिखा गया था,” इस कथन की पुष्टि करने वाला एक भी प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है। धवलाकार ने धवला टीका में परिकर्म नामक ग्रन्थ का प्रचुर मात्रा में उल्लेख करने के साथ-साथ उसके अनेक उद्धरण भी दिये हैं। जीवट्टाण के द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के सूत्र ५२ की धवला टीका को पढ़ने पर तो यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि परिकर्म वस्तुतः षट्खण्डागम के पश्चाद्वर्ती काल का ही नहीं अपितु षट्खण्डागम का ही व्याख्या-ग्रन्थ है। उपरोक्त सूत्र में लब्धपर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा से जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग बताने के पश्चात् यह भी कहा गया है कि जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग रूप श्रेणी असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण होती है। इस पर धवला में यह शंका उठाई गई है कि इसके कहने की क्या आवश्यकता थी? इस शंका

1. I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that Kundkunda's age lies at the beginning of the Christian era.

[Introduction on Pravachansara, by A. N. Upadhye, p. 22]

का समाधान करते हुए कहा गया है कि इस सूत्र से इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता या कि जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग रूप श्रेणी का प्रमाण असंख्यात करोड़ योजन है। इस पर पुनः शंका की गई है कि इस बात का ज्ञान तो परिकर्म से ही हो जाता है, ऐसी दशा में सूत्र में इस कथन की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस सूत्र के बल अर्थात् आधार से ही तो 'परिकर्म' की प्रवृत्ति हुई है।

आचार्यों से संबंधित इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार में उल्लिखित विवरण को पढ़ने के पश्चात् यह स्पष्ट आभास होता है कि माघनन्दी और धरसेन के बीच तथा जिनपालित एवं कुन्दकुन्द के बीच में और भी अनेक आचार्य हुए होंगे और उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना उपलब्ध न हो सकने के कारण इन्द्रनन्दि उन आचार्यों के क्रम, नाम, संख्या आदि का उल्लेख नहीं कर पाये।

वस्तुतः हरिवंश पुराण में उल्लिखित और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समाहित उपरिर्वाहित तथ्यों की ओर ध्यान न जाने के कारण ही डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रवचनसार पर प्रस्तावना लिखते समय धवला में विद्यमान परिकर्म के विपुल उल्लेखों एवं उद्धरणों की ओर डॉ० उपाध्ये का ध्यान नहीं गया, उसी प्रकार हरिवंश पुराण में उल्लिखित उपर्युक्त तथ्यों की ओर भी ध्यान नहीं गया है। धवला के प्रकाशित होने के पश्चात् उन्होंने अपना अभिमत बदल दिया है।<sup>१</sup>

पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार एवं श्री नाथूरामजी प्रेमी ने आ० कुन्दकुन्द के समय पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय डॉ० ए० एन० उपाध्ये की तरह इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लिखित तथ्यों की उपेक्षा तो नहीं की है पर हरिवंश पुराण में उल्लिखित लोहाचार्य से संघविभाजन तक की आचार्य परस्परा की ओर संभवतः उनका ध्यान नहीं गया है, जिसके परिणाम स्वरूप, यद्यपि इन्द्रनन्दि ने अपने सम्पूर्ण श्रुतावतार में एक ही काल में हुए एक से अधिक आचार्यों का कहीं एक साथ उल्लेख नहीं किया है, फिर भी श्लोक सं० ८४ की शब्द-रचना पर ऊहापोह करते हुए यह अनुमान लगाया कि विनयधर आदि चार आरातीय मुनि सम-कालीन थे और उनका सम्मिलित काल २० वर्ष हो सकता है।<sup>२</sup> यदि इन दोनों विद्वानों का ध्यान हरिवंश पुराण, सर्ग ६६ के श्लोक संख्या २५ की ओर जाता तो वे बहुत संभव है इन चारों आचार्यों को—एक के पश्चात् एक—अनुक्रमशः हुए आचार्य मानकर इन चारों का काल २० के स्थान पर ८० वर्ष अनुमानित करते और इस प्रकार इनके पश्चात् हुये आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ के बीच का अनुमानित करते।

<sup>१</sup> कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ३३

<sup>२</sup> श्री जिनेन्द्रवर्णी ने भी मुस्तार सा० के इस अनुमान के आधार पर अपने जैनेन्द्र विद्वान्त कोश, प्रथम भाग के पृष्ठ ३३२ पर इनको समकालीन मानते हुए इन चारों का सम्मिलित काल २० वर्ष दिया है।

आज से १११० वर्ष पूर्व के हरिवंश के उल्लेख और उपरिर्वाणित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आचार्य ग्रहद्वलि का अंतिम समय वीर-नि० सं० ७८३ के आस-पास का सुनिश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार ग्रहद्वलि का समय वीर नि० सं० ७८३ सिद्ध हो जाने पर उनके पश्चात् हुए माघनन्दि का आचार्यकाल २० वर्ष, माघनन्दि और धरसेन के बीच हुए आचार्यों के नाम और संख्या विषयक उल्लेख के अभाव में उनके काल की गणना न कर के धरसेन का काल २० वर्ष, (वी० नि० सं० ८२३) पुष्पदन्त का ३० वर्ष, जिनपालित का समय ३० वर्ष अनुमानित किया जाय तो जिनपालित का अंतिम समय वीर नि० सं० ८८३ के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।

इससे आगे जिन पालित और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच में कितने काल में कितने आचार्य हुए, इस तथ्य को प्रकट करने वाले तथ्यों के अभाव में इन्द्रनन्दि द्वारा पद्मनन्दि के सम्बन्ध में श्रुतावतार में उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक के आधार पर अनुमान का सहारा लेने के अतिरिक्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्दाचार्य) के काल के बारे में विचार करने का और कोई मार्ग ही अवशिष्ट नहीं रह जाता :-

एवं द्विविधोद्भवभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।

गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥

श्री पद्मनन्दि मुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः ।

ग्रन्थ परिकर्मकर्त्ता षट्स्रण्ढाद्यत्रिस्रण्ढस्य ॥१६१॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जिनपालित और कुन्दकुन्द के बीच में अधिक न सही तीन-चार आचार्य अवश्य हुए होंगे। उन प्रज्ञातनाम ३-४ आचार्यों का समुच्चय काल कम से कम ६० वर्ष भी मान लिया जाय तो आचार्य पद्मनन्दि, अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य का समय वीर नि० सं० ६४३ के आस-पास का और माघनन्दि तथा धरसेन के बीच में तीन-चार आचार्यों का अस्तित्व मान लेने की दशा में वीर नि० सं० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जा सकता है।

ईसा की १२वीं शताब्दी के टीकाकार जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य कुन्दकुन्द को देवनन्दि सिद्धान्त देव का शिष्य बताया है, नन्दिसंघ की पट्टावली में इन्हें भद्रबाहु द्वितीय का परम्परा-शिष्य तथा जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है, बोध प्राभृत की गाथा संख्या ६१ तथा ६२ के आधार पर कल्पिय विद्वान् यहां तक कल्पना करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द वस्तुतः चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे। शक सं० १३२० के सिद्धरबस्ती के लेख सं० १०५ के श्लोक सं० १३ में कुन्दकुन्द का नाम आचार्य वीर के पश्चात् दिया गया है। इससे यह आशंका भी उत्पन्न होती है कि आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का नाम वीर था।<sup>१</sup> इन सब उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की १२वीं शताब्दि

<sup>१</sup> शिलालेख संग्रह, भा० १, पृ० ६७ पर दिये गये इस लेख के श्लोक सं० १३ में उल्लिखित "इत्याद्यनेक सूरिष्वय सुपदमुपेतैषु" इस पद से प्रकट होता है कि लोहाचार्य और

के टीकाकार जयसेन के समय में ही नहीं अपितु उससे पहले ईसा की ११वीं शताब्दी के अंत के श्रुतावतारकार इन्द्रनन्दि के समय में भी दिगम्बर परम्परा के साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु के नाम के सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक उल्लेख अस्तित्व में नहीं था। यही कारण है कि विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों एवं पट्टावलियों में उनके गुरु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

आचार्य परम्परा विषयक विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों, पट्टावलियों आदि में उपलब्ध उल्लेखों का पूर्णतः तटस्थ दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर निम्नलिखित संभावनाएं अनुमानित की जा सकती हैं।

१. आचार्य कुन्दकुन्द नन्दिसंघ की परम्परा के परम प्रतिभाशाली महान् आचार्य थे।

२. जिस प्रकार भद्रबाहु द्वितीय और माघनन्दि के बीच ६ आचार्यों के होते हुए भी नन्दि संघ की पट्टावली में उन्हें भद्रबाहु के शिष्य गुप्ति गुप्त का शिष्य बताया गया है, उसी प्रकार माघनन्दि और जिनचन्द्र के बीच में भी अनेक आचार्यों के होने के उपरान्त भी जिनचन्द्र को माघनन्दि का शिष्य बताया गया है। इसका कारण संक्षेप में वर्णन करने की प्रणाली का अवलम्बन अथवा बीच के आचार्यों के नामों की विस्मृति हो सकता है।

३. कुन्दकुन्द को जिन आचार्य जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है वे जिनचन्द्र कहीं पुष्पदन्त के भागिनेय एवं शिष्य जिनपालित ही तो नहीं हैं। गृहस्थ काल का जिनपालित नाम आचार्यकाल में चन्द्र के समान धर्मोद्योत करने पर जिनचन्द्र के रूप में परिवर्तित हो जाना बुद्धिसंगत भी प्रतीत होता है।

४. जिस प्रकार भद्रबाहु द्वितीय तथा माघनन्दि के बीच में और माघनन्दि तथा जिनचन्द्र (जिनपालित) के बीच में अनेक आचार्यों के होने के उपरान्त भी उनका परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बना दिया गया, ठीक उसी तरह यह भी संभव है कि जिनपालित-जिनचन्द्र और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच में अनेक आचार्यों के होते हुए भी नन्दिसंघ की पट्टावली में इनका उल्लेख साक्षात् गुरु-शिष्य के रूप में कर दिया गया हो।

यदि उपरोक्त संभावनाएं इतिहास के विशेषज्ञों द्वारा तथ्य की कसौटी पर कसी जाने के अनन्तर खरी उतरें तो आचार्य कुन्दकुन्द का समय, राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृतीय के राज्यकाल के शक सं० ७१६ और ७२४ के दो ताम्रपत्रों के आधार पर डॉ० के० पी० पाठक द्वारा प्रकट किये गये उनके अभिमतानुसार शक सं० ४५०, तदनुसार वीर नि० सं० १०५५ तो नहीं पर जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वीर नि० सं० ६५० के आस-पास का और उनका स्वर्गरोहण-काल वीर नि० सं० १००० के पश्चात् तक का हो सकता है :

कुन्दकुन्द के बीच में हुए जितने आचार्यों के नाम लेख में दिये गये हैं, उनके प्रतिरिक्त और भी आचार्य हुए थे।

— सम्पादक

राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृतीय के वे दोनों ताम्रपत्राभिलेख विद्वानों में बड़े चर्चा के विषय रहे हैं अतः पाठकों की सुविधार्थ उन्हें यहां यथावत् उद्धृत किया जा रहा है :-

**राष्ट्रकूटवंशीय महाराज गोविन्द तृतीय  
का**

**शक सं० ७१६ का ताम्रलेख**

आसीद् (वे) तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः ।  
स चैतद्विषये श्रीमान्, शाल्मलीग्राममाश्रितः ॥  
निराकृततमोऽराति, स्थापयन् सत्पथे जनान् ।  
स्वतेजोद्योतित क्षौण्णश्चण्डाचिरिव यो बभौ ॥  
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणीः ।  
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥

**गोविन्द तृतीय का शक सं० ७२४**

**का**

**दूसरा ताम्रलेख**

कोण्डकोन्दान्वयोदारो, गणोऽभूद् भुवनस्तुतः ।  
तदैतद् विषय विख्यातं शाल्मली ग्राममावसम् (त्) ॥  
आसीद् (वे) तोरणाचार्यस्तपः फलपरिग्रहः ।  
तत्रोपशमसंभूतभावनापास्तकल्मशः ॥  
पण्डितः पुष्पनन्दीति, बभूव भुवि विश्रुतः ।  
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ॥  
प्रतिदिवस भवद्वृद्धिनिरस्तदोषो व्यपेत हृदयमलः ।  
परिभृतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्रः ॥<sup>१</sup>

उपर्युल्लिखित दोनों ताम्रपत्राभिलेखों का भावार्थ यह है कि कोण्डकुन्दान्वयी तोरणाचार्य शाल्मली ग्राम में आकर रहे । उन्होंने प्रज्ञानान्धकार को द्यस्त कर लोगों को सत्पथ का पथिक बनाया । अपने तपस्तेज से पृथ्वी-मण्डल को प्रकाशित करते हुए वे मध्याह्न के सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे । उनके शिष्य पुष्पनन्दि हुए, जो बड़े विद्वान् एवं दूर-दूर तक विख्यात थे । उन पुष्पनन्दि के अन्तेवासी शिष्य प्रभाचन्द्र नामक मुनि हुए, जो सब प्रकार के दोषों से रहित, विशुद्ध हृदय एवं पूर्णिमा के चन्द्र के समान दैदीप्यमान मुखमण्डल वाले थे ।

स्व० डॉ० के० बी० पाठक का कहना है कि पहले का लेख शक सं० ७१६ का है तो प्रभाचन्द्र के दादागुरु तोरणचार्य शक सं० ६०० के आस-पास रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । तोरणाचार्य जब कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं तो

<sup>१</sup> 'विषयख्यातं' पाठ होना चाहिये अन्यथा छन्दो-मंग की स्थिति होती है ।

<sup>२</sup> जैन विशालेख संग्रह, भा० २, पृ० १२२, १२३ और १२६



कुन्दकुन्द का समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग मानने में कोई हानि नहीं ।

यहां श्री पाठक ने तोरणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य के समय निर्धारण में जिस अनुमान अथवा कल्पना की प्रक्रिया का अवलम्बन किया है, उसे पढ़ कर प्रत्येक पाठक अनुभव करेगा कि किसी भी तरह के आधार के अंकुश के अभाव में इस प्रकार के काल्पनिक काल को तो कोई यथेच्छ घटा अथवा बढ़ा सकता है । तात्प्रपत्र में उल्लेख है कि शक सं० ७१९ में प्रभाचन्द्र के नाम पर वसति का निर्माण कराया गया । वे प्रभाचन्द्र पुष्पनन्दि के शिष्य एवं तोरणाचार्य के प्रशिष्य थे । इनमें से प्रत्येक आचार्य का ४० वर्ष का आचार्य काल गिनने पर ही श्री पाठक के कथनानुसार तोरणाचार्य का आचार्य पद पर आसीन होने का काल शक सं० ६०० के आस-पास हो सकता है । एक से अधिक - अनेक आचार्यों के अज्ञात काल के सम्बन्ध में किसी संभावित निर्णय पर पहुँचना हो तो मोटे तौर पर प्रत्येक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के काल निर्णय के प्रयास में श्री पाठक ने अनुमान लगाया है कि तोरणाचार्य से १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग कुन्दकुन्दाचार्य का समय मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है । एक विद्वान् कह सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य और तोरणाचार्य के बीच का अन्तराल काल २०० वर्ष माना जाय । इसी प्रकार दूसरा ५० वर्ष और तीसरा विद्वान् १०० वर्ष का अन्तराल काल मानने की बात कह सकता है ।

श्री पाठक ने अपने अनुमान को साधार बनाने हेतु पंचास्तिकाय की टीका में टीकाकार जयसेन और बालचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट शिवकुमार महाराज के शिव-मृगेशवर्म होने की संभावना प्रकट करते हुए लिखा है - "शक सं० ५०० में कीर्ति नामक चालुक्य वंशी राजा ने बादामी में कदम्बवंश के राज्य का अन्त किया इससे यह निश्चित होता है कि शक सं० ४५० में शिवमृगेशवर्म राज्य करते थे । आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये पंचास्तिकाय की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख टीकाकार जयसेनाचार्य और बालचन्द्र ने किया है । वे शिवकुमार महाराज वस्तुतः शिवमृगेशवर्म ही जान पड़ते हैं । अतः कुन्दकुन्दाचार्य का समय भी उनके शिवमृगेशवर्म के समकालीन होने के कारण शक सं० ४५०, तदनुसार वि० सं० ५८५ सिद्ध होता है ।"

यह तो पहले सिद्ध किया जा चुका है कि जयसेनाचार्य से लगभग २०० वर्ष पहले हुए आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा पंचास्तिकाय आदि की अपनी टीका में शिवकुमार महाराज और आचार्य कुन्दकुन्द का किसी प्रकार का उल्लेख न किये जाने के फलस्वरूप जयसेनाचार्य तथा बालचन्द्र द्वारा किया गया उपर्युक्त उल्लेख प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । ऐसी दशा में जयसेनाचार्य तथा बालचन्द्र द्वारा किये गये उक्त उल्लेख पर तो विश्वास नहीं किया जा सकता । हां, अन्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर श्री पाठक ने शिवमृगेशवर्म और आचार्य कुन्दकुन्द के सम-

कालीन होने का अनुमान किया है, उस पर माघनन्दि, धरसेन-जिनपालित (जिनचन्द्र) आदि के सम्बन्ध में ऊपर प्रस्तुत किये गये तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर श्री पाठक का अनुमान तथ्य के थोड़ा निकट पहुँचता हुआ प्रतीत होता है।

यह यहलें बताया जा चुका है कि आज से ६० वर्ष पूर्व पं० गजाधरजी जैन, न्यायशास्त्री ने भी कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० तदनुसार वीर नि० सं० १०५५ के आस-पास का अनुमानित किया था।<sup>१</sup>

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करते समय कोङ्कण महाराजा अविनीत (कोङ्कण द्वितीय) का मर्करा के खंजाने से प्राप्त ताम्रपत्र (संस्कृत कन्नड़), जिस पर कि संवत्सर ३८८ (सोमवार स्वाति नक्षत्र) अंकित है, विद्वानों में विगत अनेक वर्षों से बड़ा चर्चा का विषय रहा है। इस ताम्रपत्र के—“श्रीमान् कोङ्कण महाराज अविनीत नामधेय दत्तस्य देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय गुणचन्द्र-भट्टार शिष्यस्य अभयरादि”<sup>२</sup> आदि अंश में ‘देसिग गणं कोण्डकुन्दान्वय’ के ६ आचार्यों का उल्लेख देख कर ए० एन० उपाध्ये<sup>३</sup> आदि अनेक विद्वानों ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की तीसरी शताब्दी अनुमानित किया था। पर डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने गहन शोध के पश्चात् प्रमाणपुरस्सर मर्करा के उक्त ताम्रपत्र को बनावटी सिद्ध कर दिया है।<sup>४</sup> डॉ० हीरालालजी ने भी श्री चौधरी के शोधपूर्ण अभिमत की पुष्टि करते हुए लिखा है:—

“(११) मर्करा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व ५ वीं शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है, तथा देशीय गुण की जो परम्परा उस लेख में दी गई है, वह लेख नं० १५० (सन् १३१) के बाद की मालूम होती है।

(१२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं नौवीं शती के लेख में देखा गया है तथा मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख नं० १८० (लगभग १०४४ ई०)<sup>५</sup> में हुआ पाया जाता है।”<sup>६</sup>

उपरिलिखित तथ्यों और विस्तृत चर्चा से कुन्दकुन्दाचार्य का काल वीर नि० सं० १००० के आस-पास का सुनिश्चित हो जाने के अनन्तर विद्वानों के लिये यह खोज करना भी परमाश्यक हो जाता है कि वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द ने किन-किन ग्रन्थों का निर्माण किया।

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ७५७

<sup>२</sup> जैन जिलालेख संग्रह, भा० २, पृ० ६३-६४

<sup>३</sup> Introduction on Pravachansar, (by A. N. Upadhye) p. 22

<sup>४</sup> जैन जिलालेख संग्रह, भाग ३, (भा० दिग० ग्रन्थमाला) प्रस्तावना, पृ० ४६-५०

<sup>५</sup> जैन जिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० २२० (भा० दिग० जैन ग्रं० मासा)

<sup>६</sup> जैन जिलालेख संग्रह, भाग ३, प्राक्कथन, पृ० ३

## केवली-काल से पूर्वधरकाल तक की साध्वी-परम्परा

जैनधर्म की अनादिकाल से यह विशेषता रही है कि इसमें पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी साधनापथ पर अग्रसर होने की पूर्ण अधिकारिणी माना गया है। जिस प्रकार किसी भी वर्ण, वर्ग अथवा जाति का मुमुक्षु पुरुष अपने सामर्थ्यानुसार अगुव्रत भंगीकार कर श्रावक एवं पंच महाव्रत धारण कर श्रमण बन सकता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण, वर्ग अथवा जाति की स्त्री भी अपनी शक्ति एवं इच्छा के अनुरूप श्रमणोपासिका-धर्म अथवा श्रमणी-धर्म ग्रहण कर सकती है। "स्त्रीशूद्रो नाधीयेताम्" — इस प्रकार के प्रतिबन्ध के लिये जैनधर्म में कभी कहीं क्रिधिरमात्र भी स्थान नहीं रखा गया है। इसका अकाट्य प्रमाण है अनादिकाल से तीर्थंकरों द्वारा अपने-अपने समय में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना किया जाना। यदि स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित रखा जाता तो जैनधर्म में चतुर्विध तीर्थ के स्थान पर साधु और श्रावक वर्ग के रूप में द्विविध तीर्थ ही होता। वस्तुस्थिति यह है कि अनादिकाल से तीर्थंकर तीर्थ-स्थापना के समय पुरुष वर्ग की तरह नारीवर्ग को भी साधना-क्षेत्र का सुयोग्य एवं सक्षम अधिकारी समझकर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते आये हैं।

इतिहास साक्षी है कि सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रदत्त इस अमूल्य अधिकार का स्त्रियों ने सहर्ष हार्दिक स्वागत किया। इस अधिकार का सदुपयोग करते हुए महिलाएं भी पुरुषों की तरह बड़े साहस के साथ साधनापथ पर अग्रसर हुईं और उन्होंने धारमकल्याण के साथ-साथ जनकल्याण करते हुए जैनधर्म के प्रचार, प्रसार तथा अम्युत्थान में परम्परा से बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया।

चौबीसों तीर्थंकरों के साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं की संख्या के तुलनात्मक ईक्षण से तो वस्तुतः ऐसा प्रकट होता है कि साधनापथ में महिलाएं सदा पुरुषों से बहुत आगे रही हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्रामाणिक ग्रन्थों में भगवान् महावीर के साधुओं की संख्या जहां १४,००० दी है, वहां साध्वियों की संख्या ३६,००० दी है, जो साधुओं की संख्या की तुलना में द्वािगुना से भी अधिक है। प्रभु महावीर की श्राविकाओं की संख्या भी श्रावकों की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दुगुनी और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में तिगुनी बताई गई है। इसी प्रकार दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में शेष २३ तीर्थंकरों के साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की तथा श्रावकों की अपेक्षा श्राविकाओं की संख्या सवागुनी से लेकर चतुर्गुणित तक अधिक बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में तो (यापनीय संघ को छोड़) स्त्री-मुक्ति नहीं मानी गई है। पर श्वेताम्बर परम्परा के आगम 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' में भगवान् श्रद्धभदेव

की ४००० साध्वियों के मोक्षगमन का उल्लेख है। मुक्त हुईं इन साध्वियों की यह संख्या उनके मुक्त हुए साधुओं की संख्या से दुगुनी है। इसी प्रकार कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की क्रमशः ३ हजार, २ हजार एवं १४०० साध्वियों के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उल्लेख है। इन तीनों तीर्थंकरों के मुक्त हुए साधुओं की अपेक्षा मुक्त हुईं इनकी साध्वियों की संख्या भी दुगुनी है।<sup>१</sup>

इन सब तथ्यों से निर्विवादरूपेण यही सिद्ध होता है कि अनादि-अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं और महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, उन सब ने पुरुषों और स्त्रियों को समान रूप से साधना के क्षेत्र में अग्रसर होने का अवसर अथवा अधिकार प्रदान किया है।

भगवान् महावीर ने भी धर्मतीर्थ की स्थापना के समय जिस प्रकार इन्द्र-भूति गौतम आदि ११ गणधरों को उनकी शिष्य-मण्डली सहित श्रमण-धर्म में तथा अन्य-मुमुक्षु पुरुषों को श्रमणोपासक धर्म में दीक्षित कर पुरुष वर्ग को साधना-पथ का अधिकारी घोषित किया, उसी प्रकार चन्दनबाला आदि महिलाओं को भी श्रमणी-धर्म में तथा अन्य मुमुक्षु महिलावर्ग को श्रमणोपासिका धर्म में दीक्षित कर नारी वर्ग को भी पुरुषों के समान ही साधना द्वारा स्व-पर-कल्याण करने का अधिकारी घोषित किया।

सकल चराचर के शरभ्य विश्वैकबन्धु प्रभु महावीर ने जिस समय चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की, उस समय आर्यावर्त में घामिक एवं सामाजिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। “स्त्रीशूद्रो नाधीयेताम्” का नाद घर-घर में, सर्वत्र गुंजरित हो रहा था। पुरुष भोक्ता है और नारी भोग्या-इस प्रकार का ‘ग्रह’ पुरुषवर्ग में जागृत हो चरम सीमा पर पहुंच चुका था। वह नारी को अपने समकक्ष स्थान देने के लिए सहमत नहीं था। अपनी आंखों पर पड़े स्वायंपरता के आवरण के कारण पुरुषवर्ग ने नारी की हीनता का अंकन करने में किसी प्रकार की कोरकसर नहीं रखी थी। साधना के क्षेत्र में भी अपना एकाधिपत्य बनाये रखने की आकांक्षा लिये पुरुषवर्ग ने नारी को अबला घोषित कर सन्यस्त जीवन के लिये अनधिकारिणी बतलाया। देश में सर्वत्र यही लोक-प्रवाह चल रहा था।

इस लोक-प्रवाह के विरुद्ध नारी को सन्यास-धर्म में दीक्षित करने का किसी धर्मप्रवर्तक को साहस नहीं हो रहा था। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध भी नारी को भिक्षुणी-धर्म में प्रव्रजित करने का सहसा साहस नहीं कर पाये, यह बौद्ध धर्मग्रन्थ ‘चुल्लवग्ग’ के निम्नलिखित विवरण से स्पष्टतः प्रकट होता है :-

“बात उन दिनों की है जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विराजमान थे। महाप्रजापति गौतमी (भगवान् बुद्ध की मौसी, जिसने नवजात शिशु बुद्ध की माता के देहावसान के पञ्चात् उन्हें अपना स्तनपान करा उनका

<sup>१</sup> जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १ (परिशिष्ट) पृष्ठ १८६-१९०

अपने पुत्र के समान लालन-पालन किया था), जहां भगवान् थे, आई, आकर भगवान् को अभिवादन किया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। वह भगवान् से बोली- भन्ते ? मैं नारी, अगार घर्म से अनगार घर्म में आकर तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय-दीक्षा पाना चाहती हूँ। भगवान् बुद्ध ने कहा - गीतमी ! तुम्हारी (नारी की) तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय-भिष्णु घर्म में रुचि न हो, यही अच्छा है। महा-प्रजापति ने तीन बार आवेदन किया और भगवान् बुद्ध ने तीनों ही बार अस्वीकार किया।

भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म में दीक्षित नहीं करते हैं, यह देख गीतमी दुःखी दुर्मन और अश्रुमुखी होती हुई, रोती हुई भगवान् को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर लौट गई।

कपिल वस्तु से विहार करते हुए भगवान् वैशाली आये, महावन स्थित कूटागार शाला में टिके। तब महाप्रजापति गीतमी केशच्छेदन कर, काषाय वस्त्र पहन, बहुत सी शाक्य महिलाओं के साथ वैशाली आई। वह महावन में स्थित कूटागार-शाला की ओर चली। उसके नंगे पैर धूल के कणों से भरे थे। दुःखी, दुर्मन, अश्रुमुखी गीतमी बाहरी द्वार पर ठहरी। आयुष्मान् आनन्द ने महाप्रजापति गीतमी को इस स्थिति में देखा। देख कर पूछा - यह सब क्यों ? गीतमी बोली- भन्ते आनन्द ! भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में आने की अनुज्ञा नहीं देते हैं। आनन्द ने कहा - मुहूर्त भर तुम यहीं ठहरो, मैं भगवान् से इस सम्बन्ध में याचना कर आऊँ।

आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पास आया, अभिवादन कर एक ओर बैठा, भगवान् से निवेदन किया - महाप्रजापति गीतमी, भगवान् नारी को दीक्षित नहीं करते, यह देख दुःखी, दुर्मन और आँसू गिराती हुई बाहरी द्वार पर बैठी है, उसके नंगे पैर धूल से भरे हैं। भगवन् ! अच्छा हो, नारी तथागत-प्रवेदित विनय-धर्म में दीक्षा पा सके। भगवान् ने कहा - नहीं आनन्द ! नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में दीक्षित किया जाय, ऐसी रुचि तुम्हारी नहीं होनी चाहिए। आनन्द ने दूसरी बार और तीसरी बार भी निवेदन किया और भगवान् ने निषेध।

तब आनन्द ने देखा, यों तो भगवान् नारी को दीक्षित होने की अनुज्ञा नहीं दे रहे हैं, दूसरी विधि से उनसे कहूँ। तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से निवेदन किया - भगवन् ! क्या नारी अगार जीवन से अनगार जीवन में आ, तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रजित हो, स्रोतापन्नफल, सकृदागारि-फल, अनागारि-फल और अर्हत्-फल का साक्षात्कार कर सकती है ? भगवान् ने कहा - ऐसा हो सकता है। तब आनन्द बोला - भगवन् ! यदि ऐसा है तो महाप्रजापति गीतमी, जिसका हम पर बहुत उपकार है, जो भगवान् की मौसी है, जिसने भगवान् का पोषण किया, दूध पिलाया, भगवान् की जननी के काल कर जाने पर भगवान् को स्तनपान कराया, अच्छा हो, तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में दीक्षा-लाभ कर सके।

भगवान् बोले-आनन्द ! यदि गौतमी आठ गुरु धर्म स्वीकार करे तो उसकी उपसम्पदा (दीक्षा) हो सकती है ।<sup>१</sup>

शुल्लवग्ग के अनुसार उनमें (आठ गुरु धर्मों में) से मुख्य-मुख्य ये हैं<sup>२</sup> —

१. सो वर्ष पूर्व भी दीक्षित भिक्षुणी उसी दिन दीक्षित भिक्षु का भी अभिवादन — प्रत्युत्थान व प्रञ्जलि-कर्म करे ।
२. जिस गांव में भिक्षु न हो, वहां भिक्षुणी न रहे ।
३. हर पक्ष में उपोसत्थ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिये कब आना है, ये दो बातें वह भिक्षु-संघ से पूछे ।
४. चातुर्मास के पश्चात् भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी संघ से प्रवारणा — स्व-दोष-ज्ञापन की प्रार्थना करनी होगी ।
५. किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को डांटे-फटकारे नहीं और भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे ।

तदनन्तर भगवान् बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी को उपसम्पदा दी पर अन्ततः वे इससे तुष्ट नहीं थे । उन्होंने आनन्द से कहा कि धर्म-संघ सहस्रों वर्ष चलता पर क्योंकि नारी को इसमें स्वीकार कर लिया गया है अतः यह चिरकाल तक नहीं टिकेगा । अब यह सैकड़ों वर्ष ही टिकने वाला है ।”

महाप्रजापति गौतमी के प्रव्रज्या-प्रसंग को पढ़ने से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध नारी-प्रव्रज्या के लिए अन्ततः सहमत नहीं थे । महाप्रजापति गौतमी द्वारा तीन बार निवेदन किया जाना, बुद्ध द्वारा तीनों बार निषेध किया जाना, भगवान् के अनन्य अन्तेवासी आनन्द द्वारा भी तीन बार अनुरोध किया जाना, उस पर भी बुद्ध की अस्वीकृति — ये घटनाक्रम यह सिद्ध करते हैं कि आनन्द द्वारा दूसरे प्रकार से पुनः प्रार्थना किये जाने पर बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या की जो स्वीकृति दी, वह केवल आनन्द का मन रखने के लिए थी । वे ऐसा कर प्रसन्न नहीं थे । संघ के उत्तरोत्तर उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उनकी आत्मा घुमिल हो गई, जो उनके अन्तिम वाक्यों से प्रकट होता है ।

इस सन्दर्भ में हम यदि भगवान् महावीर के विचारों पर गहराई से ऊहा-पोह करें तो उनके चिन्तन में ऐसा भेद ही प्रतीत नहीं होता कि भ्रमुक मुंमुक्षु पुरुष है या नारी । उनकी दृष्टि में केवल, यह साधनोन्मुक्त व्यक्ति है, इतना सा रहता है । जिस प्रकार जाति, वर्ण, वर्ग का भेद उनके मन पर कोई असर नहीं करता, उसी प्रकार लिंग-भेद भी उनके समक्ष समस्या बन कर नहीं आता । इतिहास इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर ने बिना किसी संकोच के तीर्थ-स्थापना के अवसर पर गौतमादि पुरुषों को श्रमण-धर्म में दीक्षित कर तत्काल चन्दनबाला आदि नारियों को भी श्रमणी-धर्म में दीक्षित किया ।

<sup>१</sup> शुल्लवग्ग १०, १. १    <sup>२</sup> शुल्लवग्ग १०, २. २

महाप्रजापति के उपर्युक्त आख्यान और भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-स्थापना के दिवस की तात्कालिक वेला में ही चन्दनबाला आदि नारियों को श्रमणी धर्म में दीक्षित किये जाने के विवरण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका ने छू लिया था और तीर्थकर महावीर को वह व्यावहारिक भूमिका किञ्चित्मात्र भी छू नहीं सकी। तीर्थकर अनुस्रोतगामी नहीं होते। वे तो सत्यविमुख रुढ़ परम्पराओं, अंधश्रद्धाओं और निस्सार-योधी मान्यताओं का उन्मूलन कर एक नूतन क्रान्तिकारी आध्यात्मिक संस्कृति की प्रतिष्ठापना करते हैं। ऐसे महापुरुष भला लोक-प्रवाह में कैसे बह सकते हैं? सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने स्व-पर-कल्याणकारी धर्मारोपना-अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तत्त्वतः पुरुष और नारी जैसा कोई भेद न रख कर साधना की सापवाद (देशविरति) और निरपवाद (सर्वविरति)—इन दोनों विधाओं अर्थात् श्रावक-श्राविका धर्म एवं साधु-साध्वी धर्म के अनुसरण-अनुपालन के लिये पुरुष तथा नारी वर्ग का समान रूप से आह्वान किया। यह वस्तुतः भगवान् महावीर की महावीरता थी। इसका परिणाम भी अतीव श्रेष्ठ और परम सुखावह रहा। नारी वर्ग ने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा के अभ्युत्थान के लिये अध्यात्म-साधना-पथ का अवलम्बन करने की नारी भी पुरुष के समान पूर्ण अधिकारिणी है, प्रबुद्ध पुरुष की तरह प्रबुद्धा नारी भी उत्कट संयम का पालन और सर्वोच्च त्याग करने में सर्वतः सक्षम है। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन काल से लेकर आज तक का जैन धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि श्रमणी-धर्म में दीक्षित नारियों ने जिस बड़ी संख्या में, जिस अद्भुत आत्मबल, प्रबल साहस और उत्कट उत्साह के साथ संयम का निर्वहन तथा धर्म का प्रचार-प्रसार किया, एवं कर रही हैं, वह, संख्या आदि कतिपय दृष्टियों से पुरुष-साधकों की अपेक्षा कुछ बढ़कर ही कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर की विद्यमानता में ३६,००० नारियों ने प्रभु के उपदेशों से प्रबुद्ध हो साध्वी-धर्म की दीक्षा अंगीकार की। उनमें से अनेक के साध्वी-जीवन का प्रेरणाप्रदायी विशद विवरण आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। काली आदि महासतियों के अति कठोर तपश्चरण का जो वर्णन आगम में उल्लिखित है, उसे पढ़कर प्रबल मनोबल वाले पाठकों के भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं और उन उत्कट साधिकाओं के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा से मस्तक सहसा स्वतः ही झुक जाते हैं। वस्तुतः साधवियों का जीवन भी साधक-साधिकाओं के लिये बड़ा प्रेरणादायक और दिशानिर्देशक है।

वीर निर्वाण सं० १ से १००० तक की आचार्य परम्परा का जिस प्रकार विस्तृत परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, उसी प्रकार उस काल की साध्वी-परम्परा का परिचय भी प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है किन्तु वीर निर्वाण पश्चात् की साध्वी-परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास देना तो दूर एक बहुत बड़ी कालावधि में हुई साधवियों के नाम तक आज समस्त जैन साहित्य का मालोड़न करने पर भी उपलब्ध नहीं होते।

भगवान् की प्रथम शिष्या चन्दनबाला भगवान् के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हुई अथवा पश्चात्—इस सम्बन्ध में भी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—दोनों परम्पराओं के किसी ग्रन्थ में कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् भगवान् की ३६,००० साध्वियों में से बहुत-सी साध्वियां निश्चित रूप से विद्यमान रही होंगी, पर उनमें से किसी एक का भी नामोल्लेख निर्वाणोत्तर काल के जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। न कहीं इस प्रकार का कोई एक भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है कि निर्वाण के तत्काल पश्चात् अथवा वीर नि० सं० १ से १००० तक की सुदीर्घ कालावधि में साध्वी संघ की प्रवर्तितियां कौन-कौन रहीं।

वीर नि० सं० १ में दीक्षित हुए आर्य जम्बूस्वामी की दीक्षा के प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया है कि जम्बूकुमार की माता, पत्नियों और सासुओं (सासों) को आर्य सुधर्मा ने श्रमणी धर्म की दीक्षा प्रदान कर उन्हें साध्वी सुव्रता की आज्ञानुवर्तिनी बनाया। साध्वी सुव्रता साध्वियों के किसी संघाटक की मुख्या थीं अथवा सम्पूर्ण श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी, इस सम्बन्ध में परिशिष्ट पर्व में कोई संकेत नहीं किया गया है। परिशिष्ट पर्व में उपर्युक्त विवरण के पश्चात् उल्लेख किया गया है कि ५१० पुरुषों और १७ महिलाओं, कुल मिलाकर ५२७ मुमुक्षुओं के साथ जम्बूकुमार को दीक्षित करने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्यों को साथ लिये प्रभु महावीर की सेवा में पहुंचे। परिशिष्टपर्वकार द्वारा किया गया यह उल्लेख प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के सभी मान्य ग्रन्थों में वीर निर्वाण के पश्चात् जम्बूकुमार के दीक्षित होने का उल्लेख है। परम्परागत मान्यता भी यही रही है कि जम्बूकुमार ने वीर निर्वाण के पश्चात् वीर नि० सं० १ में किसी समय दीक्षा ग्रहण की। परिशिष्ट-पर्वकार द्वारा किये गये इस वीर नि० विषयक उल्लेख के संशयास्पद सिद्ध होने की स्थिति में परिशिष्ट पर्व में किये गये उस उल्लेख पर भी पूरी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता, जिसमें कि श्रमणी समूह की मुख्या साध्वी का नाम सुव्रता बताया गया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि साधु समाज की तरह साध्वी समाज ने भी मानवता पर अनेक महान् उपकार किये हैं। सहज कर्णा-कोमल-हृदय सती-वर्ग के उदात्त चारित्र और हितप्रद मधुर उपदेशों से मानव समाज सदा साधना के सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणाएं लेता रहा है। आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ती, आर्य वज्र एवं याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र आदि महान् प्रभावंक आचार्य जिस प्रकार जिन-शासन की उत्कट सेवा और जनकल्याण के महान् कार्य करने में सफल हुए, वह सब मूलतः साध्वी-समाज की ही देन रही है। इन सब वास्तविकताओं को दृष्टिगत रखते हुए निर्वाणोत्तर काल की साध्वी-परम्परा की जितनी अधिक महत्तराओं, प्रवर्तितियों, स्थविराओं के जीवन का परिचय दिया जाय, वह केवल साधकों ही नहीं अपितु समस्त मानव-समाज के लिये उतना



ही अधिक श्रेयस्कर, प्रेरक और दिशावबोधक हो सकता है। निर्वाणोत्तर काल की साध्वी परम्परा का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत करने हेतु अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया गया, अनेक विद्वान् इतिहासविदों, सन्तों एवं साध्वियों से आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया पर इन सब प्रयत्नों का कोई उत्साहप्रद परिणाम नहीं निकला। श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों तथा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर - दोनों परम्पराओं के शिलालेखों के उल्लेखों से यह तो पूरी तरह सिद्ध होता है कि तीर्थस्थापन के काल से लेकर वर्तमान काल तक जैन श्रमणीवर्ग की पुनीत एवं पावन परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। परन्तु समय-समय पर जो प्रमुख साध्वियां हुईं, उनका जीवन-परिचय मिलना तो दूर अधिकांशतः नामोल्लेख तक दृष्टिगोचर नहीं होता। बड़े विस्तीर्ण काल के व्यवधान के पश्चात् दो चार प्रमुख साध्वियों के नाम अथवा नामोल्लेख के अभाव में उनका केवल साध्वियों के रूप में उल्लेख मात्र मिलता है।

निर्वाण काल से पूर्व की चन्दन बाला, मृगावती आदि कतिपय श्रमणी मुख्याओं का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। अब, निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष की अवधि में हुई श्रमणी-मुख्याओं में से जिन-जिन का जिस रूप में परिचय उपलब्ध होता है, उसे यहां संक्षेप में दिया जा रहा है:-

### १. आर्या चन्दनबाला

आर्या चन्दनबाला का नाम जैन जगत् में इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्म के समान ही अमर रहेगा। आप श्रमण भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या और प्रभु के सुविशाल श्रमणी-समुदाय की प्रमुख एवं संचालिका थीं। आपके कुशल संचालकत्व काल में वीर प्रभु का श्रमणी समूह खूब फला-फूला और उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महाराणी धारिणी की परम दुलारी पुत्री थीं। प्रभु महावीर ने छव्यस्थ काल में अति कठोर अभिग्रहपूर्ण बड़ी लम्बी तपस्या का पारणा चन्दनबाला के हाथों किया था, अतः प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की समस्त साध्वियों में आपको सर्वाधिक पुण्यशालिनी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। चम्पानगरी में हुए भयानक राज्य-विप्लव के परिणामस्वरूप बाल्यावस्था में आपको जिन घोर कष्टों को सहना पड़ा, उनको सुनने मात्र से अच्छे-अच्छे साहसी भी सिहर उठते हैं। उस संकट काल में बालिका चन्दनबाला ने जिस साहस और धैर्य से दुखों को सहन किया, उसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भिक जीवन में भी उनका आत्म-बल कितना प्रबल था।

आर्या चन्दनबाला के जीवन का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम खण्ड में दिया जा चुका है।<sup>१</sup> बाल ब्रह्मचारिणी महासती चन्दनबाला ने राजकुमारियों, श्रेष्ठिकन्याओं, राजरानियों, इन्धयपत्नियों एवं सभी वर्गों की भुभुक्षु

<sup>१</sup> जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४७६-४८४

महिलाओं को हजारों की संख्या में श्रमणी-धर्म में दीक्षित कर कल्याण-मार्ग में उनका नेतृत्व किया। आपने स्वयं प्रभु द्वारा प्रदत्त श्रमणी-संघ-मुख्या (प्रवर्तिनी) पद पर रहते हुए ३६,००० साध्वियों के प्रति विशाल साध्वी-संघ का बड़ी कुशलता के साथ संचालन किया। आपके तत्वावधान में आपका समस्त श्रमणी समूह सम्यक् रूपेण संयमप्रतिपालन, स्वाध्याय, ज्ञानार्जन, तपश्चरणा आदि में निरत रह स्व-पर कल्याण में उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहा। प्रवर्तिनी चन्दना बड़ी अनुशासनप्रिय थीं। आपके अनुशासन की यह विशेषता थी कि श्रमणी वर्ग की सभी साध्वियां सदा सजग रह कर स्वतः ही श्रमणी-आचार का समीचीन रूप से पालन करती रहती थीं। प्रवर्तिनी चन्दनबाला श्रमणाचार में साधारण से साधारण शैथिल्य एवं छोटी से छोटी भूल को भी भविष्य के लिये भयंकर अनर्थ का मूल मान कर अनुशासन और साध्वी समाज के हित की दृष्टि से किसी भी साध्वी को, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, प्रेमपूर्वक सावधान करने में किञ्चित्मात्र भी संकोच नहीं करती थीं। आपने साध्वी मृगावती जैसी उच्चकोटि की साधिका को भी प्रभु के समवसरण में असमय तक बैठे रहने पर उपालम्भ देने में संकोच नहीं किया। अपनी गुरुणी द्वारा दिये गये उपालम्भ पर महासती मृगावती ने भी अपनी भूल के लिये निश्छल भाव एवं विशुद्ध अन्तःकरण से पश्चात्ताप किया और तत्क्षण क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान की अनुत्तर, अक्षय एवं अनन्त परम ज्योति प्राप्त कर ली। एक लम्बे समय तक जिनशासन की सेवा एवं स्व-पर का कल्याण करते हुए प्रवर्तिनी चन्दनबाला ने ४ घाती-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और तदनन्तर अवशिष्ट चार अघाती-कर्मों का क्षय कर अन्त में अखण्ड-अव्याबाध-अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया।<sup>१</sup> महासती चन्दनबाला का परम श्लाघनीय एवं प्रेरणाप्रदायी संयमी-जीवन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में बड़ा सम्मानास्पद माना गया है। आपकी आज्ञानुवर्तिनी प्रभु महावीर की ३६००० साध्वियों में से १४०० साध्वियों ने (चन्दनबाला सहित) समस्त कर्म समूह को ध्वस्त कर मोक्ष प्राप्त किया।<sup>२</sup>

महासती चन्दनबाला के प्रवर्तिनीकाल में समस्त श्रमणी-संघ अविच्छिन्न और एकता के सूत्र में बन्धा रहा। इनके समय में साध्वी सुदर्शना के अतिरिक्त श्रमणियों का कोई अन्य संघाटक श्रमणी-संघ से पृथक् अथवा स्वेच्छाचारी हुआ हो, ऐसा कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। साध्वी सुदर्शना भी प्रभु महावीर के प्रथम निह्व जमाली के प्रति स्नेहवश कुछ समय के लिए विपरीत श्रद्धानुगामिनी बन गई थी किन्तु अल्पकाल पश्चात् ही ठक प्रजापति की प्रेरणा से प्रतिबुद्ध हो एक हजार साध्वियों के साथ प्रायश्चित्तादि से आत्मशुद्धि कर पुनः आपके संघ में सम्मिलित हो गई।

<sup>१-२</sup> 'स्त्री तदभव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती' - इस मान्यतानुसार दिगम्बर परम्परा में इन सबका मोक्ष जाना, नहीं माना गया है।

आर्या चन्दनबाला के अनुपम उद्भूत जीवन से मुमुक्षु साधक सदा प्रेरणा लेते रहेंगे। महासती चन्दनबाला ने भगवान् महावीर से पूर्व निर्वाण प्राप्त किया अथवा पश्चात्, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख अभी तक प्रकाश में नहीं आया है; अतः इस विषय में खोज की आवश्यकता है। भाशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा में प्रयास करेंगे।

## २. आर्या सुव्रता एवं धारिणी आदि

(वीर निर्वाण सं०<sup>१</sup>)

प्रभु महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल में महासती सुव्रता का उल्लेख मिलता है पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। आर्या सुव्रता प्रवर्तिनी चन्दनबाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा थी अथवा आर्य सुधर्मा के श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी, यदि वे प्रवर्तिनी थीं तो किस समय से किस समय तक प्रवर्तिनी रहीं—इस सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

वीर नि० सं० १ में जब राजगृही में आर्य सुधर्मा के उपदेश से श्रेष्ठिकुमार जम्बू भवप्रपंच से विरक्त हो दीक्षित हुए उस समय १७ उच्चकुलीन महिलाओं ने भी आर्या सुव्रता की सेवा में श्रमणोधर्म की दीक्षा स्वीकार की। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

### १. आर्या धारिणी (जम्बूकुमार की माता)

जम्बू की सातें :-

- |             |            |
|-------------|------------|
| २. पद्मावती | ६. कमलावती |
| ३. कमल भाल  | ७. सुधरेणा |
| ४. विजयश्री | ८. वीरमती  |
| ५. जयश्री   | ९. अजयसेना |

जम्बू की धर्मपत्नियाँ :-

- |                |                         |
|----------------|-------------------------|
| १०. समुद्रश्री | १३. सेना                |
| ११. पद्मश्री   | १४. कनकश्री             |
| १२. पद्मसेना   | १६. कनकवती              |
| १३. कनकसेना    | १७. जयश्री <sup>१</sup> |

परम वैरागी जम्बूकुमार के वैराग्योत्पादक एवं युक्तिसंगत हित-मित तथ्यपूर्ण वचनों से प्रभावित होकर उन १७ महिलाओं ने आर्या सुव्रता के पास दीक्षा ग्रहण कर जीवनपर्यन्त उत्कट भाव से विशुद्ध तप-संयम की आराधना की।

<sup>१</sup> विन्धवर परम्परा के ग्रन्थों में जम्बूकुमार की चार पत्नियों का ही उल्लेख है। —सम्पादक

समुद्राक्षी आदि जम्बूकुमार की ऐश्वर्य में पत्नी अनुपम सुन्दरी मातों पत्नियों ने भोजयोग्या भरपूर यौवनवरी अवस्था में समस्त काम-भोगों, सुख-सुविधाओं एवं अपार सम्पदा को ठुकरा कर एक बार मनसा वरणा किये गये अपने पति जम्बूकुमार के साथ जिस प्रकार अपने अविचल प्रेम का अस्त तक निबंहुम किया, वह वस्तुतः अति महान्, अद्वितीय, अनुपम-अनूठा, अत्यद्भुत और मुमुक्षुओं के लिये प्रेरणा का अक्षय स्रोत रहा है और रहेगा। विश्व के साहित्य में इस प्रकार का और कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता।

### परम प्रभाषिका यक्षा आदि साध्वियां

(बीर नि० दूसरी-तीसरी कती)

आर्य सुधर्मा और जम्बू के समय की कतिपय प्रमुख साध्वियों का यद्योप-संघ थोड़ा-सा परिचय ऊपर दिया गया है। आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभब, आर्य शय्यंभव और आर्य यशोभद्र के आचार्यकाल की साध्वियों का परिचय उपलब्ध नहीं होता। इन आचार्यों के समय में भी साध्वी-परम्परा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर चलती रही पर उस समय की प्रमुख साध्वियों के नाम अभी तक उपलब्ध जैन साहित्य में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं।

आर्य यशोभद्र के शिष्य आचार्य संप्रतिविजय के आचार्यकाल में महामन्त्री शकडाल की ७ पुत्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। यक्षा आदि सातों बहिनों की स्मरणशक्ति बड़ी प्रखर और प्रबल थी। कठिन से कठिन एवं कितने ही लम्बे गद्य अथवा पद्य को केवल एक बार सुन कर ही यक्षा उसे अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर तत्क्षणा यथावत् सुना देती थी। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी यावत् सालबीं बहिन क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच, छ और ७ बार सुन कर किसी भी गद्य-पद्य को यथावत् सुना देती थी। इन सातों बहिनों ने अन्तिम नन्द की राजसभा में वररुचि जैसे पण्डित को अपनी अद्भुत स्मरणशक्ति के चमत्कार से हतप्रभ कर किस प्रकार उसके 'ग्रह' को विचूषित किया, यह आर्य स्थूलभद्र के प्रकरण में बताया जा चुका है।

वररुचि द्वारा नियोजित षड्यन्त्र के परिणाम स्वरूप महामन्त्री शकडाल द्वारा मृत्यु का वरणा किये जाने और महाराज नवम नन्द द्वारा दिये जा रहे महामात्यपद को ठुकरा कर स्थूलभद्र के प्रव्रजित हो जाने पर स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों विदुषी बहिनों ने भी अपने भ्राता श्रीयक से अनुमति ले उस समय की श्रमणीमुख्या के पास पंच महाव्रत रूप श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण की। इन सातों विदुषी साध्वियों ने एकादशांगी का गहन अध्ययन कर अनेक वर्षों तक जिन-शासन की महती सेवा की। अद्भुत स्मरणशक्ति वाली उन सातों साध्वियों ने कितना अथाह ज्ञान अर्जित किया होगा, इसका आज अनुमान नहीं किया जा सकता।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि क्रमशः आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने बाल्यकाल से ही उस समय की

महान् विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य में रह कर एकदशांगी का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आर्य महागिरि और आर्य मुहस्ती जैसे आचारनिष्ठ प्रतिभाशाली एवं महान् प्रभावक श्रमण-श्रेष्ठों में प्रारम्भ से ही उच्चकोटि के संस्कार ढालने वाली महासती यक्षा कैसी विदुषी, कितनी तेजस्विनी, आचारनिष्ठा तथा संस्कार-निर्माण में कितनी कुशल होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्या यक्षा के विदेह-गमन का भी उल्लेख उपलब्ध होता है ! उसमें यह बताया गया है कि आर्य स्थूलभद्र और तदनन्तर यक्षा आदि सातों बहिनों के प्रजित हो जाने के कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र के कनिष्ठ सहोदर श्रीयक ने भी श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीयक मुनि अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। वे भूख-प्यास को सहन करने में इतने अधिक प्रसन्न थे कि एक उपवास की तपस्या करना भी उनके लिये बड़ा दुष्कर कार्य था। साध्वी यक्षा ने अपने आता मुनि को तपस्या करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए एक दिन कहा — “मुनिवर ! तपस्या की अग्नि से ही कर्मसमूह को ध्वस्त किया जा सकता है। यदि उपवास करना कठिन प्रतीत होता है तो आज एकाशन ही कर लीजिये। धीरे-धीरे इस प्रकार तपस्या करने का अभ्यास हो जायगा।”

अपनी बड़ी बहिन की प्रेरणा से मुनि श्रीयक ने एकाशन व्रत करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मध्याह्न तक का समय बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो गया। श्रीयक को भूख-प्यास ने अधिक नहीं सताया। मध्याह्नोत्तर काल में साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि के पास जा कर जब यह सुना कि उन्हें उस समय तक तो भूख-प्यास विशेष असह्य नहीं हो रही है, तो उन्होंने श्रीयक मुनि को उपवास कर लेने का परामर्श दिया। उत्साहवशात् श्रीयक मुनि ने उपवास का संकल्प कर लिया।

रात्रि में भूख एवं प्यास ने उग्र रूप धारण कर लिया और उपोसित श्रीयक मुनि का संभवतः कड़ी प्यास के कारण प्राणान्त हो गया। प्रातःकाल होते ही मुनि श्रीयक की मृत्यु के समाचार सुन कर साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि की मृत्यु में अपने आपको कारण मान कर बड़े दुःख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि का अनुभव किया। संघ ने बार-बार उन्हें समझाया कि वे निर्दोष हैं पर साध्वी यक्षा ने कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। संघ द्वारा बार-बार विनती किये जाने पर साध्वी यक्षा ने कहा “यदि कोई प्रतिशयज्ञानी (केवलज्ञानी) यह कह दें कि यक्षा निर्दोष है, तभी मैं अन्न-जल ग्रहण करूंगी, अन्यथा नहीं।”

अन्ततोगत्वा शासनाधिष्ठात्री देवी की संघ ने आराधना की और दैवी सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र में श्रीमंदरस्वामी के समवशरण में पहुँची। घट-घट के अन्तर्यामी तीर्थंकर श्रीमंदरस्वामी ने श्रीमुख से आर्या यक्षा को निर्दोष बताया और ४ अध्यायन प्रदान किये। विदेह क्षेत्र में श्रीमंदर प्रभु के दर्शनों से अपना जीवन सफल तथा उनकी वाणी से अपने आपको निर्दोष मान कर आर्या यक्षा दैवी सहायता से पुनः लौट आईं। उन्होंने वे चारों अध्याय संघ

के समक्ष प्रस्तुत किये, जो आज भी भूमिकाओं के रूप में विद्यमान हैं। तदनन्तर साध्वी यक्षा पुनः पूर्ववत् अपनी बहिनों के साथ स्व-पर-कल्याण एवं जिनज्ञासन की सेवा के कार्यों में निरत हो गईं।

इस प्रकार आर्य संभूति विजय के आचार्य-काल में दीक्षित होकर आर्या यक्षा, यक्षदिग्धा, भूता, भूतदिग्धा, सेणा, वेणा और रेणा ने साध्वीसंघ में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। यक्षा आदि सातों साध्वियों का संघ-काल आर्य संभूति विजय, आर्य भद्रबाहु और आर्य स्पूलभद्र के आचार्यत्वकाल में कितना कितना रहा तथा ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रहीं, अथवा नहीं; इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी कहना वस्तुतः कल्पना की उड़ान के अतिरिक्त और कुछ न होगा। यक्षा आदि इन बालब्रह्मचारिणी, महामेधाविनी एवं विशिष्ट श्रुतसम्पन्ना महासतियों से युगयुगान्तर तक साध्वीमंडल ही नहीं, समस्त जैन संघ गौरवानुभव और प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा।

### आर्या पोइणी

(अनुमानतः बी० नि० सं० ३०० से ३३० के आस पास)¹

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय में साध्वीमुख्या विदुषी महासती पोइणी और ३०० अन्य निर्घन्धिनी साध्वियों की विद्यमानता का उल्लेख हिमवन्त स्वविरावली में उपलब्ध होता है। कलिग चक्रवर्ती महाभेषवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में कुमारिगिरि पर आयोजित आगम-परिषद में वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह एवं गणाचार्य आर्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध की परम्पराओं के ५०० श्रमणों के विशाल मुनि-समूह के साथ आर्या पोइणी आदि ३०० निर्घन्ध श्रमणियों के उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत होता है।²

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेखों से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि श्रुत-रक्षा एवं संघहित हेतु आयोजित वाचनाओं, विचारणाओं अथवा परिषदों में साधुसंघ के समान साध्वीसंघ और यहां तक कि श्रावक-श्राविकाओं के संघों का भी सर्वथा पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाता था।

¹ "एसो एणं जिणसासणपभाबणी भिक्खुराय णिबे.....वीरामो एणं तीसाहिय तिसय वासेसु विइक्कत्तेसु सग्गं पत्तो।"—हिमवन्त स्वविरावली के इस उल्लेख के अनुसार खारवेल का अंतिम समय वीर नि० सं० ३३० सिद्ध होता है। महासती पोइणी भी खारवेल द्वारा आयोजित आगम-परिषद में सम्मिलित थीं अतः उनका भी यही समय अनुमानित किया जाता है।  
—सम्पादक

² .....तेणं भिक्खुरायणिबेणं जिणपवयणं संगहट्ठं जिणधम्म बिस्वरट्ठं य संघइ णिबुब्ब समणायं णिग्गंठाणं णिग्गंठीणं य एणा परिसा तस्य कुमारिपब्बय-तित्थम्मि मेलिया। .....अज्जा पोइणीयाईणं अज्जाणं णिग्गंठीणं तिन्न सया समेया।

[हिमवन्त स्वविरावली, अप्रकाशित]

प्रागम के पाठों को स्थिर प्रथवा सुनिश्चित करने में जिस साध्वी की सहायता ली गई हो, वह साध्वी कितनी बड़ी ज्ञान-स्थविरा, प्रागम-मर्मज्ञा, प्रतिभाशालिनी और प्रकाण्ड विदुषी होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ज्ञान और क्रिया की साक्षात् प्रतिभूति आर्या पोइरणी जैसी विदुषी का कुल, वय, शिक्षा, दीक्षा एवं साधना, संबन्धी परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि आर्या यक्षा के पश्चात् किसी निकट-वर्ती समय में ही आर्या पोइरणी ने साध्वी संघ में प्रमुख स्थान प्राप्त किया और वह एक बहुश्रुता, संघ संचालन में कुशल एवं आचारनिष्ठा साध्वी थीं।

आर्य महागिरि के आचार्यकाल तक श्रमण संघ में एक आचार्य की परम्परा रही, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्या यक्षा के समय तक साध्वी संघ एक ही प्रवर्तिनी प्रथवा साध्वीसंघ-मुख्या के नेतृत्व में चलता रहा। विदुषी साध्वी पोइरणी के समय में साधु-संघ की तरह साध्वी-संघ में भी पृथक् नेतृत्व का प्रचलन हो गया था प्रथवा नहीं, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु अनुमान किया जाता है कि आर्य महागिरि के पश्चात् श्रमण-संघ में हुए पृथक् नेतृत्व के प्रादुर्भाव का साध्वी-संघ पर भी सहज ही प्रभाव पड़ा होगा। इतना सब कुछ होते हुए भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साधारण मतभेद होने के उपरान्त भी उस समय तक मन-भेद नहीं हुआ था। इस अनुमान की हिमवन्त स्थविराली के निम्नलिखित उल्लेख से भी पुष्टि होती है, जिसमें कुमारिगिरि पर आयोजित प्रागम परिषद में दोनों परम्पराओं के मुनिमण्डलों के एकत्रित होने का स्पष्ट उल्लेख है :-

“.....तेषां भिक्षुराय शिवेषां.....सभरणां शिगंठाणां शिगंठीणां य एग परिसा तत्थ कुमारि पव्वयतिस्थम्मि भेलिया। तत्थ षं थेरारणं अज्जमहागिरीणमणुपत्ताणं बलिस्सह बोहिंलिंग देवायिरि धम्मसेण नक्खत्ता-यरियाइ जिणकप्पि तुलत्तं कुणमाण्णां दुण्णिसया शिगंठाणां समागया। अज्ज सुट्ठिय सुवडिबड्ड उमसाइ सामज्जाइणं थेरकप्पियाणं वि तिन्नि सया निग्गंठाणं समागया।.....”

अर्थात् - महाराज भिक्षुराय द्वारा आयोजित निम्न श्रमण-श्रमणियों की परिषद् में आचार की दृष्टि से जिनकल्पियों के समान व्यवहार करने वाले आर्य बलिस्सह आदि २०० साधु और स्थविरकल्पी आर्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध आदि ३०० साधु एकत्रित हुए। बाह्य वेष के साधारण भेद के उपरान्त भी उनके अन्तर्मन एक थे, भेद रहित थे और उन सब ने एक साथ बैठकर पारस्परिक सह-योग से विचारों के अदान-प्रदान से प्रागम-परिषद को सफल बनाया।

साधु-समूह के समान साध्वी-समूह के समक्ष जिनकल्प और स्थविरकल्प का प्रश्न न होने की दृष्टि से यद्यपि साध्वी-संघ में पृथक् नेतृत्व की भावना के

१ हिमवन्त स्थविराली (अप्रकाशित)

उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था तथापि साध्वी-समुदाय परम्परा से श्रमण-संघ का अभिन्न अंग रहा है। पृथक् समुदायों के रूप में इन दोनों का अस्तित्व रहने के उपरान्त भी नीति निर्देश, ज्ञानार्जन, मार्गदर्शन आदि की दृष्टि से साध्वी समूह सदा से श्रमण संघ के तत्वावधान में कार्य करता रहा है अतः यह सुनिश्चित सा प्रतीत होता है कि श्रमणसंघ का नेतृत्व ज्यों ही अनेक आचार्यों में विभक्त हुआ त्यों ही श्रमणी-समूह का नेतृत्व भी उन पृथक् हुए आचार्यों की प्रमुख शिष्याओं के तत्वावधान में विभक्त हो गया होगा।

चाहे आर्या पोइली तटस्थ भाव से अपने साध्वी-समाज का नेतृत्व करती रही हों, चाहे वह आर्य बलिस्सह प्रथवा सुस्थित की परम्परा की साध्वियों के समुदाय की संचालिका रही हों पर कुमारी पर्वत पर हुई आगम-परिषद् में साध्वी पोइली के उपस्थित होने और एकादशांगी के पाठों के निर्धारण में उनके द्वारा सहयोग दिये जाने सम्बन्धी हिमवन्त स्वविरावली के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि साधु-साध्वी-आवक-आविका रूप समस्त चतुर्विध संघ साध्वी पोइली की ज्ञान-गरिमा का बड़ा समादर करता था और संघ में उनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था।

पोइली का संस्कृत रूपान्तर है 'पोतिनी'—अर्थात् बहुत बड़ी जहाज। इस नाम से भी यही प्रकट होता है कि वे अपने समय की बड़ी ही प्रभाविका महासती हुई हैं, जिन्हें भव्यजन भव-सागर से पार लगाने वाली धर्मजहाज मानते थे।

कलिंग जैसे दूरस्थ प्रदेश के कुमारी पर्वत के समान दुरूह एवं विकट स्थान पर ३०० श्रमणियों के एकत्रित होने सम्बन्धी हिमवन्त स्वविरावली के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण की चौथी शती में श्रमणी-समुदाय का स्वरूप सुविशाल था और भारत के विभिन्न प्रान्तों में श्रमणों की तरह श्रमणियां भी अप्रतिहत विहार करती हुईं जन-जन के मन में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर रही थीं।

### साध्वी सरस्वती

(वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी)

वीर की पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध (आर्य गुणाकर के समय) में द्वितीय कालकाचार्य के साथ उनकी भगिनी सरस्वती द्वारा पंच महाव्रत स्वरूप निग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख मिलता है।

द्वितीय कालकाचार्य के प्रकरण में साध्वी सरस्वती का पूरा परिचय दिया जा चुका है।<sup>१</sup> साध्वी सरस्वती ने अपने ऊपर आये हुए संकट में बड़े साहस से काम लिया। गर्दभिल्ल के राजमहल में बन्दिनी की तरह बन्द किये जाने,

<sup>१</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५१०-५१३



गर्दभिल्ल द्वारा अनेक प्रकार की यातनाएं, भय एवं प्रलोभन दिये जाने के उपरान्त भी वे सत्य से विचलित नहीं हुईं । गर्दभिल्ल के पाश से मुक्त होने के पश्चात् आर्या सरस्वती ने आत्मशुद्धि पूर्वक जीवन पर्यन्त कठोर तप एवं संयम की साधना की और अन्त में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सद्गति प्राप्त की ।

### साध्वी सुनन्दा

(वीर की छठी शताब्दी का प्रारम्भ)

वीर की पांचवीं शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हुई साध्वी सरस्वती के पश्चात् वीर नि० सं० ५०४ के आसपास आर्य वज्र की माता सुनन्दा द्वारा आर्य सिंह गिरि की आज्ञानुवर्तिनी स्वविरा साध्वी के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख उपलब्ध होता है । धनगिरि जैसे भवविरक्त महान् त्यागी की पत्नी और आर्य वज्र जैसे महान् युगप्रधानाचार्य की माता सुनन्दा का गौरव-गरिमापूर्ण उल्लेख जैन इतिहास में सदा स्वर्णक्षरों में किया जाता रहेगा । यौवन भरी प्रथम वय में सुनन्दा ने गुविणी होते हुए भी दीक्षित होने के लिये उत्कण्ठित अपने पति को प्रव्रजित होने की अनुमति देकर जो आदर्श भारतीय नारी का उदाहरण प्रस्तुत किया, वह अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होगा ।

उपलब्ध प्राचीन साहित्य में यद्यपि विगत की बीच-बीच की अनेक कालावधियों में साध्वियों के नामोल्लेख नहीं मिलते तथापि कतिपय ऐसे प्रबल प्रमाण साहित्य में मिलते हैं, जिनके आधार पर सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वीर निर्वाण के पश्चात् साध्वी-परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई अपितु वह अक्षुण्ण रूप से चलती रही है ।

उन अनेक प्रबल प्रमाणों में से एक प्रमाण है आर्य वज्र का शैशवकाल । आर्य वज्र का वीर नि० सं० ४९६ में जन्म हुआ । जन्म के थोड़ी देर पश्चात् ही अपनी माता की सहेली के मुख से अपने पिता धनगिरि के दीक्षित होने की बात सुनकर शिशु वज्र को जातिस्मर ज्ञान हो गया । उनके प्रति माता की भमता न बढ़े और उसके परिणाम स्वरूप उन्हें समय पर दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय — यह विचार कर बालक वज्र ने रुदन ठाना । वज्र का रुदन तभी बन्द हुआ जब कि उसकी माता सुनन्दा ने उसे सदा-सर्वदा के लिये श्रमण-संघ को अर्पित करते हुए आर्य धनगिरी की झोली में रखा । अपने शिष्य धनगिरि को तुम्बवन् में मधुकरी के समय प्राप्त हुए शिशु वज्र को आर्य सिंहगिरी ने समुचित समय तक पालनार्थ शय्यातरी श्राविका को सम्हला दिया ।

जातिस्मर-ज्ञान-सम्पन्न बालक वज्र ने शय्यातरी के साथ दिन के समय निरन्तर ज्ञानस्थविरा श्रमणियों के मुख से सुन-सुनकर बाल्यकाल में ही सम्पूर्ण एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया ।

इस प्रकार आर्य वज्र द्वारा श्रमणियों के मुखारविन्द से सुन-सुनकर एकादशांगी के कण्ठस्थ किये जाने का उल्लेख इस बात का प्रबल प्रमाण है कि बीच-

बीष के अनेक अन्तरालों में साध्वी-परम्परा की साध्वियों के नाम सुरक्षित न रह पाने के कारण उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते तथापि न केवल साध्वी-परम्परा ही अपितु सम्पूर्ण एकादशांगी की पारंगत साध्वी-परम्परा सदा अक्षुण्ण रूप में विद्यमान रही है। यदि ऐसा नहीं होता तो एकादशांगी के ज्ञान में निष्णात साध्वियों से बालक वज्र द्वारा एकादशांगी के कण्ठाग्र किये जाने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं किया जाता।

वस्तुतः आर्या सुनन्दा और वे अनुपलब्धनामा ज्ञानस्थविरा आर्याएँ, जिनसे बालक वज्र ने एकादशांगी कण्ठस्थ की और जिनके पास वज्र की महामहिमामयी माता सुनन्दा ने श्रमण-धर्म अंगीकार किया, उस अक्षुण्णा साध्वी-परम्परा की शृंखला की अविच्छिन्न कड़ियाँ हैं, जो तीर्थस्थापन की वेला से आज तक अनवरत रूप से स्व-पर-कल्याण करती चली आ रही है।

आर्या सुनन्दा का विस्तृत परिचय आर्य सिंहगिरि के प्रकरण में दिया जा चुका है।<sup>1</sup>

### बासन्तहाचारिणी साध्वी रुक्मिणी

(वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

साधना पथ पर अग्रसर होने वाले नरशादुर्लों के समान नाहरियों तुल्य पराक्रमशालिनी नारियों द्वारा किये गये त्याग के भी एक से एक बढ़ कर बढ़े ही अद्भुत एवं अनुपम उदाहरण जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के अत्युच्चकोटि के त्याग करने वाली महामहिमामयी महिलाओं में साधिका रुक्मिणी का भी बहुत ऊँचा स्थान है। वस्तुतः साध्वी रुक्मिणी का त्याग अपने आप में सब से निराला-सबसे अनूठा है। एक क्षण पहले मोह के मादक नशे के वशीभूत हुए मन ने जिसे अपने विलासितापूर्ण भोगमार्ग के आराध्य देव के रूप में वरण कर लिया हो, दूसरे ही क्षण, मोह का नशा उतार दिये जाने पर भोग-मार्ग के लिये चुने गये उसी आराध्य देव को योग-मार्ग का आराध्य देव बना कर समस्त भोगों को ठुकरा जीवन भर के लिये कण्ठकाकीर्ण योग-पथ का पथिक बन जाना—यह कोटिपति श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री रुक्मिणी के जीवन की अप्रतिम एवं बड़ी ही अद्भुत विशेषता है। वह अभूतपूर्व घटना इस प्रकार है:-

गरगाचार्य आर्य सिंहगिरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य वज्र विहार क्रम से पाटलीपुत्र पहुँचे। अपने समय के महान् युगपुरुष के, अपने नगर के बहिर्भाग में अवस्थित उपवन में, शुभागमन का समाचार सुनते ही पाटलीपुत्र का अपार जनसमूह उद्वेलित सागर के समान आर्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश श्रवण की उत्कण्ठा लिये उस उपवन की ओर उमड़ पड़ा। पाटलिपुत्र के धन नामक कोट्यधीश श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री कुमारी रुक्मिणी भी अपनी सखी-सहेलियों के साथ उस उपवन में पहुँची।

<sup>1</sup> देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५६६-५७२

पक्षण्ड ब्रह्मचर्य के मृत्युद्भूत तेज से देदीप्यमान धार्य वज्र के सौम्य, शान्त एवं नयनाभिराम मुखमण्डल को निनिमेष नयनों से निहारता हुआ जनसमुद्र आप्यायित हो उठा। गणाचार्य धार्य वज्र के घनरव-गम्भीर निर्घोष से प्रवाहित सुधा-सुरसरी तुल्य श्रुतसरिता में निमज्जन-उन्मज्जन करते हुए उपस्थित आबालवृद्ध ने एक भ्रूलौकिक तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की।

कुमारी रुक्मिणी की मोहविमुग्ध दृष्टि ने धार्य वज्र को एक और ही रूप में देखा। मोह के प्राबल्य से वह सम्मोहित हो गई। उसने क्षण भर में ही अपने दृष्टिक मुख के एक नवीन रंगीन-संसार की कल्पना कर ली। योग-मार्ग के महान् पथिक धार्य वज्र रुक्मिणी को अपने भोग-मार्ग के आराध्य देव प्रतीत हुए। उसने मन ही मन धार्य वज्र का अपने पति के रूप में वरण करते हुए दृढ़ प्रतिज्ञा कर डाली कि वह धार्य वज्र को छोड़ अन्य किसी के साथ प्रणय-सूत्र में नहीं बंधेगी। मोह ने उसके मन, मस्तिष्क और रोम-रोम पर अधिकार कर लिया था अतः वह यह सोच ही नहीं सकी कि अपनी इस प्रतिज्ञा द्वारा वह अमृत के देवता को मरल-मान का निमन्त्रण देना, अनन्त आकाश को मुट्ठी में बन्द करना और समुद्र की अथाह जलराशि को अपनी प्रंजलि में समा देना चाहती है। मोह का आवरण पड़ने पर मन, मस्तिष्क और दृष्टि की गति बड़ी विचित्र हो जाती है। रुक्मिणी उस समय भला इस प्रकार कैसे सोचती, जब कि उसके तन मन पर मोह छाया हुआ था।

धार्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के पश्चात् भावविभोर जनसमूह मुनि-चरणों में मस्तक झुका शनैः-शनैः पाटलीपुत्र की ओर उसी प्रकार लौट गया, मानो ज्वारभाटे की समाप्ति के अनन्तर पूर्णिमा के चन्द्र की किरणों से आप्यायित-शुप्त सागर पुनः अपनी सीमा में सिमट गया हो।

कुमारी रुक्मिणी भी गहन विचारों में डूबती-उतराती, कल्पना के अनेक मनोहारी रंगीन चित्र चित्रित करती हुई, भारी मन लिये अपने घर लौटी। उसके हृदय में प्रबल वेग से उद्भूत हुई धार्य वज्र की चरणचञ्चरी बनने की तीव्र उत्कण्ठा ने एक एक क्षण का विलम्ब भी उसके लिये एक एक युग के समान भारी बना डाला था। अन्तर की ज्वालानों के शमन का और कोई उपाय न पा, साधारण हो उसने लोकलाज को एक ओर रख स्वयं अपने पिता के पास जाकर अपना यह दृढ़ संकल्प रखा—“मैं धार्य वज्र को प्राणपण से अपना आराध्यदेव चुन चुकी हूँ। यदि उनके साथ मेरा प्रणयसूत्र में गठबन्धन संभव नहीं हुआ तो मैं अग्नि में प्रवेश कर आत्मदाह कर लूंगी।”

श्रेष्ठ धन अपनी इकलौती पुत्री की कठोर प्रतिज्ञा सुनते ही क्षण भर के लिये अवाक् रह गया। “वरिण्क् सभी वस्तुएं अपनी तराजू और बाटों से तोलता

<sup>1</sup> ब्रह्मणे जनकं स्वीयं, सत्यं मदभाषितं शृणु।

मीमंक्षुष्याय मां यच्छ, शरणां मेऽन्यथानलः ॥ १३८ ॥

[प्रभाषक चरित्र, पृ० ६]

है” - इस लोकोक्ति के अनुरूप उसने मन में सहसा अपनी अपार सम्पदा के साथ धार्य वज्र से सौदा करने का निश्चय किया। वह सौ करोड़ (एक भरब) मुद्राएं और वस्त्राभूषणादि से भलंकृता अपनी पुत्री को साथ ले वज्र स्वामी के पास पहुंचा। घन श्रेष्ठि ने अभिवादनपूर्वक वज्र स्वामी से निवेदन किया - “नाथ! मेरी यह पुत्री अपने प्राणनाथ के रूप में आपका वरण कर चुकी है। अतः आप कृपा कर मेरी इस अनुपम रूप-लावण्य-यौवन संपन्ना पुत्री को ग्रहण कीजिये। इसके साथ ये एक भरब मुद्राएं भी ग्रहण कीजिये। जीवन पर्यन्त आप स्वेच्छा पूर्वक सभी प्रकार के सांसारिक सुखोपभोगों का आनन्द लें, तो भी यह धनराशि समाप्त नहीं होगी।” यह कह कर श्रेष्ठि घन महर्षि वज्र के चरण कमलों पर अपना मस्तक रख अभीष्ट उत्तर की आशा लिये उनके मुखकमल की ओर उत्कण्ठा पूर्वक देखने लगा।

धार्य वज्र ने सहज शान्त स्वर में कहा - “श्रेष्ठिन् ! तुम अत्यधिक सरल और बड़े भोले हो, जो स्वयं संसार के बंधनों में बंधे रहने के कारण, भव-प्रपञ्च से बहुत दूर जो लोग हैं, उन्हें भी बांधना चाहते हो। जिस प्रकार कोई मुधामुग्ध व्यक्ति धूलि के ढेर के बदले में रत्नों की राशि, तृण के बदले में कल्पवृक्ष, कौए के बदले में हंस, भील की भौंपड़ी के बदले में देवविमान और क्षारयुक्त जल के बदले में अमृत के ऋय करने का मूर्खतापूर्ण व्यर्थ प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने इस तुच्छ कुधन द्वारा मुझे गरलोपम विषयभोगों का रसास्वादन कराने के बदले में परमात्मपद-प्रदायी मेरा तप-संयम मुझ से छीनना चाहते हो। क्षणिक विषय-सुख घोर दुखानुबन्धी और अनन्तकाल तक विकट भवाटवी में भटकाने वाले हैं। शाश्वत शिवसुख की तुलना में संसार का समस्त धन बालुकण तुल्य है। यदि तुम्हारी यह पुत्री अन्तर्मन से वस्तुतः अनुरक्त हो मेरे शरीर की छाया के समान मेरा अनुसरण करना चाहती है तो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य रूप मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए महाव्रतों को अंगीकार कर शाश्वत सुखप्रदायी श्रेयस्कर साधनापथ पर अग्रसर हो आत्मकल्याण में निरत हो जाय।”

जिस प्रकार गले से नीचे उतरते ही अमृतकण घातक से घातक विष के प्रभाव को नष्ट कर देता है, ठीक उसी प्रकार शाश्वत सुख और सुखाभास का वास्तविक बोध कराने वाले धार्य वज्र के हितकर वचनों को सुनते ही कुमारी रुक्मिणी के मन, मस्तिष्क और नेत्रों पर छाया हुआ मोह का नशा तत्क्षण उतर गया। उसने अनुभव किया कि उसके अन्तर में प्रकाश की एक किरण प्रकट हुई है, जो शनः शनः तेज होती हुई उसके हृदय में व्याप्त निबिडतम अंधकार को उजाले के रूप में परिवर्तित कर रही है। उसे लगा, जैसे उसकी आंखों पर पड़ा आवरण दूर हो गया है और उसके परिणामस्वरूप उसे समस्त दृश्यमान जगत् बदला हुआ सा, परिवर्तित स्वरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। उसे समस्त एहिक सुख-विषय-कषाय आदि विष तुल्य हेय प्रतीत होने लगे। कुछ ही क्षणों पहले

१ प्रभावक चरित्र, श्लोक संख्या १३६

उसका जो मन आर्य वज्र को प्राप्त कर सांसारिक भोगोपभोगों के लिये भाकुल-व्याकुल हो रहा था, अब वही मन आर्य वज्र को अपना योग-मार्ग का धाराध्यदेव बनाकर कष्टकाकीर्ण साधनापथ पर तत्काल अग्रसर होने के लिये व्यग्र हो उठा।

रुक्मिणी ने आर्य वज्र के समक्ष शिर झुका अञ्जलिबद्ध हो प्रार्थना की—  
“भेरे धाराध्य गुरुदेव ! आपने मेरे अन्तर के नेत्र उन्मीलित कर दिये हैं। मुझे आपने धर्ममार्ग पर प्रवृत्त कर नया जन्म दिया अतः आप मेरे धर्म-पिता हैं। अपनी धर्म-पुत्री के गुरुतर सब अपराधों को क्षमा कर अपने संघ की शरण में लीजिये। मैं प्रव्रजित होना चाहती हूँ।”

इस प्रकार के अभ्रुत-पूर्व अद्भुत हृदय-परिवर्तन और अपूर्व त्याग के समाचार विद्युत्वेग से तत्क्षण समस्त पाटलीपुत्र में फैल गये। जिसने सुना, उसी का शिर रुक्मिणी के प्रति श्रद्धा से सहसा झुक गया। रुक्मिणी ने आर्य वज्र की आज्ञानुवर्तिनी साध्वीमुख्या के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर जीवनपर्यंत विशुद्ध संयम का पालन कर भवाटवी में भटकाने वाले कर्मभार को हल्का किया। आर्या रुक्मिणी का अनुपम त्यागपूर्ण जीवन साधक-साधिकाओं के लिये बड़ा प्रेरणादायक रहा है और भावी सहस्राब्दियों तक प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

### महासती धारिणी<sup>१</sup>

(वीर नि०सं० २४-६० के लगभग)

साध्वी धारिणी का जीवन चरित्र जैन इतिहास में वस्तुतः आदर्श नारी का प्रतीक माना जाकर सदा स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता रहेगा। श्रमणी धर्म में दीक्षित होने से पूर्व अपने सतीत्व को रक्षा हेतु अतुल ऐश्वर्य और अपनी संतति तक का मोह त्याग कर तथा श्रमणी धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् दो राज्यों के युद्ध में संभावित भीषण नरसंहार को रोक कर महासती धारिणी ने संसार के समक्ष जो दो उच्चकोटि के आदर्श प्रस्तुत किये, उनसे आर्य सत्तारियां अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती हुई सदा प्रेरणाएं लेती रहेंगी।

धारिणी अश्वन्ती-राज्य के अश्वीश्वर महाराजा पालक के छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन की पत्नी (चण्डप्रद्योत की पौत्रवधु) थी। अश्वन्तीश पालक ने वीर नि० सं० २० में अपने बड़े पुत्र अश्वन्तीवर्धन को अश्वन्ती का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे कर आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।<sup>२</sup> अश्वन्तीवर्धन अपने छोटे भाई युवराज राष्ट्रवर्धन के परामर्श से राज-काज का संचालन करने लगा। युवराज्ञी धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया। शिशु का नाम अश्वन्तीसेन रखा गया। धारिणी अपने पति के साथ अश्वन्ती राज्य के ऐश्वर्य एवं विविध एहिक सुखों का उपभोग करती हुई अपना समय व्यतीत कर रही थी।

<sup>१</sup> महासती धारिणी का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ७७८ पर आर्या यक्षा से पूर्व दिया जाना चाहिए था पर असावधानी से यह भूल रह गई।

<sup>२</sup> आवश्यक चरित्र, भाग २, पृ० १८६

एक दिन भवन्तीवर्द्धन ने राजप्रासाद के उद्यान में क्रीड़ा करती हुई धारिणी को देखा। वह उस पर आसक्त हो गया। अपनी विश्वस्ता दासी के माध्यम से उसने अपने भाई की पत्नी के पास अपना निन्द्य प्रस्ताव पहुंचाया। धारिणी ने भर्त्सना भरे शब्दों में अपने ज्येष्ठ के कामुकतापूर्ण कुत्सित प्रस्ताव को ठुकराते हुए दासी के माध्यम से उसे कहलवाया कि उनके अनुज के अतिरिक्त संसार के समस्त पुहवर्ग को वह पिता, भाई एवं पुत्र तुल्य समझती है।

भवन्तीवर्द्धन पर धारिणी की फटकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह धारिणी को पाने के लिये, जल से स्थल पर पटकी हुई मछली के समान छटपटाने लगा। धारिणी को पाने का और कोई उपाय न देख उस कामान्ध भवन्तीवर्द्धन ने अपने सहोदर राष्ट्रवर्द्धन की बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से हत्या करवा दी। गुर्विणी (गर्भिणी) धारिणी को काल की उस कराल करवट ने कुछ समय के लिये किकर्त्तव्यविमूढ़ बना दिया। उसे अपने चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होने लगा। अपने सतीत्व पर आने वाले संकट की कल्पना मात्र से वह सिंहर उठी। उसका पुत्र भवन्तीसेन उस समय एक अशोष बालक था। उसे कहीं कोई सहारा दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। उसे समस्त सांसारिक कार्यकलाप विडम्बनापूर्ण प्रतीत होने लगे। उस अति विकट संकटापन्न स्थिति में भी, जबकि उसके चारों ओर घोर निराशा के बादल मंडरा रहे थे, धारिणी ने धैर्य नहीं त्यागा। उसने अपने सतीत्व की रक्षा का दृढ़ संकल्प किया। अपने और अपने पति के कतिप्रय बहुमूल्य आभूषणों को एक गठरी में लपेट कर राजप्रासाद का सदा के लिये परित्याग करने हेतु वह उद्यत हुई। प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए अपने पुत्र भवन्तीसेन की ओर ममता भरी दृष्टि का निक्षेप कर उसने एक बार ऊपर अनन्त आकाश की ओर एक क्षण के लिये देखा और वह प्रच्छन्न वेष में राजप्रासाद से बाहर निकली। जिस ओर ढग पड़े उसी ओर बढ़ती हुई धारिणी नगर के बाहर पहुँची। उसे स्वयं को भी पता नहीं था कि अन्ततोगत्वा उसे कहां पहुंचना है, वह दिग्विमूढ़ की तरह निरन्तर आगे की ओर बढ़ती रही। उसने मुड़ कर देखा-भवन्ती, भवन्ती के गगनचुम्बी राजप्रासाद, भव्य भवन, मृदालिकाएं—सब क्षितिज के उस छोर में धुप गये हैं। उसने संतोष की एक दीर्घ सांस ली और वह पुनः अपने लक्ष्य-विहीन पथ पर अग्रसर हुई। विकट वन्य प्रदेशों को पार करती हुई धारिणी रात भर चलती रही। सूर्योदय हो चुका था, वह थक कर जूर हो चुकी थी तथापि वह अदम्य साहस की पुतली सी बनी, बिना एक क्षण भी विश्राम किये आगे की ओर बढ़ती रही। एक टेकरी को चढ़ाई को पूरा करने के पश्चात् ढलान की ओर बढ़ते हुए उसने देखा कि एक सार्थ रात्रि के विश्राम के अनन्तर अपना पड़ाव उठा कर आगे बढ़ने को उद्यत हो रहा है। धारिणी के अन्तर्मान में आशा और संतोष की एक लहर उठी। वह तीव्र गति से सार्थ की ओर बढ़ी और

उसके साथ धारिणी ने आगे की ओर प्रस्थान किया। साथ में सम्मिलित महिलाओं के साथ वह घुलमिल गई। कतिपय दिनों की यात्रा के पश्चात् साथ के साथ-साथ धारिणी कौशाम्बी नगर पहुँची।

कौशाम्बी के महाराजा की यानशाला में ठहरी हुई स्थविरा श्रमणियों के दर्शन और उपदेश-श्रवण से धारिणी को अद्भुत शान्ति की अनुभूति हुई। सांसारिक प्रपंचों से दूर, केवल आध्यात्मिक चिंतन में लीन उन जैन साध्वियों का शान्त-दान्त जीवन धारिणी को बड़ा सुखकर लगा। राष्ट्रवर्द्धन की हस्या, कामान्ध भवन्तीवर्द्धन द्वारा संभावित संकट और पुत्रवियोग के कारण धारिणी का हृदय भीषण भट्टों की तरह जल रहा था। उसको ज्वालाएँ उसके तन, मन, रोम-रोम को भस्मसात् किये जा रही थीं। साध्वियों के सान्निध्य में धारिणी को अनुभव होने लगा कि उसके अन्तर की आग शनैः-शनैः शीतल होती चली जा रही है, उसके तन-मन की जलन मिटती जा रही है। उसके अंतर में आशा की नयी किरण उदित हुई। उसके मन में विश्वास जमने लगा कि इन श्रमणियों की सेवा में रह कर वह सदा सर्वदा के लिये भवताप को भी समाप्त करने में सिद्धकाम हो सकती है। उसने श्रमणी-धर्म में प्रवृजित होने का दृढ़ निश्चय किया। उसने सोचा— “यदि संघाटक-मुख्या साध्वी को उसके गर्भिणी होने की बात विदित हो गई तो निश्चित रूप से वे उसे श्रमणी-धर्म की दीक्षा प्रदान नहीं करेंगी।” अब उसका वैराग्य अपनी चरम सीमा पार कर चुका था, अब उसे दीक्षित होने में एक-एक क्षण का विलम्ब भी असह्य हो रहा था। अतः धारिणी ने इस रहस्य को प्रकट नहीं किया और श्रमणी-मुख्या के पास पंच महावत रूप श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। साध्वी धारिणी अपने बीते दिनों की याद भुला कर अर्हनिश साध्वियों की सेवा, ज्ञानार्जन और आत्मचिन्तन में तल्लीन रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिन्हों को देख कर संघाटक-मुख्या स्थविरा ने धारिणी से वस्तुस्थिति के बारे में पूछा। धारिणी ने अपना पूरा परिचय देते हुए अपने साथ घटी आद्योपान्त सारी घटना यथातथ्य रूप से गुरुणीजी को सुना दी।

केवलिकाल के, आर्य जम्बू के प्रकरण में प्रद्योत राजवंश का परिचय देते समय प्रस्तुत पुस्तक में यह बताया जा चुका है कि गर्भकाल पूर्ण होने पर धारिणी ने पुत्र को जन्म दिया और रात्रि में उसने नवजात शिशु को उसके पिता के आभूषणों के साथ कौशाम्बी नरेश के राजप्रासाद के प्रांगण में रख दिया। बालक ने रुदन किया। कौशाम्बी नरेश स्वयं अपने शयनकक्ष से नीचे उतर कर आया और प्रांगण में रखे बालक और उसके पास पड़ी गठरी को उठा कर शयनकक्ष में लौट गया। बाड़ में खड़ी धारिणी ने जब देखा कि शिशु उपयुक्त स्थान पर पहुँच गया है तो वह उपाश्रय की ओर लौट गई। वह अपनी गुरुणीजी के निर्देशानुसार प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि कर पुनः तप-संयम की साधना में तल्लीन हो गई। कौशाम्बी के महाराजा के कोई संतान नहीं थी अतः राजदम्पति ने उस बालक

को अपना पुत्र घोषित कर उसका लालन-पालन एवं शिक्षण-दीक्षा किया। उन्होंने अपने (दत्तक) पुत्र का नाम मण्डप्रभ रखा।

भाई की हत्या करवाने पर भी जब अवन्तीवर्द्धन को धारिणी नहीं मिली तो उसका सम्मोह दूर हुआ। अपने अति निकृष्ट दुष्कृत्य पर उसे आन्तरिक पश्चात्ताप हुआ। अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य-सिंहासन पर आसीन कर अनुमानतः वीर नि० सं० २४ में अवन्तीवर्द्धन ने श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

कौशाम्बीपति अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् मण्डप्रभ कौशाम्बी के राज-सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी का बड़ा पुत्र अवन्तीसेन अवन्ती का और छोटा पुत्र मण्डप्रभ कौशाम्बी का शासन करने लगा। कौशाम्बी और अवन्ती के राजवंश में चण्डप्रद्योत के समय से ही परस्पर शत्रुता चली आ रही थी। अवन्तीसेन ने भी किसी छोटे-बड़े कारण को लेकर कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से युद्ध की पूरी तैयारियां हो चुकी थीं, भीषण नरसंहार प्रारम्भ होने ही वाला था, उस समय अहिंसा की प्रतिमूर्ति साध्वी धारिणी ने मण्डप्रभ और अवन्तीसेन के पास जाकर उन्हें बताया कि वे दोनों एक दूसरे के सहोदर हैं, मण्डप्रभ छोटा और अवन्तीसेन बड़ा। वस्तुस्थिति का बोध होते ही दोनों भाई बड़े प्रेम से मिलकर एक दूसरे को आनन्दाश्रुओं से सिंचित करने लगे। साध्वी धारिणी द्वारा किये गये बीच-बचाव के फलस्वरूप भीषण नरमेघ होते होते बच गया।

### महत्तरा विजयवती और साध्वी विगतभया

(वीर नि० सं० ४४ के लगभग)

आवश्यक चूर्ण में महत्तरा विजयवती की शिष्या विगतभया का उल्लेख आता है।<sup>१</sup> जिस समय अवन्तीसेन ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उससे थोड़े समय पहले साध्वी विगतभया द्वारा कौशाम्बी में अनशन किये जाने का विवरण आवश्यक चूर्ण में किया गया है। चूर्ण में यह भी बताया गया है कि साध्वी विगतभया द्वारा संलेषणा पूर्वक अनशन किये जाने के अवसर पर कौशाम्बी के श्रावक-श्राविका संघ ने अनेक दिनों तक महोत्सव का आयोजन कर उनके प्रति अपूर्व सम्मान प्रकट किया। इस उल्लेख के अतिरिक्त चूर्ण में महत्तरा का और उनकी शिष्या का और कोई परिचय नहीं दिया है। पालक ने वीर नि० सं० २० में दीक्षा ली, उसके लगभग ४ वर्ष पश्चात् अवन्तीवर्द्धन और धारिणी ने दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार वीर नि० सं० २४-२५ में धारिणी ने मण्डप्रभ को जन्म दिया। जिस समय अवन्तीसेन ने मण्डप्रभ के साथ युद्ध करने के लिये कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उस समय मण्डप्रभ की वय कम से कम २० वर्ष तो अवश्य होनी चाहिये। इस हिसाब से अवन्तीसेन द्वारा कौशाम्बी पर आक्रमण किये

<sup>१</sup> आवश्यक चूर्ण, भाग २, पृ० १६१



जाने की घटना का काल अनुमानतः वीर नि० सं० ४४-४५ के आसपास ठहरता है। इस आक्रमण से कुछ समय पूर्व साध्वी विगतभया द्वारा अनशन किये जाने का उल्लेख आवश्यक चूर्ण में है। इससे यह सिद्ध होता है कि महत्तरा विजयवती वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में साध्वियों के किसी छोटे ग्रथवा बड़े संघाटक की प्रमुखा थीं।

### अज्ञातनामा साध्वी मुरुण्ड-राजकुमारी

(वीर की पांचवी छठी शती)

जिस प्रकार भगवान् महावीर के श्रीचरणों में कोटिवर्ष के—उस समय विदेशी समझे जाने वाले—चिलातराज के श्रमण-धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है, उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल में भी एक विदेशी महिला के श्रमणीधर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

विशेषावश्यक भाष्य एवं निशीथ चूर्ण के उल्लेखानुसार मुरुण्डराज (विदेशी शक शासक) के समक्ष उसकी विधवा बहिन ने प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। मुरुण्डराज ने अपनी बहिन को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान करने से पूर्व यह परीक्षा करना चाहा कि कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें दीक्षित होकर उसकी बहिन सच्चे अर्थों में अपनी आत्मा का उद्धार कर सके। बहुत सोच-विचार के पश्चात् इस प्रकार की परीक्षा लेने का एक उपाय उसे सूझा। उसने अपनी हस्तिशाला के एक कुशल हस्तिवाहक (महावत) को आदेश दिया कि वह हस्तिशाला के सबसे विशालकाय हाथी पर आरूढ़ हो राजपथ पर राजप्रासाद के समीपस्थ चतुष्पथ पर खड़ा हो जाय। जब भी जिस किसी धर्म की कोई साध्वी उस पथ पर उसे दृष्टिगोचर हो तो उसकी ओर हाथी को तीव्र वेग से हांकते हुए बड़े कर्कश स्वर में कठोर चेतावनी दे कि वह सब वस्त्रों को तत्काल डालकर निर्वसना हो जाय, अन्यथा मदोन्मत्त हाथी उसे अपने पांवों से कुचल डालेगा।

मुरुण्डराज ने राजप्रासाद के गवाक्ष से देखा कि हस्तिवाहक उसके आदेश का अक्षरशः पालन कर रहा है और उस पथ पर आने-जाने वाली साध्वियां भीमकाय गजराज को अपनी ओर अतिवेग से बढ़ते देख, घबड़ा कर, हस्तिवाहक की कड़ी चेतावनी के अनुसार अपने सभी वस्त्र एक ओर फेंक आशाम्बरा हो जाती हैं। यह देखकर मुरुण्डराज को बड़ी निराशा हुई। वह चिन्तित हो सोचने लगा कि उसकी स्नेहमयी सहोदरा कृतसंकल्पा है प्रव्रजित होने के लिये पर इन काषाय, पीत, गेरुक, श्वेत आदि विभिन्न रंग के परिवेश को धारण करने वाली विभिन्न मतमतान्तरों की परिव्राजिकाओं में एक भी ऐसी समर्थ साध्वी प्रतीत नहीं होती, जिसके पास प्रव्रजित हो वह अपना इहलोक और परलोक सुधार सके।

उपर्युक्त विचारों में डूबे हुए मुरुण्डराज के कर्णरन्ध्रों में पुनः हाथी की विघाड़ के साथ हस्तिवाहक का कर्कश स्वर गूँज उठा। मुरुण्डराज ने कुछ उन्मने,

१ जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४५०-४५१

कुछ उत्सुकता भरे भाव से चतुष्पथ पर दृष्टिपात किया। वह सहसा एक भटके के साथ उठ खड़ा हुआ। वह गवाक्ष में झुक कर सांस को जहाँ की तहाँ रोके बड़ी उत्सुकता के साथ चतुष्पथ की ओर देखने लगा। यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि कालोपम हस्तिराज चिंघाड़ता हुआ एक श्वेताम्बरा कृषकाय-साध्वी की ओर बड़े वेग से बढ़ा जा रहा है। हस्तिवाहक द्वारा बिजली की कड़क के समान अति कठोर स्वर में पुनः पुनः दुहराई गई चेतावनी समस्त वातावरण को विभ्रत बनाती हुई गगन में गुंजरित हो रही है पर वह साध्वी शान्त मुखमुद्रा धारण किये सहजगति से अपने गन्तव्य की ओर, जिस ओर से कि हाथी उस पर भ्रमटा आ रहा है, उसी ओर निडर हो बढ़ती जा रही है। उसकी ओर बढ़ता हुआ हाथी जब उससे थोड़ी ही दूर पर रह गया तो साध्वी ने अपनी मुखवस्त्रिका हाथी की ओर डाली। हाथी सहसा रुका, मुखवस्त्रिका को सूंड में पकड़ इधर-उधर करते हुए देखा और उसे एक ओर डालकर पुनः द्रुतगति से साध्वी की ओर बढ़ने का उपक्रम करने लगा। निरन्तर अति तीव्र स्वर में चीख-चीख कर चेतावनी देने के कारण अब हस्तिवाहक के कण्ठ से फटे बांस की फटकार के समान स्वर निकल रहे थे। हाथी पुनः चिंघाड़ कर आगे बढ़ा। सहजशान्त-निर्भय मुद्रा में खड़ी साध्वी ने अपना रजोहरण हाथी की ओर गिराया। वह बढ़ने से पुनः रुका। उसने रजोहरण की डंडी को अपनी सूंड में पकड़ कर कुछ क्षणों तक चामर की तरह इधर-उधर हवा में घुमाया-फेरा और फिर एक ओर फेंक दिया। इसी प्रकार वह साध्वी एक-एक करके अपने पात्रादि अन्य धर्मोपकरणों को हाथी की ओर डालती रही और वह उन्हें थोड़ी-थोड़ी देर इधर-उधर करके देखता और अन्त में एक ओर फेंकता रहा। अब साध्वी के पास एक वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ भी बचा न रहा। हाथी पुनः आगे बढ़ा। एक वसन में लिपटी दुबली-पतली साध्वी द्रुतगति से कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होती हुई बड़े धैर्य के साथ स्वयं को बचाती रही। चतुष्पथ पर एकत्रित विशाल जनसमूह तपोपूता साध्वी के अद्भुत बुद्धिकौशल और अनुपम धैर्य एवं साहस को देख कर स्तब्ध रह गया। उपस्थित जन-समूह के धैर्य का पात्र किनारे तक भर चुका था, सब्र का प्याला लबरेज हो चुका था। अब धैर्य प्रतिकार के रूप में वह निकला। क्रुद्ध जन-समूह ने हस्तिवाहक को ललकारा। सहस्रों कण्ठों से क्रोध-आक्रोश भरा यह निर्घोष सहसा गुंज उठा—“बन्द करो इस दुष्टता को। अब यदि हाथी ने एक डग भी आगे बढ़ा दिया तो न तुम्हारी कुशल है, न हाथी की ही। क्रुद्ध भीड़ के कोलाहल से हाथी और महावत दोनों ही किकसंव्यविमूढ़ हो चुके थे। हस्तिवाहक ने मुरुण्डराज की ओर दृष्टि घुमाई, उसे कुछ संकेत मिला। मुरुण्डराज का संकेत पाते ही हस्तिवाहक ने एक विचित्र ध्वनि करते हुए हाथी के स्कन्ध भाग पर अंकुश का प्रहार किया। एक चिंघाड़ के साथ हाथी मुड़ा और अपनी लम्बी पूंछ, सूंड और कानों को फटकारता हुआ हस्तिशाला की ओर भाग खड़ा हुआ।

१ बहलकल्प भाष्य, भा. ४, पृ. ११२३

मुरुण्ड राज ने अपनी बहिन से कहा - "सहोदरे ! इस अगाध धैर्य-शालिनी सर्वसहा, समर्था साध्वी के पास तुम प्रव्रजित हो सकती हो। वस्तुतः इस साध्वी का धर्म श्रेष्ठ और सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म है।"<sup>१</sup>

अपने भाई की अनुमति प्राप्त होते ही मुरुण्ड-राजकुमारी ने उस तपोपूता, कृषकाया जैन-साध्वी के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उनसे विधिवत् श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। सहस्रों शिर उस अतुल आत्मबलशालिनी तपोकृपा अज्ञातनामा साध्वी और उनकी सद्यः दीक्षिता शिष्या मुरुण्ड कुमारी के चरणों में झुक गये। सहस्रों कण्ठों से उद्घोषित जयघोषों द्वारा सर्वसम्मानिता वे दोनों साध्वियाँ - गुरुणी और शिष्या जन-जन के मन में श्रद्धा का अजस्र स्रोत प्रस्फुटित करती हुई उपाश्रय में पहुँचीं।

साहस, सहनशीलता, शान्ति एवं साधना की प्रतिभूति उन गुरुणीजी और उनकी शिष्या साध्वी मुरुण्डराज कुमारी का नाम लम्बे अतीत की अनेक परतों के नीचे छुपा होने के कारण आज भले ही पुस्तकों, पत्रों, पत्रों एवं अभिलेखों में अंकित न हो पर उनके यत्किञ्चित् इतिवृत्त को पढ़ते ही उनका अति सौम्य-अति शान्त चित्र प्रत्येक श्रद्धालु साधक के हृदय में अंकित हो, उसे साधनापथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता रहता है।

### साध्वी रुद्रसोमा

(वीर की छठी शती)

यदि किसी परिवार में धर्म के प्रति आन्तरिक एवं अनन्य निष्ठा रखने वाला एक भी सदस्य हो तो वह सम्पूर्ण कुटुम्ब का सही अर्थ में उद्धार कर देता है - तिरा देता है। साध्वी बनने से पूर्व का रुद्रसोमा का गार्हस्थ्य जीवन इस तथ्य का एक आदर्श प्रतीक माना जाता है।

रुद्रसोमा दशपुर के वेदवित् विद्वान् सोमदेव की पत्नी थी। सोमदेव दशपुर के महाराजा के राजपुरोहित थे। उनका राजपरिवार, राजसभा, समाज और समस्त प्रजावर्ग में बड़ा सम्मान था। रुद्रसोमा जैन धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाली श्रद्धालु श्राविका थी।

राजपुरोहित-पत्नी रुद्रसोमा ने वीर नि. सं. ५२२ में एक महान् भाग्यशाली पुत्र आर्य रक्षित को जन्म दिया। आगे चल कर आर्य रक्षित जैन धर्म का परमोद्योत करने वाले महान् प्रभावक युग-प्रधानाचार्य हुए। रुद्रसोमा के दूसरे पुत्र का नाम फल्गुरक्षित था।

राजपुरोहित सोमदेव ने शिक्षा योग्य वय में बालक रक्षित की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को उच्च शिक्षा दिलाने हेतु पाटलिपुत्र भेजा। पाटलिपुत्र में अनेक

<sup>१</sup> "एस धम्मो सबन्नु दिट्ठो" - वृहत्कल्प भाष्य, भाग ४, पृ. ११२३

वर्षों तक विद्याभ्यास करते हुए कुशाग्र बुद्धि रक्षित ने छहों ग्रंथों सहित वेदों का अध्ययन किया। सभी विद्याओं में पारंगत होने के पश्चात् वीर नि. सं. ५४४ में जब रक्षित पाटलिपुत्र से दशपुर पहुँचा तो राजा और प्रजा ने भव्य समारोह के साथ नगर-प्रवेश करा उसे सम्मानित किया।

जिस समय हर्षोल्लास में भरा रक्षित अपनी मां के पदवन्दन हेतु घर में पहुँचा, उस समय रुद्रसोमा सामायिक ग्रहण किये आत्म चिन्तन में तल्लीन थी। रक्षित अपनी मां के चरणों में निडाल हो जाना चाहता था पर उसे सामायिक में देख उसने दूर से ही उसके चरणों में भावविभोर हो प्रणाम किया। उसे आशा थी कि उसकी मां उसे देखते ही हर्ष गद्गद् हो अपनी गोद में समेट कर उसकी सहस्रों बलैयाँ लेगी। जिस प्रकार दशपुरपति, दशपुर की प्रजा, पिता और पारिवारिक जनों ने उस पर स्मित एवं हर्ष विभोर मुखमुद्रा तथा मधुर वचनों के माध्यम से अपार स्नेह और सम्मान का सागर उस पर उंडेल दिया, उसी प्रकार मां भी उसे देखते ही अवश्यमेव उससे बढ़कर संसार के समस्त मातृवात्सल्य को उस पर उंडेल कर उच्च अध्ययन में किये गये अथक श्रम की थकान को दूर कर देगी। पर उसे यह सब कुछ मां की ओर से नहीं मिला। मां तो केवल एक बार स्नेहभरी दृष्टि डाल कर पुनः अपने नित्य-नियम में तल्लीन हो गई। वह मां के सम्मुख विचारमग्न मुद्रा में बैठ गया। उसके मन में प्रश्न उठा—“क्या मां रुष्ट है ?” दूसरे ही क्षण अन्तर्मन ने उत्तर दिया—“नहीं। मां कभी रुष्ट नहीं होती। मां तो स्नेह और ममता की प्रतिमूर्ति है जिसके नेत्रों से, रोम-रोम से स्नेह की सरिताएं निरन्तर बहती रहती हैं।”

रक्षित ने देखा कि उसकी मां ने सामायिक का पारण कर लिया है। वह आगे बढ़ा और मां के चरणों से लिपटते हुए उन पर अपना मस्तक रख दिया। मां का स्नेहिल वरद हस्त रक्षित के मस्तक, भाल, कपोल, ग्रीवा और पृष्ठ भाग को सहलाता रहा और रक्षित मां के चरणों से अपना मस्तक चिपकाये चुपचाप लेटा रहा। कई क्षणों तक यही स्थिति रही। रक्षित ने मौन भंग करते हुए हृद्ये कण्ठ-स्वर में कहा—“मेरी मां ! सफलतापूर्वक उच्च अध्ययन कर लींटे हुए तेरे लाड़ले लाल का आज दशपुराधीश और दशपुर की प्रजा ने अपनी आंखों की पलकें बिछा स्वागत-सम्मान किया। मां ! अपने पुत्र की इस सफलता और अपूर्व सम्मान पर जिस प्रकार की प्रसन्नता तुम्हें होनी चाहिये, वह मैं तुम्हारे मुख पर नहीं देख रहा हूँ। सच-सच कहो मां ! यह कहीं मेरा दृष्टिदोष तो नहीं है ?”

रुद्रसोमा ने शान्त स्वर में कहा—“वत्स ! भला संसार में ऐसी कौन प्रभायिन मां होगी जो अपने पुत्र की सफलता पर प्रसन्न न हो। तुम्हारी सफलता पर सब को प्रसन्नता है पर तुम जिस विद्या में निष्णात होकर आये हो, उस विद्या का फल सांसारिक सुखोपभोग प्रदान करने और अपना स्वयं का तथा अपने परिजनों का भरण-पोषण करने तक ही सीमित है। स्व-पर-कल्याण

अथवा आध्यात्मिक अभ्युत्थान में वह विद्या किंचित्मात्र भी सहायक नहीं। पुत्र ! सच कहती है, मुझे वास्तविक खुशी तो तब होती जबकि तुम अध्यात्म-विद्या से मोतःप्रोत दृष्टिवाद का अध्ययन कर आते। अपनी और अपने आश्रितों की उदरपूर्ति तो पशुपक्षि तक भी कर लेते हैं। मेरे जीवन की एकमात्र यही साध थी, आन्तरिक अभिलाषा थी कि मेरा पुत्र दृष्टिवाद का अध्ययन कर अध्यात्मविद्या में निष्णात हो अध्यात्म-मार्ग का सफल पथिक और कुशल पथ-प्रदर्शक बने।”

माँ के हृदय के गहन तल से प्रकट हुए अमोघ उद्गार पुत्र के हृदयपटल पर सदा-सदा के लिये अंकित हो गये। उसने हृद स्वर में कहा—“माँ ! मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरी अच्छी माँ ! तुमने मेरी अंतर की आँखें खोल दी हैं। मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करके ही तुम्हारी सेवा में पुनः लौटूँगा। पर माँ ! यह तो बताओ कि मुझे दृष्टिवाद की शिक्षा कहाँ मिलेगी ?”

“नगर के बाहर अपनी इक्षुवाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान हैं, उनकी सेवा में चले जाओ। सब व्यवस्था हो जायगी।” माँ ने कहा।

दिवस का अवसान होने ही वाला था अतः वह रात्रि तो रक्षित ने मन मसोस कर जिस किसी तरह घर पर बिताई। प्रातःकाल होते ही रक्षित माँ की चरणरज भाल पर लगा दृष्टिवाद के अध्ययन की उमंग लिये अपनी इक्षुवाटिका में विराजमान आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचा।

“निर्ग्रन्थ श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण करने पर ही दृष्टिवाद का अध्ययन कराया जा सकता है, अन्यथा नहीं” — आचार्य तोषलिपुत्र से अपनी प्रार्थना का यह उत्तर सुनकर रक्षित ने तत्काल बिना किसी हिचक के आर्य तोषलिपुत्र के पास श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर ली।

आर्य रक्षित ने आचार्य तोषलिपुत्र के पास एकादशांगी का गहन अध्ययन करने के पश्चात् किस प्रकार आर्य वज्र की सेवा में पहुँच कर साढ़े नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया, किस प्रकार माता-पिता द्वारा स्वयं (आर्य रक्षित) को लिवा ले जाने के लिये आये हुए अपने अनुज फल्गुरक्षित को श्रमण धर्म में प्रवृजित किया, यह सब आर्य रक्षित के प्रकरण में बताया जा चुका है। आर्य रक्षित साढ़े नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर पुनः अपने गुरु आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचे। गुरु ने साढ़े नव पूर्व के ज्ञान से सम्पन्न अपने शिष्य को सर्वथा योग्य समझ कर उन्हें गणाचार्य पद प्रदान किया और तदनन्तर वे समाधि संलेषणा पूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आर्य रक्षित पूर्व में फल्गुरक्षित के माध्यम से किये गये माता रुद्र सोमा के अनुरोध और अनेक दीक्षाधियों के हित को दृष्टिगत रखते हुए दशपुर पहुँचे।

रुद्रसोमा ने और रुद्रसोमा द्वारा निर्मित प्रेरणाप्रद भूमिका के फलस्वरूप राजपुरोहित सोमदेव तथा उनके परिवार के अनेक मुमुक्षुओं ने आचार्य रक्षित के पास पंचमहाव्रत स्वरूप अणुगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण की ।

आर्या रुद्रसोमा ने कठोर तपश्चरण करते हुए अनेक वर्षों तक विशुद्ध संयम की साधना की । आर्या रुद्रसोमा के दोनों ही जीवन, गार्हस्थ्य जीवन और साध्वी-जीवन, मानवमात्र के लिये बड़े प्रेरणादायक हैं । वंश-विस्तार और अपने वंश की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने अर्थात् वंश का नाम स्थायी रखने की लोकरूढ़ बात का स्व-पर-कल्याण की तुलना में रुद्रसोमा के समक्ष कोई महत्व नहीं था । वह मानव-जीवन की सफलता, वंश-विस्तार में नहीं अपितु स्व-पर-कल्याण में मानती थी । प्रारम्भिक जीवन से ही जैन धर्म में प्रगाढ़ आस्था रखने वाली हृदय सम्यक्त्वधारिणी रुद्रसोमा की यह सुनिश्चित धारणा थी कि जो मानव अध्यात्म-विद्या का अध्ययन कर साधना-पथ पर स्वयं अग्रसर होता हुआ और अन्य लोगों को साधनापथ पर अग्रसर करता हुआ जन-जीवन में आध्यात्मिक चेतना के जागरण से जितना अधिक स्व तथा पर के कल्याण में निरत रहता है, वस्तुतः वह उतना ही अधिक अपने मानव-जीवन को सफल बनाता है । कितने उच्चकोटि के विचार थे रुद्रसोमा के ? उसने अपने इन विचारों को अपने जीवन में अक्षरशः डाला । उसके वंश का नाम आगे चलेगा अथवा नहीं, इस बात की किञ्चित्मात्र भी चिन्ता न करते हुए उसने अपने दोनों पुत्रों में उच्चकोटि के संस्कार डाल कर उन्हें आध्यात्मिक साधनापथ के पथिक और पथप्रदर्शक बनने तथा अपना एवं औरों का कल्याण करने की प्रेरणा दी । रुद्रसोमा की प्रेरणा का ही प्रतिफल था कि बालक रक्षित आगे चलकर युगप्रधानाचार्य आर्य रक्षित बना । आर्य रक्षित ने जन-जन के मन में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर स्व-पर का कल्याण एवं जिनशासन की सेवा करने में जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, उसका मूलतः श्रेय रुद्रसोमा को ही है ।

यद्यपि सोमदेव और रुद्रसोमा की संतति, वंश-परम्परा आर्य रक्षित एवं फल्गुरक्षित के दीक्षित हो जाने के कारण आगे नहीं चली किन्तु जैन इतिहास में अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता के रूप में आर्य रक्षित के नाम के साथ-साथ पुरोहित सोमदेव और मुख्यतः रुद्रसोमा का नाम अमर हो गया । रुद्रसोमा के समय से लेकर आज तक एक तरह से असंख्य महिलाएं हुई हैं, जिनकी संतति—वंशपरम्परा चली । उनमें से आज का मानव-समाज किसी का नाम नहीं जानता परन्तु लगभग दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज तक श्रद्धालुओं एवं साधकों द्वारा बड़ी श्रद्धा के साथ रुद्रसोमा का नाम स्मरण किया जाता रहा है और भविष्य में भी सहस्रों शताब्दियों तक भक्ति के साथ स्मरण किया जाता रहेगा । प्रातः स्मरणीया रुद्रसोमा के उदात्त एवं अनुकरणीय जीवन से आज का मानवसमाज, मुख्यतः महिला-समाज यदि थोड़ी बहुत भी प्रेरणा ले तो भौतिकता की प्रचण्ड भट्टी में जलते हुए आज के मानवसमाज को राहत देने वाली, शान्ति पहुँचाने वाली

महान् आत्माएं समय-समय पर समाज में उभर कर मानवता को सच्चे सुख की ओर अग्रसर कर सकती हैं ।

### साध्वी ईश्वरी

(वीर की छठी शती का अंतिम दशक)

संसार वस्तुतः दुःखों का अथाह सागर है, जिसका कोई ओर है न छोर । एक भी ऐसा मानव नहीं; जिसे जीवन में दुःखों ने नहीं घेरा हो, संकटों ने नहीं सताया हो । गर्भ-काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक मानव छोटे-बड़े किसी न किसी प्रकार के दुःखों से घिरा ही रहता है । दारुण दुःख की घड़ियां बीत जाने पर मानव दुःख के दिनों को भूल कर पुनः मृगमरीचिका तुल्य सुख की खोज में दौड़ लगाता है, पुनः दुःख आ घेरते हैं, कुछ समय पश्चात् फिर उन्हें भूल जाता है । प्रत्येक मानव के जीवन में यही क्रम प्रायः मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है । लाखों में से विरला ही कोई मानव ऐसा होता है, जो अपने ऊपर आये हुए दुःख से शिक्षा ग्रहण कर सदा-सर्वदा के लिये दुःख से छुटकारा पाने का सही और सच्चा प्रयास करता है ।

साधिका ईश्वरी की गणना उन विरलों की श्रेणी में शीर्ष स्थान पर की जा सकती है ।

भीषण दुष्कालजन्य अन्नाभाव की बीभत्स संकटापन्न स्थिति में भूख से तड़प-तड़प कर मरने के स्थान पर सोपारक नगर के ईम्य (अतुल सम्पदाशाली) जिनदत्त और उसकी पत्नी ईश्वरी ने अपने चार पुत्रों और पूरे परिवार सहित विषमिश्रित भोजन कर स्वेच्छा-मृत्यु का वरण करने का निश्चय किया । एक लाख मुद्राएं व्यय करने पर भो जिनदत्त अपने परिवार के अन्तिम (विषमिश्रित) भोजन के लिये बड़ी कठिनाई से केवल दो अंजलिभर अन्न जुटा पाये । ईम्य-पत्नी ईश्वरी ने उस अन्न को पीसकर अपने परिवार के लिये भोजन बनाया । उस भोजन में विष मिलाने के लिये ज्योंही ईश्वरी ने सद्यःप्राणहारी कालकूट की पुड़िया खोली, त्योंही युगप्रधानाचार्य वज्रसेन ने वहां पदार्पण किया । आसन्न-मृत्यु के विकट क्षणों में मुनिदर्शन को अपना परम पुण्योदय मान ईश्वरी ने हर्ष-गद्गद् हो मुनि को भक्ति सहित भावपूर्ण त्रिधा वन्दन किया ।

श्रेष्ठपत्नी के हाथ में कालकूट विष देख आर्य वज्रसेन ने कारण पूछा । श्रेष्ठपत्नी के मुख से वास्तविक स्थिति से अवगत होते ही आचार्य वज्रसेन को अपने गुरु द्वारा की गई उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया, जिसमें आर्य वज्रसेन को बताया गया था कि जिस दिन तुम लक्षपाक अर्थात् १ लाख मुद्राओं के मूल्य के भोजन में गृहस्वामिनी को विष मिलाने हुए देखो उसी क्षण समझ लेना कि दूसरे दिन दुष्कालजन्य अन्नाभाव की दुःखावह स्थिति सुनिश्चित रूप से समाप्त हो जायगी ।

आचार्य वज्रसेन ने ईश्वरी से कहा — “श्राविके ! भोजन में विष मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं । कल यहाँ प्रचुर मात्रा में अन्न उपलब्ध हो जायगा ।”

मुनिवचनों की अमोघता में अनन्य आस्थावती ईश्वरी ने विष की पुड़िया समेट कर उसे विनष्ट करने हेतु एक ओर रख दिया । ईश्वरी द्वारा अति करुण स्वर में बार-बार हादिक अनुरोध किये जाने पर आर्य वज्रसेन ने दो कवल भोजन उस विशुद्ध आहार में से ग्रहण किया ।

भविष्यदर्शी सत्यवक्ता मुनियों के वचन कभी मोघ नहीं होते । उसी रात्रि में अन्न से लदे जहाज सोपारकपुर के बन्दर पर पहुँचे । सूर्योदय होते ही नागरिकों को यथेप्सित मात्रा में अन्न उपलब्ध होने लगा । प्राणहारी भीषण संकट के टलते ही सबने सुख की सांस ली । सबका कार्यकलाप पूर्ववत् चलने लगा । जैसे उन पर कभी कोई संकट आया ही न हो ।

सूर्य की प्रचण्ड किरणों के संसर्ग से मरुभूमि की बालुराशि में उत्पन्न हुई दिगन्त व्यापिनी चमक में जलाशय की भ्रान्त कल्पना कर प्यासा मृग जिस तरह जल के लिये अनवरत दौड़ लगाता रहता है, ठीक उसी प्रकार लोगों में सर्वत्र सुखाभास की ओर ताबड़तोड़ दौड़ में होड़ लग रही थी ।

श्रेष्ठि जिनदत्त के घर पर भी अन्न पहुँचा । सबने भूख की ज्वाला को शान्त किया । श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने बीते प्राणापहारी संकट की विभीषिका पर विचार करते हुए अपने पति और चारों पुत्रों को सम्बोधित कर कहा :— “यदि महामुनि वज्रसेन कुछ ही क्षण विलम्ब से आते तो हम सब लोग असंयतावस्था में, अत्रतावस्था में ही अकालमृत्यु द्वारा अस्त हो अघोगति के आगी बनते । जीवन और मृत्यु के सन्धिकाल के अन्तिम क्षण में मुक्ति के देवता के रूप में मुनि उपस्थित हुए और उन्होंने हम सबको कराल काल के गाल में जाने से बचा लिया । मुनिराज ने ही हमें जीवन-दान दिया है । विषय-कषाय के प्रचण्ड झोंकों से निरन्तर जाज्वल्यमान् इस जन्म, जरा, मृत्यु रूपी दुःखदावानल में बारम्बार जलने के स्थान पर तो हम सबके लिये यह परम श्रेयस्कर होगा कि हम लोग आचार्य वज्रसेन के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप और संयम की अग्नि में अपने कर्मन्धन को जला सदा के लिये इस दारुण दुःख-दावानल से बचने का प्रयास करें ।”

ईश्वरी के इस अति सुखद सुन्दर सुभाव की सराहना करते हुए जिनदत्त आदि सभी ने संसार से विरक्त हो प्रव्रजित होने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

ईम्य जिनदत्त, ईभ्यपत्नी ईश्वरी तथा उनके नागेन्द्र, चन्द्र, निर्बुद्धि एवं विद्याधर—इन चारों पुत्रों ने अपार वैभव और समस्त सांसारिक भोगों को ठुकरा कर आचार्य वज्रसेन के पास सर्वविरति स्वरूप अणुगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली । ईश्वरी ने उस संकटकाल से शिक्षा ग्रहण की ओर उसके चिन्तन की सही दिशा ने उस भीषण संकट के अभिशाप को भी स्वयं के लिये तथा अपने परिवार के लिये वरदान के रूप में बदल दिया । किसी शायर की —



“शमा महफिल देख ले, यह घर का घर परवाना है।” यह उक्ति ईश्वरी के परिवार पर अक्षरशः घटित होती है। घर का घर प्रसजित हो जीवन भर अध्यात्म-ज्योति का परभोपासक बना रहा।

ग्राज जो चन्द्र गच्छ, नागेन्द्र कुल, निर्वृत्ति कुल और विद्याधर कुल ये चार गच्छ अथवा कुल श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध हैं, वे उन महामहिमामयी साधिका ईश्वरी के महान् प्रभावक पुत्रों के नाम पर ही प्रचलित हुए थे।

साध्वी ईश्वरी का जीवन वस्तुतः साधक एवं साधिकाओं के लिये बड़ा ही-प्रेरणाप्रदायी है। वह मानव मात्र को निरन्तर यही प्रेरणा देता रहता है कि—ओ मानव ! दुःख की थपेड़ खा कर सम्हल जा, उसी क्षण से ऐसे प्रयास में जुट जा, जिससे तुझे फिर कभी दुःख का दिन देखना ही न पड़े।

महती प्रभाविका साध्वी ईश्वरी के पश्चात् देवद्वि-क्षमाश्रमण के काल तक साध्वियों का परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहां नहीं दिया जा रहा है।

### उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीर निः सं. १ से लेकर १००० तक का जैन धर्म का इतिहास दिया गया है जिसमें १००० वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों, प्रमुख साधु-साध्वियों, महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं, राजवंशों, राज्य परिवर्तनों आदि का यथाशक्य प्रामाणिक विवरण देने का प्रयास किया गया है। वीर निः सं. १००० के पश्चाद्वर्ती काल का इतिहास आगे के भागों में दिया जायगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



# परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमिका
२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची



## १. शब्दानुक्रमणिका

### (क) तीर्थंकर, आचार्य मुनि, राजा, श्रावकादि

(अ)

अंगभूषण - ४२  
 अंगारकारक - २१८  
 अंजु श्री - १६५  
 अंतहुंडी देवी - १७०  
 अंतिकिनी राजा - ४३६  
 अतियोक राजा - ४३६  
 अकपित - ६, २४, २७, ३२, ५८, १२७  
 अकलंक देव - ७१, १३१, १५४  
 अग्निकुमार - १३४  
 अग्निदत्त - ३८०  
 अग्निभूति - ७, ६, १३, २४, २७, ४०, ४३, ५३, ५८, ६०, १२५, १२६  
 अग्निमित्र - १५१, ४६०, ४६२, ४६७, ४६८  
 अचल - ७५२  
 अचल भ्राता - ६, २४, २७, ३२, ५८, १२७  
 अचलराम - १२७  
 अच्युत - ६६०  
 अच्युत नन्दी - ६६१  
 अजय सेना - ७७७  
 अजात शत्रु - २४६, २५०, ६५४, २५५, २७४, २७५  
 अजितनाथ - १२४, १२७  
 अजितसेन - २८१, २८२,  
 अजीतसिंह - ६४५  
 अनिमुक्तकुमार - १५४  
 अनंगसेना - ५४०  
 अनंतदेवी - ६६६  
 अनंतनाथ - १२६  
 अनाधृतदेव - २०१, २०५, २०६, २२१, २२२, २२७,

अनु - ४८८  
 अनुकृद - २७४,  
 अन्निका - २५७, २५८  
 अन्निकापुत्र - २५७, २५८, २५६, २६०, २६१, २६२  
 अपराजित - १८४, २६१, ३१५, ३२३, ३५८, ५८६, ६१७, ७३०, ७३१, ७३६, ७४६  
 अशुभहसन - ६७०  
 अभंगसेन चोर - १६५  
 अभयचन्द्रदेव - ७५३  
 अभयदेव सूरि - ७५, ६३, ६४, ६५, १०१, १०७, १२०, १२६, १३०, १३१, १४२, १५७, १५८, १७०  
 अभयभद्र - ७३२  
 अभयसार आचार्य - १६६  
 अभिनव पंडित - ७५३  
 अभिनव श्रुतमुनि - ७५३  
 अभीचिकुमार - १३३  
 अमित सेन - ७४२, ७५०  
 अमित्र घात - ४४८  
 अमित्र चेटम - ४४८  
 अमोघ वर्य - ६७०  
 अमृतचन्द्र - ७१७, ७५८, ७५६, ७६७  
 अम्बड परिक्राजक - १३३  
 अरणाक श्रावक - १४६  
 अरनाथ - ५०६  
 अरिदमन - ६७६  
 अरिदकर्म - ६०४  
 अरिष्टनेमि - १२५, ६६७, ७७०  
 अरिष्टोबुधम - ४२०  
 अर्जुनमात्री - १५४

प्रजुनायन - ६३८, ६६१  
 प्रहृदत् - ४७७, ५३६, ७१०, ७३७, ७३८,  
 ७३९, ७४१  
 प्रहृदास - ६७, २२७, २३४, २३६, २३८,  
 २३९, २४२, २४३, २४६  
 प्रहृद्बलि - ६१३, ६१४, ७०२, ७०३,  
 ७१०, ७११, ७२३, ७२४, ७२६,  
 ७२७, ७२८, ७२९, ७३७, ७३८,  
 ७३९, ७४१, ७४२, ७४४, ७४७,  
 ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३,  
 ७५४, ७५६, ७६३, ७६४  
 प्रलदेकनी - ५५०, ६०४  
 प्रतिकमुन्दर - ४४०  
 प्रलेकजेण्डर - ४१९, ४३६, ४३७, ४४०  
 प्रवन्ति मुकुमाल - ४६०, ४६१, ४६२,  
 ४६३  
 प्रवन्तीवर्धन - २७९, २८०, २८१, ७८८,  
 ७८९  
 प्रवन्ती सेन - २८०, २८१, २८२, २८३,  
 २८४, २८५, २८६, ७८७, ७८८  
 प्रवमुक्त - ६६०  
 प्रबिनीत - ७६८  
 प्रणोक - २६४, ३४५, ४३९, ४४०, ४४८,  
 ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५५,  
 ४५७, ४५८, ४५९, ४७९, ४८०,  
 ४८१, ४८५, ४९१, ५०३, ५०६,  
 ५४१, ५४७, ६३५, ६५८, ६५९  
 प्रणोकवर्धन - ४८१  
 प्रणवधोव - ६३५  
 प्रणवमित्र - ४६५, ४६६, ४६७  
 प्रणवसेन - २५४, २५६  
 प्रणवनीकुमार - ५४०  
 प्रणुरकुमार - १३४  
 प्रणोक केवली - १३३  
 प्रणिल्वा - १६०  
 (घा)  
 घांटीला - ६९४  
 घांभी - ५०२  
 घाजेय - २७४

घाद्वय - ४६३  
 घादिनाथ - ६९७  
 घादिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये - २३२, ७१६,  
 ७१७, ७२१, ७२३, ७२६, ७५८,  
 ७५९, ७६१, ७६३, ७६८  
 घानन्द श्रावक - १५०, १५२, ७७१, ७७२  
 घानन्दिल - ४७२  
 घाजंभमुनि - १८०, १८८, १९१  
 घाद्रकुमार ११३  
 घाशाधर - ६१०  
 घाषाढाचार्य - ४१५, ४१६  
 घासिल - १११  
 इत्सिय - ६४७  
 इन्दुमति - ५८४  
 इन्द्रदिग्न - ४७३, ४७७, ५०६  
 इन्द्रनदी - ७०८, ७०९, ७१०, ७१४,  
 ७२३, ७२४, ७२५, ७२७, ७३१,  
 ७३२, ७३३, ७३७, ७३८, ७३९,  
 ७४०, ७४१, ७४२, ७४८, ७५२,  
 ७५४, ७५५, ७५६, ७६३  
 इन्द्रभूतिगीतम - ३, ५, ६, ७, ८, ९, १०,  
 ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७,  
 २१, २२, २३, २४, २६, २७, २८,  
 २९, ३०, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६,  
 ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४३, ४४,  
 ४५, ४८, ५०, ५३, ६०, ६१, ६२,  
 ६३, ६५, ६८, ६९, ७०, ११३,  
 १२७, १२९, १३१, १३३, २२७,  
 २२८, २३०, २३२, ३१५, ४९६,  
 ५८५, ७३२, ७३३, ७३४, ७४९,  
 ७७०  
 इला - ४८७  
 इसिभद्र पुत्र - १३३  
 (ङ)  
 ईश्वरी - ६२०, ७९७, ७९८, ७९९  
 (च)  
 उग्रसेन - १४५, ६६०  
 उज्ज्वलकुमार - १६४  
 उज्जुमई - ३२४

उत्तर - ४६३

उत्तरा - ६१०

उत्तानपाद - ४८८

उत्पलकुमार - २७६

उत्पला - १३३

उदधिकुमार - १३४

उदयगिरी - ६७१

उदयन - १३३, २६७, २७४,

उदायी - २५०, २५४, २५६, २६३, २६४,

२६५, २६६, २७३, २७५, २७६,

२७७, २७८, ३७७, ३८३, ५०३,

उदयवर्द्धन - ३८०

उदयाश्व - २५०, २६४

उदायी हस्ती - १३४

उद्योतन सूरि - ७१२, ७१३

उपकोला - ३६५

उपनंदन भद्र - ३२४

उपरिचर वसु - ४८८

उमरदत्त - १६५

उमास्वाति - ४७५, ४८३, ४८४, ७५३

उमास्वामी - ७५६

उसभदात - ६३७

(क)

ऊहड़ - ३७६

(ख)

ऋषभ - १२४

ऋषभदत्त - १३३, २००, २०१, २०२,

२०३, २०४, २०५, २०६, २०७,

२०८, २११, २१३, २१४, २१५,

२१६, २२१, २२५, २३४, २६३

ऋषभदेव - १, ५, ३०, १२६, १२७, १२८,

१७१, ५०५, ५६६, ६४५, ६८६,

७६६

ऋषभसेन - ३०, ३१

ऋषिगुप्त - ४६५

ऋषिदत्त - ४७७

(ए)

ए०के० मन्मदर - २५१

एणा - ३८६

एलाचार्य - ७६१

(ऐ)

ऐदिगोनस - ४३६

ऐटियोकस - ४३६, ४४८

ऐल - ४८७

(ओ)

ओनेसिक्रिटस - ४२०

(औ)

और्व - २५२

(क)

कचना - १६०

कंस - ६६५, ७३०, ७३२, ७३७

कंसार्य - १८५

करावाय - ७३०, ७४६

कञ्जुल्ल नारद - १४७

कनकवती - २०६, ७७७

कनकश्री - २०६, २३६, ७७७

कनकसेना - २०६, ७७७

कनिष्क - ६३४, ६३५, ६३६, ६३७

कपदियक्ष - ६७७

कपिल - १३६, २६८

कपिल ब्राह्मण - २६६

कमलभाल - ७७७

कमलमाला - २०६

कमलावती - २०६, ७७७

कलावती - ६७६

कल्प - ३६०, ७८१

कल्पक - ३८३

कल्पाक - २६६, २७०, २७१, २७२, २७३

कल्याण विजय - २३१, ४६६, ६१६,

६२२, ६२३, ६२४, ६७८, ६८२

कान्तिभागर - ४२६, ५०७, ६१३

काकवर्ण - २५५, २७६

कामदात - ६३७  
 काचगुप्त - ६५८  
 कात्यायन - ५२६  
 कामदेव - १५०  
 कामार्धमणी - ४६४  
 कामलंता - २४३, २४६  
 कार्टियस - ४३७  
 कार्तिक - १३४  
 कार्तिकेय - ६६८, ६६४  
 कालक - १७६, ४७४, ५१०, ५११, ५१२,  
 ५१३, ५१५, ५१७, ५१८, ५२१,  
 ५२२, ५२३, ५४१, ६७६, ६८१,  
 ६६२, ६६३  
 कालकाचार्य - १७६, ३६६, ३८१, ४७३,  
 ४६४, ४६५, ४६६, ५१०, ५११,  
 ५१४, ५१७, ५१६, ५२१, ५२३,  
 ५२६, ५४१, ५४६, ५८७, ६०६,  
 ६०७, ६६२, ६६३, ७१८, ७८२  
 कालीदास - ६२६  
 काली रानी - १५४  
 किदार - ६३६  
 किन्नरी - १६०  
 कुन्धुनाथ - १२५, १२७, ५०६  
 कुजुल केडफाइसिस - ६३०, ६३४  
 कुणाल - ३४५, ४५५, ४५८, ४८१, ४८२  
 कुण्डकौलिक - १५०, १५१  
 कुण्डरीक - १४८, १४६  
 कुदकुद - ६२७, ७४२, ७४५, ७५२, ७५३,  
 ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८,  
 ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३,  
 ७६४, ७६५, ७६७, ७६८  
 कुबेर - २०२, २६३, ६६०  
 कुबेरदत्त - २०६, ३००, ३०१, ३०२,  
 ३०३, ३०४  
 कुबेरदत्ता - ३००, ३०१, ३०२, ३०३,  
 ३०४  
 कुबेरमित्र - ३५३,

कुबेरसेन - २०६  
 कुबेरसेना - ३००, ३०१, ३०३  
 कुमारगिरि - ६५१, ७८०  
 कुमारगुप्त - ५४३, ६७२, ६७३, ६६३,  
 ६६५, ६६६, ६६८, ६६६  
 कुमारदेवी - ६५७, ६५८, ६६६  
 कुमारधर्म - ६८२  
 कुमारनन्द - ७६०  
 कुमारपाल - ४३६  
 कुमारभुक्ति - ४८१  
 कुमाराभात्य - ६४८, ६६०  
 कुमुदचन्द - ५२५  
 कुम्भ - ७५२  
 कुम्भरयक्ष - १७०  
 कुशाग्रपुर - २४६  
 कुषाणा - ६०७, ६३०  
 कृष्णिक - १३३, १३८, २२२, २२४, २२५,  
 २२७, २३०, २३७, २४६, २५०,  
 २५४, २५५, २५६, २६४, २७४,  
 २७५, २७६, ४८३, ५४७  
 कृतिकाय - ३५८  
 कृष्ण (राजा) - १४५, १४७, १५३,  
 ४६७, ५००, ५३६, ५५८, ६०४,  
 ६०५, ६०६, ६६५  
 के. पी. जायसवाल - ४५०, ४७८, ४८४,  
 ४८६, ४६१, ४६२  
 के० पी० पाठक - ७६५, ७६६  
 केशी - १३३, २५६  
 केसरी - ४३  
 कोट्टीवीर - ६१०  
 कोटिभ्र - ११६, ४६३, ४६५, ६१०  
 कोण्डकुन्दान्वय - ७६८  
 कोशा - ३८३, ३६३, ३६५, ३६८, ३६६,  
 ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४,  
 ४११, ४१२  
 केण्डल - ४२६  
 क्लियोफिस - ४२२



क्षत्रिय - १८४, ५८६, ७३१, ७३६, ७४६  
 क्षत्रीजा - २५४, २५५  
 क्षह्यार्थ - ५०१  
 क्षुद्रक - ४१६  
 क्षेमकीर्ति सूरी - ३६२  
 क्षेमधर्मा - २७६  
 क्षेमराज - ४५०  
 क्षेमवर्मा - २५४, २५५  
 क्षेमेन्द्र - ५४७

(क)

खन्तमुनि - १६३, १६४, ५६४  
 खपुट - ५२६, ५३०, ५३१, ५५५  
 खसाराजा - ६६८, ६६९  
 खारवेल - ४७८, ४७९, ४८३, ४८४, ४८६,  
 ४९०, ४९३, ७८०  
 खेमराजा - ४८६

(ग)

गंग - ४६७, ४६८, ७३२  
 गंगदेव - १३४, ४६७, ५८६, ७३०, ७४६,  
 गंगा - ६५८  
 गगनगति - २३७  
 गजसुकुमाल - १५३  
 गजाधर - ७५७, ७६८  
 गणपति - ६६१, ६४०  
 गन्धहस्ती - ६५१  
 गरुड - ५६१  
 गर्दभिन् - ५४७  
 गर्दभिल्ल - ५११, ५१२, ५१३, ५१५,  
 ५१६, ५१७, ५३२, ५४०, ५४१,  
 ५४४, ५४६, ६०६, ७८२, ७८३  
 गांगिला - ३०८  
 गागेयभंग - १३३  
 गागी - ४६६  
 गुणचन्द्रगणिया - ३१  
 गुणचन्द्रभट्टार - ७६८  
 गुणज्ञा - २१०  
 गुणधराचार्य - ५५३, ७२४

गुणपाल - १६०, २०४, २१५, २२२, २२८,  
 २३१  
 गुणभद्र - २२७, २३२, २३८, ५८६, ७५३  
 गुण सुन्दर - ३८१, ४६४, ४७३, ४७६,  
 ४६३  
 गुणाकर - ४६४, ४६४, ५११, ६४६  
 गुणाद्वय - ५४७,  
 गुप्तऋषि - ७४०, ७४१, ७४८, ७५०  
 गुप्तिगुप्त - ३५७, ७५४  
 गुलाबचन्द - ७५५, ७६८  
 गैथेर - ४३६  
 गौडाफरनीज - ६२६, ६०६  
 गोदास - ११६, ३८०, ४४४  
 गोनाटस - ४३६  
 गोपाल - २७६, ४६५, ४७७  
 गोमतीपुत्र - ६३०  
 गोमुखयक्ष - ६७७  
 गोवर्धन - १८४, २६१, ३१५, ३२५, ३४१,  
 ३४७, ३४८, ३४९, ३५८, ५८६,  
 ७३०, ७३१, ७३६, ७४६  
 गोविन्द - ३७५, ४७२, ६६३, ६६४, ७६५,  
 ७६६  
 गोशालक - ११३, १३१, १३३, १३४,  
 १३८, १४०, १५१, १७२  
 गोष्ठाभाहिल - ५६७, ५६८, ५६९, ६००,  
 ६०१, ६०२  
 गीतम - १८, १६, ३१, ३३, १०८, १३०,  
 १३२, १३३, १४०, १४२, १५२,  
 १५३, १७०, २३२, २३३, २३८,  
 २४६, २८०, ३३०, ३५८, ७२५,  
 ७२७, ७२८, ७२९, ७३१, ७३२,  
 ७४१, ७५६, ७६२, ७७३  
 गीतमी - ६०४, ६०७, ६४३, ७७०, ७७१,  
 ७७२

(घ)

घटोत्कच - ६५६, ६६८, ६६९, ६४७,  
 ६४८

घनसुन्दर - ४६४  
घासीलाल - ६१  
घृतपुष्पमित्र - ५६५, ५६६  
घोष - ४६८

(ख)

चकोर - ६०४  
चक्रवर्ती - ७६१  
चक्रेश्वरी देवी - ६७७  
चण्णकेश्वरी - ४२३  
चण्णी - ४२३  
चण्डप्रद्योत - ५, २६५, २७६, २८०, २८१,  
२८६, ५४७, ७८७, ७६०  
चण्डमहासेन - ५४३  
चण्डमारि - २४७  
चण्डसेन - ६६७  
चन्दनबाला - ७७०, ७७२, ७७४, ७७५,  
७७७  
चन्दना - ७७६  
चन्द्र (मुनि) - ५६८, ६२०, ६२१, ६२२,  
६२७, ६३२  
चन्द्र (राजा) - ६७१, ६७२, ७६८  
चन्द्रगुप्त - ३४२, ४१६, ४२१, ४२२,  
४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९,  
४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४,  
४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९,  
४४०, ४४६, ४४७, ४४८, ४४०,  
४५१, ४५२, ४५३, ४८०, ४८१,  
४८२, ५०३, ५०४, ५४७, ५४८,  
६०७, ६३०, ६४१, ६४२, ६४३,  
७४७, ६४६, ६५७, ६५८, ६५९,  
६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९,  
६७०, ६७१, ६७२, ६७४, ६६७,  
६६८, ६६९, ७५६  
चन्द्रगुप्ति - ३४५, ३४६, ३४७, ३४९,  
३५१, ३५२, ३५३, ३५५, ३५६,  
४५२  
चन्द्रबुल - २३७

चन्द्रप्रकाश - ६५६  
चन्द्रलेखा - ६१२  
चन्द्रवर्मा - ६६१  
चन्द्रविद्यक - ६८६  
चन्द्रश्री - ६०४  
चन्द्रसूरी - ६३२  
चरजनाम - ६३६, ६४०  
चष्टन - ६०६  
चाणक्य - ३४५, ४२२, ४२३, ४२४,  
४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९,  
४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५,  
४३८, ४३९, ४४७, ४४८, ४४९,  
४८२  
चामरी - ४१, ४३  
चारणमुनि - १३४  
चारुकीर्ति - ६४५, ७५३  
चिलातराज - ७६१  
चिलातीपुत्र - ६६४  
चुलसिम्मतक - १५०  
चुलसोपिता श्रावक - १५०  
चुल्लवर्ग - ७७०, ७७२  
चेटक - १३८, २५०, २५३, २८६, ४८४,  
४८७, ४८८, ५४७  
चेल्ना - १५५  
चेल्नी - २२७  
चोखा - १४६  
(ख)  
छाज्जीबलिकाय - १०४  
छागलिक कसाई - १६५  
(ख)  
जम्बूक देव - ५७८  
जबसदिष्णा - ३२४  
जबसामिष्णा - ३२४  
जन्मेजय - ५६७  
जमालि - ११६, १३३, ७७६

जन्म - ३, ५७, ६६, ६७, ७०, ७२, १३०,  
 १७७, १८५, १८७, १८८, २००,  
 २०२, २०६, २०७, २०८, २०९,  
 २१०, २११, २१२, २१३, २१५,  
 २१५, २१६, २१८, २१९, २२०,  
 २२१, २२२, २२३, २२५, २२५,  
 २२६, २२७, २२८, २२९, २३०,  
 २३१, २३२, २३३, २३५, २३५,  
 २३६, २३७, २३८, २३९, २४०,  
 २४१, २४२, २४३, २४५, २४५,  
 २४६, २४७, २६७, २८१, २९२,  
 २९३, २९५, २९५, २९७, २९८,  
 २९९, ३००, ३०५, ३०५, ३०६,  
 ३०७, ३१०, ३११, ३१२, ३१५,  
 ३१५, ३१६, ३२५, ३५८, ३७८,  
 ४७१, ४७२, ४७३, ५८५, ६१०,  
 ६८१, ६८२, ६८३, ७२९, ७३०,  
 ७३१, ७३६, ७५९, ७७५, ७७७,  
 ७७८, ७८९

जय - १८२, ३५८, ५८६, ७३०, ७३१,  
 ७५९

जयदेव - ६५७

जयदेव सूरि - ६५६

जयन्त - ५८२

जयन्ती - १३३

जयपाल - १८५, ७३०, ७३२, ७३७

जयबाहु - ७३२

जय श्री - २०६, ४१८, ७७७

जयसिंह - २५७, २५८, २५९, ६८१

जयसेन - ७१७, ७३६, ७४०, ७५७, ७५८,  
 ७५९, ७६०, ७६५, ७६५, ७६७

जयसेना - २०६

जहंम बिनतोई - ५४८

जवाहरलाल - ११०, १७६

जसभद्र - ३२५

जसभद्र - ३२८

जसमित्र - २०३, २०५

जस्टिन - ४२१, ४२९, ४३०, ४३७

कासीकुमार - १५५

जितलक्ष्म - १५६, २७५, ३३५,

जिनकल्प - ६०८, ६१२, ७८१

जिनचन्द्र - ३३९, ३४०, ६११, ६१२, ७५८,  
 ७५५

जिनदत्त - ६२०, ६२१, ६२७, ६३१, ७९७

जिनदास - २०१, २४७, २७३, ३५१, ४४३,  
 ५३५, ६५५, ६५६, ६८०, ६८२,  
 ६८५

जिनदासी - २३९

जिनपति - ६२७

जिनपालित - १५६, ७११, ७६२, ७६३,  
 ७६५, ७६५, ७६८

जिनभद्रगणी - ६०८

जिनभती - ६७, २३५, २३६, २४२, २४३,  
 २४५, २४५,

जिन रसित - १५६

जिन बल्लभ - ६२७

जिनविजय - ५१, ५१५, ७१२

जिन सुन्दर - ४८०

जिन सैन - ७०३, ७२९, ७३५, ७४०,  
 ७५१, ७५२, ७५२, ७५३, ७५६,  
 ७६२

जिनेन्द्रबुद्धि - ७५३

जिनेन्द्र बर्णी - ६३३, ७२८, ७३९, ७६३

जिनेश्वर - ६२७, ७१२

जीत - ५०८,

जीत कल्प - ६८९

जीवितस्वामी - ४५३, ४५४

जेहिल - ४७५

जुगल किशोर मुस्तार - ७२७, ७३९, ७५६,  
 ७६१

ज्यूस - ५०१

(ट)

टुडि - ४२१

(ड)

डाइमैकस - ४४८

द्विषोडोरस - ४२७  
द्विमिदियस - ४८४, ४९०, ४९७, ४९८,  
४९९, ५१७, ६२८, ६९६

द्विमित - ४९०

द्विषोडोरस - ४२२

डेरियस - ५०१

(इ)

डंकगिरी - ५५८

डंक प्रजापति - ७७६

(त)

तत्तापरिय - ७१३

तापसमुनि - ५८२

तामली तापस - १३२

तारा - १६०

तिष्यमुत्त - ५९, ५४१

तीसभद्र - ३२४

तुरमय - ४३९

तोरणाकार्य - ७६६, ७६७

तोरमाण - ६९६

तोलेमाहयस - ४३९

तोसलिपुत्र - ३६५, ५७९, ५९०, ५९१,  
५९२, ५९४, ७९५

त्रयनाग - ६३९, ६४०, ६४१, ६४२

त्रिपुटी महाराज - २८६, ६२५

त्रिपृष्ठ बासुदेव - ४०, १२७

त्रियाण्डिसस - ४२०

त्रैरासिक - ४६३

त्रेलीक्यासिह - ३७९

(घ)

थावच्चापुत्र - १४५

थियोस - ४३९

(ड)

दक्ष - ४७४,

दत्तदेवी - ६९९

दधिवाहन - ७७५

दर्शक - २५४, २६४, २७४

दशरथ - ४८१

दाक्षिण्य चिन्ह - ७१२, ७१३

दाण्डेकर - ६१९

दामोदर प्रबरसेन - ६४७

दामोदर सेन - ६४३, ६६६

दिल - ४७३, ५०९, ५३६

दिवाकरसेन - ६४३, ६६६

दिशाकुमार - १३४

दीहभद्र - ३२४

दुःप्रसह - १८०, १८२, १८३

दुर्गाप्रसादशास्त्री - ५४७

दुर्गलिका (पुष्यमित्र) - ३६४, ३७०, ४७३,

५८७, ५९५, ५९६, ५९९, ६००

६०१, ६०२, ६०३, ६२०, ६३०

दुर्मति पुरुष - १५१

दुर्लभदेव - ६२७

दुष्यगणी - ४७२, ६७४, ६७५, ६७६,

३७७, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३

६८४, ६८५

दृढधर्मा - १९८, १९९

देब - १८५, ३५८, ४७५, ७३६

देवकी - ६९५

देवकोट्ट - ३४१

देवदत्त - २५७, २५८

देवनन्दी - ७१, ७६४

देवनाग - ६४०

देवपाल - ५२६

देवभूति - ४९८

देवार्द्रि - ११७, १३९, १४०, १७१, १७९,

४७१, ४७२, ५५०, ५५२, ६४४,

६५३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७,

६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२,

६८३, ६८५, ६८६, ६८७, ६९०,

६९२

देवधि - ५२९

देवधर्मा - ४७९

देववाचक - ५०८, ५८९, ५९३, ६८०,

६८१

देवशर्म - ५३६, ५३७  
 देवशर्म - ३६, ३७  
 देवसेन - ३३७, ३४०, ३४१, ३४४, ६११,  
 ६१४, ६१६, ६४४  
 देवानन्द - १३३, ६४६,  
 देवीचन्द्रगुप्तम् - ६६७, ६६८, ६६९  
 देवेन्द्रसूरि - ६८१  
 देसीगणी - ६७५, ६८२,  
 द्रमक - ४५८  
 द्रुमसेन - ७३२  
 द्वीपदी - १४७, १६०  
 द्वीपकविह - ४७२, ५८६, ६३१, ६४६,  
 ६४८, ६६३  
 द्वीपकुमार - १३४  
 द्वीपायन - १११

(घ)

घनंजय - ६६०  
 घन (श्रेष्ठी) - ५७६, ५७७, ७८४  
 घनगिरि - ४७४, ५३६, ५६६, ५६७, ५६८,  
 ५६९, ५७०, ५७१  
 घनगुप्त - ४६७  
 घनद - २०२  
 घनदेव - २७८, ४१४, ४१५, ६४५  
 घननन्द - ३७७, ३७८, ४१८, ४३१, ४३२,  
 ४३३, ४३४, ४३८  
 घनपतिसिंह - ६१, ६३, १७६, १७७, ४६५  
 घनपाल - ५३६, ५६६, ५६७, ७५२  
 घनाढ्य - ४६३  
 घनेश्वर - ६३४  
 घ ११ - १४४  
 घन्ना (सार्थबाह) - १४५, १४५  
 घम्भिल्ल - ४६, ५१, ५२  
 घरसेन - ६१४, ७०२, ७०३, ७०७, ७०८,  
 ७०९, ७१०, ७११, ७१५, ७२३,  
 ७२६, ७२७, ७२८, ७३७, ७३८,  
 ७३९, ७४२, ७४४, ७४७, ७५१,  
 ७५२, ७५४, ७६२, ७६३, ७६८

धर्म - (प्राचार्य) - ३८१, ४७१, ४७२,  
 ४७३, ४७४, ५३५, ५५४, ६४४  
 ६८२, ७३२

धर्मघोष - २८२  
 धर्मचन्द्र - २८, २९, ४०, ४३  
 धर्मदासगणी - ६२४  
 धर्मनाथ - १२५  
 धर्मभद्र - ३२८  
 धर्मयश - २८२, २८५, २८६  
 धर्मवती - ६६, २४१  
 धर्मवर्मन - ६३७  
 धर्मसागर - ३३६, ३६४, ४०७, ६२२  
 धर्मसेन - १८५, ४७५, ५८६, ७००, ७०१,  
 ७२५, ७३०, ७३७, ७४९  
 धर्मादित्य - ५१६  
 धारिणी - १५५, २००, २०२, २०३, २०४,  
 २०५, २०७, २०९, २१४, २२१,  
 २३४, २४४, २८०, २८१, २८२,  
 २८३, २८५, ६३४, ७७५, ७८७,  
 ७८८, ७८९, ७९०

धीमती - ५४०  
 ध्रुवदेवी - ६६७, ६६८, ६७२, ६९९  
 ध्रुवसेन - १८५, ५२०, ६९२, ७३७, ७४९  
 ध्रुवस्वामिनी - ६६८, ६६९  
 धृतिसेन - ६८५  
 धृतिवेणु - ३५८, ५८६, ७३०, ७३१,  
 ७३६, ७४९

(ण)

नंद - २५०, २६७, २६८, २७०, २७१,  
 २७२, २७३, २७५, २७७, ३३३,  
 ३७८, ३७९, ३८३, ३८५, ३८६,  
 ३८७, ३९०, ३९१, ३९३, ३९४,  
 ३९५, ३९६, ४०३, ४११, ४१७,  
 ४१८, ४२५, ४२८, ४३२, ४३७,  
 ४३८, ४३९, ४८१, ५४७, ७७८  
 नंदनभद्र - ३२४  
 नंदमणिकार - १४६

नंदमती - १५४  
 नंदा - १५४, २५५  
 नंदि - ६१४, ७३०, ७३१  
 नंदिनीपिता - १५२  
 नंदि मित्र - १८४, २६१, ३१५, ३२२,  
 ५८६, ७३६, ७५६  
 नन्दिमपिय - ६८२  
 नन्दिल - ५३५, ५५०, ५५१, ५५२, ५५४,  
 ६३१, ६८३, ७५५  
 नन्दिवर्धन - २५०, २५४, २७३, २७४,  
 २७५, २७७, २७८, २७९, ३७७,  
 ३७९, ५०३,  
 नन्दी - १३६, १६६, १८४  
 नन्दीषेला - १६५  
 नक्षत्र (आचार्य) - १८५, ४७४, ४७५,  
 ७३२  
 नभसेना - २०६  
 नभोबाहन - ५१६, ५३२  
 नमिनाथ - १२५, १२८  
 नरसिंह गुप्त - ६६८, ६६९  
 नरेन्द्रसेन - ६४४, ६७३  
 नवनाग - ६३८, ६४०  
 नहुपान - ६०४, ६०७  
 नाग - ३५८, ४६३, ४७४, ७३०, ७४६  
 नाग कुमार - १३४  
 नागदत्त - १८६, ३७३, ५५१, ६६१  
 नागमित्र - ४६३  
 नागसेन - १८५, ४६८, ५८६, ६२८, ६४०,  
 ६६०, ६६१, ७३१, ७३६  
 नागहस्ती - ३१५, ४७२, ४७३, ५३५,  
 ५३५, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५,  
 ५६१, ५८२, ५८६, ५८७, ६३१,  
 ६३२, ६६३, ७२४  
 नाग श्री - १४७  
 नागाजुन - १८२, ४७२, ४७३, ५५८,  
 ५८७, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४,  
 ६५५, ६५६, ६५६, ६६३, ६६४,  
 ६६५, ६७७, ६७९, ६८१, ६८४,  
 ६६३, ७१८, ७१९

नागिला - १८६, १६१, १६२, १६४  
 नागेन्द्र - ३३०, ५५२, ५५६, ५८६, ६२८,  
 ६३१, ६३४, ६३७, ७६८  
 नाथुराम - ६१६, ६१७, ७५५, ७६१  
 नाथनिका - ६०५  
 नारदपुत्र - १३२  
 नाहड - ५१६  
 निष्कांत - ४२०  
 निकानोर - ५१६  
 निवृत्ति (मुनि) - ६२०, ६२२, ७६८  
 नीलराज - ६६०  
 नेमिचन्द्र - २३३, ६१६, ७५३  
 नेमिनाथ - १५३, ३४१  
 नैड्य - ४२१

(घ)

पंडितदेव - ७५३  
 पंडुभट्ट - ३२४  
 पंथक मुनि - १४५,  
 पतंजलि - ४८६, ४९०  
 पत्तलक - ६०४  
 पद्य - ५८२, ५६७,  
 पद्यकुमार - ५५०  
 पद्यदत्त - ५५१  
 पद्यधर - ३४७, ३४८, ३४९  
 पद्यनदी - ७५४, ७६२, ७६४  
 पद्यनाभ - १४७  
 पद्यरथ - १६६, १६७, १६८, ३४१  
 पद्यश्री - २०६, २१६, २१८, २३६, २४३,  
 २४७, ७७७  
 पद्यसेना - २०६, ७७७  
 पद्याश्वती - १५३, १६०, २०६, ६६०, ७७७  
 परशुराम - २७७  
 परण्ड - ५६१  
 परादत्त - ६६७  
 पर्युपासन - ३५७  
 पर्वतक - ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६  
 पलकक - ६६०

वनमयेना - ५८४  
 वांशाल (विहङ्ग) - ५५८  
 वाण्डव - ७३७  
 वाण्डु - १८५, ७३०, ७३२, ७५६  
 वाहली - ७८०, ७८२  
 वाटली वृक्ष - २६२, २६३  
 वाठक (डों) - ७५७, ७६१  
 वादनितासुरि - ३६५, ५५२, ५५५, ५५७,  
 ५५८, ५५९, ५८६, ६५५, ६५४  
 वासक - ५, २७६, २८०, ५३५, ५७८,  
 ५१६, ७८७  
 वासवंताव - १२३, १२६, १५६, २५६,  
 २५६, ५२६, ५५१, ६६७, ७७०  
 वास्यकीर्ति - ६१७  
 वृषव - ६६०  
 वृषरीक - ११२, १५८, १५६  
 वृषुर्वास - ५५५  
 वृष्यवद - ३२५  
 वृष्यरथ - ५७६, ५८०, ५८१  
 वृष्य विजय - १८१, ५५५, ५७३, ६५५  
 ६६५, ६८५, ७१६  
 वृष्यमिक्कु - १७१  
 वृष्यपुत्र - ६६५, ६६८, ६६६  
 वृषीम्वडेन - ६०५  
 वृष्यवात - ६३७  
 वृषीमित्रा - ५८५  
 वृषिम्वक - ५६८  
 वृषुमायी - ६०५  
 वृषुमावि - ६०६  
 वृषुली - १३३  
 वृष्यकुल - २६०, २५६  
 वृष्यकुला - २६०, २६१  
 वृष्यवंत - २३३, ७०१, ७०३, ७०७, ७०८,  
 ७०६, ७११, ७१५, ७२२, ७२६,  
 ७२७, ७२८, ७३५, ७५२, ७५५,  
 ७५७, ७५१, ७५२, ७५३, ७५५,  
 ७६२, ७७५  
 वृष्यमन्दि - ७६६, ७६७

वृष्यवती - २५६  
 वृष्यगिरि - ५७३  
 वृष्यमित्र - १७६, ५७७, ५७८, ५७९,  
 ५८३, ५८५, ५८६, ५८०, ५८१,  
 ५८२, ५८३, ५८६, ५८७, ५८८,  
 ५८९, ५९७, ५९६, ५९५, ६२०,  
 ६२८, ६२९, ६७३, ६७५, ६८५,  
 ६८६  
 वृषी - ७  
 वृषीवेला - ६५१, ६५२, ६५३,  
 ६५५, ६७३  
 वृषीसेन - ६७५  
 वोहली - ५७५, ५८५, ७८१  
 वोसली - १३३  
 वोटिस - १२८, १५७  
 वोट्टसास - ५६२  
 वोम्पीटोमी - ५२६  
 वोरस - ५१७  
 वोनाक - ६५१, ६७८, ६७६  
 वोरव - ५१८  
 व्रतियुद्ध - ५१८  
 व्रतिमाना - ५५६  
 व्रक्षुम्न - १५५  
 व्रक्षोतन - ६३३, ६३५,  
 व्रभव - ५७, १७७, २००, २१५, २१६,  
 २१६, २२२, २२३, २३०, २३५,  
 २५७, २५८, २८६, २६१, २६२,  
 २६५, २६५, २६७, २६८, २६९,  
 ३००, ३०५, ३०६, ३०७, ३१०,  
 ३११, ३१२, ३१३, ३१५, ३१५,  
 ३१६, ३७८, ५७१, ५७२, ५७३,  
 ५८६, ७७८  
 व्रभाचन्द्र - ५२८, ५७२, ५७६, ७६६, ७६७  
 व्रभावक - ६२१  
 व्रभावती - ६५१, ६५३, ६५७, ६६२,  
 ६६६, ६७०  
 व्रभास - ६, २५, २७, ३२, ५८  
 व्रवचनादेवी - १७०

प्रवरसेन - ६४१, ६४२, ६४३, ६४४  
 प्रसन्नचन्द्र - १८८, २००, २०२  
 प्रसेनजित - २४९, २४४, २४५, २७५  
 प्रमलसेन - ३४  
 प्लूटार्क - ४३७, ४३८  
 प्राजुंन - ६६१  
 प्रोटिठल - १८५, ३५८, ५८६, ७३०, ७३६,  
 ७३९, ७४९

(क)

फतेहचंद - ७१४, ७५५  
 फल्गुमित्र - ४७३, ६८२  
 फल्गुरक्षित - ३६५, ५९०, ५९३, ५९६,  
 ५९९, ७९३, ७९५, ७९६  
 फाहियान - ५०४  
 फिलाडेल्फोस - ४३९  
 फिलिप - ४१९, ५०१  
 फुल्ल - ५५५  
 फ्रैंकसिनएजटन - ५४९

(ख)

बंगर - ६३७  
 बनराज - ६२७  
 बरकमारिस - ६६९, ६७०  
 बहिननाग - ६३९, ६४०  
 बलदेव - १५३, ७०४  
 बलभद्र - ४१६, ४१७  
 बलमित्र - ५११, ५१२, ५१३, ५१५, ५१६,  
 ५१७, ५१९, ५२०, ५३०, ५४१,  
 ५४४, ६०६  
 बलवर्मा - ६६१  
 बलश्री - ५६२  
 बलाकपिच्छ - ७५३  
 बनिम्मह - ४९३, ४७१, ४७२, ४७४, ४७५,  
 ४७६, ४७७, ४७९, ४८२, ४८४,  
 ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९७,  
 ६८५, ७८०, ७८१, ७८२  
 बहुल - ४७४  
 बाण - ५४७, ६४०, ६६८

बाहेंद्रय - ४८८  
 बालचन्द्र - ७५७, ७६०, ७६७  
 बाल्हीक - ४९८  
 बाहुक - २५२, ५००  
 बिन्दुमार - २४९, २५०, २५१, २५४,  
 २५६, २७४, २७५, ३४५, ४४०,  
 ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१,  
 ४५७, ४७९, ४८०, ४८१, ५८२,  
 ५०३

बुद्ध - ५, २७९, ४५१, ४८७, ७७०, ७७२  
 बुद्धिगुप्त - ६९९  
 बुद्धिमान - ७३१  
 बुद्धिस - १८५, ३५८, ५८६, ७३०, ७४९  
 बुद्धिसिग - ७३६  
 बुद्धिसागर - ६२७  
 ब्रह्मगणी - ४६५

(ग)

भगवानलाल - ६९७  
 भद्रदत्ता - ३८६  
 भद्रिना - ४९, ५१  
 भद्र - ४७४, ४९८  
 भद्रगुप्त - ३६५, ३८१, ४७१, ४७२, ४७३,  
 ५३५, ५५१, ५५२, ५५४, ५६१,  
 ५७६, ५९२, ५९३  
 भद्रनन्दि - १६५  
 भद्रबाहु - ४७, ८३, ९५, १७७, १८२,  
 १८४, १८५, २७८, २७९, २८९,  
 २९१, ३१५, ३२१, ३२२, ३२३,  
 ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८,  
 ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३,  
 ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३४१,  
 ३४२, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७,  
 ३४८, ३४९, ३५१, ३५२, ३५३,  
 ३५५, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०,  
 ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५,  
 ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०,  
 ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५,



३७६, ३७७, ३७८, ३८०, ३८३,  
४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७,  
४०८, ४०९, ४१३, ४४४, ४५२,  
४६९, ४७१, ४७२, ५८६, ६११,  
७००, ७२३, ७२५, ७२६, ७२७,  
७३०, ७३१, ७३६, ७३७, ७४९,  
७५४, ७५६, ७६४, ७६५, ७८०

भद्रा - ४६०, ४६१, ४६२

भद्रेश्वर - ३०, ३१, ३६, ५०६, ६५१

भरत - १२५

भरत खण्ड - २

भरतशकवर्ती - ३०, १२७

भरतशक्ती - १२६

भरतसेन - ३५१

भर्तृहरि - ४००, ५४०, ५४१, ५४२, ६७०

भव (मुनि) - ३१५

भवदत्ता - ६६, ६७, १८९, १९१, १९४

भवदात - ६३७

( भवदेव - ६६, ६७, १८९, १९०, १९१,  
१९५, १९७, २४१

भवनाग - ६३९, ६४०, ६४१, ६४३

भवसागर - ६८६

भाइल्ल - ५१६

भागिनैय - ५१५

भानुमित्र - ५११, ५१२, ५१३, ५१५,  
५१८, ५१९, ५२०, ५४१

भानुश्री - ५१७

भारशिवराज - ६४३

भाबदेव - २४१, २४२

भास्करदेव - ५८४

भिकशुराजा - ४८९

भिकशुराय - ४७५, ४७७, ४७८, ४७९,  
४८२, ४८४, ४८७, ४८८, ४९१,  
४९७, ७८१

भिक्षुराज - ४८४

भीम - ५४०

भीमनाग - ६३९, ६४०

भीमराजा - ५५८

भीमसेन - ३७९

भुवनमुनि - ५३०, ५३१

भूतदिन्न - ४७२, ४७३, ५८७, ६६३, ६६४,  
६६५, ६७२, ६८१, ६८३, ६९२,  
६९३, ७५५

भूतदित्रा - ३२४, ३८४, ४०२, ७८०

भूतनन्दी - ६३७

भूतपति - ७११

भूतबलि - ७०३, ७०७, ७०८, ७०९,  
७११, ७२३, ७२६, ७२७, ७२८,  
७३७, ७४२, ७४४, ७४७, ७५१,  
७५२, ७५३, ७५४, ७६२

भूतवाद - १११

भूता - ३८४, ३८६, ४०२, ७८०

भूया - ३२४

भृगुकच्छ - ५१५, ५४१

भोगिन - ६३७

( म )

मंजु - ३१५, ५३४, ७२४

मंजु - ५५३, ५५४, ५५५

मंगू - ३६९, ४७१, ५१०, ५३२, ५३३,  
५३४, ५३५, ५३८, ५४०, ५४३,  
६३२, ७५५

मण्डन - ५५६

मंडलिक - १२४

मंडित - ९, २४, २७, ५८, २७८, ३५८

मक - ४३९

मगस - ४३९

मङ्गमदार - २५२

मणक - ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०,  
३२१

मणिस्रम - २८१, २८२, २८३, २८४, २८५,  
२८६, ७९०

मणिस्रम - ३२४

मणिस्रम - ३७९

मणिलाल - ५१, ५२



मिश्र श्री - ५६  
 मिलिन्द - ५६=

मीनाण्डर - ४६=, ५१७

मृद - २७४

मुकुन्द - ५२३, ५२४

मुनिसुवत - १२४

मुरुण्डराज - ५५६, ५५६, ५६०, ५६१,  
 ६६१, ७७३, ७६१, ७६२, ७६३,

मृपांक - २३५, ३३७, २३८, २४०

मृगापुत्र - १६४

मृगालोद्धा - १६४

मृगावती - ७७५, ७७६

मेगस्थनीज - २६४, ४२०, ४३०, ४३७,  
 ५०४

मेघकुमार - १४३, १४४

मेघगण्डी - ४६४, ४७६

मेघमुनि - १४४

मेघरथ - ६४८

मेतायं - ६, २४, २७, ३२, ५८, ६१७

मेनेण्डर - ६२८, ६२९, ६६७

मेरुलुंग - ४७२, ४६६, ५१४, ५१६, ५३२,  
 ५४२, ६४६, ६६३, ६८५, ७१८

मेरुधीर - ७५२

मैर्काकिडल - ४२१, ४२२

मैला - ३८४

मोगा - ६२६

मोत - ६२६

मोहनभाल - ५१

मोहम्मद - ५४८

मौनिमट्टारक - ३४१

मौर्यपुत्र - ६, २४, २७, ५८, १२६, १२७,  
 २७८, ३५८

(घ)

यक्षदत्ता - ३८६

यक्षदिवा - ३०४, ३८६, ४०२, ७८०

यक्षदेव - ३८०

यक्षदेव सूरि - ३८०

यक्षा - ३२८, ३८४, ३८६, ४०२, ४०६,  
 ४१०, ४४१, ४४२, ७७८, ७७९,  
 ७८०

यज्ञदत्त - ३८०

यज्ञदत्ता - ५८२, ५८३, ५८४

यज्ञश्री - ६०४

यति कृष्य - ३१५, ३३४, ५५३, ५५४,  
 ५५५, ६३१, ७२४

ययाति - ४८७, ४८८

यज्ञानन्दी - ६३७

यज्ञपाल - ७४६

यज्ञोषरा - १६५

यज्ञोबाहु - ७३०, ७५०

यज्ञोमह - १८५, २८६, २६१, ३१६, ३२०,  
 ३२६, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५,  
 ३२७, ३२६, ३३४, ३५५, ३७८,  
 ४६४, ४६६, ४७१, ४७२, ४७३,  
 ४८६, ७२५, ७२६, ७२७, ७३०,  
 ७३७, ७५०, ७७८,

यज्ञोवर्मा - ६६८

यूकेटाइडीज - ४६८, ५१७

योधेय - ६६१

(र)

रंगिका - ४१, ४३

रक्षित - ३६४, ३६५, ३६६, ३७०, ४६५,  
 ४७२, ४७३, ५३५, ५५२, ५५५,  
 ५६१, ५७६, ५८७, ५८६, ५६०,  
 ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५,  
 ५६६, ५६८, ६००, ६०२, ६०३,  
 ६१३, ६२०, ६३३, ६७६, ७६३,  
 ७६४, ७६५, ७६६

रत्नकीर्ति - ३४७

रत्नकूल - २३५, २३७, २३८, २४०

रत्नान्दी - ३४४, ३४७, ६१२, ६१५

रत्नप्रभसूरि - १६४, २०४, २२२, २६४,  
 ३०१, ३०६, ३७६, ३८०

रथ (सार्थ) - ४७३, ५८२, ५६७, ५६८

रघुसूक्त - १३२, १३८, १७२  
 रघुन - ५४६  
 रघु - २७, ४३, ५०, ३४५, ३४६  
 रघुव - ६६६  
 राजमल्ल - ६५, ६७, ६८, २३३, २३४,  
 २३५, २४०, २४१, २४२, २४७,  
 ३१५  
 राजमोलर - ३२७, ३३४, ५२६, ५२८,  
 ६१५, ६६६  
 राजुल - ६२६  
 राधाकुमुद मुकार्जी - ४४०, ६३५, ६३६,  
 ६३६, ६४७  
 रामकृष्ण - ५४६  
 रामगुप्त - ६६६, ६६६, ६७०, ६७१  
 रामचन्द्र - ६३७  
 रामबलदेव - १२४  
 रामल्य - ३५२, ३५३, ३५४, ३५६  
 रामिल्ल - ३४२, ३४३, ३४४, ३४६, ६१२  
 रावण - ५०७  
 राष्ट्रवर्धन - २७७, २८०, ७८७, ७८८,  
 ७८९, ७९०  
 रक्षिमणी - १४५, १६०, ५७६, ५७७,  
 ५७८, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७  
 रक्षमी - २५२  
 रघुदामा - ६०६  
 रघुदेव - ६६१  
 रघुसिंह - ६६८, ६७१  
 रघुसेन - ६३६, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३,  
 ६४७, ६६६  
 रघुसेना - ६४८  
 रघुसोमा - ५६०, ७६३, ७६४, ७६६  
 रूपम्बी - २३६  
 रेवती - १५१, १६१  
 रेवतीगाथापत्नी - ६५  
 रेवती नक्षत्र - ४७२, ५८६, ५९०, ६२८,  
 ६३०, ६३१, ६३४, ६३७, ६४४,  
 ६४८

रेवतीमित्र - ३८१, ४७३, ५३१, ५३२,  
 ५३५, ५८७, ५८६, ६३७, ६४४,  
 ६६३  
 रेखाशिष्या - ३२४, ३८४, ३८६, ४०२,  
 ७८०  
 रोहक - १३२  
 रोहगुप्त ११६, ४६३, ४६५, ४७५, ५६३,  
 ५६५, ५६२  
 रोहण - ४६४  
 रोहिणी - १६०

(ल)

सकुलीश - ६३६  
 ललिता - २६८  
 लक्ष्मीदेवी - ३८४, ३८५, ४०३  
 लेपगाथापति - ११३  
 लोकपाल - ६१२  
 लोकमुनि - १४४  
 लोहार्य - ६५, १८५, ३५८, ६७४, ७०२,  
 ७१०, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८,  
 ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३,  
 ७३४, ७३७, ७३९, ७४०, ७४१,  
 ७४२, ७४४, ७४७, ७४८, ७४९,  
 ७५४, ७५५, ७६२  
 लोहित्य - ४७२, ६७४, ६७६, ६८१, ६८२

(म)

मय - ४७, ३६५, ३८१, ४६५, ४७२,  
 ४७३, ५३५, ५३६, ५३७, ५५५,  
 ५६१, ५७०, ५७१, ५७२, ५८३,  
 ५८४, ५८२, ५८३, ५८५, ५८७,  
 ५८८, ६१६, ६४८, ६६२, ७७४,  
 ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७,  
 ७६५  
 मयकुमार - ५८४, ५८५  
 मयदत्त - १६५  
 मयदन्त ६६, २४१  
 मयमित्र - ४६८

वज्रमुनि - ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५८२  
 वज्रशूचि - ६३५  
 वज्रसेन - ४७३, ५५३, ५७६, ५८७, ५६७,  
 ५६८, ६१६, ६२०, ६२१, ६२२,  
 ६२३, ६३१, ६६३, ७६७, ७६८  
 वज्रसेनसुरि - ५८२  
 वज्रस्वामी - ८६, ३६४, ३६५, ३७१,  
 ४७३, ५५१, ५५२, ५६६, ५७७,  
 ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५९०,  
 ६०८, ६४६  
 वठराजा - ४८६  
 वत्स - २४८  
 वनमाला - १६७  
 वयरसेना - ६६३  
 वरदत्त - ५५०  
 वररवि - ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९,  
 ३९०, ३९५, ३९६, ४०२, ७७८  
 वराहमिहिर - ३२६, ३३०, ३३१, ३३२,  
 ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३५८,  
 ३७२, ३७४, ३७५, ३७७  
 वरुणनाग - १३२  
 वर्द्धमान कुमार - २४६  
 वर्द्धमान भगवान् - ६६०  
 वसु - ५६, ६०, ४६७  
 वसुदेव - १५३, ७५२  
 वसुधारा - १६७  
 वसुपालित - २०६  
 वसुभूति - ७, ४४५, ४४६  
 वसुमित्र - ४६८, ६२६  
 वसुधेष्ण - २०६  
 वस्तुपुष्यमित्र - ५६५, ५६६, ५६६  
 वहसति मित्त - ४६२,  
 वामन - ६५६  
 वायुकुमार - १३४  
 वायुभूति - ७, ६, २४, २७, ४१, ४३, ५३,  
 ५८  
 वारिसार - ४८१  
 वाद्धिदत्त - २४२, २४३

वाशिष्क - ६३८  
 वासुकी - १८६  
 वासुदेव - ६३८, ७०४  
 वासुपूज्य - १२६  
 विक्रम - ३३७, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७,  
 ५२५, ५२६, ५३६, ५४०, ५४१,  
 ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६,  
 ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५८६,  
 ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६११,  
 ६३६, ६४७, ६७०, ६७१  
 विक्रमसेन - ५८६  
 विगतभया - २८२, ७६०, ७६१  
 विजय - १२६, १८५, ५८६, ६०४, ७३०,  
 ७३६, ७४६  
 विजयचोर - १४४  
 विजयवती - २८२, ७६०  
 विजयवर्मा - ५२६, ५५५  
 विजयश्री - २०६, ७७७  
 विजयसेन - ७३१  
 विजया - २७८  
 विद्यादेवी - १४२, १७०  
 विद्याधर - ६२०, ६२१, ६२२, ७६८  
 विद्यानन्द - ७१  
 विद्युत्कुमार - १२६, १३४  
 विद्युच्चोर - २२७, २३५, २३८, २४३,  
 २४४, २४५, २४६, २४७, ३१५,  
 विद्युत्प्रभ - २३६  
 विद्युत्राज - २३६  
 विद्युन्मती - १६०  
 विद्युन्माली - १८८, १८९, २००, २०१,  
 २०४, २०६, २२५, २४२  
 विनयधर - ७०३, ७०३, ७१०, ७२६,  
 ७३७, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२,  
 ७४४, ७४८, ७५०, ७५४, ७६३  
 विनय श्री - २३६  
 विनीत - ७५२

विन्ध्य - २६२, ५६६, ५६६, ६००, ६०१  
६०२, ६३७, ६६०

विन्ध्यक - ६४०

विन्ध्यशक्ति - ६४०, ६४१, ६४३, ६४४

विन्ध्यसेन - ६४४

विमलनाथ - १२६

विमलप्रसाद - २३६

विमलमती - २३६

विमलसेन - ३३७, ३४४

वी० पी० जैन - २३३

वीर - ६५, ६७, ६८, २३३, २३५, २३६,  
२३७, २३८, २४०, ७५२

वीरमती - २०६, ७७७

वीर विरचित - २३३

वीरसूरि - ६४६

वीरसेन - २३३ ५५३, ६३८, ६४०, ७०८,  
७०९, ७१४, ७२६, ७५६

विलासवती - २३८

विमाल - ६८, १८५, ३४२, ३४३, ३५२,  
३५५, ३५६, ५८६, ६११, ७३०  
७३६, ७४६

विशाखदत्त - ६६७, ७३१

विशाखमुनि - ३४७

विशाल गुप्त - ६६५

विशालाक्षी - ४१, ४२

विश्वलोचन - ४१

विष्णु - २३५, ३१४, ३१६, ३५८, ४७४,  
५८६, ६७१, ६६२, ७३०, ७३१,  
७४६

विष्णुकुमार - १८४

विष्णुगोप - ६६०

विष्णुनन्दि - २६१, ३१५, ३१६

विष्णुमुनि - १८०

विष्णु श्रुत केवली - ७३६

वृद्धकर - ५३०

वृद्ध - ४७४

वृद्धकर - ५३०

वृद्धदेव - ६३३

वृद्धदेव सूरि - ६२४

वृद्धनादी - ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७

वृद्धप्रथ - ४७७, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२,  
४८५, ४९१

वृहस्पतिनाम - ६४०

वेणु (शिष्या) - ३२४, ३८६, ४०२, ५३६,  
७८०

वेम कौडफाहसिस - ६३०, ६३४

वंरसिंह - ५१०

वंरोट्यादेवी - १४२, १७०, ५५०, ५५१,  
५५५

वैश्वमरा - २०२

व्यक्त - ६, २४, २७, ४६, ५३, ५८, ६८

व्याघ्र - ६६०

व्याघ्रनाग - ६४०

(श)

शंकरायं - ६६८

शंख - १३३

शकटार - ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७,  
३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२,  
३९३, ३९४

शकडाल - ३३३, ३८३, ३८४, ३९५,  
४०२, ४११, ४१७, ७७८

शकराज ५१२, ६६१, ६६७, ६६८, ६६९

शकपरां - २५३

शतचित - ४८७

शतधनुष - ४७६

शतधन्वा - ४८१

शतानीक - २८१

शतयुध - २६८

शय्यगव - १०४, २८६, २६१, ३१३,  
३१४, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९,  
३२०, ३२१, ३२२, ३२८, ३७८,  
४७१, ४७२, ४७३, ६६४, ७७८

शय्याहार - ५२१, ५२२

शर्मगुप्त - ६६८

शशि गुप्त - ५०२  
 शांडिल्य - २७, ४२, ४३, ३८१, ४७१,  
 ४७४, ७१८  
 शान्ति - १७०, ३३७: ३३८, ३३९, ३४०,  
 ३४१, ३६२, ३६४, ३६६, ३६७,  
 ३६८, ६११  
 शान्तिनाथ - १२६, १२७, ५०६, ६६७  
 शान्ति श्रेणिक - ४६५, ५८२  
 शान्ति सूरि - ३६१, ६७९, ६८०  
 शान्ति सेन - ७४०  
 शाकटायन - ६१७  
 शार्पेण्टियर - ५४८  
 शालिवाहन - ५५०, ६०३, ६०४, ६३०  
 शालिगूक - ४७९, ४८१  
 साहानुसाहि - ६६१  
 शिव - ६३६  
 शिवकुमार - ६६, १९५, १९७, १९८,  
 १९९, २४१, ७५७, ७५९, ७६०,  
 ७६७  
 शिवकोटि - ६२७, ७५३  
 शिवगुप्त - ७४१, ७४८, ७५०  
 शिवदत्त - ७१०, ७३७, ७३९, ७४१  
 शिवनन्दी - ६३७  
 शिवभूति - ४७४, ६०९, ६१०, ६२०  
 शिवभुनेश्वर - ७५७, ७६७  
 शिवराज - १३३  
 शिवश्री - ६०४  
 शिवस्कन्द - ६०४, ७५७, ७६१, ७६०,  
 शिव स्वाति - ६०४  
 शिवार्य - ६१७  
 शिशुक - ५६२  
 शिशुनन्दी - ६३७  
 शिशुनाक - २५३, २५४  
 शिशुनाथ - २५१, २५२, २५४  
 शिशुपाल - २५२  
 शीतलनाथ - १२६, १२७  
 श्रीगणेश्वरि - ६२७

श्रीलंकाचार्य - ७५, ७६, ८३, ९२, १०७,  
 १७५, १७६, ३६२  
 श्रीलाचार्य - ८२  
 शुक - १४४  
 शुकदेव - १४५  
 शुभशीलगणी - ५४१  
 शेष - ६३७  
 शोभनराय - २८६, ४८३, ४८४, ४८७,  
 ४८८  
 श्याम - ३८१  
 श्यामाचार्य - ४६४, ४७१, ४७३, ४७५,  
 ४९४, ४९५, ४९६, ५०८, ७०७,  
 ७०८, ७१२, ७१४, ७१५, ७१६,  
 ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१,  
 ७२२, ७२३  
 श्यामा - १६५  
 श्रमणदत्त - २०६  
 श्रीकल्ल - ६१६  
 श्रीगुप्त - ३८१, ४६५, ४७३, ५६१, ५६२,  
 ५६३, ५६५, ६४१, ६४२, ६४७,  
 ६९८, ६९९  
 श्रीदत्त - ७१०, ७३७, ७३९, ७४१  
 श्रीपाठक - ७६७  
 श्रीमंदर - ७५९, ७७९  
 श्रीमती - ५४०  
 श्रीराम - ५३९  
 श्रीयक - ३८४, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३,  
 ३९४, ४०२, ४१०, ४१७, ७७८,  
 ७७९  
 श्रीवेणु - २४६  
 श्रुतकीर्ति - ७५३  
 श्रुतदेवता - १७०  
 श्रुतदेवी - १४२  
 श्रुतमुनि - ७५३  
 श्रेणिक - ४१, १४४, १५५, १८८, २००,  
 २०१, २०२, २०४, २२५, २२६,  
 २२७, २३५, २३७, २३८, २४०,  
 २४६, २४७, २४९, २५०, २५१,  
 २५३, २५४, २६५, २७५

श्रेयांसनाथ - १२६, १२७

(ब)

षांडिल्य - ५०८, ५०९, ६८२, ६८५

(स)

संगत - ४८१

संघपालित - ४७४

संघमित्रा - ४५१

संडिल्ल - ६७५

संधीरण - २५८

संपलितभद्र - ४७५

संप्रति - ३५५, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४,  
४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९,  
४६०, ४७०, ४७९, ४८०, ४८१,  
४८२, ४९२, ५०३, ५४१

संभूतविजय - २८९, २९१, ३२२, ३२३,  
३२४, ३२५, ३२८, ३२९, ३३६,  
३७८, ३९६, ३९७, ४००, ४०२,  
४०३, ४०५, ४१२, ४७१, ४७३,  
५८६

संभूतिविजय - ३९५, ४७२, ७७८, ७८०

संभूतिश्रमणा - १८०

संवर - २४६

सकलकीर्ति - २२

सगर - १२६, २५२, २४३, ४००

सच्चिकादेवी - ३८०

सत्यामित्र - १७९, ५८७, ६९१, ६९३

सत्यासिंह - ६७१

सद्दासपुत्र - १५१

सनत्कुमार ६६

समन्तभद्र - ७२७, ७३९, ७५३, ७५६

समित - ५३६, ५६६, ५६९, ५७१, ६४९

समितसूरि - ३६५, ५३७, ५३८

समुद्र - ३६९, ४७१, ५०९, ५१०, ५३२,  
७४६, ७५५

समुद्रगुप्त - ६३९, ६४२, ६४३, ६५७-  
६६२, ६६५-६६७, ६७०, ६७३,  
६९८, ६९९

समुद्रदत्त - २०६, ३०७,

समुद्र प्रिय - २०६, २९८

समुद्र विजय - १४५, १५३

समुद्रश्री - २०६, २१६, २१९, ७७७, ७७८

सरस्वती - ५१०-५१४, ६०६, ७८२, ७८३

सर्वगुप्त - ७५२

सर्वदेवसूरि - ६२४

सर्व नन्दि - ४५

सर्व सेन - ६४४

सर्वार्थसिद्धि - ७१

सहस्रमल्ल - ६१०

साइरीन - ४३९

सागर - ५२१-५२३

सागरचन्द्र - ६६, २४१

सागरदत्त - १९५-१९७, २०२, २०६, २३६

सातकर्ण - ६०४

सातकर्ण - ५४७, ५४८, ६०७

सातबाहन - ५१८-५२०, ५५७, ६०३

सामंतभद्र - ६२४, ६२५, ६३२, ६३३

सामंतभद्रसूरि - ६२३

सालिहीपिता - १५२

सावत्थी - १३३

सिंह - ४७३, ४७४, ५८७, ६३१, ६४४-  
६४६, ६५८, ६५९

सिंहगिरी - ३६५, ४७३, ५३६-५३८, ५६६,  
५६८, ५७२-५७६, ५८५, ६१९,  
६४८, ७८३, ७८४

सिंहसेन - १६५

सिंहसूरि - ४४

सिकम्बर - ४१८-४२२, ४३०, ४३७, ४३८,  
५००-५०३

सिद्धसेन - ५२३-५२८

सिद्धान्तदेव - ७६०

सिद्धार्थ - १८५, ३५८, ५८६, ७३०, ७३१,  
७३६, ७४९

सिमुक - ६०४, ६०५

सीता - १६०



सीमंघर स्वामी - ४१०, ५६४, ४६५

सीबंद - ४७५, ४८४

सीहा - ६५

सुन्दर - ३६२, ६०४, ६२७

सुन्दरवर्मन - ६६७

सुकाली - १५४

सुज्येष्ठा - २५०, २५१

सुदर्शन - १३३

सुदर्शना - ७७६

सुधर्मस्वामी - १३०, ७३१, ७३६

सुधर्मा - ३, ५, ८, ९, २४, २७, २९, ३२,

३३, ४४, ४५, ४७-६५, ६७-७२,

१०५, १२८-१३०, १७१, १७३,

१७७, २०३, २०४, २०७-२०९,

२१५, २२३-२२६, २२८-२३०

२३२-२३४, २३८, २४२, २४७,

२४९, २७९, २८०, २८६, २९४,

३१२, ३२३, ४५५, ४६८, ४७१-

४७३, ४७६, ४८४, ४९६, ५८५,

६०८, ६२३, ६३२, ६८३, ७१७-

७२१, ७४९, ७७४, ७७७, ७७८,

७८७

सुनन्दा - ५३६, ५६६-५७०, ५८२, ७८४,

सुपाश्वनाथ - १२७

सुपुष्प - ६५७

सुषतिबद्धसूरि - ४६४, ४७५-४७७, ४९३,

४९४, ५०६, ६८५, ७८१

सुप्रतिष्ठ - ६५-६८, २४१, २४२

सुप्रभा - २४७, ३४२

सुबन्धु - ४४८-४५०, ५४७

सुबाहु - १६५

सुबुद्धि - १४६

सुमद्रा - ३७, १६०, ७२५-७२७, ७३०,

७३२, ७५०

सुमाल्य - २७७

सुमिराभह - ३२४

सुमित्राचार्य - ५८३, ५८५

सुयशा - ४८१

सुरसुन्दरी - ५१०

सुरादेव - १५०

सुरूपा - १६०

सुलोचना २८६, ४८४

सुवर्णगुलिका - १६०

सुविधिनाथ - १२६, १२७

सुविशालगुप्त - ६९३

सुव्रता - २२३, ६५४, ७७४, ७७७

सुश्रेया - ७७७

सुषेया - २०६

सुस्थित (माचार्य) - १८९, १९०, ४६४,

४७३, ४७५-४७७, ४८४, ४९३,

४९४, ६८५, ७१८, ७८१, ७८२

सुहृत्ती - ४७, ३६९, ३८१, ४४०-४४६,

४५०, ४५३-४५७, ४६०, ४६१,

४६५, ४६८-४७३, ४७५-४७७

४९३, ५०६, ५०९, ५३२, ५३५,

५३६, ५८२, ६०८, ६४८, ६८३-

६८६, ६९२, ७७४, ७७८, ७७९

सैद्धीकोट्टिस - ४२१, ४२९, ४३७, ४३८

सेऊरूल-भोऊल - ५४८

सेया - ३२४, ३८४, ४०२, ७८०

सेनप्रथन - ३४

सेना - ७७७

सेलक - १४५, ४७५, ४८४

सेल्लूकस - ४२१, ४२२, ४३८, ४४६, ४४८

सोमगणी - ४६५

सोमदत्त - ३८०

सोमदेव - ५३९, ५४२, ५४६, ५८२-५८५,

५९०, ५९१, ७९२

सोमरथ - ६४८

सोमशर्मा - ३४१, ३४७, ३४८, ४८१

सोम श्री - ३४१, ३४७, ३४८

सोमिल - ९, १०, ३१, ५०, ५३, १३४

सौधर्मकुमार - ६६, ६७, २४१, २४२

सौधर्म मुनि - ६६

सौषमैन्द्र - ४६५

सौम्य दर्शना - ५४२

स्कण्डक - १३२

स्कन्दमुप्त - ६६२, ६६६, ६७३, ६७४,  
६६३-६६६

स्कन्दनाग - ६४०

स्कन्दिल - ११७, १८१, १८२, ४७२, ४७३,  
५२३, ५२४, ५३१, ५३२, ६४४,  
६४५, ६४८, ६५६, ६६४, ६७७,  
६७६, ६८१, ६८६, ६६२, ७१८,  
७१६

स्कन्दिली वाचता - ६८१, ७१८

स्टेनकोन - ५४५

स्तनिलकुमार - १३४

स्थंडिला - ४२, ४३

स्थूलभद्र - १७६, ३२४, ३२५, ३२८,  
३४२-३४४, ३४६, ३४२-३४४,  
३४६, ३६३, ३६४, ३७१, ३७७,  
३७८, ३८१, ३८३, ३८४, ३६३-  
३६६, ४०२, ४०४, ४०७-४१५,  
४१७, ४३५, ४४०-४४४, ४४६,  
४५५, ४६६, ४७१-४७३, ६११,  
६१२, ६८५, ७७८-७८०

स्थूल वृद्ध - ३४२-३४४

स्थूलाचार्य - ३४२, ३४६, ३४७, ३४२-  
३४४, ३४६, ३४७, ६११, ६१२

स्वयं प्रमसूरि - ३७६

स्वरांकुमार - १३४

स्वाति - ४७१, ४६३, ४६४, ४६६

(ह)

हनुमान - ५०७

हयनाग - ६३६, ६४०

हरिलौकमेवी - ६७६

हरिभद्र - २७३, ४०५, ५३५, ६१६, ६१८,  
६२६, ६८०, ७०८, ७१२-७१४,  
७१६, ७१८, ७२०, ७७४

हरिवेण - १२७, १२८, ३४१, ३४४, ५८२,  
६११, ६४०, ६४२-६४४, ६५६-  
६६१

हरमन जैकोबी - ६६, ६७, ३५६

हर्ष - ६४५

हलधर - ७५२

हस्तिलाषस - ११३

हस्ती - ४७४

हस्तीभल - १६६

हस्तीवर्मन - ६६०

हाल (राजा) - ५४६

हिमबंत - ४७२, ६५३-६५५

हिमवान - ६५५, ६५६

हीरालाल - ७१४, ७१६, ७२१, ७२३,  
७२५, ७२६, ७३६, ७४३, ७४५,  
७४७, ७५५, ७६८

हुएनत्सांग - ५०४

हेमचन्द्र - २४, ३४, १०८, २२५, २२६,  
२५०, २५१, २६२, २७३, ३५८,  
३५६, ३६१, ३७४, ४१३, ४२३,  
४२८, ४३५, ४३६, ४४६, ४५७,  
४६२, ६७८, ७३३, ७३४, ७७४

(ख) ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(अ)

अंग - १२, २४६, ३०३  
 अंतरंजिका - ५६२  
 अचलपुर - ५३६, ५३७, ६४४  
 अजन्ता - ६४०  
 अजमेर - ६३३  
 अणहिलपुर - ६२७  
 अपापा नगर - ६  
 अफगानिस्तान - ५६१, ६०६, ६२६, ६३०,  
 ६४७

अमरकंका - १४७  
 अयोध्या - २५२, ५००, ६५८, ६६८  
 अरब - ५४८, ५४९, ६७०  
 अरवेला - ५०१  
 अर्जुनायन - ६४०  
 अलवरभंडार - २०४, २०८  
 अमवन्ती - ५, १२, ४१, ४२, २४८, २६७,  
 २७६, २८०, ३४२, ३४६, ३४१,  
 ३४३, ३४५, ३७६, ४३५, ४४४,  
 ४५२, ४८१, ५२५, ५३६, ५३८-  
 ५४१, ५४४, ५६६, ५७५, ६०५,  
 ६०६, ७०७, ७६०

अबमुक्तप्रदेश - ६६०  
 अशोकवनिका - १५०  
 अशोकबान - ३६३  
 अशोकवाट - ७३८  
 आस्मिग्राम - १३३  
 अहमदाबाद - १, ६२७  
 अहिछत्रनगर - ५८३, ६६०

(आ)

आनन्दोद्यान - १०, ५३  
 आन्ध्र - ५१७, ६०५, ६७४  
 आभीर - ६६१  
 आमकल्पानगरी - ५६  
 आलंभिकानगरी - १३३  
 आसाम - ६६१, ६४६

(इ)

इक्षुवर - ५६८  
 इक्षुवाटिका - ५६१, ५६२, ७६५  
 इलाहाबाद - ६३६-६४१, ६४३, ६५८-  
 ६६२

(ई)

ईराक - ६६६  
 ईरान - ४३८, ४३९, ५००-५०३, ६०५,  
 ६०६, ६२६, ३३४, ६३५

(उ)

उज्जयिनी - २६५, २६७, २७६, २८०,  
 २८१, २८३, २८५, २८६, ३३७,  
 ३४०, ३४२, ३४६, ३४९, ३५२,  
 ३५३, ४५३, ४५४, ४५८, ४६०,  
 ४७६-४८१, ५११-५१५, ५१७,  
 ५१८, ५२१, ५२२, ५३६, ५४१,  
 ५४६, ५४९, ५५०, ५६२, ६०६,  
 ६१२, ६२६

उड़ीसा - ४८३, ५४५  
 उत्तरप्रदेश - ५७८, ६२७, ७३६, ६३८,  
 ६६७

उत्तरमयुरा - २५७, २५८  
 उदयगिरि - ४८३, ६७१  
 उपकेशनगर - ३७६, ३८०  
 उर्जयन्त (गिरनार) - ३४१  
 उलूगातीर नदी - ४६७

(ऋ)

ऋजुकुला नदी - २८  
 एरवत क्षेत्र - १२८

(ए)

एपिरसनगर - ४४०  
 एशिया - ६६८  
 ऐरवत क्षेत्र - १२८

(ऐ)

ऐरवत क्षेत्र - १२८  
 ओकारपुर - ५५८

(ओ)

ओकारपुर - ५५८  
 ओकाज-मनका - ५४८  
 ओसिया - ३७६, ३०८

(क)

कंकालीटीला - ७५५  
 कंधार - ४४६  
 कनकपुर - २८६  
 कनिष्कपुर - ६३५  
 कर्तुपुर - ६६१  
 कर्नाटक - ६०५, ६१६  
 कर्लिग - २४८, २८६, ३७६, ४५०, ४७८,  
 ४७६, ४८२, ४८३, ४८६, ६६०,  
 ७८२  
 कहीम - ६६७  
 कांचनका - ६४२, ६४३.  
 कांची - ६६०  
 काकंदीनगर - ४७६  
 काक (गणराज्य) - ६६१  
 काकिरी (राज्य) - ४५८  
 कागवाडा - ६१६  
 काठियावाड़ - ६२८, ६३५  
 कान्तिपुरी - ६३७-६३६  
 काबुल - ४१८, ४४६, ५६१, ६३६  
 कामरूप - ६६१  
 कालीसिन्धु - ४६८, ६२६  
 काशगरप्रदेश - ६३५  
 काशीदेश - ४१, २४६, २५४  
 काश्मीर - ४१८, ६३५, ६३६, ६४६  
 कात्पियनसागर - ५०१  
 कुंकण (कोंकण) - १७६  
 कुंड कुन्दपुर - ७५५, ७६२  
 कुडलवन - ६३५  
 कुन्तलप्रदेश - ६७४  
 कुमारगिरिपर्वत - ४७५-४७६, ४८३, ४८४  
 कुमारीपर्वत - ७८२  
 कुरीश्वर - ७११  
 कुमस्थली नदी - ६६०  
 कुशयलपुर - ६६०  
 कुषाण साम्राज्य - ६३६, ६३७  
 कूटागारशाला - ७७१

कुर्मारपुर - ५२६  
 कृष्णा नदी - ५३६, ५३७  
 केरल - २३७, २३८  
 कोंकण - ६०५, ६७४  
 कोंगलिप्रदेश - ७६८  
 कोटिपुर - ३४१  
 कोटि वर्ष नगर - ४४४  
 कोट्टपुर - ३४७, ३४८  
 कोट्टरा - ६६०  
 कोरंटानगर - ३७६  
 कीलेरभील - ६६०  
 कोत्लाग ग्राम - ४८  
 कोत्लुभाग्राम - ४६  
 कोत्लागसन्निवेश - ५१, ५२, १५०  
 कोशल - ६६०, ६७४  
 कोशला नगरी - ५५५  
 कोसम-पभोसा - ४६१  
 कोण्डकुन्द - ७५२, ७६२  
 कोशल राज्य - २४६, ६६०  
 कोशल ग्राम - ५२३  
 कोशाम्बी - २४८, २४६, २६७, २८०-  
 २८६, ३७६, ४५४, ४५५, ६४२,  
 ६५८-६६०, ७८६  
 कोशिकी नदी - ४६  
 क्षप्रा नदी - ३४२  
 क्षिति प्रतिष्ठित नगर - २४६

(ख)

खण्डकेसर - ७३८  
 खण्ड गिरी - ४८३  
 खरिपरिकादि गणराज्य - ६६१  
 खोतान प्रदेश - ६३५

(ग)

गंगा - ४६, २५७, २६१, २६३, ३८६-३६०,  
 ६५८, ४३८  
 गंगा (तट) - २५६,  
 गंगदिराई - ४३७

गंजम - ६६०  
 गंडक - ४६  
 गढ़वा - ६७१  
 गया - ६५८  
 गाजीपुर - ६६६, ६६४  
 गान्धार - ६२६, ६३०, ६३६, ६३६  
 गिरनार - ३४७  
 गिरिगुहा - ७३८  
 गिरिज - २५३, २५५  
 गुजरात - ६०४, ६०७, ६३५, ६४०, ६७१,  
 ६७४  
 गुडवाहनपुर - ५३०, ५३१  
 गुणशील (चैत्य) - ३६, ६८, २०७, २०८  
 गुणशील (उद्यान) - ५६, ६२३  
 गुजरा-शिलालेख - ४५०  
 गोम्बरग्राम - ७  
 गोरखपुर - ६६७  
 गोल्लप्रदेश - ४२३  
 गोविमठ - ४५०  
 गोहाटी - ६६१  
 ग्वालियर - ५४६

(ब)

चम्पानगरी - ३६, ३७, २२४-२२६, २३७,  
 २४६, २५५, २५६, २६३, ३०५,  
 ३१७, ७७५

चणक नगर - २४६, ४२३

चित्रकूट - ५२६

चिनाव - ४१६

चीनी तुर्किस्तान - ६३५, ६३८

चीनी साम्राज्य - ६३५

चेदि देश - ४८८

(अ)

जम्बूद्वीप - १२१, १२३, १२८, २०१, २०४,  
 २२१, २३१, ५६२

जम्भिका नगरी - ५२

जृभक ग्राम - २८

जयपुर - २१५, २३५, २६२, २६४, ३१२

जर्मन - ६७

जूनागढ़ - ६६३, ६६५-६६८

जूनागढ़ का शिलालेख - ६६६

जैनग्रंथ प्रकाशक सभा - ६२७

(क)

भेलम - ४१६, ४३७, ५४४

(ग)

टर्की - २५३

(घ)

डबोक - ६६१

डवाक - ६६१

(ङ)

ढक - ६५४

(च)

तक्षशिला - ४१८, ४१६, ४२८, ४३०, ४४८  
 ५०२, ६०६, ६२६

तरंगवती नदी - ५५८

ताम्रलिप्त नगर - ३०७

तिलंग देश १२

तुंगिया - १३२

तुंबकन ग्राम - ५३६, ५६६, ५६८, ७८३

तुर्किस्तान - २५२, ६३८

(ज)

दमपुर - ५७५, ५७६, ५६०, ५६१, ५६३

५६४, ५६८, ५६९, ६०२, ७६३

७६५

दशाश्वमेध घाट - ६३६

दीप उद्यान - ६०६

दुम्राबा - ६३०, ६३४

देव कुक्षेत्र - १२३

देवराष्ट्र - ६६०

(झ)

धनगिरि - ५८२, ५८३, ७८३

धातकी खण्डद्वीप - १२६

बालपुर ५४३

(ग)

नर्मदा - ६७३

नागपुर - ६३७

नाडोल - ६३४

नालन्दा - ६६, ३८४, ४२८, ४२६, ६४७, ६६६

नेपाल - ३२८, ३६५, ४०१, ४०५, ४०६, ६४६, ६५७, ६६१

नेल्डोर - ६६०

(घ)

पंचस्तूप - ७३८

पंजाब - ४१८, ५४४, ४५३, ६०७, ६२८, ६३०, ६३४, ६४०, ६७१

पञ्जलाषाठ (चैत्य) - ४१५

पणवती (नगर) - ६३७

पलकप्रदेश - ६६०

पांचाल - ४६०

पाटण - ६२७

पाटन - ४६०

पाटली - २५७

पाटलिकग्राम - ४५

पाटसीपुत्र - ६८, २४६, २५७, २६३ - २७०, ३२८, ३३३, ३७७, ३७८, ३८७, ३८८, ४०१, ४०४-४०८, ४१५, ४१६, ४२४, ४२८, ४३१-४३३, ४३३, ४३५, ४३६, ४३८-४४०, ४४५, ४४७, ४५३, ४७८-४८२, ४८६, ४९०, ४९१, ४९७, ४९९, ५३२, ५५६, ५५८, ५६०, ५७६, ५९०, ६५७, ६५८, ६६७, ७८४, ७८५, ७८७, ७९३, ७९४

पाण्ड्य राष्ट्र - ४५

पावापुरी - ३६, ५३, २२७

पाशर्वनाथ - १२५, १२८, १३८

पिष्टयपुर - ६६०

पुण्डरीकिणी - १४८, १६५

पुण्ड्रवर्धन राज्य - ३४१, ३४७

पुण्ड्रवर्धनपुर - ७३८

पुत्राट - ३४२, ६११

पुरिका - ६३७, ६३९, ६४०, ६४३

पुरुषपुर - ५६०, ५६१, ६३४

पुष्कलावती विजय - १६५, १६६

पुष्पभद्रा नगरी - २५६, २६१

पूना - ६४७, ६६२, ६६६

पूर्णभद्र (चैत्य) - २२४

प्रतिष्ठानपुर - ३२५, ३३०, ३३२, ३३४, ३३५, ५१५, ५१८, ५२०, ५३२, ५४७, ६०३, ६०४,

प्रयाग - ६५८

प्राय (चैत्य) - ४०६

प्रार्जुन (राज्य) - ६६१

प्रासाई देश - ४३७

(फ)

फारस देश - ५१२

(ब)

बंग (देश) - १२, २४६, ६४६, ६७१

बडनगर - ६६२

बालाघाट - ६७३

बाल्लिक - ६७१, ६७२

बिहार - ५४५, ६३७

बुन्देलखण्ड - ६३७, ६३८, ६४२

बेबिलोन - ४१६, ४३६

बैकिट्या - ४६०, ४६७-४६९, ६२८

बैलीख - ४३६

ब्रह्मगिरि - ४५०

ब्रह्मद्वीपक - ५३७

ब्राह्मण नगर - ४२

(भ)

भड़ीच - ५११, ५१३, ५१५, ५१७, ५१८, ६०६

भारत क्षेत्र - १, ४२, १२८, १८०, २००,  
२२५, २३१, ३५८, ४६५, ५६५,  
६५०, ७३०, ७३१

भाद्रपद (स्थान) - ३४२

भारतवर्ष - १, २, ४६, ११५, २२८, २४८,  
२५२, २६४, २८७, ३४७, ४१८,  
४१६, ४२१, ४२२, ४२८, ४३०,  
४३६-४३८, ४४४, ४४६-४४८,  
४५१, ४५८, ४५६, ४६०, ४६७,  
४६६, ५००, ५०२-५०४, ५१४,  
५४५, ५४६, ५७८, ६०४, ६०६,  
६०७, ६१५, ६१६, ६२८-६३०,  
६३५, ६३६, ६३६, ६४३, ६४६,  
६४७, ६५६, ६६१, ६६२, ६६६-  
६७२, ६७४, ६६४, ६६६, ६६८

भारतीय ज्ञान-पीठ - ५८२

भारतीय विद्या-मन्त्र - ५८२

भिक्षमाल - ३७६

भिलसद - ६७२

भुवनेश्वर - ४८३

भूतगुहा - ५६२

भृगुकच्छपुर - ५३०, ५३१, ५५८

भृगुपुर - ५२४, ५२५, ५३०, ५३१

(म)

मकदूनिया - ४३६

मगच - ७, ४२, ६६, १८६, २०२, २२२,  
२४१, २४८-२४१, २५३-२५४,  
२६३, २६५, २६८, २७२-२७४,  
२७७, ३७६, ३८४, ३६३, ३६५,  
४१२, ४१८, ४२४, ४३१-४३३,  
४३७, ४४८, ४५२, ४७७, ४७८,  
४८१, ४८३, ४८५, ४८६, ४६३,  
४६७, ६५६-६५६, ६६१

मगधपुर - २२८

मथुरा - १८१, २४७, २५०, २५७, ३००,  
३०३, ४६५, ४६५, ४६०, ५३३,  
५६८, ५६६, ६२८, ६२६, ६३५,

६४८-६५३, ६५६, ६६६, ६७१,  
६७२, ६७८, ६६५, ७५५

मद्र (पूर्व पंजाब) - ६३७, ६३८

मथुरा - ७११

मध्यएशिया - ६६४

मध्यदेश - ४६०, ६१२, ६३७, ६३८, ६६०

मध्यमयाबा - ५३, ६२, ६३

मध्यमानगरी - ३१

मन्दसौर - ५४३, ५६०, ५६८

मलयगिरि - ३६२

महाकाल - ४६२

महाकालेश्वर (मंदिर) - ५२८

महाबोधि - ६४७

महाराष्ट्र - ३२६, ६०५, ६७३

महाबिदेह - ६६, १५२, १६५, ४१०, ४६५

महिमा नगर - ६१३, ७११

महेन्द्र गिरी (राज्य) - ६६०

महोद्यान - २४७

मांगिया (पर्वत) - ५८०

माद्रक - ६४०, ६६१

माध्यमिका - ६२६

मान्यखेट - ५५८

मालवा - २६५, ३५१, ४१६, ५४०, ५४४,  
५७२, ५६०, ६३५, ६३७, ६३८,  
६४०, ६६१, ६७१, ६७४, ६६६

माहेश्वरीपुरी - ५७८

मिल - ४३६, ५०१, ५०३

मुनिदाबाद - ६४७

भृगुशिलावन - ६४७

मेकल प्रदेश - ६७३

मेढियाग्राम - ६५

मेरुपर्वत - १२८, ४१२

मेहरोली - ६७१, ६७२, ६७४

मैतीडोनिया - ५०१

(घ)

यारकन्द प्रदेश - ६३५

यूनान - ४२०, ४४८, ५००, ५०१, ५०३

घोरप - ४६२, ६६४  
 गोपेय - ६३८, ६४०, ६६१

(१)

रत्न नदी - ३५३  
 रत्नपुर - ११३  
 रथवीरपुर - ६०७, ६०९  
 राजगृह - ७, ३६, ४१, ५८, ५९, ६७, ६८,  
 ७०, १३४, १४६, १५२, १७१,  
 १८८, २००-२०३, २०६, २०७,  
 २१३, २२१, २२४, २२५, २२८,  
 २३७, २३८, २४२, २४४, २४६,  
 २४९, २६३, ३१३, ३१८, ४१६,  
 ४१७, ४६६, ४८४, ४९०,

राजपूताना - ६२९, ६३७, ६४०  
 राजस्थान - ५४४  
 रावी - ५०२  
 रीवा - ६३७

(स)

लंका - २७४, ४४१, ५०७  
 लवण समुद्र - १२३, २२०, ३४२  
 लाट देस - १२

(ब)

बरसका नदी - २८२, २८५, २८६  
 बद्धमान (ग्राम) - ४४, ६६, २४१,  
 बल्लभी - १८२, ३३७, ३३८, ३४० ५२०,  
 ६११, ६१२, ६१५, ६५१, ६५२,  
 ६५६, ६७५, ६७७-६८०, ६८७,  
 ६८९, ६९२,

वसन्तपुर - २९८  
 वाराणसी - २५३ - २५६, ३३०, ६३४,  
 ६३५, ६४५  
 वाल्हीक देस - २५१, ६७२  
 विजयगापट्टम - ६६०  
 विदिशा नगरी - ४५४  
 विदिशा ६३७  
 विदेह प्रदेश - ४८, ४९, १४८, २४९, ७५९  
 ७७९

विन्ध्य (विन्ध्यप्रदेश विन्ध्याचल) - २१५  
 २३५, २९२, २९४, ६३५, ६६०,  
 ६७४

विपुलाचल - ४१, २२७, २३४, २३८  
 विशाल - ३५८  
 विशालानगर - १३४  
 विष्णुपद (पर्वत) - ६७१  
 वीतणोकानगरी - १९६, १९७  
 वृषभपुर - २४९  
 वेगी - ६६०  
 वेणानदी - ५३८, ७११  
 वैभारगिरि - २०३, ३७६, ४१७, ६५१  
 वैरावल पाटण - ६७६  
 वैशाली - ४९, २४९, २५२, २५३, २७९,  
 २८६, ४८३, ६४७, ७७१  
 वैशाली गणराज्य - २५०, ४८७

(ग)

शाल्मलीग्राम - ७६६  
 शाल्मलीमहाद्रुममूल - ७३८  
 शोरिपुर - ३०१  
 श्यालकोट - ४८५  
 श्रद्धपुर - ६५९  
 श्रवण वेल्गोल - ७५५  
 श्रावस्ती - ४१४  
 श्री प्रतिष्ठान नगर - ३२९  
 श्वेताम्बिका नगरी - ४१५

(घ)

संवाहनपुर - ६६, २४१  
 सनकानीक - ६६१  
 सर्वकामप्रदायीद्रुह - २१७  
 सांची - २८६, ६७१  
 साकेत - ६२८, ६५८  
 सारनाथ - ४५१  
 सिद्धरबस्ती - ७६४  
 सिन्धिया श्रीरिण्टल इन्स्टीट्यूट - ५४९  
 सिन्धुनदी - ४१८ - ४२०, ६३४



सिन्धुप्रदेश - ३४२, ५१२, ५४१, ६०६,  
६१२, ६२८, ६२९

सिंहपुर - ४५०

सिंहल - ६६१

सुग्राम - १८८, १९१

सुदर्शन भील - ६९७

सेसदविया (उदकशाल) - ११३

सोन नदी - २६३

सोनपुर - ६६०

सोपारक नगर - ५८३, ६२०, ६२३, ६३१,  
७९७, ७९८

सोरठप्रदेश - ३३७, ३४०,

सौराष्ट्र - ६०४, ६०७, ६११, ६१५, ६२७,  
६२९, ६६८, ६७१, ६७६, ६९६

स्यालकोट - ६२८

स्वर्णगिरि - ६३३

स्वर्णभूमि - ५२२

(ह)

हंसद्वीप - २३७, १३८

हर्षपुर - ५०७

हस्तिनापुर - २३५, २४६

हाथिगुफा ४८३, ४८६, ४८८, ४८९, ४९१,  
४९७

हाल - ६०४

हिन्दुकुश - ४१८

हिमालय - ४९

हुविष्क - ६३७, ६३८

### (ग) सूत्र, ग्रन्थादि

(अ)

अंगचूलिया (श्रुत) - ६८८

अंगपण्णति - ७३, ९१, ९५, ११०, १५४-  
१५७, १८४, २३५, ३२६, ३५७,  
४१३

अंगसप्तिक ग्रंथ - ४८४

अंगुत्तरनिकाय - १२०

अंतगडदसाण - ७०

अंतयडदसा - ७३

अंतकृतदशा - १५२, १५४, १५६, १७४,  
१७८

अंतकृत दशांग - ६८८

अंतगड सूत्र - १५३, ६८७

अप्रायणी पूर्व - २६

अप्रायणीय पूर्व - १६७, १७४

अथर्व वेद - ७, ४९

अथर्व द्वार - १५८

अथर्व-स्थान - १६०

अनगार-प्राभूत टीका - ६१७

अनुत्तरोपपातिक दशांग - ६८८

अनुत्तरोपपातिक सूत्र - ७०, ७३, १५४,  
१५५, १७४, १७८

अनुत्तरोपपात्य दशा - } ७०, १५४,  
अनुत्तरोपपात्य दशाभी - } ६८७

अनुयोग द्वार - ७३, १७८, ६८९, ७६२

अनुयोग द्वार सूत्र } ५५२, ६३२, ६७८,  
अनुयोग दाराई } ६८७

अनुषङ्गपाद - ६५८

अनेकाक्षरी - ५५६

अपापावृहत्कल्प - ५२०

अपृथक्त्वानुयोग वाचना - ५९५

अभिधानचिन्तामणि - १०९

अभिधान राजेन्द्र - ५१३

अमोघवृत्ति - ६१७

अवग्रहेवरा नामक ग्रन्थयन - ९०

अवन्ध्यपूर्व - १६८, १७५

अवचूरि - ३७८

अशोकावदान - २७४

अष्टांगधर - ७२६

अष्टांगनिमित्त - ७३८

अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - २६, १६७, १७५

अहरोरा के निसालेख - ४५०

## (आ)

- आचारकल्प - ६०, ३६०, ५३५  
 आचार प्रकल्प - ६०, ६८, ६६-१०१  
 आचार प्रणिधान (अध्ययन) - ३२१  
 आचारश्रुत अध्ययन - ११३  
 आचार संवादि - २६, ५५  
 आचारसंगसूत्र - ७०, ७३-७५, ७७, ७९,  
 ८०, ८२, ८३, ८५, ८६, ८६-१००,  
 १०२-१०७, १०९, ११०, १२३,  
 १२५, १२७, १७०-१७२, १७५,  
 १७७, १८०, १८२-१८५, ३२५,  
 ३३३, ३७०, ५२६, ५७८, ५६२,  
 ६१८, ६३५, ६८८, ७०१  
 आचारांग-टीका - ८२  
 आचारांग श्रुति - ८६  
 आचारांग नियुक्ति - ७५, ८३-८६, ६२,  
 ६६, १०१, १०६  
 आचार्यभाषित अध्ययन - १५७  
 आउर पञ्चक्लारा - ६८७  
 आगम अष्टोत्तरी - ६८५  
 आसुर प्रत्याख्यान - ६८६  
 आत्मनिन्दा भावना - ६६४  
 आत्मप्रवादपूर्व - २६, १६७, १७५  
 आदान अध्ययन - ११२  
 आदि पुराण - १८५, १८५  
 आप्तमीमांसा - २५  
 आबद्धिक दर्शन - ५६८  
 आष्विनोहि (श्रुति) - ६८७  
 आयारो - ६८७  
 आराधना - ४४६  
 आराधनाकथाकोष - ४४६  
 आर्द्रकुमार के अध्ययन - ११३  
 आवश्यक कथा - २८०  
 आवश्यक श्रुति - २३, २४, २६-३५, ४८,  
 ५६, २६७, २७३, २७५, २८३,  
 २८५, ३२७, ३२८, ३५८, ३७५,  
 ३७७, ४०७, ४०८, ५३०, ५३१,

५६२, ५७२, ५६०, ६०६, ६१०,  
 ६१३, ६१७, ६१६, ७२२, ७८७,  
 ७६०, ७६१

आवश्यक नियुक्ति - ७, ५०, ५३, ५८, ५६,  
 ६१, ६२, ६५, ६८, ६६, २५६,  
 ३६५, ३६५, ३६८, ३७०, ३७३,  
 ५६५, ७०५

आवश्यक मलय वृत्ति - ७, १५, १६, ३०,  
 ३१, ६५, ५३०, ५७१, ५७५-  
 ५७७, ५७६, ५६७

आवश्यकमलय गिरि वृत्ति - ५६५

आवश्यक वृत्ति - १११, २६७, २७३

आवश्यकबृहद् वृत्ति - १००

आवश्यक सूत्र - १७८, ३२५, ६८६

आवश्यक हारिमद्रीया - २५६, २६७, २७३

आवश्यक हारिमद्रीया टीका - ३७५

आवश्यक हारिमद्रीयावृत्ति - २७५-३७७

आसीविसभावणा (श्रुत) - ६८८

आहार परिज्ञा अध्ययन - ११२

## (इ)

इन्वेजन आफ इंडिया

वाई प्रलेक्चर - ४२१, ४२२

इलियट एण्ड डॉसन

हिस्ट्री आफ इण्डिया - ६७०

इतिहासियाई (श्रुति) - ६८८

इसावास्योपनिषद् - २०

## (उ)

उत्कालिक श्रुत - ६८७

उत्पादपूर्व - २६, १६७, १७५

उत्तरपुराणा - १८५, १८५, २२७, २३३,

२३८, २४०, ३१५, ५८६, ७०१;

७२४, ७२५, ७२६, ७३२, ७३५,

७५८, ७५२,

उत्तराध्ययन सूत्र - १७, ७०, १२५, ३२५,

३६१, ३६५, ३६६, ३६७, ५१०,

६०८, ६१८, ६८६

उत्तरज्जमराहं (श्रुत) - ६८८  
 उपकेशागच्छपट्टावली - ३७६, ३८०,  
 उपदेशपद - ४०५  
 उपदेशमाला-दोषट्टी वृत्ति - १८८, २०६,  
 ३०१  
 उपधान श्रुत - ७५, ८६  
 उपसर्गहर स्तोत्र - ३२५  
 उपासक दत्ता सूत्र - ३५, ३६, ७३, १४६  
 उपसर्गहर स्तोत्र - ३३३, ३६२, ३७२,  
 ३७४, १५२, १७४, १७७, ६८७,  
 ६८८  
 उषवाइय (भागम) - १३६, ६८७  
 (अ)  
 ऋग्वेद - ७, ४६  
 ऋषिभाषित ग्रन्थयन - १५७, ३२५  
 ऋषिमण्डल स्तोत्र - ५६७  
 (ए)  
 एपिटोष - ४२१, ४२६  
 एरण की प्रशस्ति - ६६५  
 (ओ)  
 ओष-विवृक्ति - ३६१, ३६८, ६८६, ६९०  
 ओष (सूत्र) - ३६६  
 (घी)  
 भीषपातिक सूत्र - २४६, ६८८  
 (क)  
 कषासरित्सागर - ५३६, ५४२, ५४६, ५४७  
 कल्पियाकल्पियं (श्रुत) ६८७  
 कल्पिया - ६८८  
 कल्पवर्द्धसिया (श्रुत) ६८८  
 कम्मपयडि - ७२४  
 कर्मग्रन्थ - ६८१  
 कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ वृत्ति - ६८१  
 कर्मप्रकृतिपद - ७०४  
 कर्म प्रवादपूर्व - २६, १६७, १७५, ६००  
 कर्म विपाक - १२५  
 कर्मवेद ग्रन्थ पद - ७०४

कल्याणवाद पूर्व - १६८  
 कल्प किरणावली ५१६, ५२०  
 कल्पक्षुणि - ३७५, ४५३, ४५४  
 कल्पभाष्य - ३६६  
 कल्प व्यवहार - ६१७  
 कल्प सुबोधिका - ८, १३, १४, ३८, ५०८  
 कल्प सूत्र - ५, २७, ३२४, ३२५, ३७२,  
 ४१०, ४६३, ५१६, ५२०, ६६२,  
 ७५३, ७७०  
 कल्पसूत्रस्वविरावली - ६१, ३२४, ४४२,  
 ४६३, ४६४, ४७३-४७५, ५६५,  
 ५८२, ५६७, ५६८, ६४४, ६४५,  
 ६४८, ६७५, ६७६, ६८१-६८५,  
 ६६२  
 कल्पान्तर्वाच्यानि - २०८  
 कल्पावर्तसिका (उपांग) - ६८८  
 कल्पिका - ६८८  
 कल्याणफलविपाक - ३४  
 कल्याण मन्दिर स्तोत्र - ५२६  
 कषायपाहुड - ६४, ५३४, ५३३, ५३५,  
 ७०२, ७२३, ७२४  
 कषाय-प्राभूत - ७५४  
 कहावली - ३०, ३६, ३७, ५०५, ५०६,  
 ५१३, ५४२, ६५१, ६५२  
 कारपसहन्कृपशर्न इन्डिकेरम् - ६७२  
 कालसप्तिका सूत्र - ५१६  
 कालिक सूत्र - १३४, ३६४, ३६६, ५६५  
 कालिक श्रुत - ६४४, ६५०, ६७८, ६८७  
 कालिक उत्कालिक सूत्र - ६८६  
 काव्य मीमांसा - ६६८  
 काव्यालंकार - ६५६  
 काष्ठासंघस्यगुर्वावली - ७२५, ७३३  
 किताबबुलहिन - ५५०  
 कुन्दकुन्द प्राभूत संग्रह - ७६०, ७६१, ७६३  
 कुरल (ग्रन्थ) - ७६१  
 कुबलयमाला - ७१२, ७१४  
 केवली-भुक्ति - ६५, ६१७

केम्ब्रिज हिस्ट्री - ४१६, ५४६  
 कोमलप्रश्न अध्ययन - १५७  
 कौमुदीमहोत्सव नाटक - ६६६  
 क्रियाविज्ञानपूर्व - २६, १६८, १७५  
 क्रियास्थान अध्ययन - १२२  
 कुल्लकाचार - ३२१

(ख)

सातोदक - अध्ययन - १४६  
 सारबेल का शिलालेख - ४८३  
 कुण्ड्याविमारा पवित्रती - ६८८  
 कुशलपट्टावली - ५३६

(ग)

गण्डिकानुयोग - १६६  
 गन्ध हस्ती के विवरण की टीका - ५२६  
 गच्छाचार पडना ३२७, ३२६, ३३३, ३६२  
 गणधरवाद की टीका - २०  
 गणहर सत्तरी - ६२  
 गणपिटक (सूत्र) - ६६, १२८, १४२,  
 १७०  
 गणबिज्जा (श्रुति) - ६८७  
 गणविद्या - ६८६  
 गरुडोववाए - ६८८  
 गर्गसंहिता - २६४, २७४  
 गार्गी संहिता - ४६०  
 गाथासप्तशती - ५४५, ५४६  
 गुर्वावली - ३६२, ५६८  
 गुरुपट्टावली - ३२३, ३३६  
 गोम्मटसार - ७३, ६१, २३३  
 गोविंद नियुक्ति - ६६३  
 गौतम चरित्र - २८, ४०, ४१

(घ)

चन्द्र अध्ययन - १४६  
 चन्द्र गच्छ - ७६६  
 चन्द्र प्रज्ञप्ति - ३३०, ६८८  
 चंद्रविजय - ६८७

चउपस महापुरिस धरियं - ११, १७, १८  
 चतुशरणाप्रकीर्णक - ६८६  
 चरणबिहि - ६८७  
 चुल्लकप्पसुयं - ६८७

(ङ)

छिन्नछेदनय - ६८७  
 छेदसूत्र - ३५८, ३५६, ६१७

(च)

जम्बू चरित्र - २०४, २०६, २१५, २२२,  
 २२८, २३१, २३३, २३४, २३७,  
 २३८, २४०, २६४, ३०१, ३०६,  
 ३१५

जम्बूद्वीपपण्यती - ६८८, ७२४, ७३४,  
 ७४८, ७६६

जम्बू स्वामी चरित्रम् - ६५-६७, १६०,  
 १६४, २३३, २३५, २३६, २४०,  
 २४२, २४७, २४८

जरनल आफ दी बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च  
 सोसाइटी - २५०

जय धवला - ७२, ६१, ११०, ५३४, ५३५,  
 ५५३, ५५४, ७०२, ७१४, ७२४,  
 ७२५, ७४८, ७५२, ७५६

जीतमर्यादा - ५०८

जीवाभिगम - १३६, ६८७, ६८८

जैन इतिहास की पांडुलिपि ६३३

जैन ग्रंथ और ग्रंथकार - ७१४

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास - १६६

जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग -  
 ३४, ३७, १३६, २५५, २८०,  
 ४८८, ७७०, ७७५

जैन धर्म तो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास - ५१  
 ५२

जैन परंपरा तो इतिहास - २८६, ६२३

जैन शिलालेख संग्रह भाग १ - ७५५, ७५६,  
 ७६६, ७६८

जैन साहित्य और इतिहास - ६१६, ६१७

जैन सिद्धान्त भास्कर-भाग - १ - ७२५

जैन साहित्य संशोधक - ५१, ५६०, ६२१,

७१५, ३५७, ६३३, ७२६

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष - ३५७, ६१५, ६३३,

७२८, ७२९, ७४०, ७५५, ७६३

ज्ञाता धर्म कथा - } ५६, ७०, ७३,

साया धम्म कहामो - } ९५, १०५, १४३,

१४४, १७५, १७७, २२९, ६८८

ज्ञान प्रवाद पूर्व - २६, १६७, १७५

ज्योतिष करण्डक - ६५१, ६८९, ६५२

(क)

आणविसती - ६८७

(ख)

तंदुलवेमासिय - ६८७

तत्त्वार्थसोकवातिक - ७१

तत्त्वार्थसूत्र - २५, ४९३, ४९४

तपागच्छ पट्टावली - ५१, २३१, ३२३,

३३६, ३६४, ५०८, ५३१, ५०७,

५५९, ५९३, ६२२-६२४, ६४६,

७१५

तपागच्छसूत्र पट्टावली - ५१, ५००

तरंगवती (काव्य) - ५५७

तात्पर्यवृत्ति - ७५८

तित्तोगोलीपद्म - ५, ९८, १७९, १८१-

१८५, ३२७, ३२८, ३६०, ३६१,

३७३, ३७७, ४०५-४०७, ४१२,

४१३, ४३५, ४३६, ५१९, ६९०,

६९१, ७००

तिसोयपण्णसी - ५, ३५, ६४, १८५,

१८५, २३२, २३६, ५१७, ५५५,

७०१, ७२५, ७२५, ७३१, ७३५,

७३५, ७४१, ७४८, ७५२

तेतलीपुत्र अध्ययन - १४७

त्रिपदी (सूत्र) - ७२२

त्रिसोकसार - ५१७

त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्र - ९, २४, २६,

२९, १०८, २५०, ४३६

(ग)

दुर्दुर अध्ययन - १४६

दर्शन शुद्धि सटीक - ५३३

दर्शनसार - ३३७, ३४४, ६१६

दर्शनप्राभुत की टीका - ६१८

दशवैकालिक सूत्र - १, ७०, १०५, १०९,

१७८, ३१९, ३२०, ३२५, ६१७,

६६८, ६८७, ६८९

दशभुत स्कंध - १८०, ३२५, ३२६, ३६०,

३६३, ३६९, ३७२, ३७५, ५१५,

५२०, ६८८, ६८९

दिट्ठिवाय - १६६, ६८७

दिग्भाषदान - ४८५, ४९१

दी गुप्ता एम्पायर - ६३५, ६३६, ६४२,

६४७

दी जरनल आफ दी प्रोरिसा बिहार रिसर्च

सोसायटी - २५१

दी हिन्दू हिस्ट्री आफ इण्डिया - २५१

दीप बंध (ग्रंथ) - ४४८

दीपालिका कल्प - ४८०

दीर्घनिकाय - २७४

दीवसागर पण्णसी - ६८८

दुःख विपाक - ७१, १६५

दुष्कमा अमण संघ स्तोत्र - ३७८, ४४१

दृष्टिवाच - ७०, ७३, ९७, १०९, १६६,

१६९, १७५, १७५, १७८, ४०६,

५९७, ५९१, ५९५, ७०३, ७०७,

७२१, ७३०, ७९५,

देवीचन्द्र कुण्ड (नाटक) - ६६७, ६६९

देविन्दवच - ६८७, ६८९

दीपटीवृत्ति - ३०१, ३२९

इक्षुताधिकार सूत्र - ६७८

इक्षुत - ६७८

इक्षुतानुवांग - ४९५, ४९५

(घ)

- धन्नासार्थवाह के अध्ययन - १४४  
 धरणीवर्षाए - ६८८  
 धर्म अध्ययन - १११  
 धर्म प्रकरण - १०१  
 धर्म संग्रह १२०  
 धर्मोपदेश माला - ६८१  
 ध्वला - ७०, ६१, ६५, ११०, १५४, १५७,  
 २३३, ६१३, ७०१, ७०२, ७०८,  
 ७०६, ७२३, ७२८, ७३०, ७३१,  
 ७३४, ७४१, ७४८, ७५१, ७५२,  
 ७५६, ७६३

(ङ)

- नदि ग्राम्नाय की पट्टावली - ७३५  
 नदि जूलिए - ६३, १६७, १६६, १८१, ४४४,  
 ६५३, ६५५, ६८०, ६८५  
 नदीफळ अध्ययन - १४७  
 नदी बालावबोध - १७६  
 नदी मलयवृत्ति - १०८, १५७  
 नदी वृत्ति - १७४, ४७३  
 नदी संध की प्राकृत पट्टावली - ७०१, ७२६,  
 ७२८, ७३४, ७५४, ७५५, ७६४,  
 ७६५  
 नदीसूत्र - ६६, ७२, ७५, ७६, ६०-६२,  
 ६४, ६७, ६६, १०२, १०६-१०८,  
 ११०, ११५, १२६, १५६, १५७,  
 १६६, १६६, १७४, १७६, १७७,  
 १८१, ३७५, ४४४, ४७४, ५३५,  
 ५५०, ५५२, ६४४, ६५६, ६६४,  
 ६७४, ६८०, ६८१, ६८५, ६८७,  
 ६८६, ७१८, ७१६, ७२१, ७५५  
 नदी स्वविरावली - १८१, ३२२, ४७२,  
 ४६३, ४६४-५०६, ५१०, ५१०,  
 ५३२, ५३४, ५३५, ५५३, ५८६,  
 ६४४, ६५०, ६५३, ६५४, ६५५,  
 ६६३-६६५, ६७४, ६७५, ६८२-  
 ६८४

- नन्दी हारिमद्रीया वृत्ति - २६, ६८०  
 नकुली क्रिया - ५६३  
 नयदृष्टि - ५६६  
 नरक विभक्ति - १११  
 नलिनी गुल्म अध्ययन - ४६०-४६२  
 नव ब्रह्मचर्य - ७५, ६२, ६३ ६५, ६६,  
 १०३, १२५  
 नागपरियाबलियाभो - ६८८  
 नागार्जुनीयावाचना - ६७८  
 नाट्यदर्पण - ६६७, ६६८  
 नायाधम्म कहुरमो - ७१, १४३, २२६,  
 २३०, ६८७  
 नालंदीय अध्ययन - ११३, ११५  
 निरयावलिक्का सूत्र - ६०, ६२३, ६८८  
 निर्वाण कलिका - ५५८  
 निशीथ - ६०, ६६-१०३, १०६, १०६,  
 ३२५, ३६०, ३७२, ३७५, ४४३,  
 ४४४, ४५५, ४५७, ५१०, ५१२  
 ५१३, ५१५, ५१७, ५१६, ५३०,  
 ५३२, ५३३, ५३८, ५५६, ६६३,  
 ६७८, ६८८, ६८६, ७६१  
 निशीथ भाष्य - ४५६  
 निशीथभाष्य जूलिए - ४५५  
 नीतिसास्त्र - २१२  
 नीतिसार - ६१४  
 न्यायावतार - ५२६

(घ)

- पंचकल्प जूलिए - ३६०, ५११  
 पंचकल्प भाष्य - १०१  
 पंचकल्प भाष्य की जूलिए - ३६०  
 पंचकल्प महाभाष्य - ३६०  
 पंचसिद्धान्तिका - ३७२  
 पंचस्कन्धवाद - १११  
 पंचास्तिकाय की टीका - ७६४, ७६७  
 पंचास्तिकाय प्राभूत - ७५६  
 पंचास्तिकाय संग्रह - ७६०  
 पतंजलि व्याकरण भाष्य - ४६१  
 पतंजलि व्याकरण - ४८५

पट्टावली समुच्चय - ५, ३२३, ३३६, ३७८  
४६३, ५२०, ५६८, ६१६, ६५६,  
६५०, ७१५,

पञ्चाबागरण - १५६, ७६८

रत्नमिनी खण्ड - ५५०

पद्मबला - १३६,

पद्मावला - ४६५, ४६६, ६८७, ७०२-  
७०७, ७१२, ७१५-७१७, ७१६,  
७२१-७२३, ७२६

प्रमायप्यमाय - ६८७

परिकर्म - १६६, ७५५, ७६२

परिशिष्ट पत्र - २२१, २२३, २२५, २२६,  
२३२, २५७, २६२, २६७, २६८,  
२६९, २७३, २७५, ३२२, ३५६,  
३७५, ४१३, ४२३, ४२८, ४३५,  
४४२, ४४५, ४४६, ४५५, ४५७,  
४६२, ४४२, ५८१, ५६३, ५६५,  
७७४

पाणिनी व्याकरण - ४६०

पादलिप्तसूरि चरितम् - ५५६

पार्श्वबला - ६०

पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास - ३८०

पार्श्वनाथ बस्ती का शिलालेख - ३५८

पिण्डनिर्युक्ति - ३६६, ५३७, ६८६, ६९०

पिण्डपात अध्ययन - १०४

पिण्डबला - ६०, ६१, ६३, ३२१

पीयरागसुर्य - ६८७

पुण्यसप्तशती - १२०

पुण्डरीक अध्ययन - १५८

पुनाटसंघ की पट्टावली - ७४०, ७५२

पुण्यश्रुतिका - ६८८

पुर्वगत विभाग - १६७

पोरिसिद्धि - ६८७

प्रकीर्णक प्रकृति ३५७

प्रज्ञापना सूत्र - ४६५, ६८८, ७०३-७०५,  
७१५, ७२३

प्रतिष्ठाण संश्लेषणी - ११०

प्रत्याख्यान पूर्व - २६, ६८, ६९, ११३,  
१२४

प्रत्याख्यानपद पूर्व - १६७, १७५

प्रबन्ध कोश - ३२७, ३३४, ५२४-५२६,  
५५६, ६०५, ६०५, ६०७,

प्रभावक चरित्र - ५५, ८६, ४६५, ५०६,

५२३, ५२५, ५२७-५२९, ५३१,

५५०, ५५२, ५५६, ५५८, ५५९,

५६७, ५७२, ५७६, ५७८, ५७९,

५६५, ५६७, ६२४, ६३५, ६४६,

७८५, ७८६

प्रभुवीर पट्टावली ५१, ५२

प्रवचनसार - ७१७, ७५७-७५९, ७६१

प्रवचन सारोद्धार - ३१, १६६

प्रश्न व्याकरणसूत्र - १, ७३, ६५, १००,

१०५, १०५, १५६-१५८, १६४,

१७४, १७८, ५५८, ६८८

प्राकृत पट्टावली - ७०२, ७२४-७२६, ७३७,

७४२, ७४३, ७४५, ७४६-७४८,

७५१, ७५४

प्राणवायु पूर्व - २६

प्राणायाम पूर्व - १६८, १७५

प्राभूत संग्रह - ७२३

प्रोबलेम ऑफ सता एण्ड सातवाहना हिस्ट्री -

५५५

(ब)

बस्तीसद्धान्तिकार्य - ५२६

बलात्कारण की पट्टावली - ३५७

बाहु प्रश्न अध्ययन - १५७

बुद्ध चरित्र - ६३५

बोध पाहुड़ - ६३२, ७२२, ७२३

ब्रह्म श्रुतावतार - ७३२

ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुत स्कंध - ७३२

ब्रह्माण्ड पुराण - ६३७

(ग)

भक्त प्रत्याख्यान - ६८६

भक्तामर स्तोत्र - ६४५, ६४६

भगवती आराधना - ६१७, ६१८, ७५५

भगवती - ५६

भगवती व्याख्या - १४२, १७०

भगवती शतक - ५६

भगवती सूत्र - ३५, ३६, ४०, ४३, ६५,  
१३०, १३१, १४०, १४१, १७२,  
६८८, ६९०, ७००

भद्रबाहु चरित्र - ३५३, ३५४, ६११-६१३,  
६१५

भद्रबाहु संहिता - ३२५, ३७२-३७४

भद्रसार - ४४८

भयहर स्तोत्र - ६४६

भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति २७३

भविष्यपुराण - ५४६

भागवत - २५२, २५४, २७५, २७७, ४८२,  
४८७, ४८८, ४९१, ४९२, ४९८,  
५४७, ५६१

भागवत पुराण - २६०, २६५, २६६, २७६,  
२७७

भीमना ६०, १०४

भावप्राभूत - ६३२

भाव संहार - ३३७, ३४४, ६११, ६१३

भारवैश्या - १०४

(म)

मंगू कथा - ५३३

मंडल प्रवेश (श्रुति) - ६७८

मत्स्य पुराण - २५०, २५४-२५६, ४८२,  
४९१, ५६१, ६०४

मधु बिन्दु का आख्यान - २९४

मयूरगण्ड अध्ययन - १४५

मरण समाधि - ६८९

मरणविभक्तौ - ६८७

मलयगिरीया नन्दी वृत्ति - ६८०

मलयगिरि पिंडनिर्मुक्ति टीका - ३२६

मत्स्यी अध्ययन - १४५

महत्त्वियाविभावपविभक्तौ - ६८८

महाकल्पसुय - ६८७

महानिसीह - ६८८

महानिसीह - ६८४

महापञ्चक्वाराण - ६८७

महापञ्चावराण - ६८७

महापरिज्ञा (अध्ययन) - ७५, ८२-८७,  
१०३, १७७, ५७३, ५७८

महापुराण - १८५, २२७, २३३, २३८,  
७३४

महाप्रत्याख्यान - ६८९

महाभारत - १२०, २५१, ५००

महावंश - २७४, ४४८, ४५७

महावीर चरित्र - २४, २७, २९, ३१, ३२,  
४०, ५०, ३४५, ३४६

महावीर भाषित अध्ययन - १५७

महावीर वाणी - १७०, १८६

महाभ्युत्पत्ति - १२०

महाभूमिसाम्राज्याण - ६८८

महाभूमि अध्ययन - १०६

माधुरी शाचना - ६६४

मालविकाग्निमित्र - ४९८, ६२९

मिर्चिन्दपत्नी - ४९८, ६२८

मुण्डकोपनिषद् - ८०

मुजमलुतवारोक्त - ६६९

मुद्राराक्षस - ६६७, ६७०

मेरुतु गीयास्थविरावली - ४७१, ४७२

मेरुतु गीया स्थविरावली टीका - ६८१

मेरुतु गीयाविचार श्रेणी - ६८२, ६८५,  
७१९

मोन्योर मोन्योर डिक्शनरी - ५६१

मौर्य साम्राज्य का इतिहास - ४५०

(न)

यजुर्वेद - ७, ४९

युग पुराण - ४९९

युग पुराण प्रकरण - ४९०

युग प्रधान पट्टावली - ३२२, ३७५, ४४१,  
४७२, ५३५, ६५५, ६६४

योग बिन्दुसार - ३०

योगरत्नमाला - ६५६



योग रत्नावली - ६५६  
योगशास्त्र प्रकाश - ५५१, ६५२, ६७८

(र)

रत्नमाला - ६२७, ६२८  
रत्न संक्षय प्रकरण - ४६६, ६६२  
रत्नल - ६७०  
राजवातिक - ७१, ६१, ११०, १५४, १५५,  
१५७

राजवातिक टीका - ७१  
राजपसेणाहज्ज - १३६, ६८७  
राजप्रमनीय - ६८८  
रूपनाथ (गिलालेख) - ४५०

(स)

सलितविस्तरा - ६१६, ६१८, ६१९  
साहस (पुस्तक) - ४३७, ४३८  
सिंग पाहुड - ६२७  
लोकविन्दुसार पूर्व - २६, १६६, १७५  
लोकविजय - ७५, ७६  
लोक विभाग (अ) - ४३-४५  
लोकसार - ७५, ७८

(ब)

बभ्रुवसाधो - ६८८  
बराही संहिता - ३३  
बह्णोबबाए - ६८८  
बस्समीवाचना - १३६  
बबहारो - ६८८  
बसुदेव चरित - ३२५  
बसुदेवर्हिही प्रथम अंश - २००, २०५, २०६  
बस्सकथा - ६०  
बापु पुराण - २५०, २५३, २५४, २५६,  
२६३, २६४, २७४-२७८, ४४८,  
४८२, ४६१, ५६१, ६०४, ६०५,  
६३७, ६४०, ६४१, ६४३, ६५८,  
६७३  
बापकर्म की पट्टावली - ७१६

वासवदत्ता - ५४६  
विक्रमचरितम् - ५४०  
विक्रम चरित - ५५०, ६७०  
विक्रम स्मृति ग्रंथ - ५४६  
विचार श्रेणी परिलिख्टम् - ४६५, ४६६,  
५११, ५१४, ५१५, ५४२, ६०७,  
६२२, ७१५, ७१८

विजयसिंह सूरिचरित - ५३१  
विजयोदया टीका - ६१७, ६१८  
विज्जाचरण विणिष्णो - ६८७  
विधिपक्ष पट्टावली - ६८६  
विधानुप्रवादपूर्व - २६, १६७, १७५, ४७५  
विनयसमाधि - ३२१  
विपाक सूत्र - ७३, ६५, १६४, १७४, १७८,  
६८७, ६८८

विमुक्ति - ६१, ६६, १०१, १०२  
विमोक्ष - ७५, ८७  
विमोह - ८७  
विवाह कूलिया - ६८८  
विक्सापण्णति - ७३  
विवाहपण्णति - १३०, १४०, १७६, ६८७  
विहारकण्णो - ६८७  
विशेषावश्यक टीका - ३६१  
विशेषावश्यक भाष्य - ७७, १८, ५६२, ६००,  
६०२, ६०८-६१०, ६१३, ७०४,  
७६१

विशेषावश्यक भाष्य टीका - १  
विष्णुपुराण - ४८२  
वीरवेत्तपट्टावली - ६३  
वीरवंतावली - ५८०, ५६०  
वीरस्तुति - १११  
वीर अण्णयन - १११  
वीर प्रवाद पूर्व - २६, १६७  
वीर वर्धमान चरित - १२  
वृद्धपट्टावली - ५२  
वृद्धाविमुरि चरित - ५५  
वृहत्कथा - ५३६, ५४६, ५४७

बृहत्कथाकोश - ३४१, ३४४, ५८२-५८४,

६११-६१३

बृहत्कथामंजरी - ५४७

बृहत्कल्प ब्रूणि - ४४५

बृहत्कल्पपीठिका की टीका - ३६२

बृहत्कल्प भाष्य - ४४८, ५१० ५५६, ५६०,

६६४, ७६२, ७६३

बृहत्कल्प सूत्र - ३६६, ५२३, ६८६

बृहदारण्यकोपनिषद् - १६

वेदनाखण्ड - ७०१, ७३०

वेदवेदकण्ठ - ७०५

वेलघरोववाए - ६८८

वेसणोववाए - ६८८

वैदिकसाहित्य - ३०७

वैशेषिक दर्शन - ५६५

व्यवहारकला - १०१

व्यवहारभाष्य - १८१

व्यवहार सूत्र - ३२५, ३६०, ३७२, ६८६

व्याख्या प्रशस्ति - ७०, ७३, १३०, १३१,

१३८, १४३, १७०, १७२, २२६

(भा)

मातक ब्रूणि - ७२४

शास्त्रपरिज्ञानप्रध्ययन - ६६४

शीतोष्णतीय - ७५, ७७

शीलांक कृत आचारांग की टीका - ८२, ८६,

३६१

श्रमणसंघस्तोत्र - ३७८, ४७१, ५५२, ६०३,

६३१, ६५५, ६६४, ६६३, ७१५

श्राद्धदिनकृत्य - ६६४

श्रुतधर पट्टावली - ७३३, ७३४, ७४८

श्रुतरत्न ७२१

श्रुतावतार - १८४, ७०१, ७०३, ७१०,

७११, ७२४, ७२५, ७२७, ७३१,

७३४, ७३७, ७३६, ७४०, ७४२,

७४८, ७५१, ७५२, ७५४, ७५६,

७६३

(ब)

बट्कल्याणगम - २३३, ७०१-७०७, ७०६,

७११, ७१४, ७१६, ७२२-७२४,

७२८-७३०, ७३६, ७४२, ७४३,

७४७, ७५२, ७५४, ७६१, ७६२

बह्जीवनिकाय - ३२१

बह् दर्शन समुच्चय - ६१५, ६१८

(स)

संग्रहाद्या - ७४

संग्रहणीपद - १४१

संदेहविषोषधि - ५१६

संबोध प्रकरण - ६२६

संलेह्यासुर्य - ६८७

संस्कृत इंग्लिस डिक्सनरी

बायसर मोनियरविलियम्स - ६०७

संस्तार प्रकीर्णक - ६८६

सत्यप्रवाद पूर्व - २६, १६७, १७५

सन्मतितर्क - ५२६

सप्ततिका ब्रूणि - ७२४

सप्तसप्तिका - ८५

समयभामृत - ७५७

समयप्रामृत (सूत्र) - २७, ३२, ३४, ६६,

७०, ७२, ७३, ७५, ७६, ६१-६७,

६६, १००-१०८, ११०, ११५,

१२०, १२१, १२२, १२४, १२५,

१२६, १३०, १५६, १५७, १६६,

१६६, १७४, १७७, १७८, १८०,

३७५, ६८७, ६८८

समाधि - ११२

समुद्राणसुर्य - ६८८

सवार्थसिद्धि - ७१

सहसराम (मिलालेख) - ४५०

सामवेद - ७, ४६

सारसंग्रह ४३०

सिंहासन बत्तीसी - ५४२

सिद्धसेन स्तुति - ५२६

सुखविपाक - ७१, १६४

सुतपाहुड - ७६१  
सुत्तागम - १७१, ७००  
सूत्रकृतांग - ७३, ६५, ६६, १०२, ११५,  
११५, १७५-१७७, १८०, ३२५,  
३६६, ३७०, ६८७, ६८८  
सूरिमन्त्र - ४७६  
सूर्य प्रज्ञप्ति - ३२५, ३३०, ३७५, ६८७  
६८८  
सौन्दरानन्दम् - ६३५  
स्कन्दपुराण - ५५७  
स्कन्दिलीय अनुयोग १८१  
स्त्री मुक्ति प्रकरण ६१७, ७०१  
स्वार्नांग - ६, ७, ७०, ७३, ७६, १००,  
१०२, १०५, १०५, ११६, १२०,  
१२१, १२६, १५५-१५७, १६६,  
१७५, १७७, १८०, २२५, ३७५,  
६१३, ६८८,

स्मिन्स अशोका - ५१६  
(ह)  
हृत्थिसुत - ५२८  
हाथीगुंफा के शिलालेख - ५८०  
हरिमद्रीया प्रज्ञापना वृत्ति-७१२, ७१६, ७२०  
हरिवंश पुराण - ४६६, ४६७, ७०१, ७०३,  
७११, ७२३-७२७, ७२६, ७३५,  
७३७, ७४०-७४२, ७४७, ७४८,  
७५०, ७५२, ७५५, ७६२, ७६३  
हरिवेण कयाकोष - ४५६  
हर्ष चरित्र - ६४०, ६६८  
हिमवन्त स्थविरावली - ६१, २८६, २८७,  
४७५-४७७, ४७६-४८१, ४८३,  
४८५, ४८६-४८८, ४६१-४६५,  
५०८, ५४१, ५४२, ६४८, ६४६,  
६५१, ६५५, ६७८, ६७६, ७०८,  
७१८, ७८०-७८२  
हिस्ट्री आफ दी गुप्ताज - ६१६

(घ) मल, सम्प्रवाय, वंश, गोत्रादि

(आ)

मंग वंश - १२७  
मकारकवाद - १११  
मक्रियावादी - ११०, ११२, ५६८, ५६६  
मग्निवेश्यायनगोत्र - ४६, ६२  
मषेलक परम्परा - १३१, ३१५  
मज्जवहतिपासिष्ठा - ४६५  
मज्जकुबेरा - ४६५  
मज्ज जमन्ती - ४६५  
मज्जतावसी - ४६५  
मज्जनाइली - ४६५  
मज्जपोमिष्ठा - ४६५  
मज्जवेडय - ४६५  
मज्जसेलिवा - ४६५  
मज्जानवादी - ११०, ११२  
मज्जस्तकीविसंघ - ६१५  
मज्जदिग्धिवा - ४६५  
मज्जराहित संघ - ६१३, ६१५, ७३८  
मज्जवदय (कुल) - ४६५

मग्गक्तवादी - ४१५, ४१७  
मग्गवायन (जाति) ४१८, ६२३

(आ)

मांचलगच्छ - ६२३  
मात्मवष्टवाद - १११  
मात्मद्वैतवाद - १११  
मापुलीय संघ - ६१५

(इ)

इम्वाकुवंश - २५२, २५६  
इम्प्रपुरण (कुल) - ४६५  
इस्ताम - ६७०

(ई)

ईतिगुत्तिथि - ४६५  
ईतिवैतिय - ४६५

(उ)

उच्चाणानगरी - ४६५  
उच्चाणिक - ४६५  
उत्तरवत्तिसह - १७६, ४६३, ४७५

उद्देहगण - ४६४

उदुंबरिज्जिया - ४६४

उल्लगच्छ - ४६४

(ए)

एकार्थवाद - १११

एलापर्य - ४४०

(ऐ)

ऐलवंश - ४८७, ४८८

(ओ)

ओसवंश - ६५, ६७८

(औ)

औनुक्यगोत्र - ५६५

(क)

कण्हसह - ४६५

कदम्बवंश - ६१६, ७५७

कर्तृत्ववाद - १११

कलिग राजवंश - २८७

कलिग (शाखा) - ४८८

कश्यप गोत्र - २२६

काकन्दिया - ४६४

कात्यायन गोत्र - १६२

कान्तिपुरी (शाखा) - ६४०

कामद्विदय - ४६४

काश्यप - ३८०, ४६७, ६७५, ६७६, ६८२

काष्ठावंश - ६१३, ६१४

कासवज्जिया - ४६४

कुशील - १११

कुवाणवंश - ६३४, ६३६, ६३८, ६३९

कुर्मं ग्रन्थयन - १४४

कुत संवत् - ५३६

कोटिकगच्छ - ६३३

कोटिकगण - ४६५

कोटिवणिका - ४४४

कोडंबाणी - ४६३, ४७५

कोडीवरिसिया - ३८०

कोसांभिका - ४६३

कोसंबिया - ४७५

कोशिक गोत्र - ४६३, ५०६, ५०८, ५६५

किमावादी - ११०-११२

क्षणिकवाद - ४६६

(ख)

खरतरगच्छ - ६२२

खेमिलज्जिया - ४६४

(ग)

गणधरवंश - ४६६

गणिया - ४६४

गवेधुया - ४६५

गणधर संघ - ६१३, ६१४, ७३८

गुप्त राजवंश - ६३६, ६४१, ६४२, ६४६,  
६४७, ६४६, ६४८, ६६६, ६६७,  
६७०

गुप्त संघ - ६१३, ६१४, ७३८

गुप्तसंवत् - ६५७

गुप्तसाम्राज्य - ६६४, ६६८

गोदासगण - ३८०, ४४४

गोपुच्छक - ६१४

गोप्यसंघ - ६१३-६१४

गोयमज्जिया - ४६५

गौतम गोत्र - ७, ३५, १८०, ३८५, ५३६,  
५६८

(घ)

घन्दनागरी - ४६३, ४७५

घन्द्रकुल - ४६५, ६२०, ६२५

घन्द्रगच्छ - ५०६, ६२२, ६२३, ६३६

घन्द्र - ५८२, ६२५

घन्य संघ - ६१३, ६१४, ७३८

घन्यवंशी - २५२, ४८७, ४८८

घम्पिज्जिय - ४६४

वालुर्याम धर्म - १४८

वेटवंशीय - ४८३

वेदिराजवंश - २४८, २८६, ४८८

वैत्यवासी - ६२७, ६२८

(च)

जयन्ती शाखा - ५८२, ५६८

(ग)

तपागच्छ - ५६८  
 तापसीशाखा - ५८२  
 तामलितिया - ३८०  
 ताम्रलिप्तिका - ४४४  
 तालजंघ - २५२, ५००  
 तुंगिपायन - ३२२  
 तेरापंथ - ६८६, ७०१,  
 तैराशिक - १११, ५६५

(घ)

वासी खन्डिया - ३८०  
 विर्गबर परंपरा - २७, २८, ३५, ४०, ४३,  
 ६५, ६५, ६७, ७२, ७३, ६१, ६५,  
 ११०, ११६, १५५, १५६-१६८,  
 १६६, १७५, १७५, १८५, १८५,  
 २२६, २२७, २३२, २३५-२३६,  
 २४०, २६१, ३१५-३१६, ३२२,  
 ३२५-३२७, ३३७, ३४१, ३४५,  
 ३५७, ३५७, ३५८, ३८३, ४१३,  
 ४४६, ४१७, ४३५, ४५३, ४८२,  
 ४८५-४८६, ६०३, ६०८, ६१०,  
 ६१३-६१६, ६२०, ६२७, ६२८,  
 ६३१-६३३, ६४८, ६७५, ६६६-  
 ७०२, ७०७, ७०८, ७११, ७१६,  
 ७१७-७२६, ७२६, ७३१, ७३५,  
 ७४०-७४४, ७४७, ७४६, ७५०,  
 ७५२, ७५५, ७५७, ७६२, ७६५,  
 ७६६, ७७५, ७७६, ७७७

दी गुप्ता एम्पायर - ६३६  
 देवसंघ - ७३८, ७५३  
 देहात्मवाद - १११  
 द्वाविड़ संघ - ६१४  
 द्विक्रियावादी - ४६७, ४६८  
 द्विबन्दनिक गच्छ - ३८०

(च)

धर्मघोष गच्छ - ६२३

(न)

नन्दवंश - २६७, ४२२, ४२२, ४३३, ४३५,  
 ४३६, ४३६, ४४०, ४५३, ४८०,  
 ५१६, ५४२, ५४२  
 नन्दिज्ज - ४६५  
 नन्दीसंघ - ३५७, ६१५, ७०२, ७२५, ७२५-  
 ७२६, ७३७, ७३८, ७४२, ७४३,  
 ७४५-७४८, ७५१, ७५३, ७५५,  
 ७६५

नन्दीगण - ६१३

नाइस्ल - ५१६

नाइली जाला - ५५३, ५८२, ६२०, ६२२

नागदत्तक - २५५

नागभूय - ४६५

नागवंशी - २५५, ६०५, ६०५, ६३७, ६४१,  
 ६६०

नागार्जुनीया - ६८१, ७१८, ७१६

नागेन्द्रकुल - ४६५, ५५३, ६१३, ६२०,  
 ६२१, ६२५, ६३२, ६६५, ७६६

निर्ग्रन्थगच्छ - ४७६, ६२५, ६३२, ६३३

निवृत्ति - ६१३, ६२०-६२१, ६२५, ७६६

निव्वुई - ५८२

निष्पिच्छक संघ - ६१५

नेउगिया - ४६५

(प)

पंचस्तूपसंघ - ६१३, ६१५

पंडवदशिया - ३८०

पंडुमित्र - ६७३

पट्टमित्र - ६७५

पण्डवाहमय - ४६५

पयावती - ६४०

पत्सबवंशी - ७५७, ७६१

परिहासय - ४६५

पाल्पडमत ११०

- पारिवकुल - ५१२  
 पाणिन्यन - ६०६, ६०७, ६२६, ६३५  
 पार्ष्णीपरम्परा - ३७६  
 पार्ष्णीपत्य - १३२, १३८  
 पीड्यन्मिथ - ४६५  
 पुष्करिक तप - ५५१  
 पुष्करवर्द्ध भिका - ४४४  
 पुष्पवतिका - ४६४  
 पुष्पाट संघ - ३४१, ६१४, ७०३, ७२८, ७२९  
 ७३४, ७४०, ७५०, ७५७, ७६२,  
 पुष्पवंश - ४८८  
 पूर्णमिथा - ४७५  
 पूरुमिसिञ्ज - ४६५  
 पद्मालपुत्र - ११३  
 पोमिषी - ५८२  
 पौरव - २४८, २८६  
 प्रद्योत - २४८, २७६, २८६  
 प्राचीनगोत्रीय - ३२५, ३२७, ३६०, ३७१  
 प्रियव्रत - ४७७, ५०६-५०८

(ब)

- बहुमन्त्र - ६२२  
 बरुमसिञ्ज - ४६५  
 बलात्कारगण - ६१३, ७४५  
 बागडसंघ - ६१४  
 बेसबाधिवगण - ४६४  
 बोटिकमत - ६०८, ६१३  
 बोधिभिसि - ४७५  
 बौद्धधर्म - ४७, ४६६, ४८५, ६३५  
 बौद्ध परम्परा - १२०, ४५२, ४६६, ६०७,  
 ६६७  
 बह्यद्वीपिका - ३६५, ४६५, ६४४, ६४६

(ब)

- बहिज्जिया - ४६४  
 बद्रसंघ - ६१३, ६१४, ७३८  
 भागवत - ६०७

- भारद्वाज - १८०, ६२०  
 भारद्वाज - ६३६-६४१, ६४३, ६४६  
 भिल्लक संघ - ६१४

(ब)

- मह्यपसिया - ४६४  
 मज्झिमिल्ला - ४६४  
 मथुरावाला - ६४०  
 महायान - ६३५  
 माघनन्दि - ६१४  
 माठरंगोत्र - १८०, ३२३, ६८२, ६९२  
 माथुर संघ - ६१३, ६१४  
 माथुरी वाचना - ६५०, ६५१, ६६४, ६८३,  
 ६९२  
 मालव संघ - ५३६  
 मासिञ्ज - ४६५  
 महागिरिया - ६८४, ६८५  
 मासपुरिया - ४६४  
 मूल संघ - ६१३, ७४५, ७५३, ७५५  
 मेहिय - ४६४  
 मोर्ववंश - ४१६, ४२२, ४२३, ४३३, ४३६,  
 ४४६, ४७८, ४८०, ४८१, ४८५,  
 ४९६, ५१६, ५४१

(ब)

- यादव वंश - ४८७  
 यापनीयपरम्परा - ६५, ६१४  
 यापनीय संघ - ६१५-६१६, ७६६  
 युग प्रबान परम्परा - ४६६, ४६४, ६३१  
 यूची जाति - ६०६, ६३०  
 यूनानी - ४६७

(ब)

- रज्जपालिया - ४६४  
 राष्ट्रकूट वंश - ७६६

(ब)

- लाड बागड संघ - ६१४

लिच्छवी - ४६, २५२, २५३, ६५७, ६५८,  
६६७  
लीबड़ी संघ - ५१

(ब)

बक्षस गोत्र - ५१  
वज्रनागरी - ४६५  
बज्जी - २५३, ५८१  
वज्जी - ४६४, ५६८  
बत्थलिज्ज - ४६४, ४६५  
बत्स - ३१८  
बत्सगुल्म - ६४४  
बत्सगोत्र - ५१, ३१६  
बनबासी गच्छ - ६२४, ६२५, ६३२  
बल्लभी संवत् - ६५७  
बाकाटक - ६३६-६४४, ६४६, ६६०, ६६६,  
६७०, ६७३, ६७४  
बाचक बंश - १७६, ४६६, ४७१, ४७२,  
४६४-४६६, ५०६, ५५०, ५५३,  
५६०, ६३१, ६४८, ६८१, ६८३,  
७१६, ७१७, ७५५  
बाणिय - ४६४  
बालम्य संघ - ६७६, ६८०  
बाणिष्ठ गोत्र - ४४०  
वासिदिठ्या - ४६५  
वाहीककुल - २५१, २५३, २७५  
विक्रम संवत् - ५३६  
विज्जाहूर - ५८२  
विद्याधर शाखा - ४६४, ६१३  
विद्याधर वंश - ५२३, ५५५, ६२०, ६२५,  
७६६  
विधिमागी - ६२७  
विनयवादी - ११०, ११२  
वीरसंघ - ६१३, ६१४, ७३८  
वृष्णिकुल - १५३  
वृद्ध परंपरा - ५१०  
वृद्ध शाखा - ६८६

वृद्धसंप्रदाय - ६८५  
वोटिकमत - ६१०  
व्याघ्रापत्य गोत्र - ४७६

(ग)

वांकराय - ६६८  
शकट ग्रन्थयन - १६५  
शकराज - ६६८, ६६६  
शक संवत् - ६५७, ६६४  
शय्यामव - ५८६, ६६४  
शाक संवत्सर - ६०३  
शिवि - ६३८  
शिशुनागराजवंश - २४८, २५०, २५१,  
२५३-२५६, २६७, २७५-२७७,  
२७६, २८७, ३७७, ५०३  
शुंग - ४६७, ४६७, ६३७  
शिव - ६०७, ६२६, ६६७  
श्याम - ५६४  
श्लोकवातिक - ७२  
श्वेतपट श्वेतांबर संघ - ६११  
श्वेताम्बर परम्परा - १७८, २२६, २२७,  
२३२-२३५, २६७, २६१, ३१५,  
३१६, ३२६, ३२७, ३२६, ३३७,  
३४०, ३४१, ३४४, ३४५, ३५६,  
३७१, ३७२, ४१३, ४५६, ५५३,  
५५४, ५८२-५८६, ६०३, ६०८,  
६१०-६१८, ६२०, ६२७, ६३१,  
६८६, ६८६, ६६६, ७००, ७०२,  
७०७, ७२२, ७२४, ७५५, ७६६,  
७७४, ७७८, ७७६, ७६६  
वांडिल्यगच्छ - ५०६, ५२३  
संकाशिया - ४६५  
सकवालकुल - १७६  
सत्तलक परंपरा - ३१५  
सनकानीक - ६६१  
समुच्छेदवादी - ४६५  
सरस्वतीगच्छ - ७४५  
सत्तुगोत्र - ६२०

सातवाहन वंश - ५४५, ५४६, ५५०, ६०४,  
 ६०५, ६३६  
 सामुञ्चेदिक मत - ४६६  
 सावत्थिया - ४६४  
 सिंह संघ - ६१४, ६१६, ७३८  
 सीषियन - ५०१  
 सुहस्ती माला - ६८१, ६८२  
 सूर्यवंश - ५००  
 सेन संघ - ६१३, ६१४, ७३८, ७५३  
 खोत्तिया - ४७५  
 सोमभूय - ४३४  
 शोमवंश - ४८७, ४८८

सोरट्टिया - ४६५  
 स्थानकवासी - ६८६, ६६०, ७०१  
 हत्यलिज्ज - ४६४  
 हरिद्रायणगोत्र - ५१  
 हरिवंश - ४८८  
 हस्तिनायन जाति - ४१८  
 हारित गोत्र - १८०, ४६५, ४६३  
 हारिय मालागारी - ४६५  
 हालिज्ज - ४६५  
 हीनयान - ६३५  
 हरण - ६६५  
 हैहयवंश - २५१-२५३, ४८७, ४८८, ५००



## २. संवर्धन ग्रन्थों एवं शिलालेखादि की सूची

ग्रंथ पम्पलती, मुमुक्षुचन्द्र (विजय कीर्ति शिष्य)  
रचित, प्रकाशक-साहित्यकचन्द्र दि० जैन  
ग्रन्थ माला, बम्बई

अनुयोगद्वार-वृत्तिकार हेमचन्द्रसूरि, प्रकाशक  
राय धनपतिसिंह बहापुर

अभिधान चिन्तामणि, आचार्य हेमचन्द्रकृत  
टीका विजयधर्म सूरि वीर सं० २४४१

अभिधान राजेन्द्र, भाग १-७, विजय राजेन्द्र  
सूरि रचित, प्रकाशक-श्री जैन स्वताम्बर  
समस्त संघ, जैन प्रभाकर प्रिन्टिंग प्रेस,  
रतलाम सन् १९१३

अधोषवृत्ति-शाकटायन व्याकरण पर यापनीय  
आचार्य द्वारा रचित स्वोपश्रवृत्ति  
अशोकोपदान

आगम अष्टोत्तरी, कस्तूरचन्द जबरचन्द  
गादिया, बम्बई

आचारकल्प

आचारंग, अनुवाद भा० आर्यभारामजी म.,  
प्रकाशक भा० श्री आर्यभाराम जैन  
प्रकाशन समिति, लुधियाना

आचारंग (निर्युक्ति सहित) वृत्तिकार  
शीलाकाचार्य, प्रकाशक-राय धनपतिसिंह

आप्त मीमांसा, समन्तभद्ररचित  
आर्य भंगू कथा

आराधना कथा कोश

आवश्यक कथा

आवश्यक कृति, भा० जिनदास गणि महत्तर,  
रतलाम से सन् १९२८ में प्रकाशित

आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु (द्वि०) रचित,  
हारिभद्राया वृत्ति, हेमचन्द्र सूरि  
टिप्पणकम्, सं० १९७६.

आवश्यक निर्युक्ति-प्रद गणि

आवश्यक मलयगिरिया वृत्ति

आवश्यक बृहद्वृत्ति

आवश्यक हारिभद्राया वृत्ति

Introduction by A. N. Upadhye on  
Pravachanshara.

इन्वेजन धाफ इण्डिया बाई प्रलेनजेण्डर-  
मैकक्रिडिलकृत

उत्तरपुराण, गुरुभद्राचार्यकृत, भारतीय ज्ञान  
पीठ, युगाकुण्ड रोड वाराणसी,  
सं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य,  
संवत् २०११

उत्तराध्ययन सूत्र, जीवराज बेलाभाई,  
प्रहमदाबाद

उत्तराध्ययन सूत्र-पाइय टीका-ज्ञानिसूरिकृता  
उपदेस माला दोषट्टी वृत्ति, रत्नप्रभसूरि,  
धनभीभाई देवचन्द्र बोहरी, मिर्जा स्ट्रीट,  
बम्बई

Epitome of Jainism.

एरण की प्रवृत्ति

अधोषनिर्युक्ति-द्रोणाचार्यकृता टीका, प्र०

श्री विजयानन्द सूरि जैन ग्रन्थमाला,

गोपीपुरा सूरत, सं० २०१४

अधोषपातिक सूत्र टीका अनुवाद चासीसासजी

महाराज, प्र० अ० भारतीय श्वे० स्या०

जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट,

सं० २०१५

कथासरित्सागर, सोमदेव भट्ट, बिहार संस्कृत  
भाषा परिषद पटना, ६. शक सं० १८८३

कर्मग्रन्थ भा० १ देवेन्द्र सूरि, कन्हैयालाल  
लालचन्द भटेवरा रतलाम,  
वि० सं० २०३०

कल्पवृत्ति

कल्प सूत्र - देवेन्द्र मुनि द्वारा सम्पादित  
अनुदित,

कल्प सूत्र - पुष्य विजयजी द्वारा सम्पादित  
(गुजराती)

कल्पान्तर्वाण्यानि (हस्तलिखित) अलवर  
अम्हार के सौजन्य से प्राप्त

कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारबेल के  
शिलालेख का विवरण, श्री के० पी०  
जायसवाल, काशी नगरी प्रचारिणी  
सभा की ओर से-इण्डियन प्रेस लि०  
प्रयाग, सन् १९२८

कसाव पाहुड चुरिए सहित, भारतीय दि० जैन  
संघ, चौरासी, मधुरा

कहावली-भद्रेश्वरसूरि (हस्तलिखित),  
पं० बलमुक्त भाई मालवशिया, संभासंक,  
लाल भाई दलपत भाई, भारतीय संस्कृति  
विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के सौजन्य से

कहौम का स्तम्भलेख  
कारपत इन्स्क्रिप्शन इन्डिकेस, भाग ३  
कालकाचार्य कथा, प्रकाशक-श्री साराभाई  
नवाब, अहमदाबाद

काव्य मीमांसा-राजशेखर

काष्ठा संघस्य गुर्वावली, हस्तलिखित,  
पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य  
कुमराव कोलोनी, वाराणसी से प्राप्त

कुन्दकुन्द प्राभूत संग्रह, सम्पादक-

पं० कंसालचन्द्र, प्रकाशक-जैन संस्कृति  
संरक्षक संघ सोलापुर, १९६०

कुबलस्य भासा-उद्योतन सूरि (दाक्षिण्य  
चिन्ह) सिधी सिरीज

कुम्भि मुक्ति प्रकरणम्-भाकटायन, जैन  
साहित्य संशोधक, सं० २ अंक ४

Cambridge History of India

गच्छाचार पद्मणा, दान विजय गरी, प्र०  
दयाल विमलजी ग्रन्थमाला, अहमदाबाद  
गणेशरबाद, सं० मुनि रत्नप्रभ विजयजी  
गर्ग संहिता

गाथा सप्तशती-हासरचित (काव्य माला  
२१ में) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,  
सन् १९३३

गार्गी संहिता युग पुराण प्रकरण

गुर्वावली - सुन्दरसूरिकृत

गीतम चरित्र, अट्टारक धर्मचन्द्रकृत,

पं० हीरालालजी शास्त्री, ग्यावर नक्षियां  
से प्राप्त

शुद्धमहापुरिसचरित्रं, श्रीसांकाचार्य, प्राकृत  
टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी ५

चन्द्र का मेहरोली का लोह स्तम्भ लेख  
चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल,

राधा कुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन  
पुल्लवग

छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्य सहित)

प्र० गीताप्रेस गोरखपुर

ज्योतिर्विदाभरण

ज्योतिष्करण्डक टीका

जम्बू चरित्रं, गुणपाल, सं०भा० जिनविजयजी  
प्र० सिधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय  
विद्या भवन, बम्बई ७

जम्बू स्वामि चरित्र, रत्नप्रभ सूरि

जम्बू स्वामि चरित्रम्, पं० राजमल्ल रचित

जम्बू स्वामि चरित्र, वीर रचित, सं०

डॉ० विमलप्रसाद जैन

जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिपब्लिक  
सोसायटी, दिसम्बर १९१९, वोल्यूम ५  
भाप ४

जैन ग्रन्थ श्रौत ग्रन्थकार, श्री फलेचन्द बेलानी,  
सन्मति प्रकाशन, जैन संस्कृति संशोधक  
मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी,  
बनारस, १९५० ई०

जैन धर्म का मौलिक इतिहास,

श्री० हस्तीमलजी म. प्रकाशक—इतिहास  
समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता जयपुर,  
ई० १९७१

जैन परम्परानो इतिहास, भाग १, २—त्रिपुटी  
जैन शिलालेख संग्रह भाग १ श्री माणिकचन्द्र  
दि० जैन ग्रन्थ माला समिति हीरा बाग,  
पो. गिरगांव, बम्बई

भाग २ "

" भाग ३ "

" भाग ४ डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी की प्रस्तावना  
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १-४, श्री जिनेन्द्र  
वर्षी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन

त्रिपुटी शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य हेमचन्द्र

तत्त्वार्थ श्लोक वार्त्तिक, विद्यानन्द प्र०

गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

तत्त्वार्थ सूत्र, उमा स्वाति

तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञ भाष्य उमा स्वाति

तपागच्छ पट्टावली, धर्म सागर गणिका रचित

स्वोपज्ञ वृत्ति सहित, पण्यास श्री कल्याण

विजयजी द्वारा सम्पादित

तिथोगालिय पद्मना, हस्तलिखित, पं० दलमुख

भाई मालवणिया, सचालंकू-लालभाई

दलपत भाई, भारतीय संस्कृति विद्या

मन्दिर अहमदाबाद के सौजन्य से प्राप्त

तिलोय पण्यत्ती भाग १, यतिवृषभ, जैन

संस्कृति रक्षक संघ शोलापुर सम्पादक

-ए. एन. उपाध्ये श्रौत प्रो० हीरालाल

सं० २०१२

दर्शनशुद्धि सटीक

दशनसार, देवसेनाचार्य खिरचित, प्र० जैन ग्रन्थ

रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई

दशवैकालिक चूर्ण-भगस्य सिंह रचित

दशवैकालिक नियुक्ति-भद्रबाहु (द्वितीय)

दशवैकालिक, सं० श्री धेवरचन्द बाँठिया,

साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना,

सं० २०१४

दशवैकालिक हारिभद्रिया वृत्ति

दशाश्रुत स्कन्ध-नियुक्ति-भद्रबाहु (द्वितीय)

दी गुप्ता एम्पायर-बाई प्रार० के० मुकर्जी

The Journal of the Royal Asiatic

Society, 1920

दिव्यावदान

दीपमालिका कल्प, जिनमुन्दरसूरि, सं० २००६

दुषमाकाल श्री श्रमण संघ स्तोत्र भवचूरि

(पट्टावली समुच्चय प्र० भाग)

प्र० श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला

वीरमगांव (गुजरात)

नन्दीचूर्ण, जिनदास महत्तर, पुष्प विजयजी

म० द्वारा सम्पादित, प्रकाशक-प्राकृत

ग्रन्थ परिषद वाराणसी ५,

अहमदाबाद ६, १९६६ ई०

नन्दी मलय गिरिया वृत्ति, प्र० राय चनपतसिंह

नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली अज्ञात कर्त्तृक,

षट्खण्डागम भाग १ की डा० हीरालाल

जी की प्रस्तावना-श्री दरबारीलालजी

कोठिया से प्राप्त

नन्दी सूत्र, श्री० श्री हस्तीमलजी म० द्वारा

अनूदित, प्रकाशक-राय ब० श्री मोदीखाल

मूथा, भवानी पेठ, सतारा सिटी

नन्दी सूत्र-पू० घासीदासजी क. प्रकाशक-

अखिल भा. स्वे. स्वा. जैन शास्त्रीद्वार

समिति, राजकोट

नन्दी सूत्र हारिभद्रिया वृत्ति

नाट्यदर्पण

भाषाधम्म कहाणी, भागमोदय समिति द्वारा  
प्रकाशित, सन् १९१९

निरयावजिज्ञा सूत्र भाषा टीका, राय धनपत  
सिंह, ई० १९४१

निजीय पूज्य धासीलालजी महाराज द्वारा  
अनुदित

निजीय सूत्र-भाष्य, विसाहगण, विशेष  
बुलि-जिनदास महत्तर, सं० कवि  
धमरचन्दजी, मुनि कन्हैयालालजी कमल,  
सन्मति ज्ञानपीठ, भागरा  
नीतिसार

पंचकल्प बुलि-हस्तलिखित  
पंचकल्प भाष्य-संघदास गण  
पंचास्तिकाय प्राभृत जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य  
वृत्ति

प्रज्ञापना सूत्र-हारिभद्रीया वृत्ति  
प्रबन्धकोश राजसेखर सूरि रचित, सं०  
जिनविजयजी, प्रकाशक-सिधी जैन ज्ञान  
पीठ, शान्ति निकेतन

प्रभाषक-चरित्र, भाषाचार्य प्रभाचन्द्र, सिधी जैन  
ग्रन्थमाला, सन् १९२७

प्रभावती गुप्ता का पूना का दानपत्र  
प्रवचनसार, ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित  
सटीक

Introductory by A. N. Upadhye on  
Pravachanasara

प्रवचन सारोद्धार, नेमिचन्द्र सूरि रचित,  
प्रकाशक-देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार  
समिति, बम्बई सन् १९२२, १९२६

प्रश्न व्याकरण सूत्र-ग्रन्थ० पं० घेवरचन्द  
बांठिया, प्र० अमरचन्द भैरौदान सेठिया,  
वीकानेर

प्रश्न व्याकरण वृत्ति, अमयदेव सूरिकृता,  
प्र० राय बहादुर धनपतसिंह  
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन

पट्टावली-समुच्चय, मुनि दर्शन विजयजी,  
प्र. श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला,  
बोहरमणवि (गुजरात)

पञ्चवणा-मुनि श्री पुष्पविजयजी व  
पं. दत्तमुख, मालवगिवा द्वारा सम्पादित  
पञ्चवणा सूत्र वृत्ति, प्र. रायबहादुर धनपतसिंह

Prof. Hultzseh. corp. Inscr. Indic.  
Pt. 1. Pref. xxxiii  
Problems of Shaka & Satvahana  
History, Journal of the Bihar &  
Orissa Research Society, 1930

परिशिष्ट पर्व-प्राचार्य हेमचन्द्र रचित

बोध प्राभृत-श्रुत सागरी टीका

भगवती आराधना की विजयोदया टीका,  
अपराजित (यापनीय) रचित, प्र.  
देवेन्द्रकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला, कारंजा  
भगवती आराहणा-शिवार्य (यापनीय),  
प्र. देवेन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, कारंजा  
भगवती सूत्र-श्र. टी.-पूज्य धासीलालजी म.,  
प्रकाशक-भा. श्वे. स्या. जैन आस्त्रोद्धार  
समिति राजकोट, १९६१

भगवती सूत्र-ग्र० श्री घेवरचन्दजी बांठिया,  
प्र०-जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना  
भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास,  
पूर्वादि मुनि ज्ञान सुन्दरजी, प्र०-श्री रत्न  
प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला फलीदी  
(मारवाड़) सन् १९४३

भद्रबाहु चरित्र-रत्ननिन्दकृत  
भविष्य पुराण

भाव प्राभृत-श्रुतसागरी टीका

भाव संग्रह-प्रा. देवसेन (विमलसेन के  
शिष्य), दर्शनसार के कर्ता से भिन्न

मत्स्य पुराण-प्र० नन्दलाल मोर, ५ ब्लाड्ड  
रोड, कलकत्ता १, सन् १९५४

मनुस्मृति-सं० स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती,  
 पुस्तक मन्दिर, मथुरा, सं० २०१६  
 मलयगिरीया पिण्ड नियुक्ति टीका  
 महापुराण-जिनसेन (घबलाकार)-श्रकाशक-  
 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० १९५१  
 महापुराण पुष्पदन्त रचित  
 महाभारत कर्ण पर्व, गोता प्रेस गौरखपुर  
 महावीर चरित्, गुणचन्द्रगण  
 महावीर चरित्-कवि रघु (हस्त लिखित),  
 पं. हीरालालजी शास्त्री, ब्यावर नसियां  
 के सौजन्य से प्राप्त

महावंशो-बौद्ध मिक्षु घेनुसेन (लंका) रचित  
 मालविकाग्नि मित्रम्-कालिदास  
 मुण्डकोपनिषद् प्र० गीताप्रेस गोरखपुर  
 मुद्राराक्षस-विशालदत्त  
 मूलाचार-बट्टकेर रचित  
 मेरुतु गीया स्वविरावली, जैन साहित्य संशोधक  
 खण्ड २ अंक २

**Monier Monier Dictionary, by Sir  
 Villiam Monier**

मौर्य साम्राज्य का इतिहास, के. पी. जायसवाल  
 द्वारा लिखित. भूमिका

योग बिन्दु सार

योग शास्त्र-हेमचन्द्राचार्य स्वोपज्ञ टीका सहित

रत्नमाला

रत्न संचय प्रकरण

राजवार्तिक-प्रकलक

ऋषि मण्डल स्तोत्र

लिंग पाहुड़-षट् प्राभृतादि संग्रह, प्रकाशक

मारिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

लोक विभाग (संस्कृत) सिंहसूर्य रचित

वृहत्कथा कोश हरिवेणकृत, भारतीय

विद्या भवन

वृहत्कथा मंजरी-क्षेमेन्द्रकृत

१ वृहत्कल्प टीका-क्षेत्रकीतिकृता

वृहत्कल्पपीठिका-मलयगिरीया टीका

वृहत्कल्प सूत्र, पुण्ये विजयजी म. द्वारा

संपादित, भाग-१ अत्मानन्द जैन सभा,

भावनगर सन् १९३३-१९४२.

वृहद्-आरण्यकोपनिषद्

बसुदेव हिण्डी, प्रथम अंश-संघदास गणो,

प्र. श्री जैन आत्मानन्द सभा सन् १९३०

वायुपुराण, दूसरा खण्ड, सं. श्रीराम शर्मा,

प्र. संस्कृति संस्थान, बरेली (उ.प्र.),

१९६७-ई.

वासवदत्ता-भासरचित

विक्रम चरित्रम्-शुभ शील गणि रचित, (हस्त

लिखित), आचार्य श्री विनेश चन्द्र जान

भण्डार जयपुर के सौजन्य से प्राप्त

विक्रम स्मृति ग्रन्थ, प्रकाशक-सिन्धिया

श्रीरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, म्बालियर

विचार धर्मिण (परिशिष्ट सहित), जैन

साहित्य संशोधक, खं. २, अंक ४ से

प्रकाशित

विधिपक्ष पट्टावली-भावप्रसादरचित

विशेषावश्यक भाष्य मलघारी हेमचन्द्र टीका

विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ टीका, जिनभद्र

क्षमाश्रमण, लालभाई दत्तपत भाई

भारतीय सं. वि. ग्रहमदाबाद

V. A. Smith's Ashoka, P. I.

Cambridge History.

बीर निर्वाण और जैन कालगणना, मुनि

कल्याण विजयजी प्रकाशक-क. वि.

शास्त्र समिति, जालोर (मारवाड़)

संवत् १९८७

बीर बंशावली अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावली,

जैन साहित्य संशोधक, खंड १, अंक ३ से

प्रकाशित

बीर वदमान चरित्र, भट्टारक श्री सकलकीर्ति

श्राद्ध दिनकृत्य

श्रुतस्कन्ध-ब्रह्महेमचन्द्र विरचित, माणिक्य  
चन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला

श्रुतावतार इन्द्रनन्दी कृत

श्रीमद्भागवत महा पुराण, गीता प्रेस  
गोरखपुर

ज्ञानिनाथ चरित्र

षट्खण्डागम-धवला टीका (पूर्णा), प्र.-जैन  
संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

संबोध प्रकरण, आ. हरिभद्र, प्रकाशक-  
जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद  
स्कन्द पुराण

स्कंध गुप्त का जूनागढ़ शिलालेख

स्कंध गुप्त का भितरी का स्तम्भलेख

स्थानांग सूत्र धासी लाल जी म. द्वारा संपादित,  
भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति,  
राजकोट द्वारा प्रकाशित

स्थानांग सूत्र-टीका अभयदेव मूरि, प्रकाशक  
राय धनपत सिंह

समंत मद्र-पंडित जुगन किशोर मुख्तार  
समदर्शी आचार्य हरिभद्र-पं. सुखलाल संघवी  
बी. लिट्., प्रकाशक राजस्थान प्राच्य  
विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर १९३३ ई.

समय प्राभूत कुन्दकुन्दाचार्य, प्रथम संस्करण  
ई. १९१४

समय प्राभूतम् और प्राभूत संग्रह, प्र.  
माणिक्यचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला,  
(गुप्त १७), बम्बई

सयवायांग अमय देवीया टीका

सयवायांग सूत्र-टीका अनुवाद, पू. धासीलालजी  
म., प्र. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार  
समिति, राजकोट

सयवायांग, प्र. रायनहादुर धनपत सिंह  
सर्वार्थ सिद्धि-देवतन्दि पूज्यपाद (जिनेन्द्रबुद्धि)  
रचित, प्रकाशक-सखाराम नेमिचन्द्र जैन  
ग्रन्थमाला सोलापुर

साङ्गधर पद्धति

सुत्तपाहुङ्ग-आ. कुन्दकुन्द प्रणीत, षट् प्राभूतादि  
संग्रह, प्रकाशक-माणिक्यचन्द्र दि. जैन  
ग्रन्थमाला बम्बई

सूत्रकृतांग, आ. जवाहर लाल जी म. द्वारा  
अनुदित, प्रकाशक-गम्भूमल गंगाराम  
मूया, बैंगलोर

सुत्तागमे प्रथमो ग्रंथो सं. पुष्पभिक्षुं, प्र.  
।गम प्रकाशक समिति, रेस्वे रोड,  
गुडगांव छावनी, १९५३ ई.

Sacred Books of the East, Vol. 22 by  
Hermann Jacobi

हरिवंश पुराण, आ. त्रिनसेन (पुन्नाट संघीय)  
प्रणीत सं. पं. पन्नानान जैन साहित्याचार्य  
प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२

हरिवंश पुराण-कृष्ण द्वेपायन,

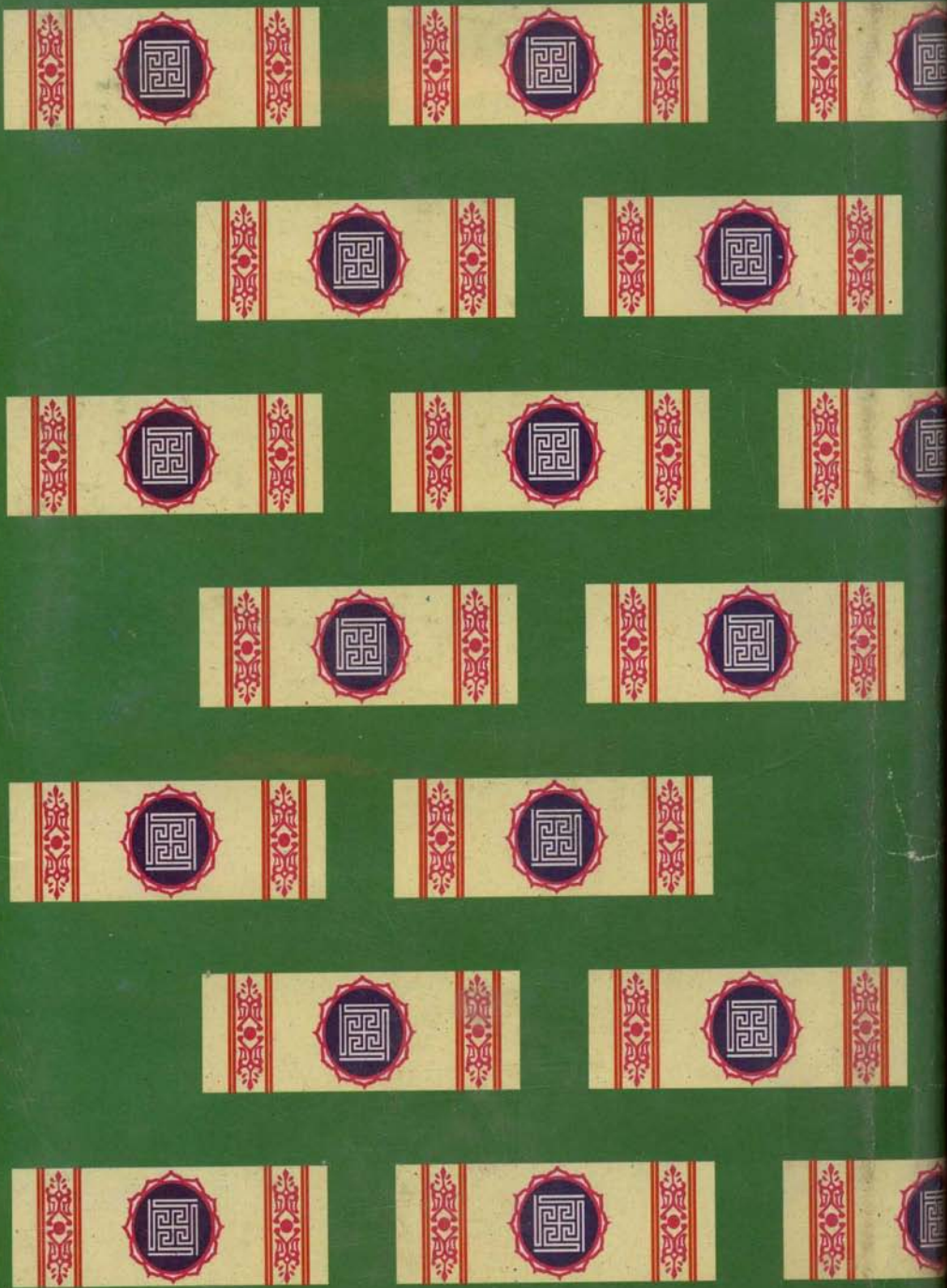
हरियेण द्वारा कौशाभनी में उद्घृत कित करवाया  
हुआ समुद्र गुप्त का (इलाहाबाद स्थित)  
स्तम्भ लेख

हिमवन्त स्थविरावली (हस्तलिखित), मुनिश्री  
कल्याण विजयजी से प्राप्त

History of the Guptas, by Dandekar.

विशेष-मूची में दिये गये ग्रन्थों के अतिरिक्त उपलब्ध सम्पूर्ण आगम साहित्य और अनेक  
ग्रन्थों से महायता ली गई है। उन सब की मूची देना संभव नहीं।





सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर-302 003 (राज.)

दूरभाष : 0141-565997

जैन इतिहास समिति

लाल भवन, चौडा रास्ता

जयपुर-302 003 (राज.)